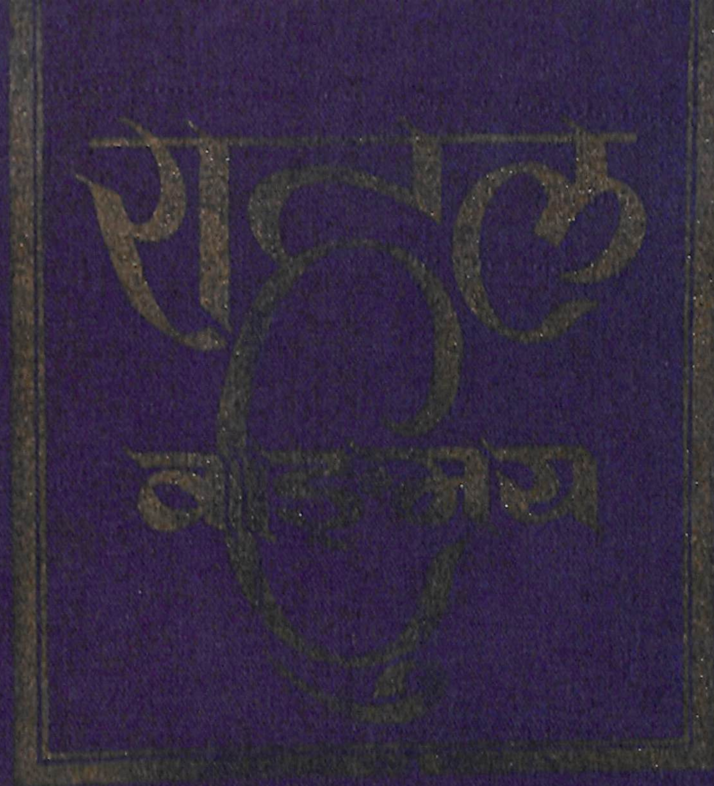

গান্ধী
বাঙ্ময়



राहुल वाङ्मय

राहुल-वाङ्मय

परामर्श

डॉ. विद्यानिवास मिश्र

डॉ. नामवर सिंह

डॉ. निर्मला जैन

सम्पादन

कमला सांकृत्यायन

सम्पादन सहयोग

बसन्तकुमार कपूर

रामकुमार कृषक

संयोजन

जया पड़हाक

जेता सांकृत्यायन



राधाकृष्ण

राहुल

वाङ्मय

जीवनी और संस्मरण

जिल्द 2

P 1500 Set

ISBN 81-7119-186-x

राहुल-वाङ्मय

खण्ड : दो—जीवनी और संस्मरण—जिल्द : 2

प्रथम संस्करण : 1994

पहली आवृत्ति : 1998

मूल्य

1500 रुपये

(जीवनी और संस्मरण : खण्ड दो—4 जिल्दें)

प्रकाशक

राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड

2/38, अंसारी रोड, दरियागंज

नयी दिल्ली-110002

साज-सज्जा : प्रशान्त

लेज़र कम्पोज़िंग

कम्प्यूटेक सिस्टम

मानसरोवर पार्क, दिल्ली-110032

मुद्रक

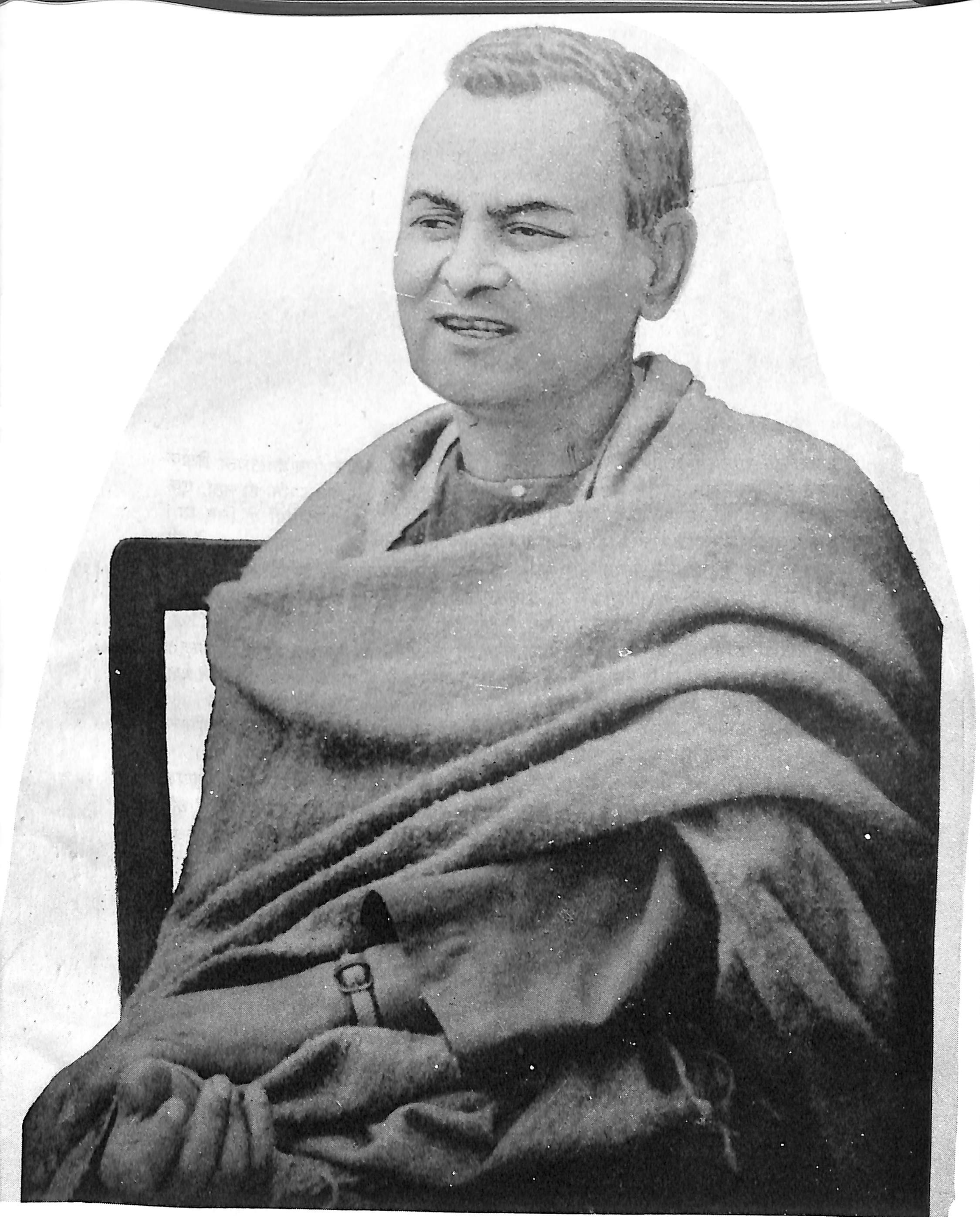
हिन्दुस्तान ऑफसेट प्रिंटर्स

शाहदरा, दिल्ली-110032

RÂHUL VĀNGMAYA

Part-2 : Jeevani aur Sansmaran : 4 Volumes

Rs. 1500.00



महापण्डित राहुल सांकृत्यायन : सीतापुर–1948

प्रकाशकीय

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन हिन्दी के युगान्तरकारी लेखक हैं। उनके ऐसा क्रांतिचेता लेखक पहले नहीं हुआ और बाद में भी, अभी तक तो नहीं ही हुआ है। वे एक व्यक्ति ही नहीं, एक संस्था थे। उनका सम्पूर्ण जीवन और समग्र लेखन, अपने देश और देशवासियों के लिए था। उन्होंने सदैव भारत के हित में ही सोचा और लिखा। अपनी आत्मकथा–जीवन-यात्रा–में भी उन्होंने अपने बारे में कम, भारत और भारत के बाहर युग-परिवर्तन की ऐतिहासिक स्थितियों को निर्मित करनेवालों के सम्बन्ध में ही अधिक लिखा है।

अपने जीवनी और संस्मरण-साहित्य में भी इसी प्रकार उन्होंने जीवन के सामाजिक, राजनीतिक संघर्ष और आत्म-बलिदान प्रेरित घटनाओं का प्रामाणिक एवं विशद विवरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने भारत के उन देशभक्तों और क्रांतिकारियों की जीवनियाँ लिखीं, जिन्होंने देश की आजादी और उस के मूलगामी विकास के लिए अपना सर्वस्व निछावर कर दिया।

ऐसे अप्रतिम लेखक राहुल सांकृत्यायन के रचना-लोक–'राहुल-वाङ्मय' के विभिन्न खण्डों–को विषयवार उनकी पुस्तकों के आधार पर नियोजित किया गया है।

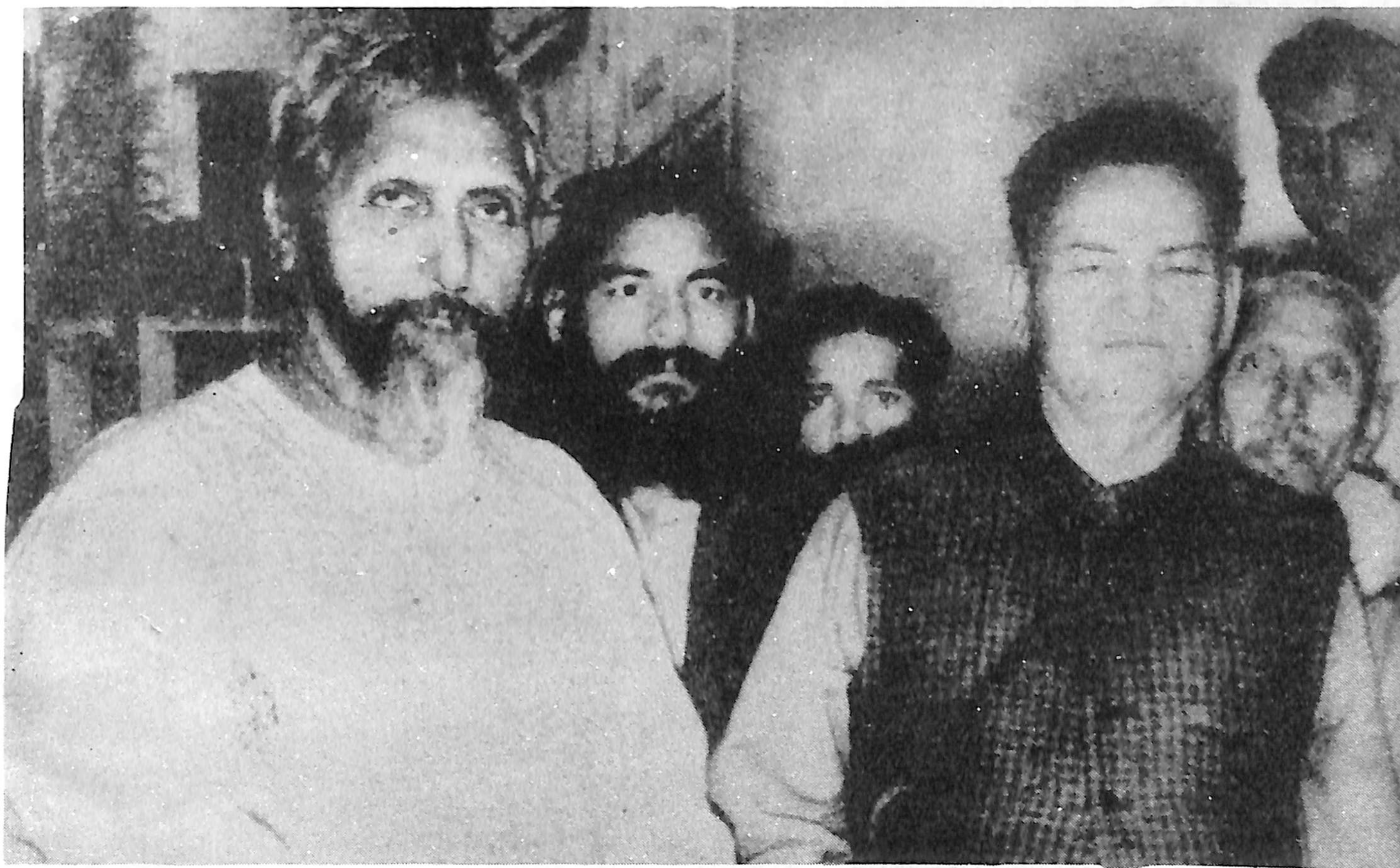
'राहुल-वाङ्मय' के इस द्वितीय खण्ड की दूसरी जिल्द में उनके द्वारा रचित प्रेरणाप्रद कृतियाँ–'नये भारत के नये नेता', 'मेरे असहयोग के साथी', 'अतीत से वर्तमान', 'बचपन की स्मृतियाँ', 'सिंहल के वीर', 'अम्बेडकर' एवं 'कुछ और लेख, संस्मरण' (अप्रकाशित तथा निबन्धावलियों में संकलित जीवनीपरक लेख एवं संस्मरण) संगृहीत हैं। यह जीवनियाँ भूले हुए शहीदों, स्वतंत्रता-सेनानियों की पावन स्मृति को जाग्रत करने का प्रथम प्रयास हैं और इन संस्मरणों में अनुभूतियों की कलात्मक विवृति है।

प्रकाशन में रह गयी किसी भी त्रुटि के लिए हम क्षमा-प्राथी हैं।

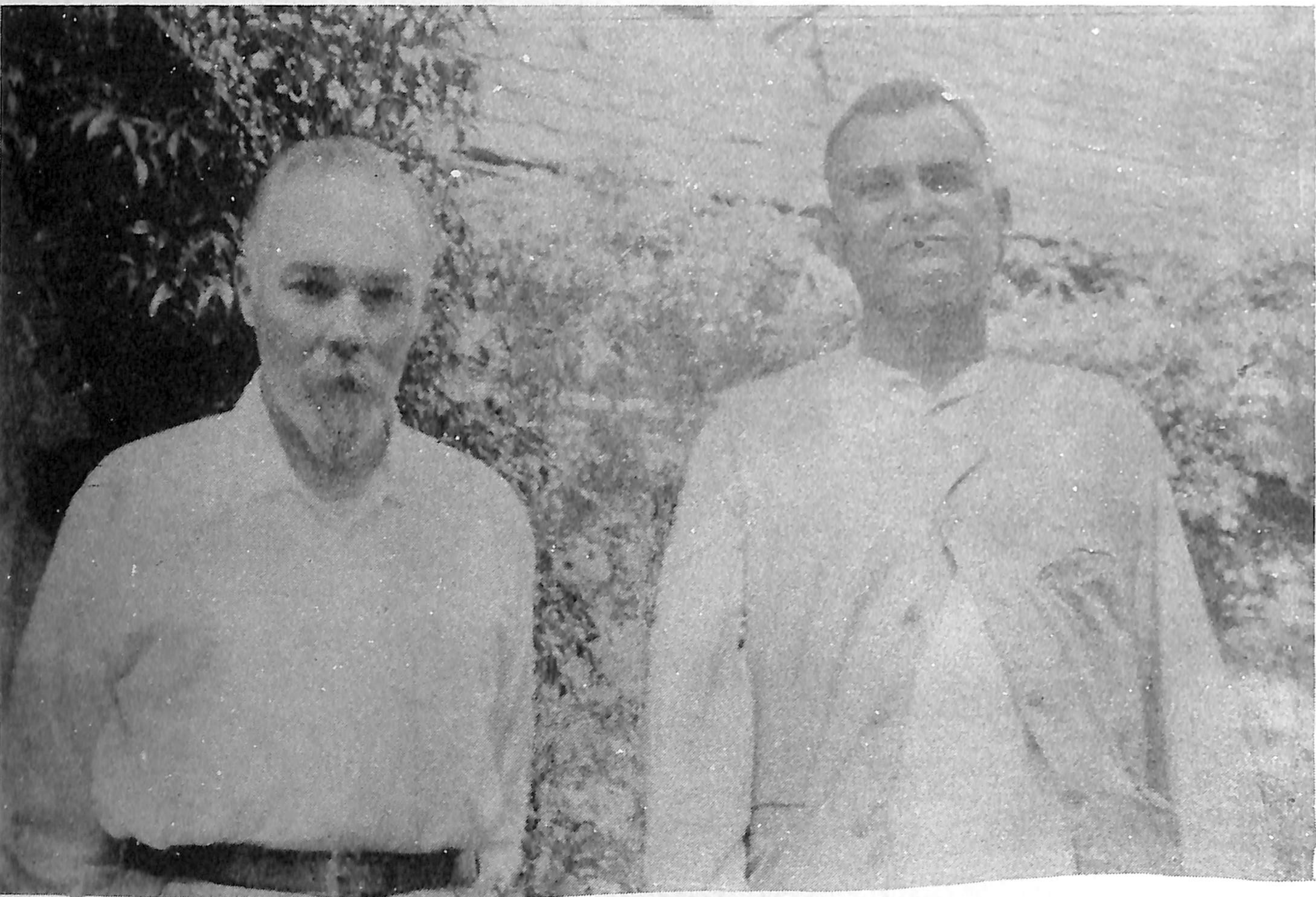
विषयानुक्रम

कला, इतिहास और धर्म

देश-दर्शन



महाकवि निराला और महापण्डित राहुल सांकृत्यायन : प्रयाग-दिसम्बर 1955



रूसी विद्वान मित्र डॉ. जार्ज रोयरिक के साथ राहुलजी : कलिम्पोंग—अक्टूबर 1956

नये भारत के नये नेता

नये भारत के उन तरुणों और तरुणियों को
जो नये नेताओं की पाँति को विस्तृत और
मजबूत करते जा रहे हैं।

प्राक्कथन

'नये भारत के नये नेता' का प्रथम खंड पाठकों के हाथ में देने में आज मुझे कुछ संकोच इसलिए हो रहा है कि इसे जैसा होना चाहिए था वैसा मैं नहीं बना सका। इस काम के लिए जरूरी था कि मैं एक बार सारे भारत की परिक्रमा करता, मगर मैं बम्बई, आगरा, प्रयाग, पटना, अल्मोड़ा, लाहौर, कश्मीर से आगे नहीं पहुँच सका। इसमें आलस्य इतना कारण नहीं हुआ, जितना कि समयाभाव। मैं साइंस-साहित्य-कला के क्षेत्र से और कितने ही 'नये नेताओं' को लेना चाहता था, मगर उसे इस खंड में नहीं कर सका—विशेषकर हजरत जोश मलीहाबादी तथा एक और उर्दू कवि को इस खंड में जरूर लाने के लिए उत्सुक था, मगर दुबारा बम्बई जाकर भी मुलाकात से महरूम रहा। सुनी-सुनाई बातों के भरोसे इन बयालीस जीवनियों में से एक भी नहीं लिखी गई। इसीलिए हजरत जोश के बारे में मैं वैसा नहीं कर सकता था।

'नये भारत के नये नेता' एक तरह मेरी 'वोल्गा से गंगा' का ही साथी ग्रंथ है। जहाँ 'वोल्गा से गंगा' का विस्तार आठ हजार के विस्तृत काल में है, वहाँ इस ग्रन्थ का क्षेत्र वर्तमान काल की विस्तृत भारतभूति है। मैंने यहाँ जीवनियों को परिस्थितियों से अलग करके नहीं, बल्कि उनके भीतर एक दूसरे को प्रभावित करते हुए की तरह दिया है। मैं मानता हूँ, मेरी कलम एक-सी रुचि से नहीं चली है। उसके कारण कई हैं। इस क्षेत्र में खुद कलम का नौसिखियापन तो है ही, साथ ही बाजवक्त हमारे नायकों ने भी जल्दी पिंड छुड़ा लेने की कोशिश की। इन जीवनियों के लिखने से मैं स्वयं बहुत-सी बातें भी सीख सका हूँ, और मुझे उम्मीद है, भारत के चारों कोनों की समस्याओं, संघर्षों को साकार रूप में यहाँ एकत्रित देखकर, पाठकों को भी कितनी ही बातें जरूर स्पष्टतर होंगी।

द्वितीय खंड[1] इससे कुछ बड़ा होगा, उसमें भी पचास के करीब जीवनियों में 12 महिलाएँ और 12 साइंस-साहित्य-कला के नेता भी जरूर रहेंगे।

प्रयाग
7-12-1944

—राहुल सांकृत्यायन

1. यह लिखा नहीं जा सका। राहुलजी ने इसी पुस्तक के द्वितीय संस्करण (संक्षिप्त) के प्राक्कथन में इस सम्बन्ध में उल्लेख किया है। कुछ लोगों का कहना है कि कुछ और जीवनियाँ बाद में लिखी गयी थीं और पटना के एक प्रकाशक को दी भी गयी थीं; परन्तु यह प्रेस से बाहर नहीं आ पायीं।

द्वितीय संस्करण का प्राक्कथन[1]

पाँच वर्ष बाद 'नये भारत के नये नेता' का नया संस्करण निकल रहा है, यद्यपि पुस्तक का पहिला संस्करण डेढ़-दो साल ही में समाप्त हो चुका था। 'नये भारत के नये नेता' के पहिले संस्करण में जितनी जीवनियाँ दी गई थीं, उन तक ही मैं उन्हें सीमित नहीं रखना चाहता था, और चाहता था कि राष्ट्र के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में जितनी प्रगतिशील शक्तियाँ भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के रूप में प्रगट हुई हैं, उनमें से कितनों ही की जीवनियों को अगले खण्डों में दिया जाये, किन्तु अभी तक वह कर नहीं सका। यहाँ लिखी जीवनियों की सामग्री मैंने नायकों के मुख से संचित की थी, आगे भी उसी तरह की सामग्री पर आधारित जीवनियों को मैं लिखना चाहता था, जो न कर सका। इसके लिए समयाभाव भी कारण हुआ।

इस भाग में दी हुई जीवनियों में भारद्वाज और शाहिद अपना कर्तव्य पूरा करके इस दुनिया से विदा हो चुके हैं। भारद्वाज को विदा करनेवालों ने स्थायी दुर्नाम कमाया है। भारत के विभक्त होने से कुछ नायक पाकिस्तान चले गये। जीवनियों को देखने से पाठकों को मालूम होगा, कि इनके नायकों में कितने त्याग, तपस्या और समझ का प्राचुर्य है। मुझे आशा है, उनसे मतभेद रखनेवाले भी उन्हें आदर का पात्र समझेंगे।

देश स्वतंत्र हो गया, लेकिन अभी भी उसके सामने जीवन-मरण की समस्याएँ मौजूद हैं। 50 लाख टन खाद्य का वार्षिक अभाव, नौकरशाही, अकर्मण्यता तथा अयोग्यता, उद्योगपतियों की आँख मूँदकर लूट, व्यापारियों की चोर-बाजारी और शासन-सूत्रधारों की स्वार्थान्धता, भ्रष्टाचार और परिवार-पालन का अन्धेर इतना बढ़ा हुआ है कि आँख फाड़-फाड़कर देखने से भी कहीं प्रकाश की किरणें नहीं दिखाई पड़तीं। ऐसे समय यह जीवनियाँ कुछ आशा का संचार कर सकती हैं और तरुणों में उत्साह तो अवश्य भर सकती हैं।

—राहुल सांकृत्यायन

कलिम्पोंग
3-9-1949

1. पुस्तक के इस संस्करण (जिसे खण्ड 1 कहा गया) में केवल 19 जीवनियाँ ही दी गयीं। शेष जीवनियाँ अलग (खण्ड 2) प्रकाशित करने की योजना थी; परन्तु वे छप नहीं सकीं।

1
डॉक्टर कुँवर मुहम्मद अशरफ

प्रमुख तिथियाँ—1903 अक्तूबर 7 जन्म, 1918 मैट्रिक पास, 1920 एफ. ए. पास और असहयोग, 1923 जामिया के बी. ए., कलकत्ता में मुजफ्फर से भेंट, 1925 बी. ए. (अलीगढ़), समाजवाद की ओर, 1926 एम. ए. (अलीगढ़) अलवर में मेहमान, 1927 एल-एल. बी. (अलीगढ़), लंदन में, कमूनिस्ट, 1929 अलवर डॉक्टर कुँवर मुहम्मद अशरफ की जुबिली में भारत, 1930 फिर लंदन में, 1932 लंदन के पी-एच. डी. हो भारत में, 1934-35 मुस्लिम यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर, 1937 काँग्रेस की ओर से एसेंबली के उम्मीदवार, 1940 नजरबंद।

सीलोन में जाने पर पहले-पहल जब मैंने एक सम्भ्रान्त परिवार में पत्नी को बौद्ध और पति को ईसाई देखा, पहले तो कौतूहल हुआ और उसके बाद सीलोनियों की इस रीति की प्रशंसा के लिए मेरे पास शब्द नहीं थे। हरएक सीलोनी मजहब का भेद-भाव छोड़कर अपने को सिंहल पहले समझता है। वहाँ रोमन-कैथोलिक भी सिंहाली होना अपने लिए गर्व की बात समझता है। सिंहल-भाषा, सिंहल-साहित्य, सिंहल-इतिहास, सिंहल-संस्कृति को वह अपने गरम खून में हरकत करते पाता है। मैं सोचता था, हिन्दुस्तान ने क्यों नहीं इस तरह का समझौता किया ? वहाँ भी क्यों नहीं हिन्दी जातीयता ने अपने को हिन्दू और इस्लाम धर्म के ऊपर साबित किया ? मुझे और मेरे मित्र आनन्द कौशल्यायन को सिंहलियों की यह चीज बड़ी प्रिय मालूम हुई। हमें तब तक अभी अच्छी तरह पता नहीं था कि हमारे देश में भी ऐसा तजर्बा किया गया है, यद्यपि वह सारे देश में स्वीकृत नहीं हो सका।

युक्त-प्रान्त के पश्चिमी भाग, राजपूताना और पंजाब के कुछ हिस्सों में राजपूतों ने पुराने समय में हिन्दू-मुस्लिम-समस्या के विकट रूप को देखा और इस गुत्थी को सुलझाने के लिए एक रास्ता निकाला। हमारी राजपूत बिरादरी सबसे ऊपर रहेगी; राजपूती बहादुरी, राजपूती इतिहास, राजपूती गर्व वह चीज है, जिसके ऊपर हमारी एकता स्थापित होनी चाहिए। कोई अल्लाह कहे, कोई राम कहे; कोई रुस्तम खाँ नाम रखे, कोई बहादुर सिंह—इससे हमारी राजपूती जातीयता में कोई फर्क नहीं आ सकता। इस बात को यद्यपि सभी राजपूतों ने नहीं माना, लेकिन लाखों माई के लाल निकल आये, जिन्होंने इस रास्ते को अपनाया। इसमें कितने ही तोमर शामिल हुए, कितने ही चौहान; कितने ही गोहलौत शामिल हुए, कितने ही पँवार। सारे राजपूत नहीं शामिल हुए लेकिन इससे वे निराश नहीं हुए। शायद आदिम पुरुषों को यह विश्वास था कि जो रास्ता आज हम निकाल रहे हैं, उसे एक दिन सारा भारत स्वीकार करेगा। उन्होंने समय से पहले काम शुरू किया; लेकिन यह तो और साहस की बात थी। मुसलमानों ने उन्हें नौ-मुस्लिम (नये मुसलमान) कहा, हिन्दुओं ने मलकाना या अधबरिया। संस्कृति के कितने भाग की रक्षा करनी चाहिए, कितने की नहीं, इसके बहुत भीतर घुसकर उन्होंने माथा-पच्ची करने की कोशिश नहीं की। गो-ब्राह्मण की रक्षा को अपना कर्तव्य समझा; ब्याह में माता-पिता के गोत्र का हमेशा ख्याल रखा; हाँ, भाँवर और निकाह दोनों चलते रहे। उन्होंने अपनी छोटी-सी कुछ लाख की दुनिया से

हिन्दू-मुस्लिम-झगड़े को सपने की बात कर दिया।

अलीगढ़ जिले की हाथरस तहसील में दरियापुर एक गाँव है, जिसके आस-पास इस तरह के कितने ही मलकाना राजपूत-परिवार बसते हैं। दरियापुर के छोटे गाँव ने कई प्रसिद्ध व्यक्तियों को पैदा किया है। स्वाँगों के आचार्य पंडित नत्थाराम इसी गाँव के रहनेवाले हैं। नवल किशोर प्रेस के संस्थापक मुंशी नवल किशोर का जन्म-गाँव भी यही है। पिछली शताब्दी में किसी वक्त ठाकुर कुँवर सिंह अलवर रियासत से आकर दरियापुर में बस गये। कुँवर सिंह के एक पुत्र हुआ, जिसका नाम पड़ा ठाकुर मुरादअली (मुरलीधर) खाँ–मुसलमान नाम के साथ सिंह की अपेक्षा खान ज्यादा सजता है। ठाकुर मुरादअली ने कुछ अँग्रेजी पढ़ी और रेलवे में मुलाजिम हो गये और कितनी ही जगह गार्ड तथा स्टेशन मास्टर रहे। राजपूती के नाते पलटन के रिजर्व में भी थे और पिछली लड़ाई में वह हिन्दुस्तान के बाहर अफ्रीका, इराक आदि में लड़े।

ठाकुर मुरादअली की शादी मथुरा जिले के गहनपुर गाँव के पँवारों में ठाकुर नन्हू सिंह की लड़की अंची से हुई। अंची की माँ का नाम था सुन्दरी। अंची के एक लड़का और एक लड़की पैदा हुई और फिर जवानी में ही उसका देहान्त हो गया। लड़के का नाम पड़ा कुँवर मुहम्मद अशरफ। अशरफ का जन्म 7 अक्तूवर 1903 को हुआ। वह तीन ही चार साल के हो पाये थे कि उनकी माँ चल बसी। लेकिन ठाकुर मुरादअली ने पुत्र पर इतना स्नेह रखा कि उसे माँ का ख्याल ही नहीं आ सकता था। नौकरी के सिलसिले में ठाकुर साहब को घूमते रहना पड़ता था; लेकिन उनको लड़के के पढ़ाने का सदा ख्याल रहता था।

अशरफ का नाम दरियापुर के अपर-प्राइमरी मदरसे में लिखाया गया। मदरसे के मुदर्रिस पंडित रामलाल का बालक अशरफ पर बहुत अच्छा और पिता के बाद सबसे ज्यादा असर पड़ा। अशरफ ने हिन्दी पढ़ी और सातवें क्लास में दाखिल होने के पहले वह उर्दू जानते तक न थे। उस वक्त कौन जानता था कि यही अशरफ अरबी-फारसी का एक बड़ा पण्डित बनेगा ! कुछ और बड़ा होने पर बाप ने लड़के को अलीगढ़ के धर्म-सभा हाई-स्कूल में दाखिल कर दिया, जहाँ उसने तीसरे क्लास तक शिक्षा प्राप्त की। अलीगढ़ के जमाने में डी. ए. बी. स्कूल में पढ़नेवाले अपने बहनोई के संसर्ग से उन्हें आर्य-समाज के लेक्चरों के सुनने का मौका मिला। आर्य-समाज की मजहबी बातों का तो बालक अशरफ पर बुद्धिवादी हो जाने के सिवा कोई ज्यादा असर नहीं पड़ा; किन्तु यह पिछली लड़ाई के पहले का समय था जब कि आर्य-समाज राष्ट्रीय आजादी और स्वदेशाभिमान का जबर्दस्त प्रचारक था। बालक अशरफ को उन उपदेशों से देशभक्ति के प्रथम पाठ मिले।

ठाकुर मुरादअली बदलकर जब मुरादाबाद गये, तो वहाँ उन्होंने मुस्लिम हाई स्कूल में लड़के को चौथी क्लास में दाखिल करा दिया। यहाँ अशरफ ने संस्कृत और हिन्दी ली थी। सातवीं क्लास में जाने पर इन्तजाम न हो सकने की वजह से दिक्कत होने लगी और फिर अशरफ को फारसी-उर्दू लेनी पड़ी।

अशरफ एक नम्बर के शरारती लड़के थे। हाँ, शरारत थी लड़ने-भिड़ने, इसको पछाड़ने उसको जिताने की। वह पढ़ने में बहुत तेज थे, लेकिन साथ ही पढ़ने की ओर उनका बहुत कम ध्यान था। एक बार एक मास्टर ने बेंत चलाई, अशरफ ने हाथ रोक दिया और सीधे हेड-मास्टर के पास पहुँचे। हेडमास्टर जहीरुद्दीन साहब ने लड़के को परख लिया और उन्होंने कह दिया कि तुम्हें पूरी छुट्टी है, जैसे चाहो, वैसे पढ़ो और जब चाहो आओ या न आओ। अशरफ अब मुक्त थे। वह अपनी उम्र के बहादुर नौजवानों के सरदार थे।

अशरफ ने 1918 में फारसी के साथ मैट्रिक पास किया। ऐसे खिलवाड़ी लड़के के लिए सेकेण्ड क्लास पास होना भी बहुत था। स्कूल के जमाने में सबसे ज्यादा असर उन पर मौलवी इस्तफा करीम का पड़ा था। यह मौलाना उबैदुल्ला सिंधी की देश-भक्त-जमात के आदमी थे और अपने गुरु के और शिष्यों की तरह भिन्न-भिन्न जगहों पर रहते देश की आजादी के लिए काम कर रहे थे। अशरफ के दिल में देश की आजादी का ख्याल ग्यारह-बारह ही साल से उठ खड़ा होने का एक और भी कारण–दरियापुर में शंकरलाल और ठाकुर मुराद अली के घर का बहुत भाई-चारा था और शंकरलाल की भावज ने तो मातृविहीन बालक अशरफ को पुत्र की तरह पाला था। शंकरलाल एक राजनीतिक हत्या में लपेट लिये गये। इससे बालक अशरफ की भावना का उधर प्रेरित होना भी स्वाभाविक था। लड़कपन में मुरादाबाद में रहते हुए धींगड़ा और सूफी अम्बा प्रसाद के

ऊपर की गयी कितनी ही कविताओं और कथाओं को अशरफ बड़ी रुचि से याद करते थे। लड़ाई के समय स्कूलों में किसी खास दिन सलाम करने का हुक्म हुआ था। अशरफ ने उससे साफ इन्कार कर दिया और लड़कों का असन्तोष देखकर मुस्लिम हाई स्कूल के हेडमास्टर ने उस पर जोर नहीं डाला। एनी बेसेन्ट की नजरबन्दी की खबर ने भी अशरफ के राजनीतिक भाव को जगाने में मदद दी।

1918 में जब अशरफ अलीगढ़ के एम. ओ. कालेज में दाखिल हुए, तो अभी वह मुस्लिम यूनिवर्सिटी का रूप नहीं धारण कर सका था। अभी परीक्षाएँ इलाहाबाद-यूनिवर्सिटी की दी जाती थीं। एफ. ए. में अशरफ ने अरबी, तर्क और इतिहास लिया था। अशरफ आज एक बहुत ही सुन्दर वक्ता हैं, इसका परिचय मुरादाबाद ही में मिलने लगा था और अलीगढ़ में आने पर तो उनका बहस और व्याख्यान का शौक और बढ़ गया। हाँ, पढ़ने की तरफ अब वह पहले जैसी बेपरवाही नहीं थी। जिन्दादिली की कमी तो अब भी नहीं थी; मगर अब उन्हें पढ़ने का चस्का लग गया। इतिहास और दर्शन उनके प्रिय विषय थे।

1920 में अशरफ ने एफ. ए. पास किया और बी. ए. में दाखिल हो गये। इसी वक्त असहयोग, खिलाफत और महात्मा गाँधी की आवाज देश में गूँजने लगी। मौलाना मुहम्मद अली ने अलीगढ़ में जामिया-मिल्लिया कायम की। अशरफ भी उसमें शामिल हो गये। ऐसी संस्थाओं में पढ़ाई तो उस वक्त जितनी होती थी, उतनी होती ही थी; हाँ उनके विद्यार्थी और अध्यापक राजनीतिक काम ज्यादा करते थे। अशरफ सुवक्ता थे, अलीगढ़ जिले ही के रहनेवाले थे। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन में खुलकर काम शुरू किया। ज्यादातर काम था तिलक-स्वराज्य-फण्ड के लिए चन्दा जमा करना, खादी-प्रचार और हिन्दू-मुस्लिम-एकता-प्रचार। वे कभी पढ़ते, कभी काम करते। 1923 में उन्होंने जामिया से बी. ए. पास कर लिया।

1924 में पहुँचते-पहुँचते आन्दोलन बहुत कुछ ठंडा पड़ गया। उसी वक्त शौकत उस्मानी आये और पुलिस उनके पीछे पड़ी हुई थी। अशरफ ने उन्हें अपने यहाँ जगह दी। यह मजबूरी और पिता का भी बहुत आग्रह हुआ; साथ ही अशरफ अब पुराने फक्कड़ अशरफ नहीं थे, उन्हें अब पढ़ने का शौक था, इसलिए चार वर्ष बाद 1924 में फिर वह मुस्लिम-यूनिवर्सिटी में दाखिल हो गए। मुस्लिम रहस्यवाद (तसव्वुफ), मुस्लिम-दर्शन और इतिहास उनका विषय था। 1925 में उन्होंने बी. ए. और 1926 में एम. ए. किया। दोनों ही में द्वितीय श्रेणी में पास हुए। 1927 में एल-एल. बी. प्रथम श्रेणी में ही पास नहीं किया, बल्कि उसमें यूनिवर्सिटी का रेकार्ड तोड़ा।

राजनीतिक विचार—देश की आजादी का ख्याल अशरफ को बहुत पहिले ही से था, यह हम बतला चुके हैं। कांग्रेस की राजनीति में उनकी कितनी श्रद्धा थी और उसके लिए उन्होंने अपनी पढ़ाई छोड़ी, यह भी बतला आये हैं। 1922 में शौकत उस्मानी से परिचय हुआ, सोशलिज्म की बातें भी उस्मानी ने कीं; मगर अशरफ जैसे राष्ट्रीयतावादी को उसके प्रति आकर्षण नहीं, बल्कि एक तरह से घृणा हो गई। एम. एन. राय आदि की पुस्तकों ने उसमें घी का काम किया और वह समझने लगे कि ये सब राष्ट्रीयता-विरोधी हैं। गया कांग्रेस के बाद 1923 के शुरू में कलकत्ता में जाने पर अशरफ ने मुजफ्फर अहमद और कुतुबउद्दीन से भेंट की; लेकिन उससे असंतोष में जरा भी कमी नहीं हुई। अशरफ कमूनिज्म के खिलाफ अपने विचार लेकर लौटे। पीछे कमूनिस्ट होने के बाद अशरफ इन पुराने परिचितों पर झल्लाते थे और कहते थे कि कमूनिज्म तो राष्ट्रीय आजादी का सबसे जबर्दस्त समर्थक है, फिर कमबख्तों ने मेरे राष्ट्रीय भावों को कमूनिज्म से मिला क्यों नहीं दिया, ऐसा होने पर मैं कई वर्ष पहले ठीक रास्ते पर पहुँच गया होता।

चौरी-चौरा (1922 ई.) के बाद अशरफ का दिल गाँधीवाद से हटने लगा। 1925 में यूनिवर्सिटी में पढ़ते वक्त उनके विचार कुछ समाजवाद की तरफ फिरने लगे; मगर अभी उसका ज्ञान उन्हें धुँधला-सा था। 1926 में एम. ए. करने के बाद वह अलवर गये। दादा का वतन होने से अलवर के साथ उनका एक खास प्रेम था। राज की ओर से भी सम्मान हुआ और वह राजकीय मेहमान बनकर ठहरे। राजा शिकार में गये थे, उस वक्त बेगारियों की तकलीफें देखने का अशरफ को मौका मिला। वहाँ साफ-साफ उन्होंने आदमियों के साथ जानवरों जैसा बर्ताव होते देखा और वर्तमान सामाजिक व्यवस्था से उन्हें और भी घृणा हो गई।

एल-एल. बी. होने के बाद अशरफ ने वकालत भी की थी, लेकिन सिर्फ तीन मास मुजफ्फरनगर में। महाराजा अलवर ने अशरफ को अपनी रियासत में खींचना चाहा। अशरफ ने विलायत जाकर और पढ़ आने की शर्त रखी। फिर अलवर की राजसी स्कॉलरशिप ले वह विलायत के लिए रवाना हुए।

इंगलैंड में–1927 में अशरफ लन्दन पहुँचे। यद्यपि लिंकइन् में वह बैरिस्टरी के लिए दाखिल हो गये और तीन साल तक जाते रहे, मगर उनका दिल कानून की तरफ नहीं था। उनकी इच्छा थी हिन्दुस्तान के सामाजिक जीवन का अध्ययन करने की। लंदन यूनिवर्सिटी में पी-एच. डी. के लिए अपने खोज का विषय उन्होंने चुना 1200–1550 ई. में भारत का सामाजिक जीवन। उनके प्रोफेसर सामाजिक जीवन का नाम सुनते ही चौंक उठे; सोशलिज्म की गंध से नहीं, बल्कि वह ऐसा काल था, जिस पर वे लोग समझते थे कि सामग्री बहुत कम है और पी-एच. डी. के निबन्ध के लिए काफी मसाला नहीं मिल सकेगा। सर बुल्जली हेग उनके अध्यापक थे। अशरफ हफ्ते में एक बार उनके यहाँ जरूर जाते, मगर निबन्ध के विषय पर बात करना हराम था। प्रोफेसर हेग को कोई आशा न थी, किन्तु अशरफ ने अरबी-फारसी की किताबों के पन्नों को उलटते वक्त देख लिया था कि ढूँढ़ने पर सामग्री जरूर मिलेगी। जैसे-जैसे वह भीतर घुसते गये, वैसे-वैसे धुँधली जगहों पर रोशनी पड़ती गई।

इंगलैंड में जाते के साथ ही राजनीतिक विचारवाले भारतीयों से उनका परिचय हुआ। सकलतवाला, सज्जाद जहीर, महमूदुज्जफर और कितने ही भारतीयों से उनकी घनिष्टता हुई और तब से अशरफ के विचार कमूनिस्ट हो गये। 1927 में आखिरी बार उन्होंने खुदा के लिए नमाज अदा की।

1929 में महाराज अलवर की जुबिली थी। अशरफ अलवर की स्कॉलरशिप से पढ़ते थे। महाराजा का पत्र गया और वह अलवर पहुँच गये। जुबिली के दिनों के अलवर के ये दिन अशरफ की आँख नहीं खोल रहे थे, बल्कि आँखों में सलाखें भोंक रहे थे। एक हप्ते के भीतर पन्द्रह लाख रुपया साफ कर दिया गया। कितने ही राजा-महाराज आये थे। अशरफ उस वक्त महाराज के प्राइवेट सेक्रेटरी थे। लार्ड इरविन पहुँचे थे। उस वक्त उनके स्वागत का इन्तजाम महाराज के प्राइवेट सेक्रेटरी अशरफ को खासतौर से दिया गया। ये तीन महीने अशरफ के लिए जबर्दस्त तजर्बे के थे। उन्होंने इन तीन महीनों के एक-एक दिन की डायरी लिखकर रखी है, किसी वक्त यदि वह प्रकाश में आयेगी, तो भारत के इस कोढ़–जिसे रियासती भारत कहा जाता है–का वह रूप पाठकों के सामने आयेगा, जिसे देखकर वे दंग रह जायेंगे।

आखिर वही बात हुई। अशरफ अपने विद्रोही मन को ज्यादा दबा नहीं सके। महाराज की फरमाँबरदारी उनके लिए असह्य हो गई और वह अलवर छोड़कर चले आये।

उनके पिता जीवित थे। लड़के के ऊपर पैसा खर्च करने में वह बड़े शाहखर्च थे। पुत्र पर कभी वह दबाव नहीं डालते थे। पुत्र के लिए उनकी दो सबसे बड़ी शिक्षाएँ थीं–कर्ज मत लेना और जो आये खर्च करना। अलीगढ़ के दिनों में भी वह खर्च के लिए खुले हाथों दिया करते थे। जोर-दबाव देने के बारे में कहने पर कह देते थे "भाई, मैं उसका नौकर हूँ।"

1930 के शुरू में घर से रुपया लेकर अशरफ फिर लन्दन चले गये और 1932 में पी-एच. डी. होकर भारत लौटे।

उसी साल कानपुर में मजदूर कान्फ्रेंस हुई। अशरफ उसमें शामिल हुए। मथुरा में किसान आन्दोलन और चमार लोगों की बेगार के आन्दोलन में उन्होंने खूब भाग लिया। पिता ठाकुर मुरादअली 1934 तक जिन्दा रहे। वह पुत्र की बातों को पसन्द नहीं करते थे; मगर साथ ही उन्होंने दखल देना भी कभी पसन्द नहीं किया। अशरफ अब भी अपने गाँव के पण्डित रामलाल और अपने पिता को अपने निर्माण में भारी सहायक मानते हैं।

इतिहास के गंभीर विद्यार्थी होने की वजह से और साथ ही मार्क्सवाद की गहरी छाप पड़ने के कारण अशरफ को एक ओर तो अपने देश की संस्कृति, अपने इतिहास की खोज का बहुत शौक है, दूसरी ओर वह भारत को असली माने में स्वतन्त्र देखना चाहते हैं। उन्होंने लाला लाजपत राय की सर्वेण्ट आफ दी पीपुल्स

सोसायटी (लोक-सेवक-समिति) और पूना की भारत सेवक समिति को अपनी सेवाएँ देने के लिए लिखा; मगर वह सोसाइटियाँ हिन्दुत्व से बहुत ऊँची नहीं उठ सकी थीं। दरअसल जब तक राष्ट्रीयता, संस्कृति, धर्म आदि के बारे में बिल्कुल स्पष्ट दृष्टिकोण न तै हो जाये, तब तक नाना संस्कृतियों और धर्मों के कर्मियों का एक साथ काम करना मुश्किल है। लालाजी की लोक-सेवक-समिति और गोखले की भारत-सेवक-समिति में, यही कारण था, जो कि हिन्दुओं को छोड़ दूसरे उनके अन्दर नहीं आ सके। कितनी ही और राजनीतिक-सामाजिक संस्थाओं में भी यही बात देखी जाती है।

1934-35 में सिर्फ एक साल के लिए उन्होंने मुस्लिम यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर होना स्वीकार कर लिया। वहीं से लखनऊ कांग्रेस में गये और तब से बराबर अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के मेम्बर रहे। उनके सुझाव पर पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेस में विदेश विभाग तथा प्रचार के लिए पुस्तिकाएँ तैयार करने के विभाग बनाये। डॉ. अशरफ और उनके लन्दन के साथी डॉ. अहमद भी अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के कई विभागों में काम करने लगे।

1937 में अशरफ मथुरा-आगरा मुस्लिम-निर्वाचन-क्षेत्र से कांग्रेस की ओर से एसेम्बली के लिए खड़े हुए। चुनाव की लड़ाई बड़ी जबर्दस्त रही। कांग्रेसी कहकर भड़काने की बहुतेरी कोशिश की गई। मगर बहुत-सी तहसीलों से वह जीते और कुल मिलाकर पौने तीन सौ वोटों से हारे। ऐसा न हुआ होता, यदि एकाध अपने ही सज्जनों ने धोखा न दिया होता।

1936 से ही अशरफ कांग्रेस में भाषण द्वारा कमूनिस्टों का प्रतिनिधित्व करते आ रहे हैं। त्रिपुरी, रामगढ़, पूना, प्रयाग, बम्बई आदि की कांग्रेसों या अखिल भारतीय कांग्रेस कमीटियों में उनके दिये भाषणों को लोग अच्छी तरह पढ़ते रहे हैं।

डॉ. अशरफ आजाद मुस्लिम कान्फ्रेस के बोर्ड के मेम्बर हैं। वह मुस्लिम संस्कृति के जबर्दस्त प्रशंसक हैं, लेकिन साथ ही वह यह भी जानते हैं कि उनकी पत्नी कुल्सुम के भाई प्रताप सिंह और धन सिंह हैं, उनकी खास बुआ भी हिन्दुनी हैं, उनकी अपनी शादी भी आग के किनारे फेरों से हुई थी। भारतीय संस्कृति का संरक्षक अशरफ से बढ़कर कौन हो सकता है, जो अपने खून के कतरे-कतरे में भारतीयता को अनुभव करता है। इस्लामी संस्कृति का अशरफ से बढ़कर कौन समर्थक हो सकता है, जो कि उसके इतिहास का एक गंभीर विद्यार्थी ही नहीं है, बल्कि दुनिया में मानव-जाति की जो सेवाएँ उसने की हैं, उनकी वह कद्र करता है। और कमूनिस्ट होने से किसी भी देश, किसी भी जाति की संस्कृति, स्वतन्त्रता का वह जबर्दस्त समर्थक छोड़ और दूसरा हो क्या सकता है ? वह मानवता के इतिहास, दर्शन, कला, संस्कृति, साहित्य सभी भव्य देनों को एक-सा, स्नेह और सम्मान की दृष्टि से देखता है। वह सबके केन्द्र-बिन्दु पर खड़ा है, जहाँ से रेखाएँ बिना एक-दूसरे को काटे सब जगहों पर पहुँच जाती हैं। अशरफ अपने देश का शुरू से लेकर आज तक का एक प्रामाणिक इतिहास लिखा गया देखना चाहते हैं; लेकिन बिंसेंट स्मिथ जैसों को सिर्फ उलट देने भर को वह पसंद नहीं करते। और फिर वह राजा-रानियों का इतिहास नहीं, जनता का इतिहास, समाज का इतिहास, जीवन के हरएक अंग का इतिहास चाहते हैं। इतिहास लिखने को बल्कि वह अगली पीढ़ी पर छोड़ना चाहते हैं, अभी तो वह चाहते हैं कि सिन्धु-उपत्यका और प्रागूवैदिक काल से लेकर आज तक के हमारे जीवन के किसी अंग के बारे में दुनिया की किसी भाषा में, मिट्टी, पत्थर, पीतल, लोहे, ताम्वे पर या अलिखित गीतों, कहानियों, रीति-रिवाजों, टोटके-टोनों में जो कुछ मिले, उसे पचासों जिल्दों में प्रकाशित कर दिया जाय। यह सैकड़ों विद्वानों के दस-पन्द्रह बरस के अनवरत श्रम से साध्य काम है, लेकिन होगा। अशरफ का विश्वास है कि भविष्य हमारे साथ है।

2
सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

प्रमुख तिथियाँ–1896 वसंत पंचमी जन्म, 1899 माँ की मृत्यु, 1906 बंगला पाठशाला में, 1908 पहिली बंगला की पद्य-रचना, 1910 पहिला ब्रजभाषा पद्य-रचना, ब्याह; 1914 'जुही की कली' लिखी, 1916 पिता की मृत्यु, 1918 पत्नी आदि की मृत्यु, 1919 पहिला लेख, (सरस्वती में) छपा, 1917-20 साहित्य-साधना, 1920 नौकरी छोड़ घर पर, 1921 चोरी का इल्जाम, 1921-23 'समन्वय' में, 1922 'अनामिका' प्रकाशित, 1924-27 'बाजार' का काम, 1928-35 लखनऊ में, 1930 पुत्री (सरोज) का ब्याह, 1935-42 'निर्लेप' काल, 1935 सरोज की मृत्यु, 1943 'शमित दमित' काल।

19वीं सदी के अंत की दो शताब्दियों में हिंदी के गद्य की भाषा में उन्नति हुई थी, किंतु वह पुष्ट हुई वर्तमान शताब्दी के पहले चौदह-पन्द्रह वर्षों में और इसका बहुत भारी श्रेय है पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा उनकी सम्पादित 'सरस्वती' को। परंतु पिछले महायुद्ध (1914-18) तक हिंदी पद्य की भाषा लँगड़ी-सी प्रतीत होती थी। न उसकी शिथिलता दूर हुई थी और न उसमें कोमल तथा गंभीर भावों को प्रकट करने की क्षमता मालूम होती थी। कितने ही कवि संस्कृत के शब्दों और छंदों की भरमार करके उसमें प्रवाह और सरसता लाने की कोशिश करते थे, किंतु वे शब्द क्षीर-नीर की तरह एक न हो परदेशी से जान पड़ते थे। वर्तमान शताब्दी की तीसरी दशाब्दी शुरू होते-होते कविता-भाषा से निराश हममें से कितने ही आँख मल-मलकर देखने लगे, जबकि प्रसाद और प्रवाहमयी भाषा में कोई-कोई कविता हमारे सामने आने लगी। आज तो हिंदी कविता ने यह भाषा प्राप्त कर ली है, जिसे कि संस्कृत कविता को अश्वघोष, कालिदास और बाण ने प्रदान किया। इस नई भागीरथी को लाने में जिन तीन महान् व्यक्तियों ने भगीरथ-प्रयत्न किया, उनमें निराला का नाम हिंदी साहित्य में सदा स्मरणीय रहेगा। बल्कि रूढ़िवादियों की ओर से होनेवाले निरंतर प्रहार को जिसे सबसे ज्यादा सहना पड़ा, वह हैं केवल 'निराला'। सौभाग्य है कि हमारे साहित्य की यह महान् विभूति हमारे बीच में है और उसकी लेखनी सुप्त नहीं हुई है; यद्यपि उसकी प्रसूति की प्रतीक्षा में स्वाती के चातक की तरह हमें बहुत तरसते रहना पड़ता है। मगर, इसमें दोष 'निराला' का नहीं बल्कि उस समाज का है, जिसने सहायता की अपेक्षा बाधाएँ ही ज्यादा पहुँचाई हैं।

"निराला' का जन्म बसंतपंचमी संवत् 1953 (1896 ई.) में हुआ। उनके पिता रामसहाय त्रिपाठी (मृत्यु 1916 ई.) गढ़ाकोला, तहसील रंजीतपुरवा, जिला उन्नाव के रहनेवाले थे। थोड़ी-सी काश्तकारी और चार-पाँच भाई, घर में गुजारा कैसे होगा ? लाचार, अपनी स्थिति के दूसरे व्यक्तियों की भाँति उन्होंने कलकत्ते का रास्ता लिया। कुछ दिन सिपाही रहे लेकिन उतने से वह संतुष्ट न थे। मेदिनीपुर जिले (बंगाल) में महिषादल सरयूपारी ब्राह्मणों की एक बड़ी जमींदारी-रियासत है। शरीर से लंबे-चौड़े खूब मजबूत और अकल तेज रामसहाय त्रिपाठी–त्रिपाठी नहीं अभी वह उपाध्याय थे–महिषादल जा सौ सिपाहियों के ऊपर जमादार बन गये। यद्यपि उनकी तनख्वाह पंद्रह-सोलह रुपये मासिक से ज्यादा कभी नहीं हुई, मगर वह स्वामी के कृपापात्र थे और सौ-डेढ़ सौ बीघा जमीन उन्हें ऊपरी आमदनी करने के लिए मिल जाती थी, जिसे वह छह से बारह रुपये बीघे की शरह पर लगा देते। इस तरह वह दस-पंद्रह हजार के आदमी हो गये। मृत्यु के साथ उनका दो-तीन हजार जहाँ-तहाँ फँसा ही रह गया और व्यवहार-शून्य सूर्यकांत वसूल न कर पाये।

'निराला' की माँ जब मरीं तो अभी वह पूरे तीन साल के भी नहीं हो पाये थे। उनका क्या नाम था, यह भी 'निराला' को पता नहीं। हड़हा (उन्नाव) के पास उनका नैहर था, किंतु 'निराला' वहाँ कभी नहीं गये। रामसहायजी की पहली स्त्री रुक्मिणी मर गई थी, इसके वाद उन्होंने दो-ढाई सौ रुपये में लड़की खरीदकर शादी की। ससुरालवाले आशा रखते थे, कि कमाऊ दामाद बरावर कुछ देता रहेगा, मगर दामाद उस आशा

को पूरा करने के लिए तैयार न थे। पाठकों (ससुरालवालों) ने नाराज होकर हल्ला किया–लड़की हमारी नही, अहीर या किसी दूसरी जाति की है। भला ऐसी ससुराल से सम्बन्ध रखने के लिए कौन तैयार होता ?

ब्याह के बाद रामसहायजी अपनी स्त्री को अपने साथ महिषादल ले गए, उस वक्त उनकी आयु चालीस साल की थी। स्त्री सुंदरी और समझदार थी, उसकी रुचि देखकर उन्होंने पढ़ने का भी इंतजाम कर दिया। लेकिन, दोनों के जीवन में सुख नहीं वदा था। उनकी एकमात्र संतान सूर्यकांत वहीं महिषादल में पैदा हुआ, फिर कोई शोचनीय घटना घटी, जिसने उस तरुणी की जीवनलीला को समाप्त कर दिया। निराला उस वक्त सिर्फ तीन साल के थे। रामसहाय उपाध्याय किसी बड़ी मुसीबत में फँसनेवाले थे, किंतु राजा का वरद-हस्त उनके शिर पर था और वह उपाध्याय से त्रिपाठी बनकर निर्लेप बच गए। बालक निराला के दिल पर माता की शोचनीय मृत्यु की छाप सदा के लिए अमिट हो गई। इसमें कोई संदेह नहीं, कि हमारे निराला में जो एक तरह की उन्मनस्कता देखी जाती है, उसका सबसे बड़ा कारण वही घटना है। मुश्किल तो यह है कि निराला आज भी तीन वर्ष के सूर्यकांत को उस दुर्घटना का भारी जिम्मेवार मानते हैं।

रामसहाय त्रिपाठी सम्पन्न थे, राजा के प्रिय थे। बालक सूर्यकांत के लालन-पालन में दोनों का हाथ था। बल्कि एक वक्त महिषादल के राजा के अनुज सूर्यकांत को गोद लेकर अपनी निःसंतानता को दूर करना चाहते थे। वह निराला से कहते थे–"देखो, तुम्हारे पिता मेरे सामने खड़े रहते हैं, ऐसे ही तुम्हें भी खड़ा रहना होगा, आओ, मेरे बेटे बन जाओ।" मगर सूर्यकांत बाप की छोड़ने को तैयार न थे। निराला पाँच-छह साल के ही हो पाए थे कि वह मर गए, नहीं तो संभव है, और प्रयत्न हुआ होता।

रामसहायजी के कारण बैसवाड़ा के कितने ही और सिपाही महिषादल में नौकर थे। उनसे निराला बैसवाड़ी बोलते थे। बाहर तो सिर्फ बंगला का बोलबाला था; इस प्रकार उनके लिए दोनों भाषाएँ मातृभाषा-तुल्य थीं।

जब वह पाँच साल (1901 ई.) के हुए, तो बंगला पाठशाला में पढ़ने के लिए बैठा दिए गए। तीन-चार साल तक वह वहीं पढ़ते रहे। फिर महिषादल के हाईस्कूल में अंग्रेजी पढ़ने लगे। यद्यपि हिंदी पढ़ने का वहाँ कोई प्रबन्ध न था, लेकिन सिपाहियों में से कुछ रामायण और ब्रजभाषा की कविताओं के शौकीन थे; इसलिए उनकी सहायता से सात साल की उम्र में ही निराला ने भी अवधी और ब्रजभाषा की कविताओं को पढ़ना शुरू कर दिया।

हाईस्कूल में संस्कृत को उन्होंने द्वितीय भाषा के रूप में लिया था और अतिरिक्त विषय के तौर पर भी। बँगला, अंग्रेजी और संस्कृत में वह कक्षा के तेज छात्र थे और परीक्षा में सौ में अस्सी नंबर लाना उनके लिए मामूली बात थी। बुद्धि तीव्र थी, मगर बेपरवाही भी हद दर्जे की। जिस विषय में मन लगता उसे खूब पढ़ते, जिसमें नहीं, उसे पढ़े उनकी बला। मैट्रिक तक पहुँचते-पहुँचते (1915 ई.) नैषध तक के कितने ही संस्कृत काव्यों को पढ़ डाला, गीता और दर्शन का भी अध्ययन किया। पिता का अनुशासन था नहीं और यदि वह अनुशासन रखना चाहते तो निराला उसे पसंद करते, इसमें भारी संदेह है। इसी बेपरवाही और मनमानी का एक यह भी फल हुआ, कि निराला जब कलकत्ता मैट्रिक की परीक्षा देने गए, तो एक पर्चे में शामिल ही नहीं हुए। स्कूली पढ़ाई का वहीं खात्मा हो गया।

निराला जब आठवें दर्जे में पढ़ते थे, तभी 'इंडियन एम्पायर' (अंग्रेजी पत्र) के ग्राहक बन गये और उसी के आस-पास 'सरस्वती' भी पढ़ने लगी। बंगला की भूमि में रहते उन्हें 'सरस्वती' ने ही हिंदी का पाठ पढ़ाया और कविता ? निराला जन्मजात कवि हैं। आठ साल की उम्र में ही उन्होंने बंगला में तुकबंदी शुरू की थी और पीछे तो महिषादल की काव्यगोष्ठियों में उनकी बंगला कविताएँ पसंद की जाने लगी थीं। तेरह-चौदह साल की उम्र में ब्रजभाषा में कवित्त, सवैया भी लिखते थे। पंद्रह साल की उम्र में एक संस्कृत पद्य लिखा था जिसका कुछ अंश है–"जडो मूर्खो बालः पशुभरणकार्येपुनिरतः। कृपादृष्ट्या जातः कविकुलशिरोभूषणमणिः।"

वैवाहिक जीवन–गंगा के किनारे भिटौरे (जि. फतेहपुर) के पास चाँदपुर एक गाँव है। वहाँ कितने ही पंडे रहते हैं। वहीं के एक दूबे के घर में चौदह साल की उम्र में निराला की शादी हुई। उस वक्त स्त्री ग्यारह साल की थी, वह हिंदी पढ़ी-लिखी थीं और निराला का उनसे घनिष्ठ प्रेम था। गौने के बाद कुछ दिनों के

लिए वह महिषादल भी गई थीं, पीछे अपने घर या ननिहाल (डलमऊ, जि. रायबरेली) में रहती थीं। 1918 में जब सारे भारत में इन्फ्लुएंजा की महामारी फैली और चार सप्ताह के भीतर ही आध करोड़ से ज्यादा आदमी मर गए, उसी समय निराला की स्त्री का भी देहांत हो गया। उस समय उनकी उम्र उन्नीस साल की थी। बाईस साल के निराला के तरुण हृदय पर एक चिरस्थायी वज्रपात हुआ।

बुढ़ापे में पेंशन लेकर पं. रामसहाय त्रिपाठी महिषादल में ही रहते थे। 1916 में उन्हें लकवा मार गया। निराला पिता को लेकर घर आये, किन्तु बीमारी ने मृत्यु के साथ ही संग छोड़ा।

निराला महिषादल के राजकुमारों के साथ बढ़े और पढ़े थे। राजवंश में संगीत का शौक था। निराला ने भी वहीं संगीत की शिक्षा पाई। तबला, पखावज, पियानो बजाने में वह सिद्धहस्त थे। महिषादल से स्नेह होना उनके लिए स्वाभाविक था। पिता की मृत्यु के बाद उन्होंने महिषादल में जाकर राज की नौकरी कर ली। पहले हिसाब-किताब (एकाउंट) विभाग में रहे, फिर प्रबन्ध-विभाग में। उस समय उन्हें राज के काम से अक्सर स्टीमर द्वारा कलकत्ता जाना पड़ता था। यद्यपि अपनी जान अपने काम में सुस्ती नहीं करते थे, लेकिन 1917 से 20 तक का समय निराला की साहित्य-साधना का भी समय था। दफ्तर हो या घर वह अपने बचे समय को बंगला और संस्कृत साहित्य के अध्ययन में तल्लीन हो बिताते थे। राजपरिवार की अंतरंगता को भी कितने ही लोग डाह की नजर से देखते थे। वे शिकायत करते थे कि त्रिपाठी तो दफ्तर में भी किताबें पढ़ता रहता है। मालिक और नौकर का सौहार्द देर तक निभ नहीं सकता, और निराला ने जब भेद-भाव देखा तो वह इस्तीफा देकर (1920 में) घर चले आए।

निराला के ऊपर स्वामी प्रज्ञानंद सरस्वती का जबर्दस्त प्रभाव पड़ा था। लड़ाई के दिनों में वह जेल में रखे गए थे, पीछे महिषादल में नजरबंद थे। वह अंग्रेजी (एम. ए.), संस्कृत तथा दूसरे कितने ही विषयों के गंभीर विद्वान् थे। निराला उनसे छिप-छिपकर मिलते थे। बंगला में उनकी लिखी कई किताबें हैं। उन्होंने तरुण निराला को बहुत उत्साहित किया–"तुम कुछ करने के लिए हो।" उनके इस वाक्य ने निराला के आत्मविश्वास को बढ़ाया।

1918 के इन्फ्लुएंजा ने एक तरह निराला के घर के घर को साफ कर दिया। स्त्री के अतिरिक्त छोटी लड़की और चचा भी जाते रहे। अब घर में रह गए थे, अपने तीन साल का लड़का और एक साल की लड़की, दादाजाद भाई के चार लड़के–जिनमें सबसे बड़े की उम्र सिर्फ तेरह साल की थी। दुनिया-जहान से बेपरवाह निराला के सर पर इन छह बच्चों का बोझ पड़ा। अपने लड़के तो ननिहाल में रहते थे, लेकिन चारों भतीजों में दो को साथ रखते और दो को किसी रिश्तेदार के यहाँ।

अठारह-उन्नीस साल की उम्र में निराला ने अपनी 'जुही की कली' नामक कविता को 'सरस्वती' में भेजा था, जिसे कि पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लौटा दिया। 1919 में उनका पहला लेख 'सरस्वती' में छपा, तभी से द्विवेदीजी से पत्र-व्यवहार भी होने लगा। द्विवेदीजी होनहार लेखकों को परखने और प्रोत्साहन देने में बड़े तत्पर रहते थे। 1920 में जब निराला नौकरी से इस्तीफा देकर घर चले आए थे, उस वक्त रामकृष्ण विवेकानंद मिशनवाले 'समन्वय' (हिन्दी) नाम से एक मासिक पत्र निकालना चाहते थे। द्विवेदीजी के कहने पर 'समन्वय' वाले निराला को अस्सी रुपया मासिक पर सम्पादक बना रहे थे। बात सब तै हो गयी थी, उसी समय महिषादल से बुलौवा आया और सूर्यकांत त्रिपाठी फिर वहीं चले गए। सम्बन्ध में सुधार होने की जगह और बिगाड़ होता गया। निराला समानता का बर्ताव करना अच्छा जानते हैं, मगर किसी को देवता बनाकर उसकी चापलूसी करना उन्होंने कभी नहीं सीखा। स्वामी इसे अपना घोर अपमान समझने लगे। राजा के देवी-मंदिर में निराला प्रायः नित्य जाया करते थे। डंड-बैठक करने, भंग छानने के साथ देवीदर्शन भी उनकी दिनचर्या का एक अंग था। राजा की कुलदेवी के पास बहुमूल्य आभूषणों का होना जरूरी था। एक दिन देवी के घर चोरी हुई। पीढ़ियों के जमा आभूषण लुट गए। असली चोर तो नहीं मिल सका, स्वामियों ने कहा–"यह तगड़ा आदमी रोज मंदिर में जाता रहा है, इसी ने चोरी की है।" निराला का दिल सन्न हो गया। उसमें 'समन्वय' की सम्पादकी के अस्वीकार करने के लिए पछताने की भी शक्ति न थी। यह है भद्रवर्ग–इस उपालम्भ से होता क्या ? राजा

का सम्बन्धी एक साधारण-सा आदमी भी चोरी के अपराध में फाँसा गया। उसे तरह-तरह की सासत दी गई और यह कोशिश की गई कि वह सूर्यकांत त्रिपाठी का नाम ले ले; किंतु उसने यह स्वीकार नहीं किया। प्रभुओं की इच्छा थी, पुलिस ने गिरफ्तार किया और सूर्यकांत पर चोरी का मुकदमा चला। सबूत तो कोई था नहीं, मजिस्ट्रेट ने पुलिस से यह कहकर सूर्यकांत को रिहा कर दिया–"You are foolish, not police (तुम मूर्ख हो, पुलिस नहीं)"। मुक्ति तो मिल गई, किंतु मालिकों के इस व्यवहार ने निराला के दिल पर अमिट चोट पहुँचाई।

समन्वय-काल 1921-23–चोरी के अपराध से मुक्त हो निराला सीधे 'समन्वय' में कलकत्ता पहुँच गए। पहले अवैतनिक काम करते रहे, पीछे खर्च के लिए कुछ ले लेते थे। पहले की उनकी रचनाओं में 'जुही की कली' और 'बादल' भी हैं। 1918-19 में पीड़ित हृदय निराला ने एक कविता लिखी थी, जिसका कुछ अंश इस प्रकार है–

"जब कड़ी मारें पड़ीं दिल हिल गया
पर न कर चूँ भी कभी पाया यहाँ।
मुक्ति की तव युक्ति से मिल खिल गया
भाव जिसका चाव है छाया यहाँ।
खेत में पड़ भाव की जड़ गड़ गई
धीर ने दुख-नीर से सींचा सदा।
सफलता की थी लता आशामयी
झूलते थे फूल भावी सम्पदा।"

निराला ने जिस वक्त 'जुही की कली' लिखी, उस वक्त तक वह मुक्तछंद के आचार्य वॉल्ट ह्विटमैन (अंग्रेजी), गिरीश और माइकेल मधुसूदन दत्त से बंगला का रसास्वाद ले चुके थे। सनेही, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं को बहुत पहले ही से वह 'सरस्वती' में पढ़ते आए थे। उनके काव्यों में उन्हें वाणी का दम-सा घुटता दीखता था। किस तरह कविता-सरस्वती के छंद-बंध को शिथिल किया जा सकता है, किस तरह भाव-प्रवाह को निर्बाध बनाया जा सकता है, और किस तरह संस्कृत के महाकवियों की सूक्ति जैसा लालित्य लाया जा सकता है–निराला को बस इसी की धुन थी। 'समन्वय'-काल में मुक्त-छंद में लिखी उनकी रचना 'पंचवटी-प्रसंग' इस प्रयत्न का प्रथम फल था। 1922 में निराला की 'अनामिका' के प्रकाशक और भूमिका-लेखक बाबू महादेवप्रसाद ने निराला के बारे में लिखा था–"पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः। अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावाद अनामिका सार्थवती बभूव।"

बाबू महादेवप्रसाद ने सबसे पहले नए काव्य-प्रवाह का स्वागत किया और निराला की प्रतिभा की दाद दी। निराला की समर्थ लेखनी की सहायता के बल पर 1923 (श्रावण पूर्णिमा) में महादेव बाबू ने 'मतवाला' निकाला। 'मतवाला' में सूर्यकांत त्रिपाठी ने 'निराला' के नाम से लिखना शुरू किया और फिर तो उनका यही चिरप्रसिद्ध नाम पड़ गया। 'मतवाला' और 'समन्वय' में निराला के लेख अधिकतर साहित्य और दर्शन पर होते थे।

बाजार का काम (1924-27)–'समन्वय' छोड़कर निराला एक साल 'मतवाला' में रहे। 'मतवाला' छोड़ने पर खाली तो बैठ नहीं सकते थे, आखिर बच्चों की परवरिश का बोझ भी तो सर पर था। इसलिए निराला की अनुपम प्रतिभा बाजार के काम में लगने के लिए मजबूर हुई। शायद 'मजूरी का काम' ज्यादा सम्माननीय शब्द होता, इसीलिए निराला 'बाजार का काम' शब्द को अधिक पसंद करते हैं। काम था पुस्तकों का संशोधन, अनुवाद और विज्ञापनदाताओं के लिए विज्ञापन बनाना। बाजार की दर थी छह रुपये फार्म। 'समन्वय' वाले अपने अनुवाद के लिए सात रुपये फार्म देते थे, यह उनकी कृपा थी। 'परिमल' के सारे अधिकार को ढाई सौ रुपये में बेच डालना पड़ा। हिंदी जगत् में अब भी 'बाजार का काम' शायद उसी तरह चलता जा रहा है। 'बाजार के काम' के लिए लिखी उनकी कुछ कृतियाँ हैं–(1) रवीन्द्र-कविता-कानन, (2) महाराणा प्रताप, (3) भीष्म, (4) ध्रुव, (5) प्रह्लाद, (6) रामकृष्णवचनामृत (1500 पृष्ठ) और विवेकानंद की कुछ वक्तृताओं का अनुवाद भी उन्होंने इसी समय किया था। निराला की 'शकुंतला' धारावाहिक रूप से 'मतवाला' में निकली।

वैसे तो महिषादल में भी लुक-छिपकर कभी एकाध प्याले उड़ा लिया करते थे, मगर 'समन्वय' के बाद तो पूरा दौर चलने लगा। शायद चिंताओं को भुलाने के लिए हाला अधिक उपयोगी है।

जिस वक्त 'बाजार के काम' का युग खतम हो रहा था, उस समय बड़ा भतीजा अपने पैरों पर खड़ा होने लायक बन गया था। उसने बंबई जाकर कुछ व्यापार शुरू किया। छोटों को अब भी निराला से अवलम्ब की जरूरत थी, लेकिन निराला धीरे-धीरे विदेह होते जा रहे थे।

लखनऊ-काल (1928-35)–'बाजार के काम' की दर गिरती जा रही थी और कलकत्ता हिंदी का कोई उतना बड़ा केंद्र भी नहीं है। निराला अब विस्तृत क्षेत्र में आना चाहते थे। अब उर्दू के गढ़ लखनऊ से 'माधुरी' और 'सुधा' निकल रही थीं। दस साल के अंदर ही अंदर हिंदी-साहित्य ने जहाँ अनेक नवीन साहित्यिक पैदा किए, वहाँ नवशिक्षित भद्रवर्ग में उसने अपने लिए आदरणीय स्थान भी बना लिया। 'प्रसाद' जी ने काशी विद्यापीठ में बुलाना चाहा, मगर निराला ने पसंद नहीं किया और वह लखनऊ चले आए। होटल में रहते, विशेषकर 'सुधा' में उनकी रचनाएँ छपतीं। इसी समय 'अप्सरा' और 'अलका' (दो उपन्यास), तथा 'लिली' (कहानी-संग्रह) प्रकाशित हुई।

निर्लेप-काल (1935-45)–अब भी अधिकतर लखनऊ में ही रहते, मगर बीच-वीच में इधर-उधर भी हो आते। अब बच्चों की फिक्र से बिल्कुल मुक्त थे। इस समय की रचनाओं में 'प्रभावती' (उपन्यास), 'सखी' (कहानी-संग्रह), 'निरुपमा' (उपन्यास), 'गीतिका', 'अनामिका' (बड़ा संग्रह), 'सुकुल की बीवी' (कहानी-संग्रह), 'कुल्ली भाट' (शब्द-चित्र), 'बिल्लेसुर बकरिहा' (गद्य), 'कुकुरमुत्ता' (कविता), 'चाबुक' (फुटकर लेख) आदि हैं।

1943 से निराला 'शमित-दमित' अवस्था में प्रविष्ट हुए। लेखनी अब भी चलती है और 'कुल्ली भाट' पढ़ 'कुकुरमुत्ता' के पढ़नेवाले भली-भाँति जानते हैं, कि वह कितनी सबल है।

निराला का निरालापन–काव्य में निराला ने किस तरह अपना निराला प्रवाह चलाया, इसे यहाँ लिखना सम्भव नहीं। निराला का व्यक्तित्व बिल्कुल निराला है। उसे न सड़ा समाज ही अपने बंधन में बाँध सकता है न प्रभुता और धन में मत्त प्रभुवर्ग ही। वह किसी के अभिमान को बर्दाश्त नहीं कर सकता। वह स्वभावतः सहिष्णु है, मगर जिस संदेश को नवीन समाज के लिए जरूरी समझता है, उसे डंके की चोट से सरे बाजार घोषित करता है। तरुण हृदय और मस्तिष्क उसका स्वागत करते हैं, देह और दिमाग के बूढ़े झल्लाते हैं और वाग्बाण प्रहार करते हैं। निराला में दोष भी हो सकते हैं, लेकिन हर उन्नतिशील समाज प्रतिभाओं के लिए सात खून माफ रखता है। फिर यह भी ख्याल रखना चाहिए, कि निराला के दिल पर पड़े तीन भीषण प्रहार अपने घाव को सदा ताजा रखे हुए हैं। यदि वह आत्मविस्मृत होने का अवकाश न पाता, तो उसकी क्या अवस्था होती, इसे ख्याल करके भी दिल काँप उठता है।

अब सुनिये एकाध निराला की निराली अदाएँ। धनी ससुर ने अपनी जायदाद का आधा हिस्सा अपनी बेटी को देना चाहा। निराला ने अपनी स्त्री से कहा–"एक तरफ बाप का आधा हिस्सा और दूसरी ओर पूरा मैं, एक को ले लो।" श्रीमतीजी ने निराला को ही पसंद किया। निराला ने श्रीमतीजी की खाली जगह को नहीं भरा।

पत्नी का मछली-मांस से बैर था, धर्मभीरु पंडे की लड़की थीं। उन्होंने एक दिन निराला को प्रेमसागर दिखलाकर मांस छोड़ने को कहा। निराला प्रियतमा के वचन का उल्लंघन नहीं कर सकते थे, उन्होंने मांस-मछली खाना छोड़ दिया। कुछ दिनों में निराला का हृष्ट-पुष्ट शरीर सूख चला। किसी मित्र के पूछने पर उन्होंने कारण बतलाया। मित्र ने कहा–"तो तुम फिर खाओ, कनौजियों को पाप नहीं लगता, उनको वरदान है।"

"कहीं लिखा भी है ?"

"हाँ, है क्यों नहीं ? वंशावली में लिखा है।"

निराला कहते हैं–"मुझे वैसी प्रसन्नता आज तक कभी नहीं हुई" ('चाबुक' पृष्ठ 50)। निराला उसी वक्त बाजार से मांस खरीद अँगोछी में बाँधकर ले गए। पत्नी ने कहा–"अपने मांसवाले बर्तन अलग कर लो, और जिस रोज मांस खाओ उस रोज न मुझे न घर के और बर्तन को हाथ लगाओ, और तीन रोज तक तुम कच्चे

घड़े नहीं छूने पाओगे।" निराला ने कहा–"इस समय तो रोज खाने का विचार है, क्योंकि पिछली कसर पूरी कर लेनी है।"

श्रीमतीजी मायके चली गईं। फिर जब गुस्सा कम हुआ, तो चार महीने पति के पास रहतीं और आठ महीने मायके।

1930 में निराला की पुत्री सरोजिनी ब्याहने लायक हो गई। कनवजियों में बिसवा बैठाना और तिलक-दहेज छोटी आफत नहीं है। निराला ने सब पर लात मारी। कलकत्ता में शिवशेखर द्विवेदी नामक एक तरुण उनके पास आता-जाता था, उसे गाँव में बुलाया। न लगन थी और न साइत, न बरात आई न बाजा-गाजा। निराला ने सरोजिनी की शादी शिवशेखर से कर दी। गाँववाले रोष और आश्चर्य करते ही रह गए। पाँच साल बाद सरोजिनी तपेदिक में मर गई।

1925 में क़लकत्ते की एक घटना को निराला अपने जीवन की सबसे बड़े आनंद की बात कहते हैं। निराला ताड़ीखाने में गए। वहाँ कितने ही भंगी और मजूर ताड़ी पी-पीकर मस्त थे। निराला के हट्टे-कट्टे शरीर और प्रभावशाली मुख को देखकर उनके स्वागत में पियक्कड़ों ने उठकर नाचना शुरू किया। आठ-दस ईंटें रखकर आगन्तुक के लिए उन्होंने ऊँचा आसन तैयार कर दिया और खुद फर्श पर नीचे बैठ गए। निराला ने ताड़ी के घड़े मँगवाए और एक बड़ा पान-भोज किया। निराला को ताड़ के पत्ते का प्याला दिया गया। साथियों ने खूब गजलें गाईं। निराला कहते हैं–"जीवन में उतनी बढ़िया गजलें मैंने कभी नहीं सुनीं।"

1932 में निराला लखनऊ में मैजिस्टिक होटल में ठहरे थे। दिल में उमंग आई कि होटल के सभी कमकरों का ब्रह्मभोज किया जाय। निराला मांस-रंधन-विद्या में बड़े निपुण हैं, दश सेर मांस मँगवाया और तीन गगरी ताड़ी। सभी नौकर-चाकरों को साथ बैठाकर भोजन-पान कराया। निराला को खूब आनंद आया। तरुण 'अंचल' ने चुपके से देख लिया, उसने निराला के ब्रह्मभोज पर एक कविता लिखकर छपवा डाली। निराला भीतर से खूब प्रसन्न हुए।

निराला की मानसिक वेदनाओं को तो कोई हलका नहीं कर सकता और इतने जख्म कारे हैं कि उनको भूल जाना निराला के वश की बात नहीं। व्यवहार-पटुता उन्हें छू नहीं गई है। उन्होंने पैंतालीस पुस्तकें हिन्दी-साहित्य को अब तक दी हैं और सबसे अधिक पारिश्रमिक तीन सौ रुपये तक मिला है। सभी पुस्तकों के प्रकाशन का अधिकार सदा के लिए प्रकाशकों के हाथ में चला गया है। वह वस्तुतः साहित्यिक संन्यासी हैं। उन्होंने हमें बहुत कुछ दिया, मगर हमने उनके लिए क्या किया ? आत्म-सम्मान से भरे निराला के मुँह से जब सुनता हूँ–"क्या है, दूसरों के यहाँ टुकड़े तोड़ रहा हूँ," तो कलेजा काँप उठता है। हिन्दी-साहित्य के अमर निराला की जीवन में यह गत ! हाँ, हम मरने पर उनका श्राद्ध करेंगे। आनेवाली पीढ़ियाँ हमें कोसेंगी कि हमने जीवित निराला की किस तरह पूजा की।

3

पूरनचन्द्र जोशी

प्रमुख तिथियाँ–1907 फरवरी 14 जन्म, 1917 माँ की मृत्यु, 1922 मैट्रिक पास (हापुड़), 1924 एफ. ए. पास (अल्मोड़ा), प्रयाग में, 1925 गाँधीवादी देश-भक्त, 1925 भौतिकवादी सोशलिस्ट, 1928 एम. ए. पास, कमूनिस्ट और लेक्चरर; 1929 मेरठ षड्यंत्र में गिरफ्तार और एल-एल. बी. पास; 1933 सजा, अपील से सजा कम, छुट्टी, कानपुर के मजूरों में काम; 1935 फरवरी ढाई साल की सजा; 1936 भारतीय कमूनिस्ट पार्टी के जेनरल सेक्रेटरी; 1936-37 अन्तर्धान, 1938–अक्तूबर 1942 जून अन्तर्धान, 1943 अगस्त 15 कल्पना से ब्याह।

खाकी या इसी तरह किसी बदरंग रंग का हाफ-पैंट और हाफ-शर्ट, पैरों में काबुली चप्पल, सिर नंगा, भिन्न-भिन्न दिशा में खड़े रूखे केश, रंग गोरा (हिन्दुस्तानी), कद नाटा छरहरा, आगे झुकी गर्दन पर तिरछे सिर को लिए यह कौन मिट्टी की मूरत की तरह खड़ा है ? यदि उसकी दृष्टि नीचे की तरफ न हो, ऊपर की ओर होती, यदि उसके सामने महागज-से काले मेघ चलते दिखलाई पड़ते, तो हम उसे वियोगी यक्ष कहते और आगे से आने पर अब उसका चेहरा सामने की ओर है। दाढ़ी-मूँछ साफ, गोरे गोल चेहरे में कोई खास बात नहीं मालूम होती, खास करके जब कि वह कुछ बोल न रहा हो। हाँ, एक बात जरूर आकृष्ट करेगी, वह है, मोटे चश्मे के भीतर धधकते अंगारे की तरह चमकती आँखें, जिन्हें एक बार देखकर आप आसानी से भुला नहीं सकेंगे। वहाँ सिर्फ उन आँखों के सिवा वस्तुतः कोई जीवन का चिह्न नहीं मालूम होगा। लेकिन ठहरिये, अभी बात करने कोई आ गया। अब मानो सुप्त ज्वालामुखी जागृत हो उठा, उसके रोम-रोम, कण-कण से स्फूर्ति और क्रिया फूट निकली। बात करने में उसकी गति हिन्दुस्तान की सबसे तेज डाकगाड़ी से भी तेज है और इसी वजह से उसे बीच-बीच में रुक-रुककर बोलने के लिए मजबूर होना पड़ता है, जिससे उसका भाषण निरन्तर प्रवाह नहीं, विच्छिन्न प्रवाह का रूप लेता है। भाषण में भी भूमिका बाँधना नहीं जानता, किसी बात पर वह सीधे पहुँचता है और मुँह से निकलते फर-फर वाक्य बहुत छोटे-छोटे होते हैं। यदि वह अँग्रेजी में बोल रहा हो तो गति और तीव्र मालूम होगी, साथ ही कितने ही नये-नये 'ग्रामीण' मुहावरों के शब्द सुनाई पड़ेंगे। बात युक्तिपूर्ण, आपके दिमाग को मानने के लिए मजबूर करने की ताकत रखेगी; लेकिन उसमें एक चीज का जरूर आपको पता लगेगा–वह वक्ता नहीं है।

यह कौन है ? पूरनचन्द्र जोशी, जिसे बहुतेरे तरुण सिर्फ पी. सी. के नाम से याद करते हैं। पी. सी. जोशी। हाँ, वही।

पूरनचन्द्र जोशी हिन्दुस्तान के मजूरों-किसानों की पार्टी का एक बड़ा नेता, एक बड़े ही गुमनाम-से स्थान में पैदा हुआ। अल्मोड़ा गुमनाम नहीं तो क्या है ? और फिर शिक्षा, सभ्यता में सबसे पिछड़ा भूखण्ड–इलाहाबाद में बलिया के बाद सबसे ज्यादा दुर्गत सहपाठी विद्यार्थी इन्हीं पहाड़ियों की करते हैं। लेकिन उसी पहाड़ में और जोशी से पहले हिन्दी की एक और अमूल्य निधि पैदा हुई है–सुमित्रानंदन पंत। इससे जान पड़ता है, यह पहाड़ी भूमि उर्वर है।

अंग्रेजी राज की स्थापना के पहले अल्मोड़ा का जोशी-परिवार धनाढ्य, अनेकों गाँवों का मालिक एक छोटे-मोटे सामन्तों का-सा परिवार था। लेकिन अँग्रेजी शासन की स्थापना के साथ उसकी भी श्री लुप्त हो चली। रस्सी जल गई लेकिन ऐंठन बाकी रही। हरनन्दन जोशी के पिता, पी. सी. के दादा तक अभी निम्न मध्यम-वर्ग का मनोभाव नहीं, सामन्ती मनोभाव चला आया था। झीजाड़ का जोशी परिवार एक विशाल परिवार था, सबको समेटकर एक जगह रखना वह अपना कर्तव्य समझता था। परिवार के बढ़ने के साथ जीविका के बढ़ाने की जरूरत थी, मगर जोशी-परिवार घृणा के पात्र अँग्रेजों की दासता नहीं कर सकता था। लेकिन अँग्रेजों की दासता से निकलना सम्भव कहाँ था ? आखिर रास्ता निकल ही आया–अँग्रेजों की दासता नहीं, अँग्रेजों के दासों की दासता–देशी रियासतों की नौकरी। रीवाँ में परिवार के किसी व्यक्ति ने नौकरी शुरू की, धीरे-धीरे कितने ही और भी वहाँ नौकर हो गये।

बीसवीं सदी के आरम्भ में जोशी-परिवार में स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध सब मिलाकर सौ से कम व्यक्ति नहीं थे। सबका एक चूल्हा और सबका एक जगह खाना। घर के सबसे ऊपर का कोठा सिर्फ रसोईघर और सौ के करीब क्यारियों के लिए सुरक्षित था। जोशी-परिवार था, काली माई का उपासक; इसलिए माई के प्रसाद मांस से इन्कार कैसे कर सकता था ? हाँ, विधवाओं का ख्याल करके आम चूल्हे में महाप्रसाद नहीं बनता था। अब घर के कितने ही लोग नौकर हो गये थे और साल में एक बार सिर्फ छुट्टियों में ही इकट्ठा हो पाते। बालकपन में पूरन ने इस बड़े सम्मिलित (साम्यवादी) परिवार को अपने बाल-नेत्रों से देखा था और वह उसे अच्छा भी लगा था।

पूरन के पिता पण्डित हरनन्दन जोशी बनारस के क्वीन्स कालेज में पढ़े। संस्कृत उनका प्रिय विषय था।

वह अपने प्रिन्सिपल डीलाफोस के प्रिय छात्रों में थे। बी. ए. करने के बाद वह सरकारी स्कूल में मास्टर हो गये और योग्यता के कारण तीन ही चार साल में एक जिला-स्कूल के हेड मास्टर बना दिये गये। ब्रजवासी लाल[1] उस वक्त स्कूलों के असिस्टैंट इन्स्पैक्टर थे। हरनन्दन जोशी दबनेवाले न थे और इस फरऊन-मिजाज से लड़ पड़े। नतीजा हुआ कि वह कई सालों तक असिस्टैंट मास्टर बने रहे।

हरनन्दन जोशी ब्रजवासी की चोट खाये तब तक सँभल नहीं पाये जब तक कि चिन्तामणि शिक्षा-मंत्री नहीं हुए। अब वह फिर हेडमास्टर थे। सबसे बिगड़ा, सबसे पिछड़ा स्कूल उनको सौंपा जाता और दूसरे ही साल इम्तिहान में कई का फर्स्ट डिवीजन होना धरा रहता।

पूरन की माता मालती अल्मोड़ा के एक गाँव के पन्त-घराने की लड़की थीं। मालती के पिता सतना में डाक्टर थे। उन्होंने अपनी पुत्री को संस्कृत, हिन्दी और थोड़ी-सी अंग्रेजी भी पढ़ाई थी। मालती बहुत सुन्दर थी, बल्कि कह सकते हैं, अल्मोड़ा शहर की वह जन पद-कल्याणी सुन्दरतम स्त्री थीं। लेकिन उनमें इतना ही गुण नहीं था। हरनन्दन जोशी परिवार में सबसे जेष्ठ संतान थे, इसलिए, नही घर के सरदार थे। घर के भीतर मालती देवी को मालकिन का फर्ज अदा करना था और वह बहुत सफल मालकिन निकलीं। इतने बड़े संयुक्त परिवार के लिए मालकिन का सर्वप्रथम कर्तव्य होना चाहिए। अपने-पराये का भेद न करना। मालती में यह स्वार्थ-त्याग का भाव बहुत अधिक मात्रा में था। परिवार के लड़कों की अच्छी शिक्षा और लड़कियों की अच्छे घर में शादी इसके लिए वह सब कुछ करने के लिए तैयार थीं। लड़कियों के ब्याह-दहेज के लिए वह अपने जेवर-कपड़े बेच देतीं और दूसरी स्त्रियों को भी इच्छा या लज्जा से वैसा करना पड़ता। मालती देवी को प्रसन्नता थी कि अपने घर में उनके पचीस-तीस देवर हैं। सारे घर की सुध रखनेवाली ऐसी स्त्री की कौन कद्र न करेगा। घर तो घर ही, अगर रास्ते जाते आदमी से भी एक फर्लांग नीचे उतर फिर एक फर्लांग ऊपर चढ़ पानी भर लाने के लिए कह देतीं, तो कोई इन्कार न करता। मालती तरुणाई में तपेदिक से मर गईं, और उन्हीं की छूत से सुश्रूषा करनेवाली पूरन की एकमात्र बहन भी चल बसी। माँ के मरते वक्त (1917) पूरन की उम्र नौ-दस साल की थी।

पूरन का जन्म ऐसे देश, ऐसे परिवार और ऐसे माता-पिता के घर अल्मोड़ा में 14 फरवरी 1907 में हुआ। बाप एक योग्य अध्यापक थे, फिर लड़के की शिक्षा पर ध्यान देने की बात ही क्या ? पण्डित हरनन्दन जोशी अपनी नौकरी के सिलसिले में जहाँ-तहाँ बदलते रहे। पूरन भी बाप के साथ इसी तरह युक्तप्रान्त के शहरों की हवा खाते रहे। बाप अनुशासन चाहते थे, मगर लाठी के जोर से अनुशासन पर उनका विश्वास न था। पूरन लड़कपन से ही बड़े मेधावी विद्यार्थी थे। इतिहास में उनकी खास रुचि थी। हाँ, एक बड़ा 'दोष' था, वह अपनी पढ़ाई को पाठ्य-पुस्तकों तक ही सीमित रखना नहीं चाहते थे। भाषा का ज्ञान होते ही उन्होंने ढेर की ढेर पुस्तकों को चबाना शुरू किया। स्कूल के दिनों में बाहरी पुस्तकों में हिन्दी-साहित्य, शरत्चन्द्र और रवीन्द्र के अनुवादों को वह बहुत रुचि से पढ़ा करते थे। बाहरी पुस्तकों के इतना ज्यादा पढ़ने का ही यह नतीजा था कि पूरन जैसा विद्यार्थी परीक्षाओं को सेकेण्ड डिवीजन में पास करता। कॉलेज के दिनों में वह अपने एक प्रोफेसर से कहा करते थे कि इतिहास के संवत्सरों को विद्यार्थी दस-पाँच साल इधर-उधर लिख दें, तो क्या हर्ज ? 1922 ईस्वी में पूरन ने हापुड़ से मैट्रिक पास किया।

कालेज की पढ़ाई को उन्होंने अपने ही शहर अल्मोड़ा में शुरू किया। उस वक्त वहाँ के इण्टर-मीडियेट कालेज के प्रिन्सिपल मि. पालप्राइस थे। पूरन का विषय था तर्क और संस्कृत। दो साल घर पर रहना उनके

---

1. शिक्षा-विभाग के किसी अधिकारी से यदि मुझे (राहुल को) सख्त नफरत हुई थी, तो इसी ब्रजवासी लाल से। मैं अपर प्राइमरी दर्जा चार में पढ़ता था। वार्षिक इम्तिहान लेने के लिए ब्रजवासी लाल आनेवाले थे। ट्रेन चली गई और जब वह नहीं आये, तो दूसरे डिप्टियों ने इम्तिहान ले लिया। हमारे क्लास में एक दर्जन के करीब लड़के पास हो गये। ब्रजवासी की नींद जब टूटी, तो अगले स्टेशन से उतरकर दूसरी ट्रेन द्वारा हमारे स्कूल में पहुँचे। लड़के खुशियाँ मना रहे थे। उन्होंने आते ही कहा कि फिर इम्तिहान लेंगे और फिर सिर्फ दो ही पास हुए—मैं कतई और एक दूसरा लड़का शर्तिया—मुझे तो उनका बाबा भी फेल नहीं कर सकता था; लेकिन अपने साथियों का यह कत्लेआम देखकर उस कसाई पर मुझे सख्त नफरत आई।

लिए बड़ी खुशी की बात थी। माँ न थीं, लेकिन उनकी बारह चाचियाँ अपने लाड़ले तेज सुन्दर पढ़ाकू भतीजे को हाथ पर उठाये रहती थीं। यहाँ पर भी पूरन ने अपना बहुत-सा समय बाहरी पुस्तकों के पढ़ने में लगाया। 1924 में एफ. ए. पास कर पूरन इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में दाखिल हुए। पण्डित हरनन्दन जोशी अपने मेधावी इकलौते पुत्र को आई. सी. एस. देखना चाहते थे और इसके बारे में इलाहाबाद की कुछ ख्याति हो चली थी।

इलाहाबाद में कुछ समय तक पूरन हिन्दू-होस्टल में रहते थे, इसके बाद वह हालैंड-हॉल में चले आये और गिरफ्तारी के पहिले का बाकी समय यहीं बिताया। पूरन की एक और भी विचित्रता थी—यही नहीं कि वह पाठ्य-पुस्तकों से बाहर की ढेर-की-ढेर पुस्तकें पढ़ते थे, बल्कि हर परीक्षा के बाद विषय बदल देते थे। वह सोचते थे, बाहर-भीतर मिलाकर जिस विषय को काफी पढ़ लिया गया उसी को फिर लेने से फायदा ? एफ. ए. में तर्क और संस्कृत यदि था तो बी. ए. में यूरोपीय इतिहास और अर्थशास्त्र, और इतिहास के पर्चों में और भी फेंटफाँट। एम. ए. में उन्होंने इतिहास लिया था, जिसमें भी कई एक-दूसरे से न मिलनेवाले भागों का मिश्रण किया था। इससे स्पष्ट ही है कि पूरन फर्स्ट डिवीजन आना ही नहीं चाहते थे। 1928 में उन्होंने एम. ए. किया और 1929 की मार्च में जब वह मेरठ-षड्यन्त्र में पकड़े गये; तो एल-एल. बी. के अन्तिम वर्ष में थे और जेल में रहते ही परीक्षा देकर उसे उन्होंने पास किया।

1921-22 में पूरन सोलह-सत्रह वर्ष के थे। इसी वक्त गाँधी की आँधी आई; लेकिन उसका झोंका उनके दिल और दिमाग तक नहीं पहुँच सका।

सबसे पहिले राजनीति की ओर उनका ख्याल उस वक्त गया, जब कि वह 1924 में इलाहावाद आये। इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में कुछ ऐसा वायुमण्डल भी था। बी. ए. में उन्होंने यूरोप का इतिहास लिया। पाठ्य और उसके बाहर की पुस्तकों को पढ़ते-पढ़ते यूरोप के इतिहास ने उन्हें बतला दिया कि इतिहास में कैसे परिवर्तन हुआ करते हैं और हमारे देश में भी परिवर्तन की कितनी जरूरत है। इस इतिहास के अध्ययन का पहिला असर यह हुआ कि वह साम्प्रदायिकता के घोर विरोधी बन गये। उस वक्त पं. मोतीलाल और मालवीयजी की राजनीतिक झड़प चल रही थी। जोशी मालवीयजी के साम्प्रदायिक विचारों के विरोधी और मोतीलालजी के समर्थक थे। 1925 में पहुँचते एक ही साल पहिले राजनीति से बिल्कुल कोरे पूरन अब राष्ट्रीयतावादी बन गये। गाँधीजी का रास्ता उन्हें बहुत पसन्द आया, और वह खद्दरधारी कट्टर गाँधी-भक्त हो गए। आई. सी. एस. की बात अब दूर हट गई थी, अब तो उनके सामने थे नेहरू और लाजपतराय।

यूरोपीय इतिहास में और भी प्रगति हुई। अर्थशास्त्र में कहीं-कहीं सोशलिज्म का नाम भी पढ़ा, जिज्ञासा और बढ़ी और 1926 में पहुँचते-पहुँचते वह भौतिकवादी सोशलिस्ट बन गये। पढ़ना और पढ़ना, उस पर विचार करना यही उनका काम था।

1928 की गर्मियों में वह घर गये। उस वक्त कलकत्ता से एक मजदूर-नेता आफताब अली भी अल्मोड़ा आये थे। जोशी से भेंट होने पर उन्होंने रजनी पामदत्त की पुस्तक 'माडर्न इण्डिया' (आधुनिक भारत) दी। पढ़कर जोशी की आँखें खुल गईं। उन्हें साफ दिखाई देने लगा कि हमारी बीमारियाँ क्या हैं और उनकी चिकित्सा क्या है ?

इलाहाबाद लौटकर उन्होंने और भी तत्परता से विद्यार्थियों में काम शुरू किया। यूथ-लीग (युवक-सभा) ने जोर पकड़ा। यूनिवर्सिटी के दूसरे विद्यार्थी भारद्वाज उनके सहायक थे और उनके दूसरे सहायक सर देसाई थे, जो कि उस समय सर तेजवहादुर सप्रू के प्राइवेट सेक्रेटरी थे।

आफताव अली से ही जोशी को कमूनिस्ट पार्टी तथा उसके दूसरे कार्यकर्ताओं का पता लगा। सितम्बर 1928 में मेरठ में कमूनिस्टों ने मजूर-किसान पार्टी कान्फ्रेन्स की। यहाँ जोशी की दूसरे कमूनिस्टों से भेंट हुई, देश की समस्याओं पर उन्होंने विचार किया। अब भी वह समय बीते देर नहीं हुई थी, जब कि बंगाल में आतंकवादियों को खास तौर से कमूनिज्म पर पुस्तकें दी जातीं और सरकारी अधिकारी तक आतंकवाद का पथ छोड़ कमूनिज्म का रास्ता लेने की सलाह देते। बमों और पिस्तौलों से बेचारे परेशान थे; लेकिन अब समय आ चुका था, जब कि उन्हें अनुभव करना पड़ा कि कमूनिज्म कहीं ज्यादा खतरनाक है। लिलूआ, बम्बई आदि

की बड़ी-बड़ी हड़तालों ने उनकी आँखें खोल दीं—नमाज छोड़कर रोजा गले पड़ने का खतरा साफ दिखाई पड़ने लगा।

1928 के दिसम्बर में कलकत्ता में कमूनिस्टों ने अपनी बड़ी मजूर-किसान पार्टी कान्फ्रेन्स की। मुजफ्फर अहमद, ब्राडले, घाटे, मीरजकर उस समय के मुख्य-मुख्य कमूनिस्ट कलकत्ता में इकट्ठे हुए थे। पुलिस मेरठ ही से चौकन्नी हो गई थी। कलकत्ता में उसने और देखभाल रखी।

एम. ए. पास करने के बाद जोशी साल-भर के लिए इलाहाबाद में ट्यूटर हो गये थे। अब भी वह उसी हॉलेण्ड-हॉल में रहते थे। 1921 का मार्च का महीना था। पुलिस ने एकाएक हॉलैण्ड-हॉल को घेर लिया। छात्रों में बड़ी उत्तेजना फैली, लेकिन जोशी और उनके साथियों ने समझाया।

जोशी को गिरफ्तार कर मेरठ पहुँचाया गया और वहाँ भारत और इंगलैण्ड के बहुत-से कमूनिस्टों पर वह इतिहास-प्रसिद्ध मुकदमा शुरू हुआ जिसे मेरठ-षड्यन्त्र कहते हैं। सरकार ने पानी की तरह लाखों रुपये उस मुकदमे पर बहाये, विलायत और कहाँ-कहाँ से गवाह और सबूत जमा किये। मुकदमा 1933 तक चलता रहा। लेकिन सरकार को इस मुकदमे से नफा नहीं सबसे ज्यादा घाटा हुआ। यह मेरठ-षड्यंत्र मुकदमा ही था, जिसने हिन्दुस्तान के कोने-कोने में कमूनिस्ट पार्टी का नाम पहुँचा दिया। यह मेरठ जेल ही था, जिसमें हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न प्रान्तों और बाहर के कमूनिस्ट भी, सरकार के खर्च पर इकट्ठा हुए। उन्होंने एक-दूसरे के ज्ञान और तजर्बे से ही फायदा नहीं उठाया, बल्कि जेल में जमा मार्क्सवाद की भारी लाइब्रेरी से भी उन्हें लाभ उठाने का मौका मिला।

जज ने सजा दी। हाईकोर्ट ने जेल में रहे दिनों को ही काफी सजा मान जोशी को छोड़ने की आज्ञा दे दी। इस तरह अपने कितने ही साथियों के साथ जोशी भी अगस्त 1933 में छूटकर चले आये।

मेरठ में जोशी ने अपने साथियों पर काफी प्रभाव डाला, यद्यपि वह उमर में सबसे छोटे, गिरफ्तारी के वक्त केवल बाईस वर्ष के थे। कानूनदाँ होने की वजह से मुकदमे की रिपोर्ट लेने और बहुत-से कागज-पत्र की तैयारी का काम उन्हीं के जिम्मे था। आगे के लिए इससे उन्हें बड़ी शिक्षा मिली। जेल के चार वर्ष के जीवन में उन्होंने अपने को जबर्दस्त लगन का विद्यार्थी साबित किया।

जेल से छूटने के बाद जोशी ने अपने पढ़े सिद्धान्त को काम में लाने के लिए कानपुर को अपना कार्य-क्षेत्र चुना। बिना मजूर-संगठन की मजबूत बुनियाद के कमूनिस्ट पार्टी पनप नहीं सकती। कानपुर में भारी संख्या में मजूर थे, जोशी ने अजय घोष तथा दूसरे नौजवानों को लेकर वहाँ काम शुरू किया, लेकिन वह साल-भर या कुछ ही अधिक काम कर पाये थे कि सरकार ने फिर फरवरी 1935 में पकड़कर ढाई साल की सजा दे दी। सजा का समय उन्होंने कानपुर और गोरखपुर के जेलों में काटा। जेल में वह बड़े भलेमानुष कैदी थे, इसके लिए कैदियों को जितना रेमीशन (छूट) मिल सकता था, उतना मिला; साथ ही कैदी पूरनचंद्र ने जेल में बाग को सजाने में कमाल किया था, इसके लिए खास तौर से रेमीशन मिला। पुलिस इन्तिजार कर रही थी, लेकिन जोशी बाहर निकलते ही लोप हो गये और तब तक पुलिस उनकी गंध भी न पा सकी, जब तक कि काँग्रेस मिनिस्ट्री के जमाने में वारण्ट नहीं हटा लिया गया।

मेरठ के समय जोशी ने अपने को मार्क्सवाद का एक अच्छा विद्यार्थी और अन्त में एक अच्छा पण्डित साबित किया। कानपुर में काम करते समय उन्होंने अपने को एक अच्छा संगठन-कर्ता, पथ-प्रदर्शक और सहकारियों का स्नेहपात्र साबित किया। इस वारण्ट के निकलने के समय उन्होंने एक दूसरी दिशा में भी अपना कौशल दिखलाया। 1936-37 में ही नहीं, अक्तूबर 1939 से जून 1949 तक के वारण्ट के समय में भी उन्होंने पुलिस को अपने पास नहीं फटकने दिया और साथ ही सारे हिन्दुस्तान में अपने काम को जारी रखा, जिसमें कितनी ही बार उन्हें दूर-दूर का सफर भी करना पड़ता था।

साथी पूरनचंद्र जोशी 1929 में कमूनिस्ट पार्टी के मेम्बर बने, 1936 में भारतीय पार्टी के जेनरल सेक्रेटरी निर्वाचित हुए और तब से आज तक उनके सेक्रेटरी होने के समय में भारत में पार्टी की जो उन्नति हुई, उसमें उनका सबसे बड़ा हाथ है।

आज आसाम हो या बंगाल, पंजाब हो या बिहार, केरल हो या आन्ध्र, मद्रास हो या महाराष्ट्र, गुजरात हो या ओड़ीसा–भारत के हर हिस्से के कमूनिस्ट पी. सी. के नेतृत्व को अपने गौरव की चीज समझते हैं। जोशी की खरी-खरी बातों–जो कि कितनी ही बार काफी कड़ी आलोचना के रूप में होती हैं–को सुनकर वे नाराज नहीं होते, बल्कि सभी जानते हैं कि हमारा सेनापति अपनी क्रान्ति-सेना को मजबूत करने के लिए इसकी जरूरत समझता है। जोशी किसी भी कड़े काम को खुद भी करने से नहीं हिचकिचाता, इसलिए उसके साथी भी उसकी आलोचना को कैसे बुरा मान सकते हैं ? अपने साथियों के भीतर वह एक बिल्कुल मामूली-सा साथी है। वह खुद दूसरों से 'तू' और 'मैं' के साथ छेड़खानी करता है और दूसरे भी वैसा करते हैं। उस वक्त मालूम नहीं होता कि वह भारत को एक जबर्दस्त संगठित तथा नई पीढ़ी के बेहतरीन तरुण भारतीय दिमागों का सर्वप्रिय नेता है।

उसकी दृष्टि बड़ी पैनी है। भारत के प्रान्त-प्रान्त के सेक्रेटरी दिनों लगाकर तैयार की अपनी रिपोर्टों को सुनाते हैं, पी. सी. कुछ घंटों के भीतर कोने-कोने की राष्ट्रीय तथा दूसरी प्रगति का संक्षेप करके रख देता है। परिस्थितियों के मुताबिक काम के तरीके को बदलना मार्क्सवाद का एक मूल सिद्धान्त है, लेकिन यह बदलना इतना आसान नहीं है। उसके सहकारी अधिकारी का कहना है–ऐसे समय पी. सी. बहुत जल्द अपने को तैयार कर डालता है।

आज ही नहीं, भारत की आनेवाली पीढ़ियाँ भी जोशी के नेतृत्व पर अभिमान करेंगी। अल्मोड़ा और हिमाचल-खण्ड को ऐसे सपूत के लिए गर्व रहेगा।

4
हाजरा बेगम

प्रमुख तिथियाँ–1910 दिसंबर 10 जन्म, 1917-19 पर्दे में, 1918 इन्फ्लुएंजा में मरों की लाशें, 1919 क्वीन्स मेरी कालेज (लाहौर) में, 1920 माँ की मृत्यु, 1924 सोवियत-विरोधी व्याख्यान सुना, 1926 मेट्रिक पास, 1928 मिस्टर अब्दुल जमील से ब्याह, 1931 पुत्रजन्म, देशभक्ति का रंग; 1932 मेरठ में कम्युनिस्टों के मुकदमें को देखा, तिलाक; 1933-35 इंग्लैंड में, 1934 रूस में, 1935 भारत में, कम्युनिस्ट, 1936 डाक्टर अहमद से ब्याह, 1940 भारतीय स्त्री कान्फ्रेंस की संगठन-मंत्री, 1943 युक्त-प्रान्त की स्त्रियों में काम।

बरेली कमिश्नरी ही पुराना उत्तर-पंचाल है। वैदिक काल के प्रतापी राजा दिवोदास् और सुदास् यहीं हुए, जिनकी संरक्षता में वशिष्ट, विश्वामित्र, भरद्वाज जैसे महान् ऋषियों ने ऋग्वेद की पुरातनतम ऋचाएँ रचीं। लेकिन यह साढ़े तीन हजार बरस पहले की बात है। मुगल-साम्राज्य की अधोगति के समय देश में जगह-जगह स्वतंत्र सामंतों ने अपनी-अपनी रियासतें कायम कीं। प्राचीन उत्तर-पांचाल के इस भूभाग में कई रुहेले पठान सरदारों ने अपनी नवाबियाँ स्थापित कीं, जिसके कारण उत्तर-पांचाल का नाम रुहेलखंड पड़ गया। उन रियासतों में से सन् सत्तावन के गदर के बाद सिर्फ रामपुर की रियासत बच रही। गदर के पहले रुहेलखंड की सबसे बड़ी रियासत नजीबाबाद के नवाब की थी। नवाब भंबूखाँ के महलों और किले के ध्वंसावशेष अब भी नजीबाबाद में मौजूद हैं। सन् सत्तावन के स्वतंत्रता-युद्ध में नजीबाबाद के नवाब ने पूरी तौर से भाग लिया। देश स्वतंत्र हो गया होता, तो आज भंबूखाँ की संतान और नजीबाबाद की कुछ दूसरी अवस्था होती। नजीबाबाद रियासत का कुछ भाग नवाब रामपुर को राजभक्ति के पुरस्कार में मिला और बाकी भाग सीधे ब्रिटिश शासन में चला गया। नवाब की संतान उजड़े नजीबाबाद को छोड़ देहरादून और दूसरे शहरों में बिखर गई।

हाजरा की माँ नातिका बेगम इन्हीं नवाब भंवूखाँ की औलाद में थीं। नाना के भाई जेनरल अजीमुद्दीन खाँ वर्तमान नवाब रामपुर के नाबालिगी के वक्त रीजेंट रहे। नवाब के बालिग होने और अधिकार सँभालने के बाद दोनों में कुछ अनबन हो गई। जेनरल गोली के शिकार हो गए। नवाब को अफसोस हुआ और मृत रीजेंट की नतिनी से शादी कर स्नेह प्रकट करना चाहा। जेनरल अजीमुद्दीन खाँ विचार में बहुत आधुनिक थे, उन्होंने अपने सभी भतीजों को शिक्षा के लिए इंग्लैंड भेजा और भतीजियों को भी अंग्रेजी शिक्षा, गाना, तैरना आदि सिखलाया। नातिका बेगम पर अपने चचा के इन विचारों का खास तौर से असर पड़ा और उन्होंने भी अपनी औलाद को वैसा ही बनाना चाहा।

हाजरा के परदादा बारकजई पठान सैनिक थे। अच्छे पढ़े लिखे थे, तरक्की करते-करते वह रामपुर में काजी (जज) हो गए। 1857 के स्वतंत्रता-युद्ध में उन्होंने रामपुर को उसमें न पड़ने देने के लिए भारी काम किया था, और गदर के बाद रामपुर की जो श्री-वृद्धि हुई उसका बहुत-सा श्रेय काजी साहब को था। काजी साहब के भी घर में आधुनिक शिक्षा का आदर था। पुराने विचार के मुल्लों की तरह वह अंग्रेजों को काफिर कहकर घृणा नहीं प्रकट करते थे। उनके लड़के दो साल इंग्लैंड में रहे। काजी साहब के पोते मुमताजुल्ला खान शिक्षा प्राप्त कर तहसीलदार से तरक्की करते-करते डिप्टी-कलक्टर हुए।

मुमताजुल्ला खान और नातिका बेगम के दो लड़के और चार लड़कियाँ हुईं। लड़के इंजीनियर और नौसैनिक अफसर हैं। उदयशंकर के स्कूल से सम्बन्ध रखनेवाली जोहरा बेगम भारतीय नृत्यकला-गगन की एक प्रकाशमान तारका हैं। यहाँ हमें जोहरा की सबसे बड़ी बहन हाजरा के बारे में कहना है।

हाजरा का जन्म 10 दिसम्बर सन् 1910 में सहारनपुर में हुआ। उदार विचार के माँ-बाप के घर में पैदा होने तथा खानदान में शिक्षा के प्रति प्रेम होने से हाजरा की शिक्षा पर लड़कपन से ही ध्यान दिया जाने लगा। नौ साल की उम्र तक वह घर में ही उर्दू, फारसी, कुरानशरीफ, अंग्रेजी पढ़ती रहीं। आधुनिक शिक्षा के प्रति प्रेम होने पर भी घर में धार्मिक वायुमंडल था और माँ की तरह हाजरा भी रोजा-नमाज की बड़ी पाबंद थीं। वह जब बहुत छोटी थीं, तो उनकी माँ को पढ़ानेवाली मेम बच्ची को रीछ दिखलाने ले गई, रीछ को देखकर डरना तो था ही। मेम एक रोज हाजरा को अपने घर ले गई। उसके पति ने नकली दाँत लगा रखे थे। उसने बच्चे के दिल में कौतूहल पैदा करने के लिए नकली दाँतों को हिलाकर दिखलाया। अँगरेजों को देखने पर बहुत दिनों तक हाजरा को वही रीछ और दाँतों का हिलना याद आ जाते और वे डरावने जानवर-से मालूम देते।

1918 में जब इन्फ्लुएंजा की महामारी फैली हुई थी, उस वक्त पिता बस्ती में डिप्टी-कलक्टर थे। हाजरा ने नदी को लाशों से पटा देखा। कुत्ते और कौए लाशों को नोंच नोंचकर खा रहे थे। आठ बरस की बच्ची हाजरा ने प्रत्यक्ष देखा मानव-शरीर की दुर्गति को।

सात से नौ साल तक हाजरा को भी पर्दा करना पड़ा था। लड़की को और ज्यादा दिन तक घर में पढ़ाने से वक्त की बर्बादी समझ नातिका बेगम ने स्कूल भेजने के लिए आग्रह किया। लाहौर का क्वीन्स मेरी कॉलेज लड़कियों की शिक्षा के लिए उस वक्त खास प्रसिद्धि रखता था। लेकिन वह वहाँ के चीफ कालेज के जोड़े का था। चीफ कालेज में राजकुमार और नवाबजादे पढ़ते थे। शिक्षित राजकुमारों और नवाबजादों के हरमों के लिए शिक्षित बीवियों की जरूरत थी, इसी माँग को पूरा करने के लिए क्वीन्स मेरी कालेज खोला गया था। उसका दरवाजा नवाबजादियों और राजकुमारियों के लिए खुलता था। हाजरा को दिक्कत होती, यदि उनका सम्बन्ध नवाब रामपुर से न होता। 1919 में जब हाजरा क्वीन्स मेरी कालेज में दाखिल हुईं, तो इनकी अवस्था नौ साल की थी। अमीर खानदान की जर्कवर्क लड़कियाँ हाजरा के ऊपर खास रोब नहीं डाल सकती थीं। हाँ, अध्यापिकाएँ जरूर रोब डाल सकती थीं, क्योंकि उनमें से अधिकांश अंग्रेज और ईसाई थीं। ऊँचे दर्जे की उर्दू हाजरा की मातृभाषा थी। उन्हें लड़कपन ही से साहित्य से प्रेम था। थोड़े ही दिनों में अपने वर्ग में उन्होंने प्रथम स्थान लिया और फिर तो कालेज के सारे जीवन में हरेक विषय में वह प्रथम होती रहीं। खेलों का भी उन्हें शौक था। हरेक सहपाठिनी को सहायता देने के लिए वह सदा उद्यत रहतीं, जिससे छात्राओं में

वह सर्वप्रिय हो गईं। दस-ग्यारह साल की उम्र में उन्होंने अंग्रेजी में एक कविता की थी, जो कालेज-मैग्जिन में छपी थी। यह वह समय था, जब कि देश के कोने-कोने में खिलाफत और असहयोग का आन्दोलन तूफान की तरह फैला हुआ था। मगर, क्वीन्स मेरी कालेज की चहारदीवारी के भीतर उसका एक छींटा भी नहीं पहुँचा। वहाँ नित्य नई सौंदर्य-रचना के सिवा लड़कियों को और किसी बात में दिलचस्पी नहीं थी। हाजरा की बात दूसरी थी। कालेज लाइब्रेरी की शायद ही कोई पुस्तक हो, जिसे अपने छात्र-जीवन में हाजरा ने न पढ़ा हो। उर्दू साहित्य के साथ उनका खास प्रेम था। एक दिन उन्होंने प्रेमचन्द की कहानी 'बूढ़ी काकी' पढ़ी, बहुत पसंद आई। हाजरा ने समझा, दूसरी लड़कियाँ भी सुनकर खुश होंगी। लेकिन लड़कियों ने जिन शब्दों में उसका स्वागत किया, उसे सुनकर हाजरा को लज्जित होना पड़ा। लड़कियों को सिर्फ ध्यान था, कैसे सौंदर्य-प्रतियोगिता में वे अव्वल रहेंगी; फिर किसी अमीर तरुण से उनकी शादी होगी। वह ऐसे जेवर और कपड़े देगा, जैसे दूसरों के पास न होंगे। स्त्रियाँ भी मनुष्य हैं, उनके भी अपने कुछ अधिकार होते हैं, यह ख्याल क्वीन्स मेरी कालेज की छात्राओं के दिमाग से दूर की बात थी। हाजरा भी तो रहीं राजनीति से अछूती ही, मगर स्त्रियों की परतंत्रता का भान उन्हें अच्छी तरह होने लगा था। उन्होंने अपने सामने आदर्श रखा था, डाक्टर बनने, शादी न करने और स्त्रियों के अधिकार के लिए लड़ने का। इसके साथ उर्दू साहित्य और पास के वातावरण में प्रभावित हो वृहत्तर इस्लामवाद की ओर भी उनका ध्यान खिंचा। 1921-22 में सहारनपुर में उन्होंने कांग्रेस के झंडे, स्वयंसेवक, गाँधी-शौकतअली-महमदअली के नारे भी देखे-सुने थे, मगर वह उनके लिए एक निम्न कोटि के तमाशे से बढ़कर नहीं थे।

1924 में हाजरा नवें दर्जे की छात्रा थीं। स्कूल का समय खतम हो चुका था, तो भी लड़कियों को एक संभ्रान्त रूसी महिला का व्याख्यान सुनने के लिए रोक रखा गया था। शायद, स्कूल का अध्यापिका-वर्ग बोल्शेविक हौए से बदहवास था और समझता था कि कहीं उनके कालेज की साहबजादियों में भी उसके कीटाणु घुस न जायँ। रूसी महिला बोल्शेविक बीमारी से बचाव का टीका लगाने के लिए खास तौर से आई थीं। उन्होंने रूसी बोल्शेविकों के खिलाफ खूब जहर उगला, खूब जली-कटी सुनाई–"बोल्शेविक नरपिशाच हैं, वे बूढ़े, बच्चे और स्त्रियों की हत्या करने में भी नहीं हिचकिचाते। मेरी माँ उनके जुल्म का शिकार हुई। बाप ने किसी तरह से मुझे बचाकर बाहर निकाला। मैंने अपने जीवन को इसी काम के लिए समर्पण कर दिया है। मैं सारी दुनिया में घूम-घूमकर बोल्शेविकों के कच्चे चिट्ठे सुनाऊँगी" इत्यादि।

लड़कियों को कुछ समझ में नहीं आ रहा था। 'बोल्शेविक' शब्द सुनने का उन्हें यह पहले-पहल मौका मिला था। वे ऊब रही थीं कि कब व्याख्यान खतम होगा। उन्हें खुशी होती यदि रूसी महिला नृत्य-परिधान में आतीं और कोई रूसी नृत्य दिखलातीं, गान सुनातीं। कालेज की लड़कियों में इन ललित-कलाओं की काफी प्रतिष्ठा थी।

हाजरा के वक्त कालेज में एक बार ईद की छुट्टी न हुई थी; लड़कियों ने हाजरा के नेतृत्व में हड़ताल कर दी। दूसरा झगड़ा सिक्ख लड़कियों ने उठाया और वह था झटके के लिए। हिंदुस्तानियों का मंत्रिमंडल थां, उन्होंने सिक्ख-भोजनालय का अलग होना मंजूर कर दिया।

अंग्रेज अध्यापिकाओं में से कुछ को कला का प्रेम था, कम-से-कम वे उसका अभिनय कर सकती थीं। वे कितनी ही भारतीय चीजों की तारीफ करतीं, संध्या की अरुणिमा को देखकर दो शब्द प्रशंसा के निकाले बिना न रहतीं। इसने हाजरा के हृदय में भी कला का प्रेम अंकुरित किया, मगर इस बारे में उन पर सबसे अधिक प्रभाव रवीन्द्र और प्रेमचंद की कृतियों का पड़ा।

1926 में हाजरा ने मैट्रिक पास किया, उस वक्त उनकी उम्र सोलह साल की थी। माँ 1920 में ही मर चुकी थीं और मैट्रिक पास करने से पहले ही सौतेली माँ भी मर गईं। घर में कोई देखने-भालनेवाला न था। तीन छोटी बहनों और एक छोटे भाई की भी देखभाल करनी थी, इसलिए हाजरा को आगे की पढ़ाई का ख्याल छोड़ देना पड़ा। अब वह पिता के साथ-साथ कभी बलिया और बुलंदशहर रहतीं, कभी रामपुर में अपने रिश्तेदारों के पास भी हो आतीं। रामपुर के उच्च घराने की–शिक्षा में सबसे पिछड़ी किंतु फैशन में सबसे आगे बढ़ी–बेगमों

को हाजरा की स्त्री-स्वतंत्रतावाली बातें अनोखी-सी जान पड़तीं। उन्होंने हाजरा का नाम 'हिमायतुन्-निस्रा' (महिला-समर्थक) रख दिया। हाजरा ने कालेज छोड़ने के बाद के दो सालों को परिवार के काम के अतिरिक्त फारसी पढ़ने में लगाया; कभी-कभी 'इस्मत', 'तहजीब' पत्रिकाओं में लेख लिखतीं जो ज्यादातर स्त्रियों के अधिकार और सामाजिक सुधार के बारे में होते। ये साल हिंदू-मुस्लिम दंगों के थे; लेकिन हाजरा सात साल तक हिंदू लड़कियों के साथ रह चुकी थीं, इसलिए उन्हें समझ में नहीं आता था कि ऐसा होता क्यों है।

भारत की आजादी की ओर उनका ध्यान नहीं जाता था, हाँ, औरतों की आजादी का ख्याल उनके दिल में जबर्दस्त था। रोजा-नमाज की कड़ी पाबंदी अब भी वैसी ही थी, मगर पर्दे को उन्होंने छोड़ दिया था। पिता के मित्र हिंदू अफसरों के घर में भी आना-जाना होता था, और उनकी छूत-छात कुछ खटकती थी। हाजरा लड़ाकू महिला-समर्थक बनना चाहती थीं, शायद वंदूक चलाना, छुरी लेकर घूमना, जुजुत्सु सीखना भी उसी का एक अंग था। उस वक्त उनके बड़े भाई पढ़ने के लिए इंग्लैंड गए हुए थे।

ब्याह–सौतेली माँ मर तो गईं, मगर उन्होंने लड़की की इच्छा का ख्याल कुछ भी किए बिना मंगनी पक्की कर डाली थी और वह भी हाजरा की फूफी के लड़के अब्दुल जमील खाँ के साथ। अब्दुल जमील खाँ उस वक्त पुलिस के डिप्टी-सुपरिन्टेन्डेन्ट थे, विचार में उदार और साहित्यिक रुचि रखनेवाले थे। 1928 में हाजरा से उनकी शादी हुई। बुआ और मामा के बच्चे होने से दोनों पहले ही एक-दूसरे से परिचित थे। हम कह चुके हैं कि हाजरा ने अपने जीवन के सामने कुछ आदर्श रखे थे। बेचारी हिंदुस्तानी लड़की घरवालों की इच्छा के विरुद्ध ब्याह न करने की प्रतिज्ञा पर डटी कैसे रह सकती ? विवाह ने सारी आकांक्षाओं पर पानी फेर दिया, हाजरा ने सचमुच अपने को 'अबला' पाया। अब भक्तिमयता के सामने सिर झुकाने के सिवा कोई चारा न था। आखिर उनकी दुनिया में यही बात तो सर्वत्र देखी जाती थी। आदर्श का ख्याल गया। अब उन्होंने वैवाहिक जीवन को बेहतरीन बनाने का निश्चय किया। खुदा के प्रति विश्वास और धार्मिक श्रद्धा ने सहायता पहुँचाई। दोनों परिवारों में इस जोड़ी को आदर्श दम्पती कहा जाने लगा। 1931 में हाजरा को एक पुत्र हुआ।

मृत आदर्शों का पुनरुज्जीवन–हाजरा के मामू के लड़के (जनरल अजीमुद्दीन के भाई के पोते) महमूद-उज्-जफर सात साल वाद इंग्लैंड से पढ़कर लौटे। बम्बई में जहाज से उतरने के बाद वह सीधे कराँची-कांग्रेस में गए। फिर हाजरा के पुत्र होने की बात सुनकर वह उनके पास लखनऊ आए। हाजरा ने जब अपने महमूद को खद्दर की धोती, कुर्ता और गांधी टोपी में देखा, तो भारी धक्का लगा। हाजरा को लिए जब वह देहरादून अपने घर पहुँचे, तो वहाँ तहलका मच गया। माँ खूब रोईं। उनको क्या पता था कि लड़का विलायत जाकर पागल बनकर लौटेगा। धोती में महमूद उन्हें पागल मालूम होते थे या इस्लाम से खारिज। महमूद ने विलायत में रहते राष्ट्रीयता खूब गहरी छान ली थी और धोती उन्हें भारतीय राष्ट्रीयता की शुद्ध प्रतीक मालूम होती थी। उन्हें क्या पता था कि भारत में दोनों ओर की चोटों से बचकर रहना पड़ेगा।

दो महीने तक महमूद के साथ मसूरी में रहने का मौका मिला। महमूद अपने मामा के लड़के थे, किंतु बात करने में झिझकते थे। समझते थे, पुलिस-अफसर की बीवी है। फिर धीरे-धीरे झिझक हटी और पुराणपंथिता के विरोधी अपने विचारों को कहना शुरू किया। कभी वह मजहब पर प्रहार करते और कभी वर्तमान समाज तथा उसकी रूढ़ियों पर, कभी वह स्त्रियों की दयनीय अवस्था का चित्र खींचते और कभी देश की राजनीतिक परतंत्रता का। हाजरा को अभी महमूद की बातें समझ में नहीं आती थीं, मगर हमदर्दी उनके साथ थी। अभी तक अंग्रेजी के पुराणपंथी साहित्य को ही पढ़ा था, महमूद ने उन्हें गोर्की और अन्य आधुनिक लेखकों की पुस्तकें पढ़ने को दीं। सोया भूत फिर जाग उठा। हृदय में राष्ट्रीयता की लहर पैदा हो गई। पुलिस-अफसर की बीवी ने खद्दर की साड़ी और चपली पहनी। वह अपने उस जीवन से असंतुष्ट हो उठीं।

जब हाजरा पति के पास रायबरेली (या गोंडा) आईं, तो उनमें कुछ परिवर्तन था। 1931 का समय था, चारों ओर सत्याग्रह की धूम थी। एक जगह लोग 'इनकिलाब जिंदाबाद' करते नमक बना रहे थे। डी. एस्. पी. साहब की मोटर उनकी बीवी चला रही थीं। पति के मना करने पर भी हाजरा ने मोटर खड़ी कर दी। यहीं उन्होंने पहलेपहल एक राजनीतिक सभा देखी।

1932 में पिता के पास मेरठ गईं। उस वक्त कम्युनिस्ट षड्यंत्र-केस का फैसला होने जा रहा था। पिता जिस मकान में रहते थे, उसी के आधे में अभियुक्त हचिन्सन जमानत पर छूटकर ठहरा हुआ था। बाप ने उससे मिलने की सख्त मनाही कर दी थी। फैसला सुनने के लिए महमूद भी आए हुए थे और हाजरा के बड़े भाई भी विलायत से इंजीनियर बनकर लौट आए थे। भाई और महमूद की राजनीतिक विषयों पर बहस होती, हाजरा भी आँख-कान खोलकर उसे सुनती रहती थीं। मेरठ में एक नई स्त्री-क्लब खुली। स्त्रियों की हिमायती हाजरा भी एक दिन क्लब में गईं। वहाँ सफेद साड़ी पहने एक खूबसूरत तरुणी बैठी थी। उसके प्रतिभापूर्ण चेहरे ने हाजरा को अपनी ओर आकृष्ट किया। बातचीत करते वक्त उसने एक बार कहा—"पिछड़े लोग ईश्वर को मानते हैं।" तरुणी की एक सखी की शादी अभी हाल ही में मेरठ-षड्यंत्र-केस के एक अभियुक्त से हुई थी। पीछे हाजरा उसके घर पर भी गईं। वह बड़ी सादगी की जिंदगी बसर करती थी। उसके एक प्रिय संबंधी को किसी राजनीतिक मामले में फाँसी की सजा हुई थी। हाजरा की नजरों में वह गोर्की के उपन्यासों की कोई रूसी क्रान्तिकारिणी तरुणी-सी जँचने लगी। धीरे-धीरे मेरठ-केस के अभियुक्तों के प्रति हाजरा को सहानुभूति पैदा हो गई।

मजिस्ट्रेट ने फैसला सुनाया, अभियुक्तों को लम्बी-लम्बी सजाएँ दीं। हाजरा को खेद हुआ। कम्युनिज्म का नाम तो सुना, लेकिन वह कड़वा-मीठा दोनों लगता। उनकी समझ में नहीं आता था, कि देश की आजादी के जबर्दस्त हामी उनके भाई और महमूद गांधीजी के रास्ते के इतने खिलाफ क्यों हैं। एक दिन पिता की मोटर ले खद्दर-भंडार में खद्दर खरीदने गईं। सरकारी अफसर होने से पिता यह क्यों पसंद करने लगे ? उन्होंने कहा—"वे तो क्रांतिकारी हैं, पिस्तौल लिए बैठे रहते हैं, वहाँ क्यों गई ?" निजी तौर से पिता की राजनीति में कुछ दिलचस्पी थी लेकिन उदारदलवालों के ढंग की। अपनी हालत से वह असन्तुष्ट जरूर थे, किंतु कम्युनिज्म उन्हें एक व्यर्थ का शब्द मालूम देता था। उनकी राय में हचिन्सन बेचारा पत्रकार है और ब्रड्ले इंजीनियर नौकरी के खोज में आया था; नाहक फँसा दिया गया है। रूस के बारे में उनका ज्ञान शून्य के बराबर था, और लेनिन् एक शब्द से बढ़कर कुछ नहीं।

मेरठ से हाजरा पति के पास लौट गईं। अब वह जाग्रत नारी थीं और अपनी हस्ती को भुलाने के लिए तैयार न थीं। पति की जिन बातों को पहले वह साधारण-सी समझती थीं, अब उनमें हकूमत की बू आती थी। धीरे-धीरे खुला वैमनस्य पैदा हुआ। गर्मी में देहरादून चली गईं। अब महमूद की बातें उन्हें और समझ में आने लगीं। जब वह आगे बढ़ने का हौसला दिखलातीं, तो महमूद कहते—"ख्याल है ? तुम पुलिस-अफसर की बीवी हो !" वर्षा शुरू हो गई, लेकिन हाजरा नहीं लौटीं। पति ने आने के लिए पत्र पर पत्र लिखे, जिनमें एक काफी कड़ा था। इस पर वह पति के पास रायबरेली चली आईं। पति ने कड़े शब्दों के लिए खेद प्रकट किया। लेकिन, जब दोनों के जीवन के दो रास्ते हों, तब कितने दिनों तक निभ सकता है ? दो-तीन महीने मुश्किल से कटे, वैमनस्य कम होने की जगह बढ़ता ही गया और अंत में उनके लिए पति को त्याग देने के सिवाय और कोई रास्ता न रहा।

नया तीवन—1932 के अगस्त में हाजरा बाप के पास चली गईं। भाई को छोड़ सारा खानदान विरोध कर रहा था। खानदान में कभी ऐसी बात हुई न थी। भाई का कहना था—"कोई हर्ज नहीं, लेकिन ऐसा करो जिसमें तुम्हें किसी का मुहताज न रहना पड़े।" घर में रहना मुश्किल था। भाई अलीगढ़ में इंजीनियर थे, वहीं चली गईं। अपने-पराये सभी विरोधी हो गए थे, किंतु हाजरा को आत्मविश्वास था। कुछ समय तक वह अलीगढ़ स्कूल में बच्चों को पढ़ाती रहीं। उनको शिक्षा का काम पसंद आया और अपने को और योग्य बनाने के लिए मौन्टेसेरी शिक्षा-प्रणाली के विशेष अध्ययन के लिए उन्होंने विलायत जाना तै कर लिया।

इंग्लैंड में—1933 में हाजरा आधा जेवर बेचकर लंदन के लिए रवाना हुईं, और दो बरस के बच्चे को साथ लिए। उस वक्त छोटी बहन जोहरा जर्मनी में नृत्य-कला की शिक्षा पा रही थी। छोटा भाई पोर्टस्मथ (इंग्लैंड) में नौसैनिक अफसरों के शिक्षणालय में था। कई और सम्बन्धी लड़के विलायत में पढ़ रहे थे। इस तरह विलायत में सिर्फ अपरिचित ही अपरिचित लोग नहीं थे। वह हैम्पस्टेड के मौन्टेसरी कालेज में भर्ती हो गईं। पाठय-विषय

में बड़ी दिलचस्पी थी, मगर दो साल के बच्चे को साथ रखने से उन्हें बड़ी दिक्कतें उठानी पड़ती थीं। बच्चा रोता, पड़ोसी बुरा मानते। किरायेदार रखने को कोई तैयार न होता। फिर किसी तरह से लड़के को बच्चों के स्कूल में दाखिल कर दिया। रविवार को उसे देखने जातीं और बाकी समय निश्चिंत होकर पढ़तीं। कालेज की सहपाठिनियों में हिटलर के जुल्म की मारी जर्मन लड़कियाँ भी थीं, उनसे हाजरा ने जर्मन-फासिस्टों के हृदय-द्रावक अत्याचार सुने।

लंदन पहुँचने के तीसरे ही दिन सज्जाद जहीर मिले। उनके साथ तीन-चार और राजनीतिक विचार रखनेवाले भारतीय तरुणों से परिचय हुआ। 1914 के बिहार-भूकम्प की जब खबर मिली, तो हाजरा ने भी सहायता के लिए काम किया। कालेज की पढ़ाई के साथ-साथ उन्होंने अपनी राजनीतिक शिक्षा को भी जारी रखा। छह महीने तक राजनीति-कक्षा में हाजरा को मुँह खोलते न देख कितने ही उन्हें गूँगी समझने लगे। बिल्कुल नया विषय था, जिसे धीरे-धीरे ही समझा जा सकता था। हाजरा के साथ कक्षा में दो और चुप्पे बैठते थे। एक बार तीनों चुप्पों को परीक्षार्थ कोई निबंध लिखने को दिया गया, सभी रद्दी निकले।

1934 की गर्मियाँ आईं। कितने ही अंग्रेज रूस देखने जा रहे थे। हाजरा ने भी दस दिन के लिए रूस की ओर प्रयाण किया। उन्होंने लेनिनग्राद, मास्को, खरकोफ आदि देखे। इस यात्रा का हाजरा पर भारी असर हुआ। इसने दिशा पलटने का काम किया। उन्हें कितनी ही बातों में वहाँ की पूर्वस्थिति हिंदुस्तान जैसी मालूम पड़ी। यदि सत्रह वर्षों के भीतर रूस में इतने जबर्दस्त परिवर्तन किए जा सकते हैं, तो भारत में भी वह असंभव नहीं। बच्चाखानों में सैकड़ो स्वच्छ बच्चों की सुन्दर शिक्षा-दीक्षा देखकर शिक्षा-विज्ञान के एक विद्यार्थी के दिल पर जैसा प्रभाव पड़ना चाहिए, वैसा ही हाजरा पर पड़ा। रह-रहकर उनके दिल में ख्याल आता था, 'काश, अगर हम अपने हिंदुस्तान के बच्चों के लिए ऐसा कर पाते।'

लंदन लौटकर हाजरा फिर अपनी पढ़ाई में जुट गईं। अब राजनीतिक बातों में भी अपने को थाह में पाने लगीं। दो साल की पढ़ाई के बाद कालेज से ग्रेजुएट हुईं। इस सारे समय में पिता ने कभी-कभी थोड़ी बहुत आर्थिक सहायता पहुँचाई, नहीं तो अपने गहनों पर गुजारा करना पड़ा।

भारत में लौटना–1935 में हाजरा भारत लौटीं। लखनऊ में एक लड़कियों के स्कूल में नौकरी कर ली और एक साल तक पढ़ाती रहीं। यहीं लखनऊ-कांग्रेस में डाक्टर अशरफ आए और पंडित जवाहरलाल से मिले। अशरफ के सुझाव पर पंडितजी ने कांग्रेस की ओर से कुछ विभाग खोले। डाक्टर जैनुलू-आबदीन अहमद हैदराबाद (सिंध) के किसी कालेज में प्रिंसिपल थे। पंडितजी के बुलाने पर डॉक्टर अहमद नौकरी छोड़कर 1936 में इलाहाबाद चले आए। हाजरा भी अध्यापकी छोड़ इलाहाबाद चली आईं। वर्षों से एक-दूसरे के विचारों से परिचित तथा एक-से विचारवाले डाक्टर अहमद और हाजरा की शादी हो गई। कांग्रेस में खूब दिल लगाकर काम करना शुरू किया। किसानों और मजदूरों में भी काम करतीं। कांग्रेस ने मुस्लिम महिला-चुनाव-क्षेत्र से एसेम्बली के लिए खड़ा करना चाहा, लेकिन हाजरा खड़ी नहीं हुईं।

हाजरा उर्दू की एक सुंदर लेखिका हैं, खासकर बच्चों के लिए उनके लेख बड़े रोचक होते हैं। वह हिंदी भी जानती हैं और छह महीने तक 'प्रभा' की सम्पादिका रही हैं।

1935 में हाजरा को पूरनचंद्र जोशी के घनिष्ट सम्पर्क में रहकर काम करने का अवसर मिला और उससे अपने काम की योग्यता बढ़ाने में बड़ी सहायता मिली।

1939 में डाक्टर अहमद और हाजरा को एक पुत्री (सलीमा) पैदा हुई। अगले साल डाक्टर अहमद जेल में नजरबंद कर दिए गए। 1940 में हाजरा अखिल भारतीय स्त्री-सम्मेलन (Women's Conference) की संगठन-मंत्री रहीं। फिर कुछ समय लाहौर के एक स्कूल तथा प्रयाग के जगत्तारिणी स्कूल में अध्यापिका रहीं। आजकल सब कुछ छोड़ वह प्रांत की स्त्रियों में–विशेषकर किसान और मजदूर स्त्रियों में–जागृति का काम कर रही हैं।

हाजरा की लेखनी और वाणी दोनों में जबर्दस्त शक्ति है; मगर सबसे बड़ी बात है, उनकी सादगी, त्याग और कष्टसहिष्णुता। प्रांतीय किसान सम्मेलन (1943) आगरा जिले के एक छोटे-से गाँव–बछगाँव में हो रहा

था। हाजरा एक सप्ताह पहले ही पहुँच गईं। थोड़े ही समय में बछगाँव की स्त्रियों में जीवन दिखलाई देने लगा। वह पाँच-पाँच, सात-सात की टोली बना आसपास के कई गाँवों में गईं। कान्फ्रेन्स के वक्त स्त्रियों की सभा में डेढ़ हजार स्त्रियाँ शामिल हुईं। गाँव की धूल, खेतों की ऊँची-नीची जमीन में मार्च की धूप में पैदल घूमती हाजरा को देखकर क्या कोई कह सकता था, कि यह 'असूर्यम्पश्या' ललनाओं में किसी दूसरे ही जीवन के लिए पैदा हुई थीं। हाजरा को शिशु-साहित्य की तरह स्त्रियों के भिन्न-भिन्न प्रकार के गीतों और धार्मिक रस्म-रवाजों के अध्ययन की भी बड़ी रुचि है। इस अध्ययन ने उनको बतला दिया है कि हिंदू और मुसलमान स्त्रियों का भेद बहुत ही सतही (ऊपरी) है। उन्होंने बस्ती जिला में गाए जानेवाले पंचपीरों के गीत को सुनकर कहा—"यहाँ पीर की जगह देवताओं को देखकर गाइए, मालूम होगा यह उन्हीं का गीत है।" क्या ही अच्छा होता, यदि हाजरा ऐसे गीतों और रस्म-रवाजों का एक सुंदर संग्रह प्रकाशित करती !

5

सज्जाद जहीर

प्रमुख तिथियाँ—1905 नवम्बर 5 जन्म, 1914 जुब्ली स्कूल लखनऊ में प्रवेश, 1921 मैट्रिक पास, देशभक्ति का रंग; 1924 रूस के साथ सहानुभूति, 1925-26 'जमाना' में कहानियाँ, 1926 बी. ए. पास, 1927 इंग्लैड (आक्सफोर्ड) में, कम्यूनिज्म का प्रभाव; 1928 स्विट्ज लैड में, 1932 बी. ए. (आक्सफोर्ड) पास कर भारत में, 1932 लंदन में, 1935 बैरिस्टर, भारत लौटे (दिसंबर); 1936 जेल में पहिली बार 1 दिन, 1937 जेल में दूसरी बार 1 दिन, 1938 ब्याह, 1940-42 लखनऊ जेल में नजरबंद, 1940 पहिली पुत्री नज्मा (नज्मुस्सह) का जन्म, 1943 दूसरी पुत्री नसीमा (नसीमुस्सह) का जन्म।

उर्दू के तरुण लेखकों में सज्जाद जहीर का ऊँचा स्थान है। उनके 'अंगारा', 'लंदन की एक रात' (उपन्यास) आदि को लोग बड़े चाव से पढ़ते हैं। जब वह अपने जौनपुर जिले की अवधी बोलते हैं तो पता नहीं लगता कि एक सुशिक्षित व्यक्ति बोल रहा है। वह सादा मिजाज हैं, मगर गुदड़ी में ढाँकने पर भी सज्जाद का तप्त गौर मुख, उन्नत नासा और प्रशस्त ललाट छिप थोड़े ही सकता है। उनको घर तथा मित्र-मंडली में 'बन्ने' कहकर पुकारा जाता है।

बन्ने का जन्म 5 नवम्बर 1905 को लखनऊ में हुआ था। उस वक्त उनके पिता (सर) वजीर हसन वहीं वकालत करते थे। सर वजीर का घर कलाँपुर (खेतासराय के पास), जिला जौनपुर में है। बन्ने की माँ सकीनत्-उल्-फातमा बड़ी ही संस्कृत और गंभीर महिला हैं। युक्तप्रांत में वह शायद पहली उच्चकुलीन महिला हैं जिन्होंने कि पर्दे का परित्याग किया, सुक्कन बीबी—गाँववाले बेचारे इसी नाम को आसानी से बोल सकते हैं—को शायद इलाहाबाद और लखनऊ के सभ्य समाज में वार्तालाप करने में उतना आनंद नहीं आता होगा, जितना कि अपने नैहर, बड़ागाँव (शाहगंज तहसील, जिला जौनपुर) के उजड्ड किसानों के बीच पूर्वी अवधी बूकने में। सुक्कन बीबी के पाँच पुत्रों में बन्ने चौथे और अधिक प्रिय हैं।

लड़कपन में बन्ने को कहानियाँ सुनने का बड़ा शौक था और घर की जौनपुरी नौकरानियों को याद शायद ही कोई कहानी हो जिसे बन्ने मियाँ ने न सुना हो। उस वक्त सैय्यद वजीर हसन—सर वह बहुत पीछे हुए—एक अच्छे वकील ही नहीं थे, वल्कि दृढ़ राष्ट्रीय विचारों के होने से शहर के एक प्रसिद्ध व्यक्ति थे, और बन्ने को घर बैठे ही देश के बड़े-बड़े नेताओं को देखने का मौका मिलता था।

बन्ने जब पाँच साल के हो गए, तो 'कायदा बगदादी' (अरबी वर्णपरिचय) हाथ में थमाकर मौलवी के

पास वैठा दिए गए। वह तीन साल तक घर ही में जायसी मौलवी के पास उर्दू, अरबी, फारसी पढ़ते रहे। फारसी के गुलिस्ताँ, बोस्ताँ को बन्ने ने समाप्त किया। कुरान के तो पाठमात्र से पुण्य होता है, इसलिए उसे अर्थसहित पढ़ने की जरूरत नहीं। सुबह-सुबह उठकर मौलवी के पास पढ़ने जाना पड़ता था। सुबह की नींद कितनी मधुर होती है, और खिलवाड़ी लड़कों के लिए तो और भी। बन्ने मियाँ को यह सुबह का उठना और मौलवी के पास जाना जिंदगी की सबसे कड़वी बात मालूम होती थी। सारा घर अल्ला पर विश्वास रखता था। गुलगुलों, मिठाइयों, नये कपड़ों और भेंटों के लिए खुश-खुश बन्ने मियाँ ने अल्ला के लिए जिंदगी में एक बार रोजा भी रखा। अभी अल्ला के न होने की ओर उनका विचार नहीं गया था। सवेरे की मीठी नींद से वंचित बन्ने के लिए मौलवी राक्षस-सा जान पड़ता था। वह मन ही मन कहते—"यदि मौलवी मर जाय, तो अल्ला है।" मौलवी तो मरा नहीं, मालूम नहीं अल्ला के न होने पर बन्ने का पूरा विश्वास जमा या नहीं।

गवर्नमेन्ट जुब्ली स्कूल उस समय लखनऊ का सबसे अच्छा स्कूल था। नौ साल की उम्र (1914) में उसी स्कूल के पाँचवें दर्जे में बन्ने का नाम लिखा गया। बन्ने की हॉकी, फुटबाल का बहुत शौक था। मुहल्ले के लड़कों के साथ खेलने में भी उन्हें आनंद आता था, मगर माँ की आँख बचाकर ही। सुक्कन बीबी लखनऊ के लड़कों को आवारा समझती थीं। उन्हें ताश से भी नफरत थी, इसलिए बन्ने को ताश की ओर हाथ फैलाने की हिम्मत न होती थी। बन्ने को लड़कपन ही से साहित्य का शौक था। बारह-तेरह साल तक पहुँचते-पहुँचते उर्दू के जितने कवियों के दीवान (कविता-संग्रह) प्राप्य थे, सभी को पढ़ डाला। खुद शिया खानदान में उत्पन्न, फिर लखनऊ का शिया-वातावरण, वहाँ मुहर्रम जिस प्रभावशाली ढंग से मनाया जाता था, बन्ने को वह बहुत अच्छा लगता था—खासकर कवि 'अनीस' के मर्सियों में कर्बला के शहीदों के हृदयद्रावक मृत्यु के सजीव चित्रण को सुनकर वह अपने आँसुओं को रोक नहीं सकते थे। लेकिन गुहर्रम के समय बन्ने को अधिकतर लखनऊ नहीं ननिहाल में रहना पड़ता था। सुक्कन बीबी को अपने नैहर का मुहर्रम ज्यादा पसंद था। बन्ने का हृदय बहुत कोमल था, नौकरों के लड़कों पर जब डाँट पड़ती, तो वह दुखित हुए बिना नहीं रहते। अकाल की 'खरीदी' लड़कियों की जब पिटाई होती, तो बन्ने भैया 'बुवो' (अम्मा) के पास फरियाद पहुँचाए बिना नहीं रहते। अपने से चार साल बड़े भाई (डाक्टर) हुसैन जहीर बन्ने के गहरे दोस्त थे; कभी-कभी दोनों झगड़ते भी खूब थे, फिर बुवो को बीच में पढ़ने की जरूरत पड़ती।

उर्दू, अंग्रेजी और इतिहास बन्ने के प्रिय विषय थे, मगर हिसाब के नाम से नानी मर जाती, लेकिन वह अनिवार्य था, इसलिए पढ़ना जरूरी था।

महायुद्ध का समय था। सरकारी नौकर हर जगह अपनी राजभक्ति दिखाने के लिए उचित-अनुचित हर तरह के दबाव से चंदा और युद्ध-ऋण के लिए रुपया वसूल करते। जुब्ली स्कूल के हेडमास्टर भी पीछे रहनेवाले जीव नहीं थे। उन्होंने भी लड़कों पर युद्ध-ऋण और देशरक्षा-बचत-प्रमाणपत्र खरीदने के लिए जोर दिया। बन्ने राष्ट्रीय विचारवाले पिता के पुत्र थे, मास्टर से उनकी झड़प हो गई। "तुम्हारे पिता के पास बहुत रुपया है"—बन्ने इसे इन्कार कैसे कर सकते, लेकिन कुछ तो कहना चाहिए; झट बोल दिया—"इनकम-टैक्स भी तो देना होता है।" बन्ने उस समय ग्यारह साल के थे। इस आंदोलन का यह परिणाम हुआ, कि दस से ज्यादा लड़कों ने प्रमाणपत्र नहीं खरीदे।

स्कूल के प्रिन्सिपल ऐंग्लो-इंडियन थे। एक साल पहले (1915 की बात है) वार्षिकोत्सव का समय था, प्रिंसिपल की स्त्री उर्दू में युद्ध के बारे में कुछ बोलीं और हिंदुस्तानियों की नमकहलाली की बात कही। बन्ने को न जाने कैसा-सा जान पड़ा। इसी साल उन्हें मसूरी जाने का मौका मिला। हिमालय का दृश्य बहुत प्रिय लगा।

युद्ध बड़े-बड़े आदर्शों के लिए लड़ा जा रहा है, यह चिल्लाते-चिल्लाते अंग्रेज राजनीतिज्ञ थकते नहीं थे; लेकिन, जब मिसेज बेसेन्ट ने हिंदुस्तान के लिए 'गृह-शासन' (होमरूल) की आवाज उठायी, तो उन्हें नजरबंद कर दिया गया। लखनऊवाले 'रफाहे-आम' हॉल में इसके विरोध में सभा करना चाहते थे। मगर मजिस्ट्रेट ने आज्ञा न दी। ग्यारह बरस का होने पर भी बन्ने पर इन बातों का बहुत प्रभाव पड़ रहा था। 1916 का दिसम्बर

हमारे राष्ट्रीय इतिहास में बड़ा महत्त्व रखता है। उस साल कांग्रेस लखनऊ में हुई। कई सालों के जेल और निर्वासन के बाद लोकमान्य तिलक कांग्रेस में भाग लेने के लिए लखनऊ पहुँचे। घोड़े हटा दिए गए और लोग हाथों से गाड़ी खींच रहे थे। "तिलक महाराज की जय" का गगनभेदी नाद चारों ओर सुनाई दे रहा था। इसी रमणीय अधिवेशन में कांग्रेस-लीग समझौता हुआ। सैयद वजीर हसन लीग के प्रधानमंत्री थे, इसलिए बन्ने मियाँ को अपने बारह बरस के बाल-नेत्रों से देश के महान् नेताओं को नजदीक से देखने का मौका मिला। मिसेज नायडू, मौलाना मुहम्मदअली, मौलाना आजाद तो कितनी ही बार उनके घर आए। बन्ने के निर्माण में इन बातों का काफी हाथ है, इसमें संदेह क्या ?

अब बन्ने अखबार भी पढ़ने लगे थे। लखनऊ का 'सय्यारा' जब तक निकलता रहा, बराबर पढ़ते थे। पब्लिक लाइब्रेरी में जाकर 'मॉडर्न रिव्यू' पढ़ने का भी शौक हुआ। रूसी क्रांति के बारे में उन्होंने इतना ही सुना, कि शिया ईरानियों पर जुल्म हुआ है, इमाम रजा की समाधि (मशहद, ईरान) पर घोड़े दौड़ाए गए। लेकिन बन्ने को यह सुनकर खुशी हुई कि, रूस में क्रांति हुई, क्रांति का शब्द उन्हें प्रिय मालूम देता था।

महायुद्ध खतम हुआ। समय बीतने के साथ बन्ने की दृष्टि भी विस्तृत होती गई। उन्हें बहुत खुशी हुई जब 1920 में माँ-बाप ने छोटे भाई के साथ बन्ने को भी कर्बला ले चलने की इच्छा प्रकट की। कर्बला हिंदुस्तान से बाहर, इराक में है। हिंदुस्तान के बाहर की दुनिया कैसी है, उसे देखने के लिए पंद्रह साल के बन्ने बड़े उत्सुक थे। एक नौकर के साथ लोग बंबई पहुँचे। बन्ने मियाँ बाजार करने गए और पाकेटमार ने आठ रुपए के नोटों पर हाथ साफ कर दिया। समुद्र और जहाज को देखकर बन्ने बहुत खुश हुए। युद्ध खतम हो गया था। इराक (मसोपोतामिया) में अंग्रेजों ने हिंदुस्तानी सैनिकों के बल पर नया राज दखल किया। जहाज में सैनिक ही ज्यादा जा रहे थे। लड़ाई के वक्त तो जरूरत थी, इसलिए इराक में हिंदुस्तानियों की बड़ी माँग थी। सिपाहियों के अतिरिक्त बाबूबनिया भी बसरा बगदाद में छा गए। इराकी लोग इन परदेशियों की बाढ़ को कैसे पसंद करते ? अंग्रेजों का भी काम अब निकल चुका था, उन्होंने आँख मींच ली और इराकी हिंदुस्तानियों को निकलने के लिए मजबूर कर रहे थे। हिंदुस्तानी देश का भारी आदमी समझकर सर वजीर के सामने आ-आकर अपना रोना रोते और अंग्रेजों की तोताचश्मी की शिकायत करते। कर्बला के पंडे (मुजाविर) जवाब देते—"यह देश हमारा, हिंदुस्तानियों का नहीं।" मजहब से देश का सम्बन्ध ज्यादा घनिष्ठ है, इस बात का पता बन्ने को यहीं लगा।

कर्बला से लौटकर बन्ने फिर पढ़ाई में लग गए। 1921 में दूसरे दर्जे पर मैट्रिक पास किया। उर्दू, अंग्रेजी, साइन्स सभी अच्छे थे मगर हिसाब ने लुटिया डुबो दी।

देश में असहयोग की जबर्दस्त लहर चल रही थी। बन्ने के दिल में भी गर्मी थी, मगर उन्होंने पढ़ाई से असहयोग नहीं किया। कारण, किसी पथप्रदर्शक का न होना था। 1922 में बन्ने क्रिश्चियन कालेज में इतिहास, अंग्रेजी और फारसी पढ़ रहे थे। रंगा अय्यर, हरकणनाथ मिश्र और दूसरे राष्ट्रीय नेताओं के व्याख्यान होते, बन्ने सुनने के लिए जरूर मौजूद रहते। पिता अब अवध चीफकोर्ट के जज थे, लेकिन राष्ट्रीयता का भार बन्ने ने संभाल लिया था। खद्दर पहनते थे, गोश्त खाना और पलँग पर सोना छोड़ दिया था। तीन महीने तक रोज कुरान का लम्बा पाठ करते। घरवाले बन्ने को खब्ती समझते। बाबा (पिता) मुसकुरा देते। बुवो बेचारी का दिल बहुत परेशान था। लेकिन कोई बन्ने को टोकता नहीं था। शहर में सर वजीर हसन के लड़के की राष्ट्रीय फकीरी की बड़ी प्रसिद्धि थी।

1923-24 में बन्ने ने कितने ही अंग्रेज और फ्रेंच लेखकों की पुस्तकें पढ़ीं। अनतोल फ्रांस और बर्ट्रन्ड रसल ने बहुत प्रभाव डाला। रसल की पुस्तकें पढ़ने के बाद तो बन्ने पूरे नास्तिक हो गए। एफ. ए. पास कर 1924 में वह लखनऊ विश्वविद्यालय में बी. ए. में प्रविष्ट हुए। इतिहास, अर्थशास्त्र और अंग्रेजी पाठ्य विषय थे। इसी वक्त कानपुर में कम्युनिस्टों पर षड्यंत्र का मुकदमा चला। रूस, मास्को और लेनिन का नाम ज्यादा सुनाई देने लगा। रूस के बारे में जिज्ञासा बढ़ी और लाइब्रेरी में उस विषय की जितनी पुस्तकें मिलीं, सबको पढ़ डाला। यह कहने की जरूरत नहीं, कि पुस्तकें ज्यादातर रूस-विरोधी लेखकों द्वारा लिखी गई थीं।

इधर बन्ने का स्वास्थ्य खराब हो गया। अक्सर बीमार रहते, तो भी 1926 की बी. ए. परीक्षा में बैठे और तीसरे दर्जे में पास हुए। अब उन्हें ऑक्सफोर्ड (इंग्लैंड) पढ़ने जाना था, किन्तु स्वास्थ्य की खराबी के कारण एक साल रह जाना पड़ा। इस समय वह फारसी पढ़ते रहे।

1927 के मार्च में बन्ने विलायत के लिए रवाना हुए। मार्सेई (फ्रांस) में यूरप का प्रथम दर्शन हुआ, बन्ने उससे प्रभावित हुए। बड़े भाई (डाक्टर) इस समय हैंडलूवर्ग (जर्मनी) में रसायन-शास्त्र पढ़ रहे थे, पेरिस में आकर मिले। दो-तीन दिन रहकर पेरिस की दर्शनीय चीजों को देखा। लंदन में दो-तीन दिन ठहर आक्सफोर्ड में दाखिल हो गए। आधुनिक इतिहास, अर्थ-शास्त्र, राजनीति-विज्ञान को पाठ्य विषय चुना। प्रोफेसर कोल उनके अध्यापकों में थे। ऑक्सफोर्ड में उस वक्त पहले से चली आती पुराणपंथिता का जोर था। सारे ही अध्यापक रूढ़िपोषक थे।

ऑक्सफोर्ड में बहुत समय नहीं रह पाए थे, कि बन्ने पर तपेदिक ने आक्रमण किया। लाचार आक्स्फोर्ड छोड़ स्विट्जरलैंड के एक सेनिटोरियम (स्वास्थ्य-सुधार आश्रम) में भागना पड़ा। इस साल-भर के स्विट्जरलैंड के प्रवास का भी बन्ने ने अच्छा उपयोग किया। फ्रेंच भाषा और फ्रेंच साहित्य का अध्ययन किया। रूस और कम्युनिज्म पर वहाँ काफी पुस्तकें पढ़ने को मिलीं। सेनिटोरियम के उदारमना डाइरेक्टर की कृपा से यहीं बन्ने को पहला सोवियत फिल्म देखने को मिला।

स्वास्थ्य ठीक हो जाने के बाद 1928 में बन्ने जब ऑक्सफोर्ड लौटे, तो वह पक्के कम्युनिस्ट विचारों के हो चुके थे। अबकी प्रथम भारतीय कम्युनिस्ट एम. पी. (पार्लामेन्ट के मेम्बर) सकलतवाला से भेंट हुई। महमूदुज्जफर भी ऑक्सफोर्ड में थे और एक-से विचार होने से रूढ़ि के गढ़ में एकांतता नहीं अनुभव करते थे। लंदन में डाक्टर अशरफ, डाक्टर अहमद, आदि कितने ही और भारतीय तरुण अपने जैसे विचार रखनेवाले थे। लंदन की कांग्रेस-मंडली में बन्ने भी शामिल हो गए। ऑक्सफोर्ड के भारतीय छात्रों की 'मजलिस' नाम से अपनी एक सभा है, बन्ने उसके प्रतिनिधि बनकर साम्राज्यविरोधी परिषद् में शामिल होने के लिए यूरोप (फ्रांकफुर्त) गए। परिषद् में उन्हें सोवियत प्रतिनिधियों से मिलने का अवसर मिला। सोवियत प्रतिनिधियों ने भारत के बारे में बहुत-सी बातें पूछीं और स्वतंत्रता-आंदोलन से अपनी सहानुभूति प्रकट की। इसी साल 1921 में साइमन कमीशन के खिलाफ जलूस निकालने के लिए लंदन पुलिस के डंडे खाने पड़े।

1932 में ऑक्सफोर्ड से बी. ए. किया और डेन्मार्क, जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली की सैर की, फिर बन्ने भारत लौट आए। स्विट्जरलैंड में रहते वक्त उन्होंने 'अंगारे' लिखा था और उसे अब प्रकाशित किया; वह जल्दी ही जब्द भी हो गया। यह बन्ने की पहली कृति न थी। 'अंगारा' से पहले (1925-26 में) उनकी कितनी ही कहानियाँ 'जमाना' में छपी थीं।

भारत में छह महीना रहने के बाद बन्ने बैरिस्टर बनने के लिए विलायत लौट गए। अब वह लंदन में रहते थे। ज्यादा समय राजनीतिक कामों में लगता था। मजदूरों के प्रदर्शनों में शामिल होते। जब गोलमेज कान्फ्रेंस में गांधीजी लंदन गए, तो उनसे भी गाँधीवादी प्रोग्राम पर बातचीत हुई। पहले बन्ने हिंदुस्तानी विद्यार्थियों के 'भारत' के सम्पादक रह चुके थे, अब उन्होंने 'न्यू भारत' (त्रैमासिक) निकाला। इस समय बन्ने पढ़ तो रहे थे कानून, मगर उनका सारा समय जा रहा था राल्फ फाक्स, डेविड गेस्ट आदि मार्क्सवादी लेखकों और विद्वानों के सत्संग में।

1935 में बन्ने ने बैरिस्टरी पास की। इस समय तक ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज पुराणपंथिता के गढ़ नहीं रह गए थे। अब वहाँ मार्क्सवादी छात्रों का जोर था।

दिसम्बर (1935) में बन्ने भारत लौटे। आखिर माँ-बाप ने रुपया खर्च करके आठ वर्ष तक विलायत में पढ़ाया था, उन्हें भी तो मालूम होना चाहिए, कि बन्ने कुछ होकर आए हैं, कुछ कर सकते हैं। इसी के लिए अगले साल बन्ने ने प्रयाग में बैरिस्टरी शुरू की; लेकिन बैरिस्टरी सिर्फ कानून की परीक्षा पास कर लेने से थोड़े ही होती है। उसके लिए खास दिल और दिमाग चाहिए। वर्ण-भेद की खाई से भरे इंग्लैंड के भद्रसमाज में उन्हें कम्युनिस्ट अंग्रेजों का समाज बहुत आकर्षक और प्रिय मालूम पड़ा। कितने ही और प्रतिभाशाली भारतीय

छात्रों की भाँति आत्माभिमानी बन्ने भी उधर आकृष्ट हुए। जितना ही नजदीक होते गए, उतना ही अधिक उन्होंने वहाँ सच्चा सौहार्द्र पाया और फिर उनके विचारों का गंभीर अध्ययन बन्ने के लिए अनिवार्य हो गया। उनकी आँखें खुल गईं। राष्ट्रीय स्वतंत्रता और अंतर्राष्ट्रीय शान्ति का मार्ग साफ-साफ दिखलाई देने लगा। देश की धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक गुत्थियाँ सिद्धांत रूप से समझ में आने लगीं, किन्तु उनके खोलने और सुलझाने के लिए भारी श्रम की जरूरत थी। ऑक्सफोर्ड का ग्रेजुएट और लंदन का बैरिस्टर बनना गौण चीज थी, बन्ने ने तो अपने को एक दक्ष राष्ट्रकर्मी बनने के लिए तैयार किया था; फिर, बैरिस्टरी-लायक दिल और दिमाग वह कहाँ से लाते ? उनका समय जाता था, कांग्रेस का काम करने में—जवाहरलाल नेहरू के नगर की कांग्रेस कमेटी के वह दो साल तक सेक्रेटरी रहे और प्रांतीय कांग्रेस कौंसिल के सदस्य भी। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के एक जबर्दस्त स्तंभ थे। 'नया भारत' (हिंदी साप्ताहिक) का सम्पादन करते थे और कलम चलाने का समय निकाल लेते थे। 'बीमार' एकांकी नाटक भी इसी समय लिखा और प्रगतिशील लेखक संघ के मुख्य कर्णधार बन गए। प्रयाग में जो थोड़े-बहुत मजदूर हैं, उन्हें संगठित किया और वह प्रांत में मार्क्सवादी संगठन करने के लिए भारद्वाज की सहायता करते रहे।

1938 में बन्ने को दूल्हा बनने का सौभाग्य मिला। अजमेर बारात गई। बीवी (रजिया) सुशिक्षित और उर्दू की सुलेखिका हैं। ब्याह के बाद बहुत अच्छे नंबरों में उन्होंने इलाहाबाद से एम. ए. (प्रथम) पास किया। जोड़ा खूब अच्छा रहा, इसमें संदेह नहीं। लेकिन, पहले कुछ प्रेम की रस्साकशी जारी रही। एक अमीर सैय्यदजादी, फिर सर वजीर हसन की बहू, फिर जेठों में कोई आई. सी. एस. और कोई प्रभावशाली यूनिवर्सिटी-प्रोफेसर, नजदीकी सम्बन्धियों में हाईकोर्ट के जज और बड़े-बड़े दर्जेवाले। रजिया ब्याह के वक्त खुश हुई थीं कि उनके मियाँ इतने बड़े खानदान के रत्न हैं, ऑक्सफोर्ड के ग्रेजुएट और लंदन के बैरिस्टर हैं, और देखने-सुनने में तो कहना ही क्या ! मगर, जब बन्ने के घर आईं और देखा कि मियाँ कर क्या रहे हैं, तो माथा ठनका। उन्हें पागलों के रास्ते से हटाकर होशवालों के रास्ते पर डालना अपना फर्ज समझा। इसी में दोनों का कल्याण भी था और साथ-साथ रजिया को अपने ऊपर पूरा विश्वास था। रजिया के सौंदर्य ही पर नहीं गुणों पर भी मियाँ मुग्ध थे, फिर उसके हित-मनोहारी वचन से इन्कार क्योंकर करते ? बन्ने पुष्पशरों के आघात से अकुलाए-उकताए नहीं, वह मुस्कुरा देते और अपने रास्ते पर चलते जाते। रजिया पर्दा नहीं करती थीं; मगर यह तो उनके बस की बात नहीं थी, कि मियाँ के मित्रों की मंडली में उनका पीछा करतीं। यदि ऐसा होता, तो बन्ने खुश होते और रजिया बन्ने को मजूर-किसान अशिक्षित-अर्धशिक्षित दोस्तों में घुलते-मिलते देख क्षुब्ध ही होतीं। रजिया का प्रयोग चल ही रहा था और शायद वह किसी समय मियाँ से साफ कह देना चाहती थीं कि अपने इस जीवन और मुझमें से एक को चुनना होगा। बन्ने इसका क्या जवाब देते, शायद इसका भी कुछ-कुछ संकेत उन्हें मिलने लगा था। इसी बीच 12 मार्च 1940 आ गया। बन्ने मियाँ को पकड़कर लखनऊ जेल में नजरबंद कर दिया गया। पूरे दो साल जेल में रहने के बाद 14 मार्च 1942 को बन्ने बाहर निकले।

रजिया पहले बड़े धार्मिक विचारों की थीं, प्रगतिशीलता का दम भरते हुए भी। मियाँ रोजी नहीं कमाते, इसकी भी उन्हें बड़ी फिक्र थी। अब उनके विचारों में वास्तविक प्रगति हुई है। अब वह मियाँ को पागल नहीं समझतीं। आखिर मियाँ कमाऊ भी तो हैं—बंबई की महानगरी में रहते हैं, एक अखबार ('कौमी जंग') का सम्पादन करते हैं और पच्चीस रुपये की भारी तनखाह पर। रजिया जब बंबई रहती हैं, तो बन्ने जो खाना खिलाते हैं, वह सर वजीर हसन के दस्तरखान से कम मीठा नहीं लगता होगा।

बन्ने जनता के आदमी हैं, इसीलिए जनता की भाषा और उसके गीतों से बहुत प्रेम रखते हैं। उन्होंने जौनपुरी भाषा में लेनिन पर एक आल्हा लिखा है।

6
डॉक्टर ज़ैड. ए. अहमद

प्रमुख तिथियाँ—1907 सितंवर 29 जन्म, 1913 शिक्षारंभ, 1916-17 गोधड़ा (गुजरात) स्कूल में, 1918-19 नौशेहरा (सिंध) मद्रसा में, 1919-20 हैदराबाद (सिंध) स्कूल में, 1921-23 मडीच (गुजरात) स्कूल में, 1923 मैट्रिक पास, 1923-28 अलीगढ़ युनिवर्सिटी में, 1927 सकलतवाला से भेंट, सोशलिस्ट; 1928 बी. ए. (आनर्स) पास, 1928 सितंवर लंदन में, 1929 अनीश्वरवादी, कम्युनिस्ट, 1931 बी. एस-सी. (लंदन) पास, 1932 जर्मनी में तीन सप्ताह, 1933 हाजरा से परिचय, 1933 भारत में 7 मास, इस्माईल कालेज (बंवई) में प्रोफेसर; 1934 लंदन में, 1935 पी-एच्. डी. (लंदन) पास, 1935 भारत में, हैदरावाद में, प्रिंसिपल छह मास; 1936 कांग्रेस के अर्थशास्त्र-विभाग के अध्यक्ष, हाजरा से शादी; 1937 यु. प्रान्त किसान सभा के उपसभापति, 1938 यु. प्रान्त कांग्रेस के सेक्रेटरी, 1939 पुत्री (सलीमा) जन्म, 1940 अगस्त-1942 मार्च जेल में, 1943 पिता की मृत्यु।

वह लम्बा शरीर किसी वक्त व्यायाम और खेल के कारण खूब स्वस्थ और पुष्ट था, यद्यपि आज अध्ययन और अति श्रम के कारण मरीज-सा मालूम होता है; उसके चेहरे पर की स्वाभाविक शान्ति और गम्भीरता बहुधा भीतर छिपी प्रतिभा को ढाँकने का काम करती है; मितभाषिता भी इस षड्यंत्र में सहायता करने के लिए तैयार थी, किन्तु आँखों से निकलती किरणें सबका भंडा फोड़ देती हैं। अपने उच्च आदर्श की संलग्नता के साथ साथियों में वह अपने को इतना खो देता है कि जान पड़ता है, उसमें स्वतंत्र प्रतिभा शून्य-सी है, मगर अहमद अपनी स्वतंत्र प्रतिभा पर अंकुश रखने का कौशल जानते हैं, और अच्छी तरह समझते हैं कि वह सबके पहले एक क्रान्ति-सेना के एक सैनिक हैं; हाँ सेनापति भी हैं, मगर ऐसी सेना के जिसमें आत्म-अनुशासन विजय की सबसे पहली शर्त है। और आत्मत्याग ? उसकी तो वह ज्वलन्त मूर्ति हैं, तभी तो उन्होंने अमीरी जिन्दगी को लात मारा, धन और सम्मान की खान कालेज-प्रिंस्पल एद के प्रलोभन को पास आने नहीं दिया।

डॉक्टर अहमद—ज़ैन, ज़ैनुल-आबदीन या ज़ैड. ए. अहमद का जन्म 29 सितंबर 1907 को मीरपुरखास (सिंध) में हुआ। उस समय उनके पिता जियाउद्दीन अहमद* वहाँ डिपुटी सुपरिन्टेन्डेंट पुलिस थे।

ज्येष्ठ पुत्र होने से ज़ैन, अपने पिता के लाड़ले बेटे थे। यद्यपि पिता जबर्दस्ती अनुशासन लादने को पसंद नहीं करते थे, मगर उनका प्यार इसके खिलाफ था, कि बच्चे को अंगूर की तरह रुई की गोलेवाली पिटारियों में बंद रक्खा जाए। वह होश सँभालते अपने ज़ैन को घुड़सवारी सिखलाते, तेज घोड़ों पर बिना रिकाब के चढ़ा देते, और यदि ज़ैन कभी गिर जाते; तो शाबाशी दे फिर चढ़ने के लिए उत्साहित करते। बच्चों को कहानियाँ सुनने का बड़ा शौक होता है, और जियाउद्दीन साहेब स्वयं उन्हें कहानियाँ सुनाते, जिनमें कितनी ही पैगंबर-इस्लाम और आदिम ख़लीफों के सीधे-सादे त्यागमय जीवन की होतीं, और कितनी ही गाँधी-तिलक जैसे देश के नेताओं के बारे में। वह खुद मानते थे, कि वह पुलिस की नौकरी के काबिल नहीं है, आंदोलन में नौकरी से इस्तीफा देते-देते बाल-बाल बचे, और वह जैन की माता अकबाल बेगम के आँसुओं के कारण जो बढ़ते परिवार के भविष्य की चिन्ता से उनकी आँखों में एक से अधिक बार उछल आए थे। 1916 में कर्मवीर गाँधी गोधरा (गुजरात) में भंगियों के सहभोज में शामिल हो जानेवाले थे। मेहतरानी ने सुपरिन्टेन्डेन्ट साहेब के घर में सेबरी के राम की चर्चा की। जियाउद्दीन साहेब गरीबों के अपमान को बर्दाश्त नहीं कर सकते थे, एक बार ज़ैन के छोटे भाई ने एक गरीब लड़के को गरीबी के कारण खेलते वक्त अपमानित किया। पिता ने बहुत फटकारा। डी. एस्. पी. ने भंगी सहभोज की बात सुनी, तो ज़ैन को लिए स्वयं वहाँ पहुँचे। गाँधी के साथ फर्श पर बैठनेवालों

* पंजाब युनिवर्सिटी के एम. ए.; एल्-एल्. बी.। लाहौर (गुमटी बाजार) उनका वतन है।

में तुर्की टोपी लंबी दाढ़ीवाले भी बिट्ठल भाई पटेल भी थे। सबने खाना खाया, जियाउद्दीन और ज़ैन ने भी। गाँधी जी बोले। मौलवी जियाउद्दीन साहेब को भी बोलने के लिए कहा गया। पैगंबर के जीवन की कुछ घटनाएँ उनके सामने मूर्तिमान् दिखलाई पड़ रही थीं, वह भूल गए थे, कि वह एक विदेशी शासन के सबसे निष्ठुर यंत्र के पुर्जे हैं। वह अपने हृदय-उद्गाद को रोक न सके। बोल दिया, "मैं गाँधीजी को अपने बाप से भी ज्यादा इज्जत करता हूँ।" नौकरशाही का सिंहासन गर्म हो गया। एक विद्रोही के लिए पुलिस के आला अफसर के मुँह-हृदय से ऐसी बात ! जाँच हुई, जवाब माँगा गया। जियाउद्दीन साहेब ने साफ लिखकर दे दिया, कि गाँधी के लिए अब भी उनके यही भाव हैं। कितने ही समय तक घर में प्रतीक्षा होती रही कि मुअत्तली का हुकुम आने ही वाला है। खैर, बात आगे नहीं बढ़ी। यह भी पाठशाला जिसमें ज़ैन ने मानवता, राष्ट्रीयता, निर्भयता के आरंभिक पाठ पढ़े। पिता की शिक्षा थी–(1) बहादुर बनो, (2) आत्मत्यागी बनो, (3) सच बोलो। ज़ैन को भली भाँति मालूम था, कि इन शब्दों का स्रोत जीभ नहीं हृदय का अन्तस्तल है। जियाउद्दीन साहेब धर्म-विरोधी न होते भी बड़े उदार विचार के थे। उन्होंने बच्चों को धार्मिक शिक्षा दिलाने पर कभी जोर नहीं दिया, बल्कि जब देखादेखी रोजा रखना चाहते, तो यह कहकर मना कर देते, कि अभी तुम्हें रोजा रखने की जरूरत नहीं। वह बड़े ही अध्ययनशील थे, जिसे उनके ज्येष्ठ पुत्र ने दायभाग में पाया। उन्होंने इस्लामिक तसव्वुफ् और दर्शन ही नहीं, हिन्दू वेदान्त का भी गंभीर अध्ययन किया था–हाँ, अंग्रेजी के द्वारा ही। मगर, वह पीरों-मुर्शिदों के बड़े विरोधी थे, मुल्लाओं के सत्संग को बच्चों के लिए पसंद न करते थे।

ज़ैन की माँ 1919 में ही मर गईं, उस समय ज़ैन 12 साल के थे। अपने पीछे माँ ने पाँच बेटों, दो बेटियों को छोड़ा था। बेटों में आगे चलकर बड़ा देशसेवक मानव-सेवक बना, तो इम्पीरियल् सर्विस् (एक आई. पी. एस., दूसरा आई. सी. एस्.), एक सब-जज और एक शालामार फिल्म कम्पनी का मालिक तथा डाइरेक्टर। माँ को यह सब देखने का मौका नहीं मिला, पिता के बारे में यद्यपि किसी आई. जी. ने बोल्शेविक और सरकार-विरोधी लिख मारा था, मगर वह बंबई के डिपुटी-इन्स्पेक्टर जेनरल बनकर पेंशन ले सके। उन्होंने अकबाल बेगम के बच्चों को दुनिया में सफल जीवन बिताते भी देखा और जैन के जीवन को अफसोस नहीं गर्व की चीज समझा।

जैन को सबकी पुरानी स्मृति उस वक्त 1911 ई. की है, जब कि वह चार साढ़े चार साल के थे। सिंध के सीमान्त के बर्हुई कबीलों ने विद्रोह किया था, कितने ही पुलिस अफसरों को उन्होंने मौत के घाट उतारा था। जियाउद्दीन साहेब उस मुहिम पर जा रहे थे, अकबाल बेगम रो रही थीं।

शिक्षा–साढ़े पाँच साल की उम्र में ज़ैन को गोधड़ा के म्युनिस्पल स्कूल में पढ़ने के लिए बैठा दिया गया–पढ़ाई भी गुजराती और उर्दू की। तीन साल की पढ़ाई के बाद ज़ैन वहाँ के तैलंग हाईस्कूल में दाखिल हुए। पहिले और दूसरे स्टैंडर्ड को समाप्त कर पाए थे, कि पिता की बदली नवाबशाह (सिंध) हो गई, और ज़ैन को नौशहरा मद्रसा (हाई स्कूल) में भेज दिया, जहाँ उन्होंने चौथा स्टैंडर्ड पास किया। और फिर हैदराबाद (सिंध) के आमिलों (शिक्षित अफसर वर्ग के सिंधियों) के प्रसिद्ध स्कूल नवलराय हीरानंद हाईस्कूल में जा पाँचवाँ* स्टैंडर्ड खतम किया। हैदराबाद में पढ़ते वक्त कनॉट के ड्यूक भारत आए। नोकरशाही बच्चों को राजभक्ति सिखाने के इस सुन्दर मौके को हाथ से क्यों जाने देने लगी। उसने लड़कों में तमगा बाँटना चाहा। ज़ैन और उनके साथी लेने से इन्कार कर रहे थे। हेडमास्टर ने तमगों को क्लास में मेज पर रखा। लड़कों ने गदहे को पहिनागर शहर में जलूस निकाला। तीन साल सिंध में रहने के बाद पिता फिर गुजरात में बदल आए। अब (1921 में) ज़ैन की उम्र चौदह साल की थी, और वह भड़ौच के दलाल हाई स्कूल के विद्यार्थी थे। सिंध और गुजरात के इन प्रवासों में ज़ैन को सिंधी और गुजराती सीखने का मौका मिला। स्कूल में अंग्रेजी के साथ वह फारसी भी पढ़ते थे। गणित उन्हें प्रिय न था; हाँ, साहित्य और इतिहास से उन्हें बहुत प्रेम था, और इन विषयों में वह क्लास में अव्वल रहा करते थे। पढ़ने के अतिरिक्त जैन क्रिकेट के अच्छे खिलाड़ी थे, निशाना लगाने, शिकार खेलने, घुड़सवारी करने तथा दौड़ लगाने का उन्हें बड़ा शौक था; जिससे उनका स्वास्थ्य सुन्दर और शरीर हृष्ट-पुष्ट

---

* बंबई प्रान्त में सातवाँ स्टैंडर्ड मैट्रिक होता है।

रहता था। इसके साथ ज़ैन को राजनीतिक सभाओं में जाने से कोई रोक नहीं सकता था, यद्यपि स्कूल के राजभक्त हेडमास्टर लोग लड़कों को उनसे बचाने के लिए शाम-दाम-दंड-विभेद सारे ही हथियार इस्तेमाल करते थे।

अलीगढ़ में—मैट्रिक पास करने के बाद कालेज में भेजने का सवाल आया। अलीगढ़ विश्वविद्यालय शिक्षा के साथ-साथ मुस्लिम संस्कृति का एक जबर्दस्त केन्द्र था, पिता ने ज़ैन को वहीं भेजना पसंद किया। अब ज़ैन गणित जैसे अपने अरुचिकर विषय को लेने से मुक्त थे। उन्होंने अंग्रेजी साहित्य के साथ फारसी और इतिहास (भारतीय, यूरोपीय और इस्लामी) को पाठ्य-विषय चुना। स्कूल में ज़ैन का जीवन एक खिलाड़ी का जीवन था, मगर अब वह गंभीर अध्ययनप्रिय मेहनती विद्यार्थी बन गए। चीन के इतिहास पर उन्होंने जो भी मिल सका पढ़ा। बी. ए. (आनर्स) में ज़ैन का मुख्य विषय अर्थशास्त्र था। उस समय समाजवाद (सोशलिज्म) की गालियों से भरा साहित्य ही ज्यादा सुलभ था। अर्थशास्त्र में मार्क्स के 'मूल्य के सिद्धान्त' को प्रोफेसर लोग अपने अंग्रेज गुरुओं का पदानुसरण करते हुए सिर्फ उपहास की बात समझते थे। मगर जहाँ पुस्तक और प्रोफेसर सहायता देने से इन्कार करते, वहाँ विदेशी शासन से असन्तुष्ट ज़ैन को उनकी देशभक्ति रास्ता दिखलाती। 1921 ही में एक दिन ज़ैन ने पिता के हाथों में लेनिन की एक जीवनी देखी। पुत्र के पूछने पर पिता ने कहा था—यह एक बहुत महान् पुरुष हैं, वह वहाँ दुनिया के अभिशाप गरीबी को हटाकर अमीर-गरीब के भेद को लुप्त कर एक नए समाज को बनाने में लगा हुआ है; ऐसा काम कर रहा है, जैसा कि दुनिया में किसी ने नहीं किया। अलीगढ़ के कालेज जीवन में ज़ैन रूस और समाजवाद के बारे में ज्यादा जानने के लिए बेकरार थे, मगर उन्हें 'ट्रिब्यून' और 'टाइम्स' में जब तक निकलते फुटकर लेखों पर ही सन्तोष करना पड़ता था।

ज़ैन मैगजीन में इतिहास और राष्ट्रीयता पर लेख लिखते, विश्वविद्यालय की वाद-सभा में भाग लेते, और कुछ साथियों को लेकर उन्होंने अलीगढ़ में रेडिकल (उग्रवादी) पार्टी कायम की। वह क्रान्ति के पक्षपाती थी, लेकिन सोशलिस्ट क्रान्ति के; आतंकवाद को उन्होंने कभी पसंद नहीं किया।

1927 में कामरेड सकलतवाला को बड़ी मुश्किल से भारत आने की इजाजत मिली। अलीगढ़ के रेडिकल ने जब सकलतवाला के दिल्ली जाने-आने की बात सुनी, तो छात्र-यूनियन की ओर से बुलाना चाहा; लेकिन युनिवर्सिटी के महन्त इसे क्योंकर पसंद करने लगे, उन्होंने मनाही कर दी। मगर तरुण इतने ही से चुप थोड़े ही किए जा सकते थे। ज़ैन दिल्ली पहुँचे; और साथी सकलतवाला को लिए-दिए अलीगढ़ पहुँच गए। छात्रों ने स्टेशन पर भारत के सपूत का शानदार स्वागत किया। यूनियन में पहुँचने पर महन्तजी ने काम विगड़ते देख, स्वयं सभापति की कुर्सी सम्हाल ली। सकलतवाला खूब बोले, और कहा—जिनके हाथों ने इन महलों को बनाया है, जिनके खून-पसीने पर तुम गुलछर्रे उड़ा रहे हो, वह सदा मूक नहीं रहेंगे। वह समय नजदीक आ रहा है, वह जव तुमसे हिसाव माँगेंगे।

ज़ैन के बंधन धीरे-धीरे ढीले होते गए। लाठी के बल पर नमाज पढ़वाने के लिए अधिकारी जैसे उतावले थे, वैसे ही ज़ैन उससे बचने का रास्ता ढूँढ़ लेते थे, नमाज में न जा उसके लिए वह प्रतिमास साढ़े तीन रुपये जुर्माना दे दिया करते थे। सकलतवाला के आने का सबसे ज्यादा फायदा ज़ैन को यह हुआ, कि उन्होंने अपने को समाजवादी मान लिया, यद्यपि पुस्तकों के अभाव में अभी समाजवाद के सिद्धान्तों का उनका ज्ञान बहुत हलका था। अलीगढ़ में रहते वह कुँअर मुहम्मद अशरफ—डाक्अर अशरफ—को भी अपनी ओर खींचने में सफल हुए।

21 साल की उम्र (1928) में ज़ैन ने बी. एस्-सी. (आनर्स) पास किया। पिता ने आगे पढ़ने के लिए विलायत भेजना तै किया।

विलायत में—सितंबर (1928 ई.) में जैन लंदन पहुँचे। कई महीने ज़ैन और अशरफ मौलाना मुहम्मद अली के साथ एक ही मकान में रहते थे। भारत के भविष्य, राष्ट्रीयता आदि पर लगातार बहस रहती। मौलाना हर चीज को मजहबी नजर से पेश करते, जिससे ज़ैन को इतना ही फायदा हुआ, कि वह संप्रदायवादियों के दृष्टिकोण को भी देख सके। उनकी अपनी धारणा तो समाजवाद पर और दृढ़ होती जा रही थी।

लंदन में वह अर्थशास्त्र-विद्यालय में दाखिल हुए। विषय उनका अपना प्रिय विषय अर्थशास्त्र रहा। लास्की, ह्यु डाल्टन और हॉबहौस जैसे योग्य विद्वान् उनके प्रोफेसर थे। एक बार बूँद-बूँद कर पिलाए जाते प्यासे को विद्या का सागर उमड़ता दिखलाई पड़ा। मगर ज़ैन जैसा देश की आजादी के लिए पागल सिर्फ पुस्तकों और युनिवर्सिटी की पाठ्य-पुस्तकों पर सन्तोष नहीं कर सकता था। बहुत जल्द ही वह सकलतवाला के संपर्क में आ गए। इंग्लैंड के कम्युनिस्टों के सौहार्द्र और सहानुभूति को प्राप्त किया। वह उनकी बैठकों में जाते, मजूरों के प्रदर्शनों में शामिल होते, और मजूरों को नजदीक से देखते। क्लेमेंट पामदत्त, रजनी पामदत्त, रस्ट, जान केम्बल, राल्फ फाक्स जैसे क्रान्तिकारी विद्वानों की अध्ययन-क्लासों में सम्मिलित होने का उन्हें अवसर मिलने लगा। यद्यपि अभी इंग्लैंड में कम्युनिस्ट पार्टी आरंभिक अवस्था में थी, और उसको वह सर्वतोमुखी सफलता तथा प्रभाव नहीं प्राप्त हुआ था, जोकि आज (1943) में है, किन्तु उसके बल को ज़ैन अच्छी तरह समझने लगे थे। ज़ैन ने ब्रिटेन के इन उच्च शिक्षित मार्क्सवादियों तथा साधारण मजदूरों के घनिष्ट संपर्क में आकर सिर्फ अपने ज्ञातव्यों में ही वृद्धि नहीं की, बल्कि उनका दृष्टिकोण ही बदल गया। उसने अब अंग्रेजों को भारत को परतंत्र रखनेवाले शासक होने के अभिमान में चूर साहबों के रूप में ही नहीं देखा, बल्कि उन्हें देखा उन विचारकों के रूप में भी, जो कि इंगलैंड की (और दुनिया की भी) सबसे अधिक संख्या के भविष्य—उनका शोषण भूख-बेकारी से मुक्त होने को भारत की सच्ची स्वतंत्रता पर निर्भर मानते हैं। उन्होंने देखा, 1929-32 की महामन्दी और बेकारी के समय टेम्स के बाँध पर सैकड़ों को भूखे रात-रात घूमते, असह्य भूख से निराश हो गेस लगाते, नदी में कूद मरते। अब उन्हें इंग्लैंड में दो ज़ाति साफ दिखलाई देने लगीं, एक को उन्होंने दुनिया के चतुर्थांश नहीं खुद इंग्लैंड के भी 999 प्रति हजार लोगों के नरक का कारण समझा, और दूसरी वह साधारण अंग्रेज जनता, जो अपने ही अंग्रेज उच्च-वर्ग के द्वारा पिसी जाती है, उन्हें अपने स्नेह और सम्मान का पात्र नहीं समझती।

भावी इंग्लैंड के निर्माता और जनसाधारण के नेताओं में घुल-मिल जाने का दरवाजा ज़ैन और उनके साथियों के लिए दस्तक लगाने के साथ ही नहीं खुल गया। वे मानते थे कि भारतीय तरुण जिस शिक्षित तथा उच्च या निम्न मध्यम वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं, वह क्रान्ति के पक्के पथिक नहीं हो सकते। और ज़ैन के तजर्बे ने इस बात को सच्चा साबित किया। जिन भारतीय तरुणों ने लंदन में देश की वास्तविक स्वतंत्रता के लिए अपना जीवन देने की बाकायदा प्रतिज्ञा ली थी, और जो लंदन में रहते 4-5 पौंड (पचास-साठ रुपये) प्रति मास अपने राजनीतिक कार्य के लिए नियमपूर्वक दे दिया करते थे, भारत लौटने पर उनमें से एक-दो ही डटे रह गए, बाकी अब सरकारी नौकरियाँ तथा दूसरे कामों में चैन की वंशी बजा रहे हैं, और लंदन के उन मन्सूबों और प्रतिज्ञाओं का नाम तक भूल गए हैं। जैन इससे इसी परिणाम पर पहुँचे, कि क्रान्ति का बोझा शिक्षित मध्यम-वर्ग का अस्थिर निर्बल कंधा नहीं उठा सकता, उसके लिए तो वे ही कन्धे उपयुक्त हैं, जिनके पास अपनी पैर की बेड़ियों के सिवाय और कुछ खोने के लिए नहीं है। जिस अंग्रेज साथी ने ज़ैन को पहिले-पहिल अपने पास आने पर संदेह की दृष्टि से देखा तथा उपेक्षा का बर्ताव किया था, वही छह-सात महीने बाद उनके कामों को देखकर खुद उनके पास आया, और फिर तो सभी दरवाजे ज़ैन और उनके साथियों के लिए खुल गए।—दोनों के जब एक सपने एक उद्देश्य थे, फिर देश और रंग का भेद वहाँ कहाँ ठहर सकता था ? ज़ैन ने अंग्रेजों में बहुत-से अपने सगे भाई पाए। उनके लिए इंग्लैंड विदेश नहीं रह गया।

लंदन में अपनी पढ़ाई—अर्थशास्त्र—जोकि उनके भविष्य जीवन और आदर्श की अभिन्न चीज होने के कारण बहुत ही दिलचस्प मालूम होता था—में काफी समय देते। राजनीतिक हलचलों में भाग लेते, और हर साल गर्मी के कितने ही महीनों को यूरोप के भिन्न-भिन्न देशों में घूमने अपने सहविचारियों से विचार-विनिमय करने में लगाते। ऑक्सफोर्ड में सज्जाद जहीर और महमूद-उज-जफर भी मौजूद थे, और लन्दन तथा ऑक्सफोर्ड के ये शैदाई बराबर मिलते तथा अपने सपनों का विनिमय करते। किसी समय बर्ट्रंड रसल की किताबों ने उनके हृदय के अंतस्तल में छिपे अन्धकार को निकालने तथा पुराने धार्मिक-सांस्कृतिक संस्कारों पर हथौड़ा चलाने का काम दिया था, मगर अब रसल के संदेहवाद से भरे आदर्श तथा पुंस्त्वहीन प्रोग्राम और निर्जीव और नीरस

मालूम होते थे। हाँ, लास्की ने मार्क्सवाद की अर्थशास्त्रीय और राजनीतिक गंभीरता के समझाने में बड़ा काम किया; मगर थोड़े ही समय बाद पता लगने लगा, कि लास्की भी जगत् की व्याख्या करने ही में सहायता प्रदान कर सकता है, उसके बदलने में वह कोसों पीछे रहनेवाला है।

1929 में ज़ैन ने एक और भारतीय तरुण के साथ साढ़े तीन मास तक यूरोप की साइकल यात्रा की। उन्होंने हालैंड से इताली, फिर फ्रांस होते उसके आखिरी बंदर तक को देखा। शहर के भद्रपुरुषों तथा साधारण नागरिकों ही नहीं, गाँवों के सीधे-सादे देहातियों को भी उनके घरों, खेतों और क्रीड़ा-स्थानों में नजदीक से देखा। भाषा की दिक्कत थी, परिचय का अभाव था, जिससे कितनी ही बार उन्हें तकलीफ भी उठानी पड़ी, मगर इस कड़वाहट ने यात्रा के स्वाद को और बढ़ाने का काम किया।

1931 में ज़ैन ने लंदन युनिवर्सिटी की बी. एस्-सी. परीक्षा पास की, फिर पी-एच्. डी. के विद्यार्थी बन गए, जिसमें उनके निबंध का विषय था 'भारत में बच्चे स्त्री मजूर'।

1932 में ज़ैन ने तीन सप्ताह बर्लिन में बिताए। यह सिर्फ सैर के लिए नहीं था, वह वहाँ अपनी राजनीतिक शिक्षा के लिए गए थे, और अधिक समय उन्होंने मजूरों के घरों में बिताया था। हिटलर की काली परछाईं यद्यपि जहाँ-तहाँ दिखलाई पड़ती थी, और जब-तब ज़ैनवाले मुहल्ले में नात्सी गुंडे लड़ाकू मजूरों पर खूनी हमले भी करते थे, लेकिन बर्लिन उस समय लाल बर्लिन था, कम्युनिस्टों का जबर्दस्त संगठन था। उस वक्त ज़ैन यही विश्वास लेकर लौटे थे, कि जर्मनी लाल ध्वजा स्वीकार करने जा रहा है। मगर जर्मनी के लिए हिटलरी नरक बनना जरूरी था। कम्युनिस्ट मजबूत थे, मगर अकेले इतने मजबूत न थे कि सबके संयुक्त प्रहार का मुकाबिला कर सकते। क्रुप, थाइसन जैसे थैलीशाहों ने खतरे की लाल झंडियाँ देखीं, हिंडनबुर्ग जैसे सामन्त-जमींदारों ने पुराने स्वार्थों के गले की ओर बढ़े उनके फौलादी हाथों को देखा, उन्होंने हिटलरी गुंडों के पीछे शरण लेने ही में खैरियत समझी। क्रान्ति को एक बार धोखा दे चुके नामधारी समाजवादियों (समाजवादी जनतांत्रिकों) ने एक बार फिर लीडरी कायम रखने के लिए कमकर वर्ग के कितने ही भाग को अफीम पिलाई, हिटलर जर्मनी का सर्वेसर्वा बन गया।

जर्मनी में ज़ैन को भारतीय कम्युनिस्ट भी मिले, मगर उनमें से अधिकांश हवा में महल बनानेवाले लीडरशाह ही दीख पड़े।

1933 में ज़ैन छह महीने के लिए भारत आए, जिसमें आधा समय उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रान्तों में घूमने तथा तीन मास बम्बई के इस्माईल कालेज की प्रोफेसरी में बिताया। अभी भारत में कम्युनिस्ट नहीं के बराबर थे। इससे पहिले कि उनका कोई संगठन होता, इससे पहिले ही सरकार ने चुन-चुनकर सभी प्रभावशाली तजर्बेकार कर्मियों को मेरठ-षड्यंत्र में फँसा दिया। बम्बई के कुछ लोगों से मिलकर ज़ैन को बड़ी निराशा हुई, लीडरी के लिए मरी जाती उनकी दो गुट पागलों की-सी बात करती थी; किन्तु, ज़ैन ने पाँच सालों में इंग्लैंड की कम्युनिस्ट पार्टी को कुछ से कुछ होते देखा था, इसलिए भारत में साम्यवाद (कम्युनिज्म) के भविष्य के प्रति आशावान् छोड़ वह दूसरा हो ही कैसे सकते थे ?

लंदन लौट जाने पर अबकी ज़ैन सज्जाद के साथ कम्युनिस्ट पार्टी के बाकायदा मेम्बर बना लिये गए। हाजरा भी लंदन में पढ़ रही थीं। इसी वक्त ज़ैन का हाजरा से परिचय हुआ, और वह धीरे-धीरे बढ़ता ही गया।

पी-एच्. डी. बन ज़ैन 1935 के अगस्त में भारत लौटे, हाजरा भी साथ ही आईं। पिता उस वक्त सिंध में डी. आई. जी. थे। स्टेशन पर स्वागत के लिए आनेवाले सज्जनों में से एक ने हैदराबाद में एक स्कूल—जिसके कालेज बनाने की सारी तैयारियाँ हो चुकी थीं—का प्रिंसिपल पद स्वीकार करने के लिए कहा, वेतन तुरन्त का था 450 मासिक, लेकिन कुछ ही मासों के बाद कालेज-प्रिंसिपल के तौर पर उन्हें छह सौ रुपये मासिक मिलते। हैदराबाद (सिंध) से ज़ैन का बचपन का प्रेम था, पिता ने भी कहा, लोगों ने भी जोर लगाया, उधर अपने राजनीतिक जीवन के आरम्भ करने के लिए अभी अधिक देखभाल और परिचय की जरूरत थी; डॉक्टर जैड्. ए. अहमद प्रिंसिपल बन गए।

लेकिन ज़ैन ने अपने को प्रिंसिपल बनने, आराम की जिंदगी बसर करने के लिए नहीं तैयार किया था। लखनऊ कांग्रेस के प्रेसीडेंट पंडित जवाहरलाल ने डॉक्टर अशरफ के सुझाव पर कांग्रेस में कुछ नए विभाग खोलने तै किए थे, जिसमें एक था अर्थशास्त्रीय विभाग। जब उन्हें ज़ैन के बारे में पता लगा, तो तुरन्त लिख भेजा। अब तक भारत की पार्टी भी कामरेड पूरनचंद्र जोशी के नेतृत्व में बहुत आगे बढ़ चुकी थी। जोशी के नाम वारंट कटा हुआ था, वह अन्तर्धान रहते काम कर रहे थे। हाजरा उस वक्त जोशी के काम में हाथ बँटानेवालों में थीं। ज़ैन ने इजाजत माँगी, और स्वीकृति पा वह अर्थशास्त्रीय विभाग के अध्यक्ष बन स्वराजभवन, प्रयाग चले आए। पिता को पहिले यह बात उतनी रुचिकर तो नहीं मालूम हुई, मगर पीछे उन्हें इसके लिए अफसोस नहीं अभिमान होता था। वह अपना जीवन तो नहीं दे सके, मगर अपने ज्येष्ठ पुत्र को देश की सेवा के लिए प्रदान कर पाए। जियाउद्दीन अहमद साहब की दूसरी पुत्री ने बिना धर्म बदले एक हिन्दू तरुण से ब्याह कर भावी भारतीय समाज की ठोस नींव की एक मजबूत ईंट बन अपने पिता के गौरव को भविष्य भारत की दृष्टि में बढ़ाया।

इसी साल (1936 ई.) में हाजरा और ज़ैन की शादी हो गई। दोनों ने अब से अपना जीवन अपनी मातृभूमि और उसके करोड़-करोड़ जाँगर चलानेवालों की सेवा में अर्पित किया।

अपने विभाग के लिए ज़ैन ने कितनी ही पुस्तिकाएँ लिखीं और विभाग की उपयोगिता को साबित किया। वह अब भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य थे, कांग्रेस-सोशलिस्ट पार्टी की भारतीय कार्यकारिणी के भी मेम्वर थे, किसान-सभा के संगठन और प्रचार में खुलकर भाग लेते थे।

साल बीतते-बीतते इन्द्र का आसन गर्म हो गया। विभाग के अध्यक्ष को किसान-सभा और सोशलिज्म में भाग नहीं लेना चाहिए, भारतीय कांग्रेस-कमेटी में स्वतंत्र दृष्टिकोण से महन्तों के निश्चय की नुक्ताचीनी नहीं करनी चाहिए, और न प्रस्ताव रखना चाहिए आदि-आदि शर्तें सूर्य-चंद्रवंश के पुरोहित वल्लभ भाई पटेल ने पेश करवाईं। अर्थशास्त्रीय विभाग की पुस्तिकाओं की भी कड़ी टिप्पणियाँ की गईं, उनकी पंक्ति-पंक्ति से थैलीशाही के कृपापात्रों को कम्युनिज्म की गंध आने लगी। ज़ैन ने अपने जीवन को इतना सस्ता नहीं समझा। आखिर 1937 में उन्होंने इस्तीफा दे दिया, अर्थशास्त्रीय विभाग तोड़ दिया गया।

अब ज़ैन का सारा समय पार्टी, किसान-सभा, कांग्रेस और कांग्रेस-सोशलिस्ट पार्टी के कामों में लगता था। युक्तप्रान्तीय किसान-सभा के वह उपसभापति बनाए गए, पार्टी की केन्द्रीय समिति के भी उम्मीदवार सदस्य हुए। युक्तप्रान्त के बहुत-से जिलों में घूमकर उन्होंने कांग्रेस-सोशलिस्ट शाखाएँ स्थापित कीं, युक्तप्रान्त से बाहर मद्रास तक का दौरा किया। कांग्रेस में तो इतनी सरगर्मी दिखलाई, कि 1938 में वह युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के एक मंत्री चुने गए, और बराबर रहते चले आए। इस साल भी उन्हें मद्रास प्रान्त तक दौरा लगाना पड़ा और अपनी क्लास, व्याख्यान और संलाप द्वारा कितने ही तरुणों को मार्क्सवाद के आलोक से आलोकित किया। 1939 भी इन्हीं सरगर्मियों में बीता, दक्षिण भारत, आसाम और और कितनी ही जगहों में जाना पड़ा।

1940 में मोतिहारी में बिहार प्रान्तीय किसान सम्मेलन था, जिसका सभापति इन पंक्तियों का लेखक था। ज़ैन का व्याख्यान वहाँ का सवसे सुन्दर, सबसे सारगर्भित भाषण था।

अगस्त में ज़ैन को सरकार ने पकड़कर जेल में बन्द कर दिया, और फिर मार्च 1942 में ही जेल से बाहर आ सके। देवली कैम्प में वह हमारे नेता थे, हुकुम देने तथा कर्नल से बात करने में ही नहीं, बल्कि हमारी भूख-हड़ताल और हमारी हर जद्दोजहद में हमारा जनरल खाइयों में हमसे आगे-आगे रहता था। ज़ैन के पास जबर्दस्त कलम है, प्रभावपूर्ण लेख लिखने के ही लिए नहीं, बल्कि बिल्कुल तुले शब्दों के प्रयोग, बिल्कुल मँजे वाक्य-विन्यास के करने में। मुझे बराबर शिकायत रही, कि ज़ैन ने अपनी प्रौढ़ लेखनी को जेल के इस दीर्घजीवन में इस्तेमाल क्यों नहीं किया। लेकिन मैं उनके कामों को भी देखता था, और उन पर सुस्त या कामचोर होने का दोषारोपण नहीं कर सकता था।

ज़ैन जैसा कर्मी पा कोई भी दल गर्व कर सकता है। ज़ैन जैसा सिपाही पा कोई भी क्रान्ति-सेना सफलता को असंदिग्ध समझ सकती है, ज़ैन जैसा त्यागी नेता पा कोई भी सहृदय आदर्शप्रेमी मानवता के भविष्य से निराश नहीं हो सकता।

7
अजय घोष

प्रमुख तिथियाँ—1908 फरवरी 22 जन्म कानपुर में, 1903 अक्षरारंभ, 1921 में दास की गिरफ्तारी में स्कूल की हड़ताल के अगुआ, 1923 हिंदुस्तान प्रजातंत्र सेना के कर्मी, 1924 लेनिन मृत्युदिवस मनाया, 1924 मेट्रिक पास, 1924-26 क्राइस्ट चर्चकालेज (कानपुर) में, 1925 भगतसिंह से भेंट, 1926-29 इलाहाबाद विश्वविद्यालय में, 1929 बी. एस्-सी. पास, 1929 जून लाहौर-षड्यंत्र में गिरफ्तार, 1930 अक्तूबर मुकदमे से छोड़ दिए गए, आतंकवाद से अविश्वास; 1930 नवंबर फिर गिरफ्तार, छः मास की सजा; 1931 मुक्ति और राय के पक्ष में, 1932 गिरफ्तारी डेढ़ साल की सजा, 1933 जुलाई, जेल से बाहर, कम्युनिस्ट पार्टी में; 1933-37 वारंट और अन्तर्धान, 1936 पी. बी. के सदस्य, 1937-39 बंबई में ज्यादातर, 1940 जुलाई लखनऊ में गिरफ्तार, 1941 मार्च देवली कैम्प में क्षय-रोग के शिकार, 1942 जुलाई जेल से छुट्टी, 1943 क्षय-रोग पीड़ित।

भावी भारत के भव्य प्रासाद के निर्माण में जिन्होंने अपने सर्वस्व की आहुति दे डाली, फाँसी और गोली के भय से जरा भी विचलित हुए बिना जिन्होंने सिर हथेली पर रख अपने विचारों के अनुसार देश की स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न किया, जेल की यातनाओं ने जिनके स्वस्थ सोने जैसे शरीर को मिट्टी बना उसे क्षय के कीटाणुओं का शिकार बना दिया, तरुणाई जीवन के सुखों के लिए है, इसका जिन्हें क्षण मात्र के लिए भी ख्याल नहीं आया, जीवन के अन्तिम क्षण तक जिनकी सिर्फ एक ही धुन रही—देश को कैसे स्वतंत्र किया जाये—अजय घोष भारत के उन्हीं सुपुत्रों में हैं। उन्होंने वीर भगतसिंह के नेतृत्व में काम किया, उन्हीं के साथ निराहार भाग लेकर मृत्यु के पास पहुँचने की कोशिश की। लाहौर-जेल की काल-कोठरी में महीनों फाँसी की प्रतीक्षा की। इतना ही नहीं, बल्कि जब उनके अध्ययन और चिन्तन ने बतलाया कि आतंकवाद—इक्के-दुक्के सरकारी अफसरों पर बम्ब या गोली छोड़ने—से देश की स्वतंत्रता नजदीक नहीं आ सकती, तो उन्होंने उस रास्ते को एकदम छोड़ दिया, और पीछे फिर कर देखा भी नहीं कि हमने इस पथ पर जीवन के इतने अनमोल वर्ष नौछावर किए।

अजय का जन्म 22 फरवरी 1908 को युक्तप्रान्त के औद्योगिक केन्द्र कानपुर में हुआ था। उनके पिता डॉक्टर शचीन्द्र घोष अपने ज्येष्ठ पुत्र अजय के जन्म से दस साल पहिले कलकत्ता से आकर कानपुर में बस गए थे। साधारण तौर से उनकी प्रैक्टिस अच्छी थी, मगर उनका रहन-सहन निम्न मध्यम-वर्ग नहीं उच्च मध्यम-वर्ग का था, जिसके कारण वह धन जमा नहीं कर सकते थे। हाँ परिवार सुख से रहता था, और परिवार के हर एक वयस्क व्यक्ति से यही आशा रखी जा सकती थी, कि वह अपने को भार नहीं साबित करेगा। पिता पक्के ब्रह्मसमाजी थे। ब्रह्मसमाज पिछली सदी तक सामाजिक क्रान्ति का वाहक समझा जाता था; मगर पीछे जब ईश्वर के ऊपर भी चारों ओर से अँगुलियाँ उठने लगीं, तो उसका पक्का ईश्वरवाद तथा निराकार-उपासना बहुत पिछड़ी बात मालूम होने लगी। लेकिन, डाक्टर शचीन्द्र घोष बहुत ही उदार विचारों के थे, उनका विश्वास सिर्फ बुद्धिवाद पर था, और पुत्र को समझाकर अपने मत का बनाने के सिवा और किसी तरह का दबाव नहीं डालते थे।

अजय की माँ शशांकधरबाला (स्याहनवीस) नदिया जिले की थीं और ब्रह्मसमाजी होने से बहुत-सी हिन्दू रूढ़ियों से मुक्त थीं।* पुत्र पर उनका स्वाभाविक वात्सल्य था, मगर पिता की भाँति उन्होंने भी पुत्र की स्वतंत्र उन्नति में कभी बाधा उपस्थित नहीं की।

---

* पिता-माता दोनों अभी जीवित हैं।

अजय को सबसे पुरानी स्मृति साढ़े चार साल की उम्र तक ले जाती है, जबकि बड़े भाई सुधीन्द्रनाथ* के हाथ में एक फुटबाल देखा था। दूसरी स्मृति छह साल की है, जबकि पिता ने पिछले महायुद्ध की घोषणा होने की खबर घर-भर को सुनाई। बचपन में और लड़कों की भाँति अजय को भी कथा सुनने का शौक था। माँ उन्हें तरह-तरह की कथाएँ सुनातीं, जिनमें बंगाल के देहात की कथाएँ भी होतीं। बचपन में अजय का घूमना-फिरना बंगाली परिवारों तक ही सीमित था, इसलिए कानपुर में रहते भी उस समय अजय बंगाली भाषा ही बोल-समझ सकते थे।

5 साल की उम्र (1913) में माँ ने बँगला पढ़ाना शुरू किया, और तीन साल तक अजय घर पर ही पढ़ते रहे, जिसमें बंगला और थोड़ी-थोड़ी अंग्रेजी भी शामिल थी। बड़ा भाई मामा के पास बंगाल में था, अजय के साथ उनकी बड़ी बहिन घर पर साथ रहती और पढ़ने के लिए बालिका विद्यालय में जाती। पिता को युद्ध की खबरों में बड़ी दिलचस्पी थी, वह रोज ताजा खबरें सुनाते। बालक अजय भी कुछ समझता कुछ नहीं समझता, मगर उसको सुनने का शौक था; और सुनी-सुनाई खबरों में नमक-मिर्च लगाकर वह अपने मुहल्ले के हमजोलियों को सुनाता था। फिर लड़के जर्मन और अंग्रेज सिपाही बन युद्ध का अभिनय करते। जब पिता बंगाल के आतंकवादी देशभक्तों की कुर्बानियों का वर्णन करते, तो अजय कान खड़े कर उनमें रस लेने की कोशिश करते। अजय का शरीर लंबा-तगड़ा और बहुत स्वस्थ था। वह मुहल्ले की बाल-सेना के स्वनिर्वाचित अगुआ थे, और मारपीट में सबसे पहिले पहुँच जाते। बातें सुनते-सुनते शासकों के प्रति अजय का हृदय घृणा से भर गया था, और जब सड़क पर कोई सिपाही दिखाई पड़ता, तो कंकड़-पत्थर फेंके बिना नहीं रहते।

स्कूल में–ग्यारह साल के हो जाने पर (1916 में) अजय को आदर्श बंग विद्यालय (जो उस समय तीसरी क्लास तक ही था) में भरती कर दिया गया। अजय के आगे बढ़ते-बढ़ते उनका विद्यालय भी बढ़ता गया और वहीं से उन्होंने 14 साल की उम्र में आठवाँ दर्जा (मिडल) पास किया। वह अपने दर्जे में सदा प्रथम रहते। गणित, इतिहास उनके प्रिय विषय थे। शिक्षित साहित्य-प्रेमी परिवार के होने से उन्हें बँगला साहित्य में विशेष रुचि थी। नौ साल की उम्र से ही वह 'प्रवासी' (मासिक) को नियमपूर्वक पढ़ा करते।

काकोरी केस के अभियुक्त श्री सुरेश भट्टाचार्य उनके अध्यापक थे। उनका प्रभाव अजय पर पड़ना जरूरी था। भट्टाचार्य ने एक तरुण-संघ खोला था, अजय उसमें शामिल थे। तरुण-संघ में खेलों का इन्तजाम होता, रामकृष्ण मिशन की ओर से बाढ़, महामारी के वक्त लोक-सेवा का काम किया जाता, अजय उसके स्वयंसेवकों में रहते। विजयकुमार सिंह और बटुकेश्वरदत्त भी तरुण-संघ के उत्साही सदस्य थे, और वहीं अजय का उनसे परिचय हुआ। सुरेश बाबू प्रान्त के आतंकवादी नेता थे, उनके संपर्क के कारण आतंकवादी शहीदों की वीरतापूर्ण गाथाएँ इन तरुणों को खूब सुनने को मिलतीं। वे अजय के लिए महान् वीर थे।

1921 में जब देशबंधु दास गिरफ्तार हुए, तो स्कूल में हड़ताल कराने में अजय आगे थे। वह असहयोग आन्दोलन के साथ थे, और उन्होंने स्वयंसेवक बनने की कोशिश भी की, मगर उम्र कम होने से किसी ने उन्हें स्वीकार नहीं किया।

असहयोग साल-भर में स्वराज्य नहीं ला सका, इसके लिए अफसोस होने के साथ अजय का विश्वास अहिंसा पर से बिलकुल उठ गया। सुरेश बाबू बंगाल के शहीदों की कथा सुनाते, देशमाता की वेदी पर खुदीराम बोस के बलिदान का सजीव वर्णन करते; अजय के मन में होता, धन्य है उनका जन्म और धन्य है उनकी मृत्यु, जीवन का मूल्य इससे बढ़कर क्या हो सकता है। अजय भी देखादेखी काली के रूप में भारतमाता को देखने की कोशिश करते, और रामकृष्ण मिशन की कालीपूजा में अपने साथियों के साथ उपस्थित होते। यद्यपि पिता ब्रह्मसमाजी होने से मूर्तिपूजा-विरोधी थे, मगर वह साथ ही विचार-स्वातंत्र्य के पूरे पक्षपाती थे।

अजय का घर अक्सर उनके साथियों बटुकेश्वर और विजय के सम्मिलन का स्थान था। पिता को भी धीरे-धीरे रंग-ढंग मालूम होने लगा। वह कभी-कभी कुछ समझाने का भी प्रयत्न करते; लेकिन, एक बात से

---

* सुधीन्द्रनाथ घोष इंजीनियर की मृत्यु 1942 में हुई।

बिल्कुल सहमत थे–गिरफ्तार होने पर जेल या फाँसी के डर से सरकारी गवाह बनना परले दर्जे की नीचता है। जिस वक्त अजय लाहौर में भगतसिंह और अपने दूसरे साथियों के साथ भयंकर भूख-हड़ताल कर रहे थे, और 21 दिन बीत चुके थे, उस वक्त पिता भी वहाँ पहुँचे थे। जेल-सुपरिंटेंडेंट ने उस वक्त मुलाकात कराने के लिए शर्त पेश की, कि वह पुत्र को हड़ताल तोड़ने के लिए कहेंगे, मगर डाक्टर ने साफ इन्कार कर दिया, वह अपने साथियों के साथ इस प्रकार के विश्वासघात की जगह बेटे को मृत्यु पसंद करेंगे।

1922 में अजय गवर्नमेंट स्कूल में भरती हुए। द्वितीय भाषा अब हिन्दी थी। दो साल (1924) तक वहीं पढ़ते रहे। इस समय उनका ध्यान स्कूली पढ़ाई की ओर उतना नहीं था। वह बाहरी पुस्तकें बहुत पढ़ा करते थे। मेजिनी, गेरीबाल्डी, जोन-द-आर्क की जीवनियाँ उन्हें बहुत पसंद आतीं। सोवियत का नाम सुन लिया था, और उनकी सहानुभूति सोवियत के साथ थी। अजय आसपास लोगों की गरीबी देखते, और व्यथित होकर कह उठते–हमें जमींदार और धनिक नहीं चाहिए। 1924 में लेनिन के मृत्यु-दिवस को उन्होंने मनाया, मगर उस वक्त अजय को मालूम न था, कि लेनिन का पथ क्या है। किन्तु, उनके लिए इतना जानना काफी था कि लेनिन ने रूस से गरीबी उटा दी। इस समय वह हिन्दुस्तान-प्रजातंत्र-सेना के काम में भी वहुत लगे रहते।

साहित्य की ओर अजय की विशेष रुचि थी, खासकर बंग-साहित्य की ओर। वह एक हस्त-लिखित पत्र 'निर्माल्य' निकालते थे। अजय और विजय तीन साल तक उसके संपादक रहे। रवीन्द्र की कविताएँ द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक और शरत् के उपन्यास उन्हें बहुत प्रिय थे। नवीन चंद्रसेन के 'पलाशी-युद्ध' को वह बहुत भावावेश के साथ दुहराया करते।

1924 में अजय ने मेट्रिक पास किया, विजय भी पास हो गए, मगर बटुक फेल हो गए और आगे उन्होंने स्कूल की पढ़ाई छोड़ दी।

घर में देवी-देवता की अर्चा-पूजा पहिले ही नहीं होती। रूस के अनीश्वरवाद को सुनकर अजय का विश्वास भी ईश्वर और धर्म से डगमगाने लगा। अभी वह धर्मविरोधी नहीं हुए थे, मगर उसे कुछ-कुछ अनावश्यक-सा समझने लगे थे।

कॉलेज में–आगे पढ़ने के लिए अजय विजय के साथ कानपुर के क्राइस्ट चर्च कॉलेज में दाखिल हो गए, विषय थे भौतिकशास्त्र, रसायन और गणित। अगले दो साल (1924-26) यहीं बिताये। साइंस के विषय के चुनने में अजय का एक यह भी अभिप्राय था, कि इस प्रकार बंब बनाना सीखने में उन्हें सुभीता होगा; और, इसीलिए अब वह रसायन-शास्त्र को बहुत ध्यान से पढ़ा करते। पढ़ने के अतिरिक्त वह 'रेड बंगाल' (लाल बंगाल) पर्चे को बाँटते, रिवाल्वर चलाने का अभ्यास करते। शरीर को आगे के कामों के योग्य बनाने के लिए खूब व्यायाम करते; और दिल को मजबूत करने के लिए खुदीराम, कन्हाईलाल और यतीन्द्र मुकर्जी की जीवनियाँ पढ़ते, और अंग्रेजी में अनुवाद कर लोगों में फैलाते। 'प्रताप' (कानपुर) के देशभक्तिपूर्ण लेख उनके उत्साह को बढ़ाते। 1925 में एक बार भगतसिंह कानपुर आए। अजय ने उनसे खूब विचार-विनिमय किया, भगतसिंह ने युद्धकालीन लाहौर-षड्यंत्र के वीरों की बातें बतलाईं–किस तरह तरुण करतारसिंह ने मृत्यु का उपहास करते फाँसी की आज्ञा देनेवाले जज को 'थैंक यू' (धन्यवाद) कहा। इसी साल काकोरी-कांड के लिए गिरफ्तारियाँ हुईं। सुरेश और राजकुमार (विजयकुमार के बड़े भाई) गिरफ्तार कर लिए गए। भद्रलोक संदिग्ध तरुणों की परछाईं से घबड़ाने लगे, और उन्होंने उनसे पूरी तौर से असहयोग कर डाला। पिता यद्यपि अहिंसावादी गांधीवादी कांग्रेसभक्त थे, मगर पुत्र के स्वतंत्र चिन्तन में बाधा डालने को वह अनुचित समझते थे।

हिन्दुस्तान प्रजातंत्र सेना (हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी) बंगाल की अनुशीलन पार्टी से संबद्ध थी। युक्त प्रान्त और पंजाब में उसने काफी संगठन किया था। काकोरी-कांड में उसके बहुत-से आदमी गिरफ्तार कर लिए गए थे, अब बोझ नये जवानों पर आ गया था। भगतसिंह और दूसरे साथी तैयार थे। अब तक (1925) तक नौजवानों को सोशलिज्म (समाजवाद) की कुछ भनक लग चुकी थी, उन्होंने उसे दिखलाने तथा कालीमाई और देवी-देवताओं के फंदे से छुड़ाने के लिए सेना का नाम 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट प्रजातंत्र सेना' रखा। पुराने दादा जेल में पहुँच गए थे, नहीं तो शायद वह धर्म और कालीमाई के विछोह को सह न सकते। अब भी

सेना साधारण जनता के बल पर नहीं नेताओं के बल पर क्रान्ति करना चाहती थी; हाँ, क्रान्ति के सफल होने के बाद वह भारत में सोशलिस्ट प्रजातंत्र कायम करना चाहते थे।

1925 में कानपुर में राष्ट्रीय कांग्रेस हुई। अजय उसमें स्वयंसेवक थे।

प्रयाग विश्वविद्यालय (1926-29) में–एफ. ए. पास करने के बाद बी. एस-सी. में दाखिल होना था, मगर कानपुर में उस विषय का इन्तजाम न था, और प्रयाग में ज्यादा व्यापक तौर पर राजनीतिक काम करने का सुभीता होता, इस ख्याल से भी, अजय प्रयाग विश्वविद्यालय में दाखिल हो गए। विषय वही थे। हिन्दू होस्टल में रहते। यहाँ उन्हें बहुत आजादी थी। उनके साथी आकर मिलते, महीने-महीने होस्टल से गुम रह सकते। बीमार पड़ जाने के कारण एक साल परीक्षा में नहीं बैठ सके और 21 साल की उम्र (1929) में अजय ने बी. एस-सी. दूसरे डिवीजन में पास किया। वह फर्स्ट डिवीजन के लिए तैयारी भी तो नहीं कर रहे थे। सारा समय आतंकवादी राजनीति को अर्पित था। कभी भगतसिंह आते तो कभी दूसरे। राजनीतिक डकैतियों की बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाई जातीं। एक डकैती प्रयाग-कानपुर सड़क के पास डाली गई। चार आदमी शामिल हुए, जिनमें से तीन के पास पिस्तौल और एक के पास नेपाली खुकड़ी थी। एक बड़े अफसर की मोटर उड़ाई गई। मोटर दूर सड़क पर टहलती रही, चारों बहादुर किसी आदमी के घर पर पहुँचे। पिस्तौल दिखलाने पर उसने चाभी दे दी, तिजोरी में दस-बारह रुपये मिले। गाँववालों ने घेर लिया। मगर लाठी और पिस्तौल का भारी भेद होता है। फैर करते हुए लोग गाँव से निकल आए, और मुँह गिराये मोटर पकड़ प्रयाग पहुँचे। यह 1927 की बात है।

1927 में एक राजनीतिक डकैती बनारस जिले में हुई। तीन आदमी साइकल पर प्रयाग से गए और कुछ साइकल-सवार बनारस से आए। भेदिया एक पेशेवर चोर था। लोग दिन में ही जाकर किसी जगह मिले। ग्यारह बजे रात को पाँच-सात मील जाकर उस बनिये के घर पर पहुँचे। घरवाले को क्या पता था। कहने पर उसने दरवाजा खोल दिया। बनिया चिल्लाना चाहा, मगर पिस्तौल की थूथुन को देखते ही चुप हो गया। रुपयों से प्राण ज्यादा मूल्यवान् होता है। संदूक में सत्रह सौ रुपये मिले। पाँच सौ भेदिया को दिया, बनिया जैसे कितनों को अपने प्रति अपार घृणा से लोग अपनी-अपनी जगह पर लौट आए।

सेना ने कितनी ही डकैतियाँ कीं, मगर अजय को एक-दो ही बार उनमें शामिल होने का मौका मिला। उनके जिम्मे और कितने ही काम थे, फिर बंब बनाने की विद्या सीखने के लिए ही तो वह साइंस पढ़ रहे थे, रसायनों की प्रयोगशाला में परीक्षा कर रहे थे।

खुफिया विभाग के डी. एस. पी. जितेन्द्र बनर्जी बुरी तरह से सेना के सदस्यों के पीछे पड़े थे। 1928 में बनारस में किसी ने उन पर आक्रमण किया, मगर वह घायल होकर बच गए।

जिस साल अजय बी. एस-सी. परीक्षा में बैठ रहे थे, उसी साल मार्च में दिल्ली की एसम्बली में बंब का धड़ाका हुआ, गेलरी में दो तरुण–भगतसिंह और बटुकेश्वर–पकड़े गए। उन्होंने बंब फेंकना स्वीकार किया, और कहा–हम सदस्यों को मारना नहीं चाहते थे, यद्यपि वह हमारे लिए आसान था, हम इन्हें और दुनिया को सिर्फ यह दिखलाना चाहते थे, कि इस पंगु, धोखे की नामनिहादी चीज को अपनी असलियत मालूम हो, और दुनिया भी समझे; साथ ही यह भी कि स्वतंत्रता की लगन और भी मजबूत हथियारों को दिखला सकती है।

गिरफ्तारियाँ और हुईं, मोतीहारी का फणीन्द्र भी पकड़ा गया, और सरकारी गवाह बन गया। उसने सारा कच्चा चिट्ठा खोल दिया, बहुतों के नाम बतलाये। फिर अजय और कितने ही दूसरे तरुण गिरफ्तार हुए। लाहौर में उन पर भयानक षड्यंत्र का मुकदमा चलने लगा। पुलिस ने अजय को किले में रखा। उनसे अपराध स्वीकार कराने के लिए तरह-तरह की यातनाएँ दीं। कभी उन्हें चुचुकारा जाता, कभी कहा जाता–अमुक ने तो सब कह दिया है, काहे मुफ्त में जान देना चाहते हो। कभी माँ-बहिन की गंदी-गंदी गालियाँ दी जातीं। कभी तीन-तीन दिन-रात सोने नहीं दिया जाता, आँख झँपते ही आदमी छड़ी की नोक बदन में चुभो देता। यह खबरें बाहर मालूम हुईं। अखबारों ने कड़ी निन्दा की। पुलिस भी अपना काम बना चुकी थी। सात आदमी सरकारी गवाह बन चुके थे। अजय जैसों से कुछ और पाने की आशा नहीं रखती थी, तो भी एक बार और हवालात में

रखने की पुलिस ने इजाजत माँगी, मगर मजिस्ट्रेट ने स्वीकृति देने से इन्कार कर उन्हें जेल की हवालात में भेज दिया।

भगतसिंह और बटुकेश्वर को एसेंबली बमकांड में सजा हो चुकी थी, अब उन पर तथा तेरह और आदमियों पर लाहौर-षड्यंत्र मुकदमा चल रहा था। पंद्रह आदमियों में सात सरकारी गवाह बन चुके थे, इसलिए सरकार को सब बातों का कितना पता था, यह अच्छी तरह समझा जा सकता है। और फिर अपराधों में पुलिस सुपरिंटेंडेंट सौन्डर की हत्या जैसे संगीन अभियोग थे। क्या होने वाला है, यह वह जानते थे। आठों अभियुक्तों में सभी समाजवादी विचार के थे, लेकिन अभी वह बहुत गहरा नहीं था, नहीं तो कैसे आतंकवाद पर उनका विश्वास रह जाता। हाँ, जेल में रहते धीरे-धीरे वह और आगे की ओर बढ़े। उन्होंने समझा, जब तक क्रान्ति का सन्देश जनता तक नहीं पहुँचता और वह उसे नहीं अपनाती, तब तक क्रान्ति के सफल होने की कोई आशा नहीं।

वह खूब जानते थे, दुनिया में अब वह कुछ ही दिनों के मेहमान हैं, और उनका तरुण शरीर जिस खाक से पैदा हुआ, उसी की खाद बन जाएगा। ऐसी अवस्था में भगतसिंह के मौलिक दिमाग ने सोचा, इस शरीर की अधिक से अधिक कीमत अदा करनी चाहिए। आज तक क्रान्तिकारी मुकदमे में इतने व्यापक रूप से राजनीतिक प्रोपेगेंडा नहीं हुआ था। भगतसिंह तथा उनके साथी यह इसीलिए कर सके, कि उन्होंने कुछ बहादुर जाँफरोशों के इक्के-दुक्के अफसरों के मारने के काम की व्यर्थता को समझ लिया था, और अब वह क्रान्ति में सारी जनता का सहयोग चाहते थे। उन्होंने जो लम्बी-लम्बी भूख-हड़तालें कीं, उनमें राजनीतिक कैदियों के साथ जेल में होनेवाले बर्ताव को दूर करने के अतिरिक्त यह उद्देश्य भी था। उस वक्त मेरठ में कम्युनिस्टों पर भी इतिहास-प्रसिद्ध षड्यंत्र केस चल रहा था, वहाँ पर अदालत के कमरे और जेल-निवास को उतनी सफलता से प्रचार के लिए नहीं इस्तेमाल किया जा सका; यद्यपि वह मुकदमा दो साल और पीछे तक चलता रहा। परिणाम यह हुआ, कि भगतसिंह और उनके क्रान्ति के नारे की गूँज से भारत का कोई गाँव भी बचा नहीं रहेगा। बिहार की देहात के एक्केवाले तक 'दीवाना भगतसिंह' का गाना गाते थे।

अजय 13 जुलाई से 15 सितम्बर (1929) तक 63 दिन की भूख-हड़ताल में बराबर डँटे रहे, यद्यपि उनके कुछ साथियों ने 52 दिन बाद भूख-हड़ताल तोड़ दी, जबकि जेल-संबंधी उनकी शिकायतों में से बहुतों को दूर करने की बात को सरकार ने मान लिया। यतींन्द्र दास के जीवन की आशा बिल्कुल नहीं थी, इसीलिए हड़ताल तोड़ उस वीर के बलिदान के मूल्य को उन्होंने कम नहीं होने दिया, और यतीन की मृत्यु के दूसरे दिन ही उसे छोड़ दिया। यतीन का शव लाहौर से कलकत्ता तक किस महान् सत्कार से पहुँचा, कलकत्ता नगरी ने अपने वीरपुत्र का कितना स्वागत किया, वह भारत के इतिहास की चिरस्मरणीय चीज है। भूख से हड्डी मात्र रह गए अजय को देखने के लिए पिता-माता लाहौर गए। सुपरिंटेंडेंट ने हड़ताल तोड़ देने के लिए पुत्र को समझाने की शर्त पेश की, मगर वीर पुत्र के वीर-हृदय पिता ने किस तरह उसे ठुकरा दिया, यह हम बतला चुके। पिता-माता ने पुत्र के कंकाल को देखा, उनके हृदय में हजारों सूइयाँ चुभने लगीं, मगर 'सी' कहकर पुत्र को पीड़ा पहुँचाना नहीं चाहा।

अक्तूबर (1930) में भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को फाँसी की सजा हुई। अपील में सर्वत्र सजा बहाल रही। गांधीजी ने ईसाई भक्त इर्विन के सामने घुटने टेककर इन वीरों की प्राणभिक्षा माँगी, मगर सब व्यर्थ। 1931 के शुरू में उन्हें फाँसी के तख्ते पर लटका दिया गया। भगतसिंह से बढ़कर किसी ने अपने जीवन का मूल्य नहीं पाया होगा। अजय पर भगतसिंह का जबर्दस्त प्रभाव पड़ा था। भगतसिंह और बटुकेश्वर को जेल में अलग रखा जाता था, मगर कचहरी का कमरा उनके मिलने और आगे के काम की योजनाओं के बनाने का स्थान था। भगतसिंह रास्ता बतलाने में सबसे आगे रहता, वह सबका संचालक मस्तिष्क था। आतंकवाद की अनुपयोगिता स्वीकारने और मार्क्सवादी तरीके से जनता की क्रान्ति का वाहन बनाने की ओर सबसे पहिले उसी का ख्याल गया। 10 जुलाई (1929) को जब पहिली बार उन्हें एक-एक सिपाही के हाथ के साथ हथकड़ी बाँधकर पेश किया गया, तो क्रान्तिकारियों ने इसे बहुत बुरा माना। वकीलों ने अदालत के विरोधी हो जाने का डर दिखलाकर मामले को हाईकोर्ट के सामने रखने का परामर्श दिया, मगर भगतसिंह ने वहीं स्वयं फैसला

कर डालने के लिए राय दी। उसे किसी दया-मया का भरोसा नहीं था। वह तो कहता था—हम साल-भर के लिए इस दुनिया में हैं, इसमें जितना प्रचार हो सके, कर लेना चाहिए। हथकड़ी लगाने के वक्त हाथापाई हुई, और काम बन गया।

अजय भी निर्भय हो फाँसी का हुकुम सुनने की प्रतीक्षा कर रहे थे, मगर उनके खिलाफ सबूत न था, और अक्तूबर (1930) में अदालत ने उन्हें छोड़ दिया। मगर भगतसिंह की आखिरी विरासत उनके साथ थी, भगतसिंह का सजीव चेहरा सदा उनके सामने रहता।

छूटकर घर कानपुर आए। अब वह आतंकवाद के विरुद्ध थे, मगर सर पर कफन बाँधकर चलने के विरुद्ध नहीं। वह मार्क्सवाद पर विश्वास रखते थे, मगर कांग्रेस द्वारा छेड़े जन-संग्राम पर कितने ही कम्युनिस्टों को प्रहार करते देख खिन्न होते थे।

वह आतंकवाद और डकैती के सख्त खिलाफ थे, मगर पुलिस को समझावे कौन ? कुछ ही दिनों वाद नवम्बर में फिर उन्हें एक डकैती के इल्जाम में पकड़ लिया गया। सबूत तो था नहीं, मगर उससे क्या, छह मास जेल की हवा खानी पड़ी, और गांधी-इर्विन समझौते के हो जाने पर (1921 में) छोड़ दिए गए।

कराची कांग्रेस में गए। पार्टी अभी बाकायदा संगठित नहीं हो सकी थी, कम्युनिस्टों की तत्कालीन नीति और वह नीति एक तरह कुछ व्यक्तियों की राय थी—से वह असंतुष्ट थे। एम्. एन्. राय से बातचीत हुई। अभी वह राय को अच्छी तरह समझ नहीं पाये थे, और उनकी गरम-गरम बातों से प्रभावित हुए।

कानपुर लौटकर अजय मजूरों में काम करने लगे, वहाँ मजूर-किसान पार्टी कायम की, और खुद सेक्रेटरी बने। तरुणों के लिए अध्ययन-चक्र खोलते, और खुद पढ़ाते-समझाते डेढ़ साल किसी तरह बीते।

1922 के प्रारम्भ में फिर गिरफ्तार। डेढ़ साल की सजा—साल-भर कानपुर और तीन महीने फैजाबाद जेल में।

इस समय उन्हें मार्क्सवाद के गंभीर अध्ययन का अवसर मिला। उस समय कामरेड सरदेसाई कानपुर जेल में थे, जिससे अध्ययन में उन्हें बड़ी सहायता मिली। 'कैपिटल' प्रथम भाग को दोनों ने साथ पढ़ा। मेरठ के बंदियों के अदालत में दिए वक्तव्यों ने खास तौर से प्रभाव डाला। मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन के ग्रंथों के गंभीर अध्ययन ने अजय की स्वाभाविक प्रतिभा को और तीक्ष्ण बना दिया। अब उन्हें अपने देश की सारी समस्याएँ, उनका निदान, उनकी चिकित्सा साफ झलकने लगी। फैजाबाद जेल में उन्हें कांग्रेस सत्याग्रहियों से मिलने का मौका मिला, और उनकी राजनीतिक शिक्षा के लिए वह क्लास लेने लगे। यहीं रुस्तम से उनकी मुलाकात हुई। यह 'पाठशाला' क्यों पसंद आने लगी, आखिर उन्हें फिर कानपुर जेल में पहुँचाया गया, जहाँ से जुलाई (1966) में छोड़ दिया गया।

छूटने के बाद भी पिंड नहीं छूटा। पुलिस बराबर निगरानी रखती। किसी समय रात को भी आकर देख सकती थी। राजनीति में न भाग लेने का हुकुम दिया गया था। कानपुर से बाहर जाने की खबर खास थाने में जाकर देनी पड़ती थी। जीविका के लिए दो-तीन साल स्कूल में पढ़ाने जाते। स्वास्थ्य धीरे-धीरे जवाब देने लगा, फौलादी शरीर पिघलने लगा। निद्रा ने आने से इन्कार कर दिया।

नवंबर (1933) में पूरनचंद्र जोशी जेल से छूटकर बाहर आए। जोशी को अजय जानते थे। कानपुर के मजूरों में जोशी ने काम शुरू किया। उसकी पैनी दृष्टि अजय को परखने में क्यों चूकने लगी। अजय सीधे पार्टी में आ गए। जोशी ने पार्टी-टुकड़ियों को तोड़कर पार्टी को संगठित करने का काम शुरू किया ही था, कि फिर पकड़कर दो साल के लिए सीखचों में बंद कर दिया गया। अजय एक ही मास की सजा पा बच गए।

तब से दिसंबर 1935 तक अजय का कार्यक्षेत्र युक्त प्रान्त था। वह मजूर-सभा का काम करते, तरुणों के राजनीतिक अध्ययन-चक्र को चलाते। प्रयाग, बनारस, लखनऊ जा तरुणों से बहस-संलाप करते। इसी समय अजय को रमेश सिन्हा, हर्षदेव मालवीय जैसे तरुण मिले। इस सबके साथ जुलाई 1931 से 34 दिसंबर तक कानपुर के तिलक राष्ट्रीय विद्यालय में 40 रुपये मासिक पर नौकरी करते, जीविका का तो कोई प्रबंध करना

ही था। 'स्पार्क' (चिंगारी) का एक अंक भी निकाला, फिर जब बंबई से पत्र निकलने की बात तै हो गई, तो बंद कर दिया। 'नेशनल फ्रांट' के अंकों को जिन्होंने देखा है, वह जानते हैं, अजय के कलम की शक्ति को; जिन्होंने उनके अध्ययन चक्र में भाग लिया है, वह जानते हैं अजय की तीव्र विश्लेषण-शक्ति को।

माता-पिता अजय के विरोधी नहीं थे; हाँ, कांग्रेस-भक्त पिता अजय को कांग्रेस में काम करने की सलाह देते।

जोशी को दूसरी बार जेल से छूटने के बाद अन्तर्धान रहना पड़ा, मगर वही समय था, जब कि उसने भारतीय पार्टी के संगठन की दृढ़ नींव रखी। अब अखिल भारतीय कार्यकर्ताओं की जरूरत थी। जोशी की दृष्टि अजय की ओर गई, और उन्हें युक्तप्रान्त को छोड़ना पड़ा। 1936 के प्रारंभ में फिर अजय के नाम वारंट निकला, मगर तब तक उनका पता नहीं लगा, जब तक कि कांग्रेस मिनिस्ट्री ने 1937 में वारंट हटा नहीं लिया। अजय अब भारतीय पार्टी के पोलिट ब्यूरो के सदस्य थे, पार्टी की नीति को निर्धारित करने में उनकी राय का बहुत भारी वजन था। अन्तर्धान अवस्था में कलकत्ता और दूसरी जगहों में जाना पड़ता। अधिकारी बीजापुर में नजरबंद थे, उनको छुड़ाना जरूरी था। यह काम अजय को सौंपा गया। अजय कृस्तान साहेब बनकर बीजापुर पहुँचे। एक दिन जोशी ने अपने शरण-स्थान में अधिकारी और अजय को सामने देखकर आश्चर्य किया। बीजापुर की पुलिस तीन दिन तक किसी अधिकारी की सूरत बार-बार देखती और रिपोर्ट भेजती रही। एक बार अजय बंबई में थे। चर को पता लग गया। अजय ने खतरे को भाँप लिया। वर्षा हो रही थी, उसी में अजय दौड़ पड़े। पुलिस पीछा कर रही थी। टैक्सी लेकर बढ़े, पुलिस ने दूसरी टैक्सी पर पीछे दौड़ना शुरू किया। अजय की प्रत्युत्पन्न बुद्धि और स्थिर मनस्कता उनके साथ थी। एक सिनेमा में गए और जब समुद्र में घुस दूसरी ओर से निकल भागे। एक बार अजय और जोशी दोनों कानपुर में थे। पुलिस ने बीस जगह छापे मारे और दोनों एक छापा मार चुके स्थान में दो दिन तक रहे। अजय की जीवनी ऐसी घटनाओं से भरी पड़ी है।

इसी अन्तर्धान अवस्था में अजय का स्वास्थ्य तेजी से गिरने लगा, और आज वह भयानक रूप ले चुका है।

1937-39 में अजय को खुलकर पार्टी के लिए काम करने का अवसर मिला। इस वक्त उनकी प्रतिभा, सूझ, गंभीर ज्ञान का पता सारे भारत के साथियों को लगने लगा।

1940 में जब प्रधान-प्रधान कम्युनिस्टों पर वारंट निकला, तो पोलिट ब्यूरो के चार मेम्बरों में से एक को कैसे भूला जा सकता था, मगर अजय पहिले से ही चम्पत थे। लेकिन अन्तर्धान रह मुर्दा बन बैठने की नीति को तो उनकी पार्टी पसंद नहीं करती। अजय को भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों में घूमते रहना पड़ता था। उनका पाँच फुट दस इंच का लंबा शरीर, उनकी असाधारण ऊँची भौंहें, उनकी चमकीली निलीन आँखें भारी बाधक थीं। जुलाई (1940) में वह लखनऊ में पकड़े गए। इस अन्तर्धान काल में 'कम्युनिस्टों' के प्रकाशन का बहुत-सा भार अजय के ऊपर था।

गिरफ्तारी के वक्त भी तपेदिक का उन पर असर हो चुका था—बुखार बराबर बना रहता था। मार्च 1941 में उन्हें देवली कैम्प के कालापानी में भेज दिया गया। विशेषज्ञों ने परीक्षा कर टी. बी. (तपेदिक) का होना घोषित किया। उनका फेफड़ा गल-गल कर मुँह से बाहर आता जा रहा था, साथी बराबर चिन्तित रहते थे, मगर अजय तब विश्राम लेने के लिए तैयार न थे। राजबंदियों के साथ बुरे बर्ताव के लिए भूख-हड़ताल शुरू हुई। अजय क्यों पीछे रहने लगे, वह कैम्प की सबसे भारी संख्या के सबसे बड़े नेता थे, उनका काम आगे रहना था।

कम्युनिस्टों की नीति बदल चुकी थी, वह फासिस्टों की पराजय को सब कुछ लगाकर सबसे पहिले हासिल करने के लिए बेकरार थे।

मगर नौकरशाही को इससे क्या। उसने अजय को छोड़ने के लिए तब तक ख्याल नहीं किया, जब तक कि वह मरणासन्न नहीं हो गए। जुलाई (1942) में अजय अपने दोनों फेफड़ों के बर्बाद हो जाने के बाद छोड़ दिए गए। डॉक्टरों ने सब तरह के शारीरिक-मानसिक श्रम को पूरी तौर से छोड़ देने की सलाह दी। डॉक्टरों

से भी अनुल्लंघनीय पार्टी का हुकुम था, जिसके लिए ही जीने और मरने को वह अपनी सवसे बड़ी लालसा रखते हैं। कितने ही मास तक तलेगाँ (पूना) के सेनीटोरियम् में रहे, वजन भी बढ़ा, मगर यह रोगों का राजा टी. बी. सबसे बड़ा धोखेबाज मर्ज है। डाक्टर किसी तरह की आशा नहीं दिलाते। (मार्च 1943 से) तीन मास मदनपल्ली (मद्रास) के सेनीटोरियम में रखे गए। डाक्टर ने कहा—घाव भर गए हैं, अब उन्हें किसी ठंडे किन्तु सूखे स्थान में रखने की जरूरत है और 7 मास पूर्ण विश्राम की। साथियों के चेहरों पर यह खवर सुनकर प्रसन्नता की रेखा दौड़ गई। डाक्टरों ने डेढ़ फेफड़े को काम करने से रोक दिया है। आधे फेफड़े को लिए अजय आजकल (सितंबर में) कश्मीर में हैं। आज अपना जीवन देकर अजय के जीवन के पाने की उम्मीद हो, तो पचासों साथी अपने जीवन को देने के लिए तैयार हो जावेंगे। हमारा देश और भी बहुत-से अजयों को चाहता है, वह उसे खोना नहीं चाहता। हमें पक्का विश्वास है, अनेक बार की तरह अब भी अजय मृत्युंजय होकर निकलेंगे।

8
स्वामी सहजानंद सरस्वती

होश सँभालते ही जिसे योग, वैराग्य और वेदान्त ने अपनी ओर खींचा, जिसे मायामय संसार छोड़ अद्वैत ब्रह्म में लीन होने की एक समय भारी साध थी; किसको पता था कि वह संसार के सबसे उपेक्षित, शिक्षा-संस्कृति में सबसे पिछड़े भारतीय किसानों को अपने पैरों पर खड़ा करने की प्रतिज्ञा लेगा ? वह एक मेधावी बालक के तौर पर शिक्षा के जिस रास्ते से जा रहा था, उससे वह विश्वविद्यालय का एक सम्मानित स्नातक बनता, कानूनपेशा वकील, सरकारी नौकर या प्रोफेसर बनता; मगर रास्ता एकाएक मुड़ा, और वह दूसरे—भारतीय प्राचीन विद्या के—रास्ते पर चला गया। वह विद्वान् संन्यासी के तौर पर अपनी प्रौढ़ प्रतिभा और व्यापक ज्ञान से एक सर्वमान्य संन्यासी, सैकड़ों छात्रों और शिष्यों का गुरु होता; मगर ब्राह्मणों के मिथ्याभिमान ने व्यक्ति नहीं, एक गौरवपूर्ण जाति को अपमानित करना चाहा, और वह उसे बर्दाश्त नहीं कर सके। उसने अपने दंड को उठाया और कुछ ही सालों में भूमिहारों में वह भाव भर दिया कि ब्राह्मणों को अपनी शेखी छोड़नी पड़ी। लेकिन समय आया, जब उसकी तीक्ष्ण प्रतिभा ने बतलाया कि उसका कार्यक्षेत्र इतना संकुचित नहीं होना चाहिए, भूमिहार या ब्राह्मण मानने न मानने से देश के आत्म-सम्मान का सवाल हल नहीं हो सकता, और उसने असहयोग-आन्दोलन में पड़कर एक व्यापक क्षेत्र में अपनी शक्ति लगा दी। फिर एक समय आया जब कि राजनीति के भीतर भी जात-पाँत के नाम पर एक जाति ने दूसरी जाति को दबाना चाहा, उसके हृदय में भूमिहारों के लिए किये अपने काम की स्मृति से कुछ लोगों ने नाजायज फायदा उठाया, और एक बार फिर उसी संकीर्ण क्षेत्र में वह जाता दिखाई पड़ा। लेकिन उसका हृदय पीड़ित, गरीब जनता की मार्मिक व्यथा को सबसे पहले अनुभव करता और विचलित हो जाता। उसे इस षड्यंत्र का पता लगते देर न लगी कि किस तरह सत्ताधारी धनिक जात-पाँत के नाम पर उनको भ्रम में डाल अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। वह फिर विस्तृत क्षेत्र में आया; फिर जेल में गया। वहाँ पक्के गाँधी-शिष्यों की करतूतों को देखकर उसकी देह में आग लग गई। राजनीतिक आन्दोलन में उसे कोई भी आशा नहीं रह गई। जिसने योग-साधन, पवित्र जीवन और मोक्ष-प्राप्ति के लिए दरबदर ठोकर खाईं, वर्षों तकलीफें सहीं, उसके मन में इस तरह का भाव आना जरूरी था। वह सबको सन्त के रूप में देखने की आशा तो नहीं रखता था, मगर यह आशा जरूर रखता था कि गाँधीजी के विश्वसनीय भक्त कुछ ज्यादा ईमानदार होंगे। उसने अपने जानते राजनीति से सदा के लिए सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। वह नहीं जानता था कि उसके दिल में एक भारी कमजोरी है। वह गरीबों के ऊपर होते अत्याचार को सहन करने की शक्ति नहीं रखता। हुआ वही और अब वह नाव को डुबोकर परले पार उतर गया। भारत के किसान-आन्दोलन को

उठाने और आगे बढ़ाने में जो काम उसने किया है, वह सदा स्मरणीय रहेगा। वह व्यक्ति है स्वामी सहजानंद।

गाजीपुर जिले में दूलहपुर स्टेशन के पास देवा एक छोटा-सा गाँव है, जिसके सवा दो सौ घरों में सौ घर भूमिहारों के हैं। आज ये लोग भूमिहार हैं, लेकिन कुछ पीढ़ियों पहले वे बुन्देलखण्ड के जुझौतिया ब्राह्मण थे। दस-बारह शताब्दियों और पहले वे यमुना से पश्चिम हिमालय की तराई से मेवाड़ तक फैले यौधेयगण (प्रजातन्त्र) के नागरिक थे। देवा में पहुँचकर अब आसपास जुझौतियों की बस्ती नहीं थी; इसलिए उन्हें मजबूरन भूमिहारों के साथ ब्याह-सम्बन्ध करना पड़ा। इतिहास ने अनजाने ऐसी जातियों का मेल करा दिया, जो राजतन्त्र नहीं, गणतन्त्र की मालिक थीं, और जिन्होंने पिछले समय में पैदा हुए ब्राह्मण-क्षत्रिय के भेद को अपनी स्वतन्त्रता के समय अपने भीतर नहीं आने दिया, और न ब्राह्मणों को अपने से ऊँचा स्थान दिया। युक्तप्रान्त और बिहार के अधिकांश भूमिहार मल्ल, बज्जी आदि गणों के उत्तराधिकारी हैं।

गाँव में दो हजार एकड़ जमीन है, जिसमें पचास एकड़ से ज्यादा परती नहीं है। कुछ जमीन के मालिक बाहर के राजपूत हैं और कुछ के गाँव के भूमिहार। बेनीराय के पिता और दादा के समय काफी जमीन थी। उनका रहन-सहन किसान नहीं, जमींदार-सा था। लेकिन हर पीढ़ी में जब खेत को चार-चार टुकड़ों में बँटना हो और धरती माता अपने कलेवर को बढ़ाने से इन्कार करती हों, तो कितने दिनों तक वह ठाट रह सकता ? तो भी बेनीराय के पास इतना खेत रह गया था कि वह एक अच्छे किसान की तरह अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकते थे। बेनीराय के पिता को सवारी के लिए अच्छे घोड़े रखने का बहुत शौक था। एक बार उनकी घोड़ी को कोई बारात में मँगनी ले गया। मँगनी की चीज थी, अपने काम से काम; घोड़ी भूखी रह गई और मर गई। शोकाकुल मालिक भी उसका सहयात्री हुआ।

जन्म–1889 की शिवरात्रि को बेनीराय के घर उनका सबसे छोटा पुत्र पैदा हुआ, जिसका नाम नौरंगराय रक्खा गया। तीन बरस की आयु में ही माँ मर गई और नौरंग को माँ का नाम भी नहीं मालूम हो सका। माँ के मरने की क्षीण स्मृति नौरंग के दिल में सदा के लिए रह गई। लोग रो रहे थे। नौरंग की आँखों से आँसू निकले या नहीं, इसका उसे पता नहीं।

लड़कपन से ही नौरंग का स्वास्थ्य अच्छा था; लेकिन उसे खेल से बिल्कुल प्रेम न था। हाँ, कहानियों का उसे बहुत शौक था और उस वक्त के गाँवों में उनका अकाल भी न था। नौरंग की चाची ने–जो कि उनकी मौसी भी थी–बच्चे को माता की तरह पाला। वह वस्तुतः चाची को ही माँ समझता था। चंदामाई की कहानियाँ वह बड़े शौक से सुनता। जिउतिया की कहानी बड़ी रोचक मालूम होती थी–चीलो और सियारो दोनों दोस्त थीं। मगर सियारो बहुत चालाक थी। जिउतिया का व्रत आया, अखंड व्रत करना चाहिए था; लेकिन सियारो इसके लिए तैयार न थी। वह कहीं से एक मुर्दा घसीट लाई और चुपके-चुपके खाने लगी। चुरचुर की आवाज हुई। चीलो ने पूछा–"क्या खाती हो बहिनी ?" "जिउतिया का भूखा शरीर है, इधर-उधर करवट बदल रही हूँ।"

गाँव में स्कूल न था, मगर पास के गाँव जलालाबाद में प्राइमरी स्कूल था। पिछली शताब्दी के अन्तिम वर्षों में अभी गाँव के लोग विद्या को शौकीनी की चीज समझते थे। दस साल की उम्र तक नौरंग का काम था चरवाही करना। खेलने का उसको शौक न था; इसलिए दिन कैसे कटता था, यह समझना मुश्किल है। जान पड़ता है, अब घरवाले भी विद्या के महातम को कुछ-कुछ समझने लगे थे। 1899 के शुरू में नौरंग को जलालाबाद के मदरसा में दाखिल कर दिया गया। यद्यपि पढ़ने की अवस्था के चार साल उसने बरबाद कर दिये थे; लेकिन उसकी बुद्धि बहुत तीव्र थी, गणित से बहुत ही ज्यादा प्रेम था। मदरसा में हर साल वह दो-दो दर्जे पास करता और अपने दर्जे में सदा प्रथम रहता। 1902 तक 3 सालों के भीतर नौरंग ने छै साल की पढ़ाई खतम कर दी। अपर प्राइमरी पास लड़कों की जिला-प्रतियोगिता में उसने बीस में से उन्नीस अंक पाये।

अब नौरंग तेरह साल का था। रामायण पढ़ने का उसे बहुत शौक था। किसी ने गीता का महातम बतलाया और उसे भी अपने पाठ में शामिल कर वह अच्छा-खासा पुजारी बन गया। जलालाबाद के एक अध्यापक भी पुजारी थे, नौरंग की पूजा में उनका प्रभाव अवश्य था। पूजा बिना देवता को खुश कैसे किया जा सकता

है, और किसी बड़े देवता को खुश किये बिना छोटे-मोटे भूतों से बचने का उपाय क्या है ? सारी दुनिया 'टिकुलिहा' पीपल के नीचे अकेले जाने से भय खाती थी; रामायण पढ़कर अंजनीसुत हनुमान के बल से नौरंग अपने को कुछ निर्भय-सा पाता था।

अब मिडिल में पढ़ने के लिए नौरंग गाजीपुर तहसीली स्कूल में दाखिल हुआ। दर्जे में अव्वल तो रहना ही था। सभी विषयों में उसकी गति थी। स्मृति भी तीक्ष्ण थी, मगर इतिहास, भूगोल कुछ रूखे-से मालूम होते थे। 1904 में हिन्दी मिडिल पास किया, सारे युक्त प्रान्त में नौरंग का नम्बर छठवाँ या सातवाँ था। उर्दू को नियमपूर्वक नहीं पढ़ा था; लेकिन उर्दू पढ़नेवाले विद्यार्थियों के साथ बराबर बैठना पड़ता, जिससे सुनते-ही-सुनते नौरंग को उर्दू आने लगी।

गाजीपुर में आकर नौरंग की धार्मिक प्रवृत्ति और बढ़ गई। यहाँ उसे सनातन धर्म और आर्य-समाज के उपदेशकों के व्याख्यान सुनने को मिलते। धर्म पर श्रद्धा और जमती गई। वह आर्य-समाजी नहीं बना और रोज नियम से स्नान कर शंकर के ऊपर बेलपत्र और गंगाजल चढ़ाता। शिवजी का व्रत बड़े उत्साह के साथ करता। उस वक्त आजमगढ़ के अमृतराय वहीं अध्यापक थे। वे खुद भी प्रतिभाशाली थे; इसलिए प्रतिभाशाली लड़के की कदर करना जानते थे। नौरंग राय भी उन्हीं के साथ बोर्डिंग में रहता।

हिन्दी मिडिल पास करने के बाद फिर नौरंग को छात्र-वृत्ति मिली और वह गाजीपुर के जर्मनमिशन हाई स्कूल (आजकल के सिटी हाई स्कूल) में प्रविष्ट हुआ। मारवाड़ियों के टोले में गोणेश्वरनाथ महादेव का मन्दिर है, उसी की एक कोठरी में नौरंग रहा करता था। वहाँ गंगा भी नजदीक थी और पास में महादेव का मन्दिर भी। नौरंग राय को इन दोनों चीजों की सबसे ज्यादा जरूरत थी। अब नौरंग राय के पाठ्य में संस्कृत भाषा भी थी। अपने रटे महिम्न स्तोत्र और गीता के श्लोकों के अर्थ समझने की लालसा में वह उसे बहुत ध्यान से पढ़ता था।

नौरंग की पूजा-पाठ घरवालों को पसन्द न थी। वे समझते थे—नाक दबाता है, मर जायेगा। देर करने में हानि समझ सोलह वर्ष की अवस्था (1905) में नौरंग की शादी कर दी गई। लेकिन स्त्री बेचारी भलीमानुस थी, एक ही साल बाद परलोक सिधार गई।

मिडिल इंग्लिश में भी नौरंग राय का नंबर अच्छा रहा और उसकी छात्रवृत्ति 5 से 7 रुपया मासिक हो गई। उसके अध्यापकों में मास्टर सूरजप्रसाद (कायस्थ) बड़े भगत थे। नौरंग की उनके खूब पटती थी। 1906 में कुछ संन्यासी घूमते-घामते उसी महादेव के मन्दिर में ठहरे। नौरंग धर्म-प्रेमी तो था ही, संन्यासियों के गेरुए वस्त्र तथा उनका उन्मुक्त जीवन उसे और भी आकर्षक मालूम हुआ। एक साल पहले भी नौरंग भागकर बनारस और काकोरी तक गया था; लेकिन बरसात का दिन था और अभी दिल मजबूत नहीं हुआ था, इसलिए वहाँ से लौट आया। इस पहली उड़ान का घरवालों में से किसी को पता नहीं था और यह अच्छा ही हुआ, नहीं तो वे और कड़ी निगाह रखते। अबकी नौरंग ने बनारस के संन्यासियों से उनके मठ का पता पूछ लिया था। वह अपने लिए यही रास्ता पसन्द कर चुका था।

अब (1907 में) नौरंग की उम्र 18 साल की थी। वह हाई स्कूल की आखिरी कक्षा का विद्यार्थी और बहुत तेज विद्यार्थी था। मैट्रिक परीक्षा में भी उसे छात्रवृत्ति जरूर मिलती और घर की मदद के बिना भी विश्वविद्यालय की सभी सीढ़ियों को पार कर सकता था। वह जानता था कि वह एक अच्छा वकील बन सकता है, अध्यापक बन सकता है या डिप्टी कलेक्टर हो सकता है। लेकिन नौरंग का मन रह-रहकर कह उठता, 'और पढ़-लिखकर क्या करोगे, तुम्हें कोई दूसरा खिला देगा।' अब वह गीता को कुछ समझ सकता था। उसने लघुकौमुदी पढ़ी। भागवत को भी वह शौक से संस्कृत में पढ़ता। यही नहीं, छोटी-मोटी वेदान्त की पुस्तकें भी पढ़ लेता, इससे उसका दिल वेदान्त से रँग गया।

शायद घरवालों को कुछ भनक लगती जा रही थी। उन्होंने सोचा—जल्दी ही शादी कर दो, नहीं तो लड़का हाथ से बेहाथ होने जा रहा है। नौरंग को भी पता लग गया; खतरे की घण्टी बजी—"भागो अभी।"

संन्यास—शिवरात्रि (1907) के कुछ ही दिनों पहले नौरंग राय भागकर बनारस चले आए। सिद्ध अपारनाथ

के मठ का नाम नोट किया हुआ था। गाजीपुर में पहले के परिचित संन्यासी भी मिल गये। शिवरात्रि जैसे महान् पर्व को हाथ से जाने नहीं देना चाहिए। सलाह हुई, शिवरात्रि के दिन ही संन्यास ले लिया जाय। स्वामी सच्चिदानन्द गिरि व्याकरण-मीमांसा के एक अच्छे पंडित थे। 18 साल के नौरंग उन्हीं के पास गिरिनामा संन्यासी बने। जब उनके बालमित्र हरिनारायण को पता लगा, तो वे भी आकर संन्यासी हो गए।

चंद ही दिनों बाद–घरवालों को पता लग गया और भाई बनारस चला गया। स्वामी सहजानंद को घर आना पड़ा। सब लोग समझाने लगे। मास्टर सूरजप्रसाद तरुण के इस जीवन से असन्तुष्ट नहीं थे; मगर उनकी आँखों से आँसू निकल रहे थे। पूछने पर कहा–"बैकुंठ जानेवाले के लिए भी घरवाले रोते ही हैं।" फलाहारी गंजेड़ी खाकीजी को बुलाकर लाया गया। तरुण संन्यासी के मुँह से ज्ञान-वैराग्य की बात सुनकर कहने लगे–"हमारी समझ से बाहर की बात है, हम क्या समझाएँ ?" खाकीजी की इस देहात में बड़ी प्रसिद्धि थी। वह सिद्ध पहुँचे हुए महापुरुष समझे जाते थे। वह दिन-भर सोये रहते और रात को जागते। इसी को लोग कहते–"खाकी जी अखंड समाधि में रहते हैं।" समझा-बुझाकर लोग हार गये, तो पिता कहने लगे–"तो हम भी तुम्हारे साथ चलेंगे।" स्वामी ने कहा–"चलिए, छोड़िये घर-बार को।" चार-पाँच दिन देवा में यह तमाशा रहा, अन्त में हार मानकर घरवालों को स्वामी का रास्ता छोड़ना पड़ा।

स्वामी फिर दूलहपुर स्टेशन से रेल पकड़ बनारस चले आये।

स्वामी और बालसंघाती हरिनागयण को संन्यास-जीवन और उससे भी ज्यादा योग-समाधि का शौक था। बनारस में कोई योगी नहीं मिला। उन्होंने अब योगी गुरु को ढूँढ़ निकालने का निश्चय किया। दोनों गंगा के किनारे-किनारे पैदल ही पश्चिम की ओर चल पड़े। भोजन के लिए दस घरों से मधूकरी माँग लेते। झूसी (प्रयाग) तक किसी योगी से भेंट नहीं हुई। झूसी में मठ की छत पर नंगे सोने से शरीर में दर्द और बुखार हो आया। किसी ने दवा समझकर चाय पिलाई, मगर बीमार बेहोश हो गया। एक और साधु वैद्यक करने लगे और लोहा पीसकर पिला दिया। किसी समझदार आदमी ने कहा भी–"जहर पिला रहा है, मर जायेगा"; मगर कई खुराक खा चुकने के बाद। सारे शरीर में रोएँ-रोएँ पर फुंसियाँ निकल आईं। आज इस घटना को हुए 36 साल हो गये, और स्वामी खाने-पीने में बड़ा संयम रखते हैं; मगर आज भी लोहे का प्रभाव बिल्कुल खतम नहीं हुआ। महीने-भर झूसी में बीमार पड़े रहे, बड़ी पीड़ा सहनी पड़ी।

शरीर के सँभलते ही फिर योगी की खोज। किसी ने बतलाया–चित्रकूट में योगी रहते हैं। दोनों ने चित्रकूट का रास्ता पकड़ा पैदल ही। मगर वहाँ भी दूर का ढोल सुहावना। जंगल की ओर बढ़े। अनुसूया के बैरागी बाबा को पीटकर चोर सोलह हजार रुपये लेकर चंपत हो गये थे। कामदगिरि में बैरागियों (वैष्णवों) के स्थान हैं, और शायद ही कोई योगिनी बिना हो। वहाँ रात को रहने के लिए कोई स्थान देने को तैयार न हुआ। चित्रकूट से निराश लौटे। तुलसीदास की जन्मभूमि राजापुर देखी; फिर प्रयाग की सड़क पकड़ी और पश्चिम की ओर मुँह किया। अब अंतरिया बुखार आने लगा था। भादों का दिन था; वर्षा हो रही थी। बुखार के दिन पूड़ी मिली, खा लिया, ऊपर से ठंडी हवा लगी। बुखार और बढ़ा। गाँव में शरण ढूँढ़ने गये, किसी ने बीमार परदेशी संन्यासी को जगह न दी। गाँव में एक टूटी चौपाल थी, जिसमें गोबर का कीचड़ भरा हुआ था, दुर्गंध का ठिकाना नहीं था, वहाँ बैठने के लिए भी स्थान नहीं था। पानी-बूँदी में जायें कहाँ ? चौपाल में खड़े रहे, जब वर्षा बन्द हुई, तो फिर उस गाँव को अभागे संन्यासी तरुणों ने सलाम किया। फतेहपुर के पहिले महादेव का मंदिर मिला था, जिसमें दोनों ठहरे। बुखार जाता रहा। पूड़ी ने बुखार को बढ़ाया, महादेवजी ने छुड़ा दिया। घूमने के अलावा इस वक्त गीता और शिव-महिम्न का पाठ होता रहता। साथ में कुछ वेदान्त की पुस्तकें थीं, कुछ उन्हें भी किसी-किसी समय देख लेते।

पता लगा, नर्मदा के तट पर योगी लोग रहते हैं। कानपुर से काल्पी की ओर मुड़े। उरई, झाँसी, ललितपुर सब पैदल गये। यहाँ 52 घंटे तक अन्न से भेंट नहीं हुई। श्रद्धा सारे भारत में एक-सी तो बँटी नहीं है। भूख ने दूर चले जाने को मजबूर किया। बेटिकट रेल पकड़ी और बीना में उतर पड़े। फिर पैदल। सागर में नर्मदा पार की। नरसिंहपुर होते मानेपुर (जबलपुर जिला) में पहुँचे। यहाँ हरिनारायणजी के परिचित एक राजपूत गृहस्थ

रहते थे। वह संन्यासियों के भक्त और वेदान्त के शौकीन थे। वेदान्त पढ़ते-पढ़ाते तथा कुछ दवा भी करते थे। 15-20 दिन यहीं दोनों जने ठहरे।

पहले भी सुन चुके थे और मानेपुर में भी ओंकारेश्वर के कमलभारती महायोगी का नाम सुना। कमलभारती से योग सीखने की लालसा ले खंडवा होते ओंकार पहुँचे। योगी वहाँ से और उत्तर जंगल में रहते थे। वहाँ पहुँचने पर मालूम हुआ, वह अनन्त समाधि ले चुके हैं। किसी ने कहा–"योगी-वोगी नहीं थे, कायाकल्प करते थे।" उनके चेले को भी कोई-कोई योगी कहते थे और उनका योग था–द्वार बंद कर दिन-भर सोते रहना।

फिर पैदल। पैसे पास नहीं थे, खाने के लिए भिक्षा-मधुकरी माँग लेते, और रसवती मालव-भूमि में उसकी कमी नहीं हुई। हाँ, अब योग से निराश हो चले। 'दूर का ढोल सुहावना' की बात ठीक जँचने लगी। हाँ, वैराग्य पर दृढ़ श्रद्धा थी। भर्तृहरि का 'वैराग्यशतक' बड़ा सुन्दर लगता था। इन्दौर होते उज्जैन गये। बीस दिन महाकालेश्वर की नगरी में बिता फिर पैदल ही उत्तर का रास्ता लिया। मथुरा, हाथरस, हरद्वार होते ऋषिकेश पहुँचे।

अब सन् 1908 था। योग की आशा जाती रही थी। सोचा, कुछ वेदान्त ही पढ़ डालें। कैलाश-आश्रम के किसी संन्यासी के पास 'वेदान्त मुक्तावलि' पढ़ने लगे। मगर व्याकरण कच्चा था, इसलिए समझने में कठिनाई होने लगी। कुछ यह भी मन में होने लगा–संस्कृत की खान बनारस छोड़, यहाँ टक्करें मारने की जरूरत ?

यहाँ तक आये तो चलो हिमालय की तीर्थयात्रा ही कर डालें। अभी हिमालय के तीर्थ इतने आबाद नहीं हुए थे। रास्ते कठिन थे। धर्मशालाओं-सदावर्तों की आज की भरमार का नाम तक न था। कभी-कभी, दो-दो दिन तक खाना नहीं मिलता और दोनों पथिक ठिठुरकर लेट जाते। केदारनाथ होकर जब तुंगनाथ पहुँचे, तो हरिनारायण से अलग हो जाना पड़ा। इतने दिनों के तजुर्बे ने बतला दिया कि यहाँ 'मन मिले का मेला' नहीं है। अब बिल्कुल एकाकी–अकेले चलना, अकेले भूखे रहना। बदरीनाथ से ऋषिकेश लौट आये, मगर वहाँ कोई आकर्षण न था।

पाँव फट गये थे, इसलिए पैदल का ख्याल छोड़ हरद्वार में रेल पकड़ी। लुकसर में उतार दिया और मुरादाबाद में भी; लेकिन उतरते-चढ़ते आखिर बनारस पहुँच गये। शायद फिर किसी ने योगी की आशा दिलाई। फिर गंगा किनारे पैदल ही चल पड़े–अबकी पूरब की ओर। बलिया तक गये, कहीं न योगी, न योगी की पूँछ दिखाई पड़ी। वर्षा आ गई थी, भरौली (उंजियारपुर) में चौमासा रहे। सोचा, अब छोड़ो योगियों के परपंच को, जिनको लोग योगी समझते हैं, वह हमारे लिये दिन के सोनेवाले या कायाकल्प करनेवाले से अधिक नहीं होते। अब अच्छा यही है कि चलकर संस्कृत पढ़ो; फिर यदि कोई वास्तविक योगी मिल गया तो देखा जायेगा।

बनारस में विद्याध्ययन–1909 से बनारस में डटकर संस्कृत पढ़ने लगे। अपारनाथ के मठ में ठहरे। पास ही संन्यासी पाठशाला में अपने समय के प्रसिद्ध व्याकरणी पंडित हरिनारायण तिवारी पढ़ाते थे। उनसे सिद्धान्त कौमुदी शुरू की। ढाई वर्ष लगाकर उसे खूब मन से पढ़ा। पढ़ाई आगे जारी ही रही। संस्कृत की जड़ मजबूत हो गई। पाठशाला के दूसरे अध्यापक शंकर भट्टाचार्य से न्याय पढ़ते थे। पंडित नित्यानंद पंजाबी मीमांसा और एक बलियावाले पंडित वेदान्त पढ़ाते थे। संन्यासी के लिए काशी में दुख क्या ? पाँच क्षेत्रों में घूम जाते और भोजन के लिए पर्याप्त मधूकरी मिल जाती। रहते कभी किसी मठ में कभी किसी मठ में। विरक्त संन्यासी थे, इसलिए परीक्षा देने का कभी ख्याल नहीं आया।

स्वामी अब (1912 में) तेईस साल के थे। अभी भी योग और दिव्य-शक्ति पर से उनका विश्वास उठा नहीं था। टक्कर मारकर असफल होने के बाद वह इतना ही समझ पाये थे कि योगी अब कलियुग में दुर्लभ हैं, भाग्य से ही कहीं मिल जायें। एक दिन नवाबपुरा (कम्पनी बाग के पास) में उन्होंने एक बूढ़े दंडी संन्यासी का पता पा, जाकर उनके दर्शन किये। वहाँ एक चमत्कार देखने में आया–दंडी खर्राटे भरते सो रहे हैं और उनकी अंगुलियाँ माला के मनके गिन रही हैं। स्वामी अद्वैतानंद सरस्वती–यही दंडी का नाम था–सीधे-सादे साधु थे, कुछ पढ़े-लिखे भी। तरुण संन्यासी ने जिसके लिए घर छोड़ा था, पूरा नहीं तो उसमें से कुछ तो मिला। स्वामी बार-बार जाने लगे। दंडीजी ने दंड ले लेने के लिए कहा। आखिर शंकराचार्य भी तो दंडी थे ! अभी

तक अपारनाथ के गिरि थे। अब उन्होंने स्वामी अद्वैतानंद सरस्वती का शिष्य सहजानंद सरस्वती बन दंड धारण किया। संन्यासियों में दंडी सिर्फ ब्राह्मण ही हो सकते हैं, क्षत्रिय, वैश्य आदि किसी दूसरी जाति का आदमी दंडी-संन्यासी नहीं बन सकता। भूमिहार-वंशज बनारस (रामनगर) के राजा को द्विजराज ब्राह्मण-राज कहा जाता है; इसलिए भूमिहार होने से उसमें आपत्ति नहीं हुई। शायद भूमिहारों की निवास-भूमि–पूर्वी युक्तप्रान्त तथा बिहार–का यदि कोई ब्राह्मण-दंडी होता, तो आपत्ति करता। अद्वैतानंद बड़े पंडित न थे कि सहजानंद को उनसे ज्यादा ज्ञान प्राप्त होने की आशा होती। वह भक्ति-भाववाले आदमी थे। भक्तिपूर्ण कथा-प्रसंगों को सुनते वक्त उनकी आँखों से आँसू की धारा बह चलती। उनकी एक मुख्य शिक्षा थी–"अवगुणग्राही साधु, गुणग्राही असाधु" जो कि लोक-प्रसिद्ध कहावत "गुणग्राही साधु, अवगुणग्राही असाधु" का उलटा है, और जिसका अर्थ है, साधु पराये के गुणों को ग्रहण करते हैं और असाधु पराये के अवगुणों को। अद्वैतानंद अपने सूत्र का अभिप्राय लेते थे–"साधु अपने अवगुणों को पकड़ते और असाधु अपने गुणों को।"

दंडी होने पर स्वामी सहजानंद के नियम कुछ कड़े हो गये; लेकिन दंडियों का काशी में (और बाहर भी) बहुत मान है, उनके अलग क्षेत्र हैं। इस समय वह अधिकतर गोदौलिया के पीछे एक दंडी-मठ तथा ललिताघाट में रहते थे। पढ़ना पहिले ही की तरह जारी रहा। व्याकरण में मनोरमा, शेखर और महाभाष्य पढ़ा। वात्स्यायन-भाष्य, न्यायवार्त्तिक, तात्पर्य-टीका, कुसुमांजलि, आत्मतत्त्व-विवेक जैसे प्राचीन न्याय के प्रौढ़ ग्रंथों का अध्ययन किया। नैयायिक जीवनाथ मिश्र से पक्षता, सामान्य निरुक्ति, सिद्धान्त-लक्षण तथा बाद के ग्रंथ पढ़े। वेदान्त तो अपने घर का जरूरी विषय था, उसके पढ़ानेवालों में बलिया के पंडित अच्युत त्रिपाठी थे। उनसे उन्होंने खंडनखंड खाद्य, संक्षिप्त शारीरिक, अद्वैतसिद्धि आदि ग्रंथ पढ़े। जब वह मीमांसा में न्याय-रत्नमाला आदि ग्रंथों से पढ़कर आगे बढ़ना चाहते थे, उस वक्त देखा कि उनके अध्यापकों को कठिनाई हो रही है। संतोष नहीं होता था। खुद सर पटकने की कोशिश की; मगर उससे काम बनते नहीं दीख पड़ा। अब (1915 में) वह किसी प्रौढ़ मीमांसक गुरु की खोज में थे। साहित्य में नैषध आदि पढ़े थे। मगर योग-वैराग्य के शैदाई सहजानंद को ये शृंगारपूर्ण ग्रंथ पसंद न आते थे।

पुराने युग की पुरानपंथी संस्कृत पुस्तकों तथा योग-वैराग्य के अतिरिक्त और भी दुनिया है, इसका स्वामी को पता न था। अंग्रेजी भाषा को भी वह भूल गई-सा समझ बैठे थे। अखबारों से कोई वास्ता न था। हाँ, जब भूमिहारों को पता लगा कि एक प्रतिभापूर्ण संस्कृतज्ञ दंडी संन्यासी उनकी जाति में भी है, तो वह 1914 की भूमिहार ब्राह्मण महासभा में पकड़ ले गये। उन्हें बोलने के लिए कहा गया। यह जर्मनी से युद्ध ठन जाने के बाद की बात है। स्वामी को व्याख्यान का नया तजर्बा था। बोलते हुए कह गये–"संस्कृत विद्या का प्रचार करना चाहिए। शर्म की बात है कि हम उससे उदासीन रहें और जर्मनी-जैसा गुणग्राहक देश हमारी विद्याओं का पठन-पाठन करे, रक्षा करे, हमें मीमांसा पर प्रभाकर के एक ग्रंथ की जरूरत थी, वह जर्मनी में मिली। उसे लिखकर बनारस से लौटाया गया। धिक्कार है, तुम लोगों पर ! शाबाश जर्मनी !!" राजभक्त जाति-पंचों के कान खड़े हो गये। वे कंपित हो उठे–जर्मनी हमारी सरकार का शत्रु है ! शत्रु की प्रशंसा !!

तो भी स्वामी ने अपने व्याख्यान में भूमिहारों को उनके ब्राह्मणत्व को जतलानेवाली कितनी ही बातें कही थीं, जिससे वह स्वामी के महत्त्व को समझने लगे। अब तो वे पकड़-पकड़कर जातीय सभाओं में ले जाये जाते। भूमिहार ब्राह्मण हैं, यह कह देने से तो अपने-पराये ब्राह्मण नहीं मानने लगेंगे। इसलिए अब स्वामी ने सामग्री एकत्रित करने के लिए बस्ती, गोरखपुर, प्रयाग, मेरठ आदि के सफर किये, ऐसे परिवारों को भी देखा, जिनके ब्याह-संबंध खाँटी ब्राह्मणों के साथ होते हैं। फिर 1915 में भूमिहार-ब्राह्मण-परिचय लिखा और उसे अगले साल प्रकाशित कराया। पीछे और खोज के बाद वह बहुत-सी ज्ञातव्य बातों से पूर्ण 'ब्रह्मर्षिवंश विस्तर' के नाम से एक विशाल ग्रंथ बन गया।

मीमांसा की प्यास बुझी न थी। पता लगा दरभंगा में चित्रधर मिश्र नामक एक बड़े मीमांसक हैं। 1915 में वहाँ पहुँच गये और उन्हीं के पास 7 मास रहकर मीमांसा के कितने ही ग्रंथ पढ़े। कुमारिल की दुर्लभ पुस्तक टुप्टीका को हाथ से लिखकर पढ़ा। पंडित बालकृष्ण मिश्र भी उस वक्त वहीं थे। उन्होंने बड़े स्नेह से स्वामी

को वाद (न्याय) तथा काव्यप्रकाश पढ़ाया। चलते वक्त अपने प्रतिभाशाली शिष्य–परन्तु धर्म में गुरु–को अपने गुरुद्वारा प्रकाशित एक पुस्तक भेंट की, जिसपर अपने हाथ से यह स्वरचित पद्य लिख दिया–

"प्रेमैव मास्तु यदि स्यात् सुजनेन नैव,
तेनापि चेत् गुणवता न समं कदाचित्।
तेनापि चेद् भवतु नैव कदापि भंगः,
भंगोपि चेद् भवतु वश्यमवश्यमायुः ।।"

{प्रेम ही मत हो, यदि हो तो सुजन के साथ नहीं, उससे भी हो तो गुणी के साथ कभी न हो। उससे भी हो तो कभी भी (प्रेम का) भंग न हो, भंग भी हो, तो आयु अपने वश में जरूर हो।}

1916 में स्वामी सहजानंद फिर बनारस लौट आये। 'परिचय' प्रकाशित हुआ। ब्राह्मणत्व के ठीकेदार सरयूपारियों और कान्यकुब्जों ने आक्षेप करने शुरू किये और योग के शैदाई स्वामी एक अनाशंकित क्षेत्र में उतरने के लिए मजबूर हुए।

भूमिहार ब्राह्मण-आंदोलन के सूत्रधार–"अब तो भूमिहारों को ब्राह्मण सिद्ध करके दिखला देना है" –यह थी भीष्म-प्रतिज्ञा स्वामी सहजानंद के हृदय में। प्रयाग के ब्राह्मण-पंडे भूमिहारों से शादी-ब्याह करते हैं, हजारीबाग के भूमिहार पुरोहिती करते हैं। खोजों से इस तरह की चीजें मिलने लगीं। स्वामी ने 'ब्राह्मण-समाज की स्थिति', 'झूठा भय और मिथ्याभिमान' नाम की पुस्तिकाएँ पाईं। स्वामी के जीवन का यह चक्कर जो 1915 में आरंभ हुआ, वह 1920 तक वैसे ही चलता रहा। उनके सामने भारतीय समाज में भूमिहारों का स्थान और उनके हीन करने में ब्राह्मणों की चाल बस यही बातें खड़ी रहती थीं।

एक महायुद्ध हो रहा हो, हो नहीं सकता कि स्वामी सहजानन्द ऐसा तीव्र बुद्धि का व्यक्ति अपनी चिर-समाधि को भंग न करे। 1915 से युद्ध की खबरों के लिए स्वामी को अखबार पढ़ने की चाट लगी। बाहर की दुनिया का ज्ञान जैसे-जैसे बढ़ता जा रहा था, वैसे राजनीति में भी दिलचस्पी बढ़ चली। समस्तीपुर (दरभंगा) में उन्होंने फीरोजशाह मेहता के मरने की खबर पढ़ी और यह भी समझा कि संसार में देशभक्ति भी कोई चीज है। लखनऊ-काँग्रेस में हिन्दू-मुस्लिम समझौता हुआ, उसे भी उन्होंने पढ़ा। वह 'प्रताप' (कानपुर) को नियमपूर्वक पढ़ते थे, जिससे भारत की राजनीतिक अवस्था की झलक थोड़ी-थोड़ी सामने आने लगी। 'प्रताप' में तिलक की मृत्यु के बारे में इस पद्य को पढ़कर बड़े प्रभावित हुए–"मुद्दतें काट दीं असीरी में। था जवानी का रंग पीरी में। अब कहाँ मुल्क का फिदाई हा ! मौत इस मौत को न आयी हा।" स्वामी ने इसे पढ़कर एक दिन-रात खाना नहीं खाया। अब उनकी नजर गाँधीजी की ओर लगी हुई थी। जलियाँवाला बाग कांड सुनकर उन्हें सख्त धक्का लगा। उसके बारे में हंटर की सरकारी रिपोर्ट को उन्होंने खूब अच्छी तरह पढ़ा। उसी वक्त 'ख्याली क्रान्ति और कैसे उसे दबाया गया' नामक एक अंग्रेजी पुस्तक उनके हाथ आयी। सुख-दुःख अनुभव करने का एक नया संसार उनके सामने खड़ा हो गया। संस्कृत-साहित्य में गोता लगाना छूट गया। ढूँढ़-ढूँढ़कर रोज-रोज की ज्ञातव्य राजनीतिक बातें पढ़ते, अब उनके भाव देश के परतन्त्रकारियों के विरुद्ध हो गये। मृत्यु-शय्या पर पड़े तिलक को देखने गाँधीजी बम्बई के सरदार-गृह में गये। तिलक ने कहा–"Non-co-operation" चुप रहकर फिर "Very high method" यह कहते हुए लोकमान्य ने आखिरी साँस ली। स्वामी ने कहीं पर ये बातें पढ़ीं। मालवीयजी का नाम वे सुन चुके थे, और यह भी जानते थे कि वे कायदा-कानून से आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं रखते, इसलिए मालवीयजी के ऊपर उनकी कभी श्रद्धा नहीं हुई।

1920 में गाँधीजी पटना आये। वहाँ मौलाना आजाद और कई दूसरे नेताओं के व्याख्यान सुने। आजाद के व्याख्यान का बहुत असर पड़ा। 5 दिसम्बर को वे मौलाना मजहरुलहक के मकान पर गाँधीजी से बात करने गये। संन्यास पर कुछ बात चली, फिर गाँधीजी की राजनीति पर स्वामी ने तर्क करना शुरू किया और कहा कि खिलाफत के सवाल के हल को जाने के बाद महम्मदअली शौकतअली मुल्क को धोखा तो नहीं देंगे ? गाँधीजी ने कहा–"हम तर्क नहीं जानते, धोखा नहीं देंगे।" आरा की सभा में गाँधीजी ने संन्यासी के इस वार्तालाप का जिक्र किया था। अब स्वामी ने निश्चय किया–देश की सेवा बड़ी चीज है, मैं मुल्क की सेवा करूँगा।

राजनीतिक क्षेत्र में—स्वामीजी नागपुर कांग्रेस में गये। लौटकर (1921 में) बक्सर चले गये और वहीं काम शुरू किया। कांग्रेस ने कौंसिलों के बायकाट का निश्चय किया था। हथुआ के महाराजा (जो कि खुद भूमिहार ब्राह्मण हैं) कौंसिल के लिए खड़े हुए। कांग्रेस के लोगों ने एक अनपढ़ धोबी को उनके खिलाफ खड़ा किया। स्वामीजी ने सभा में बोलते हुए कहा था—"राजा-महाराजा से हमारा धोबी कहीं अच्छा है।" धोबी जीत गया। वहाँ तिलक स्वराज्य फंड के लिए चंदा जमा करने में सहायता की। कुछ लोगों ने रुपयों में गड़बड़ी की, जिसके कारण स्वामीजी का मन बिदक उठा और वे कांग्रेस का काम करने के लिए गाजीपुर चले गये।

अहमदाबाद कांग्रेस (1921) से लौटने पर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। सजा पाकर गाजीपुर, बनारस, फैजाबाद, लखनऊ के जेलों की हवा खाते रहे। वहाँ पर भी आदर्शवादी स्वामी के हृदय में गाँधी अनुयायियों की कितनी ही बातें खटकती थीं—(1) गाँधी-सिद्धान्त को वे दिखाने के लिए मानते थे; (2) कृपलानी, संपूर्णानन्द-जैसों का हिन्दू-मुस्लिम-एकता में विश्वास नहीं था, तो भी वे उसका अभिनय करते थे; (3) फजूल बात के लिए जेलवालों से झगड़ते रहते; (4) जब राजनीतिक बन्दियों के डिवीजन (विभाग) का सवाल आया, तो लोगों का रुख देखकर पहले तो कह दिया "हम हलवा खाने जेल में नहीं आये, हम चक्की चलाने आये हैं"; लेकिन जब डिवीजन करके फैजाबाद भेज दिये गये, तो बाँदा के एक तिलक-भक्त ने रोज आध-सेर घी पाने के लिए भूख-हड़ताल कर दी। यह गलत बात है—इसे बहुत-से लोग मानते थे, तब भी दूसरों ने साथ दिया। खैर, हड़ताल तो टूटनी ही थी, चार दिन बाद सबने फिर खाना शुरू किया।

जनवरी (1923) में स्वामी जेल से छूटकर गाजीपुर लौट आये और कांग्रेस का काम करते रहे। अब आन्दोलन शिथिल हो चला था। शिथिलता का प्रभाव स्वामी पर भी पड़ रहा था। 1924 में वे सेमरी (बिहार) चले गये और वहाँ 'कर्मकलाप' नामक पुस्तक लिखी।

अब बिहार में कांग्रेस ने कितने ही डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को दखल कर लिया था। सरकार-परस्तों के सिरमौर सर गणेशदत्त सिंह (भूमिहार) मिनिस्टर थे। स्वामीजी का प्रभाव वे जानते थे, इसलिए उनकी बहुत लल्लोचप्पो करते थे। लोग बराबर उनका कान भरा करते थे कि कायस्थ कांग्रेस के नाम पर भूमिहारों के प्रभाव को खतम कर देना चाहते हैं। बिहार के बड़े जमींदारों में बहुत अधिक संख्या भूमिहारों की है, यह स्वामीजी जानते थे। साथ ही साथ वे यह भी जानते थे कि कांग्रेस कर्मियों में उनकी संख्या कम नहीं है। इसलिए भूमिहारों का अस्तित्व खतरे में, यह बात तो उनके मन में नहीं आती थी; लेकिन तब भी गढ़-गढ़कर कितने ही उदाहरण उनके सामने पेश क़िये जाते थे। सर गणेश ने एक बार बड़े तपाक के साथ स्वामीजी के सामने कहा था—"पहले देश, फिर बिरादरी"; लेकिन जब गया डिस्ट्रिक्ट बोर्ड को उन्होंने कांग्रेसियों के हाथ से निकालने के लिए तोड़ दिया, तो स्वामीजी के मन पर इसका बहुत बुरा असर हुआ। सर गणेश ने बहाना बनाया कि गवर्नर ने जबरदस्ती ऐसा कराया।

1926 आया। कांग्रेस ने कौंसिलों में जाना तै किया और भिन्न-भिन्न चुनाव-क्षेत्रों के लिए कांग्रेसी उम्मीदवार खड़े किये जाने लगे। उस वक्त कुछ योग्य कांग्रेसकर्मियों को ठुकराकर दूसरों को वे स्थान दिये गये। स्वामीजी के आस-पास अब भी जात-पाँत की मनोवृत्तिवाले लोग ज्यादा रहते थे। उन्होंने कायस्थ-पक्षपात, भूमिहार-विद्वेष आदि कहकर भड़काना शुरू किया। स्वामीजी ने अन्याय के खिलाफ गाँधीजी को एक लम्बा-चौड़ा पत्र लिखा; लेकिन कोई उत्तर नहीं आया। सर गणेश और बाबू रनधारी सिंह जैसे गण्यमान्य नेता स्वामीजी का चरणामृत ले रहे थे। अन्त में स्वामीजी को खींचने में वे सफल हुए। एक चुनाव-क्षेत्र में स्वामीजी और इन पंक्तियों के लेखक दो विरोधी उम्मीदवारों के समर्थक थे। यद्यपि लेखक मानता था और जिले के अधिकांश कांग्रेसकर्मी भी समझते थे कि जिस उम्मीदवार का स्वामीजी समर्थन कर रहे हैं, उसने कांग्रेस के लिये जयादा काम किया है, वह ज्यादा जनप्रिय है; किंतु जब कांग्रेस ने दूसरे उम्मीदवार को खड़ा कर दिया, तो कांग्रेसियों के लिए उसका समर्थन करने के सिवाय और कोई चारा नहीं था।

धीरे-धीरे स्वामीजी को बिलय्या भक्तों का पता लग गया। भूमिहार महासभा के सभापतित्व के लिए जब मेरठ के कांग्रेस-नेता चौधरी रघुवीरनारायण का नाम आया, तो उन्होंने किसी राजा-महाराजा को उस जगह

बैठाना चाहा। खैर, वे इसमें सफल नहीं हुए और चौधरी साहब ही सभापति बने। गया डिस्ट्रिक्ट वोर्ड के तोड़ने के बारे में स्वामीजी ने सर गणेश को फटकारते हुए कहा–"अब तुम्हारे यहाँ हम फिर नहीं आयेंगे।"

किसानों के नेता–भूमिहार सामन्तों और जमींदारों की मनोवृत्ति को भीतर से देखकर स्वामीजी की आँखें खुलने लगीं। वह समझने लगे कि मुट्ठी-भर जमींदारों, राजा-महाराजाओं के सिवाय सवकी सब भूमिहार जनता किसान है और इन दोनों के हित एक-दूसरे के खिलाफ हैं। भूमिहार किसानों और गरीबों के वही हित हैं, जो कि भारत के सभी किसानों और गरीबों के। इसलिए सबका उद्धार भारत के सारे किसान-वर्ग के उद्धार में ही है। अब वह पटना जिले में ज्यादा रहते थे। वहीं उन्होंने पहले-पहल भूमिहार किसानों से भूमिहार जमींदारों के अत्याचार सुने। इसके लिए 1927 के अन्त में उन्होंने पश्चिम पटना किसान-सभा बनाई। अभी भी उनका विश्वास था कि परस्पर सहयोग से किसान और जमींदार का भला हो सकता है; लेकिन साथ ही वह समझते थे कि किसानों के मजबूत हुए बिना जमींदार सहयोग नहीं करेंगे। चार मार्च 1928 को स्वामी ने पश्चिम पटना किसान सभा का बाकायदा संगठन किया। एक पैसा मेम्बरी फीस रक्खी गई। घूम-घूमकर गाँवों में किसानों के हित पर स्वामीजी व्याख्यान देने लगे–भरतपुरा के भूमिहार जमींदार की जमींदारी के गाँवों में सभाएँ खास तौर से ज्यादा हुईं।

अगले साल तथा 1929 का भी बहुत-सा समय बीत गया, स्वामीजी उसी तरह अपनी धुन में लगे हुए थे। उसी साल बिहार में काश्तकारी कानून में सुधार करने की बात जोर-शोर से चलने लगी। सरकार किसानों के रुख को समझ रही थी और चाहती थी कि जिन अत्याचारों के बोझ से–नाजायज नजरानों और करों के बोझ से–किसान जनता पिसी जा रही है, उन्हें कुछ कम करना चाहिये, नहीं तो यह मवाद भयंकर हो उठेगा। जमींदारों को भी अभी किसी कांग्रेसी मिनिस्टरी का तजर्बा न था। वे समझते थे कि कांग्रेसी नेता जिन लम्बी-लम्बी बातों को कहते हैं, मिनिस्टर बनकर वैसा कर बैठेंगे; इसलिए चाहते थे कि सौदा सस्ते में इसी समय पटा लिया जाय। उधर किसानों के भी कुछ नामधारी प्रतिनिधि थे, जो कि कुछ मामूली सुधार कराकर अगले चुनाव के लिए अपने वास्ते रास्ता साफ करना चाहते थे। लेकिन, सरकार ने कह दिया था कि जमींदारों और किसानों के समझौते से जो बिल पेश होगा, सरकार उसी का समर्थन करेगी। उस समय एक जमींदार मुखिया ने जमींदारों की ओर से एक बिल पेश किया था और कांग्रेस के भगोड़े एक दूसरे सज्जन ने किसानों की ओर से एक दूसरा बिल रखा था। मिनिस्ट्री के रस से अनभिज्ञ कांग्रेसी नेता घबड़ा रहे थे कि कहीं दोनों समझौता करके कोई कानून न पास कर दें और श्रेय उनको मिल जाय। कांग्रेस नेता बाबू रामदयालु सिंह (वर्तमान स्पीकर) ने स्वामीजी के पास आकर कहा कि किसान-सभा का काम जोर से होना चाहिए और सारे प्रान्त के किसानों का संगठन करना चाहिए। इससे आठ साल पहले 1921 में सोनपुर-मेला के समय इन पंक्तियों के लेखक ने भी कुछ कांग्रेसकर्मियों को मिलाकर एक बिहार प्रान्तीय किसान-सभा कायम की थी; मगर यह बात समय से बहुत पहले की गई; इसलिए वह सिर्फ कागजी रह गई। अब स्वामीजी के किसानों में ठोस प्रचार तथा कांग्रेस-विरोधियों की चाल से भयभीत कांग्रेस-नेताओं के सहयोग से उसी सोनपुर मेले में 17 नवम्बर (1929) को प्रान्तीय किसान-कान्फ्रेन्स हुई। कान्फ्रेन्स के सभापति थे स्वामी सहजानन्द सरस्वती। उन्होंने काश्तकारी बिल के षड्यन्त्र की पोल खोली और उसका खूब विरोध किया। प्रान्त के कांग्रेस के बड़े-बड़े नेता वहाँ मौजूद थे। प्रस्ताव आया, सारे प्रान्त की एक किसान-सभा बनाई जाये। बेनीपुरी ने कांग्रेस के कमजोर हो जाने की बात कहकर उसका विरोध किया, स्वामीजी ने समर्थन किया। प्रस्ताव पास हुआ। बिहार प्रान्तीय किसान-सभा का पहला चुनाव हुआ :–

सभापति–स्वामी सहजानन्द सरस्वती

मन्त्री–बाबू श्रीकृष्ण सिंह (पीछे बिहार के महामंत्री)

मेम्बरों में बाबू राजेन्द्र प्रसाद, बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद, बाबू रामदयालु सिंह (पीछे असेम्बली के स्पीकर), बाबू अनुग्रहनारायण सिंह (पीछे बिहार के अर्थ-सचिव) आदि सभी कांग्रेस के प्रमुख नेता थे। ब्रजकिशोर बाबू ने यह कहकर उसमें रहना पसन्द नहीं किया कि यह बहुत खतरनाक काम हो रहा है। पीछे ब्रजकिशोर बाबू

की बात सच निकली, या यों कहिये दूसरे नेताओं ने अपनी क्षमता को जाने बिना ही इतना भारी जोखिम अपने सर पर लेना चाहा।

लाहौर कांग्रेस (1930) के पहले बिहार में वल्लभभाई पटेल आये। जगह-जगह बड़ी-बड़ी सभाएँ हुईं। स्वामीजी अपने व्याख्यानों से किसानों में नया जोश भर रहे थे। वल्लभभाई भी उसी सभा में किसानों को उत्साहित कर रहे थे। सीतामढ़ी में वल्लभभाई ने कहा—जमींदारों की क्या जरूरत ? पकड़कर दबा दूँ तो चूर-चूर हो जायँ। अभी बात बनाने का समय था, काम करने का नहीं, वह तो सात वर्ष बाद आनेवाला था, फिर "वचने किं दरिद्रता"। मुंगेर में प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन हुआ। वहीं प्रान्तीय किसान-कान्फ्रेन्स भी हुई। कान्फ्रेन्स ने प्रस्ताव पास किया कि राजनीतिक मामलों में किसान-सभा कांग्रेस के विरुद्ध नहीं जायेगी; किसान-सभा सरकारी काश्तकारी बिल का विरोध करती है और गवर्नमेंट को चाहिए कि उस बिल को उठा ले। पीछे सरकारी मेम्बर ने कौंसिल में यह बात कहते हुए बिल को वापिस ले लिया कि किसान-सभा इसका विरोध कर रही है। किसानों के कौंसिली स्वयंभू नेता उस वक्त मुँह ताकते रह गये।

लाहौर कांग्रेस के बाद स्वतंत्रता दिवस (26 जनवरी 1930) आया। नमक-सत्याग्रह छिड़ा। स्वामीजी पकड़कर छै महीने के लिए हजारीबाग जेल में बन्द कर दिये गये। गाँधी-भक्त नेताओं की कमजोरियाँ पहली जेल-यात्रा की तरह अब अभी दिखलाई पड़ने लगीं। जरा-जरा-सी सुविधा के लिए लोग क्या-क्या नहीं करते थे। स्वामीजी को बहुत शोक हुआ। अभी भी राजनीति में स्वामीजी गाँधीवादी थे। उनको घोर निराशा हुई—ऐसे चरित्रहीन लोग कैसे स्वराज्य लेंगे ? राजनीति से वे अब उदास हो चले।

सन् 1931 आया। स्वामीजी अब 42 साल के थे। अब उनका ज्ञान और तजर्बा बहुत विस्तृत था। घर छोड़ते समय उनके सामने जो आदर्श थे, उनका स्थान एक दूसरे उच्चतर आदर्श ने ले लिया था। वैयक्तिक मोक्ष की जगह वे अब सारी जनता को मुक्त देखना चाहते थे। जनता में भी गरीबी और अत्याचार से अत्यन्त पीड़ित किसान ही उनके हृदय में सबसे अधिक स्थान रखते थे। वे किसानों से अलग शहरों के मुहल्लों में बैठकर किसानों का हित-चिन्तन नहीं करते थे। वे गाँवों में घूमते, जहाँ कोई किसान आकर कहता—"स्वामीजी, हमारे चलते खेत में से छीनकर हमारे हल-बैलों को जमींदार के आदमी ने जिरात (सीर) जोतने में लगा दिया।" कोई कहता—"हम नाजायज नजराना और रसूमों के साथ मालगुजारी हर साल बेबाक करते रहते हैं; लेकिन जमींदार रसीद नहीं देता, हमारे ऊपर सूद और तावान के साथ चार-चार साल की बाकी मालगुजारी की डिग्री करवाकर हमको तबाह कर रहा है।" कहीं वे सुनते कि गाय-भैंस न रहने से मुफ्त दूध न दे सकने पर जमींदार ने अपने आदमी से किसान की स्त्री का दूध निकलवाया। कहीं वे देखते, किसानों की बहू-बेटियों की इज्जत जमींदारों के हाथ लूटते देखकर भी कानून कुछ भी मदद करने में असमर्थ है। वे संसार को सुखी देखना चाहते थे और देख रहे थे जनता की सबसे अधिक संख्या, सबसे मेहनती समुदाय किसानों को नरक की जिंदगी भोगते। यह भावनाएँ थीं, जिन्होंने स्वामीजी को किसान-सभा तक पहुँचाया। लेकिन, वेदान्ती आदर्शवाद, संन्यासियों का एकान्ती जीवन और उच्च सदाचार के हाथ में तराजू—ये बातें अब भी उनके दिमाग पर जबर्दस्त प्रभाव रखती थीं। इसीलिए जब उनकी अपनी पुरानी भावुक वृत्तियों पर किसी की आरे से चोट पहुँचती, तो उनका कोमल भावुक हृदय तिलमिला उठता। इस तिलमिलाहट में उनका हृदय जनता की व्यथावाले भाग को भूल जाता और सिर्फ अपनी तत्कालीन चोट को लेकर पुनः 18 साल की उम्र में गाजीपुर से भागने का अभिनय करता।

1931 में बिहार में किसानों की दुर्दशा की काँग्रेस की ओर से जाँच हुई। नेताओं ने लम्बे-लम्बे व्याख्यान दिये। लेकिन उसके परिणामस्वरूप जो परिवर्तन करने पड़ते, उन पर बिहारी काँग्रेस-नेता जो कि खुद जमींदार थे, अभी दूर तक सोच नहीं सके थे। 1932 के आन्दोलन में स्वामीजी शामिल नहीं हुए। दोस्तों ने बहुत कहा, मगर उनका भावुक हृदय हजारीबाग के जेल के दृश्य को भूल नहीं सकता था। लेकिन इसी वक्त दूसरी परिस्थितियाँ उपस्थित हुईं और अपने हृदय के गहन कोने में छिपे स्वामी को फिर बाहर आने के लिए मजबूर होना पड़ा। कुछ अवसरवादी लोगों ने एक और किसान-सभा बनाई। किसानों के कुछ स्वयंभू नेता कौंसिल में इस नकली

किसान-सभा की मदद से फिर कोई कानून पास करवा लेना चाहते थे। इस समय कौंसिल के कांग्रेसी मेम्बर जेलों में बन्द थे, यह उनके लिए सुनहला अवसर था। इन स्वयंभू किसान-नेताओं ने—जो कि सरकार और जमींदारों के हाथ में खेल रहे थे—जमींदारों के साथ चुपके-चुपके एक समझौता भी कर डाला था और चाहते थे कि उसे उस नकली किसान-सभा से मंजूर करा लिया जाय। 1933 की जनवरी के मध्य में उक्त किसान-सभा के बुलाने का दिन भी निश्चित कर लिया गया। स्वामीजी ने बहुत आश्चर्य से पत्रों में इस समाचार को पढ़ा। कुछ क्षोभ भी हुआ, मगर उन्होंने अपने को दबाया। एक किसान कार्यकर्ता स्वामीजी के पास दौड़े-दौड़े पहुँचे और खतरे की खबर देकर आगे आने के लिए कहा—"स्वामीजी आइये, नहीं तो सारा काम चौपट हो जायगा।" स्वामीजी ने दृढ़तापूर्वक 'नहीं' कहा। कार्यकर्ता ने बहुत तरह से समझाया, रात को देर तक गिड़गिड़ाते रहे; मगर स्वामीजी की "नहीं" को नहीं बदल सके। किसान कार्यकर्ता को एक सख्त फोड़ा निकला हुआ था और उस पर से बुखार भी था, जिसके दर्द के मारे उनके मुँह से आह निकलती रहती थी। बीच-बीच में स्वामीजी के पास लेटे उस निस्तब्ध रात्रि में उनके मुँह से शब्द निकल आते—"स्वामीजी नहीं चलेंगे ? ··· चलते तो ··· क्या करें !" कार्यकर्ता के इस आह भरे शब्दों ने स्वामीजी को सोचने के लिए मजबूर किया। धीरे-धीरे उन्हें मालूम होने लगा; कि यह आह एक किसान कार्यकर्ता की नहीं है, यह है करोड़-करोड़ पीड़ित किसानों के दिल की आह।

सबेरे बिना पूछे ही स्वामीजी ने कार्यकर्ता से कह दिया—"मैं चलूँगा।"

गुलाबबाग (पटना) में उक्त सभा की तैयारी थी। किसानों की सभा में राजा सुरुजपुरा और मिस्टर सच्चिदानन्द सिंह जैसों को भी बैठे देखकर स्वामीजी का माथा ठनका। सभा के संयोजकों में से एक ने बाबू गुरुसहाय लाल से पूछा—"यह क्या ?" गुरुसहाय लाल ने जमींदारों के साथ हुए समझौते को स्वामीजी के सामने रखकर कहा—"इसे पास हो जाना चाहिए।" स्वामीजी ने समझाना शुरू किया कि पास कराना है तो उसे चोरी-चोरी पास नहीं करना चाहिए। प्रान्तीय किसान-सभा मौजूद है, उससे पास कराओ, दूसरी तारीख मुकर्रर करो। फिर समझौते की बात छेड़ी गई। स्वामीजी ने कहा—"समझौता किसने किया है ?" राजा साहब बोल उठे—"यह तो कुछ दो और कुछ लो का सवाल है।" स्वामीजी ने सीधे जवाब दिया—"हाथी के लिए एक चावल देना कुछ भी नहीं है; किन्तु चींटी के लिए वह जीने-मरने का सवाल है।" गुरुसहाय लाल को स्वामी के सामने दबते देखकर मिलीभगतवाले लोगों को असन्तोष हुआ। नामधारी किसान-सभा के एक नामधारी मन्त्री ने मिस्टर सिंह को धन्यवाद देने के लिए प्रस्ताव रखना चाहा। उस समय पता लगा कि सभा बुलाने में मिस्टर सिंह की उदारता सहायक हुई है। खैर, चाहे कैसे भी लुक-छिपकर किसानों की सभा बुलवाई जाय, लोग स्वामी के प्रभाव, उनके तर्क और भाषण-शक्ति को जानते थे, और यह भी जानते थे कि स्वामी के विरोध करने पर कोई प्रस्ताव पास नहीं हो सकता। सिंह साहब को धन्यवाद नहीं मिला, उसका कितनों को खेद रहा। सभा में प्रस्ताव पास हुआ कि समझौते के मसौदे को छापकर बाँटा जाय और 30 मार्च को किसान-सभा की बैठक की जाय। उसी समय कौंसिल का भी अधिवेशन होनेवाला था। किसान-सभा 30 मार्च को तीसरे पहर से 10 बजे रात तक समझौते के हर पहलू पर विचार करती रही, और सर्वसम्मति से प्रस्ताव पास हुआ—शिवशंकर झा किसानों के प्रतिनिधि नहीं हैं, गुरुसहाय लाल कौंसिल में जाकर बिल का विरोध करें, कोई इस तरह का कानून पास होना चाहिए। पीछे गुरुसहाय लाल को हिम्मत न हुई।

अब उस काश्तकारी बिल को लेकर सारे बिहार में वह स्मरणीय आँधी चली, जिसने सदियों से सोये किसानों की आँखों को खोल दिया। जमींदारों और सरकार के स्नेहभाजन गुरुसहाय लाल और शिवशंकर झा सभा करके किसानों को समझाने की कोशिश करते; मगर स्वामी की सभाओं और उनके प्रचार के सामने कौन टिकता ? स्वामीजी बवंडर की तरह बिहार में घूमते हुए किसानों के दिलों में आग लगा रहे थे और बतला रहे थे कि कैसे पीठ पीछे गला काटने की कोशिश की जा रही है। जमींदार इस कानून के पास कराने के लिए बहुत उत्सुक थे; क्योंकि उसमें जमींदारी में 100 एकड़ पर 10 एकड़ अपनी खास जिरात (सीर) में लाने का अधिकार दिया गया था। आन्दोलन का यह फल हुआ कि उस 10 सैकड़ा जिरातवाली बात को निकाल

देना पड़ा। कानून पास कर दिया गया और कुछ छोटे-मोटे अधिकार किसानों को मिले। सबसे बड़ा फायदा यह हुआ कि किसानों को भ्रम में नहीं डाला जा सका, स्वामी और किसान-सभा की यह पहिली सफलता थी।

1934 में बिहार में भूकम्प आया। कांग्रेस-नेता जेलों से छूटकर बाहर चले आये। सभी पीड़ित-सहायता के काम में लग गये। गाँधीजी भी पटना आये थे। स्वामीजी ने फिर उनसे राजनीति-सम्बन्धी कुछ सवाल पूछे, जिसका जवाब स्वामीजी को इतना असन्तोषजनक मालूम हुआ कि उन्होंने वहीं गाँधीजी के सामने गाँधीवाद को आखिरी सलाम किया।

1927 में किसान-सभा गुमनाम तौर पर पैदा हुई। 1929 में प्रान्त के बड़े-बड़े कांग्रेस-नेताओं का उसे सहयोग और आशीर्वाद मिला। अब वह सात साल की थी। इस बीच में उसका जो रूप स्पष्ट होता जा रहा था, उससे जमींदार कांग्रेसी नेता शंकित होने लगे। तत्कालीन डिक्टेटर सत्यनारायण सिंह ने नोटिस निकाली कि किसान-आन्दोलन में किसी कांग्रेसी को भाग नहीं लेना चाहिए। यह भी पता लगा कि जिस समझौते के विरोध में बिहारी किसानों की इतनी जबर्दस्त राय है, कितने ही कांग्रेसी नेता उसके पक्ष में हैं। उनकी ओर से स्वामीजी के दिल पर यह दूसरा सख्त धक्का लगा। किसान भूकंप के सर्वनाशकारी प्रभाव से एक ओर त्राहि-त्राहि कर रहे हैं और एक ओर बिहार के एक जमींदार साहब अपने आदमियों के नाम से सर्कुलर निकाल रहे हैं कि जहाँ-जहाँ रिलीफ (सहायता) बँटे, वहाँ-वहाँ पहुँचे रहो और उसी वक्त मालगुजारी वसूल कर लो। बिहार के कमिश्नरों की बैठक में तय किया गया कि जब तक कोई भीषण अवस्था नहीं दीख पड़े तब तक किसानों को छूट-छाट देने की जरूरत नहीं। दरभंगा की जमींदारी की कितनी ही शिकायतें भेजी गईं, जिस पर गाँधीजी कहते थे–गिरीन्द्रमोहन मिश्र (दरभंगा राज्य के सहायक मैनेजर) अच्छा आदमी है, उससे कहो, वह सभी शिकायतें दूर कर देगा। गिरीन्द्रमोहन कांग्रेसी माने जाते थे। गाँधी ने यह भी कहा कि हरएक किसान अपनी शिकायतों को अलग-अलग लिख कर दे। स्वामीजी को बहुत निराशा हुई, किसानों की सभी तकलीफों के बारे में कांग्रेसी नेताओं को टालमटोल करते देखा। यहीं से उनके प्रति स्वामीजी का भाव बदल गया।

1935 में किसान-सभा-कौंसिल में जमींदारी प्रथा के उठा देने का प्रस्ताव रक्खा गया। स्वामीजी ने विरोध किया–अभी भी उनके दिल में जमींदारों के लिए कुछ कोमल स्थान था। स्वामीजी के विरोध करने पर भी कौंसिल ने प्रस्ताव पास कर दिया; लेकिन जब स्वामीजी हटने लगे तो लोग घबड़ा गये और प्रस्ताव को लौटा लिया गया।

इसके बाद ही अमाँवा राज्य की जमींदारी के पचास गाँवों में किसानों पर होते अत्याचारों की स्वामीजी ने जाँच की, उन्हें उन्होंने अमाँवा के राजा के सामने रखा। हटा देने का वचन मिला। मैनेजर से 3.30 घंटा बात करने के बाद भी जवाब गोलमटोल रहा। स्वामी अनुभव को अपना गुरु मानते हैं। इन पचास गाँवों के किसानों के ऊपर होते अत्याचारों को आँख से देखकर और सुलह-समझौते के साथ उसके हटाने के लिए विफल प्रयत्न होने के बाद उनकी समझ में आ गया कि जमींदारी प्रथा को हटाना होगा। नवम्बर में हाजीपुर की प्रान्तीय कान्फ्रेन्स में उन्होंने खुद जमींदारी प्रथा हटा देने के लिए प्रस्ताव पास कराया।

1936 में लखनऊ कांग्रेस के वक्त पहला अखिल भारतीय किसान-सम्मेलन हुआ, और स्वामीजी उसके पहले सभापति थे। यहीं किसानों का चार्टर तैयार हुआ, जिसके कारण अगले साल फ़ैजपुर-कांग्रेस को कितनी ही बातें स्वीकार करनी पड़ीं। किसानों की जाँच का सवाल भी स्वामीजी कांग्रेस के सामने लाये। कितने ही लोग विरोध कर रहे थे। जवाहरलाल ने कहा–"जरूर लाना चाहिए, हम इसके लिए स्वामीजी को धन्यवाद देते हैं।" लखनऊ में किसान-जाँच-कमिटी का प्रस्ताव पास हुआ। उसके अनुसार कितने ही प्रान्तों में जाँच हुई। रिपोर्ट भी तैयार हुई। मगर बिहार के काँग्रेस-नेता किसान-आन्दोलन को कुछ नजदीक से देख चुके थे, इसलिए वे कान में तेल डाल लेना चाहते थे। फैजपुर में फिर पूछताछ हुई, अब क्या करते ? जाँच कमेटी के लिए जब स्वामीजी का भी नाम पेश किया गया, तो प्रान्तीय कार्यकारिणी के दूसरे मेम्बरों ने यह कहकर विरोध किया कि रिपोर्ट में हम एक मत चाहते हैं।

कौंसिल के नये चुनाव के लिए काँग्रेस उम्मीदवार नामजद करने लगी। प्रान्तीय नेता इस बात का पूरा

ध्यान रखते थे कि कोई किसान-पक्षी नेता न आ जाय। किशोरीप्रसन्न सिंह (हमारे कामरेड) जैसे जवर्दस्त जनप्रिय तथा कांग्रेसकर्मी के लिए कोई स्थान नहीं और उनकी जगह एक ऐसे आदमी को स्थान दिया गया, जिसने कांग्रेस में कभी कुछ नहीं किया और स्वयं जमींदार होते हुए एक बड़ी जमींदारी का मैनेजर रहा। इस अन्धेरखाते को देखकर स्वामीजी ने प्रान्तीय कांग्रेस कार्यकारिणी से इस्तीफा दे दिया। लेकिन, कॉंग्रेस चुनाव में सरकारपरस्तों से लोहा लेने जा रही थी, यह समझकर उन्होंने अपना इस्तीफा लौटा लिया। स्वामीजी ने चुनाव के लिए खूब काम किया। कौंसिल के पुराने प्रेसीडेन्ट और एक बड़े जमींदार बाबू रजनधारी सिंह (भूमिहार) एक साधारण कांग्रेसकर्मी के सामने चारों खाने चित्त हो गये। ऐसे ही और भी कितने ही उदाहरण मौजूद हुए।

फैजपुर कांग्रेस के समय (1936) भारतीय किसान सभा की दूसरी कान्फ्रेंस हुई। अबकी स्वामीजी जेनरल सेक्रेटरी हुए। तब से स्वामीजी (जब कभी भारतीय किसान-सभा के सभापति नहीं हुए) जेनरल सेक्रेटरी बराबर बने रहे। भारत में किसान-आन्दोलन अब स्वामीजी के जीवन का एक अभिन्न अंग बन गया। तीसरी कान्फ्रेन्स (कुमिल्ला) के स्वामीजी सभापति हुए।

किसानों की जिन-जिन लड़ाइयों में स्वामीजी ने भाग लेकर नेतृत्व किया, उनमें से एक-एक के लिए एक-एक पोथी लिखी जा सकती है, और वह इस लेख का विषय नहीं हो सकती। बढ़ैयाटाल (मुंगेर) किसान-संघर्ष में स्वामीजी साथी कार्यानन्द की सहायता में पहुँचे रहते। दरमपुर (बिहार शरीफ) के किसानों के संकट में स्वामीजी मौजूद थे। सोलहंडा को लीजिये या रेवडा को, मझेयावाँ को लीजिये या अमवारी को; सभी जगह स्वामीजी पहुँचकर किसानों का उत्साह बढ़ाते थे। यह लड़ाइयाँ अब कांग्रेस-मिनिस्टरी के जमाने में हो रही थीं। कांग्रेस-मिनिस्टरी और कांग्रेसी बड़े नेता अब अपने असली रूप में सामने आ रहे थे। उन्होंने स्वामीजी को गिरफ्तार कराके अपने को बदनाम करना पसन्द नहीं किया, लेकिन और तरह से स्वामीजी को नीचा दिखाने में कोई कसर उठा नहीं रक्खी। उन्हें अनुशासन के नाम पर कांग्रेस से सालों के लिए बाहर कर दिया गया। कांग्रेसी अखबार स्वामीजी के खिलाफ़ कुछ भी अनाप-शनाप बोलने के लिए स्वतन्त्र थे; लेकिन स्वामी ने कभी इसकी परवाह न की। उन्होंने किसानों के लिए (मजदूरों के लिए) अपना जीवन अर्पण किया है। उनकी रण-गर्जना को सुनकर किसानों के दिल बल्लियों उछलने लगते और जालिम जमींदारों के प्राण सूखने लगते हैं। वे कर्ममय हैं। साक्षात् देखने पर चुप रहते समय भी उनकी आँखें बोलती मालूम होती हैं, गालों पर उछलती हँसी अत्याचारियों का परिहास करती है, रोयें-रोयें सजग हो कुछ आवाज-सी निकालते दिखाई पड़ते हैं।

महायुद्ध आया। स्वामीजी ने साम्राज्यवादी युद्ध के बारे में हर तरह के समझौते का विरोध किया। रामगढ़ में (अप्रैल 1940) दिये हुए व्याख्यान के लिए उन पर मुकदमा चलाया गया और तीन साल की सजा हुई। जिस वक्त हिटलर ने सोवियत रूस पर हमला किया, उसी वक्त हरएक चीज को किसान और शोषित वर्ग के हित की दृष्टि से देखनेवाले स्वामीजी को यह समझने में देर नहीं हुई कि अब युद्ध का स्वरूप बदल गया; आज फासिस्तवाद के विजयी होने पर किसानों के लिए कोई आशा नहीं, मजदूरों के लिए कोई आशा नहीं, भारत जैसे परतन्त्र देश की स्वतन्त्रता चाहनेवाली जनता को कोई आशा नहीं। स्वामीजी ने अपने सहकर्मियों को बुलाकर और दूसरे जरिये से इसे समझाया।

(मार्च 1942) में समय से कुछ पहले स्वामीजी जेल से छोड़ दिये गये। कांग्रेस के कितने ही विरोधी भाइयों ने कहना शुरू किया कि स्वामीजी सरकार को वचन देकर छूटे हैं। स्वामीजी किसको वचन नहीं देते—उन्होंने अपना वचन सिर्फ किसानो और भारत की शोषित जनता को दिया है, और उसे वे आखिर तक निबाहेंगे। 9 अगस्त के (1942) स्वतन्त्रता युद्ध के नाम पर जो आत्महत्या-काण्ड शुरू हुआ, स्वामीजी ने इसका सख्त विरोध किया; यद्यपि इसके लिए भी विरोधियों ने तिल का ताड़ बनाने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी। किसान जानते हैं—उनका स्वामी निर्भय है, जेल क्या, मृत्यु भी उसे डरा नहीं सकती। किसान जानते हैं, उनका स्वामी निर्लोभ है, उसने चरणामृत पीनेवाले सरों और महाराजाओं को धुतकार दिया। किसान जानते हैं, उनका स्वामी उनकी आवाज को दुनिया के सामने रखने में गजब की शक्ति रखता है। फिर वे स्वामी पर क्यों न विश्वास करें, क्यों न न्योछावर हों ? हाँ, स्वामी में दोष भी हैं—कौन नहीं जानता कि गुस्सा में वे द्वितीय दुर्वासा हैं;

लेकिन दिल कितना मधुर, कितना सरल है ! बिलैया दंडवतवाले कभी-कभी उसे धोखे में डाल देते हैं; लेकिन महान् उद्देश्य से उनसे जरा भी विचलित नहीं कर सकते। और सभी दंडौतियों को पहचानाने की उसके पास एक जबर्दस्त कसौटी है। किसान और शोषित जनता के लिए कौन वस्तुतः मरने-जीनेवाला है;बस वही उसका अपना रहेगा। उसका पढ़ा वेदान्त और बाल की खाल निकालनेवाली पुरानी पोथियाँ अब बहुत कुछ भूल-सी गई हैं; मगर कभी-कभी वह अनजाने में धर दबाने का प्रयास करती हैं, और उस समय स्वामीजी कुछ विचलित-से दीख पड़ते हैं। लेकिन अब वह उन पोथियों के हाथ में नहीं रह गये हैं, अब वह हैं साधारण जनता के हितों के हाथ मे।

9

यदुनंदन शर्मा

प्रमुख तिथियाँ–1896 जन्म, 1899 पिता की मृत्यु, 1914 बनारस में क-ख-आरंभ, 1916 टेकारी स्कूल में, 1919 मेट्रिक पास, 1920 एक साल अध्यापक, 1922 जमींदार के मैनेजर, 1925 हिन्दू विश्वविद्यालय में, 1927 एफ. ए. पास, 1929 बी. ए. पास, सत्याग्रह युद्ध में; 1930 सोलह मास की सजा, 1931 जेल से बाहर, 1933 किसान-आंदोलन में, 1936 सांडाको किसान-संघर्ष, 1938 रेवडा-संघर्ष, 1940-42 अन्तर्धान।

(1)

काला अर्ध-नग्न मझोले कद का शरीर, जिस पर गर्मी के घाम, जाड़ों की सर्दी, निरन्तर दौड़ने-धूपने की प्रवृत्ति ने कभी चर्बी नहीं जमने दी। वह घुटनों तक की धोती और उस पर गमछा या मीटिया चादर, जिसे देखते ही भारत के करोड़-करोड़ किसान आँखों के सामने मूर्तिमान् हो दिखलाई पड़ने लगते हैं। वह मोटा बाँस का डंडा, जो उसके कर्कश हाथों का अभिन्न अंग बन गया है, और जिसे देखकर बिहार के किसान अपनी बेबसी को भूल जाते हैं। मगर इस सीधी सूरत को देखकर एक अपरिचित आदमी आसानी से धोखा खा सकता है। उसको पता नहीं लग सकता, कि यह राख की पतली तह में छिपी प्रचंड अंगार-राशि है, जिसके भीषण ताप और ओज को बिहार का एक-एक जमींदार समझता है और उसके नाम से ही काँपता है। यह हमारा यदुनंदन किसानों का असाधारण नेता ही नहीं है, उसने जीवन में जिन रास्तों को पार किया है, वे भी असाधारण रहे हैं।

आज भी जो लोग यदुनंदन शर्मा को देखेंगे, उन्हें वह एक अपढ़, ग्रामीण किसान मालूम होंगे। यदि संलाप करेंगे, तो उनकी सीधी-सादी भाषा मालूम होगी, उनकी प्रतिभा को छिपाने के लिए बनी है। विद्या का पुस्तकी रूप में उन्होंने कभी नहीं प्रयोग किया। जिन युद्धों को उन्हें लड़ना पड़ा, उनके कौशल को, उनके कुटिल पथ को, उन्होंने पुस्तकों में नहीं पाया। कम-से-कम उन पुस्तकों में नहीं, जिन्हें उन्होंने मँगनी से विश्वविद्यालय में पढ़ा था। इसीलिए यदुनंदन का विश्वास इन पुस्तकों से उठ गया। इसलिए यदि उनकी सरल भाषा पुस्तकों की पेंचीली शब्दावली से बच निकलना चाहती है, तो कोई आश्चर्य नहीं।

तो भी जिन लोगों को यदुनंदन की शिक्षा और उनके संस्कृत मस्तिष्क का पता है, उन्हें भी यह सुनकर आश्चर्य होगा, कि अठारह साल की उम्र (1914 ई.) तक वह बिल्कुल निरक्षर रहे। टेकारी राज की जमींदारी के एक छोटे-से गाँव, मझियाँवाँ (जिला गया, थाना कुर्था) में एक गरीब किसान के घर में उनका जन्म हुआ था। उनके पिता तीस वर्ष की उम्र ही में मर गए। वह संस्कृत के विद्वान् थे। अभी पढ़ाई में लगे ही हुए थे, कि भारत के सहस्र-सहस्र तरुणों की भाँति अकाल में ही काल-कवलित हुए। उनका लड़का, जिसे घर और गाँव के लोग सुखल कहते थे, ऐसी अवस्था में नहीं था, कि धनिक-पुत्रों की भाँति किसी स्कूल में पढ़ने जाता।

कुछ सयाना होते ही घरवालों ने सुखल को चरवाही का काम दिया। गरीब घर में एक भैंस थी, सुखल उसको चराता था, उसके लिए जहाँ-तहाँ बिखरी छोटी-छोटी घासों को खुरपे से काट नहीं, गढ लाता था। उसके इस काम में सहकारी उससे 15 दिन बड़े उसके चचा भी थे। इस चरवाही जीवन में भी सुखल असाधारण चरवाहा था, वह गाँव के सारे चरवाहों का सर्वसम्मत कमांडर था। इस पद को उसने अपनी टोली में सबसे सबल को परास्त कर, तथा बाहरवालों से लड़ने में अपना कुशल नेतृत्व दिखलाकर प्राप्त किया था। भुट्टों की चोरी या डकैती में सबसे खतरे की जगह सुखल रहता, मगर अच्छे भुट्टे के लेने में पीछे। यह भी उसके सर्वस्वीकृत नेतृत्व का एक गुर था।

(2)

पिता के मरने के वक्त सुखल तीन वर्ष का था। माँ गाँव की दूसरी स्त्रियों की भाँति अनपढ़ थी, तो भी यह ज्ञान रखती थी, कि पंडित बाप के पुत्र को कुछ पढ़ना चाहिए। अपने पति के उदाहरण से वह यह भी समझती थीं, कि ब्राह्मण का लड़का बिना पैसे भी संस्कृत पढ़ सकता है। उन्होंने कितनी ही बार सुखल को पढ़ने के लिए कहा, मगर सुखल उस दुनिया से अपरिचित था, जिसमें पैर रखने की माँ प्रेरणा दे रही थी; स्वावलंबन की कला भी उसे मालूम नहीं थी, जिसे वह आगे अपने जीवन का अंग बनाएगा। सबसे बड़ी बात यह थी, कि दूसरों के कहने-सुनने पर भी वह विद्या की महिमा पर विश्वास नहीं रखता था।

सुखल 18 वर्ष का हो रहा था, उस वक्त एकाएक ख्याल आया कि उसे पढ़ना चाहिए। ख्याल के साथ दृढ़ संकल्प भी हो आया; फिर अपढ़ किन्तु साहसी, निडर तरुण यदुनंदन को आग में कूदने, समुद्र को फाँद जाने की हिम्मत थी। एक दिन गया जिला में, रेल-सड़क से दूर के उस छोटे-से गाँव से, यदुनंदन गुम हो गया। कैसे बे-पैसे, निःसंबल, वह मगध से काशी पहुँचा, यह भी मनोरंजक ही नहीं तरुणों के लिए उत्साहप्रद चीज है, मगर यहाँ विस्तृत जीवनी नहीं लिखी जा रही है।

बनारस विद्या की खान है, यह उस ग्रामीण तरुण को मालूम था। वहाँ पहुँचकर उसने पूछा—काशी का सबसे बड़ा पंडित कौन है? किसी ने उजड्ड तरुण के संकल्प को समझे बिना कह दिया—महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्री। दूसरे दिन यदुनंदन पूछते-पाछते वहाँ पहुँचा। शास्त्रीजी द्वार पर दातवन कर रहे थे। उनके सरल-सौम्य शरीर को देखकर यदुनंदन की झिझक—जो पहिले भी उसके हिस्से में कम ही मिली थी—जाती रही। उसे कहाँ मालूम था, यह सामने बैठी वृद्ध-मूर्ति सिर्फ काशी (बनारस) नहीं, सारे भारत में अपनी विद्वत्ता का सिक्का जमा चुकी है। देश-देश के भारी-भारी पंडित उसका विद्यार्थी बनना अपना अहो भाग्य समझते हैं। वह उनके पास गया। शिवकुमार खुद दरिद्रता से परिचित थे, इसलिए दरिद्र ब्राह्मण बालक को देखकर आत्मीयता अनुभव करने के लिए विवश थे। उन्होंने पूछा—कहाँ आए? संकोच और डर से शून्य यदुनंदन ने कहा—"विद्या पढ़ने। आपका नाम सुनकर आपसे पढ़ने गया से आया हूँ।" "कुछ पढ़े हो?" "एक अच्छर भी नहीं!" शिवकुमार शास्त्री ने दुत्कारा नहीं, हालाँकि अठारह वर्ष तक निरक्षर रहनेवाले इस काले-कलूटे ग्रामीण को वैसा करने का वह हक रखते थे। उन्होंने कुछ पैसे देकर कहा—"जाओ इससे क-ख सीखने की पोथी खरीद लाओ।"

यदुनंदन में प्रतिभा थी, यद्यपि अब तक उसका प्रयोग नहीं होने पाया था। शास्त्रीजी बड़े स्नेह से स्वयं इस होनहार बालक को पढ़ाते थे, उस समय को निकालकर, जिसे पाने के लिए बड़े-बड़े पंडित-शिष्य इच्छुक रहते थे। अक्षर-ज्ञान के बाद उन्होंने लघुकौमुदी (व्याकरण) पढ़ानी शुरू की। यदुनंदन को अब कुछ आगे का रास्ता भी दिखलाई पड़ने लगा। उन्होंने बड़ी तत्परता से पढ़ाई जारी रखी। खाने के लिए संस्कृत पढ़नेवाले ब्राह्मण-विद्यार्थियों के वास्ते बनारस में सैकड़ों अन्नक्षेत्र खुले हुए थे।

यदुनंदन शर्मा ने लघुकौमुदी समाप्त कर ली, अब वह आगे की सीढ़ी पर कदम रखना चाहते थे, इसी वक्त वह बीमार हो गए। पुस्तक के हाथ से छूटते ही माँ याद आने लगी, गुरुजी से आज्ञा ली, और स्वास्थ्य लाभ के लिए गाँव चले आए। साल-भर पर लौटे पुत्र को देखकर माँ को बहुत प्रसन्नता नहीं हुई, शायद अभी उसे यदुनंदन में वही स्वच्छन्द चरवाहा सुखल दिखलाई पड़ रहा था।

यदुनंदन बनारस लौटने की सोच रहे थे, इसी बीच गाँव के रिश्ते में उनके चचा नौकरी से छुट्टी पर आए थे। सुखल को बिल्कुल दूसरे यदुनंदन के रूप में देख वह आकृष्ट हुए, और धीरे-धीरे परामर्श देना शुरू किया—"संस्कृत विद्या की आजकल माँग नहीं है। भिखमंगी करना ठीक नहीं है। अंग्रेजी पढ़ो। वकील बनना, या अच्छे सरकारी ओहदे पर अधिकार करना !" अंग्रेजी पढ़ने के लिए फीस-किताब-खाना यदुनंदन कहाँ से लायेगा, इसका ख्याल चचा को नहीं था, नहीं तो ऐसे उपदेश से वह बाज आते। मगर एक बार समझ में आ जाने पर यदुनंदन के लिए दुरूह से दुरूह काम भी कोई चीज न था। यदुनंदन ने अभी तक जो रास्ता लिया था, उससे वह एक अच्छे संस्कृत के पंडित होनेवाले थे—शिवकुमार शास्त्री और उनके प्रतिभाशाली शिष्य जयदेव मिश्र नहीं, तो कम-से-कम काशी के गण्य-मान्य सौ-पचास पंडितों में उनका भी नाम होता। वह व्याकरण, न्याय और साहित्य के पंडित होते। विद्यार्थियों को सहृदयता से पढ़ाते, और सिफारिश लग जाने पर 'महामहोपाध्याय' भी हो जाते। यदुनंदन शर्मा का रास्ता इसी ओर जा रहा था, यद्यपि उन्हें इसका पूरा पता न था।

मझियाँवा टेकारी-राज की जमींदारी में है। टेकारी में अंग्रेजी का हाईस्कूल है, यह यदुनंदन को मालूम हो गया। उन्होंने वहाँ जाकर अंग्रेजी पढ़ने का संकल्प किया। बनारस जाते वक्त यदुनंदन सब तरह से कोरे थे, मगर अब वह लघु कौमुदी को अच्छी तरह पढ़ चुके थे, साथ ही शाकद्वीपी ब्राह्मण कुल में जन्म होने से अपनी कुल-विद्या, वैद्यक का भी थोड़ा-थोड़ा परिचय रखते थे। किन्तु टेकारी में उससे सहायता नहीं मिली। उन्होंने पहिले तै किया, टेकारी में रहने के लिए स्थान बनाने का। स्कूल के एक विद्यार्थी ने खाने पर रसोई बनाने के लिए रख लिया। रसोइया देख रहा था, उसके 'मालिक' शिवबालक सिंह को संस्कृत (द्वितीय भाषा) पढ़ने में भारी दिक्कत मालूम होती है। उसने अपनी सेवाएँ पेश कीं। यदुनंदन के बतलाये सरल रास्ते से उसे लाभ हुआ, और कृतज्ञता में उसने उन्हें अंग्रेजी पढ़ाना स्वीकार किया। शिवबालक सिंह ने छह-सात मास पढ़ाया, और आगे पढ़ाने में उन्हें दिक्कत मालूम होने लगी। उन्होंने फीस का भार अपने ऊपर लिया, और यदुनंदन स्कूल में दाखिल हो गए। पुस्तकों के खरीदने के लिए विद्यार्थी अवस्था में कभी पैसे नहीं रहे, लेकिन माँगने पर सहपाठी कभी इन्कार भी नहीं करते थे।

यदुनंदन उस समय के पाँचवें, आज के सातवें, दर्जे में पढ़ रहे थे। स्कूल का नया मकान बना था, उसी समय टेकारी-राज के स्वामी विलायत से लौटे थे, और मकान के उद्घाटन के लिए जलसा हो रहा था। यदुनंदन ने महाराज-कुमार के सामने पढ़ने के लिए अंग्रेजी में एक तुकबंदी लिखी। अध्यापकों को दिखाने पर उन्होंने अपनी अज्ञता प्रकट की, मगर कविता को पढ़े जाने से रोका नहीं। यदुनंदन ने अपनी लम्बी तुकबंदी को सुनाया, जिसकी अन्तिम पंक्तियाँ थीं—

"This poem has been composed by your subject who is the student of fifth class, Named Yadunandan, by caste Brahmin, who wants your welfare till the Moon and Sun."

(तुम्हारा गरीब रैयत, पाँचवें दर्जे के ब्राह्मण-जातिवाले यदुनंदन नामक विद्यार्थी ने इस कविता को बनाया, जो कि यावत्चंद्रदिवाकर तुम्हारा मंगल चाहता है)

यदुनंदन शर्मा को सात रुपये की पुस्तकें इनाम में मिलीं। फीस माफ करने की बात कही गई, तो तरुण ने कहा—"मुझसे भी अधिक निस्सहाय विद्यार्थी हैं, जिनको फीस देकर पढ़ना कठिन है। बड़ी कृपा हो यदि उनकी भी फीस माफ हो जाये।" प्रार्थना मंजूर हुई, टेकारी हाईस्कूल बेफीस का कर दिया गया।

1919 ई. में यदुनंदन ने मैट्रिक पास किया। उनकी इच्छा थी कॉलेज में जाने की। यद्यपि कॉलेज के खर्च का ख्याल कर कभी-कभी उनका उत्साह मंद हो जाता था, तो भी वह बाज न आते। मगर उनके हेड मास्टर ने जोर दिया, कि वह वहीं स्कूल में अध्यापकी स्वीकार कर लें। एक साल तक उन्होंने अध्यापकी की। अध्यापकों के आपसी झगड़े में यदुनंदन को हेडमास्टर का पक्ष लेना पड़ता था। एक बार दूसरों का पल्ला भारी हुआ और यदुनंदन की नौकरी जाती रही।

गया में एक जमींदार विधवा को अपने लड़के के लिए एक अध्यापक की जरूरत थी, यदुनंदन शर्मा

उसे पढ़ाने लगे। धीरे-धीरे उसकी 40 हजार सालाना आमदनी की जमींदारी का प्रबन्ध भी उन्हें करना पड़ा, जिसमें आगे किसान-नेता बननेवाले यदुनंदन शर्मा को बहुत-से तजर्बे हासिल हुए। इसी समय उन्हें वहाँ की लेडी-डाक्टर को हिन्दी पढ़ाने का ट्यूशन मिला। लेडी-डाक्टर अपने सीधे-सादे अध्यापक से बहुत प्रभावित थीं। उन्होंने उपकार-भाव से बार-बार आग्रह किया कि, वह जिला मजिस्ट्रेट से नौकरी के लिए सिफारिश करेंगी। शील-संकोच में पड़ एक दिन यदुनंदन शर्मा ने हाँ कर दिया। कलेक्टर ने पुलिस सुपरिंटेंडेंट से सिफारिश कर दी। यदुनंदन शर्मा क्या-क्या सोचते 'इंटरव्यू' (साक्षात्कार) के लिए गए। उनकी तरह कितनी ही और मूर्तियाँ सब-इन्सपेक्टरी की उम्मीदवार वहाँ मौजूद थीं। उन्होंने देखा, जो लोग लौटकर आते हैं उनका मुँह गिरा हुआ रहता है। पूछा, मालूम हुआ, अंग्रेज सुपरिंटेंडेंट शराब पीकर खूब गालियाँ निकालता है। उन्होंने मन में कुछ तै कर लिया। साहब के सामने गए। एकाध बात पूछी, वह मुँह से गाली निकालना ही चाहता था कि यदुनंदन ने कहा

"Hold your tongue please" (कृपया अपनी जबान रोकिये)

"Is it so" (ऐसा) ?

"Yes" (हाँ)

"Good-bye Babu, you are not meant for the police service." (विदा बाबू, तुम पुलिस की नौकरी के योग्य नहीं हो)"

यदुनंदन शर्मा लौट आए। उनका चेहरा उदास नहीं था। वर्बरता का उन्होंने एक बड़ा नमूना देखा और जन्म-भर के लिए उन्हें एक बड़ी सीख मिली।

यदुनंदन शर्मा के सहपाठी कई बेकार थे, वह कोई रोजगार करना चाहते थे, किन्तु उनके पास पैसा न था। यदुनंदन इधर कुछ पैसा जमा कर रहे थे, कालेज की पढ़ाई के लिए। उन्होंने कहा—"मेरे ये रुपये अभी बेकार पड़े हैं, इन्हें ले रोजगार करो। जब पढ़ने जाऊँगा, तो कुछ मासिक देते रहना।" नौसिखियों ने रोजगार शुरू किया। शर्माजी अपनी मालकिन के साथ तीर्थयात्रा में निकल पड़े। कुछ महीनों बाद लौटकर आए, तो मित्रों ने टाट उलट दिया था। कुछ समय और रहकर रुपया जमा करने के लिए उनके पास उत्साह नहीं रह गया था।

(4)

यदुनंदन शर्मा हिन्दू विश्वविद्यालय में दाखिल होने के लिए उतावले हो रहे थे, लेकिन पैसा पास नहीं। यद्यपि वह असहयोग (1921-22) में शामिल नहीं हुए थे, और न राजनीति का ज्ञान ही रखते थे, किन्तु देश के लिए काम करनेवालों के प्रति उनकी बड़ी श्रद्धा थी। किसी से उन्होंने एक देशभक्त की बहुत तारीफ सुनी थी। उन्हें आशा हुई, कि वह उनकी सहायता करेंगे। वह उनके पास गए। उनके सामने अपनी इच्छा प्रकट की। देशभक्त के पास इस अध-गँवार की बात सुनने के लिए समय नहीं था। उनके जवाब में कुछ करने की बात सुनकर उन्होंने कहा—"तुम माँगने आए हो, या बहस करने ? अपने ही चले जाओगे या निकलवाना पड़ेगा ?"

यदुनंदन शर्मा इसके लिए तैयार न थे। उन्हें ऐसे देशभक्त से ऐसे उत्तर पाने की आशा न थी। उन्होंने कुछ खरा जवाब दिया, और चले आए। उस वक्त उनके मन में एक ख्याल उठा—"किसी वक्त इस कुर्सी पर एक ऐसे आदमी को बैठाना है, जो मुझे निकलवाने की जगह, मेरे लिए वह कुर्सी छोड़कर खड़ा हो जायेगा।" चौदह वर्ष बाद वह ख्याल साकार हुआ।

किसी दूसरे मित्र ने उन्हें 25 रुपये दिए, जिन्हें लेकर 1925 ई. में वे हिन्दू विश्वविद्यालय में दाखिल हुए। दाखिला फीस दे देने के बाद उनके पास दो-तीन रुपये बच रहे। पुस्तक न वह खरीद सकते थे, और न खरीदी पुस्तक के बल पर पढ़ने की उन्होंने आशा की थी। छित्तूपूर के एक लोहार के घर में एक सबसे बुरी कोठरी ली। लोहार ने किराये की माँग की। यदुनंदन—जो एक वक्त थोड़ा चबेना और एक शाम बीनकर लाये कंडों से गंगातट पर बाटी लगाकर गुजारा कर रहे थे—किराया कहाँ से देते ? उन्होंने कहा—"किराये के

लिए मेरे पास पैसे नहीं हैं, मगर मैं तुम्हारी भाथी को दो घंटे चला दिया करूँगा।" 4-5 दिन चलायी भी। लोहार ने तरुण की तपस्या को देखा, और कह दिया–"मुझे किराया नहीं चाहिए, आप पढ़ें और जब तक चाहें यह कोठरी आपके लिए रहेगी।"

यदुनंदन को अब फिक्र थी फीस के रुपयों की। उनके सहपाठी अपने असाधारण मित्र से परिचित हो गए थे, इसलिए अपनी पुस्तक उन्हें दे देते थे, मगर फीस न देने पर तो नाम कट जाता। आखिर शिवकुमार शास्त्री को पढ़ाने के लिए राजी करनेवाला तरुण एक दिन मालवीयजी के पास गया। बात सुनकर मालवीयजी ने उपदेश देना शुरू किया–"पढ़कर क्या करोगे, कोई काम करो, जीविका कमाओ।" यदुनंदन उपदेश सुनने की नीयत से नहीं गए थे। उन्होंने कहा–"मैं जीविका के लिए काम भी करना चाहता हूँ, और पढ़ने के संकल्प को भी नहीं छोड़ना चाहता। मुझे कोई काम दे दीजिये।" मालवीयजी ने उपेक्षापूर्वक जब कहा कि तुम्हारे जैसे कितने ही विद्यार्थी काम करने की बात करते हैं, मगर काम के मैदान में डट नहीं सकते ! यदुनंदन ने कहा–"आप कोई काम, पाखाना साफ करने का काम भी, देकर देख लीजिए–और यदि मैं निरालस हो महीने-भर करता रहूँ, तो मेरी फीस माफ करवा दीजिये।" बात का प्रभाव पड़ा, काम नहीं मिला, मगर फीस माफ हो गई।

कितना ही समय इसी तरह फाका करते और गंगातट पर बाटी लगाते गुजर गया। उनके सहपाठियों ने यह बात किसी प्रोफेसर से कही। उनके पूछने पर यदुनंदन ने कुछ काम करके सहायता लेने की बात कही, और खुद ही किसी होस्टल में झाड़ू देने का काम माँगा। प्रोफेसर ने कॉलेज के विद्यार्थी से झाड़ू दिलवाना पसंद नहीं किया, और आफिस के रूम में सोने की जगह दे दरवाजों में रंग लगाने का काम दिया। यदुनंदन होस्टल के अनपढ़ रसोइयों को देखते थे, उनको ख्याल आया इन्हें पढ़ाना चाहिए। उनके उत्साह को देखकर उक्त प्रोफेसर ने यही काम उनके सपुर्द किया, और इस प्रकार पेट की दिक्कत से निश्चिंत हो वे पढ़ने लगे।

उस समय यदुनंदन शायद एफ. ए. पास हो चुके थे। उनके पास पुस्तक-पन्ने की भाँति लोटे का भी अभाव था। वह गंगा के किनारे जाते, और सनातन-प्रथा के अनुसार पाखाना हो गंगा में पानी 'छू' लेते। गंगातटवासी एक साधु ने देखा, उसने 'गंगामाई' को अपवित्र करने के लिए उन्हें कितनी ही गालियाँ सुनाईं। यदुनंदन चुप रहे। थोड़ी देर बाद साधु स्नान करने के लिए गंगामाई में उतरा। अब यदुनंदन की बारी थी, उन्होंने साधु को गालियाँ देनी शुरू कीं–"साला साधु बना फिरता है। हमारी गंगामाई को अपना सारा अंग दिखलाता है, गंगामाई में मैल साफ करता है।···" साधु ने हाथ जोड़े, और अपनी पहिली गलती के लिए माफी माँगी।

(5)

बी. ए. की परीक्षा दे रहे थे, उसी वक्त गांधीजी का नमक-सत्याग्रह शुरू हुआ। हिन्दू विश्वविद्यालय के नमक बनानेवालों में वह भी थे। परीक्षा दे चुके थे, उस वक्त पता लगा दरभंगा में भारी हैजा आया हुआ है। सेवा-सुश्रूषा. क्या मुर्दों के उठाने के लिए भी कोई नहीं मिलता। जो यदुनंदन अनपढ़ अवस्था से बढ़कर परिश्रम करते हुए ग्रेजुयेट होने जा रहे थे, और जीवन के लिए कितनी ही उमंगें रखते थे, अब पराये के संकट को कम करने के लिए अपने जीवन को संकट में डालने के लिए तैयार हो गए। वह सीधे दरभंगा जिले में दलसिंगसराय गए। वहाँ 3-4 सप्ताह तक सेवा करते रहे। अब हैजा भी कम हो गया था। देश की स्वतंत्रता के युद्ध-सत्याग्रह से वह अपने को अलग कैसे रख सकते थे ? वह गया पहुँचे। वहाँ के कितने ही नेता नमक बनाना जानते भी न थे। यदुनंदन विशेषज्ञ निकले; और उनकी देखरेख में बदरी बाबू के गाँव में नमक बना। बहुत-से लोग जेल चले गए थे, अब गया जिले के कांग्रेस के नेतृत्व का भार उनके ऊपर आया। अपनी श्रेणी के सही अर्थ में पुत्र यदुनंदन शर्मा ने बड़ी योग्यता से गाँव-गाँव घूम कर आन्दोलन को चलाया, लेकिन पुलिस की नजर से बहुत दिनों तक बचे नहीं रह सकते थे। एक दिन जब शेरघाटी से गिरफ्तार होकर वह गया-कोतवाली जा रहे थे, तो समाचार मिला कि वह बी. ए. में उत्तीर्ण हो गए। उन्हें सोलह महीने की सजा हुई, मगर दस महीने बाद ही गाँधी-इर्विन समझौते (1931 ई.) के कारण छोड़ दिए गए।

जेल में गए नेताओं में कुछ तो ऊपरी श्रेणी में रखे गए थे। साथ के रहनेवालों में भी बाबुओं का वर्ताव साधारण किसानों–स्वयंसेवकों–से अच्छा नहीं था। यदुनंदन शर्मा किसान थे, उन्हें यह बाबूगीरी पसंद न थी। वह स्वयंसेवकों में अकृत्रिम भाव से हिले-मिले रहते थे। इसका परिणाम यह हुआ, कि साधारण किसान सत्याग्रही यदुनंदन को अपना अगुआ मानने लगे। उसी वक्त यदुनंदन को कुछ-कुछ समझ में आने लगा, कि बाबू और किसान दो अलग-अलग श्रेणियाँ ही नहीं हैं, बल्कि उनके स्वार्थ भी अलग-अलग हैं; और उनका अपना संबंध है किसान-स्वार्थ से।

1933 ई. से बिहार में किसान-आन्दोलन का जोर हुआ। स्वामी सहजानंदजी ने किसानों की मूक वेदना को अपनी प्रबल वाणी प्रदान की। यदुनंदन शर्मा वाग्मी से भी अधिक कर्मठ जीव हैं। उन्होंने गया के अत्यन्त पददलित तथा भयत्रस्त किसानों में रूह फूँकनी शुरू की। उन्होंने किसानों की अनेकों लड़ाइयाँ लड़ीं। 1936 ई. में साँडा के किसानों का संगठित संघर्ष हुआ, जमींदार हारे, किसानों को खेत मिले। शाहबाजपुर में भी किसानों को विजय प्राप्त हुइं। गया की किसान-सभा और कांग्रेस कमेटी का नेतृत्व यदुनंदन शर्मा के हाथ में आया। कांग्रेस के बाबू नेता उनसे खार खाये हुए थे, क्योंकि उनकी वजह से गया जिले से उनकी जड़ें कट गई थीं। बिहार कांग्रेस-मिनिस्ट्री किसानों के हित की भारी शत्रु निकली। इस समय भी यदुनंदन शर्मा को कई लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं, और कई बार जेल की हवा खानी पड़ी। उनका संगठित किया रेवड़ा का किसान-सत्याग्रह बिहार में ही नहीं, भारत के किसान-संघर्ष के इतिहास में भी ऊँचा स्थान रखता है। रेवड़ा के जमींदार की ऐसी तपी थी, कि गाय के दूध के अभाव में उसने घर की स्त्री का दूध दुह लाने के लिए सिपाही भेज दिए थे। सारे गाँव में किसी के पास खेत नहीं रहने दिया था, और ऊँची जाति के किसानों की जीविका का एक भारी साधन कन्या की बेच थी। यदुनंदन शर्मा ने रेवड़ा की किसान-भेड़ों को बाघ बनाया। औरतों तक ने कांग्रेस-मिनिस्ट्री द्वारा भेजी गई मिलिटरी के सामने वह निर्भयता और साहस दिखलाया जिसकी आशा नहीं हो सकती थी। जमींदार के दाँत खट्टे करके उन्होंने किसानों को खेत दिलवाये।

(6)

द्वितीय महायुद्ध छिड़ा। साम्राज्यी युद्ध में सहायता देना वह कैसे पसंद करते ? 1940 में यदुनंदन शर्मा के खिलाफ वारंट निकला। किन्तु वह आसानी से हाथ लगनेवाली चिड़िया न थे। पुलिस दो साल से ज्यादा खोज करती ही रह गई, मगर वह हाथ नहीं आए। साथ ही इस सारे समय वह चुप नहीं रहे। उनकी चेतावनियाँ, नोटिस और अखबार भी बराबर प्रकाशित हो किसानों के पास पहुँचते रहे। पुलिस के हाथ पड़कर भी निकल भागने की उनकी कितनी ही साहसपूर्ण घटनाएँ हैं।

1940 की बात है। वह एक गाँव (गोपालपुर) में छिपे हुए थे। अपने सच्चे नेता यदुनंदन शर्मा को कौन नहीं शरण देगा ? पुलिस को पता लग गया। वह गाँव में पहुँच गई। गाँववालों को अपने नेता के लिए भारी चिन्ता हुई, लेकिन शर्माजी विचलित नहीं हुए। उन्होंने तुरन्त एक तरकीब सोची और किसानों को बतलाई। सब सहमत थे। पुआल का एक पुतला बनाया, शर्माजी ने आधी धोती नीचे आधी ऊपर की, और कपड़े से लिपटे 'शशु के शव' को दोनों हाथों में लिये 'हाय बाबू', 'हाय बाबू' चिल्लाते आँसू बहाते गाँव से सोन का रास्ता लिया।

1941 ई. में एक शाम को 5 बजे वह पटना से कागज, टाइपराइटर आदि लिए एक आदमी के साथ एक्के पर दीघाघाट की ओर जा रहे थे। सी. आई. डी. के आदमी ने पीछा किया। निश्चय कर लेने पर उसने एक्केवाले को कोतवाली ले चलने के लिए कहा। शर्माजी के पूछने पर सी. आई. डी. वाले ने कहा–"मैं अच्छी तरह पहिचानता हूँ, आप यदुनंदन शर्मा हैं।" शर्माजी ने एक्के के लौटने में आपत्ति नहीं की और देश-प्रेम के नाम पर उस आदमी को समझाने की कोशिश की। मगर उस पर क्या असर होता ? शर्माजी भी वैसी आशा रखकर बात नहीं कर रहे थे। एक्का राजापुर गाँव पहुँचा, तो उनके डाँटकर कहने पर एक्का खड़ा हो गया। शर्माजी डण्डा सँभालकर उतर पड़े। सी. आई. डी. भी उतर पड़ा। शर्माजी के साथी सामान को लेकर चले

गए। हाथ से निकलते देख सी. आई. डी. ने 'चोर-चोर' का हल्ला किया। लोग दौड़े। शर्माजी एक किसान के घर के भीतर घुसकर बैठ गए। लोगों ने घर घेर लिया, उन्हें बतलाया गया था, कि एक पिस्तौलवाला चोर बहुत-सा रुपया लिए बैठा है। उनके समझाने पर भी जब गाँववाले नहीं माने, तो उन्होंने यह कहकर खाली हाथ को पाकेट में डाला—"पहिले रुपया लोगे या पिस्तौल ? अच्छा यह दस गोली का पिस्तौल है, पहिले इसी को लो, लेकिन गोलियों को खाली कर लेने दो।" यह कहकर उन्होंने ज्योंही पाकेट में हाथ डाला, लोग भाग गए। वहाँ से निकलने पर एक किसान कार्यकर्ता मिला, जो उन्हें पहिचानता था। रात-भर उसने अपने घर में रखा, दूसरे दिन अँधेरा रहते ही वे वहाँ से चले गए।

(7)

किसानों और मजदूरों के साथ सोवियत रूस पर जब हिटलर ने प्रहार किया, तब साथी यदुनंदन शर्मा की युद्ध-संबंधी धारणा बदल गई। उन्होंने कितने ही मासों तक इन्तजार किया, और जब (1942) स्वामी सहजानन्दजी जेल के चिर-निवास से छूटे, तो शर्माजी अदालत में हाजिर हो गए। पीछे सरकार ने उन पर से भी वारंट हटा लिया। शेरघाटी के प्रान्तीय और बिहटा अखिल भारतीय किसान-सम्मेलनों को सफल बनाने में शर्माजी का भारी हाथ रहा।

यदुनंदन शर्मा किसानों के निर्भीक, लड़ाकू नेता हैं। रात-दिन, सोते-जागते उन्हें यही धुन सवार रहती है—किसान अपने मालिक कैसे बनें ? लोभ, अभिमान उनको छू तक नहीं गया है। गाँधीजी के छेड़े नमक-सत्याग्रह से उन्होंने अपने राजनीतिक जीवन को शुरू किया, मगर गाँधीवाद पर उन्हें कभी विश्वास नहीं रहा। उनके लिए किसी आन्दोलन, या किसी राजनीति के ठीक होने की एकमात्र परख है किसान-मजदूर-हित, किसान-मजदूर-राज्य !

हाल में तोड़-फोड़ आन्दोलन जब शुरू हुआ, उस वक्त शर्माजी और मैं कितने ही दिनों तक पटना में प्रान्तीय किसान सभा के आफिस में साथ रहे। 'आंदोलन' संबंधी हमारी नीति को देखकर तोड़-फोड़ आन्दोलन वाले हमसे बहुत नाराज थे। उन्होंने प्रान्तीय छात्र-संघ के कागज-पत्रों को जला दिया, बिहार कम्युनिस्ट पार्टी के आफिस के बारे में भी धमकियाँ सुनी जा रही थीं, और किसान-सभा आफिस पर भी वह चढ़ाई करना चाहते थे। शर्माजी ने मिट्टी का तेल मँगवाया और कहा—"हमारे जिन्दा रहते यह नहीं होने पायेगा। इस तेल की मशाल बालेंगे, और दरवाजे से घुसनेवाले हरएक का मुँह जलाते जायेंगे। फिर यह डंडा ! हमारी लाश के ऊपर से जाकर वे भले ही हमारे आफिस को जला सकेंगे।" अच्छा हुआ, जो लोग नहीं आए !

यह हैं किसानों के सर्वप्रिय नेता यदुनंदन शर्मा। किसानों का उन पर अटूट विश्वास बिल्कुल उचित है।

10

कार्यानन्द शर्मा

प्रमुख तिथियाँ—1901 भादों शुक्ल 3, 1906 शिक्षारंभ, 1911-13 घर का काम, 1914-20 स्वावलंबी अध्ययन, 1920 मेट्रिक पास; कॉलेज में; 1920 असहयोग, कांग्रेस में; 1921 एक साल की सजा, 1923-27 कांग्रेस कार्य और राष्ट्रीय स्कूल के हेडमास्टर, 1924 पिता की मृत्यु, 1927 चानन के किसानों के संग्राम में, 1930 नमक-सत्याग्रह में जेल, 1932 साढ़े चार साल की जेल, 1934 भूकंप की सहायता में स्वयंसेवकों के इन्चार्ज, 1935 फिर चानन-संग्राम, 1936-38 बढैया के टाल के किसानों का संग्राम, 1938 प्रान्तीय किसान सम्मेलन के सभापति, 1940 जेल में (कम्युनिस्ट), 1941 सितम्बर—1942 फरवरी 12, हजारीबाग जेल में नजरबंद, 1942 प्रान्तीय किसान सभा के सेक्रेटरी।

लम्बा कद, हट्टा-कट्टा शरीर यह तो बतलाता है, कि इसमें बल है, लेकिन शारीरिक वल उस मानसिक वल का परिचायक नहीं है, जो कि इस व्यक्ति में कूट-कूटकर भरा हुआ है। वह एक साधारण किसान-घर में पैदा हुआ, उसने गरीबी को देखा ही नहीं, गरीबी का अनुभव भी किया। कितने ही मर्तबे परिवार, बच्चों की तकलीफों को देखने का मौका मिला, शायद कभी अपनों और परायों के ताने को भी सुनना पड़ा, मगर उसने कभी अपनी धुन को नहीं छोड़ा; देश की स्वतंत्रता, किसानों और मजदूरों की मुक्ति का जो अपना ध्येय आज से तेईस वर्ष पहिले उसने बनाया, वह उसके लिए दिन पर दिन अधिक स्पष्ट अधिक आकर्षक होता गया। शारीरिक और मानसिक बड़े-से-बड़े कष्ट को उसने वैसे ही सहन किया, "बूँद अघात सहहिं गिरि जैसे"। उसके चेहरे को देखने से ही मालूम होता है कि उसके भीतर कितनी गंभीरता, कितनी शान्ति है। शायद ही वह कभी क्षुब्ध-क्रुद्ध होता हो, लेकिन इस शान्ति और सीधे-सादेपन से आश्चर्य हो सकता है कि यह कैसे किसानों की दर्जनों लड़ाइयों को वर्षों तक दुश्मन और उसके समर्थकों की चली जाती हरेक चाल को समझते हुए संचालित करता रहा।

किसानों को कार्यानन्द के सामने अपने तकलीफों को रखने में झिझक नहीं होती, उसी तरह जिस तरह अपने दिल के सामने। जिस तरह उसे गाँव के स्कूल के साधारण विद्यार्थी से उठाकर विद्या-प्रेम ने कमाकर पढ़नेवाले हाईस्कूल के विद्यार्थी के रूप में परिणत किया; जिस तरह उसके ज्ञान ने देश के प्रति अपने कर्तव्य को बतलाया और कॉलेज की पढ़ाई पर लात मार गाँवों में नया संदेश-वाहक बना दिया; उसी तरह वह हवाई क्रान्ति की जगह ठोस क्रान्ति की ओर बढ़ते-बढ़ते किसानों के पास पहुँचा। किसानों की लड़ाइयों ने उसे दुनिया की सबसे जबर्दस्त क्रान्तिकारी पार्टी के पास पहुँचाया। यह सब ऐसे हुआ कि कार्यानन्द को पता ही नहीं लगने पाया, उसने किसी काम को बेकार किया। उसके जीवन की हरएक पहली सीढ़ी आगे की तैयारी बनी।

जन्म—बनारस से कलकत्ता जानेवाली रेल पर क्यूल एक अच्छा जंकशन है। सितम्बर-अक्टूबर में जाने पर क्यूल से दूर-दूर सारी भूमि हरे धान के खेतों से ढकी दीख पड़ती है। दूर कितनी ही पहाड़ियाँ दिखलाई देती हैं। क्यूल से जो रेलवे-लाइन भागलपुर की ओर जाती है, उसी के साथ-साथ तीन मील जाने पर पश्चिम की ओर पास में एक छोटा-सा गाँव सहूर है। सारे गाँव में चार सौ एकड़ से कम ही जमीन है और इस पर ही एक सौ चालीस परिवारों को गुजारा करना पड़ता है। आधे गाँव के मालिक एक बड़े जमींदार हैं और आधा गाँव सहूर के पचास घर बाभनों (भूमिहारों) का है। गजाधर शर्मा इन्हीं बाभनों में से एक थे। वे बहुत समझदार थे। पढ़े-लिखे कम ही थे, तो भी बिरादरी के सुधारों पर व्याख्यान दे डालते। गरीब घर के पुत्र को कॉलेज से असहयोग करते देखकर ही उनकी सहानुभूति पुत्र के साथ रही और उन्होंने खुद चौकीदारी सरपंची को छोड़ दिया। गजाधर शर्मा के घर 1901 के भादों शुक्ल 3 को ज्येष्ठ पुत्र पैदा हुआ। माँ ने पहिले बच्चे को यमदूत द्वारा छिनते देखा था, उसको डर था कि कहीं वह इसे भी उठा न ले जाय; इसलिए नाम रख दिया कारू (कालू)। गोरा या कोई अच्छा नाम सुनकर मृत्यु के मुँह में पानी भर आता है, मगर कारू सुनकर मृत्यु दरवाजे पर आकर भी लौट जायेगी, कहेगी क्या ले चलना है काले-कलूटे को। कारू की माँ पार्वती समझती होगी कि, उसका जादू चल गया, क्योंकि उसका पुत्र स्वस्थ और जीवित था। लेकिन माँ को भूत-प्रेत का बहुत कम विश्वास था। हाँ, धार्मिक भक्ति-भाव जरूर रहा, लेकिन उसे पुत्र ने पुत्राधिकार में नहीं पाया। पिता का स्वभाव जितना ही अनुशासन के लिए कड़ा था, माता का उतना ही नरम। कारू नाम बचपन ही में कहीं भूल गया और आज दुनिया उन्हें साथी कार्यानन्द शर्मा के नाम से जानती है। माँ स्नेहमयी थीं, तो भी चाची से जान पड़ता है, ज्यादा आकर्षण था। बालक कार्यानन्द सदा चाची ही के पास रहता। चाची बच्चे को कहानियाँ सुनाती—वीरों की कहानियाँ, नल और ढोला की कहानियाँ। चाची को कुछ कौरव-पांडवों की कथाएँ मालूम थीं, वह उन्हें भी बच्चे को सुनाती। लड़का बड़ा जिद्दी था, किसी चीज को पकड़ लेने पर छोड़ना जानता ही न था। शायद वही जिद्द आज कार्यानन्द की हरएक दृढ़ता में पाई जाती है।

गजाधर शर्मा का परिवार बड़ा था; फिर बाभन जाति के श्राद्ध-ब्याह, आए-गए का खर्च; इसीलिए सोलह एकड़ में सात एकड़ जमीन कर्ज में चली गई। 9 एकड़ में चार बेटे ! खैर दो बेटियाँ तो ब्याह के बाद अपने घर चली जायेंगी, लेकिन उनके तिलक-दहेज के लिए भी तो काफी चाहिए।

गजाधर शर्मा को घर की चिन्ता थी, लेकिन साथ ही वह आशा रखते थे, कि बच्चे लायक और सयाने होकर सब दूर कर देंगे। पाँच साल ही की उम्र में (1906) कार्यानन्द की पढ़ाई शुरू हुई। गाँव में भी पाठशाला थी। पाठशाला के गुरुजी घर पर रहते थे, जाति-सुधारक गजाधर शर्मा ने बेटे को जल्दी ही 'ओ नामासीधं' शुरू करवा देना अच्छा समझा। कार्यानन्द कुछ खेलता भी था, कुछ पढ़ता भी था। किताबें थोड़ी थीं, बरस के बारह महीने लम्बे थे, दर्जे में भी लड़के कम ही थे। गाँव के स्कूल में कार्यानन्द अपने दर्जे में सदा अच्छा रहा, गणित और भी अच्छा था। आठ साल के होते-होते कार्यानन्द रामायण पढ़ने लगा। रामायण की युद्ध कथा उसे बहुत दिलचस्प मालूम होती थी। इसी समय उन्होंने 'भूमिहार-ब्राह्मण' कहीं देखा। उसके लिए यह नाम समझने की बात नहीं थी, आखिर उसके प्रदेश में उसकी जाति भूमिहार नहीं बाभन कही जाती है; शायद उससे यदि कोई पूछता, तो वह बाभन-ब्राह्मण नाम रखने की सलाह देता। उसको पता नहीं था, किसी जगह उसके संबंधियों को भूमिहार कहा जाता है। ब्राह्मण लगाये बिना हिन्दू समाज में उनके मान को ऊपर नहीं बढ़ाया जा सकता। नौ वर्ष की उम्र में उसने किसी अंग्रेज को देखा, अभी वह यही समझता था कि गोरा-गोरा रंग अच्छा होता है।

कार्यानन्द का स्वास्थ्य सदा से अच्छा रहा। खेल खेलनेवाले लड़के स्वस्थ होते हैं—या स्वस्थ लड़के खेल खेलते हैं, यह कहना कठिन है। वह लड़कों की मंडली का नेता था। आज के नेतापन की शिक्षा को उसने उसी समय प्राप्त किया। कार्यानन्द के खेलों में एक डाकखाने का भी खेल था। एक लड़का डाकखाना बनता दूसरे चिट्ठी डालते। हुक्का पीना भी खेलों के भीतर, न जाने कब शामिल हो गया। वृक्षों पर चढ़ना और कौओं का घोंसला उजाड़ना यह भी एक खेल था—बल्कि घोंसले उजाड़ने में तो खेल के साथ ही साथ पुण्य का भी सवाल था। शहर से थोड़ी दूर पर पहाड़ी है। वहाँ पानी का झरना भी है। कार्यानन्द अपनी बाल सेना को लिए पहाड़ पर चला जाता, वहाँ वे फल खाते, झरने में नहाते। तम्बाकू पीनेवाले लड़के—खासतौर से ग्रामीण गरीब लड़के—के लिए अनाज की चोरी जरूरी है, आखिर कार्यानन्द दूसरे लड़कों के लाये तम्बाकू को सदा पीते रहकर सर कैसे ऊँचा रख सकता था ?

10 वर्ष की उम्र (1911) में पहुँचकर कार्यानन्द को पढ़ाई बन्द करनी पड़ी, तब तक वह अपर पास कर चुका था। गाँव में मिडिल की कक्षाएँ जो खोली गई थीं, उन्हें धन के अभाव और विद्यार्थियों की कमी के कारण बंद कर देना पड़ा। वह दूर गाँव में जाकर पढ़ाई जारी नहीं रख सकता था। इसी वक्त चचा का दिमाग खराब हो गया, इसलिए वह खेतीबारी का काम देख नहीं सकते थे। पिता छोटी-मोटी ठीकेदारी करते और उन्हें घर से बाहर रहना पड़ता। अब किसी का घर रहना जरूरी था। दस साल का कार्यानन्द खेती में पूरी मेहनत तो नहीं कर सकता था, तब भी वह उसे कुछ सम्हाल सकता था। तीन साल तक उसे घर पर ही रहना पड़ा। उन दिनों कुछ समय निकाल वह गाँव से तीन-चार मील दूर एक तरुण के पास जाकर कुछ अंग्रेजी पढ़ आता था। पढ़ने का शौक था, लेकिन मजबूर था। इसी बीच 1913 में चौदह साल की उम्र में उसकी शादी भी हो गई।

1914 आया। अब वह अपने को और रोक नहीं सकता था। पिता पढ़ाने के लिए पैसा देने की शक्ति नहीं रखते थे, लेकिन पुत्र को मजबूर करके बैठाना भी पसन्द नहीं करते थे। कार्यानन्द अपनी बुआ के पास चला गया। बुआ के गाँव रामदिरी से बेगूसराय दो मील पर था। वह वहाँ के ब्रह्मदेवप्रसाद हाई स्कूल में छठे क्लास में दाखिल हो गया। खाने के लिए बुआ के घर चला आता। नाम लिखाने के बाद महायुद्ध के छिड़ने की खबर मिली। गणित उसको बहुत प्रिय था। इतिहास, संस्कृत और हिन्दी में भी वह बहुत अच्छा था। अपने क्लास में वह सदा दूसरे नम्बर पर रहता। पहला नम्बर एक धनी बाप के लड़के का था, जिसके घर पर भी मास्टर पढ़ाने के लिए जाया करते थे। स्कूल के अध्यापक सूर्यनारायणसिंह लड़के में कुछ विशेषता देखते थे, इसलिए कार्यानन्द पर उनका विशेष स्नेह था। स्कूल में फीस माफ हो गई थी, और यह उसके लिए बड़ी सहायता थी।

बुआ का घर भी बहुत धनी नहीं था। यह कार्यानन्द के आत्मसम्मान के विरुद्ध था, कि वह अपना बोझ दूसरे के ऊपर डाले। बेगूसराय में एक ट्यूशन मिल गया, 1915 में वह वहीं चला गया। युद्ध की खबरों

में दिलचस्पी होने लगी थी और वह अखबार पढ़ने लगा। पीछे 'प्रताप' (कानपुर) मिलने लगा, और उसने कार्यानन्द में देशभक्ति का भाव भरना शुरू किया। देश की परतन्त्रता से क्षुब्ध होने के कारण परतन्त्रकारियों के प्रति घृणा पैदा होना जरूरी था। वह समझता था, कि जर्मन बड़े बहादुर हैं। स्कूल में आतंकवाद की ओर रुचि रखनेवाले कुछ लड़के भी पढ़ते थे, जिनके संसर्ग से उसने 'आनंदमठ' पढ़ा। पढ़ने के वाद उसके दिल में यही होता था, कि अपने विदेशी शासकों को मार भगाना चाहिए। 'प्रताप' से लखनऊ कांग्रेस की खबरें मिलीं। चम्पारन में निलहे गोरों के खिलाफ गाँधीजी के संघर्ष की बातें पढ़-पढ़कर उसकी देशभक्ति और गाँधीजी में श्रद्धा बढ़ती जा रही थी। आतंकवादियों से कभी-कभी बातचीत हो जाती, मगर वह चीज बातचीत तक ही सीमित रही। मास्टर सूर्यनारायणसिंह राष्ट्रीय विचार के आदमी थे। 1918 में गाँधीजी के बारे में बतलाते हुए उन्होंने कहा, कि वे चाहते हैं, विद्यार्थी पान न खायें, सिगरेट न पियें। कार्यानन्द ने इन दोनों चीजों को तभी से छोड़ दिया।

धर्म की ओर कार्यानन्द की कोई विशेष रुचि न थी, लेकिन चन्दन लगा लिया करता था। स्कूल में धनी लड़कों से वह बिल्कुल अलग रहता और सदा गरीब लड़कों से प्रेम और मेल रखता। धनी और गरीब का भेद उसे साफ समझ में आता था। कार्यानन्द का शरीर खूब मजबूत और लम्बा-चौड़ा था। रोज वह दो-तीन मील की दौड़ लगाता था। हाई स्कूल के लड़कों का जब कभी पुलिस या दूसरों से झगड़ा हो जाता, तो कार्यानन्द उसमें आगे रहता। वह बहादुर लड़कों का बहादुर नेता था।

बेगूसराय कसबे से लगा हुआ पोखरिया गाँव है। वहाँ के बाबू कुलदीपसिंह को लड़के के पढ़ाने के लिए एक मास्टर की जरूरत थी। उनकी नजर कार्यानन्द पर पड़ी। कार्यानन्द ने भी स्वीकार कर लिया। बाबू कुलदीपसिंह का घर उसके लिए घर-सा था, मालूम होता था कि वह अपने छोटे भाई की पढ़ने में मदद कर रहा है। 1918 से वह पोखरिया में रहने लगा और जब तक मेट्रिक पास नहीं किया, तब तक (1920) वहीं रहकर पढ़ता रहा। जब कभी घर आता, तो समाज-सुधार की बात करता, गाँव में नाटक खेलता। साल में पाँच-छह बार घर आना होता, वह गंगा पार हो पैदल ही अठारह मील चला जाता। शहरी (बेगूसरायवाले) लड़कों का ठाट-बाट और गप्पीपन उसे पसन्द न था, लेकिन वह यह जरूर देखता था कि उनमें पढ़ने-लिखने की लगन होती है, भाषा साफ बोल सकते हैं। राजनीति के सम्बन्ध में जो कोई उपन्यास मिलता, उसे वह पढ़ता; खड़ी बोली की कविताएँ उसे पसन्द आतीं। यद्यपि वह दौड़ननेवाला तथा स्वस्थ लड़का था, खेल में शौक भी रखता था; लेकिन जब फुटबाल में खेलने गया, तो चालाक लड़के उसे बराबर गोलकीपर बनाये रखना चाहते थे, उसे खेलने का मौका नहीं मिलता था और उसने फुटबाल खेलना ही छोड़ दिया।

कॉलेज में–अब कार्यानन्द शर्मा बीस साल के हो गए थे और आगे पढ़ने का शौक वैसा ही बना था। फीस और खाने-कपड़े की समस्या सर पर थी, मगर मुंगेर के डाइमण्ड जुब्ली कॉलेज में नाम लिखाते ही उन्हें पुलिस के दरोगा साहब के यहाँ ट्यूशन मिल गया, समस्या हल हो गई। अब की बार नाम लिखाते समय उन्हें कारुप्रसाद नाम पसन्द नहीं आया। माँ से पूछते तो वह अब भी शायद राजी न होतीं–मृत्यु का क्या ठिकाना, नाम बदलते ही धोखे को पहचान जाये। जुलाई में नाम लिखाया। तर्क, संस्कृत और गणित की पढ़ाई मजे में चल रही थी। लेकिन देश की बातों के लिए उनके कान खुले हुए थे। गाँधीजी के लिए पहले ही से उनमें अपार श्रद्धा थी। इसी समय गाँधीजी मुंगेर आए। कार्यानन्द को दर्शन करने का ही नहीं उनके व्याख्यान सुनने का भी मौका मिला। देश की आजादी के लिए स्कूलों और कॉलेजों को छोड़ काम के मैदान में चले आओ, सरकार से असहयोग करो–यह थी गाँधीजी की पुकार। अक्टूबर में कार्यानन्द कॉलेज छोड़कर बाहर चले आए।

कांग्रेस के काम में–उनके गाँव सहूर से पाँच-छह मील पर लक्खीसराय एक अच्छा कसबा और व्यापार का केन्द्र है। कॉलेज से असहयोग कर कार्यानन्द ने लक्खीसराय में एक राष्ट्रीय विद्यालय खोला, जिसमें सौ लड़के पढ़ते थे। वे स्वयं हेडमास्टर बने। बाजार के मारवाड़ी व्यापारी और दूसरे लोग आर्थिक सहायता देते। बीच-बीच में गाँवों में व्याख्यान भी देने जाते।

1921 में तिलक स्वराज्य फंड जमा करने के लिए गाँवों का खूब दौरा किया। कार्य में उत्साह था और

वे अपनी वाणी की शक्ति को भी अनुभव करने लगे थे। स्वयंसेवकों का संगठन करना, गाँवों में पंचायत बनाना, शराब-गाँजे की दूकानों पर धरना देना, और जगह-जगह घूमकर लेक्चर देना—इतने काम हो गए कि छह-सात महीने के बाद स्कूल की अध्यापकी उन्हें छोड़ देनी पड़ी। गाँधीजी की भक्ति उनमें बढ़ती ही जा रही थी और वे रोज बड़ी श्रद्धा से चरखा चलाते थे।

1921 का अन्त आया, चारों ओर राजनीतिक जोश फैला हुआ था। लोग सत्याग्रह की प्रतीक्षा कर रहे थे। सरकार ने चुने हुए नेताओं को जेल में बन्द करना जरूरी समझा। कार्यानन्द भी पकड़ लिए गए। उन्हें एक साल की सजा हुई, जो पीछे छः महीने की कर दी गई। जेल का समय उन्होंने भागलपुर और मुंगेर में बिताया। वहाँ गीता और रामायण छोड़ पढ़ने के लिए उन्हें कोई दूसरी किताब नहीं मिलती थी, अगर मिली होती, तो पढ़ते; यद्यपि वे गाँधीवादी थे, तो भी राजनीतिक पुस्तकों को पढ़ने का उन्हें शौक था।

जुलाई (1922) में वे जेल से बाहर निकले। फिर वही काम—गाँव-गाँव घूमना, लोगों में राजनीतिक जागृति पैदा करना। गया कांग्रेस में पहुँचे। उस समय इन पंक्तियों का लेखक कांग्रेस की नीति में परिवर्तन चाहता था और वह दास और मोतीलाल नेहरू के स्वराज्य पार्टीवाले प्रोग्राम को पसन्द करता था। लेखक ने प्रतिनिधियों में उसके प्रचारार्थ कितने ही व्याख्यान भी दिए, कार्यानन्द उस समय पक्के गाँधी-भक्त और इस तरह के कुफ्र के कट्टर विरोधी थे।

धीरे-धीरे राजनीतिक आन्दोलन मुर्दा पड़ गया, लेकिन कार्यानन्द ने अपने आस-पास के लोगों को जगाया था, जगाये रहते थे, इसलिए वहाँ कांग्रेस का काम चलता रहा, या कम-से-कम उसका संगठन जीवित रहा। कार्यानन्द मुंगेर जिला कांग्रेस कमेटी के मेम्बर थे। 1923-1927 तक राष्ट्रीय स्कूल का भी संचालन करते रहे। लोगों को उन पर विश्वास था। कार्यानन्द ने वहाँ चित्तरंजन आश्रम बनाया, जिसका उद्घाटन 1927 में गाँधीजी ने किया।

किसान नेता—कॉलेज छोड़ने के बाद सात साल तक लगातार कार्यानन्द ने कांग्रेसी राजनीति के अनुसार काम किया। लेकिन वे ऐसे नेता नहीं थे, कि फुर्सत के वक्त छठे-छमाहे कहीं जाकर एकाध लेक्चर झाड़ आते और फिर अपने निजी काम में लग जाते। वे चौबीस घण्टे देश के काम के लिए देते थे; चरखा, करघा, खद्दर और दूसरे कांग्रेसी प्रोग्रामों को पूरा कराने के लिए वे किसानों को समझाते थे। वह खुद किसान थे और किसानों में घुलमिल जाना उनके लिए स्वाभाविक था। किसानों के पास जाते तो वे अपने दुख-सुख को दिल खोलकर कहते। चारों ओर जमींदारों के अत्याचारों का रोना सुनाई पड़ता। कार्यानन्द समझते थे कि गांधीजी के स्वराज्य में किसानों के सारे दुःख दूर हो जायेंगे, लेकिन वह स्वराज्य कितना दूर है इसका कोई पता नहीं मिल रहा था। साथ ही किसानों के ऊपर होते जुल्म बढ़ते ही जा रहे थे। कांग्रेस के आन्दोलन ने हजारों-लाखों किसानों को सभाओं और कांग्रेसों में इकट्ठा हो गगनभेदी नारा लगाना सिखलाया। सुषुप्त करोड़ों कंठों-हाथों-पैरों को चलते देखकर जुल्म करनेवालों की टाँग थर्राने लगी। समूह में बल है—इसका पता लगने लगा। यदि यह समूह अपने में गति लाकर विदेशी शासकों को घुटने टिकवा सकता है, तो क्या वह इन जमींदारों को जुल्म से बाज नहीं रख सकता। कांग्रेस कार्यकर्त्ता इस बात को आसानी से समझ सकते थे। उनके सामने पीड़ित किसान अपनी गाथाएँ सुनाते भी थे, मगर उनका ध्यान इधर नहीं जाता था। कुछ को तो फुरसत ही नहीं थी, वे कांग्रेस में आकर कांग्रेस कमेटियों की बैठक में जब-तब हाजिरी दे जाते थे, जिसमें डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड और कौंसिल के लिए उम्मेदवार बनाते वक्त अपना दावा पेश कर सकें। कुछ तो स्वयं छोटे-मोटे जमींदार थे, वे भला क्यों अपने स्वार्थ के विरुद्ध जाने लगे। और फिर यहाँ किसी विदेशी निलहे गोरे के खिलाफ लड़ना नहीं था, यहाँ लड़ना था, अपने भाई-बन्दों के अत्याचारों के खिलाफ। कार्यानन्द बहुत दिन तक अपने को रोके रहे। लेकिन अब जमींदारों के जुल्मों को सुनते-सुनते उनके कान पक गए। अब उनके लिए दो ही रास्ते थे—या तो पिसते-उजड़ते किसानों के साथ उनके संघर्ष में शामिल हों, अथवा राजनीति को छोड़ जायँ, आत्मवंचना और परवंचना उनके बूते से बाहर की बात थी। इसीलिए 1927 में गिद्धौर राज्य और खैरा इस्टेट के अफसरों और कारिन्दों के अत्याचारों से तंग आकर चानन-परगने के किसानों ने जब गुहार की, तो कार्यानन्द कान में तेल नहीं डाल

सके। उन्होंने जिला कांग्रेस से मदद माँगी। कांग्रेस वालों को, किसान-आन्दोलन कहाँ तक ले जायगा, अभी इसका पता नहीं था, इसलिए थोड़ों के विरोध के साथ उन्हें आगे बढ़ने का हुकुम मिल गया। कार्यानन्द ने हल-बेगारी, मुफ्त दूध-बकरा-तरकारी लेना, खेतों से बेदखल कर देना, रसीद न देना, बहू-बेटियों की इज्जत बरबाद करना, आदि सभी चीजों की सूची बनाकर महाराजा गिद्धौर और दूसरे मालिकों के पास भेजी। महाराज ने बुलाया। कार्यानन्द ने जाकर सारी शिकायतें उनके सामने रखीं। महाराजा ने किसानों के ऊपर होते जुल्मों को दूर करने का वचन दिया। कार्यानन्द अभी समझते थे, कि बड़े आदमी भले आदमी होते हैं, सारी बुराइयों की जड़ ये नीचे के अहलकार हैं। किसानों में जबर्दस्त एका था, इसीलिए जमींदारों का दबना जरूरी था। अभी बात लिखा-पढ़ी, भेंट-मुलाकात और तसल्ली-दिलासा में चल रही थी।

इसी समय 1930 का नमक-सत्याग्रह आ गया। कार्यानन्द के कामों की वजह से लक्खीसराय कांग्रेस का गढ़ बन गया था। मुंगेर और सन्थाल-परगना दोनों जिलों के सत्याग्रह का केन्द्र लक्खीसराय बना। फिर कार्यानन्द पर नेजर क्यों न जाती। अप्रैल में पकड़कर उन्हें एक साल की सजा दे दी गई, और हजारीबाग जेल में भेज दिया गया। पिछले तीन साल के किसानों के संघर्ष ने बतला दिया था कि राजनीति गीता और रामायण के बल पर नहीं चलाई जा सकती। हजारीबाग जेल में अब भी कांग्रेसी सत्याग्रहियों की बड़ी संख्या थी, जो अपने समय को गीता-रामायण पढ़ने, सखी धर्म करने या ताश-शतरंज खेलने में बिताते थे। कार्यानन्द की कसौटी थी, किसानों और गरीबों का साथी कौन है, जो किसानों और गरीबों का साथी नहीं है, उसे वह अवसरवादी छोड़ और कुछ नहीं समझ सकते थे। इसी कसौटी ने पुराने गांधीवादी कार्यानन्द के दिल में रूस के प्रति स्नेह पैदा कर दिया।

1931 में गाँधी-इर्विन समझौते के बाद बहुत-से कांग्रेसी सत्याग्रही जेल से छूटे। कार्यानन्द भी जेल से बाहर आए। और फिर उसी धुन से काम शुरू किया। अभी किसानों का संघर्ष थोड़े दिनों के लिए स्थगित कर दिया गया था।

1932 में कार्यानन्द ने अपने इलाके में इतना जबर्दस्त संगठन किया था और लोगों का अपने नेता के प्रति इतना सम्मान था, कि पुलिस गिरफ्तार करने में डरती थी। लाचार मिलिटरी से भरी एक स्पेशल ट्रेन बुलाई गई और वह कार्यानन्द को पकड़कर ले गई। अब की साढ़े चार साल की सजा देकर उन्हें दरभंगा कैम्प-जेल में भेज दिया गया।

अभी भी उनके दिल से गाँधीवाद हटा नहीं था। वे समझते थे, किसानों के लिए वे जो कुछ कर रहे हैं, वह गाँधीवाद के अनुकूल है, अमीर कांग्रेसी अपने स्वार्थ के लिए किसानों के संघर्ष में भाग लेना नहीं चाहते। तो भी वह जो कुछ समाजवाद के बारे में सुनते थे, उससे उसके पक्षपाती बनते जा रहे थे, हाँ, उस वक्त का उनका समाजवाद गाँधीवाद की सीमा के भीतर था। कैम्पजेल में बहुत-से देहाती कांग्रेस-कार्यकर्ता आए थे। वे उन्हें पढ़ाते—किन्हीं के लिए राजनीतिक क्लास लेते और कितने ही निरक्षरों को साक्षर बनाने का प्रयत्न करते।

जेल में उन्हें साढ़े चार साल पूरे करने पड़ते, मगर इसी समय (फरवरी 1934 में) बिहार का भूकम्प आ गया। पीड़ित-सहायता के लिए बहुत-से कांग्रेसी नेता छोड़ दिए गए। कार्यानन्द भी जेल से बाहर आ गए। मुंगेर में भूकम्प नहीं महाप्रलय आया था। हजारों आदमी मर गए थे, शहर बरबाद हो गया था। कार्यानन्द ने मुंगेर में पहुँचकर स्वयंसेवकों का चार्ज लिया। साल-भर यह काम चलता रहा; लेकिन जब लोगों की अवस्था कुछ सुधरी, तो वे कभी-कभी किसानों की भी सुध लेने चले जाते थे। किसानों के भीतर कार्यानन्द के काम को देखकर जिला की कांग्रेस-नेताशाही कुछ शंकित हो गई थी। जिला किसान-सभा थी, मगर नाम की; वह एक साहब के पाकेट में चलती थी। नवम्बर (1935) में जमुई में जिला किसान-सम्मेलन हुआ। बाबू श्रीकृष्ण सिंह (पीछे बिहार के महामन्त्री) उसके सभापति थे। स्वामी सहजानन्द भी पहुँचे थे। कुछ लोग चाहते थे, किसान-सभा उनके पाकेट ही में रहे, और समय-समय पर वे उससे नाजायज़ फायदा उठायें। पाकेटवाले सज्जन को कार्यानन्द ने ललकार कर कह दिया—"आपके पाकेट से हम किसान-सभा को निकालकर छोड़ेंगे।" पदाधिकारियों के चुनाव में लोग अपना काँत बाँध रहे थे। कार्यानन्द ने सब कुछ देखा और स्वयं अपना नाम

जिला किसान-सभा के सेक्रेटरी पद के लिए पेश किया। विरोधी समझ रहे थे–कार्यानन्द संकोच कर जायेंगे और उनका काम बन जायेगा। वे सर्वसम्मति से मंत्री चुने गए। अब तक जमींदारों ने बहुत टालमटोल किया, अब उनसे भिड़न्त जरूरी हो गई। जमुई में ही चानन के किसानों के पक्ष में भी प्रस्ताव पास हुआ।

सन् 1935 आया। पहिली वार उठकर किसानों को दब जाते देख जमींदारों के अमले शोख़ बन गए। महाराज के अमलों ने कितने ही आसामियों को निर्दयतापूर्वक पीटा, और मनमानी करने के लिए कागजों पर उनके अँगूठों के निशान लिये। कार्यानन्द के कण्ठ द्वारा किसानों ने अपनी असह्य पीड़ा को प्रगट करना शुरू किया। पहली सभा में दो हजार किसान शामिल हुए और फिर तो दस-दस हजार किसानों का जमाव होना मामूली बात हो गई। महाराज के अमले चानन-परगना छोड़कर भाग गए, जनता की हुंकार के सामने ठहरने की उनकी हिम्मत नहीं हुई। किसान जेल जाने के लिए तैयार थे। हर तरह की तकलीफ उन्हें शिरोधार्य थी। महाराजा को समझौता करना पड़ा। राज्य के मैनेजर ने अपने अमलों के कारनामों के लिए माफी माँगी। समझौता सब-डिवीजनल मजिस्ट्रेट के सामने लिखा गया। चानन परगने से जमींदारी जुल्म सदा के लिए सपना बन गया। अलग-अलग न्यायालय का दरवाजा खटखटाते किसान निराश हो गए। उन्होंने समझा–"ख़ुदा उनकी मदद करता है, जो अपनी मदद आप करते हैं।" कहाँ तो महाराजा के आदमी जरा-जरा बात पर किसानों को पीटने और इज्जत विगाड़ने के लिए दौड़ पड़ते और कहाँ ख़ुद पिट जाते, और एक भी गवाह नहीं मिलता। बाबू श्रीकृष्णसिंह ने उस वक्त कार्यानन्द की सहायता की थी, वे ख़ुद कितनी ही सभाओं में बोले थे।

चानन की विजय की ख़बरें दूर-दूर के किसानों के कानों तक पहुँच गईं। बरसात में कलकत्ता मेल से आते वक्त लक्खीसराय के पश्चिम रेल की सड़क से लेकर बहुत दूर तक एक जल-समुद्र दिखलाई पड़ता है। इस समुद्र में कहीं-कहीं गाँव की बस्तियाँ टापू-सी नजर आती हैं। यही बढ़ैयाताल है। पचासों हजार एकड़ की यह भूमि खेती के लिए अनुपयुक्त है, पानी जमा होने का स्थान नहीं है। वर्षा के बन्द होते ही यह सारा पानी गंगा से होकर बंगाल की खाड़ी में चला जाता है, और वहाँ चारों ओर काली मिट्टी की गीली धरती रह जाती है। न जाने कितने जिलों के सड़े-गले गोबर, ढेले, कूड़े-करकट को बहाकर पानी बढ़ैयाताल में लाता और हर साल बढ़िया खाद की एक मोटी तह जमीन पर छोड़ जाता है। बरसात की फसल ताल में नहीं हो सकती, मगर जैसी रब्बी वहाँ होती है, वैसी दूसरी जगह देखने को न मिलेगी। पानी हटते ही किसान हल-बैल और बीज ले जाते हैं। सिर्फ बीज को जमीन में ढाँकने के लिए एक बार उन्हें हल चलाना पड़ता है। हाँ निकाई, जानवरों से रखवाली आदि काम उन्हें जरूर करने पड़ते हैं। बरसात के तीन-चार मास उन्हें बुरी तौर से काटने पड़ते हैं। दिसम्बर में कलकत्ता मेल की खिड़कियों से झाँकने पर ताल हरे-हरे गेहूँ, जौ, चने का एक हरा समुद्र दिखलाई पड़ता है। इस अपार हरियाली के बीच-बीच में किसानों की झोपड़ियोंवाले पचासों गाँव दिखलाई पड़ेंगे। प्रकृति ने इन्हें इस धान्यराशि का स्वामी बनाया है, मगर कानून ने वढ़ैया और दूर-दूर के दूसरे गाँवों को कितने ही लोगों की, जिनके महल इन गाँवों को बरबाद करके बने हुए हैं। किसान पीढ़ियों से इन खेतों को जोतते आ रहे हैं। ये खेत बकाश्त के खेत कहे जाते हैं, और सरकारी कानून कहता है कि बकाश्त खेत को एक साल जोत लेने पर किसान उसका अचल काश्तकार बन जाता है, मगर तालवाले किसान इन खेतों पर कोई अधिकार नहीं रखते–यह जमींदारों की तरफ से कहा जाता है। किसानों से आधे से ज्यादा अनाज ही नहीं भूसा और क्या-क्या लेकर भी जमींदार रसीद नहीं देते। किसान अदालत के सामने सबूत क्या पेश करते। वे निर्भर रहते थे जमींदार की दया पर। वह जिसको चाहता खेत जोतने देता और जब चाहता, किसी को भीख माँगने पर मजबूर करता। ताल से किसानों पर जो-जो जुल्म होते थे, उसकी लम्बी गाथा है।

लेकिन चानन के विजेता कार्यानन्द के पास जाने के किसानों को कौन रोक सकता था ?

1936 में कार्यानन्द को बढ़ैयाताल के किसानों के अत्याचार के विरुद्ध कमर कसनी पड़ी। असेम्बली के चुनाव में कांग्रेस के लिए जो प्रचार हुआ था–कांग्रेस के खिलाफ बिहार में बड़े-बड़े जमींदार खड़े हुए थे और चुनाव में कांग्रेस-नेता किसान और जमींदार के विरोधी स्वार्थों को ख़ूब अच्छी तरह समझते थे–यद्यपि मिनिस्टरी सम्हालने के बाद उनका रूप बदल गया था। टाल में किसानों का आन्दोलन पहले आठ गाँवों में

शुरू हुआ, पीछे वह चालीस गाँवों में फैल गया। जमींदार बराबर जोतते आए खेतों को वोने से किसानों को रोक रहे थे। झगड़ा यहीं से शुरू हुआ। खेत न बोकर किसान मरने के लिए तैयार कैसे होते ? उन्होंने खेत बोना चाहा। जमींदारों के पास गुंडे, पहलवान और लठैतों की कमी न थी और पहले वह सफलतापूर्वक किसानों को पीट लिया करते थे। मगर अब एक्के-दुक्के किसानों को पीटना नहीं था। अब गाँव-गाँव के किसान जीव और जीविका एक करने के लिए तैयार थे। पहले पिटकर किसानों को अदालत में पहुँचना पड़ता था और वहाँ सुनवाई होने के लिए मोटी रकम की जरूरत पड़ती थी। अब अदालत का दरवाजा खटखटाना उन्होंने छोड़ दिया था। बड़ी-बड़ी जगहों तक रसूख रखनेवाले जमींदार अपनी शिकायतें लेकर गए, और मिलिटरी घुड़सवारों के कैम्प ताल की हरियाली में पड़ गए।

मार्च 1937 आया। ताल के पास ही शेखूपुरा में जिला किसान सम्मेलन हुआ, कार्यानन्द सभापति थे। अब फसल कटने का समय था। जमींदार चाहते थे कि किसानों के घर एक अच्छत न जाने पाये। किसानों ने काटना शुरू किया और मारपीट हुई। किसान किसी निराकार स्वराज्य के लिए नहीं लड़ रहे थे, वल्कि वे लड़ रहे थे, अपनी साकार जीविका के लिए। जेल जाने के लिए गाँव का गाँव तैयार हुआ। मगर पाँच सौ से ज्यादा किसान गिरफ्तार नहीं हुए। कार्यानन्द और उनके बीस साथी किसान-लीडर बनाकर पकड़े गए। उन पर बीस-बीस दफाओं के जुर्म थे।

सिर्फ सरकार की मदद से काम बनता न देख, जमींदार कांग्रेस-नेताओं तक पहुँचे। राजेन्द्र बाबू ताल में पहुँचे। यह कहकर समझौता कराया कि जो जमीन किसान जोतते आए हैं, वह उनको दे दी जायेगी। जमीन की जाँच हुई और पंचों—जो तीनों ही जमींदार थे—ने 350 बीघा जमीन किसानों की बतलाई। समझौते की शर्त के मुताबिक किसानों के ऊपर से मुकदमे हटा लिए गए।

इसी बीच मिनिस्टरी कांग्रेसवालों के हाथ में आ गई। सिवाय एक के सभी बिहारी मिनिस्टर जमींदार थे। उनके भाई-बन्धु, ससुर-साले-दामाद उनके पास दौड़ने लगे। उन्हें मालूम होने लगा कि चुनाव के समय किसानों के सामने जो वादे किए गए हैं, यदि वे पूरे किए जाएँ तो इन बाबू-बबुवानियों, राजा-रानियों का सारा लिफाफा खत्म हो जायेगा। सारा 1937 टाल-मटोल में बीत गया, किसानों को जमीन नहीं मिली। जिन खेतों के बारे में पंचों ने फैसला कर दिया था, उन्हें भी जमींदारों ने देने से इनकार कर दिया।

साल-भर बाद फिर बोने के समय जमींदारों ने किसानों को रोकना चाहा, उनकी मदद के लिए कांग्रेस-मिनिस्टरी ने झट मिलिटरी भेज दी। जमींदारों को बल मिला और उन्होंने काफी लठैत रखे। मारपीट हुई, किसान दबे नहीं। 1938 में जिला किसान सम्मेलन लक्खीसराय में हुआ। जगह-जगह से किसान झंडा लिए अपने सम्मेलन में आ रहे थे। जब कुछ किसान वढ़ैया गाँव के भीतर से गुजरे, तो जमींदारों ने उन्हें पकड़कर बड़ी निर्दयता से पीटा। हालाँकि कांग्रेसवालों ने अखबारों में इन करुण कहानियों को न छापने दिया, मगर वह बीसों मील तक गाँव के एक-एक किसान के जीभ पर थीं। लोग कांग्रेस-मिनिस्टरी के नाम पर थू-थू कर रहे थे। मिनिस्टरी घबड़ाई। कह-सुनकर जमींदारों को पंचायत मानने के लिए राजी किया। पाँच पंच बने जिनमें दो किसानों के पक्ष के और दो जमींदारों के और पाँचवें थे एक कांग्रेसी नेता, जो खुद भी जमींदार थे।

1938 के दिसम्बर में ओइनी में बिहार प्रान्तीय किसान सम्मेलन हुआ। साथी कार्यानन्द की ख्याति सारे बिहार के किसानों में हो गई थी, लोग उनके साहस का लोहा मानते थे। लक्खीसराय से लालकिसान स्वयंसेवकों के लिए पैदल ही हमारे किसान सभापति ओइनी पहुँचे। रास्ते में हर गाँव में लाल वर्दी धारी, लाल झंडेवाले, इन तरुणों को देखकर किसान आकृष्ट होते। उनमें से बहुतों के कानों में यह बात भी पहुँच चुकी थी, कि यह लड़ाके किसान हैं और उनका सरदार कई युद्धों में किसान शोषकों के छक्के छुड़ा चुका है। हर जगह सभायें होतीं और किसान समझते कि वह क्यों ऐसी दयनीय दशा में हैं ? उनके उद्धार का रास्ता क्या है ?

1939 में रेलगाड़ी के सामने खड़ा होने के बहाने कार्यानन्द फिर गिरिफ्तार कर लिए गए ! हाँ, कांग्रेस की मिनिस्टरी थी, मगर किसानों की नहीं। एक साल की सजा हुई। बढ़ैयातालवाली पंचायत ने एक हजार बीघा जमीन किसानों को देने का फैसला किया। पंचायत का कागज हस्ताक्षर करने के लिए साथी कार्यानन्द

के पास जेल में गया। देह में आग लग गई। हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया। मुंगेर जेल से उन्हें हजारीबाग जेल भेज दिया गया।

कांग्रेस मिनिस्टरी किसान-सत्याग्रहियों को चोर-डकैत कैदियों से अलग मानने के लिए तैयार न थी। अब उसे वे पहले दिन भूल गए थे, जब कांग्रेसी लोग राजनीतिक बन्दियों के साथ अच्छा वर्ताव करने के लिए भूख हड़तालें करते। लेखक ने जब किसान सत्याग्रहियों के साथ अच्छा बर्ताव करने के लिए कांग्रेस मिनिस्टरी को अवसर देकर भूख हड़ताल की, तो एक प्रभावशाली पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी ने कहा, जो किसान अपने खेतों के लिए लड़कर जेल में आते हैं, वह निस्वार्थ नहीं हैं, इसलिए उन्हें साधारण कैदियों से अलग नहीं माना जा सकता। कैसी विडम्बना ? यह शब्द एक समझदार देशभक्त के मुँह से सुनने पड़े ! ! क्या देश की आजादी के लिए जेल जानेवाले हरएक व्यक्ति का अपना भी स्वार्थ देश की आजादी में निहित नहीं है ? लेखक को दस दिन तक भूख हड़ताल करने के बाद मिनिस्टरी ने माँगों को बिना माने जेल से बाहर निकाल दिया। कुछ थोड़े ही समय बाद दूसरी बार फिर जेल में जाना पड़ा। और लेखक ने फिर उन्हीं माँगों के लिए हजारीवाग में भूख हड़ताल शुरू की। इसी समय (1939) में साथी कार्यानन्द भी हजारीबाग पहुँचे और उन्होंने भी किसान राजनीतिक बन्दियों की उक्त माँग के लिए भूख हड़ताल शुरू कर दी। लेखक तो चौदह दिन की भूख हड़ताल के बाद छोड़ दिया गया। मगर कार्यानन्द और उनके साथी तरुण अनिलमित्र को 39 दिन तक भूखों घुलने दिया। अगस्त (1939) में साथ कार्यानन्द की अवस्था खतरनाक हो गई और कांग्रेस मिनिस्टरी ने उन्हें छोड़ दिया, लेकिन किसान कैदियों की माँगों को ठुकराते हुए।

1927 के बाद 16 वर्षों में जेल में रहे समय को छोड़ बाकी सारा वक्त साथी कार्यानन्द का किसानों के संघर्ष में बीता। उन्होंने मुंगेर जिले में दर्जनों जगह किसानों की लड़ाइयाँ लड़ीं। औरत और बच्चे तक निर्भय हो अपनी जीविका के लिए सब तरह स्वार्थत्याग के लिए तैयार थे। रोंदी गाँव के किसान जब जमींदार के अत्याचार के खिलाफ उठे, तो वहाँ के मर्द ही नहीं जेल में भेज दिए गए, बल्कि अठारह औरतें और उनके छत्तीस बच्चे भी जेल में डाल दिए गए। अब इन लड़ाइयों के बाद वे किसान नहीं रहे वे बदल गए जहाँ सीधे लड़ाइ-ाँ हुईं, सिर्फ वहीं के किसानों को फायदा नहीं हुआ, बल्कि किसानों के बल को देखकर हजारों जगह जमींदार खुद दब गए और उन अत्याचारों से अपने हाथों को खींच लिया, जिन्हें वे भगवान की ओर से मिला अपना हक समझते थे।

भूकंप के बाद से साथी कार्यानन्द को गाँधीवाद से संतोष नहीं होता था। संघर्ष के दौरान में गाँधीवाद को और पहचानने का मौका मिला और उनकी आस्था उस पर से उठ गई। वे समाजवादी वन गए।

1940 में जमुई में किसानों के लिए फिर उन्हें छह मास की सजा और दो सौ रुपया जुर्माना हुआ। जून में छूटकर वे सिर्फ दो मास बाहर रह सके और बीस सितम्बर को पकड़कर हजारीवाग में नजरबन्द कर दिए गए। पहले छह मास और इस नजरबन्दी के समय (20 सितम्बर 1940-23 फरवरी 1942) में उन्होंने किसान और मजदूर समस्याओं का गम्भीर अध्ययन किया। मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन के गंभीर विचारों का अध्ययन किया। जिन बातों को अभी वे प्रयोग करके ठीक समझते और उन पर चलते, अब मालूम हुआ कि समाज, उसके अंदर की विरोधी शक्तियाँ और उनके पारस्परिक संघर्ष के भीतर भी खास नियम काम कर रहा है। उनका एक साइंस है, जिसे मार्क्सवाद कहते हैं। मार्क्सवाद को पाकर कार्यानन्द अपनी क्षमता को कई गुना बढ़ी पाते हैं। आज राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय गुत्थियों को समझने में उनको वह दिक्कतें नहीं उठानी पड़तीं। जर्मनी और जापान के फासिस्टों की पराजय क्यों जरूरी है, इसे वे साफ-साफ समझते हैं। आज तेईस वर्ष से वे कांग्रेस में काम कर रहे हैं। आल इन्डिया कांग्रेस कमेटी के मेम्बर हैं। कांग्रेस के सम्माननीय नेता हैं, यह सब होते हुए भी वे किसानों और मजदूरों के हितों को सर्वोपरि समझते हैं, और किसानों और मजदूरों की आजादी में मनुष्य-मात्र की आजादी मानते हैं।

23 फरवरी 1942 को साथी कार्यानन्द जेल से छूटे, तब से वे लगातार किसानों की सेवा में लगे हुए हैं। युद्ध के कारण जो दिक्कतें उनके सामने आतीं उनका रास्ता बतलाते। अन्धी देशभक्ति, अंग्रेज शासकों

के प्रति घृणा, और एमरी के स्वार्थी वर्ग के भड़काने में आकर बिहार में जब लोगों ने रेल-तार काटने शुरू किए, उस वक्त साथी कार्यानन्द बम्बई में भारतीय कांग्रेस-कमेटीवाली बैठक से लौटकर पटना पहुँचे। वे उतावले थे अपने कार्यक्षेत्र में जाने के लिए। रास्ते में मिलिटरी अकल खोकर दौड़-धूप कर रही थी। रेलें बन्द थीं। साथी कार्यानन्द पैदल ही लक्खीसराय की ओर चल दिए। मुकामा में अंग्रेज सैनिकों ने इस लम्बे-चौड़े खद्दरधारी को पकड़ लिया। कमाण्डर के पास ले गए। कमाण्डर ने उनके पास लेनिन की एक पुस्तक देखी। उसे मालूम हुआ कि फासिस्टों की सबसे जबरदस्त दुश्मन कम्युनिस्ट पार्टी का आदमी है। पकड़नेवाले सिपाही पर वह बहुत बिगड़ा। कार्यानन्द लक्खीसराय पहुँचे। अनजाने जापानी फासिस्टों की मदद का काम करनेवाले अन्धे देशभक्तों ने अपने अन्धेपन का सबूत दिया था। मगर सरकारी कर्मचारी भी अन्धेपन में उनका कान काटने के लिए तैयार थे। लक्खीसराय में गोली चली–साथी कार्यानन्द लोगों को समझा रहे थे–"इस समय फासिस्टों के फायदे का काम करके हमें जापान के आने में आसानी पैदा नहीं करनी चाहिए। जापान और जर्मनी शताब्दियों के लिए मानवजाति को गुलाम बनाकर अपने फौलादी पंजे के भीतर रखना चाहती है। हमें अपनी आजादी के लिए अपना एका कायम करना चाहिए और इस लड़ाई में फासिस्टों को हराना अपना कर्तव्य समझना चाहिए। हम लड़ना चाहते हैं फासिस्ट राक्षसों से। लेकिन एमरी और चर्चिल जैसे थैलियों के चट्टे-बट्टे अपने भविष्य के स्वार्थ का ख्याल कर हमें हथियारबन्द हो अपनी लड़ाई समझकर इस लड़ाई में पड़ने नहीं देना चाहते।" साथी कार्यानन्द लक्खीसराय से पकड़कर मुंगेर जेल में भेजे गए और कुछ दिनों के बाद उन्हें छोड़ा गया।

आज कार्यानन्द का जिला (मुंगेर) बिहार का सबसे आगे बढ़ा हुआ जिला है। दर्जनों तरुण वहाँ अपना सारा समय देश के लिए दे रहे हैं।

11
मुजफ्फर अहमद

प्रमुख तिथियाँ–1893 जन्म (सन्दीप में), 1897 अक्षरारंभ 1899-1901 हरीशपुर एम. ई. स्कूल में, 1901--5 घर पर बेकार, 1905-6 वामनीमद्रसा अरबी-फारसी के विद्यार्थी, 1906 बुड़ीचर में अध्यापक, 1906-10 सन्दीप हाईस्कूल में विद्यार्थी, 1910-13 नवाखली हाईस्कूल में विद्यार्थी, 1913 मेट्रिक पास, 1913 हुगली कॉलेज के विद्यार्थी, 1913-16 बंगवासी कॉलेज के विद्यार्थी, 1915 बंगीय मुसलमान साहित्य परिषद् के सहायक मंत्री, 1917 बंगाल गवर्नमेंट प्रेस में असिस्टेंट स्टोरकीपर, 1918 राजनीतिक विभाग में उर्दू से बंगला के अनुवादक, 1921 मजूरों की ओर, पत्रकार, कम्युनिस्ट-विचार, 1922 कम्युनिस्ट कार्य, 1923 मई गिरफ्तार और नजरबन्द, 1924 मार्च कानपुर कम्युनिस्ट षड्यंत्र, 1925 सितम्बर जेल से बाहर, 1926-28 मजूरों में काम हड़तालें, 1929 मेरठ कम्युनिस्ट षड्यंत्र मुकदमे में, 1935 जुलाई जेल से बाहर, फिर नजरबन्द, 1936 जून 25 जेलसे बाहर, 1937 मजूर-आंदोलन हड़ताल, किसान आंदोलन, 1940 कलकत्ता से खारिज।

कम्युनिस्ट विचारों का प्रचार, रूसी क्रान्ति के बाद, बहुत बाद–एक तरह से 1929 के शुरू होनेवाले मेरठ के कम्युनिस्ट षड्यंत्र मुकदमे के बाद से लोगों को सुनाई देने लगा, लेकिन आज तेजी के साथ कम्युनिस्टों का प्रभाव मजूरों और किसानों में बढ़ा है और उनकी काम करने की धुन और समझ का लोहा सारे भारत में माना जाने लगा है। भविष्य में कम्युनिस्ट पार्टी भारत की सबसे बड़ी शक्ति होगी। नवभारत के निर्माण में उसका सबसे बड़ा हाथ होगा, इसमें सन्देह नहीं रह गया है। भारतीय कम्युनिस्टों का सबसे पुराना कर्मठ सरदार, उनका पितामह कौन है, यह पूछने पर बंगाल के एक छोटे-से समुद्री द्वीप में पैदा हुए, दुबले-पतले लज्जा और

संकोच की साक्षात् मूर्ति एक आदमी की ओर सबकी अँगुलियाँ उठेंगी। आज भारत के सारे कम्युनिस्ट जिस आदमी को अपना पितामह कह सबसे बड़ा सम्मान करते हैं, वह है मुजफ्फर अहमद, जिसका जीवन बराबर संघर्ष का जीवन रहा है। उसने बचपन ही से गरीबी के साथ संघर्ष किया था। पीढ़ियों से चले आते संकुचित विचारों के साथ संघर्ष किया। अपनी मेहनत के बल पर शिक्षा प्राप्त की, लेकिन प्रलोभनों ने उसे अपने जाल में फँसाने में कभी सफलता नहीं पाई। वह उन घड़ियों से भी वाकिफ है जब कि वह अकेला था। वह निराशापूर्ण परिस्थितियों में भी बड़ी आशा के साथ अपने काम में तत्पर रहा। जेलों और नजरबन्दियों ने उसके शरीर को कुछ विश्राम और दिमाग को और अधिक काम देने के सिवाय और कुछ नहीं किया। वह समय आएगा, जब मुजफ्फर के नाम से शहर बसाये जायेंगे। उसके नाम से सामूहिक खेतियोंवाले गाँवों के नाम रखे जायेंगे। बड़े-बड़े कारखाने उसके नाम से पुकारे जाने पर अभिमान करेंगे।

जन्म–नवाखोली जिले में किन्तु स्थल भाग से कुछ हटकर बंगाल की खाड़ी में सन्दीप एक सौ पचास वर्गमील का एक द्वीप है। भूमि के अधिक उपजाऊ न होने पर भी सन्दीप की आबादी (1,69,000) बहुत घनी है। सन्दीप के गाँवों में मूसापुर एक बड़ा गाँव है, जिसमें सोलह हजार आदमी बसते हैं, और बीस चौकीदार अपनी 'ड्यूटी' बजाते हैं। आबादी ज्यादातर मुसलमानों की है, जो अधिकतर किसानी और मल्लाही का पेशा करते हैं। मूसापुर के मल्लाह अंग्रेज-मालिकों के जहाजों पर लश्कर बन दुनिया के कौन-से भाग में नहीं पहुँचते ? मूसापुर में कितने ही हिन्दू कायस्थ, तमोली, जोगी, पुराने बौद्ध भिक्षु, अब हिन्दू जुलाहे, हजाम और धोबी भी बसते हैं। सिर्फ अपनी जमीन के भरोसे वहाँ कोई खुशहाल नहीं हो सकता। वस्तुतः अधिकांश जनता बहुत गरीब है। पहले किसी समय वहाँ के जमींदार भी मुसलमान थे। जिनसे उनकी जमींदारी को दो फ्रेंच जमींदारों और उन्नाव के एक तिवारी ने खरीदा। फ्रेंच जमींदार की जमींदारी रायबहादुर सुखलाल करनानी ने ले ली। कितने ही छोटे-छोटे जमींदार भी हैं।

मुगल शासन के समय संदीप का अफसर दिलावर खाँ था, जो पीछे स्वतंत्र हो गया था। दिलावर खाँ के कर्मचारियों में मुजफ्फर के पूर्वज भी थे। इसी खानदान में 1892 के आसपास मुजफ्फर का जन्म हुआ।

मुजफ्फर के पिता मुंशी मंसूरअली (मृत्यु 1905) वहीं द्वीप की कचहरी में मुख्तार थे। मुख्तार मंसूरअली हाथ से मुँहवाले मुख्तार थे, और घर का गुजारा उनकी आमदनी से बहुत मुश्किल से होता था। उनमें मजहबी कट्टरता छू नहीं गई थी। उस वक्त अंग्रेजी शिक्षा के खिलाफ हरएक मुल्ला जहाद बोले हुए था, और संदीप के अनपढ़ मुसलमानों पर मुल्लों का बहुत प्रभाव था, तो भी मुंशी मंसूरअली अंग्रेजी शिक्षा के पक्षपाती थे। बंगाल के दूसरे मुसलमानों की तरह संदीप के मुसलमानों की मातृभाषा बंगला थी और वे बंगला ही में लिखा-पढ़ी करते थे, लेकिन पिछली शताब्दी के अन्त में उत्तरी भारत से उर्दू-अरबी पढ़कर गए मुल्ले प्रचार कर रहे थे, कि लड़कों को उर्दू-अरबी पढ़ाना चाहिए। मुंशी मंसूरअली ने अपने लड़कों को पहले कुरान नहीं बंगला पढ़ाया। मुजफ्फर भी जब चार साल छह महीने के हुए तो पिता ने ही बिसमिल्ला के साथ अ, आ, पढ़ाकर बंगला की पहली पोथी खतम कराई। पिता बहुत कड़ा अनुशासन चाहते थे लेकिन मुजफ्फर की माँ चुनाबीबी (मृत्यु 1914) बच्चे पर बड़ा प्रेम रखती थीं। मुजफ्फर बचपन ही से बहुत दुबले-पतले थे। पिता ने बुढ़ापे में दूसरी शादी की थी और माँ भी शरीर से बहुत दुर्बल थी। फिर मुजफ्फर को दूसरी तरह का स्वास्थ्य मिल कैसे सकता था। मुजफ्फर की पहली सौतेली माँ से तीन भाई और दो बहनें थीं।

मुजफ्फर तीन-चार साल के थे, जबकि उनका छप्पर टट्टरवाला मकान आग से जल गया। और घर-भर चिन्ता में डूबा हुआ था। मुजफ्फर की सबसे पुरानी याद उस समय की है।

बचपन में माँ मुजफ्फर को तरह-तरह की कहानियाँ सुनाया करती थी। समुद्र के बीच एक टापू में रहते भी समुद्र की कहानियाँ उन्हें सुनने को नहीं मिलीं। मझले भाई कलकत्ता मदरसा में पढ़ते थे। वे जब आते, तो कुछ उर्दू की कहानियाँ सुनाते। संस्कृत से भरी बंगला के निर्माता, लोग समझते होंगे, बंगाली हिन्दू रहे होंगे, लेकिन बात उलटी है। यह काम सैय्यद अलावल ने अपनी 'पद्मावती' द्वारा किया। पद्मावती की कहानी मुजफ्फर को बहुत प्रिय थी। 1897 से मुजफ्फर गाँव के प्राइमरी स्कूल में पढ़ने लगे थे। पढ़ने में उनकी दिलचस्पी

थी, मेहनत भी करते थे। स्कूल में मार खानी नहीं पड़ती थी। लेकिन पिता दुर्वल शरीर पुत्र को और भी दुर्वल बनाना चाहते थे। लड़कों के साथ खेलते देख पीटे बिना नहीं रहते थे। मुजफ्फर के अध्यापक पूर्णचन्द्रनाथ (जोगी) का अक्षर बहुत सुन्दर होता था, वे चाहते थे कि उनके विद्यार्थी भी सुन्दर अक्षर लिखा करें और वह केले के पत्ते पर काली स्याही से खूब सुन्दर अक्षर लिखाया करते थे। मुजफ्फर के वंगला अक्षर वहुत सुन्दर होते हैं।

गाँव के स्कूल की पढ़ाई खतम कर वह (1899 में) हरीशपुर के मिडिल इंग्लिश स्कूल में दाखिल हुए। स्कूल घर से चार मील था और रोज आना-जाना नहीं हो सकता था। इसलिए सौतेले मामा के घर पर रहकर पढ़ने जाया करते थे। यहाँ खेलने की कुछ सुविधा थी। पिता बहुत बूढ़े हो गए थे और उन्होंने कचहरी जाना छोड़ दिया था। घर की हालत बदतर से बदतर होती गई। मुजफ्फर गरीवी के कारण फीस भी नहीं दे सकते थे और उनका नाम कट गया। इस प्रकार हरीशपुर में दो साल पढ़कर उन्हें घर बैठ जाना पड़ा।

घर में थोड़ा-सा खेत था, मगर उसके जोतने के लिए अपना हलबैल नहीं था। वहनोई से हलबैल मँगाकर खेत जुतवा लेते थे। नौ बरस के मुजफ्फर को भूख से तिलमिलाती अंतड़ियां को देखने के सिवाय और कोई काम नहीं था। पिता गाँव के लड़कों से मिलने भी नहीं देते थे। खेत की जुताई, कटाई बुनाई में से जो कुछ बन पड़ता, मुजफ्फर उसे करते थे। घर के खेतों से दाल, मिर्च और दो फसल धान की हो जाती थी। कुछ नारियल और सुपाड़ी के वृक्ष भी थे। मछलियाँ मार लाते। गाँव में कुआँ नहीं था, सिर्फ तालाव का पानी पीने को मिलता था। एक टूटे तालाब में इतना घना जंगल हो गया था, कि वहाँ अजगरों ने वसेरा कर दिया था। लेकिन मुजफ्फर को उनसे कभी वास्ता नहीं पड़ा।

उसी समय मदरसे का एक विद्यार्थी उनके घर में रहने लगा। बैठे-ठाले रहने से कुछ पढ़ना अच्छा है, सोच मुजफ्फर ने उस विद्यार्थी से कुरान का पाठ सीखा, एकाध उर्दू की किताबें पढ़ीं; पन्दनामा खतम किया। स्कूल में तो फीस के मारे पढ़ना मुश्किल था लेकिन मदरसे में फीस देने की जरूरत नहीं थी। मुजपफर मदरसे में जाने लगे। फारसी पढ़ते और अरबी व्याकरण भी कंठस्थ करते थे।

1905 में जब पिता मर गए, तो उन्हें अपने हाथ-पैर के बन्धन टूटे मालूम हुए। वे किसी अच्छे मदरसे में जाकर पढ़ना चाहते थे। अब वे तेरह साल के थे। एक दिन बिना किसी के कहे ही घर में रहनेवाले विद्यार्थी के साथ खाड़ी पार कर बामनी में चले गए, और वहाँ के मदरसे में दाखिल हो अरवी-फारसी पढ़ना जारी रखा। बामनी के अपने दो साल के निवास में उन्होंने गुलिस्ताँ, वोस्ताँ और कई दूसरी किताबें खतम कीं। स्कूलों के डिप्टी इन्स्पेक्टर उमेशचन्द्र दासगुप्त एक दिन मदरसा देखने आए। उन्होंने इस मेधावी लड़के को देखकर कहा, तुम्हें अंग्रेजी पढ़नी चाहिए। लेकिन अंग्रेजी पढ़ें कैसे ? बड़े भाई को खत लिखा, उत्तर उत्साहवर्धक नहीं आया। मुजफ्फर ने निश्चय कर लिया कि वह अंग्रेजी पढ़ेंगे। पता लगा बरीसाल जिले में कुछ महीने गाँववालों को पढ़ाकर बिदाई में कुछ रुपये मिल सकते हैं। मुजफ्फर सीधे गुडरीचर (थाना अमतली) पहुँच गए। यद्यपि इधर वे मदरसे में अरबी-फारसी पढ़ा करते थे, मगर बंगला की किताबों को भी वे पढ़ते रहते थे। उमर छोटी थी और दुर्बल होने के कारण और भी छोटी मालूम होती। लेकिन कुछ ही दिन में गाँववालों को पता लग गया कि अध्यापक खूब पण्डित है। मुजफ्फर ने सोचा था कि छह-सात महीने पढ़ाने के वाद लड़कों के माँ-बाप जो बिदाई देंगे, उससे पचीस-तीस रुपये आ जायँगे, फिर किसी अंग्रेजी हाई स्कूल में दाखिल हो जायेंगे। दो-तीन मास पढ़ा पाये थे, कि इधर घर में तलाश होने लगी, आखिर पता लगाकर वड़ा भाई एक दिन पहुँच गया और उन्हें पकड़कर मूसापुर लाया। लेकिन मुजफ्फर को फिर भागने न देने का एक ही रास्ता था कि, उन्हें स्कूल में दाखिल कर दिया जाय।

स्कूल छोड़ने के पाँच साल बाद अब वे फिर सन्दीप के हाई स्कूल के आठवें दर्जे में पढ़ने लगे। एक साल तक वहीं भाई के साढ़ू एक काजी साहब के दफ्तर में रहते और भात की दूकान में खाना खाते। उनके भाई, जो कि किसी मामूली पाठशाला में अध्यापक थे–पैसे की मदद किया करते। फिर कितने ही और लोगों के घरों में रहते रहे। एक बार उन्हें डवल तरक्की भी मिली। तीसरे (आज के आठवें) क्लास में जाने पर

इस स्कूल की पढ़ाई उन्हें पसन्द न आई और 1910 में वे नवाखोली के जिला स्कूल में चले आए।

यहाँ भी किसी मुस्लिम परिवार में रहते और दूकान में खाना खाते। फीस पहिले पूरी देनी पड़ती थी, किन्तु पीछे आधी माफ हो गई। गणित में मुजफ्फर कमजोर थे, लेकिन बंगला उनकी बहुत मजबूत थी। बंगला के काव्यों और साहित्य की पुस्तकों को बहुत तन्मय होकर पढ़ते थे। सबसे पहिला बंगला लेख 1907 में कलकत्ता के साप्ताहिक 'सुल्तान' में छपा। सुल्तान के संपादक थे बंग-भंग विरोधी देशभक्त मौलवी इस्लामाबादी। वैसे स्थानीय खबरों को वह अखबारों में सन्दीप से ही भेजने लगे थे। मौलाना इस्लामाबादी मुजफ्फर को लिखने के लिए बहुत उत्साहित किया करते थे। मास्टर अब्दुल अहद स्वयं बंगला में कहानियाँ और लेख लिखा करते थे। वह भी तरुण मुजफ्फर के लेखक बनने में सहायक थे। किसी समय कविता करने का भी प्रयत्न किया, मगर मुजफ्फर को जल्दी ही मालूम हो गया कि वह उनका क्षेत्र नहीं है।

1913 में वे मेट्रिक दूसरे डिवीजन में पास हुए। जीविका के लिए उन्हें ट्यूशन करना पड़ा था और गणित से इतना मन भड़कता था कि बीजगणित को उन्होंने छुआ तक नहीं।

स्वाध्याय–बंगला साहित्य के अध्ययन में उनकी बड़ी दिलचस्पी थी। मरीज और कमजोर रहना उन्होंने माता-पिता से उत्तराधिकार में पाया था। खेलकूद में वे कभी भाग नहीं लेते थे और न व्यायाम का ही शौक पैदा हुआ। 1906 में बंग-भंग को लेकर बंगाल में एक जबर्दस्त आंदोलन चल रहा था, उसी वक्त से अखबारों को वे बड़े ध्यान से पढ़ने लगे थे। बंगाल में और जगहों की तरह नवाखोली में भी आतंकवाद का जोर था। पूर्वी बंगाल में–जिसे ढाका राजधानी बना अलग सूबा कर दिया गया था–सबसे ज्यादा और बड़े-बड़े जमींदार हिन्दू हैं और सबसे अधिक किसान मुसलमान हैं। पूर्वी बंगाल का गवर्नर सर बैंकफील्ड फुलर जमींदारों के सख्त खिलाफ था। हिन्दू जमींदार भयभीत थे कि कहीं जमींदारी प्रथा पर खतरा न आए इसलिए बंग-भंग आन्दोलन में वे सबसे आगे थे, और सबसे जबरदस्त देशभक्त थे। पूर्वी बंगाल के मुसलमान शिक्षा में बहुत पिछड़े हुए थे, नई सरकार ने स्कूलों की संख्या बहुत बढ़ाई और मुसलमानों में ज्यादा शिक्षा-प्रचार करना चाहा। मुजफ्फर जिस 'सुल्तान' के नियमपूर्वक पाठक थे, वह बंग-भंग-विरोधी था और उसका असर उन पर पड़ना जरूरी था। उधर पूर्वी बंगाल के मुसलमान नेता भी चुप नहीं बैठे थे और वह हिन्दू जमींदारों के किसानों पर प्रभुत्व और हिन्दू-शिक्षितों के सरकारी नौकरियों पर सर्वाधिकार की बात कहकर मुसलमानों को भड़काते थे। मुजफ्फर इन सच्चाइयों से इनकार नहीं कर सकते थे। उनके स्कूल के एक अध्यापक मुजफ्फर से सिर्फ इसलिए घृणा करते थे कि वे मुसलमान थे। मुजफ्फर दुविधा में जरूर थे, मगर बंगाल के शहीदों की कुर्बानियों के प्रति वे भारी सम्मान रखते थे। सिर्फ स्वदेशी कपड़ा पहनते थे और अंग्रेजों को पसंद न करते थे। मजहब का ख्याल उनके दिल में था जरूर, मगर कट्टरता नहीं थी और नमाज-रोजा में भी उपेक्षा की दृष्टि रखते थे।

कॉलेज में–अब मुजफ्फर को कॉलेज में पढ़ने की इच्छा हुई। बड़े भाई ने कुछ मदद देने का वादा किया और बाकी कमी को ट्यूशन से पूरा कर लेने की उन्हें आशा थी। 1913 में वे हुगली कॉलेज (वर्तमान मुहसिन कॉलेज) में दाखिल हुए और अरबी, इतिहास और तर्कशास्त्र को पाठ्य-विषय रखा। लेकिन थोड़े ही दिनों बाद मलेरिया ने प्रहार करना शुरू किया और मुजफ्फर को हुगली छोड़ कलकत्ता के बंगवासी कॉलेज में आ जाना पड़ा। ट्यूशन में काफी समय लगता था और उधर स्वास्थ्य खराब ही था। साथ ही कॉलेज की पुस्तकों के पढ़ने की जगह बंग-साहित्य-सागर में वे गोते लगाते रहे। इस्लामिक संस्कृति के इतिहास में उनका खास शौक था। बंगीय साहित्य सम्मेलन और साहित्य परिषद् के वे सरगर्म सदस्य भी थे। मुसलमानों ने एक बंगीय मुसलमान साहित्य-परिषद् के नाम से अपनी अलग भी बंगला की साहित्य-परिषद् खोली, इसमें भी मुजफ्फर भाग लेते थे और 1915 में उसके सहायक मंत्री चुने गए। इन सबका यह परिणाम हुआ कि 1916 की इंटरमीडियेट परीक्षा में मुजफ्फर फेल हो गए। आगे फिर कॉलेज में पढ़ना उन्होंने फजूल समझा।

जीविका के लिए तो कुछ करना ही था, सिर्फ साहित्य परिषद् से काम थोड़े ही चल सकता था। 1917 में मुजफ्फर बंगाल गवर्नमेंट प्रेस में असिस्टेंट स्टोरकीपर हुए और एक वर्ष तक काम करते रहे। मुजफ्फर की राष्ट्रीय भावना इतनी उग्र थी कि वे वहाँ देर तक ठहर न सके। अंग्रेज सुपरिन्टेन्डेंट ने मुजफ्फर को भी

चापलूस बन दुम हिलाते देखना चाहा, और वे इसके लिए तैयार न थे। दो-तीन महीने तक झगड़ा चलता रहा। अन्त में मुजफ्फर ने नौकरी छोड़ दी।

1918 में अभी महायुद्ध चल ही रहा था, मुजफ्फर को पोलिटिकल विभाग में उर्दू से बंगला में अनुवाद करने का काम मिला और एक मास तक वे वहाँ काम करते रहे।

अब उन्होंने तै किया कि सारा समय बंगीय-मुस्लिम साहित्य-परिषद् को देना चाहिए। बंगाल में मुसलमानों की इतनी भारी संख्या हो और वह अपनी मातृभाषा बंगला के साहित्य के निर्माण में अपनी संख्या के अनुरूप भाग न लें, मुजफ्फर को यह बहुत चुभता था। उन्होंने परिषद् कार्यालय को साठ रुपया मासिकवाले एक नये मकान में तबदील किया। 'बंगीय मुसलमान साहित्य पत्रिका' नाम से एक त्रैमासिक पत्रिका निकाली, जिसके सम्पादक के लिए नाम तो दूसरों के दिए गए थे, मगर काम सारा मुजफ्फर को करना पड़ता। उस वक्त वंगभाषा के तरुण कवि नजरुल इस्लाम बंगाली रेजीमेंट में थे, उनकी प्राथमिक कविताएँ इसी पत्रिका में छपती थीं।

लड़ाई के बाद सारी दुनिया में क्रान्ति और हलचल शुरू हुई। भारत में वह कांग्रेस के आन्दोलन के रूप में दिखलाई देने लगी। मुजफ्फर केवल साहित्यिक रहना चाहते थे, मगर उनका मन बगावत करने लगा। अन्त में उन्हें समझौता करना पड़ा और साहित्य द्वारा राजनीतिक सेवा करने का निश्चय किया। मिस्टर फजलुलहक कांग्रेस-खिलाफत के बड़े लीडर थे। मुजफ्फर उनके पास गए और एक बंगला पत्रिका की योजना सामने रखी। हक ने कहा, हमारा प्रेस है, अखबार निकालो। 1920 में 'नवयुग' बंगला दैनिक निकला। मुजफ्फर नवयुग के रूप में राजनीतिक क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। काजी नजरुल इस्लाम की रेजीमेंट तोड़ दी गई थी, और उन्हें सब-रजिस्ट्रारी मिलनेवाली थी। मुजफ्फर के समझाने पर नजरुल ने सरकारी नौकरी पर लात मारी। अब नजरुल और मुजफ्फर दोनों मिलकर 'नवयुग' का सम्पादन करते थे। 'नवयुग' के गरम-गरम लेखों को देखकर सरकार ने एक हजार की जमानत जब्त कर ली और फिर हक की खुशामद करके दो हजार की नई जमानत दिलवाई। पत्र चार हजार छपने लगा। नजरुल की 'अग्निवीणा' जैसी जोशीली कविताएँ 'नवयुग' में ही निकली थीं। 'नवयुग' की धाक जमने लगी।

मौलाना अबुल कलाम आजाद ने कलकत्ता टाऊन हाल में तीन दिन तक छह-छह घंटा व्याख्यान दिए। मुजफ्फर बराबर सुनने के लिए जाया करते थे। मुजफ्फर बहुत प्रभावित हुए। वैसे मुजफ्फर पर रूसी क्रान्ति का कुछ प्रभाव पड़ चुका था। मूसापुर के सैकड़ों आदमी जहाजी मल्लाह थे और उनके दुःखों को जानने का मौका मुजफ्फर को बहुत नजदीक से मिला था। 'नवयुग' में किसान मजूर राज्य के सपने की भी बातें निकलती थीं; यद्यपि समाजवाद या कम्युनिज्म क्या है, इसके बारे में उनका ज्ञान शून्य-सा था। सितम्बर 1920 में कलकत्ता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। अहिंसात्मक असहयोग के बारे में प्रस्ताव पास हुआ। फजलुलहक वकालत छोड़ें या न छोड़ें इस दुविधा में पड़े हुए थे। इधर किसी ने उनके कानों में 'नवयुग' के सम्पादकों के लेखों के बारे में कुछ उलटा-सीधा भरा। वह रुकावट डालना चाहते थे। दिसम्बर में मुजफ्फर और नजरुल 'नवयुग' से अलग हो गए और अखबार बन्द हो गया।

मुजफ्फर ने नया अखबार निकालना चाहा। इसके लिए एक कम्पनी बनाने का आयोजन किया। कम्पनी की रजिस्टरी के लिए भी पैसे नहीं थे। उसी समय (1921) में मौलाना कुतुबुद्दीन से परिचय हुआ। मौलाना कुतुबुद्दीन ने रुपया दिया। मुजफ्फर ने एक वक्तव्य तैयार किया, जिसमें कम्पनी की ओर से निकाले जाने वाले पत्र को 'मजूर किसानों का पत्र' लिखा गया था। बंगला के अंग्रेजी अनुवाद में अनुवादक ने मजूर की जगह प्रोलेटेरियट (Proletariat) शब्द लिख दिया। आक्सफोर्ड डिक्शनरी देखकर मुजफ्फर ने उसका अर्थ समझा। शायद भारत में पहिली बार इस शब्द का प्रयोग हुआ। कम्पनी के शेअर नहीं बिके और पत्र नहीं निकल सका।

राजनीति में–मुजफ्फर मासिक और साप्ताहिक पत्रों में लेख लिखा करते थे। अब उनका सारा समय सक्रिय राजनीति में लगता था। सोवियत और मजूर किसान हित की ओर उनका खासतौर से ध्यान था और उस पर लिखी गई पुस्तकों को वह खोजने लगे। अंग्रेजी अखबारों में जो कुछ निकलता था, उसमें सोवियत और कम्युनिज्म पर गालियाँ ही होती थीं। एक दिन एक दूकान पर मुजफ्फर को लेनिन की दो पुस्तकें अंग्रेजी में

मिलीं–'वामपक्षी कम्युनिज्म', 'क्या बोल्शेविक राज-शक्ति को हाथ में रख सकेंगे ?' मुजफ्फर ने वड़े ध्यान से इन पुस्तकों को पढ़ा। उसी समय एक छोटी-सी पुस्तिका 'जनता का मार्क्स' भी हाथ लगी। पढ़ते तो थे, मगर अभी बातें उनकी समझ में अच्छी तरह न आती थीं। किन्तु मन कह रहा था कि यही उनका अपना रास्ता है। विलायत की मजदूर पार्टी की ओर से छपी पुस्तकों को भी वह पढ़ते थे, मगर उनकी बातें संतोषजनक नहीं मालूम होती थीं। इसी समय उन्हें मालूम हुआ कि साम्यवाद (कम्युनिज्म) के प्रचार के लिए 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल' नाम की एक संस्था मास्को में मौजूद है। मुजफ्फर ने उसके बारे में जानकारी प्राप्त करनी चाही। कम्युनिस्ट इंटरनेशनल ने एशियाई विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए ताशकन्द में एक सैनिक स्कूल खोला था, जिसे हाल के अंग्रेजों के साथ हुए व्यापारिक समझौते के कारण तोड़ दिया गया। अब विद्यार्थी मास्को के पूर्वी विश्वविद्यालय में पढ़ते थे। अब इन संस्थाओं में पढ़े हुए दस-बारह विद्यार्थी भारत लौट रहे थे, जिनसे मुजफ्फर को कुछ बातें मालूम हुईं। मुजफ्फर अब कम्युनिस्ट थे–भारत के सबसे पहले कम्युनिस्ट।

1922 में मुजफ्फर और उनके साथियों ने भारतीय कम्युनिस्टों का 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल' से सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया। मास्को से मुहम्मदअली नामक एक कम्युनिस्ट काबुल आए। पेशावर के इस्लामिया कॉलेज के प्रोफेसर गुलामहुसेन से उनकी बातचीत हुई। उन्होंने प्रोफेसरी छोड़ दी और पंजाब में आकर मजूरों में काम शुरू किया। भारत से भागे हुए कुछ भारतीय आतंकवादी भी मास्को पहुँचे थे और आतंकवाद छोड़कर वे कम्युनिस्ट बन गए थे। उन्होंने नलिनीगुप्त को भारत भेजा। कलकत्ता में नलिनी ने आतंकवादियों से बातचीत की। उसी समय नलिनी को मुजफ्फर के लेखों का पता चला। मुजफ्फर को नलिनी से सोवियत के बारे में बहुत-सी बातें मालूम हुईं और कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस के बारे में जानने का मौका मिला।

मुजफ्फर 1918 ही में 'भारतीय मल्लाह सभा' में शामिल हुए थे, मजूर सभा भी उन्होंने कायम की थी, जिसके सेक्रेटरी मौलाना कुतुबुद्दीन थे। इस समय उन्हें 'वानगार्ड आफ इण्डियन इन्डिपेन्डेन्स' और 'इम्प्रेकोर' की प्रतियाँ मिलने लगीं और कम्युनिज्म और मजदूर आंदोलन के सम्बन्ध में उनका ज्ञान बढ़ा। मार्क्सवाद की बहुत-सी किताबों के नाम और उद्धरण भी उनको मिलने लगे। कुछ किताबें उन्हें मिलीं भी। 1922 में एन्गेल्स के 'समाजवाद' और 'बुखारिन' के 'कम्युनिज्म का क, ख, ग' भी पढ़ने को मिला और फिर तो मार्क्सवादी साहित्य के पढ़ने का रास्ता खुल गया।

लेकिन, अब उनकी आर्थिक अवस्था बहुत शोचनीय थी, मुजफ्फर बाट के भिखारी हो गए थे। काम में इतने लगे थे कि ट्यूशन आदि कर नहीं सकते थे। मौलाना कुतुबुद्दीन का घर अक्सर उनके लिए शरण होता था। नजरुल भी चुप हो गए थे। कांग्रेस के कर्मियों में अब्दुलहलीम जो कि असहयोग में तीन बार जेल गए थे–तथा कुछ और तरुण उनके साथी बने। कुछ आतंकवादी भी यह ख्याल करके बात बताने आते थे कि मुजफ्फर के पास मास्को का सोना आता है, उसमें उन्हें भी हिस्सा मिलेगा। उन्हें क्या मालूम था कि मुजफ्फर को कभी-कभी दो-दो दिन तक फाका करना पड़ता है। कुतुबुद्दीन से अभी वे सशक्त रहते थे–उर्दू भाषी मुसलमानों से बंगाली मुसलमानों का साधारण मनोभाव इसमें काम कर रहा था। आखिर कुतुबद्दीन से एक दिन बात खोलनी ही पड़ी। वे भी मार्क्सवादी साहित्य के पढ़ने के लिए उत्सुक हो गए। अब मुजफ्फर को एक और फायदा हुआ। कुतुबुद्दीन मार्क्सवादी पुस्तकें खरीदते थे और मुजफ्फर भी उन्हें इतमीनान से पढ़ सकते थे। कभी-कभी नजरुल के पत्र 'धूमकेतु' के लिए कुछ दिया करते थे, बाकी सारा समय मजूरों में जाने और पुस्तकें पढ़ने में बीतता था। 1922 में मुजफ्फर को डाँगे का पत्र 'सोशलिस्ट' भी मिलने लगा और उन्हें यह भी मालूम हुआ कि बम्बई में डाँगे और उनके साथी कम्युनिज्म के लिए काम कर रहे हैं। मास्को से लौटे शौकत उस्मानी 1922 के अन्त में कलकत्ता आए और मुजफ्फर से मुलाकात की।

धीरे-धीरे पता लगा कि पुलिस और कस्टम-विभाग की सारी सतर्कता के बाद भी हिन्दुस्तान में जो बहुत-सा कम्युनिस्ट साहित्य विदेशों से आकर फैल रहा है, उसमें मुजफ्फर का बड़ा हाथ है। पुलिस चौकन्ना हो गई।

1923 में पुलिस ने खुल्लम-खुल्ला सी. आई. डी. के सब-इन्सपेक्टर को मुजफ्फर के पीछे लगा दिया। मुजफ्फर कुतुबुद्दीन के बैठकखाने में बैठे रहते और सी. आई. डी. का आदमी बाहर चक्कर लगाता रहता।

अन्त में इससे भी सन्तोष नहीं हुआ और मई में उन्हें पकड़कर 1818 के तीसरे रेग्युलेशन के अनुसार राजवन्दी बना दिया गया। उस समय पेशावर में हिन्दुस्तान का पहला 'कम्युनिस्ट षड्यंत्र' मुकदमा चल रहा था। मुजफ्फर को भी उसमें समेटना चाहते थे, मगर कोई सबूत न था। अब मुजफ्फर का कम्युनिज्म पर दृढ़ विश्वास हो गया था। धर्म और ईश्वर से विश्वास दूर हो चुका था।

मार्च 1924 में कानपुर में कम्युनिस्ट षड्यंत्र मुकदमा चलाया गया। मुजफ्फर और डाँगे उसमें घसीट लिए गए। अप्रैल में उन्हें चार साल की सजा हुई। जेल में तपेदिक का आक्रमण हुआ। बुखार रहता और मुँह से खून निकलता। वजन बहुत घटता गया। डाक्टरों ने खतरे की घण्टी बजाई और ढाका, कलकत्ता, कानपुर, रायबरेली, अलीगढ़ के जेलों की हवा खाते मुजफ्फर सितम्बर 1925 में छोड़ दिए गए। बाहर निकलने पर स्वास्थ्य थोड़ा सुधरा।

कुछ गैर जिम्मेवार लोगों ने एक इण्डियन कम्युनिस्ट पार्टी कायम कर ली थी और कानपुर कांग्रेस के समय पार्टी-कांग्रेस बुलाना चाहते थे। बरसों से कम्युनिज्म के लिए काम करनेवाले साथियों को बदनामी और सी. आई. डी. के भीतर घुस जाने का अन्देशा पैदा हो गया। मुजफ्फर को कानपुर जाना जरूरी हो गया। घाटे और दूसरे साथी भी आए। उन्होंने कुछ सम्हालने की कोशिश की, लेकिन तब भी चुनाव में सी. आई. डी. का आदमी एक मन्त्री बन ही गया।

1926 में मुजफ्फर कलकत्ता में काम कर रहे थे। उन्होंने कृष्णनगर में किसानों का एक सम्मेलन किया और वहीं 'किसान-पार्टी' कायम की। 1927 में इसी का नाम 'मजूर किसान पार्टी' पड़ गया। मजूरों के साथ सम्बन्ध जोड़ने की ओर मुजफ्फर और उनके साथियों का सबसे ज्यादा जोर था।

1927 में डक् के मजूरों की हड़ताल में मुजफ्फर शामिल थे। यहीं पहले-पहल लालझंडा उठाया गया। अंग्रेजों के अखबार 'स्टेट्स्मैन' ने लाल खतरे की बात कहकर जहर उगलना शुरू किया। मुजफ्फर आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी के मेम्बर थे, कांग्रेस में काम भी करते थे। लेकिन ज़्यादा समय मजूरों के कामों में बीतता था। अब उन्हें काम से दम लेने की फुर्सत न थी। वे कलकत्ता के मेहतरों का संगठन कर रहे थे। भाटपाड़ा के जूट-मजूरों के संगठन में अलग समय देना पड़ता था। मद्रास-कांग्रेस (दिसम्बर 1927) में मुजफ्फर शामिल हुए थे। जवाहरलाल विलायत से सीधे आए थे। उन्होंने स्वतंत्रता का प्रस्ताव रखा। मुजफ्फर और उनके साथी उनके समर्थक थे। प्रस्ताव पास हो गया।

1928 में कलकत्ता के मेहतरों ने हड़ताल कर दी। घर-घर में मेहतरों के कम्युनिस्ट नेताओं का नाम पहुँच गया, कार्पोरेशन को झुकना पड़ा। सेनगुप्त ने दो रुपया मजूरी बढ़ाने का वचन दिया, लेकिन हड़ताल के हटा लेने पर वचन से मुँह फेर लिया। इस वक्त कारखाने के मजूरों के ऊपर मजूरी घटाने आदि का जो प्रहार हो रहा था, उसे वह अब बर्दाश्त नहीं कर सकते थे और कम्युनिस्टों के नेतृत्व में जिधर देखो उधर हड़तालें हो रही थीं। इंग्लैंड की पार्टी ने भी कुछ अंग्रेज साथियों को भारत भेजा था। दूसरे पश्चिमी देशों से कुछ कम्युनिस्ट हिन्दुस्तान में पहुँचे थे। इन सारी बातों को देखकर सरकार घबड़ा गई और उसने सार्वजनिक रक्षा कानून पास कर मनमाना करना चाहा। कानून के मसौदे को पेश करते हुए सरकारी मेम्बरों ने जिन कम्युनिस्ट खुराफातियों का नाम कौंसिल में लिया था, उनमें मुजफ्फर भी थे। खैर असेम्बली के प्रेसीडेन्ट बिट्ठलभाई पटेल की दृढ़ता-के कारण क़ानून का मसौदा पेश नहीं हो सका। मगर सरकार हाथ-पाँव मारने के लिए बेकरार थी।

अक्तूबर (1928 में) मेरठ में मजूर-किसान पार्टी की कान्फ्रेंस हुई, जिसमें मुजफ्फर भी पहुँचे। वहाँ देश के और-और प्रान्तों के कम्युनिस्ट इकट्ठा हुए थे। यहीं तत्कालीन युक्तप्रान्त मजूर-किसान पार्टी के सेक्रेटरी पूरनचन्द्र जोशी से भेंट हुई। दिसम्बर में कांग्रेस के समय कलकत्ता में सारे भारत के मजूर-किसान-पार्टी का सम्मेलन हुआ था। प्रान्तप्रान्त में बिखरे कम्युनिस्ट अब एक अखिल भारतीय संगठन में आ रहे थे और एक-दूसरे के तजुर्बे से फायदा उठा रहे थे। मन्दी के कारण हड़तालें बहुत होने लगीं। 1929 में बंगाल में एक जबर्दस्त हड़ताल की तैयारी हो रही थी। अंग्रेजी पूँजीपतियों के पत्रों ने सरकार को कम्युनिस्टों पर प्रहार करने के लिए लेख पर लेख लिखने शुरू किए। आखिर 20 मार्च (1929) को मुजफ्फर भी दूसरे प्रान्तों के कम्युनिस्टों के

साथ गिरफ्तार कर लिए गए और उन पर इतिहास प्रसिद्ध मेरठ कम्युनिस्ट षड्यन्त्र का मुकदमा चलाया गया।

6 जनवरी (1933) को मुजफ्फर को आजन्म कालापानी की सजा हुई। आपत्ति करने पर वह सजा तीन साल की कर दी गई, जिसे उन्होंने मेरठ, नैनी, अलमोड़ा, दार्जिलिंग, बर्दवान और फरीदपुर में बिताया।

जुलाई 1935 में जेल से निकलते ही बंगाल क्रिमिनल ला एमेन्डमेंट-एक्ट के अनुसार उन्हें नजरबन्द कर दिया गया। दो महीने फरीदपुर ही में रखा, इसके बाद जन्मगाँव (मूसापुर) में ले जाकर नजरबन्द कर दिया। 14 साल 3 महीने बाद एक नजरवन्द के तौर पर मुजफ्फर को सन्दीप और मूसापुर देखने का मौका मिला। लोग इस देशभक्त की कुर्बानियों की घर-घर में चर्चा कर रहे थे। अभी तक जो सिर्फ बम और पिस्तौल चलाने को ही देशभक्ति समझते थे उन्होंने एक नये तरह के देशभक्त को देखा, जिसे कि सरकार और भी ज्यादा खतरनाक समझती थी। सरकार ने मुजफ्फर का मूसापुर में रहना ज्यादा खतरनाक समझा और उन्हें मेदनीपुर के एक गाँव में ले जाकर नजरबन्द कर दिया। बंगाल क्रिमिनल ला एमेन्डमेंट एक्ट आतंकवादियों के लिए बना था और मुजफ्फर कम्युनिस्ट थे, आतंकवाद को बिल्कुल न मानने वाले थे। यह कानून का सरासर दुरुपयोग था। विलायत में ब्रिटिश साथियों ने भारतमन्त्री के पास डेपुटेशन भेजा और इस अन्याय के खिलाफ आन्दोलन किया। सरकार और धाँधली नहीं मचा सकती थी और साल-भर बाद 25 जून (1936) को मुजफ्फर को छोड़ दिया।

सात साल बाद मुजफ्फर ने कलकत्ता के खुले वायुमण्डल में साँस ली। उन्होंने निराशापूर्ण घड़ियों में जिस बिरवे को बड़ी आशा के साथ लगाया था, अब वह बहुत बढ़ चुका था, फूलफल रहा था। सैकड़ों बंगाली तरुण 'लाल झंडे' को उठाए हुए थे, और सारा समय उस काम में दे रहे थे, जिसे 15 साल पहिले मुजफ्फर ने अकेले अपने कन्धे पर उठाया था। मुजफ्फर अब सबके पितामह कहे जाते थे, सब उनके सम्मान के लिए होड़ लगाये हुए थे। बुरे स्वास्थ्य और बीमारी के कारण समय से पहिले ही बूढ़े हो गए मुजफ्फर अपने में फिर जवानी का अनुभव कर रहे थे। वे किसानों और मजदूरों के संगठन आन्दोलन में भाग ले रहे थे।

1937 की जूट-मजूर-हड़ताल में उन्होंने भाग लिया। वे उसी साल आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी के मेम्बर भी चुने जा चुके थे।

दूसरा महायुद्ध छिड़ा। 1940 में कम्युनिस्टों के प्रति सरकार की भृकुटि टेढ़ी हुई। कलकत्ता के मजूरों में मुजफ्फर के प्रभाव को देखकर फरवरी (1940) में उन्हें कलकत्ता से निकल जाने का हुक्म दिया गया। न जाने पर गिरफ्तार कर एक महीने की सजा दी गई। छूटने पर फिर कलकत्ता छोड़ने का हुकुम मिला। वे कलकत्ता से बाहर चले गए, और थोड़े समय बाद अन्तर्धान हो गए पर 23 जून 1940 को फिर कलकत्ता पहुँच गए। तब से 23 अगस्त 1942 तक अन्तर्धान रहते हुए पार्टी का काम करते रहे। जब उनके ऊपर से वारंट हटा लिया गया, तो फिर बाहर चले आए।

मुजफ्फर की जीवनी को संक्षेप में भी लिखने पर भारत में कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास को संक्षेप में लिखना पड़ेगा। पार्टी ही उनका जीवन रही और आज भी है।

1907 में मुजफ्फर की शादी हुई थी। चौदह बरस बाद बाहर रहे नजरबन्दी के वक्त बीवी को देखने का मौका मिला। उनकी एक लड़की है; जिसका ब्याह हो चुका है, और दामाद एक प्रगतिशील कवि है।

12

गोपेन्द्र चक्रवर्ती

सावन-भादों की अँधेरी रात, जिसमें हाथ भी देखना मुश्किल है। पानी पड़ रहा है। आधी रात बीत चुकी है। सिवाय बूँदों के टपटप के सारी काशी निशब्द सो रही है। यकायक सड़क के दोमहले की एक खिड़की खुली और कोई चीज धप् से जमीन पर गिरी। खैरियत थी कि बूँदों की टपटप की आवाज में यह धप्धप् दूर तक

नहीं जा सकी। वह निर्जीव चीज नहीं थी, जरा देर में बस पाँच फीट आठ इंच के आदमी की शकल सामने खड़ी हो गई। कौन है उस अँधेरे में जाना नहीं जा सकता। उसके शरीर पर एक घुटने तक की धोती है और दूसरी धोती सिर से बँधी हुई। वह सड़क पकड़े चला। अभी कई चौरास्तों को पार करना था, आखिर एक कानिस्टेबल ने पकड़ ही लिया। समझा होगा, रात को सेंध देने चला है। लेकिन सिपाही को उसे जेल भेजवाने में तो उतना फायदा नहीं था, उसकी मुट्ठी कुछ गरम हुई और अल्ला-अल्ला-खैरसल्ला। आदमी तेजी से बढ़ चला, और लंका पार हो हिन्दू विश्वविद्यालय की सीमा के भीतर घुस गया। लेकिन उसे हिन्दू विश्वविद्यालय से मतलब नहीं था। उसने मुड़कर गंगा का रास्ता लिया। सावन-भादों की गंगा करार में ऊपर-ऊपर तक भरी और कोसों तक फैली, यदि आँखों से दीखती नहीं थी, तो कम से कम वह आदमी उसे जानता जरूर था। बिना एक सेकेण्ड भी देर किए उसने छलाँग मारी और तैरने लगा। कितनी देर तक तैरता रहा, कब उसकी बाँह थकने लगी और कुछ देर तक उसने पानी पर लेटकर विश्राम ली और किस आशा और निराशा के भीतर से होकर वह गंगा के दूसरे पार पहुँचा, इसका उसे स्मरण नहीं। हाँ, पार जाकर उसने देखा कि उसकी एक धोती बह गई है।

बनारस और सावन-भादों की गंगा की यह घटना 27 साल पहले की है। ब्रह्मपुत्र समुद्र की प्रार्थना पर सहस्राधार बन जाता है, उन्हीं धारों में से एक के किनारे लोहाजंग (विक्रमपुर, जिला ढाका) एक बड़ा गाँव बसता था। आज वह पद्मा के गर्भ में चला गया है। वहीं हरेन्द्रलाल चक्रवर्ती और उनकी धर्मपत्नी सुकेशिनी देवी को 1899 के सौर फाल्गुण 3 को एक पुत्र पैदा हुआ जिसका नाम गोपेन्द्रनाथ रखा गया। बालक ने बचपन ही से पद्मा की विशाल धारा को देखा था और अवगाहन भी किया था। इसीलिए उस दिन वह गंगा में निधड़क छलाँग मार गया।

हरेन्द्रलाल चक्रवर्ती वकालत पास कर चाँदपुर में प्रैक्टिस करते थे और उन्होंने अपने परिवार को भी वहीं बुला लिया था। बालक गोपेन का अक्षरारंभ घर ही पर हुआ था। फिर भी हसनअली जुबिली हाई स्कूल में उन्हें 1907 में भर्ती कर दिया गया। उस वक्त बंगाल में स्वदेशी, बायकाट, युगान्तर की धूम मची हुई थी। बंगाल देश के इतिहास में एक नई लहर पैदा कर रहा था। अभी तक लोग भगवान् की मर्जी या अंग्रेज प्रभुओं की मर्जी पर देश के उद्धार की आशा रखते थे, लेकिन अब नवीन बंगाल ने एक दूसरा रास्ता अपने नौजवानों के सामने रखा। वह रास्ता था सर्वस्व त्याग का, प्राणों की बाजी लगाने का, दाँत चियारने का, नहीं, भौंहें तानने का। तरुणों में सरफरोशी की बाजी लगी हुई थी। विदेशी शासकों ने हथियार छीनकर देश को निरीह और नपुंसक बना दिया था। उन्होंने समझा था कि इस प्रकार स्वतन्त्रता की उमंग को वे पोरसों जमीन के नीचे गाड़ चुके, लेकिन बंगाल ने उनके सारे छन्द-बन्द तोड़ दिए और चारों ओर ऐसी बाढ़ चला दी कि अंग्रेज शासकों के लिए नींद हराम हो गई।

बालक गोपेन पर भी इस बाढ़ का असर पड़ा, उसके स्कूल के छात्रों में और मुहल्ले के रहनेवालों में कुछ ऐसे तरुण थे जिनके सम्पर्क में आकर उसने समझा कि वकालत, क्लर्की और सरकारी नौकरी से भी बढ़कर कोई चीज है जिसके लिए कोई भी कीमत अदा की जा सकती है। 1911 में बढ़ते-बढ़ते गोपेन्द्र क्रान्तिकारियों के अनुशीलन दल में सम्मिलित हो गया। उस वक्त के क्रान्तिकारियों की क्रान्ति की शिक्षा में सम्मिलित थे–(1) विवेकानन्द का वेदान्त, राजयोग, और देशभक्तिपूर्ण धार्मिक ज्ञान। (2) राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने और उससे भी ज्यादा शासकों के प्रति घृणा पैदा कराने के लिए अतिशयोक्तिपूर्ण इतिहास की कथाओं को पढ़ना। इनके अलावा तरुणों को अहिंसा और 'भिक्षांदेहि' से स्वतन्त्रता प्राप्त करने की आशा नहीं थी, इसलिए वे हथियार, विशेषकर पिस्तौल से निशाना लगाना सीखते थे। शरीर को मजबूत करने के लिए दंड-बैठक और दूसरे व्यायाम थे। शरीर और मन को फौलाद बनाने के लिए जितना कुछ भी सम्भव था, वह करते थे। गोपेन्द्र ने यह सब शिक्षा प्राप्त की।

1915 में पिछले महायुद्ध का दूसरा वर्ष चल रहा था, गोपेन्द्र मेट्रिक क्लास का विद्यार्थी था। बाप लड़के को समझाते-समझाते हार गए, लेकिन असर नहीं हुआ, इसलिए उन्होंने बेटे को सुधार के ख्याल से कलकत्ता

के रिफेक्टरी स्कूल में भेज दिया। यह स्कूल था तो एक तरह का जेल, मगर प्राईवेट जेल था। गोपेन्द्र पर पुलिस की बहुत कड़ी निगाह थी। यहाँ उसे देख-भाल करने का और सुभीता था। लड़कों को सुधारने के लिए जो उपाय इस्तेमाल किए जाते थे उनमें पैरों में बेड़ी और पीटना भी शामिल था। गोपेन्द्र साधारण अपराधी तो था नहीं। उसके सुन्दर आचार और उच्च विचारों ने सहपाठियों पर प्रभाव डाला और उन्होंने स्कूल से भाग निकलने में गोपेन्द्र की मदद की–किसी तरकीब से खिड़की का लोहे का छड़ काटा गया और रात को पानी बरसते वक्त वह जेल से भाग गया। कलकत्ता में इधर-उधर घूमते उसने कई दिन बिताये। अपनी पार्टी के क्रान्तिकारियों से मुश्किल से उसकी भेंट हो सकी और उन्होंने भी उसे कोई काम न दिया। पुलिस उसके पीछे पड़ी हुई थी, लाचार होकर एक बार फिर वह अपने पिता के घर चला गया। पुलिस को पता लग गया और उसने आकर घर घेर लिया। गोपेन्द्र की उमर सोलह साल से ज्यादा न थी, लेकिन अब तक दिमाग को ठंडा रखने की तरकीब को वह सीख चुका था। वह पुलिस के घेरे को तोड़कर निकल गया, उन्होंने बहुत पकड़ने की कोशिश की लेकिन दौड़ना क्रान्तिकारियों की शिक्षाओं में से एक था, फिर कौन गोपेन्द्र के साथ दौड़ पाता ? कितने ही समय बंगाल में छिपे रहने के बाद वह बिहार चला आया। बंगाल की तरह बिहार में अभी पुलिस का घना जाल नहीं बिछा हुआ था। विहार के शहरों में कितने ही बुद्धिजीवी बंगाली बहुत पहिले से बस गए हैं, इसलिए कुछ आसानी भी थी। गया, बाँकीपुर, भागलपुर, छपरा, पूर्णिया कई शहरों में यह 1916-17 में छिपा फिरता रहा। पूर्णिया में भी एक बार पुलिस ने घेर लिया था। लेकिन वहाँ भी तरुण गोपेन्द्र घेरा तोड़कर साफ निकल गया।

1917 में जाकर भागलपुर में पुलिस गोपेन्द्र को पकड़ने में सफल हुई। उसे पकड़कर कलकत्ता स्पशल ब्रांच में पहुँचाया गया। वही स्पेशल ब्रांच जिसकी यातनाओं से मानवता पनाह माँगती थी, जिसके अत्याचारों को जब कागज के ऊपर उतारा जायगा तो दुनिया दाँतों तले अँगुलियाँ ही नहीं दबायेगी, वह आश्चर्य करेगी कि देश के लिए सर्वस्व अर्पण करनेवाले उन तरुणों का दिल कितना मजबूत रहा होगा जिन्होंने इन यातनाओं को बर्दाश्त किया। मारपीट तो बिल्कुल मामूली चीज थी, संक्षेप में वहाँ के दूत मरने देना नहीं चाहते थे। वल्कि मरने से भी ज्यादा कष्ट देकर तरुणों के दिल को तोड़ देना चाहते थे और साथ ही उन्हें अपने साथियों के साथ विश्वासघात करने के लिए आमादा करते थे। सत्रह-अठारह वर्ष के तरुण गोपेन्द्र को भी उनसे गुजरना पड़ा। उसे साँसतगढ़ के सिरमौर दालदाहौस में भेजा गाया, जहाँ उस पर और भी बीती मगर इसी समय एक क्रान्तिकारी वहाँ से भाग गया। अधिकारी डर गए और गोपेन्द्र को 1818 के रेगुलेशन 3 का कैदी बनाकर मेदिनीपुर जेल में भेज दिया गया।

मेदिनीपुर जेल में उन्हें बिल्कुल मामूली कैदियों की तरह खाना-कपड़ा दिया जाता था और बर्ताव बहुत सख्त था। अन्त में वहाँ के राजनीतिक कैदियों को अपनी व्यवस्था सुधारने के लिए भूख हड़ताल करने के लिए मजबूर होना पड़ा। ये हड़तालें साल-भर तक चलती रहीं और राजबन्दियों को कुछ सुभीते मिले। यह युद्ध के बाद 18-19 का समय था। जेल के जमाने में पढ़ने का अच्छा अवसर मिला जिसमें और विषयों के अतिरिक्त गोपेन्द्र ने फ्रेंच भाषा भी पढ़ी। सरकारी अफसर आतंकवादियों से कितने परेशान थे, इसका इससे पता लग जाता है कि सुपरिन्टेन्डेन्ट और मेजिस्ट्रेट उनसे लेनिन की तारीफ करते और लेनिन की पुस्तकें पढ़ने के लिए कहते। जिसमें उन्हें इस तरह की पुस्तकें आसानी से मिल जाएँ इसका भी प्रयत्न करते। कम्युनिज्म वैयक्तिक हत्या और आतंकवाद के खिलाफ है यह वे मानते थे और उनका ख्याल था कि इस प्रकार नौजवान आतंकवाद से हट जाएँगे। उनका उद्देश्य था नौजवानों को आतंकवाद से हटाने का और रूस की तरह भारत में भी यह भी दवा अमोघ साबित हुई। मगर उनको यह कभी ख्याल नहीं आया था कि यह चंद दिमागों में बिखरे हुए क्रान्ति की विचार सोखी पीसी जनता में फैलकर और भीषण रूप लेगी। शायद वे वैयक्तिक सुरक्षा और तुरन्त के लाभ को और ज्यादा ध्यान रखते थे। 1922 में सरकारी इजाजत से उन्होंने मेट्रिक पास किया।

इसके बाद नये सुधार के दौरान में बहुत-से राजबंदी छोड़ दिए गए जिनमें गोपेन्द्र चक्रवर्ती भी थे। अब गांधीजी का असहयोग आन्दोलन छिड़ने लगा। नागपुर में देशबंधुदास ने गांधीजी के प्रोग्राम को स्वीकार किया।

बंगाल के आतंकवादियों ने साल-भर के लिए आतंकवादी कार्य न करने का वचन दिया। 1920-21 में उस वचन के पालन करने का एक और भी कारण था, आतंकवादियों की जड़ जनता में तो थी नहीं। जोशीले नौजवानों की देशभक्ति की भावना को उभाड़कर विदेशी शासन के खिलाफ लड़ने को तैयार करना बस यह काम था। आतंकवादी कई पार्टियों में बँटे रहने पर भी कुछ संगठित जरूर रहते थे, मगर अपने दिमाग के बाहर से शक्ति और आत्मविश्वास पाने का स्रोत न होने से वर्षों की जेलों और एकान्तवास से उनमें बहुत निराशा आ गई थी। जो अब भी कर्मठ थे उन्होंने कांग्रेस आन्दोलन में सहायता करनी शुरू की।

इन आतंकवादी कर्मियों ने कुछ राजनीति का भी अध्ययन किया था। राजनीतिक प्रोग्राम पर बुद्धि लगाकर सोचते भी थे, इसलिए गांधीवादी राजनीतिक रहस्यवाद पर उनका विश्वास कैसे हो सकता था ! कम्युनिज्म से अभी पहिले-पहल पाला पड़ा था और वह उनकी सारी धारा को बदल देना चाहता था। जिसके लिए तैयार होने में कुछ और विचार और कुछ अधिक समय की जरूरत थी।

1920-21 में गोपेन्द्र ने समाजवाद के बारे में बहुत काफी अध्ययन किया। लेकिन उन्हें पुस्तकें अधिकतर इंग्लैण्ड के फाबियन समाजवादियों या साम्राज्यवादी समाजवादियों की लिखी हुई मिलीं।

1922 में अबनी मुकर्जी रूस से आए। रूस अभी-अभी साम्राज्यवादियों के चारों ओर से पड़ते प्रहार से अपने को बचा पाया था और अभी पुनर्निर्माण के काम का श्रीगणेश ही हो पाया था तो भी जिस तरह वहाँ के जीवन में परिवर्तन था उसके बारे में तथा कम्युनिज्म के बारे में काफी सुनने का गोपेन्द्र को मौका मिला। अनुशीलन पार्टी के काफी लोगों ने इन वर्षों में समाजवाद का अध्ययन किया था और निराकार उद्देश्य के लिए क्रान्ति करने पर जोर देने की जगह उन्होंने समाजवाद के सरकार उद्देश्य को रखना पसन्द किया। 1924 में मास्को में विश्व कम्युनिस्ट सम्मेलन होने जा रहा था। अनुशीलन ने साथी गोपेन्द्र चक्रवर्ती को वहाँ जाने के लिए अपना प्रतिनिधि चुना। लेकिन मास्को जाना इतना आसान तो न था। पासपोर्ट मिल नहीं सकता था। जहाज के बड़े-बड़ों को रिश्वत देने के लिए भारतीय थैली कहाँ से होती ! गोपेन्द्र ने जिस वक्त यूरोप के लिए जहाज पर पैर रखा, उस वक्त सवा तीन रुपये पास थे। गोपेन्द्र अभी (जनवरी 1923) 23-24 साल के जवान थे। लेकिन इतने ही दिनों में क्रान्तिकारियों के कड़वे तजर्बों ने उन्हें काफी हिम्मत और समझ दे दी थी। जहाजों में खलासियों की जरूरत होती है, गोपेन्द्र ने एक उत्तर भारतीय मुसलमान मजूर के नाम से जहाज की नौकरी प्राप्त की। इसके लिए उन्हें अपने वेतन में से रिश्वत भी देनी पड़ती थी। तनखाह 25 रुपया महीना। माल का जहाज था, उसे जगह-जगह भिड़ते जाना था। विजगापट्टम, मद्रास, सीलोन, अदन, हेजाज के कुछ बन्दरों, पोर्ट सईद, मार्सेई घूमते-घामते हम्बर्ग पहुँचे। हेजाज में कोई अरब मुल्ला आया। गोपेन्द्र ने भी अपने 'सहधर्मियों' के साथ उसका स्वागत किया। गोपेन्द्र को नमाज याद ही नहीं थी, बल्कि नियमपूर्वक नमाज अदा करने में वह किसी से पीछे नहीं थे और अपने को खोट्टा अपढ़ मुसलमान साबित करने में तो उन्होंने कमाल ही किया था। इस बात में बिहार में छिपकर रहने और वहाँ की भाषा के परिज्ञान ने उनको मदद पहुँचाई थी। मार्सेई से ही उन्होंने कोशिश की थी जहाज से निकल भागने की और इसके लिए अपने परिचित नामों पर पत्र भी भेजा था। मगर उन्हें अवसर नहीं मिला। हम्बर्ग में वह तय कर चुके थे निकल भागने की। और इस प्रकार सात-आठ महीने खलासी का जीवन बिताकर गोपेन्द्र एक दिन हम्बर्ग की गलियों में गुम हो गए। उस समय जर्मनी में कम्युनिस्टों का प्रभाव अपने उच्च शिखर पर तो नहीं पहुँचा था लेकिन काफी हो रहा था। गोपेन्द्र ने चल-फिर कर किसी से परिचय प्राप्त किया, बर्लिन गए और वहाँ से किस तरह अँधेरे-अँधेरे में तहखानों और सुरंगों और किस-किस तरह से छिपते-बचते वह रूस के लिए रवाना हुए, वह इस छोटे-से लेख का न विषय हो सकती है और न लिखना वांछनीय है। आठ घंटे उन्हें एक मारी में फेंक दिया था जहाँ की बदबू और बुरी हवा से वह बेहोश हो गए थे। खैर, जैसे भी हो सवा तीन रुपया ले कलकत्ता से निकले हुए गोपेनदा एक वर्ष के जद्दोजहद के बाद 1923 के अन्त में लेनिनग्राद पहुँचे।

लेनिनग्राद में सप्ताह से कुछ ही अधिक रहकर 1924 के शुरू में वह मास्को चले गए। एक साल से अधिक का उनका सोवियत निवास यहीं गुजरा।

गोपेनदा भारत के प्रतिनिधि के तौर पर विश्वकान्फ्रेंस में शामिल हुए। भारत से ताजा आए अकेले प्रतिनिधि होने के कारण उन्हें सोवियत के भिन्न-भिन्न नगरों और संस्थाओं में जाने का मौका मिला। सोवियत में जो कुछ उन्होंने देखा उसने उन पर जबर्दस्त प्रभाव डाला और कान्फ्रेंस के बारे में तो उनका कहना था कि वह प्रभाव किसी भी नवागंतुक पर इतना जबर्दस्त पड़ता है कि वह कभी मिट नहीं सकता। काले, गोरे, पीले, भूरे सारे दुनिया के प्रतिनिधियों को एक जगह एक मंच से पूर्ण भ्रातृभाव के साथ मिलकर नई दुनिया में बदलने के लिए विचार करते देख कौन प्रभावित हुए बिना रहेगा ? किसी ने उनके सामने पढ़ाई की लम्बी-चौड़ी योजना पेश की, लेकिन गोपेन्द्र जानते थे कि किताबों और युनिवर्सिटी में पढ़ने की काफी बातें वे पढ़ चुके हैं। अपने अनमोल समय को पढ़ने के बहाने गँवाने का यह अवसर नहीं, बल्कि इस वक्त भारत में चलकर काम करने की जरूरत है।

साल-भर सोवियत में रहने के बाद उन्होंने भारत के लिए प्रस्थान किया। अब की उन्हें मार्सेई से जहाज पकड़ना था। लेकिन आना था तो उसी तरह बिना पासपोर्ट के। हम्बर्ग, बर्लिन आदि की बात छोड़ते हैं। इस यात्रा के सिर्फ एक खतरे की बात का जिक्र कर देते हैं। यह है बाजल (स्वीजरलैण्ड) में एक जगह से उन्हें पार करना था जहाँ पर कि जर्मनी, फ्रांस और स्वीजरलैण्ड की सीमायें मिलती हैं। यह 1925 का समय था। क्रान्तियों के मारे यूरोप की सरकारें सभी जगह पागल हो गई थीं। सौभाग्य से गोपेन्द्र स्वीजरलैण्ड की पुलिस के हाथ में पड़ गए। यदि कहीं जर्मन या फ्रेंच पुलिस ने सीमान्त पार करते देखा होता तो वह गोली के निशाना बन गए होते और भारत को पता भी न लगता कि उसके गोपेन क्या हुए। पुलिस के हाथ में जाने पर गोपेन्द्र ने अपने को सिवाय बंगला के किसी भी भाषा का न जाननेवाला मल्लाह बतलाया। अफसर को भी सूरत-शकल से ऐसा विश्वास हो गया और उसने छोड़ दिया। स्वीजरलैण्ड से वह उसी तरह छिपते-छिपाते पेरिस और फिर मार्सेई पहुँच गए। जहाजों से नाविक भागते ही हैं और नई भर्ती होती ही रहती है। और अब तो गोपेन्द्र को इस हुनर का काफी अभ्यास हो गया था। उन्हें फिर एक जहाज में मल्लाह की नौकरी मिल गई। और फिर कोयला झोंकते नमाज पढ़ते एक दिन (अगस्त 1925) वह बम्बई पहुँच गए। उस वक्त विश्व कम्युनिस्ट संगठन में भारत के ऊपर देखरेख करने की जिनको जिम्मेवारी मिली थी, उनकी दक्षता का एक बड़ा सबूत तो यही था कि बम्बई में उन्होंने एक खुफिया पुलिस के आदमी को अपना प्रतिनिधि बनाया था। गोपेन्द्र के पास उसके लिए चिट्ठी थी। उन्हें रहस्य का क्या पता था। उसने धीरे से गोपेन्द्र को पुलिस के हाथ में दे दिया। पुलिस ने पीटा, लेकिन गोपेन्द्र इससे भी बड़ी-बड़ी यातनाओं को सह चुके थे। पुलिस को ख्याल आया कि इसे जेल में डालने की अपेक्षा अपने गोयन्दों को लगाकर इसे छोड़ दिया जाय ताकि इसके जरिये औरों का भी पता लगे। गोपेन्द्र बम्बई से रवाना हुए और उनके साथ-साथ आधे दर्जन पुलिस के आदमी भी। इलाहाबाद में उन्होंने पण्डित जवाहरलाल नेहरू से मुलाकात की। पुलिस के परेशान करने की बात सुनकर पण्डितजी ने सलाह दी कि समर्पण क्यों नहीं करते। गोपेन्द्र को इस गम्भीर सम्मति को हलके दिल से अवहेलना करते देख पंडितजी चिड़चिड़ाकर कुछ बोले, जिस पर इन्होंने भी कुछ खरी-खरी सुना दी और फिर बनारस में रात के वक्त धर्मशाला में क्या गुजरा, इसका वर्णन हम इस लेख के शुरू में कर आए हैं।

गंगापार हो चरवाहों का रूप धरे और इसमें गोपेनदा का साँवला रंग और जवानी का खूब हृष्ट-पुष्ट शरीर सहायक सिद्ध हुआ। कितने दिनों तक पैदल चलते गए। फिर रेल पकड़कर आगरा पहुँचे। अब उन्हें मालूम हो गया कि कोई चिड़िया उनका पीछा नहीं कर रही है तो सीधे बंगाल पहुँचे। अनुशीलन के लीडरों में सात दिन तक बहस चलती रही, अंत में उन्होंने समाजवाद के प्रोग्राम को स्वीकार किया लेकिन साथ ही काली माई की गुंजाइश रखते हुए।

नदी के प्रवाह की तरह पार्टी हो या समाज, हमेशा नये-नये कण उसमें आकर शामिल होते रहते हैं। इधर अनुशीलन में भी बहुत काफी तरुण आए थे जो पुराने दादों की तरह काली माई के हाथ में पिस्तौल देकर वारा-न्यारा की आशा नहीं रखते थे बल्कि वे समझते थे कि हमें भी समय के अनुसार परिवर्तित होने की जरूरत है। इन नौजवानों को गोपेनदा ने बाकायदा राजनीतिक शिक्षा देने का इन्तिजाम किया। अध्ययन

के लिए क्लास लगने लगा जिसमें सभी समस्याओं पर खुली दृष्टि से वहस होने लगी और मार्क्सवाद के हल को सामने पेश किया जाने लगा। पुराने दादा लोग अपने सब कुछ को गुरु-चेला के सम्वन्ध पर स्थापित किए हुए थे। इस तरह से पैर के नीचे से ईंट सरकते देख फिर वे कैसे इसे सह सकते थे। पहिले उन्होंने लड़कों की शिक्षा का काम गोपेन्द्र को दे दिया था, अब उनकी जगह उन्होंने एक दूसरे विश्वासपात्र दादा को दिया जो साथ ही साथ सरकारी गुप्तचर विभाग के विश्वासपात्र भी थे।

लेकिन तरुणों को एक नई दिशा मालूम हो गई थी और वे पीछे की तरफ लौटने के लिए तैयार न थे। गोपेन्द्र, मुजफ्फर और दूसरे साथी मिलकर इस प्रगति का रास्ता साफ कर रहे थे। 1925 में नदिया में किसान कान्फ्रेंस हुई जिसमें मुजफ्फर के साथियों और अनुशीलन के कुछ मार्क्सवादी तरुणों ने मिलकर किसान-मजूर पार्टी कायम की।

अभी भी गोपेन्द्र छिपे हुए थे, और पुलिस उनका पीछा कर रही थी। छिपे रहते भी वरावर काम में लगे रहते थे। एक बार ढाका की पुलिस को पता लग गया और उसने उस मकान को घेर लिया। गोपेन्द्र बीस हाथ ऊपर से पिछवारे की तरफ कूद पड़े। उस जोश में उन्हें यह सोचने की भी फिक्र नहीं थी कि पैर टूटेगा या बचेगा। खैरियत हुई कि पैर टूटा नहीं और आगे के हाते में ताला न बन्द होता तो वह पुलिस को चकमा देकर निकल भी गए होते। इस प्रकार उनके पुराने साथियों में से किसी की कृपा से 1926 के आरम्भ में पुलिस उन्हें पकड़ने में सफल हुई। बहुत पूछताछ की लेकिन पुलिस को यह विश्वास हो गया कि गोपेन्द्र का आतंकवाद पर बिल्कुल विश्वास नहीं रह गया। वह सोशलिज्म पर विश्वास रखता है–गोपेन्द्र ने अपने को सोशलिस्ट ही कहा था। पुलिस में अभी ऐसे बुद्धू काफी थे जो सोशलिस्ट का अर्थ सोशल-वर्कर या सामाजिक काम करनेवाला समझते थे। खैर, एक महीने बाद उन्हें छोड़ दिया और वह अव खुलकर काम कर सकते थे।

मार्क्सवाद के अध्ययन और सोवियत भूमि के देखने के बाद तो खास तौर से उनको निश्चय हो गया कि बिना मजूरों को संगठित किए समाजवादी क्रान्ति सिर्फ सपना है। पढ़े-लिखे मार्क्सवादी भद्र लोग मजूरों में जाने से घबराते थे यद्यपि उसके लिए वे कोई दार्शनिक दलील दे देते थे। गोपेन्द्र का सारा जीवन ऐसा है कि बिजली की लाईन की तरह स्वीच करने के साथ भद्रलोग के जीवन से जहाज के खलासी के जीवन में जा सकते थे। उन्होंने मजूरों में घुसना तय कर लिया और एक दिन साधारण मजूर के तौर पर किसी जूट-मिल में भर्ती हो गए। वहाँ जिन मजूरों के साथ रहना, जिनके साथ खाना, सोना, हँसना-बोलना उन्हें अपनी ओर खींचने में क्यों देर होने लगी जबकि वे जानते थे कि हमारा यह साथी हमारी तरह का ही मजूर होते हुए भी अपने भाइयों के लिए खून-पसीना एक करने के लिए तैयार है। धीरे-धीरे उन्होंने भीतर से जूट के मजूरों का एक मजबूत संगठन तैयार किया।

मजूरों में अब मार्क्सवादियों ने काम शुरू किया था। 1928 में गोपेन्द्र की बात कितने ही और बंगाल के राजनीतिक कर्मियों को मालूम हो गई थी। बंकिम मुकर्जी और सोमनाथ लाहिड़ी उस वक्त कांग्रेस का काम करते थे। कांग्रेस के तरीके को उन्होंने मजूरों में असफल होते देख लिया था। और गोपेन्द्र की बात सुनकर वे खुद भाटपाड़ा के मजूर गोपेन्द्र (?) के पास पहुँचे। गोपेन्द्र ने अपने सरल, कर्मठ, ज्ञानपूर्ण, त्यागमय, साहस के जीवन से बहुतों को आकृष्ट किया, बहुत-से नौजवानों का पथ-प्रदर्शन किया।

1928 में कलकत्ता कांग्रेस हुई, उस वक्त मजूरों ने जो कांग्रेस पण्डाल में अपना प्रदर्शन किया था उसे देखकर सुभाषबाबू बहुत नाराज हो गए थे। लेकिन 1929 में जब साइमन कमीशन कलकत्ता जानेवाला था तो सुभाषबाबू ने बंगाल की इज्जत के नाम से गोपेन्द्र के साथियों को लिखा कि इस वक्त साइमन कमीशन के खिलाफ जबर्दस्त प्रदर्शन होना चाहिए। सिर्फ 24 घण्टे का मौका मिला लेकिन मजदूरों का वह जबर्दस्त प्रदर्शन हुआ जो कि सदा के लिए कलकत्ता की एक स्मरणीय घटना रहेगी और जिसमें 4 लाख आदमियों का होना तो 'स्टेट्समैन' ने भी कबूल किया था।

जब तक बंगाल के नौकरशाह आतंकवादियों से परेशान थे और कम्युनिज्म का रूप उनके सामने कुछ

न आया था तव तक वे भले ही लेनिन की तारीफ करते और कम्युनिज्म पर पढ़ने के लिए किताब देते। लेकिन अब कम्युनिस्टों ने बड़ी-बड़ी हड़तालें संगठित कीं और मजदूरों की हालत जितनी बेहतर बनाई उससे भी ज्यादा उनमें आत्म-विश्वास पैदा किया। लिलूआ की जबर्दस्त रेलवे हड़ताल, खंगपुर की हड़ताल और फिर बंगाल के बाहर बम्बई की हड़तालें, धनिक वर्ग के प्रतिनिधि नौकरशाहों की आँख खोले बिना नहीं रह सकती थी। स्टेट्समैन और टाइम्स आफ इण्डिया ने कम्युनिस्टों को पकड़ने के लिए ताबड़तोड़ लेख लिखे। जूट के अंग्रेज पूँजीशाहों का आसन भी बड़े जोर से गरम हो गया और फिर दिल्ली और लंदन कैसे शांत रह सकते थे ? आखिर उन्होंने हिन्दुस्तान-भर के इन खुराफाती मार्क्सवादियों को पकड़कर सारे आन्दोलन को खत्म कर देना चाहा। उस वक्त कामरेड गोपेन्द्र और उनके साथी जूट के मजदूरों की तकलीफों को दूर कराने में और किसी तरह सफल न हो हड़ताल की तैयारी कर रहे थे। इसी समय 19 मार्च को कामरेड गोपेन्द्र, कामरेड मुजफ्फर अहमद तथा दूसरे कम्युनिस्टों को कलकत्ता में पकड़ लिया गया। 1929 से 1933 तक मेरठ में उन पर षड्यंत्र का मुकदमा चलता रहा। हाईकोर्ट की अपील में उनकी सजा कुछ कम कर दी गई और इस प्रकार साढ़े पाँच वर्ष जेल में रहकर 1934 के अगस्त में वह जेल से बाहर निकले। मास्को में भी गोपेन्द्र के सामने किसी ने सात वर्ष की पढ़ाई की योजना रखी थी और मरेठ में सरकार की योजना ने साढ़े पाँच साल की पढ़ाई का मौका दिया। सभी मानेंगे कि यह साढ़े पाँच साल की पढ़ाई–जिसके लिए सरकार ने खाने-पीने रहने का मुफ्त इन्तजाम नहीं किया बल्कि कम्युनिज्म पर लाइब्रेरी की लाइब्रेरी और हिन्दुस्तान के प्रांत-प्रांत के ही नहीं बल्कि इंगलैण्ड के भी कुछ अच्छे साफ दिमागों को प्रस्तुत कर दिया–कहीं ज्यादा मुफीद साबित हुई।

जेल से छूटने के बाद फिर कामरेड गोपेन्द्र बंगाल के मजूरों के संगठन में लग गए। अब उनके साथियों की संख्या बहुत हो गई थी, उनके कार्य का क्षेत्र भी दूर तक फैल चुका था। लेकिन कम्युनिस्ट पार्टी गैर-कानूनी थी। शिक्षित वर्ग से आए हुए कर्मियों में अभी कम्युनिस्ट पार्टी जैसे अनुशासन की कमी थी जिसकी वजह से नेतृत्व के लिए वैमनस्य हो उठता है। इसके लिए पार्टी ने यही तय किया कि पार्टी के नेता सबसे नीचे की कमिटियों में जाकर काम करें और अनुशासन की एक-एक बात पालन करने में अपने तरुणतम साथियों के लिए उदाहरण उपस्थित करें। कामरेड गोपेन्द्र भी उनमें से एक थे और 1939-40 तक वह प्रांतीय पार्टी के सहायक मन्त्री के स्थान को छोड़कर स्थानीय सबसे निचले संगठन में रहे। इसका परिणाम पार्टी के लिए बहुत अच्छा हुआ।

वर्तमान युद्ध शुरू होने के बाद कम्युनिस्टों के खिलाफ जो सरकार ने वारण्ट निकाले थे, वह 1911 से चले आते अपने पुराने परिचित गोपेन्द्र चक्रवर्ती को कैसे छोड़ सकते थे। लेकिन उन्हें पकड़ना आसान न था। कितनी बार तो जानते हुए भी पुलिस को पकड़ने की हिम्मत न हुई, क्योंकि वे अब आतंकवादी कुछ नौजवानों के नेता न थे बल्कि किसानों के गाँव के गाँव उनके प्रभाव में आ गए थे। वे जानते थे कि यही लोग जो किसान और मजूरों के स्वार्थ के लिए लड़ने में न हिन्दू का ख्याल करते हैं, न मुसलमान का, न देशी का और न विदेशी का। कभी-कभी तो ऐसा हुआ कि गाँव के एक तरफ उनके खोज में गई सौ-सौ पुलिस चल रही है और गाँव के दूसरी ओर गोपेन्द्र और उनके साथी जा रहे हैं। पुलिस को पता है, लेकिन वह जानती है कि सारे गाँववाले उनकी पीठ पर हैं। इसलिए नाहक जान जोखिम में डालने की हिम्मत नहीं थी। पहली मई 1941 में वह पार्टी के काम से मैमनसिंह गए हुए थे। वहीं उन्हें पुलिस गिरफ्तार करने में सफल हुई और फिर तब से 9 जून 1942 तक जेल में नजरबंद रहे।

1911 में बारह वर्ष के दुधमुँहे बच्चे के दिल में देश की आजादी के लिए जो आग जल रही थी, आयु के अनुसार वह मद्धिम नहीं पड़ी बल्कि और तेज होती गई। समय बीतने के अनुसार उन्हें अपना आदर्श और स्पष्ट और तेज दिखलाई पड़ने लगा और साथ ही उधर बढ़ने में वह और सफल हुए, इसीलिए कि उनके हृदय में अटूट आत्म-विश्वास है। वह समझते हैं कि उन्होंने जीवन के किसी क्षण किसी कष्ट को बेकार नहीं जाने दिया। उनकी माँ (मृत्यु 1941) चाँदपुर के स्त्री-संगठन की नेता थीं। उनमें जोश था जिसे कि गोपेन्द्र

ने माता से विरासत में पाया। धैर्य और लगातार काम में लगा रहना, अदीनता और आत्म-सम्मान उन्हें अपने पिता हरेंद्रलाल चक्रवर्ती से मिला जो आज भी वकालत छोड़ प्रयाग में अपने अंतिम दिन गिन रहे हैं।

13

भवानी सेन

प्रमुख तिथियाँ–1909 जनवरी जन्म, 1915-19 गाँव के प्राइमरी स्कूल में पढ़ना, 1919-21 फूलतला स्कूल में, 1921-27 खरडिया हाईस्कूल में, 1925 आतंकवाद से संबंध, 1927 मेट्रिक पास, 1927-29 दौलतपुर कॉलेज में, 1929-31 कलकत्ता (स्काटिश चर्च) कॉलेज में, 1931 बी. ए. (आनर्स) पास, आतंकवादी नेता, 1932 कम्युनिज़्म का प्रभाव, वारंट और अन्तर्धान, 1932 मई 22 गिरफ्तार, 1933-37 देवली कैम्प में नजरबंद, 1937 देवली कैम्प से एम. ए. पास किया, 1937-38 कस्वा (कुमिल्ला) में नजरबंद, 1939 फरवरी कलकत्ता खारिज का हुक्म, 1939-42 अन्तर्धान कलकत्ता में, 1941 इन्दिरासेन से ब्याह और एक पुत्र।

भारत के प्रतिभाशाली व्यक्तियों में न जाने कितने ऐसे हैं, जो गरीबी के कारण पाठशाला का मुँह तक देखने नहीं पाते। जो 'भाग्यवान्' हैं पाठशाला, स्कूल या कॉलेज के भीतर घुस सकते हैं, आजकल ऐसे फर्स्ट क्लास दिमागों में करीब-करीब सारे ही उत्तरी भारत और दूसरे सूबों के भी–सरकार द्वारा आई. सी. एस्. के लिए खरीद लिए जाते हैं। अंग्रेज शासक जानते हैं, कि यह सौदा बहुत फर्स्ट क्लास है। लेकिन, भारत के लिए यह सौदा बहुत महँगा है। जो दिमाग अपनी साइंस की गवेषणाओं से भारत का मुख उज्ज्वल करते, अपने आविष्कारों से देश की स्वतंत्रता को नजदीक लाते, वे विदेशी शासन-यन्त्र का पुरजा बन विदेशी शासन को देश में दृढ़ करने के लिए मजबूर किए गए हैं। जो प्रतिभाएँ राजनीतिक क्षेत्र में नेतृत्व करके देश की राजनीतिक गुत्थियों को सुलझातीं और आजादी का रास्ता साफ करतीं वह उससे उलटे कामों में लगी हैं। उससे बाद की प्रतिभाएँ काले चोगे पहन धनिकों की थैली में फँसकर गरीबों को सदा दवाये रखने में सहायक होती हैं। इसकी वजह से हमारे राजनीतिक क्षेत्र में ऐसी प्रतिभाओं का एक ओर अभाव होता है। दूसरी ओर हमारे विश्वविद्यालयों में उठती हुई प्रतिभाओं को सुशिक्षित करने के लिए छटुये लोग प्रोफेसर होने के लिए रह जाते हैं, जो कि शिक्षा के लिए साधक नहीं बाधक साबित होते हैं, और आज हमारे विश्वविद्यालयों में इन खूसट दिमागों की सारी बाधाओं को पार कर विद्यार्थी को कुछ बनने की कोशिश करनी पड़ती है। यह सौभाग्य की बात है, कि इस सारे जाल के होने के बाद भी कुछ प्रतिभाएँ बच निकलती हैं। यहाँ हम ऐसी ही एक प्रतिभा के बारे में लिखने जा रहे हैं।

बंगला के खुलना जिले में पयोग्राम एक छोटा-सा गाँव है। इसके दो सौ परिवारों में सभी हिन्दू हैं, जिनमें आधे तो हिन्दू जात-पाँत में दूसरा नम्बर रखनेवाली और शिक्षा में सबसे आगे बढ़ी वैद्य जाति के घर हैं। गाँव के पड़ोस में मुसलमानों की भी बस्तियाँ हैं। वैद्य शिक्षा में आगे बढ़े होने से राजनीतिक चेतना भी ज्यादा रखते हैं। उनमें कुछ छोटे-छोटे जमींदार भी हैं। हर्षित सेन (मृत्यु 1927) ऐसे ही एक छोटे जमींदार थे। उन्होंने मेट्रिक पास किया और जमींदारी के काम में लग गए। आमदनी को बढ़ाने के लिए वे एक बड़े जमींदार का भी कुछ काम कर दिया करते थे, जिसकी वजह से आखिर में उन्हें आफत में पड़ना पड़ा। हर्षित सेन और उनकी पत्नी नलिनी बाला सेन (मृत्यु 1937) को जनवरी 1909 में दूसरा पुत्र पैदा हुआ, जिसका नाम उन्होंने भवानी रखा।

भवानी के नाना कृष्णचन्द्र मजुमदार बंगला के पुराने प्रसिद्ध कवियों में एक थे, जिनसे भवानी ने साहित्यिक

रुचि प्राप्त की। भवानी का एक बड़ा और एक छोटा भाई था। एक छोटी वहन भी थी। भवानी का प्रेम माँ की अपेक्षा चाची से ज्यादा था, और वह उसी को माँ कहा करता था।

भवानी की प्राचीनतम स्मृति उस समय की है, जब कि वह पाँच वर्ष का था। बड़े जमींदार की नौकरी में किसी फन्दे में पड़कर पिता अपना सव धन खोकर आधे पागल हो कलकत्ता से लौटे। पिता का स्वास्थ्य फिर नहीं सुधरा।

भवानी को बचपन में कहानियों के सुनने का बहुत शौक था। पयोग्राम के लोग भगवान् की भक्ति संकीर्तन द्वारा किया करते थे, भवानी को वह अच्छा लगता था।

शिक्षा–छह वर्ष की अवस्था (1915) में भवानी को गाँव की बंगला पाठशाला में पढ़ने के लिए बैठा दिया गया। गणित में उसके 100 में 100 नम्बर आते थे; दर्जे में दूसरा नम्बर होना उसने कभी जाना नहीं।

पिता और चाचा ने गाँव में फूललता स्कूल के नाम से स्कूल स्थापित किया था। बंगला पाठशाला की परीक्षा पास कर छात्रवृत्ति ले बालक भवानी 1919 में फूललता स्कूल में दाखिल हुआ, और दो साल यहीं पढ़ता रहा। बड़े जमींदार ने घर की सारी सम्पत्ति नीलाम करवा ली। घर की हालत वहुत ही शोचनीय हो गई। भवानी को बुआ के घर में शरण लेनी पड़ी। फूललता स्कूल में पढ़ते वक्त भवानी कांग्रेस के आन्दोलन में अपनी अवस्था के अनुसार भाग लिया करता था। वह चरखा कातने में बहुत दक्ष था, और घंटे में चालीस नम्बर के सूत के पाँच गज कात सकता था। दो साल तक वह अपने काते सूत का कपड़ा पहनता रहा।

प्राइमरी की छात्रवृत्ति सिर्फ दो साल की थी। अव बुआ के घर में रहते उसने (1921) खरडिया हाईस्कूल में नाम लिखाया। बड़ा भाई भी कॉलेज में पढ़ रहा था। फुफेरे भाई इन दोनों भाइयों की सहायता करते थे (पटना के बी. एन. कॉलेज के प्रो. हेमचन्द्रराय चौधरी भवानी के फुफेरे भाई हैं)। स्कूली पुस्तकों के अतिरिक्त भवानी को बाहर की पुस्तकों को भी पढ़ने का बहुत शौक था। विवेकानंद के ग्रंथों को वह बड़े प्रेम से पढ़ता। बंकिम, शरद, रवीन्द्र के ग्रंथों का भी उसने खूब पारायण किए। उसका ज्ञान अपनी आयु से कहीं ज्यादा था। यह सब होते हुए भी 1927 में उसने मेट्रिक बहुत अच्छे नम्बरों में पास किया, और उसे कमिश्नरी की छात्रवृत्ति मिली।

अब वह दौलतपुर की हिन्दू एकडेमी (कॉलेज) में प्रविष्ट हुआ। उसने पाठ्य-विषय चुने तर्कशास्त्र, संस्कृत और गणित। यहीं उसने मजूर-किसान-पार्टी का नाम सुना। जिन विवेकानन्द के ग्रन्थों को वह वड़े सम्मान से पढ़ा करता था, उन्हीं के छोटे भाई डा. भूपेन्द्रदत्त के मुँह से समाजवाद पर उसने व्याख्यान सुने। भवानी के लिए समाजवाद कुछ आकर्षक-सा मालूम हुआ। लेकिन अभी समाजवाद का असर बहुत भीतर तक नहीं पहुँचा था।

दक्ष चरखा चालक भवानी भी कांग्रेस आन्दोलन की असफलता से निराश हो गया। उसने शहीदों की जीवनियों और कुर्बानियों को बड़ी श्रद्धा से पढ़ा था। देश की परतन्त्रता से उसका भी दिल क्षुब्ध था। भद्र लोक के तरुणों में बम और पिस्तौल की बहुत चर्चा थी। सरकारी दमन से आतंकवाद कम नहीं हुआ और कांग्रेस आन्दोलन की असफलता के बाद वह और भी प्रचंड हो उठा। दौलतपुर में पढ़ते-पढ़ते वह आतंकवादियों की यशोहर-खुलना पार्टी का एक भक्त मेम्बर बन गया। वह पार्टी के संगठन का काम करता और साथ-साथ आतंकवादी साहित्य का स्वाध्याय भी करता।

1929 में इंटरमीडिएट पास कर उसने फिर कमिश्नरी की छात्रवृत्ति प्राप्त की।

कलकत्ता में–अव वह कलकत्ता के स्कॉटिश चर्च कॉलेज में दाखिल हुआ। अर्थशास्त्र और इतिहास उसके पाठ्य-विषय थे। यहाँ सोशलिज्म का नाम ज्यादा सुनने में आया। मेरठ के मुकदमे में भारतीय कम्युनिस्टों की बात भी उसके कानों में डाली। अर्थशास्त्र का एक असाधारण मेधावी विद्यार्थी होने से मार्क्स की 'कापिटल' और लेनिन की कितनी ही पुस्तकों को उसने चाव से पढ़ा। लेकिन उसका विश्वास आतंकवाद ही पर ज्यादा था। मार्क्सवाद की पुस्तकें ज्यादातर बौद्धिक व्यायाम या शौक के लिए पढ़ा करता था। इस समय अपनी कॉलेज की पढ़ाई पर वह अधिक ध्यान नहीं दे सकता था। बीस रुपये की छात्रवृत्ति पर गुजारा कर लेता

और बाकी समय आतंकवादी तरुणों की क्लास लेने तथा उनके संगठन आदि में लगाता। पुलिस के कान कुछ खड़े हो गए और उसने मछुवा बाजार षड्यन्त्र में गिरफ्तार भी किया। मगर जिरह के वाद मजिस्ट्रेट ने छोड़ दिया। अपनी आतंकवादी सरगर्मियों के अतिरिक्त इस साल भवानी टाईफाईड और निमोनिया का शिकार हो गया। किसी तरह जान बची, मगर शरीर अब भी दुर्बल रहा तब भी बी. ए. (आनर्स) उसने दूसरे डिवीजन में पास किया। राजनीतिक तत्परता और बीमारी ने उसे अपनी प्रतिभा का जौहर परीक्षा के मैदान में नहीं दिखलाने दिया।

राजनीतिक जीवन–1931 में बंगाल के सभी आतंकवादी नेता पकड़कर जेलों में वन्द कर लिए गए। भवानी अब (22 साल की आयु) यशोहर-खुलना पार्टी (आतंकवादी) का सेक्रेटरी था। पिस्तौल वम जमा करना और डकैतियों का संगठन उक्त पार्टी का मुख्य काम था। पुलिस पीछे पड़ी हुई थी और उसका तरुण भवानी पर भी बहुत संदेह था। दिसम्बर में भवानी की गिरफ्तारी के लिए वारंट निकला। भवानी, जो दिसम्बर 1931 में अन्तर्धान हुआ तो मई 1932 तक पुलिस के हाथ नहीं आया। अन्तर्धान अवस्था में भवानी ने मार्क्सवाद का खूब अध्ययन किया। छिटपुट एकाध सरकारी अफसरों पर पिस्तौल या बम चलाना और डकैतियाँ डालकर रुपये जमा करना, आतंकवाद का यह प्रोग्राम अब उसे विल्कुल निकम्मा मालूम होने लगा। भवानी को निश्चय हो गया कि मार्क्सवाद ही वह रास्ता है जिससे क्रान्ति के लिए जनता को तैयार किया जा सकता है, और फिर देश की आजादी की प्राप्ति तथा हर तरह के शोषण को वन्द कराया जा सकता है। 1932 में भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की शक्ति क्षीण थी। अभी वह संगठित पार्टी का रूप नहीं ले सकी थी। कई गुट थे, जिनमें एक 'कारखाना' साप्ताहिक पत्र निकालता था। भवानी अन्तर्धान रहते 'कारखाना' का सम्पादन करता, यद्यपि पत्र पर नाम दूसरे का होता।

भवानी जीविका के लिए ट्यूशन करता, और नाम बदलकर किसी अपरिचित जगह में रहता। 1932 में एक बार पुलिस के गोइन्दे को भवानी ने देखा। उसने झट स्थान वदल दिया। एक बार वह एक मजूर के घर में बंगाली मजूर के रूप में रहता था। पुलिस को किसी तरह पता लग गया। पकड़ने के लिए एक भारी जत्था आ धमका। मध्याह्न का समय था। पुलिस मजूर स्त्री से पूछताछ कर रही थी। पत्ता खरखराते ही भवानी के कान खड़े हो गए! बाहर देखा तो पुलिस दलवल के साथ मौजूद है। वह भी अपने मैले-कुचैले लिबास में आकर मजूरों में बैठ गया। पुलिस भवानी को ढूंढ़ने जब घर के भीतर घुसी, तो भवानी दस कदम चलकर साइकिल ले चम्पत हो गया। भवानी सिर्फ मार्क्सवाद की पोथियाँ ही नहीं चबाता था। वह मजूरों के भीतर काम भी कर रहा था। उन्हें राजनीतिक आँख दे रास्ता बतलाता था और उनकी लड़ाइयों, सुखों-दुखों में शामिल होने के लिए तैयार रहता था। इसीलिए मजूर भवानी को अपना वेटा या सगाभाई समझते थे। अन्तर्धान अवस्था में अँधेरे तहखाने में सिर घुसेड़कर लेट रहने से जेल जाने को ज्यादा पसंद करता, क्योंकि जेल में दूसरों को समझने-समझाने का मौका तो मिलता। भवानी अन्तर्धान रहा, मगर भेष बदलकर लिलुआ के रेलवे मजूरों, जहाजी मल्लाहों और दूसरी जगहों में काम करने जाता। 9 बजे रात को किसी जहाजी मल्लाह से मिलने गया था। देखा नियत स्थान पर कोई नहीं था। उसी समय एक दूसरा आदमी भी साइकिल से उतरा। भवानी साइकिल पर सवार हो चल पड़ा। देखा दूसरा आदमी भी पीछे आ रहा है। रात अँधेरी थी। एक बड़े मैदान के पास आकर भवानी उतर पड़ा और साइकिल को कन्धे पर उठा मैदान में दौड़ने लगा। पीछा करनेवाला किसी दूसरी ओर पीछा करता रह गया। भवानी ने दूसरी ओर आकर सड़क पकड़ी और फिर अपने शरणस्थान पर आया।

21 मई 1932 को भवानी को पता लग गया था कि पुलिस किसी समय भी पकड़ने के लिए आ सकती है। लेकिन भवानी के शरीर में एक भारी फोड़ा था और ऊपर से जोर का बुखार। 22 मई के सवेरे ही पुलिस दलबल के साथ आ धमकी। पहले वह इस मजदूर को पहचान न सकी, फिर थाने पर ले गई और वहाँ से उसने स्पेशल ब्रांच में भेज दिया। कितने ही सवाल-जवाब किए गए। फिर आतंकवादियों के लिए बने बंगाल क्रिमिनल ला एमेन्डमेन्ट एक्ट के अनुसार आतंकवाद विरोधी कम्युनिस्ट भवानी सेन को बिना मुकदमा चलाये

ही नजरबंद कर दिया गया।

मई से फरवरी (1933) तक भवानी अलीपुर जेल में रहा। फिर छह महीने हिजली में, फिर वहाँ से देवली कैम्प में भेज दिया गया, जहाँ 1937 तक नजरबंद रहा। 1937 में माँ पुत्र-वियोग से घुलते-घुलते मरणासन्न हो गई। बहुत कोशिश करने पर माँ को देखने के लिए घर पर भेजा गया। माँ ने आँख भर पुत्र को देखा और उसके घर से देवली रवाना होने के दो दिन बाद मर गई।

देवली में रहते ही स्वयं पढ़कर भवानी ने अर्थशास्त्र में एम. ए. पास किया। यहाँ उसने मार्क्सवाद प्राणि-शास्त्र और समाजवाद का स्वयं गंभीर अध्ययन किया और साथ ही आतंकवादी तरुणों को बम और पिस्तौल के संप्रदाय से हटाकर जनता की शक्ति और संगठन पर विश्वास करनेवाले मार्क्सवाद की ओर खींचा। उस समय देवली कैम्प में पाँचूगोपाल भादुड़ी, अब्दुल मोमिन, बंकिम मुकर्जी (एक मास), मणीन्द्रसिंह आदि ने भी मार्क्सवाद का गंभीर अध्ययन और प्रचार किया था। आज ये लोग प्रान्त और जिलों के कम्युनिस्ट नेता हैं। देवली में मार्क्सवाद के अध्ययन-अध्यापन का सूत्रपात करनेवाला भवानी था। जिस वक्त ये लोग मार्क्सवाद का अध्ययन करते और भावी कार्यक्रम पर विचार कर रहे थे, उस समय दूसरे दलवाले मारपीट करने में लगे थे। भवानी और उसके साथियों ने पाँच साल तक तरुणों को समझाने की कोशिश की और उसके बाद करीब-करीब सभी नजरबंद आतंकवाद छोड़ मार्क्सवाद की ओर चले आए। जिस समय अंडमान के राजनीतिक बन्दियों ने कालेपानी से लौट आने के लिए भूख-हड़ताल की थी, उस समय भवानी और उसके साथियों ने उनकी माँग की सहानुभूति में वाईस दिन तक अनशन किया।

1937 में देवली कैम्प तोड़ दिया गया, नई मिनिस्टरी को कुछ तो कर दिखलाना था। लेकिन भवानी छोड़ा नहीं गया। उसे कुमिल्ला जिला के कसबा स्थान में नजरबन्द कर दिया गया। इसी समय कुमिल्ला में स्वामी सहजानन्द के सभापतित्व में अखिल भारतीय किसान कान्फ्रेन्स हुई। सरकारी हुकुम था कि वह गाँव की थोड़ी-सी सीमा के भीतर घूम सकते हैं। खर्चे के लिए सरकार 25 रुपया महीना देती थी। भवानी किसान कार्यकर्ताओं से छिपकर मिलता था। उसके प्रयत्न से गाँव में कांग्रेस कमेटी कायम हुई। इस समय भवानी को पढ़ने के लिए पुस्तकें नहीं मिलती थीं, मगर भवानी का सबल मस्तिष्क भावी कार्यक्रम के चिन्तन में लगा रहता था।

अगस्त 1938 में भवानी को छोड़ दिया गया और वह कलकत्ता चला आया। नवम्बर में उसे बाकायदा पार्टी मेम्बर बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अव उसका कार्य-क्षेत्र ईस्टर्न बंगाल रेलवे के मजूरों में था। कचरापाड़ा में कमकर सभा कायम की, पार्टी के लिए कई पुस्तकें लिखीं। दिसम्बर से फरवरी (1939) तक भवानी जिला कमेटी में रहा। नेताशाही के लिए एक शिक्षित सज्जन ने पार्टी में धाँधली करनी चाही। लेकिन सुसंगठित, सुअनुशासित पार्टी भला इसे क्यों बर्दाश्त करने लगी। उसने उन्हें निकाल बाहर किया। उक्त सज्जन का कचरापाड़ा के मजदूरों में बहुत स्वागत होता था, और वह चाहते थे वहाँ अपनी चलाना। मगर भवानी और उसके साथियों ने मजदूरों को खूब समझाया और पार्टी से भगाये सज्जन की दाल न गलने पाई।

महायुद्ध शुरू हुआ। कम्युनिस्टों के ऊपर सरकार की वक्रदृष्टि हुई। फरवरी (1940) में भवानी को कलकत्ता और आस-पास के चार जिलों से निकल जाने का हुकुम मिला। भवानी दूसरे जिलों में गया और फिर अप्रैल में वहाँ से अन्तर्धान हो गया।

अब भी उसका ज्यादा रहना कलकत्ता में होता, क्योंकि वह प्रान्तीय कमेटी के संचालकों में था। कभी-कभी चटगाँव, नवाखोली और दूसरे जिलों में भी पार्टी का काम करने के लिए भेष बदलकर जाता और वहाँ साथियों के लिए क्लास भी लेता। भवानी दो वर्ष से ज्यादा अन्तर्धान रहा, इस बीच उसे बंबई भी जाना पड़ता था।

लड़ाई का स्वरूप बदला। भवानी के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हुआ और इस लड़ाई के परिणाम पर सारी मानवता और भारत के भाग्य का भी फैसला समझ उसने फासिस्टों की पराजय के लिए जोर से काम शुरू किया। 1942 में उसके ऊपर से वारंट हटा लिया गया। अब वह बाहर आया। इन्दिरा सेन उसकी सहचरी हैं, जिससे भवानी ने 1941 में ब्याह किया था।

भवानी में संगठन की अद्भुत शक्ति है, मार्क्सवाद के समझाने और उस पर कलम चलाने में वह सिद्धहस्त है। इस अपरिचित-से 34 वर्ष के तरुण का भारत के राजनीतिक क्षेत्र में क्या वास्तविक स्थान है, यह इसी से आप समझ सकते हैं कि बंगाल में दावानल की तरह बढ़ती कम्युनिस्ट पार्टी का वह आज (मार्च 1943 से) सेक्रेटरी है।

14

कल्पनादत्त (जोशी)

प्रमुख तिथियाँ–1914 जुलाई 27 जन्म, 1918 पढ़ाई आरंभ, 1929 मैट्रिक पास, 1929-32 बेथुनी कालेज कलकत्ता में, 1930 लड़कियों की हड़ताल में अगुआ, 1931 फरवरी में इंडियन रिपब्लिक आरमी में, 1932 पुलिस ने थाना में बुला मुचलका लिया, सितंबर में पुरुष-वेश में पकड़ जेल में, फिर घर में नजरबंद, दिसंबर 20 नजरबंदी से भागना, 1933 जनवरी गोरखा सेना से भिड़न्त, मई 19 दूसरी भिड़न्त, आखिरी गोला के बाद गिरफ्तार, अगस्त 14 आजन्म कालापानी की सजा, 1933 नवंबर राजशाही जेल में (9 मास), 1933 नवंबर 27 – 1939 मई 1 जेलों में, 1939 मई 1 जेल से बाहर, 1940 बी. ए. पास किया, कम्युनिस्टों के साथ, एम. ए. (Applied Mathematics) में पढ़ना शुरू, 1940 नवंबर कलकत्ता से निर्वासित चटगाँव में घर में नजरबन्द, 1941 म्युनिसिपैलिटी के भीतर नजरबंद, 1942 मार्च जापान-विरुद्ध संगठन, मई टाईफाइड का आक्रमण, पार्टी में मेम्बर, 1943 अगस्त 15 पूरनचंद्र जोशी से ब्याह।

हमने रानी दुर्गावती और लक्ष्मीबाई की वीर गाथाएँ सुनी हैं, मगर उन्हें हुए बहुत दिन हो गये। हमने जॉन आफ आर्क के कारनामे पढ़े हैं, मगर वह भी बहुत पुरानी और दूर की घटनाएँ हैं। लेकिन बंगाल से बाहर हममें से बहुत कम चटगाँव की उस वीर तरुणी के बारे में जानते हैं जिसने आधुनिक हथियारों से सुसज्जित-सुशिक्षित सेना का गोलियों से एक नहीं, तीन-तीन बार जबर्दस्त मुकाबला किया। वर्षा की बूँदों की तरह बरसती गोलियों के बीच से जो आँधी की तरह दौड़ती निकल गई। भय क्या चीज है, इस नव तरुणी के हृदय ने कभी जाना नहीं। उसके हृदय में स्थान है सिर्फ देशभक्ति, देशोद्धार और आत्म-बलिदान के भाव का। जिस तरह उसको ऐसा महान् हृदय मिला, उसी तरह उसे प्रतिभा भी अत्यन्त तीक्ष्ण मिली। मैट्रिक परीक्षा को उसने प्रायः 14 साल की उम्र में छात्रवृत्ति के साथ पास किया। गणित उसे किसी सरस उपन्यास की तरह प्रिय मालूम होता था। सारी बाधाओं के रहते, जेलों और कालकोठरियों की सजा को भोगते उसने अपनी शिक्षा को पूरा किया। और स्वभाव ? कितना सरल और मधुर ! उसकी बड़ी-बड़ी आँखों की विस्तृत श्वेतिमा दर्शक के ऊपर एक अद्भुत प्रभाव डालती है। वह समझने लगता है कि नारी सिर्फ स्थूल ऐन्द्रिक आकर्षण ही नहीं रखती, वह उससे भी ऊँचे प्रेम का पात्र होने की क्षमता रखती है। उसके मुख पर अल्प विकसित हँसी बड़ी मोहक है; लेकिन उसका आकर्षण नीचे की ओर नहीं, ऊपर की ओर ले जाता है। शायद यही कारण है जिससे वह अल्पभाषिणी तन्वंगी बालिका पुरुषों और स्त्रियों में क्रान्ति की आग लगाने में सफल हुई। हाँ, वह अल्पभाषिणी है, लेकिन उसके मुँह से निकले अत्यन्त सीधे-सादे छोटे-छोटे वाक्य भारी असर करते हैं। जब उसके आतंकवादी साथी ने कहा–"मेयेदेर रेव्युल्युशन करते पारे आमादेर विश्वास नाइ, मेयेदेर केवल साहाय्य करते पारे", तो उसने कहा "आच्छा, आमि प्रमाण करे दीबो"। शायद इस एक वाक्य से, उसके हृदयस्पर्शी स्वर से साथी को विश्वास हो गया होगा।

यह वीर तरुणी है चटगाँव के प्रसिद्ध विद्रोह की क्रान्तिकारिणी कल्पनादत्त या कल्पना जोशी।

जन्म—चटगाँव के पास से समुद्र नजदीक है और पहाड़ भी। उसके आस-पास सदा हरियाली से लदी पहाड़ियाँ हैं, जो इस भूखंड को अद्‌भुत सौंदर्य प्रदान करती हैं। चट्टग्राम (चटगाँव) से बारह मील दक्षिण सदानीरा कर्णफूली नदी के तट पर श्रीपुर नाम का कस्बा और भी सुन्दर भूमि पर बसा है। उसके पाँच-छः मील पर आगे बढ़ती पहाड़ियाँ शीतल सघन छाया से कभी शून्य नहीं होतीं। सृष्टिकाल से चला आया जंगल अब भी वहाँ देखने को मिलता है। हाँ, श्रीपुर कस्बा है, यद्यपि उसमें तीन सौ ही घर हैं। यहाँ के निवासी हैं बहुसंख्यक वैद्य, कितने ही कायस्थ और ब्राह्मण शिक्षित भद्रलोक, जिसके कारण बालकों और बालिकाओं के दो मिडिल स्कूल और संस्कृत टोल (पाठशाला) भी हैं। भद्रलोकों ने अपने गाँव को कस्बे का रूप देने की कोशिश की है। गाँव के जमींदार गाँव के ही वैद्य लोग हैं। रायबहादुर दुर्गादासदत्त श्रीपुर के सबसे बड़े जमींदार थे। उनकी आमदनी बारह हजार के करीब थी। गाँव में कुछ मुसलमान परिवार भी रहते हैं और कितने ही डोम और हाडी—अछूत कही जानेवाली जातियों के घर।

रायबहादुर का घर आदर्श राजभक्त था। 'बंग-भंग' स्वदेशी असहयोग की एक के बाद एक बाढ़ आती रही; लेकिन रायबहादुर के घर में अँग्रेजी शासन के खिलाफ एक भी शब्द निकालना सह्य नहीं समझा जाता था और वे कानों में अँगुली डाल 'शांतं पापं' कहने लगते। दुर्गादासदत्त महाशय को सरकार ने झूठे ही रायबहादुर नहीं बनाया था। दुर्गा बाबू जाति से ही वैद्य नहीं थे, बल्कि डॉक्टर भी थे और कमानेवाले डॉक्टर। जमींदारी भी थी, लेकिन उनके सात पुत्र थे; इसलिए सिर्फ जमींदारी या बाप की डॉक्टरी के भरोसे काम नहीं चल सकता था। सातों बेटों में दो डॉक्टर, एक वकील, एक साइन्स-मास्टर, दो सब-रजिस्ट्रार और एक मैनेजर बने। रायबहादुर के पुत्र विनोदबिहारीदत्त सरकारी नौकर सब-रजिस्ट्रार थे। इनका ब्याह श्रीपुर के ही रमेशचंद्र सेन गुप्त की पुत्री शोभना देवी से हुआ था। शोभना देवी बंगला और कुछ अँग्रेजी भी जानती थीं। वह भद्र समाज की एक भद्र महिला थीं। हिन्दू-धर्म में उनका दृढ़ विश्वास था और छूतछात में सबका कान काटती थीं। कभी-कभी उन्हें सांख्ययोग भी पढ़ते देखा जाता; लेकिन वे उसे पढ़ती-समझती हैं, इसमें भारी सन्देह होने के कारण थे। लोग तैंतीस कोटि देवताओं के नाम ही सुनते हैं; लेकिन शोभना देवी पूजा में उनकी संख्या पूरी करने की कोशिश करती थीं।

लेकिन विनोदबिहारीदत्त और शोभना देवी को हम अलग करके नहीं देख सकते। रायबहादुर के सातों पुत्र कभी अलग नहीं हुए। उनके तेईस पुत्रों और तेईस पुत्रियों को सिर्फ अलग-अलग गर्भों से पैदा होने के कारण सगे भाई-बहिन छोड़ और कुछ कहना ठीक नहीं।

विनोदबिहारीदत्त और शोभना देवी को 27 जुलाई 1914 को प्रथम सन्तान, पुत्री पैदा हुई। माता-पिता या शायद ठाकुरमाँ (दादी) ने नाम कल्पना रखा। कल्पना किस अर्थ में ? कल्पना को कलपना कर देने पर उसका अर्थ 'दुखी होना' होता है, जिसकी रेखा तो कल्पना के सदा विकसित रहनेवाले चेहरे पर फाँसी की शंकावाली घड़ियों में भी नहीं हुई होगी। कल्पना—मन में सदा होनेवाली क्रिया—मन की कर्मण्यता—जरूर कल्पना में बहुत भारी परिमाण में पाई जाती है। लेकिन, आकाशचारिणी कल्पना का कल्पना के मस्तिष्क में स्थान नहीं। माँ, यद्यपि अत्यन्त धर्मभीरु पूजापाठपरायणा रहीं, मगर पिता जवानी में बहुत समय तक धर्म से उदासीन रहे और बुढ़ापे के साथ वेदान्त में आत्मविस्मृति ढूँढ़ने की कोशिश करने लगे।

रायबहादुर डॉ. दुर्गादासदत्त का घर इसके लिए कभी नहीं बना था कि वहाँ एक कल्पना उनकी पोती के रूप में पैदा हो। बचपन ही से ठाकुरमाँ की गोद में बैठे-बैठे उनके मुँह से कथाओं के सुनने का कल्पना को शौक था। कोई कथा राजारानी की होती, अच्छी लगती। कोई कथा पुराण या महाभारत की होती, वह भी अच्छी लगती। जब कल्पना भूत की कथा सुनती, तो वह दिलचस्प तो जरूर मालूम होती; लेकिन फिर अँधेरे में हाथ-पैर हिलाना तो दूर, आँख खोलने में भी उसे भय लगने लगता। पास में रक्षा के लिए लोहा रखा रहने पर भी उसे विश्वास न होता। घर में दोनों वक्त भगवान् का भजन होता, कल्पना भी भजन सुनने और मीठे प्रसाद को पाने के लिए वहाँ पहुँचती।

दत्तपरिवार का घर यद्यपि श्रीपुर में था, लेकिन रायबहादुर चटगाँव में डॉक्टरी करते थे, और वहाँ उनका

अपना अच्छा-खासा-सा घर था। परिवार अधिकतर चटगाँव ही में रहता। जब दशहरे का समय आता, तो दुर्गापूजा के लिय् श्रीपुर जाता था। कटहल और आम की फसल के समय भी लड़के-लड़कियाँ श्रीपुर जाने की कोशिश करते।

कल्पना की सबसे पुरानी स्मृति तीन साल की उम्र की है जब कि सीताकुण्ड के गरम पानी के चश्मे में वह माँ आदि के साथ नहाने गई थी और कपड़ा उठाये वहाँ से चल पड़ी।

शिक्षा–सुशिक्षित घर था। स्त्रियाँ भी पढ़ी-लिखी थीं। इसलिए कल्पना ने चार वर्ष की उम्र में घर ही पर पढ़ना शुरू कर दिया। पाँचवें वर्ष (1919) में कल्पना डॉक्टर खेस्तगीर वालिका हाईस्कूल में दूसरे दर्जे में भरती हो गई। इस स्कूल को माँ के नाना ने स्थापित किया था। पढ़ने में कल्पना दर्जे में हमेशा अव्वल रहती थी। छोटी-छोटी कहानियों और पुस्तकों को पढ़ने के बाद वह बंगाल के बड़े-बड़े ग्रंथकारों की किताबें पढ़ने लगी। 11 साल की आयु (1925) में कल्पना ने 'पथेर दावी' पढ़ी। इसी समय कन्हाई लाल आदि शहीदों की जीवनियाँ भी पढ़ीं। असहयोग (1920) के जमाने में कल्पना के दो चाचाओं ने असहयोग किया। इसका प्रभाव कल्पना के छः-सात वर्ष के हृदय पर जरूर पड़ा होगा। जैसे-जैसे उसका ज्ञान बढ़ता गया, वैसे-वैसे कल्पना की पुस्तक पढ़ने की भूख बढ़ती जाती थी। गणित में वह बहुत तीव्र थी और साइन्स के प्रति प्रेम था। उसने आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय को अपने लिए आदर्श रखा–उसे साइंसवेत्ती बनना था।

1929 में कल्पना ने छात्रवृत्ति के साथ मैट्रिक पास किया। उस वक्त उसकी उम्र 14 वर्ष 7 महीने की थी। संस्कृत उसकी द्वितीय भाषा थी।

कल्पना ने अब तक सिर्फ किताबों तक ही अपने शौक को सीमित नहीं रखा था, वह शारीरिक व्यायाम भी करती। श्रीपुर के पोखर में कूद-कूदकर उसने तैरना भी सीख लिया था। दो असहयोगी चाचों के कारण यद्यपि राजभक्ति के गढ़ में कुछ दरार पड़ गई थी; मगर अब भी रायबहादुर की परंपरा विलकुल लुप्त नहीं हो गई थी। घर में सरकारी अफसरों को पार्टियाँ दी जाती थीं। पिता के घर की तरह नाना का घर भी जबर्दस्त राजभक्त था। चटगाँव में घर की एक अच्छी-सी दूकान थी, जिसमें ज्यादातर विलायती कपड़े बिकते थे। असहयोग के समय गाँधीजी चटगाँव गये। इस समय दूकान पर वंग–लक्ष्मी मिल्स के कपड़े रखवा दिये गये। उस समय गाँधीजी के दर्शन के लिए दत्त-परिवार की स्त्रियाँ भी गई थीं। छः-सात वर्ष की बच्ची कल्पना भी उनमें थी। गाँधीजी के अपील करने पर जब स्त्रियाँ अपने-अपने आभूषणों को उतार-उतारकर देने लगीं, तब कल्पना के मन में न जाने क्या उमंग आई और वह अपने सुनहले कंकणों को देने के लिए उतावली हो गई; मगर छोटी बच्ची समझ उन्हें नहीं लिया गया।

चाचा राजनीति की बात कभी-कभी सुनाया करते। यद्यपि कहावत थी, "दत्त का घर जिस दिन स्वदेशी (देशभक्त) हो जाय, उस दिन सारा भारतवर्ष स्वदेशी हो सकता है" तो भी दत्तपरिवार की तीसरी पीढ़ी कल्पना में 'स्वदेशी' के अंकुर जमने लगे। मैट्रिक परीक्षा पास करनेवाले साल (1929) में चटगाँव में विद्यार्थी-सम्मेलन हुआ। चाचा ने सम्मेलन में कल्पना के बोलने के लिए एक व्याख्यान तैयार कर दिया और वह वहाँ जाकर बोली। वाद-विवाद में भी हिस्सा लिया। परीक्षा दे देने के बाद जो छुट्टी के महीने मिले, उसमें कल्पना ने तरह-तरह की बाहरी पुस्तकें भी पढ़ीं। उस वक्त तक चटगाँव गें क्रान्तिकारियों का काफी संगठन हो चुका था। सूर्यसेन, अनन्त सिंह, गणेश घोष ने तरुणों में रूह-सी फूँक दी थी। इस दल के युवक पुर्णेन्दु दस्तीदार का कल्पना के घर में आना-जाना था। दस्तीदार ने कल्पना में रुचि पैदा की और पुस्तकें भी देना शुरू किया।

कॉलेज–(कलकत्ता) में–कल्पना को साइन्स पढ़ना था। चटगाँव कॉलेज में साइन्स विभाग था; मगर वहाँ लड़कियों के पढ़ने का इन्तजाम न था। इसलिए तय हुआ कि उसे कलकत्ता के बेथुनी कॉलेज में दाखिल कर होस्टल में रखा दिया जाय। कल्पना के पाठ्य-विषय थे–भौतिकवाद, गणित और वनस्पति-शास्त्र। चटगाँव के छात्र-सम्मेलन में भाग लेनेवाली कल्पना यहाँ छात्र-संघ में शामिल हुए बिना कैसे रह सकती थी ? आतंकवाद का कीटाणु दिमाग में प्रविष्ट हो चुका था और शरीर को फूल वनाने से काम नहीं चलता, इसीलिए वह शिश्रला-व्यायाम-समिति और नौका-क्लब में भी शामिल हो गई। कॉलेज से बाहर की पढ़ाई में उसने हिन्दी

और फ्रेंच भाषा को भी शामिल कर लिया था। होस्टल की लड़कियों से वही मुलाकात कर सकते हैं, जिनका नाम माता-पिता की ओर से आकर सूची में दर्ज हो चुका है। पूर्णेन्दु दस्तीदार का नाम भी उस सूची में था। इस प्रकार कल्पना को दस्तीदार से अनन्त सिंह, गणेश घोष आदि के बारे में जानने का मौका मिलता था और क्रान्ति-सम्बन्धी साहित्य भी पढ़ने को प्राप्त होता था। दस्तीदार उस समय शिवपुर कॉलेज में पढ़ता था। सूर्यसेन, अनन्त सिंह और गणेश घोष के साहसपूर्ण जीवन और प्रतिभा के बारे में दस्तीदार से सुनकर कल्पना के दिल में इन नेताओं के प्रति भारी श्रद्धा होती जा रही थी। वह क्रान्तिकारियों की जीवनियाँ ढूँढ़-ढूँढ़कर पढ़ा करती थी। भगत सिंह की जीवनी भी उसे सुनने को मिली थी। कितना ही गैरकानूनी साहित्य कल्पना और दूसरी 'स्वदेशी' विप्लवी छात्राओं के पास पहुँचता, शक्ति-पूजा, काली माँ और गीता पर कल्पना का खूब विश्वास था। मृत्यु से वह निर्भय थी। वह गीता के श्लोकों को पढ़ते हुए कहती–मरना पुराने वस्त्र को छोड़ना जैसा है। उसके हृदय में शान्ति का स्रोत उमड़ता चला आ रहा था और वह सीधे युद्ध में भाग लेने के लिए आग्रह करती थी। वह क्रान्ति-युद्ध में भाग लेकर दिखलाना चाहती थी कि स्त्रियाँ भी वीरता में पुरुषों से पीछे नहीं हैं। इसीलिए वह शारीरिक व्यायाम की ओर ज्यादा ध्यान दे रही थी; जुजुत्सू भी बड़ी तत्परता के साथ सीख रही थी। छुरा, लाठी चलाना भी वह सीखती थी और साइकिल चलाने में दक्ष बनने की कोशिश करती थी।

अप्रैल (1930) में जब जवाहरलाल गिरफ्तार कर लिये गये, तो कल्पना ने वेथुनी कॉलेज में–जो कि सरकारी कॉलेज है–सफल हड़ताल कराने के लिए बहुत काम किया। कॉलेज की प्रिन्सिपल महिला ने आग-बवूला हो कितनी ही लड़कियों को जबर्दस्ती घसीटा और दूसरी तरह से अपमानित किया। छात्राओं ने परीक्षा न देने का संकल्प कर लिया। आखिर में प्रिन्सिपल महाशया को लड़कियों से क्षमा माँगनी पड़ी।

18 अप्रैल (1931) के चटगाँव के अस्त्रागार पर क्रान्तिकारियों ने आक्रमण किया। यह साधारण आक्रमण नहीं था। इस आक्रमण से क्रान्तिकारियों ने अपनी सैनिक सूझ और दाँव-पेंच, दृढ़ संगठन और निर्भीकता का वह प्रमाण दिया, जिसे देखकर उनके शत्रु भी दंग रह गये। और भविष्य के लिए अब वह पुरानी निश्चिन्तता नहीं रख सकते थे। यह अस्त्रागार-आक्रमण समय बीतने के साथ और भी ज्यादा स्मरणीय होता जायगा। हड़ताल के वाद कल्पना चटगाँव जाने की तैयारी करने लगी; किन्तु चटगाँव के इस आक्रमण के बाद सारे रास्ते बन्द हो गये। बहुत-से क्रान्तिकारी पकड़े गये। दस्तीदार अपने कॉलेज से लापता हो चुका था। अप्रैल के अन्त में जब कल्पना चटगाँव गयी, तो वहाँ क्रान्तिकारियों से सम्बन्ध रखने का सामान नहीं रह गया था। अभी भी चटगाँव में करफ्यू ऑर्डर था। कितनी ही गिरफ्तारियों के बाद चटगाँव में काम बन्द हो जाता, इसलिए कल्पना ने चटगाँव कॉलेज में ही पढ़ने के लिए पिता पर जोर दिया–"कलकत्ता में धर्मघट (हड़ताल) होता है, वहाँ रहने पर शामिल होना पड़ेगा और छात्रवृत्ति भी बन्द हो जायगी, इसलिए चटगाँव ही में पढ़ने का प्रबन्ध कर दें।"

चटगाँव में कोशिश करने पर दो-चार क्रान्तिकारियों के साथ संबंध हुआ और काम बढ़ने लगा। बेथुनी कॉलेज ट्रान्सफर सर्टिफिकेट देने के लिए तैयार नहीं था और न चटगाँव कॉलेज एक लड़की को लेने के लिए तैयार था। इसी लिखा-पढ़ी में बहुत-सा समय बरबाद हो गया। एक बार कल्पना ने परीक्षा का ख्याल छोड़ देना चाहा; मगर अनन्त सिंह आदि ने परीक्षा दे देने पर जोर दिया। स्कॉलरशिप तो बेथुनी कॉलेज की हड़ताल ही में खतम हो चुका था। अन्त में उसने इंटरमीडियेट साइन्स परीक्षा में प्राइवेट तौर पर बैठने का निश्चय किया। नवम्बर में टेस्ट की परीक्षा में शामिल हुई और 'भालो रिजल्ट' (अच्छा परिणाम) रहा। टेस्ट पास कर फिर चटगाँव में चली आई; क्योंकि यहीं के केन्द्र से उसे परीक्षा में बैठना था।

चटगाँव के उस महाकाण्ड के बाद वह क्रान्तिकारी काम में भाग लेने के लिए इतनी उतावली हो गई थी कि उसका और किसी काम में मन ही नहीं लगता था। वह या तो गुप्त रीति से क्रान्तिकारी प्रचार करती या क्रान्ति-साहित्य को पढ़ती। बीच-बीच में पिस्तौल चलाने का अभ्यास करती। चटगाँव में मैट्रिक पास करनेवाली सहपाठिनी सुरभादत्त कमूनिस्ट विचारवाली थी। पूँजीवाद, भौतिकवाद, मजदूर आदि की वातें करती; किन्तु कल्पना

मित्र होते हुए भी इससे सदा बिलगाव रखती। अनन्त सिंह ने एक बार कहा—"अपने आदर्श और उद्देश्य के लिए माँ-बाप और भाई तक को मार डालने में हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। क्या तुम इसके लिये तैयार हो ?" कल्पना के विचार-क्षेत्र से पुराना धर्मशास्त्र लुप्त हो चुका था। अव वह एक नये आचार-शास्त्र की अनुयायिनी थी। उसने अनन्तदा को बिना जरा भी झिझक के कह डाला, "आमी सवी करते पारी" (में सव कर सकती हूँ)।

चटगाँव के क्रान्तिकारियों का मुकदमा जेल में हो रहा था। उन पर भयंकर अभियोग था। उन्होंने अँग्रेज सैनिकों को मारा था। बाहर बच रहे क्रान्तिकारियों ने—जिनमें कल्पना भी एक थी—डाईनामाइट से जेल तोड़ने का निश्चय किया और इसके लिए जहाज घाट के एक घर को प्रयोगशाला बनाया।

फरवरी (1931) आई। इण्डियन रिपब्लिकन आर्मी के अध्यक्ष मास्टर भूर्यसेन ने हुक्म दिया कि कलकत्ता जाकर तेजाब और दूसरी चीजें खरीद लाओ। कल्पना ने घर में आँख की परीक्षा कराने का बहाना किया और वह उसी दिन कलकत्ता चली आई। सात दिन बाद सभी 'जिनिसपाती' खरीदकर चटगाँव पहुँच गये। अव मास्टर दा को 17 वर्ष की इस बालिका की हिम्मत पर विश्वास हुआ और उन्होंने किसी भिड़ंत में कल्पना को शामिल करने का निश्चय किया। तै हुआ सिम्सन की हत्या के लिए। दिनेश गुप्त और रामकृष्ण विश्वास को जिस दिन फाँसी दी जाय, उसी दिन कोई बड़ा काम करना होगा। विस्फोटक पदार्थों की तैयारी होने लगी। कल्पना की परीक्षा का समय आ गया था। वह काम के सामने परीक्षा देने की बात छोड़ना चाहती थी; किन्तु अनन्त दा ने हुक्म दिया—'परिक्खा दीते होबे' (परीक्षा देनी होगी)। परीक्षा दे डाली।

जेल की दीवार में भीतर से डाईनामाइट लगा दिया गया और विस्फोट करने के लिए एक तार जेल से बाहर दूर तक रखा गया। किसी सिपाही ने तार देख लिया। खोदने पर वहाँ से डाईनामाईट निकला। पहाड़ के ऊपर सरकारी कचहरी थी। वहाँ भी डाईनामाईट पकड़ा गया। बहुत-से तरुण गिरफ्तार किये गये। दिनेश और रामकृष्ण को फाँसी हो गई और इधर काम निष्फल रहा। अनन्त सिंह, गणेश घोष, लोकनाथ वाल आदि जेल में पड़े फाँसी की सजा सुनने का इन्तजार कर रहे थे। परीक्षा में पास हो जाने का कल्पना को क्या सन्तोष हो सकता था ! उसे तो सशस्त्र क्रान्ति की ही एकमात्र धुन थी और दिखाना था कि स्त्री सिर्फ ओंठों या सीमन्तों को ही लाल करना नहीं जानती। मगर इस काम को भी आड़ की जरूरत थी। कॉलेज खुले तीन मास बीत भी गये, तब सितम्बर में कल्पना चटगाँव कॉलेज में बी. एस-सी. में दाखिल हुई। श्रीपुर में पिस्तौल के अभ्यास का सुभीता था, इसलिए वह प्रायः श्रीपुर चली जाती और भूत के नाम से काँपनेवाली कल्पना साँपों और बिच्छुओं से भरे कान्तार में अँधेरी रात में जाकर पिस्तौल चलाना सीखती। मास्टर दा (सूर्य सेन) नहीं पकड़े जा सके थे। वे चटगाँव जिले में ही छिपे हुए अपनी बिखरी सेना को संगठित कर रहे थे।

1930 में एक दिन पुलिस ने कल्पना को बुलाया। बाप को भी बुलाकर पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट ने कहा—"कल्पना का सम्बन्ध आतंकवादियों से है।" कल्पना को मुचल्का देने पर छुट्टी मिली। उसे कहना पड़ा कि मैं न गैरकानूनी पुस्तक रखूँगी और न किसी सभा या गुप्त समिति में जाऊँगी। लेकिन इस वचन को मानने के लिए वह क्यों मजबूर होने लगी ? 17 सितम्बर को वारण्ट से छिपे एक साथी से मिलने पुरुष-वेश में जा रही थी और पहाड़तली (चटगाँव के एक महल) में पकड़ी गयी। उसे जेल में भेज दिया गया।

सात दिन बाद 24 सितम्बर को क्रान्तिकारियों ने दूसरा साहसपूर्ण काम किया और उन्होंने पहाड़तली के यूरोपियन क्लब के ऊपर छापा मारा। कई अँगरेज घायल हुए। एक मेम मारी गयी। इस भिड़न्त में एक क्रान्तिकारिणी महिला प्रीति बद्दर भी शामिल हुई थी जिसने पकड़े जाने के डर से पोटास खाकर वहीं प्राण दे दिये। पुलिस ने कल्पना को भी फँसाना चाहा; क्योंकि सात दिन पहले वह वहीं पुरुष-वेश में पकड़ी गयी थी। गिरफ्तारियाँ बहुत हुईं, मगर सबूत न मिलने से सबको छोड़ देना पड़ा। दो महीना जेल में रखने के बाद कल्पना पर 109 दफा चलाई गयी और वह जमानत पर छूटी।

जमानत देते समय हुक्म हुआ था कि कल्पना को घर से बाहर नहीं जाना होगा। घरवाले घर के कोठे से नीचे भी नहीं उतरने देते थे। कल्पना ने छः साल की अपनी छोटी बहन को सहायक बनाया और उसके

द्वारा क्रान्तिकारियों से सम्बन्ध स्थापित किया। मास्टरदा ने सलाह दी कि भाग जाना चाहिए।

20 दिसम्बर 1932 का दिन था, रात नहीं दिन था। दत्त परिवार के मकान के इर्द-गिर्द चार पुलिस के आदमी दिन-रात पहरेवाले सादे कपड़े में थे। ठाकुरदा (दादा) रायबहादुर दुर्गादासदत्त के श्राद्ध का दिन था। लोग स्वादिष्ट, गरिष्ठ भोजन ग्रहण कर दो वजे दोपहर को विश्राम ले रहे थे। मकान के एक ओर पहाड़ी थी। ढँकी हुई खिड़कियों के भीतर से दो चमकीली आँखें इस ओर बड़े ध्यान से देख रही थीं। इस ओर का पहरेवाला कितनी ही बार थोड़ी देर के वास्ते अनुपस्थित रहता चला आता था। आज भी उसने वैसा ही किया। चमकीली आँखें और चमक उठीं। दवे पाँव श्राद्ध के अन्न के खुमार में मस्त घर के स्त्री-पुरुषों को जरा भी आहट दिये बिना कल्पना अपनी साड़ी को सँभाले पहाड़ी की ओर बढ़ी और थोड़ी ही देर में आँखों से ओझल हो गयी। इस समय कल्पना पर मुकदमा चल रहा था।

उस वक्त चटगाँव का सारा जिला सेना से भरा हुआ था। जगह-जगह मिलिटरी कैम्प लगे हुए थे। एक नहीं, दो-दो बार क्रान्तिकारियों ने अंग्रेज शक्ति पर आक्रमण किया था; इसलिए वह चटगाँव से क्रान्तिकारी भावना को नेस्तनावूद करने के लिए तुली हुई थी। क्रान्तिकारी यद्यपि बल में समान नहीं थे, लेकिन सूझ में उनसे भी ज्यादा तेज थे—जोश और निर्भीकता का तो कहना ही क्या था। पहली रात कल्पना शहर ही में एक घर में रह गयी। दूसरी रात को उसने वधू का वेश धारण किया और मास्टरदा के साथ रात को शहर से दस-वारह मील दूर एक गाँव में चली गयी।

पुलिस कल्पना के भागने की खबर सुनकर सन्न हो गयी। सरकार ने बेटी के कसूर का गुस्सा बाप के ऊपर उतारा और नौकरी से मुअत्तल कर दिया। पुलिस शहरवाले घर की सारी जंगम सम्पत्ति उठा ले गयी। पिता को नौकरी जाने का अफसोस था और उससे भी ज्यादा अपनी लड़की के 'कहाँ होने' की चिन्ता। बाबा (पिता) कल्पना को पहाड़-पहाड़ ढूँढ़ रहे थे।

कल्पना को मास्टरदा और दृढ़ कर रहे थे। वह उनके साथ रात को जहाँ-तहाँ घूमती, दिन में विश्वासपात्र घरों में रहती, भविष्य के प्रोग्राम पर मास्टरदा (सूर्यसेन) के साथ विचार करती और पिस्तौलों के लिए कारतूस बनाती।

पहला मुकाविला—अव जनवरी (1933) का महीना आ गया। गाँव-गाँव सैनिक कैम्पों से भरे चटगाँव जिले में एक रात में एक गाँव से दूसरे गाँव में स्थान बदलते मास्टरदा के साथ कल्पना अभी-अभी रात में आकर एक नये शरण-स्थान में पहुँची थी। अभी अच्छी तरह उनकी नींद पूरी भी न होने पाई थी कि तीन या चार बजे रात को गोरखा सैनिक उस दरवाजे को खुलवाने लगे। अगर जाड़े के लिए काफी कपड़े होते तो शायद कल्पना की नींद न खुलती। अभी उसे इस तरह के जीवन का अधिक अभ्यास नहीं हुआ था। आहट पाते ही आँख खुली। उसने खतरे को समझा और मास्टरदा को तुरन्त जगाया। कल्पना और मास्टरदा के अतिरिक्त तीन और क्रान्तिकारी वहाँ छिपे हुए थे। दिमाग को ठंडा कर घर के चारों ओर का पता लगाया। मालूम हुआ, मकान को एक ओर सेना नहीं घेर पायी है। पाँचों क्रान्तिकारी उसी रास्ते से निकल भागने में सफल हुए।

दूसरा मुकाविला और मेहनत—और कितना ही समय बीता। कल्पना अपने साथियों के साथ एक घर में शरण लिये हुए थी। रात के नौ बज चुके थे। मास्टरदा, कल्पना, शान्ति चक्रवर्ती और तीन दूसरे साथी घर के भीतर मंत्रणा कर रहे थे। गाँव में गोरखों का कैम्प था। साथी जिस समय बात करके बाहर जाने लगे, सैनिक ने आवाज दी—"कौन है ?" लोग पीछे बाग की ओर हटे। सैनिकों ने गोली चलायी। क्रान्तिकारियों ने गोली का जवाव देना शुरू किया। ट्रेसर (प्रकाशदायिनी) गोलियों ने रात के अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर दिया। एक गोरखा ने कल्पना को पकड़ना चाहा। उस समय एक तरुण क्रान्तिकारी पीछे हटकर आगे बढ़ गया। गोलियों से बचने के लिए जमीन पर पड़ते और खड़े होते कल्पना खाई के पानी में गिर गयी; फिर बंसवारी की आड़ ले रिवाल्वर चलाने लगी। उस समय शरीर से गरम खून की धारा तेजी से बह रही थी और दिमाग विलकुल शीतल था। गोलियों को वह बहुत साधकर चला रही थी और कोशिश करती थी कि कोई गोली वेकार न जाये। जो भी सैनिक बंसवारी की ओर बढ़ना चाहता, वह कल्पना के अचूक निशाने का

शिकार होता। कल्पना को नहीं मालूम कि उसने कितनों को घायल किया और कितनों को मारा, लोगों ने बतलाया कि उस रात सात सैनिक कल्पना की गोलियों के शिकार बने। अब आकाश में सिगनेलिंगफायर करके रात को दिन बना दिया गया और आस-पास के गाँवों से भी मिलिटरी आने लगी। कल्पना और उसके साथ गोली चलानेवाले क्रान्तिकारी तरुण को खतरे को समझने में देर न लगी। गोरखा कुछ पीछे हट गये थे। तरुण और कल्पना दोनों दौड़कर पूस-माघ के जाड़े में एक पोखरी में कूद पड़े और दो घण्टे भर गले तक डूबे रहे। घाट की आड़ थी, इसलिए गोलियाँ सनसनाती ऊपर से निकल जातीं। अब चार बज रहा था। सूर्योदय का खतरा नजदीक आ रहा था।

दोनों पोखरी से निकलकर उन्हीं भीगे कपड़ों में एक तरफ को भाग निकले। बस्तियों से बचते चार-पाँच मील तक वे दौड़ते ही गये। एक गाँव में एक भक्त लड़का मिला, जिसने दोनों को कपड़ा दिया और पुरुष के वेश में एक धान के कोठले में छिपा दिया। दिन के आठ बज चुके थे। जब लड़के का पिता धान लेने गया, वहाँ उसने इन दोनों को छिपे देखा। उसने रात को गोलियों की आवाज सुनी थी, धमकाकर कहा—अभी हमारे घर से निकल जाओ। गाँव के कुछ आदमी पकड़वाने की तदबीर में थे; लेकिन दोनों के पास पिस्तौल भी थी, यह वे जानते थे। तरुण ने कल्पना को आगे दौड़ जाने के लिए समय देते उनसे बात छेड़ दी। वह दिन-भर दौड़ती तीस मील जाकर एक गाँव में पहुँची। वहाँ किसी भक्त से शरण-स्थान का पता लगा, जाकर देखा, वहाँ तीन साथी घायल पड़े हुए हैं जिनमें शान्ति चक्रवर्ती की छाती से गोली आर-पार हो गयी है। अपने एक आदमी के गिरफ्तार होने की उतनी चिन्ता नहीं हुई, लेकिन जब उसने सुना कि मास्टरदा गिरफ्तार हो गये, तो एक बार उसके आँखों के सामने अँधेरा-सा छा गया।

सारे चटगाँव जिले में छान-बीन जारी है। कल्पना एक जगह से दूसरी जगह बचती हुई चली जा रही है। 19 मई का दिन आया। उस दिन समुद्र-तट पर एक घर में शरण ली थी। वहाँ कल्पना को लेकर तीन क्रान्तिकारी और रक्षक, चार जने थे। मिलिटरी को पता लग गया कि क्रांतिकारी किसी काण्ड की तैयारी कर रहे हैं। मिलिटरी ने घर को चारों ओर से घेर लिया। 7 बजे सबेरे का समय था। सैनिक घर के नजदीक आना चाहते थे। कल्पना और उसके साथी जंगलों से गोलियाँ चलाते। इनके पास पिस्तौल थे जिनकी मारक गोलियाँ दूर तक नहीं जा सकती थीं, जब कि सैनिकों के पास दूर तक मार करनेवाली राइफलें थीं। क्रांतिकारी जंगले के ऊपर मुँह नहीं कर सकते थे; क्योंकि उसकी छड़ों में होकर गोलियाँ लगातार घर के भीतर गिर रही थीं। वे बिना देखे बाहर की तरफ गोलियाँ चला रहे थे। सोलह वर्ष के तरुण क्रान्तिकारी को एक गोली लगी और वह कल्पना के सामने ही गिरकर सदा के लिए सो गया। कल्पना के हाथ में कई छर्रे लगे और खून बह रहा था। कल्पना और उसके साथी अब भी आत्म-समर्पण के लिए तैयार न थे, यद्यपि वे जानते थे कि देर तक उनकी गोलियाँ नहीं बच सकतीं। सैनिकों ने घरवालों को भी मारना शुरू किया। घर का एक आदमी जान से मारा गया। एक भीषण रूप से घायल हुआ, कई के सिर फूट चुके थे। घर भर के लोग मारे जानेवाले थे। कल्पना ने देखा कि सारे घर का संहार होने जा रहा है, उधर उनके कारतूस खतम हो रहे हैं। कल्पना ने चिल्लाकर कहा—"गोली बन्द करो, हम आत्म-समर्पण करते हैं।" सैनिकों को अब भी विश्वास नहीं आया। दुबारा चिल्लाने पर उन्होंने गाँव के दफादार (बड़े चौकीदार) को भेजा। जब कल्पना और उसके जीवित साथी ने अपनी खाली पिस्तौलों को दफादार के हाथ में दे दिया तब कहीं सैनिकों को मकान के पास आने की हिम्मत हुई।

गिरफ्तार—नौ बजे दिन चढ़ आया था, जब कि दो घण्टे के संग्राम के बाद 19 वर्ष की इस वीर बालिका के हाथों को सैनिकों ने बाँध दिया। वह अब उनकी कैदी थी। जाट सूबेदार ने कल्पना को हंटर से मारा। सिपाही नाराज हो गये—"हमारी बंदिनी तथा एक स्त्री के ऊपर हाथ छोड़ना बहादुर का काम नहीं है।"

कल्पना और उसके साथी को जोर से जकड़े हाथों के साथ उसी दिन अनवारा थाना में पहुँचकर रात-भर वहीं रक्खा गया। इस वीर बालिका की वीरता की कौन नहीं प्रशंसा करता ? पुलिस हो या सैनिक, सभी उसे एक अद्वितीय स्त्री समझते थे। रात को खाना दिया गया, मगर दोनों ने नहीं खाया। वह सबेरे के बिछुड़े

भाई के शोक को भुला नहीं सके थे। सैनिक जासूस अफसर मि. स्टिवेंसन बीस मई को सबेरे मोटर लांच द्वारा उन्हें चटगाँव ले गये। स्टिवेंसन ने पूछा–"तुमने क्यों ऐसा किया ?" कल्पना ने कहा–"तुमने हमारी स्वाधीनता छीन ली, उसी के लिए हम लड़ते हैं।" स्टिवेंसन ने कहा–"What a silly girl you are" (तुम कैसी अबूझ लड़की हो)।

सुपरिंटेन्डेन्ट स्प्रिंगफील्ड ने जोर से कसकर बँधे हाथों को ढीला करवाया और सूबेदार को फटकारते हुए कहा–"तुम स्त्री के साथ सुव्यवहार करना नहीं जानते हो ?" सुपरिन्टेन्डेन्ट ने नरमी के साथ कल्पना से पूछा–"क्या तुम कोई वक्तव्य देना चाहती हो ?" कल्पना ने 'नहीं' किया। फिर उसे जेल भेज दिया गया।

जेल में–जेल में महीने-भर रहने के बाद पता लगा कि कल्पना, सूर्यसेन, तारकेश्वर और दस्तीदार पर चटगाँव अस्त्रागार पर छापामारी के दूसरे पुछल्ले मुकदमे की तैयारी है। एक हिन्दू, एक मुसलमान और एक अंग्रेज तीन जजों की एक खास अदालत बनाई गई। दो महीने तक मुकदमा चलता रहा। कोई संवाददाता या जनता का आदमी वहाँ जा नहीं सकता था। सम्वन्धियों तक को जाने की कोई इजाजत नहीं थी। क्रान्तिकारी दल का सारा कागज-पत्र पकड़ा गया था, इसलिए वचने के लिए उम्मीद न थी। तीनों दृढ़-हृदय के साथ फाँसी का हुकुम सुनने के लिए तैयार थे। 14 अगस्त को सूर्यसेन और तारकेश्वर को फाँसी का हुकुम सुनाया गया। कल्पना की उम्र और स्त्री होने का ख्याल करके आजन्म कालेपानी की सजा दी गई। कल्पना मास्टरदा को पहले जाते देख अपने स्त्रीत्व को कोसने लगी। अदालत में आखिरी बार उसने अपने उन दोनों साथियों को देखा, जिन्हें अव वह फिर न देख सकेगी।

खास अदालत के फैसले के बाद ही कल्पना को हिजली जेल में भेज दिया गया। हाईकोर्ट की अपील से कुछ नहीं हुआ और दोनों साथियों को फाँसी हो गई।

जेल-जीवन–तीन मास हिजली में रहने के बाद 27 नवम्बर (1933) को कल्पना को राजशाही जेल में भेज दिया गया। यहाँ के छः महीने के निवास में वह सिलाई का काम करती थी। उस वक्त विवेकानन्द के ग्रन्थों पर उसकी बड़ी श्रद्धा थी। सितम्बर (1934) से अक्टूबर (1935) तक कल्पना मेदिनीपुर जेल में डेढ़ साल रही। यहाँ भी सिलाई का काम दिया जाता था। पढ़ने के लिए बिल्कुल साधारण-से उपन्यास मिलते थे। जब कुछ और आतंकवादी लड़कियाँ यहाँ लाई गईं, तो कल्पना को दिनाजपुर जेल में भेज दिया गया। वहाँ उसे 11 मास रहना पड़ा। उसके बाद फिर मेदिनीपुर लाई गई।

जिस समय देश के अधिक प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमंडल काम कर रहे थे और राजनीतिक बन्दियों को छोड़ा जा रहा था, उस समय बंगाल में भी आन्दोलन चल रहा था। खासकर आतंकवाद के लिए लम्बी सजा काट रही लड़कियों के छुड़ाने के लिए बहुत कोशिश हो रही थी। गाँधीजी भी इस पर जोर दे रहे थे। फरवरी 1939 को कल्पना को गाँधीजी से भेंट करने के लिए कलकत्ता लाया गया। महात्माजी के पूछने पर कल्पना ने कह दिया–"आतंकवाद पर मेरा विश्वास नहीं है।" एक दिन रखकर उसे फिर मेदिनीपुर भेज दिया गया।

जेल से रिहा–चारों ओर से दबाव पड़ रहा था। सरकारी परामर्शदात्री कमिटी ने स्त्रियों के छोड़ने की सिफारिश की थी। मि. एन्ड्रूज इसके लिए गवर्नर से मिले। अन्त में 1 मई 1939 को कल्पना को जेल से छोड़ दिया गया।

पुरुष आतंकवादियों की जेल में बड़ी संख्या थी। उन्हें मार्क्सवादी साहित्य पढ़ने और विचार-विनिमय का काफी मौका मिलता; इसलिए उनकी भारी संख्या जेल में ही आतंकवाद को छोड़ चुकी थी। मगर स्त्री राज-बन्दिनियों को यह सुभीता न था, इसीलिए इस वारे में वे घाटे में रहीं। कल्पना ने बाहर आकर देखा कि उसके साथ काम करनेवाले तरुण कमूनिस्ट पार्टी में काम कर रहे हैं। चटगाँव अस्त्रागार-कांड में सजा पाये उसके मौसेरे भाई सुबोधराय ने दूसरी पार्टीवालों की तरह छीना-झपटी न करके कल्पना से कहा–"मैं तो सब कुछ समझने के बाद आतंकवाद का पक्ष छोड़ कमूनिस्ट पार्टी का हो गया हूँ। तुम खुद समझो और अपना रास्ता स्वीकार करो।" जेल में कल्पना का विश्वास आतंकवाद से हिला नहीं था। हाँ, उसके साथ-साथ वह वेदांतवाद और गीतावाद पर विश्वास रखनेवाली बन गई थी। समाजवाद के बारे में वह बेमन से कह देती–"हाँ

अच्छा है।" बाहर आकर देश में उसने जो परिवर्तन देखा, उसका असर होना जरूरी था।

उसे कोई कॉलेज लेने के लिए तैयार नहीं था, इसलिए फिर बी. एस-सी. करने के लिए रास्ता न था। चटगाँव के राजनीतिक वायुमंडल में अब भारी अंतर था। वहाँ अव आतंकवाद की जगह कमूनिज्म की हवा चल रही थी। कल्पना भी कमूनिस्ट लड़कियों के साथ मिलकर काम करने और उनके काम को नजदीक से देखने लगी। अब उसे कमूनिस्ट साहित्य को पढ़ने का अच्छा मौका मिला। इसी बीच दिसम्वर में उसे टाईफाईड हो गया और पन्द्रह दिन तक जीवन और मृत्यु के बीच झूलती रही। काम और बीमारी से बचकर सिर्फ तीन मास उसे पढ़ने को मिले थे। बंगला, अंग्रेजी और गणित लेकर सन् 1940 में उसने बी. ए. पास कर लिया। परीक्षा पास करते-करते अब मार्च तक उसने अपना रास्ता चुन लिया था—वह सिर्फ कमूनिस्ट पार्टी की ही हो सकती है।

चटगाँव में अभी घरवालों की ओर से कुछ अड़चन होती थी, इसलिए खुले तौर से काम करने के लिए वह 9 अप्रैल को कलकत्ता आ गई और एम. ए. (गणित) पढ़ने के लिए यूनिवर्सिटी में भरती हो गई। लेकिन उसका अधिकतर समय मजदूरों में काम करने में जाता था।

अब भी पुलिस उसको चैन देने के लिए तैयार न थी। 10 नवम्वर (1940) को उसे कलकत्ता से निकल जाने का हुकुम हुआ और चटगाँव में घर में नजरबन्द कर दिया गया। इस नजरबन्दी से मई 1941 में ही उसे छुट्टी मिली। अब भी उसके रास्ते में तरह-तरह की रुकावटें थीं। वह म्युनिसिपैलिटी की सीमा से वाहर नहीं जा सकती थी। भूतपूर्व आतंकवादियों से मिल नहीं सकती थी। लेकिन, कल्पना चुप बैठनेवाली नहीं थी, उसने स्त्रियों में काम करना शुरू किया। उनके लिए अध्ययन-चक्र खोले। 'पाथेय' नामक एक हस्तलिखित पत्रिका निकाली जिसमें कमूनिज्म की बातें होती थीं। सब वर्ग की स्त्रियों की एक 'नारी-समिति' भी स्थापित की, जिसमें 100 के करीब सदस्याएँ थीं। स्त्रियों के लिए रात्रि-स्कूल और दोपहर के स्कूल खोले। इन स्कूलों में सन्थाल, मेहतर, धोबी स्त्रियाँ काफी संख्या में आती थीं।

1942 में जब कि कमूनिस्ट पार्टी की नीति का पता सरकार को लग गया था, तब भी कल्पना के ऊपर बहुत-सी पाबन्दियाँ लगी हुई थीं। उधर बर्मा के पतन के बाद चटगाँव पर आक्रमण होने का डर था। कल्पना ने जिला मजिस्ट्रेट से जाकर कहा—"मेरे खिलाफ क्या शिकायतें हैं ? क्यों मुझे फासिस्टों के खिलाफ सारी ताकत से काम करने से रोका जाता है ?" मजिस्ट्रेट ने कहा—"मैं देखूँगा।" 7, 8 मई और फिर 20 मई को जापानी फासिस्टों ने चटगाँव के ऊपर बम गिराकर कितने ही बच्चों और स्त्रियों की हत्या की। अब बहुतों की आँखें खुलने लगीं कि जापान कैसा भारत का मित्र है।

कल्पना का स्वास्थ्य अच्छा नहीं था और ऊपर से उसने काम करने में रात-दिन एक कर दिया। मई 1942 में फिर उस पर टाईफाईड का आक्रमण हुआ। वह चारपाई पर पड़ी थी। जिस समय उसे सूचना मिली कि वह पार्टी-मेम्बर बना ली गई। कल्पना को अपार खुशी हुई। सितम्बर में उसने जनरक्षक सेना में शिक्षा प्राप्त की। चटगाँव में जापानियों के घुस आने का डर था। फिर सूर्यसेन, अनन्त सिंह और गणेश घोष के साथ कदम से कदम मिलाकर चलनेवाली कल्पना चुप क्यों रह सकती थी ? उसने नारी-समिति के भीतर, स्त्रियों को भी रक्षा के ढंग सिखलाये।

दिसम्बर में पार्टी शिक्षा के लिए वह बम्बई आई थी। पार्टी के जनरल सेक्रेटरी के नाम और योग्यता के बारे में वह पहले भी सुन चुकी थी। मगर इसी समय पहले-पहल उसने पूरनचन्द्र जोशी को देखा और उसके लेक्चरों को सुना। वह कलकत्ता लौटकर चटगाँव चली गई। फिर पार्टी ने उसकी योग्यता से सारे प्रान्त को फायदा पहुँचाने के लिए कलकत्ता बुला लिया। अब वह (1943) में प्रान्तीय कमिटी की ओर से संगठक थी।

कल्पना अकेली नहीं, अपनी चार बहनों के साथ पार्टी-मेम्बर हुई। उसका घर-भर पार्टी का भक्त बना।

29 जून को पार्टी के काम से कल्पना बम्बई आयी। पी. सी. (पूरनचन्द्र जोशी) से फिर दुबारा साक्षात्कार हुआ। पी. सी. ने कल्पना की वीरता के बारे में बहुत-सी बातें सुनी थीं। आतंकवाद के विरुद्ध होते हुए भी वह बंगाल के उन तरुण शहीदों का जबर्दस्त प्रशंसक है, और उनकी कुर्बानियों को वह व्यर्थ नहीं समझता

क्योंकि आज उसी के बल पर बंगाल की पार्टी इतनी जवर्दस्त है। उसने जिस समय पहले-पहल कल्पना को देखा, उस वक्त शायद उसके दिल में ख्याल भी नहीं आया कि आगे क्या होनेवाला है। पी. सी. के हृदय से बंगाल के शहीदों के लए जब प्रशंसा के शब्द आते थे, तब उसे कहाँ मालूम था कि ये उसके हृदय के उद्‌गार साकार रूप धारण करनेवाले हैं। दूसरी बार मिलने पर पी. सी. ने धड़कते दिल से कल्पना से कहा कि "आओ हम तुम भी एक हो जायँ।"

कल्पना की ठाकुरमाँ (दादी) को जव मालूम हुआ, तो उनके आनंद की सीमा न रही। ठाकुरमाँ निराश हो चुकी थीं कि उनकी पोती ब्याह नहीं करेगी और एकाएक पी. सी. ऐंसे जमाता को पाने की खबर मिली। वह बहुत उतावली हो गई—"पका आम गिरनेवाला है, आँखों के बन्द होने से पहले ही तुम दोनों का ब्याह हो जाय।" ठाकुरमाँ की अभिलाषा पूरी करनी पड़ी और 15 अगस्त को कल्पना और पूरनचन्द्र जोशी का ब्याह हो गया। नरोन्द्रया—वोल्या के सर्वश्रेष्ठ अंश का मार्क्सवाद के साथ स्नेह-संवंध हो गया।

15

सोमनाथ लाहिड़ी

प्रमुख तिथियाँ—1909 भादों जन्म, 1913 शिक्षारंभ, 1913-14 कृष्णनगर में, 1916-20 शान्तिपुर में स्कूल में, 1920-24 हेर स्कूल (कलकत्ता) में, 1924 मैट्रिक पास, 1924-29 सिटीकालेज, 1929 वी. एस्-सी. पास, मार्क्सवादी, 1929-30 प्रेसीडेन्सी कालेज में एम्. एस्-सी. में पढ़ते रहे, 1930 धरना के कारण कॉलेज त्याग, चचेरे भाई की मृत्यु से पूँजीवाद के प्रति घृणा, 1930-31 'अभिमान' निकाला, 1931 ई. वी. आर. के मजूरों में, 1931-32 'चाशी मजूर' फिर 'दिन मजूर' निकाला, 1933 पार्टी में काम, केन्द्रीय समिति के मेंवर, 1934 अलीपुर जेल में सात मास, 1935 भारतीय पार्टी के सेक्रेटरी, पिता की मृत्यु. 1936 दो साल की सजा, येरावदा में, 1938 जेल में (1 मार्च), 'गणशक्ति' के संपादक, 1940 निर्वासनाज्ञा न मानने पर 1 मास की सजा; फिर निर्वासन 1940 जून-1942 अगस्त अन्तर्धान, 1942 अगस्त जेल से वाहर 'सितम्बर में वेला से शादी।

बंगाल में जिन लोगों ने कम्युनिस्ट आन्दोलन को सार्वजनिक बनाया, उसे सुदृढ़ और सुसंगठित बनाया और आज जिनकी वजह से वह बंगाल के शिक्षित भद्रलोगों, किसानों और मजूरों में वह कितना जनप्रिय हो गया है; उनमें पहले नाम आनेवालों में सोमनाथ लाहिड़ी प्रमुख हैं। बंगाल में और भारत के दूसरे प्रान्तों में पार्टी-संगठन करने के लिए उसने भारी उद्योग किया। वह कितने ही समय तक भारतीय पार्टी का सेक्रेटरी रहा। लाहिड़ी की कलम बहुत तेज है और मार्क्सवाद के गंभीर सिद्धान्त उसके लिए हस्तामलकवत् हैं। ऐतिहासिक और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की गहन गुत्थियों को सुलझाकर विद्यार्थियों के सामने रखने में वह बड़ा सिद्धहस्त है। जातियों का प्रश्न हो या भाषा का प्रश्न हो, हिन्दी-भाषा-भाषी मजूरों का प्रश्न हो या शिक्षित बंगालियों का, उसके लिए सभी सुलझे हुए हैं, और उनका सुलझाना उसके लिए बिल्कुल सरल बात है। आज कलकत्ता में उत्तरी भारत के मजूर—जो कलकत्ता के ट्रामों, बसों और दूसरी जगहों में काम करते हैं—का जो इतना जबर्दस्त संगठन है, आज जापानी फासिस्टों के बमों के गिरने पर भी—ये मजूर अपने कामों पर जो डटे रहे और डरपोक बनियों को निर्भयता का पाठ सिखलाते हैं। उनकी फौलादी हिम्मत के वनाने वालों में लाहिड़ी का जबर्दस्त हाथ है। आज भूख से मरती वंगाली जनता के लिए कलकत्ता के ट्रामवे; बस आदि के मजूर अपना पेट काटकर सेवा करते दीख पड़ते हैं और कुछ ही काल पहले स्वार्थ से एक कदम भी न आगे बढ़नेवाली अपनी मनोवृत्ति को भूल चुके हैं, इसमें भी लाहिड़ी का वड़ा काम है। उसने उनके लिए हिन्दी में भाषण दिए, हिन्दी में उनकी

क्लासें लीं और हिन्दी-भाषा-भाषी नेता, लेखक और शिक्षक तैयार किए। तो भी शकल-सूरत देखने पर गजब का पारस्परिक विरोध है। वह अपने प्रतिभाशाली मुख को छिपा नहीं सकता, लेकिन देखने में वह एक साधारण आदमी-सा जान पड़ता है। शरीर से अधिक दुर्वल होते हुए भी वह गजब का फौलादी मानसिक बल रखता है। और साधारण से साधारण मजूरों में बैठकर ऐसा घुल-मिलकर बात करने लगता है कि मंडली विश्वास करती है कि वह उनमें से एक है। वह सचमुच ही एक नये ढंग का नेता है, जिसका स्थान लोगों के ऊपर उनसे दूर नहीं बल्कि उनके भीतर अत्यन्त नजदीक है।

जन्म–नदिया या (नवदीप) बंगाल में संस्कृत के लिए दूसरी काशी समझी जाती है। नदिया जिले में शान्तिपुर एक अच्छा कसबा है जो किसी समय अपनी बारीक धोतियों के लिए बहुत प्रसिद्ध रहा है। शान्तिपुर से कितने ही मील दूर कृष्णनगर एक अच्छा-खासा कसबा है। लाहिड़ी का जन्म कृष्णनगर में 1909 (भादों 1315, बंगला संवत्) में हुआ था। उनके पिता सुरेन्द्र मोहन लाहिड़ी कलकत्ता की किसी कम्पनी में काम करते थे। ब्राह्मण होते हुए भी सुरेन्द्र बाबू का विश्वास धर्म से उठ गया था। उसके कारण सोमनाथ की माँ निर्मलाबाला देवी को भी पूजा-पाठ में संकोच करना पड़ता था। इस प्रकार सोमनाथ को धार्मिक गूढ़ विश्वासों में धँसने का कम अवसर मिला, और हरएक बात में स्वतंत्र बुद्धि का इस्तेमाल कर सकता था। सोमनाथ की सबसे पुरानी स्मृति उसे साढ़े तीन साल की उम्र तक ले जाती है, जबकि वह कृष्णनगर में अपने बाप-दादा के घर में रहता था। बाप के सबसे बड़े भाई संन्यासी हो गए थे और इस समय वह घर पर आए हुए थे। ये बच्चों को डराते-धमकाते बहुत थे, जो सोमनाथ को अच्छा नहीं लगता था।

लड़कपन से ही सोमनाथ का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता था। इसीलिए उसके तीन भाई (एक बड़ा) और तीन बहनों (एक बड़ी) के होते भी वह खेल का आनन्द न ले सकता था। उसकी जगह वह कहानियाँ सुनना ज्यादा पसन्द करता था और इसी वास्ते चार ही वर्ष की उम्र में वह पढ़ने बैठ गया। जब कुछ समझने भर की भाषा आ गई तो किताबों का कीड़ा बनना उसके जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य बन गया।

पढ़ाई–दो साल तक वह कृष्णनगर ही में पढ़ता रहा। अब कृष्णनगर मलेरिया का भी केन्द्र बन गया। सोमनाथ जैसे दुर्वल बालक के लिए यह और खतरे की बात थी। सोमनाथ के चाचा शान्तिपुर में डाक्टरी करते थे। उसको उन्हीं के पास भेज दिया गया और चार साल (1916-1920) तक वह वहाँ के म्युनिसिपल हाईस्कूल में पढ़ता रहा। अब वह बंगाल साहित्य में प्रवेश कर चुका था, और स्कूल की पढ़ाई के अतिरिक्त सारा समय बंगला कविताओं, उपन्यासों और दूसरे ग्रन्थों के पढ़ने में लगाता था। बंकिम बाबू की सारी पुस्तकें उसने पढ़ डाली थीं। लड़ाई के समय लड़ाई की खबरों को खूब पढ़ता था, और जर्मनों की हरएक जीत उसके लिए खुशी की चीज थी। उस छोटी-सी उम्र में भी वह कहानियाँ लिखने लगा था और वह स्कूल के मेगजीन में छपा करती थीं। 1920 में स्कूल के एक मास्टर ने इस्तीफा दे दिया। असहयोग का जोर था। हड़तालों के मारे एक-दो मास तक स्कूल बन्द रहा। हड़तालों में सोमनाथ खूब भाग लेता था। एक बार पुलिस ने कुछ लड़कों को पकड़ा। सोमनाथ बहुत छोटा था, इसलिए उसे एक-दो चाँटे लगा छोड़ दिया।

लड़के की पढ़ाई बिगड़ती देख 1920 में पिता ने सोमनाथ को कलकत्ता में एक सबसे पुराने हेअर स्कूल के आठवें दर्जे में दाखिल कर दिया, जहाँ से 1924 में उसने मेट्रिक फर्स्ट डिवीजन में पास किया। अंग्रेजी, बंगला साहित्य में वह बहुत तेज था। गणित छोड़ सभी विषय उसे प्रिय थे।

कालेज में–मेट्रिक पास करने के बाद (1924) वह सिटी कालेज में दाखिल हुआ। पाठ्य-विषय थे, भौतिक-शास्त्र, रसायन और गणित। 1928 में वह बी. एस्-सी. में बैठनेवाला था। मगर परीक्षा के समय सख्त बीमार पड़ गया और उस साल वह परीक्षा न दे सका। अगले साल (1929 में) उसने बी. एस्-सी. पास किया।

सोमनाथ का एक सम्बन्धी जर्मनी में पढ़ रहा था। 1929 में उसकी चिट्ठियों से सोमनाथ ने मार्क्स का नाम सुना। यद्यपि असहयोग के दिनों में उसने भी स्कूल की हड़तालों में भाग लिया था, लेकिन वह राजनीति से बिल्कुल अछूता-सा रहा। मार्क्स का नाम सुनने पर उसने मार्क्स के बारे में ज्यादा जानने की कोशिश की। जो दो-एक पुस्तकें मिलीं उन्हें पढ़ा और परीक्षा दे देने के बाद वह अपने परिवार के चार-पाँच तरुणों के साथ

मार्क्सवाद, तरुण-साहित्य और धर्म-विरोधी ग्रन्थों को खासतौर से पढ़ने लगा। परिवार के तरुणों ने अपनी हस्तलिखित पत्रिका भी निकाली, जिसमें लेख लिखने के लिए सोमनाथ को और भी पुस्तकें पढ़नी पड़तीं। कलकत्ता के स्कूल-मेगजीन में भी सोमनाथ की कई कहानियाँ छपी थीं। अब इस घर की पत्रिका में तो कहानियों के अतिरिक्त कविताएँ भी लिखता। मार्क्सवाद पर उसने एक लेख-माला भी लिख डाली, जो कि 1930 में 'संवाद' में छपी।

(1929-30) में वह प्रेसीडेन्सी कालेज में एम. एस्-सी. के लिए पढ़ रहा था। इसी समय नमक-सत्याग्रह आया। लड़के पिकेटिंग करते, प्रोफेसर लोग उन्हें पुलिस से पिटवाते। सोमनाथ को राजनीति में अभी कोई रुचि न थी और न आंदोलन से उसका कोई सम्बन्ध था, लेकिन धरना देते, मार खाते छात्रों को देखकर उसने कॉलेज जाना बुरा समझा।

आँख खोलनेवाली घटना–कॉलेज छोड़कर अव वह बंगाल मेसेलनी में केमिस्ट हो गया और छह मास तक उसकी रसायन-शाला में काम करता रहता। मेसेलनी के पास ही बंगाल केमिकल की रसायन-शाला थी, जिसमें सोमनाथ का चचेरा बड़ा भाई (एम. एस्-सी.) काम करता था। दोनों ही रसायन-शास्त्र के विद्यार्थी थे। दोनों ही मार्क्सीय-सिद्धान्तों को पसन्द करते थे और पूँजीवाद को अच्छी नजर से न देखते थे। उस समय विदेशी चीजों की बड़ी माँग थी। वूट की पालिश में नाईट्रोवेंनजीन की जरूरत होती है। बाजार में उसकी वड़ी माँग थी। बंगाल केमिकल के पास वहुत-से आर्डर आए थे। मालिकों ने अपनी रसायन-शाला में उसे वनाना चाहा, लेकिन वहाँ उसके लिए मजबूत यन्त्र नहीं थे। मालिकों ने बड़े भाई को जैसे-तैसे यन्त्र द्वारा नाईट्रोवेंनजीन बनाने का हुकुम दिया। नाईट्रोवेंनजीन धीरे-धीरे असर करनेवाला जहर होता है, यह सवको मालूम था, तव भी पूँजीवाद ने एक तरुण को मजबूर किया। तरुण की देह में यह विषैली चीज श्वास के साथ बरावर घुसती चली जा रही थी। एक दिन कमजोर फ्लास्क फट गया और जहरीली गैस बहुत भारी परिमाण में साँस के द्वारा भीतर चली गई। उसके कपड़े पर वेन्जीन के छींटे पड़े हुए थे। सोमनाथ ने छुट्टी के बाद घर जाने के लिए भाई का इन्तिजार किया। वह कुछ देर से आया। दोनों घर की ओर चले। भाई के सिर में चक्कर आ रहा था। उसे अस्पताल ले गए। डाक्टरों ने कोशिश की, मगर उसी रात को वह खतम हो गया। सोमनाथ के दिल पर भारी धक्का लगा। उसके भाई के खून का जिम्मा पूँजीवाद पर था। अब सिर्फ मार्क्सवाद की पुस्तकों को पढ़ लेने-भर में सोमनाथ को सन्तोष नहीं हो सकता था। उसने पता लगाना शुरू किया कि कोई पूँजीवाद के उखाड़ फेंकने का काम भी कर रहा है। खोजते-खोजते वह डाक्टर भूपेन्द्रदत्त के पास पहुँचा।

नया जीवन–अब सोमनाथ नये जीवन में प्रविष्ट हुआ। डा. भूपेन्द्रदत्त से मार्क्सवाद की जानकारी हासिल करता। उसे मालूम हो गया कि मार्क्स सिर्फ पारायण करने की चीज नहीं है। मार्क्सवाद तब तक हवा की चीज है, जब तक कि मजूरों से इसका अटूट सम्बन्ध नहीं स्थापित हो जाता। अव सोमनाथ जूट-मजूरों में जाने लगा। परिवार के कई तरुणों को मिलाकर 'अभियान' नाम से एक मजूर साप्ताहिक निकाला। पत्र छः-सात सप्ताह ही चल पाया था कि सरकार की ओर से उसे चेतावनी दी गई और उसे वन्द कर देना पड़ा।

कलम-घिसाई तो छूटी। मजूरों के भीतर घुसकर काम करने के लिए परिवारवाले तरुण और आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं रखते थे। सोमनाथ ने अकेले ही आगे बढ़ने का संकल्प किया। मार्क्सवाद को सफल और सबल बनाने के लिए मजूरों की आवश्यकता है। मजूर आन्दोलन को निकम्मे नेताओं और अवसरवादियों से वचाकर क्रान्ति-पथ पर ले जाने के लिए कम्युनिस्ट पार्टी की जरूरत है, यह बात सोमनाथ समझने लगा। वह कम्युनिस्टों के साथ काम भी करना चाहता था, मगर कम्युनिस्ट नेता मेरठ षड्यन्त्र में फँसकर जेलों में बन्द थे। बचे-खुचे कर्मियों में उतनी सूझ न थी और सोमनाथ जैसे तरुण को काम में कैसे लगाना चाहिए, इसका उन्हें पता नहीं था। सोमनाथ ने सोचा। पहले मुझे मजूरों में काम करके, उनकी यूनियन (सभा) कायम करके दिखलाना चाहिए, कि मैं काम करना चाहता हूँ, और काम कर सकता हूँ।

अब वह स्यालदा में ई. बी. रेलवे के मजूरों में घुसा। उनकी तकलीफों को हटाने के लिए उनमें चेतना पैदा की। फिर सिगनल वर्कशाप के मजूरों की एक यूनियन बनाई। कितने ही मजूरों से जान-पहचान हुई।

सोमनाथ का आत्म-विश्वास बढ़ा। उसी समय कामरेड हलीम जेल से छूटकर बाहर आए। सोमनाथ उनसे मिला और फिर पार्टी के ग्रुप में ले लिया गया। उस ग्रुप में सात-आठ कम्युनिस्ट काम करते थे। अभी उनकी संख्या और प्रभाव कम था, मगर सभी लगनवाले थे। ग्रुप ने मजूरों में जागृति बढ़ाने के लिए 'चाशी-मजूर' (किसान मजदूर) नाम से एक बंगला साप्ताहिक निकाला। सोमनाथ की कलम तेज चलने लगी। सरकार कब पसन्द करने लगी थी। उसने उसे दबा दिया। फिर (1932-33) में 'दिन मजूर' साप्ताहिक निकाला। बीच-बीच में कई पुस्तिकाएँ लिखता रहा। 'सम्वाद' में छपे लेखों को 'साम्यवाद' के नाम से पुस्तकाकार छपाया। जिसे थोड़े ही दिनों बाद जब्त कर लिया गया। इसी समय लाहिड़ी ने लेनिन की पुस्तक 'राज्य और क्रान्ति'* का बंगला अनुवाद 'राष्ट्र व आवर्तन' के नाम से किया। लिखने के अलावा उसका सारा समय ई. बी. रेलवे कमकर-यूनियन में लगता था।

1933 की मार्च में मेरठ के साथियों को लम्बी-लम्बी सजाएँ दी गईं। सोमनाथ ने 'भारतीय क्रान्ति और हमारा कर्तव्य'** के नाम से पार्टी की ओर से एक पुस्तिका निकाली, जिसमें कम्युनिस्ट प्रोग्राम 'राष्ट्रीय प्रोग्राम' है, इस बात को जनता के सामने रखा और भारत के सारे कम्युनिस्टों को एक हो जाने पर जोर दिया।

इसी समय मेरठ से छोड़ दिए गए साथियों तथा बंगाल और कलकत्तावाले कर्मियों ने प्रयाग में इकट्ठा हो अखिल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी बनाने का निश्चय किया।

कलकत्ता लौटकर सोमनाथ ने 'मार्क्सवादी' नाम से बंगला का एक मासिक पत्र निकाला। एक अंक के बाद मजबूर होकर उसे बन्द करना पड़ा। फिर 'मार्क्सपन्थी' मासिक निकाला, जिसके छह अंक निकल पाये।

जमशेदपुर भारी औद्योगिक केन्द्र है, वहाँ मजूरों की भारी संख्या रहती है। वहाँ के मजूरों में जागृति पैदा करने के लिए लाहिड़ी को भेजा गया। लेकिन, जमशेदपुर में ठहरना आसान काम न था। मजूर कोई संगठन न करने पायें, इसके लिए वहाँ गुंडे रखे गए थे। उसके पहले वहाँ कोई सभा नहीं हो पाती थी। चार साल बाद पहली बार लाहिड़ी ने वहाँ सार्वजनिक सभा करवाई। लाहिड़ी को भी गुण्डों के हाथ से मार खानी पड़ी, तो भी वह डटा रहा। लाहिड़ी रहता तो था कलकत्ता में ही, मगर जमशेदपुर आता-जाता था। छह मास काम करके लाहिड़ी ने वहाँ काफी जोश पैदा कर दिया।

1933 में जब पहली अस्थायी पार्टी की अस्थायी केन्द्रीय कमेटी बनी, तो लाहिड़ी उसका एक सदस्य था। यही केन्द्रीय कमेटी मई 1943 तक चली आई, जबकि पहली बार पार्टी-कांग्रेस खुले रूप में हुई और नये पदाधिकारियों का चुनाव हुआ।

1934 में कलकत्ता में काम बढ़ गया था। जूट और दियासलाई के कारखानों में मजूरों ने हड़तालें कीं। जून या जुलाई में लाहिड़ी गिरफ्तार हुआ और सात मास तक अलीपुर जेल में रहा।

जेल से निकलकर दो-तीन मास कलकत्ते में काम किया। जोशी दुबारा गिरफ्तार हो चुके थे, अधिकारी नजरबंद थे। मिरजकर, लाहिड़ी और घाटे उस समय पोलिट्ब्यूरो के मेम्बर थे और घाटे पार्टी-सेक्रेटरी। मिरजकर रूस जाने की कोशिश में सिंगापुर गए, लेकिन पकड़कर बम्बई पहुँचा दिए गए। पुलिस उन्हें फिर पकड़ना चाहती थी, इस पर वे अन्तर्धान हो गए। अब लाहिड़ी पार्टी सेक्रेटरी हुए, उन्हें भी अन्तर्धान रहना पड़ता था। चार मास काम कर पाये थे, कि जनवरी 1936 में गिरफ्तार हो गए और दो साल की सजा लेकर येरवाडा जेल में पहुँच गये।

बम्बई में कांग्रेस ने मन्त्रिमंडल सँभाला। जनता की ओर से दबाब पड़ने लगा। मगर कांग्रेस मिनिस्टरी ने यह कहकर लाहिड़ी को छोड़ने से इन्कार कर दिया, कि वह कम्युनिस्ट है। जब दवाव बहुत ज्यादा पड़ने लगा, तो हरीपुरा कांग्रेस से चन्द दिन पहले (1 मार्च, 1938) लाहिड़ी को छोड़ दिया गया।

हरीपुरा कांग्रेस से लौटकर लाहिड़ी कलकत्ता चला आया और 'गण-शक्ति' नाम से एक मार्क्सवादी मासिक

---

* State and Revolution.

** "India's Revolution and our Tasks"

पत्रिका निकाली। 'आगे चलो' नामक एक बंगला साप्ताहिक भी निकाला। लिखने के अलावा लाहिड़ी मजूरों और कांग्रेस में भी काम करता था। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का मेम्बर था। और सुभासबोस उस वक्त लाहिड़ी को अपना दाहिना हाथ समझते थे। 1939 में लाहिड़ी आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी के मेम्बर थे। युद्ध आरम्भ हुआ। बंगाल सरकार ने पहले सीधे तौर से कुछ नहीं किया, मगर 1940 के शुरू में भवानी, पाचू, मुजफ्फर और जोशी के साथ लाहिड़ी को जिलावतन करने का हुकुम दिया। मुजफ्फर और लाहिड़ी ने हुकुम नहीं माना, इसके लिए उन्हें एक मास की सजा दी गई। जेल से निकलने पर, कलकत्ता से निकल जाने का हुकुम हुआ। लाहिड़ी अपने जिले नदिया में गया। वहाँ के नौकरशाहों ने त्राहि-त्राहि मचाई, एक महीने बाद वहाँ से भी निर्वासन का हुकुम मिला, अन्त में जून 1940 में अन्तर्धान हो जाना पड़ा। अन्तर्धान रहते हुए वह 'बोलशेविक' (बँगला) निकालता रहा। अगस्त 1942 में वारंट हटा लेने पर लाहिड़ी ने खुलकर काम शुरू किया। इसी साल सितम्बर में अन्तर्धान करला की साथिन बेला से लाहिड़ी ने शादी की। लाहिड़ी ने 'जाति समस्या व मार्क्सवाद', 'किशोर बीर देर काहिनी' (किशोर वीरों की कहानी), 'आगुनेर फूल' (अग्नि के फूल), 'गान्धी जीर उपवासेर पर' (गाँधी जी के उपवास के बाद) आदि पुस्तकें लिखी हैं। बंगला साप्ताहिक 'जनयुद्ध' और 'लोक-युद्ध' में उसके लेख बराबर निकलते रहते हैं।

16

बंकिम मुकर्जी

प्रमुख तिथियाँ–1897 (1304 बंगला) वैशाख अक्षयतृतीया जन्म, 1902 अक्षरारम्भ, 1904-7 बेलूर मिडिल स्कूल में, 1906-9 शाम बाजार मिडिल इंग्लिश स्कूल (कलकत्ता) में, 1910-14 हिन्दू स्कूल (कलकत्ता) में, 1914 मैट्रिक पास, 1914-16 प्रेसीडेन्सी कालेज में, 1915-19 जगत् के दुःख से व्यथित हृदय दार्शनिक, 1916 इंटर साइंस पास, कॉलेज से निकाला जाना, 1916-18 सिटी कालेज में, 1919 बी. एस-सी. पास, मार्क्स-गोर्की का प्रभाव, 1919 यूनिवर्सिटी साइंस कॉलेज एम. एस-सी. (गणित) में दाखिल, 1921 कालेज छोड़ असहयोग में वालंटियर, 1921-25 इटावा कांग्रेस के नेता, 1921 अप्रैल इटावा में कांग्रेस का काम, 1 दिसम्बर जेल में (डेढ़ साल की सजा), 1923 जेल से बाहर (दिसम्बर ?), 1923-25 मार्क्स का और असर, 1925 मजूरों में जाने के लिए कलकत्ता में, 1926 जादोपुर में मार्क्सवाद का गम्भीर अध्ययन, 1927 डॉ. भूपेन्द्र दत्त से भेंट, पीपुल्स प्रोग्रेसिव पार्टी का निर्माण, 1928 गोपेन से मुलाकात, मजूर-किसान सभा में शामिल, हड़तालों में शामिल, 1929 मुजफ्फर की गिरफ्तारी पर आन्दोलन का नेतृत्व, 1930 जेल में (अप्रैल) 7 साल की सजा, 1931 जेल से बाहर, मेरठ में अभियुक्त कमूनिस्ट नेताओं से वार्तालाप, 1932 तीन मास के लिए नजरबंद, 1934-36 स्वास्थ्य खराब, 1936 पार्टी में। 1940-41 जेल में एक साल, 1943 भारतीय किसान कान्फ्रेंस (भाखना) के सभापति।

उसने गजब की प्रतिभा पाई थी। उसके अध्यापक आशा रखते थे कि वह एक दिन जगत्-प्रसिद्ध साइंसवेत्ता बनेगा, मगर दर्शन ने उलझा दिया। उसकी कलम में गजब की ताकत थी और वह खुद भारत का गोर्की बनना चाहता था; लेकिन क्रियात्मक राजनीति ने उसे कलम चलाने की उतनी आजादी न दी। आज वह बंगाल का सबसे बड़ा वक्ता है। अध्यापक अपने विद्यार्थियों को लेकर उसका व्याख्यान सुनने आते हैं कि शिष्ट, सजीव बँगला भाषा के बारे में कुछ सीखें। उसने राजनीति में अत्यन्त पिछड़े युक्तप्रान्त के इटावा जिले को लिया और अपने संगठन-कौशल से वहाँ के लोगों में जान फूँक दी। क्रियात्मक राजनीति ने उसे मार्क्सवाद के पास पहुँचाया। वह बंगाल का प्रमुख कांग्रेस नेता बन चुका था; लेकिन उसने महसूस किया कि निराकार राजनीति से नहीं,

बल्कि साकार राजनीति–किसानों, मजूरों का आन्दोलन–ही देश को आजाद करा सकता है। फिर वह किसान-मजूरों का सेवक बन गया। आज उसकी प्रबल आवाज को लक्ष-लक्ष किसान-मजूर सुनते और उसके बतलाये रास्ते पर चलते हैं। उसने साइंस और साहित्य-गगन के तारा होने का मोह छोड़ा; लेकिन आज वह जो कार्य कर रहा है, कौन कह सकता है कि वह उनसे कम महत्त्व का है ?

यह है बंगाल का वक्तासिंह बंकिम मुकर्जी।

जन्म–बंकिम का जन्म बंगला सन् 1304 (1897 ईसवी) के वैशाख मास की अक्षय तृतीया को बेलूर (हावड़ा जिला) में नाना के घर हुआ। बंकिम के दादा ने व्यवसाय का रास्ता पकड़ा था, वह बड़े-बड़े ठेके लेते थे और लाखों कमाते थे। एक बार उन्होंने बी. एन. रेलवे में बरहमपुर के पास लाइन बनाने का काम लिया। उनका भारी ठेका था। उसी समय एक जबर्दस्त बाढ़ आ गई और उनके बनाये सारे काम चौपट हो गये। कई लाख का नुकसान हुआ। वे कर्ज अदा नहीं कर सकते थे। उसके लिए जेल में सड़ना होता, इसलिये दादा द्वारकानाथ मुकर्जी घर से गायब हो गये। 1925 में बनारस में उनकी मृत्यु हुई। पिता योगेन्द्रनाथ मुकर्जी भी अपने बाप के काम में हाथ बँटाते थे। घर के ऊपर जो आफत का पहाड़ गिरा, उसे सम्हालने में उन्होंने अपने को असमर्थ देखा और दो साल के अपने प्रथम पुत्र बंकिम को छोड़ संन्यास ले लिया। लड़के के पालन-पोषण का बोझ उनकी माँ विभावती देवी पर पड़ा। ननिहालवाले खुशहाल थे, इसलिए बहुत दिक्कत उठानी नहीं पड़ी। बंकिम की तीन पीढ़ी से घर में सिर्फ एक सन्तान होती आई है। जब बंकिम ने यूनिवर्सिटी छोड़ राजनीति के कंटकाकीर्ण पथ पर पैर रखा और शादी करने से इनकार कर दिया, तो विभावती देवी ने परलोक की ओर लौ लगाना पसन्द किया और तब से वे काशीवास करती हैं।

बंकिम की प्राचीनतम स्मृति उन्हें ढाई साल की उम्र में ले जाती है। उनका बड़ा भाई मर गया था। घर में शोक छाया हुआ था। निस्तब्ध रात में माँ की गोद में सोये थे। हवा के झोके से चालित बाँसों के रगड़ने की आवाज सुनाई देने लगी। मालूम देता था, कोई रो रहा है। भाई की मृत्यु और इस रुदन ने बंकिम के शिशु-हृदय पर ऐसा जबरदस्त प्रभाव डाला कि वह स्मृति मिट न सकी। इस पुस्तक में आयी जीवनियों में बंकिम ऐसे एकाध ही हैं, जिनको ढाई साल की एक घटना याद है। पता लगता है, जितनी ही बुद्धि तीव्र होती है, उतनी ही बाल्यस्मृति दूर तक ले जाती है।

बाल्य–बंकिम का स्वास्थ्य लड़कपन में बहुत खराब था। बारह साल की उमर तक बराबर पेचिश के शिकार रहे। लड़कों के साथ वे खेल नहीं सकते थे। कथाओं के सुनने का शौक था। नानी रामायण-महाभारत की कथाएँ बहुत सुनातीं। माँ की जबान बहुत ही तेज थी, लेकिन साथ ही दिल बहुत नरम भी था। बंकिम जन्मजात दार्शनिक थे। चार वर्ष की उम्र में भी वे घंटों अचल बैठे सोचा करते। वृक्ष को देखा और पौधे को भी देखा। सोचते वृक्ष पहले पैदा हुआ या पौधा। घंटों बैठी अचल मूर्ति को कोई आकर हिलाता, फिर वे अपनी समस्या उसके सामने रखते।

शिक्षा–पाँच साल की उम्र में माँ ने घर ही पर अक्षरारंभ कराया। दो साल तक माँ ही उनकी गुरु रही। बेलूर में मध्यवित्त शिक्षित भद्रलोक रहा करते थे। बंकिम के भी आसपास भद्रलोक-वातावरण था। एक बड़ी कमी यह भी थी कि स्वास्थ्य की खराबी के कारण वह शिशुओं के संग का लाभ उठा नहीं सकते थे। उनका स्थान बूढ़ों में था। आठ-नौ साल ही से वह पौराणिक कथाओं के विशेषज्ञ माने जाने लगे और सन्देह होने पर बूढ़े आकर उनसे पूछा करते थे। सात साल की उम्र में वे बाकायदा पढ़ने के लिए बेलूर मिडिल स्कूल में दाखिल कर दिये गये और वहीं पर वे एक साल पढ़ते रहे। रूस-जापान की लड़ाई हो रही थी। सात साल के बंकिम लड़ाई के खबरों को अखबारों में पढ़ा करते थे।

1906 में नाना, मामा कलकत्ता आ गये। बंकिम भी उनके साथ थे और उन्हें श्याम बाजार के मिडिल इंग्लिश स्कूल में दाखिल कर दिया गया। स्वास्थ्य अब भी खराब था, यद्यपि उसमें कुछ सुधार होता दिखलाई पड़ रहा था। बराबर वह दर्जे में प्रथम या द्वितीय रहते थे। गणित और साहित्य उनके अत्यन्त प्रिय विषय थे। नौ साल की आयु में उन्होंने आधुनिक बंगाली ग्रन्थकारों के ग्रन्थों को पढ़ना शुरू किया था। बंकिमचन्द्र

चटर्जी के उपन्यास और मधुसूदनदत्त की कविताएँ उन्हें बहुत प्रिय थीं। चौदह साल की उमर में पहुँचने तक चंडीदास से लेकर सत्येन्द्रदत्त तक के सारे बंग-साहित्य को पढ़ डाला। पुस्तकों के पढ़ने के अतिरिक्त वे स्वयं चित्र बनाया करते थे।

घर में माता धार्मिक थीं और सारे नाना-परिवार में पूजा-पाठ की धूम थी। पिता का कुल पूजा-पाठ में विश्वास नहीं रखता था। मगर वह तो अत्यन्त शैशव ही में बंकिम के लिए खतम हो चुका था। 1909 में बंकिम का जनेऊ हुआ, अब वह बराबर पूजापाठ किया करते थे।

1910 में बंकिम ने मिडिल पास किया और उन्हें छात्रवृत्ति मिली। अब वे हिन्दू स्कूल में दाखिल हो गये, जहाँ से 17 वर्ष की उम्र में मैट्रिक पास किया।

स्वास्थ्य अब ठीक हो चला था, मगर खेल में वे अब भी शामिल नहीं होते थे। हाँ, कुछ व्यायाम कर लिया करते थे। बंकिम के गणिताध्यापक का ख्याल था कि उनका विद्यार्थी साइंस में यूनिवर्सिटी में फर्स्ट रहेगा। मगर बंकिम फर्स्ट डिवीजन ही लेकर रह गये। बंकिम का रास्ता बिगड़ रहा था। पाठ्य-पुस्तकों के पढ़ने की ओर उनका ध्यान न जाता था। वे बाहरी किताबें बहुत पढ़ा करते थे। इसका एक परिणाम हुआ कि धार्मिक वातावरण में पले धार्मिक पुस्तकों के पाठ और भगवद्भक्ति में पगे बंकिम का सोलह वर्ष की उम्र में ही ईश्वर से विश्वास हटने लगा। जिस स्वतन्त्र मेधा को पकड़ रखने में धर्म असमर्थ होता है, उस पर दर्शन अपने हथियार की परीक्षा करता है। बंकिम अब दर्शन की ओर झुके और उसमें इतने तन्मय हो गये कि पाठ्य-पुस्तकों की ओर मुश्किल से कभी नजर दौड़ाते। मैट्रिक में उन्होंने संस्कृत ली थी।

बंकिम उस समय अत्यन्त लज्जालु थे। उन्हें कभी स्वप्न में भी ख्याल नहीं आ सकता था कि वे एक दिन इतने बड़े वक्ता बनेंगे। स्कूल में उन्होंने कितनी ही कहानियाँ और निबन्ध लिखे। अपनी कलम पर उनका विश्वास हो चला।

इस समय अपने से पाँच वर्ष के बड़े मामा का बंकिम पर अधिक प्रभाव था। माँ भी नियन्त्रण करना चाहती थी, मगर माँ की कटुभाषिता बंकिम को पसन्द न थी। फिर माँ के अधिक पूजापाठ से भी उन्हें अधिक चिढ़ थी।

कालेज में—बंकिम तेज विद्यार्थी थे। प्रेसीडेन्सी कालेज में उनका नाम लिखाया। विषय थे—भौतिक शास्त्र, रसायन और गणित। नाम लिखाया तो था साइंस में और दूसरे लोग भी जगत् प्रसिद्ध साइंसवेत्ता बनने की आशा रखते थे; मगर बंकिम का सारा समय जाता था दर्शन और साहित्य के पढ़ने में। इस समय लड़ाई के आरंभिक वर्षों में बंगाल में आतंकवाद का बहुत जोर था, मगर बंकिम जिस दर्शन-दुर्ग में थे, उसकी दीवारें अभेद्य थीं। उनके पास न बंब-पिस्तौल जा सकते थे, न राजनीति। वे पूरे सन्देहवादी बन गये थे। बेन्थम और कांट के ग्रन्थों को पढ़ते, लेकिन जिस पर उनकी सबसे ज्यादा श्रद्धा थी, वह था परम निराशावादी जर्मन दार्शनिक शोपनहार। अंग्रेज ग्रन्थकारों की अपेक्षा यूरोप के ग्रन्थकारों को वे ज्यादा पसन्द करते थे। उनके दोस्त अपने राजनीतिक विचारों और कामों को इस विश्वासशून्य बुद्धिवादी के सामने रखने की हिम्मत नहीं रखते थे।

परीक्षा के जब तीन मास रह गये तब उन्होंने पाठ्य-पुस्तकें खरीदीं; लेकिन तो भी फर्स्ट डिवीजन में पास हो गये।

बी. एस-सी. में भी उनकी वही रफ्तार बेढंगी चल रही थी। तरुणों में आत्मसम्मान का भाव बढ़ चला था। किसी ने इतिहास के अंग्रेज प्रोफेसर के घमण्डी बर्ताव से तंग आकर ठोक दिया। रसायनशाला में भी कुछ चीजों की चोरी हो गई। जिस वक्त चारों ओर 'बम्', 'बम्' की आवाज आ रही हो, उस समय यह बड़ी भयानक बात थी। सरकार इसे बर्दाश्त नहीं कर सकती थी। जब असली अपराधी का पता नहीं लगा, तो क्लास के अगुओं पर चोट हुई और उन्हें कॉलेज से निकाल दिया गया। सुभाष इसी तरह से निकाले गये। क्लास अगुवा होने से बंकिम को भी निकलना ही था, मगर साइंस का विद्यार्थी होने से इनके ऊपर रसायनशाला से चोरी करने का भी इल्जाम था। बंकिम क्लास के बहुत तेज विद्यार्थी थे। प्रोफेसर ने गिड़गिड़ाकर कहा—यदि तुम चोरी स्वीकार नहीं करोगे, तो हमारी चेयर (गद्दी) चली जायगी। बंकिम ने स्वीकार किया। कॉलेज के

प्रिन्सिपल जेम्स ने कहा, यह मामूली बात है। लड़कों को चेतावनी देकर छोड़ दो। मगर सरकार और पुलिस उसके लिए राजी न थी। हिन्दुस्तानी प्रोफसर ने अपनी चेयर बचाई और विद्यार्थी को निकलवा दिया। अंग्रेज प्रिन्सिपल से यह सहन नहीं हो सका और वह अपने पद से इस्तीफा देकर कॉलेज छोड़ गया।

अब बंकिम सिटी कालेज में दाखिल हो गये। पढ़ने में वही रफ्तार बेढंगी, वाहरी कितावें ज्यादा पढ़ते थे–खासकर रूसी ग्रन्थकारों की किताबें। 1917 की रूसी क्रान्ति हुई; मगर उसका पता दार्शनिक बंकिम को पाँच वर्ष बाद लगा। जीविका चलाने के लिए कुछ ट्यूशन कर लिया करते थे। वे पाठ्य-पुस्तकों को कल पर छोड़ते जाते थे। 1918 में जब परीक्षा का समय सिर पर आ गया, तो मालूम हुआ कि वे तैयार नहीं हैं। वे कॉलेज छोड़कर चले आये। अगले साल के नौ महीने भी दूसरे ही दूसरे ग्रन्थों को पढ़ने में विता दिये। जब तीन महीने रह गये, तो पुस्तकें उठाईं और प्राइवेट छात्र के तौर पर बी. एस-सी. पास किया, प्रशंसा के साथ।

जान पड़ता है, शरीर से अस्वस्थ मेधावी बच्चे अपने ही दुःखों को जगत् के ऊपर फैलाकर हर जगह दुःख-ही-दुःख देखते हैं। 1915 से 1919 तक के चार सालों में बंकिम पर दुःखवाद का जवर्दस्त प्रभाव था। शोपनहार जैसे दार्शनिकों के ग्रन्थों ने आग में घी का काम किया। बोल्टेयर और रूसो भी आकृष्ट करते थे; मगर पलड़ा शोपनहार ही का भारी था। राममोहन और मधुसूदन दत्त को वे श्रद्धा की निगाह से देखते थे। बंकिम, रवीन्द्र और विवेकानन्द के ग्रंथों को भी सम्मान की दृष्टि से देखते थे; मगर उन्हें सिर्फ सांस्कृतिक सुधारवादी समझते थे। हेगेल का दर्शन उन्हें पसन्द नहीं आया; कभी-कभी वह कांट की ओर भी जाते और कभी-कभी उनका निराशावाद वैष्णवों की भक्ति की ओर ले जाता। आखिर (1919) में तालस्ताय को वे गुरु मानने लगे। राजनीतिक विचारों के लिए उन्होंने बकुनिन और क्रोपात्किन के अराजकतावाद को पसन्द किया। मार्क्स की पुस्तकें उस समय अत्यन्त दुर्लभ थीं, इसलिए मार्क्स उनके विचारों में भी प्रविष्ट न हो सका। उनके मन में तब भी एक जबर्दस्त अन्तर्द्वन्द्व चल रहा था। किसी चीज को वे मजवूती से पकड़ नहीं सकते थे। कभी वे देशभक्ति की ओर खिंचते–खासकर प्रेसीडेन्सी कॉलेज से निकाले जाने की घटना के बाद और कभी अध्यात्म-जीवन बिताने का ख्याल आता। उनके निराशावाद ने साहित्यकार या साइंसवेत्ता बनने की बचपन की उमंगों को खतम कर दिया।

1919 के बाद बंकिम ने जब गोर्की के ग्रन्थों को पढ़ा, तो वह उनसे बहुत प्रभावित हुए। वे कुछ तै-सा कर चुके कि मुझे गोर्की बनना है। उनकी कलम में ताकत थी; मगर यह ख्याल करके उन्होंने कलम को रोक दिया कि पहले पूरी तैयारी कर लो तब कलम उठाओ।

1919 में अब वे यूनिवर्सिटी साइन्स कॉलेज में एम. एस-सी. में दाखिल हुए। विषय था गणित। साइंसवेत्ता बनने का ख्याल अब छूट चुका था और अब परीक्षा से भी दिल ऊबा हुआ था। मगर तो भी कॉलेज में चले जाया करते थे।

1920 का समय और उसके बाद गाँधीजी का असहयोग आया। बंकिम की नैया दर्शन के झंझावात में डावाँडोल हो रही थी। वे किसी निश्चय की ओर नहीं पहुँच पाते थे। बाज वक्त निराशावाद इतना उग्र हो जाता कि उन्हें क्षण-भर साँस लेने में तीव्र वेदना मालूम होती। उस वक्त बंकिम आत्महत्या कर लेने की बात सोचते। बंकिम ने इसे अपने लिए अच्छा अवसर माना। यद्यपि भारतीय राजनीति में अरविंद और तिलक का प्रभाव उन पर अपेक्षाकृत अधिक था, तो भी गाँधीजी को उन्होंने अपना अगुवा बनाया और साइंस कॉलेज से बिदाई ले ली।

राधारमण मित्र बंकिम के बालमित्र थे। दोनों हिन्दू-स्कूल के साथी थे। राधारमण क्लास में एक साल आगे थे। तालस्ताय की पुस्तकों को पढ़ते वक्त 1909 में दोनों ने गाँधी का नाम पहले-पहल पढ़ा था। राधारमण ने गाँधीजी के पास दक्षिणी अफ्रीका में उस वक्त चिट्ठी भी लिखी थी। गाँधीजी के भारत आने पर 1917 में दोनों उनके पास चेला बनने गये। गाँधीजी ने उन्हें यह कहकर उस वक्त लौटा दिया कि हमारे गुरु गोखले ने एक साल देश में घूमने के लिए कहा है; उसके बाद आना। पीछे जब गाँधीजी सावरमती-आश्रम में रहने

लगे तो इन दोनों तरुणों का जोश ठण्डा हो गया।

1920 में बंकिम दो-चार विद्यार्थियों का ट्यूशन करते थे। कॉलेज में हाजिरी देकर वाकी समय बाहरी पुस्तकों के पढ़ने में लगाते थे। उनका वुद्धि-प्रधान मस्तिष्क गाँधीजी के हृदय-परिवर्तनवाले प्रोग्राम पर विश्वास नहीं रखता था। मगर उन्होंने अपनी वुद्धि को दबाया; क्योंकि वह आत्महत्या करके जीवन समाप्त करने की सलाह दे रही थी। उन्होंने साल-भर तक आँख मूँदकर गाँधीजी के प्रोग्राम पर चलने का निश्चय किया।

असहयोग में—नागपुर के बाद 1919 के अन्त में ही बंकिम ने कालेज छोड़ दिया था और तीन मास तक वालंटियर के संगठन के काम में जुटे रहे। राधारमण मित्र छै मास पहिले ही सनातन धर्म हाई स्कूल में मास्टर होकर इटावा चले गये थे। बंकिम ने राधारमण को चिट्‌ठी लिखी कि नौकरी छोड़कर चले आओ, देश का कार्य करेंगे। राधारमण ने लिखा—"मैंने नौकरी तो छोड़ दी है, मगर स्कूल के लड़के जाने नहीं देते। तुम भी यहीं चले आओ। राष्ट्रीय स्कूल कायम करके उसी में हम दोनों काम करेंगे।"

अप्रैल (1921) में बंकिम इटावा गये। स्कूल और स्वराज्य-आश्रम के संचालन में लगे। मगर एक महीने ही बाद बंकिम का मन ऊब गया—वही पाठ्य विषय और उसी तरह की पुस्तकें, क्या है राष्ट्रीय स्कूल ? उन्होंने उसे चर्खा-करघा स्कूल में बदल डाला। स्कूल में हर तरह का चर्खा, करघा, बुनाई आदि की शिक्षा दी जाती थी। आश्रम मुठिया पर चलता था। गाँधीजी ने एक करोड़ कांग्रेस मेम्वर और तिलक-स्वराज्य-फंड के लिए एक करोड़ फंड की अपील निकाली। इटावा को 25 हजार रुपया, 25 हजार मेम्वर और 12 हजार चर्खा तैयार करना था। चर्खा बाँटते वक्त बंकिम ने देखा कि वहाँ पचास हजार से ऊपर चर्खे चल रहे हैं और पहले ही से गाढ़ा (मिश्रित खद्दर) पहना जाता है।

उन्होंने शुद्ध खद्दर और धोती तैयार करने के लिए स्कूल में शिक्षा देनी शुरू की। इटावा राजनीति से बिल्कुल कोरा जिला था। बड़े-बड़े जमींदारों—जिनमें आधे राजा हैं—के जुल्मों से पिसे किसान हिलने का नाम नहीं लेते थे। जिले में कोई उद्योग-धंधा न था और न मोरपंखी छोड़ कोई दस्तकारी थी। शिक्षित लोग और भी पिछड़े हुए थे। सारे जिले में सिर्फ एक मुख्तार मुहम्मद रहमतुल्लाह को छोड़ किसी वकील ने प्रैक्टिस नहीं छोड़ी। ऐसी मुर्दा जगह में ठहरना बड़ी हिम्मत की बात थी। मगर तरुण विद्यार्थियों के जोश को देखकर राधारमण और बंकिम की भी हिम्मत बँधी। किस इलाके में राजनीतिक विचारं रखनेवाले आदमी हैं, कहाँ कांग्रेस का काम शुरू करने में सुभीता होगा, यह पूछने की जरूरत ही नहीं थी। वहाँ चारों ओर स्याही पुती हुई थी। बंकिम और राधारमण ने जिले का नक्शा लिया, जिले के भूगोल को पढ़ा। फिर विद्यार्थियों को लेकर गाँवों की खाक छाननी शुरू की। शिक्षा और ज्ञान में आगे कहे जानेवाले भद्रवर्ग ने यद्यपि अपने मुर्दापन का सबूत दिया; मगर गाँव की जनता मुर्दा नहीं, मूर्च्छित थी। उसके कानों में देश की आजादी के शब्द पड़े और वह अँगड़ाई लेने लगी। एक मास के परिश्रम से जिले में मंडल और तहसील कमेटियाँ कायम हो गईं। विद्यार्थियों के जत्थों के साथ-साथ वे जिले के कोने-कोने में गये। अभी बंकिम हिन्दी नहीं जानते थे, इसलिए व्याख्यान नहीं दे सकते थे। मगर राधारमण बोलते थे। उस समय वे इटावा के गाँधी थे। बंकिम का काम था, विद्यार्थियों—कांग्रेस कमेटियों—का संगठन और उन्हें राजनीति की शिक्षा देना।

मई के मध्य में पं. मोतीलाल नेहरू जिला कांग्रेस कमेटी बनाने के लिए इटावा आये। पंडितजी एक दब्बू आदमी को जिला कांग्रेस कमेटी का सभापति बनाकर चले गये। उसके बल पर कब बेल मढ़े चढ़नेवाली थी। शराब-गाँजे की दूकानों पर धरना देने की बात थी। सभापति के लिए यह थी खतरे की चीज। बंकिम ने जब पं. मोतीलाल को लिखा, तो उत्तर दिया—"तुम राजनीति नहीं जानते।" बंकिम कब दबनेवाले थे, उन्होंने कड़ा जवाब लिखा। खैर, मुर्दा इटावा अब राजनीतिक जिन्दगी में बहुत आगे बढ़ा हुआ था। अब आसपास के जिलों को इटावा का उदाहरण दिया जाता था। किसान, गरीब दूकानदार और दस्तकार राजनीति में आगे आये। जनता के नये उत्साह को देखकर कुछ व्यापारी और वकील-मुख्तार सहानुभूति दिखलाने लगे। लेकिन बड़े जमींदार और बड़े-बड़े व्यापारी आन्दोलन के सख्त विरोधी थे। रौलट आन्दोलन के दिनों में जिस जिले के बारे में कहा जाता था—"गाँधीजी का बोलबाला, इटावा का मुँह काला" अब वह इटावा ही नहीं रह गया

था। तिलक स्वराज्य फंड के लिए जितना रुपया देना था और जिसके लिए पहले आशा की जाती थी कि कुछ मिलेगा ही नहीं, वह पूरी हो गई। कांग्रेस-मेम्बर तो और भी ज्यादा भरती हो गये। विदेशी कपड़ों का जबर्दस्त वायकाट हुआ। शराबंदी में सौ सैकड़ा सफलता हुई। दूसरे साल शराब का ठीका लेने और ताड़ी निकालने के लिए सरकार को एक भी ठीकेदार नहीं मिला। पक्के शराबी गालियाँ देते थे। एक शराबी ने आकर पहले बंकिम को खूब गालियाँ दीं, जब फिर भी उन्हें हँसकर बात करते देखा, तो रोने लगा। पीछे वह पक्का कांग्रेस-कार्यकर्त्ता बन गया। वह चालीस साल का शराबी था। इस्माइल नामक एक एक्कावाला भी शराबबन्दी के लिए गाली देने आया था और पीछे वह आदर्श वालंटियर बना।

पंडित मोतीलाल नेहरू के बनाये प्रेसीडेण्ट की टाँग थर-थर काँपने लगी और वह इस्तीफा देकर भाग गया। रहमतुल्ला प्रेसीडेण्ट थे और राधारमण तो सेक्रेटरी थे ही।

उस समय जनता में एक तूफान फूट निकला था—ऐसा तूफान जिस पर प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता। एक घंटे के नोटिस में गाँवों में चालीस-पचास हजार आदमी जमा हो जाते। जिले के अफसर काँपते थे। वे उसी जगह शासन चला सकते थे, जहाँ कांग्रेसवाले बाधा नहीं देते थे। सभी जगह स्वयंसेवकों का जबर्दस्त संगठन था। एक ओर जनता की भारी संख्या इस आन्दोलन के साथ थी, दूसरी ओर एक छोटी-सी संख्या भयभीत हो भीतर-ही-भीतर कुढ़ रही थी। वहाँ दो वर्ग हैं, यह बात साफ झलक रही थी।

इटावा के अधिकारी ज्यादा देर तक रुक नहीं सकते थे। उन्होंने अक्तूबर (1921) में राधारमण को पकड़कर जेल में बन्द कर दिया। इटावा में आने के छै महीने बाद बंकिम को बोलना पड़ा। इस अद्भुत वक्ता का यह प्रथम व्याख्यान था, जो अपनी मातृभाषा बंगला में नहीं, बल्कि हिन्दी में हुआ था। भाषा में चाहे दोष हो, मगर हिन्दी का भाषण भी उनका जोशीला होता।

दिसम्बर में प्रयाग में प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी हो रही थी। बंकिम भी उनमें शामिल होने आये थे। सारी कमेटी को गिरफ्तार करके जेल भेज दिया गया। बंकिम को डेढ़ साल जेल और सौ रुपया जुर्माना हुआ।

जेल में—उन्हें नैनी जेल में रखा गया। सजा सख्त थी। तीसरे दर्जे के साधारण कैदी की तरह खूब चक्की पीसनी पड़ती, ऊपर से जेलवालों का बर्ताव बहुत खराब था। खाने में घास और मिट्टी की भरमार थी। जिला मजिस्ट्रेट से कहने पर कुछ परिवर्तन हुआ और जेल के अफसरों को डाँट भी मिली। अंत में बदसलूकी के लिए बंकिम और उनके साथियों को भूख-हड़ताल करनी पड़ी। एक दिन साधारण कैदियों में भी उत्तेजना हुई और वे खुले विद्रोह के लिए उतावले हो गये। उसी रात उन्हें दबा दिया गया। कितनों को बेंत लगा। राजनीतिक बन्दियों को अलग करके यूरोपियन वार्ड में रखा गया। भूख-हड़ताल और आन्दोलन से परेशान हो सरकार ने उन्हें प्रथम डिवीजन में करके आगरा स्पेशल जेल में भेज दिया। पहले उन्हें डेढ़ रुपया रोज खाने को मिलता, फिर लखनऊ भेजकर एक रुपया, दस आना और अन्त में तीसरे डिवीजन के खाने तक पहुँचा दिया। हाँ, कैदी अपने खर्च से और चीजें मँगा सकते थे और अपने तत्त्वावधान में खाना बनवा सकते थे।

बंकिम ने जेल में हिन्दी-उर्दू को मन लगाकर पढ़ना शुरू किया।

इसी बीच में चौरीचौरा का काण्ड हो चुका था। गाँधीजी ने सत्याग्रह को स्थगित कर दिया था। देश में चारों ओर मुर्दनी छा गयी थी। आन्दोलन दबने लगा था। गया कांग्रेस (दिसम्बर 1922) के वक्त में भी बंकिम जेल में थे। फरवरी (1923) में वे बाहर निकले। म्युनिसिपैलिटी, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और कौंसिल का चुनाव हो रहा था। यद्यपि कांग्रेस का जबर्दस्त प्रभाव था, मगर योग्य उम्मीदवार न मिला। बंकिम म्युनिसिपैलिटी के लिए खड़े हुए और चुन लिये गये; मगर कौंसिल में खड़े होने के लिए उन्हें सरकार ने अयोग्य करार दिया था। राधारमण को खड़ा होने के लिए कहा, मगर अपने आदर्शवाद के कारण उन्होंने इन्कार कर दिया।

गाँधीपथ से विमुख—जेल में जाते ही बुद्धि ने फिर तीव्र आलोचना शुरू कर दी। 31 दिसम्बर (1921) की आधी रात को एक साल के भीतर जब स्वराज्य नहीं टपका, तो बुद्धि ने और बगावत शुरू की। फिर गाँधीजी के पास रहनेवाले लोगों के आचरणों ने और भी सन्देह पैदा कर दिया। जेल में बुरे बर्ताव के कारण जिस समय लोग संघर्ष कर रहे थे, उस वक्त नंगे रहने तथा बन्द न होने की प्रतिज्ञा की गयी। जेलवालों ने मार-पीटकर

उन्हें बन्द कर दिया और सवेरे बहुतों ने कपड़ा भी पहन लिया। महादेव देसाई जूँओं से भरे अपने कपड़ों को साफ कर रहे थे। उनसे जब कपड़ा पहन लेने के बारे में पूछा गया तो उन्होंने कहा—"दिसम्बर न होता तो नंगा-सत्याग्रह करते।" बंकिम के दिल पर भारी आघात लगा। उन्होंने भी कपड़ा पहन लिया था, मगर शरम के मारे, दिसम्बर के जाड़े के मारे में नहीं। महादेव देसाई गाँधीजी की छाया थे। चिराग-तले यह अँधेरा ! चौरीचौरा काण्ड के बाद बारडोली सत्याग्रह को स्थगित कर गाँधीजी ने और आँख खोल दी।

1923 में जेल से निकलने पर बंकिम स्वराज्य पार्टी की ओर थे। अब राजनीति के लिए किसी और रास्ते की तलाश में थे। इसी वक्त उन्हें 'वानगार्ड' की कुछ प्रतियाँ मिलीं, जिससे कमूनिज्म की कुछ बातें मालूम हुईं। हसरत मोहानी आदि से भेंट हुई। उन्होंने भी कुछ बातें बतलायीं। एक ओर नये-नये विचार आने लगे, दूसरी ओर जनता के उत्साह और बल को वह अपनी आँखों से देख चुके थे, जिसका परिणाम हुआ कि शोपनहार के दुखवाद—निराशावाद का प्रभाव घटने लगा। तरुणाई में उन्होंने स्त्री और शराब में जिसे भुलाने की कुछ समय असफल कोशिश की थी, वह अब नयी जीवनधारा-विचारधारा में विलीन होने लगी। इटावा एक अलग-थलग कस्बा है, जहाँ बौद्धिक जीवन का कोई निशान नहीं। जब-तब बंकिम एकान्तता अनुभव करने लगते, उस समय वे प्रयाग चले आते। यद्यपि उन्होंने कड़े-कड़े पत्र लिखे थे, लेकिन मोतीलाल नेहरू इस तरुण के मूल्य को समझते थे और बंकिम को मानते थे। प्रयाग में जवाहरलाल से गपशप होती। जब बंकिम चित्त की चंचलता के बारे में कहते, तो जवाहरलाल नुस्खा बतलाते—मैं तो ऐसे समय साबरमती चला जाता हूँ, तुम भी ऐसा ही किया करो। मगर बंकिम के लिए साबरमती में कोई आकर्षण नहीं रह गया था। आन्दोलन के दब जाने पर भी उन्होंने किसी तरह दो साल और बिताये और 1925 का अन्त आ गया।

बंकिम का आतंकवाद की ओर कभी आकर्षण नहीं हुआ। उनका उससे कोई सम्बन्ध नहीं रहा। लेकिन वह एक जिले के प्रभावशाली कांग्रेसी नेता थे और बंगाली थे। पुलिस उन्हें काकोरी के मुकदमे में धर घसीटने के लिए तुली हुई थी। 1925 के अन्त में बंकिम इटावा छोड़ कलकत्ता चले आये। एक साल तक उन्होंने राजनीति से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया। यद्यपि इटावा छोड़ते समय वे मजूरों में काम करने का ख्याल लेकर आये थे, किन्तु वे और समझना चाहते थे। अब यादवपुर टेकनिकल स्कूल में रहते और पुस्तकें पढ़ते। एक बार उद्योग-धन्धे में भी घुसने का ख्याल आया।

अभी तक किसी मार्क्सवादी के नजदीक आने का उन्हें मौका नहीं मिला, तो भी मार्क्सवाद की कुछ पुस्तकें हाथ आयीं और उन्होंने उनका खूब अध्ययन किया। 1927 में वे बंगाल प्रान्तीय काँग्रेस के मेम्बर थे। अब मुजफ्फर और उनके साथियों से जान-पहचान हो गयी। मजूर-सभा से सम्बन्ध जोड़ने लगे। इसी समय हाल ही में बर्लिन से लौटे डा. भूपेन्द्र दत्त से मिलने का मौका मिला। युद्ध के बाद के नौ वर्षों में यूरोप में जो जबर्दस्त उथल-पुथल हुई, उसके बारे में एक प्रत्यक्षदर्शी से बहुत-सी बातें सुनने को मिलीं। डा. भूपेन्द्र ने रूस के बारे में बहुत-सी बातें बतलायीं और साथ-साथ घटनाओं को मार्क्सीय दृष्टि से देखने का तरीका बतलाया। अब बंकिम ने भारतीय आन्दोलन का गंभीर विश्लेषण करना शुरू किया। सारा साल नये रास्ते को समझने, सीखने और पढ़ने में बीत गया। चौदह-पन्द्रह वर्ष से जमकर बैठे दुःखवाद की नींव हिलने लगी। बंगाल काँग्रेस कमेटी में बंकिम का प्रभाव बड़ी तेजी से बढ़ने लगा। एक साल के भीतर ही वह सुभाष बोस के विरोधी दल के प्रमुख हो गये। बंकिम का दल था 'जनता का प्रगतिशील दल'।' पीछे सेनगुप्त भी इसमें शामिल हुए; मगर उनसे मदद मिलने की जगह रुकावट ही ज्यादा प्राप्त हुई।

नया जीवन, नयी कार्यशैली—1928 में बंकिम की गोपेन्द्र चक्रवर्ती से मुलाकात हुई। उनकी प्रेरणा से वह मजदूर-किसान पार्टी में शामिल हुए। इस समय भारत में मजदूरों का जबर्दस्त संघर्ष चल रहा था। लिलुवा में रेलवे मजदूरों की जबर्दस्त हड़ताल हुई। चंगेल, बौड़िया तथा सारे जूट क्षेत्र में मालिकों की ओर से होनेवाले प्रहार के जवाब में मजदूरों में जबर्दस्त उत्तेजना थी। बंकिम ने मजूर-सभाओं के संगठन का खूब काम किया। दिसम्बर में कलकत्ता काँग्रेस के वक्त, जो मजदूरों ने प्रदर्शन किया था, उसमें बंकिम भी साथ थे। उस वक्त की मजूर-किसान-कान्फ्रेन्स में भी वे मौजूद थे।

था। तिलक स्वराज्य फंड के लिए जितना रुपया देना था और जिसके लिए पहले आशा की जाती थी कि कुछ मिलेगा ही नहीं, वह पूरी हो गई। कांग्रेस-मेम्बर तो और भी ज्यादा भरती हो गये। विदेशी कपड़ों का जबर्दस्त वायकाट हुआ। शराबंदी में सौ सैकड़ा सफलता हुई। दूसरे साल शराब का ठीका लेने और ताड़ी निकालने के लिए सरकार को एक भी टीकेदार नहीं मिला। पक्के शराबी गालियाँ देते थे। एक शराबी ने आकर पहले बंकिम को खूब गालियाँ दीं, जब फिर भी उन्हें हँसकर बात करते देखा, तो रोने लगा। पीछे वह पक्का कांग्रेस-कार्यकर्त्ता बन गया। वह चालीस साल का शराबी था। इस्माइल नामक एक एक्कावाला भी शराबबन्दी के लिए गाली देने आया था और पीछे वह आदर्श वालंटियर बना।

पंडित मोतीलाल नेहरू के बनाये प्रेसीडेण्ट की टाँग थर-थर काँपने लगी और वह इस्तीफा देकर भाग गया। रहमतुल्ला प्रेसीडेण्ट थे और राधारमण तो सेक्रेटरी थे ही।

उस समय जनता में एक तूफान फूट निकला था—ऐसा तूफान जिस पर प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता। एक घंटे के नोटिस में गाँवों में चालीस-पचास हजार आदमी जमा हो जाते। जिले के अफसर काँपते थे। वे उसी जगह शासन चला सकते थे, जहाँ कांग्रेसवाले बाधा नहीं देते थे। सभी जगह स्वयंसेवकों का जबर्दस्त संगठन था। एक ओर जनता की भारी संख्या इस आन्दोलन के साथ थी, दूसरी ओर एक छोटी-सी संख्या भयभीत हो भीतर-ही-भीतर कुढ़ रही थी। वहाँ दो वर्ग हैं, यह बात साफ झलक रही थी।

इटावा के अधिकारी ज्यादा देर तक रुक नहीं सकते थे। उन्होंने अक्तूबर (1921) में राधारमण को पकड़कर जेल में बन्द कर दिया। इटावा में आने के छै महीने बाद बंकिम को बोलना पड़ा। इस अद्भुत वक्ता का यह प्रथम व्याख्यान था, जो अपनी मातृभाषा बंगला में नहीं, बल्कि हिन्दी में हुआ था। भाषा में चाहे दोष हो, मगर हिन्दी का भाषण भी उनका जोशीला होता।

दिसम्बर में प्रयाग में प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी हो रही थी। बंकिम भी उनमें शामिल होने आये थे। सारी कमेटी को गिरफ्तार करके जेल भेज दिया गया। बंकिम को डेढ़ साल जेल और सौ रुपया जुर्माना हुआ।

जेल में—उन्हें नैनी जेल में रखा गया। सजा सख्त थी। तीसरे दर्जे के साधारण कैदी की तरह खूब चक्की पीसनी पड़ती, ऊपर से जेलवालों का बर्ताव बहुत खराब था। खाने में घास और मिट्टी की भरमार थी। जिला मजिस्ट्रेट से कहने पर कुछ परिवर्तन हुआ और जेल के अफसरों को डाँट भी मिली। अंत में बदसलूकी के लिए बंकिम और उनके साथियों को भूख-हड़ताल करनी पड़ी। एक दिन साधारण कैदियों में भी उत्तेजना हुई और वे खुले विद्रोह के लिए उतावले हो गये। उसी रात उन्हें दबा दिया गया। कितनों को बेंत लगा। राजनीतिक बन्दियों को अलग करके यूरोपियन वार्ड में रखा गया। भूख-हड़ताल और आन्दोलन से परेशान हो सरकार ने उन्हें प्रथम डिवीजन में करके आगरा स्पेशल जेल में भेज दिया। पहले उन्हें डेढ़ रुपया रोज खाने को मिलता, फिर लखनऊ भेजकर एक रुपया, दस आना और अन्त में तीसरे डिवीजन के खाने तक पहुँचा दिया। हाँ, कैदी अपने खर्च से और चीजें मँगा सकते थे और अपने तत्त्वावधान में खाना बनवा सकते थे।

बंकिम ने जेल में हिन्दी-उर्दू को मन लगाकर पढ़ना शुरू किया।

इसी बीच में चौरीचौरा का काण्ड हो चुका था। गाँधीजी ने सत्याग्रह को स्थगित कर दिया था। देश में चारों ओर मुर्दनी छा गयी थी। आन्दोलन दबने लगा था। गया कांग्रेस (दिसम्बर 1922) के वक्त में भी बंकिम जेल में थे। फरवरी (1923) में वे बाहर निकले। म्युनिसिपैलिटी, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और कौंसिल का चुनाव हो रहा था। यद्यपि कांग्रेस का जबर्दस्त प्रभाव था, मगर योग्य उम्मीदवार न मिला। बंकिम म्युनिसिपैलिटी के लिए खड़े हुए और चुन लिये गये; मगर कौंसिल में खड़े होने के लिए उन्हें सरकार ने अयोग्य करार दिया था। राधारमण को खड़ा होने के लिए कहा, मगर अपने आदर्शवाद के कारण उन्होंने इन्कार कर दिया।

गाँधीपथ से विमुख—जेल में जाते ही बुद्धि ने फिर तीव्र आलोचना शुरू कर दी। 31 दिसम्बर (1921) की आधी रात को एक साल के भीतर जब स्वराज्य नहीं टपका, तो बुद्धि ने और बगावत शुरू की। फिर गाँधीजी के पास रहनेवाले लोगों के आचरणों ने और भी सन्देह पैदा कर दिया। जेल में बुरे बर्ताव के कारण जिस समय लोग संघर्ष कर रहे थे, उस वक्त नंगे रहने तथा बन्द न होने की प्रतिज्ञा की गयी। जेलवालों ने मार-पीटकर

उन्हें बन्द कर दिया और सवेरे वहुतों ने कपड़ा भी पहन लिया। महादेव देसाई जूँओं से भरे अपने कपड़ों को साफ कर रहे थे। उनसे जब कपड़ा पहन लेने के बारे में पूछा गया तो उन्होंने कहा–"दिसम्बर न होता तो नंगा-सत्याग्रह करते।" बंकिम के दिल पर भारी आघात लगा। उन्होंने भी कपड़ा पहन लिया था, मगर शरम के मारे, दिसम्वर के जाड़े के मारे में नहीं। महादेव देसाई गाँधीजी की छाया थे। चिराग-तले यह अँधेरा ! चौरीचौरा काण्ड के बाद बारडोली सत्याग्रह को स्थगित कर गाँधीजी ने और आँख खोल दी।

1923 में जेल से निकलने पर बंकिम स्वराज्य पार्टी की ओर थे। अब राजनीति के लिए किसी और रास्ते की तलाश में थे। इसी वक्त उन्हें 'वानगार्ड' की कुछ प्रतियाँ मिलीं, जिससे कमूनिज्म की कुछ बातें मालूम हुईं। हसरत मोहानी आदि से भेंट हुई। उन्होंने भी कुछ बातें बतलायीं। एक ओर नये-नये विचार आने लगे, दूसरी ओर जनता के उत्साह और बल को वह अपनी आँखों से देख चुके थे, जिसका परिणाम हुआ कि शोपनहार के दुखवाद–निराशावाद का प्रभाव घटने लगा। तरुणाई में उन्होंने स्त्री और शराब में जिसे भुलाने की कुछ समय असफल कोशिश की थी, वह अब नयी जीवनधारा-विचारधारा में विलीन होने लगी। इटावा एक अलग-थलग कस्बा है, जहाँ बौद्धिक जीवन का कोई निशान नहीं। जब-तब बंकिम एकान्तता अनुभव करने लगते, उस समय वे प्रयाग चले आते। यद्यपि उन्होंने कड़े-कड़े पत्र लिखे थे, लेकिन मोतीलाल नेहरू इस तरुण के मूल्य को समझते थे और बंकिम को मानते थे। प्रयाग में जवाहरलाल से गपशप होती। जब बंकिम चित्त की चंचलता के बारे में कहते, तो जवाहरलाल नुस्खा बतलाते–मैं तो ऐसे समय साबरमती चला जाता हूँ, तुम भी ऐसा ही किया करो। मगर बंकिम के लिए साबरमती में कोई आकर्षण नहीं रह गया था। आन्दोलन के दब जाने पर भी उन्होंने किसी तरह दो साल और बिताये और 1925 का अन्त आ गया।

बंकिम का आतंकवाद की ओर कभी आकर्षण नहीं हुआ। उनका उससे कोई सम्बन्ध नहीं रहा। लेकिन वह एक जिले के प्रभावशाली कांग्रेसी नेता थे और बंगाली थे। पुलिस उन्हें काकोरी के मुकदमे में धर घसीटने के लिए तुली हुई थी। 1925 के अन्त में बंकिम इटावा छोड़ कलकत्ता चले आये। एक साल तक उन्होंने राजनीति से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया। यद्यपि इटावा छोड़ते समय वे मजूरों में काम करने का ख्याल लेकर आये थे, किन्तु वे और समझना चाहते थे। अब यादवपुर टेकनिकल स्कूल में रहते और पुस्तकें पढ़ते। एक बार उद्योग-धन्धे में भी घुसने का ख्याल आया।

अभी तक किसी मार्क्सवादी के नजदीक आने का उन्हें मौका नहीं मिला, तो भी मार्क्सवाद की कुछ पुस्तकें हाथ आयीं और उन्होंने उनका खूब अध्ययन किया। 1927 में वे बंगाल प्रान्तीय काँग्रेस के मेम्बर थे। अब मुजफ्फर और उनके साथियों से जान-पहचान हो गयी। मजूर-सभा से सम्बन्ध जोड़ने लगे। इसी समय हाल ही में बर्लिन से लौटे डा. भूपेन्द्र दत्त से मिलने का मौका मिला। युद्ध के बाद के नौ वर्षों में यूरोप में जो जबर्दस्त उथल-पुथल हुई, उसके बारे में एक प्रत्यक्षदर्शी से बहुत-सी बातें सुनने को मिलीं। डा. भूपेन्द्र ने रूस के बारे में बहुत-सी बातें बतलायीं और साथ-साथ घटनाओं को मार्क्सीय दृष्टि से देखने का तरीका बतलाया। अब बंकिम ने भारतीय आन्दोलन का गंभीर विश्लेषण करना शुरू किया। सारा साल नये रास्ते को समझने, सीखने और पढ़ने में बीत गया। चौदह-पन्द्रह वर्ष से जमकर बैठे दुःखवाद की नींव हिलने लगी। बंगाल काँग्रेस कमेटी में बंकिम का प्रभाव बड़ी तेजी से बढ़ने लगा। एक साल के भीतर ही वह सुभाष बोस के विरोधी दल के प्रमुख हो गये। बंकिम का दल था 'जनता का प्रगतिशील दल'।' पीछे सेनगुप्त भी इसमें शामिल हुए; मगर उनसे मदद मिलने की जगह रुकावट ही ज्यादा प्राप्त हुई।

नया जीवन, नयी कार्यशैली–1928 में बंकिम की गोपेन्द्र चक्रवर्ती से मुलाकात हुई। उनकी प्रेरणा से वह मजदूर-किसान पार्टी में शामिल हुए। इस समय भारत में मजदूरों का जबर्दस्त संघर्ष चल रहा था। लिलुवा में रेलवे मजदूरों की जबर्दस्त हड़ताल हुई। चंगेल, बौड़िया तथा सारे जूट क्षेत्र में मालिकों की ओर से होनेवाले प्रहार के जवाब में मजदूरों में जबर्दस्त उत्तेजना थी। बंकिम ने मजूर-सभाओं के संगठन का खूब काम किया। दिसम्बर में कलकत्ता काँग्रेस के वक्त, जो मजदूरों ने प्रदर्शन किया था, उसमें बंकिम भी साथ थे। उस वक्त की मजूर-किसान-कान्फ्रेन्स में भी वे मौजूद थे।

अभी कमूनिस्टों के संपर्क में वे नये-नये आये थे, इसलिए 1929 के मार्च में जब मेरठ के मुकदमे के लिए मुजफ्फर आदि पकड़े गये, तो वे बच गये। अब बंगाल में मजूर-आन्दोलन की जिम्मेवारी उन पर थी। जूट-मिलों में जबर्दस्त सार्वजनिक हड़ताल हुई, जिसमें आंशिक विजय भी मिली। उसी वक्त प्रभावती दास गुप्ता से अलग होने की नौबत आयी। नागपुर में ट्रेड यूनियन काँग्रेस में फूट न होने देने की बहुत कोशिश की; मगर सफल नहीं हुए।

1930 में नमक-सत्याग्रह शुरू हुआ। बंकिम साधारण जनता के मनोभाव का अच्छा अनुभव रखते थे। उन्होंने कमूनिस्टों को न अलग रहने के लिए कहा, मगर अभी वह एक दूरदर्शी पार्टी की तरह नहीं, बल्कि गुट या व्यक्ति की तरह काम करते थे और वह राजनीतिक आन्दोलन से अलग रहकर सिर्फ मजदूर-आन्दोलन में लगे रहना चाहते थे। 1930 की प्रथम मई आई। मजदूरों का त्योहार मई दिवस बड़ी शान से मनाया गया। उसने राष्ट्रीय दिवस का रूप लिया। सारे बाजार बन्द थे। बंकिम टाटानगर की हड़ताल के सिलसिले में पहले ही तीन अप्रैल को जेल भेज दिये गये। उन्हें एक साल की सजा हुई थी और तीन साल का मुचलका माँगा गया था। सत्याग्रह-सम्बन्धी दो व्याख्यानों के लिए दो-दो साल की और सजाएँ हुईं। सब मिलाकर छह साल की सजा थी। दमदम जेल में एक साल के करीब रहने पाये थे कि गाँधी-इरविन समझौता हो गया। सरकार उन्हें सत्याग्रही नहीं मानना चाहती थी; मगर सेनगुप्त ने जोर दिया और बड़े-बड़े काँग्रेसी नेताओं के भी बल लगाने पर बंकिम नजरबन्द जेल से बाहर निकल सके।

1930 में उन्हें नजरबन्द कर दिया गया। जेल में उन्होंने राजनीतिक बन्दियों के क्लास लेने शुरू किये और बंगाल के तरुणों को कमूनिज्म की ओर खींचने में उन्हें सफल होते देखकर गवर्नमेंट ने ही बंकिम को जेल में रखना पसन्द नहीं किया।

1931 की कराची कांग्रेस में बंकिम ने गाँधी-इरविन समझौतेवाले प्रस्ताव का विरोध किया। कराँची कांग्रेस में जो मौलिक अधिकारवाला प्रस्ताव पास हुआ था, उसके लाने में बंकिम मुख्य प्रेरक थे। जवाहरलाल को कहकर उन्होंने इस प्रस्ताव को पेश करने के लिए जोर दिया।

कराँची से लौटकर बंकिम मेरठ के अभियुक्तों से जाकर मिले। अदालत के कमरे में ही मिलने का मौका मिलता था। वह सात दिन तक अभियुक्त नेताओं के साथ कमूनिस्टों की कार्य-नीति पर वार्तालाप करते रहे।

कलकत्ता में जो अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस हुई थी, उसमें बंकिम जनरल सेक्रेटरी चुने गये। बंगाल के जिलों में भी उन्होंने किसान-सभा का काम करना शुरू किया। कांग्रेसकर्मियों में समाजवाद का जोर बढ़ चला और उनमें से आधे बंकिम के साथ थे, यह बात बरहमपुर की प्रान्तीय कांफ्रेंस में साफ दिखलाई दी, जहाँ सुभाष और सेनगुप्त के सम्मिलित विरोध के होने पर भी बंकिम का किसान हितवाला प्रस्ताव सिर्फ चालीस वोटों से गिर गया।

1932 में बंकिम की सरगर्मियों को देखकर सरकार ने फिर उन्हें गिरफ्तार किया और तीन मास तक अलीपुर तथा देवली जेल में रखा। वहाँ उन्होंने सभी राजबन्दियों से वार्त्तालाप करके जो मार्क्सवाद की ओर खींचने का काम शुरू किया था, उससे सरकार ने उनके जेल में रखने को और भी खतरनाक चीज समझा। चन्द भद्र तरुणों को दबाने के लिए उसके पास हथियार थे; मगर साधारण किसान-मजूर जनता में समा गये। साम्यवाद के कीटाणुओं को निकालना वह अपने वश से बाहर की बात समझती थी।

1933-34 में जबरदस्त दमन-चक्र चलता रहा। काँग्रेस का सत्याग्रह आन्दोलन दबा दिया गया। आतंकवादी तरुणों को जेलों में भर दिया गया। इस समय बंकिम छोटे-छोटे अध्ययन-चक्रों द्वारा नवयुवकों में मार्क्सवाद का ज्ञान बढ़ा रहे थे। 1934 में ट्रेड यूनियन कांग्रेस में मेल हो गया। बंकिम जेनरल सेक्रेटरी के पद से अलग हो गये। अब उनका स्वास्थ्य बहुत खराब हो चला था और दो साल तक उन्हें राजनीति से अलग रहना पड़ा। डॉक्टर अभी भी एक साल तक पूर्ण विश्राम की सलाह देते थे; मगर कार्यक्षेत्र से अब वे अलग नहीं रह सकते थे। 1936 में वे प्रान्तीय किसान सभा के जनरल सेक्रेटरी हुए। आसनसोल कोलियरी मजदूर-क्षेत्र से असेम्बली के लिए उम्मीदवार खड़े किये गये, और एम. एल. ए. चुने गये। अब वे कमूनिस्ट पार्टी के बाकायदा मेम्बर

बन गये। 1937 से बंकिम का वैयक्तिक जीवन खतम होता है और पार्टी-जीवन शुरू होता है। वे पार्टी के एक कुशल सेनानायक हैं, साथ ही एक पक्के कमूनिस्ट की तरह एक कड़े अनुशासन में बद्ध साधारण सिपाही भी हैं। किसान और मजूर दोनों क्षेत्रों में काम करते हैं और बड़ी सफलता के साथ। उनके व्याख्यान कमकरों में रूह फूँक देते हैं। एक व्याख्यान के लिए 1940 में फिर जेल जाना पड़ा। साल-भर जेल में रहकर अक्टूबर 1941 में बाहर निकले। 1943 में भकना की अखिल भारतीय किसान-कान्फ्रेंस के वे प्रेसीडेण्ट बने। आज उनका सारा समय किसानों और मजूरों की सेवा में लगता है। 'जन-युद्ध' (बंगाल साप्ताहिक) के छोटे-छोटे लेखों में उनकी कलम का जौहर दिखलाई पड़ता है। एक दार्शनिक साहित्यिक विचारक की कलम से गम्भीर बातों के इस सरलता से प्रकट होने की आशा नहीं की जा सकती।

माता विभावती देवी अब भी काशीवास करती हैं। अब वे पुत्र से नाराज नहीं, बल्कि बहुत खुश हैं। वह और भी खुश हो जायें, यदि उनका एकमात्र पुत्र विवाह करता। पूछने पर बंकिम ने कहा—"मैंने शादी न करने की प्रतिज्ञा नहीं की है।"

17
पी. सुंदरैय्या

उस दिन भारत पर जब पहले-पहल जापानियों ने बम गिराये, तो उनमें से कुछ आंध्र के विजगापट्टम् और कोकनाडा पर भी पड़े थे। मोटी-मोटी तनख्वाह पानेवाले सरकारी नौकरों तक में से कितने ही महाप्रलय आयी जान, जान लेकर भाग चले। यह देख साधारण जनता की हिम्मत कैसे मजबूत रहती ? समुद्रतटवर्ती प्रदेश के गाँव और शहर दनादन खाली होने लगे। जिधर देखो, उधर लोग लटापटा उठाये सपरिवार भागे जा रहे हैं। कुछ तरुणों को वीर आंध्रों की संतानों का यह आचरण कायरतापूर्ण मालूम हुआ। उनका अपना संगठन था, यद्यपि उस पर सरकार सारी शक्ति से प्रहार कर रही थी, तो भी वह उसे नष्ट करने में सफल नहीं हुई थी। उन्होंने अपने देश-भाइयों की सेवा की थी और उनके लिए हर तरह का कष्ट सहा था; इसलिए लोगों का उन पर विश्वास था। तुरंत दो-तीन सौ साइकिल-सवार और पैदल तरुण भागे जाते हुए लोगो में घुस गये। उन्होंने उस भागने को कायरतापूर्ण ही नहीं, भारी मूर्खतापूर्ण बतलाया। लोगों का पश्चिमाभिमुख बहता हुआ प्रवाह फिर अपने घरों की ओर मुड़ गया और आज ऐसे-वैसे गोलों की वे परवाह नहीं करते। ये तरुण कौन थे ? ये थे सुंदरैय्या के शिष्य, साथी और सहकर्मी।

सुंदरैय्या का जन्म दुनिया के मजदूरों के पुनीत दिन 1 मई 1913 में बेल्लोर जिले (कोवूर तालुका) के अलगानिपोडु गाँव में हुआ था। पिता वेंकटराम रेड्डी अपनी जमीन रखनेवाले किसान (खेतिहर जमींदार) थे। उनके पास पचास एकड़ धान का खेत था। अच्छे खाते-पीते, प्रभावशाली गृहस्थ माने जाते थे। माता शेषम्मा धार्मिक महिला थीं, पुत्र पर बहुत प्यार रखतीं। सुंदरैय्या के पालन-पोषण में पेन्ना डेल्टा के धान के खेतों का ही हाथ नहीं है, बल्कि समुद्र का भी प्रभाव पड़ा है, जो कि सिर्फ तीन मील ही पर पड़ता है।

अलगानिपोडु बड़ा गाँव है, उसमें एक प्राइमरी स्कूल बड़ी जातवालों के लिए और दूसरा अछूतों के लिए था। अछूतों के बच्चे बड़ी जात के लड़कों के साथ कैसे पढ़ सकते थे ? बालक सुंदरैय्या को लड़कपन में शायद यह बात सनातन चली आने के कारण नहीं खटकी; मगर आगे चलकर तो उसने उनके लिए खुद अपनी जातवालों से लोहा लिया। दो वर्ष तक गाँव के स्कूल में तेलगू पढ़ने के बाद सुंदरैय्या अपने बहनोई के साथ रहने लगे। बहनोई जिला-मुन्सिफ थे। जहाँ-जहाँ उनकी बदली होती, सुंदरैय्या की पढ़ाई भी वहीं-वहीं बदलती जाती। तिरुवल्लूर, राजमहेंद्री आदि होते मद्रास पहुँचे और वहाँ तीन साल तक जमकर पढ़ना पड़ा। सोलह वर्ष की अवस्था में (1929 में) हिन्दू हाई स्कूल से एन्ट्रेन्स पास किया और फिर लायोला कालेज में

भर्ती हो गये।

घर का वातावरण धार्मिक होने से सुंदरैय्या की भी रुचि बचपन से धर्म की ओर थी। तेलगू रामायण (मोल्ल) को वह बड़े प्रेम से पढ़ा करते और सात साल ही की उम्र में राम के भारी भक्त वन गये। तेलगू राष्ट्रीय साहित्य काफी उन्नत है। आठ बरस के होने के बाद सुंदरैय्या को इन उपन्यासों का चस्का लगा और धीरे-धीरे हृदय में राष्ट्र-प्रेम अंकुरित होने लगा। पुस्तक-पाठ सुंदरैय्या के लिए सदा से प्रिय वस्तु रही है। बारहवें साल (1924) तक पहुँचते-पहुँचते सुंदरैय्या को राष्ट्रीय इतिहास पढ़ने की रुचि पैदा हो गयी और तेलगू में प्रकाशित ऐसी हरेक पुस्तक उन्होंने ढूँढ़-ढूँढ़कर पढ़ी। इस समय आंध्र देश में आतंकवादी देशभक्त (अल्लू) सीताराम के साहस की कितनी ही कथाएँ प्रचलित हो चुकी थीं जिन्हें सुनकर सुंदरैय्या के दिल में भी देश की आजादी का ख्याल घर करता जा रहा था। इसी वक्त (1925 में) मद्रास में सुंदरैय्या का किसी आतंकवादी तरुण से परिचय हुआ; लेकिन मद्रास में आतंकवाद की अपेक्षा गाँधीवाद की अधिक प्रसिद्धि थी। सुंदरैय्या ने अगले दो सालों में गाँधी-साहित्य को खूब पढ़ा, जिससे एक ओर जहाँ राष्ट्रीय विचारों को पुष्टि मिली, वहाँ दूसरी ओर धार्मिक भावों का भी तूफान उठ खड़ा हुआ। सुंदरैय्या ने रामतीर्थ और विवेकानंद के सारे ग्रंथों को बड़ी श्रद्धा से पढ़ा, तिलक के गीता-रहस्य को भी देखा। इतने तक तो खैरियत थी; लेकिन फिर योग की तरफ कदम बढ़ाया–हठयोग और प्राणायाम शुरू किया। धार्मिक माता का भी धैर्य टूटने लगा, लड़का हाथ से वेहाथ होता दिखाई पड़ा। अभी हठयोग और प्राणायाम दो ही दिन हो पाया था कि माँ ने रोना-धोना आरंभ किया और फिर आमरण भूख-हड़ताल ठान दी। सुंदरैय्या को योग स्थगित करना पड़ा। हाँ, वह मंदिर जाते और अब भी कर्मयोगी संन्यासी बनने का लक्ष्य उनके सामने था।

रामकृष्ण, विवेकानंद के उपदेशों में सुंदरैय्या ने अक्सर दरिद्रनारायण की पूजा के वारे में पढ़ा था और रामकृष्ण मिशन की ओर से भिखमंगों को टुकड़े बाँटकर दरिद्रनाराण की पूजा होती भी देखी थी। गाँधीवादी राष्ट्रीयता ने इस पूजा को बहुत पसंद किया। सुंदरैय्या के धार्मिक हृदय ने समझा–यह है कर्मयोग। पाश्चात्य महापुरुषों की जीवनियों को पढ़ने से शरीर से श्रम करना उन्हें इज्जत की बात जँचने लगी और 1926 के बाद वह जब कभी छुट्टियों में घर जाते, तो वरावर खेतों में काम करते।

1927 में मद्रास में काँग्रेस हुई, जिससे उनकी राष्ट्रीयता का वेग और बढ़ा और अगले साल जव साइमन कमीशन मद्रास में आया तो उसके विरुद्ध प्रदर्शन करने में सुंदरैय्या कव पीछे रहनेवाले थे ! यद्यपि मद्रास में छूतछात उत्तरी भारत से भी प्रचंड है, मगर उसका ख्याल उन्हें स्कूल के दिनों ही से जाता रहा।

कॉलेज में सुंदरैय्या गणित, रसायन और भौतिक शास्त्र के विद्यार्थी थे, किंतु राजनीति-प्रेम के कारण अर्थशास्त्र और राजनीति-सम्बन्धी पुस्तकें बहुत पढ़ा करते और आंध्र तरुणों की सोदर समिति के एक सरगर्म मेम्बर थे। गाँधीवादी राजनीति पर वह समवयस्कों में खूब बहस किया करते। जब 1930 के आरंभ में गाँधीजी का नमक-सत्याग्रह शुरू होने लगा, उस वक्त सुंदरैय्या दूसरे वर्ष में पढ़ रहे थे। सत्याग्रह के धर्मयुद्ध में पड़ना उनके लिए एक अनिवार्य कर्तव्य हो गया। फरवरी में कॉलेज छोड़कर गाँव चले गये। खेतिहर मजदूरों के काम के घंटों का लेखा लिया और देखा कि मालिक मजूरों को बहुत कम मजदूरी देते हैं। उन्होंने चौगुनी मजूरी बढ़ाने का आंदोलन किया। सारे धनी किसानों में खलबली मच गयी, तो भी दो महीने सुंदरैय्या अपनी धुन में लगे रहे। सुंदरैय्या का बदन बहुत मजबूत और गठीला है। उन्हें आठवें वर्ष से ही कसरत का शौक लग गया। नमक-सत्याग्रह छिड़ने पर वह सोदर समिति के केन्द्रस्थान पश्चिम गोदावरी में चले गये और नमक-सत्याग्रह के दो सौ स्वयंसेवकों के कप्तान बना दिये गये। कवायद-परेड कराने और अनुशासन रखने में वह बड़े कुशल थे।

सुंदरैय्या सत्रह वर्ष के वच्चे थे, इसलिए पहले पुलिस का ध्यान उनकी ओर नहीं गया; लेकिन, जब मालूम हुआ 'रविमंडल देखत लघु लागा' तो पकड़ना जरूरी था। ताड़ कटवाने का जुर्म लगाकर दो साल के लिए वह कैदी-बालक-स्कूल (तंजौर) भेज दिये गये। इससे पहले कॉलेज छोड़ते वक्त समाजवाद और सोवियत रूस की जरा-सी भनक उनके कानों तक पहुँची थी। जेल में पहले-पहल उन्हें इस सम्बन्ध की कितनी ही पुस्तकें

पढ़ने का मौका मिला। जेल में खाने-पीने तथा अधिकारियों के बुरे बर्ताव की बड़ी शिकायत थी। जब ऊपर सुनवाई नहीं हुई तो सुंदरैय्या और उनके साथियों ने भूख-हड़ताल शुरू कर दी। ढाई महीने तक उन्हें कोरन्टीन में रखा गया, फिर और जगह भेज दिया गया। जेल में सुंदरैय्या ने हिन्दी पढ़ी।

गाँधी-इरविन समझौते के बाद मार्च 1931 में सुंदरैय्या जेल से बाहर निकले। उस वक्त उनके वहनोई बंगलौर में थे। सुंदरैय्या भी वहीं जाकर कॉलेज के दूसरे साल में दाखिल हो गये। अब गाँधीवाद की कमजोरियाँ उन्हें मालूम हो गयी थीं। वह समझने लगे थे कि गरीबों और मजूरों को सुखी और स्वतंत्र वनाने के लिए गाँधीवाद के पास कोई उपाय नहीं। पहले दरिद्रों को पैदा करना, फिर दरिद्रनारायण की पूजा उन्हें भारी उपहास की बात मालूम हुई। वह कॉलेज की पढ़ाई के अतिरिक्त साम्यवाद पर लिखे गये ग्रंथों को ढूँढ़-ढूँढ़कर पढ़ते। यहीं (अगस्त में) अनेक सालों के बाद अमेरिका और रूस से लौटे प्रसिद्ध साम्यवादी अमीर हैदर खाँ से उनकी भेंट हुई। सुन्दरैय्या के ऊपर गाँधीवादी प्रभाव का अंतिम अंश भी मिट गया और उन्होंने लेनिनवाद को पूर्णतया स्वीकार किया।

भांजी का ब्याह हो रहा था, जिला जजसाहब लड़की के ब्याह में अपनी राजभक्ति दिखलाने से कैसे चूकते ? उन्होंने तोरण-बंदनवार में अंग्रेजी-राजध्वज (यूनियन जैक) को भी शामिल किया। सुन्दरैय्या को असह्य घृणा हो उठी। वह कॉलेज छोड़ घर चले आये।

अब उन्होंने तन्मयता से अपने भविष्य के कार्य में हाथ डाला। तरुणों को हिन्दी पढ़ाते, खेत में खुद काम करते। 1932 (मई) में साम्यवादी दल में शामिल होने के लिए वह अमीर हैदर के पास मद्रास गये, मगर तब तक वर्षों से पुलिस से बचते वह पकड़कर जेल पहुँचा दिये गये थे। गाँव में लौटकर खेतिहर-मजूरों का संगठन किया। अछूतों–खेतिहर मजूर भी इनमें ज्यादा थे–को कुएँ से पानी नहीं भरने दिया जाता था। सुन्दरैय्या ने कुएँ पर चढ़ने के लिए संघर्ष ठान दिया। आधे अपने अपमान को समझने लगे, मगर आधे अछूतों में हिम्मत न थी, वह अपनी अवस्था से संतुष्ट थे। लेकिन, सुन्दरैय्या ने हिम्मत न हारी। उन्होंने उनमें से कुछ दर्जन लड़ाके तरुणों को रक्षक बनाया और कुएँ पर हल्ला बोल दिया। लेनिनवादी सुंदरैय्या उन्हें सिर्फ कुएँ पर चढ़ाकर संतोष कर जानेवाले जीव न थे, उन्होंने खेतिहर मजदूरों के लिए सहकारी दूकान (को-ऑपरेटिव स्टोर) खोली। गाँव में निरक्षरता-निवारण के लिए दिन का स्कूल, रात्रि-पाठशाला और पुस्तकालय खोला। सुन्दरैय्या का आन्दोलन धीरे-धीरे गाँव से बाहर तक फैलने लगा, उनके गिर्द कई तरुण जमा होने लगे। अपना अध्ययन अब भी जारी था और पुस्तकों का सुभीता देख 1932 के अंतिम तीन मास उन्होंने मद्रास में बिताये।

1933 (मार्च) में वह मद्रास प्रान्त से बाहर निकले और कुछ और परिचय बढ़ाकर आंध्र लौट गये। यद्यपि सुन्दरैय्या अभी बीस ही साल के थे, मगर बहुश्रुत ज्ञानवृद्ध बन चुके थे। अब कांग्रेस के बड़े-बड़े नेता भी इस तरुण की ओर गंभीरता से देखने लगे। सुन्दरैय्या ने दूसरी वातों के साथ राष्ट्रकर्मी तरुणों के राजनीतिक अध्ययन की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया। सारे आंध्र में अध्ययन-चक्र चलने लगे। तेलगू भाषा में नया साहित्य भी तैयार होने लगा। सुन्दरैय्या बहुत-से तरुणों को अपनी ओर खींचने में समर्थ थे। कॉमरेड घाटे मद्रास के साम्यवादियों के पथ-प्रदर्शक थे और सुन्दरैय्या उनके दाहिने हाथ। वह पार्टी के काम से 1934 में पहली वार मलबार गये और वहाँ के सर्वप्रिय कांग्रेसी नेता शंकरन् नम्बूदरीपाद को अपनी ओर खींचने में समर्थ हुए। कांग्रेस के संगठन में भी सुन्दरैय्या के साथी बहुत प्रभाव रखते थे; लेकिन इसी साल पार्टी ने हुक्म दिया कि सब लोग बाहर निकल आएँ। इस पर उन्होंने बाहर निकलकर मजदूर-रक्षक-लीग कायम की और किसानों, मजदूरों तथा विद्यार्थियों में काम करना शुरू किया। कुछ समय बाद फिर कांग्रेस में जाना जरूरी समझा गया, सुंदरैय्या और उनके साथी फिर कांग्रेस में शामिल हो गये। 1936 में आंध्र की कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी उनके हाथ में थी, कांग्रेस में सबसे ज्यादा प्रभाव रखनेवाला दल उन्हीं का था।

पुलिस हाथ धोकर सुन्दरैय्या के पीछे पड़ी हुई थी और कोई बहाना ढूँढ़ रही थी। सुन्दरैय्या साधारण सभा में व्याख्यान देने से बचकर रहते थे। एक व्याख्यान में आखिर वह हाथ लग ही गये और उन्हें दो साल की सजा हुई। लेकिन चार महीने जेल में रहने के बाद कांग्रेस मिनिस्ट्री ने छोड़ दिया। 1937 में वह आंध्र

कांग्रेस समाजवादी पार्टी के सेक्रेटरी थे। उस साल तरुणों की राजनैतिक शिक्षा के लिए कोत्थपटनम् में ग्रीष्म-स्कूल खोला गया। अधिकारियों ने उस पर निषेधाज्ञा लगा दी और पुलिस ने लाठी-प्रहार किया। उस वक्त यह खबर सारे भारत के अखबारों में छपी थी।

1938-39 में सुन्दरैय्या के नेतृत्व में पार्टी ने बड़ी उन्नति की। अच्छे-अच्छे तरुण राष्ट्रकर्मी उसमें शामिल हो गये। उनके बढ़ते प्रभाव को देखकर पुराणपंथी नेताओं की नींद हराम होने लगी। विरोधी सभा करने का बहाना लेकर उन्होंने 1941 तक के लिए सुन्दरैय्या को काँग्रेस पदाधिकारी होने से वंचित कर दिया।

सितम्बर 1939 में महायुद्ध छिड़ गया। 1940 के बसंत के आते-आते सरकार ने कम्यूनिस्टों को जेलों में भरना शुरू किया। सुन्दरैय्या पर क्यों न नजर पड़ती ? लेकिन वारंट निकलते-निकलते सुन्दरैय्या अंतर्धान हो गये और 1942 के मध्य तक पुलिस सर पटककर रह गयी, मगर वह हाथ न आ सके। एक बार पुलिसवाले को पीछा करते देख उन्हें पचास मील पैदल भागना पड़ा था। अंतर्धान-अवस्था में सुन्दरैय्या चुपचाप किसी कोठरी में बन्द न थे। वह आन्ध्र के भिन्न-भिन्न स्थानों ही में नहीं जाते, बल्कि राजनीतिक काम के लिए उन्हें मद्रास और केरल भी जाना पड़ता। पार्टी गैरकानूनी थी, मगर उसका पत्र 'स्वतंत्र भारत' छपकर नियमपूर्वक निकलता और तीन हजार की संख्या में।

आन्ध्र में सुन्दरैय्या की पार्टी सबसे प्रबल और जनप्रिय शक्ति है। उसका साप्ताहिक पत्र दस हजार से ऊपर निकलता है। तेलगू भाषा में इतनी कोई पत्र-पत्रिका नहीं निकलती। सुन्दरैय्या की उम्र अभी सिर्फ तीस ही वर्ष की है; मगर आंध्र की साधारण जनता के वह सबसे प्रिय नेता हैं। जो बीज सुन्दरैय्या द्वारा आंध्रभूमि में डाला गया, आज उसने बढ़कर विशाल वृक्ष का रूप धारण किया है। सिवाय उच्च धनिकों, उनके पिट्ठुओं, पुराणपंथी नेताओं के सभी उस वृक्ष की छाया में हैं। प्रजा-शक्ति डेढ़ हजार गाँवों में हर सप्ताह पहुँचती है। तेलगू भाषा में मार्क्सवादी राजनीति, अर्थशास्त्र और दर्शन पर बहुत-से ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं और कितने ही अच्छे-अच्छे कवि तैयार हुए हैं। अभी पिछले महीने पार्टी ने अपने कोष के लिए पचास हजार रुपया जमा करने का भार आन्ध्र पर दिया था, तो उसने चौगुना से ज्यादा रुपया जमा कर दिया। लोग अपना सर्वस्व बेचकर पार्टी-कोष में देने के लिए होड़ लगाये हुए थे, जिस पर मेम्बरों पर रोक-थाम करनी पड़ी और एक खास परिमाण में जायदाद अपने आश्रितों के लिए रख छोड़ने का हुक्म निकालना पड़ा। प्रबुद्ध आन्ध्र की आँखें भविष्य का एक सुन्दर स्वप्न देख रही हैं, जब कि हैदराबाद तथा मैसूर की रियासतों और ब्रिटिश भारत में बँटी आंध्र जाति फिर एक होकर एक महान् साम्यवादी जाति का रूप धारण करेगी और शिक्षा, संस्कृति, वीरता और ज्ञान में उन्नत आंध्र देश भारतीय राष्ट्रसंघ में विशेष स्थान ग्रहण करेगा। उस वक्त सुंदरैय्या उसके श्रेष्ठ निर्माता समझे जायेंगे।

18

प्रसादराव

प्रमुख तिथियाँ–1912 सितंबर 24 जन्म, 1918-21 पढ़ाई बोर्ड स्कूल में, 1921-22 राष्ट्रीय गीतों से प्रभावित, 1921-28 गुडीवाडा बोर्ड हाईस्कूल में, 1921 गाँधीजी का दर्शन, 1928 मैट्रिक पास, 1929-30 मछलीपटनम् के हिन्दू कालेज में, 1929 ब्याह, 1930 सूत कातते, कांग्रेस वालंटियर, 1930-31 बीमार, 1932 इंटर पास किया, 1932-34 बनारस में बी. ए. में, 1934 कर्ज में घर तबाह, पढ़ाई छोड़ी; 1935 पक्के समाजवादी सुंदरैया से संपर्क कम्युनिस्ट बने; 1936-37 पार्टी-संगठक, 1937 पूर्व-गोदावरी जिला किसान-सभा के संगठक, 1937-38 'नवशक्ति' के संपादक, किसान-सभा संगठक; 1939 मोनगोला किसान संग्राम के नेता, अन्तर्धान, जून 3 गिरिफ्तार, 10 मास की सजा; 1940 मई,

जेल से वाहर फिर अन्तर्धान; 1941 जनवरी गिरिफ्तार, डेढ़ साल की सजा; 1942 फरवरी, जेल से छूटे, गाँव में नजरवंद, सितंवर नजरवंदी हटी; 1943 मार्च प्रान्तीय किसान सभा के सेक्रेटरी।

कृष्णा नदी जहाँ विशाल रूप धारण कर बंगाल की खाड़ी में गिरती है, और अपनी लाई मिट्टी से नदी में एक बड़ा द्वीप बनाती है, यह है कृष्णा जिले (मद्रास) का डेल्टा। वहीं 1530 आदमियों की बस्ती का एक पुराना गाँव आरुकोलनों है। समुद्र गाँव से 32 मील पर पड़ता है। गाँव पहले यहाँ के ब्राह्मणों को 'मुखासा' या ब्राह्मणोत्तर वृत्ति के तौर पर मिला था। लेकिन कर्ज में वह बहुत कुछ बिक चुका है। गाँव में ब्राह्मणों के 25 ही घर हैं। सबसे अधिक संख्या रेड्डी (80 घर) जाति के कृषक लोगों की है; कम्मा (60), कापू (40) जाति के किसान भी हैं, कोमटी या वैश्यों के आठ परिवार हैं, साले (हिंदू जुलाहों) के दो घर, बडरंगी (बढ़ई) चार, कमसाली (सुनार) तीन, मंगली (हजाम) पाँच, साकली (धोवी) आठ घर हैं। आदिवेल्मा (अछूत) के अस्सी घर हैं, और वे ज्यादातर मजूरी पर गुजारा करते हैं। गाँव में माला जातिवाले मजूर (साठ घर) ईसाई हैं, और मादिगा (चमार) के तीस घरों में भी कितने ही ईसाई हैं। एक घर मुसलमान मजूर का होने से आरुकोलनों में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई तीन धर्म मौजूद हैं।

आरुकोलनों की 2400 एकड़ जमीन में 1800 एकड़ धान की, चार सौ ज्वार, मूँगफली आदि की और छह सौ एकड़ परती है। गाँव के लोगों की जीविका है सिर्फ खेती और वह भी केवल एक फसल की—कृष्णा नहर से एक ही फसल के लिए पानी मिलता है। गाँव में एक छोटी-सी चावल की मिल है। आरुकोलनों अपने लिए अनाज काफी पैदा कर लेता है और उसके पास काफी ढोर भी हैं। बरसात में सारी जमीन पानी में डूब जाती है। खेती के वाद ढोरों को चालीस मील दूर जंगल में भेज दिया जाता है, जहाँ से वे चार महीने वाद लौटते हैं।

आरुकोलनों में तेलगू का एक प्राइमरी स्कूल है, जिसमें दो अध्यापक पचास लड़कों को पाँचवें स्टैंडर्ड (दर्जे) तक पढ़ाते हैं। आदिवेलमा, माला और मादिगा के लड़के भला ऊँची जाति के लड़कों के साथ कैसे पढ़ सकते हैं ? उनके लिए रोमन-कैथलिक, प्रोटेस्टन्ट ईसाई-मिशनों ने दो छोटे-छोटे स्कूल खोले हैं। नागार्जुनी कोंडा (श्रीपवर्त) का ऐतिहासिक स्थान वहाँ से पैंतालीस मील पर है, और भ्रदाचलम् महातीर्थ सौ मील पर। गाँव में मल्लेश्वर (शिव) का एक बड़ा मंदिर है। पाँच-छह छोटे-छोटे देवस्थान और दो गिरजे की कुटियाँ भी हैं। तो भी जान पड़ता है, लोगों में धर्म-प्रेम बहुत जोर का नहीं है। जब पहले-पहल नन्डूरु (गुन्टूर जिले) वाले किसी ब्राह्मण को यह मुखासा मिला होगा, उस वक्त उसका परिवार बाकी कमकरों की मेहनत पर पलता खूब सुखी और सम्पन्न रहा होगा। लेकिन, अब तो मुखासा वाले 25 घर हैं, जो सभी के सभी काम-चोर—खेती के काम में हाथ न लगानेवाले—हैं। कोमटी और कम्मा ब्याह में ब्राह्मण-पुरोहित की जरूरत समझते हैं और शायद पूजापाठ में उन्हें कुछ मिल जाता होगा। लेकिन, अब इन ब्राह्मणों की भी आर्थिक अवस्था गिर चुकी है। जानकी रामैय्या आरुकोलनों के बारहवें हिस्से के मुखासादार थे। मगर बिकते-बिकते उनके पास अब सिर्फ 10 एकड़ धान के खेत और 16 एकड़ खेती-लायक परती रह गई है। किसी वक्त यहाँ के ब्राह्मण वैदिक कर्मकाण्ड छोड़ बैठे, फिर इन्हें नियोगी कहा जाने लगा। दूसरे वैदिकी ब्राह्मण उनको नीच दृष्टि से देखने लगे। फिर नियोगियों में संगठन हुआ। वैदिकी कर्मकाण्ड को फिर से जात में लाने के लिए आन्दोलन हुआ। उन्होंने मूँछें कटा डालीं, वैदिकी बनने के लिए यह जरूरी था। उनके लड़कों में से कुछ वेद और संस्कृत भी पढ़ने लगे। फिर उन्होंने कहा—पक्के ब्राह्मण तो हम हैं, अपने को वैदिकी कहनेवाले ये सारे ब्राह्मण असुर हैं। नियोगी रामैय्या भी बलि वैश्वदेव और अग्निहोत्र करने लगे। शायद यजुर्वेद को भी पढ़ा।

जानकी रामैय्या और उनकी पत्नी शान्तम्मा को चौबीस सितम्बर 1912 को मझला लड़का पैदा हुआ। उसके दो और भाई और चार दो छोटी बहनें भी हैं; मगर अपनी छहों संतानों के होते भी आरुकोलनों का नियोगी ब्राह्मण वंश वहीं टापू में अपने पुराने जीवन को बिताता चला जाता और हमें उसका नाम भी सुनने

का मौका न मिलता। यह शान्तम्मा का मझला लड़का प्रसादराव है, जिसने आरुकोलनों के नाम को ही हम तक नहीं पहुँचाया, बल्कि आन्ध्र देश में उसने किसानों के संगठन द्वारा उनकी शक्ति को अजेय वना दिया। मोनगाला के अत्यन्त पीड़ित किसानों का पक्ष लेकर, सस्ती कांग्रेस-भक्ति करनेवाले उसने वहाँ के राजा से जो लोहा लिया और जिस तरह बटेरों को बाज बनाया, वह सिर्फ आन्ध्र के लिए ही नहीं सारे भारत के लिए स्मरणीय चीज रहेगी।

बाल्य–प्रसादराव का ननिहाल अपने ही गाँव में था। नानी के पास सोकर राजारानी की कथायें सुनना उसे बहुत प्रिय लगता था। मालूम होता है, भूतों की कहानियाँ काफी बचपन में और पूरी मात्रा में नहीं सुनाई गईं। प्रसाद को भूतों का डर नहीं लगता था, वह श्मशान में भी खेलते भय नहीं खाता था।

आंध्र के ब्राह्मणों के रिवाज के अनुसार जब प्रसाद पाँच वर्ष पाँच मास पाँच दिन का हुआ, तो गाँव के स्कूल में उसका अक्षरारंभ कराया गया। 60-70 लड़के-लड़कियाँ सभी एक साथ बैठते थे। प्रसाद, व्यंकटेश्वर और प्रसाद की बहन सुशीला तीनों एक ही दर्जे में पढ़ते थे। तीनों दर्जे में सबसे तेज थे, इसलिए उनमें पढ़ने की होड़ लगी रहती थी। प्रसाद गणित पढ़ता था, मगर उसमें उसे विशेष रुचि न थी। चौथे दर्जे से अंग्रेजी भी शुरू हुई, प्रसाद की उसमें ज्यादा रुचि थी।

प्रसाद ने नौ साल की उम्र में गाँव के स्कूल की पढ़ाई खतम की। अब उसे गूडीवाड़ा के बोर्ड हाईस्कूल में दाखिल कर दिया गया। गूडीवाड़ा तालुक (तहसील या सब-डिवीजन) का हेडक्वार्टर था। यद्यपि जनसंख्या 25, 000 की थी, तो भी गूडीवाड़ा देखने में एक बड़ा गाँव-सा मालूम होता था। चावल का वह एक बड़ा बाजार है, वहाँ से बेजवाड़ा, मछली-पिट्टम् को माल भेजा जाता है। कुछ चावल की मिलें भी हैं। यह सब होते भी गूडीवाड़ा में शहरियत नहीं है। प्रसाद की बहन गूडीवाड़ा में ब्याही थी। बहनोई जमींदार थे। प्रसाद बहन के घर में रहता और स्कूल में पढ़ने जाता।

इसी वक्त असहयोग की आँधी सारे देश में फैली और आंध्र का यह छोटा कसबा भी उसके असर से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। लोग एक नये तरह के गीत गाते थे। प्रसाद के स्मृति-पटल पर उसी वक्त का एक पद अंकित हो गया 'माकोद्दू तेल्ल दोरतनम्' (हमें नहीं चाहिए सफेद-राज्य)। लेकिन राजनीति में उसे और ज्यादा दिलचस्पी नहीं थी। जब गूडीवाड़ा में गाँधीजी आए, तो प्रसादराव भी दर्शन करनेवालों में था।

1923-24 तक कांग्रेस-आन्दोलन बहुत मन्द हो गया था; और गाँधी के रास्ते से निराश हो कितने ही तरुणों ने दूसरा रास्ता पकड़ा। इस समय आन्ध्र में रम्पा-पितूरी (रम्पा का गदर) हुआ, और सीताराम राजू ने अपना दल बनाकर सरकार के खिलाफ बगावत की। सीताराम राजू ने पुलिस को इतने चकमे दिए और विद्रोह को इतनी बहादुरी से चलाया, कि सारे आन्ध्र में उसकी प्रसिद्धि हो गई। तेलुगू भाषा में सीताराम के बारे में कितने ही गीत बने। लोग उन्हें बड़े उत्साह के साथ गाया करते थे। प्रसादराव भी इन गीतों को बड़े शौक से सुना करता था। 1924 में मौलाना महम्मद अली आए। इस वक्त प्रसादराव की उम्र बारह साल की थी। उसने भी कुछ राजनीतिक बातें सुनीं लेकिन राजनीति में दिलचस्पी नहीं बढ़ी। वह अपनी पढ़ाई में लगा था। इतिहास से उसे खास तौर से प्रेम था। गणित, अंग्रेजी, इतिहास तीनों विषयों में वह मजबूत था और क्लास में प्रथम या दूसरा रहा करता।

1928 में प्रसाद ने मेट्रिक (S. L. C.) पास किया। दो साल संस्कृत भी पढ़ी थी।

16 साल की उम्र में प्रसादराव एक मेधावी विद्यार्थी थे, मगर राजनीति का कोई प्रभाव उन पर नहीं पड़ा, इसका एक बड़ा कारण यह था कि स्कूल के सभी अध्यापक और छात्र पुराने ढर्रे पर चले जा रहे थे, वहाँ कोई राजनीतिक वातावरण न था। गूडीवाड़ा का 'गृध्र विहार' संस्कृत नाम उसकी ऐतिहासिकता को बतलाता है, मगर इतिहास-प्रेमी प्रसादराव की जिज्ञासा उधर अधिक नहीं बढ़ी। प्रसादराव के विचार कुछ धार्मिक-से थे। भविष्य के लिए वे सोच रहे थे–"हम मुखासादार हैं, जीविका के लिए हमारी सम्पत्ति काफी है। नौकरी की जरूरत नहीं। विद्या पढ़ना अच्छा है।" उस वक्त परिवार की आर्थिक अवस्था अच्छी थी, इसलिए भविष्य के वास्ते निश्चिन्त होना स्वाभाविक था।

कॉलेज में–1929 में प्रसाद मछलीपट्टम् के हिन्दू कॉलेज में दाखिल हुए। पाठ्य विषय थे, इतिहास, तेलुगु और अंग्रेजी। तेलगू के अध्यापक विश्वनाथ सत्यनारायण तेलुगु के सर्वश्रेष्ठ कवि और लेखक थे। उन्होंने प्रसादराव के दिल में तेलगू साहित्य के प्रति प्रेम पैदा किया। तेलुगु साहित्य का सबसे पुराना कवि नन्नैया बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में (पूर्वी चालुक्य-वंशी राजा राजराज के समय में) हुआ था। नन्नैया का 'भारतम्' प्रसाद का अतिप्रिय ग्रन्थ था। पन्द्रहवीं शताब्दी के कवि श्रीनाथ के ग्रन्थ–नैषध-अनुवाद, काशीखंड-अनुवाद–भी उनके प्रिय ग्रंथ थे। प्रसाद उस समय कॉलेज मैगजीन में साहित्य सम्बन्धी लेख लिखा करते थे। प्रसादराव प्रगतिशीलता की ओर बढ़ते-बढ़ते आज उसकी चरमसीमा को पहुँच गए हैं, मगर उनके अध्यापक विश्वनाथ आज भी कट्टरपन्थी ब्राह्मण हैं।

मछलीपट्टम् एक अच्छा बन्दरगाह है, प्राचीनकाल में तो वह और भी महत्त्व रखता था। यहाँ प्रसादराव को राजनीतिक वातावरण मिला, कुछ राष्ट्रीय व्याख्यान भी सुने। जब वे पहले वर्ष में थे, उसी समय अपने कुछ व्याख्यानों के लिए साम्बमूर्ति (मद्रास के स्पीकर) के ऊपर मछलीपट्टम् में मुकदमा चल रहा था। लड़के उस वक्त कचहरी जाना चाहते थे, मगर प्रिन्सिपल छुट्टी देने के लिए तैयार न थे। प्रसादराव ने हड़ताल करवाने में खूब भाग लिया और कचहरी गए। पट्टाभी सीतारामैय्या के पास भी गए, उन्होंने खद्दर खरीदकर पहना और विदेशी कपड़े के न पहनने की प्रतिज्ञा की। समाचार-पत्रों में प्रसादराव राष्ट्रीयता की बातें पढ़ा करते थे। वे अब 'आंध्र पत्रिका' 'हिन्दू' (अंग्रेजी), और 'माडर्न रिव्यू' को नियम से पढ़ते थे। तिलक, सावरकर, आदि की जीवनियों के पढ़ने ने उन पर अपना असर जमाना शुरू किया। उन्होंने विक्टर ह्यूगो, दूमा, मेटरलिंक और इब्सन के प्रायः सारे ग्रन्थ पढ़ डाले। भगतसिंह की वीरता की बातें भी उन्होंने सुनीं और लाहौर के मुकदमे की खबरें बड़े गौर से पढ़ा करते थे। इस वक्त प्रसादराव भगतसिंह की ओर खास तौर से आकृष्ट हुए।

17 साल की उम्र (1929) में घरवालों ने इच्छा के विरुद्ध रामचंद्रपुरम् (पूर्व गोदावरी) की कन्या वरलक्ष्मी से प्रसाद का ब्याह कर दिया।

राजनीति के भीतर के भेदों को वे अभी नहीं जानते थे। वे भारत की स्वतंत्रता के पक्षपाती थे; यद्यपि हिंसा की उतनी निंदा करने के लिए तैयार नहीं थे, तो भी उन्हें गाँधी-प्रोग्राम अच्छा लगने लगा था। 1930 में वे चरखा भी कातने लगे।

मार्च (1930) में उन्होंने इंटर की परीक्षा दे दी। छुट्टियों में घर जाने की जगह कांग्रेस वालंटियर बन मछलीपट्टम् में ही रह गए। सैनिक कवायद करते और अहिंसा आदि पर लेक्चर सुनते। कांग्रेस-नेताओं में पट्टाभी सीतारामैय्या से साम्बमूर्ति उन्हें ज्यादा पसंद थे–पट्टाभी मछलीपट्टम् के रहनेवाले थे और उनकी कमजोरियों से प्रसाद ज्यादा वाकिफ थे, शायद यही कारण था। महीने-भर वे चरखा चलाते रहे। इसी बीच पिता को कुछ भनक मिली और पकड़कर गाँव ले गए।

गाँव में दो महीने रहे। नमक-सत्याग्रह आरंभ हो गया। गिरफ्तार स्वयंसेवकों को चाय-सोडा पिलाने का वे इंतजाम करते थे। परीक्षा-परिणाम निकला तो मालूम हुआ कि राजनीति की अधिकता ने उन्हें (इतिहास में) फेल कराके छोड़ा।

फिर मछलीपट्टम् में द्वितीय वर्ष में पढ़ने लगे। एक बार हम्पी (विजय नगर) देखने गए। मलेरिया ने आ दबाया। फिर दो साल तक वीमार पड़े रहे। स्वास्थ्य सुधार के लिए पूर्व गोदावरी और दूसरी जगहों पर गए। सब कुछ स्वास्थ्य सुधरा तो फिर पढ़ाई शुरू की और 1932 में इंटर पास किया।

प्रसादराव अब बीस साल के थे। उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन की हवा लग चुकी थी। आन्ध्र के कॉलेज इस वक्त विद्यार्थियों के लिए पूरे कैदखाने थे। अध्यापक ज्यादातर खुशामदी थे। विद्यार्थियों को खुलकर साँस लेने का अवसर नहीं मिलता था। इसी समय हिन्दू विश्वविद्यालय के कुछ विद्यार्थियों से उनकी मुलाकात हुई। पता लगा, हिन्दू विश्वविद्यालय का वातावरण अधिक मुक्त अधिक राष्ट्रीय है। 1933 में प्रसादराव बनारस चले आए और हिन्दू विश्वविद्यालय में दाखिल हो राजनीति और अर्थशास्त्र पढ़ने लगे। मछलीपट्टम् के अध्यापक सिर्फ पढ़ाने भर के साथी थे, मगर यहाँ बात दूसरी थी। विद्यार्थियों को यहाँ दबाया नहीं जाता था। वे राजनीतिक

बातों पर खुलकर बहस किया करते थे। प्रसाद को भगतसिंह का रास्ता अच्छा मालूम होता था। समाजवाद क्या है, इसका उन्हें पता नहीं था। यहीं प्रसादराव की आन्ध्रपार्टी के वर्तमान सेक्रेटरी राजेश्वरराव से घनिष्ठता हुई।

1934 में प्रसाद बी. ए. के आखिरी साल में पढ़ रहे थे। समाजवाद की कुछ किताबें उन्होंने पढ़ीं और उधर कुछ दिलचस्पी हो चली। राजेश्वरराव, शिवय्या और प्रसादराव ने देश-सेवा के लिए जीवन देना तय कर लिया। इसी वक्त परिवार पर विपत्ति का पहाड़ गिरा। कर्ज में बाप की जमीन बिक गई। पढ़ने के लिए खर्च कहाँ से आता ? प्रसाद आरुकोलनों लौट आए। पिता जेवर बेचकर पढ़ाने के लिए तैयार थे, मगर प्रसादराव को यह रुचिकर नहीं मालूम हुआ।

राजनीतिक क्षेत्र में—चार-पाँच मास घर रहने के बाद प्रसाद फिर एक बार बनारस आए। शिवय्या से मिलकर भविष्य के प्रोग्राम पर बातचीत की—शिवय्या 1930 और 32 में दो बार जेल हो आए थे। दोनों साथियों ने समाजवाद और मजूर-संगठन के लिए काम करना तै किया। 1935 में शिवय्या और प्रसादराव ने गुन्टूर में काम शुरू किया। वहाँ अपने विचारवाले कई और कार्यकर्ता मिले। राष्ट्रकर्मियों के खाने का सवाल आया। दोनों ने फ्रैन्ड्स-होम (मित्रभवन) के नाम से 800 रुपये लगाकर एक होटल खोला। होटल की आमदनी से छह साथियों का काम चल जाता था। यहीं सुन्दरैय्या के सम्पर्क में आने का मौका मिला, और उन्होंने पहला पार्टी-ग्रुप बनाया। दो आन्दोलनों की असफलता के कारणों पर विचार करके आंध्र के इन तरुणों का विश्वास गांधीवाद से बिल्कुल उठ चला था। कांग्रेस-नेताओं के व्यवहार से मालूम होता कि स्वराज्य के लिए उन्हें कोई जल्दी नहीं पड़ी है। प्रसादराव और उनके साथियों ने मजूर-रक्षक-संघ (लेबर प्रोटेक्शन लीग) और तरुण-संघ (यूथ लीग) संगठित किए। गुन्टूर के चावल और जूट मिलों के मजूरों में भी काम शुरू किया। मजूरों को वे अखबार पढ़कर सुनाते और रात्रि-पाठशाला में अक्षर सिखलाते। मजूर ज्यादातर ईसाई थे और उन पर पादरियों का बहुत प्रभाव था। इसी समय इन्होंने गाड़ीवालों की हड़ताल कराई। गाड़ीवालों की माँगों को मानना पड़ा। अब मजूरों में कुछ आत्मविश्वास बढ़ा। इसी वर्ष (1934) प्रसादराव पार्टी के मेम्बर बने।

बाबू राजेन्द्रप्रसाद आंध्र में लेक्चर दे रहे थे। वे तेनाली (गुन्टूर) में आनेवाले थे। प्रसादराव ने कांग्रेस की नीति के प्रति असन्तोष प्रकट करते काला झंडा दिखलाने के लिए तरुणों का संगठन किया। पुलिस ने पकड़कर जेल में डाल दिया; और राजेन्द्र बाबू के जाने के बाद छोड़ा। इस समय 'कम्युनिस्ट घोषणा', 'डूइरिंग-खंडन' आदि कितने ही मार्क्सवाद के मूल ग्रन्थों को पढ़ने का मौका मिला। 'मजूर-रक्षक-संघ' के लिए कितनी ही पुस्तकें लिखीं; जिनमें कांग्रेस नेताओं की आलोचना की गई थी और मजूरों को उनसे सावधान रहने के लिए कहा गया था। इसी समय प्रसाद कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में शामिल हुए और अगले साल तक उस पर उनके साथियों का ही अधिकार हो गया। 1936 में पार्टी ने किसानों में काम करने का निश्चय करके प्रसादराव को पूर्व-गोदावरी जिले में भेज दिया। प्रसादराव की लगन और कार्य-दक्षता से प्रभावित हो कितने ही तरुण उनके साथ हो गए। उन्होंने वहाँ किसानों में खूब प्रचार किया और पूर्व गोदावरी किसान-सभा का जबर्दस्त संगठन किया। 1937 में वहाँ किसान-सभा के चौदह हजार मेम्बर बन चुके थे।

अभी पार्टी एक संगठित, सु-अनुशासित सेना का रूप नहीं ले पाई थी, इसलिए व्यक्तियों के कारण फूट पड़ जाती थी, दूसरी ओर आन्ध्र के साथी अभी व्यापक दृष्टि नहीं पा सके थे; और वे कांग्रेस से सीधे झगड़ पड़ते थे। शिक्षित तरुणों को किसान या मजदूर किसी जन-संगठन में रहकर काम करने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थीं, और वे सीधे पार्टी के मेम्बर बन जाते थे। फिर हवाई बातों पर बाल की खाल खींचते, वाद-विवाद करने लगते।

प्रसादराव को कुछ समय के लिए कृष्णा जिला के किसानों में काम करने के लिए भेज दिया गया वहाँ वे किसान-सभा के सेक्रेटरी चुन लिए गए। पार्टी के साप्ताहिक 'नवशक्ति' के सम्पादन के लिए जब प्रसादराव की जरूरत पड़ी, तो वे बेजवाड़ा चले आए। यहाँ वे प्रान्तीय किसान-सभा के आफिस सेक्रेटरी का भी काम करते थे। 1937 के मध्य से 1938 के अन्त तक प्रसादराव का कार्यक्षेत्र बेजवाड़ा रहा। वे 'नवशक्ति' में लेख

लिखते, प्रान्तीय किसान-सभा के आफिस का काम देखते और शहर में मार्क्सवाद की शिक्षा के लिए क्लास लेते। लेनिन की पुस्तक 'वामपक्षी कम्युनिज्म' का तेलगू भाषा में अनुवाद किया, मगर छपने से पहले ही वह नष्ट हो गई।

मोनगाला का संग्राम—मोनगाला एक राजा की जमींदारी है। वहाँ किसानों पर बहुत अत्याचार होते थे। तारीफ यह थी, राजासाहब कांग्रेसी थे। जरा-जरा-सी बात पर किसानों से जुर्माना वसूल किया जाता था। उनके खेत छीन लिए जाते थे। उन्हें किले (महल) में कैद कर लिया जाता था। इनाम (वृत्ति) दी हुई जमीन को भी छीन लिया जाता था। सार्वजनिक परती का मनमाना बन्दोबस्त किया जाता था, ब्याह, श्राद्ध और क्या-क्या का बहाना कर कितने ही नये कर वसूल किए जाते थे। 1930 में श्री टी. प्रकाशम् ने किसानों के कष्टों को दूर करने के लिए कुछ कोशिश की। मगर उनके जेल चले जाने पर राजासाहब किसानों के ऊपर सारी ताकत लगाकर चढ़ बैठे। 1932 से 37 तक के पाँच वर्षों में 1,80,000 रुपये किसानों से जुर्माने में वसूल किए गए और बाकी अत्याचारों को और ज्यादा उग्र रूप में दोहराया गया। किसान-सभा को मोनगाला के किसानों की दुर्दशा का पता लगा। प्रसादराव 1938 में एक-दो बार वहाँ गए, लेकिन हलके-हलके प्रयत्न से यह समस्या हल होनेवाली न थी। 1939 में प्रसादराव बिना सेना के सेनापति बनाकर मोनगाला भेजे गए। अब प्रसादराव को तीन-चार साल का तजर्बा था, मगर अभी तक उन्होंने कोई बड़ी लड़ाई नहीं लड़ी थी। राजासाहब का कांग्रेसी मिनिस्टरी तक भारी रसूख था। सेवगाँव तक में उन्हें भारी कांग्रेस-भक्त माना जाता था। प्रसादराव ने किसानों का संगठन मजबूत करना शुरू किया। फिर किसानों ने जुल्मों को बन्द करने के लिए माँग पेश की। प्रसाद के नेतृत्व में थोड़े दिनों में ही दबे-पिसे किसानों में अद्भुत उत्साह देखा जाने लगा। किसान अब राजा के कारिन्दों की मनमानी को बर्दाश्त नहीं करते थे। सत्याग्रह की जबर्दस्त तैयारी होने लगी। किसानों ने कहा—हमारा जुर्माना लौटाओ, हम अपने खेत जोतेंगे, हम कोई गैर-कानूनी टैक्स नहीं देंगे, गाँव की सामूहिक भूमि को हम जमींदार के हाथ में नहीं रहने देंगे। बात संगीन होते देख जनवरी सन् 1939 में राजा ने समझौता कर लिया और पेट में पच गए जुर्माने की रकम के लौटाने को छोड़कर सभी माँगें मंजूर कर लीं। मगर चसका लग चुका था। जमींदार इतनी जल्दी कैसे पराजय कबूल कर लेता। वह अब समझौते की बातों से मुकर गया। प्रसादराव भुलावे में पड़नेवाले नहीं थे। उन्होंने क्षणिक सफलता को लेकर किसानों के संगठन को और मजबूत किया, उनकी चेतना को और बढ़ाने का काम जारी रखा। जमींदार के दाहिने हाथ कांग्रेस-मिनिस्टरी के चीफ सेक्रेटरी (जो दुर्भाग्य से प्रसादराव के चाचा के साले भी थे) पर जमींदार का पूर्ण विश्वास था, कि कांग्रेस मिनिस्टरी अपनी सारी राजशक्ति से उसको पूरी मदद देगी। मिनिस्टरी ही क्यों गांधीजी का भी आसन डोल गया और कातीपट्टम् के किसानों के अपने हक के लिए सत्याग्रह करने की बात को लेकर उन्होंने नरम नीति स्वीकार करने के लिए राजगोपालाचारी की मिनिस्टरी को बड़े जोर की फटकार दी। गरीबों की हिमायत का दम भरनेवाला हमारा महान् नेता एक स्वदेशी-भक्त राजा के स्वार्थ के सामने आते ही बिल्कुल नंगा दिखलाई पड़ने लगा। एक ओर राजा और उसकी सारी सेना, कांग्रेस मिनिस्टरी और उसकी सारी पुलिस और सेना का बल, फिर महान गांधी और उनके भगवान् का सोलह आना आशीर्वाद था, और दूसरी ओर थे मोनगाला के किसान—जो गरीब थे, अपढ़ थे, मगर अब चेतनावान् हो गए थे—अपने सम्मिलित हक के लिए प्राण तक को न्यौछावर करने के वास्ते तैयार थे। प्रसाद ने बारह सौ किसान स्वयं-सेवक भर्ती किए। उन्हें कवायद-परेड सिखलाई। उनकी राजनीतिक शिक्षा का पूरा प्रबंध किया। कांग्रेसी सरकार ने 144 दफा लगा दी। जून (1939) में सत्याग्रह शुरू हो गया। दनादन गिरफ्तारियाँ होने लगीं। प्रसादराव ने वारंट को देखकर अन्तर्धान हो जाना पसन्द नहीं किया और तीन जून को वह नडीगूडम् में गिरफ्तार हो गए। लेकिन किसानों का सत्याग्रह रुका नहीं, न किसानों का जोश मद्धिम पड़ा।

17 दिन बाद कांग्रेसी मंत्री प्रकाशम् ने आकर किसानों को सत्याग्रह उठा लेने के लिए कहा और जमींदार से समझौते की बातचीत की। मंत्री, राजा और चीफ पार्लियामेंट्री सेक्रेटरी (कालेश्वर राव) नहीं चाहते थे कि प्रसादराव राजा की जमींदारी में रहने पायें, लेकिन यह हो नहीं सकता था। राजा ने कितनी ही माँगों को स्वीकार

किया। पाँच सहकारियों के साथ प्रसादराव को ग्यारह महीने की सजा हुई। इनमें से दो छोड़ दिए गए, लेकिन तीन को कम्युनिस्ट कहकर कांग्रेस-सरकार ने छोड़ने से इंकार कर दिया। प्रसादराव को राजमहेंद्री जेल में रखा गया। यद्यपि राजा फिर अपनी बातों से मुकर गया, लेकिन अब वह मोनगाला नहीं था। आज मोनगाला की किसान-सभा हिन्दुस्तान का सबसे जबर्दस्त किसान-संगठन है। वहाँ के किसान बड़े संख्त जमींदार-विरोधी हैं और पार्टी के पक्के भक्त–तीस पार्टी मेम्बर और सैकड़ों लड़ाके वीर इसके प्रमाण हैं। चालीस गाँवों में 18 सहयोग समितियाँ और सारी पंचायतों पर किसानों का अधिकार है। जमीनें उन्होंने लौटा लीं, अब लाठी के हाथ कोई काम नहीं चल सकता, न राजासाहब लाठी चलवा सकते हैं न फौजदारी मुकदमा। किसानों में कोई जाति-द्रोही नहीं है; सामाजिक बहिष्कार ने स्वार्थियों को रास्ते पर लगा दिया। अब राजा साहब जो कुछ भी करना चाहें, उसके लिए दीवानी अदालत का दरवाजा खटखटाना पड़ेगा।

मई 1940 में प्रसादराव जेल से छूटे। मोनगाला से निकल जाने का सरकारी हुकुम मिला। प्रसाद अन्तर्धान हो गए और जाकर फिर वहीं काम करने लगे। किसानकर्मियों की राजनीतिक शिक्षा का और भी अच्छा प्रबंध किया। उनकी तकलीफों को लेकर किसान-संगठन को और भी मजबूत किया। राजा के गाँव नंडीगूडम् और थानेवाले गाँव मोनगाला को छोड़ सभी जगह वे सभायें करते, खुले घूमते, क्लास लेते और पुस्तकें पढ़ाते। इस संघर्ष ने मोनगाला की बहुत-सी पुरानी रूढ़ियों को खतम कर दिया। जेल में ब्राह्मणों ने अछूतों के साथ खाना खा उन्हें अपना भाई बनाया। खेतिहर मजूर भी पूरी ताकत से इस संघर्ष में शामिल हुए, उन्हें भी खेत दिया गया।

जनवरी 1941 को प्रसादराव रात को मोनगाला से गुजर रहे थे, उसी वक्त उन्हें पकड़ लिया गया। डेढ़ साल की सजा हुई जो अपील से एक साल रह गई।

अपने जेल की मियाद को प्रसादराव ने राजमहेन्द्री, त्रिची और अलीपुरम् के जेलों में बिताया। वहाँ उन्होंने कांग्रेसकर्मियों की राजनीतिक शिक्षा में खूब भाग लिया। अलीपुरम् में 150 राजनैतिक बंदी पार्टी की देखरेख में राजनीतिक शिक्षा प्राप्त करते रहे। सारे संगठन के सेक्रेटरी प्रसादराव थे।

फासिस्टों के साम्यवादी देश पर आक्रमण के साथ प्रसादराव ने अपनी जिम्मेवारी को और महसूस किया, और उन्होंने राजबन्दियों को समझाना शुरू किया–आज फासिस्ट, जर्मनों और जापानियों को जल्दी से जल्दी मलियामेट करना हमारा सबसे पहला कर्तव्य है।

फरवरी 1942 में प्रसाद जेल से छूटे, मगर उन्हें आरुकोलनों में नजरबंद कर दिया गया। नजरबंदी की आज्ञा सितम्बर में हटी। इतने सालों बाद उन्हें लगातार सात महीने अपने गाँव में रहने को मिले। उन्होंने ग्राम-किसान-सभा संगठित की। गाँव में एक अच्छी सहयोग समिति कायम की। आज उनका एक साला और एक बहनोई पार्टी-मेम्बर हैं।

नजरबंदी की आज्ञा हटने के बाद प्रसाद बेजवाड़ा चले गए, और वहाँ पार्टी कमेटी के सहायक-मंत्री का काम करने लगे।

15 जनवरी 1943 से उन्होंने आंध्र के एक छोड़ सारे जिलों का दौरा किया और देश-रक्षा, अधिक अन्न उपजाओ, आदि के बारे में समझाया, अनाज-समस्या पर एक पुस्तिका लिखी। मार्च में वे प्रांतीय किसान-सभा के सेक्रेटरी चुने गए।

प्रसादराव की स्त्री वरलक्ष्मी अभी राजनीतिक चेतना नहीं प्राप्त कर सकीं, मगर उनका बड़ा लड़का (8 वर्ष) नाना के यहाँ रामचंद्रपुरम् में बाल-संघम् (बालसंघ) का नेता है। नियोगी ब्राह्मण कहाँ मूँछ मुड़ाकर वैदिकीय ब्राह्मणों से भी ऊपर उठने के लिए तैयारी कर चुके थे, और कहाँ उनका सपूत पंचमों के साथ भात-दाल खाता है ! लेकिन परिवारवाले अब विरोध नहीं करते।

19

कल्याणसुंदरम्

प्रमुख तिथियाँ–1909 अक्तूवर 10 जन्म, 1915-20 प्राथमिक स्कूल में, 1921-28 नेशनल का. हा. में, 1926 तरुण-संघ में, तुकवंदी का प्रयत्न; 1928 मेट्रिक पास, डिस्ट्रिक्ट वोर्ड में नौकर; 1928-30 रेलवे में स्टोर-कीपर, 1930 राष्ट्रीय भाव का प्रादुर्भाव, 1933 ब्याह, 1937 जीवन-परिवर्तन, मजूरों में काम; 1938 एस. आई. रेलवे यूनियन के उपसभापति, 1938-39 तालुका कांग्रेस प्रेसीडेंट, 1940 मई 14 गिरफ्तार, 1 साल सजा;–अक्तूवर जमानत पर, फिर अन्तर्धान–गिरफ्तार, साढ़े नौ मास जेल में; 1941 अक्तूवर सजा के वाद नजरवंद, 1942 जून 26 जेल से वाहर–दिसम्वर गिरफ्तार, नजरवंद; 1943 मार्च जेल से वाहर।

मद्रास से रामेश्वर और तूतीकोरन तक जानेवाली रेलवे का नाम एस. आई. (दक्षिण भारत) रेलवे है। आज सारे भारत में रेलवे मजदूरों का सबसे जबर्दस्त संगठन इसी रेलवे लाइन में है। इस संगठन में जिस पुरुष का सबसे जबर्दस्त हाथ है और जो उनका सर्वमान्य नेता है, उसका नाम है (मीनाक्षीसुन्दरम्) कल्याणसुन्दरम्।

जन्म–कल्याणसुन्दरम् का जन्म त्रिचनापल्ली (कुडितलै तालुका) के कडवरकोइल में नाना के घर सोलह अक्तूबर 1909 में हुआ। कुडितलै 10,000 आवादी का एक कस्वा है और कडवरकोइल उसी का उपनगर। यहाँ द्रविड देश की गंगा कावेरी के तीर पर कडवर नामक शिव का एक मन्दिर है। कडवर शिव के बारे में प्राचीन तमिल के महान् कवि सम्बन्दर ने कविता लिखी है। इसलिए यह एक ऐतिहासिक स्थान है। कडवर में पिल्ले (हिन्दू) जाति के घर अधिक हैं, जो ज्यादातर किसान-जमींदार हैं। कुछ घर ब्राह्मणों और मुदलियार (कुनबी) जाति के भी हैं। गाँव में कितने ही ईसाई और मुसलमानों के घर भी हैं। कडवर कांग्रेस-समर्थक गाँव है।

कल्याणसुन्दरम् के पिता मीनाक्षीसुन्दरम् मुदलियार (मृत्यु 1941) त्रिचनापल्ली के पास वोरेऊर के रहनेवाले थे और एक सिगार-फैक्टरी में क्लर्क का काम करते थे। मीनाक्षीसुन्दरम् पुराने शैव-साहित्य (तमिल) के बड़े प्रेमी और पक्के शैव थे। राजनीति में उनके विचार राष्ट्रीयतावादी थे। कल्याणसुन्दरम् की माता राजाम्बाल तमिल पढ़ी-लिखी और बड़ी धार्मिक प्रवृत्ति की स्त्री हैं। कल्याणसुन्दरम् अपने तीनों भाइयों में सबसे बड़े हैं।

बाल्य–कल्याणसुन्दरम् की सबसे पुरानी स्मृति साढ़े चार साल की उम्र तक ले जाती है। उस समय माँ नैहर गईं, जहाँ कल्याण का सबसे छोटा भाई पैदा हुआ। कल्याण का सबसे अधिक प्रेम अपने पिता में था। बचपन में नानी कहानियाँ सुनाती थीं, जिससे कल्याण की कहानियों की भूख और बढ़ती ही जाती थी। भूतों की कहानियाँ उसने कितनी ही सुनीं, मगर वह निडर लड़का था। पिता बहुत धार्मिक थे और बेटे को पौराणिक कहानियाँ सुनाकर शिवभक्त बनाना चाहते।

शिक्षा–छह साल की उम्र (1915) में कल्याण ने पढ़ना शुरू किया। कृष्ण ऐय्यर के इमदादी स्कूल में पहले तमिल और फिर अंग्रेजी पढ़े। उस वक्त पिछला महायुद्ध चल रहा था। मिट्टी के तेल और चावल के लिए लोग परेशान थे। युद्ध के बारे में बालक कल्याण को इतना ही मालूम हो सका।

हाईस्कूल–बारह वर्ष की उम्र (1921) में कल्याणसुन्दरम् को त्रिचनापल्ली (त्रिची) के नेशनल कालेज हाईस्कूल में दाखिल कर दिया गया। तमिल साहित्य और इतिहास उसके प्रिय विपय थे। त्रिचनापल्ली में अच्छा राजनीतिक वायुमंडल था। होमरूल आन्दोलन के जमाने में एनी बीसेन्ट की आवाज गूँजती थी। जब कल्याण हाईस्कूल का विद्यार्थी था, उस वक्त त्रिची में गांधीजी और राजगोपालाचारी का खूब प्रभाव था। कल्याण राजनीतिक सभाओं में व्याख्यान सुनने जाया करता था।

17 वर्ष के होते-होते कल्याण तरुण-संघ में दिलचस्पी लेने लगा। अब वह अखबार भी पढ़ता था। उस

समय मद्रास प्रान्त में जस्टिस (अब्राह्मण) पार्टी और कांग्रेस का द्वन्द्व चल रहा था। कांग्रेस का आन्दोलन कुछ शिथिल पड़ गया था, जिससे जस्टिस पार्टीवालों का उत्साह और बढ़ गया था। जस्टिस पार्टीवाले ब्राह्मणों के सदियों से चलते आए जुल्म को गिनाते, और अब्राह्मणों से अपील करते थे, कि हमारा तमिलनाड मुट्ठीभर ब्राह्मणों के लिए नहीं है; सरकारी अफसरों और क्लर्कों में भी ब्राह्मण भरे पड़े हैं, हाईकोर्ट और जिलाकोर्ट के जजों में भी ब्राह्मण, स्कूलों-कालेजों में भी ब्राह्मण—सभी जगह ब्राह्मण ही ब्राह्मण दिखलाई देते हैं और वे ब्राह्मणों का पक्ष लेते हैं; अब 90 सैकड़े से अधिक अब्राह्मणों को अपना 'हक' लेना होगा। कल्याणसुन्दरम् स्वयं भी अब्राह्मण था, मगर उसे कांग्रेस और जस्टिसपार्टी में कोई फरक नहीं मालूम होता था। उसे मानवतावाद अच्छा लगता था और छात्रसभा में इस सम्बन्ध में निबंध भी पढ़ता था। बोलने की अभी बहुत आदत नहीं थी।

कल्याणसुन्दरम् का स्वभाव लड़कपन से ही गंभीर और शान्त था। वह लड़कों को नेता था, मगर लड़ने-भिड़ने की आदत न थी। वह नेता था शान्ति-स्थापन करने के लिए। पिता और माता दोनों ही कड़े अनुशासन के माननेवाले नहीं थे, इसलिए कल्याण को अपने स्वभाव को संयत बनाने में किसी बाहरी दबाव की जरूरत नहीं थी। पिता धर्म सिखलाना चाहते थे और चोटी रखने के लिए भी कहते थे; मगर कल्याण पसन्द नहीं करता था, उसने चोटी नहीं रखी। हाँ, उसे संगीत का प्रेम था और नाटक खेलने का भी। नाटक में वह खुद भी भाग लिया करता था।

1928 में कल्याण ने मेट्रिक (S. L. C.) पास किया।

कल्याणसुन्दरम् के सामने अभी कोई लम्बा-चौड़ा आदर्श नहीं था। उसके पिता क्लर्क थे और कमा कर किसी तरह परिवार का गुजारा चलाते थे। वह भी समझता था, कि कहीं क्लर्क हो जायेगा और फिर नैया किसी न किसी तरह पार हो जायेगी।

जीवन-क्षेत्र में—चाहे कल्याण ने राजनीतिक व्याख्यान कुछ सुने भी हों और उसकी सहानुभूति भी उस ओर रही हो, लेकिन वह उसके लिए बहुत दूर की चीज थी। वह राजनीति से बिलकुल कोरा था। स्कूल छोड़ते वक्त उसकी उम्र 19 साल की हो चुकी थी, और अब जरूरत थी अपने पैर पर खड़े होकर पिता के बोझ को कुछ हलका करने की। पहले कुछ दिनों तक उसने डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में क्लर्क का काम किया, फिर एस. आई. रेलवे के मशीन-विभाग में पहले क्लर्क और फिर स्टोर-कीपर का काम। दस साल तक उसने यह नौकरी की।

कल्याणसुन्दरम् को पता भी नहीं था, कि जीवन उसे ऐसी जगह पहुँचा देगा, जिसकी उसने कल्पना भी न की थी। उसने जीवन के आरम्भ को देखकर ऐसा विश्वास भी कर लिया होगा। आफिस का काम करने के बाद वह क्लर्कों की क्लब में जाता, संगीत का आनन्द लेता और नाटकों के खेलने और उनमें भाग लेने की योजना बनाता।

1930 में नमक-सत्याग्रह जोर का चला। उसकी सहानुभूति लाठी खानेवाले सत्याग्रहियों की ओर थी, मगर तो भी वह समझता था, कि वह उसके क्षेत्र से बाहर की बात है। हाँ, देश-भक्ति को वह अच्छी चीज समझता था और देश-भक्ति-विरोधियों, खुशामदियों को बुरा। वह चौबीस वर्ष का हो गया। अभी भी वह शादी के पक्ष में नहीं था, मगर एक दिन (1933 में) घरवालों ने कभी की भी न देखी-सुनी एक लड़की के साथ कल्याण का ब्याह कर दिया। कल्याण इच्छा के बिना समाज की और भी कितनी ही बातों को मानता चला आया था, ब्याह को भी उसने उनमें से एक समझा।

जीवन-परिवर्तन—1936 में कल्याणसुन्दरम् इरोद स्टेशन में स्टोर-कीपर थे। आफिस के बड़े लोग सभी उनके साथ अच्छा बर्ताव करते और छोटों के साथ वे खुद प्रेमभाव रखते तथा मदद करने के लिए तैयार रहते थे। लोकोशेड के मजूरों का कल्याणसुन्दरम् से बहुत प्रेम था। वह उनकी अर्जियाँ लिख देते थे, जो भी और काम होता कर देते। मजूरों से इतना हेलमेल हो जाने पर उन्होंने सोचा, इनका एक संगठन हो जाये तो अच्छा होगा। उसी साल उनके उद्योग से 'ऐक्य-बलिवर-संघम्' (एकता-तरुण-संघ) स्थापित किया। इस संघ में सभी तरुण मजदूर थे। कल्याण उनकी सभाओं में जाते। किसी काम के लिए चन्दा देने-दिलाने में मदद करते।

लेकिन अभी कोई राजनीतिक उद्देश्य नहीं था।

1938 में मजूरों की हालत बदतर होने लगी–किसी की मजूरी कम की जा रही थी और किसी को काम से निकाला जा रहा था। पहले किसी वक्त मजूर यूनियन बनी थी, मगर अब उसका नाम नहीं रह गया था। मजूर चुपचाप भूखे मरने के लिए तैयार न थे। कल्याणसुन्दरम् के सामने एकाएक बिल्कुल नये तरह का प्रश्न खड़ा हुआ–मजूरों के हितैषी मजूरों से हिले-मिले कल्याण का इस वक्त क्या कर्तव्य होना चाहिए ? मजूरों का साथ छोड़ना उन्हें कायरता मालूम हुई। डाक्टर कृष्णस्वामी को भी उन्होंने कभी-कभी बलिवर-संघम् में बुलाया था और उनसे परिचय हो गया था। उन्होंने राजनीति से कोरे तजर्बे के पूरे कल्याणसुंदरम् को मार्क्सवाद की बातें बतलाईं। लेनिन की कोई पुस्तक पहले-पहले उन्हें पढ़ने को मिली। पार्टी साहित्य भी उनसे मिलने लगा। हैन्डबुक आफ मार्क्सिज्म (मार्क्सवाद की गुटिका) को पढ़ने पर उन्हें बहुत-सी बातें मालूम हुईं। लेकिन अभी भी ये चीजें बहुत कुछ सिर्फ पढ़ने के लिए ही मालूम होती थीं। दुनिया के सहस्रों वर्षों के संघर्षों के आधार पर बने सिद्धान्तों को अपने सामने की समस्या से जोड़ने का गुर उन्हें नहीं मालूम हुआ। लेकिन मजूरों का संघर्ष बढ़ता गया और साथ-साथ कल्याणसुन्दरम् भी एक अज्ञात दिशा की ओर बढ़ते गये। यह तो मालूम होने लगा कि अब पुराने क्षेत्र से हटकर राजनीतिक क्षेत्र में उनका कदम पड़ चुका है। मजूरों के लड़ाइयों के सम्बन्ध में राममूर्ति और जीवानन्दम् को वे भाषण देने के लिए बुलाते। जीवनन्दम् ने खासतौर से उन पर अधिक प्रभाव डाला। बलिवर-संघम् से अव आगे बढ़ने की जरूरत महसूस हुई और अप्रैल 1938 में 'मजूर-सभा' (लेवर यूनियन) कायम की। कल्याणसुन्दरम् उसके सभापति बने।

लेकिन सिर्फ एक जगह मजूर-सभा बनाने से तो काम नहीं चल सकता। आखिर उन्हीं की तरह और भी मजदूर कष्ट उठा रहे हैं। सबको एक ही कम्पनी से जीविका के लिए लड़ना पड़ता है। 1938 में कल्याणसुन्दरम् ने एस. आई. रेलवे के दूसरे मजूर-केन्द्रों में जाकर मजूर-सभाएँ कायम कीं। फिर सभी मजूर-सभाओं के ऊपर एक केन्द्रीय मजूर-संगठन कायम किया। कल्याणसुन्दरम् इसके उपसभापति चुने गए। रेलवेवाले अधिकारी घबड़ाने लगे। उन्होंने मार्च में कल्याणसुन्दरम् की बदली गोल्डेनराक (त्रिची) में कर दी। लेकिन इससे क्या होता है ? दस ही दिन बाद वे अखिल भारतीय रेलवे मजूर-कान्फ्रेन्स के स्वागताध्यक्ष चुने गए। वैसे होता तो कल्याणसुन्दरम् और उनके मजूर-संगटन को बहुत अड़चनों का सामना करना पड़ता, मगर उस वक्त मद्रास की मिनिस्टरी कांग्रेस के हाथों में थी। प्रधानमन्त्री राजगोपालाचारी ने स्वयं कान्फ्रेन्स का उद्घाटन किया। कांग्रेस-मिनिस्टरी ने जोर दिया और रेलवे-अधिकारियों को मजूर-सभाएँ मंजूर करनी पड़ीं। कल्याणसुन्दरम् के सामने से परदा हटता जा रहा था। वे मजूरों की शक्ति को देखते थे और उनके सामने जो महान् काम है उसे भी। कान्फ्रेन्स से पहले फरवरी में जब एजेन्ट के सामने उन्होंने अल्पतम मजूरी की माँग रखी, तो एजेन्ट ने कहा था–"यदि तुम्हें यह बात पसन्द नहीं, तो छोड़कर चले जाओ। हमारे पास काम चाहनेवालों की हजारों दरख्वास्तें हैं।" एजेन्ट ने इस उत्तर को एक से अधिक बार दोहराया। अब उनकी आँखों का पट्टर खुल गया। उन्होंने अपने को राजनीति से उदासीन व्यक्ति की जगह राजनीति में आसक्त व्यक्ति पाया। 'नेशनल फ्रान्ट' 'न्यू एज' 'जनशक्ति' (तमिल) के पढ़ने से उनकी मानसिक दिक्कतें दूर होती गईं। उस साल के अन्त तक उन्हें साफ मालूम होने लगा, कि मजूर-आन्दोलन के चलाने, मजूरों की लड़ाइयों को लड़ने में लोभ और स्वार्थ से परे निर्भय समझदार नेताओं की एक संगठित पार्टी की बहुत जरूरत है। पार्टी अभी मद्रास से आगे नहीं बढ़ी थी, लेकिन कल्याण पार्टी के और भी अधिक नजदीक होते गए। अब मजूरों को ज्यादा समझा सकते थे और उनमें मजूर-हितों के लिए स्वार्थ-त्याग करने की भावना देखते भी थे। कांग्रेस में भी भाग लेने लगे थे, और वे तालुका (तहसील) कांग्रेस के सभापति और जिला-कांग्रेस के मेम्बर थे।

1939 में महायुद्ध छिड़ा। दक्षिण के पितामह साथी घाटे और राममूर्ति गोल्डेनराक आए। उन्होंने युद्ध के बारे में विश्लेषण करके बतलाया, वहाँ पार्टी का संगठन किया और क्लास लेकर बहुत-सी बातों को समझाया। अब कल्याणसुन्दरम् पार्टी में थे। 1940 में पहुँचते-पहुँचते जीवनोपयोगी चीजें बहुत महँगी हो चली थीं, मगर मजूरों की मजूरी वही रखी गई थी। महँगाई भत्ता तथा दूसरी माँगों के लिए एक जबर्दस्त रैली की गई और

माँगों के न मानने पर हड़ताल की नोटिस दे दी गई। स्वतंत्रता-दिवस को मजूरों ने खूब जोश के साथ मनाया और अपने त्योहार मई-दिवस के प्रदर्शन में भी अपने बल और उत्साह का परिचय दिया। मजूरों में इस उत्साह और संगठन को देखकर अधिकारी घबड़ा उठे। जब सरकार ने सेना की कुछ चीजों को तैयार करने का आर्डर एस. आई. रेलवे के पास भेजा, तो रेलवे-अधिकारियों ने कहा कि जिस तरह की गड़बड़ी है, उसमें आर्डर पूरा नहीं किया जा सकता।

कल्याणसुन्दरम् को सारी खुराफात की जड़ समझा जाता था। 14 मई (1940) को उनके घर की तलाशी ली गई और उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। गिरफ्तारी के समय कपड़ा-मिल-मजूर सभा के भी वही प्रेसीडेन्ट थे। डेढ़ साल की सजा हुई, जो अपील में एक साल की रह गई। उन्हें वेल्लोर जेल में भेज दिया गया। जेल में सख्त बीमार हो गए, जिसके कारण उन्हें जमानत पर छोड़ दिया गया।

कुछ दिनों में चलने-फिरने लायक हो वे अन्तर्धान हो गए और कितने ही महीनों तक पुलिस से बचते सारी तमिलनाड-पार्टी का काम करते रहे। एक दिन वे त्रिचनापल्ली में पार्टी के काम से आए थे, पुलिस ने आकर घर को घेर लिया और गिरफ्तार करके ले गई। अलीपुरम् जेल में साढ़े नौ महीने की बाकी कैद को पहले काटा, फिर नजरबन्द कर दिए गए और वेल्लोर जेल से 26 जून 1942 को छूटे। सजा के बाद ही उन्हें रेलवे में नौकरी से निकाल दिया गया था। कल्याणसुन्दरम् बहुत पहले ही से इसके लिए तैयार थे।

जेल में कल्याणसुन्दरम् ने अपने राजनीतिक ज्ञान को अध्ययन तथा साथियों के संसर्ग से खूब बढ़ाया। मार्क्सवाद की मूल पुस्तकों का गंभीर अध्ययन किया। भूख-हड़ताल भी की और लाठियाँ भी खाईं। जिस समय आंध्र के शिवैया और उनके तीन सांथी जेल से भगे थे, उस समय कल्याणसुन्दरम् भी भागनेवाले थे; मगर उनका स्वास्थ्य बहुत खराव था, इसलिए वह ख्याल छोड़ देना पड़ा।

जून (1942) में बाहर निकलकर फिर वे पार्टी के कार्य और एस. आई. मजूर-संघ के काम में जुट गए। रेलवे मजूरों का संगठन बड़ी तेजी से बढ़ा और कुछ ही समय में मेम्बरों की संख्या तिगुनी हो गई। 16 अगस्त (1942) को एस. आई. रेलवे मजूरों की कान्फ्रेन्स हुई, जिसकी सफलता को देखकर अधिकारी और चौंके—यह जानते हुए भी कि आज एस. आई. रेलवे के मजूर और उनका संगठन जर्मन और जापानी फासिस्टों का सबसे जबर्दस्त दुश्मन है, आज ये मजूर होड़ लगाकर अपने कामों को कर रहे हैं, और पहले से उपज को ज्यादा बढ़ा रहे हैं, डब्बे और इंजनों से ज्यादा काम ले रहे हैं। दिसम्बर में फिर कल्याणसुन्दरम् को पकड़कर जेल में बन्द कर दिया गया। इस बेवकूफी का भी कोई ठिकाना है ? तीन महीने बाद मार्च (1943) में फासिस्ट-विरोधी मजूरों के प्रिय नेता को जेल से बाहर निकाला गया। आज वह एस. आई. रेलवे के मजूरों में काम करने का जो जोश पैदा कर रहे हैं, अफसर भी उसको मानने के लिए मजबूर हैं। लेकिन डर रहे हैं, अपने भविष्य के स्वार्थ से। एस. आई. रेलवे यूनियन में 21,300 मेम्बर हैं। उसकी ओर से 'तोडिल अरसू' (मजूर-राज्य) पत्र निकलता है, जिसके ग्राहकों की संख्या 4,300 है। सिर्फ गोल्डेनराक् में 800 मजूर-स्त्रियों का संगठन है।

पिता मरते वक्त (1641 में) पुत्र के स्वरूप को देख पाये थे। वे उससे संतुष्ट थे—"यदि मेरा पुत्र इतने हजार आदमियों के हित का काम कर सकता है, तो वह काम सबसे बड़ा है।" ससुर और स्त्री अभी भी कल्याणसुन्दरम् को समझ नहीं पाये, लेकिन लोकम्बाल समझने की कुछ-कुछ कोशिश जरूर कर रही हैं।

कल्याणसुन्दरम् ने पहले से इस जीवन के बारे में कोई ख्याल नहीं किया था। हाँ, उनका हृदय जरूर ईमानदार और समझदार था। परिस्थितियों ने उन्हें संघर्ष में डाल दिया और वहाँ से वह तपा सोना बनकर निकले।

20

शंकर नम्बूदरीपाद

उस देश में ब्राह्मणों की स्थावर-जंगम सम्पत्ति कभी नहीं बँटती। घर का बड़ा लड़का घर का स्वामी होता। अपनी जाति की कन्या से ब्याह करने का अधिकार सिर्फ बड़े लड़के को होता; और साधारण तौर पर वह तीन लड़कियों से शादी करता; जिसके कारण छोटे भाइयों से वंचित देश की कुमारियों को वर पाने का सुभीता हो जाता। मगर, फिर भी सभी लड़कियों को पति मिलना आसान काम न था; इसीलिए शास्त्रमर्यादा के [illegible] एक ओर अधिक उमर हो जाने पर लड़कियों की शादी होती; दूसरी ओर कुछ आजन्म कुमारियाँ भी रह जातीं। विधवाओं की भी संख्या वहाँ कम न थी। यह है केरल के नम्बूदरी ब्राह्मणों का समाज। शंकराचार्य इसी कुल में आज से 1000 वर्ष पहिले पैदा हुए थे, इसलिए उनको अपने कुल का भारी अभिमान है, और वह अपने सामने हिन्दुस्तान के सभी ब्राह्मणों को शूद्र समझते हैं। उनके देश में भी दूसरे हिन्दुओं में उनका भारी सम्मान है; जिसमें उच्चकुल होने के अतिरिक्त उनका धन-विद्या-सम्पन्न होना भी कारण है। केरल के प्रायः सारे नम्बूदरी जन्मी या जमींदार होते हैं और कई तो बड़े-बड़े जमींदार हैं। जायदाद बँट या बिक नहीं सकती, इसलिए अगली पीढ़ियों में दरिद्र हो जाने की बहुत कम सम्भावना रहती है। छोटे भाइयों को शादी जाति में न होने से घर में परिवार बढ़ने का डर नहीं। जनसंख्या के इस नियन्त्रण से भी उनकी आर्थिक अवस्था का बेहतर होना स्वाभाविक है। नम्बूदरियों में हाल तक आधुनिक शिक्षा का प्रचार नहीं था, लेकिन संस्कृत और मातृ-भाषा मलयालम् का पढ़ना हर एक लड़के के लिए अनिवार्य-सा था; इसलिए अनपढ़ नम्बूदरी का मिलना मुश्किल है। हाँ, लड़कियों के लिए कुछ दूसरे ही नियम थे।

दक्षिण, खासकर मद्रास में स्त्रियाँ परदे को जानतीं ही नहीं। केरल की स्त्रियाँ तो सिर्फ सिर और मुँह ही नंगा नहीं रखतीं, बल्कि कटि के ऊपर के भाग को भी ढाँकने की जरूरत नहीं समझतीं। नम्बूदरी स्त्री भी जब अपने घर की चहारदीवारी के भीतर होती है, तो अपनी दूसरी केरलीय भगिनियों की तरह ही होती है। मगर यह अपने पति या भाई के सामने ही। नम्बूदरी स्त्री को अपने देवर के सामने भी वैसे ही परदा करना पड़ता है, जैसे किसी बेगाने के सामने।

जब वह बाहर निकलती, तो उसे सख्त परदा करना पड़ता। कमर से नीचे आधे घुटने तक के तहमद से अब काम नहीं चल सकता। ऊपर से एक चादर सिर को छोड़ शरीर को ढाँक दोनों छोरों को एक हाथ में पकड़े रहना; और ऊपर से एक छत्ता हाथ में रखना होता है, जिसे धूप और वर्षा से बचाने के लिए वह हाथ में नहीं रखती, बल्कि इस छत्ते का काम है लोगों की नजर से उसके चेहरे को बचाना। नम्बूदरी लड़की अपने भाई की तरह संस्कृत नहीं पढ़ती; किन्तु बहुधा उसे मलयालम् पढ़ने की सुविधा हो जाती। जब छोटे भाइयों का भी घर की सम्पत्ति पर अधिकार नहीं, तो लड़की के बारे में पूछना ही क्या ? ऊपर से घर पीछे सिर्फ एक ही वर हो सकता था, इसलिए नम्बूदरी लड़की के लिए पति मिलना कितना मुश्किल था, इसका जिक्र कर आए हैं। शायद नम्बूदरी स्त्री के लिए यह सोचना भी मुश्किल है, कि दुनिया में ऐसी भी स्त्रियाँ हैं, जिनकी सौतें नहीं होतीं।

लेकिन केरल में सिर्फ नम्बूदरी ब्राह्मण ही नहीं बसते। वहाँ भारी संख्या दूसरी जातियों की है, जिनमें कालीकट के जमोरिन् तथा त्रावणकोर और कोचीन के राजवंश क्षत्रिय माने जाते हैं—नम्बूदरी भी उन्हें क्षत्रिय मानते हैं, यह प्रशंसा की बात है। उनकी इस उदारता में भी एक रहस्य है। इन राजवंशियों की राजकुमारियों को ब्याहने का सबसे पहिले अधिकार नम्बूदरी तरुण को है। हाँ, नम्बूदरी तरुण राजकन्या को अर्धांगी नहीं मानता और न मानने के लिए मजबूर है। वह अपनी जाति में ब्याह करने का अधिकार नहीं रखता, क्योंकि वह घर का ज्येष्ठ पुत्र नहीं है। लेकिन ऐसे ब्याह-सम्बन्ध को वह एक दूसरी दृष्टि से देखता है। वह राजकुमारी के हाथ का छुआ न पानी पी सकता है, खाना खाने की तो बात ही क्या। और उसके बच्चे ? चूँकि वे ब्राह्मण-वीर्य

से हैं, इसलिए क्षत्रिय और क्षत्रिया। क्षत्रियत्व के लिए यह है परिभाषा केरल के नम्बूदरियों की। इसीलिए वह हिन्दुस्तान के किसी दूसरे भाग के क्षत्रियों-राजपूतों को क्षत्रिय मानने के लिए तैयार नहीं है।

और फिर ब्राह्मण पिता से उत्पन्न इन सन्तानों का जीवन-जीविका ? हाँ, ब्राह्मण के अपने घर की सम्पत्ति अविभाज्य है, इसलिए उसमें से कानीकौड़ी भी नहीं मिल सकती, इसमें तो शक ही नहीं। मगर ब्राह्मणों ने इसके लिए सुन्दर इन्तजाम किया है। ब्राह्मणों को छोड़ दूसरे के लिए केरल में स्त्री-राज्य है। घर की सम्पत्ति का स्वामी बेटा नहीं, बेटी होती है। हाँ, इस प्रथा के अनुसार जव माँ की सम्पत्ति अपनी पिता के घर में है ही, तो बच्चों के भरण-पोषण का सवाल हल हो गया। और राजवंशों में तो और भी मजे का कानून है। त्रावनकोर और कोचीन में राज्य का उत्तराधिकारी राजा का लड़का नहीं होता और न उसे तथा राजा की स्त्री को राजकुमार या रानी की पदवी पाने का अधिकार होता है। वह रानी और हर्‌हाइनेस नहीं होती। रानी होती है राजा की माँ या बहिन। राज का उत्तराधिकारी उसकी बहिन का लड़का होता है, जिसका सम्बन्ध अक्सर किसी नम्बूदरी ब्राह्मण से होता है। राजवंशों के अलावा उच्च नायर-परिवार की लड़कियाँ भी इसी तरह कनिष्ठ नम्बूदरी पुत्रों से 'ब्याह' करती हैं।

लेकिन यह पुराने युग की बात है। अव वहुत कुछ लोग उसे भूलते जाते हैं। लेकिन युग का मतलब लाख हजार या सौ बरस भी मत समझिये। यह 1932-33 की ही बात है, जबकि पी. एम. तंगर ने सभी नम्बूदरी लड़कों के उत्तराधिकार का कानून पास कराया और ब्रिटिश मलबार में नम्बूदरियों का पुराना सामाजिक संगठन दस ही वर्ष के भीतर छिन्न-भिन्न हो गया। दूसरे कानून ने बहुविवाह को भी निषिद्ध ठहराया और अब नम्बूदरी स्त्रियों के लिए कुछ ही समय बाद यह समझना मुश्किल हो जायेगा, कि किसी युग में एक पति की कई पत्नियाँ भी होती थीं।

हाल में नम्बूदरियों में कितने ही विधवा-विवाह हो चुके हैं, जिसमें पहिला विवाह सन् 1934 में हुआ था।

इस क्रान्ति को केरल में किसने फैलाया ? हाँ यह एक आदमी का काम नहीं हो सकता; और इसमें समय (इतिहास) की सहायता की भी आवश्यकता है। जिस संस्था ने इस क्रान्ति को लाने में सबसे ज्यादा मदद की वह थी 'नम्बूदरी युवजन-संघम्' या 'नम्बूदरी तरुण-संघ' और उसका मुख्य पत्र था 'उन्नी नम्बूदरी' (नम्बूदरी तरुण)। इस संघ का एक सरगर्म नेता और पत्र का सम्पादक था हमारा चरित नायक शंकर नम्बूदरी पाद या पूरा नाम एलंकुलत् मनक्कल् शंकरन् नम्बूदरीपाद। हाँ, हजार वर्ष पहले दर्शन में क्रान्ति करनेवाले उस नम्बूदरी ब्राह्मण का नाम भी शंकर था और आज नम्बूदरियों के भीतर क्रांति मचाकर मलबार की सारी जनता में क्रांति का जबर्दस्त संचार करने वाला आज का यह नम्बूदरी तरुण भी शंकर नाम वाला ही है।

शंकर का जन्म आज से 33 साल पहले तेरह या चौदह जून 1909 में मलबार जिले के एलंकुलम् गाँव में हुआ था। मलबार के गाँवों के सारे घर एक जगह न बसकर जगह-जगह बिखरे रहते हैं। यह यही बतलाता है, कि वहाँ चोर-डाकुओं का प्रकोप कम रहा, इसलिए लोगों ने झुण्ड (ग्राम) बनाकर बसना पसंद नहीं किया। एलंकुलम् गाँव की सारी आबादी 5000 या करीब एक हजार के परिवार होंगे। एलंकुलम् में 'युगों' से चार नम्बूदरी परिवार रहते चले आए हैं—हाँ, यह 1932 के पहले की बात है। चारों परिवारों के पास अच्छी-खासी जमींदारी है, जिसमें एलंकुलम् परमेश्वर नम्बूदरीपाद सबसे बड़े जमींदार थे। यही शंकर के पिता थे, जो शंकर के छह बरस के होते ही समय मर गए। नम्बूदरी प्रथा के अनुसार परमेश्वर ने दो विवाह किए थे, जिनमें से छोटी पत्नी प्रियदत्ता से शंकर और उनके बड़े भाई ब्रह्मदत्त पैदा हुए थे। ज्येष्ठ पत्नी के पुत्र राम और परमेश्वर हैं। शताब्दियों से एक जगह चली आती जमींदारी और सम्पत्ति अब चार घरों में बँट गई है।

छह बरस की आयु (1915) में शंकर कुल की प्रथा के अनुसार घर में ही अध्यापक से संस्कृत पढ़ने लगे। नौ बरस की उम्र में जव जनेऊ हो गया, तो अपने कुल के वेद ऋग्वेद को पढ़ना शुरू किया, अथवा बिना समझे-बूझे स्वर-सहित मंत्रों को रटना शुरू किया। 15 बरस की उम्र (1924) तक यही चलता रहा। चौदहवें बरस में उन्हें मलयालम भाषा पढ़ने का भी मौका मिला। उनकी इच्छा और समय की माँग से शंकर को अंग्रेजी

पढ़ने के लिए घर पर ही एक मास्टर रख दिया गया, जिन्होंने डेढ़ साल तक उन्हें अंग्रेजी पढ़ाई।

1925-26 में शंकर को गाँव से पाँच मील दूर पेरिन्तल्मन्ना के हाई स्कूल में भर्ती किया गया। 1929 में उन्होंने मेट्रिक पास किया। फिर त्रिचूर (कोचिन) के सेन्ट थामस् कॉलेज में पढ़ने लगे। इतिहास और अर्थशास्त्र उनके मुख्य विषय थे। 1932 में वह बी. ए. में थे, जबकि कांग्रेस-आंदोलन में पड़ने से अपने को रोक नहीं सके और इस प्रकार विश्वविद्यालय की पढ़ाई खतम हो गई। लेकिन इसका मतलब यह नहीं, कि शंकर का विद्यार्थी-जीवन खतम हो गया। वह तो, मालूम होता है, जिंदगी-भर विद्यार्थी बने रहने के लिए ही हैं।

सार्वजनिक जीवन–शंकर उस वक्त बारह वर्ष के थे, जबकि गांधीजी ने 1921 में असहयोग का विगुल बजाया था। उस समय वह वेद के रट्टू संस्कृत के विद्यार्थी थे। अपने बाल्य-जीवन में भी उन्हें असहयोग और राजनीतिक हलचल अच्छी मालूम होती थी, मगर इससे आगे वह नहीं बढ़ सकते थे। हाईस्कूल के जीवन में वह विद्यार्थियों में एक सरगर्म विद्यार्थी थे, लेकिन उनका असली सार्वजनिक जीवन त्रिचूर में कॉलेज की पढ़ाई के साथ शुरू होता है। नम्बूदरियों की सामाजिक रूढ़ियाँ उन्हें बुरी लगती थीं। वैसे 'नम्बूदरी योग-क्षेम सभा' नाम की एक और सभा भी मौजूद थी, लेकिन यह बड़े-बूढ़ों की सभा थी जो वह खून लगाकर शहीद बनने से आगे बढ़ने के लिए तैयार नहीं थे। यदि समाज-सुधार का झण्डा उन्हें आगे लेकर बढ़ना होता, तो चींटी की चाल से चलने में शताब्दियाँ बीत जातीं, और शायद 'पनाला' वहीं रहता। असली गरम सुधार का बीड़ा नम्बूदरी नौजवानों ने उठाया, जिनकी सभा का नाम 'युवजन-संघम्' और पत्र का नाम 'उन्नी नम्बूदरी' हम बतला आए हैं। कॉलेज में पढ़ते हुए शंकर अपने साप्ताहिक का संपादन करते और सुधार पर जबर्दस्त लेख लिखते थे। उनके सुधार के प्रोग्राम थे–बहुविवाह बन्द करना, स्त्री शिक्षा प्रचार, परदा बंद करना, विधवा-विवाह, सभी लड़कों को घर की सम्पत्ति में अधिकार। बहु-विवाह-निषेध और उत्तराधिकार के कानून बन चुके हैं, यह कह आए हैं। शंकर और उनके साथी तरुणों को वृद्धों के कोप का भाजन बनना पड़ा, लेकिन वह उसके लिए तैयार थे।

1932 के सत्याग्रह आंदोलन में कूदकर शंकर ने नम्बूदरी जाति के एक छोटे-से क्षेत्र में अपने काम को सीमित न रखकर राजनीति के विशाल क्षेत्र में कदम रखा। उस वक्त वह यही समझते थे, कि विदेशी शासन से देश को आजाद करना चाहिए। इसके लिए गांधीजी का तरीका उन्हें पसंद था, इसे कहने की जरूरत नहीं। एक के बाद एक डिक्टेटर गिरफ्तार होते गए; जिस पर तीसरे या चौथे डिक्टेटर बनने का अवसर शंकर को मिला। शंकर की जबान रुक-रुककर चलती है। मैं कभी-कभी सोचता हूँ, यदि कहीं शंकर का हकलाना न रहता। उनकी कलम मेल की तरह नहीं बल्कि और तेज गति से चलती है–मलयालम् और अंग्रजी दोनों में। संगठन करने में तो वह कमाल करते हैं और अनपढ़ ग्रामीण केरल स्त्री-पुरुषों में रूह भर देना इनका ही काम है।

कांग्रेस डिक्टेटर बनने के लिए उन्हें तीन साल की सजा हुई। इसी वक्त केरल के वीर हाल ही में फाँसी के तख्ते से उतरे मगर अब भी जेल में बंद के. पी. आर. गोपालन् के साथ रहना पड़ा। जेल के साथियों में केरल के जन-नेता कृष्ण पिल्ले और स्वयंसेवकों के जबर्दस्त कार्यकर्ता चंद्रोत् भी थे। जिस वक्त जेलों में गांधीवादी नेता गीता और रामायण के अक्षरों के गिनने में अपना सारा समय लगा रहे थे; उस वक्त शंकर और उनके तरुण साथियों ने राजनीति और समाजवाद के गम्भीर अध्ययन का काम जारी रक्खा। उन्होंने विचारा–भारत की समस्यायें सिर्फ गोरों की जगह कालों की सरकार कायम हो जाने से नहीं हल हो सकतीं। आखिर किसानों-मजदूरों की गरीबी कैसे दूर हो सकती है, जब तक कि कितने ही कामचोर उनकी कमाई को चुराकर अपनी तोंदों को फुलाते रहें ? अंत में वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचे, कि शोषण का अंत करना होगा, समाजवाद का कायम होना ही सभी रोगों की एकमात्र दवा है।

1933 के अगस्त में अपनी मियाद को बिना पूरा किए ही शंकर छोड़ दिए गए। उन्होंने अब घूम-घूमकर राष्ट्रीयता का प्रचार शुरू किया और वह देश की आजादी का संदेश गाँवों तक में पहुँचाने लगे। ऐसे कर्मठ तरुणों का जनता में प्रभाव बढ़ना जरूरी था। 1934 में जिन तरुणों ने केरल में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी कायम

की, उनमें शंकर प्रमुख व्यक्ति थे। इसी साल प्रांतीय कांग्रेस में शंकर और उनके तरुण साथियों का प्राधान्य हो गया और शंकर खुद उसके एक सेक्रेटरी चुने गए।

सन् 1934-35 से ही शंकर ने केरल के मजदूर और किसान आन्दोलन को आगे बढ़ाया। केरल यद्यपि रैयतवारी बन्दोबस्त वाले प्रदेश में है, मगर पुश्तों से चले आते जन्मी (जमींदारों) खानदानों की यहाँ वड़ी धाक है; इसीलिए किसानों पर कई तरह के अत्याचार भी होते रहे हैं। शंकर का परिवार स्वयं एक धनी जमींदार परिवार है। लेकिन, जिस आदर्श को उन्होंने अपने सामने रक्खा है, उसमें अपने और दूसरे परिवार के धन-वैभव का वह क्यों ख्याल करने लगे ? और तब से उनका जीवन मजदूरों और किसानों के लिए लड़ने का जीवन रहा है। इस छोटी-सी जीवनी में उनके इन संघर्षों के बारे में लिखना सम्भव नहीं। पहली मजदूर हड़ताल उनकी देख-रेख में कालीकट में 1934-35 में हुई थी। कानूनन हफ्ते में काम के घण्टों को 60 से कम कर 54 कर देना पड़ा था। मालिकों ने उसी के मुताबिक मजदूरों की मजदूरी भी कम करनी चाही। मजदूर खुशी-खुशी पेट कटाना कैसे पसन्द करते ? कांग्रेस मन्त्रिमण्डल के जमाने में बिहार की तरह केरल में भी कितने ही किसानों के संघर्ष चले, जिनमें शंकर आगे-आगे रहे।

कम्युनिस्ट पार्टी में—1935 में आन्ध्र के कम्युनिस्ट नेता कॉमरेड सुंदरैय्या से शंकर और मलबार के दूसरे समाजवादियों का सम्पर्क हुआ। उसके बाद से वहाँ की समाजवादी पार्टी कम्युनिस्ट प्रभाव में रही, और आखिर में सभी कम्युनिस्ट पार्टी में चले आए। कम्युनिस्ट पार्टी गैर-कानूनी थी। 1940 में जब सरकार सभी कम्युनिस्टों को गिरफ्तार करने लगी, तो शंकर और उनके सौ से ऊपर साथियों पर वारन्ट निकला। लेकिन, उन्होंने किसानों और मजूरों में जो काम किया था, उसने उन्हें अत्यन्त जनप्रिय बना दिया था। 1940 से 42 अगस्त तक पुलिस वारन्ट लेकर दौड़ती रही, लेकिन केरल का एक-एक किसान अपने लिए मरनेवाले इन तरुणों की रक्षा को तैयार था; जिसका परिणाम यह हुआ कि पुलिस मुँह ताकती ही रह गयी। जिस वक्त शंकर और उनके साथी छिपकर रहते थे, उस वक्त भी उनके छिपने का यह मतलब नहीं था, कि वह किसी झोंपड़ी के भीतर जाकर मुर्दे बने पड़े रहें। उन्होंने जिन गाँवों और घरों में शरण ली थी—और वह बरावर बदलते रहते थे—वहाँ के रहनेवाले लोगों में जबर्दस्त राजनीतिक प्रचार किया; जिसका ही परिणाम यह हुआ, कि किसी समय केरल जो सामाजिक रूढ़ियों और हर तरह के राजनीतिक पिछड़ेपन का शिकार था, वह आज चतुर्मुखी क्रान्ति की जवर्दस्त अग्रदूत कम्युनिस्ट पार्टी का गढ़ बन गया है।

शंकर को मालूम था, कि किसी वक्त सरकार पकड़ेगी और उनकी सम्पत्ति को भी छीन लेगी। वैसे होता, तो घर के छोटे लड़के होने से, शंकर के पास सम्पत्ति ही क्या होती ? मगर नये कानून से वह अपने हिस्से को ले सकते थे। उसके छूतछात-विरोधी विचारों और कामों को देखकर उनके बड़े भाई ने 1933 में बायकाट कर दिया। इस पर अलग होने के सिवा उनके लिए कोई चारा न था। यद्यपि उनकी माँ का एक और लड़का भी था, लेकिन माँ ने अछूतों और पंचमों तक के साथ बैठकर भात खानेवाले अपने 'पतित' पुत्र ही के साथ रहना पसन्द किया। मैंने पूछा—"पुराने विचारों की नम्बूदरी माँ ने ऐसा क्यों किया ?"

"क्योंकि मैं उसका पुत्र था।"

"कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।"

और शंकर के मृदु और त्यागमय जीवन को देखकर जब बाट के बटोही भी प्यार करते हैं, तो वह तो माता ही थी।

1940 में वारण्ट निकलने से कितने ही समय पहले शंकर ने अपनी सम्पत्ति अपनी स्त्री आर्यादेवी के नाम लिख दी थी। पुलिस जब उन्हें न पकड़ पाई, तो सरकार ने उनकी सम्पत्ति पर अधिकार जमा लिया; यद्यपि ऐसा करना उसके अपने कानून के खिलाफ था। 1942 अगस्त में जब शंकर के ऊपर से वारण्ट हटा, तो उसी वक्त सम्पत्ति भी लौटाई गई। लेकिन दुनिया में वैयक्तिक सम्पत्ति नष्ट कर साम्यवाद के प्रचार करनेवाले शंकर ने सम्पत्ति अपने पास रखनी पसंद न की। पिछली बार जब भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने 30,000 रुपये जमा करने की अपील की, तो अकेले शंकर ने ही अपनी सम्पत्ति को बेचकर 50,000 रुपये पार्टी को दे दिए।

भारतीय कम्युनिस्टों में शंकर पहले 'सर्वमेधयज्ञ' करनेवाले हैं, लेकिन अब तो वह जंगल की आग बनना चाहता है, और सैकड़ों कम्युनिस्ट आज उनके दिखलाये पथ पर चल रहे हैं। कम्युनिस्ट पार्टी की नई अपील दो लाख रुपये की हुई है, मगर सिर्फ आन्ध्र की पार्टीवालों ने ही अपनी सम्पत्ति को बेचकर दो लाख देने का निश्चय कर लिया है। यू. पी. विहार के एक जिले के बरावर के मलाबार ने भी एक लाख भेजने का निश्चय कर लिया है।

छिपे रहने के समय दो वर्ष तक एक गाँव में एक कोठरी में बन्द रहना पड़ता था। जब वह वारण्ट हटने पर बाहर आए तो कितने ही महीनों तक वह एक मील से ज्यादा चल नहीं सकते थे।

हकलाने से उनकी वाणी उतना काम नहीं देती जितनी कि कलम, मगर मलवार के कर्मी उनके एक-एक शब्द का भारी मूल्य लगाकर उस कमी को दूर कर देते हैं, और साथियों के समझाने में शंकर हिचकिचाते नहीं।

शंकर की स्त्री आर्या त्रावणकोर के एक नम्बूदरी घराने की लड़की है। वह मलयालम भाषा छोड़कर और कोई भाषा नहीं जानतीं। आजकल बम्बई में रहते वह हिंदी पढ़ रही हैं। अपने पति के पीछे वह दुनिया के छोर तक जाने के लिए तैयार हैं। अपनी चार वर्ष की कन्या को देश में एक शिक्षणालय में छोड़कर वह दूर बम्बई में आईं। कहाँ वह नम्बूदरियों की दुनिया, उसकी जबर्दस्त छूतछात और रूढ़ियाँ और कहाँ कम्युनिस्ट सामूहिक परिवार की जिन्दगी, जिसमें छूतछात, धर्म-वर्ण की गन्ध तक भी नहीं।

21
क. केरलियन्

प्रमुख तिथियाँ—1913 (मेष) जन्म, 1918-23 प्रारंभिक शिक्षा, 1923-28 हाई स्कूल में, 1927 कांग्रेस वालंटियर, 1928 मैट्रिक पास, 1929-30 तंजोर संस्कृत कालेज में, 1930 नमक-सत्याग्रही, 1 मास की जेल, 1931 जेल से वाहर, 1932-33 जेल में, 1933 हरिजन-आन्दोलन में, 1934 जमींदार-विरोधी, समाजवादी, 1935 मजूरों की हड़तालें, लेखक, पार्टी-मेम्बर, 1936 जिला कांग्रेस-कमेटी के सेक्रेटरी, जेल में, 1937 दस महीने बाद जेल से बाहर, 1937-38 किसान-संघर्ष में, कविताएँ लिखीं, 1940 अंतर्धान, दिसम्बर में गिरफ्तार, मद्रास षड्यंत्र में तीन साल की सजा; 1942 अगस्त जेल से बाहर।

मलबार आज पूरी तौर से कमूनिस्टों के प्रभाव में है। भारत में यह पहला प्रान्त है, जहाँ मार्क्सवादियों ने अपने स्वार्थ-त्याग, अपनी राजनीतिक सूझ और अपने अथक परिश्रम से 40 लाख के केरल प्रांत के राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक जीवन में अद्वितीय स्थान प्राप्त किया है। इस प्रभाव का पहला प्रमाण उस वक्त मिला, जब प्रांतीय कांग्रेस कमेटी पर उनका पूरा अधिकार देखकर ऊपर के नेताओं को उसे तोड़ देना पड़ा, और निर्वाचित कमेटी की जगह उन्होंने अपने भक्तों की कमेटी ऊपर से टपका दी। केरल के किसान अपने जमींदारों (जन्मियों) से वर्षों लोहा ले चुके हैं और किसी भी कुर्बानी से पीछे नहीं हटे। केरल के मजूर पूरी तौर से संगठित हैं, दमन उनको दबा नहीं सका। केरल की स्त्रियाँ—जिनमें पहले ही से परदा नहीं था—राजनीतिक जागृति में देश की अगुआ बन रही हैं। केरल में राजनीति का कार्य ठेठ गाँवों के हृदय तक पहुँच गया है, और जनता में आत्म-चेतना के आते ही जनता की भाषा ने अपने अधिकार को संस्कृत से लदी भाषा की जगह सरल मातृभाषा को रखकर सबक सिखलाया है। उसने नये ढंग के कवि, नये ढंग के नाटककार और नये ढंग के अभिनेता पैदा किये हैं। हिन्दुस्तान के सबसे जबर्दस्त छूतछात के गढ़ की ईंटें बड़ी तेजी से गिर रही हैं। केरल की जांगर चलानेवाली जनता ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का अद्भुत आदर्श पेश किया है, और

उसके शहीदों ने अपने खूनों से उसे दृढ़ता प्रदान की है। केरलियन् इस नवीन मलबार (केरल) का सर्वप्रिय नेता है। वह उसका लेखक और सुकवि है।

केरल की चिरतरुणी सदा श्यामला भूमि के पश्चिम पार्श्व को अरब समुद्र की तरंगें चूमती हैं। इसी के तट पर मलबार जिला का चिरक्कल तालुक (तहसील) है। पेरम्बे एक बड़ी नदी है, जिसकी विशाल धारा हरियाली से ढँकी शर्करिली जमीन पर बड़े शान से बहती है। पेरम्बे की छोटी बहन पय्यनगाड़ी भी उससे थोड़ी दूर पर बहती है। इन दोनों नदियों के बीच चिरुदाडम् का दस हजार आबादी का बड़ा गाँव है। चिरुदाडम् के दो मील पूरब जंगल से ढँकी पहाड़ियाँ और दो मील पश्चिम अरब सागर है। चारों ओर कटहल, नारियल, सुपारी जैसे फलदार वृक्षों के उद्यान लगे हुए हैं।

चिरुदाडम् बड़ा गाँव जरूर है, लेकिन देखने में बड़ा नहीं लगेगा; क्योंकि मलबार में लोग अपने घरों को एक जगह नहीं, खेतों के पास बनाते हैं। चिरुदाडम् में 900 घर नायर (ब्रह्म-क्षत्र) हैं, 500 घर थीया (पासी), 100 घर नम्बूदिरी ब्राह्मण, 50 घर पोलेया (अछूत खेत-मजूर), 20 घर लोहार, 20 घर बढ़ई, 20 घर धोबी, 25 घर जुलाहे रहते हैं। ये सभी जातियाँ हिन्दू हैं। इनके अतिरिक्त कुछ मुस्लिम व्यापारी और एक कारखानादार ईसाई भी चिरुदाडम् के निवासी हैं। गाँव में एक मलयालम् पाठशाला है। यहाँ का बलियंबलम् शिवमन्दिर बहुत प्रसिद्ध है, और उसके पास बहुत भारी देवोत्तर सम्पत्ति है। यहाँ शिवजी के मेले में बहुत भीड़ होती है।

1913 के मार्च (मेष) मास में नायरवंशी कुन्निरामन् नायन (1934 मृत्यु) और उनकी पत्नी पार्वती को ज्येष्ठ पुत्र पैदा हुआ। कुन्निरामन् संस्कृत (व्याकरण, साहित्य, तर्क) के अच्छे विद्वान् थे और फलित ज्योतिष में ज्यादा गति रखते थे। नायर जाति दक्षिण में ब्राह्मण-अब्राह्मण के मिश्रण का अद्भुत नमूना है। अभी आठ-नौ साल पहले मलबार के ब्राह्मणों (नम्बूदिरियों) में छोटे भाइयों को न जायदाद में हिस्सा मिलता था और न ब्राह्मण-कन्या से शादी होती थी। उनके लिए नायर-परिवार खुले हुए थे, जहाँ जायदाद की उत्तराधिकारिणी बेटियाँ और बहनें होती थीं, लड़के नहीं। पार्वती की माँ का ब्याह इसी तरह वारनूकोड् के नम्बूदिरी ब्राह्मण सुब्रह्मंण्य के साथ हुआ था। सुब्रह्मण्य की नायर-पत्नी केरलियन् की नानी अब भी जीवित है। ब्राह्मणों की चलायी विधि के अनुसार वीर्य को नहीं रज को प्रधान मानकर पार्वती नम्बूदिरी नहीं, नायर रहीं।

यद्यपि ब्राह्मण-भिन्न जातियों में मरुमकतायम् (कन्या उत्तराधिकार) की प्रथा के अनुसार पार्वती को बाप की सम्पत्ति में उत्तराधिकार मिलना चाहिए, लेकिन ब्राह्मण इस नियम से मुक्त हैं। आखिर कानून बनाना भी तो उनके ही हाथ में था ! हाँ, नम्बूदिरी और नायर के इस रक्त-सम्मिश्रण से एक बात जरूर हुई—नायर भी संस्कृत पढ़ने की बहुत रुचि रखते हैं। स्मरण रहना चाहिए कि ट्रावनूकोर और कोचीन के महाराजा तथा कालीकट के जमोरिन् राजवंशीय नायर ही हैं।

बचपन में बालक केरलियन् का अपने माँ-बाप दोनों से बहुत प्रेम रहा। पिता ने उसमें धार्मिक प्रेम भरने की कोशिश की। अपनी उम्र के बच्चों का वह सदा नेता रहता। खेल-कूद से उसे प्रेम था। ग्रामीण कहानियाँ वह खूब सुनता था और सोने से पहले एक-आध जरूर सुन लेता। ताचोड़ी उदयनन् आदि के गीत उसे बहुत पसन्द थे। कभी-कभी वह अपने नाना (ब्राह्मण) के पास भी माँ के साथ जाता। कैसी विचित्र बात है ? नाना अपनी औरस पुत्री पर स्नेह रखते थे, अपने नाती केरलियन् को प्यार करते थे, मगर बच्चे केरलियन् को वे गोद में नहाने से पहले ही उठा सकते थे; क्योंकि शूद्र नाती को नहाने के बाद लेने से फिर नहाना पड़ता। चलते समय वे पाँच रुपये बालक के हाथ में रख देते थे। बचपन में केरलियन् इसे क्या समझता, मगर होश में आने पर नाना के प्रति स्नेह रखते हुए भी वह इसे बड़े अपमान की चीज समझता था—दोनों के बीच एक बड़ी खाई मालूम होती।

शिक्षा—पाँच साल की उम्र में केरलियन् को कुन्यमंगलम् के स्कूल में दाखिल कर दिया गया। वहाँ वह छै साल तक मलयालम् पढ़ता रहा। साथ ही पिता ने कुछ फलित ज्योतिष भी सिखलाया। कडम्बूर में माँ और उसकी बहनों की सम्पत्ति थी—उत्तराधिकार तो लड़कियों को मिलना था न ! हाँ, नाना की सम्पत्ति नहीं, नानी और उसकी माँ और उसकी माँ की सम्पत्ति। पाँचवें दर्जे तक पढ़ने के बाद केरलियन् कडम्बूर भाग गया।

पिता सिर्फ संस्कृत पढ़ाना चाहते थे। घर में काफी जायदाद थी, इसलिए वे अंग्रेजी की पढ़ाई को बेकार समझते थे। कडम्बूर में केरलियन वहाँ के मिडिल स्कूल में भरती हो गया और एक साल तक पढ़ता रहा। कविताओं के पढ़ने और बाँचने का उसे बहुत शौक था। वह अपने क्लास में पढ़ने में सबसे तेज लड़का था।

अब वह किसी हाई स्कूल में दाखिल होना चाहता था। बहनों की सम्पत्ति का प्रबन्ध आखिर मामा को ही तो करना पड़ता है। केरलियन् ने हाई स्कूल में भरती होने के लिए मामा से फीस माँगी। मामा ने चार थप्पड़ लगाये। केरलियन् चुप रहा। मगर उसकी आँखों से आँसू बह रहे थे। मामा के चेहरे पर भी खेद की रेखा खिंच आई और उसने कहा—"जा, कहीं पढ़, हम फीस देंगे।" केरलियन् ने अब पेय्यनूर के हाई स्कूल के दूसरे फार्म (छठवाँ भाग मैट्रिक है) में नाम लिखाया। पेय्यनूर नदी-पार था; इसलिए उसे अपने साथियों के साथ परेम्बा को नाव से पार करना था। गाँव के चालीस-पचास लड़के पढ़ने जाते थे, इसलिए दो मील की यात्रा और उसमें नाव से नदी पार होना भी मनोरंजक खेल-सा था। चिरुदाडम् के कितने ही अछूत लड़के भी पेय्यनूर पढ़ने जाया करते थे। केरलियन् अपने दल का सरदार था, उसने कहा—"यह बुरी बात है कि हम सभी स्कूल में पढ़ने जाते हैं और पोलेया (अछूत) बच्चे हमारी नाव से नहीं, दूसरी नाव से नदी पार हों।" उन्होंने उन लड़कों को जाकर कहा, मगर मार खाने के डर से वे बड़ी जातवालों की नाव पर चढ़ने के लिए तैयार न थे। केरलियन् और उसके साथियों ने जबर्दस्ती लाकर नाव पर बैठाया। कितने ही नायर दूध वेचने के लिए पेय्यनूर जाया करते थे, उन्होंने अपनी नाव पर अछूत लड़कों को देखकर उनके साथ पार उतरना छोड़ दिया और उन्हें पत्थर मारने लगे। केरलियन् और उसके स्वजातीय साथियों के साथ तो वे मार-पीट कर नहीं सकते थे; क्योंकि खानदान में मार-पीट होने लगती। उन्होंने जाकर पोलेया लड़कों के माँ-बापों को धमकी दी। बिचारे गरीब खेतिहर-मजदूर डर गये। उन्होंने अपने बच्चों को स्कूल भेजना बन्द कर दिया। केरलियन् और उसके साथी नाव पर पोलेया लड़कों का इन्तजार कर रहे थे; मगर सब-के-सब गायब थे। दो-तीन दिन बाद केरलियन् को असली बात का पता लगा। बालसेना की उद्दंडता गाँव में प्रसिद्ध थी। केरलियन् ने अपनी सेना के साथ पोलेया माँ-बापों से कहा—"अपने लड़कों को स्कूल भेजोगे या चाहते हो कि हम तुम्हारी झोंपड़ियों में आग लगाकर तुम्हारे बच्चों को मारकर नदी में फेंक दें ?" पोलेया सयानों के लिए इस धमकी में मिठास भी थी, कड़वाहट भी। उन्होंने दूधवालों की धमकी की बात कही। बाल-सेना के नेता ने कहा—"जो कोई तुम्हारी ओर हाथ बढ़ायेगा, हम उसको मजा चखायेंगे।" पोलेया बूढ़ों का बूढ़े नायरों की अपेक्षा तरुणों पर अधिक विश्वास था। अब वे अपने लड़कों को फिर भेजने लगे। दूधवाले कुड़बुड़ाते रह गये, इन उद्दंड छोकरों का क्या करते ? छोकरों को इतने ही से सन्तोष नहीं हुआ। एक दिन कुछ दूधवालों को अपनी नाव में बैठा देख उन्होंने बीच धारा में जा एक ओर खिसककर नाव को ही उलट दिया। बेचारों का दूध बर्बाद हो गया। तब से उन्होंने फिर इनके साथ नाव पर बैठने का नाम नहीं लिया। अब नाव पर विद्यार्थियों का राज्य रहता, जिनमें पोलेया, थीया और नायर का भेद नहीं था। केरलियन् ने उस वक्त यह जौहर दिखलाया था, जब कि वह अभी तेरह-चौदह ही साल का था।

केरलियन् फुटबॉल का अच्छा खिलाड़ी था। बड़ी देर तक खेल खेलते रात को घर लौटता। एक दिन साँप ने काट खाया। केरलियन् ने चाकू से काटकर खून निकाल दिया और बाप को खबर तक न दी। बाप से वह बहुत डरता था।

केरलियन् के प्रिय विषय थे इतिहास और साहित्य। गणित में रुचि नहीं थी। महाभारत और भागवत के मलयालम्-काव्यों को वह बड़े शौक से पढ़ता था। समाचार-पत्रों को पढ़ता और उनमें लेख भी लिखने लगा था। कवियों में बैठकर कविता सुनने का उसे बहुत शौक था, फिर स्वयं भी कविता बनाने लगा। मंदिर और पूजा-पाठ से वह उदासीन रहता था।

हाँ, उद्दंड लड़कों को उद्दंड और मेधावी सेनानी राजनीति की ओर बिना खिंचे कैसे रह सकता था ? बाप भी काँग्रेस और गाँधीजी के भक्त थे। हाई स्कूल में उसने गाँधीजी की 'यंग इंडिया' (तरुण भारत) को खूब पढ़ा। 'हिंदू' (अंग्रेजी) को वह रोज नियमपूर्वक पढ़ता था। 1927 में पेय्यनूर में केरल राजनीतिक कांफ्रेंस

हुई, जिसमें जवाहरलाल आये थे। केंरलियन् वहाँ वालंटियर था। उसे वहाँ राजनीतिक व्याख्यानों के सुनने का अच्छा मौका मिला। राजनीति प्रिय लगने लगी। काम करना होगा, यह भी उसने मान लिया; मगर कब और कैसे का अभी निश्चय नहीं हो सका। 1928 में केरलियन् ने मैट्रिक पास किया।

संस्कृत कॉलेज में—मैट्रिक पास करने के बाद पिता ने फिर संस्कृत पढ़ने के लिए जोर दिया और केरलियन् ने 16 वर्ष की अवस्था (1929) में तंजोर के संस्कृत कॉलेज में नाम लिखाया। अध्यापक और विद्यार्थी प्रायः सारे ही ब्राह्मण थे। केरलियन जैसे कुछ थोड़े-से अब्राह्मण अब भी संस्कृत से चिपके हुए थे। अब्राह्मणों का होस्टल (छात्रावास) और उनके साथ ब्राह्मणों का बर्ताव भी अलग था। केरलियन् का साथी एक दिन कह रहा था, मीमांसक पंडित मेरे मुँह को देखकर मुँह फेर लेता है। केरलियन् के मन में आत्माभिमान जागृत हो उठता था, मगर अब वह देश-भक्त था, ब्राह्मण-अब्राह्मण-विवाद से ऊपर था। करेलियन् रघुवंश, शाकुन्तल आदि कई संस्कृत ग्रंथों को पढ़ चुका था। कॉलेज में वहाँ 'सिद्धांत-कौमुदी', 'यादवाभ्युदय' आदि ग्रंथों को पढ़ता। वह अब मद्रास विश्वविद्यालय के शिरोमणि (उपाधि) की प्रवेशिका परीक्षा देना चाहता था। केरलियन् अब कट्टर राष्ट्रीयतावादी था और खद्दर का जबरदस्त भक्त। एक दिन खद्दर-स्टोरवालों ने केरलियन् से कहा—"जलूस निकालना है, कुछ नौजवानों को ले आओ।" केरलियन् ने अपने सहपाठियों को पट्टी पढ़ाई और सब झंडा लिये उसके साथ जलूस में शामिल हो गये। कॉलेज के सुपरिन्टेन्डेन्ट को देखकर दूसरे लड़के तो झंडा छोड़ भागने लगे, मगर केरलियन् डटा रहा। पढ़ते वक्त सुपरिन्टेंडेन्ट ने बहुत डाँटा, लेकिन केरलियन् रोब में आनेवाला नहीं था। अब कॉलेज के मुर्दा वायुमंडल से उसका दिल ऊब गया और साल-भर की पढ़ाई के बाद वह घर चला गया।

घर में चुपचाप बैठे रहने से अच्छा है कुछ लिखना-पढ़ना चाहिए, यह सोच केरलियन् वेल्लीकोट की विज्ञानदायिनी संस्कृत-पाठशाला में चला गया और वहाँ तीन-चार महीने रहा। काम था कुछ पढ़ा देना। यहाँ पर कुन्नीरामन नम्बियर अंग्रेजी के अध्यापक थे। वे नमक-सत्याग्रह में भाग लेना चाहते थे। केरलियन् ने भी भाग लेने की इच्छा प्रगट की।

राजनीतिक क्षेत्र में—नम्बियर् और केरलियन् कालीकट गये। नमक बनाया, पुलिस की लाठियाँ खाईं और नौ महीने की सजा ले कनानूर जेल में चले गये।

केरलियन् की उम्र इस समय 17 साल की थी। अभी उसे गाँधी और संस्कृत के राज्य से बाहर का पता न था। जेल में उसने कुछ हिन्दी पढ़ी। आतंकवादी विचारों से कुछ प्रभावित हुआ।

नौ महीने बाद गाँधी-इरविन समझौते के बाद केरलियन् जेल से छोड़े गये। पिता ने खुद सत्याग्रह के लिए आज्ञा दी थी, इसलिए उनके नाराज होने का सवाल न था। अब (1931 में) केरलियन् कांग्रेस के काम में जुट पड़े। सारे चिरक्काल तालुका में घूम-घूमकर उन्होंने व्याख्यान दिया और कांग्रेस के मेम्बर बनाये। साल-भर इसी तरह काम में लगे रहे। 1932 में गाँधीजी की गिरफ्तारी की खबर सुनी। कनानूर में व्याख्यान दिया। के. पी. गोपालन् और विष्णु भारतीय के साथ केरलियन् भी गिरफ्तार हो गये। जेल में जाने पर उनकी के. पी. गोपालन् और कृष्ण पिल्ले से भेंट हुई। गोपालन् और कृष्ण पिल्ले के अतिरिक्त मलबार के जेलों में बंद कुछ बंगाली राजबन्दियों से मिलने का अवसर मिला, जिनसे उन्हें समाजवाद का पता लगा। केरलियन् ने देखा कि एक और भी पथ है, जिससे आजादी प्राप्त की जा सकती है, और देश को ज्यादा सुखी बनाया जा सकता है। केंरलियन् ने यहीं पर पहले-पहल रामकृष्ण पिल्ले लिखित मार्क्स की जीवनी पढ़ी। गोर्की की 'माँ' को पढ़ा। कमूनिस्ट-घोषणा को देखा। गाँधीवाद का प्रभाव खतम हो गया, समाजवाद की जरा-जरा छींटें पड़ीं; लेकिन आतंकवाद का रंग गहरा चढ़ गया। केरलियन् ने दिल्ली के आतंकवादी शहीद मास्टर अमीरचंद्र की जीवनी मलयालम् भाषा में लिखी। सीलोन के एक मलयालम् पत्र ने उसे छापा। 13 साल की उम्र में केरलियन् ने पहली कविता (कहाँ से आये कहाँ है जाना) लिखी थी, अब उन्होंने कई कविताएँ लिखीं। चीन की कूमिनूतांग का इतिहास लिखा जो 'मातृभूमि' पत्र में छपा। सुरेन्द्र बनर्जी आदि कई नेताओं की छोटी-छोटी जीवनियाँ भी लिखीं।

1933 में केरलियन् जेल से वाहर आये। 'एइत उच्चाडन' नाम की एक अछूतोद्धार कमेटी कायम की। के. पी. आर. गोपालन्, के. पी. गोपालन् और विष्णु भारतीय के साथ काम करते थे। मलवार में अछूतोद्धार के आन्दोलन ने बहुत जोर पकड़ा। गुरुवयूर में सत्याग्रह छिड़ने की जबर्दस्त तैयारी हुई। केरलियन् भी आन्दोलन में सारी शक्ति लगा रहे थे।

1934 में पहुँचते-पहुँचते केरलियन् को ख्याल आने लगा कि जमींदारी प्रथा बहुत-सी बुराइयों की जड़ है। उसने जमींदारों (जन्मियों) का विरोध शुरू किया। पिता भी छोटे-मोटे जन्मी थे। वे क्यों पसन्द करने लगे। इस वक्त तक केरलियन् का धर्म और ईश्वर से विश्वास उठ चुका था। वह 'युक्तिवादी' को मँगाकर पढ़ा करता था। बाप ने एक दिन देख लिया। कुछ अंकों को पढ़कर कहा–"पढ़ो, किन्तु प्रचार मत करो।" अव बाप भी 'युक्तिवादी' को पढ़ा करते थे।

इसी साल केरलियन् का शंकरन् नम्वूदिरीपाद से भी परिचय हो गया। केरलियन् ने कनानूर और कालीकट के मजदूरों में काम किया। 1934 में केरलियन् मलवार की कांग्रेस-सोशलिस्ट पार्टी का सेक्रेटरी था।

1935 में काम और आगे बढ़ा। कालीकट और तिरुपन्नानूर की मिलों के मजूरों ने हड़ताल की। कनानूर और तेलीचरी के बीड़ी मजूरों ने भी मालिकों के अत्याचार के खिलाफ काम छोड़ दिया। किसानों के कष्टों के वारे में केरलियन् ने 'मातृभूमि' में कितने ही लेख लिखे। 1934 से ही केरलियन् ने समझ लिया कि कांग्रेसी दक्षिण-पंथियों का रास्ता दूसरा है और हमारा रास्ता दूसरा। केरल के इन नये तरुणों के गुरु थे कृष्ण पिल्लै।

1934 में पिता की मृत्यु हुई। पिता पुत्र के कामों से बहुत सन्तुष्ट थे और पैसे से सहायता करते थे। माता पार्वती भी पुत्र पर प्रसन्न रहती हैं, अब उनकी एक ही इच्छा है कि मरने से पहले बहू का मुख देख लें।

1935-36 तक केरल कांग्रेस पर मार्क्सवादी तरुणों का अधिकार हो गया। इस वक्त तक उनका सम्बन्ध कमूनिस्टों से हो चुका था। कृष्ण पिल्ले साहित्य पढ़ने में सहायता करते थे। 1934 की कांग्रेस में ही केरलियन् ने कमूनिस्टों की पुस्तिकाएँ देखी थीं। उस वक्त उसने मजूरों का एक भारी जलूस भी देखा और पहली बार कमूनिस्ट नारे सुने।

अव केरलियन् ने चिरक्काल तालुका के किसानों में खूब जोर का काम शुरू किया। वे जन्मियों के जुल्मों के खिलाफ उठ खड़े हुए। एक व्याख्यान के लिए केरलियन् को गिरफ्तार कर लिया और एक साल की सजा हुई।

10 महीने बाद (1937 में) जेल से छूट। उस वक्त उसका मुख्य काम किसानों में था। काँग्रेस-मिनिस्टरी के कारण किसानों में और भी जोश आ गया था। चिरक्काल, कोट्टायम्, कासरवुड के तालुकों में खास तौर से और वैसे सारे ब्रिटिश-मलवार* (आवादी 40 लाख) में जबर्दस्त किसान-संघर्ष चल रहा था। केरलियन् और उसके साथियों को खाने-नहाने के लिए समय निकालना मुश्किल था। अब वे पार्टी के मेम्बर थे और पार्टी के जीवन ने उन्हें गंभीर सूझ ही नहीं, जबर्दस्त शक्ति प्रदान की थी। केरलियन् ने किसानों के लिए कितनी ही कविताएँ लिखीं। 'प्रभातम्' में छापने के लिए जयप्रकाशनारायण ने मसानी का एक लेख भेजा था। सोवियत-विरोधी लेख देखकर केरलियन् ने नहीं छापा। जयप्रकाश ने मलवार आने पर पूछा कि क्यों नहीं छापा। केरलियन् ने कहा–"सोवियत पर प्रहार करते हुए समाजवाद की बात करना है 'मुँह में राम बगल में छूरी'।"

लड़ाई शुरू हुई। 1940 में सरकार ने कमूनिस्टों की धर-पकड़ शुरू की। केरलियन् अन्तर्धान हो गया और दिसम्बर (1940) में ही पुलिस के हाथ पड़ सका। सरकार ने मोहन कुमार मंगलम्, राममूर्ति आदि के साथ केरलियन् पर भी मद्रास कमूनिस्ट षड्यन्त्र मुकदमा चलाया। तीन साल की सजा (1941 में) हुई। मद्रास, अलीपुरम् और कनानूर के जेलों में रहा। मार्क्सवाद का अध्ययन और मनन, मार्क्सवादी पार्टी का संगठन, यही काम रहा।

* ब्रिटिश और रियासती सारे केरल की जन-संख्या 1 करोड़ 20 लाख है।

अगस्त 1942 में केरलियन् को जेल से छुट्टी मिली। अब फिर उसे खाने-नहाने की फुरसत न थी। अब सारे मलबार जिले में फासिस्ट-विरोधी मोर्चा बाँधने का काम केरलियन् और उसके साथियों का था। 'अन्न अधिक उपजाओ' को विज्ञापन नहीं, कार्यरूप में परिणत करना है। जनता की अन्न-समस्या को भी हल करना है। लेकिन, आज सारा मलबार उसके साथ है। केरलियन् का छोटा भाई जो खुद अध्यापक है, पाठशाला में अध्यापकों में काम करता है। तीनों बहनें (दो बड़ी) केरलियन् के पथ को अच्छा मानती हैं। केरलियन् और उसके साथियों ने मलबार में वह भूमि तैयार कर ली है, जहाँ समय आते ही प्रकृति के हाथों से सँवारा केरल का सुन्दर देश मनुष्य के हाथों से भी अलंकृत हो सुन्दरतम हो जायगा।

22

श्रीपाद अमृत डाँगे

प्रमुख तिथियाँ—1899 अक्टूबर जन्म, 1899-1906-15 बंबई में, 1906 नासिक के मराठी स्कूल में, 1907 जनेऊ, 1910-15 नासिक हाई स्कूल में, 1915 बंबई में, 1915-17 भरडा हाई स्कूल में, 1917 मैट्रिक पास, 1917-20 विल्सन कालेज में, 1918 इन्फ्लुयेंजा में मजूरों में काम—कालेज में मराठी सोसाइटी स्थापना, 'यंग कॉलेजियट' संपादन; 1917 अनीश्वरवादी, 1920 बी. ए. परीक्षा से तीन मास पहले असहयोग, 1921 राष्ट्रीय विद्यालय में अध्यापक, 1921 अगस्त 'गाँधी बनाम लेनिन' लिखा, 1922 'सोशलिस्ट' निकाला, 1924 मजूरों की हड़ताल में, 1924 कानपुर बोल्शेविक षड्यंत्र में, 1924-27 जेलों में, 1927 मई 23 जेल से बाहर, 1928 आम हड़ताल, 1929 मार्च 20 मेरठ केस में गिरफ्तार, 1933 जनवरी बारह साल की सजा, अपील में तीन साल; 1935 मई जेल से बाहर, 1936 स्वास्थ्य खराब, 1937 दिसम्बर फैजपुर में प्रस्ताव पेश किया, 1939 कांग्रेस मिनिस्ट्री के जेल में, 1940 मार्च गिरफ्तार और नजरबन्द; 1941 अप्रैल-जुलाई जेलकी जेल में, 1943 फरवरी जेल से बाहर।

जो ब्राह्मणी के गर्भ से पैदा हुआ, लेकिन अब्राह्मणी माँ की गोद में पला और उस जाति के कड़वे-मीठे अनुभवों को नजदीक से देखा। होश सम्हालते जों तिलक का शैदायी हुआ और 18 साल की उम्र में 'होमरूल' में भाग लिया। गाँधीवाद से आकृष्ट हो जिसने कॉलेज छोड़ देश-सेवा के लिए जीवन दिया, और 22 साल की उम्र में सबसे पहले मार्क्स के पास पहुँचा। जिसका सारा जीवन मजूरों की लड़ाई लड़ने में बीता और जो भारत की पार्टी की नींव की पहली ईंट बना। जिसका जीवन एक व्यर्थ का जीवन नहीं, बल्कि एक महान् आन्दोलन के जीवन का विकास है। श्रीपाद अमृत डाँगे वह पुरुष है।

अठारहवीं शताब्दी में मध्यभारत और युक्त प्रान्तों में मराठों का शासन फैला हुआ था। मराठा साम्राज्य जब छिन्न-भिन्न हुआ, तो मराठा सरदारों ने अलग-अलग कितनी ही रियासतें कायम कर लीं। झाँसी का राज्य उन्हीं में से एक था। झाँसी की वीर रानी लक्ष्मीबाई ने अंग्रेजों के खिलाफ तलवार उठाई। लड़ते-लड़ते रणक्षेत्र में उसनें अपने प्राण दिये। झाँसी का राज्य अंग्रेजों ने ले लिया और झाँसी के सरदार जहाँ-तहाँ बिखर गये। इसी भगदड़ में रघुनाथ डाँगे अपने दो भाइयों के साथ मांडोगण (अहमदनगर के पास) में आकर बस गये। मकान बनाने में जमीन से तीनों भाइयों को सोने का एक चहबच्चा मिला। एक भाई निस्सन्तान मर गया, जिसके हिस्से का सोना उन्होंने मणिकर्णिका (बनारस) में दान दे दिया। उन्होंने नासिक के आसपास कितने ही गाँव खरीदे और वे सुखी जीवन बिताने लगे। बूढ़ों के पोता रघुनाथ डाँगे आदि नासिक शहर में आ बसे। फजूलखर्ची में धीरे-धीरे सारी जायदाद बिक गई। रघुनाथ के पुत्र अमृत तीन भाई जीविका की तलाश में 1890 में बम्बई चले आये। एक भाई ने खूब रुपया कमाया। वह अपनी औरत छोड़ एक तरुण अब्राह्मण कन्या

के प्रेमपाश में वद्ध हुआ और अन्त में पागल होकर मरा। एक भाई अमृत डाँगे (मृत्यु 1920) एक छोटे-मोटे कलाकार थे, ब्रुश चलानेवाले नहीं, कैंची चलानेवाले। वह ग्वालियर-दरबार में कुछ समय तक रहे, लेकिन उन्होंने दरबार के लायक हृदय नहीं पाया था। फिर बम्वई में एक सोलीसीटर फर्म में क्लर्क हो गये। बड़े भाई के पागल हो जाने (1905) पर उनके काम को अमृत डाँगे ने सँभाला।

जन्म और वाल्य–अमृत रघुनाथ डाँगे को अक्टूवर 1899 में एक लड़का पैदा हुआ, जिसका नाम रखा गया था श्रीपाद। श्रीपाद दो वर्ष का भी नहीं होने पाया था कि माँ मर गयी और उसका लालन-पालन उसके बड़े चचा की रखेली, मगर श्रीपाद की स्नेहमयी माँ दगूताई ने किया। श्रीपाद बहुत छोटा था। वह माँ की मृत्यु का स्मरण भी नहीं कर सकता था और न उसका नाम ही उसने जान पाया। दगूताई ने चाहे श्रीपाद को अपने उदर में न पाला हो, मगर वह श्रीपाद के लिए किसी भी माँ से कम प्रेम नहीं रखती थी। श्रीपाद सचमुच उसके लिए आँखों का तारा था।

श्रीपाद उस समय वम्वई में था। 1905 के आस-पास तिलक बम्वई आये और उनके सम्मान में एक विराट् जलूस निकाला गया। छै साल के श्रीपाद ने वड़े कुतूहल के साथ उस जलूस को देखा। 1906 में श्रीपाद के पागल चचा मर गए। दगूताई ने बम्वई में रहना पसन्द नहीं किया। श्रीपाद उसका था, अमृत डाँगे भी उसके इस अधिकार को मानते थे। दगूताई श्रीपाद को ले (1906 में) नासिक चली आयी। स्टेशन के पास उसने घर लिया। दगूताई बहुत तेज मिजाज की औरत थी, पास-पड़ोस के लोग उससे दवते थे; मगर श्रीपाद के लिए उसके हृदय में अमृत भरा था। दगूताई अपने वेटे को पास में सुला कहानियाँ सुनाती। मिठाई खाने का श्रीपाद को बहुत शौक था। दगूताई लड़के को मचलते देखते ही मिठाई सामने रख देती। पिता बहुत ही भद्र पुरुष थे। पुत्र के प्रति उनका भी वहुत प्रेम था; मगर वे समझते थे कि वह दगूताई के प्रेम की तुलना में कम मूल्यवान् हैं। वे प्रतिमास पुत्र को देखने नासिक जाते और पुत्र जो माँगता दे आते। लेकिन दगूताई भी गरीव न थी। उसके लिए पति ने काफी रुपया छोड़ा था। श्रीपाद जब जरा सयाना हुआ और घर की पढ़ाई से काम चलनेवाला नहीं था, तो दगूताई ने 1906 में पुत्र को स्टेशन से एक मील पर देवलाली की मराठीशाला में दाखिल कर दिया। श्रीपाद बहुत छोटा हलका-सा लड़का था। दगूताई उसे कंधे पर बैठा शाला में पहुँचा आती और फिर बेटे को क्या खिलाना-पिलाना चाहिए इस फिकर में रहती। पहले ही दिन बूढ़े मुसलमान अध्यापक ने पूछा–"क्या पढ़ोगे ?" श्रीपाद बचपन ही से निडर था, वह झट बोल उठा–"तुम्हारी भाषा पढ़ूँगा।" पन्द्रह-बीस दिन तक मौलवी ने अलिफ-बे पढ़ाया; फिर श्रीपाद मराटी पढ़ने लगे। श्रीपाद हमेशा दर्जे में अव्वल रहता था। चौथे स्टैंडर्ड में जिला-भर में प्रथम आया था; इसलिए तीन रुपया मासिक छात्रवृत्ति मिली थी। गणित छोड़ सभी विषय उसके अच्छे थे।

श्रीपाद वैसे ही शान्त लड़का था; दुवले-पतले लड़के के लिए शान्ति की बहुत जरूरत भी थी। अध्यापक भूत-प्रेत की कहानियाँ सुनाते। श्रीपाद को वहुत डर लगता था। माँ वड़ी पूजा-पाठ करती थी, श्रीकृष्ण की मूर्ति के सामने बैठकर वह रोज कुछ घंटे विताती। लड़के की तरह माँ को भी भूत-प्रेत का वड़ा भय था। यदि श्रीपाद के पेट में मामूली दर्द भी हो जाता, तो चिन्ता में पड़ जाती और ताबीज बाँधती। आठ साल की उम्र में श्रीपाद ने ध्रुव की कथा सुनी। उसे ख्याल आया, मैं भी तो ध्रुव की तरह ही छोटा बच्चा हूँ, यदि भगवान को खोजूँ तो वे जरूर मिल जायेंगे। स्टेशन-मास्टर के लड़के के साथ श्रीपाद भगवान की खोज में निकले। मनमाड तक पहुँचे। तार पहले ही पहुँच गया था। पकड़कर नासिक पहुँचा दिये गये और ध्रुव न बन सके। उस वक्त महाराष्ट्र में भी राष्ट्रीय आन्दोलन ने जोर पकड़ा था। कुछ राजनीतिक बन्दी मालगाड़ी में बन्द 'पानी', 'पानी' चिल्ला रहे थे। उनके पैरों में बेड़ियाँ पड़ी थीं। श्रीपाद ने माँ से पूछा तो माँ ने कहा–"ये बुरे आदमी हैं।" श्रीपाद ने कहा–"नहीं, पुलिस बुरी है।" एक बार बम्बई के लाट नासिक आनेवाले थे। सवारों ने चारों ओर पहरा डाल दिया था और वह लोगों को सड़क के इस पार से उस पार नहीं जाने देते थे। दगूताई बच्चे को ले घर लौट रही थी, बीच ही में उन्होंने रोक दिया। दगूताई ने वहुतेरा कहा–"जाने दो, मेरा लड़का भूखा है"; मगर सवारों ने घंटे-भर रोक रखा। फिर मीलों का चक्कर काट दगूताई अपने लड़के को लेकर घर

पहुँची। पुलिस की सख्त हिदायत थी कि कोई अपनी खिड़कियों को खुली न रखेगा। एक लड़की ने खिड़की से झाँका, सिपाही ने पत्थर मारकर मुँह तोड़ दिया। आठ साल के श्रीपाद ने कहा—"माँ, पुलिस खराब है, लाट बहुत खराब है।" लेकिन पुलिस भी बहुत बलवान् है, लाट भी बहुत बलवान है, यह भी श्रीपाद जानता था। माँ से वह सुन चुका था कि देवता प्रसन्न हो वर देते हैं और वर पाने पर मनुष्य जो चाहे सो कर सकता है। ध्रुव बनने में इस बात ने भी भारी प्रेरणा दी थी।

आठ साल की उम्र (1907) में त्र्यंबक में ले जाकर श्रीपाद का जनेऊ हुआ। घर में आने पर माँ ने खाना नहीं दिया। श्रीपाद रोने लगा। माँ ने कहा—"तुम्हारा जनेऊ हो गया है, अब तुम्हें हमारे हाथ का खाना नहीं मिलेगा।" श्रीपाद और रोने लगा। माँ ने पुचकारकर कहा—"बेटा, तुम्हारी माँ मर गई है, तुम ब्राह्मण के लड़के हो और मैं अब्राह्मणी हूँ।" श्रीपाद समझता था, उसकी माँ आज बहुत कठोर हो गई है। ब्राह्मणी हो या अब्राह्मणी, वह माँ का पुत्र रहना चाहता था और माँ के हाथ का खाना छोड़ना उसे पसन्द नहीं था। मगर माँ भी किसी तरह ब्राह्मणी पुत्र को अपने हाथ का खाना खिला पाप कमाना नहीं चाहती थी। रो-धो दो-चार दिन हाथ-पैर पटककर श्रीपाद को माँ के हाथ के भोजन का आग्रह छोड़ना पड़ा। उसका खाना ब्राह्मण स्टेशन-मास्टर के घर में बनता था। लेकिन वह इसके लिए कभी तैयार न हुआ कि इतना स्नेह करनेवाली स्त्री उसकी माँ नहीं है।

माँ की देखा-देखी श्रीपाद को भी श्रीकृष्ण में दृढ़ भक्ति जग उठी। शिव की भी वह खूब पूजा करता, फूल चढ़ाता, धूप-दीप देता। इस वक्त दगूताई ने बेटे को कई कथा-पुस्तकें सुनाईं। श्रीपाद 'शिवलीलामृत' पढ़ता। शिव ने महानन्दा वेश्या का किस तरह उद्धार किया। महानन्दा वेश्या सभी वेश्याओं की तरह नये-नये ग्राहकों को स्वीकार करने के लिए मजबूर थी; लेकिन जो ग्राहक जिस समय होता, उसे वह अनन्य भाव से अपना पति समझती। एक ग्राहक उसी के सामने मर गया। महानन्दा ने अपने इस पति के लिए सती होना मंजूर किया। प्रसन्न हो शंकर ने उसे शिवलोक प्रदान किया। श्रीपाद इतना ही जानता था कि देवताओं में अद्‌भुत शक्ति होती है; इसीलिए उनसे वर मिल सकता है। श्रीपाद ने 'पांडव-प्रताप', 'कृष्ण-लीलामृत', 'हरि-विजय', 'सन्त-लीलामृत' —मराठी के पुराने काव्य-ग्रन्थों को माँ से सुना। माखनचोर श्रीपाद को पसन्द थे; लेकिन खुद दगूताई के यहाँ माखन की चोरी की, इसका पता नहीं। कंस-बध भी श्रीपाद को पसन्द आता था। वह इस फिक्र में रहता कि कैसे यह शक्ति उसे भी मिल जाये। दगूताई अब श्रीपाद को अपने हाथ का खाना नहीं खिला सकती थी। उसके सारे भक्ति-भाव में सम्मिलित होते हुए भी जब-तब दगूताई के हाथ से मिलनेवाले अंडों और मधुर मांस की याद उसे आ जाती। श्रीपाद के लिए जनेऊ क्या बला थी। अब उसे जबर्दस्ती निरामिषाहारी बनना पड़ा। यदि उसके इष्ट श्रीकृष्ण या शंकर उसे इतना ही वर दे देते कि आज से दगूताई उसकी ब्राह्मण-माँ है और अब वह उसके हाथ का खाना खा सकता है, तो श्रीपाद को बड़े-से-बड़े वर पाने से कम खुशी न होती। चचा के मरने के समय दगूताई की उम्र चालीस की थी, जब कि वह श्रीपाद को ले नासिक चली आई थी। दगूताई बहुत दबंग औरत थी। बचपन से ही श्रीपाद ने जो उसकी गोद में चिपटा रहना शुरू किया, तो तरुणाई तक वह उसे छोड़ न सका। दगूताई डरती थी कि लड़का डूब जायेगा, इसलिए श्रीपाद ने तैरना नहीं सीखा। दगूताई सोचती थी कि लड़के का पैर टूट जायेगा, इसलिए श्रीपाद ने साइकिल चलाना नहीं सीखा। श्रीपाद चाहे जितना पैसा माँ से ले सकता था। गुल्ली-डंडा जैसे गाँव के खेलों के खेलने में माँ को कोई एतराज न था।

नासिक हाई स्कूल में—मराठीशाला में पढ़ाई खतम हो चुकी थी। अब श्रीपाद को अँग्रेजी पढ़ना था। दगूताई अब नासिक स्टेशन छोड़ नासिक शहर में चली आई। एक बड़ा मकान किराये पर लिया और उसी में माँ-बेटे रहने लगे। एक साल तक घर ही पर अध्यापक रखकर दगूताई ने बेटे को अँग्रेजी पढ़ाई। फिर स्कूल में भर्ती कर दिया। अब वह ग्यारह-बारह साल का था, इसलिए श्रीपाद को कन्धे पर बैठाकर स्कूल पहुँचाने की जरूरत न थी। यहाँ भी श्रीपाद को गणित पसन्द न था। दर्जे में पहला या दूसरा नम्बर रहता था। खाने का इन्तिजाम ब्राह्मण होटल में किया गया। श्रीपाद को खेलने का मौका सिर्फ स्कूल में मिलता था। एक बार दगूताई के

सामने आ गया, तो किताब और भगवान् की भक्ति छोड़ किसी चीज में हाथ नहीं लगा सकता था। श्रीपाद अब (1913) तीसरे स्टैंडर्ड में पढ़ रहा था। धनी माँ पैसा खर्च करने के लिए तैयार थी; फिर वह चाय पीने के लिए होटल में क्यों न जाता ? मास्टर लोग इसका विरोध करते थे। कहते थे, घर से पैसा चुराकर चाय पी रहा है। माँ को मालूम हुआ तो आग-बबूला हो गई—"मेरा लड़का जरूर चाय पीने जायेगा, वह चोरी नहीं करता।" मास्टरों के साथ एक और बात के लिए भी झगड़ा होने लगा था। श्रीपाद कोट-पैंट पहनकर स्कूल जाता। ब्राह्मण मास्टर समझते थे कि यह धर्म का विरोध है, इसलिए विरोध करते। श्रीपाद कहता—"मैं बम्बई का रहनेवाला हूँ, नासिक का नहीं, जो धोती बाँधूँगा।" श्रीपाद क्रिकेट का अच्छा खिलाड़ी था। श्रीपाद को खेलने के लिए अच्छे बैट नहीं दिये गये। वह मास्टर से झगड़ पड़ा और बम्बई जाकर नये बैट और नई गेंदें खरीद लाया। उसने लड़कों की सुन्दर टीम तैयार कर ली; स्कूल की दूसरी टीमों को जिसने खेल में हरा दिया।

खेल भी उसका काफी समय ले रहा था, यद्यपि दगूताई की आँख के पीछे ही। हाँ, वह ढेर की ढेर किताबें खरीदता और उन्हें पढ़ता रहता। माँ को क्या पता था कि वह स्कूल की पढ़ाई के बाहर की पुस्तकें पढ़ रहा है। नासिक राष्ट्रीय जागृति का एक केंद्र था! जैक्सन को वहीं किसी आतंकवादी ने मारा था। श्रीपाद उस समय इसे अभिमान की बात समझता। उसकी उग्र विचारवाले लड़कों के साथ मित्रता थी और कभी-कभी उनके साथ जंगल में जाता। अब वह उस समय से सावरकर का भक्त था।

1911 में चार साथियों ने हरिनारायण आप्टे का उपन्यास 'उषः काल' पढ़ा। हृदय में देश-भक्ति की जबर्दस्त आग लग गई। चारों बम्बई आये। एक कोठरी में बंद हो प्रतिज्ञा-पत्र बनाया गया। लिखा-पढ़ी में चार घंटे लगे। प्रतिज्ञा-पत्र पर बाकायदा एक आने का स्टाम्प लगाया गया। चारों प्रतिज्ञाकारियों ने उस पर अपने-अपने हस्ताक्षर किये। एक पाँचवाँ बच्चा था, जिसने बात खोल दी। चचा ने पकड़कर पीटा और कागज को छीन लिया। श्रीपाद ने अपनी उस बाल-प्रतिज्ञा को तो निबाहा; मगर बाकी तीनों में से एक आजकल बड़े ही कट्टर राजभक्त प्रोफेसर हैं।

श्रीपाद आज की तरह ही बचपन में भी दुबला-पतला और कद में छोटा था। मगर बुद्धि तेज थी, और बुद्धि के भरोसे बड़े-बड़े लड़कों का सरदार बन जाता था। कई गुण्डे लड़के उसके हाथ में थे, फिर दूसरे क्यों न दबते ?

छठवें स्टैंडर्ड में पहुँचने पर उसका वह बाल-मित्र मर गया, जिसके साथ एक बार वह भगवान् की खोज में ध्रुव बनने जा रहा था।

एक लिखित मासिक में श्रीपाद कुछ कहानियाँ भी लिखता था। किताबें पढ़ने के लिए लोग उसके पास आते ही रहते। वह खुद भी खूब पढ़ता रहता और बाहरी दुनिया का ज्ञान रखता था।

महायुद्ध छिड़ते-छिड़ते श्रीपाद पन्द्रह साल का हो गया। 'केसरी' में वह लड़ाई की खबरें पढ़ा करता था। एक दिन 'रैनाल्ड' के उपन्यास को पढ़ते देखकर अध्यापक ने पीटा। हाँ, लड़ाई से पहले एक और भी बात हो गई थी। 14 वर्ष के होते-होते श्रीपाद काफी समझदार हो गया था, अब वह माँ के अब्राह्मणी होने की बात को मानने के लिए तैयार न था। माँ अब भी अपने और बेटे के धर्म को बचाने की कोशिश करती; मगर श्रीपाद ने अब चौके से छीनकर खाना शुरू किया। कुछ दिनों तक हायतोबा रही; मगर श्रीपाद ने खाने का रास्ता निकाल लिया। शायद माँ अब भी अपना धर्म बचाते हुए खुशी से खाना न देती थी। लेकिन जब तीसों दिन की आदत हो गई, तो माँ के हाथ स्वभावतः कुछ अधिक स्वादिष्ट भोजन बनाने लगे। माँ हर साल दो महारुद्र करती, जिसमें श्रीपाद को बैठना पडता था। अभी जब तक माँ थी, तब तक भगवान् से बगावत करना दूर की बात थी।

बम्बई में—श्रीपाद जब-तब पिता के पास बम्बई आता था। अब नासिक गामडे में उसका मन नहीं लगता था। माँ पर जोर दिया और दोनों बम्बई चले आये। भरडा हाई स्कूल में छठे स्टैंडर्ड में श्रीपाद का नाम लिखा गया। व्यायामशाला में कसरत के लिए भी जाता। अब धर्म की कथा-कहानियों से मन कुछ असन्तुष्ट होने लगा। मन को घेरने के लिए किसी अधिक शक्तिशाली चीज की जरूरत थी। अब आया वेदान्त-दर्शन। श्रीपाद

रामतीर्थ की पुस्तकों को झूम-झूमकर पढ़ता। यहाँ भी दर्जे में उसका नम्बर पहला या दूसरा रहता था।

1917 में श्रीपाद अमृत डाँगे ने मैट्रिक पास किया।

इस वक्त डाँगे 18 साल के थे और धर्म-विश्वास से दर्शन-विश्वास पर पहुँच चुके थे। कुछ राजनीतिक नेताओं में श्रद्धा के अतिरिक्त राजनीति का कोई ज्ञान न था। वह शिवाजी और तिलक के भक्त थे। जात-पाँत और छूत-छात सब खतम हो चुकी थी। कुमारी अब्राह्मण-कन्या होते भी माँ के परिणीता स्त्री न बनने के कारण डाँगे और जात-पाँत-विरोधी हो गये थे।

1917 में श्रीपाद विल्सन कॉलेज में दाखिल हुए। इतिहास और अर्थशास्त्र पाठ्य-विषय थे। लोकमान्य तिलक उस समय होमरूल का आन्दोलन कर रहे थे। श्रीपाद उसके समर्थक थे, लेकिन अभी सभाओं में स्वयंसेवक बनने के सिवाय और क्या करते ? तिलक-पक्ष की सभा को कराना और नरम दलियों की सभाओं को तोड़ना, बस वह यही अपना कर्तव्य समझते थे। इसी समय कुली-प्रथा–जिसके अनुसार लाखों भारतीय कुली बनाकर दक्षिण अफ्रीका, फीजी, ट्रीनीडाड आदि में भेजे जाकर पशुओं की जिन्दगी बिताने के लिए मजबूर किये गये थे–के खिलाफ आन्दोलन चल रहा था। तिलक और गाँधी ने सरकार को नोटिस दी कि यदि यह प्रथा बन्द नहीं की जायेगी, तो हम कुलीडिपो की पिकेटिंग करेंगे। डाँगे ने भी अपने को स्वयंसेवक के तौर पर पेश किया। पीछे सरकार ने कुली-प्रथा को उठा दिया और मामला आगे नहीं बढ़ा।

1918 में इन्फ्लुयेंजा की महामारी भारत की और जगहों की तरह बम्बई में भी भयानक रूप धारण किये हुए थी। डाँगे के देश-प्रेम ने इस समय बीमारों की सेवा के लिए प्रेरित किया और उन्होंने मजूरों के मुहल्लों को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। यहीं पर पहले डाँगे मजूरों के सम्पर्क में आये। लेकिन उस समय उनको क्या पता था कि यही उनका जीवन-क्षेत्र हो जायगा और एक दिन मजूरों का ही नेता बनना पड़ेगा। डाँगे दवा बाँटते फिरते थे। मजूर दवा लेकर नहीं खाते थे और न बीमारी ही बतलाते थे। प्लेग के दिनों की कटु स्मृति उन्हें भूली नहीं थी, जब पुलिस और सेना ने प्लेग से बचाने के बहाने जबरदस्ती उन्हें घरों से बाहर निकाल दिया और कितने ही बेपरवाही के कारण अस्पतालों में और दूसरी जगहों में जाकर मर गये। मजूर समझते थे कि बाबू लोग दवा खिला, बीमारी पूछ हमें घरों से जबरदस्ती निकलवायेंगे। डाँगे ने एक चाल निकाली। वह मजूरों के पास जाकर कहते–हम तिलक महाराज की ओर से आये हैं, हम तो उनकी दवा बाँटते हैं। मजूर ज्यादातर महाराष्ट्र और कोंकण के थे और तिलक का नाम जानते थे तथा यह भी जानते थे कि इस पुरुष ने विदेशियों से लड़ने में ही अपनी सारी जिन्दगी गँवाई। मजूरों ने सिर्फ डाँगे की ही पार्टी की दवा खाई।

इसी समय विल्सन कॉलेज में–और बम्बई में भी–पहिली विद्यार्थी-हड़ताल हुई। विद्यार्थी चाहते थे कि कॉलेज प्लेग के लिए बंद कर दिया जाय; मगर विश्वविद्यालय बन्द करने के लिए तैयार न था।

डाँगे ने इसी साल कॉलेज में मराठी-साहित्य-समिति स्थापित करवाई। अंग्रेजी कॉलेज में इस तरह की यह पहली संस्था थी। वाद-विवाद परिषद् में डाँगे पूरे तौर से भाग लेते थे और अब वक्ता बनते जा रहे थे। अगले साल तक, अब तक के मराठी-साहित्य में जो कुछ पढ़ने लायक था, डाँगे ने पढ़कर खतम कर डाला। डाँगे के पास पैसा था और उत्साह भी। उन्होंने 'यंग कॉलेजियेट' (तरुण कॉलेज-छात्र) के नाम से विद्यार्थियों का एक पत्र निकाला, जो चार महीने तक चलता रहा। इसके ज्यादातर लेख राष्ट्रीय होते थे। रूसी क्रान्ति की खबर पढ़ी जरूर, मगर अंग्रेजी के बड़े-बड़े पत्रों में। उनकी लिखावट रूसी क्रान्ति के महत्त्व को इतना दबा देती थी कि वे उस वक्त उसे समझ नहीं पाये। रौलट-आन्दोलन में डाँगे शामिल थे और छै अप्रैल 1919 को उन्होंने भी गाँधीजी के आदेशानुसार समुद्र में स्नान किया और शायद उपवास भी रखा। 1919 में डाँगे ने अपने संस्कृत प्रोफेसर के सामने मालती-माधव के सम्बन्ध में कहा–"यह वस्तुतः एक नाटक नहीं है, दो नाटक हैं, जिनके अलग-अलग दो नायक और दो नायिकायें हैं।" अध्यापक इसे हँसी में उड़ा नहीं सके।

विल्सन कॉलेज ईसाइयों का कालेज था और ईसाई-धर्म का प्रचार वह अपना जरूरी फर्ज समझते हैं। वहाँ हरएक विद्यार्थी को बाइबल-क्लास में जाना अनिवार्य था। डाँगे ने इसको लेकर आन्दोलन शुरू किया। विद्यार्थियों ने हड़ताल कर दी, जिसके लिए 12 विद्यार्थी कॉलेज से निकाल दिये गये। इस प्रकार डाँगे को विल्सन

कॉलेज छोड़ जेवियर कॉलेज में दाखिल होना पड़ा।

धर्म-विश्वास से आगे बढ़कर डाँगे वेदान्त-विश्वासी हो गये थे; लेकिन अब उस पर से भी उनकी आस्था छूटी और वे सीधे अनीश्वरवाद पर पहुँचे। उनके बुद्धि-प्रधान मस्तिष्क के लिए वेदान्त और भारतीय दर्शन भी ऋषियों के वाक्य पर श्रद्धा कर लेने के सिवाय और कुछ नहीं थे। इतिहास और राजनीतिक अर्थशास्त्र की पुस्तकों को वे बड़े मन से पढ़ा करते थे।

राजनीतिक क्षेत्र में—गाँधीजी के असहयोग की बड़ी धूम मची थी। देश की आजादी के लिये लोगों में भारी जोश उमड़ आया था। डाँगे उससे अलग रहने के लिए तैयार न थे। 1920 के आरम्भ ही में पिता का देहान्त हो चुका था और कुछ ही दिनों बाद बहन ने उन्हीं का अनुगमन किया। डाँगे परिवार से अब मुक्त थे। दिसम्बर में बी. ए. की परीक्षा के सिर्फ तीन मास रह गये थे, जब कि डाँगे कॉलेज छोड़कर राजनीतिक क्षेत्र में कूद पड़े। वम्बई में जबरदस्त हड़ताल हुई थी और एक हजार विद्यार्थी कॉलेजों को छोड़ आये। डाँगे का मानसिक विकास इतना हो चुका था कि वह न चरखा से स्वराज्य लेने पर विश्वास करते थे और न अहिंसा को ही राजनीतिक हथियार समझते थे। जनता जाग उठी, यह उनके लिए आशा की चीज थी। कॉलेजों और स्कूलों से निकले विद्यार्थियों के लिए वम्बई में राष्ट्रीय विद्यालय खुला। डाँगे चार मास तक उसमें पढ़ाते रहे।

डाँगे ने वेल्स, लान्सबरी और वर्ट्रेंड रसल की पुस्तकें पढ़ीं और मार्क्स तथा लेनिन के विचारों को कुछ-कुछ देखा। वह रूसी क्रान्ति के महत्त्व को समझने लगे और उनकी समझ में आने लगा कि समाजवाद ही देश की आजादी के लिए एकमात्र रास्ता है। यद्यपि समाजवादी ग्रन्थ पढ़ने को बहुत कम मिलते थे और लेनिन के ग्रन्थ तो और भी कम। लेकिन डाँगे को कुछ मोटा-मोटा ज्ञान हो गया था और उसी के बल पर अगस्त 1921 में उन्होंने 'गाँधी बनाम लेनिन' नाम से सौ पृष्ठ की एक अंग्रेजी में पुस्तक लिख डाली, जिसमें गाँधी और लेनिन के रास्तों की तुलना करके बतलाया कि मध्यवर्ग क्रान्ति नहीं कर सकता। क्रान्ति के वाहन मजूर और किसान ही हो सकते हैं। अभी उनके विचार कितने उलझे हुए थे, यह इसी से मालूम होगा कि पुस्तक में गीता-रहस्य की प्रशंसा की गई है—गोया मध्यवर्ग के चन्द राष्ट्रीयतावादियों के ऊपर भरोसा करनेवाले तिलक का रास्ता सारी जनता को संचालित करने में समर्थ गाँधी के रास्ते से बेहतर है।

पुस्तकों के पढ़ने में डाँगे तल्लीन रहते थे, साथ ही वह राजनीतिक हलचल से अलग नहीं रहते थे। उस साल वेल्स-राजकुमार के स्वागत के बहिष्कार में बम्बई के लोगों ने खूब जोश के साथ भाग लिया था। डाँगे भी उनके साथ थे। पार्सी और एंग्लो-इंडियन तरुणों ने बहिष्कार करनेवालों पर पहिले गोलियाँ चलाईं और गाँधीजी ने 'बम्बई के गुण्डों से' नामक लेख लिखकर देश-भक्तों की निन्दा की। डाँगे को यह बात बहुत बुरी लगी और वह गाँधी के रास्ते के विरोधी बन गये। उसी साल बम्बई में ट्रेड-यूनियन कांग्रेस की स्थापना हुई। डाँगे भी उसमें गये।

1922 के प्रारम्भ में बड़ी बहन और माँ दगूताई भी चल बसीं। अब डाँगे के लिए परिवार का कोई बन्धन नहीं रह गया था। पैसा पास में था। अगस्त में उन्होंने 'सोशलिस्ट' नाम से एक अंग्रेजी साप्ताहिक निकाला, जो मार्च 1926 तक चलता रहा। मराठी में 'इन्दु-प्रकाश' (दैनिक गुजराती) को लोटवाला नामक एक सज्जन ने खरीद लिया, जिसमें समाजवाद पर लिखने का काम डाँगे को दिया गया था। इस समय उन्हें विदेश में छपे कमूनिस्ट और 'इम्प्रेकोर' पत्र भी मिलते थे और उनके विचार ज्यादा स्पष्ट होते जा रहे थे।

मजूरों में—1924 में बम्बई के मजूरों ने बोनस के लिए हड़ताल कर दी। बगल के एक प्रेस में मिल-मालिकों की नोटिसें छपती थीं, जिनमें मजूरों के खिलाफ खूब लिखा जाता था। डाँगे लेबर प्रेस के स्वामी थे। वह मिल-मालिकों की झूटी-झूठी बातों का खंडन करने लगे। नोटिस लिखकर अपने प्रेस से छापना शुरू किया और चार-पाँच साथियों को मजूरों में सभा करने के लिए भेजा। यहाँ से आरम्भ हुआ डाँगे का मजूरों में काम। लेकिन वह इससे अधिक नहीं कर सके।

पहिली बार जेल में—रूसी क्रान्ति और बोल्शेविक विचारों से दुनिया की सभी पूँजीवादी सरकारें घबड़ा रही थीं। हिन्दुस्तान में अभी इन विचारों का प्रचार भी बिल्कुल आरम्भिक अवस्था में था; लेकिन सरकार ने चाहा

कि उन्हें समय से पहले ही दबा दिया जाय। मार्च 1924 में डाँगे को गिरफ्तार कर लिया गया और मुजफ्फर, उसमानी और नलिनी गुप्त के साथ कानपुर में उन पर बोल्शेविक-षड्यन्त्र-मुकदमा चलाया गया। कर्जन विलायत में सोवियत के साथ किसी तरह के समझौते के खिलाफ सारी ताकत लगा रहा था। वह यह कहकर ही लोगों को भड़का रहा था कि हमारे साम्राज्य में रूसी बोल्शेविक गड़बड़ी पैदा करना चाहते हैं। इसका प्रमाण चाहिए था। प्रमाण देने के लिए कानपुर में बोल्शेविक-षड्यन्त्र-मुकदमा खड़ा किया गया। गाँधी का आन्दोलन असफल हो गया था। निराश देशभक्त कहीं बोल्शेविकों का रास्ता न ले लें, इसलिए इस मुकदमे को चलाना सरकार ने जरूरी समझा। दो महीना मुकदमा चला और डाँगे तथा उनके साथियों को चार-चार साल की सजा हो गई।

1924 से 1927 तक डाँगे कानपुर और सीतापुर के जेलों में रहे। वहाँ राजनीतिक पुस्तकों के पढ़ने का कोई सुभीता न था; बल्कि पहले की पढ़ी बातें भी भूल-सी जाने लगीं। हाँ, हिन्दी बोलने का उन्हें मौका मिला और आगे वह बड़े उपयोग की चीज साबित हुई। इन्होंने उस समय पारसी की पुस्तकें, 'गुलिस्ताँ', 'बोस्ताँ', 'अनवार सुहेली' और हाफिज के ग्रन्थों को पढ़ा। अंग्रेज आई. सी. एस. अफसर ने भास के नाटकों को दिया। सीतापुर में काकोरी के अभियुक्त रामप्रसाद 'बिस्मिल' से उनकी मुलाकात हुई। डाँगे जेल के डाक्टर के काम में सहायता करते थे और दूसरी पुस्तकों के अभाव के कारण डाक्टरी पुस्तकें भी पढ़ा करते थे।

मई, 1927 में डाँगे को सीतापुर से बम्बई पहुँचाया गया और 23 तारीख को वे जेल से छूट गये।

अब तक मजूर-किसान पार्टी बम्बई और कलकत्ता में कायम हो चुकी थी; मगर अभी मजूरों में कमूनिस्ट घुसे नहीं थे। पहली मई 1927 में 'क्रान्ति' (मराठी साप्ताहिक) निकलने लगी थी जिसके वह निरन्तर सम्पादक रहे। डाँगे भी मजूर-किसान-पार्टी में शामिल हो गये और 'क्रान्ति' में लेख लिखने लगे।

मशीनों में नये-नये आविष्कार हुए। पुराने कर्घों से महँगा कपड़ा तैयार कर बम्बई के मिल-मालिक बाजार की प्रतियोगिता में जी नहीं सकते थे, इसलिए उन्होंने कम आदमियों द्वारा ज्यादा माल पैदा करनेवाली मशीन को कारखानों में लगाना शुरू किया। कितने ही मजूरों को काम से हटाना पड़ा। मजूरों में बेकारी बढ़ी और छोटी-छोटी हड़तालें शुरू हुईं। डाँगें इन हड़तालों में भाग ले रहे थे। यहाँ से बम्बई के मजूरों में कमूनिस्टों का प्रवेश शुरू हुआ (खड्गपुर के रेलवे हड़ताल में भी डाँगे पहुँचे थे); लेकिन मजूरों की कठिनाइयों का उनको ज्ञान न था। पामदत्त की पुस्तक 'आधुनिक भारत' को पढ़कर उनको कितनी ही बातें साफ दिखाई देने लगीं; मगर अभी वह मजूरों को रास्ता दिखलाने योग्य नहीं हो पाये थे। कानपुर में इस साल 'ट्रेड-यूनियन कांग्रेस' हुई थी, जिसमें डाँगे सहायक मंत्री चुने गये।

छोटी-छोटी हड़तालों में मजूरों के पास जाने पर जब वह किसी तकुए, लूम या दूसरे यन्त्र की बात कहकर अपनी दिक्कतों को बतलाते, तो डाँगे समझ न पाते। अब उन्हें जान पड़ने लगा कि मजूरों को रास्ता बताने से पहले मिल के भीतर के जीवन तथा उसकी मशीनों की हर बात का ज्ञान होना चाहिए और उन्होंने इस जानकारी को हासिल करके ही छोड़ा।

24 अप्रैल (1928) को आम हड़ताल हुई जो चार अक्तूबर तक जारी रही। डाँगे और उनके साथियों ने पूरी शक्ति से मजूरों की मदद की। मिल-मालिकों को मजूरों की माँगें माननी पड़ीं और कटौती को बन्द करके मजूरी पूर्ववत् रखनी पड़ी। हड़ताल सफल हुई। यहाँ से सामूहिक रूपेण ट्रेड-यूनियन (मजूर सभाएँ) कायम होनी शुरू हुईं। उसी वक्त भारत में कमूनिस्ट पार्टी की बुनियाद पड़ी। अब डाँगे और उनके साथी मजूरों की दिक्कतों को समझने लगे। मजूरों के नरम दली नेता एन. एम. जोशी पहले कमूनिस्तों से भय खाते थे; लेकिन उन्होंने उनकी शक्ति को महसूस किया और देखा कि कमूनिस्ट किस तरह निर्भय हो लगन के साथ मजूरों में काम करते हैं। अब उनका भाव बदल गया।

इस समय डाँगे प्रान्तीय-कांग्रेस-कमीटी और आल-इन्डिया कांग्रेस-कमीटी के मेम्बर थे। 1927 के दिसम्बर में मद्रास-कांग्रेस होनेवाली थी। कांग्रेस में जाने से पहले डाँगे ने एक कोंकणी ब्राह्मणी तरुणी उषा से ब्याह किया। डाँगे के पिता और उषा के चचा मित्र थे। डाँगे को पहले ही से परिचय था। डाँगे ने विधवा-विवाह करके समाज के सामने अपने साहस का परिचय दिया। मद्रास-कांग्रेस में डाँगे ने स्वतंत्रता का प्रस्ताव पेश किया था।

चार फरवरी 1929 को बम्बई में हिन्दू-मुस्लिम-दंगा शुरू हो गया। आज़ादी के लिए लड़ने की जगह दोनों जातियाँ एक-दूसरे के खून की होली खेलने लगीं। डाँगे इस रोग को मजूरों में न फैलने देने की कोशिश कर रहे थे। इसी बीच वे 20 मार्च को गिरफ्तार कर लिये गये और दूसरे कमूनिस्टों के साथ उन पर भी मेरठ में कमूनिस्ट-षड्यंत्र-मुकदमा चलाया गया। जनवरी 1933 में जज ने 12 साल की सजा दी, जो अपील से तीन साल की रह गई। यहाँ उन्हें खूब पढ़ने का मौका मिला। डाँगे ने अदालत के सामने अपना वक्तव्य मजूर-सभा के इतिहास और उसकी क्रान्ति के ऊपर दिया। उन्हें कई जेलों में बदलकर रखा गया। वह मेरठ, नैनी, देहरादून, अलमोड़ा और हैदराबाद (सिन्ध) का चक्कर काटते रहे।

मई 1935 में हैदराबाद से छूटकर बम्बई आये।

1934 में मजूरों की हड़ताल असफल हुई, जिससे काम में रुकावट हुई। पार्टी को भी सरकार ने गैर-कानूनी बना दिया। इस तरह मजूरों में कमूनिस्टों का प्रभाव घट गया। लेकिन डाँगे के बम्बई पहुँचते ही गिरनी कामगर यूनियन (मजूर-सभा) के चुनाव का समय आ गया। बीच में गुण्डे और हड़ताल-तोड़क शेर बन गये थे। उन्होंने चुनाव में मनमानी गड़बड़ी करनी चाही। मगर कमूनिस्टों को मजूर अब समझने लगे थे और गिरनी कामगार के पदाधिकारी वही चुने गये, जो कि कमूनिस्टों के प्रभाव में थे। इस विजय से कमूनिस्टों का फिर मजूरों में प्रभाव स्थापित हो गया।

1936 में डाँगे का स्वास्थ्य बहुत गिर गया था। वह स्वास्थ्य के ख़्याल से पूना चले गये और मार्क्सवादी दृष्टि से इतिहास लिखने के लिए सामग्री जमा करने लगे।

दिसम्बर 1936 की फैजपुर-कांग्रेस में उन्होंने एक प्रस्ताव रखा था, जिसमें माँग पेश की थी कि एसेम्बली के लिए उम्मीदवार खड़ा करते वक्त मजूर-प्रतिनिधियों के नामजद करने का अधिकार अखिल भारतीय ट्रेड-यूनियन काँग्रेस को होना चाहिए। प्रस्ताव मंजूर नहीं हुआ। बम्बई में मजूर उम्मीदवार के खिलाफ कांग्रेस ने दूसरा उम्मीदवार खड़ा किया और कांग्रेसवालों ने चुनाव में मजूर-उम्मीदवार का विरोध किया। डाँगे ने इसके विरोध में वक्तव्य निकाला और ऑल इण्डिया कांग्रेस कमीटी से इस्तीफा दे दिया। मिनिस्ट्री के स्वीकार करने का भी उन्होंने विरोध किया।

कांग्रेस-मिनिस्ट्री कायम हो गई। उस समय डाँगे ने माँग पेश की कि चुनाव-घोषणा में कांग्रेस ने मजूरों के लिए जिन बातों का वचन दिया था, उन्हें मान लिया जाय और यह भी कहा कि जो कमूनिस्ट नजरबन्द हैं, उन्हें छोड़ दिया जाय। मिस्टर मुंशी जैसे मिल-मालिकों के जबरदस्त समर्थक बम्बई सरकार के काँग्रेसी गृहसचिव थे। वह मजूरों के लिए कुछ भी करने को तैयार न थे। दोनों हाथों से नफा बटोरते मिल-मालिकों के सामने जब मजूरों ने मजूरी बढ़ाने की माँग पेश की तो मालिकों ने उसे ठुकरा दिया। झगड़ा और आन्दोलन शुरू हुआ। मिनिस्ट्री पहले अकड़ी; लेकिन पीछे झुकना पड़ा। अधिकारी, देशपांडे तथा पाटकर को भी छोड़ना पड़ा। 1937 के अन्त में कांग्रेस-मिनिस्ट्री द्वारा नियुक्त कपड़ा-मिल जाँच-कमीटी के सामने डाँगे ने मजूरों की बातें रखीं।

गाँधीजी ने रास्ता बतलाया कि मजूरों और मालिकों में संघर्ष होने की जगह दोनों में मेल की बात होनी चाहिए, मजूरों के हड़ताल करने से झगड़ा पैदा होता है। मिनिस्ट्री ने एक कानून बनाया जिसके अनुसार मजूरों के हड़ताल करने के अधिकार के छीनने की कोशिश की गई और इस तरह के सभी झगड़ों को पंचायत के सामने रखना अनिवार्य कर दिया गया। जिस समय यह कानून कौंसिल के सामने रखा गया, उसके बाद 7 नवम्बर 1938 को विरोध प्रगट करते हुए मजूरों ने एक दिन की हड़ताल की। कांग्रेस-मिनिस्ट्री ने मजूरों पर गोली चलवाई। दो मजूर मारे गये। लेकिन, हड़ताल सब जगह रही। मिल-मालिकों की हाथ की कठपुतली कांग्रेस-मिनिस्ट्री और मिल-मालिकों के कट्टर समर्थक होम-मिनिस्टर मुंशी सारी ताकत लगाकर कमूनिस्ट पार्टी को कुचल डालने के लिए तैयार थे।

कांग्रेस-मिनिस्ट्री का बल पाकर मिल-मालिक और शेर बन गये थे। उन्होंने स्त्रियों से ज्यादा काम लेना तथा कुछ को निकाल देना चाहा। मार्च 1939 में एक मिल की मजूरिनों ने हड़ताल कर दी। मिनिस्ट्री ने मिल-मालिकों को मदद दी और हड़ताल-तोड़कों की भरती की। जब धरना देनेवाली स्त्रियाँ मिल के दरवाजों

से नहीं हटीं, तो सरकार की पुलिस ने आँसू बहानेवाली गैस छोड़ी। गाँधी-भक्त कांग्रेसियों की सरकार का दिल तो नहीं पसीजा; मगर हड़ताल तोड़ने के लिए लाये गये आदमी इस दृश्य को नहीं देख सके और वे खुद हड़तालियों की ओर हो गये। बेचारी कांग्रेस-मिनिस्ट्री और स्वनामधन्य मुन्शी ! हड़ताल के सम्बन्ध में डाँगे और गिरनी कामगार यूनियन के चार और नेताओं पर कांग्रेस-मिनिस्ट्री मुकदमा चलाने लगी। सभी मजूरिनों को काम पर ले लेने की बात मालिकों ने मंजूर की; लेकिन यह बात कार्यरूप में परिणत अक्तूबर 1939 में हुई, जब कि काँग्रेसी मिनिस्ट्री छोड़ चुके थे। यह बहुत ही प्रसिद्ध और सफल हड़ताल हुई थी। इसमें सभी मजूरिनों ने गजब की हिम्मत दिखलाई थी।

महायुद्ध छिड़ने के बाद–युद्ध के विरुद्ध 2 अक्तूबर को दुनिया की सबसे पहली युद्ध-विरोधी हड़ताल हुई, जिसमें बम्बई के नब्बे हजार मजूर शामिल हुए।

10 मार्च 1940 को दूसरे कमूनिस्ट नेताओं की तरह डाँगे भी पकड़ लिये गये और उन्हें येरवाडा भेज दिया गया। कांग्रेस सरकार द्वारा खड़ा किया मुकदमा अभी चल ही रहा था, अप्रैल में उन्हें येरवाडा से बम्बई लाया गया और जुलाई में छै मास की सजा मिली। कैद की मियाद उन्होंने नासिक जेल में काटी; फिर देवली-कैम्प में भेज दिये गये।

देवली नजरबन्दों ने अपनी तकलीफों के बारे में सरकार का कई बार ध्यान आकर्षित किया; मगर कोई सुनवाई न हुई। अन्त में उन्हें भूख-हड़ताल करना आवश्यक जान पड़ा। डाँगे वहाँ हमारे नेता थे। सरकारी अधिकारियों ने समझा कि यदि नेताओं को हटा दिया जाय तो मामला ठीक हो जायगा। उन्होंने डाँगे, रणदिवे और बाटलीवाला को देवली से अप्रैल में अजमेर-जेल में भेज दिया और जुलाई तक वहीं रखा। इस बीच कई हजार रुपये लगाकर देवली-कैम्प के भीतर एक और कैम्प-बँगला इन तीनों नेताओं के लिए बनाया गया। जुलाई में अजमेर से लाकर उन्हें उसी बँगले में रखा गया और सैनिकों का जबरदस्त पहरा तथा दूसरे प्रबन्ध इतने मजबूत कर दिये कि और नजरबन्दों को पता भी न लगने पाये कि तीनों साथी देवली-कैम्प में हैं।

अक्तूबर में नजरबन्दों ने हड़ताल कर ही डाली। जब आधे महीने भूख-हड़ताल के बाद साथी एन. एम. जोशी के बीच में पड़ने पर अक्तूबर में नजरबन्दों ने भूख-हड़ताल तोड़ दी, तो डाँगे और उनके दोनों साथियों को अन्य नजरबन्दों से मिलने का मौका दिया जाने लगा।

22 जून 1941 को जब हिटलर ने सोवियत रूस पर आक्रमण किया और तब से लड़ाई पूँजीवादियों के भीतर की लड़ाई न होकर फासिस्टों के साम्यवाद पर आक्रमण की लड़ाई हो गयी। अब प्रश्न था साम्यवादी भूखण्ड के जीवन और मृत्यु का। अब इसके साथ ही दुनिया की सभी स्वतंत्रताप्रिय जातियों का भाग्य बँधा हुआ था और हरएक कमूनिस्ट, हरएक समाजवादी और हरएक देश की आजादी चाहनेवाले का यह फर्ज हो गया था कि वह सारी शक्ति लगाकर फासिस्टों के सर्वनाश की कोशिश करे। यह बात देवली में नजरबन्द जिन तीन-चार कमूनिस्टों के दिमाग में सबसे पहले आयी, उनमें डाँगे का नाम पहला था। 22 जून को सोवियत पर आक्रमण होने का रेडियो-समाचार जैसे ही देवली में आया, वैसे ही हमारे वार्ड के इन्सपेक्टर ने हमें खबर दी। सभी के दिल पर एक भारी धक्का लगा। अब सभी इसी बात पर सोच और चर्चा कर रहे थे। खबर पाने के साथ ही मुझे तो साफ मालूम होने लगा कि फासिस्टों का विनाश अब हमारा मुख्य कर्तव्य है। शाम के वक्त मैंने दो-तीन मित्रों के सामने अपना विचार प्रगट किया, तो देखा कि वह मन-ही-मन खाँव-खाँव करने के लिए तैयार हैं। मुझे उस वक्त यह नहीं मालूम था कि उसी देवली-कैम्प में, मगर हमसे बिल्कुल अलग कर दिये गये हमारे साथी डाँगे, रणदिवे उसी तरह सोच ही नहीं रहे हैं, बल्कि अपने विचारों को वे एक निबन्ध के रूप में लिखने जानेवाले हैं। इस निबन्ध ने पार्टी की नीति के बदलने में जबरदस्त काम किया; यह सभी जानते हैं।

दिसम्बर 1941 में डाँगे को और कुछ साथियों के साथ येरवाडा जेल में बदल दिया गया।

पार्टी की नीति युद्ध के सम्बन्ध में बदल चुकी थी, तो भी गवर्नमेन्ट को आधा साल लगा यह तय करने में कि कमूनिस्ट पार्टी के ऊपर की पाबन्दी हटा ली जाय या नहीं। कितने ही कमूनिस्टों को छोड़ने के बाद

भी सरकार डाँगे और बाटलीवाला को छोड़ना नहीं चाहती थी–डाँगे जो 1928 से कमूनिस्ट पार्टी का मेम्बर और प्रभावशाली नेता है, जो मजूरों पर जबरदस्त प्रभाव रखता है। इसके लिए आन्दोलन होने लगा। सरकार पर दबाव-पर-दबाव पड़ने लगा, तब जाकर फरवरी 1943 में उन्हें जेल से बाहर आने दिया। बम्बई के मजूरों की खुशी का पार नहीं रहा। डाँगे अपने काम में फिर जुट गये। 'लोक-युद्ध' में उनकी लेखनी अपना कमाल दिखलाने लगी। 1 मई 1943 को नागपुर में अखिल भारतीय ट्रेड-यूनियन कांग्रेस के वह प्रेसीडेन्ट चुने गये। जून में पार्टी की केन्द्रीय समिति के सदस्य निर्वाचित हुए।

डाँगे की बड़ी लड़की रोजा बालसंघ की नेता है; छोटी बच्ची शैला अभी बात बनाकर ही मनोरंजन करती है।

डाँगे सुन्दर लेखक हैं–मराठी और अँगरेजी दोनों के। उन्होंने 1924 के जेल के अनुभवों पर एक छोटी-सी पुस्तक 'नरक मिल गया' (Hell Found) लिखी। युक्तप्रान्त की सरकार ने जेलों के भीतर की गन्दगी पर बहस करते हुए इस पुस्तक के कितने ही उद्धरण दिये थे। डाँगे जबरदस्त वक्ता हैं–मराठी, अंग्रेजी, हिन्दी तीनों के। डाँगे जबरदस्त विचारक हैं, और भारतीय इतिहास के व्यापक दृष्टि से मर्मज्ञ भी।

23

रामचंद्र बा. मोरे

प्रमुख तिथियाँ–1905 जून 10 जन्म, 1911-15 प्राइमरी पाठशाला में, 1915 दो छात्रवृत्तियों के साथ परीक्षोत्तीर्ण, 1915-18 पिता की मृत्यु, महाड अंग्रेजी स्कूल में, 1918 गरीबी के कारण पढ़ना छूटा, 1919 वम्वई में वोरों पर छापा लगाते, 1920 मार्कर, टिन रंगरेज, 1920 पूना में फौज में कुली, फिर दुभाषिया, 1921 पैकर-क्लर्की, 1922 दासगाँव के स्कूल मास्टर, 1924-25 कांग्रेस में काम, अम्बेडकर से परिचय; 1926 मैट्रिक में बैठनेवाले, 1927 कोलावा जिला वहिष्कृत-परिषद् के संचालक, 1928-30 दलित-आंदोलन में जवर्दस्त काम, 1930 खेड किसान-सम्मेलन, 1931 रत्नागिरि जिले में दो किसान कांफ्रेंस, 1932 वम्वई मजूर-हड़ताल में, 1933 हड़ताल में डेढ़ साल की सजा हुई, 1934 डेढ़ साल वारंट और अंतर्धान, 1936-39 किसान-आंदोलन में, 1940 वारंट अंतर्धान, 1943 जुलाई खुलकर काम।

दम्पती के साथ दो मित्र प्रसन्नता से बात कर रहे थे। पति के कृश मुख पर प्रसन्नता की रेखा बराबर बनी रही। चार-पाँच बज गये थे। हाथ में किताबों और कुम्हलाये मुँह लिये छोटे-छोटे दो बच्चे–लड़का और लड़की–घर में आये।

किताबों को उन्होंने एक ओर रखा, रसोई में जाकर हाँड़ी को टटोला। बाहर आने पर बच्चों के मुँह और उतर गये थे। दोनों मित्र दम्पती से बिदाई ले सड़क पर आये। एक मित्र ने बड़े करुण स्वर में कहा–

"तुमने देखा ?"

दूसरा मित्र–"क्या ?"

पहला मित्र–"वे दोनों बच्चे रसोई में गये, हाँड़ी ढूँढ़ी। वे दिन-भर के भूखे थे। वहाँ खाने के लिए कुछ नहीं था। निराश हो लौटे। भूख उनके शिशु-मुखों पर उछल आयी।"

दूसरे मित्र की आँखों में आँसू छलछला आये। प्रताप ने इससे अधिक क्या कष्ट सहा होगा ? इस दम्पती को कितनी ही बार दो-दो, तीन-तीन दिन तक निराहार रहना पड़ा और ऐसी अवस्था में जब कि पति एक अच्छी नौकरी पा सकता था, सैकड़ों रुपये महीने कमा सकता था, अपने और अपने बच्चों के जीवन को सुखमय बना सकता था। लेकिन, उसने जीवन के लिए एक ऊँचा आदर्श रखा है। उस आदर्श पर चलने के लिए ऐसे

कष्टों को बरदाश्त करना जरूरी है। उस आदर्श का रास्ता फूलों से होकर नहीं, काँटों से होकर जाता है।

यह आदर्श का पथिक कौन है ? यह है रामचन्द्र मोरे, जिसने अत्यन्त दरिद्र और अत्यन्त दलित महार (चमार) जाति में जन्म लिया। प्रतिभा का धनी होते हुए जिसे अपनी जाति के और लोगों की तरह पद-पद पर ऊँची जातवालों के अपमान को सहना पड़ा था। महार होने के कारण जिसके सभी रास्ते एक समय रुके हुए थे। जाति के अपमान ने उसके दिल में आग लगा दी। उसने अपनी जाति का जबरदस्त संगठन किया। अत्याचारों के खिलाफ बगावत की। डाक्टर अम्बेडकर का दाहिना हाथ बना। लेकिन उनका प्रोग्राम उसे पसन्द नहीं आया। वह अनुभव करने लगा कि सभी जाँगर चलानेवालों के उद्धार से ही महारों का भी उद्धार हो सकता है। वह अछूत-सम्मेलनों की जगह किसान सम्मेलन करने लगा। फिर मजदूरों की लड़ाइयों में कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ने लगा। उसके ज्ञान और अनुभव ने बतला दिया कि और कोई छोटा रास्ता नहीं है। मजदूरों और किसानों का राज्य ही सभी समस्याओं को हल कर सकता है। जाति की नेतागिरी का प्रलोभन सामने आया, दूसरे भी प्रलोभन आये, मगर वह किसी में नहीं फँसा। उसने महान् क्रान्ति के रास्ते को अपनाया और सभी कष्टों को फूल की तरह सहने के लिए अपने दिल को मजबूत किया।

रामचन्द्र मोरे का जन्म 10 जून 1905 को कोंकण के एक गाँव लाडवली में नाना के यहाँ हुआ। यह कोलवा जिले के महाड तालुका (तहसील) में पड़ता है। पितृग्राम दासगाँव की एक तरफ समुद्र है (नानशेटची खाड़ी) और दूसरी तरफ हरियाली से लदी पहाड़ियाँ हैं। दासगाँव में छोटे-छोटे समुद्री स्टीमर आते रहते हैं। यहाँ एक हजार परिवार बसते हैं। स्टीमर का घाट होने के सिवाय गाँव में एक प्राइमरी पाठशाला, डाकघर और एक-दो दूकानें भी हैं। लोगों की जीविका का साधन मुख्यतः खेती है। बाशिन्दों में ज्यादातर हिन्दू हैं, जिनमें भाई (धीवर) 200 परिवार हैं, कुणबी 150 परिवार तथा 250 के करीब महार (चमार) हैं। दासगाँव में 100 के करीब मुसलमान परिवार भी रहते हैं। दासगाँव के प्रथम बाशिन्दे होने से महारों को सरकार से 100 रुपया मिलता है। वे गाँव के वतनदार हैं। वतनदार का काम होता है, सभा के लिए लोगों को बुलाना, धार्मिक कृत्यों में सहायता देना। खेतों की रखवाली भी उनके जिम्मे होती है। महार पहले मुर्दा जानवरों का चमड़ा भी निकालते थे, मगर अब उनके आत्मसम्मान ने इस काम को छुड़वा दिया। इन जातियों के अतिरिक्त दासगाँव में सुनार 12 घर, साली (पटकार) 10 घर, बुरुड (वेणुकार) 9 घर, नाह्वी (हजाम) 6 घर, कुम्हार 6 घर, धोबी 5 घर, कातकरी (लकड़हारे) 5 घर रहते हैं। दासगाँव में भैरव (कालवहिरो) का एक पुराना मन्दिर है, एक छोटा-सा मारुती (महावीरजी) का मन्दिर है, आये-गयों के लिए एक सरकारी धर्मशाला है।

दासगाँव के खेतों में धान की एक फसल होती है। नागली, वरी, मुंडा, उरद, छड़वा, तूर (अरहर) भी पहाड़ के बाजुओं में हो जाती है। मक्का बहुत थोड़ा होता है। दासगाँव अधिकतर भातशेती (चावल) की खेतीवाला गाँव है। फसल वर्षा के भरोसे होती है। छुट्टी के वक्त लोग जंगल से लकड़ी काटकर बेचते हैं। कितने ही आदमी बम्बई के कारखानों में जाकर काम करते हैं। पहले सारा गाँव वहाँ के किसानों की मिलकियत थी, मगर महाजनों के चंगुल में फँस गये, कर्ज पर कर्ज चढ़ता गया और अब मालिक हैं पासवाले बहूर गाँव के मुसलमान बनिये। बारहों महीने हरे-भरे रहनेवाले पहाड़ और नीचे समुद्र की नील जलराशि, वर्षाकाल के घने श्यामल मेघ, ग्रीष्म का अल्प ताप—कोंकण के इन मनोहर दृश्यों का आनन्द लेना आज के इन भूखे किसानों के भाग्य में नहीं है।

मोरे की गरीबी उनके पिता बाबाजी शिवाजी मोरे (मृत्यु 1915) से शुरू होती है। बाबाजी जब तीन दिन के थे, तभी उनकी माँ मर गई और नानी ने पाला-पोसा। बहुत छोटेपन से ही उन्हें पेट चलाने का काम करना पड़ा। जब उनका हाथ मुश्किल से परिहथ तक पहुँचता था, तभी से उन्हें हल में जुतना पड़ा। बड़े परिश्रम से उन्होंने जीविका भर के लिए खेत प्राप्त कर लिया था; किन्तु सत्तर वर्ष की उम्र में मरने से पहले जाली कागज बनाकर किसी ने सारा खेत ले लिया और बुढ़ापे में फिर बाबाजी को खेतिहर-मजदूर बनना पड़ा। बाबाजी के दो मामा उनकी ही आयु के थे और इस परिवार ने कुछ जंगल का ठेका लिया था। कुछ पैसा पैदा किया। लकड़ी से दोमंजिला घर बनवाया। मकान के वास्तु (नींव) के लिए ब्राह्मण बुलाया गया। दूसरे ब्राह्मणों ने

उस पुरोहित के बहिष्कार के लिए एक पुस्तक लिखी–ब्राह्मण महारों की धार्मिक क्रिया करायेगा। बाबाजी के मामा के घरवालों की पदवी जोशी (विट्ठल अनन्त जोशी) थी। शायद किसी समय उनके यहाँ ज्योतिष का भी काम होता रहा। आखिर महारों को हिन्दुओं के मन्दिर में जाने का हक नहीं, पूजा और धार्मिक कृत्यों में हिन्दुओं के पुरोहितों (ब्राह्मणों) से सहायता पाने का अधिकार नहीं। जब उन्हें अपनी पूजा-अर्चा, अपना श्राद्ध-तर्पण, अपनी ब्याह-शादी किसी में भी हिन्दुओं के धार्मिक साधनों से सम्बन्ध रखने का मौका नहीं, तो सचमुच उनका अपने को हिन्दूधर्मी समझना खामखाह का है। रामचन्द्र मोरे के पिता थोड़ा-बहुत हस्ताक्षर करना ही भर जानते थे; मगर बड़े ही धार्मिक विश्वासवाले थे। उनके सप्ताह के तीन दिन व्रत-उपवास में चले जाते थे। बच्चों को वे बहुत मानते थे और कभी उन पर हाथ न छोड़ते थे। वह गाँव के भले आदमी थे।

मोरे के पिता उन्हें दस साल का ही छोड़कर मर गये, फिर अपने पुत्र के लिए कष्ट के सहने का भार भीमाबाई के ऊपर पड़ा। वे बहुत नरम दिल की स्त्री थीं और पुत्र पर बहुत स्नेह रखती थीं। 1933 में पुत्र के जेल जाने का जो आघात दिल पर पड़ा, उसे वे सह न सकीं और उसी साल उनका देहान्त हो गया। उस समय उनकी आयु पचास साल से कम थी।

रामचन्द्र का बड़ा भाई 15 वर्ष का होकर मर गया था।

बाल्य–रामचन्द्र की सबसे पुरानी स्मृति चार साल की है। उनके भाई और बहन दोनों चेचक से बीमार थे–बहन उसी बीमारी में मर गई।

बचपन में रामचन्द्र की नानी राजा-रानी, बाघ-सिंह, कुत्ते, समुद्र और पहाड़ की तरह-तरह की कहानियाँ सुनातीं। 8 साल के होते रामचन्द्र दूसरों को कहानियाँ सुनाने लगे। वह पूरे सूतपौराणिक हो गये थे। उन्होंने भूतों की बहुत-सी कहानियाँ सुनी थीं, मगर किसी भी भुतही पहाड़ी या नाले में जाने से डरते नहीं थे। बचपन से ही लोग कहते–"रामा भूत-वूत से नहीं डरता।" रामचन्द्र ने किताब में कहीं पढ़ा था कि भूत झूठा है, इसने उनकी निर्भयता में मदद की थी। घर में एक साधु रहता था, जो बहुत भक्ति-भाव की बात करता था। रामचन्द्र उसके पास बैठा करते और चलने-बोलने आदि के 120 मन्त्र सीखे।

शिक्षा–जोशी-परिवार में कुछ पढ़ने-लिखने का भी शौक था, इसलिए पाँच साल की उम्र में ही (1911) गाँव की प्राइमरी शाला में पढ़ने लगे और दस साल की उम्र तक पाँचों दर्जे पास कर गये। पढ़ने में रुचि थी। इतिहास, भूगोल, गणित सभी विषयों में अच्छे थे। जब इन्सपेक्टर स्कूल देखने आते, तो अध्यापक मोरे ~~को ही~~ पुस्तक बाँचने के लिए कहते। उनके ब्राह्मण अध्यापक मोरे को बहुत मानते थे। एक बार वे बीमार हुए, तो अध्यापक ने अछूत के घर में आने का भी परहेज नहीं किया।

रामचन्द्र को खेलने का खूब शौक था। पहाड़ी जंगल में वह लड़कों के साथ फल जमा करने के लिए चले जाते। रामचन्द्र को किसी ने कभी गाली देते नहीं सुना। लड़के जब उन्हें गाली देते, तो वे मारते जरूर, मगर गाली का जवाब गाली में नहीं देते। पिता और साधु की देखा-देखी रामचन्द्र में भी धार्मिक श्रद्धा जग गई थी। वे भगवान् से डरते और देवताओं की पूजा करते, शनिवार और सोमवार को उपवास रखते। पिता के मरने के बाद रामचन्द्र की परीक्षा हुई, जिसमें वे पास ही नहीं हुए, बल्कि उन्हें दो छात्रवृत्तियाँ भी मिलीं। अब वह मिडिल में पढ़ने के लिए महाड एंग्लो वर्नाक्यूलर स्कूल में चले गये। महाड दासगाँव से पाँच मील है। रोज आना-जाना नहीं हो सकता था, इसलिए महाड से 1½ मील पर लाडवली में अपने मामा के घर रहने लगे। वहाँ से रोज पढ़ने जाया करते थे। लाडवली में ही वस्तुतः रामचन्द्र का जन्म भी हुआ था। लेकिन पिता का घर दासगाँव था। रामचन्द्र अपने जिले में अँग्रेजी पढ़नेवाले पहले महार लड़के थे। दोनों छात्रवृत्तियों में रामचन्द्र को पाँच रुपये मिलते थे। इसी से माँ, बहन और अपना गुजर चलाते थे। छात्रवृत्ति सिर्फ तीन साल के लिए मिली थी। तीन साल के बाद वह बन्द हो गई। भूखे मरने लगे। पढ़ना बन्द करना पड़ा।

बाप के मामा के परिवार के तीन-चार आदमी शालाओं में अध्यापक थे, जो सभी रामचन्द्र के काका (चाचा) लगते थे। एक बार एक चाचा मोरे को अम्बेडकर के पास ले गये। उन्होंने लड़के को उत्साहित किया। अम्बेडकर उस समय पढ़ने के लिए विलायत जा रहे थे। लेकिन सिर्फ उत्साह देने से ही काम थोड़े ही चलता

है। पढ़ाई छोड़ मोरे 13 साल की उम्र में अब काका की खेती देखने लगे। एक काका ने अपनी लड़की सीता से रामचन्द्र की शादी भी कर दी। एक साल तक वे घर ही में रहे। लड़ाई चल रही थी। महारों की सेना तैयार की गई थी। मोरे भी जाना चाहते थे। भरती होती या न होती, यह बात तो अलग थी, लेकिन घरवालों ने वहाँ जाने से रोक दिया। 1919 का समय था। लड़ाई बन्द हो गई थी। पढ़ने के लिए बेकरार रामचन्द्र अपने उस जीवन से सन्तुष्ट न थे। उसी समय बम्बई से एक आदमी आया। उसने कहा–बम्बई में जाने से वहाँ रामचन्द्र को चालीस रुपये की नौकरी आसानी से मिल जायगी।

रामचन्द्र उसके साथ बम्बई आए। लेकिन वहाँ कौन नौकरी के लिए पूछता। दो-चार दिन इधर-उधर टक्कर मारने के बाद पेट चलाने के लिए कोई काम करना जरूरी समझा। देखा, जहाज के गोदाम में लोग बोरे ढो रहे हैं। 1 पैसे में तीन बोरा इधर से उधर हटाना पड़ता था। काम ज्यादातर शाम को करना पड़ता था। मोरे प्रति दिन चार आने से आठ आने तक कमा लेते।

काम कुछ ज्यादा कठिन था, इसलिए कुछ दिनों बाद उन्होंने हलका काम शुरू किया। रेलवे स्टेशन के बाहर खड़े रहकर मुसाफिरों का सामान ढोया करते थे। छै महीने तक यह काम चलता रहा। इसी समय उन्होंने एक मित्र को मराठी में कविता लिखी। अब बम्बई में रामचन्द्र की जान-पहचान बढ़ गई। वह 14 साल के अभी कमजोर लड़के थे, इसलिए बोझा ढोने का काम मुश्किल मालूम होता था। किसी ने जहाजों के पुराने रंग को हटाने के काम की बात बतलाई। मोरे वहाँ चले गये। काम उतना कठिन नहीं था, मगर उन्हें दस घंटा जुते रहना पड़ता था। रोज के आठ आना दस आना मिलते।

दो महीने तक उन्होंने सैनिक पिउन का भी काम किया, जहाँ उन्हें 15-16 रुपये मिलते थे। अब वे पन्द्रह साल के थे। उन्हें टीन पर फेचारा फेरने का काम मिला। वे अंग्रेजी जानते थे, इसलिए मजूरी एक रुपया रोज मिलती थी, नहीं तो 15-20 रुपया मासिक से ज्यादा न मिलती।

मोरे को बम्बई आये दो साल के करीब बीत रहे थे। वे रुपया भी कमाते थे, मगर जो भी कमाते ससुर आकर ले जाते। उन्होंने बेटी गले बाँध दी थी, इसलिए उनका यह हक था। मोरे स्वभावतः संकोची हैं। बोल नहीं सकते थे। ससुर इससे भी फायद्रा उठाते थे। मगर रह-रहकर माँ की दुरवस्था को सोचकर उनके कलेजे में टीस-सी लगती थी। भूखी माँ को एक पैसा की भी मदद किये बिना, ससुर के घर में पैसा देते जाना असह्य हो उठा। एक दिन मोरे बम्बई से गायब हो गये। ससुर को चिट्ठी लिखनी छोड़ दी। माँ यह खबर सुनकर रोती रहती। मोरे भागकर पूना आये। पूना के पास खड़की में सैनिक कारखाना है। वह कारखाने में काम ढूँढ़ने के लिए गये। एक अँग्रेज सार्जेन्ट से पूछा। 15 वर्ष के तरुण को देखकर और उसकी अंग्रेजी सुनकर सार्जेन्ट ने मदद की। मोरे को कुली का काम मिल गया। मजूरी दस या बारह आना रोज थी। सार्जेन्ट को बोली बोलने में दिक्कत होती थी, इसलिए मोरे दुभाषिया बन गये। पैक किये हुए बक्सों पर अंग्रेजी के अक्षर-चिह्न लिखने पड़ते। मोरे ने सार्जेन्ट से कहा कि ब्रुश से लिखने का काम मैं कर सकता हूँ। उन्हें वह काम मिल गया और मजूरी भी एक रुपया रोज थी। रात के समय वह आलेगाँव के रात्रि-स्कूल में पढ़ने जाते थे। वे चाहते थे रात में पढ़कर मैट्रिक पास कर लें। इसी वक्त लोकमान्य तिलक के मरने की खबर मिली। मोरे अखबार पढ़ा करते थे और उनमें राष्ट्रीय भावना भी मौजूद थी। वह बाल, लाल, पाल–इस त्रिमूर्ति को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। किसी ने कहा–तिलक के दर्शन के लिए पूना से स्पेशल गाड़ी छूट रही है। मोरे ने बिना छुट्टी लिये ही बम्बई को प्रस्थान किया। बम्बई आने पर मालूम हुआ कि क्रिया-कर्म कभी का खतम हो चुका है। लौटकर खड़की गये तो मालूम हुआ–नौकरी नहीं मिल सकती।

ससुर के एक भाई वहाँ पहुँच गये। उनके साथ घर बम्बई चले आये। बंबई में भी काम नहीं मिला, फिर दासगाँव पहुँच गये।

पढ़ाई छोड़ने के बाद कुछ दिनों तक ससुर के चार भाई अध्यापकों के छुट्टी लेने पर मोरे बदले में पढ़ाने का काम पहले भी कुछ दिनों करते थे। अब उन्हें दासगाँव की पाठशाला में अध्यापकी मिली। दो साल तक (1922-24) वह दासगाँव में पढ़ाते रहे। तनख्वाह पच्चीस रुपया थी, जो मिलते ही ससुर के हाथ चली जाती।

मोरे अब भी माँ की कोई मदद नहीं कर सकते थे। यह ससुर के मर्जी पर था कि माँ को कुछ दें। मोरे का चित्त फिर असन्तुष्ट हो गया।

1924 में मोरे मामा के घर चले गये और माँ और बहन के साथ वहीं रहने लगे। मामा भलेमानुस थे। ससुर से मैट्रिक पास करने का बहाना करके आये थे।

महाड में आकर इन्होंने कांग्रेस की ओर से अछूत बालकों के लिए एक स्कूल खोला। कांग्रेसवाले दस रुपया महीना देते थे। उसी में वे तीनों व्यक्तियों का गुजर करते थे। लोगों को पढ़ाते हुए वे खुद भी स्कूल में पढ़ते थे। 1924-25 के दो साल इनके महाड में बीते। एलीफिन्सटन हाई स्कूल से मैट्रिक में बैठने के लिए तैयार हुए। यहाँ मोरे ने कविताएँ लिखनी शुरू कीं। 1924 में डॉक्टर अम्बेडकर से बम्बई में मोरे की जान-पहचान हुई और वे जब-तब बम्बई आया-जाया करते थे। अम्बेडकर की नीति के अनुसार अछूतों के हितों का समर्थक 'मूक नायक' पत्र निकल रहा था। मोरे इसमें कुछ लिखा करते थे। पटवर्धन के पत्र 'अस्पृश्यता निवारक' में उनकी कवितायें छपतीं।

महाड में इसी बीच मोरे को आन्दोलन में और गहरा पड़ने की जरूरत पड़ी। मोटरवाले अपनी मोटरों में बैठाते नहीं, यह उनके लिए तकलीफ और अपमान दोनों बात थी। मोरे ने आन्दोलन उठाया और मोटरवाले को दबना पड़ा। होटलवाले भी महारों को चाय पीने के लिए भीतर नहीं आने देते थे। मोरे शिक्षित, संस्कृत तरुण थे। महाड में उन्होंने एक होटल खोला और 'मेरी मत खाओ' का आन्दोलन शुरू किया।

1926 में मैट्रिक में बैठने की तैयारी वहीं रह गई। अब वह दलित-आन्दोलन में लग गये।

दलित-आन्दोलन में—छोटे-छोटे आन्दोलनों से दलित जातियों में कुछ चेतना आने लगी। मोरे ने सोचा और अधिक लोगों तक अपने विचारों को पहुँचाने के लिए बड़ी सभा का आयोजन किया। मोरे ने घूम-घूमकर लोगों को समझाया और कोलाबा जिला बहिष्कृत परिषद् के नाम से एक बड़ा सम्मेलन डॉ. अम्बेडकर के सभापतित्व में महाड में करने का आयोजन किया। लोगों का मोरे के कामों में विश्वास हो गया था। लोगों ने चन्दा दिया और मार्च 1927 में बड़े धूमधाम से सम्मेलन हुआ। कई प्रस्ताव पास किये गये—सार्वजनिक चीजों के इस्तेमाल में बहिष्कृत (दलित या अछूत) जनता का भी अधिकार होना चाहिए। महारों को मरे ढोर का मांस नहीं खाना चाहिए। अम्बेडकर के सार्वजनिक काम का आरम्भ महाड की इस कान्फ्रेन्स से होता है। इसी कान्फ्रेन्स ने अम्बेडकर के काम को दूर-दूर तक प्रसिद्ध किया। अम्बेडकर ने घोषित किया था कि हम बहिष्कृत लोग और अत्याचारों को बरदाश्त नहीं कर सकते। अपने हकों के लिए हमारा सत्याग्रह गाँधीजी की तरह का सत्याग्रह नहीं होगा, बल्कि वह फ्रान्स की क्रांति की तरह उथल-पुथल मचानेवाला होगा।

मोरे ने बम्बई में 'समता सैनिक दल' कायम किया। 'बहिष्कृत भारत' का बहुत-सा लेख वह खुद लिखते—दूसरे-दूसरे नामों से। 'समता' और 'जनता' में भी उनके लेख निकला करते।

1928-30 के सालों में मोरे ने बहुत-से बहिष्कृत-सम्मेलन किये, और अछूतों में आत्मचेतना लाने का खूब प्रयत्न किया। उसमें काफी सफलता भी मिली। लेकिन महाड में सत्याग्रह की लम्बी-चौड़ी घोषणा करके अम्बेडकर का पीछे हट जाना मोरे को अच्छा नहीं मालूम हुआ। अब भी वह उसी रास्ते पर चले जा रहे थे। 1930 में रत्नागिरि जिले के खेड़ स्थान में दलितों की कान्फ्रेन्स की तैयारी हो रही थी। मोरे ने सलाह दी कि दलित या बहिष्कृत नाम न देकर इसे रत्नागिरि जिला शेतकरी (किसान) कान्फ्रेन्स नाम रखना चाहिए। अब मोरे को मालूम होने लगा था कि महारों के जिन मौलिक अधिकारों के लिए वह लड़ना चाहते हैं, वह सभी खेतिहरों के हैं, इसलिए इस लड़ाई में सारे किसानों को शामिल करने से हमारा पक्ष मजबूत होगा। उनका विचार तजर्बों से प्रभावित हो एक दूसरी धारा की ओर मुड़ा। अम्बेडकर कान्फ्रेन्स में नहीं आये। देवराव नायक अध्यक्ष बने।

मोरे लड़ाके आन्दोलन के पक्षपाती थे। वाक्शूर नहीं, कर्मशूर होना उन्हें पसन्द था। सत्याग्रह से अम्बेडकर को हटते देख उनकी समझ में आया—तब तो हमारा सारा आन्दोलन विधान व्यवस्था का रह गया। सरकार अपने मतलब के लिए दलितों को इस्तेमाल जरूर करना चाहती है मगर सस्ते-से-सस्ते दाम में, चन्द आदमियों को कुछ नौकरियाँ देकर। लेकिन क्या चन्द अछूतों को नौकरी मिल जाने से 9-10 करोड़ अछूतों की आज

की भयानक गरीबी और उसी के कारण उनकी हर तरह की हीन दशा को हटाया जा सकता है, नहीं। यदि सौ-पचास हजार का सवाल होता तो सरकार की नीति से शायद काम चल जाता, मगर हम करोड़ों की संख्या रखते हैं। 1928 में मोरे ने आतंकवाद की पुस्तकें पढ़ीं, फिर कमूनिस्टों के नेतृत्व में मजदूरों को हड़तालें करते देखा। उन्होंने मन में कहा—यह है वह चीज। वह 'क्रान्ति' (मराठी साप्ताहिक) भी पढ़ते जिससे भी उनकी आँखें कुछ खुलने लगीं। फिर साम्यवाद पर कितनी ही पुस्तकें पढ़ने को मिलीं जिससे ईश्वर और धर्म पर से भी उनका विश्वास हट गया—दूसरे भले ही अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए धर्म पर विश्वास करें, हमारी इस दारुण दशा में भी हजारों वर्ष से जिस धर्म और ईश्वर ने कभी सुध न ली, हम उसको क्यों मानें ?

1926 से ही मोरे अधिकतर बम्बई में रहते। खर्च के लिए पहले एक घंटा इन्डियन इंजीनियरिंग इन्स्टीट्यूट में काम करते थे, जिससे उन्हें 30 रु. मासिक मिल जाते थे। फिर वह एक दूसरी जगह एक घण्टा काम करते थे, वहाँ भी 25 रु. मिलते थे। अपने गुजारे के लिए उन्हें कितनी ही बार मराठी या इंग्लिश का ट्यूशन लेना पड़ता।

1931 में रत्नागिरि जिले में दो किसान कान्फ्रेन्स हुईं, जिनमें कोलावा में वह स्वागत-मंत्री और खेड़ में कांफ्रेंस के सभापति थे। कोलावा किसान संघ 1931 में गैरकानूनी हो गया; फिर मोरे तरुण-मजूर-संघ (बम्बई) में शामिल हो गये। यहीं मोरे का जगन्नाथ अधिकारी (डॉ. अधिकारी के छोटे भाई) और दूसरे कमूनिस्टों से परिचय हुआ। मोरे ने उन लोगों से कहा—"तुम लोग क्या शहरों में पड़े रहते हो ? हम दो साल से किसानों में काम कर रहे हैं और अभी तक तुम्हें खबर नहीं ? हमें एक मास काम करने के लिए चार आदमियों को दो।" चार आदमी दिये, मगर आठ-दस दिन में ही वे भाग आये।

अब कमूनिस्टों के संपर्क में आने पर मोरे ने ट्रेड-यूनियन (मजूर-सभा) में काम शुरू किया। इसी समय उन्होंने 'आह्वान' (साप्ताहिक) निकाला, जिसके वे खुद संपादक थे। वह कामगारों (मजूरों), शेतकरियों (किसानों) और बहिष्कृतों (अछूतों) का पत्र था। इसमें एक पृष्ठ राउंडटेबुल कांफ्रेंस में गये अम्बेडकर के बारे में होता था। समता-सैनिक दल की मदद से इसका प्रचार खूब बढ़ा, यद्यपि मोरे ने इसे 50 रु. की पूँजी से शुरू किया था। बारह अंक निकलने के बाद सरकार ने रुकावट डाली और पत्र को बन्द करना पड़ा। पत्र में कुरला स्ट्राइक पर भी लेख निकले थे। 'क्रान्ति', 'रेलवे वर्कर' में भी लेख लिखते थे। पत्र निकालने से पहले मोरे की देशपांडे और रणदिवे से मामूली जान-पहचान थी। पत्र निकालने के बाद, भारद्वाज, देशपांडे, रणदिवे, जाम्बेकर, जगन्नाथ अधिकारी के साथ अधिक घनिष्ठता हुई। साम्यवाद और मजूरों की लड़ाई के बारे में पढ़ने और जानने का ज्यादा मौका मिला। अभी पार्टी कुछ गुटों में बँटी थी। मोरे रणदिवे के साथ थे। बेकार-मजूर-सभा के वे पहले सेक्रेटरी थे। 1932 में लाल-बावटा गिरनी-कामगार यूनियन के संस्थापकों में मोरे भी थे और सुधारवादी मजूर भाइयों पर प्रहार करते थे। 1932-33 की सभी हड़तालों में मोरे ने भाग लिया था। 1933 की एक हड़ताल में उन्हें 1½ मास की सजा हुई। 1934 में पार्टी की एकता का सवाल उठा। मोरे ने एकता पर बहुत जोर दिया। उसी साल कपड़े के कारखाने में आम हड़ताल हुई और पहले ही हफ्ते में सभी नेता पकड़ लिये गये। मोरे पर भी वारंट निकला, मगर वह अन्तर्धान हो गये और छिपे रहकर हड़ताल को चलाते रहे। 1935 की हलचलों में भी वे खूब भाग लेते रहे।

1936 में किसान महासभा का पहला अधिवेशन हुआ। मोरे कोलावा जिला के किसान प्रतिनिधि के तौर पर शामिल हुए।

1937 में कांग्रेस ने मिनिस्टरी सँभाली, कोलाबा जिले के चरीगाँव के किसानों ने साहूकारों के अत्याचारों के विरुद्ध लड़ाई शुरू की। इस लड़ाई के संचालन के लिए चरी-किसान-हड़ताल-कमेटी कायम की गयी। मोरे उसके सेक्रेटरी हुए। झगड़े को मिटाने के लिए कांग्रेसी मंत्री मुरारजी देसाई को चरी आना पड़ा।

1939 में महायुद्ध आरम्भ हुआ। 1940 में दूसरे कमूनिस्टों की तरह मोरे के भी पकड़े जाने की नौबत आई और वह 7 नवम्बर को अन्तर्धान हो गये। तब से जुलाई 1943 तक उन्होंने छिपे रहकर बम्बई के मजूरों में काम किया। फिर जब वारंट हटा तो बाहर निकल आये।

मोरे को कम्यूनिज्म की ओर खींचने का काम पुस्तकों की पढ़ाई ने उतना नहीं किया जितना कि अछूत सहोदरों के ऊपर होते सामाजिक-आर्थिक अत्याचार और गरीबी ने किया। उनके अनुभवों ने वतला दिया कि अछूतों का उद्धार तो सिर्फ साम्यवाद ही से हो सकता है। जव महार स्कूल के एक व्राह्मण मास्टर कहते थे–"जब तक मेरे शरीर में प्राण है, तव तक तेरा स्पर्श नहीं करूँगा।" तो मोरे सोचते–"इतना पढ़ने-लिखने के वाद भी वह आदमी कैसे इस तरह की वात जवान से निकालता है ?" 'दूर-हो' और 'परे हट' इन शब्दों को सुनना तो उनके लिए मामूली वात थी। मोरे ने अगर चाहा होता तो डॉक्टर अम्वेडकर के अनुयायियों की तरह कोई अच्छी आमदनी का पद स्वीकार कर लिया होता। मगर उन्होंने उसकी जगह भूख और गरीवी के कंटकाकीर्ण पथ को स्वीकार किया। मोरे अगर चाहते तो अछूतों के एक स्वतंत्र वड़े नेता वन सकते थे। मगर उन्होंने सोचा कि इससे करोड़ों अछूतों की समस्या हल नहीं हो सकती। सारी ही समस्याओं का एक ही हल है। देश से वैयक्तिक सम्पत्ति उठा दी जाय और राष्ट्र की खनिज, उद्योग-धंधे, कृषि, रेलवे, वैंक तथा दूसरी सारी सम्पत्ति को चालीस करोड़ के विशाल भारतीय परिवार की मिलकियत वना दी जाय। शोषक और कामचोर वर्ग जव मिट जायगा तो काम करने में सवसे आगे अछूत प्रमुख स्थान ग्रहण करेंगे। शिक्षा-संस्कृति में वह किसी से पीछे नहीं रहेंगे और हमारे देश में भी सारे ही वर्ण-जाति के भेद मिट जायेंगे। "साम्यवाद ही एकमात्र रास्ता है" के साथ-साथ मोरे को विश्वास है कि भावी सन्तानें अवश्य साम्यवाद की शीतल छाया को अनुभव करके रहेंगी।

24

डॉक्टर गंगाधर अधिकारी

प्रमुख तिथियाँ–1898 दिसम्वर 8 जन्म, 1916 मैट्रिक पास, 1920 वी. एस-सी. पास, 1922 एम. एस-सी., 1922 अगस्त जर्मनी में, 1925 जुलाई पी-एच. डी., 1928 दिसंवर वंवई में, 1929 मार्च मेरठ षड्यंत्र में, 1933 जेल से वाहर, 1934-1937 फरवरी नजरवन्द (वीजापुर), 1937 फरवरी अन्तर्धान, 1940-42 अन्तर्धान।

"एक बड़े जर्मन फर्म में साइंस के विशेषज्ञ का पद, जिसके लिए कितने ही जर्मन साइंस-पंडित तरसते रहते हैं; फिर अपने नीचे कितने ही जर्मन साइंस-पण्डितों से काम लेना, कितने सम्मान की वात है ! और फिर बर्लिन में 480 मार्क जैसे वड़े वेतन का काम ! तुम पागल हो ! तुम भारत जाकर नाहक जेल में वन्द कर दिये जाओगे और सड़ते रहोगे।" –ये शब्द थे, जो कि एक हितैपी ने तीस वर्ष के एक तरुण भारतीय साइंसवेत्ता से वर्लिन में कहे थे।

वस्तुतः उसके पास साइंस का दिमाग था, मगर उसका साइंस का प्रेम ही उसे अपने जीवन-प्रवाह को बदलने के लिए मजवूर कर रहा था।

गंगाधर मोरेश्वर अधिकारी का जन्म पश्चिमी समुद्र-तटवर्ती कोंकण देश के पनूवेल स्थान (जिला कोलावा) में 8 दिसम्वर 1898 में हुआ था। पनूवेल गंगाधर के पिता मोरेश्वर कृष्ण अधिकारी का गाँव नहीं था, वह उनके नाना का कस्वा था और पुरानी हिन्दू-प्रथा के अनुसार लक्ष्मीवाई अपने प्रथम पुत्र को पिता के घर में जन्म देना शुभ समझती थीं। जन्म के कितने ही समय वाद बालक गंगाधर कोंकण के दूसरे स्थान हरणे (रत्नागिरि) में अपने पिता के गाँव में चला आया। बम्वई भी एक तरह कोंकण-तटवर्ती द्वीप है, लेकिन आज के इस व्यापारी महानगर में कोंकण की सुषमा कहाँ दीख पड़ती है ? एक तरफ पश्चिमी घाट की पहाड़ियों और दूसरी तरफ अपरान्त (पश्चिमी) समुद्र या अरव सागर, दोनों के वीच में कोंकण भारत के अत्यन्त मनोरम प्रदेशों में है।

इसके पहाड़ और तट वड़े हरे-भरे हैं। पहाड़ी ज़मीन है, दलदल, मलेरिया आदि का डर नहीं। इस शस्य-श्यामला भूमि में शायद कवि होना सबके लिए अनिवार्य है, इसीलिए बालक गंगाधार ने एक समय कविता की थी और वह छपी भी थी। लेकिन गंगाधर हरणे में ज्यादा नहीं रह सका। उसे चार-पाँच साल की उम्र में बम्बई चला आना पड़ा और फिर पूर्वजों के उस ग्राम को देखने का मौका नहीं मिला। उसे इतना ही याद है कि किसी बन्दर पर कुली ने उसकी माँ को कंधे पर चढ़ा एक जहाज पर बैठाया। जहाज समुद्र के किनारे-किनारे किसी अज्ञात दिशा को चला और धीरे-धीरे वह हरित तटभूमि काली दिशा में परिणत हो गई।

अधिकारी, यह मराठा साम्राज्य का शब्दावशेष है। यद्यपि मराठा राज्य की स्थापना शिवाजी ने की थी, किन्तु पीछे वह पेशवाओं के हाथ में चला गया, यह इतिहास के विद्यार्थियों को मालूम है। ये पेशवा कोंकण के थे। उनके सेनानायकों में एक वीर कायस्थ भी था, जिसे किसी युद्ध में बहादुरी के उपलक्ष्य में बाजीराव प्रथम ने अधिकारी (अफसर) या सेना-अधिकारी का पद दिया, साथ ही उसे एक बड़ी जागीर मिली। अधिकारी वंश का ठाट-बाट बिल्कुल सामन्तों जैसा था, लेकिन पेशवों के राज्य के जाने के बाद जागीर पुत्रों में बँटने लगी, ठाट-बाट ने कर्ज का बोझ लाद दिया और कुछ समय बाद अधिकारी वंश की अधिकांश जमीन या तो महाजन के हाथ में चली गई या कुछ भाइयों के हाथ में बच रही। कृष्णाजी सखाराव अधिकारी को इसी से बड़ा संतोष हुआ कि उन्हें रत्नागिरि के कलक्टर के औवल क्लर्कों में (प्रथम हेडक्लर्क तक) पहुँच जाने का मौका मिला। आखिर में उनका वेतन 75 रुपया हो गया और बुढ़ापे में उन्हें 25 रु. पेंशन मिलती थी।

कृष्णाजी ने रिश्वत नहीं ली। यह काजल की कोठरी से कालिख से बचकर निकलने-सी बात थी; क्योंकि उस वक्त अंग्रेज कलक्टर से लेकर नीचे के चपरासी तक में रिश्वत लेनी बिल्कुल आम बात थी। इसी के लिए क्राफोर्ड नाम का एक कलक्टर बर्खास्त किया गया था। कृष्णाजी का सामन्ती अभिमान भी शायद इसमें कारण हुआ। वह धर्मभीरु थे इसमें तो सन्देह ही नहीं। हाथ के बने राम के एक चित्रपट को पूजना और भजन गाना (कीर्तन) बुढ़ापे में उनका नित्य-कर्म था। दादा और पोते में बड़ा प्रेम था। दादा से राम की कहानी सुनकर पोते में भी राम की भक्ति जगी, और गंगाधर ने दादा के चित्रपट और पूजा में ही सम्मिलित रहना अपनी भक्ति के लिए तौहीन की बात समझी। उसके अपने राम थे, जिसके सामने वह अपना निज का कीर्तन करता था।

कृष्णाजी के पुत्र मोरेश्वर ने अँग्रेजी ज्यादा पढ़ी। वह बम्बई यूनिवर्सिटी के बी. ए. हुए। घर की हालत जैसी खराब थी, उसमें जल्दी नौकरी ढूँढ़ना जरूरी था। मोरेश्वर को बम्बई हाईकोर्ट में 25 रुपये की एक मामूली क्लर्की मिली। बढ़ते-बढ़ते वह 600 रुपये मासिक के असिस्टेंट सब-रजिस्ट्रार हो गये।

बम्बई में गंगाधर को दादर में रहना था। वहीं एक स्कूल में उसे भर्ती कर दिया गया। पिता ने पुत्र की शिक्षा में कोई सीधे भाग लिया, इसका तो पता नहीं लगता; लेकिन लक्ष्मीबाई ने बचपन ही में गंगाधर को शिवाजी की कथाएँ सुनाईं, गणपति के उत्सव का महत्त्व बतलाया। गंगाधर के परिवार के पास ही में एक और कायस्थ-परिवार त्र्यंबक रणदिवे का था। त्र्यंबक प्रार्थना-समाजी (बम्बई की तरफ के ब्रह्मसमाजी) थे और ईश्वर की सगुण उपासना को हतक की चीज समझते थे। –जो सहस्राब्दियों से किसी को दृष्टिगोचर नहीं हुआ, उसको सगुण या साकार कहना खतरनाक चीज है। बालक अधिकारी एक बड़ा मेधावी छात्र था, त्र्यंबक का उस पर खास तौर से स्नेह था। परिणाम यह हुआ कि त्र्यंबक की बातों को सुन-सुनकर अधिकारी का विश्वास भी साकार ईश्वर से उठ गया और वह निराकार एक ईश्वर को बुद्धि-संगत समझने लगा।

साइंस में गंगाधर की बड़ी रुचि थी। बम्बई शहर में यूरोप और अमेरिका में बालकों के लिए छपनेवाली साइंस-पत्रिकाओं के पुराने अंकों का कबाड़ियों के यहाँ मिलना आसान था। अधिकारी ऐसी पत्रिकाओं को जमा करता, उन्हें पढ़ता और प्रयोग करने की कोशिश करता। उसके चचा फोटोग्राफर थे, इससे थोड़ा और सुभीता था। उसने मैजिक लालटेन और हाथ के कैमरे बनाने को भी अपने मनोरंजन की चीज समझी। वह तरह-तरह के पत्थरों को जमा करता और उन्हें सजाकर रखता था। साइंस के अतिरिक्त जिस दूसरे विषय में उसका बहुत प्रेम था, वह थी संस्कृत। क्लास में पढ़ाई जानेवाली संस्कृत-भर में उसे संतोष नहीं हो सकता था। कुछ ही

समय के वाद जव संस्कृत के काव्य, नाटकों को वह कुछ-कुछ समझने लगा और उनमें रस मिलने लगा, तो उनका पढ़ना उसके लिए एक वड़ी दिलचस्प वात हो गई।

1916 में गंगाधर ने मैट्रिक पास किया और उसे दो छात्रवृत्तियाँ मिलीं।

मोरेश्वर कृष्णाजी अधिकारी के वेतन में कुछ वृद्धि जरूर हुई थी, मगर साथ ही साथ उनके परिवार में गंगाधर के अतिरिक्त जगन्नाथ और रघुनाथ दो और पुत्रों की भी वृद्धि हुई। इसलिए लक्ष्मीवाई को हाथ समेटकर ही परिवार चलाना पड़ता था। गंगाधर को घर में और भाइयों के साथ एक कोठरी में रहना तथा बरांडे में पढ़ना वाधादायक मालूम होता था, उसे एकान्त की जरूरत थी। अब स्कॉलरशिप मिल गई थी। बाप ने खाने का भार स्वीकार कर लिया और गंगाधार को विलसन कालेज में भर्ती के साथ-साथ वहीं होस्टल में रहने की इजाजत दे दी।

गंगाधर वचपन ही से लज्जालु था। पढ़ाई के प्रेम ने उसमें कुछ और भी वृद्धि की। शायद साइंस के विदेहों की कहानी पढ़-पढ़कर उसे भी विदेह वनने की रुचि हुई और खेल-कूद से उसने कभी वास्ता नहीं रखा। एफ. ए. में गंगाधर का विषय था गणित, भौतिक शास्त्र और रसायन शास्त्र। सारे वम्बई विश्वविद्यालय में परीक्षा में प्रथम आना वतलाता है कि गंगाधर साइंस का कैसा विद्यार्थी था। फाराडे के जीवन से वह बहुत आकृष्ट हुआ और अपने को विजली के आविष्कारक उसी महान् साइंसवेत्ता के कदमों पर चलाना चाहता था।

1920 में अधिकारी ने वी. एस-सी. पास किया और द्वितीय श्रेणी में। लड़ाई के वाद के ये राजनीतिक हलचल के दिन थे। मगर अधिकारी उससे विलकुल अछूत था। उससे एक साल पीछे के डाँगे और दूसरे तरुण उसी विलसन कालेज में जोशीले व्याख्यानों द्वारा अंगारे उगल रहे थे, विद्यार्थियों में भी बड़ी हलचल थी, मगर गंगाधर दूर से खड़ा होकर देखना भी पसंद नहीं करता था। वह समझता था उसका क्षेत्र साइंस है।

बी. एस-सी. के वाद गंगाधर मोरेश्वर अधिकारी बंगलोर के साइंस-इन्स्टीट्यूट में खोज के काम पर चले गये। उन्हें वहाँ स्कॉलरशिप दी गई। खोज रसायन-सम्बन्धी थी, जिसमें एक भारी स्फटिक वराईट से गंधक को अलग करना था। इस विषय की पुस्तकें ज्यादातर जर्मन भाषा में थीं। इसलिए अधिकारी ने परिश्रम के साथ जर्मन भाषा पढ़ी और इन्स्टीट्यूट की पुस्तकों का अच्छी तरह उपयोग किया। कृष्णाजी ने गंगाधर को रामभक्त वनाया था, त्र्यंवक रणदिवे ने साकार ईश्वर को झूठा कहकर निराकार ईश्वर का ख्याल दिलाया। बम्बई छोड़ते-छोड़ते वह ईश्वर के वारे में उदासीन हो गये और 1921 में बंगलोर में ईश्वर-विश्वास भी उन्हें मूढ़ विश्वास मालूम होने लगा। राजनीति से अव भी उनको वास्ता न था, तो भी बंगलोर इन्स्टीट्यूट की भीतरी वातों ने उन पर असर डाला। इन्स्टीट्यूट क्या था, अंग्रेज थर्ड-क्लास साइंसवेत्ताओं का पिंजरापोल था, जिसमें गायें लंगड़ी-लूँजी ही आती थीं, लेकिन उन पर खर्च ज्यादा-से-ज्यादा करने में होड़ लगी हुई थी। हाँ, गाँधीजी को राजनीतिक गंगाधर विल्कुल पसंद नहीं करते थे। मुमकिन है, इसमें लक्ष्मीवाई की सुनाई शिवाजी की कथाएँ और लड़कपन की तिलक-भक्ति भी काम कर रही थी, मगर उनका कहना यही था कि राजनीतिक शक्ति छीनने में योग; समाधि, ईश्वर, धर्म, अहिंसा आदि से कुछ नहीं हो सकता।

1923 में उनका खोज का काम खत्म हुआ। वहाँ रहते उनको यह भी पता लगा कि साइंस की विशेष शिक्षा और अनुसंधान के लिए हिन्दुस्तान में काम नहीं चल सकता। उन्हें जर्मनी जाने का ख्याल आया। वह इसी ख्याल से घर (वम्वई) आये, देखा मँझला भाई जगन्नाथ गाँधीजी का चेला बनकर पढ़ाई छोड़ चर्खा चला रहा है। पिता तो लड़के के सोलह वर्ष के हो जाने पर 'मित्रवद् आचरेत्' के माननेवाले थे। मगर गंगाधर को घर में अंधकार का घुसना पसंद नहीं था। जगन्नाथ को कुछ युक्ति से, कुछ डाँट-डपट से और कुछ अपने साइंस के रोब से पकड़कर घर आने के लिए मजवूर किया।

जर्मनी जाना वैसे होता तो बहुत मुश्किल था, लेकिन उस वक्त जर्मन सिक्के मार्क्स का दाम बहुत गिर गया था, इसलिए थोड़े रुपये में वहुत-से मार्क्स खरीदे जा सकते थे। उनके पिता के गाँव हरणै के रहनेवाले वम्बई के एक प्रसिद्ध सर्जन डॉ. भाजेकर की तरुण गंगाधर में दिलचस्पी थी। उन्होंने कहा था कि आगे शिक्षा प्राप्त करने में अगर मैं कुछ कर सकूँ तो मुझसे कहना। गंगाधर ने इस वक्त डॉ. भाजेकर से जर्मनी जाने की

इच्छा प्रकट की। डॉ. भाजेकर और गंगाधर के मामा देवास के तत्कालीन दीवान समर्थ ने 4500 रुपये जमा कर दिये और अधिकारी जर्मनी जाने के लिए 1922 में कोलम्बो को रवाना हुए। कोलम्बो से उन्होंने साइंस-सम्बन्धी अपना एक निबंध बम्बई विश्वविद्यालय के पास भेजा, जिस पर एम. एस-सी. की डिग्री उन्हें मिली।

अगस्त (1922) का महीना था जब कि गंगाधर अधिकारी बर्लिन में पहुँचे। भौतिक शास्त्र और रसायन-शास्त्र उनके प्रिय विषय थे। बर्लिन में डा. फोलमेर के नीचे उन्होंने भौतिक-रसायन, फोटो-रसायन, धरातल-रसायन के सम्बन्ध में खोज करनी शुरू की।

यहाँ मैक्सवियर (एक जर्मन लेखक) से किसी दिन भेंट हुई। उससे रूसी क्रान्ति की बात पहले-पहल सुनी। लेकिन उससे गंगाधर को राजनीति की तरफ कुछ विशेष आकर्षण हुआ हो, ऐसी बात नहीं। वह अपने साइंस में डूबे हुए थे। रूसी क्रान्ति ने शोषण का अन्त किया यह अच्छी बात है—बस इतनी भर उनकी राय थी।

1923 में क्रान्ति-विरोधी एक तरुण रूसी से उनका परिचय हुआ। वह साइंस का बड़ा ही तेज छात्र था, इसलिए गंगाधर का खिंचाव उसकी ओर होना स्वाभाविक था। दूसरी ओर वह तरुण क्रान्ति और सोवियत शासन को बदनाम करने में किसी बात को उठा नहीं रखता था। इसका असर गंगाधर पर उल्टा पड़ा। 1924 में पहले-पहल गंगाधर अधिकारी को एक पुस्तक पढ़ने को मिली, जिसने उनके जीवन-प्रवाह को बदल दिया जैसा कि उसने असहयोग के बाद की पीढ़ी के कितने ही भारतीय नौजवानों के जीवन में किया है। यह थी रजनी पामदत्त की पुस्तक 'आधुनिक भारत' (Modern India)। गंगाधर जैसे साइंटिफिक दिमाग के आदमी के सामने भारत की सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों को भी साइंटिफिक तरीके से पेश किये जाने की जरूरत थी, वह काम इस पुस्तक ने किया। आज तक जिसने राजनीति से अपने को बिलकुल अछूता रखा था, अब उसने बालपन से चले आये साइंस-प्रेम को गौण स्थान देकर राजनीति को अपना एक मुख्य काम समझा, यह इसी पुस्तक के कारण से। मार्क्सवाद को गंगाधर ने एक मतवाद नहीं, बल्कि एक साइंस के रूप में देखा; जब उन्होंने मार्क्स की 'कम्यूनिस्ट घोषणा' को पढ़ा। इस वक्त गंगाधर थे छब्बीस साल के। अब से उन्होंने भारतीयों की राजनीतिक हलचल में भाग लेना शुरू किया।

1924 में ही देश से रुपया मिलने में दिक्कत होने लगी। लेकिन प्रोफेसर फोलमेर अपने विद्यार्थी की योग्यता से परिचित थे। उन्होंने गंगाधर अधिकारी जो अभी डाक्टर भी नहीं हो सके थे, तभी (1924 के जाड़े से) उन्हें एक जर्मन फर्म के लिए कुछ रिसर्च का काम दे दिया और इसके लिए उन्हें हर मास 150 मार्क्स लिफाफे में बंद मिल जाया करते थे। अगले साल यह रकम 180 मार्क्स कर दी गई।

जुलाई 1925 में गंगाधर अधिकारी का खोज-सम्बन्धी निबन्ध स्वीकृत हुआ और उन्हें पी-एच. डी. की उपाधि मिली।

डॉक्टर गंगाधर अधिकारी अब अपना बहुत समय राजनीतिक ग्रंथों को पढ़ने तथा राजनीतिक सभाओं और संगठनों में भाग लेने में बिताते थे। इसी समय एक जर्मन कारखानेदार को रेडियो यंत्र में कुछ नयी खोज करनेवाले साइंसवेत्ता की जरूरत थी। उसने डाक्टर फोलमेर से कहा। यहाँ तीन सौ मार्क्स वेतन का ही सवाल नहीं था, बल्कि इतनी बड़े फर्म के साइंस-अनुसंधान विभाग का प्रधान बनकर अपने नीचे कितने ही साइंसदानों से अनुसंधान कराने का बड़ा सम्मान भी था। यह स्वाभाविक ही था न कि स्थान देने में जर्मन विद्वान् को लेने की ओर ज्यादा झुकाव हो, मगर डाक्टर गंगाधर अधिकारी की योग्यता ऐसी थी कि सिल्वरमान ने (यही उस फर्म के मालिक का नाम था) डाक्टर गंगाधर को ही पसंद किया। यह 1926 के अन्त की बात है। अपनी प्रयोगशाला में और दूसरे परिचितों में भी अब डाक्टर अधिकारी खुले कम्यूनिस्ट प्रसिद्ध थे।

डाक्टर अधिकारी ने अपने काम को बड़ी योग्यता के साथ निबाहा; लेकिन इसी बीच उनका राजनीतिक ज्ञान और काम करने की इच्छा इतनी प्रबल होती जा रही थी कि अब देश-सेवा में लग जाने के लिए बेकरार थे। उधर उनके अपने कारखाने के कितने ही स्त्री-पुरुष, मजूरों का इस सीधे-सादे साइंसवेत्ता की ओर बहुत ज्यादा आकर्षण पैदा हो गया था, लेकिन गंगाधर अधिकारी जानते थे कि उनका कार्य-क्षेत्र जर्मनी नहीं, भारत

ही बन सकता है। हाँ, जिन जर्मन तरुण-तरुणियों के सम्पर्क में वह आये, उन्होंने उनके ऊपर बहुत अच्छा प्रभाव डाला।

यद्यपि डॉक्टर गंगाधर अधिकारी जर्मनी में ही कमूनिस्ट बन गए थे, लेकिन वह रूस नहीं जा सके और शायद कुछ नामधारी नेताओं ने भी उनको रूस में देखना पसंद नहीं किया। जिस वक्त डॉक्टर अधिकारी ने नौकरी छोड़ी, उस वक्त उन्हें 480 मार्क्स मिलने लगे थे।

दिसम्बर 1928 में वह बम्बई पहुँचे। जहाज से उतरते वक्त पुलिस ने तलाशी ली, जिनमें किसी दोस्त की लिखी हुई एक रिपोर्ट मिली, जिसका सम्बन्ध कमूनिस्ट इण्टरनेशनल से था और इसी के बल पर लालबुझक्कड़ों ने डाक्टर गंगाधर अधिकारी को वह मस्तिष्क होने का खिताब दिया, जिसने कि भारतीय कमूनिस्टों का कमूनिस्ट-इण्टरनेशनल के साथ सम्बन्ध जोड़ा—मेरठ-षड्यंत्र-केस में इस बात पर पूरा जोर दिया गया। यद्यपि यह बात सरासर गलत थी। डाक्टर अधिकारी अभी तक कुछ पुस्तकों को भले ही पढ़ चुके थे, लेकिन वह अपने को मार्क्सवाद के क-ख में समझते थे, क्योंकि व्यवहार की जरा भी शिक्षा उन्हें नहीं मिली थी। हाँ, साइंस का वह तेज दिमाग तब भी उनके पास था, जो कि आज अपना जौहर एक दूसरे क्षेत्र में दिखला रहा है। बम्बई में आते वक्त ही मालूम हुआ कि इसी महीने कलकत्ता-काँग्रेस के वक्त वहाँ मजूर-किसान पार्टी की कान्फ्रेन्स होनेवाली है। घरवालों ने आशा की होगी कि अब उनका गंगाधर किसी यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर होगा, उनके नाम को उज्ज्वल करेगा और साथ ही पैसा भी कमायेगा। मगर जब उन्होंने डॉक्टर अधिकारी को कलकत्ता का रास्ता लेते देखा, तो बहुत निराश हुए। बम्बई लौटकर वह अपने काम में जुट गये। उन्हें सिर्फ 100 दिन काम करने को मिले। उन्होंने इस समय 'क्रान्ति' (मराठी) में कितने ही लेख लिखे, जिनमें एक था "कमूनिज्मचा ओनामा" (साम्यवाद का ओनामासीधम् या क-ख)। अंग्रेजी 'स्पार्क' (चिंगारी) के लिए भी लेख लिखते थे। उस वक्त ब्राडले आदि कई अंग्रेज कमूनिस्ट भारत में आकर काम कर रहे थे। लेखों के अतिरिक्त मजूरों में भाषण भी दिया करते थे, यद्यपि वह कोई वक्ता न थे।

मार्च (1929) में एक ही बार भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में कई जगह पर पुलिस ने छापा मारा और तीन दर्जन के करीब राजनीतिक कर्मियों को पकड़ लिया। फिर 1929 से 33 तक लाखों रुपयों को पानी की तरह बहाकर मेरठ षड्यंत्र-केस चला। यद्यपि सरकारी बैरिस्टर बड़ा जोर देकर साबित करना चाहता था कि डॉक्टर गंगाधर मोरेश्वर अधिकारी संगठन का एक्सपर्ट (विशेषज्ञ) है, लेकिन संगठन करने, संगठन में रहने और चलने का अवसर पहले-पहल यहीं मेरठ में डॉक्टर गंगाधर को सरकार की कृपा से प्राप्त हुआ। कितने ही वक्तव्यों के मसविदे बनाने का काम डॉक्टर अधिकारी को सौंपा जाता था। मेरठ-षड्यंत्र-केस के अभियुक्तों ने बहुत-से विषयों पर अपने वक्तव्य अदालत में दिये। उनमें किसानों के सम्बन्ध में विद्वत्तापूर्ण वक्तव्य डॉक्टर अधिकारी का तैयार किया हुआ था।

जेल के दिन मेरठ और नैनी में काटने पड़े। यद्यपि मेरठ में उन्हें पाँच साल की सजा मिली। मगर हाईकोर्ट ने पूरनचन्द्र जोशी तथा कितने ही और साथियों की तरह डॉक्टर गंगाधर अधिकारी की सजा को उतना ही काफी समझा, जितना कि वह जेल में रह चुके थे। 1933 के अगस्त या सितम्बर में अधिकारी छूटे। वह बम्बई पहुँचे और वहाँ फिर काम शुरू किया।

1934 के मई में मजूरों की हड़ताल में भाग लेने के लिए दो महीने के लिए उन्हें जेल भेज दिया गया और निकलने के बाद सरकार ने डॉक्टर का बाहर रहना खतरे की चीज समझा और उन्हें बीजापुर में ले जाकर उनके भाई जगन्नाथ अधिकारी के साथ नजरबन्द कर दिया। नजरबन्द करने के बाद सरकार ने यह जानने की जरूरत नहीं समझी कि ये लोग जीवित आदमी हैं, इनको खाने-कपड़े की भी जरूरत होगी।

डॉक्टर अधिकारी को नजरबन्दी को मंजूर करते हुए पेट की भी तदबीर करनी थी। बीजापुर में वार्निश का कोई कारखाना था। अधिकारी कारखानेवाले से मिले और उसके सामने कारखाने को ज्यादा लाभदायक बनाने के लिए कुछ सुझाव पेश किये। कारखानेवाला बेचारा नज़रबन्द को नौकर रखने से डरता था, लेकिन मजिस्ट्रेट ने यह समझकर इजाजत दे दी कि बैठा-ठाला दिमाग शैतान का मिस्त्रीखाना होता है। डॉक्टर अधिकारी

35 रुपये पर नौकर हो गये। वहाँ उन्होंने एक प्रयोगशाला बनाई। रंग बनाने के ढंग में कितने ही सुधार किये और यदि कारखानेवाला ज्यादा साधन-सम्पन्न होता, तो शायद अधिकारी के ज्ञान से और भी ज्यादा लाभ उठाता।

1937 का फरवरी महीना था। सी. आई. डी. की पल्टन अब भी अपनी ड्यूटी पर मौजूद थी। डॉक्टर अधिकारी जैसे कपड़े को पहने किसी तरुण को देखकर वह सन्तुष्ट हो जाते थे, मगर डॉक्टर अधिकारी तीन दिन से बीजापुर से गायब हो चुके थे।

उस वक्त वह कलकत्ता में कहीं छिपकर रहते थे। मई में किसी दिन 'आनन्द-बाजार पत्रिका' में उन्होंने अपने भाई जगन्नाथ के मरने की खबर पढ़ी। एक पेट से जनमे, एक विचार के भाई के मरने का कितना शोक हुआ, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। जगन्नाथ को खून न थमने का रोग था। सरकार के लिए एक आदमी के जीवन की क्या कीमत ? उसने चिकित्सा करने का न खुद इन्तजाम किया न उसकी सुविधा दी। अनेक भारतीय तरुणों की भाँति तरुण जगन्नाथ अधिकारी भी देश-सेवा की भारी उमंगों को लिये चल बसा।

हरिपुरा कांग्रेस में अधिकारी गये थे, मगर अभी भी उनके ऊपर से वारण्ट हटा नहीं था। कांग्रेस मिनिस्ट्री ने पीछे वारण्ट हटा लिया और डॉक्टर अधिकारी तब से 1939 के शरद् तक खुलकर काम करते रहे। जब वर्तमान युद्ध शुरू होने पर सरकार ने उन्हें भी पकड़कर जेल में डालना चाहा तो वह फिर गुप्त हो गये और पुलिस हिन्दुस्तान का कोना-कोना छानती ही रह गयी, लेकिन वह हाथ नहीं आये। पिछले साल के मध्य से वह फिर बाहर आ गये।

डॉक्टर गंगाधर अधिकारी की साइंस-सम्बन्धी गवेषणाओं को उनके निबन्धों के पढ़नेवाले या जिन्होंने उनके साथ काम किया है वे लोग जान सकते हैं; लेकिन अँगरेजी 'पीपुल्स वार' हिन्दी 'लोक-युद्ध' और दूसरे पत्रों को जो लोग पढ़ते हैं, उन्हें डॉक्टर अधिकारी के युद्ध की आलोचना प्रति सप्ताह पढ़ने का अवसर मिलता है। वह इस आलोचना से जान सकते हैं डाक्टर अधिकारी की पैनी दृष्टि और गम्भीर अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान को। वैसे डॉक्टर अधिकारी के लेख अत्यन्त संक्षिप्त और कुछ कठिन-से होते हैं, खासकर जब कि वह किसी सिद्धांत की विवेचना करते हैं; लेकिन 'युद्ध की प्रगति' में वह काफी सरल भाषा का प्रयोग करते हैं।

भावी भारत में जब शोषण का अन्त हुआ, जब अराजकता की जगह पंचवार्षिक योजनाओं जैसी योजनाओं के द्वारा देश को तेजी से आगे बढ़ाने की जरूरत पड़ी, जब इस योजना में साइंसदानों की योग्यता से पूरा फायदा उठाने की जरूरत पड़ी, उसके लिए तब डाक्टर गंगाधर मोरेश्वर अधिकारी हमारे पास मौजूद हैं।

25

सोहराब शा. बाटलीवाला

प्रमुख तिथियाँ—1905 मई 5 जन्म, 1911 अक्षरारंभ, 1914-21 न्यू हाई स्कूल में, 1921 मैट्रिक पास, 1921-22 सेंट जेवियर कालेज में, 1922-25 एलफिन्स्टन कॉलेज में, 1925 बी. ए. पास, 1926 एल-एल. बी. पास, 1927 प्रेमिका की निठुराई का आघात, 1930 नमक-सत्याग्रह में जेल—पिता की मृत्यु, 1931 तीर्थ-यात्री; ट्रेन में, 1932-34 ढाई साल की सजा, 1935 कमूनिस्ट, 1937 नर्गिस से ब्याह, 1937 मद्रास जेल, 1940-1943 फरवरी छै मास की सजा, फिर जेल में नजरबंद।

उस समय हिन्दुस्तान में बोतलें (बाटली) नहीं बना करती थीं, काँच का उद्योग-धंधा बहुत ही अविकसित अवस्था में था। 19वीं सदी में चीन से हिन्दुस्तान में बोतलें ज्यादा आया करती थीं। पारसी लोग ईरानी और भारतीय दोनों ही थे, इसलिए उनमें कूपमंडूकता पहले ही से बहुत कम थी और फिर खेती-बारी नहीं करते थे, व्यापार, नौकरी आदि को जीविका का साधन बनाया था। इसीलिए विदेश से व्यावसायिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित

करने में इन्होंने सबसे पहले कदम बढ़ाया। चीन से बोतलों के मँगाने का काम बम्बई के एक पारसी सज्जन ने लिया। जमशेदजी टाटा का खानदान भी वहीं था, मगर बोतलों के रोजगार के कारण व्यापारी ने अपने नाम के साथ बाटलीवाला लगाना शुरू किया। छोटा-मोटा व्यापार होता तो शायद बाटलीवाला बहुत सम्मान का नाम न होता, मगर रोजगार काफी मुनाफे का था; साथ ही बाटलीवाला परिवार आगे बड़े-बड़े डॉक्टरों की खान बन गया, जिससे यह नाम और भी सम्माननीय हो गया। डॉक्टर शाहबख्श सोहराब बाटलीवाला (मृत्यु 1930) बम्बई के एक बहुत ही प्रसिद्ध डॉक्टर थे। वे बड़े ही राज-भक्त और काँग्रेस के सख्त विरोधी थे। वह कई मिलों के डॉक्टर थे। मजूरों के साथ उनका बर्ताव सहानुभूतिपूर्ण होता था, लेकिन उन्हें कब मालूम था कि उनका पुत्र राज-भक्त और राज-भक्तों को इतनी घृणा की निगाह से देखनेवाला बनेगा और भद्र समाज में बदनाम साम्यवादी पथ को स्वीकार करेगा ? डॉक्टर शाहबख्श बाटलीवाला और उनकी स्त्री बच्चूबाई को 19 मई 1905 में एक पुत्र पैदा हुआ, जिसका नाम उन्होंने ईरान के इतिहास-प्रसिद्ध वीर के नाम पर सोहराब रखा। शायद नाम रखने में पिता-माता ने भूल नहीं की। सोहराब का एक भाई (बड़ा) और तीन बहनें (एक बड़ी) थीं, मगर पुत्र की प्रतिभा देखकर डॉक्टर शाहबख्श का सबसे अधिक स्नेह सोहराब पर ही था। सोहराब की अपेक्षा सोली नाम घर और मित्रों में ज्यादा प्रचलित हुआ। सोहराब ने दादा का नाम ही नहीं पाया था, बल्कि उनका गर्म मिजाज भी पाया था और कभी-कभी इसके लिए सोली बहुत आत्मग्लानि में पड़ जाता है। सोली में जिद्द की मात्रा भी बहुत ज्यादा है—शायद क्रोध और जिद्द मिलकर आदमी को सैद्धान्तिक दृढ़ता प्रदान करते हैं। चार साल की उम्र में सोली को मौसी के पास छोड़कर माँ-बाप विलायत गये थे। मौसी का बच्चे पर प्रेम तो था, मगर उसकी जिद्द के मारे कभी-कभी मरम्मत भी करनी पड़ती थी। छै साल की उम्र में सोली को एक बार पेचिश हो गई। पिता चिन्तत थे। उन्होंने एक बढ़िया दवाई भेजी। सोली को शायद स्वाद पसन्द नहीं आया। उसने खाने से इन्कार कर दिया। सोली के इन्कार को स्वीकार में बदलना टेढ़ी खीर था। उसे आठ आदमियों ने पटककर पकड़ा और जबर्दस्ती मुँह खुलवाया। बेचारे छै वर्ष के बच्चे के पास उतनी ताकत कहाँ थी ? मुँह खोलकर दवा तो ले ली, मगर भीतर ले जाने की जगह थू करके लोगों का कपड़ा खराब कर दिया।

बच्चूबाई का अपने छोटे पुत्र पर बहुत स्नेह था। बड़ा भाई उतना तेज नहीं था, इसलिए भी माता-पिता सोली पर ज्यादा स्नेह किया करते थे। घरवाले सोली की जिद्द से परेशान थे और पिता ने तीन बार उस पर हाथ भी छोड़ा, मगर माँ की ममता अपार थी।

शिक्षा—छै साल की उम्र (1911) में सोली को धनबाई की गुजराती शाला में पढ़ने के लिए बैठा दिया गया। धनबाई और रूपाबाई दोनों बहनों ने यह पाठशाला खोल रखी थी। धनबाई का स्वभाव मीठा था, मगर रूपाबाई मरखई गाय थीं।

तीन वर्ष तक धनबाई के पास पढ़कर 1914 में सोली को न्यू हाई स्कूल में दाखिल कर दिया गया। इस स्कूल में हिन्दू-मुसलमान-पारसी सबके ही लड़के पढ़ते थे। सोली पहले स्टैंडर्ड में दाखिल हुआ और साल-साल एक-एक स्टैंडर्ड पास करते हुए 1921 में उसने सातवें स्टैंडर्ड या मैट्रिक को पास किया। वह अपने दर्जे में सबसे तेज लड़का था। अंग्रेजी में खास तौर से दिलचस्पी थी। पिता चाहते तो घर में अध्यापक भी रख सकते थे, मगर वह इसके सख्त विरोधी थे। उनका मत था कि बच्चों के दिमाग पर जबरदस्ती करके ठूँस-ठूँसकर विद्या पढ़ाना अच्छा नहीं। इतने जिद्दी स्वभाव का सोली स्कूल में बहुत ही भलामानुस लड़का समझा जाता था और उसे अच्छे आचरण के लिए तमगा दिया गया था। उसको अपनी योग्यता पर जरूरत से ज्यादा इतमीनान था, इसका नतीजा यह हुआ कि पढ़ाई तेरह-बाईस ही हुई और मैट्रिक में दूसरे दर्जे ही पर पास हो सका। सोली का ममेरा भाई भी साथ-साथ पढ़ता था, सोली बस उसकी चाल को देखकर दो कदम आगे रहना चाहता था।

सोली जब छोटा था, उसी समय सासून मिल के मजदूरों ने हड़ताल कर दी थी। मजूरों को दबाने के लिए हाईलेंडरों की गोरी पल्टन बुलवाई गई। गोरा सिपाही राइफल ले दौड़ाता और मजूर भेड़ की तरह भाग

चलते। सोली को एक ओर यह भागना बहुत बुरा लगता था "एक आदमी से क्यों इतना भाग रहे हैं", दूसरी ओर हाईलेंडर सिपाही और उसका लहँगा वीरता का प्रतीक मालूम होते। सोली ने अपने लिए हाईलेंडर की पोशाक बनवाई और पहिनकर वह कितने ही दिनों तक मार्च करता रहा।

सोली के पिता डॉक्टर शाहबख्श तीस साल तक बम्बई कारपोरेशन के मेम्बर रहे, जिसमें 1928, 1929 में मेयर भी थे। जिस वक्त सोली छठे स्टैंडर्ड में गया, तब से कॉलेज में पढ़ने के समय तक पिता उसे बराबर कारपोरेशन की बैठकों में ले जाते। पिता की आज्ञा थी, वह गेलरी में बैठकर कारपोरेशन की कार्रवाइयों को देखता रहे। एक दिन होमी मोदी ने भाषण दिया। पिता ने सोली से कहा, यह होनहार आदमी है। पिता समझते थे कि एक दिन सोली भी कारपोरेशन में घुसकर उसका मेयर बनेगा, अपने हुनर से पैसा कमायेगा, दुनिया में मौज से रहेगा और सरकार भी उसे सर की पदवी दे अमरता प्रदान करेगी।

सोली का स्वास्थ्य और शरीर यद्यपि उस समय उतना सबल नहीं था, लेकिन अपने सहपाठियों का वह सदा नेता रहता था, गुण्डे लड़के तक भी उसके नेतृत्व को स्वीकार करते थे। शायद गरम-मिजाजी और बुद्धि की तीव्रता इसमें कारण थी। सोली ने एक दिन एक लड़के को पीट दिया। प्रिन्सिपल ने बुलाकर पूछा—"तुम भले लड़के हो, फिर हाथ क्यों छोड़ा ?" "कैसे चुप रहता—उसने मेरी माँ को गाली दी। उसने माँ को क्यों घसीटा ?" —उसने उत्तर दिया। प्रिन्सिपल ने कहा—"गाली देना था तो माँ को घसीटना ही पड़ता" सोली को अभी इतना तक पता नहीं था कि झगड़ा लड़कों-लड़कों में होता है, दुर्गत बनती है माँ-बहनों की।

लड़ाई के दिनों में अपने पिता की तरह सोली भी सरकार की जीत (अंग्रेजों की विजय) को ध्रुव समझता था। उसके लिए देशभक्ति राजभक्ति से कोई अलग चीज नहीं थी। जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड का उसके दिल पर कोई असर नहीं पड़ा। वेल्स राजकुमार के स्वागत में सोली भी गया था और उसकी कार पर किसी ने पत्थर फेंका था। तो भी सोली राजभक्ति में विघ्न-बाधा डालनेवालों को बहुत बुरी निगाह से देखता था।

कॉलेज में—1921 में सोली सेंट जेवियर कॉलेज में दाखिल हुआ, जहाँ से एक साल बाद एलफिन्सटन कॉलेज में चला गया। इतिहास और अर्थशास्त्र (ऑनर्स) पाठ्य-विषय थे। यहीं एलफिन्सटन कॉलेज में मेहरअली और मसानी सोली के सहपाठी थे। अब खिड़की-दरवाजे बन्द कोठरी से निकलकर वह खुली बारहदरी में आ गया था। उसके सहपाठियों में कुछ काँग्रेस-भक्त लड़के थे और कितनों के माँ-बाप काँग्रेस में भाग लेते थे। यहीं उसे बंगाल के आतंकवादियों के कुर्बानियों के बारे में पहले-पहल सुनने का मौका मिला। अब सोली ने छात्र-बिरादरी (स्टूडेन्ट ब्रदरहुड) और तरुण-संघ (यूथ लीग) में भाग लेना शुरू किया। यद्यपि सोली ने असहयोग नहीं किया, मगर उसके विचार ज्यादा राष्ट्रीयतावादी हो गये थे। बी. ए. में पढ़ते समय सोली की दिलचस्पी पाठ्य-पुस्तकों से बाहर तक काफी बढ़ चुकी थी। वह बाहरी पुस्तकों को खूब पढ़ता, विश्वविद्यालय के सैनिक-कोर में वह शामिल था और योग्यता के कारण सार्जेन्ट बन गया था। दो ही तीन साल पहले राजभक्ति का मतवाला सोली अब अंग्रेज-प्रभुओं का सख्त मुखालिफ हो गया। एलफिन्सटन कॉलेज सरकारी कॉलेज था। उसके अंग्रेज प्रिन्सिपल उन अँग्रेजों में थे, जिन्हें इस बात में आनन्द आता है कि हिन्दुस्तानी अपनी अधीनता को हर वक्त समझते रहें। उनका सख्त हुकुम था कि हाजिरी लेते वक्त लड़के खड़े हो 'यस् सर' (हाँ साहब) कहा करें। सोली को यह बात बहुत बुरी लगी। दर्जे में प्रिन्सिपल हाजिरी लेने आया। पहले तीन लड़कियों का नाम लिया गया। चौथा कुछ देर करके बोला, इस पर प्रिन्सिपल ने फिर नाम दोहराया। लड़के को खड़ा होकर फिर-फिर 'यस् सर' कहना पड़ा। आठवाँ नम्बर सोली का था। क्या करना है, सोली ने इसे पहले ही तय कर लिया था। सोहराब बाटलीवाला का नाम मुँह से निकलते ही सोली ने खड़े हो दोनों हाथों को उठाकर सारा जोर लगा 'यस् सर' कहा। सारा हाल गूँज उठा। प्रिन्सिपल को जितना आश्चर्य नहीं हुआ, उससे ज्यादा क्रोध हुआ। दुबारा नाम लेने पर सोली ने फिर वही अभिनय किया। पीछे प्रिन्सिपल ने सोली को बुला भेजा और कुर्सी पर बैठे, सोली को खड़ा रखकर बात करना चाहते थे। सोली ने प्रिन्सिपल के इस असभ्याचरण के लिए खरी-खरी सुनाई और कहा कि मैं इस तरह तुमसे बात नहीं कर सकता। प्रिन्सिपल के दिल में धक्का जरूर लगा होगा, लेकिन उससे उन्होंने कुछ सीखा हो, इसकी उम्मीद नहीं हो सकती थी; क्योंकि भारतीय तरुणों में ये भाव

अभी दो ही तीन सालों से उठने लगे थे। प्रिन्सिपल ने दस रुपया जुर्माना किया, न देने पर कॉलेज से खारिज हो जाने की सजा। बाप ने चुपचाप जुर्माना दे दिया। सोली बाप पर बहुत नाराज हुआ। कॉलेज के एक अँग्रेज अफसर भी बड़े फरऊन मिजाज थे। कोई लड़का यदि कोई बात पूछने जाता, तो वह मुँह के पास 'ह्वाट' (क्या) चिल्लाकर डरा देता। लड़के सहमकर लौट आते। सोली भी एक दिन झूठ-मूठ ही बात पूछने के लिए पहुँच गया। प्रोफेसर ने उसी तरह 'ह्वाट' कहा। सोली ने बड़ी गंभीरता से कहा "आदमी पागल मालूम होता है।" उसी दिन से साहब की आदत छूट गई और वह सोली का दोस्त बन गया। सोली एक सुन्दर वक्ता है। इसके लिए कॉलेज में उसे प्रथम इनाम मिला करता था। बहस में भी उसने कई बार विजय प्राप्त की थी और नाटक करने में भी उसने प्रथम पारितोषिक प्राप्त किये थे।

बी. ए. पास करने के बाद सोली लॉ-कॉलेज में दाखिल हुए। अब वह पूरे राष्ट्रीयतावादी थे। हिंसा और अहिंसा के फेर में नहीं पड़ा था, तो भी आतंकवादियों के कुर्बानियों के प्रति उनकी बड़ी श्रद्धा थी। अब उनका बहुत समय राजनीतिक कामों में जाता था। पारसी हिन्दुस्तान में एक लाख से ज्यादा नहीं हैं। वे शिक्षा में बहुत बढ़े हुए हैं और आर्थिक दशा भी औरों की अपेक्षा अधिक अच्छी हैसियत रखते हैं; तो भी उनमें जात-पाँत की कट्टरता बहुत ही जबर्दस्त है। कोई पारसी लड़की फिल्म में आयी थी और पारसी पुरुष इतने आग-बबूला हो गये कि जान का खतरा देखकर लड़की को नाट्य-मंच को छोड़ना पड़ा। बम्बई में दूसरी जाति का आदमी पारसी लड़की से ब्याह करके जीने की आशा नहीं रख सकता। पारसी पूरी कोशिश करते हैं कि अपने व्यवसाय, उद्योग-धंधे से ज्यादा-से-ज्यादा पारसियों को फायदा पहुँचायें। शायद इसमें एक बड़ा कारण यह था, यदि वह इस तरह के बंधन को न रखते, तो एक लाख की उनकी जाति कभी भी दूसरों के जन-समुद्र में लुप्त हो गई होती। सोली अब साम्प्रदायिकता से बहुत दूर हट चुका था। राष्ट्रीयता के साथ प्रेम ने भी इसमें सहायता की थी। सोली का आना-जाना एक गुजराती मित्र के घर में होता था। घर की लड़की—जो स्वयं भी स्कूल और कॉलेज में पढ़ती थी—और सोली में घनिष्टता बढ़ने लगी और दोनों प्रेमपाश में बँध गये। यह प्रेम कई साल तक चलता रहा और दोनों ने मिलकर कितने ही मधुर सपने देखे थे। सोली का इरादा था कि एल-एल. बी. पास कर हाईकोर्ट के रोल में नाम लिखवा लें और फिर विलायत जा एक साल में बैरिस्टर हो आयें। किसी तरह प्रेम की बात पिता को मालूम हो गई। सोली उस समय आखिरी साल में था। सोली ने जब पिता से विलायत जाने की बात कही, तो उन्होंने साफ तौर से इन्कार करते हुए कहा—मैं पुत्र को हाथ से खोने के लिए विलायत नहीं भेजूँगा। सोली के दिल को भारी धक्का लगा। वह परीक्षा न देने के लिए तैयार हो गया। भविष्य का सारा सपना उसकी आँखों के सामने ध्वस्त हो रहा था। भूलाभाई देसाई सोली को दार्जिलिंग ले गये। कुछ समझाया और कुछ घूमने-घामने से दिमाग ठिकाने हुआ। सोली ने एल-एल. बी. पास कर लिया।

अब सोली के सामने स्वतंत्र जीविका का प्रबंध कर प्रेमिका को अपनी बनाने का सवाल रह गया था। सोली ने छै-सात महीना वकालत भी की, मगर उससे उसे घृणा हो गई। पिता ने कस्टम विभाग में दरखास्त दिलवा दी। वहाँ से फिर किसी बैंक के आफिस में काम करते रहे। मगर मेहरअली के गिरफ्तार हो जाने पर उसे भी छोड़ दिया।

सात सालों से जिस प्रेम को सोली ने अपने हृदय का एक अभिन्न अंग समझा था और उन्हें कभी आशा न थी कि उस प्रेम को प्रेमिका इतनी बेदर्दी से कुचल देगी। सोली तैयार थे, अपने माँ-बाप के विरोध को बरदाश्त करने के लिए। पिता तो किसी तरह राजी न होते, मगर माँ पुत्र का अनिष्ट कभी न होने देती। सोली के रखे जहर के प्याले को वह एक बार हटा चुकी थी और जानती थी कि सोली कहाँ तक पहुँच चुका है। एक बार दोनों किसी सेवा-आश्रम को अपना जीवन देना चाहते थे, मगर आश्रम ने स्थान न दिया। प्रेमिका अब विश्वविद्यालय की स्नातिका थी। शायद बाजार में उसने अपने मूल्य को बढ़ते देखा हो और समझा हो, घर से निकाला कौड़ी-कौड़ी के लिए मुहताज यह पारसी तरुण उसे संसार के सुख-वैभव को कैसे दे सकता है ?

एक दिन प्रेमिका ने बुलाकर सोली को उनकी अँगूठी लौटा दी। सोली का हृदय स्तब्ध हो गया। दूसरे दिन फिर जब तरुणी के पास गये तो उसने रुख को बिल्कुल बदलकर कहा—"फिर यहाँ मत आना, लोग देखकर

क्या समझेंगे ?"

सोली को अब दुनिया नीरस नहीं कड़वी मालूम होने लगी। सात साल तक वह जिस प्रकाश में घूमते फिरे थे, उसके एकाएक अस्त होते ही उन्हें चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखलाई पड़ने लगा। सोली अब महाबलेश्वर में अपने पिता के बँगले पर चला गये, और तपस्वी की जिन्दगी बिताने लगे। उनका शरीर दिन पर दिन सूखने लगा और कितनी ही बार आत्महत्या से वह बाल-बाल बचे। तरुणी ने सोली को बुलाया। सोली का हृदय उतना हरा नहीं हुआ, लेकिन वह तरुणी के पास पूना चले गये। तरुणी ने कुछ मीठी-मीठी बातें बनाईं, फिर तुरंत ब्याह कर लेने का प्रस्ताव किया। सोली ने कहा–"तीस दिन की मोहलत दो, फिर मैं शादी कर लूँगा, यदि इसके अन्दर तुम्हारा विचार न बदल गया।"

तरुणी ने विचार बदल दिया और किसी दूसरे की बन गई, जहाँ शायद उसके प्रेम का मूल्य सिर्फ एक सच्चे हृदय के रूप में नहीं रुपये, पैसे, साड़ी, भूषण, मोटर, बँगलों के रूप में अधिक चुकाया जा सकता था। 1929 में 24 वर्ष की अवस्था में सोली को हरा बाग उजड़ा हुआ दिखाई पड़ा। एक बार जहर की तैयारी कर चुके थे, लेकिन अब आत्महत्या करना कुछ शरीर को मुफ्त लुटाना जैसा मालूम हुआ। सोली ने सोचा, यदि इस जीवन को देना ही है, तो किसी अच्छे काम में देना चाहिए, ऐसे काम में देना चाहिए, जिसमें बहुतों का हित हो। कॉलेज जीवन में उत्पन्न देश के प्रति प्रेम भी आत्महत्या करने में भारी बाधक सिद्ध हुआ।

राजनीति में–1930 का नमक-सत्याग्रह छिड़ने को आया। सोली ने बैंकिंग जाँच कमीटी के काम से इस्तीफा दिया। वह सीधे सूरत गये। धारा-सेना के नमक-गोदाम के लूटने का काम था। सोली को कुछ सैनिक-शिक्षा मिली थी, वह आक्रमण और आत्मरक्षा की बातों को जानते थे। उन्होंने सोचा कि बिना एक भी नमक की डली हाथ लगाये पकड़कर जेल जाना अच्छा नहीं; इसलिए आगे-पीछे चलकर आक्रमण करने की जगह फैली पाँती से आक्रमण करना होगा। नमक-गोदाम के पास पहुँचने पर वहाँ कँटीले तार लगे हुए थे, उसके काटने के लिए सोली ने आश्रमवालों से एक कटर माँगा। उन्हें यह सुनकर आश्चर्य हुआ। वह तो नमक लूटने को नहीं, जेल जाने को सत्याग्रह समझते थे। सोली को अपने प्राणों का कोई मोह न था। उसने अपने सौ स्वयंसेवकों से कसम ली कि वे बिना नमक लिए पीछे नहीं लौटेंगे, चाहे रास्ते में मर भले ही जायँ। पुलिस जहाँ सौ-सौ, दो-दो सौ की पाँती के सामने खड़े होकर लोगों को आसानी से काबू में कर सकती थी, वहाँ सोली की सेना आगे-पीछे चलनेवाली पाँती में नहीं थी। फैली पाँती को रोकने के लिए एक-एक आदमी पर कई-कई सिपाहियों की जरूरत होती ! अब सिवाय लाठी-प्रहार के कोई रास्ता न था। आठ आदमियों को पुलिस ने घायल किया, मगर वह स्वयंसेवकों को रोक नहीं सकी। सोली के साथियों ने कई बार गोदाम से नमक लूटा–लूटे नमक को रखकर फिर लूटने जाते। सोली पकड़े तो गये, मगर अपने काम से उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। गाँधीवादी नेताओं ने भी मन-ही-मन इस पारसी तरुण की निर्भयता की प्रशंसा जरूर की होगी।

पिता को जब खबर लगी, तो वे धारा-सेना पहुँचे। पुलिस-अफसर ने इस शर्त पर सोली को छोड़ देने का वचन दिया कि सोली सत्याग्रह से हट जाय। सोली ने अन्न, जल के साथ बोलना भी छोड़ रखा था। पिता ने बात करनी चाही। सोली ने एक स्लेट पर अपने दृढ़ संकल्प को लिख दिया। बूढ़े पिता के शरीर के बोझ को पैर सँभाल नहीं सके, वह बैठ गये, दिल और भी ज्यादा बैठ गया। उन्होंने इतना ही कहा, "तुमने जो कुछ किया अच्छा किया।" उन्हें माफी माँगने या सत्याग्रह छोड़ देने की बात सोली के सामने रखने का साहस ही नहीं हुआ। वे जानते थे कि उनका सोली बचपन ही से जिद्दी है। उनको क्या पता था कि जिस सोली को मेयर और सर बनकर वह एक दिन पारसियों का सरताज देखना चाहते थे, वह बागी और कैदी बनेगा। पिता के ऊपर यह ऐसा वज्र-प्रहार था कि उसे उनका शरीर भी बर्दाश्त नहीं कर सका और उसी साल उनका देहान्त हो गया।

जेल में–सोली को नौ महीने की सजा देकर नासिक जेल में भेज दिया गया। राजनीतिक बन्दियों पर तरह-तरह के अत्याचार होते थे। सोली उसे बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। वह सुपरिंटेण्डेंट से झगड़ पड़े। उन्हें अब सी क्लास का कैदी बनाकर बम्बई भेज दिया गया और वहाँ से फिर त्रिचनापल्ली (मद्रास) के जेल में

बदल दिया गया। पिता ने बड़ी ही करुणापूर्ण चिट्ठी लिखी थी। उस वक्त सोली को क्या पता था कि अक्तूबर 1930 के बाद शैशव से परिचित वह मुख देखने को फिर नहीं मिलेगा। त्रिचनापल्ली में सोली की सुन्दरैय्या से भेंट हुई, लेकिन अभी राजनीतिक अध्ययन की ओर सोली का ख्याल न था। वह जेल के भीतर होते हरएक अत्याचार के खिलाफ जहाद करने के लिए तैयार थे। राजनीतिक बन्दियों की पाँचों अँगुलियों की छाप लेने के लिए जब पुलिस आई, तो सोली ने छाप न देने के लिए साथियों को तैयार किया। आखिर में छाप लेने की बात छोड़नी पड़ी। राजबन्दियों की तकलीफों को दूर कराने के लिए सोली ने भूख-हड़ताल की। वह 30 दिन तक चलती रही। सोली मरणासन्न हो गये, तब उन्हें छोड़ दिया गया।

जेल से छूटकर (1931) सोली सीधे बम्बई आये। उस समय बम्बई में हड़ताल चल रही थी, जिसके तुड़वाने में मुंशी ने खास तौर से मदद की थी। सोली का विश्वास अब गाँधीवादी राजनीति में नहीं रह गया। इसी बीच गाँधी-इरविन समझौता हो गया और सत्याग्रह करने या जेल जाने का काम भी नहीं रहा।

तीर्थयात्रा–(1931) –सोली सोच रहे थे कि क्या करना चाहिए। बम्बई में चुप बैठने से फिर प्रेम का घाव अपना असर दिखलाने लगता। उसी समय उन्होंने देखा कि तीर्थयात्रा-ट्रेन बम्बई से भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों में घूमने जा रही है। उन्होंने ट्रेन पकड़ी। कई हिन्दू-तीर्थों में गये। एक बार विवेकानन्द के ग्रंथों ने सोली को प्रभावित किया था। बेलूर मठ को जब देखने के लिए गये, तो ख्याल आया कि क्यों न मैं भी यहीं संन्यासी हो जाऊँ। लेकिन वहाँ की दूकानदारी देखकर सोली का मन उचट गया। ऋषिकेश में भी एक बार संन्यासी-जीवन मन में कुछ आकर्षण पैदा करने लगा, लेकिन वहाँ की भी दूकानदारी मालूम हो गई और वह लौट आये।

हाँ, जब सीमा प्रान्त में पहुँचे और वहाँ लाल कुरतीवाले खुदाई खिदमतगारों को देखा, तो सोली बहुत प्रभावित हुए। उनके मन ने कहा–बस, इस प्रकार का संगठन चाहिए।

सोली को मालूम ही था गाँधी-इरविन-समझौता चिरस्थायी नहीं रहेगा और संघर्ष फिर होगा। वह सीधे ओलपाट (सूरत) पहुँचे और वहाँ स्वयंसेवकों की तैयारी में जुट पड़े। उन्होंने ऐसे स्वयंसेवकों को तैयार करना तय किया, जो कि फौलाद की तरह डटे रहें। दो महीने में उन्होंने 150 किसान-तरुणों को शिक्षा दी। शिक्षा में चर्खा और स्वदेशी के साथ कवायद और लाठी चलाना भी था। उन्होंने अपने स्वयंसेवकों से प्रतिज्ञा ली कि हम तब तक घर नहीं जायेंगे, जब तक स्वराज्य नहीं मिल जाता। गाँधीवादी भक्तों को सोली और उनके स्वयंसेवकों से भय लगने लगा। उन्होंने सोली को समुद्र-तट पर जाने की इजाजत नहीं दी। सोली अपनी मेहनत को बेकार होते देख इस्तीफा देकर बम्बई चले आये। 1932 में कितने ही समय तक सोली ने अन्तर्धान रहकर कांग्रेस-आन्दोलन को चलाया। फिर पकड़े गये और ढाई साल की सजा देकर बीजापुर जेल में भेज दिये गये। गाँधीवादी राजनीति अब उन्हें बिल्कुल निःसार मालूम होने लगी और वह समाजवाद की ओर झुकने लगे। 1933 में मेरठ के वीरों को लम्बी-लम्बी सजायें हुईं। उस समय वह पूरी तौर से इस ओर आकृष्ट हुए। अब वह जैसे-तैसे भी प्राप्त कर समाजवाद की पुस्तकें पढ़ने लगे।

1934 में सोली जेल से छूटकर बाहर आये और मसानी, मेहरअली आदि के साथ मिलकर काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का संगठन करने लगे। विधान बनाते वक्त सोली ने अपना मतभेद प्रगट किया। इस पर दूसरे लोगों ने उन्हें कमूनिस्ट कहा। अभी तक उन्होंने कमूनिस्टों के बारे में सिवाय नाम के और कुछ नहीं जाना था। सोलापुर में हड़ताल हुई। कुछ काँग्रेस सोशलिस्ट नेता व्याख्यान देने गये, मगर खाली हाथ लौट आये। सोली को मालूम हुआ कि उनको नेता बनने का जितना शौक है, उतना काम करने का नहीं। सोली काम करना चाहते थे और काम सीखना चाहते थे। यहीं उन्हें कमूनिस्टों के नजदीक आने का मौका मिला। सोली को सात महीने की सजा हुई, जो हाईकोर्ट से चार महीने की रह गई।

जेल से छूटने के बाद सोली बम्बई आये। बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की कान्फ्रेंस होनेवाली थी। सोली को जबरदस्ती स्वागतकारिणी का सेक्रेटरी बनाया गया। वहाँ पर भी उन पर कमूनिस्ट होने का इल्जाम लगाया गया।

1935 में सोली कमूनिस्ट पार्टी के उम्मीदवार मेम्बर बने। गाँधीजी को उन्होंने एक पत्र लिखा, जिस पर उन्होंने वर्धा आने के लिए कहा। राजनीति में सत्य और अहिंसा के बारे में गाँधीजी से दो घण्टे तक बातचीत होती रही। उसके बाद शाम को फिर बात करने के लिए गाँधीजी ने आने को कहा। शाम को उन्होंने सेवगाँव के आसपास के किसानों की अवस्था को देखा और उन्हें यह समझने में देर न लगी कि गाँधीवाद किसानों के लिए कुछ नहीं कर सकता। फिर वह गाँधीजी से बात करने नहीं गये।

1936 में सोली फैजपुर गये। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में उनको नेताओं के विरोध करने पर भी चुन लिया गया।

बम्बई लौटकर सोली ने बी. बी. सी. आई. रेलवे मजूर-सभा और गिरनी कामगार यूनियन में काम करना शुरू किया। बाटलीवाला सुन्दर वक्ता थे ही, देश के दूसरे स्थानों के साथी उन्हें बुलाते रहे।

1937 में कांग्रेस मिनिस्टरी ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ली। व्यंकटगिरि (नेल्लोर) में सोली ने व्याख्यान दिया था, उस पर राजगोपालाचारी की सरकार ने मुकदमा चलाया। यह व्याख्यान एम. एन. राय के उन व्याख्यानों के विरोध में था, जिन्हें दक्षिणपक्षी कांग्रेसियों ने कमूनिस्टों के प्रभाव को तोड़ने के लिए मद्रास प्रान्त में करवाया था। सोली अपने व्याख्यानों द्वारा मद्रास में कहीं कमूनिस्टों के प्रभाव को बढ़ा न दे, इसीलिए कांग्रेसी सरकार ने मुकदमा चलाकर सोली को जेल में बन्द कर दिया। देश के दूसरे स्थानों पर इसका विरोध किया जाने लगा और बदनामी के भय से काँग्रेस कमेटी ने मजबूर किया, जिससे मद्रास सरकार ने चार दिन ही बाद सोली को जेल से निकाल दिया।

बम्बई में मसानी के गुट्ट को सबसे ज्यादा भय सोली से रहता। सोली भी इन नेताओं को नंगा करते रहते थे। 'विश्व-राजनीति में काँग्रेसी सोशलिस्ट दृष्टिकोण' लेख में सोली ने इन नेताओं की बेईमानियाँ दिखाईं। 1938 में सोनपुर में जो समाजवादी ग्रीष्म-स्कूल खोला गया था, उसमें सोली भी व्याख्यान देने आये थे। मतभेदों के कारण सोली ने काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टी से इस्तीफा दे दिया और वे खुले तौर से कमूनिस्ट पार्टी की ओर से काम करने लगे। 1938-1939 में देश की भिन्न-भिन्न जगहों में सोली ने कितने ही व्याख्यान दिये। उड़ीसा और बंगाल में इन पर मुकदमे चलाये गये। फरवरी 1940 में कलकत्ता में उन्हें 6 महीने की सजा हुई। सजा के समाप्त होते ही उन्हें नजरबन्द करके जेल में ठोंक दिया गया; फिर देवली कैम्प में भेजा गया। देवली कैम्प में भी वह इतने खतरनाक समझे गये कि डाँगे और रणदिवे के साथ अजमेर जेल में उन्हें कई महीने रखा गया। इस बीच देवली में अलग मकान तैयार किया गया, फिर तीनों को वहाँ रख दिया गया।

रूस पर हिटलर के आक्रमण के बाद युद्ध के स्वरूप में जो परिवर्तन हुआ, जिस तरह कमूनिस्टों ने देश को फासिस्टों के विरुद्ध तैयार होने के लिए आह्वान किया, उससे सरकार कमूनिस्ट पार्टी को बहुत दिनों तक गैर-कानूनी नहीं रख सकती थी—गैर-कानूनी रखने का मतलब था इंगलैण्ड और अमेरिका में सख्त आलोचना। लेकिन जुलाई में कमूनिस्ट पार्टी पर से प्रतिबन्ध हटा देने के बाद तथा बहुत-से कमूनिस्टों के जेल से छोड़ देने पर भी सरकार ने डाँगे और बाटलीवाला को छोड़ना नहीं चाहा। चारों ओर से दबाव था, और उधर सोली का स्वास्थ्य भी बिगड़ चला, तब फरवरी 1943 में उन्हें छोड़ा गया। सोली का विकास कितनी ही बार एकाएक हुआ। आठ से सोलह साल की उम्र तक माँ का खूब प्रभाव रहा, जिससे वह कट्टर धार्मिक बन गये थे और यास्ना तथा दूसरे धार्मिक पाठों को प्रतिदिन किया करते थे। रोज आतिश-बहराम (अग्नि-मन्दिर) में जाते। मज्दा (भगवान्) के बड़े भक्त थे। कॉलेज में जाने पर उन्हें पारसी धार्मिक क्षेत्र से अधिक खुली जगह में आने का मौका मिला। 'गाथा' पढ़ते हुए उन्होंने गीता और हिन्दू दर्शन की कुछ पुस्तकें पढ़ीं। अब सिर्फ 'मज़्दा' की श्रद्धा पर उनका गुजर नहीं हो सकता था। उन्होंने तर्क-वितर्क शुरू किया। बुद्धिवाद की कितनी ही पुस्तकें पढ़ीं, फिर समाजवाद के कितने ही ग्रन्थ हाथ लगे। अब ईश्वर उनके लिए एक कल्पित-सी चीज मालूम होने लगा।

एक बार प्रेम कर सोली ने बहुत धोखा खाया था। उनके हृदय में, जान पड़ता था, प्रेम के लिए स्थान नहीं रह जायगा। लेकिन उसने आखिर में जगह की और नरगिस को पाकर सोली घाटे में नहीं रहे। पारसियों में सगी बहन छोड़कर बाकी किसी भी लड़की से ब्याह किया जा सकता है। मामा के मरने पर लोग मामी

की सम्पत्ति को लूटना चाहते। माँ के कहने पर सोली ने जाकर सब ठीक किया। मामा की लड़की नरगिस को उसके बचपन में सोली ने देखा जरूर था, लेकिन उस वक्त उसे और कोई ख्याल नहीं था। लेकिन अब नरगिस तरुणी हो गई, तो वह सोली के उद्देश्यों से सहमत ही नहीं सहकारिणी भी थी। सोली ने 1937 में नरगिस से ब्याह किया। नरगिस ने अपने काम से कमूनिस्ट-आन्दोलन में विशेष स्थान प्राप्त किया है।

26
मुहम्मद शाहिद

प्रमुख तिथियाँ—1903 जन्म, 1909-13 टिकरा स्कूल में, 1913 बंबई, 1913-16 उर्दू-गुजराती स्कूल में, 1916-21 दरी के काम की मजूरी, 1921 खिलाफत आन्दोलन में, 1922-23 खादी का काम, 1923-27 दरी बुनाई के मजूर, 1927-29 मिल-मजूर, 1929 हड़ताल, कमूनिस्टों का साथ; 1929-30 वाट के भिखारी, 1930 नमक-सत्याग्रह, 1931 फिर दरी का काम, 1932-33 लाल-झंडा गिरनी कामगार यूनियन के उपसभापति, 1934 दो साल की सजा, 1933-38 मजूर सभा में काम, 1939 बंबई कार्पोरेशन के मेम्बर, 1940 मई 22 छै मास की सजा, 1940 जून से 1943 जुलाई 18 जेल में नजरबन्द।

गरीबी क्या होती है, इसका स्वाद उसने बचपन ही से चखा था। तेरह वर्ष से उसे अपनी रोजी कमाने की फिक्र पड़ी। कभी काम मिलता और जिन्दगी कुछ निश्चिन्तता से गुजरती, कभी बेकार हो जाता और दाने-दाने के लिए मुहताज हो रात को फुटपाथ पर सोता। उसने कारखाने की मजूरी की थी और मजूरों की तकलीफें समझता था। जब उसके साथी मजूर जीविका के लिए लड़ रहे थे, तो वह पीछे कदम कैसे रख सकता था? मजूरों के लिए उसने कई बार जेलों की सजा भोगी, प्रलोभनों में न पड़ने के लिए उसने अपनी शादी तक न की। साम्प्रदायिकता के काले बादल कई बार उसके आसपास मँड़राये; मगर उस पर उनकी छाया न पड़ सकी। अपनी हिम्मत, अपने गुणों, अपने स्वार्थ-त्याग से आज कई साल से बम्बई के मजूरों का वह सर्वप्रिय नेता है। यह है कॉमरेड मुहम्मद शाहिद।

लखनऊ के पास बाराबंकी एक छोटा-सा जिला है, जिसमें जगौर स्टेशन से कितनी ही मील दूर सरथरा नाम का एक छोटा-सा गाँव है। यह गाँव ज्यादातर शेख लोगों का है। लेकिन उनके पचहत्तर घरों में बहुत कम के पास जमीन बच रही है। हाँ, वह गाँव के जमींदार तथा अशरफ समझे जाते हैं। गाँव में जुलाहों के पाँच, दर्जी का एक, बकरकसाई का एक, कुँजड़ों के तीन, बनिये के दो, भैंस पालनेवाले गूजरों के दो, कुर्मी के दस, पासी के दो, ब्राह्मणों के दो, अहीर के पाँच और चमारों के 30 घर हैं। गाँव के जमींदार शेख लोगों के अलावा बाराबंकी के एक वकील साहब भी हैं। गेहूँ, चना, ऊख की खेती गाँववालों की जीविका है। लोग ज्यादातर बहुत गरीब हैं, जिसके कारण कितने ही लोग घर छोड़ देश-विदेश में मारे-मारे फिरने के लिए मजबूर हुए। शेख नाजिमअली (मृत्यु 14 अगस्त 1943) ने उर्दू मिडिल पास किया था। दादा के पास अपनी ही जमींदारी की काफी जमीन जोतने के लिए थी। मगर बाप के पाँच भाइयों में बँट जाने पर वह इतनी कम हो गई कि उससे जीविका नहीं चल सकती थी। देश में नौकरी नहीं मिली, तो नाजिमअली भागकर बम्बई चले आये। उनकी पढ़ी विद्या वहाँ किसी काम न आई और 1907 ई. से मजूरों के महल्ले मदनपुरा में रहकर उन्होंने दरी बुनने का काम शुरू किया। कभी दरी की माँग होती, तो कुछ खाते और कुछ घर भेज देते; कभी माँग न रहती तो भूखे मरते। सूरत, पंजाब या कलकत्ता में भी दरी बुनने के लिए जाते। नाजिमअली मजूर थे और रोजा-नमाज की कड़ी पाबंदी न रखते हुए भी धर्म में उनका विश्वास था।

नाजिमअली की स्त्री नमाजुन्निसा (मृत्यु 1918) बहुत सीधी-सादी औरत थी। पति की गरीबी में उन्हें ढाढ़स बँधाना अपना फर्ज समझती थीं। उनका ख्याल था कि भगवान् ने जो कुछ तकलीफ दी है, वह हमारे

भले ही के लिए। वह खुद रोजा-नमाज रखतीं, अल्ला की बन्दगी करतीं और उम्मीद रखती थीं कि मरने के बाद अल्ला जरूर उन्हें मियाँ और बच्चों के साथ बहिश्त बख्शेगा। पहले बहुत सालों तक नमाजो घर पर रहतीं और मियाँ बम्बई में दरियाँ बुनते। लेकिन 1913 में पति ने बम्बई बुला लिया और तब से वह वहीं रहने लगीं।

नाजिमअली और नमाजुन्निसा को 1903 के किसी महीने में एक बच्चा पैदा हुआ, जिसका नाम रखा गया मुहम्मद शाहिद।

शाहिद के पिता उस समय बम्बई में रहते थे और माँ-बेटे ननिहाल मंगरवल में। शाहिद की सबसे पुरानी स्मृति साढ़े तीन साल की है। उस वक्त खुरपी से खेल रहे थे। किसी चीज को काटते वक्त वह बायें हाथ की अनामिका पर लगी और हड्डी के पास तक पहुँच गई। खून बह चला और शाहिद बेहोश हो गये।

बचपन–शाहिद को किस्सों के सुनने का बहुत शौक था। उन्होंने कितने ही भूतों और जिन्नों के भी किस्से सुने, जिसके कारण अँधेरे में डर लगने लगता। गाँव के लड़कों के साथ खेलना उन्हें बहुत पसंद था। कभी कबड्डी खेलते, कभी गोली। दरख्तों पर खूब चढ़ते। वह अवधी के गानों को बहुत पसन्द करते।

शिक्षा–छे वर्ष की उम्र (1909) में शाहिद मंगरवल से दो फर्लांग दूर टिकरा (कसबा) के मदरसे में पढ़ने जाते। मदरसे में दो अध्यापक और सौ के करीब लड़के थे, जिनमें एक मुंशी हरप्रसाद भी थे। मुंशीजी का सिद्धांत था कि बिना छड़ी के विद्या दिमाग में नहीं घुसती। शाहिद भी पिटते। वैसे शाहिद पढ़ने में खराब नहीं थे। भूगोल छोड़ सभी चीजें उन्हें पसंद थीं। शाहिद कितनी ही बार किताबों को दरख्त पर टाँगकर खेलने में लग जाते। लड़कों की फौज के वे नेता थे, जिसमें कुछ तो अपना गुण सहायक था और कुछ एक खाते-पीते असर रखनेवाले मामू का भाँजा होना भी था। उस समय शाहिद का स्वास्थ्य बहुत अच्छा था।

शाहिद ने तीसरे दर्जे तक पढ़ा। अब उनकी उम्र दस साल की थी। वे जानते थे कि मेरे पिता कहीं दूर बम्बई में रहते हैं।

1913 में पिता ने शाहिद और उनकी माँ को बम्बई बुला लिया। पिता कई साल तक घर नहीं गये थे, माँ-बेटे को बहुत खुशी हुई। शाहिद ने इससे पहले कोई शहर नहीं देखा था–बाराबंकी को भी नहीं देख पाये थे। यद्यपि रेलवे लाइन गाँव के पास से जाती थी, मगर रेल पर वे चढ़े न थे। रेल उनके लिए एक अजीब-सी चीज थी। फिर बम्बई जैसा शहर उनके सामने आया। उसके बड़े-बड़े मकान, साफ-सुथरी सड़कें शाहिद को अच्छी मालूम हुईं। उन्हें सबसे खुशी यह थी कि पिता रोज एक-दो पैसे दे देते हैं और शाहिद को खाने की चीजें मिलती हैं। वे मदनपुरा में रहते थे।

मदनपुरा में ज्यादातर मजूर बसते हैं, और प्रायः सभी मुसलमान हैं। दस साल के शाहिद अभी कोई काम तो कर नहीं सकते थे, पिता ने उन्हें वहीं के सेन्ट्रल स्कूल में दाखिल कर दिया। शाहिद वहाँ उर्दू और गुजराती पढ़ते थे। 300 लड़कों में यद्यपि अधिकतर यू. पी. के थे, मगर स्कूल के लिए पैसा देनेवाले गुजराती मुसलमान थे, इसलिए वहाँ गुजराती भी पढ़ाई जाती थी। अभी तक शाहिद ने कुरान और नमाज का नाम ही भर सुना था, मगर यहाँ उन्होंने दो-चार सिपारे पढ़े, शायद नमाज भी सीखी। खींच-खाँचकर किसी तरह शाहिद वहाँ तीन साल (1913-16) तक पढ़ते रहे। खर्च के डर से उन्होंने अंग्रेजी नहीं ली थी। 1916 में लड़ाई का दूसरा साल चल रहा था। पिता की आर्थिक अवस्था बहुत खराब थी। उनके सामने सिर्फ दो आना महीना फीस का ही सवाल नहीं था, बल्कि छोटी बहन सहित चार प्राणियों के आहार का भी सवाल था।

तेरह साल का मजूर–शाहिद शाम-सवेरे दरी की बुनाई और ताना-बाना का काम कुछ सीख चुके थे। अब पिता ने शाहिद को भी दरी के काम में जोत दिया। अनाज बहुत महँगा था। चार आदमियों के खाने पर तीस रुपये से क्या कम खर्च आता। ऊपर से सात रुपया मकान का भाड़ा था। सूत भी कम मिल रहा था, नहीं तो बाप-बेटे मिलकर काफी कमा लेते। पिता कभी कुछ कर्ज लाते, और कभी एक-आध शाम परिवार चने-चबेने पर गुजार देता।

शाहिद को लड़ाई के बारे में इतना ही मालूम था कि कहीं पर जर्मनों और अंग्रेजों से लड़ाई हो रही है। कभी-कभी पिता 'पंच-बहादुर' (साप्ताहिक) लाते, तो शाहिद भी उसे पढ़ते। उसमें परिहास बहुत रहते थे।

इस गरीवी में तन्दुरुस्ती कैसे अच्छी रह सकती थी ? भूख, दिन-रात की मेहनत और वच्चों की तकलीफ देखकर माँ दिन-पर-दिन घुलने लगी। उन्हें तपेदिक हो गई और आखिर में उसी में (1918) में चल वसी।

पिता ने लड़की को दादा के पास घर भेज दिया। अव वाप-वेटे भुखमरी से लोहा ले रहे थे।

लड़ाई वन्द हुई, अनाज का दाम कुछ घटने लगा और शाहिद और उनके पिता ने भले दिनों की उम्मीद की। मगर दरी का रोजगार विगड़ता ही गया और 1920 तक पहुँचते-पहुँचते हालत ऐसी खराब हो गई कि बाप को बम्वई छोड़ना पड़ा। वह काम ढूँढ़ने पंजाव चले गये। 1921-23 के दो साल शाहिद के लिए बहुत ही कठिन समय के थे–दरी का काम विल्कुल वन्द हो गया था। खिलाफत और असहयोग आन्दोलन से खादी की माँग वढ़ी थी। ग्वालिया टैंक में नौरोजी वेलगामवाला ने एक खद्दर बुनने का कारखाना खोला था। शाहिद इसी में दाखिल हो गये। अव उनकी हालत कुछ वेहतर हुई और अपने खाने भर के लिए मजूरी मिल जाती थी। 'खिलाफत-आन्दोलन' का शाहिद पर इतना ही प्रभाव पड़ा कि वे 'खिलाफत' को पढ़ा करते और 'मापला-जगावत' की वातें वड़े शौक से सुनते। उर्दू के सस्ते नाविल भी उन्हें पढ़ने को मिल जाते। शाहिद की चढ़ती जवानी थी। पिता भी मौजूद नहीं थे। कभी-कभी नमाज पढ़ लेते, मगर ज्यादा धार्मिक पावन्दी नहीं रखते थे, तो भी शाहिद वहुत संयम-प्रिय तरुण थे। मजूरों के मुहल्ले में रहकर भी उन्होंने शराव को कभी हाथ नहीं लगाया।

शाहिद को कमाना और खाना बस इतना ही दुनिया का ज्ञान था। 1923 में फिर दरियों की माँग होने लगी। दरी बनवानेवाले मालिकों ने फिर काम चालू किया। शाहिद को भी काम मिल गया। कमाकर बचाने की नौवत तो नहीं आती थी, मगर गुजर-बसर चल जाता था। कुछ पैसा बच जाता, तो सिनेमा भी देख आते। नाविलों के अतिरिक्त उर्दू शायरों के दीवानों (काव्य-संग्रहों) को भी पढ़ते। बम्वई शहर में शाहिद अमीरों के इन्द्रभवन जैसे महलों को भी देखते और दूसरी ओर मदनपुरा की सड़कों और फुटपाथों पर खुले आसमान के नीचे लेटे हजारों मजूरों को भी। शायद अभी इतना ही समझते थे कि गरीव और अमीर खुदा के बनाये हुए हैं।

मालिक के यहाँ दरी बुनने के अलावा शाहिद हिसाब-किताब भी लिख दिया करते थे, जिसके लिए उन्हें 20 रुपया और मिलता था। एक दिन एक मजूर ने मालिक से किसी वहुत ही जरूरी काम के लिए पैसे माँगे। मालिक को मजूर की जरूरत की क्या परवाह ? उसने नहीं कर दिया। मजूर फिर गिड़गिड़ाने लगा। शाहिद ने कह दिया–"पैसा तो आ गया है, दे न दीजिये।" मालिक शाहिद के ऊपर उवल पड़ा। शाहिद को नौकरी छोड़नी पड़ी।

शाहिद ने 'मुहरे खामोशी' नामक किसी नाविल को पढ़ा, जिसमें बोल्शेविकों और उनके नेता लेनिन पर खूब कोलतार पोतने की कोशिश की गई थी। लेनिन जल्लाद था, जार की लड़कियों के साथ उसका बुरा ताल्लुक था। शाहिद ने समझा बोल्शेविक बहुत बुरे आदमी होते हैं।

मिल के मजूर–दरीवाले मालिक की नौकरी छोड़ने के बाद शाहिद ने मिलों का दरवाजा खटखटाया। विक्टोरिया बाग के पास सासून सिल्क मिल्स में उन्हें जुलाहे का काम मिला। वहाँ वे दो साल तक काम करते रहे। शाहिद चतुर जुलाहे थे। मजूरी काम के नाप के अनुसार थी। महीने में साठ, सत्तर, अस्सी रुपये तक कमा लेते थे। अव वह खाने-पीने से निश्चिन्त थे। छुट्टी के समय अखबार पढ़ते या किताबें देखते रहते। कमालपाशा के व्यक्तित्व के प्रति उनका बहुत अनुराग था।

दो साल तक उनका जीवन-प्रवाह बहुत शान्त बहता रहा। अब जगतव्यापी मन्दी शुरू हुई। पूँजीवाद पर आई आफत को मालिकों ने मजूरों पर पटकना चाहा। किसी की तनख्वाह कम की जाती और किसी को काम से जवाव मिलता। मजूरों ने हड़ताल कर दी। रणदिवे, देशपांडे आदि कमूनिस्ट हड़ताल का नेतृत्व कर रहे थे। इस समय शाहिद देशपांडे के संपर्क में आये। उनसे उन्हें समाजवाद, सोवियत रूस और मजूर-आन्दोलन की बातें मालूम हुईं। शाहिद हड़तालियों को समझाते, और उनमें उर्दू की नोटिसें बाँटते थे। उस समय अभी साम्यवाद पर पुस्तकें नहीं मिलती थीं। शाहिद पंजाव के मासिक 'कीर्ति' और बुखारी की 'चिनगारी' को बड़े ध्यान से पढ़ते। बुखारी उनके उस्ताद बने और उनसे उन्हें रूस और साम्यवाद की बहुत-सी बातें मालूम हुईं।

तीन महीने तक मजूर लड़े। अन्त में हड़ताल टूट गई। शाहिद जैसे कितने ही मजूर पथ के भिखारी बन गये।

डेढ़ साल तक शाहिद को भूखों मरना पड़ा। कभी-कभी चार-चार फाके तक की नौवत आती। अपना कम्बल किसी दोस्त के पास रखते और रात को फुटपाथ पर सो जाते–पैसा कहाँ था कि किराये पर कोई सस्ती-सी कोठरी लेते। इस डेढ़ साल की विपदा ने शाहिद को पक्का कमूनिस्ट बना दिया। बुखारी कहीं फुटपाथ पर या मजूरों के किसी होटल में लेक्चर देते, शाहिद उसे वहुत ध्यान से सुनते रहते।

1930 में नमक-सत्याग्रह शुरू हुआ। शाहिद भी अव देश की आजादी के पक्षपाती थे। उस समय बम्बई के कमूनिस्ट सत्याग्रह के विरुद्ध थे। गरीबों के लिए कमूनिस्ट जो बातें या काम करते थे, शाहिद उन्हें पसन्द करते थे; मगर उन्हें यह समझ में नहीं आता था कि देश की आजादी के लिए लड़े जानेवाले सत्याग्रह का वे विरोध क्यों करते हैं। रजबअली बहादुर आदि कितने ही परिचित नमक बनानेवाले पहले जत्थे में थे। शाहिद भी उसमें शामिल हो गये। चौपाटी पर पुलिस ने पकड़ा। लेकिन थोड़ी देर बाद छोड़ दिया। सारे सत्याग्रहियों को जेल में रखने के लिए जगह कहाँ थी ? शाहिद स्वयंसेवक वनकर काम करते थे। वेडाला के नमक-गोदाम पर स्वयंसेवकों ने छापा मारा, शाहिद भी गये थे। पुलिस ने डण्डे बरसाने शुरू किये। शाहिद बेहोश हो गये। काँग्रेस अस्पताल में पहुँचने पर उन्हें होश आया। जमियतुल-उल्मा की ओर से एक स्वयंसेवक सेना वनी, शाहिद ने उसके संगठन में भाग लिया और शराव की दूकानों पर धरना दिया। कई महीने तक आन्दोलन चलता रहा। शाहिद भी उसमें तत्परता से लगे रहे। 1931 में गाँधी-इरविन समझौता हुआ। शाहिद जिस स्वराज्य की लम्वी-लम्बी बातें सुनते थे, उसमें से कुछ भी सामने दिखलाई नहीं पड़ा। शहिद का विश्वास गाँधीजी के रास्ते से उठ गया।

फिर उन्होंने काम ढूँढ़ना शुरू किया। किसी दरीवाले के यहाँ काम मिला और साल-भर तक बुनाई करते रहे। लेकिन, शाहिद अब सिर्फ पेट भर लेनेवाले मजूर नहीं थे। मजूरों के हित और विरोधियों को वे समझते लगे थे। कमूनिस्टों से उनका सम्वन्ध और घनिष्ठ होता गया। और वह इस मजूर की दृढ़ता पर विश्वास करते थे। 1932 में लाल झंडा गिरनी कामगर यूनियन के शाहिद सभापति चुने गये। 1933 में बम्बई में बहुत-सी हड़तालें हुईं–मालिक मजूरी घटाना चाहते थे। शाहिद हड़तालों को सफल वनाने के लिए दिन-रात काम करने लगे, और उन्होंने अपनी नौकरी छोड़ दी।

1934 की जनवरी में कपड़ेवाले मजूरों की बम्बई में कान्फ्रेंस हुई। सभी जगह मिल-मालिक मजूरों पर प्रहार कर रहे थे। कान्फ्रेंस ने सारे भारत में आम हड़ताल करने का प्रस्ताव पास किया। 20 अप्रैल को आम हड़ताल शुरू हुई। बम्वई और देश की दूसरी मिलों में मजूरों ने काम छोड़ दिया। मालिकों और पुलिस ने सारी ताकत लगा इसे तोड़ना चाहा। लेकिन चालीस रोज तक वह जारी रही। तेईस मई को पुलिस ने शाहिद को गिरफ्तार कर लिया। दो हफ्ता हवालात में रखा, 117 दफा के अनुसार मुकदमा चलाया और दो मास की सजा दी। शाहिद को मझगाँव और अर्थररोड जेल में रखा गया। डेढ़ मास के बाद उन पर 124 ए (राजद्रोह) का मुकदमा चलाया गया। पहली सजा खत्म होने के दिन दो साल की नई सजा का हुक्म सुनाया गया।

शाहिद को येरवाडा जेल में भेजा गया। वहाँ उन्हें पागलों के जेल में रखा गया। पास में कोई बातचीत करने के लिए नहीं था, न पढ़ने के लिए कोई किताब दी जाती थी। जेल के वार्डरों को भी वात करने की सख्त मनाही थी। शाहिद ने ये लम्बे बरस काट लिये और 2 मई 1936 को छूटकर वम्वई चले आये। अव मजूरों का संगठन और मजबूत हो गया था और गिरनी कामगार यूनियन की शक्ति बहुत मजवूत हो चुकी थी। मजूरों ने 1936 में शाहिद को अपनी सभा का उपसभापति बनाया और तव से वह बराबर उपसभापति रहते चले आये।

1939 में मदनपुरा के निवासियों ने अपने मजूर-नेता और मजूर-भाई को बम्बई कार्पोरेशन के लिए मेम्वर चुना।

महायुद्ध शुरू हुआ। जीवन-उपयोगी चीजें महँगी होने लगीं। मिल-मालिक नफा के नाम से ग्राहकों को आँख मूँदकर लूटने लगे। मजरों ने महँगाई का भत्ता माँगा। मालिकों ने देने से इन्कार कर दिया। मई 1940

में मजूरों ने हड़ताल कर दी। उनके नेता शाहिद को कैसे बाहर रखा जा सकता था ? पकड़ कर साल-भर की सजा दी गई और उन्हें नासिक भेज दिया गया। अपील से सजा छै मास की रह गई। शाहिद का स्वास्थ्य 1935 से ही खराब होता चला आ रहा था। जेल में भी उन्हें बहुत तकलीफ रही, सारे दाँत निकलवा देने पड़े। दिसम्बर में वे जेल से छूटे। लेकिन, मुश्किल से ही पाँच महीने बाहर रहने पाये कि 12 जून (1941) को उन्हें पकड़कर नजरबन्द कर दिया गया, जहाँ तेरह-चौदह महीना रहने पर 18 जुलाई (1942) को उन्हें जेल से छोड़ा गया। जेल में उनका स्वास्थ्य बराबर खराब रहता था। मगर शाहिद ने वहाँ अपने ज्ञान को बढ़ाया। वह अँग्रेजी सीखते, मार्क्सवाद की कितनी ही पुस्तकों को पढ़ते और पार्टी के क्लास में जाते।

शाहिद बम्बई के मजूरों के नेता हैं, ऐसे नेता जो कि खुद उनके भीतर से पैदा हुए हैं, उनको अभिमान छू नहीं गया है। उनकी सीधी-सादी सूरत देख करके किसी को पता नहीं लग सकता कि उनके भीतर आजादी की इतनी प्रचण्ड आग जल रही है।

1943 में उनके बूढ़े पिता मौत की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे थे और अपने लायक पुत्र को एक बार देख लेना चाहते थे। शाहिद 25 वर्ष बाद सरथरा गये। उन्हें अपने गाँव के लोगों में बहुत-से परिवर्तन दिखलाई पड़े, यद्यपि वह परिवर्तन नहीं जिसे शाहिद चाहते हैं। जहाँ शाहिद के बचपन के सरथरावाले अवधी बोलते थे, वहाँ आज के नव-शिक्षित तरुण उर्दू बोलने पर तुले हुए हैं। औरतों की पुरानी पोशाक की जगह अब खाते-पीते घरों में साड़ी और सलवार चल पड़ी। पर्दे में कमी नहीं कुछ वृद्धि ही हुई है। लड़कियों को पढ़ाने का शौक है–बाबू वर्ग में। वह समझते हैं कि लड़की पढ़ी-लिखी न हुई, तो अच्छा खसम नहीं मिलेगा। सरथरा के शेखों में बहुत कम नौजवान गाँव में दिखलाई पड़ते हैं। लोगों का खर्च बढ़ गया है, जिसे पूरा करने के लिए उन्हें दूर-दूर तक जाना पड़ता है। सम्मिलित परिवार और एक दूसरे के दुख-सुख में सम्मिलित होने की प्रथा उठ-सी गई है। हर आदमी सिर्फ अपना स्वार्थ देखता है। राजनीति का कोई ख्याल नहीं। हाँ, मुस्लिम लीग का नाम लोग बड़ी इज्जत से लेते हैं, और समझते हैं कि कांग्रेस हिन्दुओं की जमात है। शाहिद की बातें लोग ताज्जुब से सुनते। जिनके पास जमीन-जायदाद है, वह उसे पसन्द नहीं करते थे, मगर गरीबों को पसन्द आती थीं। शाहिद को अल्लामियाँ को छोड़े 14 साल हो गये। घर जाने पर वह नमाज में शामिल नहीं होते थे, लोग सन्देह करते थे कि शाहिद दहरिया (नास्तिक) हो गया है।

शाहिद ने एक बार फिर अपने पुराने गाँव से परिचय प्राप्त किया। पिता ने अपने पुत्र को देखकर अन्तिम साँस ली। शाहिद फिर बम्बई चले आये। उन्होंने ब्याह नहीं किया। क्यों ? मेरा जीवन एक और व्यक्ति को आफत में डालने के लिए नहीं होगा। उनके सामने सिर्फ एक ही उद्देश्य है। मजूरों और किसानों का सुखमय जीवन, मजूरों और किसानों का राज्य। इस समय चालीस बरस में ही साठ वर्ष के लगनेवाले शाहिद की जवानी एक बार फिर लौट आयेगी। उस समय शायद ब्याह करने से भी वह इन्कार न करेंगे।

27

भालचन्द्र रणदिवे

प्रमुख तिथियाँ–1904 दिसंबर 18 जन्म, 1909-10 प्राइमरी स्कूल, 1921 मेट्रिक पास, 1921 पूना फर्गुसन कॉलेज में, 1922-25 विल्सन कॉलेज, 1925 बी. ए., 1927 एम. ए., राजनीति में, 1929 जेल में, 1934 दो साल सजा, 1940-42 नजरबन्द।

जिसने भारतीय मजूर-आन्दोलन के साथ पिछली दशाब्दी में दिलचस्पी रखी होगी, उसने बी. टी. रणदिवे का नाम जरूर सुना होगा। जिसे बम्बई के कपड़े की मिलों के कमकरों के आन्दोलन को जानने का कभी मौका

मिला होगा, उसे रणदिवे का नाम बार-बार सुनने में आया होगा। जिसने पचीसों हजार मजूरों के बीच इस स्वाभाविक वक्ता को भाषण करते देखा होगा, वह जरूर रणदिवे की असाधारण वक्तृत्वशक्ति की ओर आकर्षित हुआ होगा और जिसने शिक्षित वर्ग के भीतर हरद्वार की गंगा की प्रखर धार की तरह अविच्छिन्न बहती धारा और बीच-बीच में हँसानेवाले वाक्यों को लेकर तर्क-संगत तीव्र वाग्धारा और उससे अप्रयास अंग्रेजी में बोलते देखा होगा, वह जरूर बी. टी. को याद रखेगा। और मेरठ-षड्यंत्र के मुकदमे की कार्रवाई को सालों तक जिसने अखबारों में पढ़ा होगा, उसने भी अभियुक्तों के पैरवीकार रणदिवे का नाम जब-तब सुना होगा।

भालचन्द्र त्रयम्बक रणदिवे का जन्म 18 दिसम्बर 1904 में बम्बई के दादर मुहल्ले में हुआ था। उनके पिता त्रयम्बक मोरेश्वर रणदिवे ठाणा के रहनेवाले थे, जोकि बम्बई के पास ही का एक जिला है। लेकिन सरकारी नौकरी के सिलसिले में आकर बम्बई में बस गए। रणदिवे का अर्थ रणद्वीप अथवा रणदीपक है। पोर्तुगीजों के साथ लड़ाई करते वक्त उनके वंशज को यह पदवी मिली, जो पेशवा के शासन में रणदिवे कायस्थ-परिवार मुल्की या नागरिक अधिकारी के काम पर नियुक्त था। पिता त्रयम्बक सुधारवादी प्रार्थना-समाज के सदस्य थे और आर्य-समाजियों की भाँति मूर्ति, साकार ईश्वर तथा अनेक देवबाद के विरुद्ध एक ईश्वर के विश्वासी थे। रणदिवे की माता यशोदा–जो कि अब भी जीवित हैं–एक पतिपरायणा हिन्दू स्त्री थीं। उनसे बालक रणदिवे ने बहुत-सी धार्मिक कहानियाँ सुनीं।

1909-10 में रणदिवे बाँदरा के म्युनिसिपल प्राइमरी स्कूल में एक साल तक पढ़ते रहे। फिर कुछ समय और दूसरी पाठशाला में बिताकर नूतन मराठी विद्यालय में दाखिल हुए, जहाँ से 1921 में उन्होंने मेट्रिक पास किया। शुरू से ही उनकी अंग्रेजी और संस्कृत में दिलचस्पी थी।

1921 में वह पूना के फर्गुसन कॉलेज में एक साल तक पढ़ते रहे और 1922 में विल्सन कॉलेज (बम्बई) में चले आए। वहाँ से उन्होंने 1925 में इतिहास और अर्थशास्त्र में बी. ए. पास किया। फिर बम्बई विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विद्यालय (School of Economics) में पढ़कर भारत की 'जनसंख्या की समस्या' पर एक निबन्ध लिखा, जिस पर यूनिवर्सिटी ने उन्हें एम. ए. की उपाधि दी। भालचन्द्र कानून के कॉलेज में प्रविष्ट हुए और एल-एल. बी. का प्रथम वर्ष पास किया, लेकिन द्वितीय वर्ष में जाकर छोड़ दिया।

रणदिवे की माँ यशोदाबाई और डॉक्टर गंगाधर अधिकारी की माँ लक्ष्मीबाई दोनों सगी बहनें थीं और साथ ही वह और जगन्नाथ अधिकारी (डॉक्टर गंगाधर अधिकारी का मँझला भाई) दोनों समवयस्क थे। इसीलिए दोनों में बहुत प्रेम था और पीछे चलकर जिस तरह दोनों साथ-साथ पढ़ते थे, उसी तरह के आसपास के राजनीतिक-सामाजिक वातावरण का भी दोनों पर एक-सा प्रभाव पड़ा था।

महाराष्ट्र के स्वतंत्र मराठों का अन्त बहुत पीछे 19वीं सदी के प्रथम पाद में हुआ, इसीलिए सौ वर्ष के भीतर ही अपने स्वतन्त्रता के दिनों को मराठे भूल नहीं सकते थे। उस शताब्दी के अन्तिम पाद में राणाडे (राणडे) और बालगंगाधर तिलक जैसे महान नेताओं ने उनकी उस सुप्त होती भावना को फिर से जागृत किया। इसलिए सारी शिक्षित जनता में राष्ट्रीयता का भाव–हाँ, कम-से-कम आरम्भ में महाराष्ट्र राष्ट्रीयता का भाव–बहुत जागृत हुआ। रणदिवे की पीढ़ी के बच्चों के लिए तिलक जीते-जी एक आदर्श देवता बन गए थे। रणदिवे को अत्यन्त बचपन में ही मराठा जाति के इतिहास को पढ़ने का बहुत शौक था और इसकी पूर्ति के लिए सरदेसाई की 'मराठी रियासत' ने बहुत मदद की। भालचन्द्र रणदिवे धनुर्धारी की इतिहास सम्बन्धी छोटी-छोटी पुस्तिकाओं को बहुत पढ़ा करते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि दस वर्ष तक पहुँचते-पहुँचते विदेशी शासकों के लिए उनके दिल में जबर्दस्त घृणा पैदा हो गई; यद्यपि उनके पिता सरकारी अफसर थे। पिछली लड़ाई के दिनों में वे दस से चौदह वर्ष तक के थे, लेकिन उस वक्त भी अंग्रेजों को हरएक हार में उन्हें खुशी हुआ करती थी। जब लोकमान्य छूटकर माण्डले से आए, तो देश के खुशी मनानेवाले नर-नारियों में तरुण भालचन्द्र रणदिवे भी था। बम्बई या आसपास में लोकमान्य के जहाँ-जहाँ व्याख्यान होते थे, भालचन्द्र बड़े चाव से उन्हें सुनने जाया करते थे। लोकमान्य का अन्तिम समय और भारत में गाँधीजी का उदय एक साथ ही हुआ। दोनों की कार्य-प्रणालियों में उससे पहिले अन्तर जरूर था लेकिन पीछे कितना अन्तर रहता इसे नहीं कहा जा सकता।

हाँ, यदि तरुण भालेराव को देखें तो इसे तिलक के प्रति अपनी भक्ति को गाँधी के भीतर वदलने में देर नहीं लगी। विदेशी शासन को खत्म करना, वस यही उसकी एक इच्छा थी और उसने देखा कि गाँधीजी वही काम कर रहे हैं। इसलिए लोकमान्य के उपदेश सुनने के लालायित भालचन्द्र ने गाँधी के रास्ते को पसन्द किया। 1921-22 के असहयोग में वह कूद पड़ा होता मगर पिता–जोकि आमतौर से लड़के पर दवाव देना पसन्द नहीं करते थे–के आग्रह और तैयारी समाप्त हो जाने पर स्कूल नहीं छोड़ सका। साथ ही भालचन्द्र सदा श्रद्धाप्रधान नहीं बल्कि बुद्धि-प्रधान रहे और समझते थे कि और विद्या पढ़कर राजनीति में वह और साधन-सम्पन्न हो दाखिल होंगे। 1918 में रूसी क्रान्ति की भनक भारत में आई थी, मेरे जैसे सीधी-सादी किसान बुद्धि रखनेवाले के लिए तो रूस से धनियों का राज्य उठ जाना और मजूरों-किसानों का राज्य कायम होना यही सारी बात समझने के लिए काफी थी। लेकिन रणदिवे वम्वई के जिस वावू समाज में घूमते, उसमें उतना ही पर्याप्त नहीं था, इसलिए जव हिन्दुस्तान के अखवार अपने अंग्रेज-प्रभुओं से हुँआँ-हुँआँ मिलाकर लेनिन को डकैत कहते तो उनके लिए रूस की डकैतोंवाली क्रान्ति का कोई महत्त्व न रह जाता।

रणदिवे अर्थशास्त्र के विद्यार्थी थे। अर्थशास्त्र में समाजवाद का नाम निन्दा ही के लिए सही, कुछ लिखना जरूरी था और उतने से भी उन्हें वहुत-कुछ समझ में आ जाता यदि उनके अध्यापक में ऐसी कोई योग्यता होती, लेकिन हिन्दुस्तान का दुर्भाग्य है कि वह चारों ओर मुर्दों से घिरा है। इतिहास के मुर्दे उसका पिण्ड नहीं छोड़ना चाहते, धर्म के मुर्दे उसकी नाक दवाकर मारना चाहते हैं। समाज के मुर्दे सहस्राब्दियों की जात-पाँत की छूतों की सड़ाँदों को अटल वनाये रखना चाहते हैं। कचहरियों में जहाँ देखिये वहाँ कुर्सियों पर, जंगलों के बगल में वैठे अथवा काले चोगे पहने यही मुर्दे कठपुतली की तरह हिलडोल रहे हैं। और स्कूलों और कॉलिजों में तो ऐसे मुर्दों की और भरमार है–आज भी है तो वीस साल पहिले की तो वात ही क्या। ये मुर्दे इतने बढ़ गए हैं, कि यदि हमारे देश का मुर्दों से पिण्ड छुड़ाना है, तो पैंतीस साल के ऊपर के इन सभी के लिए पिंजरापोल में रखना लाजिमी होगा। आज भी इन मुर्दों का काम है, मुर्दा दुनिया के न जाने देने के लिए सारी शक्ति से कोशिश करना। इसीलिए एम. ए. अर्थशास्त्र को लेकर एम. ए. के अन्तिम वर्ष तक पहुँच जाने के बाद यदि बी. टी. रणदिवे को सोशलिज्म के वारे में कोई ज्ञातव्य बात नहीं मालूम हुई तो इसके कारण थे यही मुर्दे।

लेकिन जो काम इन मुर्दों ने नहीं किया वह सात समुद्र पार बैठे एक लेखक की पुस्तक ने किया। 1927 में बी. टी. (भालचन्द्र त्रयम्वक का संक्षेप, जिस नाम से कि उनके साथी उन्हें पुकारते हैं) के हाथ में कहीं से रजनी पामदत्त की पुस्तक 'आधुनिक भारत' (Modern India) हाथ लगी और अपनी पीढ़ी के कितने ही तरुणों की भाँति इस ग्रन्थ-रत्न ने इनकी भी आँख खोल दी। रजनी पामदत्त भारतीय पिता के पुत्र हैं। लेकिन वह बाल्य में कुछ समय छोड़ सदा इंग्लैंड ही में रह गए। लेकिन रजनी ने भारत के ऋण को भुलाया नहीं और अपनी इस एक पुस्तक ही से पामदत्त ने जितने भारतीय तरुणों को भारतीय समस्या को सुलझाकर समझाने का काम किया, वह भारत की बहुत वड़ी सेवाओं में है। इस पुस्तक के पढ़ने के बाद बी. टी. को मालूम हो गया, कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता और मार्क्सवादी समाजवाद दोनों विरोधी चीजें नहीं हैं; वल्कि मार्क्सवाद राष्ट्रीय आजादी के पथ को और साफ करके रख देता है। कॉलेज के शुरू के दिनों से ही बी. टी. गाँधीजी के विचारों को बहुत ध्यान से पढ़ते थे। असहयोग के बाद वह निरन्तर यंग इण्डिया को पढ़ा करते थे। जव आन्दोलन ढीला पड़ गया और सव जगह राजनीतिक निर्जीवता दिखाई पड़ने लगी, तो अपने करोड़ों देशभाइयों की भाँति बी. टी. की भी राजनीति के प्रति उदासीनता स्वाभाविक वात थी। लेकिन गाँधी के प्रति उनका अव भी सम्मान का भाव था। 1924 में जब गाँधीजी की वीमारी और खतरनाक आपरेशन की बात बी. टी. ने पढ़ी, तो उनको जबर्दस्त चोट लगी और एक वार फिर सोई राजनीतिक भावना जाग उठी। लेकिन, गाँधीजी का रास्ता फिर भी उनके मस्तिष्क को संतुष्ट नहीं कर सकता था। यह तो रजनी पामदत्त की पुस्तक ही थी, जिसने 21 वर्ष में बूढ़े बन गए बी. टी. को 23वें वर्ष में फिर तरुण वनाकर खड़ा कर दिया।

1927 से बी. टी. ने राजनीति में भाग लिया। जगन्नाथ अधिकारी, घाटे, डाँगे आदि से उन्होंने घनिष्ठ

सम्बन्ध स्थापित किया और उन्हीं के साथ मिलकर बम्बई के कपड़े के कारखानों के मजदूरों, रेलवे मजदूरों, ट्रामवे के मजदूरों में काम करना शुरू किया। 1928 में जब बम्बई के पहिले से काम करते आए मजूर-नेता मेरठ-षड्यन्त्र के समय में पकड़ लिए गए, तो उनकी चार वर्ष की अनुपस्थिति में जिन्होंने बम्बई के मजदूरों में लाल झण्डे को नीचे नहीं गिरने दिया, उनमें बी. टी. भी थे। आज बी. टी. रणदिवे बड़े जबर्दस्त वक्ताओं में हैं। बंगाल और कलकत्ता को जैसे अपने बंकिम मुखर्जी जैसे वाग्मी पर अभिमान है, वही बात पश्चिमी भारत और बम्बई को बी. टी. पर है। लेकिन यह तअज्जुब की बात है कि 1929 में पहिले-पहिल हड़ताल के वक्त उन्होंने 25 हजार मजूरों के बीच भाषण दिया। शायद उनको अपने भीतर की इस अद्‌भुत शक्ति का पता न था। शायद दूसरों ने इसे जानने की कोशिश न की, और 1923 के बाद देश की राजनीतिक मुर्दनी का जो प्रभाव बी. टी. पर पड़ा, उसने मानो उनकी वाक्‌शक्ति पर ताला लगा दिया। इस ताले को रजनी पामदत्त की पुस्तक ने कुछ ढीला जरूर किया, मगर यह मजूरों की जबर्दस्त लड़ाई और उनका दृढ़ मनोबल था जिसने बी. टी. के हृदय पर बड़े फौलादी तवे को फोड़कर वाणी की तेज धारा को बहा दिया। बी. टी. मराठी 'क्रान्ति' और अंग्रेजी 'स्पार्क' में बराबर लेख लिखते थे।

1929 में हड़ताल के कारण बी. टी. को चार महीने की सजा हुई और राजद्रोह के मुकदमे में एक साल की। जेल से निकलने के बाद बी. टी. ने अपने को ज्यादा सँभाला, क्योंकि मजूरों के कार्यकर्ता के लिए जेल में जाना लाचारी की चीज है, नहीं तो उसकी जिम्मेवारी उसे मजूरों में रहने के लिए मजबूर करती है। 1934 में राजद्रोह का मुकदमा चलाकर बी. टी. को फिर दो साल के लिए जेल में बंद कर दिया गया, लेकिन अब उनके बहुत-से साथी मेरठ के मुकदमे से छूटकर चले आए थे।

1936 के बाद वर्तमान लड़ाई के शुरू तक बी. टी. अपने कार्यक्षेत्र में डटे रहे, लेकिन 1940 के शुरू में जो सारे भारत में कमूनिस्टों की गिरफ्तारियाँ हुईं, उन्हीं में उन्हें भी गिरफ्तार करके नजरबंद कर दिया गया।

बी. टी. को यह भी फख्र हासिल है, कि नजरबन्दों में से भी पकड़कर उनको अलग नजरबन्द किया गया—देवली में उन्हें, डाँगे और बाटलीवाला को सरकार ने अलग बँगले में नजरबन्द किया था। डर था कि उनके रहने से कहीं देवली के कमूनिस्ट बगावत न कर बैठें। कई महीनों की नजरबन्दी के बाद उन्हें सब के साथ मिलने का तभी मौका दिया गया, जब देवलीवालों ने सफलतापूर्वक अपनी भूख-हड़ताल खत्म की।

बी. टी. देवली में उन थोड़े-से कमूनिस्टों में थे, जिन्होंने सोवियत के ऊपर जर्मनी के प्रहार होते ही समझ लिया, कि यह रूस के भौगोलिक भाग की किसी सरकार के ऊपर हमला नहीं है, बल्कि यह हमला उस नई व्यवस्था समाजवाद पर है, जो कि सारी पृथिवी से शोषण को हटाने के लिए उसके छठे भाग पर आया है। यहाँ रूस के एक राज्य के, अस्तित्व का सवाल नहीं है, बल्कि सारी पृथिवी पर फैलने के लिए आए हुए समाजवाद को भी उस जमीन से मिटा देने का सवाल है, जहाँ कि उसने पहिला कदम रखा है।

28

श्रीनिवास ग. सरदेसाई

प्रमुख तिथियाँ—1907 मार्च 3 जन्म, 1920-23 बड़ोदा हाईस्कूल, 1923 सांगली कॉलेज में, 1924-27 बंबई कमर्स कॉलेज में, 1927 बी. कॉम. पास, 1927-29 प्रयाग विश्वविद्यालय में, 1928-29 सर सप्रू के पोलिटीकल असिस्टेंट, 1928 मार्क्सवादी, 1929 बंबई के मजूरों की हड़ताल में, 1930 जी. आई. पी. रेलवे हड़ताल में मनमाड़ केन्द्र के संचालक, अगस्त में 18 मास का जेल, 1931 'रेलवे वर्कर' के संपादक, 1932 मार्च कानपुर के जेल में 7 मास, 1933-34 बंबई की हड़तालों का संचालन, 1934 मई में गिरफ्तार और सवा दो साल की सजा, 1934 मई—1936 मार्च जेल में, 1936 शोलापुर में, 1937-38 शोलापुर के 'जरायम-पेशा' कहे जानेवाले कमकरों में काम, आम मजूरों में काम, 1938

नौ मास का जेल, 1939 सारे भारत में काम, 1940 अन्तर्धान, नवम्बर में गिरफ्तार और नजरबन्द, 1942 जुलाई जेल से बाहर, 1942 अगस्त 7 ए. आई. सी. सी. में बोले।

सरदेसाई का नाम भारत में शायद ही कोई शिक्षित हो, जिसके कान में न पड़ा हो। सरदेसाई मराठा-इतिहास का सबसे बड़ा पंडित है, जिसने अपने सारे जीवन को इतिहास की गवेषणा में लगाया और जिसकी खोजों का सम्मान देश और विदेश के सभी विद्वान करते हैं। उस गोविन्द सखाराम सरदेसाई के बारे में हम यहाँ कहने नहीं जा रहे हैं, यद्यपि उस सरदेसाई ने भी नये भारत के इतिहास-क्षेत्र में नेतृत्व किया। यहाँ हमें कहना है, इतिहासज्ञ के भतीजे तथा छोटे भाई गणेश सखाराम सरदेसाई के पुत्र श्रीनिवास गणेश सररदेसाई के बारे में। श्रीनिवास का प्रथम निर्माण इतिहासज्ञ सरदेसाई के हाथों हुआ; लेकिन शायद वह यह नहीं जानते थे कि उनका मेधावी भतीजा कुछ और ही बनकर रहेगा।

श्रीनिवास सरदेसाई का जन्म 3 मार्च 1907 को शोलापुर में नाना के घर हुआ। उनकी माँ इन्दिरा (किर्लोस्कर) को श्रीनिवास के जन्मते ही तपेदिक हो गया और चार साल के भीतर ही (1911 में) चल बसीं। इन्दिरा की दोनों सन्तानें आगे चलकर एक ही पथ की पथिक बनीं। सरदेसाई की छोटी बहन मीनाक्षी कर्‌हाड़कर सोलापुर के मजूरों की सर्वप्रिय नेता है।

श्रीनिवास सरदेसाई की सबसे पुरानी स्मृति माँ की मरण-शय्या की है जबकि उसकी चार साल की आँखों ने माँ को घुल-घुलकर मृत्यु के निकट जाते देखा।

गोविन्द सखाराम सरदेसाई अपने पाँचों भाइयों में सबसे जेठे और घर के सरदार हैं। सारे घर को समेट करके रखना वे अपना कर्तव्य समझते थे। इसीलिए जब वह बड़ौदा में राजकुमारों के गुरु थे, उस समय पाँचों भाइयों के बच्चों से उनका घर भरा रहता था और बच्चों की शिक्षा में अध्यापकों के अतिरिक्त स्वयं भाग लेते थे। होश संभालते ही श्रीनिवास ने अपने चचा को शिक्षक के रूप में देखा और वह तेरह साल की उम्र तक घर में उनके ही पास पढ़ते रहे। इन्हें उस समय मराठी, इंग्लिश और संस्कृत पढ़ना पड़ता था। भाषाओं में खासकर अंग्रेजी में श्रीनिवास की बड़ी रुचि थी। इतिहासज्ञ सरदेसाई ने बच्चों में हमेशा स्वतन्त्र चिन्तन के लिए प्रेरणा दी। उनका शिक्षा का ढंग कुछ और ही था, इसीलिए तो श्रीनिवास को स्कूल में जाने की अपेक्षा घर में 13 साल की उम्र तक पढ़ना पड़ा। बालक श्रीनिवास क्या तर्क-वितर्क करता रहा होगा, उसके चचा बच्चे के प्रश्नों का किस तरह उत्तर देते होंगे, जिसका परिणाम यह हुआ कि स्कूल में जाते वक्त ही तेरह साल के श्रीनिवास का ईश्वर से विश्वास उठ गया था। बचपन में श्रीनिवास को टिकट जमा करने तथा फोटो खींचने का बड़ा शौक था। ब्वायस्काउट और फर्स्ट एड को भी मनबहलाव के तौर पर सीखा था।

स्कूली शिक्षा–1920 में तेरह साल की उम्र में श्रीनिवास को बड़ौदा हाईस्कूल में दाखिल कर दिया गया। 1922 में मैट्रिक में सभी पाठ्य विषयों को वे पढ़ चुके थे; मगर पन्द्रह साल की उम्र होने के कारण उस समय के नियम के अनुसार परीक्षा में बैठ नहीं सकते थे। 1923 में श्रीनिवास ने मैट्रिक पास किया। शिक्षाशास्त्रियों को स्मृति की परीक्षा पसन्द है। तरुण सरदेसाई स्मृति नहीं, ज्ञान को पसन्द करता, इसीलिए उसने सदा अपना बहुत-सा समय बाहरी पुस्तकों के पढ़ने में दिया।

1923 में श्रीनिवास सांगली कॉलेज में दाखिल हो गये। पाठ्य-विषय थे–गणित, भौतिक शास्त्र, अंग्रेजी और संस्कृत। लेकिन एक साल बाद ही उन्होंने सोचा 'व्यापारे वसति लक्ष्मीः' और जाकर बम्बई के व्यापारिक कॉलेज में दाखिल हो गये। अर्थशास्त्र, हिसाब-किताब, व्यापारिक भूगोल और अंग्रेजी कॉलेज में पढ़ना पड़ता था। श्रीनिवास निजी तौर से पढ़ते थे–भारतीय दर्शन, विवेकानन्द रामतीर्थ की पुस्तकें। कॉलेज के वाद-विवाद सभा में श्रीनिवास खूब भाग लेते थे। कॉलेज मैगजीन के सम्पादक थे और उसमें अक्सर लेख लिखा करते थे। 1927 में वे बी. कॉम. पास हुए और फिर एम. कॉम. के लिए प्रयाग विश्वविद्यालय में दाखिल हो गये। 1927 में सरदेसाई आए तो थे एम. कॉम. की डिग्री लेने, मगर बहक गये किसी दूसरी तरफ। 1928 में यूनिवर्सिटी में पढ़ाई जारी रखते हुए भी सर तेजबहादुर सप्रू के प्राइवेट सेक्रेटरी या पोलीटिकल-असिस्टेन्ट बन गये। इतना

ही नहीं, 1928 में ही अपने यूनिवर्सिटी के एक होनहार छात्र पूरनचन्द्र जोशी के संपर्क में आये। पूरनचन्द्र जोशी उस समय यूथलीग (तरुण-संघ) और मार्क्सवाद का जबर्दस्त प्रचार कर रहे थे। सरदेसाई भी लपेट में आ गये। अब वह रूसी-क्रान्ति तथा मार्क्सवाद के सम्बन्ध की पुस्तकें पढ़ने लगे। उनकी दार्शनिक प्यास को मार्क्स के दर्शन ने बुझाया। उनकी कर्मठ प्रकृति को तरुण-आंदोलन ने सन्तोष दिया। कॉंग्रेस के साथ सरदेसाई की सहानुभूति थी और सर तेज के संपर्क में आने पर उन्हें नरमदलियों की निर्जीव राजनीति और भी नापसन्द लगने लगी।

सरदेसाई व्यापारिक क्लास में भी अपने मार्क्सवादी व्याख्या को लाने में नहीं चूकते थे। उनके प्रोफेसरों ने कह दिया कि यदि तुम्हारे ये ही विचार हैं, तो एम. कॉम. की डिगरी नहीं पा सकोगे।

राजनीति में–1929 के मार्च में प्रयाग से ही पूरनचन्द्र जोशी मेरठ-षड्यन्त्र मुकदमे के लिए गिरफ्तार कर लिये गये। सरदेसाई जल्दी न करने के लिए छै महीने और धैर्य धरे रहे, फिर उन्होंने एम. कॉम. का मोह छोड़ा और काम के मैदान में उतरने का निश्चय कर लिया। वह प्रयाग से सीधे वम्बई चले आये। उस वक्त तक आम हड़ताल खतम हो चुकी थी। सरदेसाई ने रणदिवे और देशपांडे के साथ सम्बन्ध स्थापित किया और उसी साल के अन्त में जी. आई. पी. रेलवे-मजूर यूनियन में काम करने लगे। उस समय रेलवे कम्पनियों ने मजूरों की हरएक उचित माँगों को ठुकरा दिया था, जिससे मजबूर होकर मार्च 1930 में जी. आई. पी. रेलवे के मजूरों ने आम हड़ताल कर दी। सरदेसाई को मनमाड केन्द्र का इन्चार्ज बनाकर भेजा गया था और वह डेढ़ मास रहकर वहीं काम करते रहे। मनमाड के 2000 मजदूरों–जिनमें चन्द क्लर्क भी थे–ने काम छोड़ दिया था। सरदेसाई ने अभी तक मजूर राजनीति को सिर्फ पुस्तकों में पढ़ा था, यहाँ वह आँखों के सामने देख रहे थे। सभी मजूरों में जबरदस्त एकता थी और सभी लड़ने में आगे रहना चाहते थे। स्त्रियाँ भी पुरुषों से पीछे रहना नहीं चाहती थीं। रेलवे कम्पनी या प्राइवेट व्यापारियों की थी। मजूर अपने पेट के लिए लड़ रहे थे। यह शुद्ध आर्थिक प्रश्न था। मगर रेलवे के थैलीशाहों की मदद में पुलिस आ धमकी और मजूरों पर मारपीट करने लगी। अब उन मजूरों ने समझा कि हड़ताल पेट के सवाल के साथ-साथ राजनीतिक हड़ताल भी है। पुलिस जितना ही जुल्म करती थी, मजूरों की राजनीतिक चेतना उतनी ही बढ़ती जाती थी।

हड़ताल के खतम होने के बाद सरदेसाई वम्बई चले आये। यह नमक-सत्याग्रह का समय था। इस सत्याग्रह में बम्बई के कमूनिस्ट नहीं शामिल होना चाहते थे। सरदेसाई को यह नीति समझ में नहीं आई। वह सत्याग्रह में भाग लेना चाहते थे। वह अहमदनगर के जंगल-सत्याग्रह में शामिल हुए और चाहा कि किसानों को भी उसके भीतर खींचें। अगस्त के आस-पास उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और 18 मास की सजा हुई। 9-10 मास येरवाडा और नासिक जेल में विताये। फिर गाँधी-इर्विन-समझौते के बाद छूट गये। अब सरदेसाई जी. आई. पी. रेलवे-मजूरों के पत्र 'रेलवे वर्कर' (अंग्रेजी साप्ताहिक) के सम्पादक हो गये। हिन्दी 'रेलवे-मजूर' भी उनकी देख-रेख में निकलता था।

1932 में सरदेसाई को अन्तर्धान होना पड़ा। वह पार्टी के काम से कानपुर गये। वहीं मार्च 1932 में गिरफ्तार कर लिये गये। युक्तप्रान्त की पुलिस ने नाहक जेल में बन्द रखा और जब कोई सबूत नहीं मिला, तब सात-आठ महीना जेल में रखने के बाद छोड़ दिया। जेल में अन्य काँग्रेसी राजबन्दियों के अतिरिक्त सरदेसाई को अजय से मिलने का मौका मिला, और अजय ने इन चन्द महीनों में भारतीय कमूनिस्टों के बारे में बातें सुनीं और सीखीं।

अगला साल 1933-34 सारा ही वम्बई की हड़तालों में गुजरा। सिर्फ 1933 में वम्बई में 20 हड़तालें हुईं। मिल-मालिक हरएक मजूर को दो की जगह चार लूम (करघे) देना चाहते थे। एक ओर कितने ही मजूरों पर काम का बोझा बढ़ाना चाहते थे और दूसरी ओर कितनों का काम छीनकर उन्हें भूखे मरने के लिए मजबूर करना चाहते थे। छोटी-छोटी हड़तालों के बाद बम्बई की सारी मिलों के मजूरों ने आम हड़ताल कर दी। ढाई मास तक संघर्ष चलता रहा, अन्त में हड़ताल टूट गई तो भी इससे मजूरों ने हार नहीं मानी। उनका मार्क्सवादी प्रोग्राम पर और भी विश्वास बढ़ा। 1933 के आखिर में मेरठ के साथी जब जेलों से छूटकर आये, तो इन हड़तालों के कारण जागृत मजूरों ने गुटबन्दी से हटाकर एक संगठित कमूनिस्ट पार्टी बनाने में बड़ी सहायता

पहुँचाई। इन हड़तालों में मजूर एक दूसरे ही रूप में दिखलाई पड़े। यह गाँधी का स्वयंसेवक दल नहीं था। वह पुलिस का सीधे मुकावला करते थे। पिस्तौलों और वन्दूकों के रहते भी पुलिस उनसे परेशान रहती थी। पुलिस घेरा डालती, मजूर उसे तोड़ते थे। वे कहते थे–"आओ, चले आओ" और सव आगे बढ़े चले जाते थे।

आम हड़ताल अप्रैल में शुरू हुई थी। सरदेसाई मई में गिरफ्तार कर लिये गये, और दफा 124 ए के अनुसार उन्हें सवा दो साल की सजा हुई। वह ठाणा जेल में रखे गए। उन्होंने अपना समय मार्क्सवाद के अध्ययन तथा मूल ग्रन्थों के अनुवाद करने में विताया।

मार्च 1936 में जेल से वाहर निकले। पार्टी पहले से ज्यादा मजवूत और संगठित थी। वह पार्टी की तरफ से कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के साथ सम्वन्ध जोड़नेवाले मेम्बर थे।

कौंसिलों का नया चुनाव होने लगा। शोलापुर चुनाव-क्षेत्र से पार्टी ने एक आदमी को खड़ा किया। शोलापुर मार्शल लॉ के दिनों (1930) में जवरदस्त दमन हुआ। अव भी शहर में गार्ड थे, जो वरावर पेट्रोल करते रहते। कोई सभा नहीं हो सकती थी। छै साल से दबाई हुई जनता में चुनाव का काम करना आसान न था। सरदेसाई वहाँ चुनाव के काम के लिए भेजे गये। पहले रात के 11 वजे के वाद ही लोगों से मिलकर चुनाव के वारे में वातचीत की जा सकती थी। इस पर मिल-मालिकों के गुण्डे पार्टी के प्रचारकों को पीटते भी थे। लेकिन सरदेसाई और उनके साथियों ने हिम्मत नहीं छोड़ी। पार्टी के उम्मीदवार को 11000 वोट मिले और उसके दोनों विरोधी उम्मीदवार वहुत बुरी तरह से जमानत जब्त करा के हारे।

सरदेसाई का काम चुनाव में विजय पा लेने से खतम नहीं होता था। 1937 में अव वह वहाँ डटकर मजूरों का संगठन करने लगे। यद्यपि वह महाराष्ट्र में और जगह भी घूमते थे, मगर इनका मुख्य केन्द्र शोलापुर था। शोलापुर में तेरह-चौदह सौ बीड़ीवाले मजूर हैं, जिनमें आधी संख्या स्त्रियों की है। वीड़ीवाले मजदूरों को मालिक बहुत कम मजदूरी दिया करते थे। वीड़ीवालों में सरदेसाई की छोटी वहन मीनाक्षी ने खूव जोर से काम किया। मजूरों ने हड़ताल कर दी। संगठित हड़ताल के सामने मालिकों को झुककर उनकी माँगें मंजूर करनी पड़ीं।

शोलापुर में एक और समस्या जरायमपेशा जातियों की आ गयी। पारथी (शिकारी), गारुडी (सरे), पे कैकाड़ी (खेतमजूर) तथा कितनी ही घुमन्तू जातियाँ जरायमपेशा समझी जाती हैं। शोलापुर और आसपास में इनकी संख्या चार हजार से ज्यादा है। यह जातियाँ पहले कोई न कोई पेशा करती थीं और ईमानदारी से जीवन वसर करती थीं। उनके पेशे बरबाद कर दिये गये। भूख के मारे परिवार (बच्चों) को मरते देख उनमें से कुछ ने छोटी-छोटी चोरी शुरू की। ठीक रास्ता तो यह था कि सरकार उनके लिए रोजगार का कोई इन्तजाम करती; मगर उसने जरायम दे उनके लिए जरायमपेशा कानून बना दिया। अब उन्हें कँटीले तारों से घिरे कैम्प में रहने के लिए मजबूर किया गया। उन्हें बराबर पुलिस में हाजिरी देनी पड़ती। उनकी कुछ जाातियों की स्त्रियाँ रंग-रूप में बहुत सुन्दर होती हैं। उन्हें व्यभिचार के लिए मजबूर किया जाता है। बीस-बीस साल तक के लिए पति को एक कैंप से दूसरे कैंप में बदल दिया जाता है। स्त्री घर पर पड़ी रहती है। फिर दुराचार क्यों न वढ़ता ? इस जाति के कुछ लोग शोलापुर की मिलों में काम करते थे। वहाँ उन्होंने मिल-मजूरों के संघर्षों को देखा। सरदेसाई के बहनोई रघुनाथजी कर्‌हाडकर तथा उनकी पत्नी मीनाक्षी मजूरों में काम कर रही थी। रघुनाथजी का ध्यान पहले-पहल इन जातियों की तरफ गया। उन्होंने उनके भीतर आत्म-सम्मान का भाव भरा। सरदेसाई के पहुँचने पर काम और जोर से शुरू हुआ। इन लोगों ने अपने बन्धनों को तोड़ना चाहा। वम्बई में कांग्रेस की मिनिस्टरी आ गई। जरायमपेशा बना दिये गये। लोगों ने अपने आन्दोलन को आगे बढ़ाया। उन्होंने सभाएँ कीं और जुलूस निकाले। कैंप के अधिकारियों ने कानून तोड़ने का इल्जाम लगाकर मुकदमे चलाये और सजाएँ दिलाईं। सरदेसाई-जैसे आन्दोलनकारियों के खिलाफ यह हथियार इस्तेमाल नहीं हो सकता था। अधिकारियों ने कुछ को बेलगाँव आदि दूसरे जिलों में भेजने का बन्दोवस्त किया। इस पर उन लोगों ने सत्याग्रह करने का निश्चय कर लिया। पुराने ढर्रे पर चली आती कांग्रेस मिनिस्टरी की अब नींद खुली। मन्त्री मुन्शी ने इसके लिए एक जाँच-कमेटी कायम की। संघर्ष चलता ही रहा। सरदेसाई ने आगे आनेवाले कार्यकर्ताओं की राजनीतिक

शिक्षा का अच्छा प्रवन्ध किया। उनमें से कितने ही पार्टी-मेम्वर तक बने। उनमें से वहुतों को कँटीले तारों से बाहर आने की इजाजत मिली। कितनी ही जातियों को जरायमपेशा जाति की सूची से निकाल दिया गया। चार हजार में आधे से ज्यादा ही अव मुक्त पुरुष हो गये। पुरुषों में ही नहीं, स्त्रियों में भी अभूतपूर्व जागृति हुई। जबरदस्त दमन के होते हुए भी उन्होंने अपनी निर्भयता का परिचय दिया। सरदेसाई का कहना है कि कई पीढ़ियों से भयंकर दमन का शिकार होते हुए भी इनमें शारीरिक और मानसिक फुर्तीलापन वहुत अधिक पाया जाता है। भावुकता की मात्रा भी अधिक है। हाथ की सफाई भी खूव है। पहले जो यौन-दुराचार-सम्वन्धी खराबियाँ पाई जाती थीं, आन्दोलन और आत्म-सम्मान के भाव के वढ़ने के साथ-साथ उनमें वहुत सुधार हुआ। जो पहले सिर्फ अपने देह-भर की परवाह करते थे और लोभ की मूर्ति से दिखलाई पड़ते थे, उन्होंने सम्मिलित संघर्ष में भारी आत्म-त्याग का परिचय दिया। आन्दोलन में पड़नेवाले परिवारों के ऊपर भारी आर्थिक संकट पड़ा। उनहें कई-कई फाके करने पड़े, भूख के मारे तीन-चार बच्चे मर गये; मगर तो भी उन्होंने पैर पीछे नहीं हटाया। उनका स्वार्थत्याग और तपस्या व्यर्थ नहीं गई। कांग्रेस मिनिस्टरीवाले उनको कितना परख पाये, यह इसी से मालूम हो सकता है कि जेल में एक को वेंत लगाये गये; लेकिन सभी ने सहानुभूति में भूख-हड़ताल कर दी। यह 1938 की बात है।

शोलापुर में सालभर के काम के बाद मजदूरों में खूब जागृति आ गई थी। बंगाल के राजवन्दियों ने जो दूसरी भूख-हड़ताल की थी, उसकी सहानुभूति में शोलापुर के मजूरों ने एक दिन मिलों में काम करना बन्द कर दिया। यह शुद्ध राजनीतिक हड़ताल थी। शोलापुर में रहते सरदेसाई सभा-संगठन तथा अध्ययन-चक्र के सिवाय साप्ताहिक 'एकजुट' का सम्पादन करते। जनवरी की हड़ताल को लेकर पुलिस ने सोलहों आने झूठा दोष लगाकर सरदेसाई को गिरफ्तार कर लिया। उन्हें नौ महीने की सजा हुई, जिसे वीजापुर और येरवाड़ा जेलों में काटा। 'जरायमपेशा' से आये एक साथी पर यहीं बीजापुर में रहते समय वेंत पड़ा था, जिसके लिए (1ली मई से 10 दिन) भूख-हड़ताल करना पड़ा। मि. मुन्शी ने आकर राजनीतिक बन्दियों की शिकायतों को दूर करने का वचन दिया था; मगर बेपरवाही दिखलाई, जिस पर सितम्बर में फिर 18 दिन की भूख-हड़ताल करनी पड़ी। मुन्शी ने तव भी कुछ नहीं किया। वस्तुतः नेता ऐसा चाहिए, जो रुपयेवाला भी हो, साथी भी हो और देशभक्त भी हो !

नवम्वर (1938) में सरदेसाई जेल से छूटे। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी और ऑल इन्डिया कांग्रेस कमेटी के मेम्वर चुने गये।

1939 में त्रिपुरी और कलकत्ता में कांग्रेस की बैठकों में गये और वहाँ उनके व्याख्यानों की विरोधी भी दाद देते थे। युद्ध के बाद पकड़े जाने का डर था; इसलिए अक्तूबर में वे तीन-चार सप्ताह के लिए अन्तर्धान हो गये। 1940 में शोलापुर में मजूरों ने महँगाई का आन्दोलन शुरू किया। सरदेसाई वहाँ मौजूद थे। मालिकों को दस सैकड़ा मजूरी बढ़ानी पड़ी और उन्होंने वादा किया कि चीजें जितनी महँगी होती जायेंगी, उसी अनुसार हम महँगी बढ़ाते जायेंगे।

मार्च में कमूनिस्टों की धर-पकड़ शुरू हुई। सरदेसाई अन्तर्धान हो गये और नवम्बर (1940) में जाकर पुलिस उन्हें पकड़ने में सफल हुई। नजरबन्द बनाकर उन्हें नासिक जेल में भेज दिया गया। फिर डेढ़ वर्ष तक जेल में रहने के वाद जुलाई 1942 में वह जेल से बाहर आये। अगस्त में ऑल इन्डिया काँग्रेस की बम्बईवाली बैठक में सरदेसाई पार्टी के प्रतिनिधियों के नेता के तौर पर बोले थे। उन्होंने सत्याग्रह आदि की धमकी का विरोध करते हुए, काँग्रेस-लीग-एकता और दूसरी राष्ट्र को मजवूत करनेवाली वातों पर जोर दिया।

सितम्बर से पार्टी ने उन्हें प्रान्त के काम से हटाकर केन्द्र में ले लिया। युक्तप्रान्त, विहार, मध्यप्रान्त और महाराष्ट्र में केन्द्र की ओर से घूम-घूमकर उन्होंने साथियों के अध्ययन और राजनीतिक शिक्षा का काम किया।

अक्तूबर के अन्त में सरदेसाई लखीसराय के गाँवों में घूमते रहे। क्वार-कार्तिक की धूप में धान के खेतों की मेड़ों और नदियों में पैदल घूमते हुए भी सरदेसाई का मुख सदा स्मित रहता। पैंट और शर्ट में रहते हुए सरदेसाई में एक गजब की और अकृत्रिम सादगी है। गहरी राजनीतिक गुत्थियों के विश्लेषण में जिसकी इतनी

पैनी वुद्धि हो, उसके चेहरे पर गंभीरता नहीं, बच्चों जैसी मृदुलता होगी, यह विश्वास भी नहीं किया जा सकता।

1943 में आज सरदेसाई उसी तरह कभी यू. पी., कभी विहार और कभी वम्वई में अपने कार्य में तत्पर हैं। अन्न-समस्या पर उन्होंने अपनी रिपोर्ट तैयार की थी। 'लोक-युद्ध' में उनके लेख निकलते रहते हैं।

ब्याह के वारे में पूछने पर सरदेसाई ने कहा—"ब्याह न करने का इरादा नहीं है, लेकिन No Girl is in my mind (मेरे मन की कोई लड़की नहीं है)।"

29
सैयद जमालुद्दीन बुखारी

प्रमुख तिथियाँ—1902 जुलाई 14 जन्म, 1907 शिक्षारंभ, 1907 मुल्ला के पास, 1909-12 मिश्नरी मेम के घर में पढ़ते, 1912 अजमेर में छै मास, 1912-14 धंधू के हाई स्कूल में, 1918 सीनियर केम्ब्रिज पास, 1919 एफ्. ए. पास, 1921 वी. ए. पास, 1921 कावुल में 2½ मास—मजारशरीफ में 15 दिन—तेर्मिज, समरकंद, ताशकेंद—वुखारा में, नौ मास वाद पेशावर में; 1922 असहयोग में, 1922-24 जेल में, 1924 जहाजी खलासी बन यूरोप के वंदरों में, 1925 व्यवसायी, मजूर-नेता और 'आजादी' के संपादक, 1926 देशभक्तों के लिए जासूस और पुलिस के लिए पागल, 1927 सिंध में मजूर-किसान पार्टी के स्थापक, 1928 वम्वई के मजूरों में पहला भाषण, 1929 'चिनगारी' के संपादक तथा जर्मन वीमा कंपनी के विशेष प्रतिनिधि, केन्द्रीय कमेटी में, 1930 कल्याण में वूढ़े की लात खाई, 'वर्कर्स वीकली' के एडीटर, 1930-31 वंगाल के जेलों में, 1932 हाजी नहीं वन सके, 1933-35 ढाई साल की सजा, 1936 घर वेचा, 1936-38 किसानों में काम, 1940 भारतीय किसान-सभा के संयुक्त मंत्री, 1940 अप्रैल से 1942 जेल में नजरवंद।

आपको ऐसे विचित्र आदमी कभी-कभी देखने को मिलेंगे, जो चुटकी बजाते-बजाते रेल या पैदल यात्रा में लोगों को दोस्त बना थोड़ी देर में सूखी यात्रा को सरस कर सकते हैं। लेकिन, ऐसे आदमियों से ज्यादा सजग रहने की जरूरत पड़ती है और उनसे आशा नहीं रखी जा सकती कि वह किसी काम में किसी आदर्श पर गंभीरता और दृढ़ता के साथ डटे रहेंगे। बुखारी में ये दोनों बातें हैं और अधिक भी। उसने व्यवसाय में हाथ डाला और थोड़े ही दिनों में थोड़े ही परिश्रम से खूव रुपये कमाने लगा। लेकिन, रुपया वटोरना उसने सीखा नहीं, न उसे ऐशो-आराम की जिंदगी पसंद आई। समय से पहले अपने आदर्श का वह वड़े जोश के साथ जब प्रचार करता था, तो उसके देश-भक्त दोस्त संदेह करते थे कि वह पुलिस का जासूस है और सालों तक पुलिस समझती थी कि उसके दिमाग में कुछ फतूर है। मजूरों में मजूर बनकर एक हो जाना उसके लिए स्वाभाविक-सी बात है। उसने जहाज का खलासी बनकर मजूरों के जीवन को देखा ही नहीं, वल्कि भोगा भी तो है।

जन्म—सैयद जमालुद्दीन बुखारी—जिसे लोग कॉमरेड बुखारी के नाम से जानते हैं—का जन्म 14 जुलाई 1902 को अहमदाबाद के सैयदवाड़ा (अस्तोरिया) मुहल्ले में हुआ था। बुखारी का खानदान पीरों (गुरुओं) का खानदान है, शिया होते भी सुन्नी बहुत भारी संख्या में उसके मुरीद हैं। गुजराती मुसलमान वादशाहों के समय भी यह खानदान शाही पीर होता था। सैयदवाड़ा के सैयद किसी समय बुखारा से आकर मुल्तान जिले के उच्छ स्थान पर बसे, जहाँ से वह अस्सी-नब्बे साल पहले अहमदाबाद में आकर स्थायी तौर पर बस गये।

बुखारी के पिता जैनुल आवदीन (मृत्यु 1923) या सातीमियाँ फारसी और अरवी के पंडित थे। उन्होंने अंग्रेजी और संस्कृत भी पढ़ी थी। सूफी मत और वेदान्त की ओर उनका खास झुकाव था और मजहबी कट्टरपन उनमें नहीं था। जीविका के लिए छोटी जागीर थी और वह एक स्कूल में फारसी भी पढ़ाया करते थे।

बुखारी की माँ शरीफुन्निसा (मृत्यु 1904) बुखारी को दो साल का ही छोड़कर मर गई और पाँच साल की उम्र तक उसे फूफी ने पाला-पोसा। फूफी पुराने ढंग की एक शिक्षित संस्कृत महिला थीं। भांजे पर उनका बहुत स्नेह था। उसे बैठने-उठने का ढंग सिखलातीं। अपने खानदान के बुजुर्गों की कितनी ही कहानियाँ बुखारी ने बूआ से सुनीं। वड़े-बड़े जिन और भूत—जो किसी के कावू में नहीं आते थे—किसी भी बुखारी सैयद को देखते ही दुम दबाने लग जाते थे। बुखारी ने जिनों और भूतों की बहुत-सी कहानियाँ सुनी थीं; मगर उसे अपने खानदान के अकबाल पर पूरा भरोसा था। बुआ ने भूतों से वचने के लिए कुरान की कुछ आयतें भी रटा दी थीं। जब कोई स्याह विल्ली सामने से गुजरती, तो बुआ उसे जिन बतलातीं। गुजरात में रहते भी बुखारी के घर में उर्दू बोली जाती थी, नौकरानियाँ भी उर्दू ही बोलती थीं, इसलिए बहुत सालों तक बुखारी को गुजराती नहीं मालूम थी। बुखारी को राजा-रानी की कहानियाँ भी नौकरों से सुनने को मिलीं। साथ ही बचपन में उनके दिमाग में यह भी भर दिया गया था कि तुम वड़े हो और दूसरे छोटे।

लड़कपन में बुखारी को खेलने का बहुत शौक था, खेलों में कबड्डी, पेड़ पर चढ़ना-दौड़ना आदि शामिल थे। उन्होंने चुपके-चुपके तैरना भी सीख लिया था। बाहर जाकर खेलने की मनाही थी, लेकिन बुखारी अपने को रोक नहीं सकते थे। सच बोलते तो घर में चार बातें सुनते, इसलिय उन्होंने पहले-पहल झूठ के लाभ को समझा। पिता बहुत नरम मिजाज के थे और बच्चों पर उतनी कड़ाई नहीं रखना चाहते थे, मगर बुआ और पीछे चाची इसे आवारापन समझती थीं।

शिक्षा—पाँच साल की उम्र में जमालुद्दीन ने मुल्ला के पास बिस्मिल्ला कहते हुए किताव खोली और अरबी-कायदा पढ़ना शुरू किया। उस दिन रिश्तेदारों की ओर से वच्चे के लिए वहुत-से तोहफे आये। मुल्ला मुहल्ले ही में रहते थे, वहाँ बुखारी को अरबी, कुरानशरीफ पढ़ना पड़ता। घर में बुआ या पिता से फारसी पढ़ते, कुछ हिसाब-किताब सीखते। दो साल तक वह घर ही पर पढ़ते रहे। उस समय भी जमालुद्दीन को मालूम था कि वह शिया हैं, मगर सुन्नी चेलों को भेद-भाव मालूम न हो जाय, इसके लिए सावधान रहना पड़ता था। संन्यासियों और सूफियों के पास पिता अक्सर उन्हें ले जाया करते थे। मिरासी (भाँट) खानदान की प्रशंसा में हजरत अली से अब तक के कारनामों को सुनाते। जमालुद्दीन उन्हें बड़ी दिलचस्पी से सुनते। बचपन में जमालुद्दीन बड़े जिद्दी स्वभाव के थे। खाना छोड़ वैठते तो घर भर खुशामद करते-करते परेशान हो जाता।

सात साल की उम्र में खानदानी दस्तूर के मुताविक जमालुद्दीन ने पहले-पहल अल्ला मियाँ के लिए रोजा रखा और नमाज पढ़ी। विरादरी की ओर से हलवा, गुलगुले और कपड़े तोहफा में आये।

पिता धार्मिक विचार के पीर थे, तो भी वह अँगरेजी के लाभ को समझते थे। घर के पास ही एक ईसाई मेम ने छोटे लड़के-लड़कियों का क्लास खोल रखा था, जिसमें सैयदों के चार लड़के और दो लड़कियाँ पढ़ती थीं। पिता ने जमालुद्दीन को मेम के पास पढ़ने के लिए बैठा दिया। मेम बच्चों को अँगरेजी में कहानियाँ, इतिहास और भूगोल पढ़ाती। अपनी मजूरी में ईसा मसीह की दो-एक बातें भी कह जाती। जमालुद्दीन सुन ही चुके थे कि ईसा मसीह भी मुहम्मद साहब की तरह अल्ला मियाँ के भेजे एक पैगम्बर थे, इसलिए उन्हें चिढ़ होती क्यों ? मेम साहिबा हिसाब और ड्राइंग भी सिखलातीं, सबमें अच्छा होते भी हिसाब में जमालुद्दील कच्चे थे। उनकी स्मरण-शक्ति अच्छी थी। उर्दू-फारसी की पढ़ाई घर में होती। अरबी व्याकरण की पढ़ाई से तंग आकर उन्होंने उसे छोड़ दिया। गाना सुनने का उन्हें बड़ा शौक था। खानदान के बुजुर्गों की दरगाह पर शहर की रंडियाँ पुण्यार्थ नाचने आतीं, उस समय जमालुद्दीन अपने चचा के साथ गाना सुनने जाते। हिन्दू मुहल्लों में रामलीला, कंस-बध होता, वहाँ भी वे देखने के लिए पहुँचते। डफ और बाँसुरी बजाने का भी उन्हें शौक था।

जमालुद्दीन बड़े कौतूहल के साथ घर में चेला होने की क्रिया को देखते। जब कोई आदमी जलाली गद्दी का फकीर (साधु) चेला होना चाहता, तो उसका गुरु खानदानी पीर (बुखारी के परिवार) के सामने चेले के शरीर पर मुहर लगाने आता। मुहर लगाने के लिए पहले कागज या कपड़ा गोल वनाया जाता, फिर उसे शरीर के एक अंग पर रखकर जला दिया जाता और वहाँ छाला पड़कर हमेशा के लिए गोल निशान बन जाता। मुसलमान मलंग (साधु) पाप छुड़ाने के लिए अपने शरीर पर कोड़ा मारते, शायद यह बुखारी को पसन्द नहीं

आता था; लेकिन कलंदरी मलंग पीरों का गीत गाते और नगाड़े की ताल पर जमात बाँधकर धम्मार नाचते, तो बुखारी उसे बहुत खुशी के साथ देखते। परि कुत्बे-आलम्-जो बुखारी खानदान के थे-की अहमदाबाद में कब्र है, जिसके बारे में कहा जाता है कि उसकी सात परिक्रमा कर लेने से एक हज का पुण्य होता है; मलंग आकर इसी दरगाह में ठहरा करते। बुखारी अक्सर उन्हें देखने जाते थे।

अब तक परिवार की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी थी। पिता खुशहाल होने के साथ-साथ बहुत उदार भी थे। बुखारी को स्मरण है, जब वह चार-पाँच साल के थे, तो चचा अलग होने लगे। खानदान में मुसलमानी कानून के अनुसार लड़की का भी हक होता था। पिता ने बहन को जायदाद में कुछ अधिक हिस्सा देना चाहा। चचा इसे पसन्द नहीं करते थे। बुखारी को भी बाप की उदारता विरासत में मिली थी, चचा कहते-"तुम्हें बादशाह होना चाहिए था या मलंग (साधु-फकीर)।" नौ साल की उम्र होते-होते घर के ऊपर संकट आ गया। बैंक में रखा रुपया डूब गया। अब आमदनी का जरिया गाँव की जागीर थी। जागीर की बहुत-सी जमीनों में घास और बबूल होता था, लेकिन दो सौ एकड़ में खेती हो सकती थी। खेत गेहूँ और चावल दोनों ही के थे और किसान उन्हें बटाई पर जोतते थे।

लड़कपन में बुखारी ने कुछ तुकबन्दियाँ भी शुरू की थीं और वह भी ज्यादातर हमजोली लड़कियों के ऊपर। 1912 के आस-पास मेम अजमेर जा रही थी। बाप से कहकर वह अपने साथ बुखारी को भी ले गयी। बुखारी छै महीने अजमेर में रहे। आबू और दूसरे पहाड़ों की सैर की। पहाड़ों के देखने का उनके दिल में शौक पैदा हो गया।

बचपन में एक बार बुखारी अपने जागीरवाले गाँव में गये। दूकान के सामने से जाते वक्त उन्होंने देखा, एक ढेंड (चमार) दूकान से बाहर नीचे बैठकर कपड़े का दाम चुका रहा है। उसने पैसे को ऊपर से ओटे पर रख दिया। बनिये ने बुखारी से कहा-"मियाँ साहब ! जरा इसे छू दीजिये।" बुखारी ने छू दिया। छूत हट गयी, बनिये ने पैसे को उठा लिया। बच्चे बुखारी को यह समझ में नहीं आया। उसने पिता से पूछा, इस पर पिता ने हिन्दुओं की छूत-छात और जात-पाँत की बात सुनाई और कहा कि यह सब गलत है। सारे मनुष्य भाई-भाई हैं। सूफी भी यही कहते हैं, वेदान्त भी यही कहता है। पिता अफसरों के लल्लो-चप्पो में नहीं रहते थे। वह स्वतंत्र प्रकृति के थे। सर सैयद अहमद तथा राममोहन राय की बहुत तारीफ किया करते थे।

मेम के यहाँ अब पढ़ाई आगे नहीं बढ़ सकती थी, इसलिए बुखारी अहमदाबाद के एक हाई स्कूल में दाखिल हो गये और छै महीने तक पढ़ते रहे।

बाप उस समय धंधूका के हाई स्कूल में फारसी पढ़ाते थे, बुखारी भी उनके साथ रहकर उसी स्कूल में पढ़ने लगे (1912-1914)।

यहाँ वह गुजराती और हिन्दी भी पढ़ा करते थे। धंधूका में वह छठवें और सातवें स्टैण्डर्ड (मैट्रिक) तक पढ़े।

बुखारी को घोड़ा चढ़ने का शौक था। एक बार गिर पड़े; खूब चोट आयी और बेहोश हो गये। जाकर एक रिश्तेदार के यहाँ दवाई लगाई और पिता को खबर तक न होने दी। बुखारी का स्वास्थ्य उस समय बहुत अच्छा था। चाँदनी रात में देशी 'हॉकी' खेलना उन्हें बहुत अच्छा लगता था। ताश भी खेलते एकाध बार पिता ने देख लिया। वह कहते -"ताश खेलते-खेलते तुम जुआ खेलना भी शुरू कर दोगे।" लेकिन पिता दबाव नहीं डालना चाहते थे। बुखारी इससे नाजायज फायदा उठाते थे। वह घर से गायब रहते। पिता सैलानी बेटे को निकम्मा-सा समझने लगे थे। एक दिन शाम से ही पिता को सख्त दर्द शुरू हुआ। बुखारी सैर करने गये थे। आधी रात को लौटे तो नौकर से पिता की बीमारी का पता लगा। जाकर चारपाई के पास खड़े हुए। पिता ने नौकर से पानी माँगा। मगर बुखारी खुद पानी लाये। उस समय तक पिता को नींद लग गई थी। बुखारी उसी तरह हाथ में गिलास लिए चारपाई के पास खड़े रहे। सुबह पाँच बजे पिता की नींद खुली, देखा बुखारी गिलास लिए खड़े हैं। उन्होंने पुत्र के सिर पर हाथ फेरकर प्यार किया। उन्हें पता लग गया कि ऊपर से हल्का-दिल दिखाई देनेवाला जमालुद्दीन भीतर से कितना गम्भीर है।

अब पुत्र को आगे पढ़ाने का सवाल आया। पिता ने बुखारी को अलीगढ़ (1916) में भेज दिया। उन्होंने वहीं से 1918 में सीनियर-कैंब्रिज परीक्षा पास की और फिर एफ. ए. के दूसरे साल में दाखिल हो गये। अर्थशास्त्र और इतिहास उनके पाठ्य-विषय थे। 1921 में वहीं से उन्होंने बी. ए. पास किया। अलीगढ़ मुसलमानों का एक जबर्दस्त शिक्षा-केन्द्र है, वहाँ हिन्दुस्तान के सभी भागों के लड़के पढ़ने आया करते हैं। 19वीं सदी में मुसलमानों में एक राजनीतिक सम्प्रदाय पैदा हुआ था, जिसने अंग्रेजों के खिलाफ कई बार विद्रोह का झंडा उठाया। इसीं-लिए ये लोग मुजाहिदीन (लड़ाके) कहलाये। इनमें से कितने ही पीछे भागकर सीमा प्रान्त की स्वतंत्र जातियों में बस गये। फ्रंटियर के मुजाहिदीन का एक लड़का बुखारी का सहपाठी था। उस लड़के ने बुखारी के दिल में हिन्दुस्तान की आजादी का ख्याल पैदा किया। उसमें ब्रिटिश-विरोधी भाव जरूर थे, मगर वृहत्तर इस्लामवाद के आधार पर—गोया हिन्दुस्तान में सिर्फ मुसलमान ही बसते हैं और हिन्दुस्तान की स्वतंत्रता और उसके भोगने की जिम्मेवारी सिर्फ उन्हीं के ऊपर है। बुखारी अपने कमरे में तिलक की तसवीर रखते थे, मेजिनी, गैरीबाल्डी जैसे देश-भक्तों की जीवनियाँ पढ़ते। 1919 में बातचीत करते समय उन्होंने पिता से बोल्शेविक शब्द सुना और कुछ रूसी क्रान्ति की गलत-सही बातें भी। बुखारी का उधर कुछ आकर्षण हुआ। सूफीवाद की बातें भी पिता बतलाया करते थे, जिससे मनुष्य की समानता का ख्याल उनके दिल में कुछ-कुछ आने लगा। यद्यपि कॉलेज में अर्थशास्त्र की पुस्तक में मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्त के बारे में भी कुछ पढ़ा था; लेकिन वह इस तरह एक कोने में गुपचुप रख दिया गया था कि बुखारी का ध्यान उधर नहीं गया। हाँ, उनके दिमाग में फारसी का यह पद्य जरूर गूँजता रहता था—"बनी-आदम् आजाइ यक् दीगर् अन्द" (मानव-सन्तान एक-दूसरे के अंग हैं।) घर की पीरी-मुरीदी को अब वह ढोंग समझते थे। अल्ला मियाँ को भी एक ऐसी ही वैसी चीज समझते थे। मजहब अब उनके लिए उपेक्षा की चीज हो गया था। रोजा, नमाज फँस जाने ही पर कभी कर लेते। बुखारी का समय अलीगढ़ में खूब हँसी-खुशी से कटता था। बात बनाने में वह एक थे और साथियों को खुश रखने का गुण उन्हें मालूम था।

समरकन्द बुखारा की यात्रा—राजनीतिक भाव उमड़ आये थे, उधर असहयोग और खिलाफत आन्दोलन भी बुखारी के ऊपर असर डाल रहा था। सैलानी तबीयत अलग जोर लगा रही थी। बुखारी ने सोचा, इस गुलाम देश में नहीं रहना चाहिए। चलो, चले चलो किसी दूसरे देश में। खिलाफत आंदोलन ने मुसलमानों को ब्रिटिश राज्य से हिजरत कर जाने की बात चलाई थी। बुखारी पर इसका भी कुछ असर पड़ा था। कभी उनके मन में आता, देश छोड़कर सदा के लिए चले चलें, लेकिन फिर जान पड़ता कि यह तो कायरता है, तब वह सोचते कि बाहर चलकर कुछ सीखें और देश की आजादी के लिए जोर लगायें। आखिर में मुजाहिदीन-पुत्र सहपाठी से बातचीत करके उन्होंने तै किया कि सीमान्ती कबीलों के चमरकन्द स्थान में चलकर मुजाहिदीन से मिला जाय। लड़के ने रास्ते का ब्यौरा बतलाया और परिचय-पत्र लिख दिया।

बुखारी अलीगढ़ से घर पर अहमदाबाद आये। फिर पैसा लेकर दिल्ली होते पेशावर में परिचय-पत्र द्वारा वह मुजाहिदीन के किसी आदमी से मिले। उसने बुखारी को पठानों का लिबास पहनाकर चार-पाँच दिन बाद गदहेवालों के साथ चमरकन्द के लिए रवाना कर दिया। अभी हिन्दुस्तान से पासपोर्ट की उतनी कड़ाई न थी, सरकार ने हिन्दुस्तान की सीमाओं को अभी कैदखाने की मजबूत दीवार में परिणत नहीं किया था।

बुखारी दो दिन में चमरकन्द पहुँच गये। लोगों पर मुजाहिदीन का बहुत असर है। चमरकन्द एक सौ घर का गाँव है, जिनमें 15.20 घर मुजाहिदीन के हैं। लोगों को मुजाहिदीन मुल्ले अँगरेजों के खिलाफ भड़काते रहते हैं। इससे छोटी-मोटी लूटपाट और गोलीबाजी भले ही हो जाये, लेकिन हिन्दुस्तान की आजादी इस तरह हासिल की जा सकती है, यह बात बुखारी की समझ में नहीं आयी। हाँ, अंग्रेजों के खिलाफ उकसाने से मुल्लों का प्रभाव बढ़ता है, लोग उन्हें भेंट-नजर चढ़ाते हैं।

एक मास बुखारी चमरकन्द में रहे। यह गर्मी का महीना था, लेकिन चमरकन्द की पहाड़ियाँ उतनी नंगी सूखी नहीं हैं। गाँव से दूर पानी का चश्मा था। औरतें वहाँ से पानी भर लाती थीं। परदा बहुत कम है। लोगों की जीविका है, खेती और माल लादना। लोग मिलनसार थे। महीने-भर बाद बुखारी का मन ऊब गया। वह

आये थे आजादी का पाठ पढ़ने, मगर यहाँ उन्हें जबर्दस्ती नमाज पढ़ने के लिए मजबूर किया जाता। मुजाहिदीन रूस की सीमा से नजदीक थे। उन्होंने रूसी इन्कलाब के बारे में भी सुना था, लेकिन वह उसे पसन्द नहीं करते थे—बोल्शेविक खुदा को नहीं मानते, मुल्लों की तौहीन करते हैं। बुखारी को उनकी निन्दा प्रशंसा-सी लगी। वह आगे बढ़ने के लिए तैयार हो गये।

काबुल में—बुखारी अब भी अपने को मुजाहिदीनवादी ही जाहिर करते थे। उन्होंने अपने काम को और आगे बढ़ाने के लिए काबुल जाने का विचार प्रकट किया। मुजाहिदीन ने अपने आदमियों के साथ उन्हें काबुल भेज दिया। चार दिन पहाड़ों में चक्कर काटते बुखारी एक दिन काबुल पहुँच गये। वहाँ पर एक हिन्दुस्तानी व्यापारी (पंजाबी खोजा) के यहाँ ठहरे। काबुल में उबैदुल्ला सिंधी के चेले शेख अब्दुर्रहीम (कृपलानी के बड़े भाई) से मुलाकात हुई। वह भी हिन्दुस्तान में विदेशी शासन का अन्त करना चाहते थे और समझते थे कि हिन्दुस्तान की आजादी भीतर की जनता से नहीं, बल्कि बाहरी ताकतों की मदद से हासिल की जा सकती है। बुखारी काबुल में ढाई मास रहे, वहाँ वह हर तरह के लोगों से मिलते रहे। अमानुल्ला के नेतृत्व में अफगानिस्तान अब आजाद था। आजाद अफगान भी हिन्दुस्तान की आजादी की बातें ध्यान से सुनते थे। हिन्दुस्तान से हिजरत करके काबुल पहुँचे हिन्दुस्तानियों से भी उनकी भेंट हुई और उनकी हालत को देखकर उन्हें हिजरत करने की बेवकूफी साफ-साफ दिखलाई पड़ने लगी। उन्होंने समझ लिया कि हिन्दुस्तान की आजादी न स्वेच्छा से देश-निकाला कबूल करने से हो सकती है और न विदेशी दरबारों की कोर्निश बजाने से। काबुल में बुखारी को बोल्शेविकों के बारे में बहुत-सी बातें सुनने को मिलीं; यद्यपि उसमें ज्यादातर निन्दा ही होतीं, मगर उससे बुखारी का आकर्षण कम नहीं हुआ। सारी गालियों के भीतर से भी उन्हें दो बातें साफ झलकतीं—रूस में किसानों-मजूरों का राज्य है, वहाँ अमीर-गरीब नहीं, सभी समान हैं—'बनी-आदम् आजाय यक् दीगर् अन्द।'

मजार-शरीफ में—बुखारी ने अपने दोस्त से मजार-शरीफ जाने की इच्छा प्रगट की। मजार-शरीफ में उनकी चीनी की दूकान थी। उन्होंने बुखारी के मजार-शरीफ जाने का इन्तजाम कर दिया। अफगानिस्तान बुखारी को ज्यादा आकर्षक नहीं मालूम हुआ। बुखारी गदहों और खच्चरों का साथ पकड़ हिन्दुकुश की ओर रवाना हो गये। उन्होंने कोहदामन के अंगूरों के बगीचों को देखा और वहाँ के सुनहले बड़े-बड़े अंगूरों को चखा भी। उस समय उन्हें नहीं मालूम था कि कपिशा के इन अंगूरों की प्रसिद्धि ईसा से 400 वर्ष पहले पाणिनि के समय में भी खूब थी। ऊपर चढ़ते जाते सर्दी मालूम हुई, मगर यह गर्मियों का दिन था, इसलिए बरफ नहीं थी। दोनों तरफ नंगे पहाड़ों की दीवारें खड़ी थीं, जिनके बीच से पगडंडी (जो अब मोटर सड़क बन गई है) पर चलते हुए उनके मन में तरह-तरह के ख्याल पैदा हो रहे थे। दो जगह निराश होकर भी आगे की आशा और बढ़ती ही जा रही थी। छै दिन पैदल और कुछ खच्चर पर चढ़कर बुखारी मजार-शरीफ पहुँचे। हरियाली से रहित उजाड़ मैदान में उन्होंने मजार-शरीफ के कस्बे को देखा, जहाँ पीर की मजार की एक चमकीली इमारत के सिवाय कोई दर्शनीय चीज न थी। मगर वह उससे भी बड़े-बड़े मजार हिन्दुस्तान में देख चुके थे। बुखारी को पश्तो नहीं आती थी, मगर उसका काम काबुल से पहले ही खतम हो गया था। पारसी वे बोल लेते थे, इसलिए भाषा की दिक्कत न थी। मजार-शरीफ में घर का लाया पैसा खतम हो गया, लेकिन यहाँ उन्होंने कई दोस्त बना लिये थे। अब उनका इरादा हुआ रूसी मध्य-एशिया देखने का। यद्यपि अभी वहाँ अनवर और अमीरों का जोर था, मगर उन्हें उम्मीद थी कि कुछ बोल्शेविक मिलेंगे जरूर।

तेर्मिज—मजार-शरीफ से एक व्यापारियों का काफिला मध्य-एशिया जा रहा था। बुखारी भी काफिले में शामिल हो गये। काफिले के पचीस-तीस आदमियों में चार-पाँच हिजरत करनेवाले 'लफंगे' भी थे। आमू-दरिया तक पैदल जा नाव से तेर्मिज पहुँचे। तेर्मिज में यद्यपि रूसियों के रहने के कितने ही घर उन्हें देखने को मिले, मगर वहाँ से उनका शासन लुप्त हो चुका था। कमालपाशा-द्वारा तुर्की से भगाये अनवरपाशा मध्य-एशिया के सर्वेसर्वा बनने की फिक्र में थे। तेर्मिज में उनके आदमी मौजूद थे। लेकिन काबुल देखने के बाद ही बुखारी का वृहत्तर-इस्लामवाद (Pan-Islamism) वाला नशा खतम हो चुका था। बुखारी को अनवर से कुछ लेना-देना नहीं था। काफिले में कितने ही पंजाबी और सिन्धी व्यापारी भी थे, इसलिए उन्हें खाने-पीने की तकलीफ नहीं

हुई। तेर्मिज में दो-चार दिन रहकर काफिला आगे के लिए रवाना हुआ।

समरकन्द—बुखारी काफिले के साथ पैदल आगे बढ़ते गये। चलते-चलते बहुत थक जाते थे। व्यापारी हर जगह बोल्शेविक लुटेरों का डर बतलाते थे। शायद नवम्बर का महीना आ गया था, काफी सर्दी थी। सिंधी, पंजाबी व्यापारियों की वहाँ अपनी दुकानें थीं। बुखारी उन्हीं के यहाँ ठहरे। देशभाई की कदर आदमी परदेश में जानता है। बुखारी जैसे शिक्षित तरुण के साथ सभी प्रेम करते थे। मुल्ले बोल्शेविकों से बहुत घबराते थे। वह गाली देते हुए कहते—"ये बोल्शेविक इस्लाम को खतम कर देना चाहते हैं। किसी को अल्ला और रसूल का नाम लेवा नहीं रहने देना चाहते। ये मजहब को खतम कर देना चाहते हैं।" बुखारी पूछते, "मजहब है कहाँ ?" मुल्लों का असर अब भी लोगों पर काफी था, मगर बुखारी को वहाँ के सीधे-सादे लोग बहुत पसन्द आये। उनमें कुछ ऐसे भी मिले, जो बोल्शेविकों की तारीफ करते थे—"बोल्शेविक समानता फैलाना चाहते हैं, इस्लाम की भी तो यही तालीम है। देखो औरतों को हमने कितना गिरा दिया है ?" अभी बोल्शेविक दूर थे, लेकिन आसमान में गड़बड़ी साफ दिखलाई पड़ती थी। दस दिन ठहरकर बुखारी काफिले के साथ ताशकन्द के लिए रवाना हो गये।

ताशकन्द—पाँच दिन पैदल चलकर वह ताशकन्द पहुँचे। अनवर के मनसूबे के बारे में और भी सुनने का मौका मिला, मगर बुखारी चाहते थे, बोल्शेविकों को। ताशकन्द में उन्हें बहुत कम रूसी दिखाई पड़े। लेकिन वहाँ उन्हें कुछ उज्बक बोल्शेविक मिले। उन्होंने बुखारी को समझाया—"अनवर या दूसरे दो-चार नेता सब कुछ नहीं हैं। असल है, जनता और उसका नेतृत्व करनेवाली सुसंगठित पार्टी। लोग उस लड़ाई से—युद्ध से मुँह नहीं मोड़ सकते, जो उनके हितों के लिए लड़ी जाती है। मजूर और किसान समझते हैं कि उनकी भलाई, अमीरों और बेगों के नीचे पिसने में नहीं है। बोल्शेविक चाहते हैं, उन्हें खतम करना। किसान और मजूर जरूर बोल्शेविकों का साथ देंगे।" बुखारी डेढ़ मास तक ताशकन्द में रहे। उनका दिमाग काफी साफ हो गया। मजहब अब उनके लिए काम की चीज नहीं मालूम होता था। ताशकन्द में अब भी हुकूमत अमीर के साथ में थी। बुखारी वहाँ सिन्धी चाय-व्यापारियों के यहाँ ठहरे थे। व्यापारी घबराये हुए थे। उनके पास जारशाही नोट बहुत थे, जो अब बेकार हो गये थे, इसके लिए और भी परेशान थे। यद्यपि बोल्शेविकों ने जारशाही कर्जे और लेन-देन को मानने से इन्कार कर दिया था, मगर शायद अब भी व्यापारी आशा रखते थे कि इन नोटों के दिन फिर कभी लौटेंगे।

बुखारा—इसी समय कुछ सिन्धी व्यापारी ताशकन्द छोड़कर भाग चले। बुखारी भी उनके साथ समरकन्द होते हुए 10-12 दिन में बुखारा पहुँचे। बुखारी ने सुना था कि किसी वक्त उनके बुजुर्गों का खानदान इसी जगह से चलकर अहमदाबाद पहुँचा था। सैयदों में कुछ जहाँगश्त मखदूम जहानिया (विश्व-पर्यटक स्वामी जहानिया) की बातें करते थे। बोल्शेविकों को वे फूटी आँखों देखना नहीं चाहते थे। वह कहते—"यह नई चीज, एक भारी अजाब (पातक) पैदा हो रहा है, यह बहुत खतरनाक है।" बुखारी कहते—"बूढ़े को मरना ही होता है।" उन्होंने कहा—"तुम शिर्फ और मुलूहिदों (नास्तिकों) की बात करते हो।" बुखारी जनसाधारण में लेक्चर नहीं दे रहे थे। वह सँभलकर बातें कर रहे थे। मध्य एशिया की यात्रा से अब वह समझ गये थे कि उनका लक्ष्य क्या होना चाहिए और वहाँ तक पहुँचने का सीधा रास्ता कौन-सा है। ताशकन्द से ही उन्होंने तै कर लिया था कि अब उन्हें हिन्दुस्तान चलना है और इस 'नई चीज' को फैलाना है।

हिन्दुस्तान में—बुखारा में दस-पन्द्रह दिन रहने के बाद तेर्मिज, मजार-शरीफ, काबुल के रास्ते बुखारी पेशावर आये। जमरूद में पुलिस ने पकड़ा और धमकाना शुरू किया; लेकिन सिन्धी व्यापारी ने कह दिया कि यह हमारा आदमी है। नौ महीने बाद बुखारी पेशावर लौट आये। यह सन् 1922 था।

असहयोग आन्दोलन में—लाहौर में ही बुखारी को पता लग गया था कि उनके (एकमात्र और बड़े) भाई जहूरहुसेन (एम. ए., लेक्चरर) ने नौकरी छोड़ असहयोग कर दिया। उन्हें बहुत खुशी हुई। यह भी मालूम हो गया था कि मौलाना मुहम्मद अली अलीगढ़ में डटे हुए हैं। अहमदाबाद होकर बुखारी अलीगढ़ पहुँचे। एकाध महीना वहाँ रहे। मौलाना को बुखारी की ताशकंद-यात्रा का पता था; लेकिन औरों को नहीं। बुखारी लड़कों

से कहा करते—मजूरों और किसानों में खूब मन लगाकर काम करना चाहिए।

राजनीतिक क्षेत्र में—बुखारी को अलीगढ़ अपने कार्य का अच्छा क्षेत्र नहीं मालूम पड़ा। वह कराँची पहुँच गये। यहाँ वे मजदूरों में काम करते थे। हिंदुस्तानी मल्लाहों (लश्कर) से भी उन्होंने सम्बन्ध जोड़ा, कुछ नोटिसें छापकर बाँटीं। मजूर-राज पर गरमागरम व्याख्यान दिये। 1922 के अंत में उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और 124 ए दफा के अनुसार डेढ़ साल की सख्त सजा और 500 रु. जुर्माना अथवा छै मास की कैद सुनाई गई।

अभी वह पुराना जेल था। कराँची के जेल का राजनीतिक बन्दियों को अनुभव बिल्कुल नहीं था। बुखारी जेल के बुरे बर्तावों को चुपचाप सहने के लिए तैयार न थे। वह विरोध करते और जेलवाली सजाएँ देते—बेंत छोड़ उन्हें जेल की सारी सजाएँ मिलीं। 1923 में कराँची जेल में रहते वक्त ही पिता की मृत्यु हो गई। बुखारी ने जेल में कमूनिज्म के बारे में कितनी ही किताबें पढ़ीं। अभी जेलवाले 'कापीटल' को व्यापारियों का कोई ग्रंथ समझते थे। कमूनिज्म उनके लिए कमूनलिज्म (सम्प्रदायवाद) का विगड़ा उच्चारण था। 1924 के शुरू में बुखारी जेल से बाहर निकले। फिर खूब व्याख्यान देने लगे, मजूरों का संगठन करते और उन्हें मजूर-सभा कायम करने की बातें सुनाते। इसी समय उन्होंने मलाह सभा (Seamen's Union) कायम की। मलाहों के जीवन को उन्होंने और नजदीक से देखना चाहा और यह भी चाहा कि जहाजी मलाह ही ऐसे साधक हैं, जो इन अभेद्य दुर्गों को पार कर विचारों को एक देश से दूसरे देश में ले जाते हैं।

जहाज के खलासी—1924 का अंत था। बुखारी ने बहुत कोशिश करके हंसा-लाइन कम्पनी के एक माल-जहाज में फायरमैन की जगह पाई। निश्चय ही मालाह-सभा के साथियों की मदद के बिना यह नहीं हो सकता था। बुखारी पहले फायरमैन की जगह पर भर्ती हुए थे, मगर पीछे सैलून-ब्वाय (बैठकखाना-परिचारक) का काम मिल गया। अभी पासपोर्ट की उतनी दिक्कत न थी। सारंग (मलाहों के मुखिया) के कहने से भरती हो जाती थी। कुछ खलासी बुखारी की मलाह-सभा को जानते थे। अदन, पोर्त-सईद, जिब्रालटर होते हुए बुखारी लीवरपूल (इंग्लैंड) पहुँचे। लंदन भी देखा। जर्मनी के बंदरगाह हाम्बर्ग को भी देखा और वहाँ कुछ अपने-जैसे विचारवाले मलाहों से मिले। फिर घूमते-फिरते उनका जहाज बम्बई पहुँचा। बुखारी की तनख्वाह थी पच्चीस रुपया; खाना-पीना ऊपर से। लेकिन बुखारी नौकरी करने थोड़े ही गये थे। उन्हें था साम्यवाद से और अधिक परिचय प्राप्त करना। जहाज से उन्हें इसकी पूरी कोशिश करनी पड़ती थी कि जहाज के अफसर और दूसरे यह न समझने पायें कि वह एक साधारण हिंदुस्तानी लश्कर नहीं, एक यूनिवर्सिटी-ग्रेजुएट और खतरनाक विचारों का तरुण है। बुखारी ने व्याकरण को ताख पर रखकर नाविकों की अंग्रेजी अपनाई—शराब पीकर जब वह बीच-बीच में गालीवाले शब्द डालकर बेतहाशा अंग्रेजी बूकते, तो कौन पता पा सकता था। बुखारी अपनी यात्रा में सफल रहे। उन्हें बहुत-सा मार्क्सवादी साहित्य मिला, जिसे उन्होंने खुद भी पढ़ा और दूसरों को भी दिया। इस यात्रा के बाद उन्हें पता लगने लगा कि वह कितनी बड़ी विश्वव्यापी सेना के सैनिक हैं और महान् होते हुए भी उनका आदर्श असम्भव नहीं है। अब वे पूरे आत्मविश्वास के साथ अपने काम में लगे।

असली कार्यक्षेत्र में—1925 के आरम्भ के साथ बुखारी अपने वास्तविक कार्य का आरम्भ समझते हैं। अभी वह अकेले काम करनेवाले थे। सहकारियों को मदद देने और नोटिस-पत्र छपाने के लिए पैसे की जरूरत थी और उसका भी बंदोबस्त करना जरूरी था। साथ ही बेकार आदमी जल्दी पुलिस की निगाह पर चढ़ सकता है। बुखारी ने बीमा कम्पनी की एजेंसी ले ली और देश-विदेश के आयात-निर्यात का काम भी शुरू किया। पैसे की ओर से अब वह निश्चिंत थे। सिंध, पंजाब, अहमदाबाद, अलीगढ़ कार्य के सम्बन्ध से जाते। 1921 में कराँची में रेलवे मजदूरों की एक यूनियन कायम हुई थी। बुखारी ने उससे अपना संबंध जोड़ा। वह नार्थ वेस्टर्न रेलवे यूनियन के डिविजनल सेक्रेटरी थे। नौजवानों में भी काम करते थे और कराँची के दूसरे मजदूरों में भी। कराँची जिला काँग्रेस के भी वह सेक्रेटरी थे। उसी साल (1925) के अंत में 'आजादी' के नाम से उन्होंने उर्दू का एक दैनिक पत्र निकाला और खुद सम्पादन करते थे। सिंधी भाषा के दैनिक पत्र 'अलूवहीद' (जो कि उस समय खिलाफत-कमेटी का पत्र था और अब मुस्लिम लीग का है) में भी लेख लिखते। उनके जोशीले और क्रांतिकारी व्याख्यानों को सुनकर पुलिसवाले समझते, यह कोई आधा पागल-सा आदमी है, इसे छेड़ने की

जरूरत नहीं। अभी उतनी जमातबंदी और संगठित संघर्ष नहीं हुए थे, इसलिए वह इस गलती में थे। ऐसे गरम व्याख्यानों के बाद भी पुलिस को छेड़खानी न करते देख कांग्रेसवाले समझते, यह कोई सी. आई. डी. का आदमी है। साल-भर के तजर्बे ने बुखारी को बतला दिया कि मजूर उनकी बातों को ज्यादा आसानी से समझ सकते हैं। यद्यपि कानपुर बोल्शेविक अभियोग (1924) वाले साथियों से बुखारी का संबंध हो गया था, लेकिन वह सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूपेण नहीं था। इसलिए और पुलिस की गलत धारणा के कारण बुखारी उस मुकदमे में घसीटे नहीं गये।

1926 का साल इसी तरह बीत गया। 1927 में सकलतवाला भारत आये। कराची के मजदूरों ने बुखारी के नेतृत्व में उनका खूब स्वागत किया। बुखारी लाहौर तक सकलतवाला के साथ रहे। सकलतवाला गाँधीवाद का खुलकर विरोध करते थे। इसी साल बुखारी ने सिंध में मजूर-किसान पार्टी कायम की। यद्यपि अभी वह अधिकतर कागजी पार्टी थी।

दिसम्बर 1928 में कलकत्ता कांग्रेस के वक्त वहीं मजूर-किसान पार्टी की अखिल भारतीय कांफ्रेंस हुई। बुखारी सिंध के प्रतिनिधि बनकर उसमें शामिल हुए। जवाहरलाल ने भारत-स्वतंत्रता-संघ कायम किया। बुखारी उसके सिंध में संगठन करनेवाले बने। यहाँ देश के और प्रांतों के कमूनिस्टों से भी बुखारी को मिलने का मौका मिला।

बुखारी सर्वदल सम्मेलन के एक सदस्य थे। उसके सम्मेलन में शामिल होने के लिए बम्बई आए। उस वक्त मजूरों की हड़ताल चल रही थी। बुखारी ने इस वक्त बम्बई के मजूरों के सामने पहिला व्याख्यान दिया।

1929 आया। मजदूर-किसान पार्टी की अजमेर में बैठक होनेवाली थी, मगर नेता मार्च ही में पकड़कर मेरठ पहुँचा दिये गये। बुखारी बच गये। वे 'पयामें मजदूर' में कुछ लिखा करते थे। अब उन्होंने कराँची से अपना साप्ताहिक 'चिनगारी' (उर्दू) निकाला। यह पत्र बहुत जनप्रिय हुआ। इसी ने कामरेड शाहिद-जैसे कितने ही बम्वई के मजदूरों को नया रास्ता दिखलाया। इस वक्त बुखारी जर्मन बीमा कम्पनी—अर्लीन् उन्ट स्टुटगर्ट—के विशेष प्रतिनिधि थे और कम्पनी की ओर से 350 रु. महीने पाते थे। आयात-निर्यात के व्यवसाय से भी उन्हें महीने में 350 रु. और मिल जाते थे। अब बम्बई सरकार की नजर बुखारी पर गई। बुखारी कराँची से एक सप्ताह के लिए गायब हो गये थे। उनकी अनुपस्थिति में दफ्तर की तलाशी ली गई। मेरठ के मुकदमे में बुखारी की भी कुछ चीजें दाखिल की गई थीं। अमृतसर में एक सप्ताह रहकर बुखारी कलकत्ता पहुँचे और वहाँ कामरेड हलम के साथ जूट-मजदूरों में काम करने लगे। इसी वक्त रूसी-क्रान्ति-दिवस पहली बार भारत में मनाया गया। श्रद्धानंद पार्क में जबरदस्त सभा हुई। बुखारी ट्राम में जा रहे थे। पुलिस ने उन्हें मेरठ केस में वांछित कामरेड हैदर समझ पकड़ लिया, फिर गलती मालूम हुई और छोड़ दिया। भगतसिंह का मुकदमा चल रहा था। बुखारी ने चंदा जमा करने में मदद की। वह मलाह-सभा (Seamen's Union) में भी काम करते।

नागपुर में ट्रेड यूनियन काँग्रेस हुई। वहाँ चार-चार दलों की रस्साकसी चल रही थी। नरम दल के मजूर नेता ह्निट्ल कमीशन से सहयोग करना चाहते थे। बुखारी उन तिकड़म लगानेवालों में मुख्य थे, जिनकी वजह से सहयोग का प्रस्ताव पास नहीं होने पाया।

अब बुखारी बम्बई चले आये। मदनपुरा में रहते और मजूरों में काम करते। 1930 के लेनिन-दिवस को काँग्रेस-भवन के हाते में मनाने में सफलता पाई।

1930 के आरम्भ से बुखारी का वैयक्तिक जीवन खतम हुआ और तबसे उन्होंने पार्टी-सैनिक-जीवन बिताना शुरू किया। जी. आई. पी. रेलवे हड़ताल में उन्होंने भाग लिया। बुखारी की कार्य-शक्ति और होशियारी को देखकर विरोधी मजूर-नेता बहुत घबड़ा गये। उन्होंने एक दिन बुखारी को कतल करने के लिए गुण्डे भेजे। गुण्डे आये मगर सहायकों को देखकर उनकी हिम्मत नहीं हुई। कल्याण में मजदूरों की सभा हो रही थी। बुखारी वहाँ बोलने गये। विरोधियों ने उलटा-सीधा समझा रखा था। एक बूढ़े मुसलमान ने बुखारी को लात मारी, लोगों ने सभा से बाहर निकाल दिया। फिर किसी ने उन्हें बतलाया कि बुखारी किस महामान्य पीर खानदान का सैयद है, मजूरों की सेवा के लिए उसने क्या-क्या कष्ट सहे हैं। सभी को पश्चात्ताप हुआ और बूढ़ा तो

समझने लगा कि अव उसके सारे रोजे-नमाज खतम हुए। पीरजादा सैयद को लात मारकर दोजख छोड़ उसके लिए कहीं जगह नहीं है। मजूरों ने सभा में एलान किया कि जव तक कामरेड बुखारी नहीं रहेंगे, तव तक कल्याण में कोई जलसा नहीं होगा। बुखारी से उन्होंने बहुत-वहुत माफी माँगी। इस वक्त बुखारी को कितने ही विदेशी साथियों से मिलने का मौका मिला। काँग्रेस, तरुण संघ और मजूरों में वे काम करते थे। 26 जून 1930 को 'वर्कर्स वीकली' (कमकर साप्ताहिक) का पहला अंक निकला। बुखारी बीस हजार मजूरों के साथ चौपाटी पर स्वतंत्रता-दिवस में शामिल होने आ रहे थे। वह अखवार लेने प्रेस में चले गये, इसलिये साथ चौपाटी नहीं पहुँच सके। मजूर तिरंगे झंडे के साथ लाल झंडा गाड़ना चाहते थे। लेकिन कुछ साथियों ने गलती की। उनके साथ मदनपुरा के मजूर-वालंटियर भी चले गये और उन्होंने तिरंगे झंडे की जगह लाल झंडा गाड़ना चाहा। जलूस के संचालकों की यह मन्शा नहीं थी। इसी वात को लेकर बहुत दिनों तक कितने ही कांग्रेस-नेता कमूनिस्टों के खिलाफ प्रोपेगण्डा करते रहे। मजूरों और उनके नेता कमूनिस्टों की यह मन्शा हरगिज नहीं थी, यह तो इसी से पता लग जाता है कि 25 जनवरी की रात को गिरनी-कामगार-यूनियन के मजूर एफ. वार्ड के काँग्रेस के जलसे में शामिल हुए और वहाँ उन्होंने तिरंगे के साथ-साथ अपने लाल झंडे को फहराया।

बुखारी एक विदेशी साथी के साथ कलकत्ता गये। जूट-मजूरों में काम किया और उनकी मजूर-सभा कमूनिस्टों के नेतृत्व में आ गई। कलकत्ता के गाड़ीवालों ने सरकारी निरीक्षकों से तंग आकर हड़ताल कर दी, बुखारी ने उसके लिए नोटिसें निकालीं, लोगों को समझाया। सिपाहियों को भी समझाया। गोली चल गई, लेकिन आदमी मरे साधारण जनता के। इस वक्त हिन्दी, वंगाली, अंग्रेजी में वहुत-से परचे वाँटे गये। सेनगुप्त के सभापतित्व में होनेवाली सभा में 'कमूनिस्ट पार्टी जिन्दावाद' के नारे लगाये गये। 'स्टेट्समैन' यह देखकर बौखला गया। आम हड़ताल के प्रस्ताव की बात सुनकर सेनगुप्त सभा से भाग गये और डॉ. भूपेन्द्रदत्त के सभापतित्त्व में सभा हुई।

बंगाल में अव कमूनिस्ट अपने असर को फैलाने लगे। राजशाही कान्फ्रेन्स के समय तरुण-कान्फ्रेंस हुई थी, जिसके सभापति साथी बंकिम हुए थे। अप्रैल में बुखारी पर वारंट निकला। पहली मई (1930) के त्यौहार के मनाने की जवर्दस्त तैयारी हुई, 8000 नोटिसें वाँटी गयीं। वस, ट्राम के मजदूर और छोटे दूकानदार तक अपना काम छोड़ त्योहार में शामिल हुए। अव बुखारी को ज्यादा स्वतंत्र घूमने नहीं दिया जा सकता था। ईद की कुर्वानी के दिन (जून में) उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। बुखारी को स्पेशल ब्रांच में ले गये। कहा-सुनी में किसी ने दो-चार थप्पड़ भी लगाये। बुखारी ने पाकेट में हाथ डाला, तलाशी हो चुकी थी तव भी अंग्रेज अफसर डरकर पीछे हट गये। फिर उन्होंने विजली लगाने और क्या-क्या शारीरिक पीड़ा देने की धमकी दी। बुखारी ने कहा—"मैं वच्चा नहीं हूँ, जो चाहो सो कर लो।" अफसरों ने कहा—"तुम्हारा दिमाग गरम है, बीस साल के लिए वन्द कर देंगे।" पक्का गुइयाँ समझ उन्होंने बुखारी से कुछ भी पता पाने की आशा छोड़ दी। उन्हें 1818 के रेगुलेशन के अनुसार नजरबन्द कर दिया गया। बुखारी एक सप्ताह हवड़ा जेल में रहे, फिर बरहमपुर जेल में भेज दिये गये। बुखारी का काम था, आतंकवाद के नजरबन्दों के लिए मार्क्सवाद की क्लास लेना और जेल के दुर्व्यवहार के खिलाफ होनेवाली हर लड़ाई में शामिल होना। यहीं वह काम हुआ, जिसने आगे चलकर बंगाल के आतंकवादियों को आतंकवाद की व्यर्थता समझा मार्क्सवाद की ओर खींचा। आतंकवादियों ने भूख-हड़ताल की, बुखारी भी उसमें शामिल हुए। उन्होंने जलूस निकाला, जलूस के आगे-आगे चले और सभा में सभापति हुए। पगली घंटी बजी। सिपाही लाठी ले दौड़ आये और राजवन्दियों के सिर पर लाठियाँ वरसने लगीं। साठ-सत्तर आदमी घायल हुए। बुखारी रात-भर उनकी सुश्रूषा करते रहे। बुखारी पर मुकदमा चलाने की तैयारी की जा रही थी, लेकिन जेलर को अपने लिए डर हो गया। बुखारी को जेल में भेज दिया गया। जेलर पिटे, अन्त में बुखारी ने बीच में पड़कर समझौता करवाया था।

अब बुखारी को वरहमपुर में रखना हानिकारक समझा गया और उन्हें राजशाही जेल में बदल दिया गया। वहाँ भी बुखारी के मार्क्सवादी प्रचार से अधिकारी घवड़ाने लगे और पन्द्रह दिन बाद ही भूटान की सीमा पर बक्साफोर्ट में पहुँचा दिया। यहाँ बड़े-वड़े आतंकवादी दादा नजरवन्द थे। कमूनिस्ट सुनते ही उन्होंने बुखारी

को अपना दुश्मन-सा मान लिया और बॉयकाट करना चाहा—आखिर उनके पैरों से जमीन खिसकती जा रही थी; जब चेले मार्क्स के रास्ते पर चले जायेंगे, तो सिर्फ दादा-दादा रहकर क्या करेंगे ? बुखारी ने धीरे-धीरे करके आठ आदमियों की एक मण्डली बनाई। सभी एक साथ खाते-उठते-बैठते। कमान्डेन्ट फौजी जेलर बुखारी को इन्टरनेशनलिस्ट (अन्तर्राष्ट्रीय) कहता था। बुखारी को मार्क्सवाद के मूल ग्रन्थ आवश्यक थे, मगर कमान्डेन्ट उन पुस्तकों को भीतर आने नहीं देता था। उसी समय बंगाल का होम-मेम्बर वक्सा आया। बुखारी ने कहा—"हमें ये किताबें मिलनी चाहिए।" होम-मेम्बर ने उत्तर दिया—"लेनिन और त्रोत्स्की की किताबें नहीं मिलेंगी।" और कमाण्डेन्ट को हुक्म दिया—"इन्हें मार्क्स और एन्गेल्स की किताबें मिलनी चाहिए।" पुस्तकों के मिलने के बाद पढ़ने-पढ़ाने में खूब आसानी हुई।

1931 के अंत में पहुँचते-पहुँचते बुखारी का स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया और प्राणों का संगट देख बंगाल सरकार ने अपने यहाँ से निर्वासित कर उनको बम्बई पुलिस के हाथ में दे दिया। बम्बई की पुलिस से बुखारी को मालूम हुआ कि यहाँ कमूनिस्टों के कई गुट हैं। बुखारी ने तय किया कि गुटों को खतम कर एक सुसंगठित पार्टी का निर्माण होना जरूरी है। अब बुखारी ने 'पयामे-मजदूर' को फिर से जारी करवाया। गुटों में समझौता हुआ और बुखारी सेक्रेटरियट में आये, मगर अभी असली पार्टी-संगठन में देर थी, उसे मेरठ के साथियों के जेल से आने तक प्रतीक्षा करनी पड़ी।

1932 की सर्दियों में बुखारी हज करने के लिए जहाज पर सवार हुए। लेकिन पुलिस को मालूम हो गया कि यह मक्का नहीं किसी दूसरी जगह हज करने जा रहा है। उन्हें जहाज पर से उतार लिया गया।

एक दिन मदनपुरा में उनके घर को घेर लिया गया। बुखारी रात को ही निकल भागे और सीधे अहमदाबाद पहुँचे। अहमदाबाद में मजूर बनकर वह मजूरों में तीन मास तक काम करते रहे। कितने ही मजूरों को उन्होंने अपने महान् काम के लिए तैयार किया। कॉमरेड गुलाम मुहम्मद खाँ—जो आजकल अखिल भारतीय ट्रेड-यूनियन-कांग्रेस के उपसभापति हैं—के भीतर प्रथम अंकुर डालनेवाले बुखारी ही थे। अहमदाबाद के मजदूरों में गाँधीजी की ओर से मजूर-महाजन नाम की एक मजूर-सभा बनी हुई है, जिसका काम है, मजूरों को भूलभुलैया में डाल मिल-मालिकों को धर्मावतार मानने के लिए तैयार करना और मजूरों के भीतर क्रान्ति की भावना न आने देना। लेकिन, मजूर-महाजन का असर ज्यादातर सूत बनानेवाले मजूरों पर था, कपड़ा बिननेवालों पर नहीं। उस वक्त जरा भी कपड़ा खराब हो जाने पर मालिक बुनकरों से जुर्माना वसूल करते। बुखारी ने बुनकरों को इस अन्याय के खिलाफ लड़ने के लिए संगठित किया। इस समय वे वारंट के कारण अन्तर्धान रह रहे थे। एक दिन जुआरियों के पास चंदा वसूल करने गये थे, उसी समय पुलिस आ गई। बुखारी बाल-बाल बचे। अहमदाबाद छोड़कर करांची गये और दो-चार दिन बाद पंजाब। फिर अहमदाबाद होते बम्बई पहुँचे।

जनवरी 1933 में पुलिस बुखारी को पकड़ने में सफल हुई, मुकदमा चला और ढाई साल की सजा दे उन्हें येरवाडा भेज दिया गया।

मार्च 1935 तक बुखारी को येरवाडा जेल ही में रहना पड़ा। यहाँ कांग्रेसी राजबन्दियों से भी उनकी बातचीत होती थी। बम्बई काँग्रेस से तीन दिन पहले वह जेल से छूट गये। मेरठ के साथियों से मिले। फिर मदनपुरा में रहकर मजूरों में काम शुरू किया। 1929 में भी बुखारी केन्द्रीय समिति में थे, मगर अब भी संगठन पार्टी के रूप में नहीं था। अबकी फिर वह केन्द्रीय समिति में लिये गये।

कमूनिस्टों की गुटबंदी दूर हो गई और अब वह पार्टी के रूप में संगठित हो आगे बढ़ रहे थे।

1936 में लखनऊ कांग्रेस नजदीक आई। काम के लिए पैसे की जरूरत होती है। बुखारी अपने घर गये और जायदाद बेच-बाच कर पाँच हजार लिये और बम्बई होते लखनऊ पहुँचे। स्वामी सहजानन्द किसान-सभा का झंडा बिहार में फहरा चुके थे और उनके कार्यों की सुगंधि भारत में दूर-दूर तक फैल चुकी थी। बुखारी भी स्वामी का नाम सुन चुके थे। अब उनसे यहाँ भेंट हुई और स्वामीजी से किसानों में काम करने के बारे में बात हुई। बुखारी भी अखिल भारतीय किसान-सभा के इस प्रथम अधिवेशन में शामिल हुए। लखनऊ से बम्बई चले आये। अब 1937 था। बुखारी ने सिन्ध में 'हारी' (किसान) कमीटी कायम की। वहाँ के गाँवों में

गये, किसानों को समझाया। मध्यप्रान्त, युक्तप्रांत (मेरठ) और आंध्र का भी दौरा किया।

1938 में हरिपुरा कांग्रेस के समय किसान जलूस संगठित करने में बुखारी प्रमुख थे। त्रिपुरी (1939) में भी किसान जलूस का उन्होंने संचालन किया। 1938 में काँग्रेस ने जो मुस्लिम-जनता-संपर्क कमेटी बनाई थी, उसकी बम्बई शाखा के बुखारी मन्त्री थे।

1940 में पलासा किसान-सम्मेलन ने बुखारी को अखिल भारतीय किसान सभा का संयुक्त मंत्री चुना। अप्रैल में उन्हें गिरफ्तार कर पहले येरवाडा और फिर नासिक में नजरबन्द कर दिया गया जहाँ से वे अगस्त 1942 में छोड़े गये।

30
अमीर हैदर खाँ

प्रमुख तिथियाँ–1900 मार्च जन्म, 1906 पहिली साहस-यात्रा, 1908 दूसरी साहस-यात्रा, 1909 पढ़ाई आरंभ, 1909-12 वेवल स्कूल में, 1912 कलकत्ता, 1913 वेवल स्कूल में, 1914 बम्बई, 1915-16 मेसोपोतामिया, 1916 प्रथम पृथिवी-परिक्रमा, 1918-1926 युक्तराष्ट्र अमेरिका, 1918 अप्रैल अमेरिकन मजूर-सभा के मेम्बर, 1921 अमेरिका के नागरिक, 1923 विमान-चालक, 1924 अन्तर्राष्ट्रीय वैमानिक-सभा के सदस्य, 1926-28 सोवियत-रूस में, 1928 सितम्बर बम्बई में, 1932 मई 8 मद्रास में गिरिफ्तार, 1932-34 जुलाई जेल में, 1934-38 मार्च जेल में, 1938 मई जन्मग्राम में, 1939-42 जुलाई 18 जेल में।

अमीर हैदर साहस और निर्भयता की साक्षात् मूर्ति ! अनजाने देशों में विना धन और साधन के जाने में उन्हें कभी हिचकिचाहट नहीं हुई। वचपन से गरीवी के जीवन से परिचित होते हुए भी जव वह खूब रुपये कमाने लगे, तो उचित काम में खर्च करने में उन्हें रुपयों का कभी मोह नहीं हुआ। होश सँभालते उनके दिल में देश-प्रेम पैदा हुआ और उसके लिए उन्हें हर तरह के कष्ट सहने पड़े, किन्तु वह कभी त्रस्त नहीं हुए। हैदर का जीवन साहसपूर्ण यात्राओं से भरा है। जो पुरुष कई वार भूमंडल की परिक्रमा कर आया हो और पैसे के वल पर नहीं, बल्कि सिर्फ अपने जाँगर के बल पर, उसकी ज़िन्दगी कितनी दिलचस्प घटनाओं से पूर्ण होगी यह आसानी से समझा जा सकता है।

हैदर का जन्म रावलपिंडी जिले के कहोटा तहसील के सियालियाँ गाँव में दो मार्च (?) सन् 1900 में हुआ था। उनका खानदान चिव् राजपूतों का था, जो धीरे-धीरे गिरते-गिरते सिर्फ किसान मात्र रह गए थे, मगर किसी वक्त उनके पूर्वजों ने शासन किया था, जिसके फलस्वरूप उनमें आत्मसम्मान की मात्रा अधिक थी और लोग राजा कहकर पुकारा करते थे।

हैदर के पिता अता मुहम्मद जव हैदर छह ही वर्ष का था, तभी चल वसे। उसके दो और बड़े भाई थे, मगर कोई घर सँभालने लायक न था और परिवार का वोझ उसकी माँ फतेह बेगम पर पड़ा। अता मुहम्मद को भी संघर्ष करना पड़ा था, हाँ, गाँव में रहकर ही। पितृहीन अता मुहम्मद दोनों भाइयों की गृहस्थी सँभालने के लिए उनके वहनोई आए थे। मगर उन्होंने ऐसी सँभाल सँभाली, कि सारी जमीन और जायदाद हड़प कर डाली। सयाने होने पर अता मुहम्मद निराश नहीं हुए। पहाड़ और जंगल में जमीन थी। उन्होंने हाथ-पैर चलाने का निश्चय किया। गाँव से कुछ दूर, जंगल से ढँका एक कस् (उपत्यका) था। अता मुहम्मद का कुल्हाड़ा और कुदाल वहाँ चलने लगे और कितने ही वर्षों के बाद वह पंद्रह-वीस एकड़ (घुमाँव) खेत तैयार करने में सफल हुए। जिस वक्त हैदर का जन्म हुआ, उस वक्त तक अता मुहम्मद एक अच्छे खाते-पीते किसान वन चुके थे।

लेकिन स्वावलम्वन, मेहनत और साहस अव भी उनके जीवन का अंग था।

हैदर का पिता से वहुत प्रेम था, वह सदा पिता के साथ सोता। मरने के वाद वह अकेले ही पिता की बड़ी चारपाई को दखल किए रहा और किसी को उसके पास नहीं फटकने देता था। हैदर की एक ही चाची थी, जो अलग रहती थी। वह हैदर को वहुत मानती थी। लेकिन, हैदर को आकर्षित करनेवाली उसमें दूसरी ही बातें थीं। वह जितनी ही लम्बी-चौड़ी और वलिष्ठ राजपूतनी थी, उतना ही उसमें साहस भी अधिक था। एक बार किसी ने उससे झगड़ा कर लिया, इस पर चाची ने आधी रात को कुत्तों की जरा भी परवाह किए बिना कोस भर जा कीमती कच्ची फसल को काटकर बर्वाद कर दिया। वालक हैदर मन ही मन चाची की निर्भीकता की प्रशंसा करता था। पिता के मरने के कुछ ही समय बाद चाची का भी देहांत हो गया और देवर-भौजाई–हैदर के चचा और माँ–विधुर हो गए। उन्हें पति-पत्नी वन जाने ही में धर-गृहस्थी का सुभीता मालूम हुआ। हैदर जितना चाची को पसंद करता था, उतना ही चचा से नफरत करता आ रहा था। ब्याह के बाद दोनों घर एक हो गए, साथ ही खेत भी वढ़ गए, तो भी हैदर चचा को फूटी आँखों देखना नहीं चाहता था। हैदर को बचपन ही से बकरे पालने का शौक था और चरवाही जीवन के खेलों का भी। चचा उसकी स्वतंत्रता में बाधक होते, फिर वह उन्हें क्यों पसंद करने लगा ?

पिता को मरे साल भी नहीं हुआ होगा, अभी हैदर छह ही साल का हो पाया था, चचा ने किसी काम के लिए डाँटा। हैदर के बदन पर सिर्फ एक कुर्ता था, वह वैसे ही घर से भाग निकला और जाकर एक पहाड़ी गुफा में अट्ठाईस घंटे पड़ा रहा। जाड़े की तो उसने परवाह न की, लेकिन जव भूख के मारे अंतड़ियाँ ऐंटने लगीं, तो खाने के लिए कोई फल ढूँढ़ना जरूरी हो गया। चरवाहों ने देखा और हल्ला किया। भूख के मारे कमजोर हैदर कितना भागता ? आखिर पकड़ा गया। चचा ने पकड़कर खंभे से वाँधा और हाथ में चाबुक लेकर खूब धमकाया। लेकिन, इससे सिवाय अपने प्रति भतीजे की घृणा को कई गुना बढ़ा लेने के और कोई फायदा नहीं हुआ।

अगले दो बरस भी हैदर का जीवन इसी तरह वीता। अब वह आठ-नौ बरस का हो गया। एक दिन चचा ने आँख दिखाई। हैदर चादर फेंक नंगे ही चल पड़ा। कितने ही समय चलने के वाद चोहा-भगताँ (भक्तों का चश्मा) का एक ब्राह्मण मिला। वह लड़के को अपने साथ ले गया। हैदर दो-तीन महीना ब्राह्मण के घर रहा, काम था बर्तन मलना और भैंस चराना। ब्राह्मण और ब्राह्मणी का वर्ताव वड़ा स्नेहपूर्ण था, इसलिए हैदर का मन लग गया। इसी बीच चचा को खबर लगी और भतीजा साहव चोहा से पकड़कर घर लाए गए। ऐसे साहसी लड़के को मार-पीटकर रोका नहीं जा सकता, यह अब चचा की समझ में कुछ आने लगा। सोचा, पढ़ाई में लगा देने से शायद लड़का सुधर जाय। पास के गाँव के एक मुल्ला के पास हैदर भेजा गया। वह दो-तीन मास वहाँ रहा भी, मगर मुल्ला साहव को यजमानों से फुर्सत कहाँ थी, कि विद्यार्थियों की पढ़ाई की खबर लेते। हैदर वहाँ से भागकर दूसरे मुल्ला के पास पहुँचा। अभी पढ़ाई में स्थिर नहीं हो पाया था, कि मुल्ले के घर-भर के कपड़ों को धोने के लिए पानी के किनारे जाना पड़ा। लौटते वक्त एक कुर्ता कहीं गिर गया। घर जाकर गिनने पर जव मालूम हुआ, तो हैदर साहब ढूँढ़ने निकले। कुर्ता नहीं मिला और लौटकर उनकी जैसी पूजा होती, उसके लिए हजरत तैयार न थे। आखिर दुनिया बड़ी लम्वी-चौड़ी है, पिटने से कोई सुरक्षित स्थान ढूँढ़ना ज्यादा अक्लमंदी का काम है–हैदर इस गुर को धीरे-धीरे समझने लगा था।

अब हैदर मजौठा में तीसरे मुल्ला के पास पहुँचा। यहाँ विद्यार्थियों की पढ़ाई की ओर कुछ ध्यान रखा जाता था। खाने के लिए घरों से रोटियाँ माँग लाता था। छह मास तक हैदर ने मन लगाकर पढ़ा। वहाँ पढ़ानेवाले मुल्ले दो थे, छोटा मुल्ला हैदर का उस्ताद था। किसी कारण से दोनों मुल्लों में झगड़ा हो गया। छोटे मुल्ले को कुछ किताबें बड़े मुल्ला के पास लौटानी थीं। कहा-सुनी के डर से वह खुद नहीं जाना चाहता था। उसने हैदर को पीठ पर लादकर ले जाने के लिए कहा। हैदर को क्या पता था ? अभी किताबों को बड़े मुल्ला के सामने अच्छी तरह रखने भी नहीं पाया था, कि मुल्ला ने तावड़तोड़ हाथ चलाना शुरू किया। पिटपिटाकर किसी तरह जान लेकर भगे।

अव मुल्लों से हैदर की साध पूरी हो चुकी थी, वह उन्हें खूँख्वार दरिंदा समझता था। उसने अरवी-फारसी के मकतवों को आखिरी सलाम किया और भागकर झंड (गूजरखाँ से तीन-चार मील पर) चला आया। यहाँ उर्दू का एक इमदादी स्कूल था। हैदर ने यहाँ उर्दू पढ़ना शुरू किया और दो महीने घर-घर से मिली रोटियों पर गुजारा किया। झंड छोटी जगह थी। हैदर को केवल कस्वे के प्राइमरी स्कूल का पता लगा और वह वहीं चला गया। वेपैसा-कौड़ी, वेयार-मददगार छलाँग मारने की अव उसे कुछ आदत पड़ने लगी थी। स्कूल खुलते ही लड़कों में जाकर पढ़ने लगा—अभी वह आरंभिक दर्जे में था। खाने की छुट्टी हुई, सभी लड़के घर से लाई रोटियों की पोटली खोलने लगे। उन्होंने देखा, नवागंतुक के पास कुछ नहीं है। फिर 'सात-पाँच की लाकड़ी एक जने का वोझ।' हैदर को एक वक्त पेट भर कर खाना मिलने की चिंता नहीं रही और दूसरे वक्त वह पेट पर कावू रखने के लिए भी तैयार था। और रहना ? उसके लिए वगल में अल्ला मियाँ की मसीद जो थी।

कितने ही समय वाद स्कूल के प्रधानाध्यापक पंडित देवदत्तामल को इस विचित्र लड़के की वात मालूम हुई। उनके घर में और कोई था नहीं, उन्होंने अपनी डेवढ़ी में रहने के लिए हैदर को जगह दे दी, और जिस समय घर की मालकिन आतीं, उस समय हैदर को दोनों जून रोटी भी मिल जाती। कपड़े कभी देवदत्तामल दे देते, कभी कोई और। सात वर्ष की उम्र में ही भगोड़ेपन के आदी हैदर ने अपने को एक लगनवाला विद्यार्थी भी सावित किया और वह खूब मन लगाकर पढ़ता रहा। इसी वीच जार्ज वादशाह के गद्दी पर वैठने के उपलक्ष्य में भारत के सारे स्कूली विद्यार्थियों को राजभक्त वनाने के लिए एक-एक तमगा वाँटा गया। हैदर को भी एक तमगा मिला।

1912 के खतम होते-होते हैदर वारह साल के हो रहे थे। जिसने छह-सात साल की उम्र में पहली साहस-यात्रा शुरू की हो, वह दूनी उम्र का होकर अपने जिले और आसपास ही में मँडराता रहे, तो उसकी इज्जत ही क्या ? हैदर का वड़ा भाई कलकत्ता में रहता था, हैदर ने उसका पता लिख लिया और दिसम्वर में वेवल से चम्पत हो गया। टिकट का तो सवाल ही क्या, वहाँ खाने का भी ठिकाना नहीं था ! फिर, गूजरखाँ से हवड़ा तक कितनी ही तरह की ट्रेनें और उनके वदलने के कितने ही जंक्शन ! लेकिन, हैदर की हिम्मत मजवूत थी। वह एक दिन हवड़ा पहुँच गया। पता भी कुछ अधकचरा ही सा था, हैदर सारा दिन ढूँढ़ता रहा। शाम को जाकर उसने भाई को पकड़ पाया। भाई वड़े शान-शौकत से रहता था, उसके साथी तो और भी अमीराना जिंदगी विता रहे थे। रोज कवाव-पोलाव पकता, अच्छी-अच्छी शराव की वोतलें खोली जातीं और रंडियों की भाव-भंगी तथा मादक तानों से घर गूँजता रहता। ये लोग अफीम का रोजगार करते थे। सरकार ने महँगे से महँगे दाम पर अफीम खिलाने का ठेका लिया था और इन लोगों ने सस्ते से सस्ते दामों पर। सरकार के ठेके के पीछे पुलिस, अदालत और जेल थे; इनके 'ठेके' के पीछे चालाकी और ऐय्यारी। रोजगार खूव चला था, तभी तो रोज इनके यहाँ इंदरसभा लगती थी। हैदर कितने ही महीनों तक कलकत्ता में रहा और जल्दी ही अपने मुहल्ले के लड़कों का सरदार बन गया। मारपीट में उसका दल सवसे आगे रहता, और सरदार उससे भी आगे, यद्यपि सरदार के शरीर और वल में कोई विशेषता न थी। इसी बीच हैदर के भाई और उसके साथियों में झगड़ा और मारपीट हो गई। भाई को कलकत्ता छोड़ना पड़ा। हैदर भी भाई के साथ सियालियाँ पहुँच गया।

हैदर का मन सियालियाँ में क्यों लगने लगा ? वह वेवल पहुँचा। फिर पढ़ाई और पुरानी जिंदगी शुरू की। उसके सहपाठी एक दर्जा आगे चले गए थे, मगर देवदत्तामल हैदर की योग्यता को जानते थे और कूढ़मग्ज अध्यापक नहीं थे, कि योग्य विद्यार्थी को पीछे पकड़ कर रखते। उन्होंने हैदर को अगले दर्जे में तरक्की दे दी। कुछ ही महीनों में हैदर ने अपनी कमी पूरी कर ली। कलकत्ता जाने से घाटे की तो बात ही क्या, वह खूव फायदे में रहा। अफीम के रोजगार में पड़ने के पहले भाई जव पेशावर में पल्टन का सवार था, उस वक्त वह एक वार मुफ्त पेशावर का चक्कर काट आया था और अव तो हैदर पेशावर से कलकत्ता तक का एक साहसी पर्यटक था। उसने भारत के सवसे वड़े नगर में कई महीने नागरिक जीवन विताया था और शहरी लड़कों का सरदार रहा था। उसके सहपाठी हैदर को वड़े अदब से देखते थे। महीनों वे उससे कलकत्ता की

बातें पूछा करते और हैदर खूब नमक-मिर्च लगाकर सुनाता रहता। कलकत्ता की यात्रा ने हैदर में एक भारी परिवर्तन कर डाला था—अब उसके लिए जमकर पढ़ना असंभव था।

अफीमवालों की दुनिया में अब बड़े भाई को जगह न थी, इसलिए वह फिर पेशावर में फौज में भर्ती हो गया। हैदर साहब भी एक दिन पेशावर पहुँच गए, किंतु भाई के पास न जाकर कलकत्ते के एक परिचित पठान के घर गए। पठान अच्छा खाता-पीता इज्जतदार आदमी था, अपने दोस्त के छोटे भाई को बड़े स्नेह से लड़कों के साथ रखा। किसी दिन भाई को पता लग गया, फिर हैदर के लिए सामने होना जरूरी था।—भाई चचा की तरह कठोर नहीं था। यद्यपि बड़े भाई की एक बीवी घर पर थी, लेकिन इस वक्त एक और सुन्दरी के जादू का वह शिकार हो गया। सुन्ना (सोना) को उसके गाँव से कोई भगा लाया था, वह बड़ी ही सुन्दर तरुणी थी। बड़े भाई के रिसालदार को यह पता लगा। वह धार्मिक प्रवृत्ति के आदमी थे, उन्होंने लड़की का उद्धार करना अपना फर्ज समझा। लड़की भगानेवाले के पंजे से छुड़ाकर एक सुरक्षित स्थान में रखी गई। वहीं मुन्ना और हैदर के भाई की चार आँखें हुईं। दोनों ही सुन्दर थे, दोनों ही तरुण थे। चंद ही दिनों में दोनों प्रेमपाश में बद्ध हो गए। रिसालदार ने लड़की के घरवालों को आने के लिए लिखा था, लेकिन जब तक वे आवें-आवें तब तक सोना और सियालियाँ का तरुण एक हो चुके थे। सोना को अनिच्छापूर्वक घरवालों के साथ कर दिया गया। उसे रेल के जनाने डब्बे में बैठाया गया। सलाह पहले ही से पक्की हो चुकी थी। हैदर का भाई उसी ट्रेन में चढ़ा, उसने एक स्टेशन पर सोना को उतार लिया और दूसरी ट्रेन से पेशावर पहुँच गया। भाई ने सोना को शहर में किसी मित्र के पास रखा। इस वक्त और जिस वक्त भाई को कैद में रखा गया था, हैदर भाई का संदेश सोना के पास और सोना का भाई के पास पहुँचाया करता था।

अब सोना सियालियाँ पहुँच गई। भाई उसके पति से तलाक दिलवाने के लिए पैसा जमा करने की तैयारी करने लगा। हैदर का मन पेशावर और सियालियाँ से ऊब गया था, वह एक दिन फिर बिना टिकट कलकत्ता के लिए रवाना हो गया। मुरादाबाद के आगे रामपुर में टिकट-चेकर ने पकड़ा। वैसे होता तो छोड़ देता, मगर अब हैदर के शरीर पर ज्यादा खून ही नहीं दौड़ रहा था, बल्कि अच्छे साफ-सुथरे कपड़े भी थे। टिकटचेकर ने समझा—किसी भले घर का लड़का भागा जा रहा है। 'एक पंथ दो काज' का ख्याल कर उसे पुलिस को सौंप दिया। रात का वक्त था, पुलिस निश्चिंत थी। हैदर निकल भागा और कुछ स्टेशनों को पार कर आगे कलकत्ता जानेवाली दूसरी ट्रेन पकड़ी। कलकत्ता में भाई के पुराने दोस्त से भेंट हुई। कुछ दिन रहा, लेकिन दिन ही। इधर-उधर देखा-भाला, खिदिरपुर डॅक में जहाजों को देखने में ज्यादा दिलचस्पी हुई। फिर अपनी रेल पकड़ी और पेशावर। भाई जेल में था—पल्टन की नौकरी छोड़ना चाहता था। जब कोई और रास्ता नहीं देखा तो जेल जाने की सजा का रास्ता निकाल लिया और नाम कट गया। हीर सियालियाँ में तड़प रही थी और राँझा पेशावर के जेल में। हैदर उस वक्त दोनों का प्रेमदूत था। इस काम ने हैदर को कुछ स्थिरता प्रदान की। रोज-रोज तो पेशावर और सियालियाँ जाने-आने की जरूरत नहीं थी और उधर बेवल का प्राइमरी स्कूल और पंडित देवदत्तामल मौजूद थे। फिर पढ़ाई शुरू की। बुद्धि तेज थी, इसलिए घुमंतूपन की कसर को पूरा करना मुश्किल न था।

इधर बेवल के स्कूल की पढ़ाई खतम होने को आई और उधर देवदत्तामल भी चल बसे। सन् 14 का युद्ध शुरू हुआ। पंजाब की देहातों में फौज की भर्ती की धूम मची हुई थी। भर्ती करनेवाले अफसर गाँव-गाँव घूम रहे थे। हैदर की भी इच्छा हुई, सिपाही बनने की। एक-दो जगह गए, लेकिन चौदह वर्ष के लड़के को कौन भर्ती करने लगा ? अफसर के खानसामा ने विश्वास दिलाया, कि साथ-साथ चलो, मैं तुम्हारी सिफारिश कर दूँगा। सिफारिश की उम्मीद पर हैदर रावलपिंडी तक साथ गये। वहाँ एक सिपाही ने बात करने पर कहा—"बावला हुआ है ! चौदह साल के लड़के फौज में भर्ती नहीं हुआ करते, खानसामा तुझसे रिकाबियाँ साफ करवाना चाहता है।" हैदर को बड़ा रंज और निराशा हुई। लेकिन पंख तो जम चुके थे, सारे हिंदुस्तान की रेलें अपनी थीं—सीधे बंबई पहुँच गए।

बड़ा भाई जेल से छूटकर सोना से बाकायदा ब्याह करने के लिए बंबई में जहाज में नौकरी करके रुपये

जमा कर रहा था। मँझला भाई और मामा भी जहाज के खलासी थे। संयोग से उनके जहाज उस वक्त बंबई में ठहरे थे। सबने स्वागत किया और अच्छी तरह से रखा। मगर उनके जहाज तो कुछ ही दिन में बंबई छोड़नेवाले थे। आखिर में पाया गया कि हैदर को घर भेज दिया जाय, वहीं पढ़े-लिखेगा–बड़ा भाई लिखा-पढ़ा था। रात को एकांत में घर जानेवाले आदमी को भाई समझा रहा था–"देखो, रेल में होशियार रहना, बड़ा कांइयाँ लड़का है, कहीं रास्ते से निकल न भागे।"

हैदर उसी रात चम्पत हो गया, ले जानेवाले आदमी को तकलीफ उठाने की जरूरत न पड़ी। हैदर ने देखा था, लड़के बंदरगाह के जहाजों के पुराने रंग को छील रहे हैं, जिसमें कि उन पर नया रंग दिया जा सके। हैदर भी उन्हीं लड़कों में शामिल हो गया। रंग छीलना, रँगना फिर रंग-विरंगे रंगों में सने कपड़े में ही उन्हीं लड़कों के साथ खुले आसमान के नीचे पत्थर के फर्श पर सो जाना। ठेकेदार तेरह-चौदह घंटे काम लेते थे और मजूरी देते थे सात आना। एक सप्ताह बाद मामा ने हैदर को पकड़ पाया। अब घर भेजने का किसी ने नाम नहीं लिया। अपने दूसरे मित्रों से परिचय करा दिया और खुद अपने जहाजों के साथ लोग समुद्र की ओर चले गए।

1915 महायुद्ध का दूसरा साल था। कुछ समय तक तो हैदर का मन जहाज की रँगाई में जैसे-तैसे करके लगा रहा, लेकिन अब वह चाहता था, पूरा नाविक बनना। पंद्रह बरस के लड़के को नाविक बनावे कौन ? कई जहाजों में इनकार होने के बाद 'फ्रांज फर्डिनान्ड' जहाज के सारङ् (हिंदुस्तानी मल्लाहों के सरदार) ने कोयला-वाहक (Coal-passer) के रूप में रख लिया। कोल-वाहक का बहाना भर था, असल में हैदर का काम था, जहाज के अंग्रेज इंजीनियर को चाय पिलाना, खाना खिलाना, केबिन (कोठरी) की सफाई रखना–सरकारी खर्च पर मुफ्त में खानसामा।

यह जहाज आस्ट्रिया का था, लड़ाई के वक्त किसी ब्रिटिश बंदर में होने से अंग्रेजों के हाथ में आ गया था और अब बंबई और बसरा के बीच आना-जाना उसका काम था। अभी तक हैदर को निश्चल जहाजों ही से वास्ता पड़ा था, अब उसे रात-दिन चलते जहाज में रहना था। जहाज ने लंगर उठाया और जब गनगनाहट के साथ आकाश में धुएँ के काले बादलों की लहर पैदा करता हुआ चला, तब हैदर ने बड़ी उत्सुकता से एक बार बंबई को आँखों से अन्तर्धान होते देखा। अब दिन में ऊपर आसमान, सूर्य और नीचे घनमील जल, रात को काले आसमान में सफेद फूलों की तरह खिले तारे दिखलाई पड़ते। कितने ही दिनों बाद जहाज पारस की खाड़ी में पहुँचा और ईरान के अबादान-खुरम शहर के बंदरों में होते बसरा में लगा। हैदर ने पहले-पहल हिंदुस्तान से बाहर एक दूसरे देश की भूमि पर पैर रखा। वहाँ की बोली दूसरी थी, लोग दूसरे थे, उनका चेहरा-मुहरा दूसरा था। लेकिन, हैदर को नवीनता पसंद आई। उस वक्त बसरा में अंग्रेजों की जबर्दस्त तैयारी हो रही थी। डर था जर्मनी के तुर्की होकर भारत की ओर बढ़ने का। कुछ दिनों बाद जहाज बंबई लौटा और हैदर का काम छूट गया।

हैदर को अब जहाज के हथकंडे मालूम हो गए थे। मल्लाहों की भर्ती में सारङ् का ही सारा हाथ होता है, उसकी भेंट-पूजा किए बिना कोई भर्ती नहीं हो सकता। सारङ् अपनी आमदनी में से जहाज के अंग्रेज-अफसरों को भी भेंट-पूजा चढ़ाता है। हैदर ने दो महीने का वेतन सारङ् को दिया और एक जहाज पर कोयला-वाहक का काम मिल गया। तनख्वाह भी अठारह रुपये मासिक। जहाज एक साल तक (1915-16) बसरा और पारस की खाड़ी के बीच ढुलाई करता रहा। हैदर अब सोलह साल का हो गया था और तजरबे में तो खूब सयाना था। उसे इराकी अरबी भी आने लगी और टूटी-फूटी अंग्रेजी भी। अभी नाविकों के पूरे जीवन से उसका परिचय न था। गाँजा, अफीम, हशीश (भाँग) से प्रेम नहीं हुआ था। 1916 के आरंभ में जहाज बंबई लौटा। जहाजों के कायदे के अनुसार भर्ती होनेवाले बंदर पर मल्लाह नौकरी से मुक्त कर दिए जाते हैं।

जहाजी मल्लाह का मन स्थिर भूमि पर ज्यादा देर तक नहीं लग सकता। स्थिर भूमि की उसे आकांक्षा होती है, मगर थोड़े दिनों के लिए, जिसमें कि शराब और स्त्री उसे कुछ तृप्ति प्रदान करें और साथ ही उसका खीसा भी खाली हो जाय। हैदर उस स्थिति में मल्लाह न थे, तो भी बंबई में बेकार बैठे-बैठे खाने को वह

क्यों पसंद करने लगे ?

प्रथम पृथ्वी-परिक्रमा–'न्यूबिया-हाल' जहाज कोलंबो से रवाना होनेवाला था। बंबई में उसके सारङ् से हैदर दो-एक बार मिला और नब्बे रुपये उसे कर्ज भी दे डाला। नौकरी क्यों न मिलती ? हैदर के साथी बंबई से कोलम्बो गए और फिर वहाँ से भूमध्य-सागर के रास्ते इंग्लैण्ड को। लड़ाई का वक्त था, जर्मन पनडुब्बियाँ और लड़ाकू जहाज कहीं भी आक्रमण कर सकते थे। लेकिन 'न्यूबिया-हाल' पर कोई तोप न थी–आदमी सस्ते भी होते हैं, महँगे भी होते हैं। 1916 का जाड़ा था, जबकि जहाज लंदन पहुँचा। हैदर और उसके साथी हिंदुस्तानी कपड़ों में लंदन के बाजारों में गए। लोगों के लिए तमाशा बनने की बात तो अलग, वहाँ सर्दी के मारे अपने गर्म देश के कपड़ों में लोग ठिठुरे जा रहे थे। 'न्यूबिया-हाल' के मालिकों को क्या परवाह थी कि हिंदुस्तानी मल्लाहों को गरम कपड़े देते ! मर जाने पर बंबई में हजारों मल्लाह बनने के लिए तैयार जो थे।

'न्यूबिया-हाल' के सारङ् ने हैदर के नब्बे रुपयों को ऐंठना चाहा। किसी दूसरे अंग्रेजी जहाज को सस्ते 'लश्कर' (हिंदुस्तानी मल्लाहों) की जरूरत थी। सारङ् ने हैदर और कुछ और मल्लाहों का नाम दे दिया। लड़ाई का वक्त, जाने से इन्कार कैसे करते ? उन्हें आठ घंटे रेल से देश के दूसरे छोर पर जाना पड़ा। खाने के लिए कहीं पूछा तक नहीं गया। भूखे-प्यासे हिंदुस्तानी मल्लाह जब अपने नये जहाज 'सिटी ऑफ मनीला' पर पहुँचे, तो वहाँ का सारङ् और भी जालिम निकला। पहले के मल्लाहों ने उसके जुल्मों की कहानी कह सुनाई। हैदर और उनके साथी साथ मिल गए। सारङ् की मनमानी को वे बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं थे। यह भी मालूम हुआ, कि कप्तान और दूसरे अंग्रेज अफसर, सारङ् जैसा कहता है, वैसा ही करते हैं। उसी रात सभी मल्लाहों के मुखियों की बैठक हुई। लोगों ने सारङ् से पिंड छुड़ाने का निश्चय किया। हैदर सोलह ही वर्ष के थे, लेकिन सभी जगह आगे थे। उन्हें दूसरों की अपेक्षा अधिक अंग्रेजी शब्द भी मालूम थे, इसलिए वही नेता बनाये गए और तै कर लिया गया, कि साहबों से बात करना सिर्फ हैदर के जिम्मे होगा। सारङ् अपने को बादशाह समझता ही था। एक आदमी ने कुछ कहा, सारङ् क्यों बर्दाश्त करने लगा ? हाथापाई हुई, सारङ् पिटा, साथ ही उस आदमी को भी चोट आई। बात की बात में 'सिटी आफ मनीला' खाली हो गया। सारे मल्लाह घाट पर उतर आए और अपने हिंदुस्तानी कपड़ों में ठिठुरते सीधे शिपमास्टर के आफिस पर पहुँचे। जहाज पर पूरी हड़ताल और लड़ाई के वक्त में ! लेकिन, सब एकमत थे। शिपमास्टर ने जिस किसी मल्लाह से पूछा, उसने हैदर की ओर उँगली उठाई। हैदर को अंग्रेजी के जितने शब्द मालूम थे, उससे सारङ् की बदमाशी बतलाई। शिपमास्टर ने कहा कि जहाज पर चलो, हम सारङ् के बारे में कार्रवाई करेंगे। हैदर ने सबकी ओर से पैर बढ़ाकर कहा–"No ! me no go ship. Sarang shore me ship. Sarang ship me shore" सब मल्लाह एकमत थे। जहाज को अमेरिका के लिए जल्दी ही रवाना होना था। सारङ् को उसी वक्त दंड-कमंडल ले नीचे उतरना पड़ा। लोगों ने अपने में से एक तजरबेकार आदमी को दिया, जो सारङ् बनाया गया और 'सिटी ऑफ मनीला' ने लंगर उठाया।

अब जहाज में अपना राज था। मल्लाहों के दिल में थरथर काँपने की बात जाती रही। हैदर उनके नेता थे। अतलान्तिक पार करके न्यूयार्क में माल की उतराई-चढ़ाई हुई, फिर पनामा की विशाल नहर से अमेरिका को चीरकर जहाज प्रशांत महासागर में आया और ब्लादीवोस्तोक् में जाकर लंगर डाला। अभी जारशाही बरकरार थी। वैसे होता तो कप्तान के डर के मारे जहाज से उतरकर कोई शहर नहीं जाता, मगर अब छुट्टी के वक्त उन्हें कौन रोक सकता था ? हैदर ने भी रूस के इस महान् बंदर को देखा। उस युद्ध में जापान अंग्रेजों का दोस्त था। 'सिटी ऑफ मनीला' योकोहामा होते शांघाई पहुँचा। एक दिन शाम को बहुत-से मल्लाह शहर की ओर चले। हैदर को साथ आते देख उसके दोस्त मौलू ने कहा–"तुम मत चलो, हम किसी दूसरे काम से जा रहे हैं।" काम बतला दिया होता तो शायद हैदर न भी जाते। वह न रुके। उन लोगों को कोई दलाल मिला और वह उन्हें रंडियों के मुहल्ले में ले गया। अब अँधेरा हो चुका था। हैदर को बात मालूम हुई और जब आई हुई लड़कियों में से एक को चुनने के लिए कहा गया, तो उन्होंने इन्कार करके जहाज पर लौट जाने पर जोर दिया। उस वक्त अकेले लौटना सम्भव न था। रात बिताने के लिए कहीं ठौर-ठिकाना नहीं मिल सकता

था। साथी मौलू ने समझाया—"पकड़ो एक का हाथ, रात-भर सोने के लिए बिछौना तो मिलेगा।" हैदर को उस रात नाविकों का पूर्णाभिषेक प्राप्त हुआ।

जहाज आगे मनीला (फिलीपीन) गया। वहाँ एक नीग्रो जहाज पर मल्लाह का काम करने आया। जब उसे हिंदुस्तानी मल्लाहों का खाना दिया गया तो उसने खाने से इन्कार कर दिया। वह अमेरिकन नीग्रो था, न वह अठारह रुपये महीने पर नौकरी कर सकता था और न हिन्दुस्तानी मल्लाहों के घास-भूसे को खा सकता था। इस तरह की घटनाएँ धीरे-धीरे हैदर पर प्रभाव डालने लगीं। हिंदुस्तानी मल्लाहों की स्थिति के बारे में उनकी आँखें खुलती जा रही थीं। जहाज सिंगापुर पहुँचा। अंग्रेज अफसर हिंदुस्तानी मल्लाहों को भेड़ की शक्ल में ही देखने के आदी थे, लेकिन अब की दूसरी तरह के मल्लाह उन्हें मिले थे। बंबई से पहले ही सिंगापुर में उन्होंने सबको छुट्टी दे दी, यद्यपि इसके लिए कम्पनी को मुफ्त की तनखाह तथा मद्रास तक जहाज फिर बम्बई तक का रेल का किराया देना पड़ा।

हैदर की यात्राएँ सिंदबाद जहाजी की यात्राओं से कम दिलचस्प नहीं हैं, लेकिन हमें लेखनी को संकुचित करना पड़ेगा।

बंबई में उन्हें अब की बार 'नगोआ' जहाज मिला और काम जरा ऊँचा--फायरमैन (अग्निज्वालक) का। दिसम्बर (1916) में वह लंदन की तिलबरी डक पर पहुँचे। माल उतरा और लौटकर फिर बंबई। जहाज का अफसर हैदर से खुश था, इसलिए बंबई पहुँचने से पहले ही सवा रुपये रोज पर हैदर को बहाल कर लिया गया था। 1917 के वसंत में वह बसरा पहुँचे और फिर लौटकर बंबई।

अमेरिका के नागरिक–18 अक्तूबर 1917 को हैदर का नया जहाज 'खीवा' केपटाउन (दक्षिण अफ्रीका) के रास्ते लंदन के लिए रवाना हुआ। सत्रह साल की ही उम्र में हैदर को यह तीसरी बार लंदन देखना पड़ा। लंदन में उन्हें अपने भाई का एक दोस्त मिल गया। वह हिंदुस्तानी 'लश्कर' के जीवन को छोड़कर वहीं बस गया था। उसका घर भी अच्छा था, कपड़ा-लत्ता भी आदमियों जैसा साफ-सुथरा था। क्यों न हो ? वह बीस रुपल्ली में अपने को थोड़े ही बेच रहा था ? वहाँ उसे दूसरे अंग्रेज मजूरों की तरह पैंतीस-चालीस रुपये हफ्ते मिलते थे।

जनवरी (1918) के पहले सप्ताह में 'खीवा' ने लंदन से प्रस्थान किया। न्यूयार्क में माल उतार रहा था, हैदर ज-तब शहर की सैर करने जाते थे। सैम डाक्टर नामक एक अमेरिकन मिला। बातचीत करते दोनों में कुछ घनिष्ठता हुई। सैम को जब मालूम हुआ कि हिंदुस्तानी फायरमैन को पचीस रुपये और आइलर (तेलवाला) को पैंतीस रुपये मिलते हैं, तो उसने बहुत आश्चर्य प्रकट किया। हैदर अब और हिंदुस्तानी 'लश्कर' बनने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने एक दिन चुपके से 'खीवा' को छोड़ दिया। बंदरगाहों पर एक-आध ऐसे सैलानी मल्लाह भागते ही रहते हैं, इसलिए 'खीवा' उनके ढूँढ़ने के लिए वहाँ रुका थोड़े ही रहता।

हैदर थे एक तो हिंदुस्तानी रंग के–काले न होते हुए भी गोरों जैसे गोरे थोड़े ही थे।–और उस पर से हिंदुस्तानी ढंग के कपड़े ! भिखमंगे को कौन जगह देता ? आखिर में एक नीग्रो स्त्री के घर में जगह मिली। किराया कम था और दूसरा खर्च भी कम करने लगे। मगर, हिंदुस्तानी तनखाह का रुपया अमेरिकन खर्च में कितने दिनों तक टिकता ? हैदर ने घूमते-फिरते कुछ और मित्र बनाये। नाविक गृह का पता लगा और नौकरी मिलने में आसानी का ख्याल कर वहाँ चले गए। किसी ने सलाह दी कि अमेरिकन प्रजा हो जाओ, तो नौकरी पाने में आसानी होगी। जाकर पहला आवेदन-पत्र दे आए। लेकिन, इतने ही से नौकरी थोड़े ही मिल जाती ? दो-एक दिन भूखे पटपटाये, फिर एक हथियार के कारखाने में (Du-Pont Ammunition Plant, New Jersy) में काम मिल गया। फायरमैनी में महीने-भर में जो तनखाह मिलती थी, वह यहाँ एक रोज की तनखाह थी। हैदर कितने ही मास वहाँ रहे। अब उन्होंने बाकायदा अमेरिकन सूट-बूट लगा लिया था और भिखारी की जगह भद्रजन मालूम होते थे। लेकिन, थोड़े ही समय बाद फिर नाविक जीवन ने अपनी ओर खींचना शुरू किया। कुछ रुपया बचा पाये थे, न्यूयार्क चले आए। नाविक प्रतिष्ठान (Seamen Institute) और मजूर-सभा आफिस में गए। लड़ाई अभी जोरों पर थी और अमेरिका उसमें शामिल था, इसलिए नौकरी दुर्लभ नहीं थी। 'फिलाडेल्फिया'

जहाज में उन्हें कोयलावाहक का काम मिला, लेकिन अमेरिकन कोयलावाहक—यानी हिंदुस्तानी से तीस गुनी ज्यादा तनखाह।

अभी तक हैदर के पीछे हराम-हलाल लगा हुआ था, मगर अब अमेरिकन जहाज के मल्लाह थे। हराम-हलाल का विचार रखने पर दूसरे मल्लाहों से अलग खाने का इन्तिजाम करना पड़ता। अब वह दूसरे अमेरिकन मल्लाहों के साथ उन्हीं का खाना खाने लगे। अप्रैल 1918 में वह फिर न्यूयार्क में थे और अब Trade Union (मजदूर-सभा) के पूरे मेम्बर हो चुके थे। इसी वक्त 'खीवा' अपनी यात्रा में न्यूयार्क आया था। किसी परिचित से भेंट हुई और अपने देश के साथियों को देखने जहाज पर चले गए। था यह जोखिम का काम, क्योंकि वह 'खीवा' के भगोड़े थे।

इस साल अमेरिकन सैनिकों को लेकर कई बार उन्हें फ्रांस जाना पड़ा। ब्रेस्त (फ्रांस) में बीमार पड़े। अस्पताल में जब उन्हें नीग्रोवार्ड में चारपाई दी गई, तो चलने के लिए तैयार हो गए। डाक्टरों ने तब गोरों के वार्ड में जगह दी। इसी यात्रा में कप्तान ने खर्च के लिए पैसे कुछ कम देने चाहे, नाविक झगड़ पड़े। हैदर भी उनके साथ थे। इस पर सब नाविकों को काम से हटा दिया गया और छप्पन हजार टन के विशाल यात्री जहाज पर सब को फ्रांस से न्यूयार्क भेज दिया गया। जहाज के तृतीय इंजीनियर वेनूराइट से हैदर का परिचय बढ़ा और दोनों में घनिष्ठ मित्रता हो गई। उसके प्रोत्साहन से हैदर का विचार इंजीनियर बनने का हुआ।

1919 में आयरलैंड और इंग्लैंड की खूब चल रही थी। उधर भारत में भी राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू हो गया था। इसी वक्त हैदर का परिचय एक आइरिश-अमेरिकन से हुआ। हैदर अब अच्छा कमाते ही खाते न थे बल्कि पढ़ते-लिखते भी थे। अब वह उन्नीस साल के थे, उनकी दिलचस्पी सांस्कृतिक और राजनैतिक बातों में भी हो चली थी। इस साल उन्होंने कई नाटक देखे। सीलोन-इंडिया-रेस्तोराँ (भोजनालय) में अक्सर जाया करते थे। वहाँ शिक्षित और विद्यार्थी भारतीयों से भी भेंट हुआ करती और भारत की राजनैतिक दुर्दशा पर बातचीत होती। इसी साल उन्हें ब्राजील आदि (दक्षिणी अमेरिका) के देखने का मौका मिला। 1920 में दूसरे जहाज पर इताली गए। लौटकर आए तो एक साथी मल्लाह अल्लादीन ने चार सौ डालर की कमाई पर हाथ साफ किया। कुछ दिन भुक्खड़ रहे, फिर जहाज मिलते गए। बाल्टीमोर में एक दाँतों का डाक्टर मिला। अमेरिकन मल्लाह बहुत ज्यादा कमाते हैं, यह वह जानता ही था। वह हैदर के पीछे पड़ा। हैदर के दाँत बहुत मजबूत थे, तो भी डाक्टर ने सोना डालकर ही छोड़ा। फ्रांस की एक यात्रा में नाविकों के स्टीवर्ड (जहाज का एक कर्मचारी) से झगड़ा हो गया, हैदर नेता बने। स्टीवर्ड को दबना पड़ा और खाने में सुधार हुआ।

'मरने से पहले नेपल्स देखो'—यह कहावत मल्लाहों की जबान पर होती है। हैदर ने नेपल्स की भी बहार ली। एक यात्रा में ट्रिनिडाड गए। जहाज में आग लग गई और उसे छोड़ना पड़ा। यहाँ उन्हें कितने ही प्रवासी भारतीयों को देखने का अवसर मिला। अब हैदर राजनीति में काफी आगे बढ़ चुके थे। उस वक्त एगनेस स्मेडले भारत के पक्ष में अमेरिका में आन्दोलन कर रही थीं। आजकल यह अमेरिकन महिला कई सालों से चीनी कम्युनिस्टों के साथ हैं और भारत तथा चीन की स्वतन्त्रता के पक्ष में अब भी उसी तरह संलग्न हैं। धीरे-धीरे भारतीयों के राजनीतिक विचार और गरम होते जा रहे थे। सीलोन-इंडिया-रेस्तोराँ के मालिक अपने भोजनालय को राजनीतिक अड्डा बनाने से डरने लगे। कितने ही हिन्दुस्तानियों को उनका बर्ताव बुरा लगा। किसी ने 'हिन्दू रेस्तोराँ' खोलने की योजना पेश की। हैदर ने पाँच सौ बीस डालर (दो हजार रुपये से ऊपर अपनी जेब से देकर रुपये की दिक्कत को दूर कर दिया। रेस्तोराँ खुला, लेकिन सिर्फ योजना बना लेने ही से काम थोड़े पूरा हो सकता है !

हैदर अब गरम देशभक्त थे। उनका परिचय गदरपार्टीवालों से हुआ। दुनिया-भर में जगह-जगह बिखरे हुए हिन्दुस्तानियों में राष्ट्रीयता का प्रचार करना हैदर अपना परम कर्तव्य मानते थे। 1921 में अपने जहाज के साथ वह होनोलुलू (हवाई) योकोहामा और शांघाई पहुँचे। शांघाई में भी उतरकर उन्होंने उर्दू, गुरुमुखी में छपे पत्रों को हिन्दुस्तानियों में बाँटा। कोई खुफिया हिन्दुस्तानी उनका पीछा कर रहा था, जब जहाज हांगकांग में आया तो अँगरेजी पुलिस ने हैदर को गिरिफ्तार कर लिया। अमेरिकन नाविकों ने सिर्फ पुलिस के सामने

विरोध ही नहीं प्रदर्शन किया, वल्कि शहर में अमेरिकन और अंग्रेज नाविकों में खुली मारपीट शुरू हो गई। अमेरिकन कौंसल (राज्य-प्रतिनिधि) ने अमेरिकन जहाज से एक अमेरिकन की गिरिफ्तारी को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध बतलाकर सख्त मुखालफत की। मामला आगे वढ़ना चाहता था। ब्रिटिश अधिकारियों ने एक ही दो दिन हवालात में रखकर हैदर को छोड़ दिया। हैदर फिलीपीन, सिंगापुर होते न्यूयार्क पहुँचे।

इसी साल (1921) हैदर को संयुक्त राष्ट्र के नागरिक होने का प्रमाणपत्र मिला।

लड़ाई खतम हुए तीसरा साल हो रहा था। लड़ाई के काम बन्द हो गए थे और वेकारी वढ़ रही थी। एक काम के लिए वीसियों उम्मीदवार तैयार रहते थे। ऐसे समय काम देने में रंग का सवाल उठना स्वाभाविक था। एक जहाज पर मालिकों की ओर से हैदर को काम मिल गया। लेकिन रंगीन (गोरे-भिन्न) आदमी के साथ काम करने से नाविकों ने इन्कार कर दिया। पहला तजर्बा था, हैदर के दिल को आघात तो लगा। शायद वह अभी समझ नहीं पाये थे कि जिन अमेरिकन नाविकों में उन्होंने सैकड़ों मित्र पैदा किए, वे आज उनके साथ ऐसी रुखाई क्यों दिखला रहे हैं। पूँजीवाद सवको काम और जीवन-सामग्री प्रस्तुत करने के लिए नहीं है, वह है मालिकों को सिर्फ नफा पहुँचाने के लिए। और वैसा करने में नफा नहीं है, इसलिए हजारों जहाज बन्दरगाहों में निश्चल पड़े हुए हैं। लाखों नाविकों को काम नहीं मिल रहा है और वे मजूरी के लिए कभी रंग का सवाल और कभी पूर्वी-यूरोप का सवाल उठाते हैं। पल्टनों के टूटने से उनमें काम करनेवाले लाखों सिपाही बेकार हो गए और कारखानों के बन्द होने से लाखों मजदूर भी। धन की खान अमेरिका में लाखों-लाख आदमी भूखे मर रहे थे। धनियों की गवर्नमेंट इन भुक्खड़ों को अपनी किस्मत पर छोड़ देना चाहती थी। वह जानती थी, कि उसके पास जितने शक्तिशाली हथियार हैं, उतने भुक्खड़ों के पास नहीं। भुक्खड़ों की आवाज एक तो उठने ही नहीं पाती थी; क्योंकि सभी बड़े-बड़े अखबार धनियों के हाथ में थे। और, इक्के-दुक्के यदि कहीं आवाज उठती भी, तो सरकार ने कान में तेल डाल लिया था। उस वक्त भुक्खड़ों के कुछ हिमायतियों के दिमाग में एक बात सूझी और उसे काम में लाया जाने लगा। सभा होती, भुक्खड़ खूब जमा होते और कितने ही नागरिक भी। भुखमरी के कष्ट का चित्र खींचा जाता, फिर एक आदमी उठकर उपस्थित भुक्खड़ों से पूछता—"तुममें से कौन भूखे मरने के लिए तैयार है और कौन सार्वजनिक तौर से विकने (नीलाम) के लिए ?" कितने ही आदमी खड़े हो जाते। फिर उन्हें (स्वतन्त्र अमेरिकनों को) नीलाम किया जाता। इस नाटक को पहले अधिकारी उपेक्षा की नजर से देखते या मजाक करके उड़ा देते; लेकिन, जब यह सारे देश में फैल गया और बड़े-बड़े शहरों में लाखों आदमी प्रभावित होने लगे, तो अमेरिकन सरकार को कुछ दमन और कुछ सहायता के लिए तैयार होना पड़ा। हैदर ने ऐसे कितने ही नीलाम देखे और देश में वढ़ती हुई सशस्त्र डकैतियों को भी देखा।

जहाज की नौकरी अव अनिश्चित-सी होती जा रही थी। हैदर कोई रोजगार करना चाहते थे, मगर उसकी उन्हें जानकारी न थी। उनके एक साथी—मिस्टर गुप्त—ने पुरानी पोशाक से नई पोशाक तैयार करनेवाली दर्जी की दूकान की योजना पेश की। हैदर ने तुरन्त पाँच सौ डालर लगाये और दूकान खुल गई। जब तक जहाज की नौकरी मिलती रहे, तब तक हैदर कहाँ एक जगह बैठनेवाले थे ? उनका आखिरी जहाज मैक्सिको की ओर जा रहा था। मालिकों के सुभीते के लिए कुछ नाविक हटा दिए गए। यह अमेरिका की दक्षिण रियासतों की ओर हुआ। हैदर के पास इतना पैसा न था कि टिकट कटाकर, खाते-पीते रेल से न्यूयार्क पहुँच जाते। एक और अमेरिकन के साथ वह 'होवो' (फक्कड़ घुमक्कड़) बन गए। चोरी से बिना टिकट रेलों पर सफर करना बड़ा कठिन था। बेकारी और भुखमरी के कारण चोरी और डकैती बहुत बढ़ गई थी। हर ट्रेन की रक्षा के लिए मशीनगन के साथ सैनिक चलते थे। एक जगह हैदर पकड़े गए। मुकदमा अदालत में पेश हुआ। हैदर ने सच्ची-सच्ची बात बतला दी। उस वक्त तक हैदर ने जहाजी तृतीय इंजीनियर की परीक्षा पास कर ली थी और प्रमाण-पत्र देख जज ने किसी ठेकेदार के जिम्मे छोड़ दिया। आखिर सभी भुक्खड़ों को जेल में रखकर खाना देना भी तो संभव नहीं था। हैदर वहाँ से भी निकलकर 'होबो' के रूप में न्यूयार्क पहुँच गए।

1922 में वह 'लाइसेन्सड् सेकेण्ड असिस्टेंट मेरीन इंजीनियर' का प्रमाण-पत्र पा चुके थे, लेकिन, वहाँ

इंजीनियर के प्रमाण-पत्र को कौन पूछता था ? भूतपूर्व कप्तान तक साधारण नाविक के काम के लिए तरस रहे थे। एक जहाज में मामूली नाविक के तौर पर उनकी नियुक्ति हुई, लेकिन फिर रंग के सवाल ने काम नहीं मिलने दिया। इससे पहले ही कुछ और भारतीय नाविक अंग्रेजी जहाजों से भागकर अमेरिका में उतर गए थे, जिनमें उनके मामा भी थे। बेकारी की महामारी में भी जो अमेरिका में जिन्दा था, वह हिन्दुस्तानी 'लश्कर' से तो बेहतर ही हालत में था।

कितनी ही जगह दौड़-धूप करने पर हैदर को एक रेलवे कारखाने में ब्यायलर बनाने का काम मिला और इसके लिए उन्हें न्यूयार्क छोड़ ओर्लियोन जाना पड़ा। वहाँ वह मे टर्नर नामक एक भद्र महिला के परिवार में रहते थे। वह बाईस बरस के इस 'हिंदू' (अमेरिका में सभी भारतीयों को हिंदू कहते हैं) तरुण की भद्रता से बहुत प्रभावित थीं और हैदर को लड़के की तरह मानतीं। वहीं अभद्रता के लिए टोकने पर किसी आदमी ने हैदर को अपमानित किया। अब हैदर यदि मित्रों में अपने सम्मान की रक्षा करना चाहते, तो उनके लिए यह जरूरी था कि उस आदमी को द्वन्द्व-युद्ध के लिए आह्वान करें। हैदर कोई मोटे-तगड़े पंजाबी न थे, न उनको मुष्टिक-युद्ध का ही अभ्यास था, तो भी उन्होंने ललकारा। मुष्टिक-युद्ध हुआ भी। संयोग कहिए या पहल करने में फुर्तीलापन हैदर विजयी हुए। मित्रों में उनका सम्मान कई गुना बढ़ गया और मे टर्नर अपने पुत्र पर गर्व करने लगीं।

1923 का अप्रैल आया। हैदर इधर कितने ही समय से विमान-चालक बनने का मनसूबा बाँध रहे थे। यांत्रिक इंजीनियर तो थे ही, विमान-सम्बन्धी पत्रों और पुस्तकों को खूब पढ़ा करते थे। विज्ञापन में बेंटन (संण्ट लुई) के एक वैमानिक स्कूल के बारे में पढ़ा। छुट्टी ली और वहाँ पहुँच गए। सीख चुकने पर अध्यापक से एक पुराने हवाई जहाज को हजार डालर (चार हजार रुपये) में खरीद लिया। अपने ही जहाज़ पर बेंटन से ओर्लियोन के लिए उड़े। पुर्जे में गड़बड़ी देख एक जगह तो ठीक तरह से नीचे उतारा, लेकिन जब फिर बिगड़ा तो सारी कोशिश करने पर भी विमान जमीन से टकरा ही गया। हैदर घायल हुए, कुछ दिन अस्पताल में रहे। लौटकर गिरने की जगह गए, तो विमान का शरीर प्रसाद में बँट चुका था। फिर आधे 'होबो' बन ओर्लियोन पहुँचे।

अब हैदर को ब्यायलरों की चलती-फिरती मरम्मत का काम मिला था। सातों दिन काम था और छै डालर (चौबीस रुपये) रोज वेतन। एक दिन उनका एक दोस्त जान विल्सन किसी लड़की के साथ यौवन का आनंद लेने गया था। दूसरे की मोटर ली थी। बात करते हुए दौड़ा रहे होंगे, गाड़ी ठोकर खाकर उलट गई। खैर, चोट ज्यादा नहीं लगी लेकिन गाड़ी की मरम्मत का दाम देना पड़ा। हैदर की मित्र की विपता में सहानुभूति थी, उन्होंने कहा—"इस तरह का विचार छोड़ो, विवाह कर डालो।" रुपये के अभाव की बात करने पर उसी वक्त सौ डालर (चार सौ रुपये) का चेक काटकर दे दिया। उसके मित्र जान का घर आबाद हो गया।

एक साल और बीता। 1924 आया। विमान-चालक हैदर अब 'अवियेशन' (उड़ान) के नियमित ग्राहक और नेशनल एरोनौटिक एसोसियेशन (राष्ट्रीय वैमानिक सभा) के बाकायदा सदस्य थे। उन्होंने किसी अखबार में इस्तेमाल किए हुए एक विमान का विज्ञापन पढ़ा। अप्रैल में हैदर उसके लिए न्यूयार्क पहुँचे और 'चेम्बरलेन एंड रो एयरक्रॉफ्ट कार्पोरेशन' से एक हजार डालर में मशीन खरीदी। मिस्टर रो के साथ उड़े, अब की सकुशल ओर्लियोन पहुँच गए। एक गेहूँ के खेत को हवाई अड्डा बनाया। हैदर काम से छूटते ही विमान की ओर दौड़ते और कुछ उड़ान करते। ओर्लियोन में विमान अभी बिल्कुल नई चीज थी। कितने लोगों का हैदर से परिचय हुआ। हैदर 'टोनी' के नाम से वहाँ प्रसिद्ध थे। मोटर मरम्मत कारखानावाले फ्रैंक क्लोस से उनकी घनिष्ठता हो गई। एक उड़ान में प्रोपेलर (उड़ान का पंखा) को उतरते वक्त चोट पहुँची। क्लोस ने मुफ्त में मरम्मत कर दी। क्लोस दूरदर्शी व्यापारी थे। चाहते थे, हवाई जहाज का काम बढ़ेगा, तो उसकी मरम्मत का भी काम उन्हें मिलेगा। टोनी के पास अब अखबारवाले बराबर पहुँचते। फोटो-सहित उनके बारे में कितनी ही अनाप-शनाप बातें छपतीं। जेनी नामक एक सुंदरी कुमारी टोनी की ओर खास तौर से आकृष्ट हुई थी। पुराने विमान को एक दिन गिरकर टूटना ही था, वह टूटा। लेकिन, टोनी बाल-बाल बच गए। टोनी और जेनी

ध्वस्त विमान को देखने गए। लोग 'उड़ाका और उसकी पत्नी' कहकर उँगली दिखा रहे थे।

टोनी दो विमान खरीद कर तोड़ चुके थे, लेकिन जब तक रुपया रहे तब तक वह चुप रहनेवाले नहीं थे। अब क्लोस और दूसरे लोगों की भी दिलचस्पी हो गई थी। टोनी के कहने पर 'ओर्लियांन उड़ान क्लब' स्थापित हुआ। क्लब के लिए, विमान खरीदने टोनी न्यूयार्क गए। एक इस्तेमाल किए हुए 'अव्रो' को पाँच सौ डालर में खरीदा। रो को साथ लिए उड़े। रास्ते में छतरीकुदाक 'साहसी शैतान' टाम को लिया। बड़ी धूमधाम से क्लब का उद्‌घाटन हुआ। टाम ने अपनी छतरी कुदाई की कितनी ही कलाबाजियाँ दिखलाईं। उद्‌घाटन देखने के लिए एक बड़ा मेला लगा हुआ था। सब लोग खुश हुए और टोनी की खुशी की तो बात ही क्या पूछनी ?

क्लब की ओर से उड़ान के लिए जमीन ठेका ली गई। इसमें ट्रामवे कम्पनी ने मदद दी और वहाँ तक ट्राम-लाइन लगा दी। पेट्रोलवाले ने पेट्रोल भरने का अड्डा बना दिया।

कितनी ही उड़ान के बाद 'अव्रो' टूट गया, लेकिन क्लब ने दूसरे अधपुरान विमान को खरीदने के लिए टोनी को भेजा। टोनी पाँच सौ डालर का विमान खरीदकर उड़े। रास्ता भूल गए। बड़ा भारी पानी का तल देखकर लौटे और एक खेतिहर के बंगले के हाते में रात को उतरे। प्रोपेलर टूट गया था, विमान को वहीं छोड़कर चले आए। फिर मरम्मत हुई और विमान क्लब-मैदान में पहुँचा। ओर्लियोन में अब टोनी बहुत प्रसिद्ध हो गए थे। हर जगह से उनके लिए निमंत्रण आते। जब वह शहर के ऊपर उड़ते तो छोटे-छोटे लड़के तक चिल्ला उठते–"मम्मी ! पापा ! आओ, देखो टोनी ऊपर है।" तरुणियाँ कहतीं–"कैसा भाग्यवान् है वह, जो चिड़ियों की तरह हवा में उड़ता है।" टोनी के पास कितने ही प्रेम-पत्र आने लगे। 1924 साल टोनी के लिए बहुत ही उड़ान-व्यस्त रहने का समय था। वह युक्तराष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रीय वैमानिक संघ के सदस्य थे और उनके पास 'अंतरराष्ट्रीय हवाई उड़ाका' का प्रमाण-पत्र था। इसी साल चीन में अमेरिकन नौसैनिकों ने चीनियों पर कुछ जबर्दस्ती की थी। टोनी खूब गरम-गरम शब्दों में उसके विरुद्ध बोलते थे। मित्र कहते थे–"टोनी, तुम गरम होते जा रहे हो।"

1925 (जून) न्यूयार्क में अमेरिकन वैमानिकों की उड़ान का प्रदर्शन हो रहा था। टोनी ने तै किया कि वह भी इनमें भाग लेंगे। ओर्लियोन में संकीर्ण जगहों में अपने अधपुराने विमानों को उतारने का उन्हें बहुत अभ्यास हो गया था। वह चाहते थे कि काठ की तरह सीधे विमानों के उतारने की प्रतियोगिता में भाग लें। न्यूयार्क जाकर उन्होंने एक हजार डालर में डी. एच. 6 (छह नम्बर का डीहेविलेन्ड) खरीदा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह भी अधपुराना ही विमान था। अभ्यास करते वक्त निचला पंख एक वृक्ष से लगकर टूट गया और विमान छिन्न-पक्ष पक्षी की तरह जमीन पर गिरकर चूर हो गया। टोनी अब की बार भी बाल-बाल बचे, लेकिन साथी घायल हुआ।

टोनी ने अपने कमाये रुपयों को तीन विमानों की खरीद और उड़ान में खर्च कर दिया। उन्हें सफलता भी खूब हुई, मगर पैसे के अभाव से नया विमान नहीं खरीद सके। अब उनका मन नहीं लग रहा था, इसलिए जगह बदलने की जरूरत महसूस हुई।

नया जीवन–फिर थोड़े दिनों के लिए होवो बने और घूमते-घामते मोटर कारखानों की राजधानी डेटराइट नगरी में पहुँचे। यहाँ कितने ही 'हिन्दू' (हिन्दुस्तानी) मजदूर भी काम करते थे। हैदर भी पैकर्ड कारखाने की कम्पनी में भर्ती हो गए। उस साल अंग्रेजी पुलिस ने शांघाई में चीनियों पर जुल्म किया था। उसके विरोध में मजदूरों की एक बड़ी सभा हुई, जिसमें चीनी, हिंदुस्तानी और अमेरिकन सभी इकट्ठे हुए। स्थानीय 'कमकर पार्टी' के नेता एडवर्ड ओवेन ने बड़ा सुन्दर भाषण दिया और हैदर ओवेन की तरफ आकृष्ट हुए। ओवेन से उन्हें मार्क्सवाद की शिक्षा मिली और वह भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन तथा मजदूर राजनीति के लिए अपना बहुत-सा समय देने लगे।

हैदर ने अपने ओर्लियोन के दोस्तों को चिट्ठी लिखी। मालूम हुआ, क्लब का बिगड़ा एरोप्लेन जहाँ रखा गया था, वहाँ से चोरी हो गया। हैदर को फिर एक बार ओर्लियोन जाना पड़ा। मोटरनगरी के बारे में बातचीत

हुई। लौट आने के कुछ दिनों बाद देखा, उनके मित्र की लड़की ग्लेडी एलेन भी पहुँच गई है। ग्लेडो नृत्यकला में बहुत ही दक्ष थी, मगर यहाँ अभी कहाँ वैसा काम मिलनेवाला था ? जब तक वह टेलीफोन कंपनी में नौकर न हो गई, तब तक हैदर ने खर्च का बोझ अपने ऊपर लिया। लड़की को यद्यपि स्त्रियों के आवासगृह में रख दिया था, मगर इससे वह संतुष्ट न थे; इसलिए काम का बंदोबस्त करके हैदर ने उसके भाई लारेन्स को भी बुला लिया। डेटराइट में किसी आफंदी साहेब ने एक इस्लामिक सभा कायम की थी। उन्होंने हैदर को खींचने की बहुत कोशिश की; लेकिन हैदर साम्प्रदायिक मनोवृत्ति को बहुत पहले ही छोड़ चुके थे और अब तो वह मजदूर-क्रांति की सेना में शामिल हो चुके थे।

1925 सन् खतम होने को आया, इसी समय डीट्राइट में इंग्लैंड की मजदूर-सरकार के एक पार्लामेन्टरी सेक्रेटरी मॉर्गेन जॉन ने व्याख्यान दिया, जिसमें उन्होंने कहा कि हिन्दुस्तानी बहुत पिछड़े हुए हैं, वे यह भी नहीं जानते कि उन्हें क्या चाहिए। हैदर ने उनसे पूछा–"हिन्दुस्तान में रहकर अंग्रेज क्या चाहते हैं ? दूसरे की धरती पर उनका क्या काम ?" हैदर के सवालों पर मिस्टर जॉन उत्तेजित हो गए और गोरे आदमियों की भारी संख्या देखकर उन्होंने व्यंग्य छोड़ते हुए कहा–"मुझे रंगीन (काले) आदमी को जवाब देना होगा।" हैदर ने खूब आड़े हाथों लिया, मजदूरों ने खूब तालियाँ बजाईं और मॉर्गेन जॉन की बुरी गत हुई।

उसी वक्त अमेरिकन कमकर पार्टी मास्को में राजनीतिक शिक्षा के लिए दो हिन्दुस्तानी मजदूरों को भी भेजना चाहती थी। ओवेन ने हैदर से कहा। हैदर तैयार हो गए। जनवरी (1926) में वह शिकागो चले गए। अमेरिकन पार्टी के सेक्रेटरी रोथेनबर्ग से भेंट की। यात्रा का सारा इन्तिजाम हुआ। शिकागो से न्यूयार्क जाते वक्त ट्रेन ओर्लियोन से गुजरी। पता दे दिया था। कितने ही मित्र स्टेशन पर मिलने आए। हैदर जान रहे थे, कि अब फिर इन परिचित चेहरों को देखने का सौभाग्य नहीं मिल सकेगा। उन्होंने बड़े प्रेमपूर्वक उनसे विदाई ली।

फरवरी में उनके जहाज ने न्यूयार्क छोड़ा। कस्तुन्तुनिया और अदेस्सा होते बीस मार्च को मास्को पहुँचे और दो साल तक राजनीतिक शिक्षा प्राप्त करते रहे।

फिर हिन्दुस्तान में–बारह बरस कहने में कम हैं, लेकिन सोलह साल की उम्र में हिन्दुस्तान छोड़ने के बाद के ये बारह बरस हैदर के लिए अत्यंत महत्त्व के थे। इन बारह सालों में हैदर ने दुनिया की कई परिक्रमाएँ कीं। प्रायः सभी बड़े-बड़े देशों को देखा और अशिक्षितप्राय बालक से वह शिक्षित, समझदार, अनुभवी पुरुष बन गए। हिन्दुस्तान आने का जब निश्चय हो गया तो हैदर समझने लगे कि उन्होंने सारी साधनाएँ इसी दिन के लिए की थीं। पिछले महायुद्ध से पहले हिन्दुस्तान से बाहर जाने-आने के लिए पासपोर्ट की जरूरत नहीं पड़ती थी। मगर, अब पासपोर्ट के लिए बड़ी कड़ाई थी। हैदर को किसी न किसी तरह हिन्दुस्तान पहुँचना था और इसकी कठिनाइयाँ उन्हें मालूम थीं। जर्मनी के हामबुर्ग बंदरगाह में आकर उन्होंने बंबई आनेवाले एक जहाज पर कोयलावाहक का काम ले लिया। जिस वक्त सितम्बर (1928) में बंबई में उतरे, उस वक्त मिलों में हड़ताल चल रही थी।

हैदर का पिछले पंद्रह साल का जीवन भी कितनी ही घटनाओं से पूर्ण है। लेकिन, हम उसे देकर इस लेख को और बढ़ाना नहीं चाहते। हैदर पहले बंबई के जेनरल मोटर कारखाने में काम करते और मदनपुरा में रहते। मजदूर हलचल से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। 1929 में जब भारत-सरकार ने मेरठ के लिए छापा मारकर गिरफ्तारियाँ कीं, तो हैदर का भी नाम वहाँ मौजूद था। वैमानिक के वेश में हैदर के फोटो को लिये पुलिस ढूँढ़ती ही रह गई, मगर बीस मार्च की सुबह को जो हैदर गुप्त हुए तो फिर हाथ नहीं आए। उन्हें अपने काम के लिए भारत के कितने ही शहरों में जाते-आते रहना पड़ता था, तब भी तीन साल तक उन्होंने अपने को बचाये रखा। इस बीच में वह दो बार मास्को गए।

8 मई, 1932 को मद्रास में हैदर गिरिफ्तार कर लिए गए। मेरठ केस का नाटक खतम हो चुका था। अब इनके ऊपर मद्रास में चार मुकदमे चलाये गए। छह महीने तक जेल में अदालत बैठती रही। छह-छह महीने की सजा हुई। जेल में उन्हें खतरनाक कैदी समझ हमेशा सेल में रखा जाता और जेलवालों के बुरे बर्ताव

के लिए उन्हें भूख-हड़तालें भी करनी पड़ीं।

जुलाई 1934 में जेल से छूटे। मद्रास और वंवई में साथियों से मिले, मगर पुलिस उन्हें मुक्त देखना नहीं चाहती थी। एक महीना भी नहीं बीतने पाया कि, अगस्त में हैदर को एक सौ पंद्रह बरस पहले (1819 का रेगुलेशन 2) के कानून के अनुसार अनिश्चित काल तक के लिए कोइम्बतूर के जेल में बंद कर दिया गया। यह बिल्कुल सासत का जीवन था। न भोजन ठीक मिलता था, न पढ़ने-लिखने का सामान ही दिया जाता था। हैदर को भूख-हड़ताल करनी पड़ी। 1935 में राजमहेन्द्री जेल में बदल दिया गया। वहाँ भी स्वास्थ्य खराब होता गया। मद्रास-सरकार कहती थी, कि तुम मद्रास प्रान्त में न आने का वचन दो। लेकिन, हैदर इसके लिए तैयार न थे। जेलवालों की बेपरवाही से स्वास्थ्य गिरता ही गया। आखिरकार 1936 के अन्त में मद्रास-सरकार ने हैदर को भारत-सरकार के हाथ में सौंप दिया और उन्हें मुजफ्फरगढ़ (पंजाब) जेल में रखा गया। हैदर को पंजाब में काम करने का मौका नहीं मिला था, लेकिन धीरे-धीरे कुछ लोग इस वीर देशभक्त और उसके कष्टों के बारे में जानने लगे। 'ट्रिब्यून' पत्र में किसी ने लिखा। सुभाष बोस कुछ समय तक उनके साथ एक जेल में रहे थे, उन्होंने भी चिट्ठी लिखी। कौंसिल में मंत्रिमंडल से सवाल पूछे गए। इस पर 1937 में उन्हें अम्बाला जेल में बदल दिया गया। स्वास्थ्य और भी गिरा, बाहर खलबली मची। पंजाब-सरकार के मंत्री हैदर के पास गए। उन्होंने खूब जली-कटी सुनाई। हांते-हवाते मार्च 1938 में उन्हें छोड़ दिया गया। हरिपुरा-कांग्रेस से लौटकर वह पंजाब आए।

मई 1938 में, चौवीस साल वाद, हैदर अपने जन्म-गाँव सियालियाँ आधी रात को पहुँचे और सिर्फ बारह घंटे रहे। उनका बड़ा भाई कब का मर चुका था। मँझला भाई घर ही पर रहता है और किसानों के लिए उसने भी जेल की हवा खाई है।

पंजाब-पुलिस हैदर के पीछे हाथ धोकर पड़ी हुई थी और आखिर में उसने सीधे धमकी दी। हैदर जेल में जाकर खुशी से बैठे रहने के लिए तैयार न थे। बंबई में मजदूरों के खिलाफ बने काले कानून के विरोध में जो आन्दोलन खड़ा हुआ था और कितने ही लोग मारे-पीटे गए थे, उनमें हैदर भी थे। लड़ाई के वक्त एक व्याख्यान के लिए उन्नीस मास की सजा हुई और सजा के खतम होते ही नासिक-जेल में नजरबन्द कर दिए गए जहाँ से 18 जुलाई, 1942 को छूटे।

जेल यातनाओं के कारण बिगड़ा हैदर का स्वास्थ्य फिर ठीक नहीं हो सका, मगर आज भी उनकी वही फौलादी हिम्मत और लगन है। वह आज भी उसी तरह देश की आजादी के लिए विह्वल हैं।

31

बाबा सोहनसिंह भकना

प्रमुख तिथियाँ—1870 (माघ) जन्म, 1875 प्राचीनतम स्मृति, 1875-77 गुरुमुखी पढ़ना, 1877-82 उर्दू-फारसी पढ़े। 1880 ब्याह, 1882-87 खेल-कूद, 1887-97 यारवाशी, 1897-1909 उग्र धार्मिकता, 1902 कर्जे के कागज फाड़ दिए। 1907 होला में सर्वस्व खर्च, 1908 हाथ से खेती, 1909 फरवरी 3 घर छोड़ा, 1909 अप्रैल 3 अमेरिका में, 1910 कनाडा के भारतीय विरोधी कानून का प्रभाव, 1912 पोर्टलैंड में मजूर, 1912 (अंत) राजनीतिक जीवनारंभ, 1913 मार्च गदर पार्टी के स्थापक सभापति, 1914 जनवरी राजनीतिक कार्यकर्ता। 1914 अक्तूबर 14 कलकत्ता पहुँचे, 1915 फरवरी गिरिफ्तार लाहौर जेल में मुकदमा, 1915 अप्रेल—27 अक्तूबर 13 षड्यंत्र मुकदमा, 1915 अक्तूबर फाँसी की सजा, फिर आजन्म कैद; 1915 दिसम्बर—1921 जुलाई अंडमन में, 1918 सौतेली माँ मरी, 1919 माँ मरीं। 1921 जुलाई—1930 जुलाई भारत के जेलों में, 1930 जुलाई जेल से मुक्त, 1930 खालसा

कॉलेज में दूध की दूकान, 1935 (?) छह मास की सजा, 1938 छह मास की सजा, 1939 नौ मास की सजा, 1940 भारती किसान-सभा के कार्यकारी सभापति, 1940 जुलाई–1943 मार्च 1 जेल में नजरबंद।

जिनका वृद्ध शरीर, जिनकी सूखी हड्डियाँ, जिनके सन् जैसे सफेद केश, देश के लिए घोर यातनाओं के सहने की प्रतीक हैं, फाँसी का हुकुम सुनकर जेल की कोलकोठरियों में बन्द रहते भी जिनके ललाट पर भय की हलकी रेखा भी उठने न पाई, शरीर के जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर भी जिनमें अब भी नौजवानों जैसा उत्साह है और देश के भविष्य के प्रति जिनका विश्वास दृढ़तर होता गया; बाबा सोहनसिंह भकना उन्हीं देशभक्त महापुरुषों में हैं।

अमृतसर से दस मील पश्चिम भकना एक अच्छा बड़ा गाँव है, जिसमें कितने ही व्यापारी और नाना प्रकार के शिल्पी बसते हैं। वहाँ के ब्राह्मणों में कितने ही संस्कृत के विद्वान् होते आए हैं। लेकिन भकना के अधिकांश लोगों की जीविका खेती है। 19वीं सदी के आरम्भ में (मिसलों के जमाने में) सरदार चंदासिंह (शेरगिल जाट) किसी और गाँव से तर्क पर आकर भकना में बस गए। उनके पुत्र श्यामसिंह रणजीत सिंह के शासनकाल में एक प्रभावशाली व्यक्ति थे। श्यामसिंह के पुत्र कर्णसिंह भी गाँव के अच्छे धनी-मानी पुरुष थे। कर्मसिंह की दो स्त्रियाँ थीं हरकौर और रामकौर। चन्दासिंह के समय से ही घर में वंश चलानेवाला सिर्फ एक पुत्र होता आया था। हरकौर को कोई पुत्र न था और रामकौर के पुत्र सोहनसिंह 1870 ई. (माघ) में पैदा हुआ। बच्चे के साल-भर होते-होते करमसिंह का देहान्त हो गया। घर में दो माताओं और बूढ़ी दादी के साथ तीन औरतें बच रहीं, जिनकी सारी आशा एक वर्ष के बच्चे सोहन पर केन्द्रित थी। चार पुश्त से एक पुत्र के आधार पर चला आता चन्दासिंह का वंश अब सोहनसिंह के साथ खतम हो रहा है, लेकिन चन्दासिंह के अंतिम वंशधर ने जो सेवायें की हैं, उससे वह मृत नहीं अमर वंश कहा जायगा। वैसे, जब लोग दादा से पहले के पूर्वजों का नाम तक नहीं बतला सकते, तो पुत्र से वंश का नाम होना बिल्कुल गलत बात मालूम होती है।

बचपन में सोहनसिंह का स्वास्थ्य अच्छा था। यद्यपि माताएँ घर के एकलौते पुत्र को पान-फूल बनाकर रखना चाहती थीं; मगर बच्चे को खेलने का मौका मिल ही जाता था। सरदार करमसिंह बड़े उदार पुरुष थे। वे अकाल में गरीबों को अपना अन्न बाँट देते और अपने कमीनों (कमकरों) के बाल-बच्चों को खाना-कपड़ा देने में बड़ा उत्साह रखते थे। सोहनसिंह ने पिता की उदारता को नहीं देख पाया था, लेकिन उनकी दोनों माताएँ इस बात में पति का अनुकरण करनेवाली थीं। बालक सोहन का भी दिल बचपन ही से बड़ा उदार था। वह घर से खाने की चीजें झोली भरकर ले जाता और बच्चों में बाँटकर खाता, खिलौने तक को हमजोलियों में बाँट देता। 1875 के आस-पास का समय था। सोहन की उम्र पाँच साल की थी। वह लड़कों के साथ खेल रहा था। उसी समय एक जबरदस्त आँधी आयी। गर्द के मारे चारों ओर अँधेरा छा गया। डर के मारे सोहन और दूसरे बच्चे एक-दूसरे से लिपट गए।

घर में काफी जायदाद थी। लेकिन जब कोई सम्हालनेवाला पुरुष न हो, तो स्त्रियाँ कैसे सुखी जीवन बिता सकती थीं ? सोहनसिंह का प्रेम अपनी माँ से अधिक सौतेली माँ (धर्म-माता) से था। उन्होंने जीवन के दुःखों को अनुभव किया था। और जिन कथाओं को वह अपने पुत्र के आग्रह पर सुनातीं, उनमें दुख की मात्रा अधिक होती। जब माता का कंठ रुद्ध हो जाता, आँखों में आँसू छलक आते, तो उसका प्रभाव सोहन पर भी पड़े बिना नहीं रहता।

पढ़ाई–पाँच साल की उम्र (1875) में सोहनसिंह ने गाँव में रहनेवाले एक साधु सन्त लेहणासिंह से गुरुमुखी पढ़नी शुरू की। वह दो साल तक उन्हीं के पास 'पंच-ग्रन्थी' और दूसरी सिक्ख धार्मिक किताबों को पढ़ते रहे। सात साल (1877) का हो जाने पर वह गाँव के स्कूल में दाखिल हो गए। स्कूल में उर्दू और फारसी पढ़ाई जाती थी। सोहनसिंह पाँच साल तक वहीं पढ़ते रहे। गणित से उन्हें बहुत शौक था। भूगोल पढ़ते समय उन्हें नक्शे का बहुत ख्याल रहता था।

बारह साल की उम्र (1882) में गाँव के स्कूल की पढ़ाई खतम हो गई। सोहनसिंह को पढ़ने का शौक था, लेकिन जब माताओं ने आँखों में आँसू भरकर कहा–"बेटा ! तुम्हीं हमारे एकमात्र अवलंब हो। तुम्हें आँख

से ओझल करके हम जी नहीं सकतीं।" तो सोहनसिंह को आगे पढ़ने का ख्याल छोड़ देना पड़ा। दादी 11 साल की उम्र (1881) में मरीं, लेकिन एक साल पहले उन्होंने पोते का ब्याह देख लिया था। अब अगले पाँच साल सोहनसिंह के खेल-कूद में बीते। बीच-बीच में कभी किसी अध्यापक से फारसी भी पढ़ आते। एक बार सोहनसिंह के खेत में कोई आदमी बकरी चरा रहा था। सोहनसिंह जब उससे कड़ाकड़ी कर रहे थे, तो उसने धक्का दे दिया और वे गिर गए। फिर तीन साल तक बराबर अखाड़े में जाते और डंड-कुश्ती करके उन्होंने अपने शरीर को मजबूत बनाया।

तरुणाई–सोहनसिंह अब 17 साल के हो गए थे। घर के अकेले पुरुष मालिक थे। यौवन था, धन-सम्पत्ति थी और इन सबके साथ अविवेक भी। यार लोग उनके इर्द-गिर्द मँडराने लगे। उन्होंने जीवन के आनन्द के लूटने के कितने ही तरीके बताये–आप जैसे धनाढ्य तरुण यदि शिकार का शौक नहीं करेंगे, शराब का दौर नहीं चलायेंगे, तो दूसरा कौन चलायेगा ? सरदार सोहनसिह ने चार शिकारी कुत्ते रखे और शिकारी घोड़े भी। अब उनका काम था शिकार खेलना और दोस्तों के साथ बोतलों पर बोतलें साफ करना। धर्ममाता का अब भी उन पर प्रभाव था और पहले कितने ही समय तक सोहनसिंह की पानगोष्ठी माता की आँख बचाकर होती थी। लेकिन उम्र बढ़ने के साथ वह अधिक निडर होते गए, पास पैसा न रहता, तो कर्ज लेने से बाज न आते। कर्ज चुकाने के लिए माँ से रुपया माँगते। माँ कहती–"बेटा ! सोचो तुम कैसे बाप के बेटे हो" और रुपया दे देतीं।

नई धार्मिक जिन्दगी–दस साल तक सोहनसिंह ने जीवन के उस आनन्द को भी ले लिया, जिसे उनके यार-दोस्त जीवन का सार कहते थे; लेकिन, उन्हें सन्तोष नहीं था। यह वह समय था, जब कि गुरु रामसिंह के अनुयायी कूके सिक्ख अपनी कुर्बानियां से पंजाब को चकित कर रहे थे। गुरु गोविन्दसिंह के बाद पंजाब ने पहली बार इस अद्भुत त्याग को देखा। कूके विदेशी शासन को मानने के लिए तैयार न थे। वे सिक्खों के गुजरे राज्य को फिर से लौटाना चाहते थे और उसके लिए संघर्ष करने में सर्वस्व की बाजी लगा रहे थे। अकेले लुधियाणा में 70 नामधारी (कूके) सिक्ख एक बार तोप से उड़ाये गए। तोप के सामने खड़ा करने के लिए जब उनके हाथों को पीछे बाँधा जाने लगा, तो उन्होंने कहा–हाथ मत बाँधो, मौत हमारे लिए भय की नहीं साध की चीज है। नामधारियों के गुरु बाबा रामसिंह को पकड़कर बर्मा में रखा गया। हर तरह के भय और प्रलोभन से उन्हें झुकाने की कोशिश की गई, मगर वह अडिग रहे। बाबा रामसिंह ने अपने अनुयायियों में एक नई रूह फूँक दी थी। उन्होंने विदेशी शासन के पूर्ण बायकाट का मन्त्र दिया। कोई नामधारी न सरकारी नौकरी करता, न सरकारी अदालत में जाता। नामधारी न विदेशी कपड़ा पहनते और न विदेशी चीनी को ही इस्तेमाल करते थे।

गुरु रामसिंह के अनुयायी बाबा केसर–वे सर पर केश नहीं रखते थे–एक बार भकना आए। उस समय सोहनसिंह की उम्र 28 साल की थी। जब शराब और शिकार में नाक तक डूबे हुए थे, तब भी सोहनसिंह के दिल में साधु-सन्तों की ओर कभी आकर्षण हो जाता था। बाबा केसर एक असाधारण साधु थे। एक ओर वह एक बड़े धार्मिक सन्त थे, दूसरी ओर छुआछूत उनसे छू तक नहीं गई थी। अब तक किसी साधु ने सोहनसिंह पर असर नहीं डाला था, यद्यपि वह बहुतों का दर्शन और दंडवत् करने गए थे। बाबा केसर ने सोहनसिंह को अपनी ओर आकृष्ट किया। उन्होंने बाबा की जमात का घर में महाभोज किया। बाबा को सोहनसिंह के शराब और शिकार के बारे में पता लग गया था। विदा होते समय बाबा ने कहा–"मैं सिर्फ एक बात चाहता हूँ, कभी-कभी मुझसे मिल लिया करो। किसी के जबरदस्ती कहने-सुनने से शराब या शिकार को न छोड़ना; जब तुम्हारा अपना दिल कहे तब छोड़ना।" सोहनसिंह बाबा से दो-तीन बार मिले। धीरे-धीरे उनका दिल कहने लगा, कि बाबा का ही रास्ता ठीक है। बाबाजी ने प्रतिज्ञा ली, जिसके कारण सोहनसिंह ने बारह साल तक नमक नहीं खाया। पहले सोहनसिंह शराब और शिकार में दुनिया को भूल गए थे, और अब वह ईश्वर-भक्ति में। उनको हर वक्त धर्म का नशा चढ़ा रहता था। बाबा केसर प्रेम-मार्ग के पथिक थे। उनका सभी धर्मों से प्रेम था। सोहनसिंह ने भी उसी पथ को अपनाया। 1905 से सोहनसिंह ने सालाना 'होला' (भंडारा) करना शुरू किया, जिसमें भिन्न-भिन्न धर्मवाले भकना में एकट्ठा हो प्रेमसंगत करते। खर्च का सारा बोझ सोहनसिंह उठाते।

प्रेम-संगत के आरम्भ के पहले से ही 1902 में सोहनसिंह के दिल ने कहा, कि तुम्हारे कर्ज से दबे लोगों का दिल बहुत चिन्ता में रहता है। एक दिन उन्होंने सारे कर्जखोरों को बुलाकर दस्तावेजों को उनके सामने ही फाड़ दिया। यद्यपि घर की सम्पत्ति 'होला' में बरवाद होती जा रही थी, लेकिन सोहनसिंह की धर्म-माता इसे बरबाद होना नहीं समझती थीं।

1908 में सोहनसिंह ने आखिरी 'होला' किया। सारी सम्पत्ति होला की भेंट हो गई थी। जमीन पर भारी कर्ज चढ़ गया था और सारा रुपया खर्च हो चुका था। इससे एक साल पहले ही बावा केसर ने कहा था—"बुजुर्गों की कमाई गई, यह अच्छा हुआ; अब अपने हाथ की मजूरी का 'दूध-भोजन' खाओ।" सोहनसिंह के सामने यह छोड़ दूसरा रास्ता भी नहीं था। इसी साल पंजाब में अजीतसिंह और लाला लाजपतराय आदि ने जो राजनीतिक लहर फैलाई थी, उसका कुछ असर सोहनसिंह पर पड़ा था। उन्होंने उसकी कितावें देखी थीं और अपने गाँव के आस-पास में इसके बारे में कुछ प्रचार भी किया।

18 साल की उम्र (1908) में सोहनसिंह ने सन्त लहनासिंह के उपदेश के अनुसार अपनी मजूरी खाने का प्रयत्न किया। उनके पास जो दो-तीन एकड़ खेत वच रहा था, उसमें खेती शुरू की। लेकिन वचपन से कभी शारीरिक परिश्रम किया न था, अतएव उनके लिए वह उतना आसान काम न था। घर में दो-चार गायें और भैंसें भी रखते थे, जिनसे जीविका में कुछ मदद मिलती, लेकिन घर में बीवी, दो माताएँ, एक अनाथ धर्मपुत्री, और अपने लेकर पाँच व्यक्ति थे। जिनका गुजारा वहुत मुश्किल से चलता था। एक दिन सोहनसिंह सर पर चारा उठाये आ रहे थे। रास्ते में उनके दोस्त पादरी बधावामल मिल गए। पादरी ने चारे के बोझ को नीचे उतारा। साहब-सलामी हुई। सोहनसिंह के चेहरे पर पीड़ा के चिह्न थे। अब खाते-पीते चर्वी से भरे सोहनसिंह की समाधि और भगवान् में तन्मयता लुप्त हो चुकी थी। पादरी ने कितनी ही बार सोहनसिंह के होला में भाग लिया था। वह उनकी विशाल-हृदयता और त्याग को अच्छी तरह समझते थे। अपने मित्र की इस अवस्था ने बधावामल के चित्त को उद्विग्न कर दिया। उन्होंने बड़े संकोच के साथ कहा, कि मैं मिशन से आपके लिए 50 रुपये मासिक सहायता दिलवाना चाहता हूँ, आप स्वीकार करें। सोहनसिंह ने बड़ी नम्रता के साथ शुक्रिया अदा करते हुए सहायता को अस्वीकार कर दिया।

साल-भर के तजर्बे ने सोहनसिंह को बतला दिया, कि मिट्टी से अनाज बनाना उनके बस की बात नहीं है। उन्होंने अपने एक दोस्त भाई सरैनसिंह से कहा—"किर्त (शारीरिक श्रम) तो मुझसे नहीं हो सकता। मेरी आर्थिक अवस्था बिगड़ती जा रही है। सुनते हैं अमेरिका में मजूरी ज्यादा मिलती है। यदि वहाँ चला जाऊँ, तो शायद आर्थिक अवस्था सुधर जाये।" अमेरिका के दोस्तों से लिखा-पढ़ी होती रही। इधर सत्संगी दोस्त सहायता करने की कोशिश करते थे, मगर सोहनसिंह का जीवन-सूत्र था—हाथ से कमाकर खाना, किर्त करना, वंड-छकना (बाँटकर खाना) और भजन करना। बाबा केसर से अन्त में कहा—"मुझसे खेती नहीं हो सकती, 38 साल का कामचोर शरीर अब उसके लिए तैयार नहीं हो रहा है। अमेरिका जाना चाहता हूँ।" बाबा ने कहा—"समय पर भाग रहा है ?" बाबा का भगत एक साहूकार पास में बैठा हुआ था। बाबा ने उसकी ओर मुँह करके कहा—"अब सोहनसिंह माया के पीछे भाग रहा है।" साहूकार ने सोहनसिंह से कहा—"मैं तुम्हारे सारे कर्ज को अदा कर देता हूँ, लेकिन तुम अपने धर्म (पुण्य) को मुझे दान दे दो।" बाबा ने सोहनसिंह से कहा—"ले, सौदा कर ले पुत्तर।" सोहनसिंह ने यह कहकर रुपया लेने से इन्कार कर दिया—"धर्म नहीं बेचूँगा बाबा।"

अमेरिका को—अमेरिका जाने के लिए भी रुपयों की जरूरत थी। सोहनसिंह ने एक हजार रुपये कर्ज लिए, जिनमें से सात सौ नगद पास में रखे और तीन सौ की बेलबूटे निकाली चादरें खरीद लीं। दोस्तों से मालूम हुआ था, कि अमेरिका में ऐसी चादरों की बहुत माँग है। जिस समय माताओं से सोहनसिंह ने अपने प्रस्थान की बात कही, उस समय का नजारा बहुत ही दर्दनाक था। उन्होंने बदले हुए सोहनसिंह के जीवन को देखकर सन्तोष की साँस ली थी। धर्म में सम्पत्ति को लुटाते देख भी क्षोभ प्रकट नहीं किया था। यह भी देखा था, कि किस तरह सोहन ने बाहुबल से कमाकर परिवार चलाने की कोशिश की और उसमें अपने सुकुमार शरीर को धूप में सुखाया, किन्तु उससे कुछ नहीं बना। लेकिन, जब उन्होंने चार पुश्त से अकेलों की अकेली

सन्तान को भी विना उत्तराधिकारी छोड़े इस तरह दुनिया के दूसरे छोर तक जाने का ख्याल किया, तो वे मूर्छित हो गईं। लेकिन सोहनसिंह के लिए दूसरा कोई रास्ता न था। तीन फरवरी 1909 ईसवी को सोहनसिंह ने अमेरिका के लिए भकना छोड़ा। वह कलकत्ता, सिंगापुर होते हांगकांग पहुँचे। हांगकांग से सीधे अमेरिका का जहाज पकड़ना था। जहाज में चढ़ाने के लिए वहुत सख्त डाक्टरी होती थी। सोहनसिंह के सातों साथियों की आँखों में कुकड़े थे। डाक्टरों ने उन्हें अयोग्य ठहरा दिया। लेकिन, सोहनसिंह डाक्टरी परीक्षा में पास हो गए। परिचित लोग कहने लगे, कि अमेरिका जैसे अपरिचित देश में अकेले मत जाओ। सोहनसिंह ने कहा–"मैं अकेला नहीं हूँ (भगवान् भी तो साथ हैं)।"

जिस जहाज में सोहनसिंह सवार हुए, वह एक जापानी जहाज था। सोहनसिंह ने अव तक अपने हाथ से खाना नहीं पकाया था। खैर, खाने की समस्या जहाज के चावल-मछली से हल हो गई। वह तीसरे दर्जे के मुसाफिर थे। योकोहामा में कितने ही रूसी भी उसी जहाज में चढ़े। यद्यपि सोहनसिंह न अंग्रेजी जानते थे, न रूसी भाषा ही, मगर इनके साथ उनका स्नेह बढ़ चला। 'बंड खाना' (बाँट खाना) सवका मूलमन्त्र था। सोहनसिंह पीछे समझ सके कि वह जरूर जार के मारे रूसी देशभक्त थे।

सारे प्रशान्त महासागर को चीरकर तीन अप्रैल 1909 को सोहनसिंह अमेरिका के सियेटल बन्दरगाह पर उतरे। सरकारी जाँच अफसर ने जाँच-पड़ताल शुरू की–

(1) "तुम्हारे दोस्त ने तुम्हारे पास कोई खत-पत्र भेजा था ?" "नहीं।"

(2) "तुम बहुपत्नी-विवाह को मानते हो ?" "नहीं" कहते हुए सोहनसिंह ने बहुत जोर प्रकट किया। यह जोर देना बनावटी नहीं था। वावा केसर के सत्संग से सोहनसिंह वहुपत्नी विवाह के सख्त विरोधी हो गए थे। चार पीढ़ियों से एक-एक पुत्र से वंश चला आया था। अब वंश निर्वंश हो रहा था। सगे-सम्वन्धी पहली पत्नी से सन्तान न होते देख दूसरा ब्याह करने पर जोर देते रहे। मगर निर्वंश होने की जरा भी परवाह किए बिना उन्होंने वैसा करने से इन्कार कर दिया, यद्यपि उनके पिता ने खुद दो ब्याह किए थे। लेकिन, जाँच अफसरों को सन्तोष नहीं हुआ। आखिर वह जानते थे, कि हिन्दू वहु-पत्नी-विवाह को मानते हैं। अमेरिका में बहु-पत्नी-विवाह माननेवाला सभ्य जीवन का अधिकारी नहीं माना जाता। उन्होंने सोहनसिंह को रोक लिया। दुभाषिये की वजह से समझने में शायद गड़बड़ी हुई हो, इस ख्याल से दूसरे दिन एक भारतीय विद्यार्थी–सत्यदेव को बुलाया गया और उनको दुभाषिया बनाकर सन्तोषजनक उत्तर पा उन्हें अमेरिका की भूमि पर स्वच्छन्द उतरने की आज्ञा मिल गई। कितने ही भारतीय मित्र वहाँ पहुँचे हुए थे, वे सोहनसिंह को होटल में ले गए। (डाक्टर) हरनामसिंह बी. ए. में पढ़ रहे थे। उन्होंने देश की खबरें पूछीं।

चादरों की विक्री से सोहनसिंह का सफर-खर्च निकल आया। काम की खोज में ओरिगिना-स्टेट में गए। पोर्टलैंड से तीन मील दूर कोलम्बिया नदी के किनारे मुनार्क मिल नामक एक लकड़ी का कारखाना था, सोहनसिंह उसी में भरती हो गए। मजूरी थी दो डॉलर (छह रुपये 2 आना) रोज। पहले-पहल काम वहुत सख्त मालूम हुआ। सारे दिन मशीन के सामने खड़ा होकर लकड़ी को हटाना, चीरना पड़ता। भकना की हलजुताई से यह आसान काम न था। हाँ, मगर यहाँ मजूरी खूब थी और फिर काम से भागने का कोई रास्ता न था। उन्होंने अपने मन और शरीर पर खूब संयम किया और कुछ महीने बाद काम उन्हें इतना आसान लगने लगा, कि काम के घण्टे के बाद का भी काम ले लेते थे।

भारतीय मजूरों में राजनीतिक चेतना–1907-8 में अमेरिका में जबर्दस्त मन्दी (आर्थिक संकट) आया था। बहुत-से कारखाने बन्द हो गए, जिसके कारण लाखों मजूर बेकार हो गए। जब कारखाने की बनाई चीजों को सस्ते दाम पर भी बेचना मुश्किल हो, तो कारखाने के मालिक गोदामों में सड़ाने के लिए माल पैदा करना क्यों चाहेंगे ? कितने ही मजूरों को जवाब देकर बाट का भिखारी बना दिया गया। और कितनों ही की मजूरी की दर में कटौती शुरू की। अमेरिकन मजदूर तनखाह कम कराने के लिए राजी न थे। इधर पूर्वी यूरोप और एशिया के मजूर–जो अपने देशों में छह रुपया नहीं छै आना रोज मजूरी पाने के आदी थे–वहाँ कम मजूरी पर काम करने के लिए तैयार हो जाते थे। अमेरिका के मिल-मालिक ऐसे मजूरों को पसन्द करते थे, लेकिन

अमेरिकन मजूर उन्हें अपने गले की फाँसी समझते। अमेरिका के मजदूरों ने विदेशी मजदूरों के विरुद्ध जवर्दस्त आन्दोलन शुरू किया, जिसका प्रथम परिणाम हुआ—कनाडा में कई हजार हिन्दुस्तानी—ज्यादातर पंजावी—मजदूर काम करते थे। सीधे तौर से हिन्दुस्तानियों का नाम लेकर उन्हें कनाडा में आने से रोकते, तो ज्यादा हल्ला-गुल्ला मचता, इसलिए कानूनी चाल से रोकने का प्रयत्न किया गया और घोषित किया गया, कि वही आदमी कनाडा में उतर सकता है, जो अपने देश से वीच में कहीं भी विना उतरे सीधे कनाडा पहुँचे। हिन्दुस्तान से सीधे जहाज कनाडा नहीं जाते। और न हिन्दुस्तानी गरीव मजूर अपने पैसे से सीधे कनाडा जहाज ला सकते थे, यह बात कानून बनानेवालों को मालूम थी। इसी कानून का मुकाविला करने के लिए सरदार गुरुदत्तसिंह ने 1917 के शुरू में कोमागातामारू नामक जापानी जहाज को ठीके पर लिया। अमेरिका में बहुत-सी जमीन खाली पड़ी थी। वहाँ नये बसनेवालों की जरूरत थी। दूसरी स्वतंत्र सरकारों ने जोर देकर अमेरिका को इस बात के लिए राजी किया था, कि वह प्रतिवर्ष एक निश्चित संख्या में उन देशों से आकर वसनेवालों को स्वीकार करें। स्वतंत्र देश ही ऐसा समझौता करा सकते थे। गुलाम हिन्दुस्तान को वहाँ कौन पूछता ? कनाडा में कुछ हजार भारतीय जा पहुँचे थे। उन्होंने अपनी मजदूरी से पैसा बचाकर वहाँ जमीनें भी खरीदनी शुरू की थीं। उधर कनाडा की सरकार भारतीयों पर हर तरह के हथियारों को इस्तेमाल करने के लिए तैयार थी। ग्रन्थी बलवन्तसिंह (सिंगापुर में फाँसी 1917) आदि डेपुटेशन बना इंग्लैंड पहुँचे। उन्होंने भारत-मन्त्री के सामने भारतीयों के दुःख और अपमान की गाथा रखनी चाही, मगर भारत-मन्त्री इसके लिए थोड़े ही बनाया जाता है। उसने डेपुटेशन से मिलने से इन्कार कर दिया। जैसे-जैसे कनाडा के भारतीयों पर अधिकाधिक प्रहार हो रहे थे, वैसे ही वैसे वे अपने बचाव के लिए संगठित भी होते जा रहे थे। कनाडा के प्रायः सारे ही भारतीय मजूर पंजाबी सिक्ख थे। उन्होंने जहाँ बहुत-सी जमीनें खरीद खेती शुरू कर दी थी, वहाँ कितने ही गुरुद्वारे भी स्थापित किए थे और गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटियाँ भारतीयों के हित के लिए काफी काम कर रही थीं। कनाडा-सरकार किसी तरह से भी भारतीयों से पिण्ड छुड़ाना चाहती थी। उसने उनसे कहा कि हम तुम्हारे लिए इससे अच्छी भूमि देने का इन्तिजाम कर देते हैं, तुम वहाँ जाकर बस जाओ। ग्रन्थी वलवन्तसिंह सरदार भागसिंह आदि तीन भारतीय प्रतिनिधियों को देखने के लिए हण्डूरास् भेज दिया गया। हण्डूरास् में उन्हें कुली बनकर गए कितने ही भारतीय मिले। उन्होंने अपनी नरक-यातना की सारी बातें बतला दीं। सरकार ने प्रतिनिधियों को रिश्वत देकर अपने मन की बात कहलानी चाही मगर उन्होंने इन्कार कर दिया। प्रतिनिधियों ने सच बातें बतला दीं। लोगों को मालूम हो गया कि किस तरह कनाडा-सरकार के साथ व्रिटिश सरकार भी भारतीयों के खिलाफ षड्यंत्र में शामिल है। भारतीयों ने 'बेहतरीन भूमि' में जाकर बसने से इन्कार कर दिया। अब सरकार उन्हें तरह-तरह से तंग करने लगी। खुफियावाले लोगों का पीछा करते। कनाडा में बस गए भारतीयों की स्त्रियाँ और माताएँ जब भारत से कनाडा पहुँचीं, तो उन्हें तीन-चार मास तक कोरेन्टीन में रखकर भारत लौटा दिया गया। जहाज से जो आदमी पहुँचते थे, उनमें से सिर्फ 10 सैकड़े को कोई मनमाने तौर से चुनकर उतरने दिया जाता था, वाकी 90 फीसदी को जहाजी कम्पनियों के मालिकों की मुट्ठी गरम करके बैरंग लौट जाना पड़ता था। घर और मकान पर भारी कर्ज लेकर चले ये भारतीय अब लौटकर हांगकांग और शांघाई में मारे-मारे फिरते थे।

सरकारों के अतिरिक्त अमेरिकन मजूर अलग हिन्दुस्तानी मजूरों के पीछे पड़े हुए थे। 1907 की बात है, एबर्ट और विलियम् के कारखानों में हजारों हिन्दुस्तानी काम कर रहे थे। एक दिन गोरे मजदूरों ने उन पर धावा बोल दिया। उन्हें मारा-पीटा, उनकी चीजें लूट लीं और ट्राम में बैठाकर उन्हें शहर से दूर जंगलों में छोड़ दिया। यह पगड़ी-दाढ़ी की नफरत नहीं थी, इन कारखानों के हिन्दुस्तानी (सिक्ख भी) पगड़ीवाले नहीं हैटवाले थे।

हर जगह हिन्दुस्तानियों के खिलाफ नफरत का जबरदस्त प्रचार देखा जाता था। होटलों में कुत्ते और हिन्दुस्तानी जाने का अधिकार नहीं रखते थे। कितने ही सिक्खों को देखकर लोग 'दाढ़ीवाली औरतें' कहकर उनका उपहास करते। हिन्दुस्तानी अपने जान शिकायत का मौका नहीं देना चाहते थे। वे दूसरों की अपेक्षा अपने कपड़े-लत्ते को ज्यादा साफ रखते, मगर फिर भी सबसे ज्यादा ठोकरें उन्हीं को खानी पड़ रही थीं। धीरे-धीरे हिन्दुस्तानी इसे साफ समझने लगे, कि जो अत्याचार और अपमान उन्हें सहने पड़ रहे हैं, उनका कारण है हिन्दुस्तान

का परतन्त्र होना, अतएव अनाथ होना।

1912 में सोहनसिंह को पोर्टलैंड के लकड़ी के कारखाने में काम करते तीन साल हो गए थे। उन्होंने रास्ते में काम में आ पड़ी टूटी-फूटी अंग्रेजी पर ही सन्तोष नहीं किया, वल्कि वे दो साल तक रात्रि की पाठशाला में पढ़ने जाते थे। उनका भाषा का ज्ञान वढ़ा, साथ ही परिचय भी बढ़ा। अमेरिकन भारतीयों से पूछते–"तुम्हारे यहाँ 30 करोड़ भेड़ें हैं या आदमी ?" यह एक आम सवाल था। एक बार सोहनसिंह काम की खोज में एक दफ्तर के मैनेजर के पास जाकर बोले–"कोई काम है ?" "काम है, मगर तुम्हें नहीं दे सकता।" "क्यों ?" "तुम्हें हम गोली मार देना चाहते हैं।" तुमको देखकर हमारे लड़के गुलाम बन जायेंगे। मैं तुम्हें दो बन्दूकें देता हूँ, जाओ पहले अपने मुल्क को आजाद कराके आओ। फिर तुम्हारे स्वागत और काम देने के लिए मैं पहला आदमी होऊँगा।" एक दिन सोहनसिंह ने एक सहृदय डॉक्टर मित्र से पूछा–"तुम अमेरिकन लोग हमसे क्यों नफरत करते हो ?" डॉक्टर ने कहा–"तुमसे नहीं, तुम्हारी गुलामी से जरूर नफरत करता हूँ।"

इस तरह की रोज-रोज की घटनायें भारतीयों को सोचने के लिए मजबूर कर रही थीं। फिर वह भारत की भीतरी अवस्था की अमेरिका से तुलना करके देखते थे, कि जहाँ अमेरिकन पुलिस वस्तुतः लोगों को अपना स्वामी मानती है, वहाँ भारतीय पुलिस शहंशाह वनना चाहती है। एक वार तत्कालीन प्रेसीडेन्ट (पहला रुजवेल्ट) पोर्टलैंड आनेवाला था। सोहनसिंह भी तमाशा देखने के लिए स्टेशन पर पहुँचे। वहाँ कोई सजावट नहीं थी। सिर्फ म्युनिस्पिल्टी के कुछ मेम्बर इकट्ठा हुए थे। प्रेसीडेन्ट ने सबसे हाथ मिलाया। रात को प्रेसीडेन्ट का व्याख्यान सुनने सोहनसिंह भी गए। भीड़ में एक स्त्री के सिर से सटकर वह खड़े थे, पुलिस ने टोका। स्त्री बिगड़ खड़ी हुई–"तुम्हें क्या अधिकार है, इस भद्रजन को अपमानित करने का ?" पुलिस को माफी माँगनी पड़ी।

नया जीवन–धीरे-धीरे सोहनसिंह समझने लगे, कि परतंत्र देश में पैदा होना महा अभिशाप है। उनकी आँखों को खोलने के लिए कितनी ही घटनायें सामने घटित होने लगीं। सेन्ट जॉन में पं. काशीराम (1914 में फाँसी) ने किसी कारखाने का ठेका ले रखा था। अमेरिकन मजूरों ने समझा कि ये हिन्दुस्तानी हमारी रोजी मार रहे हैं। उन्होंने कारखाने पर हमला वोल दिया। पुलिस को पता था, मगर वह वचाने के लिए नहीं आयी। हिन्दुस्तानी मजूर खूब पिटे और ट्राम में वैठाकर जंगल में छोड़ दिए गए। यह इस तरह की पहलेवाली घटना से चार वर्ष वाद घटित हुई थी। हिन्दुस्तानी इसे खतरे की घण्टी समझने लगे। हिन्दुस्तानी आपस में अब बातचीत करने लगे थे। सभी को सेन्ट जॉन के दोहराये जाने का हर समय खतरा रहता था। दिसम्वर का बड़ा दिन आया। स्टोरिया के कारखाने में उस समय वावा केसरसिंह (आज भी जेल में पड़ा हमारा वीरसिंह) काम कर रहे थे। वहीं आसपास के रहनेवाले हिन्दुस्तानी मजदूर खासतौर से इस काम के लिए इकट्ठा हुए। यहीं पर उन्होंने हिन्दी-सभा नाम से एक अपना संगठन तैयार किया।

जिस तरह से ओरिगिन में सोहनसिंह और उनके साथी संगठन की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे, उसी तरह कलीफोर्निया में भी बावा ज्वालासिंह, बावा विसाखासिंह, बावा रुद्रसिंह, करतारसिंह (शहीद 1914), पं. जगतराम और पृथ्वीसिंह भी कुछ करने की सोच रहे थे।

जनवरी 1913 में जव सोहनसिंह स्टोरिया से पोर्टलैंड लौटे, तो उन्होंने पं. काशीराम से भी वातचीत की। अब जरूरी था कि सिर्फ एक-एक जगह के हिन्दुस्तानियों के संगठन से ही सन्तोष न किया जाय, वल्कि युक्तराष्ट्र (अमेरिका) के सारे हिन्दुस्तानियों को एक सूत्र में सम्वद्ध किया जाय।

गदर पार्टी की स्थापना–मार्च 1913 में स्टोरिया में हिन्दुस्तानियों की एक वड़ी मीटिंग बुलाई गई, जिसमें हिन्दुस्तानी मजूरों के अतिरिक्त लाला हरदयाल और भाई परमानन्द भी शामिल हुए। इसी समय अमेरिका के हिन्दियों की सभा (हिन्दी एसोसिएशन ऑफ अमेरिका) कायम की गई। सभा ने हिन्दी, उर्दू, गुरुमुखी, मराठी में 'गदर' नाम से अपना अखवार निकालना निश्चित किया–यह नाम 1857 के स्मारक के तौर पर था। सभा यद्यपि अमेरिका-प्रवासी भारतीयों से सम्बद्ध थी, मगर वे समझते थे कि उनके रोग की जड़ भारत की परतंत्रता में छिपी हुई है। अखबार के नाम से सभा का दूसरा नाम–जो कि सबसे अधिक प्रसिद्ध भी है–गदरपार्टी पड़ा। पहले सभापति चुने गए, वावा सोहनसिंह। दो उपसभापति थे–बाबा केसरसिंह और बाबा ज्वालासिंह। प्रधानमन्त्री

थे लाला हरदयाल।

भारत की स्वतंत्रता का वाहक बनाने के लिए भाई परमानन्द की सलाह थी कि भारत से विद्यार्थियों को बुलाया जाये और उन्हें अमेरिका में शिक्षा दिलाकर देश में क्रान्ति करने के लिए भेज दिया जाय। हरदयाल ने मार्क्स के विचारों को पढ़ा था। इसलिए वह बाबा सोहनसिंह की इस बात से सहमत थे, कि हमें अपने काम को हिन्दी मजूरों में खासतौर से करना चाहिए। पार्टी ने बाबाजी और हरदयाल के प्रस्ताव को स्वीकृत किया।

सानूफ्रान्सिस्को अमेरिका के पश्चिमी तट का सबसे बड़ा शहर ही नहीं है, बल्कि वह हर तरह की राजनीतिक हलचलों का मुख्य केन्द्र भी है। सारी दुनिया के मजूरों का पुण्य-दिन प्रथम मई-दिवस यहीं शहीदों की होली के साथ शुरू हुआ था। गदरपार्टी का हेडक्वार्टर सानूफ्रान्सिस्को रखा गया। लाला हरदयाल ने ऑफिस का काम सम्हाल लिया। 1ली नवम्बर (1913) को 'गदर' का पहला अंक निकला। लाला हरदयाल में प्रतिभा थी, जबरदस्त कल्पना-शक्ति थी, वे लेखनी के धनी थे; मगर उनमें एक बात की सबसे ज्यादा कमी थी, वह बड़े ही चंचल-चित्त थे, और किसी काम में मन लगाकर पड़ जाना उनके लिए सबसे मुश्किल बात थी। सोहनसिंह ने एक दिन उन्हें फटकारा—तुम हमेशा कहा करते हो, कि हिन्दुस्तानी काम नहीं करते, और तुम क्या कर रहे हो ? पैसे के बारे में कहने पर तरुण करतारसिंह ने कहा—"रुपया नहीं है ! लो यह" कह उसने अपनी जेब उलट दी। रुपये की कमी नहीं रही। सोहनसिंह, करतारसिंह, विसाखासिंह जैसे कितनों ही ने अपना तन, मन, धन पार्टी को दे दिया था और जरा ही देर में 15000 डॉलर (45000 रु.) इकट्ठा हो गए थे।

सरदार सोहनसिंह ने शुरू के वर्षों में कुछ रुपया घर भेजा था, जिससे माताओं ने 5-6 एकड़ खेत छुड़ा लिए थे। उसके बाद तो उनका सब कुछ पार्टी के लिए था।

पार्टी का काम अब बहुत बढ़ गया था। पार्टी के समर्थक हिन्दुस्तानी मजदूरों पर सबसे ज्यादा प्रभाव सरदार सोहनसिंह का था। जनवरी 1914 के आते-आते सोहनसिंह को काम छोड़ सारा समय पार्टी को देने के लिए मजबूर होना पड़ा। इससे पहले कुछ हिन्दुस्तानी शिक्षितों ने अखबार निकालने की कोशिश की थी, मगर वह दो-चार बार छपकर बन्द हो जाते, जिसका लोगों पर बुरा असर पड़ता। पार्टी के प्रधानमन्त्री लाला हरदयाल थे। छात्रवृत्ति देने में मद्रासी मुसलमान का ख्याल नहीं किया गया, जिससे कितने ही मुसलमान लाला हरदयाल को हिन्दू-पक्षपाती समझने लगे। तो भी धीरे-धीरे पार्टी के प्रति लोगों का विश्वास बढ़ चला। पत्र निकलने के तीन मास बाद ही लोग दिल खोलकर रुपया देने लगे। इसके मेम्बर और समर्थक शौकीन बाबू नहीं कर्मठ आदर्शवादी मजदूर थे। पार्टी के बुनियादी सिद्धान्त थे, पार्टी के लिए मुफ्त काम करना, हर वक्त हर किस्म की कुर्बानी के लिए तैयार रहना। किसी मुल्क की स्वतंत्रता के युद्ध में शामिल होना पार्टी के सिपाही का कर्तव्य था। यह नियम बतलाता है कि हिन्दुस्तानी मजूरों की दृष्टि वहाँ व्यापक हो चुकी थी। क्यों न हो, उन्हें आयरलैंड, चीन और दूसरे मुल्कों के देशभक्त क्रान्तिकारियों से मिलने और उनके विचारों के समझने का मौका मिला था। पार्टी का हरएक सदस्य 1 डॉलर (3 रु. 1 आना) मासिक चन्दा देता। हिन्दुस्तानी मजूर भारी संख्या में मेम्बर बन गए। पार्टी का उद्देश्य था समानता और स्वतंत्रता के आधार पर हिन्दुस्तान में राष्ट्रीय प्रजातंत्र कायम करना। वहाँ धर्म को वैयक्तिक चीज माना गया था।

जहाँ पहले हिन्दुस्तानी मजदूर हड़ताल-तोड़क के नाम से बदनाम थे, वह इतने खुदगरज थे, कि मजदूर-हित के लिए लड़ी जानेवाली हड़तालों को तोड़ने में मालिकों के हाथ में हथियार बनते, जिससे सारे अमेरिकन मजदूरों की दृष्टि में वह गिर जाते थे। अमेरिकन ही नहीं देश-भाई मजदूरों के गले पर भी छुरी फेरने से बाज न आते थे, और कितनी ही बार उसकी जगह पाने के लिए रिश्वत देकर भाई को नौकरी से निकलवा देते। कितनी ही बार पियक्कड़ों की उद्दंडता उनमें देखी जाती। लेकिन गदर-पार्टी ने कायम होकर उनका जीवन बदल दिया और अब हिन्दुस्तानी मजूर हड़ताल-तोड़कों में कहीं देखे न जाते थे, सभी अमेरिकन मजूर-सभा के मेम्बर बन गए थे। छह महीना बीतते-बीतते ही अमेरिकन मजदूरों का भाव बदल चला। वे हिन्दुस्तानी मजदूरों के साथ हमदर्दी दिखलाने लगे।—और कुछ हमदर्द तो उनकी लड़ाई में शामिल होने के लिए भारत तक आए थे। नौ महीने के भीतर ही पार्टी की शाखायें अमेरिका और कनाडा ही में चारों ओर नहीं फैल गईं, बल्कि फीजी,

शांघाई, मलाया आदि में भी उनकी स्थापना हो गई। लाला हरदयाल तीन मास से ज्यादा काम नहीं कर सके,, **लेकिन** पढ़ने के लिए गए तरुण संतोखसिंह ने काम को खूब सम्हाला। लाला हरदयाल ने 1914 के शुरू में **रूसी** जार के अत्याचारों की निन्दा करते हुए कुछ बोल दिया। जारशाही ने इसकी शिकायत ब्रिटिश सरकार **से की**। ब्रिटिश सरकार ने अमेरिकन सरकार से मुकदमा चलवाया। पार्टी ने 1000 डॉलर की जमानत दे उन्हें छुड़ा लिया, और फिर चुपके से स्विट्जरलैंड भेज दिया।

गदर-पार्टी की दो कार्यकारिणियाँ थीं, बड़ी कार्यकारिणी में तीस मेम्बर थे। छोटी कार्यकारिणी या कमीशन तीन आदमियों का था—बाबा सोहनसिंह, संतोखसिंह और काशीराम। गुप्त प्रबन्ध—दूसरी सरकारों से बातचीत करना, हथियार जमा करना, दूसरे मुल्कों में हिदायत भेजना ये सब काम कमीशन के सुपुर्द था। पार्टी और मजबूत हुई, हिन्दुस्तानियों का संगठन मजबूत हुआ। साथ ही दूसरे देशों की क्रान्तिकारी पार्टियों से घनिष्ठता स्थापित हुई। अमेरिका के हिन्दुस्तानी अपने में एक शक्ति अनुभव करने लगे। वह अब जागृत मानव थे।

अप्रैल 1914 में जिस समय सरदार गुरुदत्तसिंह कोमागातामारू को लेकर कनाडा पहुँचे, उस समय यह गदर पार्टी का मजबूत संगठन ही था, जिसने कनाडा की सरकार को झुकने के लिए मजबूर किया।

भारत को—23 जुलाई को कोमागातामारू को कनाडा से वापस करने का निश्चय हुआ। उस समय बाबा सोहनसिंह को कोमागातामारू को सम्हालने का काम मिला। सानफ्रान्सिस्को में पार्टी-केन्द्र के सम्हालने का काम बर्कतुल्ला, भगवानसिंह, संतोखसिंह और काशीराम को देकर बाबा सोहनसिंह भकना 21 जुलाई को एक जापानी जहाज से भारत की ओर रवाना हुए। सानफ्रान्सिस्को के दफ्तर में रामचन्द्र नामक एक आदमी काम करता था, जो पहले सिर्फ कातिब भर था। लेकिन संतोखसिंह और काशीराम के भी चले आने पर उसे खुल खेलने का ज्यादा मौका मिला और उसने अपने को सी. आई. डी. के हाथ में बेच दिया।

जब सोहनसिंह का जहाज अमेरिका व जापान के बीच में आ रहा था, उसी समय महायुद्ध के छिड़ने की खबर मिली। जापान में कोमागातामारू से उनकी भेंट हुई। सलाह हुई कि सभी भारतीय सीधे हिन्दुस्तान चलें। उस समय भारतीय समुद्र में जर्मन लड़ाकू जहाज 'एमडन' का बहुत खतरा था। बाबा सोहनसिंह वहाँ जर्मन कौंसल से मिले। यह बड़े साहस की बात थी, यदि पकड़े जाते तो शूट कर दिए जाते। कौंसल ने उनकी हिम्मत की दाद दी और एमडन को बेतार द्वारा सूचित कर दिया, कि कोमागातामारू को हानि न पहुँचने पाये। बाबा सोहनसिंह शांघाई आए। वहाँ पार्टी के आदमियों में सूचासिंह और दूसरे देशभक्तों से मिले। फिर हांगकांग पहुँचे। वहाँ कितने ही आदमी क्रान्ति के सैनिक बने और जब 'नामसिंग' जहाज हिन्दुस्तान को चला, तो उसमें सौ क्रान्तिकारी थे। हांगकांग में ही सी. आई. डी. को सारी बात का पता लग गया था। जहाज जब पेनांङ् पहुँचा, तो उसे कुछ दिनों के लिए रोक लिया गया, क्योंकि उसी दिन कोमागातामारू वाले क्रान्तिकारियों पर बजबज (कलकत्ता) में गोली चली थी। सप्ताह-भर रुके रहने के बाद 'नामसिंग' फिर रवाना हुआ।

14 अक्तूबर 1914 को बाबा सोहनसिंह और उनके साथी कलकत्ता लौट आए। आते ही जहाज पर कड़ा पहरा बैठा दिया गया, फिर लोगों को गिरफ्तार कर लिया गया।

फाँसी के तख्ते के लिए तैयार—कलकत्ता से पकड़कर बाबा सोहनसिंह को मुलतान-जेल पहुँचाया गया। वहीं कितने ही और साथी लाए गए। पंजाब में 1914 के अन्त में जो जबरदस्त क्रान्ति करने का प्रयत्न हुआ था, वह समय से पहले भेद खुल जाने से असफल रहा। लेकिन उसके ताने-बाने का पूरा पता जब सरकार को लगा, तो उसका दिल धक्क हो गया। क्रान्तिकारी पकड़े गए। फरवरी (1914) को बाबा सोहनसिंह भी मुलतान से लाहौर-जेल में पहुँचाये गए। वहीं 64 आदमियों पर, प्रथम लाहौर-षड्यन्त्र-मुकदमा चलाया गया। मुकदमा क्या तमाशा था। एक गवाह ने जब कुछ उल्टी-पुल्टी-सी बातें कहीं और उस पर जिरह की गई, तो उसने कहा—"मेरे लिए तो जो भी थानेदार साहब ने कहा वही ठीक है।" अपराधियों को अदालत के न्याय पर बिलकुल विश्वास नहीं था, इसलिए उन्होंने सफाई के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। सरकार ने मुफ्त के वकील दिए थे और वकील पीछे पड़े हुए थे, मगर अभियुक्त उनसे बात भी न करते थे। लाहौर सेन्ट्रल जेल के भीतर 27 अप्रैल से 13 अक्टूबर तक तीन जजों की अदालत बैठती रही, जिनमें एक पं. शिवनारायण शमीम भी थे।

64 में पाँच अभियुक्तों को छोड़ दिया गया। लम्वी-लम्बी सजा पानेवालों के अतिरिक्त 24 को फाँसी की सजा हुई, जिनमें एक बाबा सोहनसिंह भी थे। जब अधिकारी उन्हें अपील करने के लिए कहते, तो वह उत्तर देते—"बस, जल्दी फाँसी दे दो।" सबमें भारी उत्साह था, वह हँस-हँसकर फाँसी पर चढ़ने के लिए तैयार थे। फाँसी का दिन नियत हो चुका था, उस सारी रात लोगों में गजव की खुशी थी। वावा सोहनसिंह कहते—"लो हम अपना काम कर चले।" तरुण करतारसिंह की उमर देखकर जज भी प्रभावित हुए थे और वह चाहते थे कि किसी तरह उसे फाँसी की सजा न मिले। उन्होंने करतारसिंह से पूछा—"तुमने सरकार के खिलाफ काम किया ?" "हाँ, किया।" जजों ने उस दिन करतारसिंह को दूसरे दिन जवाब देने के लिए छोड़ दिया। दूसरे दिन भी करतारसिंह ने 'हाँ' किया। आखिर फाँसी की सजा लिखनी ही पड़ी। लेकिन अधिकारियों ने भारी ताकत लगाकर करतारसिंह से रहम की दरखास्त लिखवाने की कोशिश की, मगर करतारसिंह ने साफ इन्कार कर दिया।

ओडायरशाही का वह जमाना था। कुछ प्रभावशाली लोगों ने लार्ड हार्डिंग के कानों तक बात पहुँचाई। वाइसराय ने षड्यन्त्र के कागजों की फिर से जाँच करवाई और 17 को फाँसी के तख्ते से उतार लिया गया, जिनमें बाबा सोहनसिंह, वावा विसाखासिंह भी थे, लेकिन करतारसिंह की बलि नहीं रुक सकी।

कालापानी—10 दिसम्बर 1915 को बाबा सोहनसिंह अपने दूसरे साथियों के साथ कालापानी पहुँचे। उस वक्त का कालापानी क्या कुंभीपाक नरक था। अकारण भी मार-पीट और अपमान मामूली बात थी। लेकिन पंजाब के ये जिन्दा-शहीद किसी दूसरी ही मिट्टी के बने थे। उनका पाँच साल तक का वहाँ का जीवन बराबर जान की बाजी लगाकर संघर्ष करने का जीवन था, जिसमें आठ शहीदों ने अपने प्राणों की बलि दी—शहीद रामरक्षा चार मास की भूख-हड़ताल के बाद मरे। एक वार वावा सोहनसिंह अपने साथियों के साथ भूख-हड़ताल कर रहे थे। लेकिन सबको अलग-अलग रखा गया था और उन्हें एक-दूसरे से मिलने-जुलने का बिल्कुल मौका नहीं दिया जाता था। आजकल के लम्बी-चौड़ी बातें करनेवाले एक बड़े नेता ने तीन महीना भूख-हड़ताल करने के बाद झूठ बोलकर बाबा से हड़ताल तुड़वा दी। पीछे उन्हें जब मालूम हुआ कि उनके साथी सरदार पृथ्वीसिंह और दूसरे हड़ताल जारी रखे हुए हैं, तो बाबा को इतनी आत्मग्लानि हुई, कि वह फाँसी लगाकर मर जाने को तैयार थे। वीरों की जद्दोजहद का परिणाम यह हुआ कि नरक की ज्वाला कुछ मद्धिम पड़ी। उन्हें अपमानित करने की जेलवालों की हिम्मत न होती थी। अब उन्हें अखवार भी मिल जाते थे। पुस्तकों को जमा करके उन्होंने एक छोटी-सी लाइब्रेरी बना ली थी, लेकिन ज्यादातर पुस्तकें राजनीतिक नहीं थीं। अंडमन के भीषण अत्याचारों की वातें हिन्दुस्तान के अखवारों में आईं, फिर वहाँ भी वावेला मचने लगा। अन्त में राजबन्दियों को कालापानी से भारत लाने के लिए सरकार को मजवूर होना पड़ा। जिस समय बाबा सोहनसिंह कालापानी में थे, उसी समय (1918-1919) में उनकी दोनों माताओं का देहान्त हो गया। जिस समय बाबा सोहनसिंह मुलतान में (1914) थे और पुलिस लाहौर-षड्यंत्र की तैयारी कर रही थी, उस समय वह इसके लिए बहुत परेशान थी, कि गदर-पार्टी के कमीशन के मेम्बरों में से किसी को फोड़ा जाय। उस समय पुलिस बाबा के पीछे भी पड़ी। उसने तरह-तरह के फन्दे फेंके, दोस्तों को भेजा। माता को भी मुलतान ले आए। फाँसी पर लटकाये जानेवाले पुत्र को बचाने की भावना से माँ ने रोते हुए कहा—"हम चाहती हैं, तुम्हारी जान बचे।" बाबा ने दृढ़ता के साथ कहा—"क्या मैं अपनी जान बचाने के लिए भाइयों को फाँसी दिलवाऊँ ?" माँ के पास जवाब न था। हाँ, पुलिस ने सब तरह से निराश होकर जरूर एक बार साफ-साफ कहा—"देखो, एक ओर धन और इज्जत सब कुछ तुम्हारे लिए मौजूद है, और दूसरी ओर है वही अत्याचार जो नामधारियों पर हुए थे, एक को चुन लो।" बाबा ने कहा—"मैंने एक को चुन लिया है, तुम नाहक परेशान हो रहे हो।"

जुलाई 1921 में बाबा सोहनसिंह और उनके साथी मद्रास लाए गए, फिर उन्हें अलग-अलग जेलों में बाँट दिया गया। इसी समय सरदार पृथ्वीसिंह और सरदार गुरुमुखसिंह ने रेल से कूदकर भागने की असफल कोशिश की, मगर दूसरी बार ऊधमसिंह और वे दोनों भागने में सफल हुए। बाबा को पहले मद्रास में रखा गया, फिर येरवाडा-जेल में पाँच साल और अन्त में तीन साल लाहौर के सेन्ट्रल जेल में। यहीं वह भगतसिंह की तीन मासवाली भूख-हड़ताल में शामिल हुए थे। सरकार इस शर्त पर उन्हें छोड़ने के लिए तैयार थी कि

वह पुलिस में हाजिरी दिया करें। मगर बाबा ने शर्त को ठुकरा दिया। अन्त में जुलाई 1930 में उन्हें साठ वर्ष का बूढ़ा बनाकर छोड़ा गया।

फिर वही लगन—जेल से निकलते समय अब भी बाबा के विचार राष्ट्रीय क्रान्तिकारियों जैसे थे। हाँ, रूस के बारे में जो थोड़ा-बहुत मालूम हो सका था, उसकी ओर उनका आकर्षण बढ़ चुका था। अमृतसर ने अपने महान् देशभक्त का जबरदस्त स्वागत किया। भकना गए, तो अपने घर का रास्ता भूल गए। 22 सालों के भीतर गाँव का नकशा बदल गया था। बाप-दादों के घर की एक कोठरी किसी तरह बच रही थी, जिसमें पत्नी विष्णुकौर जब-तब आँसू गिराने के लिए आ जाया करती थीं।

बाबा साठ साल के बूढ़े थे और आज तो 73 साल की उम्र में उनकी कमर टेढ़ी भी हो गई है। मगर वह बुढ़ापे को शांति से बिताने के लिए जेल से नहीं निकले। इन पिछले 13 सालों में भी उनके 9 साल जेलों ही में कटे। उनका सारा समय देशभक्तों को जेल से छुड़ाने और किसानों की तकलीफों को दूर करने में लगता है। पाँच बार की छोटी-मोटी सजाओं के काटते आखिरी बार मार्च 1940 में वह जेल से बाहर थे, जबकि इन पंक्तियों के लेखक की गिरफ्तारी के बाद पलासा में बाबा सोहनसिंह भकना अखिल भारतीय किसान-सभा के स्थानापन्न सभापति हुए।

जुलाई 1940 में किसान सभा के काम से वह गया में आए थे, जब कि उन्हें गिरिफ्तार करके गया, राजनपूर (डेरा गाजीखाँ), देवली और गुजरात के जेलों में नजरबन्द रखा गया। 1930 में जब वह जेल से छूटे तब से बाबा ने जनता में राजनीतिक जागृति का काम करते हुए भी अपने अध्ययन को जारी रखा और उनका दृष्टिकोण मार्क्सवादी बन गया; और देवली में तो जिस लगन से यह 72 साल का बूढ़ा क्लासों और किताबों में लगा रहता, उसे देखकर तरुणों को भी लज्जा आती।

1913 में बाबा ने अपने जीवन को देश के लिए अर्पण किया, उसी समय से उनके शरीर का एक-एक अणु और उनके जीवन का एक-एक क्षण देश का बन गया। देश चिरतरुण है, इसीलिए बाबा भी अपने भीतर उसी चिरतारुण्य को पाते हैं। 1942 की जुलाई ही में बहुत-से कम्युनिस्ट छोड़ दिए गए, लेकिन बाबा गुरुमुखसिंह, बाबा सूचासिंह, बाबा केसरसिंह, बाबा रूढ़सिंह जैसे 70 सालों को अब (नवम्बर 1943 में) भी जेल में बन्द रखनेवाली पंजाब-सरकार बाबा सोहनसिंह को जेल से छोड़ने के लिए तैयार न थी; मगर मार्च 1943 में बाबा के ही जन्म-गाँव में अखिल-भारतीय किसान-सम्मेलन हो रहा था। पंजाब-सरकार मजबूर हुई और पहली मार्च (1943) को बाबा सोहनसिंह जेल से छूटकर बाहर आए।

आज भी बाबा सोहनसिंह की वही धुन है।

32

बाबा बिसाखासिंह

प्रमुख तिथियाँ—1877 (वैशाख, अप्रैल) जन्म, 1883-86 पढ़ाई, 1886-95 भैंस-चरवाही, 1895-1906 पल्टन; सवार, 1907 हाङ्काऊ में कांस्टेबल, 1907-9 अमेरिका में खेती, 1910 (पौष सुदी सप्तमी) देश के लिए जीवन-अर्पण, 1914 कोमागातामारू के बाद कोलम्बो में, गाँव में नजरबन्द; 1914 अक्तूबर लाहौर सेंट्रल जेल में, 1915 सितम्बर 13 सजा, 1916-1920 कालापानी में, 1920-21 गाँव में नजरबन्द, शिरोमणि कमेटी के मेम्बर; 1922-29 देशभक्त परिवार सहायता, 1929 तरनतारन में पंच प्यारे, 1932 अक्तूबर 14 पंजासाहेब की नींव देनेवाले, अकालतख्त के अधिकारी; 1933 एक साल नजरबन्द, 1934-35 दो साल देदर में नजरबन्द, 1935 शिरोमणि कमेटी के निर्णायक पंच, 1938 गुरुद्वारा छेहाल्टा की नींव रखी, 1940 जून 26—1941 नवम्बर 21 जेलों में नजरबन्द, 1942 फरवरी फिर जेल में, 1942 जुलाई 15 जेल से बाहर।

भौतिकवाद और धर्मवाद दोनों एक-दूसरे से विल्कुल उल्टी धाराएँ हैं। एक कट्टर भौतिकवादी कभी धार्मिक भूल-भुलैयों में नहीं पड़ सकता, वह सभी धार्मिक पूजा-पाठों, सभी धार्मिक आचार-विचारों को सन्देह की दृष्टि से देखता और धार्मिक महन्तों का नाम सुनने की भी इच्छा नहीं रखता। लेकिन, दुनिया में वहुत-से विरोधी-समागम मिलते हैं। आप ख्याल कीजिये, एक भयंकर विचार रखनेवाला कट्टर भौतिकवादी है। बुद्धि और तजर्बे को छोड़कर किसी चीज पर उसकी अणुमात्र भी श्रद्धा नहीं है। धार्मिक जगत् को दशाब्दियों तक वहुत नजदीक से देखने पर उसके प्रति जिसके दिल में सिर्फ जुगुप्सा ही जुगुप्सा भरी हुई है और वह ऐसे व्यक्ति के पास जाता है, जिसकी धर्म में अगाध श्रद्धा है। वहाँ उसे विराग छोड़कर और कुछ नहीं होना चाहिए। लेकिन बात उल्टी होती है। वह धार्मिक श्रद्धा के प्रति वैसे ही विराग रखते हुए भी ऐसे व्यक्ति के सामने सर झुका देता है–शरीर से चाहे नहीं मगर दिल से जरूर। तो उसे जवरदस्त करामात छोड़ और क्या कहना चाहिए ? वावा बिसाखासिंह इसी तरह के एक धार्मिक व्यक्ति हैं। तरुणाई से ही भक्तिभाव का जो नशा उनके ऊपर चढ़ा, वह उमर के बीतने के साथ और गहरा ही होता गया। क्या वात है, जो इस पुरुष के प्रति आदमी के भाव को बदल देती है ? 70 साल की उम्र में जवकि बावा विसाखासिंह की दाढ़ी और केश विल्कुल सन की तरह सफेद हो गए हैं, वर्षों की जेल-यातनाओं और कितने ही सालों के तपेदिक ने उनके शरीर को जर्जर कर डाला है; तब भी उनके चेहरे पर एक खास तरह का सौन्दर्य दिखलाई पड़ता है। निश्चय ही वह कभी एक अत्यन्त सुन्दर तरुण रहे होंगे। उनका तप्त गौरवर्ण, उनकी ऊँची लम्बी नाक, उनकी चौड़ी पेशानी, उनका सुघड़ चेहरा अब भी अपने यौवन के बहुत-से अंशों को कायम रखे हुए है। लेकिन इन सवके ऊपर भी उस चेहरे में एक खास तरह का सौम्यभाव है, जिसे आध्यात्मिक भाषा में कह सकते हैं, मानो नूर बरसता है। वह विना वोले, बिना जाने भी दर्शक के दिल में बावा विसाखासिंह के प्रति श्रद्धा पैदा कर देता है। और बोली कितनी मधुरी ? और भी कितने ही मधुर-भाषी देखे जाते हैं, लेकिन जिसकी मधुर-भाषिता में बनावट का इतना अभाव हो, ऐसा पुरुष दुनिया में मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। और फिर बावा बिसाखासिंह का जीवन सदा आत्मोत्सर्ग और पराये दुःख से पिघल जानेवाला जीवन रहा, जिसे यह भी मालूम हो, वह क्यों न इस पुरुष को अपने हृदय में सबसे ऊँचा स्थान देगा ?

देवली में जेल के कष्टों से ऊबकर उन्हें दूर करने के लिए प्राणों की बाजी लगा सैकड़ों राजबन्दी भूख-हड़ताल कर रहे थे। बाबा बिसाखासिंह पर तपेदिक का ऐसा आक्रमण था, कि उन्हें भूख-हड़ताल में शामिल करने का मतलब था, हफ्ते के भीतर ही इस महान् पुरुष से हाथ धो लेना। साथियों ने खूब विनती की, बहुत जोर लगाकर राजी किया, कि वह भूख-हड़ताल में शामिल न होंगे। मगर जब अपने बच्चों–देवली के सभी नजरबन्द उनके लिए दिल से अपने औरस पुत्र के समान थे–को उन्होंने अपने आँखों के सामने सूखते देखा, तो वह सारी बातें भूल गए। लेकिन साथ ही उन्होंने चाहा कि उनके नये निश्चय से साथियों को कष्ट न हो, इसके लिए चुपके ही चुपके एक भीषण कदम उठाया। देवली के सेवक कैदी तो और भी इस सन्त से प्रभावित थे। उन्होंने रसोइये को बुलाकर कहा–"मैं एक बात कहूँ, बच्चा ! क्या तू मानेगा ?"

"जरूर, बाबा जी ! आपकी बात मैं भला कैसे टाल सकता हूँ ?"

"जरूर मानेगा ?"

"जरूर बाबा जी।"

"जरूर ?"

"जरूर।"

तीन बार कहलाकर बाबा ने उससे कहा–"मेरे खाने की चीजें रोज ले लिया करना और उन्हें चुपके से सन्दूक में बन्द कर देना। खबरदार ! किसी से कहना मत।"

बेचारे उस साधारण कैदी के लिए बाबा का वाक्य ब्रह्मवाक्य था, वह उसके खिलाफ कैसे जा सकता था ? बावा की चुपचाप भूख-हड़ताल चार-पाँच दिन तक चलती रही। बावा के शरीर ने एक दिन धोखा दिया और वह गिर गए। संयोग से भूख-हड़ताल भी सफलतापूर्वक खतम हो गई, मगर बाबा के भीषण संकल्प की

बात सुनकर साथियों का दिल धक्-से हो गया। उन्होंने बाबा से खिन्न मन हो उलाहना देते हुए कहा– "बाबा ! आपने बड़ा निष्ठुर निश्चय कर डाला था।" बाबा ने कहा–"क्या करता,' मैं अपने हृदय की व्यथा को बरदाश्त नहीं कर सका।"

यह घटना इन पंक्तियों के लेखक के सामने की है।

जन्म–अमृतसर जिले के दक्षिण में तरनतारन की तहसील है। तरनतारन से 14-15 मील पर ददेर नाम का एक अच्छा-खासा गाँव है। सारे इलाके की जमीन बहुत उपजाऊ है। और गाँव के 300 के करीब सन्धू जाट परिवार काफी खुशहाल हैं। गेहूँ तो होता ही है, मक्की, कपास, धान, गन्ना भी अच्छा होता है। अगर पंजाब सिपाहियों का सूबा है, तो यह इलाका खास करके बहादुर सिपाहियों का इलाका है, और ददेर तो इसके लिए और भी मशहूर है। बल्कि वहादुरी ने कभी-कभी उलटा रास्ता लेकर ददेर में कितने ही मशहूर डाकू पैदा किए–हाँ ! कायर नहीं वीर डाकू। महाराजा रणजीत सिंह के समय में ही ददेर सैनिक पैदा करने में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। वावा दयालसिंह के पूर्वज नादिरशाह के आक्रमण के समय मालवा (पूर्वी पंजाब) से उजड़कर ददेर में आ आवाद हो गए थे। उनके खानदान में पहले भी कितने ही सन्त स्वभाववाले व्यक्ति हो चुके थे। बाबा दयालसिंह खुद भी वड़े मधुर स्वभाव के थे। गाँव के सारे लड़के उनके लिए अपने लड़कों जैसे थे। किसी के तिनके को भी उठाना उनके लिए असम्भव बात थी। यद्यपि गाँव के कितने ही लोग नौकरी-चाकरी करने के लिए वाहर जाया करते थे, मगर वावा दयालसिंह अपने हल-वैल और गाय-भैंसों ही में लगे रहे। बाबा दयालसिंह (मृत्यु 1915) और उनकी पत्नी इन्द्रकौर (मृत्यु 1905) के तीन लड़के हुए। सबसे बड़े बाबा बिसाखासिंह और उनके दो छोटे भाई मगरसिंह और भगतसिंह। वावा बिसाखासिंह का जन्म 1877 के आसपास वैशाख (अप्रैल) के महीने में हुआ था। उनका शरीर स्वस्थ था। तो भी उसी समय से वह बड़ी शांत प्रकृति के थे। खेलने में उनका मन नहीं लगता था। हाँ, जब कभी कूदना होता, तो उनकी छलाँग सवसे लम्बी होती। उनकी स्मृति बहुत तेज थी और गाँव के वृद्धों के मुँह से भगत बुजुर्गों की कथाओं को वह वड़े चाव से सुना करते थे। बाबा तेगासिंह जवान थे। वह खेत सींचने के लिए कुआँ चला रहे थे। उनके ब्याह के लिए सगाई का छोहारा आया। बाबा तेगा ने सोचा, यह जीवन बन्धन में पड़ने के लिए नहीं है। वह भागकर रणजीतसिंह की राजधानी लाहौर में चले गए और सेना में भर्ती हो सेनापति हरीसिंह नलवा के साथ कितनी ही लड़ाइयों में लड़े। अन्त में पेशावर के पास जमरूद में घोड़े की काठी पर बैठे शहीद हुए। बालक बिसाखासिंह सोचता वह कितनी सुन्दर मृत्यु रही।

पढ़ाई–छह-सात साल की उम्र थी, जबकि बिसाखासिंह को गाँव के एक साधु सन्त ईश्वरदास के पास पढ़ने के लिए भेज दिया गया। वहाँ वह तीन-चार साल तक गुरुमुखी और धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ते रहे। सन्त ईश्वरदास ने उन्हें 'बाल-उपदेश', 'पंचग्रन्थी' और 'दशग्रन्थी' पढ़ा अन्त में गुरुग्रन्थसाहब को भी पढ़ा दिया, कुछ मामूली हिसाब-किताब भी बतला दिया। उस समय के ऐसे दूर-दराज के गाँवों के लिए यह विद्या काफी थी।

इसके बाद (1886 से) विसाखासिंह के सात साल भैंसों और गायों के चराने में बीते। पाँचों चचों की दो-दो भैंसें थीं, वह सभी को ले जाकर चराते। वैशाखी का मेला आता तो अमृतसर चले जाते और दूसरे पर्व-त्योहारों में पास के तीर्थ पर पहुँच जाया करते। अब बिसाखासिंह की उम्र 18 साल की हो गई थी। रह-रहकर उन्हें बाबा तेगासिंह की जीवनी याद आती।

रिसाले की नौकरी–एक दिन बिसाखासिंह ने ददेर छोड़ दिया। बाबा तेगासिंह की तरह उन्हें भी सवार योद्धा बनना था। जेहलम् में 11 नम्बर के रिसाले में वह भर्ती हो गए। फिर लाहौर छावनी में चले आए। उस समय रिसाले में घोड़े के दाम के तौर पर 250 रुपया देना पड़ता, फिर 34 रुपये महीने तनखाह मिलती। इसी 34 में सवार को अपने घोड़े की खुराक भी चलानी पड़ती। बाबा बिसाखासिंह ने लाहौर में अपने जौहर को दिखलाया और सारे रिसाले में चाँदमारी के निशाने में अव्वल रहे। फिर जिस समय पंजाब के सारे अंग्रेजी-हिन्दुस्तानी रिसालों की घुड़दौड़ हुई, तो उसमें भी वह ही अव्वल रहे। रिसाले में उनकी बड़ी ख्याति हो चुकी

थी, मगर बिसाखासिंह को उस ख्याति से फायदा नहीं उठाना था। अफसरों की खुशामद करना वह जानते ही न थे। हाँ, अब सन्तों का जीवन उन्हें प्रभावित करने लगा। वह गुरु नानक, सन्त कवीर और दूसरे महात्माओं की जीवनियों और वचनों से इतने प्रभावित थे, कि उन पर भी भक्ति का रंग जमने लगा। 1906 में एक दूसरा भी स्थायी रंग उन पर पड़ने लगा। उस समय पंजाब में एक नई राजनीतिक लहर उठी थी। एक दिन रावलपिंडी में उन्हें एक राजनीतिक सभा में जाने का मौका पड़ा। वहाँ उन्होंने सुना कि हम विदेशी शासकों के किस तरह गुलाम हैं और हमें अपनी गुलामी की बेड़ी तोड़ने के लिए क्यों कोशिश करनी चाहिए। तरुण बिसाखा ने लौटकर सिपाहियों में वही बातें कहनी शुरू कीं। पल्टन के कमान्डर ने भनक पाई। उन पर निगरानी बैठा दी गई। अफसर ऐसे प्रसिद्ध सवार को छोड़ना नहीं चाहते थे। उन्होंने प्रलोभन देना शुरू किया–तुम्हें हम रिसालेदार बना देंगे, छोड़ो इन बातों को। लेकिन बिसाखासिंह के लिए इस बात का छोड़ना उतना ही मुश्किल था, जितना कि यदि कोई गुरुओं की बानी छोड़ने को कहता। उन्होंने (1906 में) इस्तीफा दे दिया और रिसाले से नाम कटाकर घर चले आए।

चीन में–घर आकर महीने-भर ही रह पाये थे, फिर मन उचटने लगा। बाबा विसाखासिंह की पहिली शादी 18 साल की उम्र में हुई थी, लेकिन पत्नी ब्याह के 6 साल बाद मर गईं। फिर उनकी दूसरी शादी हुई। लेकिन भजन-भाव और साहस-यात्रा के शौक ने उन्हें वतला दिया, कि वह विवाहित जीवन के लिए नहीं हैं। घर छोड़ने के पहले उन्होंने अपनी पत्नी को छोटे भाई के सुपुर्द कर दिया–पति के बाद देवर ही तो अधिकारी होता है। उस समय चीन में गाँव के कितने ही लोग नौकरी करते थे। 1907 में वावा बिसाखासिंह भी हाङ्काऊ नगर में पहुँचे। और अंग्रेज-अधिकृत भाग में पुलिस-कान्स्टेबल बन गए। जो आदमी गरीबों की पीड़ा को देखकर भी बरदाश्त नहीं कर सकता, वह खुद उन्हें कैसे पीड़ा देगा ? निर्वल चीन को दबाकर यूरोपीय राज्यों ने चीन के कितने ही शहरों के भागों में अपना राज्य कायम कर लिया था–यह मुर्दा लाश का नहीं जिन्दा लाश का बँटवारा था। ऐसे भागों को कन्सेशन (रियायत) कहते थे। चीन के अंग्रेजी कन्सेशनों की पुलिस में अक्सर पंजाबी पुलिस-कान्स्टेवल होते थे। अफसर चाहते थे, कि वह भी अफसरों ही की तरह चीनियों के साथ हेकड़ी दिखलायें, जरा-जरा बात पर उनकी लम्वी चोटियों को पकड़कर खींचें, अपमानित करें और रिश्वत से अपनी जेबों को भरें–कान्स्टेबल की जेबों पर अफसरों का भी कुछ अधिकार माना ही जाता है। बावा विसाखासिंह ने कभी किसी चीनी को नहीं पकड़ा। अफसर ने कहा–"तुम कभी नहीं किसी को पकड़कर लाते ?" "मेरी तरफ कोई गड़बड़ी नहीं करता।" "नहीं लाओगे तो तुम्हारी वर्दी छीन लेंगे।" "ले लो।" अन्त में वावा विसाखासिंह को नौकरी छोड़ देनी पड़ी।

अमेरिका में–बाबा बिसाखासिंह अब 30 साल के जवान थे और भक्तिभाव के रहते भी उनके शरीर में जवानी का गर्म खून दौड़ रहा था। उस समय गरीब पंजाबी किसान ज्यादा और ज्यादा तनखाह का ख्याल कर जिस तरह से कलकत्ता से सिंगापुर और सिंगापुर से चीन चले जाते थे, उसी तरह अमेरिका की बड़ी मजदूरी को सुनकर वहाँ भी पहुँच जाते थे। बाबा बिसाखासिंह ने भी अमेरिका जाने का निश्चय किया। चंघई (शांघाई) से अपने गाँव के भाई हजारासिंह आदि बारह तथा कितने ही पंजाबी मुसलमानों और सिक्खों के साथ अमेरिका के लिए जहाज पर सवार हुए और 1907 के किसी महीने में सान्फ्रान्सिस्को जा उतरे। उस समय बाहर के आनेवाले मजदूरों के अमेरिका में उतरने में कोई रुकावट न थी, डॉक्टर लोग सिर्फ आँख की अच्छी तरह परीक्षा कर लेते थे। बाबा बिसाखासिंह पहले डेढ़ साल तक कैलीफोर्निया के आलू-गेहूँ के खेतों में मजूरी करते रहे, मजूरी थी डॉलर दो (छह रु. 1 आना रोज)। इसी वीच उन्होंने कुछ रुपया जमा कर लिया। फिर स्टाक्टन शहर के पास होल्ट स्टेशन पर 20 नम्बर की खेती खरीद ली। यहाँ पाँच-छह सौ एकड़ आलू-गेहूँ के खेत थे। खेती के नौ हिस्सों में तीन हिस्सा था बाबा बिसाखासिंह और हजारासिंह का, चार हिस्सा बाबा ज्वालासिंह का और दो हिस्सा सन्त तारासिंह का। यह जमीन एक तरह से समुद्र के पेट से बाँध-बाँधकर निकाली गई थी। सिंचाई के लिए नहर और नदी थी। बाबा बिसाखासिंह और उनके साथी अपने खेतों में आलू-प्याज और गेहूँ की खेती करते। उनके पास हल जोतने के लिए बारह-चौदह घोड़े थे और जरूरत पड़ने पर वह दूसरे

भी मजदूर रख लेते।

बाबा ज्वालासिंह मलाया से पहले ही अमेरिका पहुँचे थे। और उन्हें ही सबसे पहले पता लगा, कि एक परतन्त्र देश में पैदा होना कितनी वड़ी लांछना है। उन्होंने अपने साथियों में भी देश-प्रेम का भाव पैदा किया। बाबा बिसाखासिंह के कोमल स्वभाव को देखकर अमेरिकन वालकों का भी उनके साथ हेलमेल होना स्वाभाविक था। उनमें कितने ही अभी भूगोल को पढ़े नहीं होते थे, लेकिन उनके पास स्वतन्त्र देशों के राष्ट्रीय झंडों के चित्र हुआ करते थे। कभी-कभी वह उन्हें लाकर बाबा बिसाखासिंह से पूछते–"तुम्हारा झंडा कौन-सा है ?" बाबा बिसाखासिंह क्या उत्तर देते ? जव वह अंग्रेजी यूनियन-जैक पर हाथ रखते तो वह बोल उठते–"यह तो अंग्रेजों का झंडा है। हिन्दुओं (हिन्दुस्तानियों) का झंडा कौन-सा है ?" वाबा बिसाखासिंह के कलेजे में सूई-सी चुभने लगती।

खेती अच्छी तरह चल रही थी। साथ ही साथ अमेरिका की हवा और बाबा ज्वालासिंह का कान में जपना भी असर डालता जा रहा था। वावा बिसाखासिंह के शरीर और हृदय का एक-एक कण धर्म के रंग में रँगा है। जब उन्हें यह विश्वास हो गया, कि अपने गुलाम देश के उद्धार के लिए जीवन देना भी धर्म का एक अभिन्न अंग है, तो उन्होंने अपने इस संकल्प को भी एक धार्मिक विधि द्वारा प्रकट करना पसन्द किया। यह शायद 1910 के आसपास का समय था। उस दिन पौष सुदी सप्तमी, दसवें पादशाह गुरु गोविन्दसिंह का जन्म-दिवस था। बावा और उनके साथियों ने एक बड़ा यज्ञ ठाना। वैसे तो यहाँ बराबर ही अखंड लंगर चलता था, लेकिन आज पूजा के लिए खासतौर से कड़ा-प्रसाद और दूसरे हिन्दुस्तानी पकवान तैयार किए गए थे। कैलीफोर्निया के ज्यादा से ज्यादा 'हिन्दुओं' (हिन्दू-सिक्ख-मुसलमानों) को निमंत्रित किया गया था। बावा ने 'खंड पाया'। ग्रन्थसाहब के सामने अरदास की गई। और वाबा बिसाखासिंह, ज्वालासिंह, संतोखसिंह और कुछ दूसरों ने अपने जीवन को देश के लिए अर्पण किया। तब से बाबा बिसाखासिंह ने धार्मिक भाव के साथ अपने जीवन को देश की थाती समझा। इस भंडारे में भाई परमानन्द और लाला हरदयाल भी आए थे। अरदास की खबर 'खालसा-समाचार' में छपी, जिससे एक ओर सी. आई. डी. के कान खड़े हो गए, दूसरी ओर पंजाब के कितने ही सिक्खों में उत्साह बढ़ा। बाबा का छोटा भाई मगरसिंह उस समय तोपखाने में सिपाही था। वह नौकरी छोड़कर चला आया। इसी भंडारे में देशभक्तों की एक कमेटी बनाई गई। खेती में एक गुरुद्वारा और ग्रन्थी (पुजारी) कायम किया गया। भंडारे का पहला दिन सिर्फ धार्मिक कृत्यों के लिए था। दो दिन देश की अवस्था पर सोचने और व्याख्यान देने के लिए खर्च किए गए। इसी समय से बाबा का धार्मिक जीवन देश की स्वतंत्रता के युद्ध से सम्बद्ध हो गया और सम्बद्ध किसी कच्चे धागे से नहीं, बल्कि अन्तस्तम की भावना के जबरदस्त सीमेंट से हुआ। इस जलसे में बाबा सोहनसिंह भकना ने भी व्याख्यान दिया था।

जब मार्च 1913 में गदर-पार्टी की स्थापना हुई, तो बाबा बिसाखासिंह उसके लिए पहले से ही तैयार थे और वे ही पार्टी के एक खजांची चुने गए। अब होल्ट की खेती देश की खेती थी। बावा ज्यादातर हेडक्वार्टर या होल्ट में रहते, लेकिन जरूरत पड़ने पर वाहर भी जाया करते थे।

भारत के लिए प्रस्थान–1914 में बाबा बिसाखासिंह के जन्म-ग्राम की बगल के गाँव सरियाली के अपने बन्धु बाबा गुरुदत्तसिंह कोमागातामारू जहाज को लेकर कनाडा पहुँचे। उस पर जो कुछ कनाडा में बीती, उसे भतीजे बिशनसिंह ने बाबा बिसाखासिंह के पास लिख भेजा। देश के इस महान् अपमान से बाबा और उनके साथियों के दिल पर भारी धक्का लगा। पार्टी की मीटिंग बुलाई गई। फैसला हुआ, अब बैठने का समय नहीं है, अब समय है देश में चलकर असली काम करने का। पार्टी के सदस्यों को अलग-अलग टुकड़ियों में भारत जाने का हुकुम मिला। पहली टुकड़ी में तरुण करतारसिंह (शहीद) और दो और मेम्बर शामिल थे। दूसरी में बाबा सोहनसिंह तथा उनके साथी, तीसरी में बाबा ज्वालासिंह, बाबा केसरसिंह और उनके सौ साथी। बाबा बिसाखासिंह और संतोखसिंह सबसे पीछे 1914 के अन्त में भारत आए। यह तीसरा जहाज था, जिससे अपने 50 साथियों के साथ बाबा मनीला (फिलीपाईन) होते कोलम्बो पहुँचे।

पुलिस हांगकांग से ही साथ हो गई थी। अब वह लुध्याणा पहुँचे, तो मिलिटरी पुलिस ने उन्हें घेर लिया

और थाने में पहुँचाया। नाम-गाँव लिखकर अमृतसर के डिप्टी-कमिश्नर के सामने ले गए। गाँव में वह नजरबन्द कर दिए गए, लेकिन वहाँ 20-25 दिन से ज्यादा नहीं रहने पाये और अक्तूबर (1914) में उन्हें लाहौर सेन्ट्रल जेल में पहुँचा दिया गया। 64 आदमियों पर इतिहास-प्रसिद्ध पहला लाहौर-षड्यंत्र मुकदमा चला। अदालत ने आँख पोंछने के लिए पाँच को छोड़ दिया और 24 को फाँसी की सजा तथा दूसरों को 2 से 10 साल तक की सजायें सुनाईं। ओडायरशाही अपना काम कर चुकी थी, लेकिन तत्कालीन वाइसराय लार्ड हार्डिंग ने 17 को फाँसी के तख्ते से उतार दिया, बाबा विसाखासिंह उनमें से एक थे। फाँसी की कोठरी में बाबा विसाखासिंह यह सोचकर बड़ी प्रसन्नता से अन्तिम घड़ी की प्रतीक्षा कर रहे थे, कि उन्हें भी बाबा तेगासिंह की तरह 'घोड़े की काठी' पर शहीद होने का सौभाग्य प्राप्त होगा। लेकिन वह सौभाग्य सिर्फ सात को ही प्राप्त हो सका।*

13 सितम्बर 1915 को तीन जजों की अदालत ने अपना भीषण फैसला सुनाया था। जब अधिकारी अपील करने के लिए कहते, तो बाबा और उनके साथी बोलते—"उन्हीं से लड़ना, उन्हीं से न्याय माँगना !" तरुण करतारसिंह की स्मृति अब भी बाबा के दिल पर ताजी है। वह साहस का पुतला और वैसा ही होशियार था। रिसालों में अफसर बनकर जाता और सलामी तक ले लेता। उस समय वस्तुतः ही भारत की सैनिक हालत ऐसी थी, कि अंग्रेज शासक इस विस्तृत षड्यंत्र की खबर पाते ही घबरा उठे थे। अधिकांश गोरी फौज भारत से फ्रांस के मैदान में भेज दी गई थी। जो तेरह हजार गोरे भारत में रह गए थे, उनमें भी काफी संख्या बूढ़ों और बच्चों की थी। इन्हीं को सारे हिन्दुस्तान में लगातार घुमाया जाता था, जिसमें कि लोग समझें कि हिन्दुस्तान में गोरी पल्टन बहुत भारी संख्या में है।

बाबाजी को पहले मुल्तान जेल में भेजा गया। शरीर उस समय खूब स्वस्थ था। जेल में सबसे कड़ा काम—कागज पर घोटा लगाना उन्हें दिया गया। बाबा बागी थे, वह जेल में काम करने के लिए नहीं गए थे। काम नहीं करते, इसके लिए सजा होती। 22 सेर गेहूँ पीसने के लिए दिया जाता। वह शाम तक उसी तरह टोकरी में पड़ा रहता। फिर कैदियों को टोपी पहनना जरूरी था। बाबाजी टोपी नहीं पहनते थे, उस पर भी सजा। डंडा-बेड़ी, हथकड़ी दे लगातार खड़े रखना, आदि-आदि जेल की सारी सजायें मुल्तान जेल के चार मास में भोगनी पड़ीं।

कालापानी में—इन भयंकर क्रान्तिकारियों को भारत की जेलों में रखना सरकार खतरे की चीज समझने लगी थी। दिसम्बर 1915 में उन्हें अंडमन भेजा गया। अब कालेपानी का वह नरक-जीवन शुरू हुआ; जिसके लिए उन्हें और उनके साथियों को जबरदस्त संघर्ष करना पड़ा और अपने में से आठ की बलि देनी पड़ी। बाबा बिसाखासिंह ग्रन्थसाहब के लड़कपन ही से जबरदस्त पाठक थे। सिक्ख गुरुओं और हिंदू सन्तों के बहुत-से वचन उनको कंठस्थ थे। तो भी उन्होंने कभी कोई तुकबन्दी न की थी, लेकिन अंडमन की नरक-यातना ने उनसे कविता भी करवाई। बाबा ने गाया था—

---

* सातों शहीद—(1) करतारसिंह सराभा (आयु (20 साल); (2) बी. जी. पिंगले, (3) जगतसिंह (सुरसिंग-निवासी), (4) हरनामसिंह (स्यालकोट), (5) बखशीसिंह; (6) सरैणसिंह (अमृतसर); (7) पं. काशीराम।

अदालत ने 24 देशभक्तों को उमर कैद देने के साथ जायदाद भी जप्त कर ली। उनके नाम हैं—(1) बाबा ज्वालासिंह (ठट्ठिया); (2) बाबा सोहनसिंह भकना; (3) बाबा विसाखासिंह; (4) हजारासिंह; (5) बिशनसिंह (भतीजा); (6) बिशनसिंह पहलवान (ददेर); (7) बाबा रुड़सिंह (फिरोजपुर); (8) बाबा केसरसिंह (ठठगढ़ अमृतसर); (9) बावासिंह लील (लुध्याणा); (10) माणसिंह (लुध्याणा); (11) रोडासिंह रंडे (फिरोजपुर); (12) मास्टर ऊधमसिंह करौल (अमृतसर, कांबुल में शहीद); (13) मंगलसिंह (लालपुर, अमृतसर); (14) बाबा शेरसिंह (वईंपुई); (15) भाई परमानन्द; (16) मदनसिंह गामा, (17) इंदरसिंह (सुरसिंगा); (18) कालासिंह; (19) गुरुदत्तसिंह; (20) जवन्दसिंह (सुरसिंग); (21) भाई प्यारासिंह (होशियारपुर); (22) बाबा गुरुमुखसिंह (ललतों, लुध्याणा); (23) पूरनसिंह (लुध्याणा); (24) कृपालसिंह।

लम्बी सजा पानेवालों में बाबा खडगसिंह (लुध्याणा); इन्दरसिंह ग्रंथी (फीरोजपुर); इन्दरसिंह भसीण (लाहौर); बाबा केहरसिंह मराणा (अमृतसर); लालसिंह भूरा (अमृतसर) भी थे।

2 से 10 साल तक की सजा पानेवाले 28 व्यक्ति थे।

"अंडमन् विच् सी डाकू तिन्न वड्डे।
सी. सी.[1] मरी[2] ते वारी[3] पठाण तिन्नों।
रहें खून निचोड़ सी कैदियाँ दा,
एक् दूसरंतां बेइमान तिन्नों।।
जो चाँवदे जुलुम सी करी जाँदे,
वेरहम, वेतुख्म, शैता तिन्नों।
अँखी वेख्या सच् 'बसाख' लिखदा,
जान कैदियाँ दी उत्थे खाण तिन्नों।।"

बाबा विसाखासिंह और उनके साथियों को पिछले चार महीने के जेल-जीवन से ही पता लग गया था, कि किस तरह उन्हें सुखा-सुखाकर मारने का इरादा किया गया है; इसीलिए जहाज पर ही उन्होंने तय कर लिया था, कि हम ऐसे जीवन को बरदाश्त नहीं करेंगे। जेल के अधिकारी कड़ा से कड़ा काम लेना चाहते। लेकिन यहाँ काम करने के लिए तैयार कौन था ? फिर सजायें शुरू होतीं। छह महीने वेड़ी दी गई, छह महीने आधी खुराक की सजा मिली। वावाजी के आठ साथियों* को अपनी आन पर शहीद होते देख जेलवालों को पता लग गया, कि उन्हें कैसे आदमियों से पाला पड़ा है। कालेपानी में भी वावा का भजन-भाव वैसे ही चलता रहा। गुरुओं और संतों की वाणियों के साथ उन्होंने हिंदी, उर्दू और थोड़ी वंगला भी पढ़ी।

किसी भी साथी पर कोई अत्याचार होता, तो सभी एक होकर उसका मुकावला करते। झाँसीवाले परमानन्द को ज्यादा काम दिया गया। वह उसे पूरा कैसे कर सकते थे ? कमजोर समझकर जेलर ने थप्पड़ मारा। परमानन्द ने भी ऐसी लात जमाई कि जेलर कुर्सी से नीचे जा गिरा। उसने सीटी बजाई। सिपाही घुस आए। लोगों को अलग-अलग जेलों में बंद कर दिया गया। परमानन्द को बीस बेंत की सजा हुई। वेंत मारे जाने के विरोध में राजबन्दियों ने भूख-हड़ताल कर दी। बाबा सोहनसिंह ने तीन महीने तक भूख-हड़ताल रखी और एक पढ़ुवा नेता ने झूठ वोलकर हड़ताल तुड़वा दी; लेकिन वावा पृथिवीसिंह और जवन्दसिंह ने छह महीने तक हड़ताल जारी रखी। इसका एक फल यह हुआ, कि अव से राजवन्दियों को वेंत लगाना रोक दिया गया।

अव बावा के स्वास्थ्य पर जेल के दुर्व्यवहार और दुर्भोजन का असर पड़ने लगा और वह अक्सर बीमार रहने लगे। उन्होंने पाँच साल कालापानी में विताये।

जेल से वाहर और नजरवन्दियाँ–नयें सुधारों के उपलक्ष्य में अपनी उदारता दिखलाने के लिए कुछ राजबन्दियों को छोड़ना सरकार के लिए जरूरी था। 1920 के अन्त या 1921 के शुरू में बाबाजी कोलम्वो लाकर छोड़ दिए गए। लेकिन इतने ही से जान थोड़े ही बचनेवाली थी। पुलिस उन्हें ददेर लाई और वहाँ वह नजरबन्द कर दिए गए। बाबा की सारी जायदाद जब्त हो चुकी थी–और, आश्चर्य यह है कि आज (नवम्बर 1943) में भी इतने दिनों की सुदेशी सरकारों के आने पर भी वह जब्त ही है; बारडोली की जायदादें कब न लौट गईं; इससे पता लगता है, 1920 के बाद भी पंजाब को कैसी सरकारें प्राप्त करने का सौभाग्य हुआ।

देशभक्तों के परिवारों की सहायता–वाबा का हृदय अत्यन्त कोमल है और अपने साथी शहीदों और देशभक्तों की स्मृतियाँ तो उनके लिए अनमोल धरोहर हैं। जेल से बाहर निकलने पर उन्हें मालूम हुआ, कि उन देशभक्तों के बाल-बच्चे महाकष्ट पा रहे हैं, जिन्होंने कि अपने जीवन को देश पर न्योछावर किया, जिनकी सारी जायदाद सरकार ने जब्त कर ली। वाबा का दिल भारी वेदना अनुभव करने लगा। लेकिन, वह अपने गाँव में नजरबन्द थे, तो भी वह हाथ पर हाथ धरकर बैठने के लिए तैयार न थे। वह साधु-सन्त हैं, यह गाँव और आसपास के लोग जानते थे, साथ ही यह भी कि वह देश के लिए सर्वस्व त्यागी हैं, फिर उनके प्रति लोगों की श्रद्धा

(1) चीफ कमिश्नर, (2) सुपरिन्टेन्डेन्ट जेल, (3) जेलर

* आठ शहीद–(1) केहरसिंह मराणा; (2) नन्दसिंह (बुर्ज), (3) नत्थासिंह (लोरियाँ); (4) वुड्ढासिंह (गुजरात), (5) माणसिंह सनैतें; (6) रुलिया सिंह सरभ, (7) रामरक्खा (जेहलम्), (8) रोडासिंह (लंडे)

क्यों न हो ? लोग उनके सत्संग के लिए आते और उनके मधुर उपदेश को सुनकर अपने को कृतकृत्य समझते। बाबा ने देशभक्तों के परिवार को सहायता पहुँचाने के लिए लोगों को कहना शुरू किया और इस प्रकार 'देश-भगत परिवार सहायक कमेटी' के काम का आरम्भ हुआ। बाबा जब अमेरिका में थे, तभी सिक्खों की सबसे बड़ी धार्मिक संस्था शिरोमणि कमेटी के मेम्बर चुने गए थे। वह कमेटी के लोगों को सहायता देने के लिए कहते। कितने लोग डरते भी थे, मगर सहायता पहुँचने लगी। दो साल नजरबन्द रहने के बाद नजरबन्दी उठा ली गई।

बाबा ने एक 'कैदी-परिवार-सहायक-फण्ड' कायम किया। 1923 में सिक्ख-लीग ने भी दिलचस्पी लेनी शुरू की, जिस पर बाबा ने फंड का इन्तिजाम उसके हाथ में दे दिया। लीग की दृष्टि बहुत संकुचित थी। वह काम ठीक से नहीं चला सकी। बाबा हिन्दू-सिक्ख-मुसलमान सभी देशभक्तों के परिवारों को सहायता देने के पक्षपाती थे।

1925 में बाबाजी ने इसके लिए आठ सज्जनों की कमेटी बनाई और देशभक्त-परिवार-सहायक कमेटी के चन्दे के लिए तीन-चार बार देश का दौरा किया। अमेरिका और फीजी के भारतीयों के पास अपीलें भेजीं। लोगों ने पैसा भेजना शुरू किया। इस फंड से देशभक्तों के बच्चों की शिक्षा और ब्याह में मदद दी जाती, रोजी चलाने का इन्तिजाम किया जाता। अब तक हजार से अधिक परिवारों को सहायता पहुँचाई जा चुकी है। जेल में बन्द साथियों से मिलने और उनकी आवश्यक चीजों के पहुँचाने पर भी पैसा खर्च किया गया। राजबन्दियों के साथ जेलों में जो दुर्व्यवहार होते, उसके खिलाफ प्रचार करने में भी कमेटी ने काफी हिस्सा लिया। राजसी डिफेंस कमेटी की मार्फत कितने ही राजनीतिक मुकदमों में अभियुक्तों की लड़ाई लड़ी। इस काम में कमेटी ने आठ हजार से अधिक रुपये खर्च किए। अब तक कमेटी ने तीन लाख रुपये खर्च किए हैं और अब भी उसका काम जारी है। बाबा इस कमेटी के प्राण हैं। उनके भक्त हृदय ने इस कार्य के रूप में भजन का एक सच्चा तरीका प्राप्त किया। चन्दा जमा करने के लिए बाबा दो-दो साल तक गाँव से गायब रहते और बर्मा और बंगाल तक का चक्कर लगाते।

सिक्ख-पंथ में स्थान—राजनीतिक जीवन के साथ-साथ बाबा का धार्मिक जीवन भी बहुत व्यापक है—खासकर साधारण सिक्ख-जनता उन्हें एक बड़ा गुरु मानती है। आज अपने इसी भाव को प्रकट करते हुए लोगों ने उनके जन्म-ग्राम ददेर को ददेरसाहब (पवित्र ददेर) कहना शुरू किया है। ददेर से कुछ दूर पर तरनतारन एक प्रसिद्ध सिक्ख तीर्थ है। 1929 में वहाँ के पवित्र सरोवर से मिट्टी निकालने—कार सेवा—का काम शुरू होनेवाला था। यह एक भारी पुण्य का काम था, जो सारे पंथ की ओर से हो रहा था। सिक्खों के ऐसे बड़े धार्मिक काम को पाँच मुखियों के हाथ से शुरू कराया जाता है, जिन्हें पंचप्यारा कहते हैं। गुरु गोविन्दसिंह ने अपने शिष्यों की परीक्षा लेने के लिए एक बार पाँच प्राणों की बलि माँगी थी। जो पाँच सिक्ख उस समय सबसे पहले आगे आए, उन्हें पंचप्यारा कहा गया। किसी बड़े धार्मिक कृत्य में पंथ की ओर से पंचप्यारा चुना जाना भारी सम्मान समझा जाता है। 1914-15 में ओडायरशाही बाबा बिसाखासिंह और उनके साथियों को फाँसी पर झुलाना चाहती थी, उस समय खुशामदी सिक्ख नेताओं ने इनके बारे में कहा था कि ये सिक्ख धर्म से पतित हैं। लेकिन 1929 में तरनतारन गुरुद्वारे की कारसेवा में बाबा बिसाखासिंह को पंचप्यारों में चुना गया। यही नहीं 1932 में पहुँचते-पहुँचते पंथ ने उन्हें सबसे बड़ा सम्मान अमृतसर के अकाल तख्त का अधिकारी (जत्थेदार) का पद प्रदान किया। अमृतसर के अकालतख्त को सिक्ख समझते हैं, वह खुद भगवान् का तख्त है। अकाली आन्दोलन जब अपने क्रान्तिकारी यौवन पर था, तो यहीं लोग शहीदी की प्रतिज्ञा लेते थे। कितने ही समय बाद बाबाजी ने चारों तरफ सरकारी खुशामदियों को ही देखकर इस पद से इस्तीफा दे दिया।

सिक्खों में बाबा बिसाखासिंह की सर्वप्रियता जिस तरह बढ़ रही थी और जिस तरह वह देशभक्तों के लिए काम कर रहे थे, इसे देखकर पंजाब की नौकरशाही का सिंहासन गरम हुआ और उसने 1933 में अमृतसर में उन्हें साल-भर तक नजरबन्द कर रखा। जब देखा कि नजरबन्द होने पर भी अमृतसर जैसे सिक्ख धार्मिक केन्द्र में बाबा के दर्शन मात्र से काम बढ़ता जा रहा है, तो उन्हें ददेर साहब में भेजकर वहीं नजरबंद कर

दिया गया। बाबा अबकी दो साल तक जन्म-ग्राम में नजरबंद रहे। उन्होंने गाँववालों को बुलाकर प्रतिज्ञा ली, कि तब तक मुकदमा लड़ने नहीं जाओगे। दो साल तक गाँव का एक भी मुकदमा अदालत में नहीं गया। लड़ाकू जाटों के इतने बड़े गाँव से मुकदमेबाजी का बिल्कुल खतम होना इन्द्रासन को हिला देने के लिए काफी था। नौकरशाही की अकल ठिकाने आयी। उसने सोचा, 24 घण्टे के लिए बूढ़े को ददेर में बंद करना भारी खतरे की चीज है। नजरबंदी का हुकुम वापिस ले लिया गया। इसी नजरबंदी के समय बाबाजी ने तरनतारन में ददेरवालों की मदद से एक पाँच तल्ले की पक्की पांथशाला बनायी, जिसमें 500 आदमी ठहर सकते हैं। पहले पर्व-त्योहार में ददेरवाले तरनतारन जाते, तो तकलीफ उठाते थे, अब उनके और दूसरों के लिए भी आराम हो गया।

वर्तमान शताब्दी में पंजाब के सिक्खों में पहले-पहल बाबाजी और उनके साथियों की कुर्बानियों ने नई जागृति पैदा की थी। आगे चलकर इसी ने अकाली लहर पैदा की; जिसमें बड़ी-बड़ी कुर्बानियाँ करके सिक्ख अपने धार्मिक स्थानों को महन्तों के हाथ से छीनने में सफल हुए। लेकिन जब धार्मिक स्थानों की करोड़ों की सम्पत्ति उनके हाथ में आ गई, तो लीडरों में झपट्टा-झपट्टी शुरू हुई। सारी धार्मिक सम्पत्ति का प्रबंध शिरोमणि (गुरुद्वारा प्रबंधक) कमेटी करती है, इसलिए हरएक नेता उस पर कब्जा करना चाहता था—यह धन और प्रभुता का सवाल था। 1935 में सिक्खों की दो नेताशाही पार्टियों के बीच झगड़ा बहुत दूर तक बढ़ गया। दोनों ने सब करके देख लिया, कोई निपटारे का रास्ता नहीं सूझा। उस समय चुनाव में मुकाबला करने का मतलब था खून-खराबी। साथ ही दोनों पार्टियाँ इसके फैसले के लिए ऐसे पंच को नहीं पसंद करती थीं, जिस पर धन और प्रभुता का प्रभाव पड़ सके। उन्हें बाबा बिसाखासिंह ही सारे पंजाब में ऐसे सिक्ख दिखलाई पड़े, जिनकी सच्चाई और निर्भयता को दुनिया की कोई शक्ति विचलित नहीं कर सकती। दोनों पार्टियों ने बाबाजी के हाथ में दे दिया कि वह ही केन्द्रीय कमेटी और स्थानीय कमेटियों के लिए जिनको योग्य समझें, उन्हें उम्मेदवार बना दें। उस साल बाबाजी ने ही उम्मेदवारों के नाम दिए और सभी चुन लिए गए। 1938 में गुरुद्वारा छेहाल्टा (अमृतसर के पास) की नई इमारत की नींव रखने वाले पंचप्यारों में बाबाजी प्रमुख थे।

1938-39 में अमृतसर और लाहौर में किसानों ने अपने ऊपर होते अत्याचारों के खिलाफ संघर्ष शुरू किया। बाबाजी के धर्म में मेहनतकशों के कष्ट को हटाने का सबसे पहला स्थान है। वह कैसे चुप बैठ सकते थे ? अमृतसर के मोर्चे (1938) में बाबाजी सत्याग्रह में जाना चाहते थे, लेकिन साथियों ने उनके स्वास्थ्य और दूसरे कामों का ख्याल करके रुक जाने के लिए प्रार्थना की। बाबाजी मान गए। लाहौर के किसान मोर्चे (1939) के सम्बन्ध में बाबाजी के ही सभापतित्व में मराणा में एक बड़ी सभा हुई थी। बाबाजी सौ आदमियों को लेकर सत्याग्रह करने के लिए लाहौर जाने को तैयार थे, लेकिन कालेपानी से साथ आए तपेदिक के मारे फेफड़े इतने कमजोर थे, कि साथी उन्हें ऐसे जोखिम में डालना नहीं पसंद करते थे। बाबाजी का कलेजा तिलमिलाकर रह गया, फिर भी उन्होंने बात मान ली।

लड़ाई आई। सरकार कितने ही दिनों तक उनके स्वास्थ्य और दूसरी बातों को सोचती रही, अंत में 26 जून 1940 को उन्हें गिरफ्तार कर लिया। अमृतसर से राजनपुर (डेरागाजीखाँ) के जेल में भेज दिया गया। फिर देवली में पहुँचा दिए गए। उनका फेफड़ा तो पहले ही से खराब था; देवली के जलवायु ने और बुरा प्रभाव डाला। लेकिन तब भी बाबा के प्रसन्न मुख को कभी म्लान नहीं होते देखा गया। हम लोगों की भूख-हड़ताल के समय जिस तरह का भीषण कदम बाबा उठा चुके थे, इसके बारे में पहले कहा जा चुका है।

बाबा का स्वास्थ्य और बिगड़ते देख डाक्टरों ने 'कानी मानी दोस' कहा। पंजाब सरकार ने मजबूर होकर 21 नवम्बर 1941 को उन्हें देवली से ददेर पहुँचाया। बाबाजी का जब तक साँस चल रहा है तब तक वह चुप कैसे रह सकते हैं ? कैलिफोर्निया में अरदास करके जीवन को देशार्पण किया था, उसे वह कैसे झूठला सकते हैं ? लेकिन उनका काम कोई ऐसा नहीं था, जिससे लड़ाई के किसी काम को क्षति पहुँचे। बाबा तो मानते हैं, कि रूस के मजूरों-किसानों के राज्य पर हमला करने-वाले, फासिस्ट सारी मानवता के घोर शत्रु हैं। लेकिन, हिन्दुस्तान की सी. आई. डी. को इससे क्या मतलब ? उसकी कितनी ही हरकतों से तो मालूम होता

हैं, कि वह फासिस्टों की अपेक्षा उनके घोर शत्रुओं को खतम करना उसका अपना फर्ज समझती है। बाबाजी गुजरात जेल में बन्द अपने साथियों से मिलने गए थे। लौटकर अमृतसर आते ही फिर जेल में भेज दिए गए। फरवरी 1942 की बात है। मुल्तान जेल में फिर उनका स्वास्थ्य विगड़ने लगा। बावाजी ने डाक्टर से कहा–"दवा मत दो।" लेकिन सहृदय डाक्टर के हाथ से दवा को इंकार भी नहीं कर सकते थे। हालत खराब हो गई। गाँव में खबर पहुँची। भाई मगरसिंह, भतीजे बिशनसिंह और कुन्दनसिंह आखिरी मुलाकात के लिए मुलतान गए। देखते ही उनकी आशा टूट गई। उन्होंने बाबा के शव की प्रतीक्षा में वहीं धूनी लगा दी। दो आदमी जेल के फाटक पर बैठे रहते और एक रोटी-पानी का इन्तिजाम करता। लोगों को खवर मिली। बाबा के छोड़ने के लिए सभायें होने लगीं, तार खटकने लगे, अखवारों में हलचल शुरू हुई। सरकार ने उन्हें धर्मशाला जेल में भेज दिया। वाबा के लिए जिस तरह मुलतान की गर्मी बर्दाश्त होने लायक नहीं थी, वैसी ही धर्मशाला वाली हिमालय की सर्दी भी। अभी भी पंजाब की विचित्र सरकार कुछ करने के लिए तैयार नहीं थी। इसी समय बलवंतसिंह दुखिया जेल में नजरबंद रहते शहीद हो गए। चारों ओर हल्ला मचा। सरकार घवराई और नहीं चाहा कि बाबा विसाखासिंह की शहादत का दोष उसकी गर्दन पर पड़े। 15 जुलाई को जेल के अधिकारियों ने किसी हित-मित्र, बंधु-बांधव को कोई भी सूचना दिए बिना उन्हें धर्मशाला-जेल के फाटक के वाहर छोड़ दिया। यह 1942 की घटना है, लेकिन कौन विश्वास करेगा कि हम वीसवीं सदी के मध्य में एक सभ्य कहलानेवाली सरकार की छत्र-छाया में हैं। संयोग से एक सहृदय दम्पति को पता लगा। बीबी सरलादेवी और उनके पति बाबाजी को अपने मकान पर ले गए। रात-भर वहाँ रखा। दूसरे दिन रेल से अमृतसर पहुँचाया गया। 70 साल का शरीर भी बावा विसाखासिंह का होने से बहुत मूल्य रखता है, राजनीतिक कार्यकर्ता और धार्मिक भक्त दोनों ही इसे मानते हैं। बावाजी की चिकित्सा कुछ समय तक लाहौर में हुई, फिर तरनतारन में। अक्तूबर (1943) में उन्हें ददेर जाने की डाक्टरों ने इजाजत दी। अब पुराने छकड़े को वहुत बाँध-वूँधकर ही घसीटा जा सकता है, मगर बावा अपने एक-एक साँस की पूरी कीमत वसूल करने के लिए तैयार हैं। ददेर उनकी उपस्थिति से एक महान् गुरुद्वारा वन गया है। धार्मिक नेताओं में यदि कोई सबसे अधिक सच्चे, सबसे अधिक सहृदय, सबसे अधिक त्यागी और विरागी रहे होंगे, तो वह बाबा विसाखासिंह जैसे ही होंगे; लेकिन इसमें सन्देह है, कि उनमें भी ऐसी शिशुओं की-सी सरलता और मधुरता रही होगी।

33

सरदार सोहनसिंह 'जोश'

प्रमुख तिथियाँ–1898 नवम्वर 18 जन्म, 1906 पढ़ना आरंभ, 1911-15 मजीठा मिशन स्कूल में, 1916 मेट्रिक पास, 1916 खालसा कॉलेज (अमृतसर में), 1917 हुवली में विजली-मिस्त्री, 1918 वंबई में मिस्त्री, 1918 सेंसर आफिस में; 1920 मजीठा में मास्टर, 1921-26 अकाली-नेता, 1922 जेल में, 1923-26 अकाली षड्यंत्र मुकदमे में, 1928 कम्युनिस्ट, 1929 मार्च–1933 नवम्बर मेरठ-षड्यंत्र के कारण जेल में, 1935-36 'परभात' संपादक, 1937, एम्. एल्. ए., 1939 लाहौर किसान सत्याग्रह, 1940 जून–1942 मई 1 जेलों में नजरवन्द।

अमृतसर शहर की सड़कों पर एक सात-आठ साल का लड़का रोता फिर रहा है। उसके पैर नंगे हैं, बदन पर एक मोटा मैला-सा कुरता और जाँघिया (कच्छा) है, और सर पर वैसी ही छोटी-सी पगड़ी। लड़के को क्या पता कि जरा-सा कहीं ठहरकर इधर-उधर आँखें फेरते ही उसकी माँ कहीं चली जायगी और वह कहीं। उसकी आँखों से आँसू गिर रहा था। और इस उम्मीद पर कि उसकी माँ कहीं मिल जायगी, वह आगे चलता ही

जा रहा था। शायद वहुत जोर से रोने में उसकी दीनता दिखलाई पड़ती, इसीलिए किसी का ध्यान खास तौर से उसकी ओर आकर्पित नहीं हुआ। लेकिन धैर्य का बाँध टूटने ही वाला था, कि उसे माँ तो नहीं अपने ही गाँव के दो-तीन आदमी दिखाई पड़े। लड़का दौड़कर उनके पास पहुँच गया और रो-रोकर माँ से छूट जाने की कथा सुनाई। आदमियों को यह अच्छा मौका मिला। जब लड़के ने गिड़गिड़ाकर साथ गाँव ले चलने की बात कही तो उन्होंने कहा—नहीं, बावा ! तुम यहीं अमृतसर की गलियों की खाक छानो, तुम्हें कौन ले जायगा अपने खेतों को चरवाने के लिए। लड़के ने कुछ और आँसू गिराये, कुछ और गिड़गिड़ाया और कसम खा-खाकर कहा कि अव कभी भैंस तुम्हारे खेत में नहीं जाने दूँगा। उन्होंने खुशी-खुशी लड़के को अपने साथ कर लिया।

यह 1906 के आस-पास की वात है।

अमृतसर वड़ा हरा-भरा गुलजार जिला है। उसी के अन्दर अजनाला तहसील में एक छोटा-सा गाँव है चेतनपुर। चेतनपुर में सरदार लालसिंह नाम के एक जाट किसान थे। वह और उनके भाई एक ही साथ रहते थे और उनके पास खेत इतने थे कि फसल अच्छी होने पर साल-भर लोग पेट भर खा और तन को ढाँक सकते थे, लेकिन फसल न होने पर हालत वुरी हो जाती थी। सरदार लालसिंह और उनकी स्त्री दयाल कौर को 18 नवम्बर 1898 में पहला लड़का पैदा हुआ, जिसका नाम उन्होंने सोहनसिंह रखा। पहिला पुत्र होने से सोहनसिंह के ऊपर माँ का वहुत प्यार था। सरदार लालसिंह यों तो करीव-करीब अनपढ़-से थे—टोटा के साथ उर्दू अक्षरों को पढ़ लेते थे, लेकिन हिसाव लगाने में वड़े तेज थे। पंजाब की भूमि से पंचायतों को लुप्त हुए बहुत दिन हो गए थे और उनकी जगह रिश्वतखोर नम्वरदारों और दूसरे सरकारी अफसरों ने ली थी। लेकिन अभी भी लोगों की आदत छूटी नहीं थी, और कभी-कभी वे अपने झगड़ों को अपने विश्वस्त पंचों के पास ले जाते थे। सरदार लालसिंह अपने ही गाँव के नहीं वल्कि आस-पास के गाँवों के ऐसे ही विश्वासपात्र पंच थे। खास करके भाइयों में खेत का वँटवारा या पड़ोसियों के खेत के झगड़ों में उनकी वड़ी माँग थी। लालसिंह को अगर पढ़ने का मौका मिला होता, तो शायद अच्छे विद्यार्थी सावित होते। उनकी इच्छा थी कि सोहन कुछ पढ़ जाय, इसी ख्याल से उन्होंने गाँव के मक्तव में सोहन को बैठा दिया। लेकिन, सोहनसिंह को जितना खेलना और घूमना पसंद आता था, उतना पढ़ना नहीं। वह बीमारी का वहाना करके कई वार भाग आया। सरदार लालसिंह ने सोचा, जाट के पुत्तर को हल-कुदार चलाना ही काफी है और सोहनसिंह का शरीर उसके लायक मालूम होता था।

सोहनसिंह कई वर्षों तक भैंस चरा चुके थे। खेलने और लट्टू नचाने में वालक सोहनसिंह को वहुत आनन्द आता था, लेकिन नंगे पैरों घूमते अक्सर उनके पैरों में काँटे गड़ जाते और बैठकर रोना पड़ता। धूप और लूह में ढोरों के पीछे दौड़ना पड़ता, और जाड़ों के लिए गरीब घर में कपड़ा भी तो काफी नहीं होता था। इधर कभी-कभी उसको ख्याल आने लगा था, कि मदरसे में पढ़ने चला जाऊँ, तो जान बच जाय। लेकिन बाप ने किसी दिन उसका जिक्र भी नहीं किया। सोहनसिंह जान-बूझकर दूसरे के खेतों को नहीं चराता था, लेकिन कभी कोई न कोई जानवर पास के खेतों में एकाध मुँह मार ही लेता था, फिर जाट चार सुनाये विना कैसे रहता। यह सबसे ज्यादा मुश्किल बात थी, जिसने उसे कबड्डी और लट्टू का मोह छोड़ने के लिए तैयार किया। उस दिन अमृतसर में जो उसने अपने गाँववालों के सामने कसम खाई थी, वह दरअसल बिल्ली के भागों छींका टूटा था। इधर सिखों में गुरुसिंह सभा-आन्दोलन चल पड़ा था, जिसने धार्मिक जागृति के साथ-साथ पढ़ने-लिखने का भी लोगों में उत्साह पैदा किया था और उसी से प्रेरित हो चेतनपुर के जाटों ने अपने गाँव में उर्दू और पंजाबी (गुरुमुखी) का एक प्राइमरी स्कूल खोल दिया। यदि गाँव में स्कूल न होता, तो शायद सोहनसिंह कितने ही वर्षों को भैंसों के चराने, कवड्डी, लट्टू खेलने और खेत की चराई-चुराई के लिए गालियाँ सुनने में ही बिता देता। एक और चरवाहे साथी से सलाह की और सोहनसिंह एक दिन स्कूल में जा पहुँचा। सोहनसिंह मेधावी लड़का था। चेतनपुर के प्राइमरी स्कूल ही में नहीं, जिस किसी स्कूल में वह पढ़ने गया, वहाँ अपने दर्जे में औव्वल रहना और हिसाब में सौ में सौ नम्वर लाना उसके लिए आम बात थी। उसकी स्मरणशक्ति भी बहुत तीव्र थी। 1911 में गाँव के स्कूल की पढ़ाई खत्म हो गई और अब उसे आगे पढ़ने के लिए दूसरे

गाँव में जाने की जरूरत हुई।

हाँ, सोहनसिंह में लड़कपन से ही एक और खास बात थी। चेतनपुर में कुछ मुसलमान घर भी थे और सोहनसिंह की एक मुसलमान लड़के से दोस्ती थी। जब ईद आती, मीठी-मीठी संवइयाँ पकतीं और दोस्त दावत देता, तो घरवालों की पिछली झिड़क को भूलकर वह वहाँ पहुँच जाता और साथी के साथ बैठकर संवइयाँ खाता। उसे अभी यह अच्छी तरह समझ में नहीं आता था, कि अपने मुसलमान साथी के घर की संवइयों को खाकर वह कोई कसूर कर रहा है, जिस पर उसे डाँट-डपट सुननी पड़ती है। सिंहसभा ने आर्यसमाज और दूसरों की देखा-देखी सिक्खों में मजहवी जोश भरने और सिखराज की स्मृतियों को जगाने का काम अपने व्याख्यानों द्वारा वहुत किया। सोहनसिंह जव चार साल तक पढ़ चुका था, तभी से उसको पंजावी अखबारों के पढ़ने का शौक हो गया था। चेतनपुर में पढ़ाई के जमाने में सोहनसिंह स्कूली कितावों और पंजावी अखवारों के अलावा पंजावी की उन कितावों को वड़े शौक से पढ़ता, जिनमें सिखों की वहादुरी के कारनामे लिखे रहते। खासकर, गुरु गोविन्दसिंह के दोनों लड़कों के जीवित दीवार में चुन देने की वात को पढ़कर वह अक्सर रो देता और तव भी एक से अधिक वार माँ को सुनाये विना नहीं रहता। धार्मिक जागृति के कारण गुरुओं के शब्दों (वाणी) के पढ़ने का उस वक्त लोगों को बहुत शौक था और सोहनसिंह को शब्द पढ़ने के लिए दूसरे-दूसरे गाँवों में भी जाना पड़ता था।

चेतनपुर से मजीठा का कस्वा दो मील से ज्यादा दूर नहीं है। वहाँ एक चर्च मिशन मिडिल स्कूल ईसाइयों की तरफ से चल रहा था। चूँकि सोहनसिंह रोज खा-पीकर स्कूल जा सकता था, इसलिए खर्च की ज्यादा फिक्र न थी। सोहनसिंह वहाँ दाखिल हो अंग्रेजी पढ़ने लगा। फिर भी मिडिल में जाकर गरीवी देखकर उसकी फीस आधी कर दी गई थी। मजीठा कस्बा था, लेकिन जहाँ तक रहन-सहन, सभ्यता-संस्कृति का सम्वन्ध था, वह चेतनपुर से वहुत फर्क नहीं रखता था और सोहनसिंह के साथियों में ज्यादातर गाँवों के किसान लड़के थे। इसलिए भी वहाँ उसे कोई खास फर्क नहीं मालूम हुआ। स्कूल के अध्यापकों का अपने सबसे तेज लड़के से खुश रहना स्वाभाविक ही था। सोहनसिंह अपने क्लास के मानीटर और थोड़े ही दिनों वाद खेल के टीमों के कैप्टेन हो गया; तो भी उसे जितना शौक पढ़ने-लिखने का था उतना खेलों का नहीं। नई-नई पुस्तकों के पढ़ने के शौक ने उसके दिल में प्रेरणा पैदा की और उसने गाँव में एक पुस्तकालय खोलने की बात लोगों से कही। पंजाबी में, खासकर धार्मिक विषयों पर अब काफी पुस्तकें मिल सकती थीं, और कितने ही अनपढ़ लोगों में भी सोहनसिंह को पढ़ते सुन दिलचस्पी हो गई थी; इसलिए चौदह-पन्द्रह वर्ष के लड़के की बात समझकर किसी ने टाल नहीं दिया और 1913 में चेतनपुर में एक छोटा-सा पुस्तकालय कायम हो गया।

स्कूल ईसाइयों का होने से बाइबिल का पढ़ना जरूरी था। सोहनसिंह भी पढ़ता, लेकिन उस पर सिंहसभा के व्याख्यानों और सिक्खों का इतना ज्यादा रंग चढ़ा था, कि बाइविल उसके सामने विल्कुल फीकी मालूम पड़ती थी।

मिडल की वार्षिक परीक्षा में सोहनसिंह ने सात सौ में से छह सौ उन्नीस नम्बर पाए, लेकिन इससे उसका आगे का रास्ता साफ नहीं हुआ। लड़के का शौक देखकर पिता ने अमृतसर के खालसा हाईस्कूल में पढ़ने की इजाजत दे दी और सोहनसिंह 1915 में खालसा स्कूल में दाखिल हो गया। सोहनसिंह का ब्याह जब वह नौ-दस साल का था, तभी हो गया था। लेकिन बच्चे की बच्ची स्त्री मुकलावे (गौना) से पहिले ही मर गई। मिडल में पढ़ते वक्त उसकी दूसरी शादी हुई; और खालसा हाईस्कूल में दाखिल होते वक्त अव वह अपनी जवाबदेही को कुछ-कुछ महसूस करने लगा था। गरीवी वहुत जल्दी जिम्मेवारी को महसूस कराने लगती है। मजीठा में बाप के घर पैदा की हुई भारी आलू की फसल, दूध, मट्ठा, रोटी से काम चल जाता, लेकिन अमृतसर में अब हरएक चीज का खर्च रुपये-आनों में गिनना पड़ता जिसके लिए सोहनसिंह को चिन्ता होनी जरूरी बात थी। सोहनसिंह वहाँ नवें दर्जे में दाखिल हुए थे, दो-तीन महीने पढ़कर देख लिया, कि अगर उन्हें इसी साल इम्तिहान में बैठने का मौका मिले, तो पास कर जायेंगे। लेकिन, अध्यापक दसवीं क्लास में नाम लिखने के लिए तैयार न था। सोहनसिंह गरीब माँ-बाप के पसीने की कमाई को अपने घर भर को भूखा रख अमृतसर में दो साल

बैठकर खाने के लिए तैयार न थे और इसलिए तीन ही महीने की पढ़ाई के बाद वह किताबों को लेकर घर चले आए। गाँव के बाहर अपने खेतों में उनका अपना एक कुआँ और रहट था। सवेरे ही कम्बल और किताबों को लेकर वह वहाँ पहुँच जाते और किताबों को खूब मन लगाकर पढ़ते, याद करते थे। सोहनसिंह ने तय कर लिया था, कि बिना मास्टर के सिर्फ पुस्तकों को पढ़कर मैं मेट्रिक पास कर लूँगा। नौ महीने पढ़कर उन्होंने 1916 में इम्तिहान दिया और दूसरे डिवीजन में पास हो गए।

सोहनसिंह को अपने पर पूरा विश्वास होना स्वाभाविक था और उनको आगे पढ़ने का बहुत शौक भी था। लेकिन, घर की गरीबी पग-पग पर उन्हें याद दिलाती कि वह आगे नहीं बढ़ सकते। तब भी एक बार वह अमृतसर के खालसा कॉलेज में जाकर एफ. ए. में भर्ती हो ही गए। जो कुछ पेट काटकर घर से लाए थे, उसे हाथ रोकने पर भी तीन-चार महीने से ज्यादा नहीं चला सके। अन्त में उन्हें अमीरों ही के लिए बने कॉलेजों की चौखट को सलाम करना पड़ा।

सोहनसिंह की उम्र अब उन्नीस साल की हो गई थी। हर पीढ़ी में खानेवालों के मुखों की संख्या बढ़ने से जो समस्या हिन्दुस्तान के सभी संयुक्त परिवारों के सामने होती है, वही इनके सामने भी थी। दो चचा और बाप, बहिन और भाइयों से भरा एक बड़ा कुनबा तैयार हो गया और उधर खेत उतने के उतने ही। लड़ाई उस समय (1917) जोर से चल रही थी। आम हिन्दुस्तानियों को जो सहज बुद्धि से अपने विजेताओं से घृणा होती है उससे ज्यादा सोहनसिंह में कोई भी राजनीतिक ख्याल नहीं था। अखबारों में अंग्रेजों की जीत की खबरें पढ़ते थे, लेकिन उनका विश्वास उल्टा ही होता था। तो भी अगर वह चाहते तो फौज में चले जा सकते थे, लेकिन उस समय सिपाही छोड़ और होते क्या–ऊपर के सारे दरवाजे तो हिन्दुस्तानियों के लिए बन्द थे। उन्होंने कई कम्पनियों में नौकरी के लिए दरख्वास्तें भेजीं और बिजली का कारबार करनेवाली एक अंग्रेज कम्पनी में उनके गाँव का एक फोरमैन था, उसके परिचय से वह बम्बई चले गए। हुबली (कर्णाटक) की एक कपड़े की मिल में बिजली लगाई जा रही थी। कम्पनी ने सरदार सोहनसिंह को वहाँ काम करने के लिए भेज दिया। वेतन नहीं मजूरी डेढ़ रुपये रोज थी और हुबली में भत्ता भी छह आना रोज मिल जाता था। सोहनसिंह ने तार लगाने का काम भी सीख लिया। वह दिन-भर तार लगाते और शाम को क्लर्क का काम करते थे। यह छह-सात महीने चला।

वैसे सोहनसिंह खुद एक गरीब किसान घर में पैदा हुए थे, और शाम के भौर में भुने आलुओं को सवेरे खाने में उनको जो मजा आता था वही उनके लिए अमृत और मन्ना से कम न था। लेकिन यहाँ के मजूरों की गरीबी पंजाब के गरीब किसानों से भी असह्य थी। यद्यपि अभी भी वह इस गरीबी का जिम्मेवार आदमी को बनाने के लिए तैयार न थे। लेकिन, तब भी संवेदना जरूर उनके दिल में पैदा हो गई। अभी भी उनके दिमाग में धार्मिक जोश ही बहुत ज्यादा काम कर रहा था। शरीर लम्बा-चौड़ा जरूर था, लेकिन अभी दाढ़ी-मूँछ जरा ही जरा आने लगी थीं। हुबली में लोगों ने कभी किसी सिक्ख को नहीं देखा था, इसलिए जात पूछने पर जब वह अपने को सिक्ख बतलाते, तो लोग समझते शेख। सिंहसभा के व्याख्यानों को सुनते-सुनते तरुण सोहनसिंह भी समझने लगे थे, कि सिक्ख हिन्दुओं से उतनी ही दूर हैं, जितने कि मुसलमान। लेकिन वह इसके लिए तैयार नहीं थे, कि लोग सिक्ख को शेख कहने लगें। इसी बात को लेकर उन्होंने हुबली से अपना पहिला लेख 'पंथ सेवक' (पंजाबी) में भेजा था, जिसमें उन्होंने पंथ से यह भी अपील की थी, कि इधर सिक्खों के उपदेश भेजे जायँ और लोगों को पंचकक्कों का व्रत धारण करवाया जाय।

हुबली में काम खत्म होने पर वह बम्बई चले आए।

बम्बई में भी सिंह सभा थी और लोगों ने तरुण सोहनसिंह को उसका सहायक-मंत्री चुन लिया। अब उन्हें डेढ़ रुपया रोज मजूरी मिलती थी। कुछ दिनों बाद औसलर कम्पनी में उन्होंने नौकरी कर ली, जहाँ एक रुपया दस आना रोज मिलता और नियत समय से ज्यादा काम मिलने पर कुछ और मिल जाता था।

अब 1918 आ गया था। सोहनसिंह के सामने कोई बड़ी-बड़ी आकांक्षाएँ नहीं थीं। वह इसी एक रुपये दस आने की मजूरी के ढर्रे पर ही चलते रहना चाहते थे। उसी वक्त उनके बड़े चचा के मरने की खबर आई

और वह नौकरी छोड़कर चले गए। चचा की मृत्यु के उन्नीस दिन वाद पिता की भी मृत्यु हो गई और इस तरह घर की और भी जिम्मेदारी बढ़ गई। लेकिन सोहनसिंह खेती से घर को उतनी मदद नहीं पहुँचा सकते थे, जितना कि वाहर की नौकरी से। इसलिए फिर इधर अर्जियाँ दीं और अन्त में सेंसर विभाग से तार गया और सौ रुपये महीने पर वह वम्बई चले गए। वह लड़ाई का जमाना था। हिन्दुस्तान से वाहर जानेवाली या बाहर से हिन्दुस्तान आनेवाली हरएक चिट्ठी-पत्री, पत्र-पत्रिका और पुस्तक की सख्त देखभाल–सेंसर–होती। सरदार सोहनसिंह को पंजावी-विभाग में काम मिला। यद्यपि इससे पहिले वम्वई में रहते सोहनसिंह ने एनीवेसेण्ट द्वारा संचालित होमरूल आन्दोलन की कुछ भनक पाई थी और कुछ-कुछ सपने की तरह एक और भी दुनिया दिखाई पड़ रही थी, जो कि सिक्खों के अलावा भी अपनी हस्ती रखती है। लेकिन अभी सोहनसिंह को यह पता न था, कि उस दुनिया से उनका भी कोई सम्वन्ध है। सेंसर में आकर वह दुनिया साफ-साफ दिखाई पड़ने लगी। वहाँ उनको अपने पंजाब के सपूतों लाजपतराय और हरदयाल की लेखनी से निकली कितनी ही चीजों को पढ़ना और बाकायदा रजिस्टर पर उतारना पड़ता था। हरएक राजनीतिक वात–चाहे वह गदर पार्टी (अमेरिका) के अखवार या पुस्तिकाओं में छपी हो या दूसरी पुस्तक में, उन्हें पढ़ना, नोट करना और सँभालकर रखना पड़ता था। सोहनसिंह अपने में दिन पर दिन नवीनता अनुभव करने लगे और ख्याल करने लगे कि आदमी का काम अपने और अपने घर का पेट भरना ही भर नहीं है। लड़कपन से वह सदियों पहिले के सिक्ख शहीदों की कथाओं को गद्‌गद होकर पढ़ते आए थे। अब उन्हें यहाँ जिन्दा शहीदों और कुछ तो पंजाव में हाल ही में फाँसी के तख्तों पर झूल गए शहीदों को सामने देख रहे थे। जिस मतलव से गवर्नमेंट ने उन्हें सेंसर का काम दिया था, उससे उल्टा ही असर उनके ऊपर पड़ा। सौ रुपये की नौकरी छोड़ने का सवाल था और घर की हालत का ख्याल करना जरूरी था। इसलिए वह सहसा तो कोई निर्णय नहीं कर सकते थे, साथ ही सेंसर के साहित्य को पढ़ने का एक लोभ पैदा हो गया। इसलिए अभी वह काम करने और छोड़ने के वारे में विचार ही कर रहे थे, कि लड़ाई के वन्द होने से सेंसर का महकमा उठा दिया गया और सोहनसिंह घर (1919) चले आए।

पिछली लड़ाई की लूट में अंग्रेजों को मसोपोतमिया भी हाथ आया और उन्हीं की शासन-योजना अभी चल रही थी, जिसमें हाथ वँटाने के लिए हिन्दुस्तानी कुलियों और क्लर्कों की भी जरूरत थी। सोहनसिंह ने भी क्लर्की के लिए दरख्वास्त दी और मंजूरी आने पर कराची चले गए। लेकिन हृदय में जो वीज सेंसर के वक्त पड़ चुका था, वह धीरे-धीरे बढ़ रहा था, जिसके कारण उनकी दिलचस्पी ऐसी नौकरियों से जाती रही। उसी वक्त मजीठा के उनके अपने स्कूल में एक मास्टर की जगह खाली हुई और अड़तालीस रुपये महीने पर उनकी बहाली (1920) हो गई। उनके लिए यह सबसे अनुकूल नौकरी थी, पास में गाँव जहाँ रोज पढ़ाकर चले जाते और डेढ़ रुपया रोज से ज्यादा की मजूरी। लेकिन अब उन्हें दूसरी हवा लग चुकी थी। सभी चीजें महँगी थीं। सोहनसिंह ने स्कूल के अध्यापकों को मिलाकर आन्दोलन खड़ा किया कि तनखाह बढ़ाई जाय। अध्यापकों को पहिले यह बात न जाने कैसी-सी मालूम हुई, लेकिन आवेदन-पत्र पर सबने हस्ताक्षर कर दिया। अधिकारियों को तलब बढ़ानी पड़ी। अध्यापकों में सोहनसिंह की इज्जत बहुत बढ़ गई।

सिंह सभा का धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन अपना काम कर चुका था। अब पंजाव के सिक्खों में एक नई लहर अकाली-आन्दोलन शुरू हुआ। सोहनसिंह को सहानुभूति इस नई लहर के साथ थी। धार्मिक सुधार से उठकर वह राजनीतिक तल पर पहुँच गए। सोहनसिंह ने चौदह-पंद्रह साल की उम्र में उर्दू, पंजाबी में कुछ कवितायें लिखी थीं, हुवली के वाद जव-तब लेख लिखा करते थे और यह क्षमता उनकी बढ़ती ही गई। अध्यापकों की लड़ाई में अभी-अभी उन्हें विजय प्राप्त हुई ही थी। 'अकाली' (पंजाबी दैनिक) के सम्पादक सरदार मंगलसिंह गिरफ्तार हो गए। सरदार सोहनसिंह ने एक दिन का नोटिस देकर नौकरी से इस्तीफा दे दिया और अकाली को अपनी सेवायें अर्पित कर दीं। अकाली आफिस में जाने पर उन्हें लिखने का नहीं बल्कि बहीखाता रखने का काम दिया गया, जिसमें उनका मन नहीं लगा और कुछ ही दिन बाद उसे छोड़कर वह सीधे आंदोलन में कूद पड़े।

यह आंदोलन था चाभियों का—अमृतसर के दरबार साहब की चाभियाँ उस वक्त एक सरकारी आदमी—सरबराह—के हाथ में रहा करती थीं। सिक्ख—जिनके मुखिया अपने को अकाली कहते थे—चाहते थे, कि चाभियाँ सरकारी आदमी के हाथ में नहीं वल्कि पंथ के प्रतिनिधियों के हाथ में होनी चाहिएँ। सरदार सोहनसिंह कलम का जौहर दिखलाने से तो महरूम रह गए, लेकिन अब उन्होंने वाणी का जौहर दिखलाना शुरू किया। सारे जिले में शायद ही कोई गाँव बचा हो, जहाँ उनके जोशीले व्याख्यान न हुए हों। लोग उनके व्याख्यानों को बहुत जोशीला कहते थे और तब से उन्होंने भी अपना नाम 'जोश' रख लिया। अमृतसर के हरएक थाने में उनके लिए वारण्ट पहुँचा हुआ था। लेकिन सरदार सोहनसिंह जोश ही नहीं बतास-पंखी भी थे। शाम को यहाँ व्याख्यान दिया और सवेरे दस मील दूर व्याख्यान हो रहा है। कहीं वह पैदल चलते थे, कहीं लोग घोड़े देते थे। तीन-चार अकाली जवान अपने जोश की रक्षा के लिए नंगी तलवार लिए बराबर साथ रहते थे। चाभियों के लिए सत्याग्रह करो और साथ ही अंग्रेजी शासन की सारी करतूतों का कच्चा-चिट्ठा—यह था जोश के व्याख्यानों का विषय। अजनाला में बहुत-से अकाली नेता पकड़ लिए थे। जोश को पुलिस ढूँढ़ती रही, मगर पा न सकी। आखिर में गवर्नमेंट को दबना पड़ा, चाभियाँ शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के हाथ में दी गईं, सारे अकाली नेता छोड़ दिए गए और जोश के ऊपर से भी वारण्ट हटा लिया (1921) गया।

जोश की जोशीली तकरीरें अब भी जारी रहीं और 1922 में उन पर राजद्रोह के दो मुकदमे चलाये गए, जिनके लिए छह-छह महीने की जेल और चार सौ रुपए जुर्माने की सजा मिली। जेल में कैदियों के साथ जैसा पशुवत् बर्ताव होता था, उसे देखते जोश अपनी लड़ाई को जेल की चहारदीवारी के बाहर ही खत्म समझने के लिए तैयार न थे। उन्होंने अपने साथ कैदियों को संगठित करके जेल के भीतर भी संघर्ष शुरू किया और उसके लिए जेल के अधिकारियों ने अपने तर्कश के भीतर के सभी तीरों को इस्तेमाल किया, हर तरह की सजायें दीं—उनके टिकट पर रिंगलीडर (अगुआ) जगह-जगह लिखा हुआ था। जेल में रहते ही वक्त गुरु के बाग का काण्ड चला, सरकार ने दमन करते-करते हारकर सिक्खों की माँग को मान लिया।

जेल से बाहर आने पर जोश 'शिरोमणि अकाली दल' नाम की सिक्ख स्वयंसेवक सेना में शामिल हो गए और उसके जेनरल सेक्रेटरी चुने गए। जोस ऐसा कर्मठ नेता पाकर दल को लाभ होना ही था, लेकिन सरकार हाथ धोकर उनके पीछे पड़ी हुई थी। महाराजा नाभा इसी वक्त गद्दी से उतारे गए थे और सिक्खों में इसके लिए जबर्दस्त आन्दोलन हो रहा था। सिक्ख नेताओं की एक सभा में एक सरकार-परस्त प्रोफेसर ने जोश की ओर लक्ष्य करके कहा था—कुछ लोग हैं जिन्हें पंथ और महाराजा नाभा को गद्दी पर बैठाने से उतना मतलब नहीं है, जितना कि हरएक बहाने से अंग्रेजी राज के ऊपर चोट पहुँचाने से। नाभा के मामले में पंजाब के साठ बड़े-बड़े अकाली नेताओं को गिरिफ्तार करके सरकार ने षड्यंत्र का मुकदमा चलाया। इन साठ नेताओं में एक सरदार सोहनसिंह जोश भी थे। मुकदमा 1923 से 1926 तक चलता रहा। इस मुकदमे की कार्रवाइयाँ उस वक्त अखबारों में खूब छपती थीं, राष्ट्रीय पत्र इसमें खास तौर से दिलचस्पी लेते थे। दूसरे अकाली नेताओं में ज्यादा ने तो उस वक्त सरकार के साथ समझौता कर लिया, जब कि सरकार ने गुरुद्वारा कानून बनाकर सिक्ख मंदिरों और धर्मशालाओं पर महंथों के वैयक्तिक अधिकार की जगह सिक्ख जनता का अधिकार स्वीकार कर लिय। लेकिन, जोश के लिए अपने राजनीतिक जीवन और प्रोग्राम का यह अभी आरम्भ ही था। यहीं जेल में उन्हें एक अमेरिकन लेखक की पुस्तक 'स्वतंत्रता और उसके झंडाबरदार' (Liberty and Great Libertarians) पढ़ने का मौका मिला। इस पुस्तक ने जोश के जीवन में बहुत भारी असर किया। अभी तक जो उनकी दुनिया कुछ सिक्खों के भीतर ही सीमित थी, अब वह मजहब के क्षेत्र से बाहर हुई। अब वह पूरी तौर से कांग्रेस के समर्थक हो गए और साथ ही गरीबी के जीवन के अनुभव ने उन्हें यह भी बतलाया, कि असली स्वतंत्रता वही है, जिसमें लोगों की गरीबी न रहने पाए।

1926 में सरकार ने षड्यंत्र का मुकदमा उठा लिया, और तीन बरस जेल में रहने के बाद जोश बाहर निकले। अमृतसर में उन्होंने कांग्रेस का काम शुरू किया। उस वक्त अमृतसर से पंजाबी भाषा में किसान-मजदूरों का समर्थक 'किरती' पत्र निकलता था। सरदार संतोखसिंह के कहने पर इसके सम्पादन का भार जोश ने अपने

ऊपर लिया। उनके सम्पादकत्व में 'किरती' की अच्छी उन्नति हुई। उसका एक उर्दू संस्करण भी निकलने लगा, जिसके लिए जोश ने पेशावरवाले षड्यंत्र मुकदमे के अभियुक्त कामरेड फीरोज मंसूर को बुला लिया।

मजूरों और किसानों की समस्याओं तथा समाजवाद पर कभी-कभी कोई पुस्तक बाहर से आ जाती थी, लेकिन उससे भी ज्यादा जोश अपने तजर्वे से इस नतीजे पर पहुँचे थे, कि विना समाज़वाद के, विना रूस जैसे किसान-मजदूर राज के भारत की गरीबी दूर नहीं हो सकती। पंजाब की नौजवान भारत सभा के वह प्रधान स्तम्भ थे, और सरदार भगतसिंह ने छह महीने तक जोश के पत्र में काम किया था। पंजाव के दूसरे नौजवान भारत सम्मेलन के सभापति जोश ही हुए थे।

1928 तक भारत के कितने ही प्रान्तों में मजूर-किसान राज्य के पक्षपाती तैयार हो गए थे। वह बम्वई और कलकत्ता में मजूरों में काम भी करने लगे थे। इस काम के लिए ब्राडले आदि तीन अंग्रेज मार्क्सवादी भी भारत में आकर काम कर रहे थे। बम्वई में मजूर-किसान पार्टी कायम हुई है, इसकी खबर पाकर जोश ने भी पंजाब में मजूर-किसान पार्टी कायम कर ली। इन लोगों ने 1928 के शरत् में मेरठ में आकर मजूर-किसान पार्टी कान्फ्रेंस की, जिसमें बम्वई, बंगाल, पंजाव और संयुक्त-प्रान्त के मार्क्सवादी एकत्रित हुए थे। जोश भी इसमें शामिल हुए। यहीं पर अखिल भारतीय मजदूर-किसान पार्टी की स्थापना हुई और दिसम्वर (1928) में कलकत्ता कांग्रेस के समय पार्टी का वार्षिक अधिवेशन करना निश्चित हुआ, जिसके लिए जोश सभापति चुने गए। मेरठ में जो लोग शामिल हुए थे, वह सभी कम्युनिस्ट पार्टी से सम्वन्ध रखते थे। यहीं जोश भी कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बने।

कलकत्ता में इकट्ठा होकर जोश, मुजफ्फर अहमद, मिरजाफर आदि ने मिलकर भारत में मजूर-किसान पार्टी के काम की योजना बनाई। लेकिन, सरकार अव और कम्युनिज्म को वर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं थी। वह समय अब बीत चुका था, जव बड़े-बड़े सरकारी अफसर जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट और जिला-मजिस्ट्रेट—आतंकवाद से हटाने के लिए तरुणों को कम्युनिज्म की पुस्तकें देते थे। बम्वई, कलकत्ता, ललुआ आदि की वड़ी-वड़ी हड़तालों ने अंग्रेज थैलीशाहों की जेबों में जानेवाले करोड़ों रुपयों को बर्वाद करके उनके मर्मस्थान पर चोट पहुँचाई थी। जहाँ थैलीशाहों का आसन गरम हुआ, फिर उनके गुमाश्ते कैसे चुप रह सकते थे ? भारतीय सरकार ने कम्युनिज्म पर जहाद बोल दिया और भारत के कोने-कोने में 29 मार्क्सवादी कम्युनिस्ट होने के इलजाम में पकड़ लिए गए। इसी में 20 मार्च (1929) को जोश भी गिरफ्तार करके मेरठ पहुँचाए गए। फिर तीन वर्षों तक बीसियों लाख रुपयों पर पानी फेरकर चलनेवाला मेरठ कम्युनिस्ट षड्यंत्र-केस चलता रहा। जोश अभी तक बहुत कम कम्युनिज्म को जान पाए थे, मेरठ में सरकार की कृपा से अंग्रेजी में छपी भारत या भारत के वाहर की कम्युनिस्ट पुस्तकों की एक बड़ी लाइब्रेरी मिल गई और साथ ही मार्क्सवाद के धुरंधर विद्वान् भी। जोश ने इससे पूरा फायदा उठाया। मेरठ में जोश को सात साल की सजा हुई, लेकिन हाईकोर्ट ने जेल में रहे समय के अलावा एक साल और रहने दिया।

1933 के नवम्बर में जेल से छूटकर जोश पंजाब पहुँचे और दूने उत्साह के साथ काम में लग गए। नौजवानों और किसानों में उनके बढ़ते हुए काम को देखकर गोरे अखवारों ने जोश को दबाने के लिए जोर देना शुरू किया। सरकार ने उनकी कितनी ही संस्थाओं को गैर-कानूनी घोषित कर दिया। जोश ने भी उन्हें तोड़ दिया और किसानों के कर्जे को छुड़ाने के लिए कर्जा-कमेटियाँ कायम करनी शुरू कीं। 1934 में जब कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी कायम हुई, तो जोश उसमें शामिल हो गए। 1935-36 में उन्होंने पंजाबी में 'परभात' एक साहित्यिक पत्र निकाला, जो साल-भर चला और साहित्य में उसने एक ऊँचा आदर्श स्थापित किया। जोश स्वयं उर्दू और पंजाबी के लेखक हैं, और मेरठ में रहकर उन्होंने बंगला और मराठी का भी अध्ययन किया था। इससे उन्होंने पंजाबी पाठकों को फायदा पहुँचाया।

अब (1937) में असेम्बली का चुनाव आ गया। जोश की पार्टी ने हुक्म दिया, कि उन्हें सीधे कम्युनिस्ट के नाम से ही खड़ा होना चाहिए। जोश ने वैसा ही किया। उनके मुकाबले में खड़े हुए थे—राजासांसी के एक बड़े भारी जागीरदार और पूँजीपति। 'कम्युनिस्ट और नास्तिक' कहकर लोगों को खूब उभाड़ा गया। लेकिन,

जोश सत्रह वर्ष से जनता की सेवा करते आ रहे थे, अमृतसर के गाँव-गाँव के लोग उनके त्याग और तप को जानते थे। जोश ने साफ कहा कि मैं कम्युनिस्ट हूँ, मैं मजूर-किसान-राज कायम करना चाहता हूँ, और यह भी कि मेरे कौंसिल में जाने से तुरन्त आपकी तकलीफें दूर नहीं हो जायेंगी, हाँ हमारी पार्टी चाहती है, कि असेम्बली के मंच को भी अपनी लड़ाई का एक मोर्चा बनाया जाय और वहाँ किसानों के हितों को सामने रखकर दूसरे स्वार्थियों का भण्डाफोड़ किया जाय। धर्मध्वजी सर पटक कर रह गए, लेकिन बोल्शेविक जोश के सामने उनकी एक न चली, और यदि दो सौ वोट और कम मिले होते, तो जनाव की जमानत जब्त हो गई होती। उत्तरी अमृतसर से जोश असेम्वली के मेम्बर चुने गए।

जोश का जीवन वरावर ही एक सैनिक का जीवन रहा है। अमृतसर के किसानों का सत्याग्रह 1938 में हुआ, उसमें वहाँ वह मौजूद थे। 1939 में लाहौर में किसानों के आन्दोलन में वह अगुआ थे, और इसी साल वह पंजाव प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सेक्रेटरी चुने गए। एसेम्बली में पंजाब के धनियों और टोड़ियों की सरकार जोश के नाम से खार खाती है। जोश ने अपने व्याख्यानों में समय-समय पर खूब बतलाया है, कि किसानों ('जमींदारों') के वोट से चुने गए ये यूनियनिस्ट किस तरह से उनका गला रेत रहे हैं। 1940 के जून में जोश अपने वहुत-से साथियों के साथ पकड़कर पंजाब सरकार द्वारा नजरबन्द कर दिए गए। फतेहगढ़, देवली, गुजरात के जेलों में प्रायः दो साल तक काटकर पहिली मई (1942) को उन्हें रिहा किया गया। आज भी जोश के सैकड़ों साथी पंजाव की जेलों में बन्द हैं। जबर्दस्त फासिस्ट-विरोधी कर्मियों और नेताओं को पंजाव सरकार जेल में रखना चाहती है, वह अपने मालिकों की तरह फासिस्टों पर विजय प्राप्त करने को उतना महत्त्व नहीं देती, जितना कि अपने स्वार्थों के विरोधियों को कुचलने को।

लेकिन पंजाव वहुत तेजी से आगे बढ़ रहा है। जोश और उनके सत्तर-सत्तर वर्ष के बूढ़े क्रान्तिकारियों–जिन्होंने जवानी से अपनी सारी उम्र देश के लिए तकलीफ झेलने के लिए बिता दी और अब भी जो लोग जेलों में सड़ रहे हैं–की कुर्बानियाँ वेकार नहीं जा रही हैं। जोश आज प्रान्तीय कम्युनिस्ट पार्टी के कर्मठ सेक्रेटरी हैं और उनका जोश 23 वर्ष पहिले के जोश से जरा भी ठंडा नहीं पड़ा है।

34

फज्ल-इलाही कुर्बान

प्रमुख तिथियाँ–1902 अगस्त (जन्म), 1908-11 उर्दू की पढ़ाई, 1911-17 सेंट्रल मॉडल स्कूल में, 1918-19 इस्लामिया स्कूल में, 1919 मैट्रिक पास, 1919 टेलीफोन ऑपरेटर, 1920-26 हिज्रत, काबुल, सोवियत मध्य-एशिया; 1920 नवंवर 2 वाकू में, 1921 अगस्त 11 मास्को, 1921-25 मास्को में पढ़ाई, 1925 जर्मनी, फ्रांस, स्विट्जरलैंड; 1926 नवम्बर भारत, 1927 अप्रैल वम्बई में गिरफ्तार, 1927-29 जेल में, 1921 नवम्बर 14 जेल से वाहर, 1930 अगस्त 27–1934 मार्च 19 राजवंदी, 1934-36 लाहौर में नजरबंद, 1940 मार्च–अक्तूबर 4 अंतर्धान, 1940 अक्तूबर 24 – 1942 जेल में नजरवन्द, 1943 जनवरी 5 जेल में 20 दिन।

आदर्शवाद मनुष्य को बड़ी-बड़ी कुर्वानियाँ करने की प्रेरणा देता है, लेकिन एक मर्तबे बड़ी-से-वड़ी कुर्बानी करनेवाले पर भी जब लगातार मुसीवतों-पर-मुसीवतें पड़ती हैं, तो वह विचलित हो उठते हैं; उनका भावुक हृदय हार मान लेता है और बुद्धि अपनी भूल-भुलैया में डालने की कोशिश करती है। इसलिए सिर्फ भावुक हृदय काफी नहीं है, बुद्धि को भी वह आदर्श पसन्द आना चाहिए; फिर तो आदमी एक नहीं पचासों जिन्दगियों तक विपत्ति के पहाड़ों से टकराने के लिए तैयार हो सकता है। यहाँ हम ऐसा ही एक जीवन दे रहे हैं, जिसने कष्टों की भारी मार में भी ओठों की हँसी को कभी दूर नहीं हटने दिया।

लाहौर सबसे पहले पठानों के हाथ में गया, गोया महमूद गजनवी के समय से ही लाहौर ने छोटे कावुल का रूप धारण किया। लाहौर के कितने ही पठान मुहल्ले इसकी आज भी साक्षी दे रहे हैं। देहली दरवाजे के भीतर कक्केजइयाँ इसी तरह के पठान मुहल्लों में से है। यहाँ 2000 घर कक्केजई पठान बसते हैं, मगर ये कक्केजई मुगलों के जमाने में अफगानिस्तान से आये थे। आजकल इनमें से चन्द लकड़ी और चारे के व्यापारी हैं, बाकी अधिकतर रेलवे, प्रेस, लोहे आदि के कारखानों में मजदूरी करते हैं। मलिक करम इलाही के नाम के साथ मलिक शब्द यद्यपि उनके खानदान की प्रभुता की सूचना देता है, मगर वह कभी रहा होगा। करम इलाही ने छै दर्जे तक अंग्रेजी पढ़ी, फिर नून, तेल, लकड़ी की फिक्र पड़ी और 15 रु. पर कम्पोजीटर हो गये। समय बचाकर किसी दूकानदार का बहीखाता भी लिख देते, जिससे कुछ और रुपये मिल जाते थे। उन्होंने प्रेस का काम कुछ और सीखा और लाहौर के गवर्नमेंट प्रेस में मोनो-आप्रेटर वन गये। आज 64 साल की उम्र में प्रेस का काम छोड़कर वह अल्ला के नाम की तसबी पढ़ते हैं। हाँ, उनके द्वितीय साहबजादे मलिक नूर इलाही 'इहसान' दैनिक और प्रेस के मालिक वनकर पिता की विरासत को एक तरह से कायम किये हुए हैं। तीसरे पुत्र मलिक इहसान इलाही भी पत्रकार हैं। और सबसे छोटे चौथे पुत्र विजली के मिस्त्री रहकर अपने पिता के बर्ग से सम्बन्ध रखे हुए हैं। लेकिन मलिक करम इलाही का सबसे बड़ा पुत्र अल्ला के नाम पर देश त्याग गया और फिर आया तो अल्लाह को वाहर ही छोड़कर। यह सबसे बड़ा बेटा था फज्ल-इलाही कुर्वान, उसने मलिक (मालिक) अपने नाम के साथ नहीं लगाया।

कुर्वान का जन्म 1902 के अगस्त महीने में कक्केजइयाँ मुहल्ले में हुआ था। पिता के ज्येष्ठ पुत्र होने से उस पर उनका प्रेम अधिक जरूर था, मगर मलिक करम इलाही उन पिताओं में थे, जो समझते हैं कि बच्चे को बनाने में डण्डे से वढ़कर कोई अच्छा साधन नहीं है। कुर्वान को डण्डे से कितनी वार वास्ता पड़ा, इसे वह गिन भी नहीं सकता। कुर्वान की माँ उमरखैर, (मृत्यु 1924) दूसरी धातु की वनी थीं। पिता का स्वभाव जितना ही गरम था, माता का उतना ही शीतल और अपने पहिलौठे पुत्र पर तो उनका अपार स्नेह था। कुर्बान जब देश छोड़ गया, तो माता के दिल को इतना धक्का लगा कि वह अपने को सम्हाल न सकीं और उसी अफसोस में घुलते-घुलते (1924 में) मर गईं। आज भी कुर्बान को वन्धु-बान्धव ताना मारते हैं—"तूने ही माँ को मार डाला।"

बाल्य—कुर्बान की सबसे पुरानी स्मृति ढाई साल के उम्र की है। बाप के हाथ में टकसाल से आये नये-नये लाल-लाल पैसे थे, उसने उन्हें बाप से छीन लिया। तीन साल की उम्र में बुआ के घर गया था, उस समय बूढ़े-बुढ़ियों के चेहरों की रेखायें उसे विचित्र-सी मालूम हुई थीं। बचपन से ही कुर्बान का स्वास्थ्य बहुत अच्छा रहा। वह खूब खेलता और मार-पीट भी करता। फिर ऐसे लड़के को छोड़कर मुहल्ले की वालसेना का सेनापति दूसरा कौन बन सकता था ? गुल्ली-डण्डा और दूसरे खेलों में तो मन लगता ही, साथ ही ऐसे खेलों में और मन लगता जिसमें कुछ खतरा हो और बाल-सैनिकों के हाथ ही नहीं दाँत भी चलें। संतरों के बाग में अक्सर कुर्बान की पल्टन पहुँच जाती थी। एक बार मालिक ने कुर्वान को पकड़ लिया, मगर पल्टन कान झाड़कर निकल गई। खैर पिटने से बच गये। शिकार और शतरंज के किस्से कुर्बान को पसन्द आते थे, कोई बड़ी-बूढ़ी किस्सा कहती होती—"हाँ तो शादी हुई, शादी के साथ सौ गुलाम मिले।" कुर्वान को समझ में नहीं आता था कि गुलाम कैसे मिलते थे। आज तो दहेज में चीजें मिलती हैं, रुपया-पैसा मिलता है, घोड़े भी मिल जाते हैं, मगर आदमी तो नहीं मिलते। खैर, यहाँ तो इतनी ही दिमागी परेशानी होकर जान बच जाती थी; लेकिन, किस्सों में जिन्नों-भूतों की कहानियाँ काफी हुआ करती थीं। सुनने में तो बड़ी रोचक होती थीं, लेकिन फिर रात में एक हाथ भी अकेले जाना कुर्वान के लिए असम्भव था। बचपन ही नहीं जब कुर्वान मैट्रिक के दसवें दर्जे में पढ़ रहा था, तव भी क्या मजाल है कि रात को अकेले कोठे पर चला जाये। जिन्नों-भूतों की कहानियों को सुनकर कुर्बान को उनकी कुछ शकलें मन पर खिंची मालूम होती थीं। इसी तरह भक्तिपरायणा माता और दूसरी बड़ी-बूढ़ियों के मुँह से बार-वार अल्ला की वातें सुनकर कुर्वान ख्याल करता था कि अल्ला कोई लम्बा-चौड़ा आदमी है, उसकी लम्बी सफेद दाढ़ी होगी, उसके शरीर पर हरे रेशमी कपड़े होंगे, वह जिन्नों की तरह लड़कों

को खा जानेवाला नहीं वल्कि उनसे प्यार करनेवाला वुजुर्ग होगा।

पढ़ाई—मुहल्ले में छोटे वच्चे-वच्चियों के लिए एक मदरसा था, जिसकी पढ़ानेवाली वीवी वच्चों को बड़ा प्यार करतीं। घर में ऊधम मचाने की जगह कुर्वान को बीवी के विद्यार्थियों में रखना ज्यादा अच्छा था—वहाँ बच्चे सभी छै वर्प से कम ही उम्र के होते थे। तीन बरस का कुर्वान भी बच्चों में जाकर बैठने लगा। कुछ दिनों तक खेल-कूद, वच्चों में वैठना भर रहा, पीछे 'कायदा बगदादी' भी हाथ में दे दी गई। कुर्वान का मन इतना लग गया था कि उसे कभी भागने की जरूरत नहीं पड़ी।

छै वरस का (1908 में) होने पर कुर्वान को बाकायदा बाजार-हकीमाँ के तहसीली स्कूल में दाखिल कर दिया गया, जहाँ उसने तीन साल में तीन दर्जे खत्म किये। वैसे तो कुर्वान एक नम्वर का खिलाड़ी था, मगर स्कूल जाने में वह सवसे पहले रहता था। वीमार होने पर भी उसका स्कूल जाना नहीं छूटता था। पढ़ने में अच्छा था, मार नहीं पड़ती थी। उसका हस्ताक्षर वहुत सुन्दर था। लड़कों के लिए लिखी गई वावर, हुमायूँ, अकवर आदि की छोटी-छोटी कहानियाँ उसे वहुत पसन्द आती थीं। पिता अपने तो वहुत नहीं पढ़ पाये थे, लेकिन अपने वित्त के अनुसार लड़के को अच्छी शिक्षा दिलाना चाहते थे। सेन्ट्रल मॉडल स्कूल यद्यपि घर से काफी दूर पड़ता था, लेकिन अपनी पढ़ाई के लिए उसकी लाहौर में कुछ ख्याति थी। उसके साथ ट्रेनिंग कॉलेज भी था और पढ़ाई में शिक्षा-साइंस का ख्याल रखा जाता था। नौ वर्ष की उम्र (1911) में कुर्वान को मॉडल स्कूल की चौथी जमात में दाखिल कर दिया गया। अंग्रेजी उसे कुछ रूखी-सी मालूम होती थी, किन्तु, हिसाब से जी नहीं चुराता था और भूगोल, इतिहास उसके प्रिय विषय थे। खेलों में क्रिकेट में उसे खास दिलचस्पी थी। यहाँ निवंध लिखने में उसकी रुचि बढ़ी और पाँचवीं-छठी क्लासों में पढ़ते वक्त तुकबंदी करने का भी कुछ शौक हुआ। सातवें-आठवें दर्जे में पढ़ते वक्त (1914-15 में) कुर्वान का शौक पढ़ने से ज्यादा खेलने की ओर था। हाँ, इमाम-गजाली की फारसी रचनायें और 'तजकीरतुल-औलिया' उसे अच्छी लगती थीं। इस समय उसे दाता गंजवख्श तथा दूसरे सूफी फकीरों के बारे में जानने का मौका मिला, फिर उसका ख्याल तसव्वुफ की ओर झुका, सूफियों के जप और ध्यान की ओर आकर्पण बढ़ा। वह समझने लगा कि अल्ला का नाम लेने से दिल पर खास तरह का असर होता है, जैसे मोमवत्ती की चर्बी पिघलती है और उससे नूर (प्रकाश) पैदा होता है, उसी तरह आदमी जप और सूफी योग से पाप कटाकर खुदा तक पहुँच जाता है। मामू की फकीरों में बड़ी श्रद्धा थी। उनकी देखादेखी कुर्वान भी मामू के पीर सय्यद सैद अहमद शाह के पास जाने लगा। शाहजी हर परीक्षा के समय कुर्वान को ताबीज देते। कुंर्बान उनसे खुदा से मिलानेवाले वजीफे (जप) पूछता। वह दरवेशों की खानकाहों (मठों) खासकर दाता साहव और शाह मियाँमीर की खानकाहों पर अक्सर जाता। रात को खूब वजीफे पढ़ता, प्राणायाम के साथ 'अल्लाहू' का जप भी करता, पीरों की कव्वालियों में शामिल होता। उसे सूफी-मार्ग बहुत पसन्द आया था और पढ़ने का भी वहुत-सा समय वह सूफी अभ्यास में गुजारता था। जब वह बारह साल का था तव उसे एक बार गुजरात जाने का मौका मिला। वहाँ उसने दौलाशाह की खानकाह देखी और दौलाशाह के 'चूहों' को देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। बड़ा हो जाने पर भी इन 'चूहों' के सिर बच्चों-जैसे छोटे क्यों रह जाते हैं ? किसी भगत ने समझाया—वाँझ औरत दौलाशाह से बच्चा माँगती है। दौलाशाह बच्चा देते हैं, मगर पहले लड़के को दरगाह में चढ़ा देना पड़ता है। चढ़ावे के बच्चों के सिर सदा छोटे ही होते हैं। उस समय कुर्वान को यह नहीं मालूम था कि दूध पीनेवाले बच्चों के सिर पर लोहे की टोपी लगा के सिर छोटा किया जाता है। जिंदगी-भर के लिए बेवकूफ बना दिये गये इन 'चूहों' को उसने अक्सर भीख माँगते देखा था। तीन साल (1916) तक कुर्वान तसव्वुफ के जबर्दस्त चक्कर में पड़ा रहा। वह खूब अभ्यास और बन्दगी करता रहा कि स्वप्न में हजरत मुहम्मद दर्शन दें, लेकिन उसे निराश होना पड़ा। अगले साल (1917) से अब वह जिन्नों-भूतों की किताबें पढ़ने लगा। लोगों से जिन्न सिद्ध करने के मन्त्र सीखे। कभी-कभी मन करता कि सिद्ध करने के लिए बैठ जाये, मगर उसने सुन रखा था कि गुरु के बिना वैसा करने पर पागल होने का डर है। कब्र में बैठकर रात को अकेले मन्त्र पढ़ना पड़ता और वह अँधेरे में खुद डरता था। फिर इतनी हिम्मत कहाँ से आती ?

कुर्बान के मामा लालमूसा आदि कई जगहों में बदलते रहे। कुर्बान भी कितनी ही बार उनके पास जाता था, मगर यह सात वर्ष से पहले की बात थी। दस वर्ष की उम्र में उसे पिता के साथ करांची जाने का मौका मिला। चौदह-पन्द्रह की उम्र में उसने सरहिन्द, देहली और शिमला भी देखे, जिससे उसकी दृष्टि व्यापक हो गई। दस-ग्यारह साल की उम्र तक कुर्बान को हिन्दू-मुसलमान का भेद नहीं मालूम था। मॉडल स्कूल के उसके सहपाठी बच्चे जब बाप-चाचा-ताया के नाम पूछते, तो कुर्बान के चाचा-ताया अधिकतर सिक्ख और हिन्दू होते। लड़के आश्चर्य के साथ सवाल करते—करम इलाही के भाई सिंह और राम कैसे हो सकते हैं ? इस समय कुर्बान को पता लगा कि हिन्दू और मुसलमान अलग-अलग जातियाँ हैं। कुर्बान को अपना कोई चचा नहीं था। लेकिन बाप के जिन हिन्दू-सिक्ख दोस्तों की गोद में वह खेला करता, साथ खाता, उन्हें वह चचा कहता। फिर पूछे जाने पर उसे क्यों न दुहराता ? हिन्दू-मुस्लिम भेद का सबसे कड़वा सबक एक सहपाठी हिंदू लड़के के घर पर मिला। एक दिन वह अपने दोस्त की कोठी पर चला गया था। प्यास लगी थी। पानी आया। नौकर ने कुर्बान को चुल्लू में पानी पिलाया और अपने मालिक के लड़के के हाथ में गिलास दे दी। कुर्बान ने इसे सख्त अपमान समझा और फिर कभी उस कोठी में नहीं गया। आग में घी डालनेवाले उसके अपने स्कूल के एक हिंदू शिक्षक हुए। चौदह साल की उम्र (1916) की बात है। कुर्बान पढ़ने में कहीं भूल गया, अध्यापक उसे पीटते जा रहे थे और साथ में कह रहे थे, "ओ मुस्ल्या ! आ, मैं तेरा कोडमा खामाँ।" (ओ मुसल्ले ! आ मैं तुझे कबाब बनाकर खा जाऊँ।)

महायुद्ध छिड़ा हुआ था। पहले साल (1915 में) कुर्बान को इतना ही मालूम हुआ कि लाहौर के कालेजों के 11-12 लड़के भाग गये। लाहौर में खूब सनसनी थी, लोग कह रहे थे—"वे तुर्कों के पास चले गये। तुर्की में मुसलमानों का राज्य है।" तेरह साल के कुर्बान को उनका यह काम बहुत पसंद आया। अपने कितने ही बंधु-बांधवों की तरह वह जर्मनी और तुर्की की जीत मनाता था। तुर्की और इस्लाम उसके लिए नये खुदा थे। वह 'जमींदार' अखबार पढ़ता था। नवें दर्जे में पढ़ते वक्त उसे मालूम होने लगा कि निरंजनदास-जैसे हिंदू अध्यापक उसे मैट्रिक में फेल करा देंगे; इसलिए उसने पिता के रोकने पर भी मॉडल स्कूल छोड़ देने का निश्चय कर लिया और 1918 की अप्रैल में इस्लामिया स्कूल (शेराँवाला दरवाजा) में दाखिल हो गया। यहाँ सारे ही लड़के मुसलमान थे। वृहत्तर इस्लामाबाद की बड़ी चर्चा थी। कुर्बान सोचता, मुझे भी 1915 में भगे विद्यार्थियों की तरह इस्लाम की सेवा करनी चाहिए। लड़ाई के आखिरी सालों में घर की हालत बहुत खराब हो गई थी। इसलिए कुर्बान को खर्च-बर्च की बड़ी कठिनाई होने लगी। कुर्बान ने साल के अधिक भाग में पढ़ने की ओर ध्यान नहीं दिया, लेकिन आखिरी चन्द महीनों में इतनी तैयारी कर ली कि अध्यापक कहते—"यदि पहले से मालूम होता तो हम तुम पर खूब मेहनत करते।" कुर्बान ने 1919 में मैट्रिक को दूसरे डिवीजन में पास किया। अलजेब्रा और ज्यामिति अच्छे थे। मगर अंकगणित कमजोर था।

प्रथम राजनीतिक चेतना—सरकारी अखबार ने रूसी बोलशेविकों के बारे में लिखा था कि वे चोर और डाकू हैं। कुर्बान कहता—चोर-डाकू ही सही, चीजों को गरीबों में बाँट तो देते हैं। कुर्बान का ज्ञान बोल्शेविकों के बारे में इससे ज्यादा नहीं था। हाँ, स्कूल के आखिरी दिनों में रौलट कानून के खिलाफ आन्दोलन शुरू हो गया था, उसके लिए सभायें होती थीं। कुर्बान उनमें जाता। छै अप्रैल (1919) के रविवार को रौलट कानून के विरुद्ध सारे भारत में जबर्दस्त प्रदर्शन हुआ था। उस दिन लाहौर की सड़कों पर लाखों नंगे सिर चल रहे थे। कुर्बान लोहारी दरवाजे से ही जलूस में शामिल हो गया। जलूस अनारकली में घूमता मार्केट के पास गया। सामने मशीनगन लगाई हुई थी। जलूस पर घोड़े छोड़े गये। उस समय के गरम राष्ट्रीय नेता डॉ. नारंग ने जलूस को उलटा-सीधा समझाया और वह तितर-बितर हो गया। लोग गोलबाग की ओर से ब्रेडला हॉल की ओर पहुँचे। कुर्बान ने उस नजारे को देखा, जबकि लाहौर के प्याओं में हिन्दू-मुसलमान एक गिलास में पानी पी रहे थे। मार्शल लॉ से दो दिन पहले शाही मस्जिद की उस विराट् सभा को भी कुर्बान ने देखा, जिसमें लाखों हिन्दू-मुसलमान देशभक्ति के व्याख्यान सुन रहे थे और ऊपर आसमान में हवाई जहाज मँडरा रहे थे। तरह-तरह के नारे लगाये जा रहे थे और 'भारतमाता की जै' के साथ 'इस्लाम जिन्दाबाद' भी हो रहा था। कुर्बान के

जोश का पारा वहुत ऊँचा चढ़ा हुआ था। सभा से वाहर निकलकर हिन्दुस्तानी सैनिकों को देखते ही उसने कहना शुरू किया—"तुम हिन्दुस्तानी हो, तुम्हें शरम नहीं आती ! तुम हमारे ऊपर बन्दूक तानते हो ! तुम मुसलमान नहीं हो, पेट के लिए इतना नीच कर्म ?" किसी सिपाही ने जवाब दिया—"कौन है, जिसके पीछे हम चलें ? कौन हमें विदेशियों से लड़ाने के लिए तैयार है ?" कुर्वान ने महसूस किया कि इस 'कौन' का उसके पास जवाब नहीं है। शाही मस्जिद से थोड़ा आगे चलकर जब लोग नोगजे की कब्र के पास पहुँचे, तो गोली चली—यह जलियाँवाला काण्ड से कुछ पहले की वात है। यहीं तरुण मुंशी ने नौ गोलियाँ खाईं; लेकिन उसने पीठ नहीं दिखाई। मुंशी एक अनाथालय में पला तरुण था। चन्द ही दिन पहले उसने शास्त्री की परीक्षा दी थी। उसके शहीद होने के वाद परीक्षा-फल निकला, वह पास था। लोग लाहौर के एक चापलूस नवाव को गालियाँ दे रहे थे। "उस··· गंजे ने लोगों को मरवा दिया।"

इधर घर में वेचैनी थी। पिता इधर-उधर ढूँढ़ रहे थे। पिता ने डब्वी वाजार में देखा और उसे पकड़कर घर में वन्द कर दिया। कहीं भी आने-जाने का रास्ता नहीं रखा गया था। घर में वन्द मजवूर कुर्वान उस समय के एक प्रसिद्ध गीत को गाया करता—"या इलाही खानये अंग्रेज गिरजा गिरजा।"

कुछ मास वाद परीक्षा-फल निकला। कुर्वान को पास होने की खुशी हुई। अव उसकी इच्छा हुई कॉलेज में दाखिल होने के लिए। पिता से कहा। पिता ने उत्तर दिया—"देख लो वेटा, घर की हालत।" 17 साल का कुर्वान घर की हालत को अच्छी तरह समझता था और साथ ही उसके मन में राजनीति, कॉलेज की पढ़ाई और मुसलमान-देशों में जाने की वड़ी इच्छा थी। घर से पैसा लेकर पढ़ने के लिए वह नहीं कह सकता था। वैसे भी पिता की तनख्वाह से घर की रोटी चलाना मुश्किल पड़ रहा था।

नौकरी और पढ़ाई—कुर्वान ने रोजी कमाते हुए पढ़ाई जारी रखने का निश्चय किया। अगस्त में रेलवे में टेलीफोन-ऑपरेटर का काम मिला। लेकिन उससे पढ़ाई में अड़चन होती, इसलिए महीने-भर के वाद ही उसने इसे छोड़ दिया। लड़ाई खतम हो चुकी थी। कितने ही दफ्तर और महकमे तोड़े जा रहे थे। सैनिक हिसाव-किताव-विभाग के तोड़ने के दफ्तर में कोई जगह थी। कुर्वान को रिश्वत देनी पड़ी और साठ रुपये की नौकरी मिल गई। घरवाले खुश थे। कुर्वान शाम के समय वाई. एम. सी. ए. में शार्टहैंड और टाइप-राइटिंग का काम सीखने जाता। लेकिन मार्शल-लॉ के दिनों के राजनीतिक प्रभाव को वह मन से हटाने में न समर्थ था और न जलियाँवाला कांड ही उसे भूल सकता था। उसके दफ्तर में अँग्रेज अफसरों के पास पिस्तौल होते थे। कुर्वान इस ताक में था कि किस तरह पिस्तौल उड़ाई जाय। एक दिन एक अफसर अपने कमरे से वाहर निकला तो उसकी कमर में पिस्तौल नहीं थी। कुर्वान ने समझा, भीतर छोड़ आया होगा। वह भीतर घुसकर इधर-उधर ढूँढ़ने लगा। पिस्तौल तो नहीं मिली, लेकिन इसी बीच में अफसर ने आकर कुर्बान को पकड़ लिया। उस पर चोरी का इलजाम लगाकर पुलिस में भेज दिया गया। घरवालों और खानदान के लिए बड़ी शरम की बात थी। कुर्बान असली मतलब को बतला भी नहीं सकता था। उसने कहा, "मैं पेन्सिल ढूँढ़ने आया था।" अदालत को गवाही संतोषजनक नहीं पड़ी, उसने कुर्बान को छोड़ दिया। दो महीने की नौकरी यहीं खतम हो गई।

हिजरत (देश-त्याग)—अव 1920 सन् था। कुर्वान अव भी शार्टहैंड और टाइप राइटिंग सीख रहा था और नौकरी की तलाश भी करता रहता था। इसी समय खिलाफत के नेताओं ने सच्चे मुसलमानों को हिजरत (देश-त्याग) करके इस्लामिक देशों में चले जाने का फतवा दिया। कुर्वान खिलाफत की सभाओं में जाता और वहाँ के जोशीले व्याख्यानों को सुनता। मजहवी होने से पिता भी इन सभाओं में जाया करते, इसलिए कुर्वान के जाने में कोई सन्देह नहीं करते थे। कुर्वान के दिमाग में फिर पाँच साल पहले लाहौर से भागे विद्यार्थियों का ख्याल आने लगा। कुर्बान ने अपने स्कूल के सहपाठियों से बातचीत की और अन्त में हिजरत करने का निश्चय कर लिया। हिजरत करनेवालों के जत्थे में शामिल होने के लिए कुर्बान घर से निकला। देखा, छोटा भाई नूर इलाही भी पीछे-पीछे आ रहा है। घुड़ककर उसे चाँटे लगाये। नूर ने जाकर पिता को खबर दी। कुर्बान लाहौर-स्टेशन पर जा हिजरतवालों की जमात में शामिल हो गया। किसी रिश्तेदार ने देख लिया। न मानने पर पुलिस के द्वारा पकड़वाकर वहाँ से निकाला और घर लिवा लाये। पिता भी देर से खोज में निकले थे और निराश होकर

घर लौटे थे। पुत्र को देखते ही वह आपे से बाहर हो गये और फिर डण्डे से पीटना शुरू किया। आज भी कुर्बान के दाहिने पैर में उस समय की पिटाई का एक निशान मौजूद है। सारा शरीर लोहू-लुहान हो गया। जो बचाने आया, वह भी पिटा। अब घर कुर्बान के लिए पक्का कैदखाना था। जेलर की घर से निकलने की इजाजत न थी। लेकिन, कुर्बान ने कहा–"हम नमाज पढ़ने तो जरूर जायेंगे।" पिता अल्लामियाँ के खिलाफ जहाद बोल नहीं सकते थे, उन्होंने उत्तर दिया–"मैं साथ होऊँगा, तो जा सकोगे।"

एक दिन मस्जिद में नमाज पढ़नेवालों में से किसी ने कुर्बान से हिजरत के बारे में पूछ दिया। कुर्बान ने कहा–"मैं सैद्धान्तिक तौर से तो इसे जरूर मानता हूँ।" पिता ने वहीं कई थप्पड़ लगाये, फिर घर में लाकर बन्द कर दिया। पिता गरीब थे। सिर्फ घर पर बैठकर रखवाली तो नहीं कर सकते थे। उन्हें किसी काम के लिए कलकत्ता जाना था। आत्मसम्मान और क्रोध की साक्षात् मूर्ति मलिक करम इलाही का दिल काँपने लगा, जब उन्होंने सोचा कि कुर्बान मेरी अनुपस्थिति में कहीं भाग जायेगा। उन्हें छोटा बनना पड़ा और गिड़गिड़ाते हुए पुत्र के पैरों में अपनी पगड़ी रख करके कहा–"बेटा ! तुम भागना नहीं।"

कुर्बान इन्तिजार कर रहा था कलकत्ता से पिता के पत्र आने का। पत्र आया। जेवर छिपा दिये गये थे। लेकिन कुर्बान ने कीलों से ट्रंकों को खोलकर 200 रुपये और कुछ कपड़े निकाले। सौभाग्य से वह रमजान का महीना था। माँ रोजा रख रही थीं और कोठे के ऊपर ही सोती थीं। किसी बहाने से नीचे उतरने का कुर्बान को अच्छा मौका मिला। कुर्बान ने अपने एक दोस्त को इस्लाम की कसम दिलवाकर उसके पास यतीमखाने (अनाथालय) में सामान भिजवा दिया। फिर माँ से कहा–"अम्मा ! यहाँ बाजार में घी अच्छा नहीं मिलता। ईद के लिए अच्छा घी चाहिए। मेरे दोस्त के गाँव में खूब अच्छा घी मिल रहा है।" पंजाबन माँ घी के नाम पर बात में आ गई और पुत्र को कनस्तर देकर कहा–"जा बेटा ! घी ले आ। अच्छा घी लाना, दाम चाहे दो पैसा ज्यादा ही लगे।"

कुर्बान समझ रहा था, मैं अब सदा के लिए अपने देश को छोड़ रहा हूँ, फिर माँ और भाइयों को देखने का सौभाग्य नहीं मिलेगा। छोटा भाई सो रहा था। एक बार कुर्बान का दिल जोर मारने लगा कि उसे चूम ले, मगर भेद खुल जाने के डर से उसने वैसा नहीं किया। अप्रैल (1920) का आरम्भ था, जबकि कुर्बान ने घर छोड़ा। स्टेशन पर उसका एक मुहल्लेवाला साथी मिला। उससे भी कहा कि घी लेने जाता हूँ। एक दूसरे दोस्त मिल गये। हिजरत करने की बात करने पर कुर्बान ने कहा–"कमबख्त ! चलना है तो चल।" हिजरत करनेवालों में मुहल्ले के भी दो नौजवान थे। कुर्बान का दिल तब तक धक्-धक् करता रहा, जब तक कि पेशावर की गाड़ी हिली नहीं। उसने अल्लामियाँ से दुआ माँगी। कुछ ही समय बाद एक परिचित टिकट-चेकर आ धमके, उन्होंने पूछा–"कहाँ जा रहे हो ?" कुर्बान ने कहा–"शादी पर जा रहा हूँ।" "हिजरतवाली शादी तो नहीं ?" कुर्बान सकपकाये, लेकिन दोस्त ने कहा–"मैं तेरे घर नहीं कहूँगा। चल रावलपिण्डी तक मैं भी चल रहा हूँ।" उसने दूसरों से टिकट के पैसे लिये, मगर कुर्बान को छोड़ दिया। कुर्बान ने सोचा था, रावलपिण्डी में उससे पेशावर का टिकट मँगवा लूँगा। मगर वहाँ वह भीड़ में ऐसा गुम हुआ कि मिला ही नहीं। लाचार कुर्बान को बेटिकट ही पेशावर में उतरना पड़ा। उसने टिकट लेनेवाले के हाथ में चुपके से अठन्नी रखी और कटघरे से बाहर हो गया।

स्टेशन पर खिलाफत के वालंटियर मुहाजिरों (हिजरत करनेवालों) की सेवा के लिए मौजूद थे, उन्होंने टाँगे पर बैठाकर कुर्बान को अपने दफ्तर पहुँचाया। कुर्बान का दिल अब भी पीपल के पत्ते की तरह हिल रहा था। उसने वालंटियरों से कहा–"मुझे अभी सरहद पार करा दो, कहीं घर से कोई चला न आये।" उन्होंने कहा–"पहला काफिला जा चुका है। अलग जाने में खतरा है। पाँच-सात दिन ठहरिये। फिर दूसरे काफिले के साथ भेज देंगे।" कुर्बान ने झल्लाकर कहा–"तो तुम मुझे लाहौर ही भिजवाओगे।" बेबस था, बेचारा कुर्बान क्या करता ? रात को मारे चिन्ता के देर तक नींद नहीं आयी। सबेरे चारपाई से अभी उठ भी नहीं पाया था कि मामाजी सामने मौजूद। उन्होंने डाँटते हुए कहा–"चलो माँ को देखो, वह रोती-पीटती मरी जा रही है।" मामाजी सूफी थे। कुर्बान ने दूसरा हथियार इस्तेमाल किया–"मामूजी ! माँ बहुत बुजुर्गहस्ती है; मगर यह धार्मिक

काम है।" इसका जवाव तो था नहीं, वह यही दोहरा रहे थे–"माँ-बाप की इज्जत करना फर्ज है।" हाँ, सूफियानी बात से वह कुछ नरम जरूर पड़े। वहाँ मुहाजिरों की काफी भीड़ थी। धर्म-चर्चा चल रही थी। देर तक बैठना था। कुर्बान ने अपने पूर्व-परिचित वालंटियर से कहा–"आखिर मारे गये न हम ? वचा सकते हो तो वचाओ।" वालंटियर ने कहा, "कोई चिन्ता मत करो।" मकान में दो रास्ते थे। मामूजी ने सिर्फ एक रास्ते पर नजर रखी थी। वालंटियर ने कुर्वान की टोपी वदल दी, सामान वहीं छुड़वाकर दूसरे रास्ते से एक अँधेरे तहखाने में पहुँचा दिया। मामूजी ने जाकर पुलिस में सूचना दी। पुलिस ने दर्रा-खैवर के अफसरों को कुर्वान को रोकने के लिए आदेश दिया। वह वालंटियरों को भी दिक कर रही थी। लेकिन जिस वालंटियर को मालूम था, उसने पता नहीं दिया। कुर्वान का अँधेरे में भूतों से डरना इस अँधेरे तहखाने ने छुड़वा दिया। तीन रात तक उसे एक तहखाने से दूसरे तहखाने में वदलते रहे। पिता की मार का घाव अव भी पैरों में था, इसलिए दवा लगवाने के लिए बाहर आने की मजवूरी थी। एक रात कुर्बान ने स्वप्न में देखा कि पिता आ गये, पुलिस ने आकर पकड़ लिया। ख्वाव टूट जाने पर भी कुर्वान बहुत परेशान था। उस तहखाने में रात-दिन दोनों वरावर थे, इसलिए कव सवेरा है और कव दिन, यह पता नहीं लग सकता था। वालंटियर तीन मिनट तक आवाज देता रहा, मगर भयत्रस्त कुर्वान ने कोई जवाव नहीं दिया। उसने समझा कि सचमुच ही कोई पुलिस लिवा लाया है। इसके लिए वालंटियर को शरमिन्दा भी करना चाहा। वालंटियर ने ढाढ़स वँधाया।

पुलिस जिस तरह पीछे पड़ी हुई थी, उससे खैवर के रास्ते कुर्बान को खुलेआम नहीं भेजा जा सकता था। आखिर में मौलाना अब्दुर्रहीम पोपलजई ने स्वतंत्र कवीलों के इलाके से अफगानिस्तान भेजने का इन्तजाम किया। कुर्वान के साथ तीन और पेशावरी लड़के थे।

स्वतंत्र कवीलों में–चारों नौजवानों को एक राहबलद (पथ-प्रदर्शक) मिला। वह लोग टाँगे से दस-बारह मील चलकर अंग्रेजी सीमान्त पर किला-शवकदर पहुँचे। एक मस्जिद में छिपे रहे। सरहद पर गश्त लगानेवाली फौजी टुकड़ी जैसे ही निकल गई, वैसे ही राहबलद ने चारों जवानों को सीमा के पार कराया। फिर "जेर-त-राशा (जल्दी चला आ) कह रास्ते के खतरे को बतलाता जाता था। कुर्वान के साथियों की मातृभाषा ही पश्तो थी, कुर्बान ने बस इतना ही सीखा था "जोड़े", "तड़ा मूशे", "खार मूशे" (अच्छे तो हैं न ?) अँधेरा होते ही उन्होंने सरहद पार की। जल्दी-जल्दी पैर वढ़ाते वह चले जा रहे थे। रात के बारह बजे गदहे-खच्चरवाले सौदागरों के एक काफिले से भेंट हुई। दस-पंद्रह मिनट और चलने के वाद एक पहाड़ी चश्मे पर पहुँचे। वहाँ कुछ देर ठहरे। रोजों के दिन थे, फिर इतना तेज चलना–थक गये। दो घण्टे बाद चाँदनी निकली। राहबलद ने फिर चलने को कहा। यह अफरीदियों का इलाका था। यद्यपि फटे सलवार और कुर्ते के साथ दाढ़ी ढँकी पगड़ी में कुर्बान अफरीदी बना लिया गया था, मगर कोई पूछ बैठता, तो क्या करता ? हर समय किसी डाकू के आ धमकने का डर था, इसलिए राहबलद बरावर जल्दी-जल्दी कर रहा था। पथरीली पहाड़ियाँ थीं, जिनसे कभी-कभी पत्थर भी गिरते थे। सड़क नहीं, पगडण्डी का रास्ता था। कुर्वान और उसके साथी थके हुए थे। ऊपर से नींद बराबर पलकों को नौ-नौ मन का बना रही थी। काफिले के संग से बढ़कर ऐसे स्थानों में सुरक्षित यात्रा नहीं हो सकती, इसीलिए राहवलद ने इन लोगों को सोने की इजाजत नहीं दी। कुर्वान नींद के नशे में गर्क कभी अपने को काफिले के अगले छोर पर पाता और कभी पिछले छोर पर। उसके अर्धसुप्त मस्तिष्क में बीच-बीच में गदहों और खच्चरों की घण्टियाँ टन-टन कर रही थीं। इसी तरह सबेरे तक चलते रहे। अब यहाँ दो रास्ते होते दिखाई पड़े। काफिले ने दाहिने का रास्ता पकड़ा और देश-त्यागियों ने बायें का।

राहबलद ने कहा–हम बहुत खतरे की जगह में हैं। जरा-सी गफलत में हमारी जान की खैर नहीं। कुर्बान से कहा–"तुम चुप रहना और बराबर तसबीह पढ़ते रहना। कोई पूछेगा, तो मैं कह दूँगा, ये हाजी हैं। खबरदार ! 'तड़ामूशे खारमूशे' छोड़ और कुछ न बोलना।" उसने यह भी कहा–"इधर अंग्रेजों का ज्यादा प्रभाव है, इसलिए अमानुल्ला की बात ज्यादा नहीं करना।" बाकी तीनों पठान तरुणों को राहबलद ने शाह अमानुल्ला के छोटे-बड़े राजदूत बना दिए। आगे एक गाँव मिला, जिसके चारों ओर किलाबन्द कच्ची दीवारें थीं। गाँव के बाहर एक मस्जिद थी। राहबलद ने मुल्ला से कहा, हम मुसाफिर हैं। हरएक पठान के लिए घर आये मुसाफिर को शरण

देना और उसके सामने रूखा-सूखा हाजिर करना जरूरी कर्तव्य है। मुल्ला ने लड़कों को गाँव में भेजा। वह घरों से रोटियों के टुकड़े—साबित रोटी नहीं—नमक की डली और दो-एक ताजे प्याज माँग लाये, साथ ही एक आफतावा (लोटा) छाछ का भी। पाँचों जनों ने खाया मगर पेट कहाँ भरनेवाला था ? राहबलद ने कहा कि बस्ती बहुत गरीब है।

दूसरे दिन दिनभर चलते रहे, कहीं-कहीं दायें-बायें कुछ हटकर बस्तियाँ भी दिखाई पड़तीं। जमीन चटियल पहाड़ी थी। घास-वास का पता नहीं था। यह था असल अफ्रीदी इलाका। सबसे कठिनाई पानी की थी, जहाँ मिलता दो-चार बूँद पी लेते—रोजा था, मगर मजबूर। पास की रोटियों में से दो गाल मार लेते और फिर चल देते। भूख बहुत सता रही थी, हरएक के पास 15-20 सेर का बोझ भी था, लेकिन थे ज्यादातर कपड़े-लत्ते ! कुर्बान पछता रहा था कि कपड़े की जगह कुछ रोटियाँ क्यों नहीं बाँध लीं। दिन एक घण्टा रह गया था, जब फिर सुबह जैसा एक और गाँव मिला। मुहाजिर (देशत्यागी) बाहर मस्जिद में ठहरे और कलान्तर (कमांडर) के पास सन्देश भेज दिया। थोड़ी देर में कलान्तर आ पहुँचा। वह बड़े तपाक से मिला और बोला—"पैर धोओ, रात को यहीं रहना है।" नमाज खतम होते ही दस-बारह सेर दूध का घड़ा, घी, मीठा और रोटियाँ आ गईं। दस्तरखान बिछा दिया गया। कलान्तर (मुखिया) खुद रोटियों को तोड़-तोड़कर दूध में डाल रहा था। राहबलद ने कलान्तर को बतलाया—"ये लाहौरी नौजवान मुहाजिर हैं, अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध इन्होंने हिजरत की है।" सब मीठे और दूध में भीगी रोटियों का गफ्फा मार रहे थे और साथ ही बात भी जारी थी। कलान्तर ने बतलाया कि अमुक-अमुक गाँवों में बहुत सावधान रहना। उसने अंग्रेजों की अफ्रीदियों के ऊपर की दो-तीन चढ़ाइयों की बातें बताईं। बम की चोट ने उसे भी लँगड़ा बना दिया था। अमानुल्ला और अंग्रेजों की लड़ाई में उसने अपने यहाँ से वालंटियर भी भेजे थे। वह कह रहा था—"क्यों नहीं तुर्क, अमानुल्ला और हम (अफ्रीदी) अंग्रेजों पर हमला कर दें ?"

राहबलद बोल उठा—"इन्शा-अल्ला होगा।" रात को पाँचों जने मस्जिद के हुजरे में सोए। कलान्तर ने उनके लिए सशस्त्र पहरे का इन्तिजाम कर दिया। रोजा तो ऐसा ही वैसा चल रहा था, मगर कलान्तर ने सलाह दी थी—"रास्ता बहुत सख्त है, कल रोजा मत रखना।"

सुबह उठे। कलान्तर के दिये दो बन्दूकवाले रक्षकों (बत्रकों) के साथ चल पड़े। कलान्तर अपने खेतों तक पैदल पहुँचाने आया। बगलगीर हो चूमकर दुआ दे विदाई लेते वक्त उसने कहा—"खुदा वह दिन जल्द लाये, जिस दिन हम सब मिलकर अंग्रेजों के खिलाफ जहाद करेंगे।"

चलते-चलते एक गाँव में पहुँचे। पठानियाँ पानी भर रही थीं। कुर्बान के साथी ने पानी माँग दिया। पठानियों की जबान चलने लगी—"रोजे के दिन पानी माँगते हो ? तुम बेदीन हो। तुम्हारी रक्षा का कोई जिम्मेवार नहीं होगा।" बड़ी मुसीबत में फँसे। पिछले कलान्तर के दिये दोनों बत्रके यहाँ से लौटनेवाले थे और उनकी जगह नये बत्रके लेने थे। खैर, राहबलद ने किसी तरह हाथ-पैर जोड़कर औरतों को समझाया। वे चली गईं। पाँच रुपये में आगे के लिए दो नये बत्रके ले, अब वे बड़ी पहाड़ियों में दाखिल हुए। स्थान बिल्कुल सुनसान बियाबान था। किसी-किसी उचाँस पर कारतूस की पेटियों को शरीर में लपेटे हाथ में बन्दूक लिए लाल आँखोंवाले पठान दिखाई पड़ते। राहबलद कहता—"खामोश, ये डाकू हैं; पास-पास चलो।" कुर्बान को सचमुच ही विकट दाढ़ियों में उनकी लाल-लाल आँखें बहुत भयंकर मालूम होती थीं। उसे ताज्जुब होता था कि आँखें इतनी लाल क्यों हैं। उसे पता नहीं था कि कान की मैल डालकर आँखें लाल बनाई जाती हैं। पाँच रुपये पर लिए दोनों बत्रके इन्हीं जैसों के हमले से बचाने के लिए थे; यद्यपि वह इन दो बन्दूकों से उतना नहीं डरते थे, जितना कि इसके कारण सदा के लिए जारी हो जानेवाली कबीले के भीतर की आपसी लड़ाई से। चन्द घण्टे और चलने के बाद फिर पहाड़ों पर दरख्त दिखलाई पड़ने लगे, जिनमें शीशम ज्यादा थे। कहीं-कहीं कुछ चीड़ भी खड़े थे।

अफगानिस्तान में—तीन-चार कमरे की एक टूटी-सी इमारत थी, जिसमें जहाँ-तहाँ पठानों के सूखे तम्बाकू की राख पड़ी हुई थी। जगह बड़ी सुनसान-सी थी। सायँ-सायँ की भयानक आवाज चारों ओर से आती मालूम होती थी। ये लोग चार बजे शाम को पहुँचे थे। बहुत खुश थे—"अल्ला ने राजी-खुशी से यहाँ पहुँचा दिया।"

फिर आगे बढ़े। कबीलों की भूमि—जहाँ हर क्षण मौत सर पर मँडरा रही थी—से निकलकर सामन्तशाही अफगानिस्तान में अपने को पाकर लोग बेपरवाह-से होने लगे और बिल्कुल एक साथ मिलकर चलने की जगह बिखरकर चलना शुरू किया। साथी कुछ पीछे रह गये थे। बत्रका के साथ रह गया था कुर्बान। कुर्बान के हाथ में एक हैंडबेग था। बत्रकों ने इशारे से कहा, फिर बन्दूक दिखलाकर संकेत किया—"यह हैंडबेग दे दो।" दे देने पर उसे खोलने की कोशिश करने लगे। नहीं खुला। कुर्बान को धमकाया। कुर्बान ने खोल दिया। उसमें थे पहने हुए पुराने बूट। बत्रके गुस्से से आग-बबूले हो गये। उन्होंने बन्दूक तानकर कुर्बान की छाती पर रख दी। कुर्बान को मौत सामने दिखलाई दे रही थी। दोस्त काफी दूर छूट गये थे और उनके पास आवाज पहुँचने से पहले ही काम तमाम हो जाने का डर था। कुर्बान ने बगल में छिपाये दस रुपयों और पाँच आने पैसे उनके हाथ में रख दिया। बत्रकों ने पाँच आने पैसे लौटा दिये, शायद वह रोजा खुलवाने के पुण्य लूटने के लिए। थोड़ी देर में साथी आ गये। राहबलद ने सारा किस्सा सुना। उसने गाली देते हुए बत्रकों पर पत्थर मारना शुरू किया। वह बन्दूक ताने हुए पीछे की ओर हटते गये और मुँह से कहते जाते थे—"जब तक अगले गाँव में नहीं पहुँच जाते, तब तक तुम्हारी रक्षा करना हमारा कर्तव्य है।" रुपया लूटना या रुपये के लिए मार देना पाप नहीं, मगर कबीलाशाही धर्म इसे बरदाश्त नहीं कर सकता कि उसकी रक्षा में आये आदमी को कोई दूसरा मारे और लूटे। उन्हें कोई पत्थर नहीं लगा और गोलियाँ तो शायद एक दूसरे कबीलाशाही पठान पर वह चला नहीं सकते थे। अब वह अफगानिस्तान की सुरक्षित भूमि में ही नहीं आ गये थे, बल्कि अगले गाँव के पास उनके सामने हरियाली से लहलहाते खेत थे। गाँव में भी अब किलेबन्दी नहीं थी; क्योंकि कबीलेशाही की तरह हरएक गाँव को अपनी रक्षा का भार अपने ऊपर नहीं लेना था। सामन्तशाही अफगानिस्तान के बादशाह ने काबुल में बैठ उनके ऐसे हजारों गाँवों की रक्षा का भार अपने ऊपर ले रखा था। कुर्बान ने यहाँ कबीलेशाही और सामन्तशाही का साफ फर्क देखा। कबीलेशाही में मनुष्य या उनके भाई के-से नेता स्वयं बादशाह-जैसे हैं, मगर तब भी आदमी के सिर पर हर वक्त मौत की साया बनी रहती। सामन्तशाही में मनुष्य को ऐसे साया का डर नहीं रहता, मगर वह अपने सामन्त का गुलाम-जैसा है। लोग काबुल के पहले गाँव में दाखिल हुए। खूब बड़ी मस्जिद थी। मुल्ला ने शाम को नमाज पढ़ी। आवाज दे दी गई। खूब दूध, तंदूरी-रोटी और मीठा दो दिन के खाने भर का आ गया। लोगों को मालूम हुआ, उनके शरीर का अंगुल-अंगुल रस्सी से जकड़कर बाँध रखा गया था और वह अभी खोल दिया गया है। तीन-चार दिन बाद ऐसी जगह मिली जहाँ वह खुलकर साँस ले सकते थे, छूटकर हँस-बोल सकते थे।

दूसरे दिन फिर चले। थोड़ी दूर पर बाईं तरफ काबुल नदी बह रही थी और खेतों के फूल, वृक्षों के पक्षी बसन्त की बहार दिखला रहे थे। पथ-प्रदर्शक ने बतलाया कि आगे चलने के दो रास्ते हैं—यदि पहाड़ी को चढ़कर पार करो तो दो घण्टे में हम अगली जगह पहुँच जायेंगे, नहीं तो दिनों लगेंगे। मुहाजिरों ने पहाड़ की चढ़ाई के रास्ते को ही पसन्द किया। जिस समय रास्ते के सबसे ऊँची जगह पर पहुँचे तो कुर्बान को 'तुज़ुक जहाँगीरी' के वर्णित सुन्दर दृश्य याद आये। दो-तीन बजे वह कामह गाँव में पहुँचे। यह जलालाबाद के एक विभाग का हेडक्वार्टर था और नायबुल्-हुकूमत यहीं रहता था। राहबलद चारों को मस्जिद में ले गया। थोड़ी देर में उनकी मौलाना हबीबुर्रहमान से भेंट करा दी। अब कुर्बान और मौलाना की पंजाबी चलने लगी। पेशावर से आये राहबलद का काम खतम हुआ। वह यहाँ से लौट गया।

नायब साहब को पता लगा। उनके आदमी ने शाम को रोजा खोलने की दावत दी। स्वीकार करना ही था। मौलाना ने कहा—"यह दावत ऐसी-वैसी नहीं है, यह है बातचीत करके राजनीतिक भेद लेने की।" तुम लोग कम बोलना, मुझे ज्यादा बोलने देना। खाने के समय नायब साहब ने सचमुच ही राजनीतिक बात छेड़ दी। बात सारी फारसी में हो रही थी। यद्यपि बोली जानेवाली फारसी से कुर्बान के कान परिचित नहीं थे, इसलिए वह सारी बात को पूरी तरह से समझ नहीं पाता था। लेकिन उसे तो 'बले साहब' (हाँ, साहब)-भर कहना था। कुर्बान की जान नहीं छूटी, यद्यपि वह उम्र में सबसे छोटा सिर्फ 18 साल ही का था। तो भी राजनीतिक जानकारी उसे ही सबसे ज्यादा थी, इसलिए नायब साहब कुर्बान के जवाब से ज्यादा सन्तुष्ट हुए।

कामह में इसी तरह रोज रात को नायव साहब के यहाँ दावत रहती और दिन-भर लोग सोते रहते। नायव ने जलालाबाद खबर दी और आठ दिन बाद वहाँ भेजने के लिए हुकुम आया। चारों आदमी घोड़ों पर सवार करके रवाना किये गये। उन्हें रास्ते में तीन बार नदी को चमड़े की मशकोंवाली नाव से पार करना पड़ा। 1915 के भागे विद्यार्थियों में मौलाना जफरुलहसन उस समय जनरल नादिरखाँ के प्राइवेट सेक्रेटरी थे। उन्हीं के आलीशान मकान में चारों को ठहराया गया। जनरल साहव ने रोजा खोलने के समय आने के लिए निमन्त्रित किया। चारों जने वहाँ पहुँचे। जनरल बड़े प्रेम से मिले–"वहुत खुशी हुई, कहाँ से आये ? मुल्केमा मुल्केशुमास्त। (मेरा देश तुम्हारा देश है)।" "तुर्किस्तान में हमारी वहुत-सी जमीन पड़ी हुई है। हमारे वादशाह-गाजी हर आदमी को पाँच-पाँच जरीब (एकड़) जमीन देने के लिए तैयार हैं।" "आप दारुलन्हरव से दारुल-अमन में (युद्ध-गृह से शान्तिगृह में) चले आये।" "अपने घर में चले आये"।

कुर्बान फूला नहीं समाता था। कबीलाशाही भूमि के सारे कष्ट और भय भूल गये और उसने सोचा–"इस्लाम की भूमि कितनी सुन्दर है !" चारों जने अव शाही मेहमान थे। जेनरल के कहने पर कुर्बान (चौधरी कुर्बान) ने काबुल के पत्र 'इस्लाह' के लिए एक छोटा-सा लेख लिखा, जिसमें अफगानिस्तान की मेहमान-नेवाजी की तारीफ थी।

रात को निमन्त्रण था, सूबे के फौजी हाकिम दूसरे जनरल के यहाँ। यहाँ खाने की किस्मों का ठिकाना नहीं था। नई-नई तश्तरियों में नये-नये खाने आते। जेनरल साहव और उनके मुसाहिवों की बड़ी टोली खाना खाती और बीच-बीच में वातें और हँसी-मजाक करती। दो घण्टे में खाना खतम-सा हुआ जान पड़ा। फिर बातचीत शुरू हुई, फिर 'थोड़ा खाओ' की आज्ञा होती, फिर सारंगी और डफ लेकर गानेवाले छोकरे पहुँचे। कुर्बान को हर गाने में 'मादरे-अवदुल्लाजान' ही रटा जाता मालूम पड़ा। रोजे के दिनों में ऐसे इश्किया गानों को सुनकर कुर्बान को हैरानी हो रही थी। लेकिन अभी क्या था ? कुर्बान ने देखा, जब जेनरल साहब पर इश्क का बहुत असर होता, तो पास बैठे किसी छोकरे को चूम लेते। कुर्बान के दिल पर एक जबरदस्त धक्का लगा। इस्लाम, रोजा और रमजान, इस्लामी मुल्क और यह क्या ? दो बजे रात को किसी तरह कुर्बान को वहाँ से छुट्टी मिली। वह रात-भर सोचता रहा।

अव शाही मेहमानों के रहने का इन्तिजाम एक सराय में किया गया था। बेचारे शाही मेहमान थे, इसलिए अपने पास से खरीदकर खाना गुनाह होता। कुर्बान साथियों से पूछता था–"भाई ! शाही मेहमानी है या भूख की मेहमानी ?"

वाप का दिया पैर का जख्म अव भी अच्छा नहीं हुआ था। जलालावाद काबुल के बाद एक अच्छा-खासा शहर समझा जाता है। कुर्बान जख्म धुलवाने के लिए अस्पताल गया; लेकिन अस्पताल की हालत को देखकर उसे बड़ी निराशा हुई। ऊपर से हिन्दुस्तानी कम्पौंडर ने जव देश-त्याग की बात सुनकर 'दूर के ढोल सुहावने' की बात कही, तो कुर्बान के उत्साह पर सौ घड़े पानी पड़ गया। कुर्बान एक इस्लामिक मुल्क में इस्लामी धर्म के पालन में ज्यादा पावन्दी की उम्मीद रखता; लेकिन वहाँ देख रहा था, लोग बूट पहने मस्जिद में चले जाते हैं। और फिर तो उसने हाल ही में गुजरे अमीरों की वाजिदअलीशाही की जो-जो बातें सुनीं, उससे कुर्बान के दिल में कुफत होने लगी।

कावुल में–कुछ दिन की शाही मेहमानी के बाद जव उन्हें 80 रुपये पर काबुल के लिए ताँगे मिले, तो बहुत खुशी हुई। जलालाबाद से हर मंजिल के लिए हुकुम दे दिया गया था कि जैसे ही शाही मेहमान वहाँ पहुँचें, उसकी सूचना काबुल में जंगी-विभाग (अदारये हर्‌विया) को दे दी जाय। ताँगेवाले को चार दिन में काबुल पहुँचाना था, लेकिन कुछ ही दूर पर पहिया टूट गया और शाही मेहमान उसके मेहमान बने। लेकिन खातिर खूब की। पहली मंजिल पर जव कुर्बान ने टेलीफोन बाबू से टेलीफोन करने की बात कही, तो उसने इन्कार कर दिया। लेकिन जेनरल नादिरखाँ का नाम सुनते ही भीगी बिल्ली बन गया। फिर उसने सतयुगवाले टेलीफोन को उठाया। उसमें चाभी भरी। आवाज दी। "कौन हो ?" पूछने के बाद उसने अपने दोस्त काबुल के टेलीफोन बाबू से खैर-सलाह पूछनी शुरू की। मुहल्ले-भर के एक-एक घर के बारे में डटकर बात होने लगी। कुर्बान

चुपचाप पास में खड़ा रहा। फिर एक-एक आदमी के पास सलाम भेजा गया। आखिर में कह दिया—"वे चारों आदमी आ गये हैं।" कुर्बान ने झल्लाकर कहा—"यह टेलीफोन बाबू नहीं, उल्लू के पट्ठे हैं।" दिल के किसी दूसरे कोने से आवाज आई—"कोई हर्ज नहीं, इस्लामी मुल्क है।" चारों पड़ावों पर यही होता रहा। रास्ते में पनीर, रोटी और किशमिश खाने को मिल जाया करती थी, कभी-कभी गोश्त भी मिल जाता। चौथे दिन लोग काबुल पहुँचे। शहर में एक पत्थर के खम्भे पर अंग्रेजों के विरुद्ध एक कविता पढ़कर कुर्बान को बहुत खुशी हुई। उन्हें एक बड़े जनरल के यहाँ ठहराया गया। कुर्बान कभी जेनरल के सीधे-सादे मकान को देखता, कभी पलंग-चारपाई को। वहाँ कुर्सी-मेज का पता नहीं था, साथ ही टट्टी, गुसलखाने का भी कहीं ठिकाना नहीं था और इन सबके साथ काफ़ी गन्दगी थी। हाँ, कालीन बहुत सुन्दर-सुन्दर बिछे हुए थे और कितनी ही कीमती पोस्तीनें (चर्मकंचुक) रखी हुई थीं। काबुल में कुर्बान को कितने ही हिन्दुस्तानी मिले, जिनमें मौलाना उबैदुल्ला सिंधी और चमरकन्द के राजदूत मौलाना बशीर से मिलकर उसे बहुत खुशी हुई। मौलाना बशीर कुर्बान के अपने मुहल्ले के रहनेवाले थे, इसलिए आत्मीयता होनी ही थी। लेकिन, जब कुर्बान ने मुजाहिद्दीन के संकेत-शब्द को कहा, तो उन्होंने झप्पी लगाकर गले से लगा लिया और बोले—"तू तो चमरकन्दियों का भेजा हुआ है।" मौलाना बशीर से भविष्य के प्रोग्राम पर बातचीत होने लगी। उन्होंने कहा—"हम भी हिन्दुस्तान की आजादी के लिए ही दूसरे देशों में धक्के खा रहे हैं। चमरकन्द को तुम अपना केन्द्र समझो। हमें राजनीतिक और सैनिक शिक्षा की जरूरत है। हमारे पास दो ही मशीनगनें हैं, हमें और हथियारों की जरूरत है। काबुल से हमें वह मदद नहीं मिल सकती। बोल्शेविक ही ऐसे हैं, जो अंग्रेजों से लड़ सकते हैं और हमें हथियार दे सकते हैं। चमरकन्द में राजनीतिक शिक्षा और छापाखाने का प्रबन्ध करना है और दूसरा काम है फौजी शिक्षा और हथियार प्राप्त करना। दोनों कामों में तुझे जो पसन्द हो, उसे दे।" कुर्बान ने कहा—"मुझे तो फौजी काम ही पसन्द है, लेकिन बोल्शेविक तो लुटेरे हैं।"

बशीर—"नहीं, वे बड़े अच्छे आदमी हैं।"

कुर्बान—"वह मजहब के खिलाफ हैं।"

बशीर—"मजहब कोई जबरदस्ती थोड़े ही छीनता है ? उसके बारे में हिन्दुस्तान की आजादी के बाद सोचना, पहले हिन्दुस्तान की बेचैनी से फायदा उठाओ।"

कुर्बान—"जिस काम को कहो वही करूँ; लेकिन अच्छा हो, मुझे बोल्शेविकों के पास ही भेज दो।"

तुर्किस्तान की ओर—कुछ दिनों बाद कुर्बान और उसके साथियों को टाँगे से सिराज भेज दिया गया। वहाँ उसे अपने मुहल्ले के फीरोजदीन मंसूर, एम. ए. मजीद, अहमद अली आदि कई परिचित मिले। बिलकुल घर-सा मालूम होने लगा। सभी अफगानिस्तान के अपने-अपने तजर्बों के बारे में बातें करते। अफगान सरकार ने उन्हें इस ख्याल से वहाँ रखा था कि जब काफी देशत्यागी हिन्दुस्तानी आ जायें, तो उन्हें तुर्किस्तान में बसने के लिये भेज दिया जाय। रोज नये-नये हिन्दुस्तानी आते गये। उनकी तादाद 100 हो गई। लेकिन साथ ही महीने-भर इन्तिजार करते-करते लोगों में कुछ बेचैनी-सी फैलने लगी। जब वह आगे भेजने के लिए कहते, तो अफगान-अफसर कहता—"क्यों उकताते हो ? तुम्हें खाने-पीने की तकलीफ तो है नहीं।" कुर्बान और उसके साथी खाने के बारे में शिकायत नहीं कर सकते थे। यद्यपि उन्हें आटा ही मिलता था, लेकिन वह इतना होता था कि उसमें वह तरकारी और मांस भी खरीद सकते थे। सरकारी बगीचे से फल तोड़कर खाने की छूट थी। टूटे-फूटे महल रहने के लिए मिल गये थे। मुहाजिर जब पहले पहुँचे, तो उनके लिए गाँववालों की रजाइयाँ छीन ली गईं, लेकिन उन्होंने नहीं लिया। सिराज का पानी बहुत अच्छा था। खूब खाते, खूब सोते। उनके लिए यह अच्छा-खासा सेनीटोरियम् था। लोग अफसर से बार-बार कहने लगे—"हमें काम पर लगाओ या फौजी शिक्षा दो।" अफसर ने कहा—"अनपढ़ों के लिए तुर्किस्तान में पाँच-पाँच जरीब खेत देने का इंतिजाम है। पढ़े-लिखे लोग हमारे स्कूलों में पढ़ावें। मिस्त्री और कारीगर अपनी विद्या सिखावें।" कुर्बान और उसके साथियों का कहना था—"हम खेती करने और पढ़ाने के लिए नहीं आये हैं, हम आये हैं अँग्रेजों से लड़ने के लिए।"

पढ़े-लिखे नौजवान अफगानिस्तान से अब निराश हो चुके थे। उन्हें सोवियत रूस की कुछ बातें मालूम

हो गई थीं, साथ ही वह सैनिक बनना चाहते थे, इसलिए उन्होंने किसी तरह सोवियत के आदमियों से बातचीत शुरू की और उन्हें आश्वासन मिला कि सोवियत का रास्ता तुम्हारे लिए खुला हुआ है। सरहद के आये लोग इसे पसन्द नहीं करते थे। उनके लिए सोवियत रूस काफिरों का देश था। देश-त्यागियों को इससे भी बहुत धक्का लगता, जब काबुलवाले उनको देखकर कहते, "दालखोर हिन्दी ! दर-हिन्दोस्तान नानू-न-दारी, गुर्सना ईंजा आदमी ?" (दाल खानेवाले हिन्दुस्तानी ! हिन्दुस्तान में रोटी नहीं, भूखे यहाँ आये हो ?) आखिर में उन्होंने अफसर को अलटीमेटम दे दिया—"इतने दिनों के भीतर सैनिक-शिक्षा का प्रबन्ध करो, नहीं, तो हम तुर्की का रास्ता लेंगे।" अफसर ने अजीज हिन्दी के काफिले के आने तक का इंतजार करने के लिए कहा।

फ्रंटियरवाले विरोध करते ही रहे, मगर 90 आदमी तैयार हो गये। उन्होंने रास्ते के लिए खाने-पीने की चीजें जमा करनी शुरू कीं। एक दिन उन्होंने कूच बोल दिया। सामने फौज लाकर खड़ी की गई थी। गोली चलाने की धमकी देने पर भी लोग आगे बढ़े। सैनिक हटने लगे। झख मार के अफगान सरदार को उन्हें राहदारी (मार्ग-पत्र) देना पड़ा। राहदारी के कुछ शब्द थे "मखतूब शुदन्द अज दौलते-अफगान खुदादाद, खारिज-करदः एम्" ··· (खुदा के दिये अफगान राज्य से इन्हें मैंने खारिज कर दिया)

दो-चार सिपाही पंजशीर नदी तक समझाने-बुझाने के लिए साथ गये, लेकिन लोग काफी समझ-बूझ चुके थे। उन्होंने हरीपुर के अकबर खाँ को अपना काफिला-सालार (नेता) चुना; वास्तविक नेता तो कुर्बान, मंसूर, मजीद आदि सोलह-सत्रह शिक्षित नौजवान थे। कुछ सामान भी वह गया, लेकिन लोग पार उतर के रहे। उन्होंने हिन्दूकुश के डाँडे को पार किया। डाँडे पर बरफ के बीच एक रात विताई। सर्दी से बचने के लिए झाड़ियों में आग लगा दी। मीलों तक जंगली गुलाब, फिर टेढ़ी-मेढ़ी उतराई के रास्ते को पार करके कितने ही दिनों में मजार-शरीफ पहुँचे। वहाँ छै-सात दिन विश्राम किया।

सोवियत रूस को—यद्यपि 90 आदमियों में सभी कुर्बान और उसके साथियों की तरह सोवियत की ओर झुकाव नहीं रखते थे, लेकिन तुर्की का भी आसान रास्ता उधर ही से था। पेशावरी कह रहे थे—"तुम बोल्शेविकों के साथ रहकर काफिर बन जाओगे।" आखिर तेरमिज (सोवियत-तुर्किस्तान) की ओर प्रस्थान करने का निश्चय हुआ। मजार-शरीफ में एक तुर्की फौजी-अफसर कैद की जिन्दगी विता रहा था, उसने भी साथ ले चलने के लिए बड़ी मिन्नत की। वह तुर्की के अतिरिक्त फारसी भी बोल सकता था, इसलिए लोगों ने ले चलने में फायदा समझा, फिर 90 की जमात में एक आदमी को छिपा लेना मुश्किल न था। आमू दरिया के पार उतरते ही उनके स्वागत के लिए सोवियत फौजी-अफसर तैयार थे। तेरमिज में उनके स्वागत के लिए खूब आयोजन किया गया था। एक सेना की सेना ने सलामी दी। चार-चार की कतार में सैनिक काफिले के आगे-पीछे चल रहे थे। आगे-आगे बैंड बजता जा रहा था। जिस समय सोवियत सैनिकों ने 'प्रेजेंट आर्म' (बन्दूक झुकाकर सलामी) किया, तो कुर्बान और उसके नौजवान साथियों को यह बिल्कुल नई-सी बात मालूम हुई। इतना स्वागत तो इस्लाम की भूमि में भी नहीं हुआ था। यद्यपि सैनिकों में कितनों के शरीर पर पुरानी वर्दी थी और कुछ के पैरों में जूते भी नहीं थे, लेकिन हाथ में लाल झंडा लिए प्रसन्न-मुख हो जिस तरह की अगवानी वह दे रहे थे, उसका प्रभाव पड़ना जरूरी था। छावनी के मैदान में हिन्दुस्तानी काफिला पहुँचाया गया। एक सैनिक अफसर ने दुभाषिये की मदद से स्वागत में एक छोटा-सा व्याख्यान दिया—"आप हिन्दुस्तानी भाई अब भी गुलाम हैं, हम अपनी गुलामी दूर कर चुके हैं। लेकिन, आप-जैसे हिन्दुस्तान के मजदूर भी हमारे भाई हैं। आपको मजलूम देखना हमारे लिए दुख की बात है। साम्राज्यवाद के जुल्म से परेशान होकर आपने अपने घर-बार को छोड़ा। हम आपका मजदूरों और किसानों की इस भूमि में स्वागत करते हैं। यह सरकार हमारी है, मजदूरों की है। आप यहाँ जब तक रहना चाहें रहें, आप हमारे मेहमान हैं।" काफिले की तरफ से उसके सालार अकबर खाँ ने धन्यवाद देते कहा—"हम तुर्की जा रहे हैं। हम अपने देश की आजादी के लिए लड़ना चाहते हैं। आप हमारे वहाँ जाने का जल्दी इन्तिजाम कर दें।" अफसर ने कहा—"स्टीमर आने तक रहिये, फिर सुरक्षित तौर से आपको भेज देंगे।"

काफिले के रहने, खाने-पीने का इन्तिजाम कर दिया गया था। जब लोग मस्जिद में नमाज पढ़ने जाते,

तो बोल्शेविक-विरोधी तुक उन्हें भड़काने की कोशिश करते–'बोल्शेविक मजहब के विरोधी हैं। हमारी जमीनें इन्होंने छीन ली।" कुर्बान इस्लामावाद की मार खा चुका था। वह उससे बोल्शेविकों के गरीबी-अमीरी मिटाने को अच्छा मानता था। उसने कितनी ही तुर्क लड़कियों को पर्दे से बाहर निकल स्वतंत्र फिरते हुए देखा। मजहबी साथियों ने अँगुली उठाई, लेकिन कुर्बान पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यही बात 25 से कम उम्रवाले उसके सभी शिक्षित साथियों की थी। एक दिन मजार-शरीफ से आया तुर्क अपनी दाढ़ी साफ करवा आया। काफिले के मजहबियों ने शोर मचाया–"देखो बोल्शेविकों ने एक को खा लिया न !" चार-पाँच दिन बाद उसने कहना शुरू किया–"कहाँ है तुम्हारा खुदा ?" बूढ़ों पर और वज्र गिरा। उन्होंने अपने साथी नौजवानों के ईमान को भी डोलते देखा। कहना शुरू किया–"जल्दी निकलो, नहीं तो बोल्शेविकों की माया में कितने ही फँस जायेंगे।" अधिकारियों से जल्दी भेजने की बात कहने पर वह समझाने की कोशिश करते–"अभी तुर्किस्तान में हमारे विरोधी लड़ाई जारी रखे हुए हैं। रास्ता खतरे से खाली नहीं है। यदि नाव में हम भेजेंगे तो वह आप लोगों को पकड़ लेंगे। स्टीमर पर भेजने पर हम अपनी तोपों और मशीनगनों से आपकी रक्षा कर सकेंगे।" लेकिन शरीर और दिमाग के बूढ़े बराबर जल्दी कर रहे थे। आपस में भी मतभेद था। खूब बहस हुई। आखिर में बहुमत की राय हुई कि नाव से ही चल देना चाहिए। लोग बत्तीस दिन तक ही वहाँ रह सके। मजबूर होकर सोवियत-अधिकारियों ने उन्हें दो बड़ी-बड़ी नावें दीं और चार दिन की भोजन-सामग्री साथ कर दी। अफसर आमू-दरिया तक आये। विदाई के लिए बोलते समय वक्ता अफसर की आँखों में आँसू थे, जब कि वह कह रहा था–"आपको हम जबरदस्ती रोकना नहीं चाहते, लेकिन रास्ते के खतरे को हम समझ रहे हैं। हमें बराबर चिन्ता बनी रहेगी। अगर आप को दुःख होगा, तो हमें बहुत अफसोस होगा।" बूढ़े इसे भी बोल्शेविकों की माया समझ रहे थे।

मौत के जबड़े में–नावें चलीं। उन्हें पथ-प्रदर्शक दिया गया था। आमू (वक्षु-गंगा) काफी बड़ा दरिया है। पथ-प्रदर्शकों ने उन्हें रात को बीच धार में टहराया, जिसमें अमीर के पिट्ठू बागी काफिले को नुकसान न पहुँचा सकें। दूसरे दिन अकबर खाँ पथ-प्रदर्शक से लड़ पड़े। बेचारे को मजबूरन साथ छोड़कर लौट जाना पड़ा। अब काफिले में सरफराज–मजारशरीफ से आया तुर्क अफसर–अकेला तुर्की भाषा जाननेवाला था। शाम को दरिया के तट से कुछ तुर्कमानों ने आवाज दी। वे नाव उधर ले गये और रात को किनारे पर सो गये। सुबह देखा कि तुर्कमानों की संख्या बढ़ गई–कोई घोड़े पर सवार था और कोई पैदल। सभी की शकल खूँखार डरावनी-सी थी। सबेरे नमाज खतम होते ही काफिले के लोगों को उन्होंने घेर लिया। फिर नावों की तलाशी ली। पैदल ही कूच करने का हुक्म दिया। लोग हक्के-बक्के-से हो गये। उन्हें सिर्फ 'हैदा', 'हैदा' (जल्दी चलो, जल्दी चलो) इतना ही समझ में आता था। वह संगीनों से बड़ी-बड़ी पावरोटियों को भोंककर मुहाजिरों के सर पर मारते थे। जल्दी चलने के लिए पीछेवालों पर कुन्दे पड़ते, तो वे जमात में आगे घुसने की कोशिश करते। इस तरह बराबर पीछेवाले बीच में, बीचवाले आगे, और फिर आगेवाले पीछे होते रहते थे। सभी पर कुन्दे और गालियाँ पड़ रही थीं। कुर्बान पहले तो घबड़ाया, लेकिन फिर उसे लोगों की पीठों पर धब-धब कुन्दा पड़ते देख हँसी आती थी, तेरमिज में ये लोग बोल्शेविकों की परछाईं एक दिन के लिए भी बरदाश्त न कर इस्लामाबाद जाने के लिए उतावले हो रहे थे। उससे भी बढ़कर हैरत कुर्बान को तब हुई, जब उसने उन इस्लाम के शैदाइयों को नौजवानों का गाल खींचते देखा। इन हुड़दंगों से घिरा काफिला दो नहरों के बीच से जा रहा था। इस कच्ची सड़क में कहीं-कहीं खूब कीचड़ थी। लोग लदफद हो रहे थे। जहाँ कीचड़ न होती, वहाँ धूल उड़ती, और बढ़ते हुए मजमें के हजारों पैरों से उड़-उड़कर धूल ने लोगों को बन्दर बना दिया था। हरएक तुर्कमान लोगों की टोपियाँ, कपड़े, कोई-न-कोई चीज छीनने में लगा हुआ था। एक बूढ़ा आदमी काफिले के आगे-आगे गदहे पर चढ़ा चिल्लाता जा रहा था–"हमने जदीदी (आधुनिक काफिर) पकड़ लिए हैं, जिनको इनसे लड़कर पुण्य कमाना हो, वह चले आयें। सर्फराज ने उलथा करके जब समझाया, तो काफिले में और भी घबराहट मची–इस्लाम के लिए देश, घर, द्वार तक त्याग के चले आनेवालों के साथ यह बर्ताव ! कुर्बान देख रहा था कि सचमुच ही दाएँ-बाएँ की बस्तियों से पुण्य लूटने की इच्छावाले आ-आकर मजमे में शामिल हो रहे हैं।

मुहाजिर प्यास के मारे तड़फ रहे थे, लेकिन कोई जदीदी के लिए पानी देनें को तैयार न था। एक जगह काफिले के एक आदमी ने मना करने की पर्वाह न कर पानी पीना चाहा; एक तुर्कमान तलवार चलाना ही चाहता था कि वह पीछे हट आया। कुर्बान अपने दोस्तों से मजाक करते हुए कह रहा था—"भाई ! जदीदी काफिला तो नहीं है, लेकिन मौत का काफिला जरूर है।" उसे नब्बे के साथ अपनी किस्मत बँधी होने के कारण मौत की बिल्कुल पर्वाह न थी और वह इस समय भी धर्म-भक्तों को टीसना चाहता था। शाम तक काफिला चलता रहा। एक सराय में उन्हें रख दिया गया। सराय लीद और गन्दगी से भरी हुई थी। हुक्म हुआ—"लीद साफ कर ठहर जाओ।" भूखे-प्यासे लोगों ने लीद साफ की, नमाज पढ़ी और कुछ लोग कुरान का पाठ करने लगे। तमाशा देखनेवालों की भीड़ लगी हुई थी और कोई-कोई छोकरों को दिखलाकर कहता—"इसे लेगा ?" सराय की छत पर खड़ा बन्दूकची कह रहा था—"यदि कोई सराय से बाहर गया, तो गोली मार दी जायगी।" पीछे तो आँगन में आने के लिए भी गोली की सजा का हुक्म सुनाया गया।

काफिलेवाले सर्फराज के द्वारा बराबर समझाने की कोशिश करते—"हम जदीदी नहीं, हिन्दुस्तानी मुसलमान हैं। इस्लाम के लिए हमने वतन छोड़ा है।" पहले तो वह इस बात पर ध्यान देनें के लिए तैयार नहीं हुए, आखिर में अकबर को मुसलमानी की परीक्षा करने के लिए ले गयें। उन्हें नंगा किया गया। खतना था। किसी नें कहा—'बोल्शेविक बड़े चालाक होते हैं।' फिर उनसे पाँचों कलमें पूछे गये। अकबर ने सुना दियें। फिर कुरानशरीफ पढ़ने के लिए कहा गया। अकबर नें पढ़कर सुना दिया। तब एक बुजुर्ग तुर्कमान ने कहा—"अब हमें पक्का निश्चय हो गया कि ये जदीदी हैं। देखो, इन्होंने मुसलमानों की पूरी नकल की है। ये बड़े खतरनाक हैं। ये तो बात-की-बात में मुसलमानों को गुमराह कर देंगे। काफिले में सब का मुँह सूखा हुआ था और बूढ़े तो काफिर की मौत मरने की बात का ख्याल करके काँप रहे थे।

चार दिन तक काफिला उसी सराय में रहा। जाड़ा-बुखार में मरते भी जिन्हें घसीटकर यहाँ पहुँचाया गया था। उन्हें कुछ आराम तो मिला; लेकिन, जब मौत आँख के सामने नाच रही हो, तो बुखार का कौन ख्याल करता ? हाँ, अकबर खाँ की परीक्षा का एक फल हुआ कि 'इस्लामी फौज' ने वहीं हिन्दुस्तानियों के भाग्य का फैसला नहीं कर दिया। खाने की बड़ी तकलीफ थी और उससे भी ज्यादा पाखाना-पेशाब की। आखिर में एक बूढ़े मुल्ला ने हुकुम सुनाया कि सबको बुखारा अमीर के पास चलना है। लोगों के सामान ऊँटों पर रखवा दिये गये। मुल्ला ने पीठ साफ करने के लिए दो चाबुक रख लिए थे। दो-तीन दिन चलने के बाद एक और मुल्ला मिला, उसने लोगों की सभी चीजें छीन लीं और 'काफिरों' की खूब तलाशी ली। काफिला बुखारे की ओर चलाया जा रहा था। बीमार कोड़ा खानें पर भी चल नहीं सकते थे, उन्हें गदहों पर बैठाया गया। प्यास लगी तो लोगों को दो-दो तीन-तीन सर्दे मिले। लेकिन जब पेट कई दिनों से खाली हो, तो सिर्फ सर्दे के पानी से क्या होता है ? कई दिन से मौत का नाच देखते-देखते लोगों के दिल से उसका रोब उठ गया था, अब वह भूख को उससे भी भयंकर समझते थे। एक जगह गाँव में तन्दूर की दूकान दिखाई पड़ी। लोग टूट पड़े। रोटी, खरबूजा जो भी चीज सामने आई, सबको लूटकर खाने लगे। 1 बजे दिन का समय था, जब कि हिन्दियों ने तोपों की गड़गड़ाहट सुनी। मुल्ला ने उन्हें बस्ती के एक मकान में डाल दिया। कुछ देर बाद फिर उन्हें ले चले। कुछ छोटे-मोटे दरख्त थे और नीचे घास। वहाँ पहुँचने पर सौ घुड़सवार आकर एक ओर खड़े हो गये। हिन्दियों को दरख्तों के नीचे बैठा दिया गया। पाँच आदमियों की एक अदालत बैठी, जिसमें एक सद्दर था। एक पंच ने प्रस्ताव किया कि ये सभी पक्के बोल्शेविक जदीदी काफिर हैं, इन्हें गोली मार देनी चाहिए। थोड़ी देर की बातचीत के बाद पाँचों पंच सहमत हुए। सर्फराज ने अनुवाद करके सुनाया। नब्बे आदमी जो जरा फरक-फरक से बैठे थे, घोड़सवारों की पाँती को सामने देखकर बिल्कुल सटकर बैठ गये। लोग जोर-जोर से दरूद और तकबीर पढ़ रहे थे। सिपाहियों ने भी एक-एक शिकारे को चुन लिया था। 'तैयार' का हुक्म हुआ। सिपाही बन्दूकें लेकर तैयार हो गये। "गोली डालो", गोली भी बन्दूकों में डाल दी गई। अब निशाना भर लगाना बाकी था। लोगों को अब कोई आशा नहीं रह गई थी।

इसी समय एक बूढ़ा आदमी घोड़े पर दौड़ा आया, उसने आकर पाँचों मुल्लों को डाँटते हुए कहा—"मैं

इस इलाके का मुल्ला हूँ। तुम्हें फैसला करने का कोई अखतियार नहीं है। मैं तुम्हारा हुकुम रद्द करता हूँ। ये अपने को मुसलमान कहते हैं। लड़ाई खतम होने तक इन्हें गुलाम (दास) रखा जाय। लड़ाई के बाद यदि साबित हुआ कि ये मुसलमान हैं, तो इन्हें मुक्त कर दिया जायेगा, नहीं तो सदा के लिए गुलाम बना लिया जायेगा।"

लोगों की जान में जान आई। भक्तों ने हाथ उठा-उठाकर अल्लामियाँ को धन्यवाद दिया। अब गुलामों के बँटवारे का समय आया। कुर्बान, उस्मानी, खुदाबख्श (लाहौर), अहमदअली (लाहौर) आदि तेरह जने एक कलान्तर को मिले। वह उन्हें पास ही एक गाँव में ले गया। कुर्बान ने देखा कि सारा गाँव निर्जन पड़ा है। पहले यह सोचकर सन्तोष किया था कि गुलाम ही सही, तेरहों जने साथ तो रहेंगे; लेकिन कुर्बान की सारी चुहुलबाजी और मसखरापन गायब हो गया, जब इन तेरहों को भी बाँट दिया गया। कुर्बान को अभी भी बुखार आ रहा था। उसे तीन भाइयों के साथ तीन तुर्कमान और उजबेक सिपाहियों के हाथ में दे दिया गया। खाने के लिए नमक डाला पानी जैसा गोश्त का शोरवा मिलता, जिसमें कुछ टुकड़े रोटी के भी पड़े रहते। कुर्बान सिपाहियों के सामने रोने लगा—"मुझे साथियों के पास भेज दो।" सिपाहियों का दिल पसीज गया। उन्होंने मिलने के लिए भेज दिया। कलान्तर (कमाण्डर) को मालूम हुआ तो उसने खूब गालियाँ दीं। रात को चारों हिन्दियों को कोठरी में बन्द कर दिया गया। उनके दो-दो के पैर और मुश्कें कसकर एक-दूसरे के साथ बँधी हुई थीं। न वे लेट ही सकते थे और न बैठ ही। एक सिपाही राइफल लेकर पहरा दे रहा था। रात को नींद कहाँ आती! लेकिन जब कुर्बान ने देखा कि सिपाही कैदियों के न भगे होने की परीक्षा के लिए दीवारों को हिला रहा है, तो उसे हँसी आये बिना न रही।

सवेरे उन्हें खोल दिया गया। पाँच दिन तक यही हालत रही। चारों आदमियों के लिए एक प्याले भर भात मिलता था, जिससे एक का भी पेट नहीं भर सकता था। गुलामों के लिए कोई काम न था। उन्होंने देखा, सवार कुछ जूठे टुकड़ों को घोड़ों के तोबड़ों में रख देते हैं। आखिर भूख का हुकुम सबके ऊपर होता है। वह तोबड़ों से टुकड़े निकाल लेते, बासी रोटियों पर जो सफेद काई जमी रहती, उसे कपड़े पर मलकर हटा देते और फिर खाने लगते। कुर्बान कहता—"देखो, इस्लाम हमें अभी क्या-क्या बनाता है।" सिपाही अपने लिए गरम चाय का पानी और प्याले रखा करते थे। कुर्बान बिना पूछे उन्हें भी उठा लाता और सब मिलकर पी डालते। कुर्बान की समझ में आ गया था कि अब हम गुलाम हैं; इसलिए किसी की सम्पत्ति हैं और हमारे बेचने से मालिक को सौ-दो सौ मिल सकते हैं, इसलिए हमें प्राणों के लिए डरने की कोई जरूरत नहीं है। चाय को इस तरह साफ होते देख, सिपाही उसे अब अपने सामने बनाकर पीने लगे। दो-चार बार के बाद तोबड़ों को भी हटा लिया गया। कुर्बान ने जिद्द करना शुरू किया कि हमें अजान देने की इजाजत मिलनी चाहिए। आखिर खुदा की इबादत में रुकावट डालने की किसको हिम्मत थी? इजाजत मिल गई और अजान देते समय वह कहते—"ओ-ो-ो हम हैं, यहाँ-ँ-ँ।" चौथे दिन जब अजान दी गई और उसी तरह की अजान दूसरी जगह से भी दोहराई जाने लगी, तो पता चला कि तेरहों जवान उसी गाँव के भिन्न-भिन्न हिस्सों में बँटे हुए हैं। छठे दिन एक मुल्ला ने पूछा—"तुम हो कौन?" इस पर कुर्बान ने हिजरत की सारी दास्तान सुनाई। इस्लाम के लिए इतनी कुर्बानी सुनकर मुल्ला पर असर पड़ा। उसने कहा—"तुम भी मुसलमान हो, हम भी मुसलमान। हमारे इस्लाम के दुश्मन ये जदीदी बोल्शेविक हमारे मजहब को बरबाद करना चाहते हैं। हम जदीदियों से लड़ रहे हैं, तुम भी लड़ो।" कुर्बान ने कहा—"हमें पहले बन्दूक चलाना तो सिखलाओ।" कुर्बान को अपनी गलती पीछे मालूम हुई, जब सोचा—"मैंने भूल की। कह देता, बन्दूकें दो। फिर इन्हें मारकर भूख और गुलामी की बेड़ी तोड़ चल देते।"

तो भी मुल्ला ने कुछ कहा-सुना होगा। अब उनके हाथ-पैर को कुछ ढीला बाँधा जाता था। मुल्ला कभी आड़ू दे जाता तो लोग हाथ बँधा होने से पशु की तरह मुँह से उठाकर खाते।

सातवाँ या आठवाँ दिन था। उस दिन कुर्बान के साथियों को पेट भर खाना दिया गया। एकाएक उन्होंने देखा कि सिपाही डेरा छोड़कर चम्पत हो गये। उनके हाथ-पैर खुले थे। दोपहर के समय कुर्बान कह रहा था—"लो

भाई ! इस्लाम के सिपाही तो गये।" थोड़ी देर में चार की जगह तेरहों जने इकट्ठे हो गये। इतने दिनों की भूख की ज्वाला एक समय के भोजन से शांत होनेवाली थोड़े ही थी ! लोग खेतों में गये। वहाँ तरवूज लगे हुए थे। हथियार था नहीं। तरवूजे को तोड़ें कैसे ? उन्होंने एक तरवूजे को दूसरे पर पटका। पहले वह बालू में धँस गया, फिर फूट गया। उसी पानी से हाथ धोया, पेट भरकर पिया। तरवूजे मीठे जरूर थे, लेकिन उतने ही से काम नहीं चल सकता था। गाँव में ढूँढ़ने लगे। देखा एक जगह बहुत-सा दूध रखा हुआ है। यद्यपि भय था कि कहीं बोल्शेविकों के लिए उसमें जहर डालकर न रखा गया हो; लेकिन आखिर पंजाबी थे। दूध क्या यदि चूने का सफेद पानी भी मिले, तो पंजाबी एक बार उस पर मुँह मारे विना नहीं रहेगा। तेरहों में से किसी ने अल्ला के नाम पर पहल की और फिर तो सभी ने छक-छककर पिया और अभी भी दूध काफी बच रहा था। उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब हमें एक तरफ हो जाना है। वह जदीदियों के पास पहुँचने का रास्ता ढूँढ़ते हुए एक रेत के टीले पर पहुँचे। सितम्वर का महीना था। मौसम अच्छा था। उन्हें दाईं तरफ से कुछ आवाज आती सुनाई दी। फिर उन्होंने दूर से अपने काबुल से लाये झंडे को लहराते देखा। कुछ देर में सब लोग झंडे के पास पहुँच गये। अव वे पचपन, फिर 90 थे। सबने गाँव के घरों की तलाशी ली। वहाँ बहुत-से फल और दूसरी खाने की चीजें मिलीं। आगे का प्रोग्राम सोचने के लिए सभा बैठ गई। अव फिर किसी ने बोल्शेविकों का नाम लेकर नहीं भड़काया। तय हुआ कि सुबह चलकर लालों से मिल जायँ। रात को काफिले के इर्द-गिर्द बाकायदा पहरा बैठा दिया गया। सुबह उठे तो नौजवानों ने कहा—"भाई ! लालों से तो मिलना ही है, लेकिन ये जो अल्लामियाँ ने चावल, मक्खन और मुर्गियाँ भेज दी हैं, इनका भी कुछ कर चलना चाहिए। अभी पुलाव बने, फिर खाकर चलेंगे।" कुर्बान दनादन मुर्गियाँ हलाल करता जा रहा था। बूढ़ों को सन्देह हुआ, उन्होंने कहा—"तू हलाल नहीं कर रहा, ऐसे ही गर्दन छाँटे जा रहा है।" घर-घर से चावल चर्बी बटोरने में कुर्बान को आगे देख बूढ़े कहते—"तेरा बेड़ा गर्क, दूसरों की चीजें लूट रहा है !"

"हाँ, हम जरूर लूटेंगे। क्या अभी कुछ नेकी करनी वाकी रह गई है ?" एक घर में चाय के वस्ते रखे हुए थे। कुर्बान और उसके साथी फाड़कर चाय निकालने गये। चाय के मालिक ने कहा—"मत नुकसान करो, मैं तुम्हारे सामान को दिला देता हूँ।" नौजवान सामान लेने गये। लोगों ने हिन्दुस्तान से लाये अच्छे-अच्छे कपड़े खूब अच्छी तरह तह करके रखे हुए थे। नौजवानों ने कपड़ों को निकाल वेकपड़ेवाले साथियों में खूव वाँटना शुरू किया। बुजुर्ग लोग झगड़ा करने पर उतारू हो गये। कुर्बान ने कहा—"छोड़ो मेरा-तेरा। मौत जव बरावर बँट रही थी, तो कपड़ों में क्या रखा है ?" अब कितने ही दिनों के भुक्खड़ों के बदन पर फर्स्ट क्लास कोट, कुरते, सलवार और साफे थे। लोगों ने बँधे जानवरों को भी खोल दिया। बुजुर्ग घबराने लगे—'तुर्कमान आ जायेंगे।' नौजवानों ने भी सोचा कि समय सचमुच ही बहुत बीत गया है। उन्होंने खाने का सामान और चूल्हे को भी वैसे ही बलते छोड़ दिया। सब लोग अपना कपड़ा-लत्ता और ट्रंक सम्हाल रहे थे। कुर्बान ने सर्दों का बड़ा गट्ठर बाँधा। पैदल चलते-चलते लोगों को प्यास मालूम होने लगी। कहते—"फज्ले-इलाही ! प्यास लगी है।"

कुर्बान—"अपनी-अपनी गठरियों को खोलो न !"

"इसमें तो कपड़े-लत्ते हैं। तू सर्दे दे।"

"उहूँ, अपनी-अपनी गठरी पर भरोसा करो।"

"तू काबुल के रास्ते में पानी पिलाता था, यहाँ इस रेगिस्तान में मारेगा क्या ?"

"यह कर्बला है कर्बला; पानी बिना मरना ही तो अब बाकी है।"

कुर्बान ने सर्दे काटकर लोगों को दिये। सर्दा काटने के लिए गाँव में उन्हें एक टूटी तलवार के साथ कुछ छुरियाँ मिल गई थीं। लाल मोर्चे की खोज में चले जा रहे थे और उन्हें मालूम नहीं हो रहा था कि वह कितना दूर है। लेकिन एकाएक वे मोर्चे पर पहुँच गये। लाल सैनिक 'इन्दुस्की', 'इन्दुस्की' (हिन्दुस्तानी) बोल उठे। उन्हें भीतर ले लिया गया। अब वह किर्खी (करखी) कसबे के पासवाले किले में थे। कसबे की एक ओर किला था और दूसरी ओर आमू दरिया।

बोल्शेविकों के साथ बन्दूकची—जान पड़ता है बोल्शेविकों को हिन्दियों की मुसीबतों का सारा पता लग गया था, इसीलिए उन्होंने कुर्बान के साथियों का खूब स्वागत किया—हाँ, वह तेरमिज-जैसा स्वागत नहीं हो सकता था, क्योंकि वह लड़ाई में एक किले के भीतर घिरे हुए-से थे। किले के भीतर लड़नेवालों की संख्या 500 से ज्यादा नहीं थी और मुल्लों तथा अमीर-बुखारा के अनुयायियों की संख्या कई हजार थी। लेकिन उनके लिए बोल्शेविक अजेय थे। बोल्शेविकों के पास कुछ मशीनगनें थीं—यह जरूर उन्हें सुभीता था। मगर बोल्शेविक सदा यह कोशिश करते थे कि कोई निरपराध आदमी न मारा जाय। आखिर आम जनता के लिए ही तो वे लड़ रहे थे। अमीर के अनुयायी दरख्तों पर चढ़कर किले के भीतर अन्धाधुन्ध गोलियाँ छोड़ते थे। भोजन-सामग्री थोड़ी रह गई थी। सबके लिए राशन कर दिया गया था। यद्यपि आध पेट ही मिलता, लेकिन सारे प्रसन्न थे। हिन्दियों को भी राशन मिलने लगा। जिन कोठरियों में उन्हें ठहराया गया था, उन पर भी दुश्मन गोलियाँ चला रहे थे। नौजवानों ने काफिले के सामने कहा—"हम बोल्शेविकों की ओर से लड़ना चाहते हैं।" किसी ने विरोध नहीं किया। बोल्शेविकों ने उन्हें तुरन्त अपनी जमात में मिला लिया और 25 के करीब बन्दूकें और कारतूस बाँट दिये। जब कारतूसों की माला पहने हाथ में बन्दूक लिये कुर्बान और उसके साथी सामने आये, तो फिर बूढ़ों ने कहना शुरू किया—"क्या तुम अपने धर्मभाइयों पर गोली चलाओगे ?" कुर्बान ने कहा—"क्या भाईचारे की कीमत अदा करनी कुछ और बाकी रह गई है ?" कुर्बान की टोली को नदी के एक ऐसे मोर्चे पर लगा दिया गया, जहाँ गोलियाँ बहुत कम चलानी पड़तीं।

फिर तुर्की के रास्ते पर—कुछ दिनों बाद स्टीमर आया। सब लोगों को सवार कराकर चाराजुई की ओर भेज दिया गया। कहीं-कहीं नदी का पाट छोटा था, जहाँ पर दुश्मन गोलियाँ चलाते, लेकिन मशीनगन के सामने उनकी राइफलें बेकार थीं। स्टीमर पर अभी भी काफिले में दो पार्टियाँ थीं। बुजुर्ग लोगों को अफगानिस्तान और तुर्किस्तान का तजरबा बहुत कड़वा था और बोल्शेविकों का बर्ताव बहुत अच्छा रहा, इसलिए बोल्शेविकों के खिलाफ जाने को तो वे नहीं कहते थे मगर बोल्शेविकों के साथ मिलकर लड़ने के पक्ष में नहीं थे। चौथे दिन स्टीमर चारजुई (चाराजुई) पहुँचा। बोल्शेविकों ने कहा कि ताशकन्द में हिन्दुस्तानियों का ध्यान रखनेवाले कुछ लोग हैं, पहले उनसे मिल लीजिये, फिर तुर्की जाइये। 30 नौजवान ताशकन्द जाने के लिए तैयार हो गये और उन्होंने उधर का रास्ता लिया, इसमें मन्सूर, मजीद भी शामिल थे। कुर्बान अभी तय नहीं कर पाया था, इसमें एक कारण यह भी था कि वह तुर्की को भी देख लेना चाहता था। बुजुर्गों ने कहा कि हम माँगते नहीं हैं कि ताशकन्द में किसी के पास भीख माँगने जायँ।

नवम्बर (1920) में कुर्बान और एक-दो और तरुण अपने 50 बुजुर्गों के साथ अशकबाद होते क्रास्नोदार पहुँचे। वहाँ से बाकू के लिए जहाज में रवाना हुए। रास्ते में जहाज एक तूफान में पड़ गया। खतरा इतना बढ़ गया कि लोगों में जीवन-रक्षक पेटियाँ बाँट दी गईं। लेकिन अभी उन्हें मरना नहीं था। जहाज बच गया। लोग बाकू पहुँचे। उस समय मुस्तफा कमाल तुर्की की स्वतंत्रता को बचाने के लिए यूनानियों से लड़ रहे थे। सोवियत हर तरह से कमाल की मदद कर रहा था। बाकू में तुर्की रेजीमेंटें भर्ती होतीं—सोवियत इसके लिए रूस में कैद तुर्की सैनिकों को हथियारबन्द कर रहा था। जब एक पूरी रेजीमेन्ट तैयार हो जाती, तो स्मरना भेज दी जाती। कुर्बान ने यहीं पहले-पहल बरफ को पड़ते देखा। नंगे पाँव, नंगे सर उसने सर्दी बरदाश्त की और वह इस इन्तिजार में दो महीना बैठा रहा कि उसे स्मरना भेज दिया जायगा। लेकिन तुर्की अफसर की ओर से बराबर टालमटोल होती रही। बुजुर्ग अब आजिज आ गये थे और उनमें से 33 हिन्दुस्तान लौटने के लिए तैयार थे। "हम हिजरत करके आये हैं" कहने पर वे कुरान से प्रमाण देकर कहते कि हमें हिन्दुस्तान लौटने को अल्लामियाँ का हुकुम है। कुर्बान ने तुर्की का राजदूत बनकर जानेवाले एक पेशावरी देशभाई को यह कहते सुना—"तुम्हारा ख्याल गलत है। जब तक हमारा देश गुलाम है, तब तक हम गुलाम हैं। फिर तुर्की हो या कहीं भी, हमारे साथ वैसा ही बर्ताव किया जायेगा।"

बहुत दौड़-धूप के बाद कुर्बान को तुर्की फौज में भर्ती कर लिया गया। कितने ही समय तक वह बन्दूक लिये बरफ में कवायद-परेड भी करता रहा। दस दिन बाद एक पल्टन रवाना हुई, लेकिन कुर्बान को

नहीं भेजा गया। कई पल्टनें चली गईं, लेकिन कुर्बान की किसी दिन पूछ न थी। एक दिन उसने तुर्की अफसर से कहा—"हम तुम्हारे दोस्त हैं। हम तुर्की की ओर से लड़ना चाहते हैं। तुम हमें क्यों नहीं भेजते ?" अफसर ने कहा—"इन्शाअल्लाह ओलर्जक।" ओलर्जक का शब्दार्थ है "होगा", मगर उसके कहने का मतलब है—'कभी न होगा', यह कुर्बान को मालूम हो चुका था। दस दिन बाद फिर पल्टन गई, लेकिन हिन्दियों के लिए फिर वही टालमटोल।

सोवियत में निवास—अन्त में निराश हो कुर्बान ने ताशकंद जाने का निश्चय कर लिया। बुजुर्गों के साथ जब वहाँ पहुँचा, तो उसके कुछ साथी पहले ही पहुँचे हुए थे, इसलिए बहुत सुभीता रहा। ताशकन्द में उसने लाल झंडेवाले कितने ही जुलूस देखे, क्रान्तिकारी नारे सुने। जागीरों और सम्पत्ति से वंचित भुक्कड़ रईस अपने कपड़े बेच रहे थे। साधारण उजबक कहते—"कल तक हमारी मौत थी, आज अब इनकी बारी है।" अमीरों की सचमुच ही बहुत बुरी हालत थी। राशन में बड़ी कड़ाई थी, सबको एक नाप से खाना मिलता था। वहाँ दस्तरखान कैसे चुना जाता ? नौकर-नौकरानियाँ और महलसरा मालिकों को छोड़कर भाग गये थे; बेचारी बेगमों को अपने हाथ से रूखा-सूखा पकाना पड़ता था। कुर्बान को ताशकन्द में रहते हफ्ता-भर भी नहीं बीतने पाया था कि उसके दिल ने कहा—"तेरी दुनिया न अफगानिस्तान है न तुर्की। तेरी दुनिया यह यहाँ है।" कुर्बान ने अपने काफिले में से भी छै-सात आदमियों को फोड़ा। पहले वह उस समय के ताशकन्द के अनाज के अकाल और भूख को देखकर घबड़ा रहे थे। कुर्बान ने समझाया—"यह भूख सदा नहीं रहेगी। दो-तीन साल तक हम भी अधपेटा ही रहेंगे, आखिर सबकी तो यही हालत है। चलो फौजी काम सीखें।"

ताशकन्द से हिन्दुस्तान जानेवालों का सारा इन्तिजाम हो गया। 25-30 हिन्दुस्तानी तरुण ताशकन्द में शिक्षा पा रहे थे। कुर्बान ने कहा कि हमारा भी नाम लिखवा दो। थोड़े दिनों बाद हिन्दुस्तानियों का खास स्कूल बन्द कर दिया गया। कुर्बान को सैनिक-शिक्षा में खास दिलचस्पी थी। उसने विमान-विद्या पढ़नी शुरू की। गर्मियों (1923) के शुरू में राजनीतिक पढ़ाई का इन्तिजाम किया गया। कुर्बान उसमें शामिल हुआ। यद्यपि कुर्बान से मजहबी कट्टरपन अब निकल गया था और उस पर कमूनिस्टों का प्रभाव काफी पड़ चुका था, लेकिन अब भी उसमें धार्मिकता मौजूद थी। कोई पार्टी की मीटिंग थी। कुर्बान उसमें शामिल हुआ, लेकिन जब नमाज का वक्त आया, तो उसने उठकर वहीं नमाज पढ़ना शुरू किया। कई महीने तक कुर्बान का मानसिक संघर्ष जारी रहा। लोग उसे राजनीतिक शिक्षा लेने पर जोर देते, लेकिन वह समझता था, यह फजूल का समय बरबाद करना है, मुझे तो सैनिक-शिक्षा की जरूरत है।

मास्को में चार साल—कुर्बान की शिक्षा का प्रबन्ध मास्को में हुआ था। इसलिए (1921) 11 अगस्त को वह रेल से मास्को के लिए रवाना हुआ। सात रात-दिन एक ही ट्रेन में चलना पड़ा। बीच में जब ईंधन खत्म हो जाता, तो लकड़ी काटकर इंजन में रखने के लिए ट्रेन खड़ी हो जाती। खाने की बहुत दिक्कत थी। नमक और भी महँगा था और मुट्ठी-भर नमक देने से अण्डा, गोश्त-रोटी काफी मिल जाती थी। मास्को के नजदीक पहुँचने पर 11 बजे की बात सुनकर कुर्बान को विश्वास नहीं हुआ। अभी तक 18-19 घण्टे के दिन से उसे वास्ता नहीं पड़ा था। मास्को में पहले 5½ मास तक राजनीतिक शिक्षा में वह खूब रगड़ा गया, यद्यपि पहले उसका आग्रह रहा कि हिन्दुस्तान की सेवा के लिए सैनिक-शिक्षा की ही ज्यादा आवश्यकता है।

जब राजनीतिक शिक्षा कुर्बान के मजहबी ख्याल को हटा चुकी थी, तब भी भौतिकवाद पर वह सबसे ज्यादा इतराज करता था और वे इतराज होते थे इस्लामिक दर्शन की ओर से। कुर्बान बोलनेवाले विद्यार्थियों में से था। हिन्दुस्तानियों को किसी सभा या मीटिंग में बोलना होता, तो कुर्बान का नाम पहले आता। अप्रैल (1922) में राजनीतिक शिक्षा समाप्त होते-होते कुर्बान की सारी मानसिक गुत्थियाँ सुलझ गईं। अब वह पूरा मार्क्सवादी बन गया। फिर उसने एक ही साथ तरुण-कमूनिस्ट-लीग और कमूनिस्ट पार्टी की मेम्बरी के लिए दरख्वास्त दे दी। लेकिन वह इतनी जल्दी स्वीकृत होनेवाली बात थोड़े ही थी। अब वह दो साल की उच्च-शिक्षा लेने में लग गया। गर्मियों में खूब सैनिक-शिक्षा ली और चारों तरह के हथियारों और टैंक के चलाने का काम सीखा। लड़कपन में कोहकाफ की परियों और जिन्नों की जो कहानियाँ पढ़ी थीं, उससे कोहकाफ उसके दिल

में खास आकर्षण रखता था। 1923-24 में वह कोहकाफ देखने जाता रहा। हाँ, परियाँ वहाँ जरूर थीं—वहाँ की तरुण सुन्दरियाँ कुर्वान को वैसी ही मालूम हुईं, लेकिन भयानक जिन्नों की जगह वहाँ हँसमुख मिलनसार मानव मिले। पढ़ाई समाप्त करने के एक साल बाद, वह शिक्षक वनानेवालों की जमात में पढ़ता रहा। 1925 में तीन महीने फैक्टरी-शिक्षा लेता रहा, दिन में फैक्टरी में काम करता और रात में मजदूर-संगठन की वातें सीखता।

यूरोप में एक साल—कुर्वान को जो सीखना था, वह सीख लिया। अव वह स्वदेश लौटकर कार्यक्षेत्र में कूदना चाहता था। नवम्वर (1925) में उसने सोवियत भूमि छोड़ी। जर्मनी में पहले-पहल मुक्का तानकर कमूनिस्टों को सलाम करते देखा—पूँजीपतियों के पिट्ठू नाजियों के जवाव में मजूरों ने यह सलाम निकाला था। फ्रांस, स्विट्जरलैंड होते वह इटली पहुँचा और मिलानो तथा तूरीनो में महीनों रहा। इटालियन भाषा उसने सीख ली। कुर्वान ने मुसोलिनी के फासिस्टों के अत्याचारों को नजदीक से देखा—राजनीतिक चेतनावाले मजूरों को फासिस्ट किस तरह पीटते—किस तरह कमूनिस्टों और सोशलिस्टों को रेंडी का तेल पिला-पिलाकर दस्त-कै के मारे मार डालते थे। यहीं से कुर्वान ने किसी हिन्दुस्तानी अखवार में गरीवी पहला लेख लिखा।

भारत में—मार्सेई से जहाज पकड़कर नवम्वर में कुर्वान वम्वई पहुँच गया। इन छै सालों में वह 18 वर्ष के गभरू जवान से 24 साल का तरुण ही नहीं हो गया था, वल्कि शिक्षा और तजर्वे ने उसके मस्तिष्क को बहुत प्रौढ़ वना दिया था। अव वह अपने वास्तविक काम में लग गया। लेकिन अप्रैल (1927) में पुलिस ने बम्वई में गिरफ्तार कर लिया। फ्रंटियर ले जाकर पेशावर में उस पर राजद्रोह (दफा 121 ए) का मुकदमा चलाया गया। अभी तक कमूनिस्टों पर जितने मुकदमे चले थे, यह पहला अवसर था, जिसमें कुर्वान ने मास्को में जाकर शिक्षा प्राप्त करना स्वीकार किया था, पुलिस इसे भी अपराध बतलाती थी। अदालत ने पाँच साल की सजा दी। अपील का फैसला करते समय हाईकोर्ट ने कहा कि मास्को में जाना और पढ़ना गुनाह नहीं है और पाँच साल की सजा को तीन साल कर दिया। जेल में ज्यादातर स्यालकोट में रहना पड़ा। यद्यपि पुलिस मेरठ षड्यंत्र में कुर्वान को फँसाना चाहती थी, लेकिन वह दो साल पहले ही से जेल में था, इसलिए फँसाया नहीं जा सका, यद्यपि उसके नाम वारंट निकाला गया था।

14 नवम्वर (1929) को कुर्वान जेल से छूटा। उस समय मेरठ-षड्यंत्र में फँसे साथियों के डिफेन्स के प्रबन्ध में लगा रहता या लाहौर में नौजवान-भारत-सभा का अध्ययन-चक्र चलाता।

27 अगस्त, 1930 को कुर्वान फिर गिरफ्तार कर लिया गया। सरकार मुकदमा चलाने से डरती थी, इसलिए 1818 ईसवी के तीसरे रेगुलेशन के अनुसार राजवन्दी वनाकर जेल में ठूँस दिया गया। राजबन्दी जीवन के उसके चार साल धर्मशाला, लाहौर, मुल्तान और मुजफ्फरगढ़ में बीते।

19 मार्च, 1934 में कुर्वान जेल से वाहर आया और फिर अपनी धुन में लग गया। मजूरों, किसानों और विद्यार्थियों में राजनीतिक जागृति पैदा करना उसका काम था। भाषण के अलावा लेख भी लिखता रहता। असेम्वली का नया चुनाव आया, तो सिकन्दर हयात के पिट्ठू उम्मीदवार के खिलाफ पश्चिमी मजूर-निर्वाचन-क्षेत्र से कुर्वान खड़ा हुआ। मुकावला सख्त था और हर उचित-अनुचित तरीकों को इस्तेमाल किया गया, तो भी वह सिर्फ 300 वोटों से हारा। 1936 में कितने ही समय तक लाहौर में उसे नजरबन्द रखा गया।

1937 में कुर्वान ने अपने एक नजदीकी रिश्तेदार की लड़की अजवसुल्तान से शादी की। बीवी अजब उर्दू पढ़ी-लिखी हैं, लेकिन पति से बिलकुल उलटा ख्याल रखती हैं। अल्लामियाँ की पक्की भगतिन हैं। कुर्वान गरीबों के लिए काम करता है, यह बात उन्हें बुरी नहीं लगती, मगर घर में फाकाकशी को पसन्द नहीं करतीं। शुरू में तो जवान पठानी लड़ जाती, लेकिन मियाँ के 19 महीने जेल में बन्द हो जाने पर दिल नरम हुआ और अव पति को खुश रखने का ज्यादा ख्याल रखती हैं। अजव बीवी कसीदा काढ़ने में बहुत दक्ष हैं और मुहल्ले की आधी लड़कियाँ उन्हीं की चेली हैं। पर्दा खूब करती हैं। कुर्वान पूछता है—"आखिर कब तक ?" अजब बीवी का जवाव है—"बाहर ले चलो, फिर बुर्का उठाकर फेंक दूँगी।" जवाब वाजिब है।

जेल में नजरवन्द—कुर्बान रामगढ़ कांग्रेस में आया। कमूनिस्ट पकड़े जा रहे थे, इसलिए वहीं से वह अन्तर्धान

ही गया और सात महीने तक छिपकर ही काम करता रहा। 24 अक्तूबर को उसे गिरफतार कर लिया गया। पाँच-पाँच महीने तक पुलिस की हवालात में रख करके पंजाब सरकार ने अपने न्याय का एक अच्छा उदाहरण उपस्थित किया। जब इस पर हल्ला होने लगा, तो उसे लाहौर-किले में बन्द कर दिया गया, जहाँ वह दो महीने रहा, फिर मई 1941 में मांटगोमरी जेल में नजरबन्द कर दिया गया। पुलिस अँगूठे का निशान लेना चाहती थी, कुर्बान ने इन्कार कर दिया, इस पर मुकदमा चलाकर चार मास की सजा दी गई, जिसे झंग जेल में बिताया। 22 अप्रैल (1942) को उसे गुजरात जेल के नजरबन्दों में दाखिल कर दिया गया। पहली मई को जेल से छूटने के बाद कुर्बान फिर अपने काम में लग गया। आज वह पंजाब के मजदूरों के लिए अपना सारा समय दे रहा है। लायलपुर के मिल-मालिक मजदूरों की शिकायतों की ओर ध्यान नहीं देना चाहते थे, तंग आकर मजूरों ने हड़ताल कर दी। इसके लिए 5 जनवरी 1943 को कुर्बान फिर पकड़कर जेल में डाल दिया गया और मजदूरों की लड़ाई के सफल होने पर ही 20 दिन बाद उसे जेल से छोड़ा गया।

आदर्शवादी हृदय ने कुर्बान को हिजरत करने के लिए मजबूर किया था; लेकिन आज जो आदर्श कुर्बान के सामने है, उसमें उसका हृदय और मस्तिष्क कुर्बानी करने में होड़ लगाये हुए है; इसीलिए कुर्बान मजूर-किसान क्रान्ति का चिरतरुण सिपाही और नेता है।

35

तेजासिंह 'स्वतंतर'

प्रमुख तिथियाँ—1901 जुलाई 16 जन्म, 1907 गुरुमुखी-शिक्षा, 1908-13 हरदोसन्नी प्रा. स्कूल में, 1913-16 धारीवाल मिशन स्कूल, 1916-20 अमृतसर खालसा कालिजियट स्कूल में, 1920 स्कूल से असहयोग, राजनीति में, 1921 अकाली आन्दोलन में, 1922 शिरोमणि कमेटी के तरुणतम मेम्बर,—गुरुद्वारा तेजा पर विजय, और स्वतन्तर नाम,—'गुरु का बाग में'—काबुल में; 1923 काबुल से भारत (जनवरी)—दुबारा काबुल में (अप्रैल)—पंजाब लौट आए (मई),—1923 घर से महाप्रयाण (5 जुलाई),— तीसरी बार काबुल में (जुलाई), फिर 20 अगस्त को चल- मजारशरीफ, हेरात, कुश्कबाकू-बातूम, कस्तुन्तुनिया (20 नवम्बर); 1923 दिसम्बर—1929 अगस्त अंकारा (तुर्की) के सैनिक-कॉलेज में, 1929 तुर्की से (अगस्त), बुल्गारिया, सर्बिया, इतालीं, स्विट्जरलैंड, फ्रांस, न्यूयार्क (3 दिसम्बर), सान्फ्रांसिस्को; 1930 युक्तराष्ट्र अमेरिका में, 1931 जनवरी 26 युक्तराष्ट्र से निकल जाने का हुकुम—दक्षिणी अमेरिका में चिली, अरखन्तीनो; 1932 ब्राजील; (मई का आरम्भ), पोर्तुगाल (जुलाई), स्पेन, फ्रांस, जर्मनी, तुर्की, लेनिनग्राद; 1932 सितम्बर 22—1934 जुलाई 26; सोवियत में, 1934 बर्लिन (अगस्त),—मोंबासा से (10 नवम्बर) बम्बई, पंजाब; 1936 जनवरी, बम्बई में गिरिफ्तार 1936-1942 मई राजबन्दी (केम्बलपुर), 1936 मेट्रिक पास, 1937 पंजाब एसेम्बली की मेम्बरी, 1939 बी. ए. पास किया, 1942 मई 5 जेल से बाहर।

21 साल की उम्र में जिसने अपने सैनिक कौशल का परिचय दिया और मुट्ठी-भर आदमियों की मदद से 500 जवानों द्वारा सुरक्षित एक किले पर बिना कुछ नुकसान उठाए कब्जा कर लिया। 21 साल ही की उम्र में जो एक उच्च संस्थान तरुणतम मेम्बर चुना गया। 21-22 वर्ष की उम्र में जिसने सीमा-रक्षियों को चकमा देकर तीन-तीन बार विदेश की यात्रा की, जिसने सैनिक साइन्स की आवश्यकता समझ अपनी तरुणाई के बहुमूल्य 6 साल सैनिक कॉलेज की उच्च शिक्षा में बिताए, फिर समुद्रों और चार-चार महाद्वीपों को कितनी ही बार आर-पार करना रहा। जिसका जीवन अपना जीवन नहीं, बल्कि भारतमाता की थाती है। यह है वह सरदार तेजासिंह, जिसे साथी कामरेड 'स्वतंतर' कहकर पुकारा करते हैं।

तेजासिंह स्वतंतर–जिसे पहले माता-पिता ने समुन्दरसिंह नाम दिया था–का जन्म 16 जुलाई 1901 में गुरदासपुर (पंजाब) के अकालगढ़ के एक छोटे-से टोले अलूना में हुआ था। अलूना में कुल चालीस घर बसते हैं, जिनमें दस घर किसानों के पास ही अपनी जमीन है। वह गरीब गाँव है।

तेजासिंह के पिता सरदार कृपालसिंह (अभी जीवित) का असली मकान भुच्चर (जिला अमृतसर) में था। जवानी में रोजी की खोज में वह चीन, बर्मा और मलाया में घूमते रहे। उन्होंने दुनिया देखी थी और गरीबी के थपेड़े खाए थे। पीछे वह अलूना में आकर बस गए, जहाँ उनके पास बारह एकड़ (चौदह घुमाँव) जमीन हो गई। सरदार कृपालसिंह ने गुरुमुखी पढ़ी थी और पीछे हिन्दी भी। वह पंजाबी के कवि हैं। वह ज्यादा स्वतन्त्र विचार के हैं और अपने ज्येष्ट पुत्र को स्वतंत्रता का पाठ पहले-पहल उन्होंने ही पढ़ाया। स्वतंतर की माँ सरदारिनी रामकौर (जीवित) और भी गरीब घर की लड़की थीं। उनके पिता के पास दो एकड़ जमीन थी, जो भी कर्जे में बिक गई। लेकिन गरीबी ने रामकौर के दिल को कड़ा नहीं, बहुत नरम कर दिया था। सरदार कृपालसिंह ने घर में जिन विचारों का बीज बोया, उसका असर उनके सबसे बड़े लड़के स्वतंतर पर ही नहीं, दोनों छोटे लड़कों पर भी पड़ा। बूढ़े सरदार भी आज जिला-किसान-सभा के सभापति हैं–पुत्र को आगे बढ़ाकर वह स्वयं पीछे रहना क्यों पसन्द करते ?

स्वतंतर की सबसे पुरानी स्मृति उन्हें चार वर्ष की उम्र तक ले जाती है। उस समय वह पांथी को बोसी कहकर किसी चीज को माँग रहे थे। उन्हें तरह-तरह की चीजें दी जाती थीं, जब उन्हें एक गुटका दी गई, तो रोना छोड़ उसे लिए हुए सो गए। बड़े चचा रिसाला में नौकर थे, छुट्टी लेकर घर आए थे, उसी समय उनका घोड़ा घर ही पर मर गया। स्वतंतर को वह दृश्य अब भी याद है।

बाल्य–सरदार कृपालसिंह (गिल) जानते थे, कि सिर्फ दिमाग ही काफी नहीं है, दिमाग के साथ मजबूत शरीर भी जरूरी है। वह अनुशासन पसन्द करते थे, खासकर काम करने और पढ़ने में। बच्चे के खेलने में वह कोई रुकावट पेश नहीं करते थे, और जब समुन्दरसिंह (स्वतंतर) अखाड़े में लोट-पोट करने लायक हुआ, तो कुश्ती करने के लिए उत्साहित करते। बचपन में दो-ढाई साल तक स्वतंतर बीमार रहे, लेकिन मालूम होता है, वह बीमारी जिन्दगी-भर के लिए थी, और फिर वह बहुत ही कम बीमार पड़े। बचपन ही से स्वतंतर को सोचने की आदत थी। घर से पाँच सौ गज पर हरदोसन्नी का स्कूल था। घर से निकले स्कूल के लिए; खेत में पौधे को देखा, जाकर उसके पास बैठ गए। तीन घण्टा चार घण्टा बीत गया और वहाँ से हट नहीं रहे हैं। वह सोच रहे थे–"पौधा क्यों हुआ ? क्यों होता है ? कैसे होता है ?" बालक स्वतंतर अपनी उलझन में फँसा उसे सुलझाने की कोशिश कर रहा था, घरवालों ने समझा कि कोई भूत लग गया है; वह ओझा-सयानों को दिखलाते फिरते थे। बचपन से ही स्वतंतर की स्मरण-शक्ति बहुत तीव्र थी। लम्बे सालों में उन्होंने जो अनेक लम्बी यात्रायें कीं, उनके सन् नाम ही नहीं कितनों की तारीख तक उन्हें याद है। बचपन में कहानियाँ सुनते, जिनमें कितनी ही लम्बी-लम्बी भी होतीं और स्वतंतर को सुनने-भर से याद हो जातीं। यद्यपि स्वतंतर की विचित्र एकांत-प्रिय रुचि से घरवालों को भूत लगने का डर होता, मगर स्वतंतर को भूत का भय न था, वह कब्रिस्तान में बैठकर दूसरे बच्चों को डराते।

शिक्षा–स्वतंतर के दादा अत्यन्त वृद्ध 104 साल के होकर मरे। उन्होंने ही पोते को गुरुमुखी पढ़ाई। छह साल का हो जाने पर घर से पाँच सौ गज दूर हरदोसन्नी के प्राइमरी स्कूल में स्वतंतर का नाम लिखा दिया गया। वह पाँच साल यहीं उर्दू पढ़ते रहे। गणित में उनका मन खूब लगता था, और जबानी-हिसाब में तो और भी तेज थे। दर्जे में अव्वल-दोयम् रहा करते थे। घर आकर स्वतंतर बाप से हिन्दी पढ़ते। बाप के विचार कितने उदार थे, यह इसी से मालूम होगा, कि उन्होंने एक सैय्यद से बेटे को कुरान भी पढ़वाया था। नौ साल की उम्र में स्वतंतर ग्रंथसाहब का अच्छी तरह पाठ कर लेते, जिसे लोग आश्चर्य की बात समझते थे।

पाँच साल की पढ़ाई के बाद हरदोसन्नी में पढ़ने को और कुछ नहीं रह गया। अब स्वतंतर को अंग्रेजी पढ़नी थी। उन्हें धारीवाल के मिशन हाईस्कूल में (1913) दाखिल करा दिया गया, जहाँ साल-भर बाद छठे दर्जे में पहुँच गए। स्वतंतर जैसे मेधावी बालक के लिए स्कूल की पाठ्य-पुस्तकें बहुत कम होतीं। स्वतंतर

का बहुत समय बच रहता, उसे वह कभी खालसा-तारीख (इतिहास) पढ़ने में लगाते, कभी योगवाशिष्ठ (हिन्दी) पढ़ने में। उन्हें व्याख्यान देने का भी शौक था, और हर हफ्ते स्कूल में या बाहर लेक्चर दिया करते। योगवाशिष्ठ के साथ-साथ साधुओं से मिलने-जुलने का भी स्वतंतर को शौक था, जिसके कारण जन्मजात दार्शनिक स्वतंतर पर कितनी ही बार वैराग्य भी चढ़ाई कर देता था। यद्यपि इस समय धर्म पर विश्वास था, तो भी उनका मन तर्क-प्रधान था। कितनी ही बार वह स्कूल में भी नहीं जाते। 1915 में उन्होंने सिर्फ 35 दिन हाजिरी दी थी। अध्यापक प्रास करना नहीं चाहते थे, मगर उन्हें अगले दर्जे में चढ़ाना पड़ा, क्योंकि स्वतंतर साल-भर की पाठ्य-पुस्तकों को समझते थे।

स्वतंतर की प्रकृति ऐसी थी कि साथ के विद्यार्थी भी उन्हें महात्मा समझते थे। मिशन स्कूल में पढ़ते, इसलिए इंजील पढ़ना जरूरी था। एक दिन ईसाई मास्टर ने इंजील मेज पर पटकते हुए कहा, "देखो हम पोथी की पूजा नहीं करते, लेकिन सिक्खों ने ग्रंथ को ही देवता बना लिया है।" तेजासिंह के साथी हरचन्द ने कहा–"श्रद्धा का विशेष फल होता है।" मास्टर ने डाँट दिया। स्वतंतर ने उसका पक्ष लेकर कहा–"ठीक तो कहता है।" मास्टर मारने उठा। तेजासिंह ने उसे खूब पीटा और स्कूल छोड़ दिया। मामला मिशनरियों की कौंसिल तक गया, इंजील-मास्टर को माफी माँगनी पड़ी। मगर, स्वतंतर तो स्कूल छोड़ चुके थे।

लड़ाई चल रही थी। स्वतंतर अखबारों को पढ़ते थे, किन्तु शायद यह मानने के लिए तैयार नहीं थे, कि उनके पढ़ने में योगवाशिष्ठ से ज्यादा लाभ है। सिक्ख-तारीख पढ़कर वह विदेशी शासन के विरोधी हो गए थे, इसलिए पिछले महायुद्ध की प्रत्येक जर्मन-सफलता उनके लिए खुशी की चीज थी।

अप्रैल 1916 में वह अमृतसर के खालसा कॉलेजिएट हाईस्कूल में पढ़ रहे थे। अगले साल 1919 में युद्ध का जो प्रभाव अल्पवित्त किसानों पर पड़ा, उससे सरदार कृपालसिंह के घर की हालत खराब हो गई। चीजें महँगी हो गई थीं, खानेवाले ज्यादा हो गए थे और आमदनी वही पुरानी। पुत्र के लिए स्कूल में खर्च भेजना भी उनके लिए मुश्किल था। इस समय माँ ने अपने जेवरों को देकर पुत्र की पढ़ाई को चालू रखा, कभी-कभी कोई साथी भी मदद कर देता। 1919 में उन्होंने नवीं क्लास पास की। इसी साल एक ही साथ उन्होंने पंजाब की तीनों पंजाबी साहित्य-परीक्षायें–बुद्धिमान्, विद्वान्, ज्ञानी–पास कर लीं। परीक्षा देकर लाहौर से जब लौट रहे थे, उस वक्त पंजाब में क्रूर मार्शल-ला चल रहा था, रेलें बन्द हो गई थीं। स्वतंतर को पैदल चलकर गुरदासपुर स्टेशन से नौ मील दूर अलूना पहुँचना पड़ा।

पंजाबी-साहित्य में स्वतंतर की बहुत रुचि बचपन ही से थी। पिता कवि थे, इसलिए स्वतंतर ने बचपन ही में तुकबन्दियों का खिलवाड़ शुरू किया था। अमृतसर में आने पर कोई मेला या गुरुपर्व बाकी नहीं जाता, जिसमें स्वतंतर अपनी कविता न सुनाते हों। कॉलेज के मैगजीन में उनकी कविताएँ छपा करती थीं। इन कविताओं के कारण स्वतंतर को लोग दूर-दूर तक जानने लगे थे। वेदान्त-वैराग्य बराबर स्वतंतर का पीछा करता आ रहा था। 1918 की गर्मियों में वह ऋषिकेश में पहुँच गए, और साधुओं के साथ झोपड़ियों में रह सिद्धान्तकौमुदी पढ़ने लगे। शायद सिक्ख-इतिहास और पिता का कर्मठ जीवन इसमें कारण हुआ, जो कि स्वतंतर ने वैराग्य-योग का रास्ता उसी वक्त पकड़ नहीं लिया।

1920 में स्वतंतर मेट्रिक (दसवें दर्जे) में पढ़ रहे थे, इसी समय अमृतसर में गांधीजी आए। स्वतंतर जैसे वक्ता को बोलने का मौका न मिले, यह हो नहीं सकता था। 19 साल के तरुण स्वतंतर ने गांधीजी की उस बड़ी सभा में भाषण दिया, कविता भी पढ़ी, जिसमें न-मिल-वर्तन (=असहयोग) पर जोर दिया गया था। बाप भी कहा करते थे–गुरुसाहब मनुष्य थे, इसलिए उनके जैसा हम भी बन सकते हैं, हाँ बनने के लिए त्याग और तपस्या की जरूरत है। स्वतंतर के दिल में यह बात बैठ गई थी। उन्होंने स्कूलों में हड़ताल कराने में खूब भाग लिया, और अपने जोशीले व्याख्यानों से कितने ही विद्यार्थियों को शैतानी स्कूलों से निकल आने में सहायता दी। छुट्टियाँ हो गईं। स्वतंतर जानते थे, कि छुट्टियों के बाद मुझे स्कूल में जगह नहीं मिल सकती, उन्होंने पहले ही विदाई ले ली।

राजनीतिक क्षेत्र में–स्वतंतर की बुद्धि जितनी तेज थी, उससे वह पढ़ने में बहुत आगे बढ़ गए होते, मगर

उनके मार्ग में बाधाएँ थीं—कभी घर की गरीवी चिन्ता में डाल देती, कभी वेदान्त-वैराग्य का भूत सर पर चढ़ जाता और वाहरी पुस्तकों के पढ़ने का शौक तो था ही। अब (1920) वह 19 साल के जागरूक जवान थे। वह अखवार की खवरों को पढ़ते और वचपन में चार-चार घण्टे तक पौधे के पीछे पड़ा रहनेवाला दिमाग इन खवरों के पीछे की वास्तविकता को जानने की कोशिश करता। तुर्की में क्या हो रहा है ? बोल्शेविक क्या हैं ? देश में मार्शल-ला है। तुर्क और वोल्शेविक क्यों 'लड़ते' हैं ? यह विचार करते-करते स्वतंतर भी लड़ाके बनते जा रहे थे—सोचते थे मुझे भी कुछ करना चाहिए। उस समय पंजाव के अत्याचारों के लिए जाँच कमेटी काम कर रही थी। इसी समय ननकाना साहव के गुरुद्वारे में महन्त के आदमियों ने कितने ही सिक्खों को बुरी तरह से मारकर जला दिया। स्वतंतर का सहपाठी हरदत्तसिंह उनके घर पर पहुँचा। उसने ननकाना साहव की बात सुनाई और कहा—स्कूल तो तुमने छुड़वाया, लेकिन अव कुछ करना चाहिए।

स्वतंतर ने पंजाव का एक चक्कर लगाया। सन् 1921 आया। ननकाना के सिक्ख शहीदों का खून रंग लाने लगा। सारे पंजाव में अकाली-आन्दोलन शुरू हो गया और धर्म और देश के लिए सिक्खों में हर तरह की कुर्वानी करने के वास्ते चारों ओर जोश फैलने लगा। गुरदासपुर में एक सभा हो रही थी। स्वतंतर आठ आदमियों का जत्था वनाकर सभा में पहुँचे। स्वयंसेवकों के लिए अपील की गई। स्वतंतर की तवियत खराव थी, तो भी उन्होंने व्याख्यान दिया। वाप ने पंथ के लिए अपना, स्वतंतर और लड़की का नाम पेश किया। दीवान (सभा) ने कहा—तो आओ अभी से काम के मैदान में चले आओ। एक तरह से उसी दिन (मार्च 1921 को) स्वतंतर ने घर की माया-मोह छोड़ी और तव से वरावर कूच में रहे।

स्वतंतर पहले अपने जिले में घूमे और वहाँ 3600 अकाली वालंटियर भरती किए। वह जत्था वाँधकर जलंधर और होशियारपुर के जिले में प्रचार करते फिरे। वीस व्याख्याता तैयार किए और उनकी जमात से कोई गाँव छूटने नहीं पाया। सभी वालंटियर सत्याग्रह के लिए तैयार थे। सवके पास कृपाण (तलवार) थी। वह स्वयंसेवकों को गदका-फरी और दूसरी बातें सिखलाते थे। उन्होंने जगह-जगह कांग्रेस और खालसा (सिक्ख) कमेटियाँ कायम कीं। अकाली जत्थे संगठित किए। उनके व्याख्यानों में नौ-नौ दस-दस हजार आदमी जमा होते और खूब शौक से सुनते। स्वतंतर बीच-बीच में योगवाशिष्ठ और कुरान की बात बोलते जाते। उनके खिलाफ तीन बार वारंट निकले, मगर वह हाथ न आए।

शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी—सिक्खों की सवसे बड़ी संस्था जिसके पास करोड़ों की सम्पत्तिवाले गुरुद्वारे हैं—के मेम्बरों का 1922 में चुनाव हुआ। गुरुदासपुर ने स्वतंतर को चुना। उसके सबसे कम उम्र के मेम्बर 21 साल के स्वतंतर थे। वह अकालियों के सभी बड़े-वड़े संगटनों (शुद्धिदल, मिलिटरी, धर्म-प्रचार) में प्रमुख व्यक्ति थे।

गुरुद्वारा तेजा की विजय—बात और लेक्चर करने का समय खतम हो रहा था, अव काम करने का समय आया था। गुरुद्वारा तेजा के पास वहुत भारी सम्पत्ति थी, जिसे एक महन्त मनमानी तौर से खर्च करता था। सिक्ख-पन्थ ने चाहा कि गुरुद्वारे का सुधार किया जाय। महन्त यहाँ भी ननकाना साहव की आवृत्ति करना चाहता था। अब गुरुद्वारे पर कब्जा करना था। कौन वहादुर है, जो अकाली वीरों का नेतृत्व करके गुरुद्वारा तेजा पर अधिकार जमावे—यह सोचते हुए पन्थ (सिक्ख-जनता) की दृष्टि सरदार समुन्दरसिंह पर पड़ी। पन्थ ने उन्हें जत्थेदार (सेना-नायक) बनाया और उसी समय समुन्दरसिंह को तेजासिंह नाम प्रदान किया। जिस गुरुद्वारे का नाम मुझे पहिले ही मिल गया, उसे फतेह करना होगा—स्वतंतर ने संकल्प कर लिया। स्वतंतर ने यद्यपि सैनिक कौशल पर पुस्तकें अभी नहीं पढ़ पाई थीं, मगर वीरता भर देनेवाली बहुत-सी बातें पढ़ी थीं। राजपूतों की वहादुरी की कहानियाँ उन्होंने खूब पढ़ी थीं; नागरी-प्रचारिणी और दूसरी जगहों से छपी वीरगाथापूर्ण ऐतिहासिक पुस्तकों का उन्होंने एक अच्छा-खासा संग्रह कर लिया था।

स्वतंतर गुरुद्वारा तेजा और उसके महन्त के वारे में काफी ज्ञान रखते थे। उनके मन ने कहा—"सतनाम से काम नहीं चलेगा। तभी तो गुरु नानक की परम्परा में गोविंदसिंह को अवतार लेना पड़ा। महन्त के पास पाँच सौ लड़ाके हैं। ऐसी तदबीर करनी चाहिए, कि बिना मारकाट के ही हम गुरुद्वारे पर अधिकार कर लें।"

कुछ सोचा फिर बाप से कहा—"आप साधु बनकर महन्त के पास चले जाइए और हमें गुरुद्वारे के भीतर की एक-एक बात की खबर देते रहिए। हम दो जाट भगत दे रहे हैं। ये गुरुद्वारे में आया-जाया करेंगे, इनके जरिए सूचना भेजिएगा कि गुरुद्वारे में कितने लड़ाके हैं और उनके पास हथियार क्या-क्या हैं।" स्वतंतर ने तीन घड़ियों में एक समय बनाकर एक बाप को, एक भगत को दे दिया और तीसरी अपने पास रख ली। प्राणों की बाजी लगानेवाले अस्सी स्वयंसेवकों को हरएक बात बतलाकर खूब तैयार किया। आठ आश्विन (सौर, 24 सितंबर) 1922 के पाँच बजे सुबह गुरुद्वारा पर आक्रमण करने का समय निश्चित किया गया। गुरुद्वारा तेजा किले की तरह बना हुआ है। महन्त को मालूम था कि अकाली हमला करनेवाले हैं, इसलिए उसने पुलिस बुला ली थी। पुलिस भी फाटक के सामने बैठी थी। काम कितना मुश्किल है, इसे स्वतंतर अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने अपने समेत 25 स्वयंसेवक चुने और उन्हें दो जत्थों में बाँट दिया। दीवार फाँदना, गदका चलाना आदि की पूरी तालीम हो चुकी थी। उस रात उन्होंने 14 मील दूर जा जत्था जमा लिया। गुरुद्वारे के भीतर की सारी बातें स्वतंतर के पास पहुँचती रहीं। जत्थे ने गुरुद्वारे की ओर कूच किया। सबने मरकर भी पीछे न हटने की कसम खाई थी। इसी समय चर ने आकर कहा कि प्रतीक्षा करके महन्त के बहुत-से आदमी चले गए हैं। स्वतंतर ने 56 आदमियों को रखकर बाकी को छह सौ गज पीछे रहने का हुकुम दिया और यह भी कहा—"सफल हो जाने पर हम 'सत् श्री अकाल' का नारा लगाएँगे, उस समय तुम लोग चले आना। यदि हम सफल न होंगे, तो वहीं मर जाएँगे और तुम्हारा काम होगा सारे देश में जाकर आन्दोलन करना।"

आखिर वह घड़ी आ गई। घड़ी की सुई ने सुबह के पाँच बजने का संकेत किया। तेजासिंह और उनके साथियों ने कुछ दूर जाकर अपने जूतों को छोड़ दिया और वह दबे पाँव आगे बढ़ने लगे। फाटक के पास पुलिस के 3 सिपाही सो रहे थे और चौथा ऊँघ रहा था। साढ़े पाँच बजे बाप ने दरवाजा खोल दिया। दरवाजा बहुत भारी था, यदि यह इन्तिजाम न किया गया होता, तो दरवाजे ही पर अकालियों को देर हो जाना पड़ता। दरवाजा ढकेलने पर आवाज हुई। स्वतंतर के साथियों ने झूठे गदके की आवाज शुरू की, फिर लाठी चलनी शुरू हुई। सोए आदमी घबड़ा गए। सरदार कृपालसिंह को भीतर की सारी बातें मालूम थीं। उन्होंने पता दिया। लड़ाई शुरू हो गई। संगीन की तरह लाठियों की मार की जाने लगी। घायल चीखने-पुकारने लगे। स्वतंतर ने ललकार कर कहा, जिन्हें जान बचानी हो, वह दोनों हाथों के पंजों को बाँधे यहाँ आकर बैठ जाएँ। छत्तीस आदमी आकर बैठ गए। महन्त भी पिटा। सबको बाहर निकाल गुरुद्वारे पर कब्जा कर लिया और बाकायदा पहरा बैठा दिया गया।

'सत् श्री अकाल' की आवाज सुनते ही बाकी अकाली भी गुरुद्वारे में पहुँच गए। घास के भीतर छिपे नौ और आदमियों को पकड़ा गया, इस तरह 45 युद्धबन्दी हाथ लगे।

महन्त ने एक बार फिर हिम्मत की। दूसरे दिन 11 बजे दल-बल के साथ उसने हमला किया। स्वतंतर ने अपने साथियों को कह रखा था कि गाँववाले गाली भी दें, तो भी जवाब मत देना, जो ऊपर चढ़ने की कोशिश करे, उसे नीचे गिरा देना। महन्त के आदमियों ने दीवार फाँदने की कोशिश की, मगर असफल रहे। दरवाजे में आग लगानी चाही, उसमें भी उन्हें सफलता नहीं हुई। अब उनकी अकल काम नहीं कर रही थी। स्वतंतर ने 25 जाँबाज अकालियों को 25 नंगी तलवारें दे दरवाजा खोल दिया और फिर उन्होंने बाहर से सारे गुरुद्वारे की परिक्रमा की। महन्त और उसके पिट्ठुओं की हिम्मत नहीं हुई।

उसी दिन 200 हथियारबन्द पुलिस आ पहुँची। उन्होंने गोली चलाने की धमकी दी। मगर, स्वतंतर और उनके साथी प्राणों की बाजी लगाए हुए थे। अधिकारियों ने सोचा, अब तो कब्जा इनका हो ही गया है, किसका हक है, इसका फैसला दीवानी अदालत का काम है। पुलिस उसी शाम चली गई।

गुरुद्वारा तेजा पर अधिकार हो गया, अकाली वीरों ने पूरी निर्भयता का परिचय दिया। लेकिन, अब तो जायदाद को सम्हालकर बैठना था, कितने दिनों ?—इसका पता नहीं। उनके बाल-बच्चे भी थे और खेती-बारी भी। अनिश्चित काल तक के लिए वहाँ बैठे रहना सम्भव नहीं था। वालंटियर खिसकना चाहते थे। स्वतंतर को अब इस सेना की कमजोरी मालूम हो गई। उन्होंने सोचा कि जब तक ऐसी सेना न तैयार की जाए, जिसको

घर-बार का बन्धन नहीं, तब तक काम न हो चल सकता। उस समय उन्होंने 'स्वतंतर' जत्थे की नींव डाली—"इस जत्थे में वे ही स्वयंसेवक रह सकते हैं, जो कुल-परिवार से 'स्वतंतर' (मुक्त) हैं। स्वतंतर जत्थे का नियम है, सभी कड़े अनुशासन को मानेंगे, किसी को अपने पास जायदाद नहीं रखनी होगी। जिसके पास जायदाद हो, वह बेचकर उसे जत्थे में दाखिल कर देगा।" लोगों ने अपने को अर्पण करना शुरू किया और उसी दिन 22-23 जवान स्वतंतर-जत्थे में शामिल हो गए। ऊपरवाले नेता विजय से खुश थे, मगर स्वतंतर की कुछ स्वतंत्र बातें उन्हें पसंद नहीं आईं, खासकर स्वतंतर-जत्थे की बातें उन्हें खतरनाक मालूम हुईं।

गुरुद्वारा कोठियाँ—तेजा में आए 8-10 ही दिन हुए थे, कि पता लगा, गुरुद्वारा कोठियाँ का महन्त गुरुद्वारे की चीजों को बेच रहा है। जवानी और विजय का जोश था। उसी समय 8 घोड़ों पर काठी बाँध 8 सवार कोठियाँ की ओर चल पड़े। धाक जम चुकी थी। महन्त की हिम्मत मुकाबला करने की नहीं हुई, वह भाग गया। गुरुद्वारा कोठियाँ भी पंथ के कब्जे में आ गया। इसके बाद चार मास तक सरकार के साथ संघर्ष रहा, जिसमें दूर-दूर के अकाली जत्थे आए। स्वतंतर को और ज्यादा जानकारी प्राप्त करने का मौका मिला। इस तरुण जरनैल की दूर-दूर ख्याति हो गई। शिरोमणि सभा ने एक तम्बू देकर स्वतंतर का सम्मान किया।

जिस समय 'गुरु का बाग' के लिए सत्याग्रह चल रहा था, स्वतंतर भी वहाँ सौ जवानों के साथ पहुँचे। एक महीने तक वह कँटीले तारों के घेरे में बन्द रहे। खाना रोक दिया गया था, मगर रात के समय वह किसी न किसी तरह पहुँच ही जाता था। जब अमृतसर के प्रसिद्ध सरोवर की सफाई का काम शुरू हुआ तो उसमें स्वतंतर ने 3000 के जत्थे के साथ भाग लिया।

दिसम्बर 1922 आया। सिक्खों में जैसी अकाली लहर चली थी और लोग जिस तरह कुर्बानी के लिए तैयार थे, उसे देखकर विदेश के क्रान्तिकारी सिक्खों को उत्सुकता होने लगी, वह सोच रहे थे—किस तरह संप्रदाय के एक संकीर्ण दायरे के भीतर खर्च होती शक्ति सारे देश के उद्धार में लगाई जाए। बाबा गुरुमुखसिंह पिछले युद्ध के समय फाँसी के तख्ते से बच गए थे, मगर वह सारी जिन्दगी जेल में बन्द होने के लिए तैयार नहीं थे। वह और उनके कितने ही साथी जेलों से भाग निकले। उन्होंने इस जोश को देखा। बाबा गुरुमुखसिंह अकालियों के बड़े-बड़े नेताओं से मिले। अमेरिका में रहनेवाले सिक्ख भी इस कोशिश में पड़े और उन्होंने कई साथियों को क्रान्ति की विद्या सीखने के लिए रूस भेजा। ऊधमसिंह काबुल के सिक्खों में जागृति लाने के लिए वहाँ पहुँचे। उनमें जागृति आई और उन्होंने शिरोमणि कमेटी से प्रचारक-जत्था भेजने की प्रार्थना की। कमेटी स्वतंतर से बढ़कर बहादुर वक्ता और 'ज्ञानी' तरुण को नहीं पा सकती थी।

काबुल में पहली बार—अब तीन रागियों (भजन गानेवालों) के साथ स्वतंतर खुले तौर से अफगानिस्तान पहुँचे। स्वतंतर दिन-भर सिक्खों में व्याख्यान देते, वार्तालाप से धर्म में सुधार करने की जरूरत बतलाते। सोते वक्त ऊधमसिंह पास में आकर बैठ जाते। तीन-चार दिन बाद ऊधमसिंह ने धीरे-धीरे बात करनी शुरू की—"सिर्फ गुरुद्वारा का ही सुधार करना है, या बड़े गुरुद्वारे का भी ?" "बड़ा गुरुद्वारा क्या ?" "भारत, यही हमारा हिन्दुस्तान है।" स्वतंतर पर धीरे-धीरे असर होने लगा।

स्वतंतर ने काबुल में गुरुद्वारा कमेटियाँ बनाईं, हिन्दी-गुरुमुखी पढ़ने के लिए पाठशालायें खुलवाईं। शाह अमानुल्ला से मिले और उनके प्रधान सेनापति नादिरखाँ (पीछे नादिरशाह) से तीन बार भेंट कर घण्टों बातें कीं। सिक्खों के सुधार में सबकी सहानुभूति थी और अमानुल्ला की सरकार ने हर तरह के सुभीते प्रदान किए।

ऊधमसिंह की बात सुनते-सुनते स्वतंतर इस परिणाम पर पहुँचे, कि बड़े 'गुरुद्वारे' का सुधार सबसे जरूरी है और यह काम असहयोग करने, कपड़ा फुँकवाने, और शराबबन्दी से नहीं हो सकता, साथ ही इतने बड़े काम को सिर्फ सिक्ख ही नहीं कर सकते, इसमें मुसलमान और सभी देशवासियों को साथ लेना होगा।

1923 की फरवरी में स्वतंतर फिर हिन्दुस्तान लौट आए। वह आनन्दपुर गए हुए थे। वहाँ किसी ने एक साधु से मिलने को कहा। यह साधु और कोई नहीं बाबा गुरुमुखसिंह थे। साधु से बातचीत हुई। यह तै हुआ कि उन्हें काबुल पहुँचाना होगा।

दूसरी बार काबुल में—स्वतंतर बाबा गुरुमुखसिंह को लिए पेशावर पहुँचे। पेशावर से जब वह मोटर में

बैठे, तो पुलिस थानेदार भी आकर बैठ गया। लंडीकोतल में पहुँचने पर थानेदार ने सवाल-जवाब करना शुरू किया। वह सरदार करमसिंह और तेजासिंह के बारे में पूछता था। फिर साधु को छोड़कर तेजासिंह को वह थाने में ले गया। देर हो रही थी और उधर भूख भी लगी थी। स्वतंतर ने कहा—"रोटी तो खिलवाइए।" थानेदार बोला—"हमें तुम्हारे ऐसे बच्चों से क्या लेना है ?" "तो मैं खाकर चला आता हूँ"—कहकर स्वतंतर हाते से बाहर आ गए। ढूँढ़-ढाँढ़कर वह गुरुद्वारा में पहुँच गए। जैसे तैसे अफगानिस्तान की सीमा के पासवाली बस्ती (डक्का) में पहुँचे। सरहद पार होना सबसे बड़ी समस्या थी। वहाँ के गुरुद्वारा का भाई (ग्रंथी) स्वतंतर की बहादुरी से प्रभावित तो था, मगर वह कोई मदद नहीं कर सकता था। रात रहते ही सराय का दरवाजा खुलवाया। सरहद पार हो अफगानिस्तान के भीतर बीस ही गज जा पाए थे, कि अफगानी सिपाही ने गोली मारने की धमकी दी। लाचार वहीं सीमा पर बैठ गए। इसी समय अंग्रेजी गारद आ गया। उसने स्वतंतर को पकड़ लिया। हवलदार ने उर्दू में सवाल शुरू किया। स्वतंतर यह सोचकर फारसी बोलने लगे, कि वह उन्हें अफगानी सिक्ख समझें। हवलदार ने हाथ छोड़ दिया। और फिर यह कहकर भगा दिया—जा भाग जा, नहीं तो हम भी मारे जाएँगे।

अफगान सिपाही फिर हुज्जत करने लगा। स्वतंतर ने सोचा, यदि यहाँ मारपीट करें, तो अफगानिस्तान में पहुँचने में आसानी होगी। यह सोच वह सिपाही से झगड़ने लगे। सिपाही उन्हें थानेदार के पास ले गया। थानेदार कुछ लेकर छोड़ देना चाहता था। वह बीस रुपया माँग रहा था, मगर स्वतंतर के पास ढेरी से अलग सिर्फ पाँच रुपए थे। वह नहीं चाहते थे, कि थानेदार को ढेरी का पता लगे। वह पाँच रुपया देने के लिए तैयार थे। अभी वह थानेदार के यहाँ बैठाए हुए थे, कि काबुल से पेशावर जानेवाला एक आदमी आ पहुँचा। उसमें स्वतंतर के परिचित ईश्वरसिंह (काबुली) भी थे। ईश्वरसिंह ने जनरल नादिरखाँ के हस्ताक्षर के सहित एक चिट्ठी दी, जिसमें डक्का के कमाण्डर को लिखा गया था, कि तेजासिंह और उसके पाँच साथियों को हमारे देश में आने दे और उन्हें हर तरह की सहूलियत प्रदान करे।

तेजासिंह ने थानेदार से कहा कि तुम कर्नेल से फोन पर बात कर लो, हमारे लिए चिट्ठी आई हुई है। कर्नेल ने थानेदार की उस बेवकूफी पर दस गालियाँ सुनाई, और स्वतंतर को तुरन्त भेजने का हुकुम दिया। स्वतंतर को दो सिपाही मिले। वह सरकारी मोटर पर आगे के लिए रवाना हो गए। उस समय अभी रास्ता उतना अच्छा नहीं था। स्वतंतर तीन दिन में काबुल पहुँचे।

अप्रैल (1923) का महीना था। स्वतंतर को अभी यहाँ रहना था। उन्होंने गुरुद्वारों से महन्तों को हटाया और सिक्खों में सुधार का आन्दोलन चलाया। मगर अब वह बड़े गुरुद्वारे के सुधार के लिए कमर कस चुके थे। ऊधमसिंह ने उन्हें और बातें भी बतलाईं। स्वतंतर को मालूम देने लगा कि देश की आजादी के लिए सैनिक-साइन्स का जानना अत्यन्त जरूरी है। उस समय अफगानिस्तान में तुर्की का राजदूत जनरल उमर फखरुद्दीन पाशा थे। इस जेनरल ने सीरिया और अरब के मैदान में अपना वह रणकौशल दिखाया था, कि अंग्रेज उन्हें 'तुर्की का बाघ' कहते थे। स्वतंतर ने पाशा से बातचीत की। वह इस बाईस वर्ष के तरुण से बहुत प्रभावित हुए और बोले—हम तुर्की में तुम्हारी सैनिक-शिक्षा के लिए इन्तिजाम कर देंगे। मगर अभी स्वतंतर को वहाँ जाना नहीं था।

महीने-भर से कुछ कम ही काबुल में रहे और फिर ऊधमसिंह के साथ स्वतंतर भारत को लौट आए। डक्का के रास्ते से नहीं आ सकते थे, इसलिए उन्होंने चोर रास्तों के बारे में पूछ-ताछ की। लालपुर में आकर उन्होंने चमड़े की मशक की नाव ठीक की और अँधेरा होते एक रास्ता दिखलानेवाले पठान और एक दूसरे सिक्ख को ले काबुल नदी में मशक को छोड़ दिया। मशक नीचे की ओर बह चली। एक प्रपात में मशक उलट गई। खैर तैरना जानते थे, मशक पकड़कर फिर चढ़े। रास्ते में सिपाही ने रोका। सर्दी थी, सिपाही भी ठिठुरा हुआ था। स्वतंतर ने कहा—"हम पेशावर जाते हैं, तलाशी लेना हो ले लो।" सिपाही ने छोड़ दिया। पेशावर से आठ मील दूर लोग मशक से उतर पड़े और पंजाब चले आए।

मई का आधा बीत चुका था। स्वतंतर और उनके साथी ने कितने ही लोगों से बातचीत की, अन्त में

तै यह हुआ कि सैनिक-शिक्षा के लिए कुछ विद्यार्थी वाहर भेजे जायँ। इन विद्यार्थियों में स्वतंतर का नाम सबसे पहले आया।

विदेश की लम्वी यात्रा—स्वतंतर जानते थे, अव न जाने कितने सालों के लिए घर का मुख नहीं देखेंगे। वह माँ-बाप से मिलने घर गए। 5 जुलाई (1923) को अलूना से प्रस्थान किया। ऊधमसिंह भी उनके साथ थे। पेशावर से किसी सवारी पर वह शक्कदर गए। वहाँ गन्ने के खेतों में छिपे रहे। गन्दाब नाम का एक छोटा नाला ही सीमा है—अफगानिस्तान और अंग्रेजी राज्य की सीमा नहीं, वल्कि स्वतंत्र कवीलों और अंग्रेजी राज्य की सीमा है। रात को नाला पार कर एक घाटी पर पहुँचे। उस दिन 8 जुलाई थी। कवीलेवालों ने तेजासिंह को गिरिफ्तार कर लिया। स्वतंतर के साथ एक पठान रक्षक भी था। पठान ने कबीलेवालों को बहुत समझाया। मगर वह छोड़ने के लिए राजी नहीं हुए। इस पर कवीले-कवीले में लड़ाई होने की धमकी देकर वह वहाँ से चल पड़ा। चन्द मिनट वाद कवीलेवालों को अकल आई, और उन्होंने स्वतंतर को छोड़ दिया। स्वतंतर आगे चले। रात ही रात चल सकते थे। एक जगह गिरकर मौत के मुँह में जाने से वाल-वाल बचे। अफगान सरहद पार हो लालपुर पहुँचे। उस दिन पेशावर छोड़े तीन रोज हो चुके थे।

एक-दो दिन आराम कर कावुल चले गए। वहाँ अमेरिका से आए दो सिक्ख उन्हें मिले, जो रूस से होकर आए थे। 20 अगस्त (1923) को सवने सारी परिस्थिति पर विचार किया। हिन्दुस्तान में मजूर-किसान आन्दोलन शुरू किया जाय और उसके लिए 'कीरती-किसान' पत्र निकाला जाय। स्वतंतर के लिए तै हुआ कि वह सैनिक-शिक्षा के लिए तुर्की जायँ। इसी वक्त स्वतंतर को मार्क्स और लेनिन की कितनी ही बातें सुनने को मिलीं, कई पुस्तकों के नाम भी सुने।

तुर्की राजदूत ने स्वतंतर को तुर्की जाकर सैनिक-शिक्षा प्राप्त करने के लिए कई चिट्ठियाँ दीं।

स्वतंतर ने किराये का टट्टू किया, और चारे कार, वामियान हो हिन्दूकुश पार कर, खुर्रम, ऐबक, काशकुर्गन होते 20 दिन में मजार-शरीफ पहुँचे। उनकी पोशाक अफगानी थी, और अपने को इंजीनियर बतलाते थे। साथ में टट्टूवाले को छोड़ और कोई नहीं था। मजार-शरीफ से रूसी इलाके की ओर जाना अच्छा नहीं था, क्योंकि अमीर और बोल्शेविकों का युद्ध वहाँ अभी वन्द नहीं हुआ था। स्वतंतर आमू के तट तक गए और गोलियों की आवाज सुनी, फिर मजार-शरीफ लौट आए। अव उन्हें लम्बा रास्ता पकड़ने के सिवाय कोई चारा न था। मजार-शरीफ से उन्होंने हिरात का रास्ता लिया और वलख, अन्दकूई, आखचा, मेमना, मुर्गाव और किला-नौ होते 25 दिन में वहाँ पहुँचे। रास्ता खतरे का था। एक जगह डाकुओं ने पकड़ा। बाईस साल के स्वतंतर के मुँह पर थोड़ी-थोड़ी दाढ़ी निकल आई थी, वह फारसी में बोल रहे थे। डाकुओं ने समझा—कोई नौजवान मुल्ला है। "सन्दूकची में क्या है"—पूछने पर, स्वतंतर ने कहा "कुरान-पाक"। डाकुओं ने मुल्ला से माफी माँगी और छोड़ दिया। एक डाकू स्वतंतर के साथ-साथ चला और तावीज देने के लिए बड़ी मिन्नत कर रहा था। स्वतंतर ने कहा—"अभी पाक नहीं हूँ, वजू करके दूँगा। साथ चले आओ।" हिरात जब थोड़ी दूर रह गया, तो डाकू से लौटते समय तावीज देने की बात कहकर छुट्टी लेनी चाही। डाकू ने कहा—"अच्छा हमारे लिए मुल्ला साहब दुआ करो।" मुल्ला साहव तो सारी दुनिया के लिए दुआ करते ही हैं।

हिन्दू और सिक्ख सौदागरों के कारबारी गुमाश्ते रास्ते की कई वड़ी वस्तियों में मौजूद थे, स्वतंतर के पास उनके लिए चिट्ठियाँ थीं। एक चिट्ठी हिरात के एक हिन्दू हकीम के नाम थी। हकीम ने बड़े आराम से रक्खा। हकीम योगवाशिष्ठ पढ़ रहा था, लेकिन बेचारे को उतना समझ में नहीं आता था। स्वतंतर ने जब योगवाशिष्ठ की गूढ़ बातों को समझा दिया, तो हकीम को यह तरुण एक खट्शास्त्री पंडित से कम नहीं मालूम होने लगा। उसने हिरात के गवर्नर के अर्थ-मन्त्री दीवान हुकुमचन्द से स्वतंतर की प्रशंसा की। स्वतंतर ने दीवान साहब के लिए गीता और योगवाशिष्ठ की कथा की। दीवान ने उन्हें अपना दफ्तर दिखलाया। इधर-उधर घूमकर हिरात को देखा। समय ज्यादा लग गया था और सोवियत में घुसने की तारीख़ बीत चुकी थी, इसलिए सोवियत् कौंसल से पासपोर्ट लिखवाना पड़ा और पिस्तौल आदि के लिए इजाजत भी ले ली। दीवान ने घोड़ा किराये पर कर दिया। स्वतंतर कुश्क के लिए रवाना हुए। उनके पास दवाइयाँ काफी थीं। और यात्रा में दवाइयों

के महत्त्व को वह खूब समझते थे। सितम्वर खतम हो रहा था। यहीं पहली वार उन्होंने आसमान से बरफ पड़ती देखी। एक छोटा-सा गाँव था। स्वतंतर एक-एक घर में गए, मगर किसी ने बैठने के लिए जगह न दी। गाँव में एक छोटी दस वर्गफुट की मसजिद थी, जिसके भीतर सोलह वेगारी मजूर भरे हुए थे। घोड़े की लगाम पकड़कर स्वतंतर एक छोर पर बैठ गए। बर्फ के पिघले पानी में किताबों के भीगने का डर था। खुर्जी खोलकर कितावें देखीं। किताबें ज्यादातर हिन्दी की थीं। मजूरों पर प्रभाव पड़ा। एक रोगी ने हाथ दिखलाया। स्वतंतर ने नब्ज देखी और दवा दे दी। दो-चार और मरीजों ने हकीम से दवा पाई। अव वहाँ स्वतंतर के लिए काफी जगह खाली कर दी गई। उनमें से कुछ ने दौड़कर गाँव से ईंधन ला आग जलाई। हकीम साहब के कपड़े सुखाए जाने लगे। खाने के लिए रोटियाँ उनके सामने रखी गईं।

आगे चलने पर चेहर-दुख्तरान् नामक आखिरी गाँव आया, जहाँ स्वतंतर ने मेर्व नदी पार की और फिर वह सोवियत की भूमि में दाखिल हो गए। गारद ने पासपोर्ट देखा, फिर एक सवार साथ कर दिया, और उसी दिन वहाँ से आठ मील चलकर वह कुश्क पहुँच गए।

सोवियत भूमि में प्रथम वार–कुश्क में रेलवे स्टेशन है। उन्हें अव कास्पियन तट पर जाना था। मालूम हुआ, रेल हफ्ते में सिर्फ दो दिन जाती है। पासपोर्ट देखने वाली रूसी स्त्री ने स्वतंतर के रहने का इन्तिजाम कर दिया। वे दो-तीन दिन वहीं रहे। यहाँ के पहाड़ उतने ऊँचे न थे। देहात भी हरी-भरी थी। स्वतंतर इस दो दिन के निवास का ज्यादा आनन्द नहीं उठा सके; उन्हें सख्त अतीसार (पेचिश) हो गया था। कुश्क से रेल पकड़कर वह मेर्व पहुँचे। रेल से तुर्कमानों की कोई बरात जा रही थी। नाना रंग के तरह-तरह के कपड़े पहने हुए बराती और उनके सिर पर बड़ा टोपा विचित्र-सा मालूम हुआ। मेर्व से वह कास्पियन के तट पर क्रास्नावोद्स्क बन्दर पर पहुँचे। अभी बन्दर वीरान-सा था। रास्ते में अश्काबाद में उन्हें एक बहाई प्रचारक मिला। उसने अपने धर्म के तत्त्व समझाने शुरू किए। मगर स्वतंतर बहुत-सा तत्त्व जानते थे, और अव इन तत्त्वों से कुछ उबकाहट आ रही थी। स्टेशन के पास खूव सब्जियाँ बिक रही थीं। स्वतंतर ने खूब अच्छी तरह सब्जी पकाई और गरमागरम रोटी भी, वह भूल गए कि अतिसार के रोगी हैं। जहाज पर सवार हुए। सत्रह-अठारह घण्टे बाद उस पार बाकू में उतरे। सब्जियों ने अपना गुण दिखलाया। कई जोर के दस्त आए और जब वह होटल में पहुँचे, तो बहुत ही कमजोर थे।

अब उन्हें तिफ्लिस और बातूम् के लिए रवाना होना था। रेलवे स्टेशन पर अपना सामान लादे पहुँचे। सामान छोड़कर टिकट कटाने कैसे जाएँ–यह सोच ही रहे थे कि एक आदमी उनके पास आ मीठी-मीठी बातें करने लगा। उसी समय एक रेलवे कर्मचारी आ गया। उसने उस आदमी को आवारा बतलाकर आगे सावधान रहने के लिए कहा और खुद ही टिकट ला दिया। अभी क्रान्ति के पहले दिन थे, पुराने उठाईगीरों का सफाया नहीं हो पाया था।

अक्तूबर का महीना था, जवकि स्वतंतर सोवियत के हिमालय–काकेशस–को रेल से पार कर रहे थे। उनके डब्बे में एक लाल सेना का अफसर था, जो हिन्दी का विद्यार्थी था। स्वतंतर से वह कितने ही शब्दों के बारे में पूछता रहा। यात्रा के लिए एक अच्छा साथी मिल गया था, यद्यपि भाषा की दिक्कत थी। स्वतंतर को कोहकाफ के पहाड़ी दृश्य वैसे ही मालूम हुए, जैसा चम्पा में हिमालय। तिफ्लिस होते बातूम पहुँचे। जिन्दगी भर में बहुत सुन्दर नजारा देखने को मिला था। जार्जियन स्त्री-पुरुष और भी सुन्दर मालूम हुए। उनके खूबसूरत गोरे चेहरे पर काली आँखें और काले बाल बहुत सुन्दर मालूम होते थे। स्वतंतर बहुत कमजोर थे, मगर हिमालय के इस सौंदर्य से वह अपने को वंचित नहीं रखना चाहते थे। घण्टों खड़े-खड़े प्रकृति की सुषमा को निहार रहे थे। उस समय उन्हें ख्याल आया कि मैं बीमार और कमजोर हूँ। उन्हें इसके कारण सख्त जुकाम हो गया। बातूम में वह इस्लाम-होटल में ठहरे। कमजोर थे, इसलिए उन्होंने एक भार-वाहक ले लिया था। भार-वाहक दस रूबल मजूरी माँगने लगा। स्वतंतर के पास रूबल सभी सोने के थे, और वह सोने का रूवल समझ रहे थे। होटलवाले ने वतलाया कि सोने का नहीं कागज का रूबल। मजूरी ज्यादा नहीं थी।

बातूम से उन्हें अब कस्तुन्तुनिया (स्तांवोल) जाना था। जहाज कभी-कभी जाते थे, इसलिए स्वतंतर को

बातूम में बीस दिन रुकना पड़ा। अव उनका स्वास्थ्य भी ठीक हो गया था।

तुर्की में—पाँच जुलाई को स्वतंतर ने अलूना छोड़ा था, बीस अगस्त को कावुल, अव 20 नवम्वर को कस्तुन्तुनिया जानेवाला जहाज उन्हें मिला। कस्टम-अफसरों से कुछ दिक्कतें उठानी पड़ी थीं। मगर उसी समय बातूम-स्थित तुर्की कौंसल मिल गया, जिसने बड़ी सहायता की। चार-पाँच दिन कालासागर के दक्षिण तट के पास-पास से जहाज चलता रहा। उस समय वर्षा हो रही थी, और आसमान तथा क्षितिज बहुत कम दिखलाई पड़ रहे थे। कस्तुन्तुनिया में वह स्टेशन के पास एक होटल में ठहरे। खर्चा बहुत काफी था। वह इस चिन्ता में थे, कि कितने दिनों तक यह रुपये चलेंगे। एक दिन उन्हें मौलाना उबेदुल्ला सिंधी का भतीजा मिल गया, जिससे उनकी कठिनाइयाँ दूर हो गईं। मौलाना ने कुछ और हिन्दुस्तानियों के नाम से परिचयपत्र दे दिया। दिसम्बर के आरम्भ में स्वतंतर तुर्की की राजधानी अंकारा में पहुँचे, और वहाँ एक राजपूतानी मुसलमान के घर ठहरे। जिन-जिनके नाम चिट्ठियाँ थीं, उन्हें दे दीं।

सैनिक कॉलेज में—दिसम्वर में स्वतंतर सैनिक कॉलेज में भर्ती हो गए। यद्यपि वहाँ की शिक्षा तुर्की भाषा में होती थी, लेकिन स्वतंतर ने सात महीने के परिश्रम के वाद कामचलाऊ तुर्की सीख ली। साढ़े पाँच साल का कोर्स था। उन्होंने वड़ी लगन से अपने अध्ययन को जारी रखा। तुर्की से ज्यादा फ्रेंच में पुस्तकें हैं, यह मालूम होने पर उन्होंने फ्रेंच भी सीखी। केश कितने ही समय तक रहे, लेकिन देखा कि उनसे सैनिक पोशाक पहनने में दिक्कत होती है, इसलिए सिर मुँड़वा दिया। आजाद वेग अव तुर्क-प्रजा भी थे। सभी साथियों का इस भारतीय के साथ सुन्दर वर्ताव था। सेना के जनरल भी उन्हें बहुत मानते थे। जनरल फखरी पाशा (तुर्क-व्याघ्र) ने तो उन्हें अपना लड़का बना लिया था। वह जनरल के घर में खाना खाते। जनरल के लड़के के साथ स्वतंतर का बहुत प्रेम था। एक दिन कमान्डर-इन-चीफ चकमक पाशा ने स्वतंतर से कुछ प्रश्न किए और हिन्दुस्तान की भूमिका सैनिक दृष्टि से वर्णन करने के लिए कहा। स्वतंतर के जवाव से वह बहुत सन्तुष्ट हुए। स्वतंतर ने साढ़े पाँच साल पढ़कर सैनिक कॉलेज की सर्वोच्च परीक्षा पास की और प्रेसीडेन्ट-कमीशन के अधिकारी हुए।

अमेरिका को—अगस्त 1929 में स्वतंतर आगे का काम देखने के लिए अब स्वतंत्र थे। पहले उन्हें अमेरिका जाना था। वुलगारिया, सर्विया, इताली, स्विट्जरलैंड, फ्रांस और बेलजियम होते वह जर्मनी पहुँचे। जर्मनी में उन्हें बावा गुरुमुखसिंह मिले। उनसे काम के बारे में वहुत-सी हिदायतें लीं, फिर फ्रान्स जा 29 नवम्बर (1929) में 'इलू-दू-फ्रांस' जहाज द्वारा रवाना हुए और तीन दिसम्बर को न्यूयार्क पहुँचे। न्यूयार्क में तीन-चार दिन रह नियाग्रा जल-प्रपात हो, कनाडा के भीतर से गुजरते डिट्राईट गए। यहाँ उन्हें अछरसिंह छीना मिले। फिर सानफ्रान्सिस्को जा भारतीय देशभक्तों से भेंट की। उस समय देशभक्तों में फूट पड़ गई थी। स्वतंतर ने जाकर उनकी हालत सुधारी, जासूसों को उनके भीतर से भगाया। अब वहाँ के कर्मियों में एक नया जोश था। उन्होंने अपने संगठन को खूब मजबूत किया। भक्तों ने दिल खोलकर पैसा दिया। पार्टी के पास अपनी कार और अपने हवाई जहाज थे। युक्तराष्ट्र अमेरिका में जहाँ-जहाँ हिन्दुस्तानी थे, वहाँ गए और एक जबर्दस्त संगठन तैयार किया। वहाँ की रियासतों और करीव-करीव सभी शहरों को देखा। अब स्वतंतर गुरुद्वारा तेजावाले सैनिक-शास्त्र से अनभिज्ञ 21 साल के अल्हड़ जवान नहीं थे। वह हरएक चीज को सैनिक दृष्टि से देखते थे, और सैनिक साइन्स में अमेरिका ने जो उन्नति की थी, उसकी ओर खासतौर से नजर रखते थे। सारा 1930 उनका युक्तराष्ट्र में बीता, अब बाहर से जोर पड़ा और 26 जनवरी 1931 को युक्तराष्ट्र ने देश से निकल जाने की नोटिस दे दी।

मेक्सिको होते वह पनामा पहुँचे। पनामा का पासपोर्ट नहीं था, मगर अपने साथियों ने वहाँ उतारने का इन्तिजाम कर लिया था। फरवरी में उतरकर वह पाँच महीने पनामा रियासत में रहे। पनामा में तीन हजार के करीब भारतीय (सिन्धी, पंजाबी व्यापारी-ड्राइवर और डाक कमकर) रहते हैं। पार्टी को वहाँ उन्होंने वड़े पैमाने पर संगठित किया। दो-तिहाई पंजावी ड्राइवरों ने मोटर-बस की हड़ताल की और उन्हें सफलता हुई। ड्राइवरों के लिए एक सहयोग-समिति कायम की। हिन्दुस्तान के आन्दोलन के लिए लोगों ने रुपया दिया। अव तक स्वतंतर ने मार्क्सवाद का काफी अध्ययन कर लिया था, ज्यादातर पुस्तकें फ्रेंच में पढ़ी थीं।

दक्षिणी अमेरिका–अब वह स्पेनिश भी पढ़ लेते थे। जहाज से वह पेरू के लीमा शहर में गए। चिली के वलपरेजो नगर में पहुँचे। उस दिन दूकानें जल्दी-जल्दी बन्द हो रही थीं, वहाँ बलवा हो गया था। किसी स्वार्थी शासन के सोने ने अखबारों में छपवाया था कि कोई तुर्की जनरल-स्टाफ का अफसर–जो कि दरअसल हिन्दुस्तानी है–कोमिन्तर्न (कम्युनिस्ट इंटरनेशनल) द्वारा दक्षिणी अमेरिका में भेजा गया है। उसके पास बहुत-सा मास्को का सोना है। वह लातिनी अमेरिका में बगावत फैला रहा है। स्वतंतर ने जल्दी-जल्दी टिकट ले जहाज पकड़ा, और चिली के सन्तियागू नगर में पहुँच गए। लासाँदेस पहाड़ को रेल से पार करते वक्त हिमालय याद आने लगा। अन्त में अर्खन्तीनो (अर्जन्तीन) के मन्दोसा शहर में पहुँचे। अर्खन्तीनो में बहुत-से भारतीय, विशेषकर पंजाबी रहते हैं, यह उन्हें मालूम था; इसी के लिए वह वहाँ पहुँचे थे। रोसारिओ स्टेशन पर जब अगस्त (1931) में पहुँचे, तो भगतसिंह विलगा वहाँ स्वागत के लिए मौजूद थे। अर्खन्तीनो की जमीन बहुत ही उपजाऊ है। वहाँ फलों के बगीचे, चीनी के कारखाने बहुत हैं। पंजाबी कमकर चीनी की मिलों और मोटरों में काम करते हैं। वहाँ रंग-भेद नहीं है। सभी को अर्खन्तीनो की प्रजा बनने और वोट देने का अधिकार है। मजदूरी भी बहुत ज्यादा है। स्वतंतर ने अर्खन्तीनो में एक साल रहकर भारतीयों में राजनीतिक जागृति पैदा की, और दक्षिण में बहिया ब्लंका से उत्तर में खुई तक का दौरा किया। मदोसा (पश्चिम) से बोनेस्-आयरस (पूर्व) तक जाकर सारे देश को देखा। स्वतंतर के आने से वहाँ के भारतीयों में राजनीतिक भावना खूब बढ़ गई।

1932 की मई में स्वतंतर ब्राजील गए। वहाँ रियो-दो-जेनेरो में सरदार अजीतसिंह के पास रहे। पता लगा, साँ-पावलो से आगे हिन्दुस्तानी रहते हैं, खेती और दुकान का काम करते हैं। स्वतंतर रेल के आखिरी छोर तक गए। ब्राजील से उराग्वाइ के भीतर से होते अर्खन्तीनो पहुँचे।

अब यहाँ पर भी काम दृढ़ हो चुका था, चार आदमी विशेष शिक्षा के लिए वहाँ से भेजे गए, जो भारत में जाकर सारा समय देशसेवा के लिए देना चाहते थे।

सोवियत रूस में–जुलाई (1932) में स्वतंतर बोनोस-आयरस से जहाज द्वारा यूरोप के लिए रवाना हो सके। पोर्तुगाल और स्पेन होते बोर्दो से पेरिस पहुँचे। वहाँ कुछ घण्टे रह बर्लिन चले गए। अब साथियों से मिलकर उन्हें सोवियत जाना था। स्वतंतर का बहुत-सा सामान अब भी तुर्की में पड़ा था, जिसके लिए वह वहाँ गए, और दोस्तों से मिले। पूर्वी यूरोप के बहुत-से देशों को देखा, फिर बर्लिन पहुँचे। वहाँ से एक जर्मन बन्दरगाह पर सोवियत-जहाज में चढ़ 21 सितम्बर को लेनिनग्राद। वहाँ वह एक ही दो दिन ठहरे और 22 सितम्बर को मास्को पहुँच गए। आगे के दो साल (जुलाई 1934 तक) उन्हें सोवियत में बिताने पड़े। इस समय इन्होंने अपने ज्ञान को और विस्तृत किया। रूसी भाषा पढ़ी। कितनी ही पुस्तकों का पंजाबी और उर्दू में अनुवाद भी किया। लाल सेना को उन्हें नजदीक से देखने का मौका मिला और वह उससे बहुत प्रभावित हुए। जहाँ दूसरे देशों के सैनिक-साइंस में एक तरह की स्थिरता, जड़ता, गतिशून्यता मालूम होती है, वहाँ सोवियत का सैनिक-साइन्स हर समय आगे बढ़ने, हर समय नई चीज को अपनाने में तैयार मालूम हुआ। दो साल का यह सोवियत निवास पंचवार्षिक योजना के युग में हुआ था। उन्होंने अपने आँखों महान् निर्माण को होते देखा। खार्कोफ, स्तालिनी, क्रिमिया और दूसरे बहुत-से उद्योग-केन्द्रों को स्वतंतर ने देखा। सामूहिक और सरकारी खेतीवाले नर-नारियों के साथ रहकर उनकी भावनाओं को अनुभव किया।

बारह साल बाद भारत में–शिक्षा समाप्त हो गई थी। अब स्वतंतर को भारत लौटना था। अगस्त 1934 में 8 घण्टे की विमान-यात्रा के बाद वह बर्लिन में उतरे। तुरन्त एक्सप्रेस ट्रेन पकड़ी और उसी दिन शाम को एन्टवर्प (बेलजियम) पहुँच गए। कुछ दिन रहकर पेरिस गए। वहाँ से मार्सेई जा दो-तीन महीने मजूर का काम किया, फिर पंजाबी कपड़े पहने और पंजाबी मजूर बन पूर्वी अफ्रीका के मोम्बासा नगर में अक्तूबर में पहुँच गए। 17 नवम्बर को वह बम्बई जाने वाले जहाज पर चढ़े। मुँह पर बड़ी-बड़ी मूँछें थीं और कमर में गुजराती धोती। बम्बई में उतरकर साथियों से मिले। अब वह साधु बन गए। शेखूपुरा, अमृतसर, लाहौर, जलंधर में संगठन का काम करते रहे।

जेल में–डेढ़ साल इस तरह अन्तर्धान रह काम करते-करते बीत गए थे, जबकि जनवरी 1936 में पुलिस

ने मातुंगा (बम्बई) में उन्हें गिरफ्तार कर लिया। अकबालसिंह और सोमनाथ लाहिड़ी भी उसी समय गिरिफ्तार हुए। पुलिस उन्हें लाहौर किले में ले गई। फिर कई-कई रातों लगाए रखना, गालियाँ देना, चिढ़ाना आदि-आदि सभी हथियार इस्तेमाल किए। मुकदमा चलाने के लिए सबूत नहीं था, इसलिए दो मास किले में रख 1818 के रेगुलेशन के अनुसार राजवन्दी बना कॅम्बलपुर जेल में भेज दिया, जहाँ उन्हें छह साल (1936 जनवरी–1942 मई) रहना पड़ा।

स्वतंतर चुप बैठनेवाले न थे। उसी साल उन्होंने खुद पढ़कर मेट्रिक पास किया, फिर एफ. ए. और 1939 में बी. ए. पास किया। विश्वविद्यालय ने इजाजत नहीं दी, नहीं तो एम. ए. भी कर लिए होते। 1937 में एसेम्बली का चुनाव हो रहा था। उस समय साथी स्वतंतर को भी एक चुनाव-क्षेत्र से खड़ा किया गया। गुरुद्वारा तेजासिंह के बहादुर को सिक्ख भूल नहीं सकते थे और उसके साहस तथा कुर्बानियों की गाथाएँ अब भी लोगों की जबानों पर थीं। विरोधियों ने नाम लौटा लिए और साथी स्वतंतर निर्विरोध एम. एल. ए. बन गए। लेकिन तब भी सरकार उन्हें छोड़ने के लिए तैयार नहीं थी। पाँच साल और उन्हें जेल में सड़ना पड़ा। मई 1942 में वह जेल से छूटे, बाहर आते ही प्रान्तीय किसान कान्फ्रेंस के सभापति हुए और देश के काम में ऐसे लगे कि सिर्फ दो बार गाँव गए।

स्वतंतर की शादी श्री हरभजन कौर से 1917 में हुई थी। हरभजन कौर ने भी अकाली-आन्दोलन में भाग लिया था और अब भी वह काम में तत्पर हैं। उनके दो भाइयों में एक सरदार वासुदेवसिंह दस साल तक राजवन्दी बनाकर जेल में बन्द रखे गए थे। दूसरे भाई सरदार साधूसिंह ढाई साल लाहौर के किले में रखे गए और अब गाँव में नजरबन्द हैं। साथी स्वतंतर के सात माह की एक बच्ची है। आज उनकी उम्र 42 साल की है, लेकिन अब भी उनका जोश पहले से घटा नहीं और बढ़ा है। यदि वह तुर्की फौज में शामिल हुए होते, तो आज अपने प्रतिभाशाली सहपाठियों की तरह जेनरल आजाद बेग होते, लेकिन कौन कह सकता है, कि हमारे देश को जैसे जेनरल की जरूरत है, वैसे जेनरल वह नहीं हैं।

36

बी. पी. एल्. वेदी

प्रमुख तिथियाँ–1909 अप्रैल 5 जन्म, 1913-17 घर में पढ़ाई, 1917-22 डेन हाईस्कूल, और दूसरे स्कूलों में; 1918 ननकाना हत्याकांड का प्रभाव, 1922-24 डी. ए. वी. हाईस्कूल (लाहौर) में, 1926 एफ. ए. पास, 1928 बी. ए. पास, लाजपत पर मार का भीषण प्रभाव; 1930 एम्. ए. पास, 1931 यूरोप देखते, आक्सफोर्ड में, मार्क्सवादियों से संबंध, 1931-32 गंभीर अध्ययन के बाद मार्क्सवादी, 1932 अप्रैल फ्रेडा से सगाई, 1933 बी. ए. (आनर्स) पास, 1933 ब्याह, 1933 जून–सितंबर यूरोप की सैर, 1933 सितंबर-1934 अगस्त बर्लिन विश्वविद्यालय में, 1934 मई 13 रंगा का जन्म, 1934 सितंबर भारत में, 1935 जनवरी 'कन्टेम्प्रेरी इंडिया' निकाला, किसानों में काम, 1936 दिसंबर भारतीय किसान-सभा के संयुक्त मंत्री, 1937 प्रान्तीय किसान-सभा के संयुक्त मंत्री, 1938 भारतीय कांग्रेस-सोशलिस्ट पार्टी की कार्यकारिणी में, पंजाब ट्रेड यूनियन कांग्रेस के सभापति, गुंडों के हाथों घायल, उलटा मुकदमा; 1938-39 'मन्डे मॉर्निंग' के एडीटर, 1940 दिसंबर 4–1942 अप्रैल 1 जेल में नजरबंद, 1942 अप्रैल 1 जेल से छूटे।

चार सदियों पहिले गुरु नानक ने प्रेम और भक्ति की ऐसी गंगा बहाई, जिसमें जाति और रंग का कोई भेदभाव नहीं था। उन्होंने आध्यात्मिक औषध का प्रयोग करके चाहा कि हिन्दुस्तान के रहनेवाले सारे भेदभावों को भूलकर

भाई-भाई बन जाएँ। गुरु नानक का नुसखा कितना सफल रहा, यह सिक्खों के रूप में हमारे सामने है। लेकिन, गुरु नानक का खून आज एक ऐसे तरुण के शरीर में बह रहा है, जिसने भी अपने पूर्वज की भाँति हिन्दुस्तान ही नहीं सारी दुनिया में भेदभाव मिटाने के लिए अपना जीवन अर्पण किया। यदि चाहता, तो वह भी अपने बड़े भाई की तरह आई. सी. एस. बनकर आराम की जिन्दगी बिताता, लेकिन उसने फूल के रास्ते छोड़े और काँटों के रास्ते को स्वीकार किया। इस तपस्वी-जीवन में उसके साथ चलने के लिए एक उच्च शिक्षा-प्राप्त प्रतिभाशालिनी अंग्रेज तरुणी भी तैयार हो गई। और, सिर्फ बातों से नहीं, अपने काम से उसने दिखला दिया, कि सारे ही अंग्रेज हिन्दुस्तान को गुलामी की जंजीर पहनाने के लिए तत्पर नहीं हैं। गुरु नानक जीवन के अन्त में रावी के दाहिने तट पर करतारपुर में आकर रहने लगे और कुछ समय रावी के दूसरे किनारे पर जिस जगह रहे, उसका नाम ही डेरा-बाबा नानक पड़ गया। बाबा नानक की मृत्यु के बाद डेरा और आबाद हो गया। बाबा नानक की संतान पीढ़ियों के साथ बढ़ती गई और आज उनकी संख्या डेरा-बाबा नानक की चार हजार आबादी में आधी है। गुरु की सन्तान होने से ये सभी आंगिरस गोत्री खत्री बच्चे बाबा कहे जाते हैं। शताब्दियों से सिक्खों के लिए यह सैय्यद और ब्राह्मण-गुरु रहते आए हैं। सिक्ख धर्म से प्रेम रखनेवाले सामन्तों ने वेदियों के प्रति सम्मान प्रदर्शन करने में खूब उदारता से काम लिया, क्योंकि इसके द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से सिक्ख जनता की सहानुभूति को वह अपनी ओर खींच सकते हैं। इस तरह वेदियों में शताब्दियों से सामन्ती जीवन चलता रहा। उनके पास बड़ी-बड़ी जागीरें रहीं, फिर तहसील बटाला (जिला गुरुदासपुर) के इस छोटे-से गामड़े का एक अच्छे-खासे कसबे के रूप में परिणत हो जाना स्वाभाविक था। डेरा में मुख्य गुरुद्वारा के अतिरिक्त चोलासाहेब भी एक बहुत ही पवित्र तीर्थ है। चोलासाहेब में वह चोला (चोंगा) रखा हुआ है, जिसे गुरु नानक ने मक्का में जाने पर पाया था। दोनों ही गुरुद्वारों में काफी जागीरें और खूब चढ़ावा चढ़ता है। बड़ा गुरुद्वारा तो अब महन्तों के हाथ से छिनकर अकालियों के हाथ में चला गया है, मगर चोलासाहेब अब भी वेदियों की वैयक्तिक सम्पत्ति है। वेदियों ने उदासी महन्तों की तरह अकाली लहर का मुकाबला नहीं किया, इसलिए उनसे गुरुद्वारा नहीं छीना गया। डेरा में हलवे (कड़ा-प्रसाद) की कई दूकानें हैं। शेख और कश्मीरी सौदागर किसी समय अच्छी तिजारत करते थे और वहाँ दोशाले का काम अच्छा होता था, लेकिन अब सिर्फ कम्बल, मामूली कसीदे और कंधियों का काम रह गया है।

वेदियों में दो-तिहाई केशधारी सिक्ख हैं। हमारे तरुण के परदादा आदि भी केशधारी थे। यद्यपि बाबा नानक ने जात-पाँत के खिलाफ बहुत कहा किया, और ब्राह्मणों को इसके लिए ताना भी दिया, मगर पीछे उनकी अपनी ही सन्तान सबसे बड़ी जात बन गई। इतनी ऊँची जात कि वेदी (बाबा नानक की औरस सन्तान) न अपनी लड़की को दूसरे कुल में देना चाहते थे और न दूसरे कुलवाले लेना ही चाहते थे। लोग समझते थे कि गुरु के वंश की लड़की को लेकर दुनिया में ही निर्वंश हो जाना पड़ेगा, मरने के बाद यमराज डंडा लेकर तो बैठे ही हैं। कहावत है– किसी घर में वेदी लड़की बहू बनकर गई, नाराजी में सास के लिए मुँह से निकल गया 'फिटे मुँह'। फिर क्या था, सास पागल हो 'फिटे मुँह' 'फिटे मुँह' ही बकने लगी। इस सबका यह परिणाम हुआ कि वेदियों में बेटियों के पैदा होने ही को बुरा नहीं समझा जाने लगा, बल्कि उन्हें जन्मते ही मार डालने का रिवाज चल पड़ा। अभी पिछली शताब्दी के अन्त तक वेदियों में लड़कियाँ जीने नहीं दी जाती थीं। लार्ड डलहौजी ने लड़कियों की हत्या बन्द करने की जो योजना निकाली थी, उसमें लड़की जीवित रखनेवाले पिता को जागीर दी जाती थी। हमारे तरुण वेदी के घर में 1870 का सर्टिफिकेट है, जिसमें किसी लड़की के जीवित रखने के लिए जागीर देने का उल्लेख है।

डेरा बाबा नानक के वेदी सिर्फ गुरु ही नहीं हैं, बल्कि वह सदा से वीर-लड़ाके होते आए हैं। महाराजा रणजीतसिंह के एक सेनापति जनरल अतरसिंह वेदी थे। जब वेदियों को बाहर लड़ाई लड़ने का मौका नहीं मिलता, तो वह एक-दूसरे के गर्दन पर ही अपनी तलवारों की शान धरा करते थे। महाराजा रणजीतसिंह को 'यदुवंशियों' के इस कलह से बहुत दुःख हुआ। एक बार वह डेरा-बाबा नानक आए। दरबार-साहेब का दर्शन किया, गुरु की सन्तान के प्रति सम्मान प्रकट किया। वेदी मुखियों को साथ लेकर मील-भर टहलने गए और

उन्हें समझाया—यदि आप हमारे गुरु लोग ही इस तरह आपस में झगड़ा-फसाद करते रहेंगे, तो दुनिया के दूसरे लोगों से क्या आशा की जा सकती है ? रणजीतसिंह को मालूम हो रहा था, कि उनकी बात का असर हो रहा है। इसी वीच किसी मामूली वात पर कहा-सुनी हो गई और फिर तलवारें निकल आईं। हाथियों के हौदे एक-दूसरे पर फेंके गए। रणजीतसिंह हक्का-बक्का देखते रहे। उन्होंने ग्रन्थ-साहेब के सामने मत्था टेककर कहा—"बावा, तुम्हारे बीच में पड़ना मेरी गुस्ताखी थी। अपनों के झगड़ों का फैसला तुम ही करो।" लाहौर जाकर रणजीतसिंह ने फर्मान निकाला, कि डेरा के वारह मील चारों ओर का प्रबन्ध वेदी लोग करेंगे; हमारे अफसरों को उसमें कोई दखल नहीं देना चाहिए। अफसर के दखल देने पर यदि कुछ हुआ, तो सारी जिम्मेवारी अफसर पर होगी।

पिछली शताब्दी के मध्य तक एक ही जाति के हिन्दू और सिक्खों में शादी बन्द-सी हो गई थी। कपूरथला रियासत के दीवान रामयश ने पंजाव के हिन्दुओं की कान्फ्रेंस बुलाई, जिसमें उन्होंने इस सुधार पर जोर दिया, कि हिन्दू और सिक्खों में ब्याह-शादी होनी चाहिए। किसी ने दीवान साहब को चैलेंज दिया—"हिम्मत है, तो अपने घर से ही क्यों नहीं शुरू करते।" दीवान साहब के मन में बात लग गई। नाई ने योग्य घर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते दस बरस के ईश्वरदास (मृत्यु 1922) को स्कूल में पढ़ते देखा। दीवान ने ईश्वरदास से अपनी लड़की फूलचम्बी (ब्याह का नाम फूल कौर) का ब्याह कर दिया। ईश्वरदास के दादा केश-दाढ़ी दोनों रखते थे। पिता ने सर का बोझ हलका कर दिया था, और सिर्फ दाढ़ी पर सन्तोष किया था। ईश्वरदास ने विश्वविद्यालय की परीक्षा (1905) में पास कर कपूरथला कॉलेज में साइंस की प्रोफेसरी कर ली। रसायनशाला में किसी प्रयोग में शीशे की नली फट गई, जिससे उनका स्वास्थ्य खराव हो चला और वीमारी के कारण कॉलेज छोड़ देना पड़ा। फिर उन्होंने सरकारी नौकरी कर ली और तहसीलदार बन गए।

ईश्वरदास और उनकी धर्मपत्नी फूल कौर को 5 अप्रैल 1909 को दूसरा पुत्र जन्मा, जिसका नाम प्यारेलाल रखा गया—गुरु नानक के वंशज होने से दो शब्द और मिले और लोग लड़के को वावा प्यारेलाल वेदी कहने लगे, जो अंग्रेजी की पढ़ाई में पहुँचकर बी. पी. एल. वेदी बन गया। पिता अनुशासन के वहुत कड़े थे। ताश खेलना तो देख भी नहीं सकते थे। हाँ, परीक्षा जब खतम हो जाती, तो दिन-रात ताश खेलने की छुट्टी थी, और खुद उसमें शामिल होते थे। धर्म के वारे में वह बहुत उदार थे और वेदी को कभी धार्मिक शिक्षा घर में नहीं दी गई। स्कूल में किसी मास्टर ने दूसरे लड़के का पक्ष ले बहस करते देख पूछ दिया—"तुम आर्यसमाजी हो ?" वेदी को कोई जवाव नहीं आया। पूछने पर पिता ने बतलाया—"न तुम आर्यसमाजी हो, न सिक्ख, न सनातनी; तुम मनुष्य हो।" पिता का अपने मुसलमान दोस्तों से बहुत स्वाभाविक और खुला संबंध था, वह उनके त्योहारों में उसी तरह शामिल होते, जैसे अपने त्योहारों में। माता फूल कौर (आयु 58 साल) का पुत्रों पर बहुत स्नेह था। लेकिन साथ ही उनमें गंभीरता भी काफी थी। फूल कौर की पुत्र-वधू फ्रेंडा ने अपनी सास का एक वहुत सुन्दर शब्द चित्र* 'मातृशाह का चित्रपट' के नाम से लिखा है। शरारत करने पर वह कभी-कभी पीटती भी थीं, मगर अपनी कमजोरी को छिपाने के लिए नहीं। उन्होंने उर्दू, गुरुमुखी, कुछ हिन्दी पढ़ी थी; मगर नई दुनिया के नये विचारों से कुढ़ मरना कभी नहीं सीखा। यद्यपि उनकी श्रद्धा धर्म पर बहुत पक्की रही, लेकिन फूल और मुसलमानों और ईसाइयों के सम्बन्ध में कट्टरता नहीं दिखलाती थीं। शायद इसमें पिता और पति का असर था। विलायत से जब वेदी ने अंग्रेज लड़की से शादी करने के बारे में माँ की आज्ञा माँगी, तो माँ ने लिखा था—"पिता ने तुम दोनों भाइयों को बच्चा छोड़ा था। भारत और विलायत में जो अच्छी-से-अच्छी शिक्षा हो सकती है, उसे दिलाना मैंने अपना फर्ज समझा, और वह पूरा हो गया। मैं समझती हूँ, तुम अपनी जिम्मेवारी समझते हो। तुम्हारे निश्चय से मैं खुश हूँ और मुबारकवाद देती हूँ।" फूल कौर ने उस समय अँधेरे में ही छलाँग मारी थी। उनको क्या मालूम था कि बहू फ्रेंडा ही उनकी सबसे प्रिय बहू होगी। वेदी ने विलायत जाने से पहले कपूरथला में जाकर माँ के जब पैर छूए, तो माँ ने सिर्फ इतना ही कहकर विदाई दी—"पुत्तर !

* Behind the Mud-Walls. pp. 10-20

मेरे दुद्ध दी लाज रखणी।" (मेरे दूध की लाज रखना) माँ ने कभी उपदेश द्वारा शिक्षा देने का प्रयत्न नहीं किया, उनकी शिक्षा आचरण द्वारा होती थी।

बाल्य–वेदी की सबसे पुरानी स्मृति तीन-साढ़े तीन साल के उम्र की है। माली नमाज पढ़ रहा था। जब सिज्दा के लिए वह सिर को धरती पर रखता, तो प्यारेलाल उसकी पीठ पर चढ़ जाता और उठ बैठने के वक्त उतर आता। सारी नमाज भर वह ऐसे ही करता रहा। पिता के पूछने पर बोला–"वह घोड़ा बनता, मैं चढ़ लेता।" वेदी का स्वास्थ्य बचपन ही से बहुत अच्छा रहा। चार साल की उम्र तक तो उसके शरीर पर मांस के रद्दे पर रद्दे चढ़ चले आते थे और वह अपने बोझ से गिर पड़ता था। फिर पतला होने लगा, तो इसके लिए घरवाले लज्जा महसूस करने लगे। नौ साल की उम्र (1918) में टाईफाइड हो गया। जान पड़ता है, भीतर बैठी सारी गर्मी निकल गई और तब से वेदी सदा के लिए स्वस्थ हो गया। एक स्वस्थ लड़के की तरह वेदी को खेलने का बहुत शौक था–गुल्ली-डंडा, खुंड-विंडी (देशी हॉकी) खूब खेलता। तैरने को तो जान पड़ता है, होश सम्हालने से पहले ही सीख लिया था। घुड़सवारी भी उसी समय सीख ली थी और इस प्रकार वह रणजीतसिंह के वेदियों की पाँती में हिम्मत के साथ बैठ सकता था।

वेदी कहानियाँ भी बहुत सुना करता था। जब आँखें झँपने लगतीं तो ठंडा पानी लगा लेता। बूढ़ा ब्राह्मण दिन में भी कहानी सुनाने के लिए हठ करने पर कह देता–"नहीं, दिन में नहीं, नहीं तो राही राह भूल जायेंगे।" वेदी बड़ी उत्सुकतापूर्वक रात के आने की प्रतीक्षा करता। दोनों भाइयों में साढ़े तीन साल का अन्तर था। वेदी ही की तरह त्रिलोचन भी मजबूत था; लेकिन दोनों वेदी ठहरे, फिर बचपन में तो कम से कम वेदियों का धर्म-पालन कर लेना चाहिए। मामूली बात पर ही लड़ पड़ते। कुश्ती होती सो होती ही, कभी-कभी तो छुरी भी चल जाती। खून बहने लगता, तो नमक लगाकर दवा कर लेते, मगर माँ-बाप को कानों-कान खबर नहीं होने देते। उस समय के कुछ दाग अब भी वेदी के हाथों पर मौजूद हैं। भूत-प्रेत की कहानियाँ वेदी को पसन्द आती थीं, दिलचस्पी के कारण; भूत-प्रेत का डर नहीं लगता था। डेरा में चौराहे के पास एक दरख्त पर चुड़ैल के होने की बात कही जाती थी। वेदी ने रात को वहाँ जा-जाकर चुड़ैल देखने की बहुत बार कोशिश की थी।

जब (1913 में) वेदी 4 वर्ष का हुआ, तो दादा उसे साथ लेकर स्कूल में बैठा आए। लेकिन, एक द्वार से दादा स्कूल से निकले और दूसरे से वेदी ने निकलकर दादा की अँगुली पकड़ी। कई दिन ऐसा ही होता रहा। वेदी ने कह दिया–जितनी देर बाबा बैठेंगे, उतनी ही देर मैं भी बैठूँगा। बाबा दिन-भर तो स्कूल में बैठ नहीं सकते थे। घर के पुरोहित स्कूल में भी मास्टर थे, वे ही घर में पढ़ाने के लिए आने लगे। मगर वेदी उस समय चारपाई पर कूदता रहता, किताब पढ़े वेदी की बला। कुछ समय बाद पिता छुट्टी में घर आए। वेदी की समस्या उनके सामने रखी गई। दो-चार दिन बाद पिता ने माँ, पुरोहित और वेदी को बुलाया, फिर दूसरों को डाँटकर कहना शुरू किया–"तुम लोग क्यों इसे पढ़ाते हो ? यह ठीक करता है। इसे नहीं पढ़ाना होगा। हमारे घर में इतनी गायें, भैंसें, घोड़े हैं, इनको कौन चराएगा ? कौन इनके लिए पट्ठे काटेगा ? तुम लोग हमारा घर चौपट कर देना चाहते हो। खबरदार, जो इसको पढ़ाया तो ! इसके लिए जो काम है, वह करेगा। अच्छा बेटा ! तुमको कोई नहीं पढ़ायेगा। अब तुम अपना काम करना।" वेदी बड़ी चिन्ता में पड़ गया। उसका बड़ा भाई स्कूल में बाकायदा पढ़ने जाता था। उसने माल चरानेवालों और पट्ठा काटनेवालों को देखा था। वह काम कितना कठिन है, यह उसे मालूम था। उसने दूसरे दिन गिड़गिड़ाकर माँ से कहा–"अम्मा ! मैं तो पढ़ूँगा।" फिर उसने कभी पढ़ने से इन्कार करने का नाम न लिया। पंडतजी के आते ही किताब लेकर बैठ जाता। दस साल की उम्र तक वह घर पर ही पढ़ता रहा।

1917 में डेरा के डेन-हाईस्कूल (जिसकी स्थापना में दादा ने सबसे अधिक रुपया दिया था) में पाँचवें दर्जे में नाम लिखाया गया। इतिहास, भूगोल, अंग्रेजी में दिल लगता था, अलजब्रा, ज्यामेट्री में अच्छा रहता, किन्तु अंकगणित में कितनी ही बार शून्य तक पाने की नौबत आई। छठे दर्जे से फारसी भी शुरू हो गई। कविता और गाना सुनना उसे बहुत पसन्द था। टाँग के नीचे से डंडा फेंककर पेड़ पर चढ़ने का खेल उसे

बहुत पसन्द था। ऐसा ऊधमी और वलिष्ठ लड़का तो वालसेना का जरनैल होने के लिए ही वनाया गया था। वेदी की सेना महन्थों के वाग से फल चुराने में वहुत तेज थी, लेकिन माली कभी किसी को नहीं पकड़ सकता था। वेदी की उम्र उस समय 12-13 साल की थी। कसवे में चोरियाँ बहुत हो रही थीं। वेदी ने तरकीव सोची। अँधेरी रात थी। रास्ते में थोड़ी-थोड़ी दूर पर कई चारपाइयाँ विछा दीं। चोरों के आने पर हल्ला हुआ। लोग पीछा करने लगे। चोर चारपाई से टकराकर गिरने लगे। चोर पकड़ने में वेदी पहले थे, शहरवाले भी आ पहुँचे। तीन चोर पकड़ लिए गए। कभी-कभी जव चाचा बन्दूक ले पानी की चिड़ियों का शिकार करने जाते, तो वेदी भी उनके साथ जाता।

साल-भर डेरा में पढ़ने के वाद वेदी पिता के पास लाहौर चला आया, फिर पिता के साथ-साथ उसका स्कूल भी वदलता रहा। गुजराँवाला, इसका, चूनियाँ, कपूरथला में से कहीं भी वह एक साल से अधिक नहीं पढ़ा। लाहौर में तीन वार रहा, जिसमें दो वार सेन्ट्रल मॉडल स्कूल का विद्यार्थी था।

1918 में वेदी की उम्र नौ ही साल की थी, जव कि ननकाना साहव के महन्थ ने सिक्खों का कतले-आम करवाया था। वेदी को वह घटना सुनकर वहुत क्रोध हुआ था, वह सोचता था कि महन्त बुरे होते हैं, हम उनके वगीचे के फल तोड़कर खाते थे, तो अच्छा ही करते थे।

1922 में पिता का जव देहान्त हुआ, तो वेदी की उम्र 13 साल की थी। माँ ने बच्चे को अव एक जगह लाहौर के डी. ए. वी. स्कूल में दाखिल करा दिया; जहाँ से उसने 15 साल की उम्र में मेट्रिक फर्स्ट डिवीजन में पास किया। रस्सा खींचने, कुश्ती लड़ने और हॉकी में वेदी खूव हिस्सा लेता। दंड पेलना, मुगदर उठाना उसके व्यायाम का एक हिस्सा था। इस सारे समय में उसकी राजनीतिक चेतना इतनी ही वढ़ी थी, कि कभी-कभी गांधी टोपी पहन लेता।

कॉलेज में–1924 में वेदी गवर्नमेंट कॉलेज में दाखिल हुआ। तर्क, इतिहास, फारसी उसके पाठ्य-विषय थे। 1926 में एफ. ए. पास कर वह वी. ए. में पढ़ने लगा। इतिहास, अर्थशास्त्र और राजनीति उसके विषय थे। अभी तक राजनीति से वेदी कोरा था। 1928 में साइमल कमीशन आया। भारत के और शहरों की तरह लाहौर में भी उसके वायकॉट का जवर्दस्त प्रदर्शन हुआ। पुलिस ने लाजपतराय जैसे देशमान्य नेता को पीटा। जिसका बदला लेने के लिए भगतसिंह ने एक वड़े पुलिस अफसर को खतम किया। इन घटनाओं का वेदी के ऊपर बहुत जवर्दस्त असर हुआ। उसका दिल तिलमिलाया। उसमें रोष भर गया। लेकिन, अव भी उसने राजनीति से कोई सीधा सम्वन्ध नहीं जोड़ा। वह तो गामा के अखाड़े में कुश्ती लड़ने जाता। युनिवर्सिटी-सेना (यू. टी. सी.) का वह एक सरगर्म मेम्वर था। यद्यपि वेदी की पाठ्य-पुस्तकों में समाजवाद का भी जिक्र आता था, मगर उसके प्रोफेसर 1914 की अपनी कैम्ब्रिज की कापियों से पढ़ाते थे, और कैम्ब्रिज के प्रोफेसर शायद और दस साल पीछे की से; इसलिए उसे समाजवाद के महत्त्व का जरा पता भी नहीं लगा। युनिवर्सिटी के खेलों में वेदी खूव भाग लेता-था। हैमर-थ्रोइंग (गोला फेंकने) में पहले के सारे पंजाब के रेकार्ड को उसने तोड़ दिया और फिर वह सारे हिन्दुस्तान का चैम्पियन बना। इसी समय एक और घटना घटी, जिसने वेदी के जीवन में दिशा बदलने का काम किया। पंजाब-केसरी मर गया, सारा पंजाव और भारत अपने वीर की मृत्यु का शोक मना रहा था। इसी समय मॉडल-टाऊन (लाहौर) के रायसाहव के यहाँ शादी हो रही थी, और वहुत धूम-धाम से, खूब बाजा बज रहा था। वेदी के दिल को बहुत धक्का लगा। उसने कहा–"आज शोक का दिन है, और इन"के घर बाजा बज रहा है !" उसी समय उसे समझ में आया, कि व्यक्ति का जीवन राष्ट्रीय जीवन के सामने कुछ नहीं है।

अगले दो साल (1928-30) एम. ए. में पढ़ता रहा। उसने राजनीति और स्वतन्त्रता की लड़ाइयों पर खूब पुस्तकें पढ़ीं। 1929 में लाहौर में राष्ट्रीय कांग्रेस हुई, जिसने वेदी की राजनीतिक चेतना को और तीव्र किया। एम. ए. पास कर साल-भर के लिए वेदी को घर पर रहना पड़ा। भाई आई. सी. एस. में आकर विशेष शिक्षा के लिए विलायत जा चुका था। यह एक साल वेदी के लिए वास्तविक शिक्षा का था। इस समय उसने भारतीय स्वतंत्रता-आन्दोलन, अर्थशास्त्र और साम्यवाद पर बहुत-से ग्रन्थ पढ़े और सभी बातों पर खूब मनन

भी किया। वेदी पर गांधीजी का जबर्दस्त प्रभाव पड़ा। उसने खद्दर पहन चरखा कातना शुरू किया। उसका अहिंसा पर दृढ़ विश्वास हो गया। वेदी बचपन से ही गोश्त पर पला था, दिन में दो बार मांस तो जरूर बनता था और कभी-कभी तीसरी बार नाश्ते में भी आ जाता था। वेदी तुरन्त तो गोश्त छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुआ, मगर उस पर सोच रहा था।

इंग्लैंड में–अप्रैल 1931 में वेदी ने कोलम्बो (सीलोन) जाकर विलायत के लिए जहाज पकड़ा। कोलम्बो जाते हुए उसने मद्रास, श्रीरंगम् और रामेश्वरम् को देखा। लन्दन पहुँचने से पहले नेपल्स, वेनिस्, मिलन आदि इतालियन शहरों को देखा। विसूवियस् देखने गया, तो वहाँ से एक लावा उठा लाया, जिसे वह बराबरा अपनी मेज पर रखता था। जिनेवा (स्विट्जरलैंड) होते वह पेरिस पहुँचा। पेरिस में एक भोजनालय में दो दिन के चूजों के सूप का नोटिस देखा। उसी समय उसके दिल में आया–ये लोग कितने क्रूर हैं; दो दिन के बच्चे को अपना परमप्रिय भोजन समझते हैं ! इसी वक्त उसने मांसाहार का त्याग दिया और तब तक उधर हाथ नहीं बढ़ाया, जब तक गांधीवाद का लेशमात्र भी प्रभाव उसके दिल पर रहा। लन्दन पहुँचा। ऑक्सफोर्ड ने वेदी को लेना मंजूर कर लिया था। यह कोई आसान बात नहीं थी, लेकिन वेदी कहता–पुराना इतिहास पढ़कर क्या करूँगा। उसका दिल हुआ कि लन्दन-विश्वविद्यालय की अर्थशास्त्र-शाला में दाखिल हो जाऊँ, मगर उसके लिए समय बीत चुका था। हाई-कमिश्नर ने समझाया कि ऑक्सफोर्ड के प्रवेश को हाथ से जाने नहीं देना चाहिए। वेदी सोच रहा था कि जिनेवा में चलकर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन करे। उसने तय कर लिया था कि ऑक्सफोर्ड में भर्ती नहीं होऊँगा। स्वीकृति हो चुकी थी, इसलिए नहीं करने के लिए भी तो एक बार जाना जरूरी था। कॉलेज के ट्यूटर ने इन्कार की बात सुनकर पूछा–"आखिर बात क्या है ?"

वेदी ने कहा–"मैं पुरानी कथाओं को नहीं पढ़ना चाहता। क्लासिकल ग्रेड् को पढ़ने की मेरी बिल्कुल रुचि नहीं है।"

ट्यूटर ने कहा–"ऑक्सफोर्ड में एक मॉडर्न ग्रेड (आधुनिक अध्ययन) भी (1926 के आसपास से) है, जिसमें 17वीं सदी के बाद से परीक्षा में बैठने के दिन तक के दर्शन, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति आदि के साथ-साथ दो आधुनिक भाषाएँ पढ़नी पड़ती हैं। यह पत्रकारों और राजनीतिज्ञों के लिए बहुत उपयोगी अध्ययन है।"

वेदी की आँखें चमक उठीं, इन्हीं विषयों को तो वह ढूँढ़ रहा था। वेदी आक्सफोर्ड के हार्टफोर्ड कॉलेज का विद्यार्थी बन गया। ऑक्सफोर्ड का पढ़ाई का ढंग उसे बहुत पसन्द आया। अलग-अलग विषयों पर प्रकाण्ड विद्वानों का लेक्चर सुनने को मिलता, फिर ट्यूटर के साथ उन पर बहस होती और निबंध लिखना पड़ता। लेक्चर जहाँ क्लास के सारे लड़कों के लिए होता, वहाँ ट्यूटर विद्यार्थी की वैयक्तिक प्रगति का जिम्मेवार होता। वेदी के ट्यूटर मर्फी दर्शन पढ़ाते थे। प्रोफेसर जिम्मर्न अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर लेक्चर देते, लिंड से राजनीतिक साइंस पर, कोल और लिप्सन अर्थशास्त्र पर, कूपलैण्ड औपनिवेशिक इतिहास पर, डॉक्टर मेरिट मानव-तत्त्व पर लेक्चर देते। विशेष ज्ञान बढ़ाने के लिए ग्रेहम वैलेस् जैसे महान आचार्यों के व्याख्यान सुनने को मिलते। वेदी ने फ्रेंच और जर्मन भाषाएँ अपने लिए चुनीं। जिस दिन वेदी अपने पहले लेक्चर में एक दरवाजे से गया, दूसरे दरवाजे से एक अंग्रेज लड़की भी दाखिल हुई–यहीं फ्रेडा और वेदी ने एक-दूसरे को देखा, मगर उस समय भविष्य का स्वप्न में भी ख्याल नहीं हो सकता था।

फ्रेडा होल्स्टन का जन्म (1911) डरबीशायर (इंग्लैंड) के एक मध्यवित्त परिवार में हुआ था। फ्रेडा का पिता पिछली लड़ाई में मारा गया। माँ पुत्री को पढ़ाने का बहुत ख्याल रखती थीं। जिस समय वह स्कूल में पढ़ रही थी, उस समय एक उसकी सहपाठिन ने कहा–मैं तो ऑक्सफोर्ड में पढ़ने जाऊँगी। फ्रेडा को अभी मालूम नहीं था कि ऑक्सफोर्ड में बड़े-बड़े धनियों के ही पुत्र-पुत्रियाँ पढ़ सकती हैं। दोनों लड़कियों ने 1928 में परीक्षा दी। फ्रेडा का फ्रेंच भाषा विशेष विषय था। वही परीक्षा में सफल हुई। स्कूल के प्रिंसिपल के पूछने पर ऑक्सफोर्ड जाने की बात कही। पहले प्रिन्सिपल ने समझाया कि यह शौकीनी की चीज है; न मानने पर सलाह दी, कि फ्रांस में जाकर अपनी भाषा को तेज कर आओ। फ्रेडा नौ महीने उत्तरी फ्रांस में रही। दूसरे

साल वह ऑक्सफोर्ड की प्रवेशिका परीक्षा में वैठी। ऑक्सफोर्ड में विना 19-20 पौंड (250-275 रुपए) महीने का इन्तिजाम किए पढ़ाई नहीं हो सकती थी। लेकिन फ्रेडा वहुत तेज लड़की थी। उसने एक नहीं दो-दो स्कालरशिप प्राप्त कीं–डरवीशायर कौंटी की और सारे इंग्लैंड की राज्य छात्रवृत्ति भी। लेकिन एक ही विद्यार्थी को दोनों छात्रवृत्ति मिलने पर रुपया जरूरत से ज्यादा हो जाता, इसलिए बाकी रुपया किसी दूसरे छात्र को दे, दोनों छात्रवृत्तियों को मिलाकर उसे 235 पौंड वार्षिक तीन साल के लिए मिला। ऑक्सफोर्ड में फ्रेडा पर बहुत जोर दिया गया कि वह फ्रेंच को अपना पाठ्य-विपय बनाए, लेकिन नहीं मानी। उसने पत्रकार बनने का निश्चय किया था, इसलिए माडर्न-ग्रेड को ही स्वीकार किया। वेदी और फ्रेडा के पाठ्य-विषय एक थे, सिर्फ फरक इतना ही था कि फ्रेडा ने लाग्रिथम् और त्रिकोणमिति जहाँ ली थी, वहाँ वेदी ने मनोविज्ञान लिया था।

वेदी अपने अध्ययन में तल्लीन हो गया। जितना ही वह आगे वढ़ता जा रहा था, उतना ही उसे मालूम होने लगा, कि उसके पाठ्य-विषय के सभी सूत्र जिस केन्द्र-विन्दु पर पहुँचाते हैं, वह है मार्क्सवाद। अव उसकी रुचि मार्क्सवाद की तरफ वढ़ी। घर से वह आई. सी. एस्. के लिए भेजा गया था, मगर उसके खिलाफ निर्णय करने में उसे देर न लगी। पहले साल के अन्त में वह ऑक्सफोर्ड के मजूर-क्लव में जाने लगा, जिससे उसे विचारों के वदलने में और सहायता मिली। वेदी का कायदा था, लेक्चर में पहुँचने पर यदि समय रहता, तो अखवार पढ़ लेता। वेदी अखवार पढ़ रहा था। फ्रेडा आई। शिष्टाचार के तौर पर, 'गुड मार्निंग' कहा। वेदी 'यस्' और 'नो' कहकर अखवार पढ़ने में लगा रहा। एक दिन वेदी 'मजलिस्' (भारतीयों की छात्र-संस्था) में गया था, वहाँ किसी दोस्त ने फ्रेडा का परिचय कराया। वेदी अखवार पढ़नेवाले दिन के अपने व्यवहार से असन्तुष्ट हो उठा। फ्रेडा को देखा, कि उसने कोई उपेक्षा नहीं दिखलाई। वेदी को अपने उस वर्ताव के लिए इतना दुःख हुआ कि वह फ्रेडा से क्षमा माँगने का अवसर ढूँढ़ने लगा। वेदी ने फ्रेडा को चाय के लिए निमंत्रण दिया। वह अपनी एक सखी के साथ आई। फ्रेडा के वर्ताव में कोई ऐसी वात नहीं मालूम हुई, जिससे कि उसको पाश्चात्ताप प्रगट करने की जरूरत पड़ती। वेदी ने जिस बात के लिए चाय का निमंत्रण दिया था, उसका कोई जिक्र नहीं किया। वर्षों वाद फ्रेडा को मालूम हुआ, कि हजरत शिष्टाचार के उल्लंघन के लिए कितने परेशान हो गए थे और नाक रगड़कर फ्रेडा से क्षमा-भिक्षा माँगना चाहते थे। लेक्चर-हाल के अलावा मजूर-क्लब और वोडलियन पुस्तकालय में दोनों जाया करते थे, जहाँ उनकी भेंट होती और साधारण साहब-सलामी भी हो जाती। फ्रेडा भी राजनीतिक विचारों में बहुत आगे बढ़ी हुई थी और भारत की राजनीति में उसकी खास दिलचस्पी थी। जिसके लिए उसकी सखी ओलिविया स्टेप्ली ने सज्जाद जहीर से परिचय कराने में ज्यादा सहायता पहुँचाई। इस तरह राजनीतिक तौर से कितने ही भारतीय तरुणों की तरह वेदी से भी फ्रेडा नजदीक होती गई।

साल-भर होस्टल में रहने के वाद वेदी यूनिवर्सिटी द्वारा अनुमोदित घरों में से एक में रहने लगा। वेदी का निवासस्थान वोड्लियन पुस्तकालय से नजदीक पड़ता था। मांस तो उसने छोड़ ही दिया था। हाँ, सेव और पनीर मौजूद रहते और वेदी खाकर फिर पढ़ने में लग जाता। फ्रेडा को खाने के लिए डेढ़ मील जाना पड़ता। मालूम होने पर किसी दिन वेदी ने कहा–अगर सेव और पनीर से काम चल सकता हो, तो डेढ़ मील जाने की जरूरत नहीं। फ्रेडा ने धन्यवादपूर्वक स्वीकार किया। फिर दोपहर के समय उतना दूर जाने की जगह वह मित्र के यहाँ मध्याह्न भोजन कर लेती। दोनों का सम्वन्ध एक सहृदय सहपाटी जैसा था। उस घर में एक अंग्रेज पोर्टर (कुली) था, उसने फ्रेडा को इस तरह आते-जाते देखा। पोर्टर हिन्दुस्तान हो आया था और अपने कितने ही देशभाइयों की तरह समझता था, कि काले हिन्दुस्तानी बहुत निम्नकोटि के प्राणी हैं। वह इसे वरदाश्त करने के लिए तैयार न था, कि एक अंग्रेज संभ्रान्त परिवार की लड़की इस तरह काले आदमी के पास जाए। उसने हर्टफोर्ड कॉलेज के ट्यूटर से शिकायत की। ऑक्सफोर्ड में 'सतयुग में' कोई नियम बना था–और जो अव भूला भी जा चुका था–जिसके अनुसार लड़की अकेले किसी लड़के के पास नहीं जा सकती है। ट्यूटर ने वेदी से पूछा, फिर कहा–"तुम्हारे लिए कोई हर्ज नहीं, मगर, लड़की के प्रिन्सिपल के पास सूचना देना मेरा फर्ज है।" फ्रेडा की प्रिन्सिपल थीं सर मॉरिस गायर (भारत के अवसर-प्राप्त चीफ जस्टिस) की वहन मिस गायर।

उन्होंने फ्रेडा से पूछा। कोई छिपाने की बात थी नहीं, उसने कह दिया। मिस गायर ने कहा—"नियम नियम है, नियम तोड़ने पर दण्ड देना ही पड़ेगा, मैं तुम्हें छुट्टी से एक सप्ताह पहले घर भेज दूँगी और तुम्हारी माँ को चिट्ठी लिख दूँगी।" फ्रेडा को अब समाज का भीषण रूप भयंकर दिखलाई देने लगा। एक मामूली-सी बात भयंकर रूप लेने जा रही थी। वह एक सखी के सामने अपने भावों को रोक न सकी और बोली—"मैं घर नहीं जाऊँगी।" सखी ने प्रिन्सिपल से कहा, कि कोई भीषण काण्ड न हो जाए। प्रिन्सिपल ने कहा—"मैं अपने पत्र में साथ ही लिख दूँगी, कि फ्रेडा के खिलाफ कोई सबूत नहीं है।" लेकिन तब भी फ्रेडा को इस घटना ने बहुत सोचने और चिन्ता करने का मौका दिया। बेदी भी बहुत दुखी हुआ। फिर चार्ल्स मार्गन के शब्दों में 'नथिंग युनाइट्स दि हार्ट्स बेटर, देन् दि प्लीज़र ऑफ शेडिंग टिअर्स टोगेदर्' (साथ मिलकर आँसू बहाने के आनन्द से बढ़कर दो दिलों को मिलानेवाली दुनिया में कोई चीज नहीं है)।

फ्रेडा और बेदी दोनों ने निश्चय कर लिया, कि हमें वही करना होगा, जिसके लिए कि यह सब तूफान उठाया गया है। ब्याह का निश्चय करके (अप्रैल 1932 में) भी उन्होंने साल-भर तक किसी को पता नहीं दिया।

1932 के अक्तूबर में ऑक्सफोर्ड के कम्युनिस्ट लड़कों ने अक्तूबर-क्लब के नाम से एक गोष्ठी खोली, जिसमें एक-से विचारवाले तरुण एकत्रित हो विचार-विनिमय करते तथा कम्युनिज्म पर व्याख्यान सुनते। अभी ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज रूढ़िवादियों के ही गढ़ थे, लेकिन मार्क्सवादी तरुण अपने विचारों के प्रचार के लिए नये-नये रास्ते निकालते रहते थे। गोलमेज कांफ्रेन्स में गाँधीजी इंग्लैंड आए हुए थे। फ्रेडा, बेदी और कुछ दूसरे छात्रों ने गाँधीजी के विचारों को जानने के लिए ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी गाँधी-ग्रुप बना लिया। वैसे होता, तो यूनिवर्सिटीवाले आज्ञा न देते, लेकिन इस समय गाँधीजी के नाम की कुछ कीमत थी। नाम तो था गांधीवाद के समझने में सहायता पहुँचानेवाली संस्था, मगर उसमें व्याख्यान होते सकलतवाला और कितने ही दूसरे गाँधीवाद-विरोधी व्यक्तियों के। गाँधीजी को यह सुनकर नाराज होना ही चाहिए था। दूसरी गोलमेज में जिन्ना नहीं बुलाए गए थे। गाँधी-ग्रुप ने उन्हें व्याख्यान देने के लिए ऑक्सफोर्ड बुलाया। जिन्ना ने गोलमेज और फ्रेड्रेशन का खूब खंडन किया। बेदी 'भारतीय विद्यार्थियों के पत्र 'न्यू भारत' और 'इंडियन कोरस्' के लिए भी लिखा करता था।

जून 1933 में फ्रेडा और बेदी दोनों ने ऑनर्स के साथ बी. ए. पास किया। परीक्षा से कुछ पहले ही बेदी को पता लगा, कि फान हम्बोल्ट फाउन्डेशन बर्लिन-विश्वविद्यालय में कुछ अन्तर्राष्ट्रीय छात्रवृत्तियाँ दे रहा है। सर अल्फ्रेड जिम्मर्न के परामर्शानुसार बेदी ने भी एक आवदेन-पत्र भेज दिया। जिस दिन बेदी अन्तिम परीक्षापत्र करके घर आया, उसी दिन उसे छात्रवृत्ति मंजूर होने की चिट्ठी मिली और यह भी पता लगा कि पढ़ाई अक्तूबर से शुरू होगी।

परीक्षा के दो दिन बाद फ्रेडा और बेदी ने ब्याह कर लिया। फ्रेडा अपनी माँ की एकलौती पुत्री थी। माँ इस ब्याह से बहुत खुश थी, तो भी सम्बन्धियों में से कुछ ऐसे जरूर थे, जो इसे पसन्द नहीं करते थे। पीछे तो माँ हिन्दुस्तान में आकर अपनी समधिन (फूल कौर) से भेंट-अँकवार कर गईं, जिसका वर्णन फ्रेडा के सरल किन्तु मधुर शब्दों में इस प्रकार है—"Two years after my arrival in India my mother came to see us. It was the day when she was leaving again for England. While saying goodbye to my mother-in-law, she cried and said "Tell her to look after you." The reply was : "Tell her, she is my own daughter, as dear to me as my son"; and they both cried together." (हमारे भारत आने के दो साल बाद मेरी माँ मुझे देखने भारत आयी। यह उस दिन की बात है, जिस दिन माँ इंग्लैंड के लिए प्रस्थान कर रही थीं। मेरी सास से विदा लेते समय रोते हुए उसने कहा—'उसको कहो कि तुम्हारी सेवा करे।' सास ने उत्तर दिया—'उसे (फ्रेडा को) कहो, कि वह मेरी अपनी बेटी है, उतनी ही प्यारी जितना कि मेरा पुत्र', और दोनों साथ रोने लगीं।)

जंगली तीर्थाटन—अभी बर्लिन यूनिवर्सिटी में जाने के लिए चार मास थे। फ्रेडा और बेदी ने अपने मधुमास मनाने का एक नया ढंग सोचा। एक दक्षिणी अफ्रीका का दोस्त भी इसमें साथी बना और तीनों ने निश्चय

किया कि एक मोटर और तम्बू लेकर यूरोप की सैर की जाए। तीनों फ्रांस के तट पर उतरे और वहाँ से उनकी यात्रा जो शुरू हुई, वह स्विट्जरलैंड, इताली, आस्ट्रिया, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया होते सितम्बर (1933) में वर्लिन में खतम हुई। उन्होंने चार हजार मील का सफर तय किया और शहरों में कम गाँवों में किसानों को ज्यादा नजदीक से देखा। अंग्रेजी के सिवा फ्रेंच और जर्मन उन्हें मालूम थी, लेकिन इताली में भाषा के कारण दिक्कत मालूम हुई। उन्होंने इतालियन भाषा के चार वाक्य सीख रखे थे—"क्या रात को हम यहाँ टिक सकते हैं ?" "क्या आप हमें थोड़ा पीने का पानी देंगे ?" "टिकने के लिए कितना पैसा आप चाहेंगे ?" "आपके पास मोटर की गराज है ?" और इनके साथ "हाँ" और 'नहीं'। इताली में एक जगह पर मोटर बिगड़ गई। मोटर मरम्मत होने लगी। वेदी ने दूध माँगने के लिए मुँह पर चुल्लू रखके इशारा किया, और फ्रेडा ने दीवार का सफेद चूना दिखलाया। किसान वोल उठा, "ओ लेत्ते।" किसानों ने कार रखने की जगह का कभी किराया नहीं लिया। इताली में एक किसान के घर पहुँचे। वहाँ कार रखने की जगह न होने से लोग जाने लगे, तो उसने कहा—"आप लोगों को हमारे घर से जाना नहीं होगा।" और मना करने पर भी उसने अपने अंगूरी वगीचे के फाटक और वाड़ को उखाड़कर मोटर का रास्ता वना दिया। यूरोप के किसानों के सौजन्य से वेदी और फ्रेडा वहुत प्रभावित हुए। उन्होंने यात्रा में अपने-अपने काम बाँट लिए थे। फ्रेडा के जिम्मे खाना पकाना था, मित्र गाड़ी देखता, मरम्मत करता, साथ ही जूते की पालिश करता, और वेदी पूरा भीमसेन वन ईंधन पानी जमा करता, तम्बू और विस्तर लगाता। सवेरे के समय तीनों के काम का क्रम उलटा हो जाता।

हिटलर की जर्मनी में—सितम्बर में फ्रेडा और वेदी वर्लिन पहुँच गए। हिटलर शासनारूढ़ हो चुका था और नाजी जुल्म के मारे चारों तरफ आतंक छाया हुआ था। वेदी और फ्रेडा वहाँ के वातावरण को पसन्द नहीं कर रहे थे, मगर तो भी शिष्टाचार के ख्याल से रहना ही था। भारतीय अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में 'जातिप्रथा को तोड़ने के लिए वर्ग' के विषय पर अनुसंधान करना शुरू किया। डॉक्टर जोम्वर्ट उनके अध्यापक थे। अपने उदार विचारों के कारण डॉक्टर जोम्वर्ट को भी यूनिवर्सिटी से निकलना पड़ा। वेदी ने यह भी देखा कि लाइब्रेरी से जिन किताबों को लेकर वह पढ़ रहा है, उन्हें खुफियावाले नोट कर रहे हैं। वहाँ उसका दम-सा घुटने लगा, ऊपर से मजदूरों और समाजवादियों पर की जाती खूनी घटनाएँ वह रोज सुन और देख रहा था। अवधि वीतने पर छात्रवृत्ति को अगले साल के लिए और देना चाहते थे, मगर वेदी और फ्रेडा जर्मनी में और रहने के लिए तैयार न थे। वर्लिन ही में 13 मई 1934 को रंगा पैदा हुआ। फ्रेडा ने पुत्र का नाम राँझा रखना चाहा, उसे हीर-राँझा की कथा वहुत पसन्द आई थी। लेकिन वेदी ने वतलाया कि ऐसा नाम पंजाव में पसन्द नहीं किया जायेगा।

हिन्दुस्तान में—अगस्त में वर्लिन छोड़ स्विट्ज़रलैंड में एक मास रह वेदी फ्रेडा के साथ सितम्बर (1934) में बम्बई पहुँचा। वेदी के विचार पहले से ही मालूम थे, इसलिए उसकी चीजों की खूब तलाशी ली गई। फ्रेडा को हिन्दुस्तानी वनने का पहला अभिषेक मिला, जव कि एक एंग्लो इंडियन औरत ने उसके शरीर को टटोलते हुए उसकी तलाशी ली।

वेदी वहू को लेकर माँ के पास गया। फूल कौर ने पुत्र और बहू को देखा। वेदी ने माँ के पैर छुए, फ्रेडा ने भी नकल करनी चाही। उसका कलेजा धड़क-सा रहा था। लेकिन सास ने आँखों में हँसकर जव फ्रेडा को अपने अंक में भर लिया, तो फ्रेडा का सारा संकोच जाता रहा। फ्रेडा ने वर्षों वाद अपने नये घर और बन्धुओं के मधुर वर्तावों को वड़े सुन्दर शब्दों में लिखा है।*

चार महीने तक वेदी देश की परिस्थिति का अध्ययन करते रहे, फिर 1935 (जनवरी) में 'कंटम्प्रेरी इंडिया'

---

* Never once was I made to feel a stranger or an 'untouchable'. We all are together, and I was taken spontaneously as a new and very interesting daughter. My mother-in-law, whom I had begun to look upon as my Indian mother, began teaching me. The other aunts gave me the Panjabi dress—salwar, kamees, and gold-bordered dopattas to frame my face. All the special family dishes were cooked for me.

For the first year, we lived in a joint family circle : my mother-in-law, my husband's brother and his wife and ourselves. I learnt a good deal during that year of Indian ideas and ways of living; it was a valuable and interesting lesson to me, and I enjoyed it. We all learned to know and understand one another as we should never have done. We had lived →

नाम से एक त्रैमासिक पत्र निकाला, पंजाब सोशलिस्ट पार्टी और किसान-सभा में हिस्सा लेना शुरू किया। 1936 के दिसम्बर में भारतीय किसान-सभा का संगठन हुआ। वेदी उसके संयुक्त-मन्त्री हुए। 1937 में जब बाबा ज्वालासिंह ने पंजाब में 55 हजार कांग्रेस मेम्बर और 1 लाख किसान-सभा मेम्बर बना डालने का निश्चय प्रगट किया, तो और साथियों की तरह वेदी को भी यह बात असम्भव-सी लगी। दूसरे लोग पचास या पाँच सौ की मेम्बरी रसीदें माँग रहे थे। बाबाजी ने 25 हजार मेम्बर बनाने के लिए रसीदें माँगीं। फिर तो एक लाख की रसीद बँटने में देर न हुई। आठ महीने के भीतर ही 75 हजार मेम्बर हो गए। वृद्ध क्रान्तिकारी वीर को मौत ने आ धर दबाया और उसके अन्तिम शब्द थे—"मैं मर रहा हूँ। अफसोस मैंने पंजाब में किसान-मजदूर राज्य नहीं देख पाया। काम करते जाओ, हम तुम्हारे साथ हैं।"

बाबा ज्वालासिंह वह वीर थे, जिनका सारा जीवन देश के लिए था और उनको देश कभी नहीं भूलेगा। वेदी इन बूढ़े बाबों के जीवन से बहुत प्रभावित हुआ और उनका आत्म-विश्वास खूब बढ़ा। वेदी गाँवों में जाते, फ्रेडा भी गाँवों में पहुँचती। उसने असली पंजाब को देखा और जैसे-जैसे भाषा की दिक्कत दूर होती गई, वैसे ही वैसे किसानों के प्रति उसका स्नेह बढ़ता गया। जून 1937 में अमृतसर में पंजाब सोशलिस्ट कांग्रेस हुई, वेदी उसके सभापति थे जिसमें अशरफ आदि नेता भी आए थे। अमृतसर ने पहिली बार लाल झंडे के साथ किसानों के विराट जुलूस को देखा। 1938 में जो भारतीय सोशलिस्ट पार्टी कान्फ्रेन्स लाहौर में हुई थी, उस समय कार्यकारिणी के एक मेम्बर वेदी भी चुने गए। उसी साल (30, 31 दिसम्बर) ट्रेड-यूनियन कांग्रेस की पहिली कान्फ्रेन्स हुई। वेदी इसके प्रेसीडेन्ट थे।

लड़ाई अभी नहीं आई थी, लेकिन पंजाब सरकार ने पहिले ही कानून पास कर दिया, कि सेना-भर्ती के खिलाफ बोलनेवालों को सजा दी जाएगी। इस कानून के विरुद्ध मोरी दरवाजे में सार्वजनिक सभा हो रही थी। विरोधियों ने गुण्डे भेजे। उन्होंने मारपीट शुरू की। 23 आदमी घायल हुए। वेदी को पीछे की ओर से आकर किसी ने लाठी मारी। वेदी ने कुर्सी उठाई, तो गुण्डे भाग खड़े हुए, सभा तब भी हुई और कानून के विरोध में प्रस्ताव पास किया गया। वेदी घायल थे, उन्हें अस्पताल भेजा गया। उल्टे वेदी और उनके 22 साथियों पर झगड़ा करने का मुकदमा चलाया गया। मुकदमे के लिए कोई सबूत नहीं था, लेकिन तो भी 16 महीने तक उन्हें हैरान किया गया।

वेदी और फ्रेडा ने देखा, कि उनका जीवन ऐसी धारा में जा रहा है, जहाँ उन्हें अधिक से अधिक स्वच्छन्द बनने की जरूरत है। वेदी हिन्दुस्तानी गरीबों के जीवन का यद्यपि अनुभव नहीं रखते थे; तो भी उसे बहुत सहृदय दृष्टि से नजदीक से देखा था। एक अंग्रेज मध्य-वर्ग की तरुणी के लिए हिन्दुस्तानी जीवन-तल पर रहना बहुत मुश्किल बात थी। मॉडल टौन में भाई की जमीन पड़ी हुई थी, वेदी ने उसमें पक्षियों की तरह से अपने लिए तिनके का नीड़ (घोंसला) बनाया, जिसमें मामूली फूस की छत और फूस ही की दीवारें—कम से कम पैसे में झोंपड़ी। हाँ, वहाँ सफाई, रोशनी और हवा का जरूर ख्याल रखा। झोंपड़ी में किवाड़ और तालाकुंजी का कोई इन्तिजाम नहीं; और इन्तिजाम हो भी, तो दीवार में कहीं से भी हाथ डाल करके रास्ता बनाया जा सकता है। फ्रेडा ने अंग्रेजी 56 परकालों का मोह छोड़ा। उसकी जगह हाथ की बनी चपाती और दाल-तरकारी को स्वीकार किया। पहिले कितने ही दिनों तक जरूर जीभ ने बगावत की होगी, लेकिन अब फ्रेडा इस सस्ते और सादे खाने को उतना ही पसन्द करती है, जितना सलवार और ओढ़नी को। रेल में वह सदा तीसरे दर्जे में सफर करती है। इस तरह उसने अपने खर्च को बिल्कुल कम कर डाला है और उसके लिए यदि उसकी कलम हफ्ते में एक-दो बार चल जाए, तो कोई चिन्ता नहीं। रंगा पूरा पंजाबी है। वेदी पंजाबी-भाषा में बहुत

⟶ in separate houses, and from hearing the language spoken continually around me, I picked it up very quickly.

It is over ten years since our marriage now. We are living like thousands of similar little families all over the country. I have lived those classic words of Ruth "Your people shall be my people."...The beautiful relationship between my husband's mother and myself has deepened and strengthed itself with time : we can talk together now, and make jokes with each other, and we have weathered storms together too. There was a dreadful and almost fatal illness I nursed her through, and she helped me with the tragic second baby that died a few months old.

सरल सुन्दर व्याख्यान देते हैं। रंगा में भी उसके बीज दिखलाई पड़ते हैं। यह जंगली यात्री का जंगली जीवन देश में गरीबों की सेवा के लिए जरूरी है। जब पहला झोंपड़ा तैयार हुआ और बेदी ने बीमार फ्रेडा के पास डलहौसी लिखा, तो वह वहाँ से दौड़ी आई, और देखकर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई।

1938-39 में डेढ़ साल तक फ्रेडा और बेदी ने 'सण्डे-मार्निंग' (अंग्रेजी साप्ताहिक) चलाया।

महायुद्ध छिड़ा। बेदी ने मौका नहीं दिया, तो भी चौदह-पन्द्रह महीना बीतते-बीतते सरकार ने 4 दिसम्बर 1940 को बेदी को गिरफ्तार करके जेल में नजरबन्द कर दिया, कुछ दिन मांटगोमरी में रखकर देवली भेज दिया। बेदी अब हिन्दुस्तान-भर के साथियों के बीच में थे। देवली में साथियों को जेल की तकलीफों के लिए भूख-हड़ताल करनी पड़ी। दस दिन के बाद जब जबर्दस्ती रबड़ की नली द्वारा नाक से दूध डाला जाने लगा, तो दर्जनों आदमियों को लेकर जेलवालों ने बेदी को भी वैसा करना चाहा। लेकिन वह फुटबाल की तरह दो-दो चार आदमियों को एक के ऊपर एक फेंकने लगे, तो मजाल क्या था कि कोई पास फटके। बेदी ने कह दिया था—महीने-भर मेरे लिए फिक्र न करो, मेरे शरीर में काफी खूराक मौजूद है। 14-15 दिन बाद भूख-हड़ताल सफलतापूर्वक टूट गई।

21 फरवरी 1941 को फ्रेडा को भी गिरिफ्तार कर लिया गया और उसे छह महीने की कड़ी सजा दी गई। 13 कांग्रेसी औरतों में फ्रेडा ही थी, जिसे कड़ी सजा मिली थी। जेल में उसे बाग का काम दिया गया। फ्रेडा ने अपने जेल-जीवन का सुन्दर वर्णन अपनी 'बिहाइन्ड दि मड्-वाल्स' में किया है। तीन महीने चार दिन जेल में रहने के बाद हाईकोर्ट के फैसले के अनुसार फ्रेडा छोड़ दी गई। 1 अप्रैल 1942 को बेदी को गुजरात जेल से छोड़ा गया। बेदी पंजाबी के श्रेष्ठ वक्ता ही नहीं हैं, बल्कि वह सुन्दर लेखक भी हैं। हाँ, उनकी लेखनी अभी-अभी इस दिशा में चलने लगी है, लेकिन उम्मीद है, कि वह अपनी लेखनी से पंजाबी के नये साहित्य को खूब समृद्ध करेंगे।

बेदी का जीवन एक उदाहरण है, कि किस तरह आराम में पले व्यक्ति अपने आदर्श के लिए सारे सुखों को त्याग सकते हैं; किस तरह अपनी आवश्यकताओं को कम करके अपने को अपने आदर्श के लिए स्वतंत्र कर सकते हैं। और फ्रेडा भी इस बात में बेदी से पीछे नहीं रही। गुरुनानक ने 20वीं सदी में भी अपना एक प्रतिनिधि हमारे बीच में छोड़ा है।

37

मुबारक 'सागर'

प्रमुख तिथियाँ—1906 अप्रैल 19 जन्म, 1907 माँ की मृत्यु, 1913 प्राइमरी स्कूल माडी पन्नवा में, 1914 बटाला मिशन स्कूल में, 1915-18 श्रीगोविन्दपुर हाई स्कूल में, 1919 बटाला स्कूल में, उर्दू कविता, 1920 श्रीगोविन्दपुर स्कूल में, पंजाबी कवि, 1921 अप्रैल सभा में अपनी कविता; 1921-23 जलन्धर गवर्नमेंट हाई स्कूल में, 1923 मैट्रिक पास, 1923-25 लाहौर इस्लामिया कॉलेज में, 1925 तुर्की जाने की धुन, 1926 अक्तूबर विदेश जाने के लिए पेशावर तक, 1926-33 कराची में अध्यापक, 1926-27 शिक्षक-सभा के सेक्रेटरी, 1929 पराचिनार में गिरफ्तार और मुक्त, 1930 अप्रैल नमक-सत्याग्रह में, 1931 मार्च 8 जेल से बाहर, 1931 नौजवान भारत सभा के जेनरल सेक्रेटरी, 1931 अगस्त राजद्रोह में गिरफ्तार, 1 साल की सजा; 1931-32 यरवडा जेल में, 1932 अगस्त जेल से बाहर, म्युनिसिपल क्लर्क, इस्तीफा, 'मजूर' के लेखक, निर्वासन; 1933 पंजाब नौजवान भारत-सभा में, 1933 अगस्त 13 शादी, 1934 सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना में भाग, तीन मास की सजा; 1936 जोशी से भेंट, 1937-40 कांग्रेस सोशलिस्ट नेता, 1940 रामगढ़ कांग्रेस, 1940 सितम्बर 11—1942, जुलाई 26 जेल

में नजरबन्द, 1942, नवम्बर 18 डेढ़ साल की सजा, 1943, अक्तूबर 19 जमानत पर बाहर।

सागर का जीवन बचपन ही से संघर्ष का जीवन रहा। नौ मास की उम्र में ही मर जाने से माँ की शीतल गोद को उसने कभी नहीं पाया। पिता बहुत गरीब किन्तु आत्माभिमानी व्यक्ति थे जिनसे सागर ने बहुत-सी बातें सीखीं, साथ ही परिस्थितियों से लड़ने में हाथ बँटाया। जिला गुरदासपुर की तहसील वटाला में माड़ीपन्नवाँ सिक्ख जाटों का एक बड़ा गाँव है। जमींदारी जाटों की है, जो खुद काश्त करते हैं। सौ घर राई मौरूसी काश्तकार होने से चार सौ घर जाटों की तरह खेती से अपना गुजारा कर लेते हैं। गाँव के कुछ लोग नौकरी या फौज में चले जाते हैं, मगर जीविका का प्रधान साधन खेती ही है। सागर के दादा सैय्यद होने से गुरु-चेला के व्यवसाय में पले थे; मगर धर्म और सूफी दर्शन का उन पर इतना असर हुआ कि वह पीरीमुरीदी के व्यवसाय को हरामखोरी समझने लगे, और उन्होंने निश्चय किया कि अपने हाथ की मेहनत की कमाई ही खायेंगे। इस प्रकार उन्होंने बढ़ई का काम करना शुरू किया। उनके पुत्र नवीवख्श (मृत्यु 23 दिसम्बर, 1920) ने भी पिता का ही रास्ता पकड़ा। उनकी स्त्री ही पुत्र को नौ मास का छोड़कर नहीं मरी, बल्कि सागर के सात साल के होते-होते सारा घर साफ हो गया। नवीवख्श के दिल पर इसका भारी आघात हुआ। मगर उन्होंने सूफियों और फकीरों की जीवनियों के बारे में सुना ही नहीं था, बल्कि अपने वढ़ई पिता को उसी रंग में रँगा देखा था। नवीवख्श अब पूरे मलंग (साधु) थे। जवानी आराम से गुजरी थी, क्योंकि भाई कमाते खिलाते थे। अब उन्हें खुद अपने हाथ से काम करना पड़ता। दो स्त्रियाँ मर चुकी थीं, उन्होंने फिर और शादी न करने का निश्चय कर लिया। किसानों के लिए हल और हथियार वना देते, उससे अनाज खाने भर को आ जाता और वाप-वेटे को भूखा नहीं रहना पड़ता था, लेकिन उनकी फकीरी दिन पर दिन आगे ही वढ़ती जा रही थी। काम की मजूरी खुद नहीं माँगते थे, यदि कोई दे गया, तो दे गया। साधु-फकीरों के खाने-खिलाने में घर का सव कुछ खर्च करने लगे। कितने ही बार घर में सूखी रोटी भर रह जाती, जिसे नमक के साथ सागर को खिलाते हुए, पिता पैगम्बर की कठिन जीवनी की घटनायें सुनाते।

सागर का जन्म 19 अप्रैल, 1906 बृहस्पतिवार को हुआ था। उनकी माँ मुहमदुन्निसा जवानी ही में चल बसीं। दादी ने सात साल तक पाला-पोसा। दादी बड़ी जमरैल मिजाज की थीं और सागर ने जरा भी उनकी इच्छा के विरुद्ध काम किया कि तमाचा लगा देतीं। सौ वर्ष की उम्र में भी वह उन्नीस मील बटाला पैदल चली जाती थीं। किसी दिन सागर ने हमजोलियों के लिए घर से राव चुराई, जिस पर मार खानी पड़ी।

सागर की सवसे पुरानी स्मृति चार साल की है। लुध्याणे के कपड़े का नया कुरता पहनने को मिला था। सागर ने अपने साथी वच्चे से कहा—"ऐसा-वैसा कपड़ा नहीं है। इसमें चोट भी नहीं लगती।" साथी लड़के ने सागर की पीठ पर एक से अधिक डण्डे जमाये। चोट तो लगी, मगर दर्द को छिपा गये। सागर बचपन ही से वहुत शांत मिजाज के थे, किसी से लड़ना-झगड़ना उन्हें अच्छा नहीं लगता था। यद्यपि पिता और दादी सभी अनपढ़ थे। मगर सूफी और दूसरी धार्मिक कथाएँ बहुत-सी सागर को सुनने को मिलतीं, सोने के पहले इस्लामी इतिहास, कुरान, लैला-मजनूँ, शीरी-फरहाद आदि की कथाओं में से कोई न कोई सुन लिया करते थे।

दादी के जीते जी लड़के के पढ़ाने का कोई ख्याल नहीं आया, घर से लिखने-पढ़ने की परम्परा उठ चुकी थी; लेकिन दादी के मरने के बाद (1913) पिता ने दो मील दूर श्रीगोविन्दपुर में पढ़ने के लिए भेज दिया। वहाँ सागर की एक फूफी ब्याही थी। सागर इतने लज्जालु थे कि रोटी के लिए भी बिना कहे नहीं जाते थे। श्रीगोविन्दपुरवाले लड़के कुछ शहरी-से थे। दिहाती सागर को उनकी कितनी ही बातें पसन्द नहीं आती थीं। साल-भर में पहले दर्जे को पास कर छुट्टियों में वह अपनी बटालावाली बुआ के घर गये। बुआ के घर में विद्या की कद्र थी, लोगों ने सागर को फुसलाना शुरू किया—"पिण्ड (गाँव) में रहता-रहता तू भी पिंडू बन जायगा। तेरे दादा का घर है यहाँ, यहीं स्कूल में पढ़।" एक निःसन्तान दादा का घर वहाँ जरूर था। सागर शहरी जिंदगी के लिए राजी हो गये। स्वास्थ्य वचपन ही से कमजोर था, बकरी के दूध पर पाले गये थे; जिससे उनका शरीर

काँटा-जैसा सूखा था। अभी पाँच-छै साल पहले तक इसे असम्भव समझा जाता था कि सागर के शरीर पर मांस कभी आयेगा। शायद इसी शारीरिक निर्वलता के कारण सागर को चुप रहने की आदत ज्यादा हो गयी थी और वह बैठे रहकर खेले जानेवाले खेलों को ही पसन्द करते थे। दुनिया में कहीं पता न मिलने से खुदा को भी वह अपनी ही तरह खामोश समझते थे–"खुदा कोई अच्छा भलामानुस बूढ़ा है, जिसकी सफेद दाढ़ी है और वह तख्त पर बैठा रहता है।" ऐसे शान्त स्वभाववाले लड़के के लिए गाँव का वातावरण ही ज्यादा अनुकूल हो सकता है। मगर सागर को कुछ पढ़ने का शौक पैदा हो गया था, और बटाला में उनके बन्धु-वान्धवों में विद्या ज्यादा देखी जाती थी। उन्होंने वटाला में रहकर पढ़ने का निश्चय कर लिया और मिशन-स्कूल में दूसरे दर्जे में नाम लिखवा लिया। पिता पुत्र को अकेले छोड़कर नहीं रह सकते थे। वह भी वटाला चले आए, लेकिन तीन-चार मास रहने के वाद वटाला की शहरी जिन्दगी से ऊव गये। उन्होंने कहा–"चलो बेटा ! शहर अच्छा नहीं है।" सागर भी पिता से सहमत थे। दोनों कादियान के रास्ते घर लौटे। उसी समय सागर ने मिर्जाई सम्प्रदाय के बारे में कुछ सुना और समझ लिया कि वह बुरी चीज है। घर जाने पर स्कूल से सर्टिफिकेट लाने का ख्याल आया। फूफी ने फिर रहने के लिए आग्रह किया। सागर ने दूसरा दर्जा खतम करने पर बटाला में रहना स्वीकार किया।

1915 में सागर फिर श्रीगोविन्दपुर के स्कूल में दाखिल हो गये। पिता के घर में तो रिवाज नहीं, तो भी फूफी के घर की देखादेखी सागर ने नमाज पढ़नी शुरू कर दी। गाँव के दस-पन्द्रह लड़के स्कूल पढ़ने जाया करते थे। पढ़ने के वाद के समय का काफी हिस्सा उनका धार्मिक बातों के पढ़ने में लगता। गाँव के छोटे-छोटे लड़कों को नमाज पढ़ाने के लिए वह खुद इमाम वन गये थे। गाँव-भर के लोग सागर के पास चिट्ठियाँ लिखवाने आते। पिता मलंग थे, इसलिए सागर को भी कौव्वाली सुनने और सूफी-सत्संग का शौक था। महायुद्ध चल रहा था। सागर अपने हमजोलियों के साथ नकली लड़ाई लड़ते थे। उन्होंने सुन लिया था कि लड़ाई में पनडुब्बी नावों का व्यवहार किया जा रहा है। दोनों दल लड़ते और एक-दूसरे पर मार पड़ती, फिर सागर बैठ जाते–उन्होंने कह रखा था कि बैठ जाने का मतलब है नाव पानी के भीतर चली गई, फिर उस पर चोट नहीं लग सकती। सागर ने अभी अखबार का दर्शन नहीं किया था।

1918 में इन्फ्लुएंजा की बीमारी आई। स्कूल बन्द हो गया। मरनेवालों का टिकाना न था। लोग कहते–"आज फलाना मर गया, देखें कल किसकी वारी है।" पिता तो दार्शनिक थे ही। पिता की दार्शनिकता कभी-कभी उन्हें मुश्किल में डाल देती थी। एक बार गाँव के जाट जंगल में सूअर का शिकार करने गये। एक नौजवान के ऊपर दँतैल सूअर चढ़ दौड़ा। भयभीत हो वह चिल्ला उठा–"दोहाई, दोहाई, चाचा नवी-वख्श ! जान गया।" नवीवख्श ने दौड़कर सूअर की पिछली दोनों टाँगें उठा लीं, डंडे से मारकर उसका मुँह कुचल दिया। वह एक छोटे-मोटे पहलवान थे। उनका सारा कपड़ा खून से सन गया। मौलवियों ने फतवा दिया कि इसका हुक्का-पानी वन्द कर दो। नवीवख्श ने जान वचाने के लिए सूअर को मारा था, इसमें उन्हें कोई दोष नहीं मालूम हुआ। वह वैसे भी दूसरों के लिए अलग हुक्का रखते थे, कहा–"जाओ, एक हुक्का और रखने से जान बची।" दो-चार महीने बाद अपने आप हुक्के का बायकाट उठ गया।

स्कूल में सागर तेज लड़के थे। गणित में अक्सर सौ में सौ नम्वर लाते। उर्दू भी अच्छी थी। छठवें दर्जे से फारसी भी पढ़ने लगे थे, उसमें भी अच्छे रहे। हाँ, अंग्रेजी में कुछ कमजोर थे।

जब सागर पाँचवें दर्जे में थे, तभी श्रीगोविन्दपुर में उनका स्कूल हाई स्कूल हो गया था। वार्षिक छुट्टियों में वह हर साल वटाला जाया करते, इस समय उनके फूफा शहरी अदब-आदाब सिखलाते। बटाला में एक दूर के रिश्तेदार थे, जिनके कोई सन्तान न थी। उन्होंने सागर को गोद लेने के लिए पिता से कहा। पिता ने फिलास्फर की तरह कहा–"लड़के की मर्जी।" सागर से कहने पर उन्होंने 'आऊँगा' कह दिया। छठवें दर्जे को पास कर अव अगले दर्जे में जाना था। श्रीगोविन्दपुर के हेडमास्टर अपने तेज विद्यार्थी को हाथ से जाने नहीं देना चाहते थे। उन्होंने सागर को समझाया। जब वह नहीं माने तो कहा–"तुम लौटकर यहीं आओगे। निःसंतान आदमी बड़े कंजूस होते हैं और लड़के को अच्छी तरह रखना नहीं जानते।" स्कूल के एक संस्थापक

सेठ विसनदास ने भी कहा कि मैं खर्च दूँगा, तुम यहीं रहो।

सागर बटाला चले गये। म्युनिसिपल हाई स्कूल के हेडमास्टर ने कहा कि हम फिर परीक्षा लेकर दाखिल करेंगे। सागर ने परीक्षा दी। अध्यापक बहुत खुश हुए और सातवें दर्जे में नाम लिख लिया। सचमुच ही सागर के धर्मपिता बड़े कंजूस थे। मल-मल के एक-एक पैसा खर्च करते थे। सागर को जो दो-चार आने मिले, उन्हें उन्होंने चिट्ठियाँ लिखने में खर्च कर दिया। एक सहपाठी सागर की चिट्ठी को पढ़ना चाहता था। सागर ने फटकार दिया। उसने जाकर धर्मपिता से शिकायत कर दी—"मुबारक तो आपके खिलाफ चिट्ठियों पर चिट्ठियाँ लिख रहा है।" और भी कानाफूसी की। धर्मपिता ने कहा—"सचमुच। महीने में चार-चार पत्र ! हमारा देवाला निकाल देगा। वह रहना नहीं चाहता।" सागर ने सब बात सुन ली थी। उन्होंने—"आप खुश नहीं हैं, मैं जाता हूँ" कहकर माडीपन्नवा का रास्ता लिया, फूफी से भी नहीं कहा और किताब बाँधकर पैदल ही चल पड़ा। लेकिन नाम तो लिखा जा चुका था। सागर साल-भर नहीं बरबाद करना चाहते थे। पिता ने भी सलाह दी कि फूफी के यहाँ रहकर सातवाँ दर्जा खतम कर लो। फूफा भी इस राय से सहमत थे कि निस्सन्तानी कंजूस होता है, वह बच्चे को नहीं रख सकता।

सागर ने सातवें दर्जे की परीक्षा (1919) दी। जलियाँवाला बाग काण्ड हो चुका था। कितने ही लड़के देशभक्ति पर तुकबन्दियाँ कर रहे थे। सागर भी दूसरे के शेरों की अन्ताक्षरी किया करते थे। अब उन्होंने खुद एक तुकबन्दी की, जिसका एक खण्ड था—

"किया पहले मग्रिबने मिलकर तहैया
कि योरोप से तुर्की को निक्काल देंगे।"

लड़कों ने भी वाह-वाह किया और मास्टर ने भी दाद दी। सागर का शायरी का शौक बढ़ा।

देर तक प्रतीक्षा करने पर भी परीक्षा-फल की खबर नहीं आई। बटाला गये। फूफा ने कहा—"मैंने पूछ लिया है, तुम फेल हो।" सागर विश्वास करने के लिए तैयार न थे। वह सीधे हेडमास्टर के पास गये। हेडमास्टर ने उसी बात को दोहराया। और तरह से शर्मीले सागर अपने को रोक नहीं सके। उन्होंने कहा कि मुझे रजिस्टर दिखला दीजिये। हेडमास्टर कुछ झल्लाये, लेकिन रजिस्टर खोलकर दिखा दिया। सागर ने गौर से देखा, तो मालूम हुआ कि लम्बे रजिस्टर में सागर के सामने का 'पास' शब्द दूसरे लड़के को दिया जा रहा है। हेडमास्टर को भी अफसोस हुआ। सागर का एक साल बरबाद नहीं गया।

अप्रैल 1920 में सागर फिर श्रीगोविन्दपुर में आठवें दर्जे में दाखिल हुए। अब उन पर खानदानी खब्त शुरू हुआ। धार्मिक पुस्तकों के पढ़ने के साथ-साथ और धर्मोपदेश सुनने के लिए पाँच-पाँच, सात-सात मील तक जाते और "बुला लो या रसूलल्लाह" सुनकर, उन्होंने खुद एक कविता लिखी, जिसका एक खण्ड था—

"कदूमे पाक में अपने बुला लो या रसूलल्लाह।
मुझे नारे जहन्नुम् से बचा लो या रसूलल्लाह।।"

उनकी यह कविता उर्दू-अध्यापक ने भी पसन्द की।

प्रसन्नता के साथ-साथ सागर का आत्मविश्वास भी बढ़ा। सागर का पढ़ने में मन खूब लगता था। वह कभी स्कूल से गैरहाजिर नहीं रहते थे। गाँव के जाट लड़कों में से कुछ पढ़ने से जी चुराते थे—पिटते थे, और फिर स्कूल से भगे रहना चाहते थे। छठवें दर्जे की बात है, सागर बहुत दुबले-पतले थे, जिसकी वजह से हमजोलियों ने उनका नाम कोकली (झरबेरी) रख दिया था। भगेड़ू जमात ने एक दिन स्कूल न जाने की कसम खाई और कोकली को भी न जाने देने की बात तय हो गई। कोकली कमजोर थे ही, डरे और उस दिन नहीं गये। दूसरे दिन मास्टर ने पूछा, तो कह दिया कि इच्छा न रहते भी मैं नहीं आ पाया। नाम पूछने पर उन्होंने नाम नहीं बतलाया। सागर भी पिटे।

आठवें दर्जे में सागर ने गाँव के भगेड़ू लड़कों के सामने एक प्रस्ताव रखा—"आओ, हम अपनी जत्थाबन्दी करें। विद्यार्थियों को काम होने पर भी छुट्टी नहीं मिलती। पाठ याद न होने पर पिटते हैं। गैरहाजिर होने पर पिटाई के सिवाय जुर्माना भी देना पड़ता है।" लड़कों को बात पसन्द आयी। और 'अंजुमन-अक्सरी-तुलबा'

(छात्र-संघ) कायम हुआ। सागर ने खुद संघ का नियम-उपनियम बनाया। एक प्रधान सभापति, एक सभापति, **एक सेक्रेटरी** और एक खजांची चुने गये। सागर **प्रधान** सभापति बनाये गये और नियम के अनुसार काम का **सबसे** अधिक बोझ उनके ऊपर आया। संघ के खजाने में लड़के चन्दा लेते थे। जुर्माना होने पर उसमें से दे **दिया** जाता था। सागर ने बटाला में सभा-सोसाइटी देखी थी और छात्र-संघ के रूप में उसी की नकल की। **संघ के** कागज-पत्र में जालसाजी न हो, इसके लिए पिता से छिपकर सागर ने अपने ही एक लकड़ी की मुहर **तैयार कर** ली। पिता सागर को यह कहकर वसूला-रूखानी को हाथ नहीं लगाने देते थे कि तुमको तो बाबू **बनना है**। सागर ने संघ की बात मास्टर से कही। मास्टर को भी बात पसन्द आई। सचमुच ही भगोड़ों की **संख्या** कम हो गई, जुर्माना भी कम देना पड़ता।

सागर अभी चौदह साल ही के थे कि वारिसशाह और बुल्लाशाह के प्रेम-काव्यों ने उन पर असर डाला। **पंजाबी** बैतबाजी में शृंगारिक कविताओं की भरमार होती थी। कविता ने अपनी समवयस्क लड़की से सागर **का प्रेम** कराया, या प्रेम ने कविता करने के लिए मजबूर किया, इसके बारे में कुछ कहना मुश्किल है। सागर **ने उस** लड़की पर पंजाबी में 'सेह-हर्फी' कविता की। उनके एक अनपढ़ तरुण दोस्त ने सुनी, उसे बहुत पसन्द **आयी** और कहा कि इसे छपवा दो। सागर ने कहा—"तुम बेवकूफ हो। ये मेरे गीत हैं, कैसे छपेंगे ?" उन्हें **छापाखाना** कोई जादूमन्तर-सा मालूम होता था। लड़के ने कहा—"मेरा एक रिश्तेदार कादियान के एक प्रेस में **काम** करता है। चलो पूछें, शायद पुस्तक छप जाय !" सागर ने पिता से कादियान देखने के लिए छुट्टी ली। **जाकर** प्रेस देखा। फिर मैनेजर को कविता दिखलाई। उसने पूछा—"किसने लिखी ?"

"रहस्य की बात है, लिखी तो मैंने ही है। छपकर निकल आयगी ?"

"तुम्हारी उम्र तो बहुत छोटी है ! हाँ, छप क्यों नहीं जायेगी।"

"जैसे हो, एक किताब बना दो, एक कापी छाप दो, दोस्तों ही को तो पढ़ना है।" मैनेजर ने कहा—"एक **हो या** 500, दाम उतना ही पड़ेगा।" पाँच से बढ़कर आखिर सौ कापी छापने के लिए कहा गया। फिर 'सेह-हर्फी **(त्रिशाक्षरी)** मिस्त्री मुबारकअली 'आजिज' (बटाला)" के नाम से छपने के लिए दी गई। खर्च के तीन-साढ़े तीन **रुपये** दोस्त ने दिये। तीन दिन वहीं ठहरे और छपी किताब को लेकर पन्नवाँ पहुँचे। सागर डरते थे कि असली **बात** किसी को मालूम न हो जाये, इसलिए कविता में कुछ और बातें भी जोड़ दी थीं। सेह-हर्फी के कुछ पद्य **थे—**

"जीम जिगर गल्बा पा लीता तेरी जुल्फांदे तेज कटारडे ने।
नशा चाट्टडह दित्ता राह-जांदूया नूँ, दूरों हुसनूदे भरे पियालडे ने।।
साकी वण्डना यार नगाणियांदा, खास दस्या रब्बदे प्यारडे ने।
'आजिज' वस्लवाली अर्ज कर दित्ती, दुखाँ जालडेने दुखाँ जालडेने।।"
"जाल जिक्र तुसादडा कराँ हरदम, विचू जंगलाँ कोहाँ त वेलेयांदे।
तेरे नाम वाली तस्बी विर्द मेरा कोल दुश्मना विचू सहेलाँ दे।।
तेरे हिज्र ने बहुत दिलगीर कीता इन्तजार करता खातिर मेलयाँ दे।
'आजिज' हुस्नदी बहुत बुनियाद छोटी जेवें विच्चबागाँ बूटे केलयाँदे।।"
"स्वाद सिफ्त है याग्दे ढूँढ़नेदी बाहर आवण न वाज सहेलियाँ दे।
अजे पैर शबाब विच्च पावण लग्गे दिल खिचलीते अग्गों बेलियाँ दे।।
जिस्म वांग-बिल्लौरदे चमकदा ऐ भावे होण कपड़े मिस्ल तेलियाँ दे।।
'आजिज' शर्म अक्खीं हौली सखुन करते नाहीं ते सलू होणू
बिचू गेलियाँ दे।।"

सेह-हर्फी की पाँच ही कापियाँ दोस्तों में बाँटी गईं, मगर वह एक हाथ से दूसरे के पास जाते कई हाथों **में पहुँच** गई। लोगों ने बहुत पसन्द किया। हिसाब में गलती करने पर मास्टर ने एक दिन ताना मारा—"ध्यान **तो** सेह-हर्फियाँ लिखने में रहता है, हिसाब कौन याद करे ?" फारसी के अध्यापक ने भी कविता की तारीफ

की। सागर की झंप गई और कुछ हौसला भी बढ़ा। पिता सूफी-कविताओं को सुन-सुनकर मस्त हो जाया करते थे। किसी महफिल में 'आजिज' (अभी 'सागर' उपनाम नहीं पड़ा था) की सेह-हर्फिया गाई जा रही थीं। पिता वज्द में आकर (आत्मविभोर हो) झूमने और रोने लगे। उन्होंने पढ़नेवाले से कहा—"यह किताब हमें भी दो, हम पढ़ाकर सुनेंगे।" किसी ने कहा, यह तो मुबारक की लिखी हुई है। पिता ने सागर को बुलाकर बहुत प्यार किया और कहा—"बेटा ! हमें नहीं बताया, तुमने मार्फत (भगवत्-प्रेम) की इतनी सुन्दर कविता की है।" उनको क्या मालूम था कि सागर ने किसी दूसरे ही के ऊपर कविता की है। गाँव की अध्यापिका ने भी पढ़कर सागर को चूमकर दाद दी—सागर ने तो इसके लिए कविता नहीं की थी। यद्यपि प्रेमिका पढ़ना नहीं जानती थी, लेकिन उसके घर में भी एक कापी भेजी। भाइयों ने पढ़ा-सुना, मगर प्रेमिका को शायद आज तक मालूम नहीं है कि सागर ने उस पर एक ऐसी सुन्दर कविता की है।

इस वक्त सागर के घर की हालत बहुत खराब थी। गरीबी के कारण जूता नहीं पहिन सकते थे। जब धूप में पैर जलता, तो एक घास से दौड़कर तिलमिलाते हुए दूसरी घास पर खड़े हो जाते। खेत काफी थे, मगर पिता उनमें काम न करते थे। किसान होने की वजह से यद्यपि फीस आधी माफ थी, लेकिन उतने से काम नहीं चल सकता था। (दिसम्बर 1920 में) सागर ने पिता को सलाह दी कि कहीं जाकर कुछ पैसा कमाएँ। पिता ने लड़के के ख्याल को कबूल कर लिया। वह काम करने के लिए बाहर निकले। लेकिन वहाँ पुत्र की चिन्ता के मारे उन्हें बुरे-बुरे स्वप्न आने लगे। घर लौटे, उन्हें कुछ बुखार भी था। 19 मील तक इक्के पर चले; फिर तीन मील पैदल आये। घर पहुँचने पर बहुत थक गये थे। निमोनिया हो गया। पास के गाँव में एक हकीम रहता था। सागर वहाँ से शर्बत ले आना चाहते थे। उस समय दोनों गाँवों में लड़ाई के लिए भाला-बर्छी निकल गयी थी। सागर ने खतरे की कोई परवाह न की। वहाँ गये, लेकिन हकीम के पास शर्बत नहीं था। खाली लोटा लिये लौट आये। पाँच ही मिनट बाद पिता की जबान बन्द हो गई और कुछ ही देर में उन्होंने शरीर छोड़ दिया। चौदह वर्ष के सागर अब दुनिया में बिलकुल अकेले थे। औरतें रोने लगीं। सागर को पसन्द नहीं आया और उन्होंने खिन्न होकर कहा—"तुम्हें मुझे ढारस दिलाना चाहिए और तुम और रो रही हो। रोना हो तो चली जाओ।" सागर ने घर में बहुत-सी मौतें देखी थीं, उनका दिल काफी मजबूत था, लेकिन तब भी भीतर जो उथल-पुथल मची थी उससे दिल को बचाना चाहते थे। कफन के लिए घर में कुल साढ़े नौ आने पैसे थे। पड़ोसी सौदागर की बुढ़िया माँ ने और पैसे दिये। गाँववालों ने भी सोलह रुपये चन्दा करके सागर के हाथ में दिया। लेकिन कफन आदि का काम तो चल गया था, उन्होंने उन रुपयों को एक समवयस्क लड़के के हाथ में दे दिया, और फिर नहीं माँगा—वह ऐसे पैसे को लेना भी नहीं चाहते थे। अब वह सौदागर पड़ोसी के घर में रहते। घरवाले बहुत मानते थे।

सागर के नये संरक्षक काफी धनी थे। पन्नवा में सिक्ख जाटों का जोर था। वह अजान देने की भी इजाजत नहीं देते थे। कहते थे—"बाँग की आवाज से हमारा आटा बाँगा (= जादूछुआ) हो जाता है। संरक्षक लड़की की शादी केलिए श्रीगोविन्दपुर चले गये। सागर भी उनके साथ गये। श्रीगोविन्दपुर की फूफी की सारी औलाद खत्म हो चुकी थी। बटालेवाली फूफी को पिता के मरने की खबर दे दी और साथ ही लिख दिया—"तुम्हारे पास नहीं आऊँगा। मैंने कहीं इन्तिजाम कर लिया है।" सागर में आत्मसम्मान की मात्रा अधिक थी। वह किसी का एहसान नहीं लेना चाहते थे। फुफेरे भाई लिवाने आये, मगर कह-सुनकर लौटा दिया।

जालन्धर में—श्रीगोविन्दपुर में मार्च (1921) में परीक्षा पास कर सागर अपने संरक्षकों के साथ जालन्धर चले आए और वहाँ गवर्नमेन्ट हाई स्कूल में दाखिल हो गये। यहाँ अब उन्हें उर्दू के शायरों के नजदीक बैठने का मौका मिला। मुशायरों में भी जाते, लेकिन अपने शेरों को सुनाने से झिझकते थे। उस समय उन्होंने उर्दू और पंजाबी में कितनी ही कविताएँ की थीं। मगर पीछे सबको जला दिया। मैट्रिक की परीक्षा को जब तीन-चार मास रह गया, तो सागर की आँखों में कुकड़े निकल आये। परीक्षा की तैयारी कहाँ कर सकते थे ? सिर पर हाथ रखकर बैठा रहना पड़ता था। लोग सलाह दे रहे थे कि इम्तिहान में बैठो, लिखने के लिए सातवें-आठवें दर्जे का कोई लड़का मिल जायेगा। सागर कभी कहते, "इलाही ! पास करा दे।" अलबख्त साहब की दरगाह

में मिन्नत मानी, "यदि पास हो गया, तो मेले के समय बकरा जरूर चढ़ाऊँगा।" परीक्षा-दिन के कुछ पहले दर्द कम हुआ, फिर आँखें खुलने लगीं। परीक्षा में खुद अपने हाथ से लिखना शुरू किया। अच्छे दूसरे डिवीजन में (1926) पास हुए।

परीक्षा देकर फिर बटाले आये। गोद लेनेवाले पहले सज्जन ने जोर दिया—"चलो हम हज करने जा रहे हैं, तुम घर सम्हालना।" सौदागर-संरक्षक के घर में लड़के पढ़ने का शौक नहीं रखते थे। घरवाले सागर को विलायत भेजना चाहते थे। सागर बटालावाले धर्मपिता की बात में आ गये। इनकी दो बीवियाँ थीं, जिनमें एक सागर की भावी पत्नी जमीला बहुत कम उम्र की थीं। मियाँ छोटी बीवी को लेकर हज करने गये। हज करके वह लौट भी आये। सागर ने लाहौर के इस्लामिया कालेज में दाखिला ले लिया था।

कालेज में—बहुत कहने-सुनने पर हाजी साहब ने कालेज जाने की इजाजत दी। 15 रुपया मासिक देते और उस पर कहते—"यह आवारा लड़का है, यह तो हमारा दीवाला निकाल देगा।"

सागर को पिता की सीख याद थी—"लावल्द की जायदाद का मालिक नहीं बनना। सागर हाजी साहब की जायदाद के बारे में तो आशा नहीं रखते थे, लेकिन उनके दादा के भाई लावल्द मर गये थे, जिनकी जायदाद सागर की ही थी। हाजी साहब जो 15 रु. महीना देते थे, उसे भी वसूल कर लेना चाहते थे। उन्होंने सागर से कहा—"तुम्हारा अफ्रीकावाला चचा आकर मकान ले लेगा। इसलिए बैनामा कर दो।" सागर हाजी साहब का अभिप्राय समझते थे, साथ ही वह उस जायदाद को रखना पसन्द नहीं करते थे, इसलिए उस मकान को हाजी साहब की छोटी बीवी के नाम बिना पैसा-कौड़ी के ही लिख दिया।

हाजी साहब महीने में रुपया भेजते वक्त चिट्ठी में यह लिखना नहीं भूलते थे—"छोड़ दो, जो खर्च हो गया सो हो गया। पढ़कर क्या लेना है ?"

कालेज में चमरकन्द के अमीर का कोई सम्बन्धी लड़का सागर का दोस्त हुआ। सागर की सहानुभूति काँग्रेस और खिलाफत की ओर जलियाँवाला बाग काण्ड के दिनों से ही थी। लड़के ने बतलाया कि किस तरह मोलाना इस्माईल सैय्यद बरेलवी ने मुजाहिदीनों का स्वतंत्रता-संग्राम आरम्भ किया। धीरे-धीरे सागर में इस्लाम की सेवा और देश की आजादी का ख्याल जोर पकड़ने लगा। सागर कभी-कभी विह्वल होकर कहते—"मेरा कोई नहीं, सब मर गये, मैं क्यों बचा ? शायद खुदा मुझसे कोई काम लेना चाहता है।" 1925 के आरम्भ में तुर्की से कोई प्रतिनिधि-मंडल भारत आया। लाहौर में भी वे लोग आये। सागर उनका व्याख्यान सुनने गये। सागर का ख्याल हुआ कि अहिंसा की लड़ाई निष्फल रही। भारत सैनिक-विद्या से ही स्वतंत्र हो सकता है, इसलिए तुर्की में चलकर सैनिक-शिक्षा लेनी चाहिए। उन्होंने नौजवानों की एक मण्डली बनाई, फिर तुर्की के एक प्रतिनिधि से बात की। प्रतिनिधि ने कहा—"हम हर हिन्दुस्तानी को मुस्तफा सगीर समझते हैं, हम कैसे तुम पर विश्वास करें ?" मुस्तफा सगीर कमालपाशा को कत्ल करने के लिए तुर्की गया था। सागर का कुछ राष्ट्रीय नेताओं से परिचय था। उनकी राष्ट्रीय कविताएँ कितनों ही ने सुनी थीं। कवि हफीज जलंधरी उनके उस्ताद थे। 'जमींदार' वालों से भी दोस्ताना ताल्लुक था। इस तरह राष्ट्रीय नेताओं से अपने बारे में प्रामाणिक होने की सिफारिश मिलने में दिक्कत नहीं हुई। उक्त तुर्क सज्जन ने सागर से कहा—"तुम तुर्की पहुँच जाओ, फिर हम सारा इन्तिजाम कर देंगे।" उन्होंने काबुल में अपने आदमी को देने के लिए एक पत्र भी लिख दिया। सागर ने डॉक्टर अंसारी और मौलाना शौकतअली से भी सलाह ली, मगर वह चरखा चलाने और काँग्रेस में काम करने की सलाह देते थे। सागर का सारा समय तो इस दौड़-धूप में लगा रहता था, किताब पढ़ने की चिन्ता किसको थी ? फीस के लिए जो हाजी साहब ने 15 रु. भेजे थे, वह ऐसे ही खर्च हो गये। पैसे फिर मँगाये—आखिर मुफ्त के मकान का कुछ दाम भी तो वसूल होना चाहिए। सागर बहुत सादी जिन्दगी बिताते थे। कालेज में क्लास छोड़, बाजार हो चाहे घर, वह एक फकीरी अल्फी पहना करते थे।

परीक्षा आयी। एक परचा कर चुके थे। उसी समय उनके परिचित तुर्क सज्जन का पत्र आया—"हम जानेवाले हैं, मिल लो।" परीक्षा कौन देता है ? सागर बम्बई पहुँचे, बातचीत की। अब वह तुर्की जाने के फेर में थे।

नई धुन—विदेश जाने के लिए रुपयों की जरूरत थी। सागर हाजी साहब के पास पहुँचे। उनसे कहा—"एक

अंग्रेज साहब मेहरबान हो गया है। वह मुझे पढ़ने के लिए विलायत ले जाना चाहता है। वहाँ से इंजीनियर बन के आना है, लेकिन कुछ रुपये तो पास में रहने चाहिए।" हाजीसाहब ने समझा कि इंजीनियर होकर तो बड़ा साहब हो जायेगा, फिर हमें ठेकेदारी लेने में खूब सुविधा रहेगी। उन्होंने 600 रुपये दिये–'सूम के घर धूम' करके सागर बटाला से रवाना हुए। 1925-26 के एक साल सागर इस फिकर में घूमते रहे कि कैसे हिन्दुस्तान से बाहर निकला जाय। लेकिन अंग्रेज कच्चे गुड़ियाँ थोड़े ही हैं। उन्होंने भारत की सीमाओं को ऐसे नहीं रखा है कि कोई उनकी इच्छा के बिना बाहर चला जाय। पेशावर भी गये, लेकिन चमरकन्द या दूसरी जगह जाने का कोई इन्तिजाम नहीं हो सका था।

कराँची में–1926 के अक्तूबर तक रुपये खर्च हो चुके थे। बाहर जाने का कोई इन्तिजाम भी नहीं हो सका। सागर ने सोचा कि शायद कराँची में कोई इन्तिजाम हो जाय और वह वहाँ चले गये। यहाँ बुखारी से उनकी मुलाकात हुई। दोनों साथ रहने लगे। बाहर जाने का प्रबन्ध इतना आसान थोड़े ही था। म्युनिसिपैलिटी के एक उर्दू स्कूल में हेडमास्टरी मिल गई। धीरे-धीरे अध्यापकों में प्रभाव बढ़ता गया और फिर वह उर्दू-अध्यापक-सभा के जेनरल-सेक्रेटरी हो गये। कभी वह मकरान के रास्ते ऊँट पर चढ़ के बाहर निकल जाना चाहते थे, कभी नाव में बैठकर बन्दर-अब्बास (ईरान) जाने की बात करते। सारी योजनाएँ फेल होती गईं। एक ओर निराशा बढ़ती जा रही थी, दूसरी ओर बुखारी ने सोशलिज्म और कमूनिज्म की बातें धीरे-धीरे कान में डालनी शुरू कीं। 1928 में साइमन-कमीशन के खिलाफ प्रदर्शन करने में बुखारी ने सागर को भी साथ कर लिया। बुखारी खुद उन रास्तों से गुजर चुका था, इसलिए वह सागर के पैर के नीचे की ईंटों को धीरे-धीरे खिसकाना चाहता था। वृहत्तर-इस्लामाबाद का नशा तो खत्म हुआ, मगर सैनिक-विद्या सीखने का ख्याल अब भी सागर के दिल में वैसा ही था। बुखारी से पूछा–"रूस में तो सैनिक-शिक्षा मिल सकती है ?" "हाँ जरूर।" सागर कोई रास्ता ढूँढ़ने के लिए 1929 की गर्मियों में पाराचनार (फ्रंटियर) गये। कोहाट-पेशावर के बीच के रास्ते पर कुम्हारों को रायफल गले में डाले गदहों के साथ जाते देखा, तो उनके ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा। कोहाट से 60 मील गये। पाराचनार के पास कबीलेवालों से लड़ाई हो रही थी। पुलिस ने सागर को गिरफ्तार कर लिया। सागर घबराये। उनके पास काबुल के लिए चिट्ठियाँ थीं। कुछ बीमार-से थे ही। पुलिस से कहा–"जल्दी पाखाने का इन्तजाम करो।" सफाई देने के लिए झोला और दूसरा सामान वहीं रख दिया और पानी लेकर थोड़ी आड़ में चले गये। फिर चिट्ठियों को वहीं चबा-चबाकर जमीन में ही नहीं गाड़ दिया, बल्कि उनके साथ वर्षों की अपनी आशा को भी दबा दिया। पुलिस ने तलाशी ली। सागर ने एक-एक चीज को दिखला दिया। कागजों में छुट्टी की मंजूरी की भी एक चिट्ठी थी। पुलिस ने छोड़ दिया, लेकिन सी. आई. डी. को पीछे कर दिया। पाराचनार के एक होटल में दो-तीन सप्ताह रहे। फिर पेशावर होते करॉंची चले आये।

अभी भी मालूम देता है, पुराने ख्यालात दिमाग से निकले नहीं। सागर ने देखा कि शिया लोगों को तीर्थयात्रा के लिए आसानी से पासपोर्ट मिल जाता है। बुखारी ने सोशलिस्ट बना ही दिया था, इसलिए सागर के लिए शिया-सुन्नी बराबर थे। अब वह करॉंची के शियों में जाने-आने लगे। उनके भोलेभाले सुन्दर गौर भव्य चेहरे, उनकी शायरी और मीठी-मीठी बातों से कदर क्यों न बढ़ती ? सागर ने जियारत (तीर्थयात्रा) के लिए पासपोर्ट की दरखास्त दी। उन्हीं दिनों ईरान में किसी जगह ब्रिटिश कौंसल के ऊपर बम फेंका गया था, इसलिए पासपोर्ट देने में काफी कड़ाई थी। मजिस्ट्रेट ने कहा कि किसी संभ्रांत शिया का सिफारिशी पत्र लाओ। पत्र भी ले आये। पासपोर्ट भी हाथों में आ गया। मगर इसी समय सी. आई. डी. ने पहुँचकर कहा, हम तुम्हें जानते हैं, जाओ नहीं तो गिरफ्तार कर लिये जाओगे।

अब सागर चारों ओर से निराश थे और कुछ-कुछ बुखारी की बात भी समझ में आने लगी थी। उन्होंने नौजवान-भारत-सभा कायम की। अध्यापकों के संगठन को मजबूत करना शुरू किया। करॉंची में अध्यापक की तनखाह बहुत कम थी। तनखाह बढ़वाने के लिए उन्होंने एक नई तरह की हड़ताल शुरू की। 500 स्कूलों के सारे अध्यापक तीन महीने तक तनखाह लेने से इन्कार करते रहे, साथ ही वह रोज पढ़ाने जाया करते थे। कार्पोरेशन ने पाँच रुपया तनखाह बढ़ाना मंजूर किया। बुखारी ने कलकत्ता कॉंग्रेस से लौटकर स्वतंत्रता लीग

(इन्डिपेन्डेन्स लीग) की शाखा कराँची में खोली। सागर भी उसके साथ थे।

1930 में नमक सत्याग्रह आया। दो-तीन मास की छुट्टी बाकी थी। सागर अब सत्याग्रही स्वयंसेवक बन गये और उनका नाम नारायणदास बेचर के पहले जत्थे में था। अप्रैल में 42 हजार लोगों की भीड़ जमा थी। समुद्र से पानी लाकर वहाँ नमक बनाया गया और खूब व्याख्यान हुए। समझ रहे थे कि सरकार मेहरबानी करके उन्हें जेल पहुँचा देगी, लेकिन सरकार चुप रही। क्या करते ? सत्याग्रही लोग जेल ढूँढ़ने के लिए सिन्ध में बिखर गये। सागर को सक्खर में जाकर सत्याग्रह संगठन का काम दिया गया। तीन मास तक रहे, लेकिन गिरफ्तारी नहीं हुई। फिर वह कराँची आ गये। अब वह सारे सिन्ध के सत्याग्रह-कैम्प के सुपरिण्टेण्डेण्ट थे। मुसलमान होकर भी मांस नहीं खाते थे, सच बोलते थे, फिर बनिये क्यों न खुश होते ? आखिर में सागर की आशा सफल हुई–पकड़ गये, मुकदमा चला। छै महीने की सजा और जुर्माने में चार महीने की और। सी क्लास के कैदी बनाकर जेल में भेज दिये गये। जेल में राशन में मिलनेवाले भोजन के सिवाय और कुछ नहीं खाते थे।

8 मार्च, 1930 को सागर जेल से छूटे। नौजवान-भारत-सभा के सभापति थे और कराँची कांग्रेस के प्रतिनिधि भी। उस कांग्रेस के साथ अखिल भारतीय नौजवान भारत कान्फ्रेंस होने जा रही थी। सागर जनरल सेक्रेटरी थे। गाँधी-इरविन समझौते के बाद भी भगतसिंह को फाँसी हुई। नौजवान बहुत उत्तेजित थे। उन्होंने कराँची में गाँधीजी के स्वागत से अपना विरोध प्रगट करते हुए, उन्हें काले फूल दिये। गाँधीजी ने नौजवान भारत के प्रतिनिधियों को बुलाया, जिनमें एक सागर भी थे। सफाई देते हुए गाँधीजी ने कहा–"मैंने भगतसिंह और उनके साथियों को बचाने की आखिरी कोशिश की।" प्रतिनिधि सन्तुष्ट नहीं हुए। गाँधीजी ने कहा–"अच्छा, जिन्दगी-भर मैं इन फूलों को अपने पास रखूँगा।" लौटाने के लिए कितना ही कहा गया, मगर नौजवानों ने काले फूल नहीं वापिस लिये।

अब सागर नौ. भा. सभा के काम में गर्क थे। जब वह अपने स्कूल के चार्ज लेने गये, तो उनके सामने कांग्रेसी मालिकों की ओर से शर्त पेश की गई–तुम नौजवान सभा में काम न करो तो नौकरी मिलेगी। गिडवानी ने भी जोर देकर कहा–"तुम नौजवान-भारत-सभा में भाग लेते हो, इस्तीफा दे दो।" सागर ने कहा–"मैं इस्तीफा नहीं देता, तुम डिसमिस कर दो।" गिडवानी ने डिसमिस कर दिया। पुलिस डर रही थी गाँधी-इरविन समझौते से, लेकिन कांग्रेस के महन्तों ने उसका रास्ता साफ कर दिया। मकान पर आते ही सागर को गिरफ्तार (23 अगस्त) कर लिया गया। महात्माजी गोलमेज के लिए जा रहे थे। तार से उनके पास इसकी खबर दी गयी। उन्होंने जवाब दिया कि सरदार पटेल इसे देखेंगे। सरदार पटेल ने भी पीछे अपनी मुहर लगा दी। सागर पर राजद्रोह (दफा 124 ए) का मुकदमा चला और एक साल की सजा हुई। अबकी उन्हें बी क्लास में रखा गया और मास भर बाद यरवाडा भेज दिया गया। पीछे विलायत से लौटकर महात्माजी भी उसी वार्ड में पहुँचा दिये गये।

येरवाडा जेल में–सरदार पटेल, महात्मा गाँधी, महादेव भाई देसाई आदि बड़े-बड़े कांग्रेसी नेताओं के सत्संग का सागर को मौका मिला। पटेल साहब कहते–"हम तो एक सप्ताह में चले जायेंगे। आन्दोलन बहुत विकट रूप धारण कर रहा है।" सागर को सरदार पर आश्चर्य होता था। सागर की आँखों से परदा हटता जा रहा था, गाँधीवाद उन्हें बिलकुल खोखला मालूम होने लगा। महादेव भाई ने कई बार कहा कि बापूजी के पास लिखकर विचार-विनिमय कर डालो, लेकिन सागर तैयार नहीं हुए। एक गोवानी ईसार कैदी गाँधीजी के नाम से बहुत प्रभावित था। वह दूर से ही गाँधीजी को हाथ जोड़ लिया करता था। एक बार नजदीक पाकर उसने गाँधीजी के पैर छू लिये। रिपोर्ट कर दी गई। बेचारा मुश्किल से सजा से बचा। जेल के लड़के कैदियों को सुपरिण्टेण्डेण्ट ने गन्दी गाली दी थी। उन्होंने समझा कि गाँधीजी के पास खबर भेजने से वह समझा देंगे और उन्होंने एक चिट्ठी महात्माजी के पास भेज दी। सत्यभक्त महात्मा ने उसे सुपरिन्टेन्डेन्ट के पास भेज दिया, यह कुछ भी ख्याल नहीं किया कि लड़कों पर क्या बीतेगी। सागर के ऊपर इसका बुरा प्रभाव पड़ा। सागर सोचते थे, यदि महात्मा सी क्लास में रहते और उसकी सारी तकलीफें और अपमान सर पर पड़ते, तो मालूम होता; यहाँ तो जेल में भी महात्मा का दरबार लगता है, जिसमें आई. सी. एस. से ऊपर का ही आदमी सामने

कुर्सी पर बैठ सकता है।

नये भारत के नये नेता—अगस्त 1932 में जेल से छूट कर सागर कराँची पहुँचे। बुखारी अब कराँची में नहीं था। सागर बटाला गये, मालूम हुआ हाजी साहब उनके जेल में रहते समय ही मर गये। पुलिस को भनक लग गई। पंजाब की पुलिस क्यों बाज आने लगी। 109 (आवारागर्दी) में दो महीने के लिए हवालात में डाल रखा, आखिर में छुट्टी मिली। फिर कराँची आये, 15 दिन म्युनिसिपल-आफिस में क्लर्क का काम करके इस्तीफा दे दिया। उसी समय 'मजदूर' (उर्दू) नाम से एक साप्ताहिक पत्र निकाला—अखबार की भलाई के ख्याल से नाम दूसरे का रहता था। पहले पर्चे में तो सागर की कलम खूब चली ही थी, दूसरे पर्चे के बारे में लिख दिया गया, कि यह 'मेरठ-नम्बर' होगा। पुलिस ने सागर को गिरफ्तार किया और 24 घंटे के अन्दर सिन्ध छोड़ देने का हुक्म दिया।

ईद के एक दिन पहले सागर कराँची से चले।

पंजाब में—जनवरी 1933 से सागर पंजाब में काम करने लगे। अभी काल ज्यादातर नौजवान भारत का था। हाजी साहब मर गये थे और मरने से चन्द दिन पहिले अपनी बड़ी बीबी को तलाक भी दे गये थे, लेकिन छोटी बीबी जमीला और बची-खुची जायदाद का देखनेवाला सागर के सिवाय कोई न था। सागर ने (23 अगस्त 1933) को जमीला से शादी कर ली। अब पंजाब उनका कार्यक्षेत्र था। सागर के पिता ने कहा था कि लावल्द की सम्पत्ति नहीं लेनी चाहिए। लेकिन सागर को सम्पत्ति का ख्याल थोड़े ही था, वह सम्पत्ति तो जमीला की है। जमीला सागर के काम को समझ नहीं पाती। लेकिन वर्षों जेल में रहते सागर के लिए उसने जो गर्म आँसू बहाये हैं, उन्होंने सागर के काम को समझाया जरूर है। 1934 से 40 तक सागर पंजाब के सोशलिस्ट आन्दोलन के जबर्दस्त स्तम्भ रहे हैं। दो-तीन बार उन्हें गिरफ्तार होना पड़ा। 1934 के मई दिवस के लिए तीन मास की सजा हुई, जो अपील पर डेढ़ महीने की रह गई। 1935 में फिर दो मास के लिए जेल गये। रामगढ़ कांग्रेस (मार्च 1940) में वह आल इंडिया कांग्रेस के मेम्बर के तौर पर गये थे। 11 सितम्बर 1940 में गिरफ्तार कर उन्हें नजरबन्द कर दिया गया और कितने ही जेलों में घूमते 18 अक्टूबर 1940 से 21 जनवरी 1943 तक वह देवली केम्प में रहे। देवली में मार्क्सवाद को पढ़ने ही नहीं बल्कि मार्क्सवाद के संगठन को मजबूत करने में सागर ने खूब काम किया। भूख-हड़ताल में जिस वक्त लोगों के मुँह सूखते जा रहे थे, उस समय भी सागर की मुस्कुराहट वैसी ही बनी रहती थी। हमारे कवि-सम्मेलनों और मुशायरों में उनकी कविताएँ बहुत पसन्द की जाती थीं और हमारी नाट्यशाला के तो वह प्राण थे। जब किसी संन्यासी का वेष धर के वह रंगमंच पर आते, तो सचमुच ही उनका चेहरा और खिल जाता। 26 जुलाई 1942 को सरकार ने सागर को नजरबन्दी से मुक्त किया, लेकिन चार महीना भी बाहर नहीं रहने पाये कि 18 नवम्बर को फिर गिरफ्तार कर डेढ़ साल की सजा दे दी गई।

38

'शेरे-काश्मीर' शेख़ अब्दुल्ला

प्रमुख तिथियाँ—1905 दिसम्बर 5 जन्म, 1909 शिक्षा आरम्भ, 1911-13 प्राइमरी स्कूल में, 1913-17 गवर्नमेंट प्राइमरी स्कूल में, 1916 अध्यापक से लड़े, 1917 अन्याय का विरोध, 1917-22 गवर्नमेंट हाईस्कूल (श्रीनगर) में, 1922 मैट्रिक पास, 1922-24 श्री प्रताप कॉलेज में, 1924-28 इस्लामिया कॉलेज में, 1924 राजनीति की भनक, 1928 बी. एस-सी. पास, 1928-30 अलीगढ़ यूनिवर्सिटी, 1930 एम. एस-सी. पास, 1930 राजनीतिक क्षेत्र में पग, 'काश्मीरी मुसलमान' निकाला, 'मजलूम-काश्मीर' निकाला,

पहिला राजनीतिक व्याख्यान; 1931 साइंस मास्टरी, राजनीतिक संघर्ष में, 1931 जुलाई 13 नौकरी छोड़ी, गोली चली; जुलाई 14 गिरफ्तार, 21 दिन वाद छूटे; सितम्वर 25 गिरफ्तार आठ दिन, 1932 जनवरी 24 जेल में छै मास, 1932 अक्तूवर 15-16 प्रथम मुस्लिम कांफ्रेंस के सभापति 'शेरे-काश्मीर', 1933 मई जेल में डेढ़ मास; 1933 दिसम्वर 15-17 द्वितीय मुस्लिम कान्फ्रेंस के सभापति, 1933-34 जम्मू के हिन्दू गरीवों में, 1934 शादी, 1938 अगस्त 29 जेल में छै मास, 1939 अगस्त 8 मुस्लिम-कान्फ्रेंस से नेशनल कान्फ्रेंस, 1943 अप्रैल नेशनल कान्फ्रेंस के सभापति, मई 1946 में कैविनेट मिशन का काश्मीर-आगमन और नेशनल कान्फ्रेंस द्वारा अमृतसर की सन्धि के विरुद्ध 'काश्मीर-छोड़ो' का आन्दोलन, 20 मई 1946 को शेख अव्दुल्ला की गिरफ्तारी और 3 साल की सजा, सितम्वर 1947 जेल से मुक्ति, 30 अक्तूवर को शासन के प्रधान, 5 अक्तूवर 1948 में अस्थायी सरकार की स्थापना और शेख अव्दुल्ला का प्रधान मंत्री पद ग्रहण।

हिन्दुस्तान के ¼ भाग पर राजाओं और नवावों का शासन है। कहने को तो वह स्वदेशी शासन कहा जाता है, लेकिन रियासती प्रजा के हाथ-पैर जितने वँधे हुए हैं, उतने व्रिटिश भारत की जनता के भी नहीं हैं।। व्रिटिश भारत में वहुत पहले से भाषण-मंच और अखवार में कुछ वोलने-लिखने की आजादी है; यद्यपि नौकरशाही ने इसे कभी पसंद नहीं किया और जव कभी उसे मौका मिलता है, तो भाषण और प्रेस पर दूर से प्रहार करने से वाज नहीं आती। लेकिन, विलायत से लोग हल्ला करने लगेंगे, इस ख्याल से उसे दवना पड़ता है। आज 1943 में, जव स्वतंत्रता की रक्षा के लिए इतना घोर संग्राम चल रहा है और प्रभुओं की हुआँ-हुआँ में कितने ही राजा लोग भी जनतंत्रता की दोहाई देने में पीछे नहीं रहना चाहते। लेकिन आज भी हिन्दुस्तान के इन 575 मुकुटधारियों में अधिकांश के शासन में प्रजा को अपने राजनीतिक विचार प्रकट करने की कुछ भी आजादी नहीं है। वहाँ जरा भी स्वतंत्र विचार प्रगट करने पर आदमी को जेल और जायदाद-जप्ती की सजा मामूली-सी वात है। कितने ही राजा तो प्रजा के धन और इज्जत से खिलवाड़ करने के लिए अपने को विल्कुल स्वतन्त्र समझते हैं; और दिन-दोपहर रेजीडेन्ट टुकटुक देखता और शायद मुस्कराता भी रहता है। रियासतों में न सत्ता स्थापित करने में राजा तो वाधक हैं ही, लेकिन अंग्रेजी सरकार का प्रतिनिधि तो मालूम होता है, खास इसी वाधा के लिए नियुक्त किया गया है। यदि किसी राजा ने जरा भी उदारता दिखलाई कि उसे गद्दी छोड़ने या विदेशों की सैर के वहाने राज्य से निर्वासित होने के लिए वाध्य किया जाता है। ऐसे स्थानों में किसी तरह का जन-आन्दोलन करना कितना मुश्किल है, यह आसानी से समझा जा सकता है। और जहाँ हिन्दू-मुस्लिम-प्रश्न को वीच में डालकर समस्या को विकट वनाने का मौका है, वहाँ तो और मुश्किल है। काश्मीर और हैदरावाद इसी तरह की रियासतें हैं, जहाँ के शासक और अधिकांश रियासती अफसर एक धर्म के माननेवाले हैं और प्रजा का अधिकांश दूसरे धर्म का। प्रजा की ओर से कोई भी राजनीतिक प्रश्न उठाने पर झट हिन्दू-मुस्लिम-सवाल ही नहीं उठा दिया जाता, वल्कि हिन्दू-मुस्लिम-झगड़ा खूनी शक्ल में पैदा कर दिया जाता है। यहाँ हम एक ऐसे पुरुष-सिंह का जीवन दे रहे हैं, जिसने इन सारी कठिनाइयों के रहते भी अपने देशवासियों को अपनी राजनीतिक लड़ाई के लिए तैयार किया। गोलियाँ वर्षा की बूँदों की तरह वरसीं और निहत्थी-दवी प्रजा के खून से धरती लाल हो गई; मगर उसने हिम्मत नहीं हारी। उसके योग्य नेता ने अपने तजरवे से सीखा और अपने संघर्ष को साम्प्रदायिक झगड़ों से ऊपर उठाया। जनता में उसने ऐसी रूह फूँकी और ऐसा रास्ता वतलाया कि रियासती सरकार तथा उसके प्रभुओं के सारे हथकंडे वेकार सावित हुए और उसे वहुत-सी वातों में दवाना पड़ा। अंतिम मंजिल वहुत दूर है; मगर जनता और उसके नेता सारी यात्रा को तै करने के लिए अपने पैरों को मजवूत कर चुके हैं।

काश्मीर राज्य—काश्मीर-राज्य क्षेत्रफल के विचार से भारत की सवसे बड़ी रियासत है। हैदरावाद के 82698 वर्गमील, मैसूर के 29469 वर्गमील के मुकाविले काश्मीर का क्षेत्रफल है 84471 वर्गमील। यही एक रियासत है, जिसकी सीमाएँ वाहरी देशों—तिब्वत, चीनी-तुर्किस्तान, अफगानिस्तान और रूसी-तुर्किस्तान से मिलती हैं।

इसकी जनसंख्या 40 लाख (1941) से ऊपर है, जो धर्म के लिहाज से इस प्रकार वँटी हुई है :–

मुसलमान	...	...	3101247
हिन्दू	...	...	809165
सिक्ख	...	...	65903
बौद्ध	...	...	40696
दूसरे	...	...	4605
			4021616

काश्मीर का इतिहास एक भव्य इतिहास है। उसने अभिनव गुप्त (6वीं सदी), शंकरानन्द (9वीं सदी), जयन्त भट्ट (9वीं सदी), नाडपाद (11वीं सदी) जैसे प्रकाण्ड दार्शनिक और तार्किक पैदा किये। हरिषेण, मम्मट, सोमदेव और क्षेमेन्द्र जैसे कवि इसी के रत्न थे। कल्हण जैसे ऐतिहासिक को पैदा करने का गर्व इसी को है। इसके वीरों ने कान्यकुब्ज (6वीं सदी) को अपने चरणों में झुकने के लिए मजवूर किया। इतिहास के आरम्भ से 1315 ईसवी तक वह एक शक्तिशाली स्वतंत्र देश रहा। फिर पटान आये; लेकिन उन्होंने इसे अपना देश बना लिया। मुगलों ने इसे अपनी गुलामी की वेड़ियों से वाँधा। फिर 1819 में रणजीत सिंह ने काश्मीर में अपनी शासन-ध्वजा गाड़ी। 1846 में अंग्रेजी कम्पनी ने 75 लाख रुपये में काश्मीर को गुलाव सिंह के हाथ में बेच दिया और उसके साथ ही काश्मीर की प्रजा भी बेच दी गई। तब से काश्मीरियों की हालत दिन-पर-दिन बिगड़ती गई। उसका आर्थिक दोहन इतने भीषण रूप में होता रहा कि काश्मीर की स्वर्गोपम भूमि भारत के सबसे गरीब लोगों की बस्ती बन गई। धन-दोहन किस तरह होता रहा, यह इसी से मालूम होगा कि 1943-44 के आय-व्यय के लेखे में जहाँ आमदनी 33709000 थी और खर्च 33618000, उसमें 16 सैकड़ा राजा के वैयक्तिक खर्च में और 19 सैकड़ा राजसेना में लगा। शिक्षा पर 3.50 सैकड़ा और चिकित्सा पर तो सौ के खर्च पर 10 आना मुश्किल से। 1942-43 के खर्च में राजा के अपने खर्च के लिए 4186000 लगा था।* राज की आमदनी का ज्यादा खर्च सरकारी अफसरों पर होता है, जिनमें सभी वड़े-वड़े अफसर रियासत के बाहर के होते हैं और कुछ साल पहले तो छोटों की संख्या में भी वाहरी लोगों की ही भरमार थी। अब भी नौकरियाँ प्रजा के बहुसंख्यक सम्प्रदाय में बहुत कम को मिलती हैं।

सदियों से मुर्दा पड़ी प्रजा को उठानेवाला काश्मीर का सपूत शेख मुहम्मद अब्दुल्ला है, जिसे संघर्ष के पहले ही वर्षों में किसी गुमनाम कण्ठ ने 'शेरे-काश्मीर' की पदवी दे डाली और आज उसे काश्मीरी जनता शेख अब्दुल्ला की जगह 'शेरे-काश्मीर' के नाम से ज्यादा जानती है।

जन्म–आज श्रीनगर काश्मीर की राजधानी है। किसी मुसलमानी शासक ने नौशहरा को अपनी राजधानी बनाया था। सौरा नौशहरा के पास हजार घरों का एक बड़ा-सा गाँव है। श्रीनगर से 6 मील होने पर भी अव वह श्रीनगर म्युनिसिपैलिटी के अन्दर है। पश्चिम की ओर आँचार और पूर्व में डल, इन दोनों झीलों के बीच सौरा की बस्ती है। किसी समय सौरा के दुशाले सारी दुनिया में जाते थे; लेकिन विदेशी और नकली सस्ते शालों ने इस रोजगार को बहुत नुकसान पहुँचाया। सौरा के पास इतने खेत नहीं हैं कि लोग खेती पर गुजारा करते। सौरा-निवासी अब ज्यादातर मजदूरी पर गुजारा करते हैं। 15वीं सदी में जैनुल आबदीन ने जब नौशहरा को अपनी राजधानी बनाया था, उस समय सौरा की हालत बहुत अच्छी रही होगी, इसमें सन्देह नहीं। सौरा में डर (दर), बट (भट्ट) और शेख लोग बसते हैं, जो प्रायः सभी 14वीं सदी के बाद मुसलमान हुए। यहीं शेख मुहम्मद इब्राहीम (मृत्यु 1905) रहते थे जिनके मरने के चन्द ही महीनों बाद 5 दिसम्बर 1905 को एक पुत्र पैदा हुआ, जिसका नाम मुहम्मद अब्दुल्ला रखा गया। अब्दुल्ला 6 भाई थे, जिनमें तीन सौतेली माँ के लड़के थे। घर की रोजी शाल के काम से चलती थी।

---

* हाथ-खर्च 1584000, राजपरिवार 390000, राजा की जागीर 850000 और राजा का निजी विभाग 1322000

बाल्य—अब्दुल्ला की सबसे पुरानी स्मृति तीन-चार साल की उम्र की है जबकि उस पर चेचक का प्रहार हुआ था। बचपन ही से अब्दुल्ला का स्वास्थ्य अच्छा रहा। उसे खेल-कूद का बहुत शौक था। लटकीजलुट (गुल्ली-डंडा), गोरमाजू-गोर (आँखमिचौनी) उसे बहुत पसन्द थे। आज शेख अब्दुल्ला 6 फीट 3 इंच के हट्टे-कट्टे जवान हैं। बालक अब्दुल्ला भी अपनी उम्र के लड़कों में छोटा-मोटा देव-सा मालूम होता होगा। आज की 40 लाख की काश्मीरी जनता का नेता उस समय अपने गाँव के बच्चों का नेता था। शायद उन्हीं में उसने नेतृत्व के क-ख को सीखा। बचपन में ही अब्दुल्ला बहुत निडर था। उसे किस्से-कहानियों के सुनने का बहुत शौक था, जिनमें जिन्नों और भूतों की बातें बहुत होती थीं, मगर वह भूतों से डरता नहीं था।

शिक्षा—अब्दुल्ला चार-पाँच साल का था तभी (1909-10 में) उसे मुल्ला के पास कायदा और कुरान पढ़ने के लिए बैठा दिया गया। दो साल पढ़ने के बाद इस्लामियाँ हाईस्कूल की नौशहरावाली शाखा में दाखिल हो गया। यद्यपि बड़े भाई स्वयं निरक्षर थे, माँ भी रोजा-नमाज की पाबन्दी रखते हुए बिलकुल अनपढ़ थीं, तो भी घरवालों ने अब्दुल्ला को पढ़ाना अच्छा समझा। बचपन में इसी समय अब्दुल्ला के सामने एक घटना घटी, जिसकी छाप उसके दिल पर हमेशा के लिए पड़ गई। एक घर में बूढ़े माँ-बाप और दो बहनें थीं, उनका सहारा था एक 16-17 साल का लड़का, आम की तरह खूब गोरा काश्मीरी सुन्दर नवयुवक। लड़का आठ आने की मजदूरी करता था। परिवार के अलावा कर्ज का भी बोझ था और साहूकार रोज आकर गालियाँ देता। नवयुवक मजूरी से कुछ बचाने की कोशिश करता, जिसमें कि उन गालियों से बच सके। बहुत घटिया तरह का चावल और उसमें भी ज्यादा भीतरी लाल भूसी को मिलाकर पतला करके पकाया जाता। उसी के सहारे सारा परिवार जीता था। तरुण एक दिन बीमार हो गया और कुछ ही दिनों में चल बसा। घरवाले छाती पीट रहे थे—कमाऊ पुत्र की ओर देखकर ही नहीं, बल्कि सामने खड़ी विकराल भूख और मृत्यु से भयभीत होकर। बालक अब्दुल्ला ने सोचा—हम खा-पी रहे हैं, लेकिन हमारा पड़ोसी !

अब्दुल्ला ने प्राइमरी स्कूल में दो दर्जे पास किये। बड़े भाई ने समझा, इतना बहुत है; फिर सुई थमाकर उसे दुशाले के काम में लगा दिया। मझला भाई कुछ अरबी-फारसी पढ़ा था। उसने आठ-नौ वर्ष के बच्चे को काम में जोत देना पसन्द नहीं किया। अब्दुल्ला को फिर नौशहरा प्राइमरी स्कूल में भेज दिया गया और दो सालों में उसने तीन दर्जे—तीसरे, चौथे, पाँचवें—पास किये। पढ़ने में उसका मन लगता था। उर्दू, अंग्रेजी, हिसाब सबमें उसकी दिलचस्पी थी। प्राइवेट स्कूल था, पढ़ाई-लिखाई ठीक से नहीं चलती थी। दूसरे स्कूल में जाना चाहा, तो अध्यापक सर्टिफिकेट नहीं देता था। इस पर अब्दुल्ला ने लड़-झगड़ इंस्पेक्टर तक पहुँचकर सर्टिफिकेट लेकर ही छोड़ा और विचारनाग के सरकारी प्राइमरी स्कूल से पाँचवें दर्जे को पास किया।

हाई स्कूल में—सौरा से गवर्नमेंट हाई स्कूल (फतेकदल, बाग-दिलावर खाँ) पाँच मील पड़ता है, और कोई स्कूल नजदीक था नहीं, इसलिए अब्दुल्ला ने वहीं 6वें दर्जे में अपना नाम लिखवाया। रोज सबेरे पाँच मील जाना और शाम को पाँच मील आना पड़ता था; इसलिए घर पर कुछ पढ़ना सम्भव ही नहीं था—साथ ही स्कूल का स्वस्थ लड़का होने से रस्सा और क्रिकेट के लिए भी कुछ समय देना पड़ता था। 1922 में 17 साल की उम्र में अब्दुल्ला ने मैट्रिक दूसरे दर्जे में पास किया।

कॉलेज में—अब्दुल्ला को डॉक्टर बनने का ख्याल हुआ। वह साइंस लेकर श्रीप्रताप कॉलेज में दाखिल हो गया। अब उसे नित्य 12 मील जाना-आना पड़ता। पढ़ने और रसायनशाला के काम के बाद रोज-रोज की इतनी मंजिल मारना अब्दुल्ला के फौलादी शरीर पर असर करने लगा। उसका कलेजा कमजोर हो गया और अन्त में अस्पताल की खाट पर लेटने की नौबत आई। 1924 में यूनिवर्सिटी की परीक्षा में बैठा; लेकिन रसायन में फेल हो गया। यदि वह बी. एस-सी. में दाखिल हो जाता, तो अनुत्तीर्ण एक विषय की परीक्षा देकर आगे की पढ़ाई जारी रखने का मौका था, और यदि मेडिकल कॉलेज में तुरन्त दाखिल होना चाहता, तो एफ. एस-सी. की परीक्षा पूरी करने ही में वह साल चला जाता—अब्दुल्ला ने एक साल और लगाकर बी. एस-सी. भी हो लेने का निश्चय किया और वह इस्लामियाँ कॉलेज (लाहौर) में चला गया। रसायन और भौतिकशास्त्र पाठ्य-विषय थे। शेख अब्दुल्ला को कुछ बाहरी बातों का भी शौक हो चला, यद्यपि राजनीति की ओर अभी उसका ध्यान

नहीं गया था। लेकिन, अब वह काश्मीर की रियासत से बाहर था, और रियासती प्रजा की अवस्था से यहाँ की तुलना करता रहता था। 1924 में कुछ काश्मीरी मुसलमानों ने अपनी सरकार के पास अपने दुःखों का रोना रोते हुए एक बिल्कुल नरम-सा मेमोरियल भेजा। शासकों ने इसे भारी गुस्ताखी समझा और उन्हें रियासत से निकाल दिया। इन लोगों ने बातचीत करते समय शेख अब्दुल्ला से शिकायत की—"देखो, हमने लोगों की भलाई के लिए यह काम किया। आज हम वतन से बाहर मारे-मारे फिरते हैं; लेकिन लोग इतने तोता-चश्म निकले कि हमें याद तक नहीं करते।" शेख को उस समय भी इतनी व्यवहार-बुद्धि थी कि उन्होंने उत्तर में कहा—"आपने गलती की। आप लोगों के लिए क्या करना चाहते हैं, इससे पहले लोगों के कानों में पहुँचाना चाहिए था। फिर लोग भी आपके साथ होते। तब यह हालत न होती।" उन्होंने शेख से कहा—"बात बनाना आसान है।" शेख ने कहा—"अच्छा ठहरिये, काम से देखियेगा।" काम से देखियेगा कहनेवाले शेख अब्दुल्ला ने हलके दिल से सोचकर यह बात मुँह से नहीं निकाली थी, वह इसके लिए तैयारी भी कर रहे थे। बी. एस-सी. में फिर फेल हुए और 1928 में जाकर उसे पास किया।

पढ़ने के अलावा कुछ दूसरे भी आकर्षण थे, जो शेख अब्दुल्ला को अलीगढ़ ले गये। वहाँ वह एम. एस-सी. में रसायन पढ़ने लगे। हिन्दू-मुस्लिम-झगड़ों पर मत्थापच्ची करते हुए अब्दुल्ला नमक-सत्याग्रह के युग में पहुँचे। वह देश की उथल-पुथल को अपनी आँखों से देख रहे थे, और देख रहे थे, किस तरह ब्रिटिश नौकरशाही सारी ताकत को लगा करके भी जन-आन्दोलन को दबाने में सफल नहीं हुई। 1930 में एम. एस-सी. पास करते समय उनके दिमाग में ये ख्याल थे, जिन्हें लेकर वह अपने वतन को लौटे।

राजनीतिक क्षेत्र में—मैट्रिक के बाद ही उनका कदम बहक गया था। यद्यपि दो ही साल बाद डॉक्टर बनने की आशा जाती रही, लेकिन वह उसी रास्ते पर चलते रहे। तो भी उनका लक्ष्य तो बन चुका था राजनीतिक कार्य—या इतने बड़े शब्द को न इस्तेमाल कीजिये, तो अपने भाइयों की सेवा। अब्दुल्ला को भूख का कड़वा अनुभव स्वयं को नहीं मिला था, लेकिन अपने आसपास की भीषण गरीबी का बचपन ही से उन पर गहरा असर पड़ा था। वह अपनी माँ (मृत्यु 1923) से भी कभी-कभी सवाल करते—"इतनी गरीबी क्यों ?" सीधी-सादी माँ जवाब देतीं—"अल्ला मियाँ ने ऐसा ही बनाया है।" बालक अब्दुल्ला की समझ में नहीं आता था कि एक अल्ला अपने बच्चों में से एक को गरीब और एक को अमीर क्यों बनाता है ? और सवाल करने पर माँ हँसकर कहती—"तू बड़ा शैतान है।" बचपन से ही अब्दुल्ला किसी के ऊपर होते अन्याय को बर्दाश्त नहीं कर सकते थे और निडर तो एक नम्बर के थे। पाँचवें दर्जे में जब उन्हें मास्टर सर्टिफिकेट नहीं देते थे, तो वह सीधे स्कूलों के इंस्पेक्टर के पास पहुँच गये थे। जब वह 6वें दर्जे में पढ़ते थे तब की एक घटना है। कुछ लकड़हारे जंगल से लकड़ी काटकर शहर में बेचने के लिए अपने घोड़ों पर ला रहे थे। चुंगी अफसर दो-तीन बड़ी-बड़ी लकड़ियाँ माँग रहा था। गरीब लकड़हारा कह रहा था—"इन्हीं की बदौलत तो मुझे दाम मिलेगा। इन्हें मत लो।" अफसर गुस्सा हो उसे पीटने लगा। अब्दुल्ला को यह अन्याय बहुत बुरा लगा। उसने पंडित को पकड़ लिया और खूब जली-कटी सुनानी शुरू की। वहाँ खासी भीड़ लग गई। बालक अब्दुल्ला समझने लगा—वह सरकार बहुत बुरी होगी, जिसके राज्य में गरीब पर ऐसा जुल्म हो सकता है। लाहौर में भी शेख अब्दुल्ला गरीब काश्मीरियों को चार पैसे के लिए लकड़ी फाड़ते और दूसरे जलील काम करते देखते थे। लाहौरी जब 'हतो' 'हतो' कह काश्मीरी मजदूरों का मजाक उड़ाते, तो अब्दुल्ला के कलेजे में सुई-सी चुभने लगती। वह इसे जातीय अपमान समझते। अब्दुल्ला को शिक्षित समाज और पुस्तकों से राजनीतिक शिक्षा प्राप्त करने का मौका नहीं मिला। उन्होंने व्यावहारिक जीवन से राजनीतिक शिक्षा पाई, और व्यवहार से ही कदम-कदम पर राजनीतिक प्रगति में उन्हें सहायता मिली। धर्म-भाई होने के नाते पंजाब के मुसलमान काश्मीर की राजनीति में कुछ दिलचस्पी लेते थे। सर शफी और दूसरे पंजाबी नेता जब महाराजा प्रताप सिंह से सरकारी नौकरियों में मुलसमानों की उपेक्षा होने की शिकायत करते, तो जवाब मिलता—"मुसलमान तो पढ़ते ही नहीं।" अब पढ़े-लिखे मुसलमान नौजवान जब विश्वविद्यालयों से निकलने लगे, तो सिविल-सर्विस रंगरूटी बार्ड का ढोंग रचा गया और बोर्ड की परीक्षा में पहले, दूसरे, तीसरे होने की शर्त पेश की गई। साथ ही यह भी कि उम्मीदवार की

उम्र 22 साल से अधिक भी नहीं होनी चाहिए। पढ़े विषय में अरबी-फारसी को नहीं स्वीकार किया गया। यह सारी चाल सिर्फ इसलिए चली जाती थी कि काश्मीरी मुसलमान नौकरियों में ज्यादा न आने पायें। शेख अब्दुल्ला ने देखा कि यह ऐसा अन्याय है जिसके विरुद्ध काश्मीर के सभी मुसलमानों को एकताबद्ध किया जा सकता है। वह नव शिक्षितों और दूसरे लोगों से मिले, उनसे बातचीत की। उन्होंने सुझाव पेश किया कि सरकार के पास एक मेमोरियल पेश किया जाय। छै साल पहले मेमोरियल पेश करनेवालों की क्या गति हुई, वह तजर्बा लोगों के सामने था। लोग बहुत डर रहे थे और हस्ताक्षर देने के लिए कोई राजी नहीं था। लेकिन अब काश्मीर की प्रजा की बेवसी बाहर की दुनिया तक पहुँच चुकी थी। काश्मीर में मन्त्री रह चुके सर अलबयन बनर्जी ने (मार्च, 1929 में) अपने वक्तव्य में कहा था–"काश्मीर रियासत की अवस्था बड़ी शोचनीय है। उसकी सबसे अधिक संख्यावाली मुसलमान प्रजा बिल्कुल निरक्षर है। वह गरीवी से पिसी जा रही है और गाँवों में भीषण आर्थिक परिस्थितियां में जी रही है। गूँगे-अन्धे पशुओं की तरह उन पर शासन किया जाता है। सरकार और जनता के बीच में कोई सम्पर्क नहीं है। लोगों के कष्टों को पेश करने का कोई उपयुक्त अवसर नहीं मिलता। आधुनिक परिस्थिति के उपयुक्त बनाने में शासन-यन्त्र को नीचे से ऊपर तक बदलने की जरूरत है; क्योंकि जनता की आवश्यकताओं और तकलीफों के ऊपर आज उसकी बिल्कुल ही नाममात्र की सहानुभूति है। राज्य में जनता की सम्मति जानने का कोई साधन नहीं है। अखबार करीब-करीब नहीं-से हैं; इसलिए उपयोगी आलोचना से फायदा उठाने का सरकार को कोई सुभीता नहीं है।" 1929 में लाहौर-कांग्रेस के समय कितने ही तरुण काश्मीरी वहाँ पहुँचे थे, उन पर कुछ असर भी हुआ था। तो भी शेख अब्दुल्ला को मेमोरियल पर दस्तखत कराने में बहुत दिक्त उठानी पड़ी। उन्होंने मेमोरियल सरकार के पास भेज दिया। महाराजा हवाखोरी के लिए फ्रांस गये हुए थे। मिस्टर वेकफील्ड की प्रधानता में एक मन्त्री-कौंसिल काम कर रही थी, जिसमें सिर्फ एक मुसलमान मिनिस्टर थे। कौंसिल ने शेख को भेंट करने के लिए बुलाया। शेख की बचपन की निर्भयता उनके साथ थी। उन्होंने विना हिचकिचाहट के निर्भय होकर काश्मीरी मुसलमानों की सारी तकलीफें कौंसिल के सामने रखीं। वेकफील्ड ज्यादा प्रभावित हुए। जम्मू के मुसलमान पंजाब से ज्यादा नजदीक होने से कुछ अधिक चेतना रखते थे। उन्हें जब मालूम हुआ, तो वे बहुत खुश हुए। इस तरह काश्मीर और जम्मू दोनों प्रान्तों की मुसलमान प्रजा का, आन्दोलन में सहयोग पाने का मौका मिला। काश्मीरी मुसलमानों की तकलीफों के बारे में पंजाब के अखबारों में खबरें भेजी जाने लगीं। शेख साहब खबरों को जमा करके जम्मू के मित्रों के द्वारा पंजाब भेजवाते। इस समय लाहौर का उर्दू दैनिक 'इन्कलाब' ही काश्मीर-राज्य में आने पाता था। दो-तीन अंकों में काश्मीर की बातों के आने पर सरकार ने उसका भी आना बन्द कर दिया। लेकिन अब नई परिस्थिति में एक नया नेतृत्व काम कर रहा था। लाहौर से 'काश्मीरी मुसलमान' नाम से दो पन्ने का एक अखबार निकाला जाने लगा। राज्य का डाक-विभाग रियासत नहीं, ब्रिटिश सरकार के हाथ में है; इसलिए वह उसे आने से रोक नहीं सकती थी। रियासत के भिन्न-भिन्न स्थानों में उसे बँटवा दिया जाता। एक पैसा दाम था। लोग हाथों-हाथ लेते। इसके पाँच ही सात अंक आ पाए, और सातवें अंक तक तो 5000 तक खपने लगा। इस परचे ने जनता में आग लगाने का काम शुरू किया। अब सरकार डाकखाने ही से कापियों को ले लेने लगी। फिर 'मजलूम-काश्मीर' के नाम से दूसरा पत्र निकाला गया।

महाराजा फ्रांस से लौटे। जागीरदारों ने महाराजा के स्वागत में चाय-पार्टी देने के लिए पं. बल्काक दर के घर पर एक मीटिंग की। चाय-कमेटी के प्रेसीडेन्ट दर बनाये गये। वहाँ की बातों को देखकर मुसलमान जागीरदारों ने सोचा, इस तरह वह महाराजा के प्रति अपनी राजभक्ति को प्रगट नहीं कर सकेंगे। उन्होंने अपनी अलग मीटिंग बुलाई। शेख अब्दुल्ला का नाम काफी प्रसिद्ध हो चुका था। मुसलमान जागीरदार अपने पक्ष को मजबूत नहीं पा रहे थे, इसलिए तरुणों के नेता शेख अब्दुल्ला की मदद लेनी चाही। अब सभाओं की जरूरत थी, जिसमें लोगों को अपना पृष्ठपोषक बनाया जाय। इसी समय चाय-पार्टी को लेकर कुछ सार्वजनिक सभाएँ हुईं, जहाँ शेख अब्दुल्ला को पहले-पहल वक्ता के रूप में जनता के सामने आने का मौका मिला। चन्दा भी जमा हो गया, लेकिन महाराजा के सलाहकारों ने यही सलाह दी कि महाराजा दोनों में से किसी के निमन्त्रण

को स्वीकार न करें।

शेख अब्दुल्ला चाय-पार्टी के बहाने सार्वजनिक वक्ता भी बन चुके थे; मगर वह जानते थे कि अभी सार्वजनिक सभाओं के लिए उतावला होने की जरूरत नहीं है। इस समय उनका काम था—घटनाओं को जमा करना, उन पर लेख लिखना, लेख को छपने के लिए रियासत से बाहर भेजना और छपे लेख को लोगों में बाँटने का प्रबन्ध करना। लोगों में जागृति हो चुकी थी। काफी तरुण साथ काम कर रहे थे। शेख को खाने और सोने तक की फुरसत न थी। रात के बारह बजे घर लौटना मामूली बात थी। लेकिन, घरवालों पर बोझ होकर वह अपना काम ज्यादा दिन तक नहीं कर सकते थे। उनका घर भी शहर से छै मील दूर था। शहर में रहने के लिए पैसों की जरूरत थी। मित्रों ने सलाह दी, कोई नौकरी कर लें। नौकरशाही ने इस सुनहला अवसर समझा और अस्सी रुपया मासिक की साइन्स-मास्टरी देकर शेख को खरीदना चाहा। घर से भी शेख को बीस-पचीस रुपये मिल जाते थे। इस सौ रुपये में अब वह अपना काम चलाने लगे। स्कूल के समय पढ़ाने जाते और बाकी समय सेवा के काम में लगे रहते।

ईद आई। जम्मू में नमाज के बाद खुतबा पढ़ा जा रहा था। पुलिस इन्स्पेक्टर ने उसे बीच ही में बन्द कर दिया। एक कान्स्टेबिल ने कुरान की तौहीन की। जम्मूवालों ने इसके विरुद्ध पोस्टर छापे। कुछ पोस्टर श्रीनगर भी आये। शेख ने स्कूल से छुट्टी ले ली और नौजवानों को शहर में पोस्टर चिपकाने के लिए भेज दिया। शेख के घर के पास ही पुलिस ने उनमें से कुछ लड़कों को गिरफ्तार कर लिया। शेख ने इसका विरोध किया। बात की बात में 5000 आदमी जमा हो गये और उन्होंने लड़कों को छीन लिया। झगड़ा न बढ़ने पाए, इसके लिए शेख ने सबको जामा मस्जिद में इकट्ठा किया। पचीसों हजार की जनता के सामने यहीं पर शेख अब्दुल्ला को अपना पहला राजनीतिक व्याख्यान देना पड़ा। जब वह घर लौटे, तो 20000 लोग उनके पीछे-पीछे थे। घर पर जनता ने फिर माँग की और उन्हें दूसरा व्याख्यान देना पड़ा।

शेख अब्दुल्ला सन् 24 वाले नेताओं जैसे आसमानी नेता नहीं थे। उनकी जड़ जनता के बीच में बहुत भीतर तक गड़ी हुई थी; इसलिए सरकार सामना करने के लिए तैयार न थी। उन्हें मुजफ्फराबाद—श्रीनगर से सौ मील दूर—बदल दिया गया। शेख ने जाने से इन्कार किया। डाइरेक्टर ने बुला भेजा। शेख ने कहा—"इस तरह आप मेरे मुँह पर ताला लगाना चाहते हैं ? मैं वहाँ भी चुप नहीं रहूँगा। हरएक जुल्म के लिए आवाज उठाना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।" निरीह काश्मीरी मुसलमानों पर होते जुल्मों की कहानी जिस समय शेख अब्दुल्ला कह रहे थे, उस समय वह अपनी आँखों के आँसुओं को रोक नहीं सके। उन्होंने कहा—"मैंने अपना जीवन अपने भाइयों के लिए दे दिया है। मैंने आपकी नौकरी भी इसी मतलब से की थी। मैंने आपके हाथ में अपने 8 घन्टे बेचे हैं, बाकी 16 घंटों का मालिक मैं हूँ।" डाइरेक्टर ने कहा—"तुम चौबीसों घण्टों के नौकर हो!" शेख ने कहा—"मुझे ऐसी नौकरी नहीं चाहिए।" शिक्षा-मन्त्री नवाब खुशरूजंग ने भी बहुत समझाया और चाहा कि शेख अब्दुल्ला कुछ सफेद ठीकरों पर अपने जीवन को सरकार के हाथ में बेच दें। शेख ने इस्तीफा दे दिया। क्रोध में पागल शिक्षाधिकारी ने इस्तीफा न मंजूर कर उन्हें बरखास्त करने का हुक्म निकाल दिया। शेख ने लिख दिया—"धन्यवाद के साथ बरखास्त होने का हुक्म पाया।"

गोली-काण्ड—शेख अब्दुल्ला वैसे ही बहुत जनप्रिय नेता हो चुके थे, नौकरी से निकलने के बाद तो काश्मीर के कोने-कोने में और भी उनका यशोगान होने लगा। लोगों में जोश की बाढ़ आ गई थी। जगह-जगह सभाएँ होने लगीं। सरकार ने उन्हें बन्द करने की कोशिश की, मगर वह बात से बन्द थोड़े ही हो सकती थीं और लाखों आदमियों को जेल में बन्द करने के लिए सरकार तैयार न थी। सभाओं में यदि सरकार के पिट्ठू बोलना चाहते, तो लोग चिल्लाकर उन्हें बैठा देते। सरकार को अब कुछ होश आया। उसने एक कमेटी बनाकर प्रजा की तकलीफों की जाँच करने की घोषणा की। कमेटी ने चार जम्मू और सात काश्मीर के प्रतिनिधि माँगे। काश्मीर के सात प्रतिनिधियों के नाम शेख ने लोगों के सामने रखे और एक 60-70 हजार की सभा में यह नाम स्वीकृत हुए। सभा बरखास्त हो रही थी, उसी समय एक गैर-रियासती आदमी को जोश आ गया। वह खड़ा होकर व्याख्यान देने लगा—"यदि सरकार नहीं मानती तो सभा करो; यदि सभा की बात नहीं मानती,

ईंट-पत्थर उठाओ।" दो दिन बाद वह वक्ता गिरफ्तार कर लिया गया और उस पर राजद्रोह (124ए, 153ए) का मुकदमा चलने लगा। यद्यपि वक्ता की इस चेष्टा को शेख ने पसन्द नहीं किया था, लेकिन इस वक्त वह उसे पुलिस की दया पर छोड़ नहीं सकते थे। जब मुकदमा देखने के लिए जनता की भारी भीड़ इकट्ठा होने लगी, तो मुकदमा जेल में सुना जाने लगा। शेख ने जनता को समझाया–"लोगों को जेल पर नहीं जाना चाहिए। हमारे वकील और एक-दो आदमी वहाँ मुकदमे की पैरवी के लिए जायेंगे।" शेख की बात सारे शहर में पहुँच नहीं पाई थी और दूसरे दिन (13 जुलाई 1931) कितने ही लोग जेल पर गये। 11 बजे शेख साहब को खबर मिली कि मार्शल लॉ जारी कर दिया गया है। लेकिन, वह यह ख्याल करके निश्चिन्त रहे कि लोग शान्तिपूर्वक अपने घरों में बैठे होंगे। फिर धड़ाधड़ दूकानों के बन्द होने की खबर मिली और अन्त में गोली चलने की सूचना भी।

शेख ने यद्यपि मुसलमान प्रजा की ही लड़ाई लड़नी शुरू की थी, लेकिन यह इसी ख्याल से कि अभी शायद दूसरे हमारे साथ नहीं होंगे। वह गैर-मुस्लिम जनता से नहीं, सिर्फ सरकार से मोर्चा लेना चाहते थे। मरी हुई लाशों के शहर में आने से साम्प्रदायिक झगड़े का डर था। इसलिए उन्होंने जेल पर मारे गये शहीदों की लाशों को जामा मस्जिद–जो कि शहर के बाहर है–में भेजा। कुछ जख्मी शहर में भी आ गये थे। एक साँस तोड़ते घायल को लोग शहर में ले जा रहे थे। शोक में लोग दूकानें बन्द कर रहे थे। एक हिन्दू ने दूकान नहीं बन्द की। कहने पर उसने मुँह से गाली निकाली। लोगों ने उसका सामान सड़क पर फेंक दिया। फिर लूट शुरू हो गई और शुद्ध राजनीतिक संघर्ष ने साम्प्रदायिक झगड़े का रूप ले लिया। शेख ने जामा मस्जिद पहुँचकर बहुत-से लोगों को वहीं बैठाये रखा। लोगों ने जेल के गोली-काण्ड के बारे में शेख साहब को बतलाया–दो-तीन हजार जनता जेल के फाटक पर मौजूद थी, जिस समय कि जज वहाँ पहुँचे। जज के भीतर जाने के लिए जैसे ही जेल का फाटक खुला, वैसे ही भीड़ भी भीतर घुसने लगी। जेलवाले नहीं रोक सके। मजिस्ट्रेट को टेलीफोन किया। उधर जज लोगों को समझा रहे थे, कि आप लोग शान्तिपूर्वक जेल के बाहर चले जाइये, नहीं तो अशान्ति होगी। लोग बाहर आ गये। कोई नमाज पढ़ने लगा, कोई ऐसे ही बैठा था। उसी समय मजिस्ट्रेट जेल के फाटक पर पहुँचा। वह गुस्से में पागल हो विवेक-बुद्धि खो बैठा था। गिरफ्तार न करने के लिए उसने पुलिस-इन्स्पेक्टर को वहीं बरखास्त किया और फिर लोगों के हाथों में अन्धाधुन्ध हथकड़ी दिलवाने लगा। जनता उत्तेजित हो उठी। किसी ने कुछ ईंट-पत्थर फेंके। फिर तो डायर ने गोली चलाने का हुक्म दिया। काश्मीर को एक जलियाँवाला बाग मिला, जिसे बारामूला, सोपोर, हण्डबारा, उड़ी, अनन्तनाग, मीरपुर, कोटरी, जम्मू, पुणछ आदि कितनी ही जगहों पर छोटे रूप में पीछे दोहराया गया। कई सौ आदमियों ने अपनी जानें दीं; और फिर जो अन्धेरगर्दी शुरू हुई, उसके लिखने के लिए पोथे की जरूरत होगी।

गिरफ्तारी–दूसरे दिन चार बजे शाम को शेख अब्दुल्ला को गिरफ्तार किया गया। उनके साथ कुछ और नेता भी गिरफ्तार हुए। शेख साहब को हरी पर्वत के किले में बन्द किया गया। जुलाई का महीना, गर्मी के सैलानियों का महीना है। इसी समय नगर के लोग साल-भर की अपनी रोजी कमाते हैं। मगर लोगों ने अपनी दूकानें बन्द कर दीं। इक्कीस दिन तक हड़ताल रही। काश्मीर और बाहर हिन्दुस्तान के कोने-कोने तक इस सारे काण्ड की खबर पहुँचने लगी। मार्शल-लॉ, गोली-कांड सबका प्रयोग करके भी सरकार लोगों को दबा नहीं सकी। अन्त में वह शेख साहब और उनके साथियों को छोड़ने के लिए मजबूर हुई। एक अस्थायी समझौता हुआ। गोली-काण्ड और दूसरे अत्याचारों की जाँच के लिए सर अर्दशीर दलाल की अध्यक्षता में एक जाँच या चूनाकली कमेटी बैठाई गई, जिस पर जनता का विश्वास नहीं था और लोगों ने बायकाट किया।

लोगों की माँगों पर चुप्पी नहीं साधी जा सकती थी, इसलिए नवंबर 1931 में दरबार ने शासन-सुधार में सलाह देने के लिए बि. ग्लेन्सी की प्रधानता में एक कमीशन नियुक्त किया। कमीशन कितने ही समय तक जाँच करता रहा। उसने सिफारिश की–"नौकरियों में हरेक सम्प्रदाय के आदमी उचित और पर्याप्त संख्या में लिए जायँ; भाषण और प्रेस को स्वतंत्रता दी जाय; छीने हुए धार्मिक स्थानों को लौटा दिया जाय और एक प्रतिनिधिमूलक धारासभा स्थापित की जाय।" उसने धारासभा में दो-तिहाई निर्वाचित और एक-तिहाई नामजद

मेम्बरों की सिफारिश की थी, जिसे सरकार ने पैरों-तले रौंद दिया। ग्लेन्सी-कमीशन ने 'संयुक्त निर्वाचन को खतरनाक तजरबा' कहकर पृथक् निर्वाचन की सिफारिश की। कमीशन की सिफारिशों में जो कुछ जान थी, उसे भी मताधिकार कमेटी ने लीप-पोतकर साफ कर दिया।

मुस्लिम-कान्फ्रेन्स—आन्दोलन को स्थायी रूप और दृढ़ता प्रदान करने के लिए शेख साहब ने एक व्यापक संगठन की जरूरत समझी और जम्मू-काश्मीर मुस्लिम-कान्फ्रेंस की नींव डाली। पहली कान्फ्रेंस पत्थर-मस्जिद (श्रीनगर) में 14, 15, 16 अक्टूबर 1932 को शेख अब्दुल्ला के सभापतित्त्व में हुई। अपने भाषण में शेख ने कहा—"भाइयो ! काश्मीरी जाति को दुनिया डरपोक जाति, सच्चाई और ईमानदारी से रहित जाति, झूठ और फरेबवाली जाति, निर्धन और निरीह जाति, मूर्ख और असंस्कृत जाति··· के रूप में पहचानती है। लेकिन यह जाति हमेशा से इस तरह बदनाम और अवगुणी जाति नहीं रही है···। ईद के खुतबा की मनाही और पवित्र कुरान की तौहीन की दुर्घटनाओं ने आग लगा दी है। जुलाई, अगस्त, सितम्बर 1931 में जो कुछ हुआ।··· हमारा आन्दोलन साम्प्रदायिक आन्दोलन नहीं है, यह सभी लोगों की तकलीफों को दूर करने के लिए है। चाहे हिन्दू हो या सिक्ख, मैं अपने सारे देश-भाइयों को विश्वास दिलाता हूँ, हम उसी तरह उनके दुःखों के लिए लड़ने को तैयार हैं, जिस तरह मुसलमानों के···।" दूसरी कान्फ्रेंस के सभापति शेख अब्दुल्ला थे।

मुस्लिम-कान्फ्रेन्स से नेशनल (राष्ट्रीय) कान्फ्रेन्स—1933-34 में अपने संघर्ष के सिलसिले में शेख अब्दुल्ला को जम्मू के इलाके में जाना पड़ा। काश्मीर में जहाँ 50-60 हजार को छोड़ सारी-की-सारी मुसलमानी आबादी है, वहाँ जम्मू में बहुत-से ऐसे इलाके हैं, जहाँ सिर्फ हिन्दू-ही-हिन्दू बसते हैं। शेख अब्दुल्ला की कुर्बानियों और उनके संघर्ष से गरीबों के बोझे को हलका करने के लिए मजबूर होकर सरकार को जो कुछ करना पड़ा, उसका फायदा जम्मू के इन गरीब किसानों को भी हुआ था। उनके लिए शेख अब्दुल्ला एक मुस्लिम नेता ही नहीं, कुछ और भी थे। उन्होंने शेरे-काश्मीर का स्वागत किया और अपनी-अपनी तकलीफें बतलाईं। शेख ने देखा, कि जिन बातों के लिए वह लड़ रहे हैं, वह सिर्फ मुसलमानों के ही फायदे की नहीं हैं, दरअसल हिन्दू-मुसलमान सारी जनता एक-से शोषण से, एक-से बोझ से दबी जा रही है। अब से उन्होंने अपने आन्दोलन को किसी एक सम्प्रदाय का न रखकर काश्मीर की सारी जनता के फायदे का बनाने की कोशिश शुरू की। 1935 के शुरू में एक वक्तव्य में उन्होंने कहा था—"हमारे राज्य की साम्प्रदायिकता पंजाब के साम्प्रदायिक नेताओं के झूठे प्रोपेगंडे के कारण है। मैं चाहता हूँ कि ये स्वनिर्वाचित संरक्षक हमारे भीतरी मामलों में दखल न दें। अब से मेरी सारी कोशिश इस बात के लिए रहेगी कि रियासत का राजनीतिक आन्दोलन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सिद्धान्तों पर चले। इसमें कुछ समय लगेगा, लेकिन मैंने तय कर लिया है कि अपने देश को साम्प्रदायिकता के कलंक से मुक्त करूँ, चाहे इसमें कितनी ही बाधा क्यों न हो।"

काश्मीर लौटने पर हिन्दू-मुसलमानों के एक संयुक्त अभिनंदन का उत्तर देते हुए शेरे-काश्मीर ने कहा था—"हमारी लड़ाई अपने देश की आजादी की लड़ाई है। आइये, हम लोग छोटी-छोटी साम्प्रदायिक नोच-खसोट से ऊपर उठें और सारी जनता की भलाई के लिए मिलकर काम करें। मैं अपने हिन्दू भाइयों से प्रार्थना करता हूँ कि वह अपने काल्पनिक भय और सन्देह को हटा दें।" पाँचवीं कान्फ्रेन्स 14 मई 1937 को पुणछ में हुई थी। शेरे-काश्मीर ने अपने सभापति के भाषण में कहा था—"सदियों के पीड़ित मनुष्य—जो अब पालतू जानवरों से बुरा जीवन बसर कर रहे थे—एकबारगी उठे 'और जीयेंगे या मरेंगे' का नारा बुलन्द करते हुए आगे बढ़े··· कैद और बन्द की तकलीफें, गोलियों और भालों की बौछार, बेंत और टिकटिकियाँ, लाठी चार्ज, जुर्माने और दण्ड देने के लिए बड़े-बड़े टैक्स कोई भी उन्हें रोक नहीं सके।"

शेख अब्दुल्ला की सूझ और दृष्टिकोण उनके अनुभवों के अनुसार बराबर अधिक गहरे और विस्तृत होते गये। उन्होंने मुसलमान साधारण जनता की हालत बेहतर बनाने के लिए संघर्ष शुरू किया; लेकिन देखा कि काश्मीर-राज्य की हिन्दू-मुसलमान साधारण जनता एक ही चक्की के नीचे पिस रही है, तब उन्होंने देखा कि दोनों को ही संगठित करके हम अपनी लड़ाई को सफलता के साथ लड़ सकते हैं। और गहराई में जाने पर उन्हें मालूम हुआ कि सारी बुराइयों की जड़ है सामन्तवादी और विराट् पूँजीवादी शोषण। इस बात को उन्होंने

6वीं कान्फ्रेन्स (जम्मू 25-27 मार्च 1938) में अपने सभापति के भाषण में साफ करते हुए कहा—"पूँजीपति 'हिन्दू-राज्य को खतरा है' कहकर और कहीं 'हिन्दू-धर्म और हिन्दू-संस्कृति को खतरा है' कहकर लोगों को भूल-भुलैयों में फँसा लेता है और उनका ध्यान अपनी तकलीफों से हटा लेता है।"जो इक्का-दुक्का पूँजीपति मुसलमान कहीं भी रियासत के किसी हिस्से में मौजूद है, वह न सिर्फ आपके आन्दोलन से अलग रहता है, बल्कि कठिनाइयों के समय सरकारी दमन का साथ देकर स्वतंत्रता-आन्दोलन को कुचलने से भी वाज नहीं आता रहा। काश्मीर की आजादी की लड़ाई का साथ देने में मुसलमान पूँजीपति, हिन्दू पूँजीपति और सिक्ख पूँजीपति एक ही पाँती में खड़े हो रहे हैं। इसलिए मुसलमान गरीब, हिन्दू और सिक्ख गरीब का भी एक ही पाँती में खड़ा होना बहुत जरूरी हो गया है।" आगे के काम के बारे में वतलाते हुए शेख ने कहा—"पहला काम है, सारे राजनीतिक, आर्थिक कामों में हिन्दू, सिक्ख और मुसलमान, गैर-मुसलमान के भेद को मिटाकर सम्मिलित साझा राष्ट्रीय मोर्चा कायम करना, दूसरा काम है देश के हरेक बालिग स्त्री-पुरुष को वोट देने के अधिकार को दिलाकर संयुक्त निर्वाचन को जारी करना।"

अब शेख का सारा ध्यान इस ओर गया कि मुस्लिम-कान्फ्रेंस को सिर्फ एक सम्प्रदाय का न रखकर काश्मीर की सारी प्रजा की राष्ट्रीय कान्फ्रेंस वनाना होगा। इसके लिये 27 अप्रैल 1939 को मुस्लिम-कान्फ्रेंस की कार्यकारिणी में एक प्रस्ताव रखा गया, जो 8 अगस्त 1939 की खास कान्फ्रेंस में पास हो गया और तव से कान्फ्रेंस का नाम जम्मू-काश्मीर नेशनल (राष्ट्रीय) कान्फ्रेंस हो गया। आज काश्मीर का जनतांत्रिक आंदोलन असली अर्थ में राष्ट्रीय आन्दोलन है और इसका सबसे वड़ा श्रेय इसी पुरुष-सिंह को है। काश्मीर की जनता यदि अपने इस वीर नेता को ऊँचे-से-ऊँचा सम्मान देने के लिए तैयार है, तो यह विल्कुल उचित है। लेकिन शेख अपने को साधारण जनता की पंक्ति में रखना चाहते हैं, इसीलिए जब उत्साह में आकर लोग 'बेताज वादशाह जिन्दाबाद' कहने लगे, तो उन्होंने ऐसी अनिच्छा प्रगट की कि लोगों को यह नारा वन्द करना पड़ा। काश्मीर के लोग अपनी भाषा में इस वीर के सम्बन्ध में कितने ही गीत वना चुके हैं। औरतें ब्याहों में गाया करती हैं—

"शेर काश्मीरस् कलसुपेट् ताजो।
अर्से गसे आसोन् यहै राजो।।"

(शेरे-काश्मीर के सिर पर ताज, हमारा होये यही राजा।)

39

कॉमरेड स. सिं. यूसुफ

प्रमुख तिथियाँ—1909 (?) जन्म, 1913 शिक्षारम्भ, 1916-21 स्कूल में, 1921 लाहौर में काम, 1923 लाहौर में मजूर, 1925 रेलवे में, 1926 रेलवे हड़ताली, विजलीघर के मिस्त्री; 1927 दिल्ली में मिस्त्री, 1928 मजूर सभा में, 1929 दिल्ली आम-हड़ताल में, यूनियन के सेक्रेटरी, 1930 सत्याग्रह चार मास जेल में, 1931 दिल्ली नौजवान भारत-सभा के मन्त्री, 1933 एक साल की सजा—दिल्ली से निर्वासन—वम्वई में काम, 1933 मुहम्मद यूसुफ अहमदावाद में मजूर—डेढ़ साल की सजा, 1935 जेल में फिर, 1936 जुलाई दिल्ली में काम—सितम्वर कानपुर में मजूर-नेता, 1940 अगस्त—1942 अगस्त, जेल में नजरवन्द।

उत्तरी भारत का मैनचेस्टर कानपुर है और कानपुर का कौन आदमी है, जो कामरेड यूसुफ के नाम से परिचित नहीं है! वह मजूरों का एक बिल्कुल ही नये ढंग का नेता है; मजूरों के दुःखों-सुखों, उनके हर्ष-विषाद, उनकी मनोवृत्ति, उनके गुण-दोष का ज्ञान यूसुफ से बढ़कर शायद ही किसी को हो। उसके वारे में दिल्ली, बम्बई, अहमदाबाद और कानपुर के मजूरों में कितने ही पँवाड़े बन चुके हैं, जिनका पता शायद यूसुफ को भी नहीं

है। यूसुफ का जीवन सदा साहस और संघर्ष का जीवन रहा है। उसमें प्रतिभा है, मगर उसे उसने सदा एक सीमित क्षेत्र में लगाया, जो महत्त्वाकांक्षी होने पर नहीं हो सकता था।

यूसुफ का जन्म किस सन् में हुआ, यह उसे ठीक मालूम नहीं, बहुत सम्भव है, वह सन् 1909 रहा। उसके पिता सरदार तारा सिंह लाहौर में रेलवे-क्लर्क थे, जब कि वहीं उनकी स्त्री लक्ष्मी देवी (सबरवाल खत्री) से एक बच्चा पैदा हुआ, जिसका नाम पिता-माता ने सन्त सिंह रखा। सन्त सिंह पाँच ही महीने का था कि उसकी माँ मर गई। भरते समय माँ ने अपनी माँ सरस्वती देवी (मृत्यु1941) की गोद में बच्चे को डालकर अश्रुपूर्ण नेत्रों से कहा—“माँ ! अब तू ही इसकी माँ है।” नानी ने सन्त सिंह को बकरी के दूध से पाला।

सरदार तारा सिंह का घर जलालपुर में था; मगर सन्त सिंह का उससे कोई वास्ता नहीं रहा। झेलम जिले के चकदानियाल को ही उसके बाल-नेत्रों ने देखा और उसे ही जन्म-ग्राम समझा। उस समय नाना सरदार वजीर सिंह (मृत्यु 1925) भी जीवित थे; मगर सन्त सिंह नानी की गोद का बच्चा था। नाना वैसे उदार स्वभाव के थे, मगर गुस्सैल थे और बच्चों पर कड़ा अनुशासन रखते थे। नानी सरस्वती देवी बहुत ही नरम स्वभाव की थीं। उनकी एकमात्र पुत्री का बच्चा होने से सन्त सिंह पर उनका अपार स्नेह था। सन्त सिंह को यदि सबसे ज्यादा प्रेम किसी का अब भी स्मरण आता है तो नानी ही का।

बाल्य—सन्त सिंह चड्ढा यद्यपि बकरी के दूध पर पला था, मगर उसका स्वास्थ्य बचपन ही से अच्छा था। खेल-कूद में उसका मन खूब लगता था। चकदानियाल पुराना गाँव है, जिसमें 300 घर जाट-मुसलमानों के हैं और 100 घर खत्रियों के। खत्री ज्यादातर लेन-देन और नौकरी का काम करते हैं। नाना की बुढ़ापे में आमदनी सिर्फ सूद-ब्याज की थी। चकदानियाल से चार मील पर झेलम नदी बहती है। पिण्डदादन खाँ (तहसील) की सेंधा नमक की पहाड़ियाँ गाँव से दो मील पर हैं। उस समय चकदानियाल में कोई स्कूल न था। आज का हजारों-हजार मजदूरों का नेता उस समय भी चकदानियाल के लड़कों का सरदार था।

शिक्षा—जब सन्त सिंह चार-पाँच साल का था, उसी समय दो-तीन महीने उसे उर्दू पढ़ने का मौका मिला। आगे पढ़ाई का इन्तजाम न होने से पिन्नणवाला गाँव की धर्मशाला में उदासी सन्त निहाल दास के पास गुरुमुखी पढ़ने जाता।

दो साल के करीब वह सिक्खों की धार्मिक पुस्तकें—जपजी, रहरास, कीर्तन, सोहिला आदि को याद करता रहा। सन्त से थोड़ा-थोड़ा हिसाब भी सीखा।

अब इस तरह की पढ़ाई से काम नहीं चल सकता था, इसलिए नानी ने सात साल की उम्र के नाती को पिन्नणवाल स्कूल में दाखिल कर दिया। उसने वहाँ पाँच साल (1916-21) में पाँच दर्जे पास किये। पढ़ने में वह अपने दर्जे का सबसे तेज विद्यार्थी था और बराबर दर्जे का मानीटर रहता। उसे छात्रवृत्ति भी मिली होती और तब शायद आगे पढ़ने का रास्ता साफ हो जाता; मगर छात्रवृत्ति मिलनेवाले दर्जों का ऐसा हेर-फेर हुआ कि वह उसमें शामिल न हो सका। नानी जब सूत कातती, तो नाती पंजाबी में जन्मसाखी कृष्णलीला और रामायण सुनाता। एक बार सन्त सिंह बारात में गया था। वहाँ उसने पूरन भगत का किस्सा खरीद लिया। मामा ने देखा, तो छीनकर फाड़ दिया—इश्किया किस्सों का पढ़ना वह पसन्द नहीं करते थे। स्कूल में सन्त सिंह को सभी लड़कों के साथ एक-एक साल में एक दर्जा आगे बढ़ना था। पढ़ने की पुस्तकें दर्जे में ही याद हो जातीं, इसलिए बाकी समय खेल-कूद में बिताने के सिवाय और कोई चारा न था। बाप कभी-कभी आते और बच्चे को देख जाते।

जीविका की खोज—सन्त सिंह अभी बारह साल ही का था, अभी भी उसकी पढ़ने की आयु थी। वैसे होता तो नानी किसी न किसी तरह मिडिल तक पढ़ा देती, पहले मिडिल पास हो पटवारी या अध्यापक का काम मिल जाता था; मगर मिडिलचियों की अब उतनी कदर न थी, इसलिए यही जरूरी समझा गया कि सन्त सिंह कोई काम सीख ले। उसके मामा लाहौर में रहते थे। वह उसे अपने साथ लाहौर ले गये। सन्त सिंह को हारमोनियम की दूकान (अनारकली) में काम सीखने के लिए बैठा दिया। वह पाँच-छै महीने तक वहाँ रहा; लेकिन मालिक काम सिखलाने की जगह उसे मुफ्त का कुली समझने लगा। पड़ोस में एक दूकानदार काँच,

रूमाल आदि बेचता था। सन्त सिंह ने उसके यहाँ काम करना शुरू किया। एक आदमी रेलवे ट्रेन में दंतमंजन, पाउडर आदि बेचा करता था। उसने यह काम करने के लिए प्रेरणा दी। सन्त सिंह ने एक छोटा-मोटा लेक्चर रट लिया और लाहौर से अटारी तक का पास लेकर उसकी चीजों को बेचने लगा। महीने में 15-20 रुपये कमा लेता। रहता था मामा के यहाँ। दो-तीन मास ही यह काम करने पाया था कि अटारी में जुएवालों के फेर में पड़ गया। 5 दिन की कमाई चली गई। महाजन को पाँच रुपये देने थे। क्या करे ? अन्त में मामा की चाभी उड़ाई और बक्स खोलकर पाँच रुपये निकाल लिये। मामा को मालूम हुआ। उसने खूब डाँटा और नानी को शिकायत की एक लम्बी चिट्ठी लिखी। चिट्ठी डालने के लिए भांजे को ही भेजा। भांजे ने चिट्ठी पढ़ ली। सबको फाड़ फेंकने की जगह उसने लिफाफे में एक सादा कागज डालकर रवाना कर दिया। सन्त सिंह अब नानी के क्रोध से भी घबड़ा रहा था। वह सीधे स्टेशन पर गया। वहाँ उसे एक सोडा बेचनेवाला मिला। उसी के साथ वह दिल्ली चला। सोडेवाले ने बारह-तेरह वर्ष के खूबसूरत गोरे बच्चे को देखकर दुश्चेष्टा करनी चाही। सन्त सिंह वहाँ से भाग गया। दिल्ली में उसके बड़े भाई और ताऊ (बड़े चाचा) रहते थे। वह ताऊ के पास चला गया। भाई की बर्फ-सोडा की दूकान थी। भाई ने बहुत प्यार से रखा और मामा को चिट्ठी लिख दी। सन्त सिंह दिल्ली में दो महीने तक बिस्कुट आदि की फेरी करता रहा।

पिता आ गये। वह उस समय लालामूसा में क्लर्क थे। अपने साथ बेटे को भी वहाँ ले गये। उनकी स्टेशन के किसी अफसर से दोस्ती थी। नौकरी दिलवाने की बात कहने पर अफसर ने कहा, पहले हथौड़े से गाड़ी ठक-ठक करनेवाले कुली का काम दे देते हैं, फिर उसे नम्बर-टेकर बना देंगे। सन्त सिंह अब 16 रु. महीने का कुली बन गया। पिता को आशा थी कि अब 30-40 रुपये पानेवाला नम्बर-टेकर बन जायगा। अभी 20 ही दिन काम किया होगा कि नानी आ गई। नानी ने अपने प्यार से पाले नाती के शरीर पर नीले कपड़ों को देखा। उनका दिल फटने लगा। उन्होंने दामाद से झगड़कर कहा—मैं अपने बच्चे को कुली नहीं बनने दूँगी। दामाद ने बहुत समझाना चाहा मगर सब बेकार। नानी सन्त सिंह को अपने साथ चकदानियाल ले गईं। सन्त सिंह ने जब सारी बातें समझाईं तब नानी ने महीने-भर बाद जाने की इजाजत दी। लेकिन इस बीच में पिता ने लड़के की ओर से इस्तीफा दे दिया था; इसलिए नौकरी मिलने की आशा न रह गई। पिता ने मुँड़िया 'हिन्दी' पढ़ने के लिए इस ख्याल से रावलपिंडी भेज दिया कि पढ़कर कहीं मुनीम हो जायेगा। वहाँ भी पढ़ना-लिखना तेरह-बाईस देखकर वह एक दूकान पर चार मास तक नौकरी करता रहा। नानी के पास लौटकर जाने पर उसने फिर स्कूल में पढ़ने की इच्छा प्रगट की। तीन-चार महीने के बाद नानी ने बात मान ली।

सन्त सिंह फिर उसी पिन्नणवाल स्कूल में पढ़ने गये। उनके साथी अब अगले दर्जे में चले गये थे जिनके वह मानीटर थे। उनके पीछे रहना वह शरम की बात समझते थे। उन्होंने मास्टर से कहा कि अगले दर्जे में दाखिल कर दीजिये; मैं अपनी कमी को पूरा कर दूँगा। मास्टर इसको मानते थे; मगर उन्होंने पिछले डेढ़ साल की फीस माँगी। गरीब नानी इतना पैसा दे नहीं सकती थी। सन्त सिंह को खाली हाथ लौटना पड़ा।

खेवड़ा (नमक की खान) से दस मील आगे दढ़ियाला-कहून में नानी के मायकेवालों की बजाजी थी। सन्त सिंह उनके पास चला गया। उन्होंने मुनीमी सीखने के लिए अपने महाजन के पास गूजर खाँ भेज दिया। वहाँ भी पढ़ाने की जगह सन्त सिंह से ज्यादा-से-ज्यादा काम लिया जाने लगा। वह दूसरी दूकान में नौकर हो गये। दूकान में बेचने के लिए बहुत-से चीनी के खिलौने रखे हुए थे। लड़के ने एकाध खिलौने खा लिये। मालिक के पूछने पर पहले तो इन्कार किया, मगर फिर स्वीकार कर लिया। उन्होंने बुरा बर्ताव करना शुरू किया। इन दोनों दूकानों में चार मास काम करने के बाद सन्त सिंह तीसरी दूकान पर गये। यहाँ उन्हें घर भर का जूठा बर्तन माँजना पड़ता था। नानी को पता लगा। सबरवाल खत्रियों का नाती जूठा बर्तन मलेगा, गरीब होने पर भी नानी यह बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं थीं। नानी के मायकेवालों ने सन्त सिंह को बुला लिया। फिर पिता ने मलकवाल में अपने दोस्त के पास रख दिया।

मजदूर-हड़ताल में—अब फिर सन्त सिंह को 16 रुपये महीने पर कुली का काम मिला। दो साल तक वह अपना काम करते रहे। अब 18 साल के हो गये थे। उसी समय रेलवे मजूरों ने अपनी तकलीफों के लिए

हड़ताल कर दी। सन्त सिंह पिता के दोस्त के घर में रहते और उनका पंखा भी खींचते थे। हड़तालियों की सभा में वह भी गये और हड़ताल में शामिल हो गये।

पिता के दोस्त को उम्मीद थी कि सन्त सिंह हमारा आदमी है, वह हड़ताल में शामिल नहीं होगा। लेकिन सन्त सिंह का आत्माभिमान इसके लिए तैयार न था कि उनके सारे साथी हड़ताल करें और वह काम पर जाते रहें। हड़ताल दो-तीन दिन से ज्यादा नहीं टिकी। लोग भूखे मरने लगे और फिर काम पर जाने लगे। सन्त सिंह मलकवाल में ऐसा करने के लिए तैयार न थे।

वह लाहौर चले आये। यहाँ भी हड़ताल-तोड़क मजूर भर्ती किये जा रहे थे। सन्त सिंह ने शामिल होना चाहा, मगर जगह नहीं मिली। चकदानियाल के एक मैकेनिकल इंजीनियर लाहौर के बिजली घर में काम करते थे। वह सन्त के नाना को बहुत मानते थे। उनकी मेहरवानी से बिजलीघर में कुली का काम मिल गया, जहाँ 14 आना रोज मजूरी मिलती थी। सन्त सिंह ने/बड़ी तत्परता से काम सीखा और कुछ ही महीने बाद वह सहायक मिस्त्री (असिस्टेंट फिटर) बन गये। अब उन्हें 18 आना रोज मिलता था। सन्त सिंह की होशियारी के कारण ड्यूटी से ऊपर का काम भी उन्हें ही मिलता था और महीने में 40 रुपया कमा लेते थे। सन्त सिंह ने देखा कि यदि वह आगे बढ़ना चाहते हैं, तो अंग्रेजी भी पढ़नी चाहिए। अब वह म्युनिसिपैलिटी की रात्रि-पाठशाला में जाने लगे। साल-भर ही काम कर पाये थे कि बिजली घर उटकर शाहदरा चला गया। नई मशीनें आई थीं, उनके साथ नये आदमी भी आये और मामा इंजीनियर निकाल दिये गये। उनके लिए घाटे का सौदा नहीं था। 125 रुपये की जगह 250 मासिक पर वह दिल्ली क्लॉथ मिल्स में चले गये। कुछ ही दिनों वाद सन्त सिंह को भी जवाब मिल गया। सन्त सिंह नानी के पास गये। नाना मलकवाल में रहते ही वक्त (1925) मर चुके थे। डेढ़ महीना रहने के बाद वह दिल्ली चले आये।

दिल्ली के मजूर—पिता के गाँव जलालपुर के रायसाहब (सर) हरीराम दिल्ली क्लॉथ मिल्स के डाक्टर थे। ताऊ ने उनसे कहा। डाक्टर हरीराम ने सिफारिश की। सन्त सिंह को दिल्ली क्लॉथ मिल्स में 40 रुपये मासिक पर फिटर का काम मिल गया। वह दो-ढाई साल तक काम करते रहे—बीच में पाँच महीने बिड़ला मिल्स में भी चले गये थे।

झाबवाला ने दिल्ली में एक मजूर-सभा कायम की थी। शंकरलाल, डाक्टर अनसारी और आसफअली मजूर-सभा के संचालक थे। ये लोग मजूरों के हित के लिए उसमें शामिल नहीं हुए थे। उनका मतलब था मजूरों के वोट से अपनी लीडरी कायम रखना। 1928 में सन्त सिंह भी मजूर-सभा में आने-जाने लगे। 1929 से वह मजूर-सभा में काम करने लगे। उस समय भगत सिंह पर मुकदमा चल रहा था। सन्त सिंह अखबारों में खूब ध्यान से मुकदमे की कार्रवाइयों को पढ़ते थे। अब उनके दिल में भी देशभक्ति का अंकुर जमने लगा। अभी रूसी क्रांति और सोशलिज्म का उन्हें पता न था। हाँ, गरीबों का राज्य चाहिए, यह वह मानते थे। साथ ही सिक्ख होने से शान्ति पर उनका उतना विश्वास न था। देश के बड़े-बड़े नेता असेम्बली की मीटिंग के लिए दिल्ली आते, उस समय पं. मोतीलाल नेहरू और दूसरे नेताओं के व्याख्यान सुनने सन्त सिंह बराबर जाया करते।

दूसरी मजूर-हड़ताल में—विश्वव्यापी मंदी आई। मिल-मालिकों ने मजूरों के मत्थे बला टालनी चाही। मजूर कम मजूरी लेने और चुपचाप निकल जाने के लिए तैयार न थे। 1929 के अन्त में दिल्ली में मजूरों ने आम हड़ताल कर दी। मालिकों को झुकना पड़ा। उन्होंने मजूरों की बहुत-सी माँगें पूरी कर दीं। मगर सन्त सिंह सात-आठ बदनाम मजूर-नेताओं में से थे। मालिकों ने पीछे एक-एक करके निकाल दिया। अब सन्त सिंह बेकार थे।

दो-तीन मास बाद लाहौर कांग्रेस हुई। सन्त सिंह वहाँ गये। दिल्ली में वह गुरुद्वारे में रोज जाया करते थे और खालसा-भुजंगी-जत्था (सिक्ख तरुण-संघ) के मन्त्री थे। मजूरों की सभा (लेबर यूनियन) के भी वे सेक्रेटरी थे। शंकर लाल ने जुआ बन्द करने के लिए कार्नवाल की पिकेटिंग पर स्वयंसेवकों को लगा दिया। सन्त सिंह भी उसमें भिड़े, लेकिन पिकेटिंग सफल नहीं हुई। शंकर लाल के घर पर मीटिंग हुआ करती थी। सन्त सिंह

ने एक दिन मीटिंग में कहा—इससे काम नहीं चलनेवाला है, हमें दूसरा जोरदार हथियार उठाना चाहिए। शंकर लाल के पास कोई जवाब तो था नहीं। अब उन्होंने पीठ-पीछे सन्त सिंह को पुलिस का आदमी कहना शुरू किया। दो-तीन दिन बाद उन्होंने हाथ जोड़कर कह दिया—"भैया, अब हमारे घर न आना।" दिल्ली की नौजवान भारत-सभा में अब भी सन्त सिंह जाया करते थे।

1930 का नमक-सत्याग्रह आया। वह भी सत्याग्रह में भाग लेना चाहते थे; मगर उनके पूर्वपरिचित कांग्रेसी उन पर सी. आई. डी. होने का सन्देह करते थे। सभा में कहाँ वह मेज के पास बैठा करते थे, लेकिन अब शरम के मारे पीछे खड़ा होकर व्याख्यान सुनना पड़ता। हाँ, मजूरों के वह अब भी नेता थे, रोज मिल के फाटक पर व्याख्यान देते थे। शंकर लाल और दूसरे कांग्रेसी जेल चले गये थे। एक दिन सन्त सिंह कांग्रेस की सभा में बोले। पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया। यह 1930 का अन्त था। अदालत ने छै महीने की सजा दी। वह दिल्ली और मांटगोमरी के जेलों में रहे। तीन-चार महीने बाद गाँधी-इर्विन समझौता हुआ। सन्त सिंह दिल्ली चले आये। शंकर लाल ने तीन-चार तरुणों को भी खुफिया का आदमी कहकर बदनाम किया था, जिनमें दिल्ली-षड्यंत्र के विश्वेश्वर भी थे जिन्होंने जेल में ही अपना जीवन समाप्त कर दिया। मांटगोमरी जेल में सन्त सिंह ने साम्यवाद की कुछ पुस्तकें पढ़ीं। दिल्ली क्लॉथ मिल्स में रहते समय उन्होंने अध्यापक रखकर अंग्रेजी पढ़ी थी। वह तीसरे दर्जे के इंजीनियर का सर्टिफिकेट ले चुके थे। दूसरे दर्जे के इंजीनियर के लिए और अंग्रेजी जानने की जरूरत थी, इसलिए डेढ़ साल तक वह अंग्रेजी पढ़ते रहे। अब अंग्रेजी के ज्ञान ने साम्यवादी साहित्य के पढ़ने में मदद की।

1931 में दिल्ली में जब आये, तो मजूर नेताओं ने शंकर लाल से उनकी गलती बतलाई और कहा कि सन्त सिंह पक्का आदमी है। शंकर लाल ने अपनी गलती मानी। जिस समय सन्त सिंह पर खुफिया होने का सन्देह फैलाया गया था, उस समय उन्हें जीवन भार-सा मालूम होता था। किसी कांग्रेसी के सामने मुँह दिखाना उन्हें मुश्किल था; लेकिन उन्होंने दिल्ली नहीं छोड़ी—यह ख्याल करके कि छोड़ने पर सन्देह और पक्का हो जायगा। अब सन्त सिंह ने दिल्ली में नौजवान भारत-सभा बनाई और स्वयं उसके सेक्रेटरी बने। तीन ही महीने तक काम कर पाये थे कि दफा 108 में पकड़ लिये गये। लेकिन तीन-चार महीने ही जेल में रहना पड़ा। अपील से छूट गये। काकोरी के बारे में कुछ इश्तिहार लगाये गये थे। प्रेस-कानून के अनुसार सन्त सिंह को 15 दिन की सजा मिली। अभी भी समाजवाद का ज्ञान उनका बिलकुल ही कम था। वह सिर्फ इतना ही जानते थे कि मजूर-किसान-राज कायम होना चाहिए और वह शान्ति से नहीं हो सकता।

1933 में किसी भाषण के लिए सन्त सिंह पर दफा 124 ए चलाई गई। अभी तक सन्त सिंह जेलों में सी क्लास के कैदी रहे। वहाँ पुराने नेताओं के विरुद्ध तरुणों के वह मुखिया होते थे। जेलों में उन्होंने देखा कि जिन तरुणों के लिए वह संघर्ष करते, वह भी बी क्लास के राजबन्दियों की बहुत खुशामद करते थे—सिर्फ इसलिए कि वह ऊँचे दर्जे के कैदी हैं। सन्त सिंह ने अपने को इज्जतदार घर का लड़का साबित करने के लिए रायसाहब हरीराम को गवाही में पेश किया। अदालत ने एक साल की सजा दी और उन्हें बी क्लास दिया गया। कुछ समय दिल्ली-जेल में रहने के बाद वह मुल्तान जेल में भेज दिये गये। यहाँ उन्होंने एक अच्छे विद्यार्थी का जीवन बिताया। अब अंग्रेजी पढ़ लेते थे। बाहर रहते उन्होंने किरती किसान (मजूर-किसान पार्टी) बनाई थी और प्रान्तीय कार्यकारिणी के सदस्य थे। मुल्तान जेल में आने पर उन्हें चौधरी शेरजंग से मिलने का मौका मिला। दोनों में खूब घनिष्टता हुई और साम्यवाद के पढ़ने में शेरजंग से बहुत मदद मिली। मेरठ केसवाले कमूनिस्टों के बारे में भी उन्हें बहुत-सी बातें मालूम हुईं। अब वह इस नतीजे पर पहुँच गये थे कि हिन्दुस्तान में रूस-जैसी सरकार कायम होनी चाहिए। बावा करम सिंह धूत कई साल रूस में रहने के बाद भारत आकर उस समय मुल्तान जेल में शाही कैदी थे। उनसे रूस के बारे में बहुत-सी बातें मालूम हुईं। मुल्तान जेल में कितने ही कांग्रेसी नेता भी थे। सन्त सिंह यहाँ साधारण कार्यकर्ताओं के नेता थे। जेलवालों से लड़ने के लिए उन्होंने उनकी एक 'धौंस क्लास' बना लिया था। धौंस क्लास का काफी रोब था। सन्त सिंह की कमूनिस्टों पर अब विशेष श्रद्धा थी। दूसरे लोग उन्हें कामरेड कहते थे। धर्म से उनका विश्वास उठ चुका था।

दिल्ली में ही उन्होंने अपने केश कटवा लिये थे, दाढ़ी मुल्तान तक साथ आई थी, मगर उसे भी यहाँ विदा होना पड़ा। आसफअली से कमूनिज्म, सोवियत रूस और आतंकवाद पर उनकी वहस होती रहती। सन्त सिंह आतंकवाद को अब बेकार समझते थे, और मेरठवालों के रास्ते को ही पसन्द करते थे। मुल्तान में साथी टहल सिंह से सन्त सिंह को कुछ दोस्तों का पता लग गया था। सितम्वर 1933 में लाहौर लाकर उन्हें छोड़ दिया गया। लेकिन पुलिस ने बिना वारंट के गिरफ्तार कर लिया और 15 दिन तक थाने की हवालात में रखा।

दिल्ली से निर्वासन—सन्त सिंह लाहौर से दिल्ली आये, लेकिन आते ही उन्हें दिल्ली से निकल जाने का हुक्म मिला। वह लाहौर चले गये और दो-तीन महीने तक कीरतीवालों के साथ काम करते रहे; लेकिन रुपये के बल पर काम और नेताशाही का ढंग उन्हें पसन्द नहीं आया। उस समय फुलरवन में एक चीनी की मिल बन रही थी। वह तार पा फिटर (मिस्त्री) वनकर वहाँ चले गये। सी. आई. डी. ने परेशान करना शुरू किया और मालिकों से भी नये मिस्त्री को निकाल देने के लिए कहा। छोटे भाई डर गये, मगर बड़े लाला ने नहीं निकाला। सन्त सिंह की इच्छा थी कि छै महीना काम करके कुछ रुपया जमा कर लें, फिर राजनीतिक काम में लग जायेंगे। दो मास काम किया, मालिकों ने ढाई रुपये रोज पर वुलाया था, लेकिन अब डेढ़ ही रुपया देना चाहते थे। सन्त सिंह ने नौकरी छोड़ दी। वह एक दिन के लिए नानी से मिलने गये। नानी को केश-दाढ़ी मुड़ाये नाती को देखकर बहुत धक्का लगा। उसने उन्हें पतित समझा और खाये वर्तनों की खास तौर से सफाई की। चौबीस साल के सन्त सिंह को यह कुछ बुरा-सा लगा। अभी वह कमूनिज्म की पहली सीढ़ी पर थे।

चकदानियाल से लाहौर आये। आते ही लाहौर छोड़ जाने का हुक्म मिला। दिल्ली पहुँचे। वहाँ से निर्वासन का हुक्म तो मिल ही चुका था, पकड़ लिये गये और लाल किले के तहखाने में एक मास तक बन्द रखा गया। फिर बाहर निकालकर तुरंत दिल्ली छोड़ देने का हुक्म मिला।

यद्यपि आतंकवाद के खिलाफ वह बोलते थे, मगर अभी उनका विश्वास उस पर पूरे तौर से हटा नहीं था। इसीलिए तो एक बार वह राजनीतिक डकैती के लिए भी गये, यद्यपि उसमें सफलता नहीं मिली।

अव वह मजूरों में काम करना चाहते थे। सर देसाई और रणदिवे का नाम वह सुन चुके थे। बम्बई की गाड़ी में बैठने पर पुलिस को पीछा करते देखा। एक जगह उन्होंने ट्रेन वदल दी। ग्वालियर में साथी मजदूरों ने कुछ पैसा दिया और वह बम्बई पहुँच गये। उस समय (1933) में बम्वई में कमूनिस्टों के तीन गुट थे। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते एक दिन वह गिरनी कामगार यूनियन में पहुँचे। उषा वाई डाँगे से बात करने में भाषा की दिक्कत हुई। तीन-चार दिन घूमते रहे। उनका पैसा खतम हो रहा था। वह लौटने के लिए तैयार थे कि एक दफ्तर का साइनबोर्ड देखा। पूछताछ की। दूसरे दिन रणदिवे से मिले, फिर एक-दो दिन बाद सर देसाई से वातचीत हुई। उन्हें परीक्षार्थ अंग्रेजी से उर्दू में अनुवाद करने के लिए कुछ दिया गया। सन्त सिंह ने अनुवाद कर दिया। तै हुआ कि वह मदनपुरा के मजूरों में काम करें।

मौलाना—पता लग जाने पर 1818 के रेगूलेशन का राजवन्दी बन जेल में सड़ने का डर था। सन्त सिंह ने अब अपना नाम शफी रखा और वह मदनपुरा में काम करने लगे। विस्तरा कहीं रख छोड़ा था। खाने का कोई इन्तजाम न था। दिन को कितने ही मजूर लड़कों को अंग्रेजी पढ़ाते, यद्यपि फीस तै करके नहीं, लेकिन कोई-न-कोई खाना खिला देता था। इब्राहिम ने कह रखा था कि खाने के वक्त आकर रसोई में से खाना निकाल लेना। मगर वह वचपन ही से बहुत लज्जालु थे, और कितनी ही बार फाका कर लेते, मगर वहाँ न जाते। 20 वर्ष तक तो निरामिषाहारी रहे, अब उन्हें मांसाहार से न इन्कार करने के लिए वाध्य होना पड़ा। मदनपुरा में मजूरों की सभा में शफी को बराबर बोलना पड़ता था। यद्यपि शफी की दाढ़ी-मूँछ नदारद थी, मगर तरुण मजूरों ने—"अब हमारे मौलाना साहब बोलेंगे" कहकर सभा में शफी का परिचय देना शुरू किया। अब वह सबके लिए मौलाना थे। भारद्वाज को शफी के बारे में पता लगा। उसने रणदिवे को चिट्ठी लिखी। बुखारी अहमदाबाद में एक मजूर-ग्रुप बना आये थे। मौलाना को तीन मास से खर्च के लिए 15 रुपये देकर अहमदाबाद

भेज दिया गया। अहमदाबाद में मौलाना का वेश था—एक तहमद, खाकी कमीज।—वह बिल्कुल मजदूर थे और अब उनका नाम था मुहम्मद यूसुफ।

मौलाना यूसुफ अहमदाबाद में—15 दिन पहले अहमदाबाद में मिल-मजदूर-यूनियन बन चुका था, जिसके सभापति थे मिस्टर नूरी (लीग) और उपसभापति स्वामीनारायण (हिन्दूसभा)। नवम्बर या दिसम्बर (1933) में अहमदाबाद में पहुँचकर यूसुफ ने इस यूनियन के साथ काम करना शुरू किया। वह ज्यादातर मुसलमान मजदूरों में काम करते। वहाँ काम करना बहुत मुश्किल था; लेकिन यूसुफ ने रास्ता निकाल लिया। वह बदली में काम करनेवाले मजदूर बन गये—कोई मजूर उस दिन काम पर न जाने से दूसरे को अपनी बदली में भेजता था। यूसुफ के पास बदलू मजूर का टिकट था। वह टिकट दिखलाकर मिल में चले जाते और वहाँ मजूरों से उनकी जगहों पर बात करते। सी. आई. डी. भी चौकन्नी थी, मगर यूसुफ के साथ बदलू मजूर का टिकट जो था। धीरे-धीरे यूसुफ ने सौ मजूर चुन लिये, फिर बीस-पच्चीस को कार्यकर्ता बनने की शिक्षा दी। और अधिक प्रभाव जमने पर उन्होंने गरमागरम नोटिसें बाँटनी शुरू कीं। यूनियन में हिन्दू-मुस्लिम-धड़े अलग-अलग रखे थे। यूसुफ ने लोगों से बहस करके समझाया कि यह ठीक नहीं है। मजूरों को थोड़े ही दिनों बाद पता लग गया कि यूसुफ—जो उनकी तरह रहता है और भाई-सा बर्ताव करता है—कोई अच्छा पढ़ा-लिखा नेता है। उनकी श्रद्धा यूसुफ के प्रति और बढ़ी। मजूरों का संगठन बढ़ता जा रहा था। मजूर-महाजनवाले गाँधीवादी एक ओर घबड़ा रहे थे और बम्बई से सी. आई. डी. को बार-बार ताकीद की जाती थी कि अहमदाबाद में कोई कम्यूनिस्ट घुस पड़ा है। नूरी और स्वामीनारायण घबड़ाने लगे। उन्होंने इस्तीफा दे दिया। अब मजूर-यूनियन का सभापति एक मजूर बना और मन्त्री यूसुफ। डेढ़ साल तक यूसुफ अहमदाबाद में काम करते रहे। इस बीच में मजूरों ने 46 हड़तालें कीं। पुलिस यूसुफ को एक होशियार मजूर भर जानती थी। उसने कितनी ही बार उन्हें गिरफ्तार किया—लेकिन सुबह को पकड़ती और शाम को छोड़ देती। अखबारों में यूसुफ के बारे में खबरें खूब छपतीं। अहमदाबाद के मजूर-नेता यूसुफ का नाम उस समय सारे प्रान्त के लोगों की जबान पर था। उसी समय दिनकर मेहता भी काम करने के लिए आने लगे। यूसुफ बाबू लोगों पर विश्वास करने के लिए तैयार न थे, इसलिए पहले झिझके, लेकिन पीछे उन्हें मालूम हुआ कि दिनकर मेहता उन बाबुओं में नहीं हैं।

पार्टी में एकता—1935 में मेरठवाले साथी जेल से बाहर आये। पार्टी में एकता और दृढ़ अनुशासन कायम करना उन्होंने पहला कर्तव्य समझा। कुछ गुटबाज इसे अपनी लीडरी के लिए खतरे की बात समझते थे। जान पड़ा कि नेताओं के द्वारा ऊपर-ऊपर से एकता होनी सम्भव नहीं है। यूसुफ को मजूरों का जबर्दस्त तजर्बा था। वह बम्बई आये। लीडरशाही से काम नहीं चलेगा, गुटों को तोड़कर एक पार्टी बनाना बहुत जरूरी है, जो कोई इसमें बाधा डाले, वह कमूनिज्म का मित्र नहीं हो सकता—यह बातें साधारण कार्यकर्ताओं और मजूरों में फैलने लगी। आखिर गुटबाजी खतम हुई और 1935 के आरम्भ से भारत में कमूनिस्ट पार्टी का वास्तविक पार्टी-जीवन आरम्भ हुआ।

यूसुफ अहमदाबाद आ गये। अब वह पार्टी की जिला-कमेटी के सेक्रेटरी थे। उसी साल कपड़े कारखानेवाले मजदूरों की आम हड़ताल हुई। यूसुफ पकड़ लिये गए। भारद्वाज को पकड़कर 124ए के अनुसार सजा दी गई। हिन्दुस्तान में कमूनिस्ट पार्टी गैरकानूनी घोषित कर दी गई। अहमदाबाद की मिल-मजूर-यूनियन को भी कमूनिस्ट समझकर गैरकानूनी बना दिया गया। लेकिन पकड़े जाने से पहले यूसुफ ने कमकर (वर्कर) पार्टी के नाम से दूसरी कमेटी कायम कर दी थी।

यूसुफ के ऊपर चार मास तक मुकदमा चलता रहा। रोज चार घण्टे तक अदालत को यही काम था। पुलिसवाले समझते थे कि यह मास्को से आया कोई आदमी है। घर-द्वार, माँ-बाप का नाम रटा हुआ था। यूसुफ हमेशा उसी को दोहराते रहे। पुलिस ने चारों ओर दुहाई दी। उधर जेल के डॉक्टर को भी मजबूर किया। उसने एक दिन बीमारी देखने के बहाने यूसुफ की परीक्षा करके पुलिस को सूचित किया कि इनका खतना नहीं हुआ है, अर्थात् यह पहले का मुसलमान नहीं है। पुलिस ने और दौड़-धूप की। पंजाब और दिल्ली की पुलिस भी परेशान की गई। अन्त में दिल्ली की पुलिस ने यूसुफ को सन्त सिंह के साथ जोड़कर उनका पुराना

इतिहास पेश कर दिया। यूसुफ को नौ मास की सजा हुई और वह सावरमती जेल में रखे गये।

छूटने पर उन्हें रख्याल रोड के एक बाड़े में नजरवन्द कर दिया गया। रोज दो वार पुलिस के सामने हाजिरी देनी पड़ती। इतने पर भी सन्तोष नहीं हुआ और डेढ़ महीने वाद गिरफ्तार करके उनके ऊपर मुकदमा चलाया गया। अपील में दो साल की सजा एक साल रह गई। यूसुफ ने सावरमती जेल के इस दो साल के जीवन को अंग्रेजी भाषा और साम्यवादी साहित्य के गंभीर अध्ययन में लगाया, मार्क्सवाद के सैद्धान्तिक हथियार से अब वह खूब सुसज्जित हो गये। जेल से निकलते ही (1936) उन्हें वम्वई प्रान्त से निकल जाने का हुक्म मिला। वह रेल से दिल्ली की ओर रवाना हुए। गोयन्दा पीछे-पीछे था। यूसुफ के पास लाहौर का टिकट था, जिसे उन्होंने किसी दूसरे मुसाफिर से वदल लिया। एक जगह मेल ट्रेन आगे जानेवाली थी। यूसुफ ने उसे पकड़ा और दिल्ली पहुँच गये। गोयन्दा ने पुरानी ट्रेन से लाहौर जाकर उस मासूम मुसाफिर को पकड़ा होगा। यूसुफ को दिल्ली के मजूर जानते ही थे, उनके सुझाव पर मजूर कान्फ्रेंस के सभापति वाटलीवाला चुने गये। किसी विरोधी ने एक चिट्ठी लिखी थी, जिससे पुलिस को पता लग गया और यूसुफ को दिल्ली छोड़ देने का हुक्म मिला।

कानपुर के मजूर नेता—अव वह यमुना पार हो मेरठ जिले में आ गये और गाजियावाद में एक मजूर-भवन की तैयारी करने लगे। लेकिन कोई तैयारी विना पार्टी से पूछे हो नहीं सकती थी। वह पूछने के लिए कानपुर आये। ईथर्टन मिल में कितने ही मजूर काम से निकाल दिये गये थे, उनमें वहुत-से यूसुफ के अहमदाबाद के साथी थे। सभा में गये। यूसुफ वोले। एक मिल की आग सारे कानपुर में फैल गई और 15000 मजदूरों ने आम हड़ताल कर दी। इससे पहले कानपुर के मजूरों में कमूनिस्टों का प्रभाव नहीं था। यूसुफ दफा 108 में गिरफ्तार किये गये। 1 साल की सजा हुई और अपील में 5 महीने के वाद छूटे। हड़ताल तो इतनी सफल नहीं हुई थी, मगर यूसुफ का प्रभाव वढ़ चला। अब सर जे. पी. श्रीवास्तव की विक्टोरिया मिल में हड़ताल हुई। यूसुफ ने जवर्दस्त संगठन किया। इसी समय मजूर-सभा का चुनाव हुआ। यद्यपि अव मजूरों पर कमुनिस्टों का प्रभाव बहुत अधिक था, तो भी उन्होंने कार्यकारिणी के चालीस मेम्वरों में सिर्फ 16 अपने रखे, इस ख्याल से कि नरम नेता मजूर-सभा को कहीं छोड़ न जायँ, मजूरों का बल कमजोर न हो जाय। सेक्रेटरी यूसुफ चुने गये। अब तक मिल के फाटक पर कानपुर में कभी मीटिंग नहीं हुई थी। 1937 में पहले-पहल लक्ष्मी कॉटन मिल के फाटक पर यूसुफ ने मीटिंग शुरू की। गुण्डों ने आकर मारपीट शुरू की। गुण्डे रोज मारपीट करते और मीटिंग तोड़ते, दूसरी ओर यूसुफ अपने काम पर डटे हुए थे। 20 दिन तक यह कांड चलता रहा। एक दिन गुण्डों ने यूसुफ को अपनी जाने मारकर छोड़ दिया, मगर वह बच गये। मजूर सभा के चुनाव के दिन वह सिर में पट्टी बाँधकर गये थे। सर जे. पी. श्रीवास्तव जैसे सर्वत्र प्रभावशाली, रामरतन गुप्त जैसे कांग्रेस-भक्त और बड़े-बड़े महारथियों ने जोर लगाया; मगर कानपुर में यूसुफ का गाड़ा लाल झंडा नहीं उखाड़ सका। 1937 के शुरू में उन्हें एक साल की सजा हुई थी, लेकिन काँग्रेस मिनिस्टरी ने आकर छोड़ दिया।

काँग्रेस-मिनिस्टरी के समय भी कानपुर के मिल-मालिकों का दिमाग वैसे ही सातवें आसमान पर था। हड़तालों पर हड़तालें होने लगीं। मिल-मालिक चाहते थे कि काँग्रेसी सरकार गोली चलवाकर बदनाम हो जाय। डा. काटजू झगड़ा तै करने के लिए कानपुर आये। यूसुफ ने मजूरों की तरफ से उनकी वात मान ली; लेकिन मिल-मालिकों ने मानने से इन्कार कर दिया। कानपुर में मजूरों ने आम हड़ताल कर दी। 1937 के अन्त में प्रधानमन्त्री पन्त कानपुर आये, समझौता हुआ—मिल-मालिकों ने मजूर-सभा को मजूरों का प्रतिनिधि स्वीकार किया, मजूरों की माँगें मानीं। यूसुफ जो गिरफ्तार करके जेल में रखे गये थे, वह छोड़ दिये गये। यूसुफ की गिरफ्तारियों और जेल में आने-जाने की संख्या का ठिकाना नहीं।

1938 में फिर मजवूर होकर मजूरों को 52 दिन की आम हड़ताल करनी पड़ी, इसमें भी मजूरों को सफलता मिली।

यूसुफ को 5-6 बार गिरफ्तार होना पड़ा।

1939 में यूसुफ कानपुर मजूर-सभा के सभापति चुने गये।

1940 के अगस्त में यूसुफ को पकड़कर जेल में नजरवन्द कर दिया गया, जहाँ से जुलाई 1942 में छूटे। 15 दिन के लिए फिर गिरफ्तार कर लिये गये। वह 14 बार जेल की सजा काट चुके हैं।

यह है यूसुफ, यह है सरस्वती देवी का नाती सन्त सिंह। मजदूरों के लिए मरना और मजदूरों के लिए जीना यही उसका धर्म है, यही उसका कर्म है।

40

रा. द. भारद्वाज

प्रमुख तिथियाँ–1909 दिसम्बर जन्म, 1913-15 गाँव के स्कूल में, 1915-17 किशनपुर के स्कूल में, 1917-19 घर पर पढ़ाई, 1919-21 बड़ौत जैन हाई स्कूल में, 1921 असहयोग, भागकर दिल्ली में, 1922 अगस्त–1923 वैश्य नेशनल स्कूल (रोहतक) में, 1923 पंजाब नेशनल मैट्रिक पास अगस्त से छै मास कौमी विद्यालय लाहौर में, 1924 जनवरी–1925 बनारस हिन्दू स्कूल में, 1925 मार्च मैट्रिक पास, 1925-27 बनारस यूनिवर्सिटी में, 1927 एफ. ए. पास, 1927 जुलाई–1931 इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में, 1929 बी. ए. पास, 1931 एम. ए. पास और एल-एल. बी. प्रथम परीक्षा पास, 1931-34 बंबई में, मजूरों में काम, 1934-36 जेल में दो साल, 1936-40 कानपुर में, 1939 ऑल इण्डिया कांग्रेस कमेटी मेम्बर, 1940 वारंट, अन्तर्धान रामगढ़ कांग्रेस में, 1941 जनवरी–1943 जनवरी 24 जेल में नजरवन्द, 1941 मार्च 6 –भवाली टी. बी. सेनीटोरियम् में, 1948 अप्रैल 17 को मृत्यु।

मेरठ षड्यन्त्र में जब भारत के मजदूर नेता चुन-चुनकर जेल में बन्द कर दिये गये, तो जिन तीन-चार तरुणों ने भारत में मजदूर पार्टी के काम को जारी रखा और उसे आगे बढ़ाने के लिए बहुत काम किया, उनमें रुद्रदत्त भारद्वाज का नाम सबसे पहले आता है।

भारद्वाज का जन्म मेरठ जिले की बागपत तहसील के बूड़पुर गाँव में दिसम्बर 1908 को हुआ था।

बूड़पुर 500 परिवारों का एक छोटा-सा गाँव है, जिनमें 300 जाटों और 60 ब्राह्मणों के घरों के अतिरिक्त चमार 40, भंगी 15, धीमर 15, जैन बनिया 3, धोबी 7, मुसलमान (लोहार) 12, फकीर 15, डोम 13 घर हैं। गाँव की जमीन के मालिक ज्यादातर जाट-किसान हैं। कुछ भूमि गौड़ ब्राह्मणों के पास भी है। गाँव में खेती छोड़कर कोई रोजगार नहीं है, हाँ कुछ जाट तरुण पल्टन में भी नौकरी करते हैं। ब्राह्मणों में से कितनो ही के पास यजमानी है और समय-समय पर यहाँ संस्कृत के पंडित भी होते आये हैं। भारद्वाज के पिता रामानन्द शर्मा (मृत्यु 1931) संस्कृत के अच्छे पंडित थे; लेकिन उन्होंने यजमानी और पंडिताई को अपने जीवन का साधन नहीं बनाना चाहा। इसकी जगह उन्होंने महाजनी और अनाज की खरीद-फरोख्त का काम अपने हाथ में लिया। पं. रामानन्द के पिता ने बनारस जाकर संस्कृत का अध्ययन किया था और घर ही पर विद्यार्थियों को व्याकरण, काव्य और वैद्यक पढ़ाते थे। जब पश्चिमी यू. पी. में आर्यसमाज का प्रचार बढ़ने लगा, तो बूड़पुर में रामानन्द शर्मा पहले आदमी थे, जो आर्यसमाजी बने। पीछे तो उनके प्रभाव से गाँव के बहुत-से जाट-परिवार आर्यसमाजी बन गये। अनुशासन के वह बड़े पाबन्द थे। लड़कों को खेलने-कूदने की आजादी थी, मगर पढ़ने के वक्त तीन-पाँच करने पर वह जरूरत टोंकते।

भारद्वाज की माता ठाकुर देवी (65 वर्ष) बड़े नरम स्वभाव की महिला हैं। आर्यसमाजी पति ने उन्हें कभी पढ़ाने की कोशिश नहीं की, इसलिए वह आजन्म निरक्षर रहीं। बराबर घर के काम में लगे रहना और समय मिलने पर पति की आँख बचाकर 33 कोटि देवताओं में से अधिक से अधिक की पूजा कर लेना, बस यही उनका काम था।

बाल्य–भारद्वाज की सबसे पुरानी स्मृति चार साल की है, जब कि उनके बड़े भाई गोद में लेकर खेलाया

करते थे और पूछते थे—"तुम्हारे पेट में क्या है ?" भारद्वाज कहते—"गोही (मगर)।" भारद्वाज कम खेलनेवाले लड़कों में से थे। गेंद और आँख-मिचौनी खेलना, नहर में तैरना और कूदना उन्हें जरूर पसन्द था। गाँव के आमों के दरख्तों पर कभी-कभी चढ़ा भी करते थे। हाँ, माँ और भाभी से कहानियाँ सुनने का उनको बहुत शौक था। उन्हें राजा-रानी की कहानियों से मन्त्रों और देवताओं के चमत्कार की कहानी ज्यादा आकर्षक मालूम होती थी। भूतों की कहानियाँ सुनी तो होंगी, मगर उनका डर शायद ही कभी लगा हो। शायद इसमें आर्यसमाजी पिता कारण हों।

शिक्षा—बूढ़पुर में एक प्राइमरी स्कूल था। भारद्वाज जब पाँच ही साल (1913) के थे, तो उन्हें पढ़ने में लगा दिया गया। मगर पहले वहाँ वह सिर्फ खेलने के लिए जाया करते, फिर छै साल तक हिन्दी पढ़ते रहे। गाँव में फिरका-बन्दी हो गई, जिससे पिता ने बच्चे को उस स्कूल से निकाल लिया और दो मील दूर किशनपुर-बुरार के स्कूल में वह सात की उम्र से जाने लगे। अगले साल (1916 में) उन्होंने दर्जा 2 पास किया। गणित में उनका बहुत मन लगता था। लेकिन रटना पसन्द नहीं करते थे। सगे चचा का लड़का फौज में था, उसकी चिट्ठियाँ कटी-कुटी आतीं। उस समय मालूम हुआ कि एक बड़ी जबर्दस्त लड़ाई हो रही है। बड़े भाई देवदत्त भारद्वाज जब स्कूल की छुट्टियों में घर आते, तो लड़ाई की बातें सुनाते। पास में कोई अंग्रेजी स्कूल नहीं था, इसलिए घर पर रहने पर देवदत्त उन्हें अंग्रेजी पढ़ा देते, नहीं तो एक साल तक अपने दूसरे भाई के साथ गाँव से सात मील पर किसी के पास हफ्ते में एक दिन अंग्रेजी पढ़ आया करते थे।

इस तरह प्राइवेट पढ़ने से काम नहीं चल सकता, यह सोचकर 1919 की जुलाई में भारद्वाज को बड़ौत के जैन हाई स्कूल में पाँचवें दर्जे में दाखिल कर दिया गया। यहाँ उन्होंने सातवें दर्जे तक पढ़ा। इतिहास की कहानियाँ पढ़ने में अच्छी लगती थीं, ज्यामिति और अंकगणित भी पसन्द थे; मगर बीजगणित में मन नहीं लगता था। अब वह पिता से भी ज्यादा कट्टर आर्यसमाजी हो गये। व्याख्यान और बहस से उन्हें प्रेम था। हितोपदेश, वैतालपचीसी, सत्यार्थप्रकाश तथा बहुत-सी आर्यसमाज की पुस्तकें पढ़ने में उनका काफी समय जाता था; लेकिन उपन्यास का चसका नहीं लग पाया। छुआछूत का भूत अभी दूर नहीं हुआ और दूसरों के साथ खाने में परहेज करते थे। धीरे-धीरे उनके दिल में राष्ट्रीय भावना जागृत होने लगी। गाँधीजी जब पलवल में गिरफ्तार किये गए, तो स्कूल में हड़ताल कराने में भारद्वाज आगे थे और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक गाँधीजी मुक्त नहीं होंगे तब तक सिर्फ एक वक्त खाना खाऊँगा। सौभाग्य से गाँधीजी जल्दी ही छोड़ दिये गये। 1920 में तिलक की मृत्यु के समय भी स्कूल की हड़ताल में भारद्वाज शामिल हुए। लड़ाई की विजय में स्कूल के लड़कों को तमगे बाँटे गये थे। भारद्वाज ने उसे लेने से इन्कार कर दिया।

असहयोग—भारत के राजनीतिक क्षेत्र में अब गाँधीजी आ चुके थे। राजनीतिक चेतना अब निचले तल तक पहुँच रही थी। भारद्वाज 13 साल की उम्र में सातवें क्लास में पढ़ रहे थे, जब कि 1921 में गाँधीजी ने असहयोग का शंखनाद किया। आर्यसमाजी पुस्तकों और विचारों के शैदाई भारद्वाज के दिल में राष्ट्रीय भावना अब बहुत आगे तक बढ़ चुकी थी। उन्होंने अँग्रेजी सरकार की चलाई पढ़ाई से असहयोग करना चाहा। पिता की सम्पति नहीं थी, लेकिन भारद्वाज ने स्कूल छोड़ दिया। घरवाले पैसा देने के लिए तैयार नहीं थे कि वह किसी राष्ट्रीय स्कूल में पढ़ते। पास में कुछ पैसे थे, जिनको लेकर कुछ और सहपाठियों के साथ पैदल ही चालीस मील दूर दिल्ली भाग गये। गाँधीजी ने चरखा कातने के लिए कहा था। भारद्वाज दो महीने तक दिल्ली में चरखा चलाते रहे। दिल्ली में दफा 144 थी, इसलिए जमुना पार गाजियाबाद में कांग्रेस की सभाएँ होती थीं। भारद्वाज इन सभाओं में जरूर जाते। आखिर में देवदत्त ने कहा, चलो राष्ट्रीय स्कूलों में ही पढ़ने का इन्तजाम किया जायगा। लेकिन घर आने पर फिर सरकारी स्कूल में जाने के लिए जोर दिया जाने लगा।

भारद्वाज को पता लगा कि रोहतक में कोई राष्ट्रीय स्कूल है। घरवालों से न अनुमति की आशा थी न पैसे की। तो भी वह (अगस्त 1921 में) भागकर रोहतक के वैश्य राष्ट्रीय स्कूल में दाखिल हो गये। एक मास तक किसी तरह पास के पैसे से खर्च चलाया। फिर घरवालों का भी दिमाग ठिकाने लगा और वह खर्च भेजने लगे। भारद्वाज स्कूल के सबसे तेज लड़के थे। उस समय वहाँ 250-300 लड़के पढ़ा करते थे। तीन

साल की पढ़ाई को दो साल में खतम करते हुए 1923 में उन्होंने पंजाब राष्ट्रीय विश्वविद्यालय का मैट्रिक पास किया।

अब आगे की पढ़ाई के लिए भारद्वाज लाहौर के कौमी विद्यालय में दाखिल हो गये। यशपाल, मोहनलाल गौतम, हरनामदास (महन्त आनन्द कौसल्यायन) उस समय वहीं पढ़ रहे थे। साल-भर बीतते विद्यालय की नैया डगमगाने लगी। भारद्वाज को अभी भी नहीं समझ में आया कि विद्या में छूत नहीं लगती। लेकिन हिन्दू-विश्वविद्यालय के बारे में जब कहा गया, तो वह उसे कुछ-कुछ राष्ट्रीय मानने के लिए तैयार थे।

बनारस में—1924 की जनवरी (आयु 16 वर्ष) में भारद्वाज बनारस के सेन्ट्रल हिन्दू हाई स्कूल में चले आये। स्कूल के प्रधानाध्यापक पं. रामनारायण मिश्र धीरे-धीरे अपने मेधावी छात्र पर विशेष कृपा रखने लगे। उसके लिए खास इन्तजाम कर दिया और उसी साल अप्रैल में भारद्वाज नवें दर्जे को पास कर दसवें दर्जे में चले गये। भारद्वाज काँग्रेस के अनन्य भक्त थे और काँग्रेस-सम्बन्धी खबरों को अखबारों में ध्यान से पढ़ा करते थे। उस साल काँग्रेस कार्यकारिणी ने लेनिन की मृत्यु पर जो शोक-प्रस्ताव पास किया था, उसे भारद्वाज ने बड़े ध्यान से पढ़ा था। मार्च 1925 में (17 साल की आयु में) भारद्वाज ने प्रवेशिका (मैट्रिक) परीक्षा पास की। यद्यपि राष्ट्रीय स्कूलों के फेर में पड़कर कई विषयों में उनकी पढ़ाई पिछड़ी हुई थी, मगर सवा साल की कड़ी मेहनत से उन्होंने काफी तैयारी कर ली थी और सेकंड डिवीजन में पास हुए थे। असहयोग के जमाने ही से वह अखबार को नियमपूर्वक पढ़ा करते थे। 'सरस्वती', 'माधुरी' जैसी पत्रिकाओं और प्रेमचन्द की कहानियों को पढ़ने से उनमें साहित्यिक रुचि बढ़ी। जनार्दन झा 'द्विज' उनके सहपाठी थे, जो खुद भी साहित्य के रसिक थे।

कॉलेज में—बनारस यूनिवर्सिटी में दाखिल हो वह इतिहास, अर्थशास्त्र और तर्क पढ़ने लगे। तीनों ही में उनकी बड़ी दिलचस्पी थी और अर्थशास्त्र पर तो बाहरी पुस्तकें भी खूब पढ़ते थे। देवदत्त भारद्वाज उस समय लीडर के सब-एडीटर थे। उन्होंने इस ओर रुचि दिलाने में बड़ी मदद की थी। सौभाग्य से उस समय भारद्वाज को डॉ. ज्ञानचन्द्र जैसा अध्यापक मिला था। आधुनिक राजनीतिक विचारधारा के जानने का शौक डॉ. ज्ञानचन्द्र के सत्संग से भारद्वाज के दिल में खूब बढ़ा। स्वास्थ्य भी अच्छा था इसलिए वह खूब मेहनत कर सकते थे। वह एक घोर राष्ट्रीयतावादी युवक थे। 1926 की कानपुर काँग्रेस में स्वयंसेवक बनकर गये। जब 1926 में काँग्रेस ने कौंसिल के चुनाव की लड़ाई लड़ी, तो संपूर्णानन्द के चुनाव-क्षेत्र में वह काम करने के लिए गये थे। भारद्वाज पं. मोतीलाल के जबर्दस्त समर्थक थे और मालवीयजी के उतने ही विरोधी। रूसी क्रान्ति का नाम भर ही सुना था। प्रिन्सिपल ध्रुव ने यह कहकर उन्हें और उदासीन बना दिया कि रूसी क्रान्ति फ्रेंच-क्रान्ति जैसी महान् नहीं है। स्वतन्त्रता, समानता और मातृभाव रोटी और भूमि से कहीं महान् है।

बनारस से एफ. ए. पास कर जुलाई 1927 में भारद्वाज प्रयाग-विश्वविद्यालय में दाखिल हो गये। यहाँ भी अर्थशास्त्र और राजनीति उनके विषय थे। पहले वर्ष में तो वह स्वराजी देशभक्त रहे और उसी दृष्टि से बहस में भाग लेते थे। दूसरे वर्ष (1928) की पढ़ाई के आरम्भ में ही छात्रसंघ की मीटिंग में एक तरुण को उन्होंने राष्ट्रसंघ के खिलाफ बहुत सख्त व्याख्यान देते सुना। तरुण ने कहा कि यह राष्ट्रों का संघ नहीं, सरकारों का संघ है। इसी वक्तृता से भारद्वाज ने पूरनचन्द्र जोशी से परिचय प्राप्त किया। फिर दोनों में घनिष्टता बढ़ने लगी और आगे चलकर भारद्वाज पी. सी. के दाहिने हाथ बने। मार्क्स की 'कमूनिस्ट-घोषणा', लेनिन की 'राज्य और क्रान्ति', 'साम्राज्यवाद' आदि पुस्तकें पढ़ने को मिलीं, जिससे भारद्वाज को एक नई दृष्टि मिली। प्रयाग तरुण-संघ के अब वह सेक्रेटरी थे और पं. जवाहरलाल प्रेसीडेन्ट। भारद्वाज के गंभीर अध्ययन ने जहाँ राजनीति में उन्हें कमूनिज्म पर पहुँचाया, वहाँ धर्म और ईश्वर के फन्दे से छुड़ाकर अनीश्वरवादी बना डाला। 1929 में भारद्वाज ने बी. ए. दूसरे डिवीजन में पास किया। इसी साल मार्च में जोशी मेरठ षड्यन्त्र में गिरफ्तार कर लिए गये। भारद्वाज के ऊपर अकेला सारा बोझ आ पड़ा। उन्हें मार्क्सवाद का क्लास लेने के लिए प्रयाग से बाहर भी जाना पड़ता। अब वह एम. ए. में राजनीति पढ़ रहे थे, साथ ही घरवालों के जोर देने से कानून भी पढ़ने के लिए मजबूर हुए। 1930 और 31 का समय भारद्वाज के लिए मार्क्सवाद के जबरदस्त अध्ययन का समय था। एम. ए. में उनका विषय भी रुचि के अनुकूल था। 1931 में उन्होंने एम. ए. पास किया और

यूनिवर्सिटी में उनका नम्बर दूसरा था। एल-एल. बी. का पहला ही वर्ष पास करके छोड़ दिया। 1931 में पिता की मृत्यु हो गई, इसलिए कोई जोर देनेवाला भी नहीं रह गया।

कार्यक्षेत्र में—भारद्वाज बीच-बीच में मेरठ के साथियों से मिल आया करते थे। उन्होंने बम्बई जाकर मजूरों में काम करने की सलाह दी थी। परीक्षा-फल प्रकाशित होने के एक सप्ताह बाद ही भारद्वाज जुलाई (1931) में बम्बई चले गये। इस समय उनकी उम्र तेईस साल की थी। बम्बई में उन्होंने जगन्नाथ अधिकारी, रणदिवे, सरदेसाई के साथ काम करना शुरू किया। बी. बी. सी. आई. रेलवे, गिरनी-कामगार-यूनियन और तरुण-कमकर-लीग उनके कार्य के क्षेत्र थे। मजूरों में व्याख्यान देते, मदनपुरा आदि के कमकरों के लिए क्लास लेते, रेलवे मजूरों के लिए सरदेसाई के साथ हिन्दी और अँग्रेजी में दो पत्र निकालते। सबसे ज्यादा काम करना पड़ता बी. बी. सी. आई. में। उसी साल गिरनी कामगारों का जलूस निकल रहा था। नेता होने के कारण भारद्वाज को गिरफ्तार करके तीन मास की सजा दी गई। जमुनादास मेहता अपनी लीडरी खतरे में देख कमूनिस्टों को निकाल बाहर करना चाहते थे। लेकिन कमूनिस्ट लीडरी के पीछे नहीं, काम के पीछे पड़े थे। जमुनादास अपनी चाल से बाज नहीं आते थे। लोगों ने यूनियन की बैठक बुलाने के लिए कहा, तो मेहता ने इन्कार कर दिया। इस पर बहुत-से हस्ताक्षरों से बैठक बुलाई गई। जमुनादास पर अविश्वास का प्रस्ताव पास हुआ और बी. बी. सी. आई. (बम्बई से अजमेर तक) के मजूरों की यूनियन के भारद्वाज जेनरल-सेक्रेटरी चुने गये। 1934 में बम्बई में अखिल भारतीय कपड़ा-मिल मजूर कांफ्रेंस हुई। मालिकों के जुल्म से तंग आकर यहीं आम हड़ताल का निश्चय करना पड़ा था। भारद्वाज को बम्बई में भी काम करना पड़ता था और जनवरी-फरवरी में 5-6 हफ्ते के लिए उन्हें अहमदाबाद के मजूरों को भी तैयार करने के लिए जाना पड़ा। नई मशीनों के लगाने से मजूर निकाले जा रहे थे। दूसरी ओर मजूरियाँ कम की जा रही थीं। इसे चुपचाप मजूर मान नहीं सकते थे। सभी जगह वह हड़ताल कर रहे थे। भारद्वाज इसी काम से अजमेर गये। वहाँ रेलवे-वर्कशॉप में हड़ताल हो गई। फिर क्या था, उन्हें गिरफ्तार करके 6 सप्ताह की सजा दे अजमेर-जेल में डाल दिया गया। इसी बीच अहमदाबाद का भी वारंट आया और वहाँ उन्हें दो साल की सजा हुई। योग्य न्यायाधीश ने सी क्लास का कैदी बनाकर अपनी नमक-हलाली का सबूत दिया। भारद्वाज को जेल का सारा समय साबरमती, हैदराबाद (सिंध) के जेलों में बिताना पड़ा।

1936 के अप्रैल में वह जेल से छूटे। यू. पी. पुलिस ने हिरासत में ले लिया और प्रयाग में ले जाकर छोड़ दिया। इससे पहले ही नागपुर में पार्टी की केन्द्रीय समिति की बैठक हो चुकी थी, जिसमें भारद्वाज को भारतीय पार्टी की केन्द्रीय-समिति और पोलिट-ब्यूरो का सदस्य चुना गया था। जोशी मिले। अन्तर्धान पार्टी का हेडक्वार्टर उस समय लखनऊ में था। भारद्वाज वहाँ चले गये। उन्होंने पहले पार्टी-सम्बन्धी तत्कालीन साहित्य को पढ़ा; फिर पार्टी के निश्चयानुसार कानपुर के मजूरों में काम करने के लिए वहाँ चले गये। इस समय उन्हें बहुत कुछ अन्तर्धान-सा रहना पड़ता था। काँग्रेस-मिनिस्ट्री के आने पर अन्तर्धान की अवस्था हटी। मई 1937 में अन्तर्धान-अवस्था में ही वह पार्टी के काम से लाहौर गये। लाजपतराय हॉल के कमेटी-रूम में साथियों के साथ एक मीटिंग कर रहे थे। लेकिन थोड़ी ही देर बाद देखा कि पुलिस ने हॉल को घेर लिया है। हाल ही नहीं, आसपास के और भी घर पुलिस के घिरावे में थे। भारद्वाज छड़ पकड़कर एक खिड़की से दूसरे घर की छत पर कूद पड़े और बाहर निकल गये। दूसरे दिन फिर मीटिंग की। फैजपुर काँग्रेस में भी वह अन्तर्धान की अवस्था में गये थे। इस समय से बराबर भारतीय काँग्रेस कमेटी के अधिवेशनों में साथियों के पथ-प्रदर्शन का काम भारद्वाज के ऊपर होता था। रामगढ़-काँग्रेस (मार्च 1940) में भी भारद्वाज पहुँचे थे, यद्यपि भारत के कमुनिस्ट नेताओं को जेल में बन्द करने के लिए पुलिस बड़ी सावधान थी। विषय-निर्वाचिनी में भारद्वाज ने अपना संशोधन भेजा। दूसरे दिन वह पेश होनेवाला था। भारद्वाज चद्दर से सिर ढाँके मीटिंग में गये, संशोधन पेश किया और उस पर अच्छी तरह बोले। पुलिस चौकन्नी थी; लेकिन जलपान के समय भारद्वाज जो गायब हुए, तो पता नहीं लगा। अन्तर्धान-जीवन की ऐसी कितनी ही घटनाएँ हैं।

भारद्वाज एक सुन्दर वक्ता हैं। 1930 में प्रयाग यूनिवर्सिटी का गोखले-गोल्डमेडल उन्हें ही मिला था।

वाद-विवाद में भी छात्र-जीवन में उन्होंने बहुत-से इनाम लिये थे। लेकिन पार्टी के गैर-कानूनी जीवन में व्याख्यान देना हो नहीं सकता था। भारद्वाज ने अपनी शक्ति को मार्क्सवादी तरुणों की शिक्षा में बड़ी सफलतापूर्वक इस्तेमाल किया। वह एक बड़े ही सुन्दर पार्टी-अध्यापक हैं, जिसका कि उपयोग देवली के नजरवन्द साथियों ने खूब किया। मेरठ में अपनी जन्मभूमि में जाने का भारद्वाज को बहुत कम मौका मिला। छात्रावस्था के बाद 1936 में वह एक बार गये थे। उनके गाँव और आसपास के लोग भारद्वाज के काम को नहीं देख पाये हैं; मगर नाम पहुँच गया है। वह जानते हैं कि हमारा रुद्रदत्त गरीबों के लिए काम करता है। पुलिस के हाथ से अलोप हो जाने की बहुत-सी झूठी-सच्ची कथाएँ गाँव के लोगों में मशहूर हैं, जिन्हें वे फुरसत के समय दोहराया करते हैं।

1931 में पूना में कोई सभा हो रही थी। भारद्वाज भी वोलना चाहते थे। सीने पर हँसुआ-हथौरा लगा देखकर सभापति ने बोलने की इजाजत नहीं दी। लोग तैयार थे। भारद्वाज ने धुआँधार व्याख्यान दिया। प्रेसीडेन्ट भाग गया। बम्बई, यू. पी. आदि कितने ही प्रान्तों में भारद्वाज के सिखलाए तरुण आज अपनी-अपनी जगहों पर कमकर जनता का नेतृत्व कर रहे हैं। दिनकर मेहता, रणछोर पटेल आदि उन्हीं तरुणों में हैं।

भारद्वाज में सैद्धान्तिक विश्लेषण की ही बुद्धि नहीं है, वल्कि वह व्यावहारिक विश्लेषण में भी बहुत पटु हैं। कानपुर का मजदूर-संगठन जो इतना वलिष्ठ है, उसमें यदि यूसुफ की कर्मठता का वहुत हाथ है, तो भारद्वाज की व्यावहारिक बुद्धि का भी सवसे ज्यादा हिस्सा है। दूसरा कोई आदमी होता, तो वालकृष्ण शर्मा 'नवीन' से भड़क उठता; लेकिन भारद्वाज ने जल्दी ही परख लिया कि 'नवीन' जनता का आदमी है, वह हमेशा जनता में रहेगा, जनता का होकर रहेगा; इसीलिए उसके हजार खून माफ हैं। कानपुर के श्रम-जीवियों के संगठन में तीसरा आदमी, जिसने सवसे ज्यादा काम किया है, वह हैं हिन्दी के कवि बालकृष्ण 'नवीन' जिनके सौहार्द को भारद्वाज सदा याद रखते हैं।

सवा साल अन्तर्धान रहने के वाद जनवरी 1941 में पुलिस कानपुर में भारद्वाज को गिरफ्तार करने में सफल हुई। कानपुर, आगरा के जेलों में कुछ दिन रहने के बाद भारद्वाज देवली-कैम्प में भेज दिये गये। राजनीतिक कार्य करने के परिश्रम और अन्तर्धान जीवन की कठिनाइयों से भारद्वाज का स्वास्थ्य बहुत खराव हो चुका था। तब भी जेल में पार्टी-संगठन और पार्टी-क्लास लेना उनकी जिम्मेवारी थी। राजनीतिक वन्दियों के कष्टों को दूर करने में देवली में जो संघर्ष और भूख-हड़ताल करनी पड़ी थी, उसका नेतृत्व भारद्वाज के ऊपर था। पार्टी के ऊपर की कानूनी रुकावट दूर कर देने पर जब बहुत-से कमूनिस्ट छोड़ दिये गये, तब भी भारद्वाज को नहीं छोड़ा गया। वह कितने ही दिनों तक वरेली जेल में रहे। डॉक्टरों ने घोषित कर दिया कि उन पर तपेदिक का भीषण आक्रमण है। तब भी सुलतानपुर जेल में ले जाकर उन्हें बन्द रखा गया, और जब समझ लिया कि वह मृत्यु के मुख में हैं, तभी 24 जनवरी 1943 को उन्हें जेल से छोड़ा गया। कितने ही समय तक नीचे रहने के बाद 6 मार्च को भुवाली के सेनीटोरियम् में उन्हें जाना पड़ा। अब स्वास्थ्य सुधरा जरूर है; लेकिन अभी भी खतरे से वाहर नहीं हैं, और काफी समय तक उन्हें बहुत संयम के साथ रहना पड़ेगा।

41

सुमित्रानंदन पंत

प्रमुख तिथियाँ—1900 मई 21 जन्म (ज्येष्ठ कृष्णाष्टमी 1957 संवत्), 1904 शिक्षारंभ, 1907 पहिली तुकवंदी, 1909 अपर प्राइमरी पास, 1909-11 घर पर पढ़ाई, 1911-18 हाईस्कूल (अल्मोड़ा) में, 1915 पहिली कविताएँ, 1916 साधु वनने की धुन, 'कागज का फूल', 'तम्वाकू का धुआँ' कविताएँ, 'मर्यादा' आदि में छपी कविताएँ; 1917 मिडिल पास, 1918-19 जयनारायण हाईस्कूल (वनारस) में,

नई शैली की कविताएँ; 1919 मेट्रिक पास, 1919-21 म्योर सेंट्रल कॉलेज (प्रयाग) मे, 1921 कॉलेज से असहयोग, 'उच्छ्वास'; 1923 'बादल', 1923-28 दर्शन में गर्क, 1926 मझले भाई की मृत्यु, 1927 पिता की मृत्यु, 1929 स्वास्थ्य चौपट, 1930 'मधुवन' की कहानियाँ, कालाकाँकर में 'गुंजन'; 1930-35 आध्यात्मिक रहस्यवाद पर पूर्ण श्रद्धा, 1935 नया जीवन, 'युगान्त', 1936-37 'युगवाणी', 1938-39 मार्क्सवादी, 'ग्राम्या'; 1940 लोक-संस्कृति के विकास की ओर ख्याल, 1942-43 'छाया', 'परिणीता', 'साधना', 'स्रष्टा', 'स्वप्नभंग' आदि नाटक, 1942 अल्मोड़ा में।

सुमित्रानंदन पंत हिन्दी के युग-प्रवर्तक कवि हैं। 'प्रसाद', 'निराला', 'पंत' हिन्दी की इन त्रिमूर्तियों में से हैं, जिनमें से हरएक अपना-अपना व्यक्तित्व रखता है। पन्त का व्यक्तित्व केवल कविता में है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि वह सिर्फ कविता के संसार ही में साँस लेते हैं। आँख खोलते ही उन्होंने कौसानी में जो हिमालय के अनुपम सौन्दर्य को देखा था, हो नहीं सकता था, कि उनका कवि-हृदय प्रकृति की मनोहर छटा को क्षण-भर के लिए भी भूल जाता। बहुत दिनों तक उन्होंने मानव-सन्तानों का प्रकृति की औरस सन्तान होना अस्वीकार किया। मगर प्रकृति के पुजारी को उसके अपने देवता ने ही वतला दिया, कि वैसा समझना गलत है। प्रकृति चिरतरुणी, चिरविकासोन्मुखी है, इसीलिए उसका कवि पंत भी सदा विकसित होता रहा। पंत बीसवीं सदी के महान् कवियों में हैं, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन महान् कवि होने के साथ-साथ हिन्दी के लिए उनकी एक और भी बड़ी देन है, वह है हिन्दी की काव्यभाषा को कोमल और कांत वनाना। एक सच्चे पारखी की तरह पंत ने त्रिकाल से मौजूद शब्दों को सेर-छटाँक में नहीं रत्ती और परमाणुओं के भार में तोलकर उनके मोल को बड़ी बारीकी से आँका, और उसे किसी यूनानी प्रस्तरशिल्पी की भाँति अपनी छेनी और हथौड़े को बहुत कोमल और दृढ़ हाथों से काटा-छाँटा, उसे सुन्दर भावों के प्रगट करने का माध्यम वनाया। शब्दों के सुन्दर निर्माण और विन्यास में पंत अद्वितीय हैं।

जन्म–अल्मोड़ा से 32 मील उत्तर, समुद्रतल से साढ़े सात हजार फ़ीट ऊपर उपस्थित कौसानी हिमालय की अत्यंत सुंदर उपत्यका है। चीड़ और विशाल बाँज (Oak), देवदार और केल से ढँके पर्वतगात्र प्राकृतिक सौंदर्य में कौसानी को अनुपम बनाते हैं। पिछले महायुद्ध से पहले कौसानी में किसी अंग्रेज का एक विशाल चाय का बगीचा था। साहेव के मुनीम और लकड़ी के ठेकेदार थे पं. गंगादत्त पंत (मृत्यु 1927)। पं. गंगादत्त सीउनराकोट से आकर यहीं–हच्छीना में वस गए थे। 21 मई सन् 1900 (ज्येष्ठ कृष्ण 8, सं. 1957) में पं. गंगादत्त की पत्नी सरस्वती देवी को चौथा पुत्र पैदा हुआ। जिसके संसार में आने के 6 घंटे वाद ही माँ ने शरीर छोड़ दिया। पिता ने पुत्र का नाम सुमित्रानंदन पंत रखा। हरदत्त, रघुवरदत्त, देवदत्त जैसे नामों के बाद पिता को अपने सबसे छोटे पुत्र का नाम इतना कवितामय रखने का कारण क्या था ?

वाल्य–सुमित्रानंदन को उनकी फूफी ने पाला। वह अपने भाई के पास कौसानी (हच्छीना) में रहा करती थीं। फूफी का स्वभाव बहुत नम्र था। पंत की सबसे पुरानी स्मृति ढाई-तीन साल की है। वालक सुमित्रानंदन पंत अपने भाई के हाथ से एक रस्सी खींच रहा था। भाई ने हाथ छोड़ दिया और सुमित्रानंदन एक जलती हुई अँगीठी में गिर गया, बुरी तरह झुलस गया। पाँच साल की उम्र में मंदिर की स्लेटी खपड़ैल गिरी जिससे पैर के अँगूठे में चोट आयी। पंत को अपने बड़े भाई की शादी भी याद है, जबकि वह नौकर की पीठ पर चढ़कर वहाँ गया था। माँ के दूध की जगह वालक सुमित्रानंदन को मिलिन्स फूड (डब्बेवाले दूध) पर पाला गया था। हच्छीना में जिस जगह पं. गंगादत्त का घर था, उसके आसपास दो-तीन मील तक कोई घर या टोला नहीं था। हाँ, साहेव का वंगला एक मील दूर पर था, और वगीचे में काम करनेवाले डेढ़-दो हजार कुली वहाँ पास में रहा करते थे। यद्यपि सुमित्रानंदन को बदहज्मी की शिकायत 11 साल तक रहती रही, मगर और तरह से स्वास्थ्य अच्छा और शरीर गोल-मटोल था। चचेरे भाई भी कुछ थे मगर सुमित्रानंदन सदा घरघुस्सा था। राक्षसों की कहानियाँ, भूतों की कहानियाँ तो बड़े शौक से वह सुनता ही था, लेकिन उसके लिए सबसे सुंदर कहानियाँ थीं बर्फ की परियों की। जब वर्फ गिर जाती है, तो देवदार और चीड़ के सदा हरित पत्रों पर सफेद

गाले की तरह छाकर धरती पर चारों ओर रुपहला फर्श बिछा देती है, उस समय परियाँ अपने घरों से निकलती हैं, फिर उनका नाच शुरू होता है। सुमित्रानंदन को इन परियों के देखने का बड़ा शौक था, लेकिन कुछ-कुछ डरता भी था; क्योंकि बुआ और दादी ने कह रखा था कि परियाँ छोटे-छोटे बच्चों को उठा ले जाती हैं। कौसानी में लाल-सफेद रंग के सुन्दर गोल-मटोल पत्थरों की कमी नहीं थी। सुमित्रानंदन ऐसे पत्थरों को जमाकर फूल-मिठाई से खूब पूजता। घर की स्त्रियों में गाने का शौक था। कभी बहनें गातीं, और कभी दादी देवकी बुढ़ापे के कंपित-स्वर में गुनगुनातीं—"माई के मदिरवा में दीपक बारो"; जिसे सुनकर सुमित्रानंदन भी गुनगुनाने की कोशिश करता। मकान के पास विशाल देवदारों का उपवन-सा लगा था, उन्हें निहारना और उनसे गिरते पीले चूर्ण को देखना सुमित्रानंदन को बहुत पसन्द आता था। कौसानी (कत्यूर घाटी) और हिमालय के बीच में कोई व्यवधान नहीं है, और बालक सुमित्रानंदन हिमालय के रौप्य-शिखरों को प्रातः-सायं सुवर्णमय होते देख बहुत चकित होता था। कौसानी में साधु अक्सर आया करते थे। पं. गंगादत्त पंत साधुसेवी थे। एक बार पूछने पर गंगादत्तजी ने सुमित्रानंदन के बारे में बतलाया—"यह मेरा सबसे छोटा बेटा है।" साधु ने कहा—"सबसे छोटा या सबसे बड़ा !" हाँ सुमित्रानंदन ने पीछे अपने को सबसे बड़ा बेटा साबित किया। सुमित्रानंदन को न खेलने का शौक था न कूदने का, न वह लड़ता-झगड़ता था।।

शिक्षा—चार-पाँच साल का होने पर पिता ने लकड़ी की तख्ती पर मृत्तिका-चूर्ण डाल सुमित्रानंदन को 'श्रीगणेशायनमः" शुरू किया। हच्छीना में एक छोटा-सा स्कूल था, जिसमें चालीस-पचास लड़के पढ़ा करते थे और अध्यापक थे फूफी के लड़के। सुमित्रानंदन रोज स्कूल में जाता। पढ़ने में उसकी दिलचस्पी थी। बड़े भाई अपनी तरुणी पत्नी के मनोरंजन के लिए मेघदूत (हिन्दी) को बड़े राग से गाते थे। सुमित्रानंदन उसे बड़े ध्यान से सुनता था—छंद को, राग को, अर्थ को। सुमित्रानंदन को अभी इनके भेद नहीं मालूम थे। भाई के कमरे के बरामदे में पंत का डेस्क था। भाई और छुट्टियों में आए उनके दोस्त इश्किया गजल गाया करते थे। सुमित्रानंदन को गजल की लय अच्छी मालूम हुई और उस सात साल की उम्र में उसने भी अपने पीले कागज की कापी पर एक गजल लिख डाली। 1909 में सुमित्रानंदन ने अपर प्राइमरी दर्जा 4 पास कर लिया था। अंग्रेजी के स्कूल दूर थे और नौ साल की उम्र में बाहर भेजना पिता पसंद न करते थे, इसलिए दो साल तक घर ही पर रहते सुमित्रानंदन पिता और भाई से अंग्रेजी पढ़ता। बड़े भाई हरदत्त से सुमित्रानंदन का बहुत प्रेम था।

11 साल की उम्र में (1911) सुमित्रानंदन को अल्मोड़ा के गवर्नमेंट हाईस्कूल के चौथे दर्जे में दाखिल कर दिया गया। मझले भाई रघुवरदत्त उस समय वहीं नवें दर्जे में पढ़ते थे, इसलिए दोनों साथ रहते थे।

बचपन ही से सुमित्रानंदन को साधुओं के देखने-सुनने का बहुत मौका मिलता था। 1915 में स्वामी सत्यदेव का व्याख्यान सुना। उन्होंने वहाँ एक हिंदी पुस्तकालय की स्थापना की, इससे सुमित्रानंदन में हिंदी-प्रेम और देशभक्ति का जोश जगा। सुमित्रानंदन 'सरस्वती' और मैथिलीशरण की कविताओं को बड़े शौक से पढ़ा करता। 15 साल की उम्र में अपने फुफेरे भाई को सुमित्रानंदन ने रोला छंद में एक पत्र भी लिखा। 1916 में एक पंजाबी तरुण साधु अल्मोड़ा में आया। उसके सुन्दर गोरे शरीर पर रेशमी काषाय और भी सुन्दर मालूम होता था। उसके बाहरी वेश-भूषण को ही सुमित्रानंदन ने ज्ञान-वैराग्य का वाह्य रूप समझा। सुमित्रानंदन को यह जीवन सुन्दर मालूम होने लगा। महाभारत, रामायण, वैराग्यशतक को वह बड़े चाव से पढ़ने लगा। एक तरफ उसका ध्यान योग, वैराग्य की ओर खिंचा हुआ था और वह पढ़ाई के घंटों को साधु के सत्संग में बिताता था या धार्मिक पोथियों में डूबा रहता, दूसरी ओर साहित्य की ओर उसकी स्वाभाविक रुचि अब जाग उठी थी। 1916 में ही 'अल्मोड़ा-अखबार' में पंत की पहली कविता छपी। इस समय भारत-भारती का छन्द—हरिगीतिका—पंत को बहुत पसंद था। साहित्यिक गोविंदबल्लभ पंत के भतीजे शामाचरण पंत 'सुधाकर' (1916-17) नाम से एक हस्तलिखित पत्र निकालते थे। सुमित्रानंदन बराबर उसमें अपनी कविताएँ देने लगा। उसके दिल में आत्म-विश्वास बढ़ चला था। इसलिए अपने को ज्यादा साधन-संपन्न बनाने के लिए पंत ने 'छंद-प्रभाकर', 'काव्य-प्रभाकर', आदि के साथ मध्यकालीन कवियों की कृतियों को बड़े ध्यान से पढ़ा। केशवदास उसे कभी पसंद नहीं आए। मतिराम और सेनापति पंत के अत्यंत प्रिय कवि थे। बिहारी की ओर उसकी रुचि तब गई,

जबकि उन्होंने पद्मसिंह की भूमिका को पढ़ा। 1916 ही में पंत ने अपने 'तंवाकू का धुँआ' को 'अल्मोड़ा-अखबार' में छपवाया था, जिसकी दो पंक्तियाँ हैं–

"सप्रेम पान करके मानव तुझे हृदय में।
रखता जहाँ बसे हैं भगवान विश्व-स्वामी।"

धुँआ पंत के लिए स्वतंत्रता का प्रेमी मालूम हुआ। 'सुधाकर' में पंत अपनी कविता देते थे। लेखों और कविताओं पर मित्र मण्डली में खण्डन-मण्डन भी होता रहता था। इलाचंद्र जोशी और श्यामाचरणदत्त पंत कहा करते कि सुमित्रानंदन तो मैथिलीशरण का नक्कालची है। 'सुधाकर' में सुमित्रानंदन उनके आक्षेपों का जवाब भी दे देते, लेकिन साथ ही वह अपने मन में उनके आक्षेप को सत्य भी समझते थे, इसलिए उनकी प्रतिभा स्वच्छंद होने की फिक्र में रहती थी। इसके लिए वह अधिक से अधिक साहित्य को पढ़ते थे। स्कूल के निबंधों में तो इतने कठिन-कठिन शब्द इस्तेमाल करते थे कि अध्यापकों को भी समझ में नहीं आते थे और वह कह दिया करते कि सुमित्रानंदन हिंदी में जरूर फेल होगा।

1916 में कविता लिखने में वह बहुत व्यस्त रहा करते और एक-एक दिन में दो-दो कविताएँ लिख डालते थे। 'अल्मोड़ा-अखबार' में छपी उनकी कविता 'कागज के फूल' भी उनमें से एक है। भाई के यहाँ कागज के फूल टँगे रहते थे, उस पर भौंरा भला क्यों आने लगा। इसी को लेकर पंत ने लिखा था–

"कागज-कुसुम बता तू छविहीन क्यों बना है।
तू रूप-रंग में तो उपवन-कुसुम सदृश है।"

पंत को ब्रजभाषा में कविता करने का शौक शुरू ही से कभी नहीं हुआ। वह समझते थे कि यह बे-ऋतु का गाना होगा। 1916-17 की जाड़ों की छुट्टियों में पंत कौसानी चले गए थे–ठंडी जगहों में लम्बी छुट्टियाँ गर्मी की जगह जाड़े में होती हैं। यहीं पंत ने 'अरुण' और 'हिमाचल' आदि कविताएँ लिखीं। इसी समय पंत ने 'हार' नाम से एक उपन्यास लिखा, जो छपा नहीं। इसमें तरुण-तरुणी का प्रेम और तरुण का संन्यासी बन तिलक के कर्मयोग की ओर जाने का चित्रण है–पंत स्वयं वैसा संन्यासी बनने की फिक्र में थे और स्कूल की एक साल की पढ़ाई को उसी के लिए स्वाहा भी कर दिया।

1917 में पंत ने मिडिल पास किया। छुआछूत का ख्याल पंत को बचपन ही से नहीं था। कौसानी का साहेब बहुत उदार विचार का था। बालक सुमित्रानंदन को वह खूब मानता था। जाने पर लाल मिश्री और मिठाइयाँ देता। उसके खानसामा के हाथ से खाने में किसी ने कोई एतराज नहीं किया। और छुटपन ही से अण्डा उसके खाद्य में शामिल हो गया। बी. ए. करने के बाद बड़े भाई पाँच साल तक घर ही पर रहे। उनके स्वतंत्र विचारों का प्रभाव पड़ना ही था। इस तरह पुराने ढंग की कट्टरपंथिता में पड़ना पंत के लिए सम्भव नहीं था। लेकिन वैसे पंत की धर्म की ओर रुचि, कुछ बौद्धिक ढंग की इस समय ज्यादा थी। आर्यसमाज का उनके ऊपर कुछ असर हुआ था। मूर्तिपूजा की जगह वह योग को ज्यादा अच्छा समझते थे और तिलक का गीतारहस्य उनकी बाइबल थी।

पहाड़ से बाहर–1918 में पंत ने नवाँ दर्जा पास कर लिया था। एक भाई भी बनारस (कीन्स कॉलेजिएट स्कूल) में पढ़ रहे थे। जुलाई (1919) में पंत भी हिन्दू स्कूल में भर्ती होने के लिए चले आए, मगर जगह नहीं मिली, इसलिए उन्होंने जयनारायण स्कूल में नाम लिखा लिया। हिन्दू विश्वविद्यालय में कविता की प्रतियोगिता हुई। कागज पेंसिल ले दो घण्टे में कविता लिख देना था। पंत प्रतियोगिता में सफल रहे।

नवीन कविता–1918-19 का यह स्कूल का आखिरी साल है, जबकि अँधेरे में हाथ-पैर मारती पंत की कविता-सरस्वती ने एक नया रास्ता पाया। उन्होंने 'काला बादल' आदि के रूप में एक नई शैली का आविष्कार किया।

"काला तो यह बादल है ! कुमुदकला है जहाँ किलकती।
वह नभ जैसा निर्मल है, मैं वैसी ही उज्ज्वल हूँ माँ।।"

–पल्लविनी 37।

इससे पहले पंत ने कवि रवीन्द्र की कविताओं को पढ़ा था। सरोजिनी की कविताओं ने भी उन पर असर किया था। उन्होंने छन्द और भाषा को ज्यादा सजीव और सरस बनाने का प्रथम प्रयास किया। 'प्रिय-प्रवास' का स्टाइल उन्हें पसन्द था। और शब्दों के चुनाव में भी दूसरों की अपेक्षा उसमें ज्यादा परिष्कृत रुचि दिखलाई गई थी। पंत को करुण-रस सबसे ज्यादा प्रिय है। 'प्रिय-प्रवास' के राधारुदन को पढ़ते हुए वे अपने आँसुओं को बहाया करते थे। लेकिन तब भी उस समय तक हिन्दी-काव्य में जिस शैली और भाषा का प्रयोग हो रहा था, वह बेरंग-रूप का चटियल मैदान-सा मालूम होता था। 1919 में पंत ने मेट्रिक पास किया और दूसरे डिवीजन में बहुत ज्यादा नम्बरों से। अंग्रेजी और अंग्रेजी कविता की ओर उनकी कोई विशेष रुचि नहीं थी। हाँ बंगला साहित्य के लिए उन्होंने बनारस में बंगला भाषा पढ़ी। इतिहास की विशेष-विशेष घटनाओं को पद्यबद्ध करके रट लिया था।

पंत ने इस समय तक प्रसादजी के 'झरना' को पढ़ लिया था, लेकिन बनारस में रहते भी, अभी प्रसादजी से मिले नहीं थे। काशी की पूजा-पाखंड पंत को पसंद न थी। भक्तों के भगवान करीब-करीब लुप्त हो चुके थे। हाँ, बनारस के फूलों के गजरे उन्हें जरूर प्रिय मालूम होते थे। राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं थी।

कॉलेज (प्रयाग में)–अब (21 जुलाई 1921) को पंत म्योर सेन्ट्रल कॉलेज (प्रयाग) में दाखिल हो गए–अभी प्रयाग विश्वविद्यालय परीक्षक विद्यालयमात्र था। संस्कृत, इतिहास और तर्कशास्त्र उन्होंने अपने लिए विषय चुने थे। नवम्बर में होस्टल में कविसम्मेलन हुआ। पंत ने 'स्वप्न' कविता पढ़ी–

"बालक के कंपित अधरों पर,
किस अतीत स्मृति का मृदुहास ?
जग की इस अविरत निद्रा का,
करता नित रह-रह उपहास ?
उस स्वप्नों की स्वर्णसरित का,
सजनि कहाँ शुचि जन्मस्थान ?
मुस्कानों में उछल-उछल मृदु,
बहती वह किस ओर अजान ?"

–पल्लविनी 37

विद्वानों ने तरुण कवि के कवित्व की दाद दी, श्रोताओं ने बहुत पसंद किया। अब पंत नौसिखिये कवि नहीं एक लब्धप्रतिष्ठ कवि हो चुके थे। प्रोफेसर शिवाधार पांडे सबसे ज्यादा प्रभावित हुए। उन्होंने शेक्सपीयर ग्रन्थावली और लफकाडियो हर्न की पुस्तकें भेंट कीं। पंत का अब बहुत-सा समय साहित्य पढ़ने और कविता लिखने में जाता था। कीट्स और शेली की कविताएँ पंत बहुत पसन्द करते थे।

असहयोग–1921 आया। पंत एफ. ए. के आखिरी साल के विद्यार्थी थे। चारों ओर असहयोग की धूम थी। इसी समय महात्माजी प्रयाग पहुँचे। देवदत्त पंत ने अपने छोटे भाई को इस तूफानी समय में भी कविता और पुस्तकों में डूबे देख एक दिन कहा–"क्या कर रहे हो ? महात्माजी का दर्शन भी नहीं करने जाओगे ?" पंत महात्माजी का दर्शन करने आनन्द भवन गए। महात्माजी ने छात्रों को सम्बोधित करके कहा कि मैं चाहता हूँ कि तुम लोग कॉलेज छोड़ दो। छोड़ने के लिए स्वीकृति देते लोग हाथ उठाने लगे। पंत ने इसके बारे में कुछ भी नहीं सोचा था। राजनीति की गंध भी उन्हें नहीं छू पाई थी। लेकिन आ फँसे थे। दुर्भाग्य से महात्माजी के सामने पहिली पाँती में बैठे हुए थे। लाज-शरम के मारे हाथ उठाना ही पड़ा। पंत ने कॉलेज छोड़ दिया। देवीदत्त अपने जहाँ के तहाँ बने रहे। कहने पर उत्तर देते–"दोनों छोड़ देंगे, तो घरवाले नाराज होंगे।" पन्त कवि के रूप में प्रयाग में प्रसिद्ध भी हो चुके थे, इसलिए वह हाथ को उतने हलके दिल से नहीं गिरा सकते थे।

असहयोग करके एकाध सप्ताह पंत 'इन्डिपेन्डेन्ट' के साईक्लोस्टाईल पर छापने के लिए जाते रहे। इसके बाद उनके लिए फिर राजनीति दूसरे लोक की चीज हो गई। उनके असहयोग का असली मतलब हुआ,

विश्वविद्यालय की पढ़ाई से संन्यास ले कविता-सरस्वती की एकान्त आराधना।

कवि का पहिला युग–1920 में ही पंत ने होस्टल के एक कवि-सम्मेलन में अपनी कविता 'छाया' पढ़ी थी। सभापति हरिऔधजी ने खुश होकर माला उनके गले में डाल दी। असहयोग के बाद तीन-चार साल तक प्रो. शिवाधार पांडे के साथ पंत का घनिष्ठ संपर्क रहा। कालिदास आदि भारतीय कवियों और शेक्सपियर आदि के ग्रन्थों के पढ़ने में ही पांडेजी ने सहायता नहीं की, बल्कि वह सदा प्रोत्साहन देते रहते थे। सितम्बर 1922 में पंत ने 'उच्छ्वास' लिखा। और अजमेर में उसे छपाया। शिवाधार पांडे ने इसे नया युग कहा, कितने ही और विद्वानों ने हिन्दी में इसे एक नई चीज वतलाया। साहित्य-सम्मेलन पत्रिका में किसी ने इसका मजाक उड़ाया। 'सरस्वती'-संपादक वख्शीजी ने इसे पूरा शब्दाडंवर कहा। उसकी कुछ पंक्तियाँ थीं–

"–बालिका थी वह भी।
सरलपन ही था उसका मान,
निरालापन था आभूषन,
कान से मिले अजान नयन
सहज था सजा सजीला तन।
रँगीले गीले फूलों से,
अधखिले भावों से प्रमुदित,
बाल्य सरिता के कूलों से,
खेलती थी तरंग-सी नित।"

–पल्लविनी 174

दो साल और बीते। पंत राजनीति से बिल्कुल निर्लेप रहे। न राजनीति की पुस्तक पढ़ते न व्याख्यान सुनते। उनका सारा समय साहित्य के लिए था। अप्रैल 1922 में कायस्थ पाठशाला में कवि-सम्मेलन था। पंत ने अपनी कविता 'बादल' सुनाई–

"सुरपति के हम ही हैं अनुचर,
जगत प्राण के भी सहचर,
मेघदूत की सजल कल्पना,
चातक के चिर जीवनधर;
x x x
भूमि गर्भ में छिप विहंग-से,
फैला कोमल, रोमिल पंख,
हम असंख्य अस्फुट बीजों में,
सेते साँस, छुड़ा जड़ पंक;
विपुल कल्पना-से त्रिभुवन की,
विविध रूप धर, भर नभ अंक,
हम फिर क्रीड़ा कौतुक करते,
छा अनंत उर में निःशंक;
x x x
उमड़-उमड़ हम लहराते हैं,
वरसा उपल, तिमिर, घनघोर;
x x x
कभी हवा में महल वनाकर,
सेतु बाँध कर कभी अपार,

हम विलीन हो जाते सहसा,
विभव भूति ही से निःसार।
हम सागर के धवल हास हैं,
जल के धूम, गगन की धूल,
अनिल फेन, ऊषा के पल्लव,
वारि-वसन, वसुधा के मूल।।"

—पल्लविनी 35

'उच्छ्वास' पर विरुद्ध सम्मति देनेवाले वख्शीजी इसे सुनकर वहुत प्रसन्न हुए। आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव के साथ वह पंत के पास गए। वधाई दी। फिर कई कविताएँ सुनीं। वख्शीजी ने अव (1922) पंतजी की कविताओं को आग्रहपूर्वक छापना शुरू किया। इस समय पंत पर दुःखवाद और करुणा का जवरदस्त प्रभाव था। ठोस दुनिया उनकी आँखों से ओझल थी। सिर्फ मानस जगत् उनके सामने रहता था। घण्टों लेटे रहते। समझते यह पृथ्वी ठोस क्या है, यह तो हलके दवाव को ही वरदाश्त नहीं कर सकती।

'दुःख'-'दुःख'—दुःख के मारे पंत का हृदय विदीर्ण होना चाहता था। धर्म की भूलभूलैयों से वे गुजर चुके थे, इसलिए वह सांत्वना नहीं दे सकता था। पंत अव वेदान्त के चक्कर में आए। समझने लगे शायद यहाँ सांत्वना मिले। उपनिषद, रामकृष्ण, विवेकानन्द और रामतीर्थ के ग्रन्थों को बड़ी श्रद्धा से पढ़ने लगे। टाल्स्टाय के 'मेरा धर्म' और उसके अनन्त पाप के सिद्धान्त ने भी दिल को थोड़ी देर खींचा, लेकिन जहाँ वेदान्त सत्य-शिव-सुन्दर का ख्याल दिमाग में भरना चाहता था, वहाँ टाल्स्टाय सभी जगह पाप ही पाप दिखलाना चाहते थे। बुद्धि किसी निश्चय पर नहीं पहुँच रही थी। दिल में एक तरह का तूफान आया हुआ था। वावू भगवानदास के ग्रन्थों से कुछ मनोविज्ञान की तरफ रुचि हुई। फिर पश्चिमी लेखकों के ग्रंथ पढ़े। काण्ट वहुत पसन्द आया, उसने बुद्धि को कुछ कुण्ठित करने में काम दिया। हेगेल भी रुचिकर मालूम हुआ, लेकिन दोनों का द्वन्द्व जव सामने आया, तो दर्शन से मन कुछ उदासीन हो गया।

इसी समय (1924 में) पूरनचन्द्र जोशी से सम्वन्ध हुआ। वह एक दूसरी दृष्टि को सामने रखने लगा। लेकिन मन की अशान्ति कम नहीं होती थी। उस समय पूरन वहुत समझा भी नहीं सकता था, क्योंकि वह अभी कट्टर गांधीवादी थे ? हाँ, जव वह मार्क्सवादी हो गए, तो उनकी वातें जरूर नई मालूम होने लगीं। भौतिकवाद पर वातें होतीं, लेकिन पंत हमेशा परमार्थ मूल और परमार्थ सत्व, सनातन रहस्य ढूँढ़ने की कोशिश करते। वह हरएक बात को वैयक्तिक दृष्टि से देखते।

1926 में मझले भाई मर गए। उन्होंने वहुत भारी कारबार शुरू किया था। कारवार की देखभाल में उतना ख्याल नहीं था और ऊपर से अंधाधुंध खर्च। 92,000 रुपये का कर्ज छोड़कर मरे थे। पिता ने जायदाद बेचकर कर्ज को अदा किया, लेकिन अगले साल (1927 में) वह भी चल बसे। परिवार का सारा आर्थिक ढाँचा टूटकर गिर पड़ा। पहले पंत को पैसों की कभी कमी नहीं होती थी। अब एक ओर यह भीषण आर्थिक परिवर्तन और दूसरी तरफ दिमागी परेशानी। 1929 के आते-आते चिन्ता के बोझ ने पंत के स्वास्थ्य को चौपट कर दिया। उस समय एक फारसी के विद्वान् की सहायता से इण्डियन प्रेस के लिए वह उमर खैय्याम की रुबाइयों का अनुवाद कर रहे थे। दो बजे दिन की गर्मी में बाहर निकले। लू लग गई। 14-15 दिन बहुत कष्ट में रहे।

उस समय दिल्लीवाले डॉ. जोशी भरतपुर में रहते थे। वह सम्बन्धी भी लगते थे। पंत उनके पास पहुँचे। डा. जोशी ने परीक्षा की और पूर्ण विश्राम करने की सलाह दी। डा. जोशी ने यह भी कहा कि अगर आहार-विहार का ध्यान न रखोगे, तो तपेदिक को सर पर आया ही समझो। उन्होंने मांस खाने के लिए जोर दिया। पंत 14 साल से मांस छोड़े हुए थे। अब मांस खाना शुरू किया और तीन मास तक डा. जोशी ही के पास रहे। और उनका वजन 98 पौंड से 136 पौंड हो गया।

1930 के शुरू में पंत बिजनौर में चचेरी बहन के पास चले आए और अप्रैल तक वहीं रहे। यहीं उन्होंने

कुछ कहानियाँ लिखीं जो 'मधुवन' के नाम से प्रकाशित हुईं।

स्वास्थ्य के अच्छे होने के साथ पंत का दुःखवाद भी कम होने लगा और जल्दी ही वह पूर्ण आशावादी बन गए।

आशावाद–आशावादी पंत अल्मोड़ा में थे, जिस समय गांधीजी भी वहाँ आए। यहीं पंत की राजा कालाकांकर और कुँवर सुरेशसिंह से (1930 में) भेंट हुई। राजासाहब के साथ पंत धारूपुर चले गए। यहाँ राजासाहब का एक पुराना महल था। राजासाहब उस समय स्वयंसेवकों के संगठन में लगे हुए थे। पंत का निराशावाद यद्यपि घट गया था, मगर अब भी उनकी दुनिया ठोस नहीं थी–कल्पना किसी चीज को ठोस नहीं रहने देती। वह हरएक चीज को विकृत करके दिखलाती थी और जागते भी स्वप्न देखने-सा मालूम होता था। स्वयंसेवक उन्हें बिल्कुल नंगे और गन्दे, कुरूपतम दिखलाई पड़ते। हरएक गति उनके अणु-अणु को हिला देती। उनके पैर उखड़ते-से मालूम होते थे, और वे खेमे के बाँसों को पकड़कर खड़े हो जाते। उन्हें थूक और गन्दगी जहाँ-तहाँ पड़ी दिखलाई पड़ती, और वह उसे हटा देना चाहते। इतना जरूर वह समझने लगे थे, कि गन्दगियाँ हटाई जा सकती हैं। पूरनचन्द जोशी की बातें अब उनके मन में याद आने लगीं, और वे धीरे-धीरे कल्पना-जाल से मुक्त होने की कोशिश करने लगे। अब उन्होंने मार्क्सवाद की पुस्तकें पढ़नी शुरू कीं। शायद गाँवों में न गए होते, तो यह पढ़ने की रुचि न होती। इस समय उन्होंने जो कविताएँ लिखी थीं, उनमें 'गुंजन' एक है (फरवरी 1932)।

"वन-वन, उपवन–
छाया उन्मन-उन्मन गुंजन,
नव-वय के अलियों का गुंजन !
रुपहले, सुनहले, आम्र बौर,
नीले, पीले औ' ताम्र भौंर,
रे गन्ध-अन्ध हो ठौर-ठौर
उड़ पाँति-पाँति में चिर-उन्मन
करते मधु के वन में गुंजन।
बन के विटपों की डाल-डाल
कोमल कलियों से लाल-लाल,
फैली नव-मधु की रूप ज्वाल,
जल-जल प्राणों के अलि उन्मन
करते स्पन्दन, करते गुंजन।
अब फैला फूलों में विकास,
मुकुलों के उर में मदिर-वास,
अस्थिर सौरभ से मलय-श्वास,
जीवन-मधु-संचय को उन्मन
करते प्राणों के अलि गुंजन।"

–ज्योत्स्ना से–

पंत ने जीवन में एक नई आशा और उमंग पाई। तीन-चार साल तक वह मार्क्सवाद और रूसी लेखकों के ग्रन्थों को पढ़ते रहे। रहस्यवाद ने पूरी तौर से पिण्ड तो नहीं छोड़ा, लेकिन मार्क्सवाद ने अन्तस्थल तक अपना प्रभाव जरूर डाला। भौतिकवाद को कोरा यांत्रिक जड़वाद समझकर जो उन्हें कुछ विरक्ति-सी आती थी, वह मार्क्सवादी भौतिकवाद के 'गुणात्मक-परिवर्तन' से जाती रही।

युगान्त–अब पंत का जीवन एक नया जीवन था। कितने ही समय तक उन्होंने कलम पर अंकुश रखा। उनको डर था, कि कहीं पुरानी बातें उलटकर न आने लगें। 1934-35 में उन्होंने जो कविताएँ लिखीं, वह

'युगान्त' के नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं। फिर उनकी सरस्वती 'युगवाणी' के रूप में फूट निकली। इस समय की इसी नाम की कविता है–

"युग की वाणी,
हे विश्वमूर्ति, कल्याणी !
रूप रूप बन जायँ भाव स्वर,
चित्र-गीत झंकार मनोहर,
रक्तमांस बन जायँ निखिल
भावना, कल्पना, रानी !
युग की वाणी !
आत्मा ही बन जाय देह नव,
ज्ञान ज्योति ही विश्व-स्नेह नव,
हास, अश्रु, आशाऽकांक्षा
बन जायँ खाद्य, मधु, पानी !
युग की वाणी
स्वप्न वस्तु बन जाय सत्य नव,
स्वर्ग मानसी ही भौतिक भव
अन्तर जग ही बर्हिजगत
बन जावे, वीणापाणि, इ !
युग की वाणी।
सर्व मुक्ति हो मुक्ति तत्त्व अब,
सामूहिकता ही निजत्व अब,
बने विश्व-जीवन की स्वरलिपि
जन जन मर्म कहानी।
कवि की वाणी !

–युगवाणी 14

इस 'युग' के आरम्भ ही में पंत ने 'पुरान' को रास्ता खाली करने के लिए कहा था–

"द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र !
हे स्रस्त ध्वस्त ! हे शुष्क जीर्ण !
हिमताप पीत, मधुवात भीत,
तुम वीतराग, जड़ पुराचीन ! !
निष्प्राण विगत युग ! मृत विहंग !
X X X
च्युत अस्त-व्यस्त पंखों से तुम
झर झर अनंत में हो विलीन !"

–पल्लविनी 241

पुराने के ध्वंस से नवीन के निर्वाण का संदेश देते पंत की 'युगवाणी' कहती है–

"रिक्त हो रहीं आज डालियाँ,–डरो न किंचित्,
रक्तपूर्ण, मांसल होंगी फिर, जीवन रंजित।
जन्मशील है मरण, अमर मर-मरकर जीवन,
झरता नित प्राचीन, पल्लवित होता नूतन।

पतझर यह, मानव जीवन में आया पतझर,
आज युगों के वाद हो रहा नया युगान्तर।
बीत गए बहु हिम, वर्षातप, विभव पराभव,
जब जीवन में फिर वसंत आने को अभिनव।"

—युगवाणी 24

अपनी 'ग्राम्या' (1938-39) में नए जीवन नये संसार का चित्रण करते कवि लिखता है।

"जाति वर्ण की, श्रेणि वर्ग की, तोड़ भित्तियाँ दुर्धर।
युग-युग के बंदीगृह से मानवता निकली वाहर।"

—ग्राम्या 12

पंत ने निराला के युगप्रवर्त्तक कविशिल्प के लिए अपने उद्गार इस प्रकार प्रकट किए हैं—

"छंद बंध ध्रुव तोड़, फोड़कर पर्वत कारा
अचल रूढ़ियों की, कवि, तेरी कविता-धारा
मुक्त, अवाध, अमंद, रजत निर्झर-सी निःसृत,—
गलित, ललित आलोक-राशि, चिर अकलुष अविजित !
स्फटिक शिलाओं से तूने वाणी का मंदिर,
शिल्पि, वनाया,—ज्योति-कलश निज यश का धर चिर।"

—युगवाणी 92

1940 से पंत ने फिर हिमालय की गोद का आश्रय लिया है, वह अल्मोड़ा रहते हैं। जन-नृत्य और जन-संगीत का चिरतरुण कलाकार उदयशंकर, लोक संस्कृति और 'युगवाणी' के कलाकार को अपनी ओर खींचने की क्षमता रखता है। उदयशंकर और पंत दोनों ने जनता की शक्ति को समझा है। लेकिन जिस वातावरण में वह अब तक रहे हैं और अव भी हैं, उसमें वह शक्ति का उपयोग कर सकेंगे, इसमें भारी सन्देह है। पंत में तो और भी सन्देह है, क्योंकि रहस्यवाद का खोल तोड़कर अव भी वह अण्डे से वाहर नहीं आए हैं, इसीलिए आत्मा और पुरानी दुनिया के सामने आते ही उनकी मानसिक विश्लेषण शक्ति जवाव दे देती है। पन्त की कविताओं में ऐसे अनेक उदाहरण पाए जाते हैं, जिनमें वह इन भूलभूलैयों में पड़कर दिग्भ्रान्त हो जाते हैं और उनकी बुद्धि अँधेरे में हाथ-पैर मारती दीख पड़ती है। यह सव होते भी पंत का विकास रुका नहीं है। मकड़ी के जाले की तरह उनके मन ने एक अवास्तविक किन्तु मोहक दुनिया पैदा कर दी है। हम बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करेंगे; कि कब इस दुनिया से उनका पिण्ड छूटता है। आजकल पंत पाँच-छह नाटक लिख रहे हैं, जिनमें 'छाया' (पुरातन शव हमारे जीवन में), 'परिणीता' (भारी परतंत्रता), 'साधना' (वाहर निकलने के लिए आधुनिक नारी का संघर्ष), 'स्रष्टा' (कलाकार के जीवन का विद्रोह), और 'स्वप्न-भंग' (बुद्धिजीवी का जीवन) मुख्य हैं। पहाड़ी भाषा—जोकि उनकी मातृभाषा है—की ओर उनका ध्यान नहीं गया है। हाँ, पहाड़ी गीत की स्वर-माधुरी और भाषा की कोमलता उन्हें आकर्षित जरूर करती है। कत्यूरी राजाओं के युद्धगीत अब भी अल्मोड़ा के गाँवों में गाए जाते हैं, और वह भी उन्हें सरस लगते हैं। नाटक कला के महत्त्व को भी अब वे विचारों के प्रसार में बहुत उपयोगी समझते हैं।

पन्त की सवसे वड़ी देन हिन्दी-काव्य-साहित्य के लिए है, सुन्दर शब्द-विन्यास और मुक्त शैली।

42

महमूद*

प्रमुख तिथियाँ–1908 दिसम्वर 14 जन्म (आगरा में), 1913 शिक्षारंभ, 1913-19 अंग्रेज गर्वर्नेस् के हाथ में, 1919-20 एंग्लो-इंडियन स्कूल में, 1920-31 इंग्लैंड में शिक्षा; 1920-22 तैयार करने वाले स्कूल में, 1922-24 डलूविच् कॉलेज में, 1924-27 शेरवोर्न वोर्डिंग स्कूल (डोल्शेट्) में; 1926 जूनियर कैम्ब्रिज पास, 1927 भारत में गांधीवादी, 1927 अक्तूवर ऑक्सफोर्ड में, 1928 ऑक्सफोर्ड में प्रारम्भिक परीक्षा पास, 1929-30 ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय, 1929 मार्क्सवादी, 1928-29 दो वार यूरोप की सैर, 1930 जून वी. ए. (आक्सन), 1930 सितम्वर–1931 मार्च फ्रांस, फिलस्तीन, सीरिया, इराक, मिस्र, जर्मनी में, 1931 मार्च भारत में कराँची-कांग्रेस में, 1932 लखनऊ के मजूरों में, 1933-36 अमृतसर के कॉलेज में वाइस-प्रिंसिपल, 1934 अक्तूवर रशीदा से ब्याह, 1936 पार्टी-मेम्वर, वाइस प्रिंसिपली से इस्तीफा; 1936 दिसम्वर–1937 अप्रैल जवाहरलाल के प्राइवेट सेक्रेटरी, 1937 अप्रैल-अक्तूवर रशीदा के साथ यूरोप, 1937 अक्तूवर–1938 जनवरी जवाहरलाल के साथ; 1938 जनवरी-जुलाई वम्वई में, 1940 अगस्त 15–1942 मार्च 9 जेल में नजरवंद।

अवध के सूबेदार ने स्वतन्त्र हो अपनी एक स्वतन्त्र रियासत कायम की, उसी तरह मुगल शासन के पतन के दिनों में नवाब नजीवुद्दौला ने सारे रुहेलखंड पर अपनी हुकूमत कायम की, और अपने नाम से नजीवाबाद का शहर बसाया। नवाब भंभूखाँ इसी वंश के एक प्रतापी पुरुष थे। नवाव भम्भूखाँ के पुत्र जनरल अजीमुद्दीन, हमीदुजफर, महमूदुज्जफर के वयस्क होने (1857) से पहले ही नजीवाबाद की रियासत कम्पनी के हाथ में चली गई थी। सन् 57 में अपनी खोई रियासत को पाने के लिए महमूदुज्जफर ने वगावत का झंडा उठाया, लेकिन खानदान के दूसरे लोग राजभक्त वने रहे। जनरल अजीमुद्दीन रामपुर के नवाव की नाबालगी में उनके रीजंट रहे। घर के बच्चों को शिक्षा दिलाने का उन्हें बहुत शौक था। हमीदुज्जफर के पुत्र साहेवजादा सैयदुज्जफर (आयु 70 साल) पढ़कर डॉक्टर हुए, और पीछे लखनऊ के मेडिकल कॉलेज में अध्यापक रहे। डा. सैय्यदुज्जफर ने अपने मामू की पुत्री शौकतआरा वेगम (62 साल) से ब्याह किया, जिनकी दो सन्तानें पुत्र महमूद और पुत्री हमीदा हैं, और दोनों ही मार्क्सवादी। नवाव नजीबुद्दौला अपनी इन सन्तानों (हाजरा को भी शामिल कर लीजिए) के बारे में क्या सोच रहे होंगे ? वैसे डॉ. साहेबजादा सैयदुज्जफर ने भी अपने महमूद की शिक्षा-दीक्षा का जो इन्तिजाम किया था, उसमें महमूद के आज के जीवन के गन्ध की भी गुंजाइश नहीं थी, लेकिन, महमूद ने दुनिया को देखा, भारत की परतंत्रता को देखा, परतंत्र मनुष्य के अपमान को देखा, देश के गरीवों को देखा, अपने कलेजे में धधकती प्रचण्ड आग को देखा; फिर वह भूल गए कि पिता ने उन्हें किस जीवन के लिए तैयार किया था।

महमूद का जन्म 14 दिसम्बर 1908 को आगरा में हुआ था। उस समय पिता वहीं पर सरकारी डॉक्टर थे। पिता का स्वभाव बहुत नरम था। और बच्चे के साथ का बर्ताव इतना अच्छा था, कि महमूद पर उन्होंने सदा के लिए अपना प्रभाव छोड़ा। माँ महमूद पर अंकुश नहीं रख सकती थीं, वह भी मीठे स्वभाव की थीं।

वाल्य–महमूद की चार साल की उम्र (1912) में साहवजादा सैयदुज्जफर लखनऊ मेडिकल कॉलेज में चले आए। लखनऊ आने की उस समय की स्मृति साहेवजादा महमूदुज्जफर खान की सबसे पुरानी स्मृति है। बचपन में महमूद बहुत कमजोर थे। कितनी ही कड़ी बीमारियाँ और पेचिश से बहुत समय तक पीड़ित रहे, फिर शरीर पर मांस बढ़ा, मगर रगपट्ठे और पेंशी की शकल में नहीं; इसलिए उस समय महमूद बहुत कमजोर था। पैदा

* साथी महमूद पर एक और लेख 'जिनका मैं कृतज्ञ' में भी है।

होते ही पिता ने यूरोपियन नर्स को नियुक्त कर लिया। आखिरी नर्स महमूद के साथ आठ से ग्यारह साल की उम्र (1916-19) तक रही। वह एक अंग्रेज महिला थी। पिता चाहते थे कि जब अंग्रेजियत से ही आज आदमी ऊपर उठ सकता है, तो शुरू से ही बच्चे को उसके हाथ में क्यों न सौंप दिया जाय। महमूद को भारतीयता जवानी में मुड़कर शुरू से सीखनी पड़ी। उनका लालन-पालन बिल्कुल यूरोपियन ढंग पर हुआ था। हाँ, बूढ़ी दादी कभी-कभी सोहराब और रुस्तम की कहानियाँ सुनाती और कभी अपने रुहेला पुरखों, नजीबुद्दौला, भम्भूखाँ, अजीमुद्दीनखाँ की जीवन-घटनाएँ सुनातीं। महमूद ने हिन्दुस्तानी ग्रामीण कहानियों को अंग्रेजी अनुवादों में पढ़ा। वह आठ साल का था जब लखनऊ कांग्रेस हुई थी। डॉ. अन्सारी महमूद के घर पर ही ठहरे थे. लेकिन महमूद की दुनिया में अभी कांग्रेस का कोई स्थान न हो पाया। नर्स सिखलाती, अंग्रेज जो कुछ कर रहे हैं, वह हिन्दुस्तानियों के फायदे के लिए ही। उसका सारा ध्यान था महमूद को अंग्रेज बनाना।

शिक्षा–पाँच साल की उम्र (1913) में महमूद का अक्षरारंभ कराया गया। चचेरी बहनें उर्दू पढ़ती थीं। महमूद भी उनके साथ बैठ जाया करता था। सात साल तक महमूद घर ही पर अपनी अंग्रेज या एंग्लो-इंडियन गवर्नेस से पढ़ा करता था। उसकी पढ़ाई में अंग्रेजी, गणित, इतिहास के साथ थोड़ी फ्रेंच और लातिन भी थी। पाँच साल की उम्र में पिता ने जो कुछ पढ़ाया था, महमूद भूल गए और झूठ बोले, फिर थप्पड़ लगाई और कहा कि सदा सच बोलो। महमूद ने पिता के सामने प्रतिज्ञा की और उन्हें अगले जीवन में बहुत ही कम झूठ बोलने की जरूरत पड़ी। 1918 में इन्फ्लुयेंजा की महामारी के कारण बराबर लाशों पर लाशें निकलती रहती थीं। नौकर कहते, कि हमने नदी पर भूत देखे हैं। महमूद को भी थोड़ा-बहुत डर हो जाता था। मगर वह बुद्धि से उसे दूर करने की कोशिश करता।

गर्मियों में अक्सर परिवार लखनऊ से नैनीताल चला जाया करता था। 11 साल के हो जाने पर पिता ने समझा, कि घर पर अकेले शिक्षा-दीक्षा पाने की अपेक्षा बेहतर होगा कि लड़के को किसी यूरोपियन स्कूल में दाखिल कर दिया जाय। आखिर महमूद को इंग्लैंड जाने के लिए अपने को तैयार भी तो करना था। एक साल के लिए महमूद नैनीताल के पीटर्सफील्ड स्कूल में दाखिल कर दिया गया। इस स्कूल में ज्यादातर एंग्लो-इंडियन लड़के रहते थे। लड़के अधिकतर उजड्ड, दुःसंस्कृत थे। वहाँ न ठीक से पढ़ाई का इन्तिजाम था और न खाने ही का। अंग्रेज मुख्याध्यापिका में प्रबन्ध करने की कोई योग्यता न थी। वह अपने हिन्दुस्तानी नौकरों को कोड़े से मारा करती थी। महमूद उसके प्रति घृणा करने लगा। सभी लड़के डरते थे, मगर महमूद बिल्कुल नहीं डरता था। स्कूल की बात मालूम होने पर पिता ने महमूद को लखनऊ में तालुकदारों के कॉलविन स्कूल में भरती कर दिया। कॉलविन स्कूल के तीन महीने के जीवन में महमूद को अपनी उम्र के हिन्दुस्तानी लड़कों के संपर्क में आने का पहले-पहल मौका मिला। लेकिन ये लड़के थे। राजकुमार और नवाबजादे थे, जिनका सिर धड़ से बल्लियों ऊपर टँगा रहता, और जो यह जानते ही नहीं थे कि गंभीरता क्या है। पिता ने कभी मजहबी तालीम देने की ओर ध्यान नहीं दिया। यहाँ मौलवी साहब नमाज पढ़ाने के लिए गले पड़ गए थे, तो भी महमूद उससे बचने की कोशिश जरूर किया करते थे।

पिता ने लड़के को बारह वर्ष का देख सोचा, समय आ गया है, कि नकली अंग्रेजी वातावरण में पले लड़के को असली अंग्रेजी वातावरण में पहुँचाया जाय।

इंग्लैंड में–1920 में पिता महमूद को लेकर इंग्लैंड गए और डलविच (लन्दन) के प्रेपरेटरी स्कूल में दाखिल कर दिया। महमूद रहते थे एक परिवार में। पिता के दोस्त डॉ. क्राइडेन मिलर महमूद के संरक्षक थे। पहले-पहल महमूद को थोड़ा-सा घर याद आया, मगर पीछे इंग्लैंड उसे पसन्द आने लगा। दो साल तक प्रेपरेटरी स्कूल में पढ़ने के बाद महमूद डलविच् कॉलेज में चला गया। महमूद की साहित्य और ड्राइंग दोनों में बहुत रुचि थी। हिन्दुस्तान ही से उसके दिल में ख्याल था, कलाकार या इंजीनियर बनने का। जिस परिवार में वह अब रह रहा था, वह इंजीनियर का परिवार था। महमूद भी छोटी-छोटी मशीनों की चीजें खेल के तौर पर बनाता। परिवार गरीब मध्यम वर्ग का था। महायुद्ध के बाद जिन आर्थिक कठिनाइयों से इंग्लैंड का मध्यम वर्ग गुजर रहा था, उसका यह एक अच्छा उदाहरण था। महमूद अपना खर्चा चुकानेवाले मेहमान के तौर पर इस घर

में रहता था। परिवार को अपनी आमदनी से खर्च चलाना मुश्किल था, जिससे पति-पत्नी की चिन्ता बढ़ती, फिर स्वभाव में चिड़चिड़ापन बनता, और रोज झगड़ा-टंटा होने की नौबत आती। महमूद को यहीं पहले-पहल मालूम हुआ, कि गरीबी भी एक खास चीज है। परिवार बराबर खर्च कम करने की कोशिश करता था। रविवार को सिर्फ एक ही समय खाना खाया जाता। उसी परिवार में एक जापानी बैंकर का लड़का भी रहता था। उसके बर्ताव का महमूद के ऊपर इतना बुरा प्रभाव पड़ा, कि उसे जापानियों से घृणा हो गई। परिवार का एक लड़का महमूद का घनिष्ट दोस्त था। और यह उसके लिए बहुत सन्तोष की चीज थी। महमूद देखता था, कि एक ओर ये निम्न-मध्यम वर्ग के लोग गरीबी के मारे दूसरे गरीबों से कम चिन्तित और परेशान नहीं हैं, लेकिन साथ ही वह मजूरों के सामने अपने को देवता समझते, राजवंशियों और लाटों के सामने तो उनका बर्ताव और भी हास्यास्पद होता था, मानो सामन्त स्त्री-पुरुष उनके लिए साक्षात् भगवान थे। मध्यम वर्ग की स्त्रियाँ ऊँचे तबके में घूमने और किसी तरह धनी बन जाने की लालच में सब कुछ करने के लिए तैयार थीं।

पिता के दोस्त जनरल डिक्सन एक अंग्रेज मुसलमान थे। महमूद कभी-कभी उनके घर में जाता। जनरल डिक्सन महमूद को इतने अकृत्रिम भाव से मिलते, कि वह उनके घर में घर-सा अनुभव करता।

अब (1924) महमूद सोलह साल का हो चुका था। डॉक्टर क्राइडेन मिलर, डल्विच की पढ़ाई को असन्तोषजनक समझते थे, इसलिए महमूद को पश्चिमी इंग्लैंड के डोर्सेट जिले के शेरबोर्न बोर्डिंग स्कूल में दाखिल कर दिया। यहाँ का वायुमंडल महमूद को बहुत पसन्द आया। हेडमास्टर के घर में महमूद भी रहता और उनका व्यवहार बड़ा ही मित्रतापूर्ण होता। डल्विच् में कभी-कभी भारतीय विरोधी भाव भी लड़कों में देखा जाता था, रंग का ख्याल भी हो आता, मगर इस स्कूल में वह बात बिल्कुल नहीं थी। महमूद ने यहाँ सहपाठियों में बहुत-से दोस्त बनाए। सबसे खास बात यह थी, कि इस स्कूल में अध्यापकों और विद्यार्थियों में कोई अन्तर नहीं था।

महमूद अंग्रेजी साहित्य, फ्रेंच, लातिन, गणित, इतिहास और चित्रकला का अध्ययन करते थे। दो साल बाद (1926 में) उन्होंने यहीं से जूनियर कैम्ब्रिज परीक्षा पास की—वहाँ के जूनियर कैम्ब्रिज का मान भारत में होनेवाली परीक्षा से कुछ ऊँचा था।

महमूद चाहते थे, कि ऑक्सफोर्ड की छात्रवृत्ति प्राप्त करें। एक साल और वहीं रहकर यूरोपीय इतिहास का विशेष अध्ययन किया। स्कूल में उदार दलवाले अध्यापक ज्यादा थे, जिसमें महमूद पर भी उदारवाद का प्रभाव पड़ा। भारत के साम्प्रदायिक झगड़ों की खबरें महमूद भी पढ़ा करता था, और उसे साम्प्रदायिकता से बड़ी चिढ़ हो गई। वह भारत की निरक्षरता और निर्धनता को हटाने का पक्षपाती था, लेकिन उसके लिए उपाय उसे वही पसन्द आते थे, जिन्हें उदार दलवाले ठीक समझते। बोल्शेविकों को वह बहुत बुरा समझता था, शेरबोर्न के बुद्धिजीवियों की भी यही धारणा थी।

1926 में इंग्लैंड के मजूरों ने आम हड़ताल कर दी। मजूर नेताओं ने विश्वासघात किया, इसलिए थैलीशाह उसे असफल बनाने में सफल हुए, मगर इंग्लैंड के मजदूरों ने उन चन्द दिनों में अपनी शक्ति को दिखला दिया—सारे महल भूकम्प से हिलते जैसे मालूम होते थे। महमूद के सहपाठी हड़ताल-तोड़कों में थे—मजूरों ने रेलों, बसों, तथा जिन दूसरे कामों को छोड़ दिया था, उन्हें ये लोग चलाने की कोशिश करते थे। महमूद की सहानुभूति मजूरों की ओर थी। क्यों ? कह नहीं सकते। शायद उनके स्कूल का वातावरण और शिक्षा उन्हें उदारदलीय नीति के भीतर रखना चाहते थे, मगर उनकी स्वाभाविक बुद्धि वहाँ किसी चीज की कमी पा रही थी।

महमूद डल्विच् में कभी-कभी भारतीयों का निम्नप्राणी के तौर पर देखे जाने को बुरा मानते थे। यद्यपि डॉ. मिलर का व्यवहार अच्छा होता था, मगर उसमें हिन्दुस्तानियों के प्रति कुछ संरक्षक और आभार का ख्याल दिखाई पड़ता था। महमूद इसे पसन्द नहीं करता था। सारे उदारवाद के रहते भी अंग्रेज उदारों में वह साफ देखता था, कि अंग्रेज जितना न्याय का ढिंढोरा पीटते हैं, उसमें व्यवहार का कहीं नाम नहीं है। वह अपने उदाहरण को रखकर दिखलाना चाहते कि भारत भी ऐसे उदारवाद से सुधर सकता है, लेकिन महमूद का मन कहता कि इससे कुछ होने-हवाने को नहीं है।

एक बार भारत में—महमूद अब 19 साल के हो गए थे। विलायत गए सात साल बीत चुके थे। अब उन्हें विश्वविद्यालय में दाखिल होना था। पिता ने लिखा कि ऑक्सफोर्ड जाने से पहले घर देख-सुन जाओ। महमूद (1927 में) हिन्दुस्तान आए। बम्बई को अब उनकी बाल-आँखों ने नहीं बल्कि तरुण-आँखों ने देखा। उनके हृदय में एक प्रकार की भावुकता उछल आयी। इंग्लैंड के उदार वातावरण से वह सीधे रूढ़ि पन्थी रामपुर में पहुँचे। रामपुर का नवाब-वंश उनका सम्बन्धी होता था। लेकिन वहाँ के वातावरण में महमूद का दम-सा घुटता मालूम होता था। पुरानी दुनिया उन्हें अजीब-सी मालूम होती थी। पिता उस समय देहरादून में घर बनवा रहे थे। महमूद माँ से मिले। अपने बाद पैदा हुई बहन (हमीदा) को देखा। माता-पिता सभी पुत्र को देखकर प्रसन्न हुए। महमूद ने उनके प्रेम को अनुभव किया।

मन में उथल-पुथल—महमूद ने अपने छह मास को अधिकतर रामपुर, देहरादून और मसूरी में बिताया। मसूरी में बुद्धिजीवी मध्यम-वर्ग परिवार ज्यादा मिले, उन्हें वहाँ सर महम्मद शफी और तैय्यबजी के परिवार नजदीक से देखने को मिले। ये सभी मध्यम-वर्गीय परिवार यूरोप के फैशन को अंधाधुन्ध नकल करने में अपने को धन्य-धन्य समझते थे। महमूद इंग्लैंड के मध्यम-वर्गीय जीवन में डूबकर उसे भीतर से देख चुके थे। वह कितना खोखला है, उन्हें यह अच्छी तरह मालूम था, इसलिए उन्हें ये नक्कालची दया के पात्र जान पड़ते थे। महमूद के दिल में यूरोपीय जीवन के लिए कोई आकर्षण नहीं था. इस नकल को देखकर वह ऊब से गए, उनका मन विद्रोह करने लगा। चारों तरफ सिर्फ दिखावट और झूठ ही झूठ दिखलाई पड़ा। इसी समय उनका परिचय रेहाना तैय्यबजी से हुआ। रेहाना भी उस जीवन से असन्तुष्ट थीं—शायद उन्होंने अपने वर्ग की सफल तरुणी बनने में असफलता प्राप्त की थी। रेहाना के ऊपर सूफीवाद, रहस्यवाद, गांधीवाद का बहुत प्रभाव था; अथवा अपने भग्न मनोरथ दिल को चूर-चूर होने से बचाने के लिए उन्होंने इन वादों की शरण ली थी। रेहाना ने अपना नुसखा महमूद के सामने भी पेश किया, और दुनिया को माया बतलाने में काफी सफल कोशिश की। महमूद ने रेहाना के कहने पर गांधीजी की जीवनी पढ़ी, भगवद्गीता का अमृतपान किया। रेहाना ने ब्रह्मचर्य पर कई लेक्चर दिए। इस मायामय दुनिया में महमूद को सभी सम्भव मालूम हुआ। महमूद का एक लड़की से कुछ प्रेम हो चला था, मगर वह उसे परमार्थ-प्रेम (इश्के-हकीकी) का रूप देना चाहते थे। रेहाना ने गांधीवाद का इंजेक्शन इतना दे डाला था कि महमूद अपने को एक दूसरा ही आदमी पाते थे।

फिर इंग्लैंड में—अक्तूबर 1927 में महमूद अनासक्ति-योग में पूरे रँगे इंग्लैंड पहुँचे। तो भी साम्राज्यवादी, अकड़ और मिस मेयो के लेखों के कारण हुई घृणा को महमूद रोक नहीं सकते थे। हाँ, विद्या का मूल्य है, इसे वह स्वीकार करते थे, इसीलिए ऑक्सफोर्ड में रहकर अपनी पढ़ाई को खतम करना चाहते थे। अहिंसा पर उनका पूरा विश्वास था और अध्यात्मवाद पर भी। सिविल-सर्विस में जाने के लिए तैयार नहीं थे। और राजनीति भी उनके लिए नीरस थी। हाँ, अध्यात्म विद्या के प्रचार के लिए जीवन देना उन्हें अधिक पसन्द था।

1928 में ऑक्सफोर्ड की आरम्भिक परीक्षा के लिए महमूद ने यूरोपीय इतिहास लिया था। परीक्षा पास कर वह विश्वविद्यालय की पढ़ाई में लग गए। पाठ्य विषय थे। राजनीति, अर्थशास्त्र और दर्शन। रेहाना के इंजेक्शन का असर साल-भर तक बना रहा। इस समय वह बहुत एकान्तप्रिय थे और हिन्दुस्तानी छात्रों से भी बहुत कम मिला-जुला करते थे। कान्ट का विज्ञानवाद बहुत पसन्द आया। लेकिन जब ह्यूम के सन्देहवाद को पढ़ा, तो दिमाग किसी नतीजे पर पहुँचने में असमर्थ होने लगा, और सन्देहवाद का झूला ही अच्छा मालूम हुआ। 1929 में महमूद ने तीन मास बर्लिन में रहकर आइन्स्टाईन की एक शिष्या से भी कुछ दर्शन पढ़ा था। रेहाना, कान्ट, ह्यूम सबकी अजब-सी खिचड़ी पक रही थी। इसी समय उनका परिचय सज्जाद जहीर से हुआ। सज्जाद मजलिस (हिन्दुस्तानी छात्रों की सभा) में किसी बहस में भाग ले रहे थे। महमूद को यह तरुण कुछ आकर्षक मालूम हुआ, खासकर उसके तर्क में कुछ अनोखापन-सा दिखलाई पड़ा, जिसमें किसी तरह की पॉलिश नहीं थी। महमूद कहाँ रेहाना से ब्रह्मचर्य का पाठ पढ़ के गए थे और ज्ञान-ध्यान-अहिंसा के प्रति उनके दिल में भारी भक्ति थी और कहाँ सज्जाद का यह बेतकल्लुफी से शराब के प्यालों को टुनटुनाने में भी शामिल हो जाना, लड़कियों से मजाक भी करना। 'रेहाना' सारी ताकत लगाकर महमूद को तरुणों की इस चाण्डाल-चौकड़ी

से भगाने की कोशिश करती, मगर सज्जाद और उनके साथियों में भी आकर्षण था। महमूद मन से या बेमन से सज्जाद के साथ चले जाते थे–सज्जाद जेंटे भी थे, जब और लोग शराब पीते तो बेचारे महमूद रेहाना के नाम पर लेमन की बोतल खोलते।

नया जीवन नयी दृष्टि–इसी (1929) साल कांग्रेस का रास्ता और लक्ष्य, गांधी और नेहरू के तरीके की क्रान्ति पर बहस छिड़ी। यह बहस सवाल-जवाब के तौर पर लेखबद्ध हुई, जो पीछे ऑक्सफोर्ड से छपनेवाले 'भारत' में छाप भी दी गई। इस पत्र-व्यवहार ने (Two sides of the prism) इंग्लैण्ड के भारतीय विद्यार्थियों के ऊपर बहुत प्रभाव डाला। अब महमूद का नशा उतर रहा था। वह अपने पैरों को कुछ ठोस जमीन पर पाने लगे। हेगेल को उन्होंने हेगेल की दृष्टि से पढ़ा। 'भौतिकवाद का इतिहास', 'कम्युनिज्म का क, ख' के पढ़ने से बातें कुछ और साफ मालूम होने लगीं। अब वह 'मजलिस' में काम करने लगे, वहाँ बहस में भाग लेते। लन्दन से प्रगतिशील विचारवाले वक्ताओं को मजलिस में निमन्त्रित किया जाता, मेरठ के वन्दियों के मुकदमे के लिए चन्दा वसूल किया जाता; महमूद सबमें साथ थे। और बेलियोल कॉलेज तो सोशलिस्ट कॉलेज समझा जाता था। जहाँ तक भारतीय राजनीति का संबंध था अब वह सज्जाद से पूर्णतया सहमत थे, लेकिन समाजवाद अभी पूरी तरह साफ नहीं हो सका था। अभी भी इंग्लैंड की मजूर पार्टी पर महमूद को आस्था थी। विश्वव्यापी मन्दी ने जो बेकारी बढ़ाई थी, उससे इंग्लैंड के मजूरों में त्राहि-त्राहि मची हुई थी। 1929 के जाड़ों में हालत भयंकर हो गई। ऑक्सफोर्ड से वेल्स के कोयला-मजूरों को सहायता पहुँचाने के लिए एक मिशन गया। महमूद भी उसमें शामिल थे। मिशन बेकारों में खाना और कम्बल बाँटता था। यहाँ उन्हें अंग्रेज मजूरों को बहुत नजदीक से देखने का मौका मिला। अभी उनमें कम्युनिस्टों का प्रभाव नहीं हो पाया था, मगर तब भी वे इस सारी सहायता, पूँजीपतियों के सारे ढोंग को बहुत तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। पहले कारखानों और खानों से निकाल बाहर कर पथ का भिखारी बना देना और फिर भीख बाँट दयालु बनने का ढोंग करना। महमूद ने सोचा कि मजूर-आन्दोलन को एक स्वतंत्र राजनीतिक आन्दोलन बनाना चाहिए, सुधार से काम नहीं चलेगा। क्रान्ति ही एकमात्र औषधि है।

अगले साल महमूद ने मार्क्सवाद के अध्ययन में और समय लगाया। सकलतवाला, रस्ट, क्लीमेंटदत्त, टॉमी विण्ट्रींघम आदि मार्क्सवादी वक्ताओं और विचारकों से महमूद को बहुत कुछ सीखने का मौका मिला और वह मार्क्सवाद की क्लासों में भी शामिल होते थे। 1929 में दूसरी बार जब महमूद जर्मनी गए तो उसी समय उन्हें पता लगा कि भारत में भी पार्टी कायम हो चुकी है। महमूद ने यूरोप के दूसरे देशों को भी देखा, लेकिन कुछ दिक्कतों के कारण इच्छा रहते भी रूस नहीं जा सके।

जून (1930) में महमूद ने ऑक्सफोर्ड के बी. ए. (ऑनर्स) को अच्छे नम्बरों से दूसरे दर्जे में पास किया। यदि सारे दो साल राजनीतिक कामों में व्यस्त नहीं रहे होते, तो फर्स्ट क्लास हो जाते। ऑक्सफोर्ड के एम. ए. और बी. ए. में अंतर सिर्फ 12 पौंड (प्रायः 150 रु.) का है।

भारत की ओर–सितम्बर में महमूद भारत के लिए रवाना हुए। फ्रांस होते बेरूत आए। पिता अपनी मोटर के साथ वहाँ पहुँचे हुए थे। फिर मोटर ही से फिलस्तीन, सीरिया और इराक की सैर की। पिता को कुछ नहीं मालूम था कि किस तरह काहिरा हो या बगदाद, दमिश्क हो या बेरूत–महमूद सभी जगह अपने जैसों को ढूँढ़ रहे हैं। पिता अपने साथ अपनी भांजी जोहरा को भी लाए थे और उनकी बड़ी इच्छा थी कि महमूद जोहरा से शादी कर ले। महमूद का ध्यान इस ओर नहीं था। रेहाना ने एक तरह का अनासक्तियोग पढ़ाया था और कम्युनिज्म ने भी एक तरह का। दो महीने की यात्रा में महमूद ने फ्रेंच साम्राज्यवाद और अरब-यहूदी समस्या को नजदीक से देखा। मिस्र पहुँचकर महमूद जोहरा को जर्मनी छोड़ने चले गए। जोहरा जर्मनी में नृत्यकला सीखने गई थी।

भारत में–1931 के मार्च में महमूद बम्बई में उतरे। उसी समय कराँची में कांग्रेस हो रही थी। महमूद सीधे कराँची गए। पिता के सामने जिस समय महमूद ने कहा था कि मैं कम्युनिस्ट हूँ और राजनीतिक काम करना चाहता हूँ, तो वह घबरा गए थे। मगर महमूद तो अपने लिए रास्ता ठीक कर चुके थे। कराँची कांग्रेस

में उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन का एक साकार रूप दिखलाई पड़ा जिससे उनका उत्साह और बढ़ा। यहाँ वह जवाहरलाल नेहरू और दूसरे कांग्रेसी नेताओं से मिले।

उन्हें मालूम हुआ, कि बुआ की लड़की हाजरा लखनऊ में है तो वह लखनऊ पहुँचे, फिर देहरादून। माँ ने अपने एकलौते लड़के को धोती और कुरते में देखा। उनके दिल को भारी धक्का लगा। नवाबों के बच्चे और इस्लाम के झंडा-बरदार भी इस तरह पागल हो जायेंगे, शौकतआरा बेगम को यह उम्मीद न थी। वह बहुत रोईं। महमूद बेकार बैठे थे। बैठे-बैठे आलोचना करते रहना उनका काम था। हाजरा महमूद की बातों को पहले मजाक में उड़ा देना चाहतीं, मगर धीरे-धीरे वह समझने लगीं, कि महमूद की बातों में बहुत गंभीरता है, और उससे भी ज्यादा गंभीर है वह दिल, जिससे ये बातें निकल रही हैं।

1932 में महमूद कलकत्ता गए। हलीम और दूसरे साथियों से मिले। वह चाहते थे काम करना। परिवार से मुक्त होने के लिए वह तैयार थे। लेकिन कलकत्ता के साथियों ने जो उत्तर दिया, उससे महमूद बहुत हताश हुए। सज्जाद जहीर से मिले। रेहाना के भूत से बचानेवाले सज्जाद ने फिर महमूद को उत्साहित किया। वह लखनऊ में चले आए और मजूरों में काम करने लगे। 1933 में वहाँ कमकर पार्टी बनाई।

महमूद और उनके साथियों ने देखा कि काम में रुपए की जरूरत होती है। मार्क्सवादी पार्टी को अमीरों की थैली से तो आशा हो नहीं सकती, आखिर अपने ही ऊपर प्रहार करनेवाले हाथों को थैली कैसे सहायता दे सकती है। महमूद अमृतसर के एम. ओ. कॉलेज में वाइस-प्रिन्सिपल बन गए। इस वक्त वह प्रगतिशील साहित्य का भी काम करते थे।

1934 के अक्तूबर में महमूद और डॉ. रशीदजहाँ की शादी हुई। रशीदा अपनी लोह-लेखनी और स्पष्टवादिता के लिए उर्दू साहित्य में काफी बदनाम हैं। महमूद को रशीदा का परिचय 'अंगारे' में छपे लेखों से प्राप्त हुआ था। यह शादी भी वैसे होती, तो घर में जरूर खलबली मचती–कहाँ महमूद नवाब घराने के खानदानी मुसलमान और कहाँ रशीदा कश्मीरी पण्डित से मुसलमान बने बाप की लड़की। मगर जब माँ-बाप ने महमूद के बड़े 'पागलपन' को देख लिया था, तो यह तो मामूली बात थी।

1936 में महमूद लखनऊ कांग्रेस में आए। उसी साल वह पार्टी के बाकायदा मेम्बर भी हो गए। अब उन्होंने वाइस-प्रिन्सिपली से इस्तीफा दे दिया और दिसम्बर 1936 में पं. जवाहरलाल के सेक्रेटरी बन गए। पंडितजी के साथ एसेम्बली निर्वाचन के दिनों में महमूद भी युक्त-प्रान्त, महाराष्ट्र, पंजाब आदि में घूमे, कहीं रेल से गए, कहीं मोटर से, और कहीं हवाई जहाज से। फैजपुर कांग्रेस में भी वह पंडितजी के साथ थे। इसी समय रशीदा का स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया और उसे लेकर अप्रैल में (1937) महमूद यूरोप के लिए रवाना हुए। आस्ट्रिया, स्विट्जरलैंड, इताली और इंग्लैंड में छह महीने बिताकर अक्तूबर में भारत लौटे और फिर पं. जवाहरलाल के साथ जनवरी (1938) तक रहे। पार्टी ने उन्हें बम्बई बुला लिया। बम्बई में आठ महीना काम करने के बाद वह बहुत बीमार पड़ गए। कितने ही दिनों देहरादून और कलकत्ता में दवा कराने के बाद उन्होंने देहरादून में पार्टी का काम शुरू किया। फैजपुर, हरीपुर, त्रिपुरी की कांग्रेसों में उन्होंने भाग लिया। कौमी सेवा-दल के प्रान्तीय बोर्ड के वह मेम्बर रहे।

द्वितीय महायुद्ध शुरू हुआ। 1940 में पहुँचते-पहुँचते सरकार की नजर महमूद पर भी पड़ी और 15 अगस्त 1940 को वह पकड़ लिए गए। देहरादून, फतेहगढ़ की जेलों में रहते नवम्बर में वह देवली पहुँचे। देवली के जीवन. वहाँ के संघर्ष में उन्होंने भाग लिया, फिर बरेली जेल भेज दिए गए जहाँ से 9 मार्च 1942 को वह छूटे।

इस साल के चार मासों तक महमूद युक्तप्रान्तीय पार्टी के सेक्रेटरी रहे और उनके समय पार्टी ने बहुत तरक्की की। महमूद आजकल लखनऊ में पार्टी के नेता हैं, और अपना सारा समय उसी के काम में खर्च करते हैं।

मेरे असहयोग के साथी

1
मथुरा बाबू

असहयोग आरम्भ होते समय मैं कुर्ग के पहाड़ों में था। मन चंचल हो गया, पर अभी-अभी जिम्मेवारी वहाँ ली थी, इसलिए जून तक वहीं रहना पड़ा। चलते समय एक पत्र जिला कांग्रेस कमेटी के कार्यालय में छपरा भेज दिया, और स्वयं जुलाई के आरम्भ में वहाँ पहुँच सका। मथुरा बाबू आफिस के इन्चार्ज थे। उनके हाथ में मेरा पोस्टकार्ड पड़ा। नाम और शायद चिट्ठी में लिखे शब्दों से उन्हें मालूम हो गया कि चिट्ठी हमारे जिले के ही एक बैरागी साधु की है, जो यहाँ राजनीति में कार्य करने के लिए आ रहा है। सचमुच आने की सूचना बड़े आदमी दिया करते हैं, और एटिकेट के अनुसार मुझे यह धृष्टता नहीं करनी चाहिए थी। पर, मैंने सिर्फ सूचना-भर दी थी, इसलिए इसमें दोष नहीं समझता था। मथुरा बाबू ने अपने सहयोगी पं. गोरखनाथ त्रिवेदी को चिट्ठी दिखलाकर कहा–"देखो तो, इस साधु का अहंकार। आने की सूचना दे रहा है।" उनके मन में ख्याल था, आने की सूचना स्वागत या कम से कम स्टेशन पर आ के मिलने के लिए दी जाती है। मैंने न आने की तारीख लिखी थी, न ट्रेन के बारे में ही, इसलिए यह आशंका निर्मूल थी।

इन भावों के साथ मथुरा बाबू और मेरा पहले-पहले अदृष्ट परिचय हुआ। आखिर एक दिन मैं घूमते-घामते टेढ़े-मेढ़े रास्तों से छपरा कांग्रेस आफिस में पहुँच गया। दक्षिण में स्वदेशी वस्त्र ही तक मैंने रक्खा था, पर छपरा पहुँचने से पहले मैं कौंच गया, जहाँ शुद्ध खादी मिल गई, और उसका अँचला–साधुओं की धोती–मेरे बदन पर था। पहले ही निश्चय कर लिया था कि मुझे जिले से नहीं, गाँव से काम शुरू करना है। मथुरा बाबू को शायद यह देखकर कुछ विचारों में परिवर्तन करना पड़ा था। चिट्ठी से उनको वैसे विचार क्यों पैदा हुए? बैरागी साधुओं से उनका घनिष्ट सम्बन्ध था, और वह उनसे दीक्षित भी थे, इसलिए साधुओं के प्रति उनके हृदय में सम्मान नहीं था, यह बात नहीं थी। पर, वह देख चुके थे, कि बैरागी साधुओं में भाव-भक्ति भले ही भरपूर हो, किन्तु विद्या से उनका छत्तीस का सम्बन्ध होता है। उन्होंने बैरागियों के सखी-सम्प्रदाय में मन्त्र दीक्षा ली थी। साधुओं को गृहस्थ नाम बदलने की आवश्यकता होती है, उसी समय बैरागी सखी-गुरु अपने चेलों के नाम के साथ शरण लगा देते हैं–वैदेहीशरण, रघुवंशशरण आदि। गृहस्थों के लिए यह नियम नहीं है, पर सखी-सम्प्रदाय में दीक्षित माता-पिता अपने गुरुओं का अनुसरण करना आवश्यक समझते हैं। इसीलिए मैथिलीशरण, सियारामशरण, जानकीशरण, सीताशरण आदि नाम गृहस्थों में देखे जाते हैं, शरण गोया सखी-सम्प्रदाय वालों का ठप्पा है। इसके अपवाद रामशरण जैसे कुछ पुराने नाम हैं। सखी-सम्प्रदाय में सखी-रूप से भगवान् की भक्ति करना धर्म समझा जाता है। उनके विचारों के अनुसार पुरुष एक ही परमात्मा है, दूसरे यदि पुरुष होने का अहंकार करें, तो वह निरी अहंमन्यता और पथभ्रष्ट होना है। नैष्ठिक सखी-साधु जहाँ तक होता है, स्त्री रूप में रहना चाहते हैं। मनोवैज्ञानिक असर और कुछ प्रयत्न भी सहायक होता है, और धीरे-धीरे उनकी चाल-ढाल स्त्रियों जैसी हो जाती है। कुछ-कुछ की तो बातों में भी वही कोमलता और वही लिंग-परिवर्तन देखने में आता है। यहाँ तक कि कितने ही अनन्य भक्त मासिक धर्म का भी अभिनय करते हैं। बिहार के कुछ

जिलों के शिक्षितों में इस सम्प्रदाय का प्रचार अधिक बढ़ा था, क्योंकि विहार के एक भूतपूर्व शिक्षा-निरीक्षक बाबू भगवानप्रसाद इस सम्प्रदाय में दीक्षित हो रूपकला के नाम से राम की रमणी के रूप में परिणत हो गये थे। उनकी तपस्या, निष्ठा और त्याग का प्रभाव दूसरों के ऊपर भी पड़ा था। उनमें से ही बावू मथुराप्रसाद भी थे, वे भी कुछ समय तक स्कूलों के सब-डिप्टी इन्सपेक्टर रह चुके थे। वह सखी-सम्प्रदाय बालों के अयोध्या के एक गढ़ हनुमत-निवास के सत्संगों में अनेक बार शामिल हुए थे।

एकमा थाना के परसा गाँव से मेरा घनिष्ट सम्बन्ध था। मैं वहीं के बैरागी मठ में चेला हुआ था। इसीलिए मैंने निश्चय किया था, कि वहीं कार्य करूँगा। नेता बनने की मेरी बिल्कुल इच्छा नहीं थी; हाँ, कार्य कुछ अधिक स्थिरता के साथ करना चाहता था। आफिस में त्रिवेदीजी, मथुरा बावू और कुछ दूसरे कार्यकर्ताओं से परिचय हुआ। मथुरा बाबू वकालत से असहयोग करके देश के काम में लगे थे, और त्रिवेदीजी वकालत पढ़ना छोड़कर। मैंने वहाँ जिले का नक्शा देखा। जिस एकमा थाने में मुझे काम करना था, उसके गाँवों और उनकी स्थिति के बारे में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक था। इसलिए आने के बाद जरा ही देर बाद मैंने नक्शे को उठाकर उसमें से एकमा थाने को ट्रेस करना शुरू कर दिया। त्रिवेदीजी को यह बात कुछ आश्चर्यकर मालूम हुई, क्योंकि वह अच्छे शिक्षित कार्यकर्ताओं में भी इस दृष्टि को नहीं देखते थे। उन्होंने अपने साथी से कहा भी—"मथुरा बाबू, उस दिन इस साधु के बारे में आप वैसा कह रहे थे, वह तो कुछ दूसरे ही तरह का आदमी मालूम होता है। कितना मैथोडिकल है ?" वस्तुतः मैथोडिकल के होने का सवाल नहीं था। मैं घुमक्कड़ था। दूसरी बार सारे भारत की यात्रा करके लौटा था। घुमक्कड़ को भूगोल और नक्शे का महत्त्व अच्छी तरह मालूम होता है, इसीलिए जिस तरह यात्रा के लिए मैं उन्हें बहुत सहायक मानता था, वैसे ही अब गाँवों में काम करने के लिए भी नक्शे के महत्त्व को समझता था। इसीलिए मैंने उस दिन नक्शा ट्रेस किया। मथुरा बाबू पर भी कुछ प्रभाव पड़ा। शायद जिला कार्यालय को ही केन्द्र बनाकर काम करने के लिए किसी ने आग्रह भी किया, पर मैं तो गाँव में जाने के लिए दृढ़ था। मथुरा वावू ने आग्रहपूर्वक मेरे लिए एक परिचय-पत्र एकमा थाना कांग्रेस कमेटी के मन्त्री के नाम लिख दिया। शिष्टाचार के ख्याल से ही मैंने उसे लेना स्वीकार किया, और उसका उपयोग इतना ही किया, कि एकमा स्टेशन में उतरने पर किसी आदमी के हाथ उस पत्र को स्वराज्य आश्रम में भेजवा दिया और स्वयं सीधा परसा मठ चला गया।

उसके बाद तो मथुरा बाबू का सम्बन्ध बहुत घनिष्ट हो गया। वह सर्वमित्र थे। किसी से बिगाड़ करना उनके स्वभाव में नहीं था, और न किसी की चुगली करते ही मैंने कभी देखा। बोली बड़ी मीठी थी, नम्रता तो उनमें कूट-कूट कर भरी थी। उनका यह स्वभाव किसी-किसी को पसन्द भी नहीं था, सर्वमित्र होने का यह फल अक्सर देखा जाता है। दो प्रतिद्वन्द्वियों में जो एक समान मित्र भाव रखना चाहता है, उसकी स्थिति ऐसी ही होती है। कोई अगर उनसे बिगड़ता, तो अनुनय-विनय, क्षमा-प्रार्थना सब करने के लिए तैयार रहते। कितने ही उनके इस स्वभाव में हलकापन देखते थे। पर, मैं उनके गुणों को अच्छी तरह नजदीक से रह कर जानता था और उसकी कदर करता था। कभी मजाक की मुझे भी सूझ जाती थी। राजेन्द्र बाबू की बड़ी बहिन अत्यन्त सीधी-सादी महिला हैं। अपने भाई को तो वह अब भी वच्चा समझ कर अपने पुराने वात्सल्य भाव को ही प्रदर्शन करती हैं। जब बावू अनेक बार जेल जा रहा हो, तो बहिन को जेल से क्या झिझक हो सकती थी ? एक बार कांग्रेस की ओर से कौंसिल में कुछ महिलाएँ भी भेजी गईं। बहिन ने भी आग्रह किया, कि मुझे भी भेज दो। लेकिन, बेचारी नहीं भेजी गईं। एक दिन बैठे-बैठे मैंने छेड़ दिया—"आपको कौंसिल में न जाने देने के कारण मथुरा बाबू हैं। इन्होंने ही भाँजी मार दी : 'ई जायके का करी।' " फिर क्या था, उबल पड़ीं—"ई मथुरवा हमार सतुरू बा।" मैंने कहा—"और मुँह पर कितनी मीठी-मीठी बात बोलते हैं।" मथुरा बाबू बड़ी चिरौरी-मिन्ती करने लगे—"बाबा, ऐसा मत कहें, नहीं तो मेरी बड़ी मुश्किल हो जायगी।"

मथुरा बावू कई सालों तक जिले में ही कांग्रेस का काम करते रहे। पीछे राजेन्द्र बाबू के साथ रहे, और छाया की तरह। वकालत से असहयोग करके आने के बाद वह फिर उसमें नहीं लौटे। इसी तरह अपना सारा जीवन बिता दिया।

1921 ई. के अन्त में सविनय अवज्ञा की बड़े जोर-शोर से तैयारी हो रही थी। मैंने धीरे-धीरे एकमा थाने को लेते सिसवन और रघुनाथपुर थाने में भी कांग्रेस को संगठित किया। जब तक चार सौ-पाँच सौ वर्दीधारी स्वयं-सेवक तैयार न हों, तव तक मैं उसे अपूर्ण समझता था। सिसवन में तरुण गिरीश तिवारी ने स्वयं-सेवक संगठित किये, रघुनाथपुर में वासुदेवसिंह ने। रघुनाथपुर के मुरारपट्टी में रामरज में रँगे खद्दर का कुर्ता, जाँघिया, झोले, टोपीवाले लाठी लिये चार सौ स्वयं-सेवक एकत्रित हुए। जनता तो हजारों थी। दर्शक के ऊपर उसका प्रभाव तो पड़ना ही था। मैं छपरा जिले में हमेशा वहाँ की बोली—भोजपुरी—में ही भाषण देता था। सोचता था, हिन्दी में बोलने में आधा-तिहाई ही लोगों के पल्ले पड़ता है, फिर क्यों न उस भाषा का सहारा लिया जाये, जिसमें सोलहों आना उनके पल्ले पड़े। मथुरा बाबू ने उसके प्रभाव को देखा, तो वह भी भोजपुरी में बोलने लगे। पर, वकील थे, वकीलों की भाषा का प्रभाव हुए बिना नहीं रह सकता था, और वह भोजपुरी में उर्दू के शब्द भी डालते जा रहे थे। इससे यह तो मालूम ही होगा, कि वह जनता के समीप रहनेवाले आदमी थे।

1927-28 ई. में मैं लंका में था। मद्रास-कांग्रेस के बाद राजेन्द्र बाबू और बिहार के दूसरे कितने ही कांग्रेसी मित्र इतना पास आकर लंका देख लेना चाहते थे। उनके साथ मथुरा बाबू भी लंका पहुँचे, और मुख्य-मुख्य स्थानों के दिखलाने का काम मुझे करना पड़ा। मैं अब राजनीति में क्रियात्मक भाग लेना छोड़कर शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन और घुमक्कड़ी में लगा था। इसके वाद फिर साथ रहने का उतना अवसर नहीं रहा। पर, जब-जब मिलता वह उसी स्नेह से मिलते। मिलना भी कभी-कभी वर्षों बाद होता। इसी बीच एक समय मालूम हुआ, कि मथुरा बाबू अब हमारे बीच नहीं रहे। स्वतन्त्रता के यज्ञ में उन्होंने अपने बहुमूल्य जीवन की आहुति दी थी, पर देश को स्वतन्त्र देखे बिना वह चले गये। आज यदि वह जीवित होते, तो देश को ही आजाद न देखते, बलिक राष्ट्रपति-भवन में वह राजेन्द्र बाबू के साथ रहते सारे देश को देखते।

मथुरा बाबू का जन्म संवत् 1937 (सन् 1880 ई.) 22 श्रावण को तेलछा गाँव में हुआ था। उनके पिता का नाम बाबू वेणीप्रसाद था।

2
पंडित नगनारायण तिवारी[1]

एकमा में कांग्रेस का काम करने के लिए 1922 ई. में पहुँचते ही थाने के जिन कांग्रेस कर्मियों से परसा में परिचय हुआ, उनमें पं. नगनारायण तिवारी भी थे। देखने में उनकी आँखें अच्छी मालूम होती थीं, पर कितने ही वर्षों से वह अन्धे हो गये थे। वोलने-चालने में बहुत शिक्षित और संस्कृत मालूम होते थे। आज से तीन ही चार वर्ष पहले मैंने अंग्रेजी की एक कीमती किताव पढ़ते समय देखा, कि इस शताब्दी के आरम्भ में पं. नगनारायण तिवारी दार्जिलिंग के एक बड़ी मारवाड़ी फर्म (जेठमल भोजराज) के योग्य मैनेजर थे। उनसे बातें होती थीं और दार्जिलिंग या सिक्किम में अपने काम की कुछ बातें भी बतलाते थे, लेकिन आत्म-विज्ञापन की प्रवृत्ति न होने के कारण विवरण के साथ उन्हें नहीं कह सके थे। इसीलिए तिवारीजी की पूरी योग्यता का मुझे पता उनके जीवन में नहीं हुआ। यह जरूर जानता था, कि वह अंग्रेजी जानते हैं। बड़े अच्छे वक्ता हैं। मेरी तरह वह भी छपरा में अपना भाषण सदा भोजपुरी में देते थे। भोजपुरी राष्ट्रीय गीतों को वह बड़े अच्छे लय से गाते थे, जिनमें से कुछ की रचना उन्होंने स्वयं की थी। स्त्रियों में राष्ट्रीय भावना और खद्दर के साथ प्रेम पैदा करने के लिए उनके भाषण बड़े प्रभावशाली होते। धुन के इतने पक्के, कि न रात को रात गिनते,

1. तिवारीजी पर एक लेख 'अतीत से वर्तमान' में भी है।

न दिन को दिन। आँखों से मजबूर थे, इसलिए कोई हाथ पकड़ के ले चलनेवाला चाहिए था। उनका लड़का या भतीजा कोई न कोई उनके साथ रहता। हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासों में एक 'मैला आँचल'–जो अभी दो ही तीन वर्ष पहले प्रकाशित हुआ है–में तिवारीजी का उल्लेख गीत की उन्हीं पंक्तियों के साथ देखकर मुझे ख्याल आया, शायद पं. नगनारायण तिवारी पूर्णिया जिले में भी कभी प्रचार करने गये थे।

घर की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। छोटा भाई घर की खेती सँभालने के लिए पर्याप्त था। वह कोई उतनी ज्यादा थी भी नहीं। तिवारीजी को जो नौकरी मिली थी, उसके फलस्वरूप अपने नये मकान को भी पूरा नहीं बना सके थे, कि आँखों ने जवाब दे दिया, जिसके साथ काम से भी जवाब मिल गया। जब घर की हालत बहुत दयनीय देखते, तो तिवारीजी दस-पाँच दिन के लिए दार्जिलिंग चले जाते, और वहाँ से सौ-पचास रुपये की सहायता मिल जाती। शायद ऐसी ही किसी यात्रा में वह पूर्णिया में उतरे हों, और 'रेणु' ने उनके मुँह से भोजपुरी गीत की उस पाँती को सुना हो।

मेरे लिए तो तिवारीजी बहुत ही प्रिय थे। उनके घर पर पहुँच जाने से उनको वहुत प्रसन्नता होती। इसलिए रसूलपुर के रास्ते कहीं जाते समय मैं उनके यहाँ जरूर जाता। एकमाही की कांग्रेसी सभाओं में नहीं, बल्कि सिसवन और रघुनाथपुर के थानों में भी कितनी ही बार वह मेरे साथ रहते थे। एक बार 1921 ई. की कार्तिक सुदी छठ के पर्व पर रघुनाथपुर थाने के किसी गाँव में हम लोग रात को ठहरे थे। पूर्वी भोजपुरी, मगही और मैथिली क्षेत्र में स्त्रियाँ छठ की पूजा बड़े धूमधाम से मनाती हैं। रात-भर नदी या किसी तालाब के किनारे गीली मिट्टी के स्तूप में चारों ओर दीये बालकर बैठी सूर्य भगवान् और षष्टी देवी के गीत गाते जागती रहती हैं। सबेरे सूर्योदय के समय अर्घ देकर घर लौटती हैं। गाँव की सारी स्त्रियाँ उस दिन एक पोखरे पर जमा हुई थीं। तिवारीजी भला ऐसे अवसर से कैसे चूकते ? वह वहाँ पहुँचे, और उन्होंने भोजपुरी में स्वराज्य और खद्दर पर गीत गाये, बीच-बीच में भाषण भी दिये।

पहले झोंक में उन्हें जेल जाने का मौका नहीं मिला था। पर, उसके बाद जब-जब भी कांग्रेसियों की गिरफ़्तारी होती, तिवारीजी का नम्वर सबसे पहला रहता। उनके व्याख्यानों का सचमुच ही इतना प्रभाव होता कि पुलिस को सबसे पहले उनको बड़े घर में ले जाना पड़ता। आये-गये अफसर को उनके घर को दिखलाकर बतलाया जाता, यह कांग्रेस के कलक्टर का घर है। तिवारीजी अपनी आन पर सदा डटे रहे, और देश के लिए सब तरह की साँसत सहने के लिए हँसी-खुशी से तैयार रहते थे। अफसोस है, देश के स्वतन्त्र होने से दो वर्ष पहले (1945 ई. की सावन बदी 12 को) उनका देहान्त हो गया।

उनका जन्म 1874 ई. में रसूलपुर में हुआ था। पिता का नाम रामदेनी तिवारी और माता का नाम सीतलवासी देवी था। उनकी पत्नी फूलवंसी देवी पति की मृत्यु के डेढ़ साल बाद मरीं। उनके दो पुत्र नृपेन्द्र नारायण और बलदेव प्रसाद, तथा कन्या तारादेवी अब भी मौजूद हैं।

3

बाबू मधुसूदन सिंह

बाबू मधुसूदनसिंह को मित्रमण्डली में मधू बावू कहा जाता था। 1920 ई. में वह मैट्रिक के लिए सेन्ट-अप–प्रेषित–हो चुके थे। घरवाले आशा रखते थे, लड़का मैट्रिक पास कर कॉलेज में जायगा, और फिर वकील या सरकारी अफसर बनकर परिवार को सुर्खरू और आर्थिक तौर से समुन्नत करने में सहायक होगा। पर, इसी बीच गाँधी की आँधी आई, असहयोग का बिगुल बजा–"सरकारी नौकरियाँ छोड़कर देश की स्वतन्त्रता के लिए काम करो। वकील-मुख्तार वकालतें छोड़ें। लड़के स्कूलों और कॉलेजों से बाहर निकल आयें।" सबसे ज्यादा असहयोग करनेवाले विद्यार्थी ही निकले। उनमें अधिक उत्साह था, त्याग की भावना ज्यादा थी। वह

अधिक स्वार्थ के वन्धनों से वँधे नहीं थे। मधू वावू इसी तरह असहयोग करके आ गये और कांग्रेस का काम, स्वतन्त्रता के सन्देश का प्रचार वड़े भाव से करते रहे। कितनी ही बार जेल में गये, परिवार की आर्थिक चिन्ता देखते हुए भी अनदेखी कर दी। इन पंक्तियों के लिखने के समय (1956) अब भी वह एकमा थाना कांग्रेस के सभापति हैं, उसी लगन से काम कर रहे हैं।

मथुरा बाबू का जन्म फागुन सुदी 1 सोमवार संवत् 1954 (सन् 1897 ई.) में बंसी छपरा में हुआ था। जिले का हेडक्वार्टर छपरा है, उसमें छपरा नामवाले गाँवों की कमी नहीं है। वस्तुतः आज से सौ वर्ष पहले यदि इस जिले में घूमा जाता, तो कुछ बड़े-बड़े जमींदारों के ही घर पक्के या खपड़ैल के मिलते। बाकी सब लोग फूस के छप्परों में रहा करते थे। इसी कारण गाँव का नाम छपरा पड़ा। छपरा-छपरा में फर्क करने के लिए उनके नाम के आगे बंसी, लाकट आदि शब्द लगा दिये जाते हैं। मधू बाबू की माता राजपतिदेवी और पिता बाबू बिजाधर सिंह थे। बाबू बिजाधर सिंह को पहले लड़के का ढंग अच्छा नहीं लगा, पर असहयोग के जमाने में वह भी भरसक हमारे काम में सहायता देते थे। सीधे-सादे किसान थे। उनके तीन पुत्र और थे, जो घर का काम सँभालते थे। मधू बावू ने 1922 ई. में राष्ट्रीय संस्था बिहार विद्यापीठ से मैट्रिक परीक्षा पास की, पर आगे पढ़ने का ख्याल नहीं किया। कांग्रेस का आन्दोलन एक समान नहीं चलता था। जब किसी मोर्चे की तैयारी होती, तो लोगों में जोश आता, और कांग्रेस संगठन भी सजीव हो जाता, नहीं तो वह शिथिल पड़ जाता था। असहयोग के आरम्भ में स्वराज्य का आन्दोलन वन की आग की तरह चारों तरफ फैला। तिलक स्वराज्य फण्ड में लोगों ने खूब दिल खोलकर चन्दा दिये, लेकिन छै महीने बाद अब उनमें वह जोश नहीं रह गया था, जबकि मैं जुलाई 1921 में एकमा थाने में काम करने के लिए पहुँचा। काम करनेवाले थे, पर काम लेनेवाला नहीं था। जो काम बतलाये जाते थे, उनमें आकर्षण नहीं था। पर, मधू बाबू हर समय काम में लगे रहते थे। एकमा में गाँधी विद्यालय और स्वराज्य आश्रम कायम किया गया। शिथिलता के दिनों में मधू बाबू लड़कों को पढ़ाते और बीच-बीच में थाना कांग्रेस का मन्त्री रह कर काम करते।

यह बतला चुका हूँ, कि मधू वाबू के पिता अपने गाँव के एक साधारण किसान थे। छपरा जिला भारत के बहुत घने बसे हुए जिलों में है। वहाँ की एक-एक अंगुल जमीन जुत चुकी है, इसलिए जितने भी नये मुँह आये, उनके लिए नये खेत के मिलने की सम्भावना नहीं। इसीलिए वहाँ के लाखों आदमी कलकता, बम्बई और दूसरी जगह नौकरी के लिए चले जाते हैं। कितने तो बर्मा, सिंगापुर ही नहीं फीजी आदि टापुओं में भी जाकर हमेशा के लिए बस गये हैं। इससे मालूम होगा कि वहाँ का अर्थ-संकट कितना कठिन है, और साधारण किसान का आर्थिक जीवन तो और भी ज्यादा अनिश्चित होता है। इसी साल (1956) उत्तरप्रदेश के पश्चिमी जिलों में अतिवृष्टि के कारण गाँवों के गाँव तबाह हो रहे हैं, और पूर्वी जिलों में सूखा पड़ने की आशंका से लोगों की नींद हराम हो गई है। अपने 22 अगस्त के पत्र में मधू बावू लिखते हैं–"सारन जिले में–एकमा थाना में–वर्षा के अभाव के कारण प्रायः सभी फसलें बरबाद हो रही हैं, मर रही हैं, लोग बहुत चिन्तित हैं। प्रायः सभी खाद्य-पदार्थ काफी महँगे हैं।" किसान के पास सुवृष्टि के समय भी उतना अनाज नहीं पैदा होता, कि वह बचाकर अगले साल के लिए रख सके। फिर अवृष्टि के कारण यदि फसल बरबाद हो गई, तो उसे कहीं शरण नहीं मिल सकती। मधू बाबू का परिवार भी इन स्थितियों से समय-समय पर गुजरता रहा, पर वह बराबर अपनी धुन में लगे रहे।

जनवरी (1956) में कई वर्षों बाद मधू बाबू को देखा। वह नौजवान चेहरा–जिसे असहयोग के जमाने में बीस-बाईस वर्ष का देखा था–अब बूढ़ा हो गया है। सारे बाल सफेद, मुँह पर झुरियाँ पड़ी हुई हैं। पर, उनके मुँह पर की हलकी हँसी अब भी वैसी ही है। जिस स्वप्न को उन्होंने देखा था, और जिस स्वतन्त्र भारत के लिए उन्होंने अपनी जवानी की सारी उमंगें कुर्बान की थीं, वह आज साकार है। आज अंग्रेज नहीं हैं, और अंग्रेजों के खुशामदी बाबू-राजा तथा उनकी शह पर लोगों का सिर फोड़नेवाले काले साहब भी अब उस रूप में कहीं नहीं दिखाई देते। पर, आर्थिक चिन्ताएँ पहले से बढ़ी हैं। गरीबी का पहले ही जैसा अखण्ड राज्य

आज भी देश में सर्वत्र छाया हुआ है। इस प्रकार मधू बाबू जैसा देश के लिए त्याग करनेवाले कल के तरुण और आज के वृद्ध कैसे सन्तोष की साँस ले सकते हैं ?

4
बाबू रामनरेश सिंह

असहयोग-आन्दोलन में भाग लेने के लिए 1921 के जुलाई के महीने में मैं परसा (एकमा) पहुँचा था। शायद एक हफ्ते से अधिक नहीं बीता था कि साथियों ने अतरसन में सभा रक्खी। वर्षा का दिन था, खुले में सभा होनी मुश्किल थी। अतरसन के शिवालय के हाते में सभा रक्खी गई थी। बीच में वर्षा आई, तो लोग घर में चले गये। इसी घर में उस समय शायद प्राइमरी स्कूल था। छपरा और एकमा थाने से मेरा सम्बन्ध 1913 से था। लेकिन, मैं थाने के तीन-चार गाँवों से अधिक परिचित नहीं था। अतरसन भी अपरिचित ही था। लेकिन, परसामठ प्रसिद्ध था, इसलिए मैं बिल्कुल अपरिचित नहीं था। सभा हुई। मैंने व्याख्यान दिया और तरुण साथी भी कुछ बोले। सभी स्कूल से असहयोग करके आये थे। व्याख्यान की कला उन्होंने मैदान में ही आकर सीखी थी। मैं उनसे अधिक सौभाग्यशाली था, क्योंकि डेढ़ साल के मुसाफिर विद्यालय (आगरा) के जीवन में मैंने इसे बाकायदा सीखा था।

अतरसन कुछ विचित्र-सा नाम है। मुस्लिम काल का तो हो ही नहीं सकता। पुराना गाँव है, इसका पता वहाँ मिली दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी की मूर्तियाँ भी बतलाती थीं। गाँव में राजपूतों की प्रधानता है, और राजपूत बैस हैं, जो एकमा, सोनपुर जैसे दो-चार ही गाँवों में मिलते हैं। वह कहाँ से वहाँ पहुँचे, यह इतिहास के अन्धकार में लुप्त हो चुका है। बाबू देवनारायण सिंह ने इतना ही सुन रक्खा था, कि शालिवाहन उन्हीं के कुल में हुए थे, और वह दक्षिण देश नर्मदा के तीर पैठन के रहनेवाले थे। प्रतिष्ठानपुर—आधुनिक पैठन, जिला औरंगाबाद—आज भी नर्मदा के किनारे मौजूद है, और शातवाहनों की वह कभी राजधानी रहा। हर्षवर्धन को भी बैस राजपूत कहा जाता है। उन्नाव जिले में तो बैसवाड़े का एक बहुत बड़ा इलाका ही है, जहाँ बैस लोग ही बसते हैं। अस्तु, अतरसेन में भी बैसों की बस्ती है।

हमारा सम्बन्ध राष्ट्रीय आन्दोलन से था। बाबू रामनरेश सिंह आरम्भ से ही उसमें शामिल थे। जब जेल जाने का समय आता, तो जेल भी जाते। असहयोग के समय उसकी जरूरत नहीं पड़ी। वह चुपचाप काम करनेवाले थे। उनके बड़े भाई बाबू देवनारायण सिंह, बड़े भतीजे, चचेरे दो भाई भी बनैली राज में तहसीलदारी करते थे। छपरा बहुत घना बसा हुआ जिला है। वहाँ बहुत कम ही ऐसे परिवार हैं, जो केवल खेती पर अच्छी तरह गुजारा कर सकते हैं। डंकिनी बन्दोबस्त के कारण यहाँ छोटे-छोटे जमींदार बहुत ही कम देखने में आते हैं। किसानी करनेवाले जमींदार तो मुश्किल से मिलते हैं। इसलिए गाँवों में दस-बीस हजार की हैसियत रखनेवाले जिनके पक्के घर हैं, वह भी किसी बड़े जमींदार के रियाया थे। अतरसन में चैनपुर के बाबुओं की जमींदारी थी। रामनरेश बाबू के घर में काश्तकारी ही नहीं, किन्तु काफी जमीन थी। पर, घर की खुशहाली नौकरी पर निर्भर थी। खाने के लिए चावल भी भागलपुर से आता था। रामनरेश बाबू को घर का काम भी देखना था, क्योंकि प्रायः सारा बालिग परिवार बाहर नौकरी में रहता था।

अभी वह डाक्टर बाबू नहीं हुए थे। बड़े परिवार में कोई न कोई बीमार होता ही रहता। कलकता के एक मशहूर होमियोंपैथ बंगाली डाक्टर से इनके परिवार की बहुत घनिष्ठता थी। वह कभी-कभी अतरसन भी आते थे। उन्हीं की देखा-देखी इन्होंने भी होमियोपैथी की दवाइयाँ पास रक्खीं, और हिन्दी में मिलती कुछ किताबें भी देख लीं। आसपास कोई न डाक्टर था, न डिस्पेन्सरी। इनके पास भी लोग पहुँचने लगे, और धीरे-धीरे रामनरेश बाबू डाक्टर बाबू बन गये। बुद्धि अच्छी थी, रोगों की परख भी मालूम होने लगी। अब तो डॉक्टर

बाबू की आसपास में बराबर माँग रहती है।

कांग्रेस के काम में रामनरेश बाबू बहुत दत्तचित्त रहते थे। उसी तरह दूसरे लोकहित के कामों में भी वह शामिल होते थे। गाँव का प्राइमरी स्कूल गाँव से बाहर बगीचे के कोने में नये मकान में जाकर मिडिल स्कूल हो गया। लोगों में ज्ञान की बहुत पिपासा थी, विद्यार्थियों की क्या कमी हो सकती थी। मिडिल स्कूल कुछ सालों बाद हाईस्कूल बन गया, और आज वह आसपास के कितने ही गाँवों की सेवा कर रहा है। इस स्कूल को स्थापित करने और बढ़ाने में रामनरेश बाबू का बड़ा हाथ रहा।

अतरसन वैसे तो गाँव काफी बड़ा था, पर किसी बड़े जमींदार का दरबार यहाँ नहीं था। फिर भी शिक्षा का प्रसार बढ़ा। वहाँ के महन्तजी इसराज के सुन्दर वादक थे। वह गाँव से कहीं बाहर शिक्षा लेने नहीं गये। लेकिन, जान पड़ता है, संगीत की कला उन्हें जन्म से मिली थी। गा नहीं सकते थे, लेकिन बजाते बहुत सुन्दर थे। रामनरेश बाबू भी उनका तबले में साथ देते थे। इससे मालूम होगा, कि अतरसन बिल्कुल संस्कृतिहीन गाँव नहीं था। गाँव में पक्का कोठा खड़ा करना बेकार है, यद्यपि इसका अर्थ यह नहीं, कि पुराने जमींदार अपना कोठा खड़ा करने से कभी बाज आये। शहर में बने पक्के मकान का दुःख-सुख में पैसा लौट सकता है। पर, गाँव के पक्के मकान का उसमें रहने के सिवा और कोई मोल नहीं। पर, बाबू देवनारायण को शौक था। उस समय साधन भी थे, इसलिए उन्होंने बाप-दादों की पुरानी हवेली की जगह पर ईंट-चूने का दुमंजिला मकान बनवा दिया। वह संयुक्त परिवार के आदर्शकर्ता थे। अपने चचेरे भाइयों, बेटों और भतीजों में कोई अन्तर नहीं रखते थे। सबको इकट्ठा देखकर उन्हें बड़ी खुशी होती थी। घर पर कभी वर्ष, दो वर्ष में कुछ समय के लिए आते, नहीं तो बराबर भागलपुर में राज की नौकरी में रहते। पक्के मकानों की आयु सौ साल बतलाई जाती थी, अर्थात् जितने में पाँच पीढ़ियाँ आ जायँ। कितनी ही साखर्ची और दूरदर्शिता से बनवाये मकान दो पीढ़ी से अधिक पर्याप्त नहीं हो सकते। फिर वह अपनी आधी आयु में जाते-जाते बेकार हो जायँगे, इसमें सन्देह नहीं। बाबू देवनारायण ने जो मकान बनवाया, आज एक पीढ़ी ही में वह अपर्याप्त हो गया।

बाबू रामनरेश सिंह के परिवार से मेरा सम्बन्ध असहयोग के समय से ही रहा। उसके बाद जब मैं बाहर ज्यादा रहने लगा, तब भी कभी-कभी वहाँ जाने पर अतरसन जरूर जाता। उनके पुत्र की पीढ़ी के दस-दस, बारह-बारह वर्ष के लड़कों को मैंने देखा था। सबका नाम याद रखना मुश्किल था। अब इन लड़कों की भी दूसरी पीढ़ी आ गई है, जिनकी संख्या दर्जन से ऊपर है। बाबू देवनारायण सिंह का संयुक्त परिवार का आदर्श उनकी जिन्दगी-भर किसी तरह चला। अगली पीढ़ी को अब ग्रामीण रहन-सहन पसन्द नहीं है। घर में तीन ग्रेजुएट हो गये, दूसरे भी कितने ही शिक्षित हैं। सबको अपनी-अपनी फिकर करने की जरूरत पड़ी।

रामनरेश बाबू या डाक्टर बाबू ने भारत को आजाद देखा। उनके बड़े भाई खुशामदी राज्य के नौकर रहते भी राष्ट्रीयता के पक्षपाती थे, और कांग्रेस को जहाँ भी रहते, सहायता देते। अल्पशिक्षित रहते भी रामनरेश बाबू ने अपने जीवन का बहुत सदुपयोग किया। वह कभी भय या प्रलोभन से डिगे नहीं।

उनके पिता का नाम बाबू रघुवीरसिंह था, और माता का नाम तिलेसरा देवी। संवत् 1949 (सन् 1892 ई.) के सावन सुदी अष्टमी को उनका जन्म हुआ।

5
बाबू लक्ष्मीनारायण सिंह

असहयोग की आँधी में पड़ने के पहले तरुण लक्ष्मीनारायण हाई स्कूल में पढ़ते थे। फिर देश के हजारों नवयुवकों की तरह वह देश-सेवा के लिए स्कूल से निकल आये। उनका जन्म-स्थान खास एकमा गाँव था, जो कि छपरा जिले के एक महत्त्वपूर्ण थाने का सदर-मुकाम था। उनके पिता भागलपुर जिले के सोनबरसा राजा की जमींदारी

में तहसीलदार थे। छपरा जिले में जमीन की आम शिकायत है, और शायद ही किसी किसान के पास इतना खेत हो, जिससे उसकी जीविका चले। लक्ष्मी बाबू के पिता दो भाई थे। बाबू मुखलालसिंह सोनबरसा में नौकरी करते थे, और उनके छोटे भाई बाबू रामचरित्र सिंह घर का काम देखते थे। दोनों भाइयों में बड़ा प्रेम था। दोनों के एक ही एक पुत्र थे। बाबू रामचरित्र सिंह के लड़के सीतलसिंह एक मस्तमौला तरुण थे। वहाँ के स्टेशन मास्टर और तार बाबू से भी ज्यादा वह स्टेशन की ड्यूटी बजाया करते थे। कोई ट्रेन ऐसी नहीं थी, जिसके समय वह स्टेशन पर न पहुँचते हों। बस खाने-भर उनको घर से काम था। ड्यूटी का जो भी काम मिल जाता, उसे वह बड़े शौक से पूरा करते। उन्हें न घर से मतलब था, न घर के किसी काम से। कितने ही लोग उनकी इस तत्परता का मजाक उड़ाते थे, लेकिन उनको कोई चिन्ता नहीं थी।

लक्ष्मी बाबू घर के सबसे बड़े लड़के थे। पिता-चचा ने यही आशा की थी कि पढ़कर कोई सरकारी नौकरी करेंगे या वकील बनेंगे पर उन्होंने दूसरा ही रास्ता अखतियार किया। मैं जुलाई 1921 में एकमा थाने में पहुँचा था। उसी समय से वह मेरे सहयोगी रहे। बाबू प्रभुनाथ सिंह, पं. गिरीश तिवारी भी उन्हीं की तरह असहयोगी छात्र थे, जो इस थाने में कांग्रेस का काम कर रहे थे। दोनों दूसरे थानों के रहनेवाले थे, और कई सालों के काम के बाद वह एकमा छोड़कर अपनी जगहों में गये। लेकिन, लक्ष्मी बाबू एकमा के कीर्तिस्तम्भ बनकर बराबर वहीं बने रहे। पहले दिन रात को मैं स्टेशन पर उतरा और सीधे परसा चला गया। वहीं लक्ष्मी बाबू आदि मेरे तरुण साथियों से पहले-पहल मुलाकात हुई।

जिस समय गाँधीजी ने अंग्रेजों के खिलाफ शान्तिमय विद्रोह का झण्डा उठाया, सारे देश में जोश की लहर दौड़ गई थी। बिहार उसमें सबसे आगे रहा। उसका एक कारण यह भी था, थोड़े ही समय पहले चम्पारन जिले में निलहे गोरों की तानाशाही के खिलाफ उन्होंने सफल संघर्ष किया था। गाँधीजी के इस काम को बिहार का बच्चा-बच्चा जानता था, और छपरा तो चम्पारन का जुड़वाँ भाई था। तिलक स्वराज्य फण्ड के जमा करने में भी छपरा आगे रहा। स्कूलों को छोड़कर आये विद्यार्थी और असहयोगी वकील उस समय गाँव-गाँव घूमकर स्वतन्त्रता का संदेश पहुँचाते रहे। लक्ष्मी बाबू जैसे तरुणों को भी उस समय काम की कमी नहीं थी। लेकिन, जुलाई तक जबकि मैं छपरा पहुँचा—वह जोश ठंडा पड़ गया था। पहले जोश में हर थाने में थाना कांग्रेस कमेटियाँ कायम हो गई थीं। बहुत-से गाँव तक में भी कांग्रेस पंचायतें बन गई थीं। परसा जैसे बड़े गाँवों में स्वयं-सेवक भरती हुए थे, जो रात को लालटेन लिये पहरा भी दिया करते थे। जब जोश ठण्डा हो गया, और स्वराज्य भी नहीं मिला, उसकी प्रतिक्रिया होनी जरूरी थी। बहुत-से थानों के कांग्रेसी संगठन शिथिल हो गये। नौजवानों में से बहुत ही कम फिर स्कूलों में जाकर दाखिल हुए। वह काम करने के लिए तैयार थे, लेकिन उनको काम नहीं मिल रहा था। रचनात्मक काम के नाम पर चरखा कातने, करघे को चलाने का उपदेश दिया जाता था। कुछ थानों में लोगों ने इसे करना भी चाहा, पर यह आनुषंगिक काम हो सकता था, मुख्य काम नहीं। ऐसे समय नौजवानों का दृढ़तापूर्वक अपने काम में लगे रहना आसान काम नहीं था। लोग लाखों की तादाद में जेल जाने के लिए तैयार थे, पर अंग्रेज ऐसी कृपा दिखलाने के लिए सन्नद्ध नहीं थे।

शिथिलता के समय लक्ष्मी बाबू ने बिहार विद्यापीठ में अपनी शिक्षा समाप्त की, और वहाँ से विद्यालंकार बनकर निकले। अब उनके लिए एक ही काम था। चाहे आन्दोलन ठण्डा हो या गरम, कांग्रेस और स्वराज्य आन्दोलन की ज्योति जगाये रखना। उनमें कुछ पत्रकारिता का भी गुण था, और उस समय 'अमृत बाजार पत्रिका' और एकाध दूसरे अंग्रेजी पत्रों के वह स्थानीय संवाददाता रहे। एकमा में असहयोग करनेवाले छोटे छात्रों के लिए गाँधी विद्यालय कायम किया गया था, जिसमें भी लक्ष्मी बाबू पढ़ाते थे। शायद 1908 या 1910 के करीब—जब अभी अंग्रेजी शिक्षा में बहुत प्रगति नहीं हुई थी—इसी थाने का एक तरुण मैट्रिक परीक्षा में बैठा था। दिमाग की मशीन बहुत बारीक होती है, न जाने क्या कारण हुआ, वह पागल हो गया। पागल होने पर भी राजासिंह मार-पीट नहीं करते थे। उनका शरीर बहुत लम्बा और अस्थि-पंजर भी बहुत विशाल था, लेकिन अव्वल तो खाने का कोई ठिकाना नहीं था, दूसरे पागल के शरीर में अन्न लगता भी नहीं। जब बाबू राजासिंह को कह दिया जाता, तो वह लड़कों को पढ़ाते भी थे। रात हो या दिन, वह बराबर घूमते ही रहते थे। एकमा

थाने से बाहर वह कहीं नहीं जाते थे, हालाँकि रेल थी, जाने का बहुत सुभीता था। हर वक्त कुछ बड़बड़ाया करते थे। ग्यारह-बारह बजे रात को भी बस्ती से दूर सड़क पर चलते, या किसी पुलिया पर बैठे उन्हें बड़बड़ाते देखा जा सकता था। उनको देखकर करुणा आये बिना नहीं रह सकती थी।

गाँधी स्कूल कई साल चला, और अन्त में लक्ष्मी बाबू के प्रयत्न से एक बड़े हाई स्कूल के रूप में परिणत हो गया, और कई वर्षों से विद्या का प्रचार कर रहा है।

आन्दोलन में गर्मी हो या सर्दी, 1926 तक–जब तक कि मैं छपरा में कांग्रेस में काम करता रहा–लक्ष्मी बाबू का घर मेरे लिए दूसरा स्वराज्य आश्रम था। उनके घर से एक तरह की विचित्र आत्मीयता थी। राजनीति में मतभेद हुआ करते हैं। शिष्य और सहयोगियों में कटुता आ जाती है, पर मुझे याद नहीं, लक्ष्मी बाबू के साथ कभी ऐसी बात हुई हो। लक्ष्मी बाबू कांग्रेस के काम के साथ-साथ बुद्धि में वृद्धि करते गये। समय के साथ वह असहयोगी नवतरुण ज्ञान और अनुभव में बढ़ता गया। पर, उनका छोटा-सा कद और दुबला-पतला शरीर आज भी वैसा ही है। दुबला-पतला होने का मतलब यह नहीं, कि वह अस्वस्थ रहते रहे। लक्ष्मी बाबू गाँव पंचायत के मुखिया बने। जिला बोर्ड में जाकर उपाध्यक्ष निर्वाचित हुए, और फिर कांग्रेसी एम. एल. ए. बने। यह सब होते हुए भी उनके सरल स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आया।

लक्ष्मी बाबू का जन्म सितम्बर 1897 में हुआ था, अर्थात् इन पंक्तियों के लिखते समय वह 59 वर्ष के हो चुके हैं। उनकी माता अक्षीनादेवी अभी भी जीवित हैं, यद्यपि पिता-चचा का देहान्त हो चुका है।

6
बाबू हरिहर सिंह

बाबू हरिहर सिंह छपरा में हाई स्कूल में पढ़ते थे, और असहयोगी होकर अपने थाने में काम करने लगे। उनमें एक विचित्र सादगी थी, बातों के करने में अजब भोलाभालापन था। उनका जन्म देकुली गाँव में मई सन् 1897 में हुआ था। पिता महावीर सिंह और माता बर्तानो देवी साधारण स्थिति के गृहस्थ थे। छपरा के और भी हजारों घरों की तरह उनके कुल ने भी कूचबिहार में कुछ जमीन लेकर खेती कर रक्खी थी, जहाँ से खाने भर के लिए चावल आ जाता था। हरिहर बाबू असहयोग से पहले अपने स्कूली दिनों में छपरा की रपट पार्टी में थे। इस पार्टी के अगुआ माँझी के बाबू सभापति सिंह थे। भोजपुरियों में आत्मसम्मान की मात्रा जरूरत से अधिक है। वह न वैयक्तिक और न जातिगत अपमान को सह सकते हैं। कोई अधगोरा पुलिस-इन्सेपक्टर था, जो नाहक लोगों को रास्ता चलते ठोकर मार देता था। सभापति बाबू अपने बड़े भाई की तरह पहलवान तो नहीं थे, लेकिन काफी हट्टे-कट्टे थे। स्कूल में पढ़ने की जगह उन्होंने अपना समय रपट पार्टी को संगठित करने में लगा दिया। इस पार्टी ने उक्त अधगोरे जैसे बिगड़े अफसरों को पाठ पढ़ाने का व्रत ले रक्खा था। सभापति बाबू जान-बूझ कर सड़क से हट नहीं रहे थे। सामने से वह अधगोरा साइकिल पर घंटी बजाता आ रहा था। जानते ही थे, उसका पारा जरूर हद से ज्यादा गरम हो जायगा। उसने साइकिल रोककर हाथ चलाना चाहा, लेकिन सभापति उससे पहले ही तैयार थे। उन्होंने गोरे को खूब पीटा, साइकिल के साथ उसे खंदक में फेंक दिया। रपट पार्टी की विजय-दुंदुभि सब जगह बजने लगी। हमारे तरुणों के लिए यह बहुत आकर्षक बात थी। हरिहर बाबू ने रपट पार्टी के सदस्य रहते वक्त क्या काम किया था, यह मालूम नहीं, पर वह सरगर्म मेम्बर थे, इसमें सन्देह नहीं। ऐसा भोलाभाला नौजवान ऐसे खतरनाक काम में हाथ डाल सकता था, उन्हें देखकर इसकी कोई आशा भी नहीं कर सकता था।

हरिहर बाबू अपने थाने में कांग्रेस का काम करते थे। देकुली एकमा से मील-डेढ़ मील दूर है। घर से भोजन कर आते, फिर चाहे स्कूल में पढ़ाते, चाहे जो दूसरा काम दिया जाता, उसे करते। कांग्रेस का काम

एक-दो वर्ष का तो था नहीं, और हरिहर बाबू अपने जीवन के अन्त (1943) तक उसी तरह कांग्रेसी कार्यकर्ता रहे। अफसोस है, उन्होंने अपनी आँखों देश को स्वतन्त्र नहीं देखा। किसी-किसी साल उन्हें भी कूचबिहार अपनी खेती पर जाना पड़ता, और दो-चार महीने बाद लौटते, तो वहाँ की बातें बतलाते। लक्ष्मी बाबू की तरह उनको स्कूल छोड़ने के बाद पढ़ने से इतना ही सरोकार था, कि गाँधी विद्यालय में पढ़ा दिया करते थे। उनकी कोई महत्वाकांक्षा नहीं थी। एक साल के भीतर स्वराज्य हो जाने की आशा से वह और उनके साथी स्कूल छोड़कर आये थे, लेकिन एक साल की जगह कितने साल बीत गये। एकमा की स्थिति विशेष थी, वहाँ स्वतन्त्रता का चिराग बराबर थोड़ा घना जलता रहा। दूसरे ऐसे भी स्थान थे, जहाँ कांग्रेस को लोग बीच-बीच में भूल जाते। उस समय भी हरिहर बाबू जैसे तरुणों के अटूट विश्वास को देखकर मन में बहुत श्रद्धा पैदा होती थी। खासकर उन लोगों को याद करके तो और भी मन में करुणा आती है, जिन्होंने अपनी जवानी के अनमोल वर्ष देश की आजादी के लिए लड़ने में लगाये। उन्हें जीवन में कोई वैसी कीर्ति नहीं मिली। और हरिहर बाबू की तरह कितनी ही गुमनाम समिधाएँ हमारे देश के स्वतन्त्रता-यज्ञ में चुपचाप पड़ीं। वह व्यर्थ नहीं गईं, उन्होंने उस आग को प्रज्वलित रक्खा, जो अन्त में अंग्रेजों को देश से बाहर निकालने में सफल हुई।

7

बाबू रामउदार राय

राय की पदवी उत्तर प्रदेश के भोजपुरी इलाके में राजपूतों में नहीं देखी जाती, पर बिहार में राय, कुँवर आदि उपाधियोंवाले भी राजपूत मिलते हैं। बाबू रामउदार राय एकमा के पास के, उससे सटे हुए गाँव भुइली में 1897 में पैदा हुए थे। उनके पिता बाबू जगतराय साधारण स्थिति के किसान थे। असहयोग उन्होंने किया, फिर मैट्रिक भी पास कर लिया। थे पतले, लेकिन छह फुटे जवान थे। मेरा उस समय नाम रामउदार बाबा था। वह एक विचित्र-सा नाम है, जिसमें गोस्वामीजी की कृति का प्रभाव साफ दिखाई पड़ता है। राम को उन्होंने अपनी किसी चौपाई में उदार कहा है। उसी दोनों को मिलाकर इस नाम की सृष्टि हुई। मेरे साधु होने से पहले ही एक रामउदार दास हमारे गुरु के चेला रहे थे, जिनके मरने का उनको बहुत अफसोस था। इसीलिए मुझे वह नाम दुबारा मिला। मैं तो समझता था, सारे भारत में किसी का ऐसा नाम न हुआ, न है। पर, मेरी यह धारणा झूठी साबित हुई, ऋषिकेश के पास लछमनझूला के एक महन्त का यही नाम मैंने सुना। पर, गृहस्थों में इस नाम की कभी सम्भावना नहीं थी, लेकिन यहाँ हमारे सामने रामउदार राय मौजूद थे। 'अन्धेर नगरी चौपट राजा' वाली घटना रामउदार राय पर साक्षात् घटी थी। किसी सभा के सिलसिले में मेरे नाम वारंट निकला, और एकमा की पुलिस ने बाबू रामउदार राय को पकड़ लिया। शायद दो-चार दिन वह बड़े घर की हवा भी खा आये, लेकिन अन्त में गलती मालूम हुई, और उन्हें छोड़ दिया गया।

जवानी के दिन कितने मोहक होते हैं ! तरुणों का सम्बन्ध कितना स्वार्थहीन और प्रिय होता है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। जो तरुण असहयोग के जमाने में मिलकर काम करते थे, समय बीतने के बाद उनमें से कितने दूसरे काम अपनाने के लिए मजबूर हुए, क्योंकि आखिर आदमी हवा पीकर नहीं रह सकता। तरुण के ऊपर समय बीतते-बीतते घर की जिम्मेवारी आ जाती है। रामउदार बाबू एकमा के गांधी विद्यालय में आकर पढ़ाते थे। पीछे उन्होंने स्कूल की नौकरी कर ली। सिसवन के मिडिल स्कूल में गये, लेकिन तब भी उनका मन एकमा में रहता था। उनके बातचीत का ढंग बड़ा ही आकर्षक होता था। हँसने-हँसाने में कमाल करते थे। हाँ, उनकी हँसी आँखों और ओठों तक ही सीमित रहती थी, पर दूसरे मुग्ध हो जाते थे। न जाने कहाँ से घटनाएँ ले आते थे। जान पड़ता था विनोद की बात उनके सामने कोई ऐसी नहीं घटती थी, जिसको वह नोट न कर लेते हों। उनकी खुशमिजाजी सभी को पसन्द थी।

एक बार धुरौंधा रेलवे स्टेशन पर दूसरी ट्रेन पर चढ़ते मैंने रामउदार को देख लिया। उनका चेहरा फिरा हुआ था। मैं निश्चय नहीं कर पाया। पीछे यह जाना, लकवा का प्रहार था, सौभाग्य था थोड़े ही समय बाद वह बिल्कुल ठीक हो गये। स्कूली नौकरी परतन्त्रता की नौकरी थी। उन्होंने सोचा और हम लोगों ने भी सलाह दी, कि मुखतारी पास कर लें। मुख्तार को नौकर जैसी पाबन्दी नहीं थी। हम समझते थे, वह अपना कितना ही समय राष्ट्रीय काम में भी लगायेंगे, यद्यपि यह धारणा गलत थी, क्योंकि तरुणाई से आदमी जब प्रौढ़ता की सीमा के भीतर पैर रखता है, तो वह उतना स्वच्छन्द और निर्लेप भाव से जीवन को बिता नहीं सकता। वह मुख्तार नहीं बन सके।

उनका गाँव भुइली, एकमा से सटा ही है। उसकी खेती की बहुत-सी जमीन धुरदह ताल में पड़ती है। सब जगह के किसान मनाते हैं, खूब सुवृष्टि हो और भुइलीवाले उससे उलटा चाहते हैं। अधिक वृष्टि होने पर उनके धानों के खेत धुरदह के पेट में चले जाते हैं, और वह बीज भी लौटा नहीं पाते। जिस साल सूखे से हाहाकार मचता, उस समय भुइलीवाले मालामाल हो जाते। उनके धान के खेत एकड़ में तीस और चालीस मन देते, फसल को काटना मुश्किल हो जाता। जिस वक्त भुइली बालों का घर धुरदह की कृपा से धान से भर जाता, उस साल अकाल-पीड़ितों को भी धुरदह से कुछ अवलम्ब जरूर मिलता। वह वहाँ कमल की जड़ या करमी का साग मनों ढो ले जाते।

रामउदार बाबू का चाहे नौकरी करते हों, या नहीं, बराबर राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्ध रहा। वह भी उन्हीं नौजवानों में से थे, जो अपनी आँखों देश को स्वतन्त्र नहीं देख सके।

8

बाबू रामबहादुर लाल

एकमा के पास विसुनपुरा, एक कायस्थ परिवार में रामबहादुर बाबू का जन्म संवत् 1957 (ईसवी 1900) में हुआ था। उनके पिता श्री ठाकुर लालजी और माता शिवसाखो देवी अत्यन्त साधारण स्थिति के गृहस्थ थे। गाँवों में वैसे तो अधिकांश लोगों के घर में दरिद्रता पैर तोड़ कर बैठी रहती है, पर निरवलम्ब कायस्थ परिवार की स्थिति और भी दयनीय होती है, जिनका खानदानी पेशा मुंशीगिरी होती थी। उत्तर प्रदेश के बहुत-से भागों में गाँव की पटवारीगीरी कायस्थों की खानदानी चीज समझी जाती है। बिहार में पटवारी सरकार का नहीं, बल्कि जमींदार का नौकर होता था, जिसका वेतन बहुत ही कम था। और यदि किसी कायस्थ को वह भी न प्राप्त हो, तो उसके घर की स्थिति इतनी दयनीय हो जाती, जिसके बारे में सोचा भी नहीं जा सकता। रामबहादुर बाबू का परिवार इसी स्थिति का था। माता-पिता ने बड़ी लालसा और तकलीफ के साथ अपने लड़के को अंग्रेजी पढ़ायी थी, वह आगे चलकर घर का अवलम्ब साबित होगा। पर, तरुण रामबहादुर गाँधी की आँधी में पड़ गये, और स्कूल छोड़कर अपने थाने में काम करने लगे। 1920 से लेकर आज तक किसी न किसी तरह वह इसी काम में लगे रहे। उनकी स्थिति पहले से शायद बेहतर नहीं हुई, पर इसका संतोष उन्हें जरूर है, कि देश में अब अंग्रेजों का राज नहीं है।

जितने लड़के स्कूलों से असहयोग करके आये थे, सबमें बाग्मिता नहीं थी, और न सभी में संगठन करने की स्वाभाविक प्रतिभा थी। पर चुपचाप रह करके कांग्रेस के संगठन और संस्थाओं को जीवित रखनेवाले आदमियों की भी जरूरत कम नहीं थी। एकमा थाने में पं. नगनारायण तिवारी बहुत अच्छे वक्ता थे। वह भोजपुरी में गीत बनाते थे और बड़े सुन्दर ढंग से उसे गाते थे। प्रभुनाथ, गिरीश और लक्ष्मीनारायण बोलने की शक्ति रखते थें, और नेतृत्व की योग्यता भी। पर, रामबहादुर बाबू चुप सेवा करते थे जो किसी से कम नहीं थी। गाँधी विद्यालय में पढ़ाने के अतिरिक्त थाना कांग्रेस के आफिस का काम उनके ऊपर था। 1926 या 1927 में जब

पहले-पहल ग्रामपंचायतों का सरकारी कानून के अनुसार चुनाव हुआ, उस समय रामवहादुर बाबू पंच चुने गये थे, पंचायत का काम अच्छी तरह करते रहे। उनका ग्रामीण कायस्थ परिवार देहाती निम्न मध्य-वर्ग का एक अच्छा उदाहरण था, जिसकी आर्थिक कठिनाइयों का कोई वार-पार नहीं था। इन कठिनाइयों की छाप अगर परिवार के तरुण के ऊपर पड़े, तो कोई आश्चर्य नहीं। यह दिन-दिन और घड़ी-घड़ी की तपस्या थी, जिसके भीतर से बहुत कम कांग्रेसकर्मियों को गुजरना पड़ा था। इसे देखते हुए रामवहादुरजी के तरुण जीवन का उत्सर्ग और भी महत्त्व रखता है।

9

बाबू प्रभुनाथ सिंह

बाबू प्रभुनाथ सिंह[1] आज विहार के कांग्रेसी नेताओं में एक विशेष स्थान रखते हैं। वहाँ के एम. एल. ए. तथा कांग्रेसी दल के संचालक हैं। असहयोग के ज़माने में वह स्कूल छोड़कर एकमा थाने में काम करने लगे। उनकी योग्यता का सबूत यही है कि जब मैं पहले-पहल वहाँ काम करने के लिए गया, तो वही थाना क़ांग्रेस कमेटी के मन्त्री थे। उनका जन्म घाघरा (सरयू) और गंगा के बीच में अवस्थित सिताव दियरा में 1 जनवरी 1900 को हुआ था। सिताब दियरा का एक भाग बलिया अर्थात् उत्तर प्रदेश में भी है। छपरा के साथ मिलने में सरयू की धारा बीच में बाधक है। बलिया के साथ उस तरह की कोई बाधा नहीं है। बावू जयप्रकाश नारायण का जन्म भी उसी सिताब दियरा में हुआ। इसे बलिया से काट कर छपरा में क्यों रक्खा गया, इसका कारण शायद उस समय कोई रहा हो। वैसे भाषा के तौर पर बलिया और छपरा दोनों ही भोजपुरी-भाषी हैं।

स्कूलों और कालेजों से असहयोग करके झुण्ड के झुण्ड लड़के निकले थे। कांग्रेसी नेता भी अभी नये-नये थे, इसलिए काम का तजर्वा नहीं था। विद्यार्थियों को उन्होंने जगह-जगह भेज दिया। उस वक्त यह ख्याल नहीं हो सकता था, कि किसका उपयोग कहाँ अधिक होगा। प्रभुनाथ बाबू का थाना छपरा था। लेकिन, छपरा (रिविलगंज) और उनके बीच में सरयू महानदी पड़ती थी। उनके लिए जैसा छपरा वैसा एकमा। प्रभुनाथ बाबू ने एकमा में कांग्रेस का काम सँभाला। वर्षों वह थाना कांग्रेस के मन्त्री रहे।

जुलाई में एकमा स्टेशन पर उतर कर मैं स्वयं रात को स्वराज्य आश्रम नहीं जा सका, लेकिन चिट्ठी आदमी से मन्त्री जी के पास दे दी। वह मन्त्री प्रभुनाथ बावू ही थे। थाने के तरुण कार्यकर्ताओं को लिये वह दो-एक दिन बाद परसा पहुँच गये। फिर तो हमारा रात-दिन का साथ था। उनमें संगटन करने की शक्ति थी, अच्छा बोलते थे और काम के लगन की तो वात ही नहीं करनी। हमारा थाना उनके जैसे तरुणों को पाकर कांग्रेस के काम में जिले में प्रथम रहता था। दूसरी जगह तिलक स्वराज्य फण्ड के जमा कर लेने के बाद काम में शिथिलता आ गई। एकमा में इसके बाद एक बहुत बड़ी सभा हुई। सारे थाने के गाँवों से लोग जलूस लेकर आये। जलूस में बीस-बाइस हाथी थे। एकमा खास में उतना बड़ा वगीचा या स्थान नहीं दिखाई

1. जन्म–1 जनवरी 1900 ई.।
पिता का नाम–बावू अनूपसिंह (90 वर्ष के अव भी जीवित हैं)।
माता–श्रीमती सम्पतिदेवी (मृत्यु 1953)।
गाँव–साहेबजादा टोला, सिताव दियरा, थाना छपरा।
1921–असहयोग, कांग्रेस सेवादल के जिला-सरदार।
1924–से 17 साल तक सारन जिला-बोर्ड के सदस्य और अधिकारी।
1937–विहार विधान-सभा के सदस्य।
1937–49 कांग्रेस पार्टी के मुख्य सचेतक।

पड़ा, जहाँ सभा की जा सके, इसलिए माधवपुर के वगीचे में सभा का इन्तजाम किया गया था। जिले के नेता शामिल हुए। उस दिन की सभा और 400 के करीव वर्दीधारी स्वयंसेवकों को देखकर लोगों को आश्चर्य होता था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस सभा के संगठन में प्रभुनाथ बाबू का विशेष हाथ था।

नौजवानों को काम चाहिए। काम देखने पर उनका जोश बढ़ता है। वह और लगन से काम करने लगते हैं। यही बात हमारे एकमा के तरुण नेताओं के बारे में थी। मुझे थाने से बाहर जिले में भी घूमते रहने की जरूरत पड़ी, लेकिन मैंने कभी एकमा को छोड़ कर ऐसा नहीं किया। घूमने के लिए एक घोड़ा और बड़ा-सा एक्का ले लिया था। उस समय अभी पीठ पर मुर्गा रखनेवाले एक्कों का ही चलन था, जो युक्तप्रदेश से कभी के लुप्त हो चुके थे। नये तरह के एक्के को बिहार में टमटम कहा जाता था। सत्याग्रह की तैयारी होने लगी। सभाएँ करके लोग नाम लिखाने लगे। सरकार ने स्वयं-सेवक संगठन को गैरकानूनी घोषित कर दिया था। लेकिन, कानून क्या करता, जव लाखों की तादाद में लोग खुशी से जेल जाने के लिए तैयार थे, और उनके रखने के लिए जगह नहीं थी, इसीलिए कुछ चुने हुए लोगों को ही सरकार ने गिरफ्तार किया। उसी में मैं भी गिरफ्तार हो गया। जैसाकि पहले वतलाया, नाम की समानता से मेरे बदले बाबू रामउदार राय पहले गिरफ्तार कर लिये गये, पीछे गलती मालूम हुई। मैं जेल चला गया। एकमा, माँझी, सिसवन, रघुनाथपुर और रिविलगंज के थानों को हमारे नौजवानों ने संगठित करके जगाने का काम किया। कुछ दिनों वाद प्रभुनाथ बाबू सग्गड़ (टमटम) पर चढ़े दूसरे थाने में सभा करने गये, और वहीं से पकड़कर जेल भेज दिये गये। विहार में हम सबको बक्सर के सेन्ट्रल जेल में रक्खा गया था। प्रभुनाथ वाबू भी आ गये। बाहर की, विशेषकर अपने क्षेत्र की, राजनीतिक गतिविधि को जानने की बड़ी इच्छा होती थी। उन्होंने सब बातें बतलाईं। करीब छः महीने वक्सर जेल में साथ गुजारने पड़े। बाहर सारा समय राजनीति में और जेल में सारा समय पढ़ने-लिखने में लगाना मेरा नियम था। वहाँ कितने ही विषयों के विद्वान् थे। वह क्लास लेते थे, स्कूल छोड़कर आये विद्यार्थियों के लिए स्वेच्छापूर्वक यहाँ विद्यालय में दाखिल होने का मौका मिला, और करीव-करीब सभी ने उससे लाभ उठाया।

इसके बाद बाहर रहते, फिर हमने अपने काम को सँभाला। लेकिन, मुझे जल्दी ही दो वर्ष के लिए जेल चला जाना पड़ा। थाने का काम सँभालनेवाले प्रभुनाथ बाबू और दूसरे नौजवान मौजूद थे।

1926 के बाद मुझे एक तरह से अपने कार्यक्षेत्र और क्रियात्मक राजनीति को छोड़ना पड़ा। बीच-बीच में कभी-कभी एकमा और छपरा जरूर जाता। उस वक्त यह देखकर बड़ी प्रसन्नता होती, कि मेरे तरुण साथी उमर के साथ-साथ आगे बढ़ रहे हैं। प्रभुनाथ बाबू थाने से जिले के नेता बने। जिला-बोर्ड और दूसरी संस्थाओं में काम करने लगे। छपरा के राजेन्द्र कालेज की स्थापना में भी उनका हाथ था। फिर वहीं एक और डिग्री (राजपूत) कालेज के कायम करने में तो विशेषकर उन्हीं का हाथ रहा। एसेम्वली में गये। काँग्रेस पार्टी के सचेतक ही नहीं बने, बल्कि विहार प्रदेश के मुख्य नेताओं में उन्हें स्थान मिला। मुझे एकमा के वह दिन याद आते हैं। आदमी अपने भविष्य को अपने हृदय में छिपाये आता है, लेकिन उसका अच्छी तरह पता उसे भी नहीं रहता, दूसरे क्या जानेंगे !

10
पं. गिरीश तिवारी

पं. गिरीश तिवारी ने मैट्रिक पास करके असहयोग किया। अपने दूसरे साथियों की तरह परीक्षा में बैठने से पहले स्कूल छोड़ने में सबसे बड़ी अड़चन घर से थी। वह बहुत मेधावी छात्र थे। परिवार खानदानी रईसों का था, लेकिन अवस्था बिगड़ गई थी। अब भी जमींदार कहे जाते थे, अपने गाँव बरेजा और एकाध जगह और भी कुछ जमींदारी थी, लेकिन वह इतनी नहीं थी, जिससे घर का काम-काज अच्छी तरह चल सकता। उनके

पिता कचहरी के अखाड़िया थे। जब देखो तब छपरा कचहरी में हाजिर रहते थे। मुझे तो समझ में नहीं आता था, कि कहाँ से इनके पास इतने मुकद्दमें आते हैं। दूसरे के मुकद्दमों को वकीलों और मुख्तारों के पास ले जाकर, उनसे चौथ वसूल करनेवाले सोख्तार या एजेन्ट भी उस समय दुर्लभ नहीं थे, लेकिन बूढ़े तिवारीजी सोख्तारी नहीं करते थे। गिरीश हमारे साथ काम करते थे। बराबर उनके पिता से भेंट होती रहती थी। यद्यपि स्कूल छोड़ने के वक्त मैं नहीं था, कि बरगलाने का दोष मुझ पर लगता। पर, यह तो जानते थे कि गिरीश का मेरे साथ घनिष्ट सम्पर्क है, लेकिन कभी उन्होंने इसके बारे में मुझसे कुछ नहीं कहा।

असहयोग के आरम्भ होने के समय तक पूर्वी युक्तप्रदेश और विहार के शिक्षितों में थियोसोफी का काफी जोर था। श्रीमती एनी बेसेन्ट ने एक लड़के को लेकर उसे ठोक-पीट कर जगत्‌गुरु बनाने का बीड़ा उठाया था। जगत्‌गुरु के स्वागत के लिए तरुणों की एक मण्डली स्टार सेन्टर या न जाने किस नाम से हर जगह संगठित की गई थी। तरुणों के सामने उपदेश देने, उन्हें मेस्मेरिज्म या हेप्नाटिज्म के सहारे अभिभूत करने के लिए थियोसाफी के काले-गोरे उपदेशक जब-तब देश में घूमते रहते थे। गिरीश के बात करने का बड़ा विचित्र ढंग है। मामूली बात को लेकर भी वह आदमी को हँसा सकते हैं, और तारीफ यह कि अपनी हँसी को केवल आँखों तक ही आने देते हैं। उन्होंने कभी स्टार चेम्बर या जो कोई भी वह संगठन रहा हो, उसकी बात बड़े मनोरंजक ढंग से सुनाई, मैंने देखा नालायक छोकरे वहाँ कृष्ण भगवान का दर्शन करते हैं, और मुझे कहीं कोई चुहिया भी नहीं दिखाई पड़ती थी। तीव्र और तर्कप्रधान बुद्धि पर हेप्नाटिज्म चल नहीं सकता था, इसीलिए गिरीश कृष्ण का दर्शन करने से वंचित रहे।

मेधावी छात्र थे। कॉलेज का दरवाजा खुल गया था। घरवालों को उनकी आवश्यकता थी। जैसे-तैसे वह पढ़ाने का खर्च भी दे सकते थे, पर गिरीश को यह अफसोस था कि मैं अपने दूसरे साथियों के साथ पहले ही क्यों न स्कूल को छोड़ कर चला आया। उन्होंने फिर कभी कॉलेज की ओर नजर नहीं दौड़ाई और बराबर राष्ट्र के काम में डटे रहे।

उनके गाँव बरेजा के बारे में भी दो-एक बात कह देना चाहता हूँ। बरेजा एकमा से माँझी जानेवाली सड़क पर एक बड़ा गाँव है। वहाँ तिवारी ब्राह्मणों का गढ़ था, जिसके बारे में आसपास के लोग सिहाते हुए कहते हैं, लछिमी और कुल दोनों में वह परिपूर्ण है। कभी वहाँ के सभी तिवारी बहुत अच्छी हालत में थे। लेकिन, अब दो ही तीन घर ऐसे थे, जिनके पास काफी जमींदारी थी, और उनकी बबुअई चलती थी। तिवारी लोगों की विशाल हवेलियों को देखने से मालूम होता था कि उनके यहाँ कभी लक्ष्मी की कृपा थी। जो अच्छी हालत में थे, वह भी कांग्रेस की सहायता करने से झिझकते नहीं थे, गुप्त या प्रकट बराबर मदद देते रहते थे। गिरीश असहयोग के आरम्भ में ही एकमा में काम करने लगे थे। सदा साथ रहने से मुझे उनकी योग्यता का भली प्रकार पता था। प्रभुनाथ बाबू और गिरीशजी मेरे दाहिने-बायें हाथ माने जाते थे। मुझको उनके ऊपर बहुत गर्व था। दोनों की एकमा में रहते समय ही प्रतिद्वंद्विता छिड़ गई, और यह देखकर मुझे दुःख रहा कि वह सदा के लिए रह गई।

1921 की वर्षा के अन्तिम महीनों में छपरा और उसके कई थानों में जोर की बाढ़ आई। बाढ़-सहायता के संगठन में मुझे भी लग जाना पड़ा। जब मालूम हुआ, कि एकमा के कुछ भागों और उससे भी अधिक सिसवन थाने में बाढ़ से लोगों को हानि पहुँची है तो उसकी ओर ध्यान देने की जरूरत पड़ी। सिसवन में आरम्भ में कभी कांग्रेस का कुछ काम हुआ हो तो हुआ हो, नहीं तो असहयोग-आन्दोलन का वहाँ कोई पता नहीं था। आन्दोलन चला होता तो वहाँ कार्यकर्ता रहते। तरुण कार्यकर्ताओं के होने पर बाढ़ या दूसरे किसी काम में सहायता को संगठित किया जा सकता था। वहाँ की स्थिति को देखकर मैंने गिरीश को कहा, वह वहाँ जाने के लिए तैयार हो गये। एकमा मूल स्थान था, उनका भी और मेरा भी। इसलिए उसके छोड़ने में दुःख जरूर होता था, लेकिन हमें काम को देखना था। सिसवन थाना राजनीतिक काम के लिए मरुभूमि जैसा था। वहाँ का सबसे बड़ा और धनी गाँव चैनपुर था, जिसकी ही शाखा छितौली भी था। यहाँ बड़े-बड़े धनी जमींदार रहते थे, जिनकी आमदनी पहले लाखों तक पहुँचती थी। लेकिन कई उनमें विगड़ गये थे। विगड़े हुए

जमींदार भी अपने दिमाग को आसमान ही में रखते थे। कैसे वह अपने लिफाफे को कायम रखते हैं, यह हमारे जैसों के लिए समझना भी मुश्किल था। कितनों के महल अच्छी हालत में थे, और कितने ही अपनी-अपनी हवेलियों के दरवाजों और कड़ियों को बेचकर पी रहे थे। शराब पीने का उनमें बहुत रवाज था। जाति के तौर पर शराब के वर्जित रहने पर भी समरथ को उसे छोड़ने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता। लोग झट गोसाईंजी की पाँती बोल देते हैं–'समरथ को नहिं दोष गुसाईं।'

चैनपुर के बाबू लोग अंग्रेजों के परमभक्त थे। बड़े जमींदारों का अंग्रेजों के राज्य के भीतर स्वतंत्र अलग राज्य था। वह कानून से ऊपर थे, अपनी निरीह रियाया पर चाहे जो भी अत्याचार कर सकते थे। उनकी मर्जी के खिलाफ कोई कांग्रेस का काम करने के लिए कैसे तैयार हो सकता था ? चैनपुर में या तो जमींदारों के लग्गू-भग्गू थे, या उनके असामी (प्रजा)। कुछ थोड़े-से छोटी-मोटी दूकान करनेवाले बनिये थे। बाबू लोगों की छाया के कारण वहाँ कांग्रेस का बिरवा पनपने नहीं पाता था। गिरीशजी को ऐसी ही जगह काम करना था। कठिन काम था, यह मैं समझ रहा था, क्योंकि बाढ़-सहायता के काम के संगठन करने से पहले मैं एक-दो बार चैनपुर-सिसवन का दौरा कर आया था। मुझे गिरीशजी पर पूरा भरोसा था, लेकिन यह आशा नहीं कर सकता था कि स्कूल छोड़कर आया एक नातजर्वेकार तरुण ऐसी जगह जाकर पूरी तौर से काम कर सकेगा। गिरीशजी ने कठिन काम को उसी तरह लेकर अच्छी तरह करना शुरू किया, जिस तरह पानी में मछली। चैनपुर के डरपोक बनिये और दूसरे लोग उनकी सहायता करने के लिए तैयार हुए। बाढ़ में सहायता देने के लिए उन्होंने जगह-जगह घूम-घूम कर जो काम किया था, उसका बहुत प्रभाव पड़ा। सिसवन थाने और चैनपुर में धीरे-धीरे कितने ही कांग्रेस के कर्मी तैयार हो गये। बाबू लोगों में छितौली के बच्चा बाबू (बाबू श्रीनन्दन प्रसाद नारायण सिंह) उनके प्रभाव में आये। बच्चा बाबू ने अपना समय कांग्रेस को देना शुरू किया। कितने ही समय तक गिरीशजी सिसवन थाने के प्रधान नेता और कार्यकर्ता रहे। साधारण लोगों में मिल जाना, उनके पेट में बैठकर बातों को समझाना जैसे जननायक के गुण उनमें मौजूद थे।

चरखा और खद्दर के बारे में मेरा वही विचार नहीं था, जोकि गाँधीवादी नेताओं का। तो भी जब लोग बाढ़ या दूसरे कारणों से भूखे मर रहे हों, उस वक्त चरखा और खद्दर से उनको चार पैसे मिल सकते थे, यह उनके लिए बड़ी सहायता थी। इसे मैं स्वीकार करता था। बाढ़ के समय मैंने बहुत-से चरखे और करघे बनवाये। सिसवन भी 'अपनी ही जगीरी' में था। सन्देश जाने पर गिरीशजी ने वहाँ से चार सौ के करीब तकुवे बनवा भेजे। बेचारे लोहार को कुछ मजूरी के पैसे मिले। एकमा में हम उनका पूरा उपयोग नहीं कर सके।

दो साल की दूसरी जेल-यात्रा से लौटने के बाद 1925 में फिर हम वैसे ही काम करते रहे। उस समय बच्चा बाबू और गिरीशजी भी कानपुर कांग्रेस में गये थे। कांग्रेस के बाद मुझे घुमक्कड़ी ने खींच लिया, और पाँच-सात महीने मैं पंजाब, कश्मीर, लद्दाख की सैर करने चला गया। इस बीच ऐसी घटना घटी कि हम दोनों दो विरोधी कैंप में चले गये। बच्चा बाबू कांग्रेस में दिल लगाकर काम कर रहे थे। सिसवन के कांग्रेसी कार्यकर्ताओं और गिरीशजी का ख्याल उन्हें कांग्रेस की ओर से एसेम्बली में खड़ा करने का होना स्वाभाविक था। मैं बराबर देखता नहीं था, लेकिन पिछले दो-तीन वर्षों में बच्चा बाबू ने मन लगाकर काम किया था। जिले-भर में घूमे थे और आधे जिले के कांग्रेसी कार्यकर्ताओं का उन्होंने विश्वास प्राप्त कर लिया था। लद्दाख की ओर मेरी अनुपस्थिति में कांग्रेसकर्मियों ने बच्चा बाबू को एसेम्बली में भेजने का पक्का निश्चय कर लिया, इस निश्चय में सबसे बड़ा हाथ गिरीशजी का था।

लेकिन उस चुनाव-क्षेत्र से कांग्रेस चुनाव-मण्डल ने एक दूसरे योग्य कांग्रेसकर्मी को खड़ा कर दिया। अब हमारे कार्यकर्ताओं की गति साँप-छछुन्दर-सी हुई। बच्चा बाबू को गिरीशजी वचन दे चुके थे, उनके साथ और भी कितने ही कार्यकर्ता प्रतिज्ञाबद्ध थे। उन्हें बीच में कैसे छोड़ सकते थे ? मेरे लिए तो कांग्रेस ने जिसको खड़ा कर दिया, उसी का समर्थन करना आवश्यक था। मेरी भी इच्छा थी कि कांग्रेसकर्मियों की राय को ठुकराना नहीं चाहिए। जिसके लिए उनकी राय थी, उसकी सफलता की भी अधिक संभावना थी। चुनाव में मैं कांग्रेसी उम्मीदवार के लिए सभायें करता फिरता, और उधर गिरीश जैसा सारथी यदि न मिला होता, तो हजारों खर्च

करके भी बच्चा बाबू हार जाते। हम दोनों की विचित्र स्थिति थी। महाभारत के द्रोण और अर्जुन की कथा याद आती थी। दोनों दो ओर से लड़ रहे थे, लेकिन उनके निजी सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं आया। चुनाव के दौर में हम कभी-कभी मिल जाते, गिरीश आकर चरण छूकर बाबा को प्रणाम करते।

इसी चुनाव में एक और भी बात आई। किसानों के प्राण स्वामी सहजानन्द सरस्वती उस समय बच्चा बाबू के समर्थक होकर उनके चुनाव-क्षेत्र में घूमते थे। प्रचार करनेवाले मेरे धुआँधार प्रचार से घबराते थे, और कभी ऊटपटाँग बातें भी करना चाहते थे। हम दोनों अभी इतने घनिष्ट नहीं हुए थे, लेकिन एक-दूसरे के अदृष्ट प्रशंसक थे। जब कभी कोई ऐसी बात बोलना चाहता, तो स्वामीजी उसे डांट देते थे—चुप रहो, तुम्हें उनका क्या पता है।

चुनाव में गिरीश जिसके सारथी बने थे, उसकी जीत हुई, और कांग्रेस की हार हुई। चुनाव के समय ऐसी घटनाओं का अभी पहले-पहल तजर्बा था, लेकिन मैं कुछ सजग हो गया था। एक बार कांग्रेस के विरोध में खड़े लोग सदा उसके विरोधी नहीं रह सकते। बच्चा बाबू फिर कांग्रेस में आये। गिरीशजी ने चुनाव के वक्त में चाहे जो कुछ किया हो, पर वह बराबर कांग्रेस के रहे। 1927 के बाद मैं बाहर रहने लगा, गिरीश अपने और कितने साथियों की तरह स्वतन्त्रता आन्दोलन में कार्य करते रहे। कितनी ही बार जेल गये। नमक-सत्याग्रह में तो बरेजा ने कमाल कर दिया था। वहाँ गोरखा सैनिक बैठा दिये गये थे। राष्ट्रीय झण्डा खड़ा होने नहीं पाता था, लेकिन बरेजा के तरुण न जाने कब किसी ऊँचे पेड़ के ऊपर राष्ट्रीय झण्डा गाड़ आते। गोरखा सैनिक और अफसर उसके उतारने के लिए परेशान हो जाते। बरेजा से डेढ़ ही मील पर दो-दो हाई स्कूल होने पर भी गिरीश तिवारी के प्रयत्न से वहाँ हाई स्कूल खुला। उनका सम्मान जिले और प्रान्त में बढ़ा। एक बार कुछ समय तक उन्होंने प्रान्त के जन-कल्याण विभाग के उपाध्यक्ष का काम सँभाला। कांग्रेस की ओर से एसेम्बली में चुने गये। आज सारे बिहार में उनकी दक्षता को लोग मानते हैं। उनके बूढ़े पिता अपने पुत्र को इस अवस्था में नहीं देख सके। पिता ने पीछे अपनी सफेद दाढ़ी बढ़ा ली थी। सन् 42 के आन्दोलन में गिरीशजी ने दिल खोलकर भाग लिया। उसी समय पुलिस के हाथ न पड़ने के लिए उन्होंने दाढ़ी बढ़ाई, फिर उसके साथ मोह हो गया।

11

गोस्वामी फुलनदेव गिरि

एकमा थाने में बेतबनिया एक छोटा-सा गाँव है। असहयोग के समय में बहुत बड़ी संख्या में विद्यार्थी स्कूल-कॉलेज छोड़कर चले आये थे। कुछ दिनों उन्होंने काम भी किया, लेकिन पीछे काम के अभाव या राजनीतिक अनुत्साह के कारण कितने ही घर में बैठ गये। गोस्वामी फुलनदेव गिरि बेतबनिया के रहनेवाले थे, और कॉलेज में आई. ए. (एफ. ए.) में पढ़ते थे, जहाँ से असहयोग करके चले आये। कुछ महीनों बाद मुझे पता लगा कि एक नौजवान विद्यार्थी अपने गाँव में पड़ा हुआ है। उन्हें भी मालूम हुआ कि एकमा थाना जगा है। वह काम करने के लिए आ गये। फुलनदेवजी का त्याग एक और तरह से देखने पर भी असाधारण था। उनका शरीर दुबला-पतला है और एक पैर से मजबूर होने से वह खेती-गृहस्थी का काम नहीं कर सकते थे, और न दूसरे किसी रास्ते का मिलना आसान था। काम करने की बात हुई। लेकिन काम क्या दिया जाय ? घूम-घूम कर सभाएँ वह कर नहीं सकते थे।

लेकिन, काम की क्या कमी थी ? हमारे थाने में गांधी विद्यालय लड़कों के पढ़ने के लिए था। स्वराज्य आश्रम के लिए हमने एक मकान दखल कर लिया था। बेचारे मकान-मालिक छपरा शहर के रहनेवाले थे, वह निकाल नहीं सकते थे। पढ़ाने के लिए हमारे पास नौजवानों की कमी नहीं थी। जरूरत नहीं थी कि जो पढ़ावे,

वह सभा में भाषण देने भी जाय। फुलनदेवजी के लिए यह काम हाजिर था, लेकिन मैं कुछ दिनों से सोच रहा था, हमारे यहाँ खद्दर का भी कुछ काम शुरू हो। सैकड़ों चरखे बनवाकर हमने बाँटे, लेकिन उनमें से वहुतेरे ईंधन के काम आये। तजर्वे ने वतला दिया कि चरखा बाँटना बेकार है। चरखे के साथ रुई को भी सुलभ करना चाहिए। जो सूत कते, उसके कपड़े बनाने का या खरीद लेने का भी प्रबन्ध करना जरूरी है। यदि इतना हो जाये, तो खद्दर का काम चल सकता है। छपरा जिले में मलखाचक में खद्दर उत्पादन का एक वड़ा केन्द्र कायम हुआ था, लेकिन वह सब जगह अपनी बाँह नहीं फैला सकता था। फुलनदेवजी को कहा—आप यहाँ खद्दर भण्डार संगठित कीजिये। बाढ़-सहायता के मद से कुछ रुपये इस काम के लिए मिल गये, इसलिए कार्य आरम्भ करने में आर्थिक कठिनाई नहीं थी। उसी वक्त मैं घूमते हुए बिन्दालाल के रामपुर में पहुँचा। रामपुर कायस्थ लोगों का गाँव है। किसी समय वे लोग वहुत खुशहाल थे। वहाँ पुराने जमाने की एक हवेली उसी साल की वर्षा में गिर गई थी, जिसमें साखू की पुरानी धन्नी लगी हुई थीं। पचासों वर्षों की यह लकड़ी टेढ़ी-मेढ़ी होनेवाली नहीं थी। मुझे मालूम हुआ, इनका करघा बहुत अच्छा बन सकता है। मैंने गाड़ी भर खरीदकर परसा में किसी आदमी के पास रखवा दिया, वढ़ई उसे करघा बना-बनाकर भेजने लगे। आधी-तिहाई ही लकड़ी का इस्तेमाल हो सका, बाकी लकड़ी जिसके पास अमानत रही, उसी के काम आई। फुलनदेवजी को सब लोग गिरीजी कहते थे। वह खानदानी गोसाईं थे, लेकिन नौजवान इतना शिष्टाचार करना नहीं जानते, इसलिए सभी लोग उन्हें गिरीजी कहा करते थे।

गिरीजी वड़ी लगन के साथ एकमा के छोटे-से खद्दर-भण्डार में लग गये। रुई कते सूत के खरीदने और उससे कपड़ा बुनवाने के काम को उन्होंने अच्छी तरह संगठित किया। लेकिन मुकाबिला मिल के कपड़ों से था। अभी अम्वर चरखा जैसा कोई चरखा नहीं निकला था, इसलिए दिन में दो-चार पैसे से ज्यादा कताई करके मजूरी पाना सम्भव नहीं था। यह लेक्चर देना आसान था कि शून्य से चार पैसे वहुत अधिक होते हैं। लोग इसको मानने के लिए तैयार नहीं। वेकार रहना पसन्द था, लेकिन इतनी कम मजूरी का उनके लिए कोई आकर्षण नहीं था। गिरीजी ने खद्दर-भण्डार को दो-एक वर्ष सँभाला, फिर वह अपने आप बैठ गया।

बड़ी जेल-यात्रा से लौटने के बाद मालूम हुआ, कि गिरीजी ने वैद्यक परीक्षा पास कर ली। बेतबनिया छोड़कर उन्होंने एकमा को प्रैक्टिस के लिए अच्छा समझा। एकमा केन्द्र में है, वहाँ स्टेशन, थाना, रजिस्टरी के साथ-साथ एक अच्छा-खासा बाजार है। वहीं पर उन्होंने चिकित्सा शुरू कर दी। लगन तो उनमें थी ही, और समझ भी, इसलिए उनकी प्रैक्टिस जम गई। बीमारों को देखने के लिए उन्हें पैदल जाने की जरूरत नहीं थी, घोड़ी रख ली। एकमा में रहने से एक फायदा यह भी था कि वह कांग्रेस के काम में बराबर सहयोग देते थे।

इसी साल (1956) के आरम्भ में एकमा जाने पर गिरीजी से भेंट हुई। उनके तरुण चेहरे को ही मैंने बहुत अधिक देखा था। बीच-बीच में भिन्न-भिन्न आयु के मुँह को भी देखा, पर उसकी स्मृति मजवूत नहीं थी। अब मैं देख रहा था, उनके बाल सफेद हो गये हैं। शरीर पर कुछ मांस बढ़ा तो है, लेकिन वह नाममात्र ही का। अपनी जवानी को उन्होंने देश के लिए कुरबान किया था। ऐसी कुर्बानी करनेवाले हमारे देश के नौजवान बुढ़ापे में आर्थिक चिन्ताओं से ग्रस्त हैं। गिरीजी से यह सुनकर वड़ी खुशी हुई कि उनके लड़के अच्छी तरह हैं। गिरीजी का जीवन भी सुखी है। एकमा में दो-तीन घर बना लिये हैं। किसी समय उन्होंने वेतवनिया में ही जड़ी-बूटियों और औषधि के वृक्षों को लगाना शुरू किया था। बेतबनिया छोड़ कर एकमा रहना उनके लिए अच्छा हुआ। अव तो 30 वर्ष से ऊपर एकमा में ही रहते उनको हो गये। उनके बच्चों का घर एकमा ही है। गिरीजी को इसका अफसोस नहीं हो सकता, कि उनकी जवानी व्यर्थ गई। देश की स्वतन्त्रता का जो स्वप्न उन्होंने तरुणाई में देखा था, अब उसे प्रत्यक्ष देख रहे थे। अभी भी देश की कठिनाइयाँ और दरिद्रता हटी नहीं है, लेकिन अंग्रेज राहु तो यहाँ से चले गये। पिता—गोस्वामी रामजनम गिरी, माता—श्रीमती परमेश्वरी देवी, जन्मदिन—1 फरवरी, 1902।

12

पं. ऋषिदेव ओझा

ओझाजी खलीफा थे। खलीफा उधर पहलवान को कहते हैं। कान टूटा रहना पहलवान का चिह्न है। ओझाजी के दोनों कान टूटे हुए हैं। उनका कद मझोला था और शरीर ऐसा था, जिसे देखकर कोई उनके पहलवान होने का गुमान नहीं कर सकता। 1921 और उसके बाद जब ओझाजी से मेरा सम्पर्क हुआ, वह प्रौढ़ावस्था में पहुँच चुके थे। 40-45 वर्ष के रहे होंगे। हो सकता है, उससे दस वर्ष पहले उनका शरीर अधिक तगड़ा रहा हो। पर, पं. ऋषिदेव ओझा को अपने एकमात्र जवान पुत्र के मरने का शोक सहना पड़ा। तरुण पुत्रवधू को देख-देखकर वर्षों बीतने के बाद भी वह अपने बेटे के वियोग को भूल नहीं सके। जब मैं उनको देखता, तो उनके भीतर सुलगती आग को देखकर उद्विग्न हो उठता। बाहर से वह अपने शोक को कभी नहीं प्रकट करते थे।

पं. ऋषिदेवजी का गाँव हूसेपुर एकमा से बहुत दूर नहीं है, मील-सवा मील होगा और परसा का तो वह सटा हुआ गाँव है। ओझाजी चौड़ी बाँह का कुर्ता पहनते थे। मेरी उस समय धारणा थी कि खलीफा के लिए ऐसा कुर्ता जरूरी है। उनकी मूँछ काफी रोबीली थी। खड़ी करके नहीं रखते लेकिन वह गिरी भी नहीं होती थी। अपने घर में रहते लेकिन उनका एक पैर एकमा के स्वराज्य आश्रम में रहता था।

ओझाजी अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे। यही समझिये दस्तखत कर लेते और रामायण पढ़ लेते थे। भोजपुरी विशेषकर पूर्वी भोजपुरी-क्षेत्र के लोग हिन्दी बोलने के फेर में नहीं रहते, वह अपनी ही बोली बोलते हैं। लेकिन, जहाँ तक स्मृति बतलाती है, वह अपनी भोजपुरी में हिन्दी का पुट भी डाल लेते थे। हिन्दी को वहाँ उर्दू-फारसी कहा जाता था। शायद ओझाजी के ऐसा करने का कारण उनका रेवती से सम्बन्ध था। न जाने ननिहाल या क्या सम्बन्ध उनका रेवती में था। रेवती सरयू पार बलिया या गाजीपुर जिले में एक बहुत बड़ा गाँव है। शायद अखाड़िया भी वह वहीं हुए। अपने गाँव के श्री भुवनेश्वर ओझा उनके चेलों में से थे, जिनका शरीर उस्ताद से ज्यादा तगड़ा था।

हूसेपुर ओझा ब्राह्मणों का गाँव है। मामूली खेती-किसानी उनका पेशा है। पास में परसा बाबू लोगों का गाँव है। पुराने दंडमंड महलों के भीतर अब भी दो-एक महल आबाद थे, जहाँ दरबार लगता था। शाम को 4 बजे से दो-तीन घंटे के लिए मुसाहिब आ जाते थे। अधिक ऊँचे दर्जे के मुसाहिब तो देवढिया या दूसरे उन गाँवों के लोग ही हो सकते थे, जिनमें कुछ विद्याबुद्धि अधिक थी। हूसेपुर में विद्या का कोई प्रचार नहीं था। वहाँ के मुसाहिब बाबू लोगों की लड़ाई में लाठी चला सकते थे। भोजपुरियों की लाठी बंगाल तक कीर्ति अर्जित कर चुकी थी। हूसेपुर में अच्छे लठधर आसानी से मिल सकते थे। ओझाजी लठधरों में नहीं थे। मामूली किसान थे। सतसंग का प्रभाव पड़ा था। यही कारण था कि वह कांग्रेस और असहयोग-आन्दोलन में काम करते थे। सर्वशक्तिमान् अंग्रेजों का राज्य हिन्दुस्तान से चला जायगा, यह जब बड़े-बड़े पढ़े-लिखे वकील-बैरिस्टरों के नहीं समझ में आता था, तो हूसेपुर के किसान के लिए उसका समझना तो टेढ़ी खीर था, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। पर, जहाँ बुद्धि न काम देती हो, वहाँ श्रद्धा बहुत सहायक होती थी। ओझा जी की अपार श्रद्धा थी। वह समझते थे, अंग्रेज जरूर हमारे देश से जायँगे और हमारा अपना राज्य होगा। वह जोश में आकर कभी-कभी अंग्रेजों को दो-चार गाली भी दे देते थे। हम उनको अपने थाने (एकमा) का एक नेता मानते थे। न जाने क्यों मेरा आकर्षण उनकी ओर बहुत ज्यादा था। हो सकता है, इसका कारण उनका भोला-भाला स्वभाव, उनकी अटूट श्रद्धा हो। उनका पारिवारिक दुखमय जीवन और भी अधिक करुण मालूम होता था।

एक ऐसा भी समय आया, जब अपने पुराने सम्बन्ध के कारण ओझाजी ने परसा के एक बाबू के पक्ष में होकर परसा में ही मेरे लिए कुछ अप्रिय शब्द कहे। बाबू हमारे कांग्रेसी जिला-बोर्ड के उम्मीदवार श्री लक्ष्मी नारायण सिंह के खिलाफ खड़े हुए थे। मैं कांग्रेस की ओर से प्रचार कर रहा था। ओझाजी सीधे-सादे आदमी

तो थे ही। वह अंग्रेजों के दुश्मन थे, लेकिन बाबू अंग्रेज नहीं थे, वह तो खानदानी सरपरस्त थे। जैसे भी हो, वह भटक गये। उस दिन जो शब्द उनके मुँह से निकले, उसके कारण मुझे बहुत क्षोभ हुआ। लेकिन, उसके कारण ओझाजी के प्रति मेरे भावों में जरा भी परिवर्तन नहीं हुआ। मैंने सोचा, जब तक जमींदारी-प्रथा है, तब तक ऐसा होता ही रहेगा। शायद 1926 या 1927 की बात है। उसी दिन मैंने प्रतिज्ञा की कि जब तक ज़मींदारी-प्रथा रहेगी, तब तक मैं परसा में नहीं आऊँगा। यह प्रतिज्ञा बिल्कुल चुपचाप की गई थी और कभी परसा चलने की बात पर ही किसी-किसी को इसका पता लगा। लेकिन वर्षों न जाने से इसका बहुत प्रचार हो गया। जमींदारी उठने के वाद परसा के वन्धुओं का आग्रह हुआ, तीस वर्ष वाद इस साल मैं वहाँ गया।

उस दिन परसा में ओझाजी को देखकर मुझे अपार आनन्द होता। लेकिन वह तो वर्षों पहले दिन-रात दिल में जलनेवाली भट्ठी से मुक्त होकर चले गये थे। जिस दिन की वह इतनी लालसा से प्रतीक्षा कर रहे थे, वह दिन आया। उनके अपार घृणा के पात्र अंग्रेज देश को छोड़कर चले गये। लेकिन उन्होंने इसे अपनी आँखों नहीं देखा। पं. ऋषिदेव ओझा जैसे हमारे देश के लाखों किसान-पुत्रों और गरीबों ने चुपचाप अपने जीवन की आहुति स्वतन्त्रता-यज्ञ में दी।

13
बाबू वासुदेव सिंह

दुनिया में हर देश और हर काल में उच्च आदर्शों के लिए अपने नवयौवन का उपहार चढ़ानेवाले तरुण सदा से रहे हैं। भारत की स्वतन्त्रता के लिए वही दीवाने बने। गांधीजी ने जब देश की असहयोग के लिए पुकार की, तो सबसे बड़ी संख्या में वही आगे आये। उन्होंने अपने स्कूलों और कॉलेजों को छोड़ा, नौकरियों को लात मारी, भविष्य की कोई परवाह नहीं की। 1921 ई. में स्वराज्य प्राप्त करना वहुत दूर का सपना था। तेजबहादुर सप्रू और दूसरे अपने को दिमाग में लासानी समझनेवाले इसको कोरा पागलपन समझते थे। विधि की विडम्बना देखिये कि कुर्बानियाँ करनेवाले भुला दिये गये, लेकिन सप्रू को आधुनिक भारत का चाणक्य मानकर दिल्ली के देवताओं ने दिल्ली में लाखों रुपया लगा कर उनका स्मारक सप्रू भवन के रूप में खड़ा किया। अंग्रेजों के इस अनन्य भक्त को क्या यह पारितोषिक मिलना चाहिए था ? आज सत्तारूढ़ भले ही मनमानी कर लें, लेकिन इतिहास इसे क्षमा नहीं कर सकता।

वासुदेव ने भी बिहार के हजारों विद्यार्थियों की तरह हाई सकूल से असहयोग किया। अपने गाँव छित्रौलिया में बैठ गये थे, जबकि असहयोग की पहली बाढ़ के दबने के बाद जुलाई (1931 ई.) में मैं एकमा पहुँचा। काम करनेवाले तरुणों की कमी नहीं थी, थोड़े ही समय में घर बैठे ऐसे बहुत-से तरुण काम पर लग गये। उत्साही तरुणों में रहते मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। एकमा थाना को हमने जगा दिया। पड़ोस में सिसवन थाने में वाढ़-सहायता की आवश्यकता देखकर मैंने गिरीश को भेजा और उन्होंने बाढ़पीड़ितों को ही सहायता नहीं पहुँचाई, बल्कि उस थाने में भी कांग्रेस का झण्डा फहराया। इसी समय पासवाले रघुनाथपुर थाने की ओर मेरा ख्याल गया, जहाँ भी बाढ़ से क्षति पहुँची थी। उस समय मुझे क्या मालूम था कि इसी थाने के अमवारी के पीड़ित किसानों के लिए मुझे सत्याग्रह करना, सिर फुड़ाना पड़ेगा, और कांग्रेस सरकार द्वारा हाथों में हथकड़ी पहनाकर जेल भेजा जाऊँगा। हाँ, ऐसे समय (1939) जबकि अंग्रेज हमारे देश से गये नहीं थे। रघुनाथपुर थाने का काम सँभालने के लिए मैंने तरुण वासुदेव को भेजा।

रघुनाथपुर मेरे लिए अपरिचित नहीं था। मैं वहाँ कई सभाएँ कर चुका था। देख रहा था, लोगों में देश की आजादी के लिए उत्साह है, पर इस उत्साह को एकत्रित कर शक्ति का रूप देनेवाला कोई नहीं था। रघुनाथपुर में किसी ऐसे तरुण को न देखकर वासुदेव को भेजा। गाँव-गाँव में सभाएँ कीं, कुछ में गया, कहीं-कहीं गिरीश

12
पं. ऋषिदेव ओझा

ओझाजी खलीफा थे। खलीफा उधर पहलवान को कहते हैं। कान टूटा रहना पहलवान का चिह्न है। ओझाजी के दोनों कान टूटे हुए हैं। उनका कद मझोला था और शरीर ऐसा था, जिसे देखकर कोई उनके पहलवान होने का गुमान नहीं कर सकता। 1921 और उसके बाद जब ओझाजी से मेरा सम्पर्क हुआ, वह प्रौढ़ावस्था में पहुँच चुके थे। 40-45 वर्ष के रहे होंगे। हो सकता है, उससे दस वर्ष पहले उनका शरीर अधिक तगड़ा रहा हो। पर, पं. ऋषिदेव ओझा को अपने एकमात्र जवान पुत्र के मरने का शोक सहना पड़ा। तरुण पुत्रवधू को देख-देखकर वर्षों बीतने के बाद भी वह अपने बेटे के वियोग को भूल नहीं सके। जब मैं उनको देखता, तो उनके भीतर सुलगती आग को देखकर उद्विग्न हो उठता। बाहर से वह अपने शोक को कभी नहीं प्रकट करते थे।

पं. ऋषिदेवजी का गाँव हूसेपुर एकमा से बहुत दूर नहीं है, मील-सवा मील होगा और परसा का तो वह सटा हुआ गाँव है। ओझाजी चौड़ी बाँह का कुर्ता पहनते थे। मेरी उस समय धारणा थी कि खलीफा के लिए ऐसा कुर्ता जरूरी है। उनकी मूँछ काफी रोबीली थी। खड़ी करके नहीं रखते लेकिन वह गिरी भी नहीं होती थी। अपने घर में रहते लेकिन उनका एक पैर एकमा के स्वराज्य आश्रम में रहता था।

ओझाजी अधिक पढ़े-लिखे नहीं थें। यही समझिये दस्तखत कर लेते और रामायण पढ़ लेते थे। भोजपुरी विशेषकर पूर्वी भोजपुरी-क्षेत्र के लोग हिन्दी बोलने के फेर में नहीं रहते, वह अपनी ही बोली बोलते हैं। लेकिन, जहाँ तक स्मृति बतलाती है, वह अपनी भोजपुरी में हिन्दी का पुट भी डाल लेते थे। हिन्दी को वहाँ उर्दू-फारसी कहा जाता था। शायद ओझाजी के ऐसा करने का कारण उनका रेवती से सम्बन्ध था। न जाने ननिहाल या क्या सम्बन्ध उनका रेवती में था। रेवती सरयू पार बलिया या गाजीपुर जिले में एक बहुत बड़ा गाँव हैं। शायद अखाड़िया भी वह वहीं हुए। अपने गाँव के श्री भुवनेश्वर ओझा उनके चेलों में से थे, जिनका शरीर उस्ताद से ज्यादा तगड़ा था।

हूसेपुर ओझा ब्राह्मणों का गाँव है। मामूली खेती-किसानी उनका पेशा है। पास में परसा बाबू लोगों का गाँव है। पुराने दंडमंड महलों के भीतर अब भी दो-एक महल आवाद थे, जहाँ दरवार लगता था। शाम को 4 वजे से दो-तीन घंटे के लिए मुसाहिब आ जाते थे। अधिक ऊँचे दर्जे के मुसाहिब तो देवढिया या दूसरे उन गाँवों के लोग ही हो सकते थे, जिनमें कुछ विद्यावुद्धि अधिक थी। हूसेपुर में विद्या का कोई प्रचार नहीं था। वहाँ के मुसाहिब बाबू लोगों की लड़ाई में लाटी चला सकते थे। भोजपुरियों की लाठी बंगाल तक कीर्ति अर्जित कर चुकी थी। हूसेपुर में अच्छे लठधर आसांनी से मिल सकते थे। ओझाजी लठधरों में नहीं थे। मामूली किसान थें। सतसंग का प्रभाव पड़ा था। यही कारण था कि वह कांग्रेस और असहयोग-आन्दोलन में काम करते थे। सर्वशक्तिमान् अंग्रेजों का राज्य हिन्दुस्तान से चला जायगा, यह जब बड़े-बड़े पढ़े-लिखे वकील-बैरिस्टरों के नहीं समझ में आता था, तो हूसेपुर के किसान के लिए उसका समझना तो टेढ़ी खीर था, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। पर, जहाँ बुद्धि न काम देती हो, वहाँ श्रद्धा बहुत सहायक होती थी। ओझा जी की अपार श्रद्धा थी। वह समझते थे, अंग्रेज जरूर हमारे देश से जायँगे और हमारा अपना राज्य होगा। वह जोश में आकर कभी-कभी अंग्रेजों को दो-चार गाली भी दे देते थे। हम उनको अपने थाने (एकमा) का एक नेता मानते थे। न जाने क्यों मेरा आकर्षण उनकी ओर बहुत ज्यादा था। हो सकता है, इसका कारण उनका भोला-भाला स्वभाव, उनकी अटूट श्रद्धा हो। उनका पारिवारिक दुखमय जीवन और भी अधिक करुण मालूम होता था।

एक ऐसा भी समय आया, जब अपने पुराने सम्वन्ध के कारण ओझाजी ने परसा के एक बाबू के पक्ष में होकर परसा में ही मेरे लिए कुछ अप्रिय शब्द कहे। बाबू हमारे कांग्रेसी जिला-बोर्ड के उम्मीदवार श्री लक्ष्मी नारायण सिंह के खिलाफ खड़े हुए थे। मैं कांग्रेस की ओर से प्रचार कर रहा था। ओझाजी सीधे-सादे आदमी

तो थे ही। वह अंग्रेजों के दुश्मन थे, लेकिन बाबू अंग्रेज नहीं थे, वह तो खानदानी सरपरस्त थे। जैसे भी हो, वह भटक गये। उस दिन जो शब्द उनके मुँह से निकले, उसके कारण मुझे बहुत क्षोभ हुआ। लेकिन, उसके कारण ओझाजी के प्रति मेरे भावों में जरा भी परिवर्तन नहीं हुआ। मैंने सोचा, जब तक जमींदारी-प्रथा है, तब तक ऐसा होता ही रहेगा। शायद 1926 या 1927 की बात है। उसी दिन मैंने प्रतिज्ञा की कि जब तक ज़मींदारी-प्रथा रहेगी, तब तक मैं परसा में नहीं आऊँगा। यह प्रतिज्ञा बिल्कुल चुपचाप की गई थी और कभी परसा चलने की बात पर ही किसी-किसी को इसका पता लगा। लेकिन वर्षों न जाने से इसका बहुत प्रचार हो गया। जमींदारी उठने के बाद परसा के वन्धुओं का आग्रह हुआ, तीस वर्ष बाद इस साल मैं वहाँ गया।

उस दिन परसा में ओझाजी को देखकर मुझे अपार आनन्द होता। लेकिन वह तो वर्षों पहले दिन-रात दिल में जलनेवाली भट्ठी से मुक्त होकर चले गये थे। जिस दिन की वह इतनी लालसा से प्रतीक्षा कर रहे थे, वह दिन आया। उनके अपार घृणा के पात्र अंग्रेज देश को छोड़कर चले गये। लेकिन उन्होंने इसे अपनी आँखों नहीं देखा। पं. ऋषिदेव ओझा जैसे हमारे देश के लाखों किसान-पुत्रों और गरीबों ने चुपचाप अपने जीवन की आहुति स्वतन्त्रता-यज्ञ में दी।

13
बाबू वासुदेव सिंह

दुनिया में हर देश और हर काल में उच्च आदर्शों के लिए अपने नवयौवन का उपहार चढ़ानेवाले तरुण सदा से रहे हैं। भारत की स्वतन्त्रता के लिए वही दीवाने बने। गांधीजी ने जब देश की असहयोग के लिए पुकार की, तो सबसे बड़ी संख्या में वही आगे आयें। उन्होंने अपने स्कूलों और कॉलेजों को छोड़ा, नौकरियों को लात मारी, भविष्य की कोई परवाह नहीं की। 1921 ई. में स्वराज्य प्राप्त करना वहुत दूर का सपना था। तेजबहादुर सप्रू और दूसरे अपने को दिमाग में लासानी समझनेवाले इसको कोरा पागलपन समझते थे। विधि की विडम्बना देखिये कि कुर्बानियाँ करनेवाले भुला दिये गये, लेकिन सप्रू को आधुनिक भारत का चाणक्य मानकर दिल्ली के देवताओं ने दिल्ली में लाखों रुपया लगा कर उनका स्मारक सप्रू भवन के रूप में खड़ा किया। अंग्रेजों के इस अनन्य भक्त को क्या यह पारितोषिक मिलना चाहिए था ? आज सत्तारूढ़ भले ही मनमानी कर लें, लेकिन इतिहास इसे क्षमा नहीं कर सकता।

वासुदेव ने भी बिहार के हजारों विद्यार्थियों की तरह हाई सकूल से असहयोग किया। अपने गाँव छित्रौलिया में बैठ गये थे, जबकि असहयोग की पहली बाढ़ के दबने के बाद जुलाई (1931 ई.) में मैं एकमा पहुँचा। काम करनेवाले तरुणों की कमी नहीं थी, थोड़े ही समय में घर बैठे ऐसे बहुत-से तरुण काम पर लग गये। उत्साही तरुणों में रहते मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। एकमा थाना को हमने जगा दिया। पड़ोस में सिसवन थाने में बाढ़-सहायता की आवश्यकता देखकर मैंने गिरीश को भेजा और उन्होंने बाढ़पीड़ितों को ही सहायता नहीं पहुँचाई, बल्कि उस थाने में भी कांग्रेस का झण्डा फहराया। इसी समय पासवाले रघुनाथपुर थाने की ओर मेरा ख्याल गया, जहाँ भी बाढ़ से क्षति पहुँची थी। उस समय मुझे क्या मालूम था कि इसी थाने के अमवारी के पीड़ित किसानों के लिए मुझे सत्याग्रह करना, सिर फुड़ाना पड़ेगा, और कांग्रेस सरकार द्वारा हाथों में हथकड़ी पहनाकर जेल भेजा जाऊँगा। हाँ, ऐसे समय (1939) जबकि अंग्रेज हमारे देश से गये नहीं थे। रघुनाथपुर थाने का काम सँभालने के लिए मैंने तरुण वासुदेव को भेजा।

रघुनाथपुर मेरे लिए अपरिचित नहीं था। मैं वहाँ कई सभाएँ कर चुका था। देख रहा था, लोगों में देश की आजादी के लिए उत्साह है, पर इस उत्साह को एकत्रित कर शक्ति का रूप देनेवाला कोई नहीं था। रघुनाथपुर में किसी ऐसे तरुण को न देखकर वासुदेव को भेजा। गाँव-गाँव में सभाएँ कीं, कुछ में गया, कहीं-कहीं गिरीश

भी गये। गाँव की कांग्रेस पंचायतें संगठित हुईं। वकालत और मुख्तारी करनेवाले लोग कचहरियों को छोड़ नहीं सकते थे, आखिर जीविका का सवाल था। लेकिन, उनमें बहुत कम सप्रू जैसे अंग्रेजों के गुणानुवाद करनेवाले थे। वह भी यथाशक्ति सहायता करते थे। मुरारपट्टी शिक्षित कायस्थों का गाँव था। वहाँ के कितने ही लोग वकील, मुख्तार और सरकारी नौकर थे। वहीं थाने का केन्द्र-सा बना। वासुदेवसिंह ने तीन-चार महीने काम किया। दिसम्बर (1921 ई.) में गाँधीजी सत्याग्रह छेड़नेवाले थे। देश में उसके लिए सभी जगह तैयारी नहीं हुई थी। बिहार के भी कितने ही जिले पिछड़े हुए थे, पर छपरा (सारन) जिला अपने साहस और शौर्य के लिए मशहूर था। उसके अपने ही सगे कुँवरसिंह ने 1857 ई. के युद्ध का नेतृत्व किया था। चम्पारन जिले ने गांधीजी के नेतृत्व में अपने यहाँ से निलहे-गोरों को ऐसा धक्का दिया कि वह चारोंखाने चित हो गये, और थोड़े समय में निलहों का कहीं पता नहीं था। छपरा भला इस समय कैसे पीछे रह सकता था ? लेकिन, यह मैं जरूर कहूँगा कि वहाँ भी हरेक थाने में जोश नहीं देखा जाता था। खुद छपरा थाने में दिया तले अँधेरा था।

हमने तीन थानों एकमा, सिसवन और रघुनाथपुर को तैयार करने का काम सँभाला था। मैं सारा भारत घूमा हुआ था, अपने तरुण साथियों से अधिक तजर्बा रखता था, धार्मिक शास्त्रार्थ और सभाएँ भी की थीं, तरुणों को जमा कर एक विद्यालय भी खोलकर साल-भर देख चुका था। पर राजनीतिक संगठन और उस क्षेत्र में काम करने का मुझे यह पहला अवसर था। मेरे समवयस्क या जेठे साथी मुझसे ज्यादा नहीं जानते थे, इसलिए अपनी सूझ और तरुण मित्रों की सलाह से जो बात ठीक लगती थी, उसी पर चलता और अपने साथियों को भी चलाता। जनता में उत्साह पैदा करने के लिए थाने-भर के लोगों की बड़ी सभा होनी चाहिए। सारे थाने में सत्याग्रह के लिए और अंग्रेजों के अभाव में शान्ति-व्यवस्था कैसे कायम रहे, इसके लिए स्वयंसेवकों को भर्ती करना चाहिए। स्वयंसेवक भी ऐसे हों, जिनको देखने से ही पता लग जाय कि वह गाँधीजी की सेना के सिपाही हैं। सिपाही बनाने में भी इतना कम खर्च होना चाहिए कि जिसे हमारी गरीब जनता बर्दाश्त कर सके। सब सोचकर कुर्ता, जाँघिया, गाँधी टोपी, एक झोला और लाठी यही स्वयंसेवकों की वर्दी निश्चय की गई। धेले के रामरज में रँगाई हो जाती। सब मिलाकर तीन रुपये से कम ही खर्च आया। एकमा में चार सौ से ऊपर स्वयंसेवक उस दिन बीस हजार की माधवपुर सभा में एकत्रित हुए थे। सामन्तों के गढ़ चैनपुर में थाना के सेनापति गिरीश तिवारी ने भी विशाल सभा में उतने ही स्वयंसेवक एकत्रित कर दिये थे। रघुनाथपुर थाना और भी पिछड़ा हुआ था। उसके लिए मेरे मन में भी सन्देह था। वासुदेव सिंह को अपने काम के बारे में परीक्षा देनी थी। सरकारी नौकरों और खैरख्वाहों के गाँव मुरारपट्टी के विशाल बाग में सारे थाने की विशाल सभा हुई। देवता भी उसे देखकर सिहाते थे। मथुरा बाबू जिले से देखने के लिए आये थे। मैं अपने भाषण में कभी भावुक नहीं बनता। शायद वक्तृत्व-कला मुझमें नहीं है, या उसको मैं महत्व नहीं देता—समझता हूँ, आदमी के दिमाग को अपने हाथ में करना चाहिए, हृदय को अपने हाथ में करना स्थायी नहीं होता। इसीलिए मेरा व्याख्यान भी समझावन होता है। लेकिन उस दिन मुरारपट्टी की सभा को देखकर मैं भी बह गया। चार सौ के करीब वर्दीधारी स्वयंसेवक पाँती से खड़े थे—उन्हें कवायद-परेड सिखाने का मौका नहीं मिला था। गाँव के किसानों के लड़के खड़े कर दिये गये। सभा में दस-प्रंदह हजार लोग जमा हुए थे। मेरा वही आदिम और अन्तिम भाषण था, जिसमें जरूर वक्तृत्व कला थी। मैं वक्ता नहीं बल्कि अभिनेता हो गया था—"हमारी जन्मभूमि फिरंगियों के बूटों के नीचे पड़ी कराह रही है, सारी भूमि खून से लथपथ है। क्या यहाँ एक अंगुल भी जमीन है, जिस पर मृगछाला बिछाकर कोई योग-ध्यान करे ?" मैं अपने सिद्धान्त के अनुसार छपरा में वहाँ की बोली (भोजपुरी) में ही सदा बोलता था, जिसके कारण भाषण का एक भी शब्द लोगों के कान और दिमाग से बाहर नहीं जाता था। उस दिन की इस सभा और अपने स्वयंसेवकों के संगठन द्वारा वासुदेव ने बतला दिया कि उनमें संगठन और नेतृत्व की शक्ति है, देश भी उसके लिए तैयार था, नहीं तो बड़े-बड़े संगठन और नेता की आवाज भी अरण्य-रोदन होती।

रघुनाथपुर थाने में उसके बाद न जाने कितने समय तक वासुदेव काम करते रहे। मैं पहले छः महीने

और फिर कुछ समय बाद दो साल के लिए जेल चला गया। देश में चारों ओर राजनीतिक शिथिलता छा गई। इससे लाभ उठाकर अंग्रेजों ने साम्प्रदायिक झगड़े खड़े करवा दिये। हिन्दू महावीरी झण्डा निकालने लगे, मुसलमान उस पर पत्थर फेंकने लगे। यत्र-तत्र खूनखराबियाँ हुईं।

बाबू वासुदेव सिंह अपने गाँव चले आये, जो एकमा के नजदीक था। 35 वर्ष बाद उस दिन (1956 ई. के आरम्भ) मैंने उन्हें देखा। बाल बिल्कुल सफेद थे, बूढ़े हो गये थे। आज की पीढ़ी को क्या मालूम कि उन्होंने अपने तरुणाई के सुन्दर दिनों और सपनों को उस काम के लिए अर्पित किया जिसका फल आज का स्वतंत्र भारत है।

14
पंडित भरत मिश्र

यदि किसी पुरुष के लिए विचित्र, अद्‌भुत कहा जा सकता है, तो भरत पण्डित उसके लिए सबसे पहले सामने आयेंगे। भरत पण्डित काव्यतीर्थ और संस्कृत के पण्डित होकर छपरा के एक अच्छे स्कूल में संस्कृत पढ़ा रहे थे। अपने नगर और जातिभाई तथा महान् नास्तिक महामहोपाध्याय पं. रामावतार शर्मा के अन्तेवासी होने से उनके विचारों की कुछ छींटें उन पर पड़ी थीं, हाँ, जामे पर ही, शरीर के बाहर या भीतर नहीं, क्योंकि उनका पुरोहितों का कुल था। पुरोहिताई जीविका का साधन थी। इसी के कारण उनके पिता लक्ष्मी पंडित का मान था। मेरा उनसे परिचय असहयोग से चार साल पहले (1917 ई.) से था। स्कूल की नौकरी करते थे, पर जब-तब विद्या-प्रचार, धर्म-प्रचार या और किसी बात को लेकर जिले के मुख्य स्थानों में भी जाया करते थे। परसा में आने पर उन्होंने महन्तजी को संस्कृत पाठशाला स्थापित करने की प्रेरणा दी। शायद उसी के फलस्वरूप वह स्थापित भी हुई। मैं महन्तजी के आग्रहपूर्ण पत्र को पाकर मठ की जमींदारी सँभालने के लिए जाड़ों में आया था। संयोग से भरतजी से मुलाकात हो गई। उस साल कई परीक्षाओं में बैठने का मैंने निश्चय किया था। भरतजी की सलाह हुई कि विहार की 'शांख्य-मध्यमा' में भी बैठ जाऊँ। मैंने फार्म भी भर दिया। यह पास होने लायक परीक्षा थी, क्योंकि याद करना कम और समझना ज्यादा हो, तो प्रश्नों का अच्छी तरह उत्तर दे सकता था। पर, दो परीक्षाएँ एक ही तिथियों में पड़ीं, इसलिए इसे छोड़ देना पड़ा। उस समय भरतजी से बातचीत हुई थी, उसके कारण वह मेरी विद्या का परिचय रखते थे।

सुदूर दक्षिण से राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने के लिए 1921 ई. में जब मैं पहले-पहल छपरा पहुँचा, तो मथुरा बाबू और दूसरों ने भी मेरी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। उन्होंने यह तो देखा होगा कि मेरी भाषा असाधारण थी। पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। पर भरतजी मुझसे परिचित थे। असहयोग में उन्होंने स्कूल की नौकरी छोड़ दी थी, और अब जिले के एक प्रमुख कांग्रेसी नेता थे। एकमा थाना में काम करते शायद अभी पूरा महीना नहीं हुआ था, इसी समय एक गाँव की सभा में वह भी आये। वर्षा के कारण लोग कम ही जमा हुए थे। भरतजी ने मुझे देखा, तो कहा–"आपको थाने में नहीं, जिले में काम करना चाहिए।" मैं समझता था कि धरती के साथ अभिन्न सम्बन्ध गाँवों की मिट्टी के द्वारा ही जोड़ा जा सकता है; इसलिए मैं आकाशबेलि की तरह का जिले का नेता बनने के लिए तैयार नहीं था। भरतजी ने एक खास सभा का जिक्र करके बतलाया, कम से कम उसमें आप जरूर चलें। मैंने आनाकानी नहीं की और उनके साथ छपरा चला गया। छपरा में शराब की भट्टी पर धरना दिया जा रहा था। मैं भी एक भट्टी पर जा खड़ा हुआ। एक शराबी धक्का देते भीतर चला गया। उसके बाद ही जोर की वर्षा में भट्टी के मकान की पुरानी दीवाल गिर गई। लोगों में शोर हुआ, साधु को अपमानित करके भट्टी में जाने का यह फल हुआ। जनमानस, झूठी हो या सच्ची, ऐसी कथाओं को गढ़ने के लिए सदा तत्पर रहता है और उससे तत्कालीन लाभ भी होता है, इसमें सन्देह नहीं।

कितने ही और कांग्रेसी नेताओं की तरह भरतजी भी प्रोग्राम तोड़ने में बड़े उत्साही थे। सभा के लिए आने का वचन देकर भी नहीं पहुँचते थे। लोग जमा होते, स्थानीय कार्यकर्ता कोई बहाना कर देते थे। मैं इसे अक्षम्य अपराध समझता था। सिर्फ अपने ख्याल से सैकड़ों आदमियों को इकट्ठा करवाकर उन्हें निराश करना पाप था। मुझे याद नहीं, कभी मैंने ऐसी हरकत की हो। भरतजी ने सोनपुर की सभा में जाने का वचन दिया था। उन्हें स्वयं वहाँ जाना नहीं था। इधर-उधर की बातें करके कहा—"आप चले जाइये।" मुझे अभी उनके भगेलूपन का पता नहीं था। मैं सोनपुर गया। सभा क्या कुछ लोगों की मण्डली जमा हुई थी। मैं बोला। अगले दिन मुख्य सभा होनेवाली थी। लेकिन उस दिन सबेरे 8-9 बजे ही पता लगा कि छपरा की ओर प्रलयकारिणी बाढ़ आ गई है, छपरा शहर भी डूबने ही वाला है। वह सभा करने का नहीं, बल्कि बाढ़-पीड़ितों की सेवा करने का समय था। मैं तुरन्त मिलनेवाली गाड़ी से छपरा चला गया। उसके बाद बाढ़-पीड़ितों की सेवा में ही डेढ़-दो महीने बीते।

इसके बाद तो मैं जिले में भी स्थायी तौर से कांग्रेस का काम करने लगा। भरतजी भी साथ रहते। हाँ, कांग्रेस में बराबर साथ रहना उनके लिए जरूरी नहीं था। कभी कांग्रेस के भीतर रहते, कभी उसके बाहर जाते। कभी उसके काम में सहायता करते, और कभी विरोध भी। सब होते हुए भी कांग्रेसियों के प्रति उनके स्नेह में कभी अन्तर नहीं पड़ा, और न देश की स्वतंत्रता की भावना से उनका मन विमुख हुआ।

भरतजी के स्वभाव को देखकर 'मगन रहु चोला' की बात याद आती थी। मेरा उनके साथ सम्बन्ध केवल राजनीतिक ही नहीं था। संस्कृत भी हम दोनों को एक-दूसरे के नजदीक बनाये हुई थी। आन्दोलन के ठण्डे हो जाने पर भी न जाने कितनी बार मैं उनके घर में जाकर घर के व्यक्तियों की तरह भोजन करता था। एक दिन की बात याद है। भरतजी ने काफी पुस्तकें जमा कर ली थीं, जिनमें सबसे अधिक संस्कृत की थीं, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। किताबें खुले रैक में नीचे-ऊपर तीन-चार पंक्तियों में रक्खी थीं। भरतजी मनुष्य की सफलता की कुंजी 'ज्ञानं बलं धनं' बतलाया करते थे। 'ज्ञानं बलं धनं' पर वह बड़े जोश के साथ लेक्चर-सा दे रहे थे। उनका एकमात्र पुत्र वहीं था, जिसकी उमर उस समय सात-आठ वर्ष से ज्यादा नहीं होगी। इसी समय रैक गिरा। संयोग समझिये कि लड़का उसके नीचे नहीं आया। मैंने कहा—आज तो 'ज्ञानं बलं धनं' भारी अनर्थ करनेवाला था।

भरतजी पं. रामावतार शर्मा के घनिष्ट सम्पर्क में आये थे, यह बतला चुके हैं। शर्माजी भौतिकवादी थे, वह किसी आत्मा या भगवान् पर विश्वास नहीं रखते थे और न हिन्दू-धर्म की मान्यताओं के लिए उनके हृदय में कोई आदर था। लेक्चर देते मैंने नहीं सुना किन्तु बातचीत में ऐसी जोरदार भाषा में खण्डन करते कि आदमी प्रभावित हुए बिना न रहता। भरतजी स्वयं पुरोहित और पुरोहित-कुल के थे। कथा-पूजा भी करा आते थे, किन्तु अपने को शर्माजी का शिष्य मानते थे। यजमानों को इससे कोई लेना-देना नहीं था कि उनके पुरोहित बाबा जिस स्वर्ग में उन्हें भेजना चाहते हैं, उस पर विश्वास करते हैं या नहीं। भरतजी ने 'सोहं' को धीरे-धीरे अपना मन्त्र बना लिया। प्रणाम की जगह भी 'सोहं' करते, तकिया-कलाम के तौर पर भी 'सोहं'। उपनिषद् और वेदान्त में 'सोहं' का अर्थ है मैं वह हूँ। वह से मतलब ब्रह्म है। इस प्रकार यह शंकर के अद्वैत वेदान्त का मूल आधार 'ब्रह्मवाक्य' बन गया है। लेकिन, भरतजी का सो (वह) से मतलब था शर्माजी का सो (अर्थात् भौतिक तत्त्व)। धीरे-धीरे इसका सम्बन्ध उनके साथ इतना जुड़ गया, कि लोग उन्हें सोहं स्वामी कहने लगे। भरतजी ने अपने सिर के नहीं भौंहों के भी बालों को सफेद करा सोहं स्वामी बनना स्वीकार किया।

वह अपने धुन के आदमी थे और कोई-कोई धुन तो जीवन के साथ चिपक जाती है। छपरा से अलग कहीं उन्हें जाना रहता नहीं था, इसलिए धुन चिरकालव्यापी साधन का रूप ले, तो कोई अचरज नहीं। उनके शिष्य छपरा के कपिलदेव पण्डित को धुन सवार हुई कि संस्कृत को मातृभाषा बनाना चाहिए। फिर क्या उनके घर से मातृभाषा भोजपुरी और राष्ट्रभाषा हिन्दी बहिष्कृत हो गईं। स्त्रियाँ भी नौकरानी से 'काष्टं आनय', 'पानीयं देहि' कहने लगीं। घर में नये आनेवाले मुँह बचपन से ही उसी भाषा को सुनने लगे, और आज चौथाई शताब्दी के बाद कपिलदेव पण्डित का घर संस्कृतभाषी हो गया। उन्होंने अपनी मान्यता के अनुसार हिन्दू-धर्म और

संस्कृति की घुट्टी सवको पिलाई। लेकिन, मनुष्य का वच्चा कुम्हार की मिट्टी का लोंदा नहीं कि उसे जैसा चाहे वैसा गढ़ कर वना दिया जाय। इसीलिए यदि अगली पीढ़ी बाप से बागी हो, तो कोई अचरज नहीं। मेरे परम आधुनिक और उनके परम प्राचीन विचारों में संघर्ष होना स्वाभाविक था। पर, मुझे याद नहीं कि कमी इसके कारण मेरे हृदय में उनके प्रति दुर्भाव पैदा हुआ हो, और मेरे प्रति उनका। मैं उनकी लगन का बहुत सम्मान करता। वह बिल्कुल प्राचीनपंथी भी नहीं थे। अपने घर में उन्होंने सबको भंगी का काम सिखलाया था, कोई उसके प्रति घृणा व्यक्त नहीं कर सकता था।

चेला चीनी हो जाय, तो गुरु गुड़ रहने के लिए कैसे तैयार हो सकता था ? भरतजी ने सोहं विद्यालय खोला, जिसमें दस-बारह वर्ष तक के लड़के-लड़कियाँ पढ़ते। विद्यालय में संस्कृत पढ़ाई जाती, और संस्कृत के माध्यम से। छः वर्ष से दस-वारह वर्ष की उमर तक जो लड़के-लड़कियाँ सोहं विद्यालय में पढ़ जाते, उनकी संस्कृत इतनी मजबूत हो जाती कि यूनिवर्सिटी तक की संस्कृत के लिए उन्हें चिन्ता करने की जरूरत न होती। किसी भी जाति के आदमी अपने लड़कों को सोहं विद्यालय में भेज सकते थे, लोग खुशी से भेजते रहे। विद्यालय का अपना छोटा-सा मकान भी खड़ा हो गया। भरतजी उसे बहुत बड़े पैमाने पर नहीं ले जाना चाहते थे, इसलिए बच्चों की संख्या के अनुसार मकान और प्रबन्ध पर्याप्त हो गया।

भरतजी के धार्मिक विचार किस तरह के होंगे, इसका दिग्दर्शन ऊपर से हो गया होगा। वह छपरा में हिन्दू-सभा के भी कभी उग्र नेता रहे, पुरोहित तो थे ही। राजेन्द्र बाबू छपरा शहर के नहीं, बल्कि वहाँ से दूर जीरादेई गाँव के रहनेवाले हैं। पढ़ाई समाप्त कर वकालत उन्होंने पटना में शुरू की थी, और कुछ ही साल बाद गांधी की आँधी में उसे छोड़ कर फकीर बन गये। इसके बाद सारे बिहार के नेता होने के कारण उन्हें पटना में ही रहना पड़ता। लेकिन, उनके बड़े भाई बाबू महेन्द्रप्रसाद छपरा में ही रहते। बिहार बैंक के मैनेजर बनकर उन्होंने उसकी नींव दृढ़ की। बाहर जाने का प्रलोभन आया, किन्तु छपरा ने उन्हें जाने नहीं दिया। छपरा के स्थायी नागरिक होने से महेन्द्र बाबू भी लक्ष्मी पण्डित और भरत पण्डित की यजमानी में आ गये। आज भी साल में एक-दो बार इस नाते भरतजी राष्ट्रपति-भवन में आ जाते हैं।

असहयोग के समय उन्होंने छपरा को जगाने का बहुत काम किया था। चाहे उस समय भी वह अपने प्रोग्रामों को तोड़ते हों, लेकिन जिले में खूब घूमे थे। उस समय की उनकी सेवाएँ आज की पीढ़ी नहीं जानती, पर वह उन लाखों ईंटों में एक थी, जिनके ऊपर आज स्वतन्त्र भारत की इमारत खड़ी है।

15
बाबू महेन्द्रप्रसाद

"बाबा, अपनी कठिनाइयों के कारण मैं आन्दोलन में शामिल नहीं हो रहा हूँ, इसका मुझे बहुत अफसोस है। पर, पैसे-कौड़ी की ओर से निश्चिन्त रहिये, जो जरूरत हो, मुझसे कहिये।" यह भाव महेन्द्र बाबू ने 1931 की जनवरी में मेरे सामने व्यक्त किये थे। सत्याग्रह का आन्दोलन जोरों पर था, लोगों ने जेलों को भर दिया था। नशे की दूकानें और विलायती कपड़े की बिक्री पर धरना पड़ रहा था। तजर्बे ने यह बतला दिया था कि जेल जानेवालों से भी उनका काम अधिक महत्त्वपूर्ण है, जो पीछे रहकर आन्दोलन को जारी रखते हैं। मैं उस समय ऐसा ही गुप्त सूत्रधार था। स्वयंसेवकों के खाने-पीने का प्रबन्ध करना पड़ता था, जिसके लिए पैसों की जरूरत थी, और उसी के लिए महेन्द्र बाबू उस दिन कह रहे थे।

असहयोग और उसके बाद के वर्षों में मैं बराबर छपरा में एक राजनीतिक कार्यकर्त्ता के तौर पर जब काम करता था, उस समय ही महेन्द्र बाबू से घनिष्ट सम्बन्ध हो गया। उनके अनुज राजेन्द्र बाबू तो कभी ही कभी छपरा आते।

पहले-पहल उनके साथ जिस तरह मैं पेश आया, वह कोई प्रिय घटना नहीं थी। कितने ही समय तक काम करने के बाद छः महीने जेल जा मैं 1922 के किसी महीने में बाहर आया। इस समय तक छपरा जिले से मैं परिचित हो चुका था। वहाँ के नेताओं और बड़े कार्यकर्त्ताओं में काम के बारे में मतभेद हो गया। तरुण समझते थे, बड़े काम नहीं करना चाहते, और नेतृत्व को अपने हाथ में रखना चाहते हैं। महेन्द्र बाबू छपरा के व्यापारी और ऊपरी वर्ग पर बहुत प्रभाव रखते थे। अंग्रेज भी उन्हें अपने हाथ में करने के लिए 'राय साहब' बना चुके थे। पर, देशभक्ति की आग उनके अनुज के ही हृदय में नहीं जल रही थी, भैया भी उससे प्रभावित थे। उन्होंने अनुज की तरह फकीर न बनकर बहुत भारी त्याग किया था, इसे वही जानेंगे, जो उन्हें नजदीक से देखते थे। एक प्रतिष्ठित परिवार के चलाने का भार उनके ऊपर था, और बाबू (राजेन्द्र बाबू) अपनी तपस्या में निश्चल रहें, इसके लिए उन्हें घर की चिन्ता से मुक्त करना था। इसीलिए महेन्द्र बाबू बराबर बिहार बैंक के 'मनेजर साहब' बने रहे, और कभी निश्चिन्तता का दिन नहीं देखा।

लेकिन, जिस अप्रिय घटना की मैं बात कर रहा हूँ, वह हमारे सम्बन्ध के आरंभिक दिनों की है। शायद थाने में जिला कांग्रेस कमेटी की एक महत्त्वपूर्ण बैठक हो रही थी, पदाधिकारियों का चुनाव होना था। दिल में जमा हुए मवाद ऐसे ही समय निकला करते हैं। महेन्द्र बाबू उस समय जिला के कांग्रेस संगठन के एक मुख्य स्तम्भ थे। पर, जिसके लिए तरुण मण्डली रुष्ट थी, वह उनके कारण नहीं। वह अपनी पीढ़ी के दूसरे वकीलों और नेताओं को साथ रखने के पक्षपाती थे। तरुण दल उनसे कोई आशा नहीं रखता था, इसलिए उनके हाथ में संगठन को नहीं देना चाहता था। तरुण दल का मुखिया मैं था। महेन्द्र बाबू को उस दिन विफल होना पड़ा था। लेकिन, मुझे ख्याल नहीं, यह घटना कभी भी हम दोनों के हृदय में बैठी।

जैसाकि कह चुका हूँ, महेन्द्र बाबू ने घर का भार अपने ऊपर सँभाला था। यद्यपि वह गाँव के रहनेवाले थे। बिहार का उच्च सामन्त वर्ग गाँव में ही रहता था, इसलिए गाँव के रहने का यह मतलब नहीं, कि वह ग्राम्य संस्कृति तक ही अपनी पहुँच रखते थे। छपरा का सबसे बड़ा सामन्त परिवार–हथुवा राजवंश–गाँव में रहता था। इसी राजवंश के दीवान (मन्त्री) महेन्द्र और राजेन्द्र के बाप-दादा रहे थे। उनके पास भी दो-चार गाँवों में जमींदारी थी। एक व्यक्ति कमाकर परिवार के सब खर्च को कैसे चला सकता था ? जमींदारी में से कुछ को बेचना पड़ा था। सारी कठिनाइयों में रहते हुए भी महेन्द्र बाबू ने उसका ख्याल कभी नहीं किया।

राम-लक्ष्मण जैसे भाइयों की कथा हमने इतिहास पुराणों में पढ़ी, लेकिन यहाँ महेन्द्र और राजेन्द्र के रूप में दो वैसे ही भाई हमारे सामने मौजूद थे। महेन्द्र बाबू घरेलू चिन्ता के रहते भी अपने अनुज के कामों का अभिमान करते थे। यह वह समय नहीं था, जबकि आशा की जाती थी कि भारत हमारी पीढ़ी में स्वतन्त्र होगा, और महेन्द्र के 'बाबू' भारत के प्रथम राष्ट्रपति होंगे। ज्यादा से ज्यादा यही सोच सकते थे कि भारत जरूर किसी समय आजाद होगा। बीच में कांग्रेस ने प्रान्तों में कभी-कभी राज्य किया था। राजेन्द्र बाबू मन्त्री-निर्माता थे, लेकिन मन्त्री नहीं बने। राजेन्द्र बाबू भी अपने बड़े भाई का वैसा ही सम्मान करते थे, वैसा ही उनके प्रति उनका स्नेह था, और उनके इकलौते पुत्र जनार्दन को अपने दोनों पुत्रों–मृत्युंजय और धनंजय–से भी ज्यादा प्यार करते थे।

राजनीति छोड़कर मैं घुमक्कड़ी और विद्या अनुसंधान के क्षेत्र में प्रविष्ट हो गया। रहता भी ज्यादा देश से बाहर-बाहर था। पर, अक्सर हर जाड़े में छपरा जाता, और वहाँ जाने पर महेन्द्र बाबू के यहाँ न जाता, या उनके यहाँ एक बार भोजन न करता, तो वह अप्रसन्न होते। एक बार मेरे साथ सुदूर उत्तर साइबेरिया के एक मंगोल विद्वान् भारत आये। वह छपरा भी गये। उन्होंने सिनेमा नहीं देखा था। भोजन करने के बाद महेन्द्र बाबू ने कहा–"मैं इनको ले जाऊँगा।" मैं किसी कारण से नहीं जा सका। मेरे न जाने पर मेरे मित्र को फिल्म की कथा सुनने का मौका कहाँ से मिलता ? वह बातचीत के एक अक्षर को भी न समझ रजत पट पर दौड़ती तस्वीरों को देखते रहे। महेन्द्र बाबू उनके बारे में बहुत-सी बातें पूछते रहे।

अन्तिम बार उनका दर्शन सजलनयन और गद्गद स्वर के साथ उस दिन का हुआ, जिस दिन के उनके उद्गारों का उल्लेख मैंने पहली पंक्तियों में किया है। राजेन्द्र बाबू की सेवाएँ देश ने जानीं, और उनके हाथ

में सबसे बड़ा जो सम्मान हो सकता था, उसे भी उसने प्रदान किया। किन्तु, उनके भैया ने जो सेवा चुपचाप की थी, उसे कौन जानता है ? उनकी ये सेवाएँ राजेन्द्र बाबू को आगे बढ़ाने में सहायक हुई, इसमें कोई सन्देह नहीं।

16

बाबू रुद्रनारायण

मैंने यद्यपि राजनीतिक कार्यक्षेत्र में प्रवेश करते हुए अपने थाने (एकमा) के गाँवों को पकड़ा था, लेकिन बहुत समय नहीं बीता कि थाने के बाहर भी ध्यान देने की जरूरत पड़ी। ऐसा समय आ गया, जबकि काजीजी सारे जिले के अंदेशे दुबले होने लगे। अपने भीतर अदम्य उत्साह और साहस छिपाये छपरा की जनता मौजूद थी। उसकी शक्ति का उपयोग करना था। 1922 ई. के मध्य में जेल से छूटने के बाद मैं सारे जिले में घूमा। उस समय जिले के सबसे उत्तरी भाग–कुवाड़ी परगना–ने विशेष तौर से मुझे आकृष्ट किया। यहाँ के हथुवा, (मीरगंज), भोरे, कटया, कुचायकोट के थाने हथुवाराज की जमींदारी में थे, जिसकी सालाना आमदनी 25 लाख के करीब थी। अंग्रेजों की गवनमेंट के भीतर राज्य की अपनी गवर्नमेण्ट चलती थी। राज्य के अफसर किसानों के साथ मनमानी करते थे। मैं इससे पाँच वर्ष पहले ही साम्यवादी विचारों का हो गया था, मेरे लिए देश की आजादी का मतलब था, किसान-मजूर राज्य। कुवाड़ी के सारे परगने पर एक जमींदार का अखण्ड शोषण मुझे अपनी ओर खींचने में सफल हुआ। असहयोग की पहली बाढ़ कुवाड़ी में भी आई थी। यहाँ के भी कितने ही तरुण स्कूलों से असहयोग करके चले आये थे। लेकिन, अब न कोई कांग्रेस का संगठन था, न कोई संगठक दिखलाई पड़ता था। सभा करने पर मालूम हो गया, कि आग राख के अन्दर मौजूद है। कुवाड़ी के दो थाने–मोरे और कटया–रेल से बहुत दूर पड़ते थे, वह दोनों गोरखपुर (अब देवरिया) जिले की सीमा पर थे। मीरगंज और कुचायकोट रेल की लाइन पर थे। कुचायकोट में जाने पर मुझे मालूम हुआ, यदि वहाँ किसी योग्य तरुण को बैठा दिया जाय, तो थाना जग सकता है। घूमते-घामते मैं रेवतिथ गाँव में पहुँचा। एक काफी बड़े जमींदार का गाँव था, जो अंग्रेजों से डरते हुए भी कांग्रेस के विरोधी नहीं थे; यह इसी से मालूम होगा, कि उन्होंने मेरा आतिथ्य किया, और सबसे पहले प्रेमचन्द के किसी हिन्दी उपन्यास के पढ़ने का अवसर मुझे उन्हीं के यहाँ मिला। रात को दिल बहलाने की जरूरत पड़ी, गृहपति ने उपन्यास दे दिया था, और मैं उसे उसी रात समाप्त कर गया। यहीं रुद्रनारायण से भेंट हुई।

रेवतिथ की सभा के प्रवन्ध करने में रुद्रनारायण ने मुस्तैदी दिखलाई। मुझे मालूम हुआ, वह स्कूल से असहयोग करके आये हैं। उनके पिता जमींदार के पटवारी थे। यह मालूम होते देर नहीं लगी कि अपने गाँव या थाने में काम करने में उनको बड़ी अड़चन है। मैंने उनसे कहा–"चलो कुचायकोट में।" स्वराज्य के लिए जिले की किसी जगह भी काम करने का महत्त्व कम नहीं था। तरुण रुद्रनारायण ने उसे स्वीकार किया और अपरिचित कुचायकोट में चले गये।

ईंधन भी मौजूद था, आग भी पास में धरी थी। दोनों का सम्बन्ध करानेवाले की जरूरत थी। रुद्रनारायण उसे कर सकते थे, और उन्होंने किया। उनकी योग्यता का पता लगते देर नहीं लगी। एक विशाल सभा की गई। जिला कांग्रेस कमेटी की बैठक भी वहीं रक्खी गई। सार्वजनिक सभा के लिए जो जलूस निकला था, उसमें 15-20 हाथी शामिल हुए थे। हथुवा का राजा अपने हाथी नहीं दे सकता था, लेकिन उसकी प्रजा में भी कुछ ऐसे धनी थे, जिनके पास हाथी थे, और ऐसा दिल था, जो अंग्रेजों से मुक्ति पाने की कामना करता था। प्रबन्ध करने के लिए मैं दो-तीन दिन पहले ही पहुँचा। लेकिन, वहाँ बतलाने की कोई जरूरत नहीं थी। काम ने काम को सिखा दिया था, रुद्रनारायण ने सारी तैयारी बहुत अच्छी तरह की थी। मैंने तीन-चार दिन

को वहाँ बिताने की जगह घुमक्कड़ी में विताना पसन्द किया। कांग्रेसकर्मी मास्टर रुद्रनारायण के साथ मैं नेपाल के भीतर त्रिवेणी तराई के मकर-संक्रान्ति का मेला देखने चला गया। जिस तरह हरद्वार में गंगा पहाड़ से नीचे उतरती है, और उसी कारण उसका पुराना नाम गंगाद्वार था, उसी तरह मध्यदेश की पाँच प्रधान नदियों में एक गण्डक (मही) जहाँ पहाड़ से नीचे उतरती है, उसका ही नाम त्रिवेणी है। मेले में तराई के मधेसी स्त्री-पुरुष भी बड़ी संख्या में आये थे और पहाड़ के भील लोग थे। नीचे के दूकानदार अपनी चीजें बेचने लाये थे, और पहाड़ी नारंगी और केले लेकर आये थे। पहले-पहल पहाड़ के नेपाली केले को खाने का मौका मिला, वह असाधारण स्वादिष्ट मालूम हुआ। हमने कुछ फल अपने साथियों के लिए भी ले लिया। मेले में नेपाली टाँघन घोड़े, कम्बल, खुकुरी तथा दूसरी चीजें विक रही थीं। लौटते वक्त सस्ते में नाव मिल गई और 17 जनवरी 1922 को हम उसी पर चढ़कर बगहा के पास उतर गये, फिर रेल पकड़कर कुचायकोट पहुँच गये।

साल-भर बाद मैं दो साल के लिए जेल चला गया। लौटकर आया, फिर कुचायकोट गया, देखा, रुद्रनारायण ने थाने को और आगे बढ़ाया है। लोगों ने उनकी लगन देख अपने थाने से उन्हें डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड का मेम्बर चुन कर भेजा था। 1926 ई. के अन्त के साथ छपरा में मेरे राजनीतिक कार्य का अन्त भी आ गया, और मैं कुचायकोट रुद्रनारायण के काम देखने नहीं गया। पर, वह कितने ही समय तक वहाँ काम करते रहे।

सबसे अन्तिम बार (1939 में) उन्हें सिधोलिया के चीनी मिल में देखा। अव वह प्रौढ़ावस्था में पहुँच गये थे। घर के नून-तेल-लकड़ी की फिकर थी, इसलिए मिल की नौकरी कर ली थी। मैं जिले की चीनी मिलों के मजदूरों की हालत बेहतर बनाने के लिए घूम रहा था। रुद्रनारायण ने उस दिन यह परवाह नहीं की, कि उनकी नौकरी रहेगी या जायेगी, और सभा के इन्तजाम में पूरी मदद की।

17
बाबू रामानन्द सिंह

लम्बा-तगड़ा भोजपुरी शरीर, मुँह पर किसी समय रोब कायम करनेवाली किन्तु प्रशान्त मूँछें तथा वोलने-चालने में एक तरह की सादगी, यह रूप था बाबू रामानन्द सिंह का जिन्हें मैंने 1922 ई. में बक्सर जेल में देखा था। और उसी समय उनके शान्त चेहरे पर क्रोध को भी आते देखा। निरसूलाल चम्पारन में घोड़ासाहन के रहनेवाले एक साधारण देहाती कार्यकर्ता थे। उस समय राजनीतिक कैदियों को जेलवाले खाने-पीने की चीजें देते थे, उससे अधिक वह भी अपने घर से मँगवा सकते थे। निरसूलाल बेचारे साधारण गरीब आदमी थे। वह घर से कुछ मँगा नहीं सकते थे। जेल से मिलनेवाली चीजों में ही कुछ और पाने की इच्छा रखते थे। यह स्वाभाविक था। रामानन्द बाबू भण्डारी थे। निरसूलाल ने कुछ शिकायत करते मर्यादा का भंग किया। पुलिस की सब-इन्सपेक्टरी छोड़ कर जेल आये दरोगा को गुस्सा आ गया और उन्होंने निरसू के कन्धे पर हाथ डालकर ऐसा झटका दिया, कि वह गेंद की तरह लुढ़कते दस-बारह हाथ चले गये। मुझे बहुत अफसोस हुआ, लेकिन उस समय रामानन्द बाबू मेरे घनिष्ट परिचित नहीं हुए थे, इसलिए विरोध नहीं प्रकट किया।

फिर रामानन्द बाबू का दूसरा जीवन याद आता है। 1925 ई. में दो साल जेल में रहकर आने पर देखा, सारे जिले में कांग्रेस का संगठन शिथिल हो गया है। लेकिन, हमें तो हाथ पर हाथ रख कर बैठना नहीं, शिथिलता को दूर करना था। काम की कमी नहीं थी। लोग जमींदारों और पुलिस के अत्याचार से कराह रहे थे। गोरखपुर की सीमा पर पड़नेवाले भोरे और कटया के थानों में तो पूरा पुलिस का राज्य था। वह चोरों, बदमाशों और अत्याचारियों की मित्र थी, और भलेमानुसों और निरीह जनता को लूटना अपना काम समझती थी। 1925 ई. के जाड़े से पहले ही जिला कांग्रेस कमेटी का चुनाव हुआ। इसी में बाबू रामानन्द सिंह को हमने मन्त्री बनाया,

और डा. महमूद को सभापति। बहुत जोर देने पर मैंने उप-सभापति होना स्वीकार किया। कांग्रेस की स्थिति खराव थी। दफ्तर के मकान का भाड़ा महीनों से नहीं दिया जा सका था। पर, हम दोनों अपना सारा समय देने के लिए तैयार थे। किसी भी कार्य को आधे मन से करना मेरे स्वभाव के विरुद्ध है। रामानन्द बाबू मेरा पूरा साथ दे रहे थे, इससे ही उनकी कर्मठता का पता लगेगा। भोरे थाने में पुलिस ने बहुत जुल्म किया था। कांग्रेस की ओर से मैं और रामानन्द वावू वहाँ के लोगों से गवाही लेने गये। पुलिस ने पैसा ऐंठने के लिए कोई वात उठा नहीं रक्खी थी। किसी की हथेली पर खाट का पावा रखकर आदमी बैठाये, किसी को थाने पर वुलाकर पीटा, किसी पर झूठे गवाह तैयार कर मार-पीट के मुकुदमें चलाये, किसी को झूठ-मूठ दफा 110 में फँसाने का उद्योग किया। 1925 ई. की वर्षा (जुलाई-अगस्त) के दिन थे। इसी समय हम दोनों भोरे के गाँवों की खाक छान रहे थे। पानी-वूँदी में एक गाँव से दूसरे गाँव जाते। कहीं-कहीं जाँघ भर पानी से गुजरना पड़ता। 27-31 अगस्त के पाँच दिनों में हमने बहुत-से हस्ताक्षर और अँगूठे की निशानी के साथ पुलिस के अत्याचारों के सम्वन्ध में लोगों के बयान लिये। पुलिस की नादिरशाही से वे डरते थे, जानते थे, कि सरकार तक उनकी आवाज नहीं पहुँचेगी, लेकिन हमारे ऊपर विश्वास था। इसलिए लोगों ने हिम्मत की। डा. महमूद छपरा में वैरिस्टरी कर रहे थे। अपने खर्च के चलाने के लिए कुछ करना जरूरी था, पर वह कांग्रेस के काम में सम्मिलित रहना भी आवश्यक समझते थे। डा. महमूद ने जिला-मैजिस्ट्रेट से स्वयं बातचीत की, और हमारे तैयार किये हुए वयानों को भी दे दिया। मैजिस्ट्रेट ने जरूर सच्चाई को समझ लिया होगा, और कार्रवाई करने का वचन भी दिया। लेकिन, अंग्रेज अपनी पुलिस के जुल्म और भ्रष्टाचार को अच्छी तरह जानते थे। उन्हें उसे सुधारने की इच्छा नहीं थी, क्योंकि वह पुलिस का मुख्य काम समझते थे हिन्दुस्तान को गुलाम रखने में पूरी तौर से मदद करना!

1925-26 ई. में रामानन्द बाबू ने जिले को फिर से जगाने में प्राणपण से काम किया। न उनको घर की आर्थिक कठिनाइयों ने रोका और न सरकारी भय ने। मलंखाचक में उनके घर में मैं कितनी ही बार गया। दरोगही की कमाई से उन्होंने एक घर भर बना पाया था। अक्खड़ थे, नहीं तो दरोगों के यहाँ तो सोना बरसा करता था।

बाबू रामानन्द सिंह बी. ए. तक पढ़े थे। फिर सब-इन्सपेक्टरी के लिए चुन लिये गये। दरोगा बनकर कई साल नौकरी की। मजे से गुजर रही थी, यद्यपि अपने अक्खड़पन के कारण पुलिस की नौकरी में रह कर भी घर भरने में सफल नहीं हुए। अपनी बातें वतलाते हुए कह रहे थे—"मैं सुरसंड में थानेदार था। वहाँ के एक बड़े जमींदार के लड़के ने अपने साथी लड़के को पिस्तौल से मार दिया। बड़ी हाय-तोबा मची। पुलिस को अगर न मिलाया जाता, तो लड़के का जीवन खराब हो जाता। मेरे जिले के होने का भी कुछ ख्याल आया। लाश तुरन्त जलवा दी, और मैंने मृत लड़के के वाप के पास पहुँच कर कुछ दे-लेकर समझौता करने के लिए राजी किया।"

उस दिन निरसूलाल के ऊपर रामानन्द बाबू के गुस्सा होने और बेचारे दुबले-पतले नौजवान को धक्का देने की बात का मेरे ऊपर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा था। लेकिन, जब रात-दिन साथ रहना पड़ा, तो इस हीरे का पता लगा। कितनी तकलीफ से भूखे-प्यासे रह कर ठण्डे पड़े कांग्रेस-संगठन को उन्होंने फिर से जगाया।

रामानन्द बावू का परिवार बहुत बड़ा नहीं था। एक लड़का था। लेकिन, जीविका के साधन नहीं के बराबर थे, जिसके कारण उनको बहुत आर्थिक कष्ट था। भारत के स्वतन्त्र होने पर एक दिन मिले। उनकी एक आँख भी जाती रही। जवानी का भरा-पूरा शरीर अब हड्डियों का ढाँचा रह गया था। राजनीतिक पीड़ितों में सबसे अधिक सहायता के वह हकदार थे, लेकिन दफ्तरशाह तो किसी की पुरानी कुर्बानियों को महत्त्व देने के लिए तैयार नहीं थे। मन्त्रियों की गद्दी पर बैठकर पुराने सहकर्मियों की आँखें भी बदल गई थीं। उन्हें कागज लेकर इस दफ्तर से उस दफ्तर भेजा जा रहा था। यह वह आदमी था, जिसने स्वतन्त्रता के लिए अपने भविष्य पर लात मारी थी। यदि पुलिस में रहते, तो इन्सपेक्टर और डिप्टी-सुपरिटेंडेंट होते, देशभक्तों पर लाठियाँ और गोलियाँ बरसाते। स्वतन्त्र भारत के कर्णधारों की नाक के बाल होते, जैसे दूसरे पुराने पापी गणिका-गिद्ध-अजामिल

की तरह तार दिये गये, वैसे ही यह भी तर गये होते, और भारी पेन्शन लेकर मूँछ पर ताव देते घर पर बैठते। पर, आज उनकी यह अवस्था देखी।

18
बाबू सभापति सिंह

कहते हैं गर्भ की आरम्भिक अवस्था में मनुष्य के बच्चे और चूहे-बिल्ली के बच्चे में कोई अन्तर नहीं होता; पर अगली सीढ़ियाँ उनको अलग-अलग कर देती हैं। दुनिया में आते वक्त शिशु वजन और लम्बाई-चौड़ाई में थोड़ा-बहुत अन्तर चाहे रखते हैं, किन्तु भविष्य में वह क्या होनेवाले हैं, इसका पता नहीं लगता। जब वह अपने योग्य काम ढूँढ़ने लगते हैं, उस वक्त भी यदि रास्ता नहीं मिला, तो उनकी अन्तर्निहित शक्तियाँ भीतर ही सुख जाती हैं। सभापति सिंह की भी यही बात थी।

माझी में एक राजपूत के घर में सभापति का जन्म हुआ। उनके भाई अच्छे-खासे पहलवान थे। सभापति के ढाँचे को देखकर मालूम होता था कि यदि उनकी उधर प्रवृत्ति हुई होती, तो वह अपने भाई से कम नहीं होते। पर, उन्हें पढ़ने के लिए बैठा दिया गया। छोटे स्कूल से छपरा अंग्रेजी हाई स्कूल में गये। 16-17 वर्ष की उमर में भी शरीर में असाधारण ताकत थी, और साहस के तो वह पुतले थे। 1921 ई. में गांधीजी ने असहयोग का बिगुल बजाया और जनता निडर होकर अंग्रेजों के खिलाफ हिलने-डोलने लगी। लेकिन, इससे पहले देश के अधिकांश भाग में मृत्यु की-सी नीरवता छाई हुई थी। बम और पिस्तौल के हाथ हमारे क्रांतिकारियों ने अवश्य दिखलाये थे। उनकी अद्‌भुत कुर्बानियों ने अंग्रेजों के हृदय में आतंक और हमारे हृदय में आशा का संचार किया था। पर, उनके कामों का पता बहुत थोड़े-से आदमियों को, और देश के थोड़े स्थानों में ही था। छपरा सचमुच ही राजनीतिक तौर से श्मशान की तरह नीरव था। लाठी के धनी भोजपुरियों के ऊपर अंग्रेज अफसर मनमानी करते थे, और सन् सत्तावन के सहमे लोग खून का घूंट पीकर रह जाते थे।

हाई स्कूल में पढ़ते सभापति ने 'सबसे अधिक जाति अपमाना' को समझा। छपरा में एक बिगड़े दिमाग का अधगोरा पुलिस-इन्सपेक्टर था। गोरों के सामने अधगोरे चाहे अछूत ही समझे जाते हों, पर कालों के सामने वह अपने को शेर समझते थे। यही हालत इस इन्सपेक्टर की भी थी। सड़क पर चलते यदि शामत का मारा कोई भारतीय उसके सामने आ जाता, तो वह बिना ठोकर लगाये न छोड़ता। अच्छे पढ़े-लिखे भद्र भारतीय भी पिट चुके थे। सभापति को इसका पता लगा। उनकी नसों में जवानी का खून लहरें मारने लगा। कुँवरसिंह की कथाओं को वह सुन चुके थे। यह गोरा हमारे भाइयों का इस तरह अपमान करे और हम चुप रहें, धिक्कार है हमारी जवानी को। अब वह गोरे की सुराग में पड़े। बरसात का दिन था। दूर से देखा, गोरा साइकिल पर चढ़ा आ रहा है। फिर क्या था, मुराद पूरी हो गई। नजदीक पहुँचकर वह बीच सड़क से धीरे-धीरे चलने लगे। गोरे ने घण्टी बजाई, लेकिन उसकी क्या परवाह थी ? नजदीक आने पर उसने गाली दी। इसी वक्त सभापति ने उसके गले में हाथ लगा कर सड़क पर पटक दिया और पीटते-पीटते अधमरा कर साइकिल और उसे दोनों को पास की खाई में फेंक दिया। पानी इतना ज्यादा नहीं था, कि वह मर जाय। सारे छपरा में शोर हो गया। यदि लोग अपनी उमंगों को खुलकर प्रकट कर सकते, तो सभापति को रथ पर बैठाकर जलूस निकालते, फूल की मालाओं से ढाँक देते। पर्दानशीन महिलाएँ राम-लक्ष्मण की तरह उनकी आरती उतारतीं। पर, वह ऐसा समय नहीं था। सारे नगरवासी चुपचाप अपनी श्रद्धा के फूल उन पर बिखेरते रहे।

पर, सभापति ने बहुत बड़ा जुर्म किया था। उन्होंने एक गोरे को मार डालना चाहा। यदि वह नहीं मरा, तो यह संयोग था। अंग्रेज़ी कानून और अंग्रेजी अदालत ऐसे आदमी को फाँसी से कम की सजा नहीं दे सकती थी। सभापति छपरा से लुप्त हो गये। लेकिन, कितने दिनों तक लुप्त रहते ? पुलिस उनके पीछे पड़ी हुई थी।

कुछ समय बाद चम्पारन के लोगों का निलहे-गोरों से उद्धार करने के लिए गाँधीजी वहाँ पहुँचे। गोरों से तो वह जनता को मुक्ति दिला रहे थे। सभापति ने भी कुछ वैसा ही काम किया था। किसी ने सलाह दी, गाँधीजी के पास जाओ, शायद वह कुछ कर सकें। गाँधीजी के अहिंसा के सिद्धान्त के विरुद्ध सभापति ने आचरण किया था। मालूम नहीं, उन्होंने तरुण को क्या सलाह दी। पर, सभापति न जेल गये और न फाँसी पर चढ़े। शायद देश में जो नव-जागरण हुआ, उसके कारण अंग्रेज बदहवास हुए थे, कि अधगोरे की पिटाई को महत्त्व देना भूल गये।

इस घटना से पहले या पीछे भी सभापति ने संगठन के क्षेत्र में अपने को योग्य सावित किया था। सताये हुओं की सहायता करना और जालिमों को दण्ड देना उन्होंने अपना कर्तव्य माना था। स्कूल में नाम तो यों ही लिखा हुआ था। गैरहाजिर रहने पर भी हेडमास्टर उनका नाम काट नहीं सकते थे। सभापति जानते थे, एक चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। उन्होंने अपनी उमर के स्कूल के लड़कों का एक संगठन बनाया, जिसका नाम रपट पार्टी रक्खा। यह विचित्र-सा नाम था। पार्टी का अर्थ तो दल ठीक है, पर रपट उसके साथ क्यों जोड़ा ? रपट पड़ना फिसलने को कहा जाता है। शायद इस शब्द का उच्चारण उन्हें ज्यादा पसन्द आया। रपट पार्टी ने एक अच्छा-खासा मकान ले लिया। उस समय छपरा में डिग्री कॉलेज क्या, कोई इन्टर कॉलेज भी नहीं था। हाई स्कूल कई थे। तगड़े और हिम्मतवाले लड़के रपट पार्टी में दाखिल हुए। पार्टी अपने सैनिकों के खाने-पीने का इन्तजाम करती थी। पैसा कहाँ से आता था ? छपरा के धनी लोग सभापति का सन्देश जाने पर देने से इन्कार नहीं कर सकते थे। एकमा के हमारे सहकर्मी हरिहर सिंह भी रपट पार्टी में रहे। घरवाले जानते थे, वेटा छपरा के स्कूल में पढ़ रहा है। लेकिन, वेटा वहाँ रपट पार्टी में मार-पीट और दाँवपेंच सीखता था। छपरा के सामाजिक जीवन की गन्दगी को रोकने में रपट पार्टी ने काफी काम किया था।

असहयोग का जमाना आया। गोरे-अधगोरे के ठोकरों का डर नहीं रह गया। लोगों ने जेल को खेल वना दिया था। सभापति को भी मालूम हो गया कि अब हमारे काम की जरूरत नहीं है। जन्मजात निर्भीक नेता को अपने योग्य क्षेत्र नहीं मिला, और न उसकी शक्ति से काम लिया गया। सभापति मुझे कभी-कभी मिलते थे। उनके सरल, सौम्य चेहरे को देखकर विश्वास नहीं होता कि उसके भीतर ज्वालामुखी धधक रहा है।

1922 ई. में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन गया में हुआ। सभापति भी जा रहे थे। मैंने उनसे कहा—"लोगों को खाने की बहुत तकलीफ होती है, सस्ता और स्वास्थ्यकर भोजन मिलना मुश्किल हो जाता है। तुम एक भोजनालय वहाँ स्थापित करो।" बाबू माधवसिंह वकील ने इस काम के लिए अपने रसोइये को दे दिया। सभापति ने गया कांग्रेस के समय 'सुदामा भोजनालय' खोला। भोजनालय (होटल) पीछे बहुत खुल गये, लेकिन छपरा का यह पहला हिन्दू होटल था। गया की सफलता देखकर अगले साल सोनपुर के मेले पर भी सुदामा भोजनालय खुला। सभापति ने पैसे के लिए नहीं, बल्कि लोगों की होटल में खाने से झिझक उतारने के लिए इसे खोला था।

19

बाबा झाड़ूदास

यह नाम उनका पीछे पड़ा। पहले हम उन्हें मास्टर महेन्द्रसिंह या मास्टर साहब कहकर जानते थे। सारे असहयोग के जमाने में वह इसी नाम से प्रसिद्ध रहे। बहुत पीछे गांधीजी के हरिजनोद्धार से प्रभावित होकर वह मोरियों और सड़कों पर झाड़ू देने लगे, और नाम झाड़ूदास पड़ गया।

सबसे पहले उनका सम्पर्क बक्सर सेंट्रल जेल में हुआ था। 1921-22 ई. के जाड़ों में सत्याग्रह को रोकने

के लिए अंग्रेजों ने जो धर-पकड़ की थी, उसमें मास्टर साहव भी जेल भेज दिये-गये। वह बड़े भक्त वैष्णव थे और वैष्णवों में भी अयोध्या के सखी-मत के अनुयायी थे, जिनके यहाँ पुरुष रह कर कोई भगवान् को नहीं पा सकता, और साधना में अधिक बढ़े हुए मुछन्दर सखियों को मासिक-धर्म हुआ करता है। समीप से देखने के कारण सखी-मत के प्रति मेरे विचार अच्छे नहीं थे, और यह भी मानने के लिए तैयार हूँ, कि उनके साथ मैं कभी-कभी अन्याय भी कर सकता था। पर, जहाँ तक मास्टर महेन्द्र सिंह का सम्वन्ध था, मैं उनको सखी नहीं, बल्कि हिम्मतवाला वीर पुरुष मानता था। वह जेल में हाथ में माला लिये अधिकांश समय 'सीताराम, सीताराम' जपा करते थे। वहाँ दो-तीन सौ की स्वराजियों की मंडली थी। उनमें दो-चार कीर्तनियाँ भगत 'हरे राम, हरे राम' की लौ लगा अपने को नक्कू ही बना सकते थे। इसीलिए मास्टर साहब वेचारे अपने वैष्णवपन को उस तरह प्रकट नहीं कर सकते थे। सबेरे स्नान करके सिर में ऊर्ध्वपुण्ड, बीच की लालश्री के नीचे सखीमत का ट्रेड मार्क छोटी-सी बिंदी लगाना नहीं भूलते थे।

मास्टर साहब गोपालगंज के हाई स्कूल में अध्यापक थे, शायद ड्रिल सिखाने का भी काम उनके ही जिम्मे था। गाँधीजी का बिगुल बजते ही उन्होंने नौकरी छोड़ दी, और असहयोग के लिए काम करने लगे। वह शिक्षित थे, शायद मैट्रिक पास थे। लेकिन, तब भी अपनी भाषा और वेशभूषा में गाँव के भाइयों से अलग नहीं थे। धर्म के लिहाज से पुराणपंथी होने पर भी उनमें बहुत उदारता थी। अपनी लड़कियों को उच्च शिक्षा दिलानेवाले छपरा में वह पहले व्यक्ति थे। घर के साधारण किसान थे, लेकिन तो भी उन्होंने अपनी लड़कियों को आगे बढ़ाया। एक एम. ए. हुई और कांग्रेसी एम. एल. ए. भी। धार्मिक अनुदारता और सामाजिक, राजनीतिक उदारता का कोई विरोध नहीं है, इसे वह सावित कर रहे थे।

1925 या 1924 ई. में जिला-बोर्ड का नया चुनाव हुआ, जिसमें कांग्रेसी भी खड़े हुए थे। मास्टर साहब बोर्ड के मेम्बर चुने गये, और गोपालगंज सब-डिवीज़न के पहले गैर-सरकारी चेयरमैन बनने का भी सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ। इससे पहले इस पद पर सदा सब-डिवीजन का मैजिस्ट्रेट रहता चला आया था। स्कूलों, सड़कों आदि के देखने के लिए पहले के चेयरमैन के पास समय कहाँ था ? मास्टर साहब अच्छे ड्रिल-मास्टर होने के साथ खूब साइकिल चलाते थे। अपने सब-डिवीजन की कोई कच्ची-पक्की सड़क नहीं छूटी, जिस पर उनकी साइकिल न दौड़ी हो। पुराने स्कूलों की पढ़ाई ठीक से हो, इसकी वह देखभाल करते, और नये स्कूलों को खोलने का प्रयत्न करते थे।

मास्टर साहब की इस तत्परता का उलटा अर्थ लगाकर विरोधी उन्हें बदनाम करना चाहते थे—वह तो टी. ए. के लिए इतनी दौड़-धूप लगाते हैं। लेकिन, जब वह इतनी दूर तक चक्कर लगाते थे, तो टी. ए. पाना जरूरी हो जाता था। वह टी. ए. के लिए ही घूमते थे, यह कहना गलत था। राष्ट्रीय काम छोड़कर मास्टर साहब को और कोई काम नहीं था। थोड़ा-सा खेत था, जिसके लिए बहुत समय की जरूरत नहीं थी, और घर में दूसरे भी काम करनेवाले थे। पहले वह कांग्रेस के काम के लिए गाँव-गाँव घूमते थे और उनका क्षेत्र अधिकतर गोपालगंज थाना रहता था। अब वह सारे सब-डिवीजन के लिए चैयरमैन चुने गये थे, और अपने काम को बड़ी तत्परता से कर रहे थे। यह जानकर तो और भी अफसोस होता था कि मास्टर साहब के ऊपर यह आक्षेप वह लोग लगाते थे, जो पैसों के लिए अंग्रेजों के हाथ में अपने शरीर और आत्मा को बेच चुके थे।

लड़कियों की शिक्षा में आगे बढ़ने के साथ उन्होंने स्त्रियों की स्थिति सुधारने का काम अपने घर से शुरू किया था, और अपनी पत्नी को भी आँगन से बाहर खींच लाये थे। पत्नी बेचारी अनपढ़ गाँव की स्त्री थी। उसे मास्टर साहब का यह काम पहले बहुत बुरा लगा, पर क्या करे, बेबस थी। कसाई के साथ जैसे गाय चली आये, वैसे ही वह भी मास्टर साहव के पीछे-पीछे चलने के लिए मजवूर थी। 1926 ई. में गोहाटी (आसाम) में कांग्रेस हुई। मास्टर साहब अपनी पत्नी के साथ वहाँ आये थे। मैं मुँह से और हृदय से भी उनके इन कामों की दाद देता था।

छपरा में आदमी ज्यादा और जमीन कम है। इसलिए खेती करने की इच्छावाले लोग दरभंगा, पूर्णिया,

भागलपुर कहाँ-कहाँ तक जाकर खेती करते हैं। मास्टर साहब ने जब सुना, कि आसाम में काफी जमीन परती पड़ी हुई है, तो उन्होंने वहाँ भी अपनी खेती शुरू की। कभी अपने चले जाते, कभी लड़का। अपने उद्योग से अपनी आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने का उन्होंने प्रयत्न किया, और उसमें कुछ सफलता भी हुई।

पीछे जब कांग्रेस की ओर से चुने जानेवाले एसेम्बली और दूसरी जगहों में जाने लगे, तो दूसरे लोग भी खद्दर और गाँधी टोपी पहनकर कांग्रेसी बनने लगे, और अपने पैसे तथा प्रभाव के कारण वह कांग्रेस के भीतर घुसने में सफल हुए। कांग्रेस के पीछे बाबू महेन्द्र सिंह फकीर हुए थे। उनकी कुर्बानियाँ दूसरों से अधिक थीं, लेकिन उनकी उपेक्षा की जाने लगी। इस पर वह कांग्रेस के विरुद्ध भी खड़े हुए। शायद इसी समय उन्होंने अपने को सबसे अधिक पक्का गाँधीवादी सिद्ध करने के लिए झाड़ू देना शुरू किया और झाड़दास नाम पड़ा।

असहयोग के छपरा के इतिहास में मास्टर महेन्द्र सिंह को भुलाया नहीं जा सकता।

20

बाबू हरिनन्दन सहाय

असहयोग में योग देनेवाले वृद्ध और प्रौढ़ लोग भी थे, लेकिन अधिक संख्या नौजवानों की थी। स्कूलों को छोड़कर आये लड़के बीस वर्ष से नीचे ही के थे। बीस वर्ष से ऊपरवाले वकील, अध्यापक जैसे लोग थे, जो जवानी के मध्याह्न में थे। हरिनन्दन बाबू की उमर उस समय 25-26 के आसपास थी। एम. ए. करके वकालत (बी. एल.) पास किया, और अब वकालत छोड़कर कांग्रेस के काम में जुटे थे। कुछ ही महीनों बाद, अनिच्छा रहते भी मैं सारे जिले के काम में समय देने के लिए मजबूर हुआ। सबसे पहले ऐसा अवसर 1921 ई. के बाढ़ के समय में मिला। रेल की सड़क ने छपरा शहर को बचा दिया था, नहीं तो यदि धार उधर मुड़ती, तो शहर खतम हो जाता। सड़क से पश्चिम दूर तक एक विशाल समुद्र बन गया था, जिसमें जगह-जगह गाँव टापू की तरह मालूम होते थे। पानी बढ़ता जा रहा था, लोग अपने मकानों की छतों पर बैठे थे। मकानों की दीवारें ईंट की नहीं, मिट्टी की थीं, इसलिए उनके बैठने में देर नहीं थी। पहले दिन तो सबसे बड़ा काम यही था कि ऐसे लोगों को नावों पर बैठा कर बाहर निकाला जाय। उस रात शायद चार बजे घंटे-दो घंटे के लिए मैं नाव पर सोया था।

सहायता के काम का अभी लोगों को तर्जबा नहीं था। सिर्फ मेलों पर सेवा-समिति काम करती थी, सार्वजनिक सेवा पहले-पहल इसी रूप में देखी गई थी। बाबू महेन्द्रप्रसाद छपरा में सेवा-समितियों के सबसे बड़े सहायक और समर्थक थे। सोनपुर में उन्हीं के प्रयत्न से सेवा-समिति का अपना भवन बना। सेवा-समितियाँ मेले-ठेले में भूले-भटकों को सहायता करतीं, जहाँ भीड़ होती वहाँ व्यवस्था कायम करतीं। बाढ़ के कारण हजारों आदमियों की विपदा में सहायता करने का अभी तर्जबा नहीं था। बाढ़-सहायता का काम दो-चार दिन का नहीं, महीनों का था। पहले लोगों को खाना और जाड़े के लिए वस्त्र का प्रबन्ध करना था। बाढ़ उतर जाने पर खेती के लिय बीज और दूसरी सहायता पहुँचानी थी। इसके लिए ऐसे योग्य कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता थी, जो सहायता को संगठित और संचालित कर सकते। ओलियर टैंक (तालाब) के पास रेलवे सड़क के किनारे बहुत-सी फूस की झोपड़ियाँ बनाई गई थीं, जिसमें गोदाम और आफिस थे। काम करने के लिए आये लोगों में किसी को तजर्बा नहीं था, लेकिन कुछ काम को जल्दी समझ लेते थे और कुछ समझने की क्षमता नहीं रखते थे। इसी जगह बाबू हरिनन्दन सहाय से मेरा परिचय हुआ। ऐसे समय में मैं अपने को संयत न कर रोयें-रोयें से उड़ना चाहता था। सहायता पहुँचाने में एक मिनट की देरी भी मुझे असह्य मालूम होती थी। उस समय यदि किसी को डट कर काम करते देखता, तो चित्त प्रसन्न हो जाता। हरिनन्दन बाबू को मैंने ऐसा ही देखा।

हरिनन्दन बाबू का जन्म गण्डक के बाँध के किनारे उसरी में हुआ था। गाँव कायस्थों का है। कायस्थ युगों से कलमपेशा चले आये हैं। उनमें कोई गाँव के पटवारी तक ही रह जाते, और कोई-कोई अपनी शिक्षा के कारण ऊँचे-ऊँचे पदों पर पहुँचते या वकील हो जाते। हरिनन्दन बाबू के चचा बाबू बलदेव सहाय गोपालगंज के सबसे बड़े वकील थे। वह धार्मिक वृत्ति रखनेवाले पुरुष थे। किसी तरह राधास्वामी-मत की हवा लग गई, और वह आगरे में अपने सम्प्रदाय के भण्डारों में अक्सर जाया करते थे। तो भी अपनी भक्ति का प्रदर्शन वह गोपालगंज के दूसरे भक्त मास्टर महेन्द्रसिंह की तरह नहीं करते थे। उस समय तो नहीं, पर पीछे चचा के प्रभाव के कारण हरिनन्दन बाबू भी राधास्वामी साहबजी महाराज के सम्पर्क में आये। उनके एकमात्र पुत्र ने तो बहुत कुछ आगरा के दयालबाग में ही शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की।

यद्यपि हरिनन्दन बाबू घर से गरीब नहीं थे, कुछ जमींदारी भी थी, और चचा भी सम्मिलित परिवार के कर्त्ता थे तब भी कुछ कमाये-धमाये बिना सारा जीवन कैसे बिताया जा सकता था ? लेकिन, बहुत सालों तक वह असहयोगी रहकर कांग्रेस का काम करते रहे। गया-कांग्रेस में वक्त-प्रवन्धकों की जब आवश्यकता मालूम हुई, तो छपरा से मथुरा बाबू, गोरखनाथ त्रिवेदी आदि के साथ वह भी वहाँ जाकर काम करते रहे।

1922 के नवम्बर में हम सोनपुर के मेले में थे। दानापुर और दूसरी गोरा-छावनियों के खाने के लिए सोनपुर मेले से हजारों गायें खरीदी जाती थीं। हम चाहते थे, इसकी रोकथाम हो। उस समय विहार और उड़ीसा एक ही प्रदेश था। बाबू मधुसूदनदास उसके एक मंत्री थे। मधुसूदन बाबू ईसाई और उड़िया थे। यद्यपि गोमांस उनके लिए अभक्ष्य नहीं हो सकता था, पर वह भारतीय थे और गाय की उपयोगिता को मानते थे। हरिनन्दन बाबू और मैं दोनों उनके पास इसके बारे में वातचीत करने गये। उन्होंने सहानुभूति के साथ हमारी बातें सुनीं, और कहा—"गो-रक्षा का असली मतलब अन्धी-लँगड़ी गायें जमा करना नहीं होना चाहिए, बल्कि बेहतर नसल की वृद्धि करनी चाहिए।" उनकी बात बिल्कुल ठीक थी। सोनपुर के मेले में गोरों के लिए गायें न खरीदी जायँ, ऐसा करना उनकी शक्ति के बाहर था, यह हमें मालूम होते देर नहीं लगी।

हरिनन्दन बाबू से मेरी बहुत घनिष्टता थी। मन करता था, हम हमेशा इसी तरह काम करते रहें। उसरी में, उनके गाँव में मैं अनेक बार गया था। वह मुझसे बहुत प्रभावित थे। "यह संस्कृत-हिन्दी जाननेवाला साधु होने से कुछ और भी है," वह बात अंग्रेजी शिक्षित साथियों में पहले उन्हीं को मालूम हुई थी। एकमा के अपने तरुण साथियों के सामने मैं वही बातें करता था, जिनकी उनके काम के लिए आवश्यकता थी। वहाँ समाजवाद और साम्यवाद पर व्याख्यान देने की जरूरत नहीं थी, क्योंकि उसको मेरे साथी नहीं समझते। लेकिन, हरिनन्दन बाबू कलकता में पढ़े थे। उनको बाहरी बातों का भी ज्ञान था। उनसे और विषयों पर भी बातचीत होती थी।

1925 ई. में दो साल जेल में रहकर जब मैं बाहर आया, तो उस समय छपरा जिला-बोर्ड के नये चुनाव में कांग्रेस की विजय होने के फलस्वरूप जिला-बोर्ड के चेयरमैन हक साहब (मज़हरुल हक) और वाइस-चेयरमैन हरिनन्दन बाबू थे। उन्हें बाबू राधिकाप्रसाद जैसा जिले का शिक्षाधिकारी (डिप्टी-इन्सपेक्टर) मिला था। तीनों के प्रयत्न का यह फल हुआ, कि स्कूलों की संख्या बहुत बढ़ गई, प्रायः एक-एक मील पर प्राइमरी स्कूल हो गये, और साथ ही शिक्षा निःशुल्क भी हो गई।

बाबू बलदेव सहाय के एक ही पुत्र था, और उनके भाई के इकलौते पुत्र थे हरिनन्दन बाबू। उस तरुण का ब्याह शीतलपुर में एक सुशिक्षित कायस्थ परिवार में हुआ। बरात में मुझे भी जाना पड़ा। लेकिन, यह ब्याह मंगल साबित नहीं हुआ, कुछ ही साल बाद जवान लड़के की मृत्यु हो गई। बलदेव सहाय को बहुत धक्का लगा। अब उनका सारा स्नेह अपने भतीजे पर केन्द्रित हो गया। भतीजा भी अपने चचा के सामने चल बसा और उसका लड़का ऐसा निकला, जिसने बाप-दादे की सारी सम्पत्ति को कुछ ही दिनों में उड़ा-पड़ा कर खतम कर दिया। उसको मेरा और हरिनन्दन बाबू का सम्बन्ध मालूम था। बहुत वर्षों बाद, (आज से तीन ही चार वर्ष पहले) उसकी चिट्ठी मिली। पीछे उसी गाँव के दूसरे सज्जन मसूरी आये तो मालूम हुआ, बाबू बलदेव सहाय और बाबू हरिनन्दन सहाय का घर अब चौपट हो चुका है।

घर भले ही चौपट हो गया हो, लेकिन हरिनन्दन बाबू ने अपनी जवानी के जो कई साल देश की सेवा के लिए अर्पित किये, वह बेकार नहीं गये। इसका साक्षी आज हमारा स्वतन्त्र देश है।

21
महन्त तुलसी गोसाईं

कबीर साहब का नाम बहुत पहले सुपरिचित था। पिता के मुँह से अनेक बार सुनता था—"कहैं कबीर कछु उद्दम कीजै। आपु खाई औरन को दीजै।" आजमगढ़ के पास के एक कबीरपंथी महन्त फसल के समय हर साल कनैला आते और लोग अपनी शक्ति के अनुसार दो-चार सेर धान या अनाज उनके मठ के लिए देते थे। वह गरी के छोटे-छोटे टुकड़े बच्चों को प्रसाद के तौर पर बाँटते। इसके कारण मेरे बाल-मन ने गरी और कबीर सहब को जोड़ दिया था। यद्यपि मैं हिन्दी का नहीं, बल्कि उर्दू का विद्यार्थी था, पर दर्जे में उर्दूवालों की संख्या एक-दो से ज्यादा नहीं होती और उन्हें भी अपने हिन्दीवाले सहपाठियों के साथ बैठे-बैठे पाठ सुनना पड़ता। इसलिए 'हिन्दी शिक्षावली' में दिये गये कबीर के कितने ही वचन मेरे कानों में पड़ जाते थे। कबीरपंथ और उसके साधुओं का मेरा परिचय इतना ही भर था, जब कि तुलसी गोसाईं के रूप में मुझे एक कबीरपंथी साधु को नजदीक से देखने का अवसर मिला।

वैसे बैरागी भी शिक्षा और संस्कृति में बहुत बढ़े नहीं थे, पर कबीरपंथी तो उस समय और भी पिछड़े माने जाते थे। शायद उसका एक कारण यह भी था, वह तड़क-भड़क से नहीं रहते। कबीरपंथी साधु अपने हाथ से हल भी चला लेते थे, खेती करते थे, कुछ उद्यम करके दूसरों को भी खिलाना उनका मोटो था। इन सबके साथ उनके महन्तों में अब्राह्मण ज्यादा थे, और भक्तों में कोयरी (काछी) जैसी मेहनती किसान जातियाँ थीं। शायद इन बातों का प्रभाव मुझ पर भी था, और मैं भी उन्हें वैसा ही समझता था।

1921 ई. में असहयोग में भाग लेने के लिए मैं छपरा पहुँचा। उस समय तक मैं अपने विचारों में बहुत आगे बढ़ चुका था। आर्यसमाज ने बहुत-सी धार्मिक रूढ़ियों को मेरे मन से हटा दिया था। घुमक्कड़ी ने दृष्टि को विशाल कर दिया था। साम्यवादी विचारों ने एक नये समाज का सपना मेरे सामने रक्खा था, जिस सपने को मैंने एक ही दो साल बाद अपनी 'बाईसवीं सदी' में कागज पर उतारा। इस प्रकार मैं हरेक चीज और हरेक व्यक्ति को कई दृष्टि से देखता था। मैं त्रुटियों और दोषों को उतना महत्त्व नहीं देता था, जितना कि आदमी के गुणों को।

दौरा करते मैं जिले के सबसे उत्तर के तथा पिछड़े थाने भोरे में गया। किसी युग में असहयोग की आवाज यहाँ गूँजी थी, वहाँ जाने पर बस यही पता लगा। पर अब चारों तरफ सन्नाटा छाया हुआ था। मैंने बिखरे हुए कार्यकर्ताओं को इकट्ठा किया, फिर काम को आगे बढ़ाने की कोशिश की। इसी समय तुलसी गोसाईं से भेंट हुई। वह 50 के आसपास के रहे होंगे। उनके शरीर पर मोटे खद्दर का अँचला (कपड़ा) था, और शायद कबीरपंथियों जैसा तिलक भी। वह मुझे अपने मठ पर ले गये। मठ के मकान कच्चे, किन्तु साफ-सुथरे थे, गोशाला में कई जोड़ी बैलों के अतिरिक्त गायें-भैंसें भी थीं। जो ईसाई-मुसलमानों के साथ कच्ची-पक्की खा चुका था, उसके मन में भला छूआछूत का भाव कैसे रह सकता था ? लेकिन कितने ही लोग परसा मठ का वैरागी समझकर मुझे दूसरा समझते थे, और खाने में छूतछात न रखने के कारण परमहंस कह दिया करते थे। तुलसी गोसाईं के यहाँ भोजन करना था। एक पंक्ति में सारे साधु बैठे थे। मैं भी उन्हीं में बैठा। देखा, दही-दूध जो भी परोसा गया, सबकी थाली या पत्तल में एक-सा डाला गया। मेरे साम्यवादी मन पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा। तुलसी गोसाईं ने कहा कि अगर सबके पास पहुँचाने भर के लिए दही-दूध हमारे पास नहीं होता, तो हम उसे दाल में डाल देते हैं, लेकिन पंक्ति-भेद कभी नहीं करते। गरी के साथ अब यह साम्यवादी भावना

भी कबीरपंथ के साथ मेरे मन में जुड़ गई। मैं इस पंथ का बहुत प्रशंसक बन गया।

तुलसी गोसाईं शायद मेरे वैरागी-गुरु (महन्त लछुमनदास) से अधिक पढ़े-लिखे थे, अर्थात् अपनी दस्तखत करते, बगले की टाँगें नहीं खींचा करते थे, बस इतनी ही भर उनकी शिक्षा था। कबीर की वाणी को वह अवश्य समझते थे, और यथाशक्ति उसका अनुगमन करने की कोशिश करते थे। मठ के पास काफी खेत थे, जिसमें मिट्टी-धूल में एक होकर वह खेती करते थे। मैंने उन्हें हल चलाते नहीं देखा, पर मौका पड़ने पर वह उससे बाज नहीं आते होंगे, यह मुझे विश्वास था। उनके बैल खूब हट्टे-कट्टे थे, गायें-भैंसें मोटी-तगड़ी थीं। परसा-मठ में मैंने देखा था, दो सौ रुपये की जोड़ी बैलों की खरीद कर आती और छः महीने में उनकी हड्डी-हड्डी रह जाती। उस समय की दो सौ की जोड़ी आज हजार में मिलेगी। इसका कारण यही था कि महन्त और दूसरे साधु गोशाला को नौकरों की चीज समझते थे देखने की तकलीफ नहीं करते थे कि पशुओं को सानी-पानी कैसी मिल रही है। तुलसी गोसाईं और न उनके मठ के साधु अपने हाथ से गोबर निकालनेवाले थे, स्वयं सानी-पानी करते थे, गाय-भैंसों का दूध दूह लेते थे। उन्हें बड़ी जातवाले, अर्धशिक्षित कोमलांगों की आवश्यकता नहीं थी। धूल-माटी में खेलनेवाले किसान-पुत्र उनके मठ के साधु थे। मठ की परम्परा उनको बतलाती कि शरीर से उद्यम करना बड़े धर्म की बात है। साहेब (कबीर) स्वयं करघा चलाते थे, उसी की कमाई से उनका और उनके अतिथियों का भोजन चलता था। उन्होंने कामचोर को बहुत बुरा कहा है।

तुलसी गोसाईं यह समझ गये थे, कि भक्ति भावना के अतिरिक्त देश को गुलामी से आजाद करना भी एक बड़ी उपासना है। इसीलिए वह पुलिस के घनघोर राज्य के भय का कुछ भी ख्याल न करके कांग्रेस में काम करते थे। वह थाना कांग्रेस के सभापति थे।

न जाने कब तुलसी गोसाईं का अन्तिम दर्शन हुआ, यह भी मालूम नहीं, कब उन्होंने अपना चेला छोड़ा। पर, देश के लिए जिन भोली-भाली सूरतों ने सरल श्रद्धावश काम किया था, उनका ख्याल आते तुलसी गोसाईं सबसे पहले मेरे सामने खड़े हो जाते हैं।

22

बाबू नारायणप्रसाद सिंह

हम दोनों एक साथ जेल में जानेवाले, एक ही बार सजा सुननेवाले और फिर छः महीने तक साथ रहकर एक ही साथ छूटनेवाले थे। इसी से हमारा सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ हो गया। हम लोग छपरा जेल के हवालात में गये, सरकार ने विशेष सुभीता दिया था। हम अपने हाथ से अपनी रुचि का भोजन बना, और बाहर से मँगा भी सकते थे। नारायण बाबू को चूल्हे से कभी वास्ता नहीं पड़ा था। उस वक्त मैंने अपने रसोई के हाथ दिखलाये।

नारायण बाबू की शिक्षा हिन्दी तक ही थी, पर वह स्वाध्यायशील थे; इसलिए हिन्दी द्वारा ही उन्होंने अपने ज्ञान को बहुत बढ़ाया था। उनके पिता काफी धन छोड़कर मरे थे। पिता की अकेली सन्तान थे। यद्यपि उनका कुल बड़भैया भूमिहारों का नहीं था, तो भी वह प्रतिष्ठित समझा जाता था। बाबुओं की परम्परा के अनुसार प्रभुत्व, धनसम्पत्ति और यौवन तीनों के एकत्रित हो जाने पर अपना समय मौज-मेले में बिताना चाहिए था। पर, उनमें अविवेक नहीं था। साथ ही कहीं से भनक लगी कि जीवन केवल खाने-पीने के लिए नहीं है। उन्हें देश की राजनीतिक बातों का भी कुछ-कुछ पता था। अभी गाँधीजी भारत के कार्यक्षेत्र में नहीं उतरे थे। तिलक मांडले के जेल में रहते भी अपने प्रभाव से सारे भारत के देशभक्त हृदयों को अपनी तरफ खींच रहे थे। नारायण बाबू तिलक और गीता के भक्त थे। गाँधीजी के आन्दोलन में पूरी तौर से शामिल होने पर भी वह तिलक को अपना गुरु मानते थे।

आदर्शवादी होते ही उनका ध्यान शिक्षा की ओर गया। उनका गाँव गोरयाकोटी उस समय किसी भी

स्टेशन से चार-पाँच कोस से कम दूर नहीं पड़ता था। ऐसे घोर देहात में हाई स्कूल खोलना असम्भव-सी बात थी। लेकिन, नारायण बावू ने असम्भव को सम्भव कर दिया। विलास में पैसों को फूँकने की जगह उन्होंने शिक्षण संस्था में उसे लगाया। शिक्षा की भूख लोगों में पैदा हो गई थी, इसलिए लड़के आने लगे। कुछ ही समय बाद उनका हाई स्कूल सरकार द्वारा स्वीकृत हो गया। इतनी साधना के बाद तैयार किये स्कूल को असहयोग की आँधी आते ही उन्होंने राष्ट्रीय विद्यालय बना दिया, और सरकारी परीक्षा बायकाट कर दिया। लोग अधिकतर नौकरी, वकालत या दूसरे कामों के लिए अपने लड़कों कों स्कूल में पढ़ने के लिए भेजते थे। गाँधीजी के स्कूल से वह आशा पूरी नहीं हो सकती थी, इसलिए लड़के बहुत कम हो गये। तो भी नारायण बाबू डटे रहे।

शिक्षा में स्कूली या कालेज की शिक्षा से वंचित होने पर भी वह सुशिक्षित और सुसंस्कृत पुरुष थे। हाई स्कूल के संस्थापक के तौर पर अपने बसंतपुर थाने ही में, बल्कि नहीं, जिले में भी उनका सम्मान था। कांग्रेस का आन्दोलन शुरू हुआ, तो नारायण बाबू को जिले के मुख्य नेताओं में माना जाने लगा।

1921 ई. के अन्त में सत्याग्रह के लिए स्वयंसवेक भर्ती किये जाने लगे। सरकार ने क्रिमिनल-ला सुधार कानून के द्वारा स्वयंसेवक दल को गैर-कानूनी घोषित कर दिया। छपरा की रामलीला मठिया में सभा हुई। पुलिस के लोग वहाँ मौजूद थे। लोग अपना-अपना नाम लिखाने लगे। भरत मिश्र, बाबू माधव सिंह वकील तथा कितने ही और कांग्रेसी नेता वहीं गिरफ्तार कर लिये गये। छपरा का कलेक्टर लुइस बड़ा होशियार आदमी था। वह जानता था, हम अन्धाधुंध गिरफ्तारी नहीं कर सकते, क्योंकि हमारे पास उन्हें जेल में रखने के लिए जगह नहीं है। छपरावाले लुइस की शिकायत करते थे–मुजफ्फरपुर के कलेक्टर ने सैकड़ों को जेल में भेजकर जिले के नाम को ऊँचा करने का मौका दिया, और हम छपरावाले लुइस के मारे उससे वंचित हो गये। कलेक्टर के आदेश के अनुसार पुलिस ने आठ-दस आदमियों को गिरफ्तार किया, और बाकियों के नाम नोट कर लिए।

दिसम्बर (1922 ई.) में कांग्रेस का अधिवेशन अहमदाबाद (गुजरात) में हुआ। मुझे भी जाने के लिए कह रहे थे, लेकिन अहमदाबाद मेरा देखा हुआ था। वहाँ जाने की जगह जिले में कांग्रेस के लिए काम करना मैं ज्यादा अच्छा समझता था। गांधीजी बारदोली में सत्याग्रह छेड़नेवाले थे। इसके लिए हमारे जिले को तैयार रहना चाहिए था। नारायण बाबू अपने जिले के कुछ आदमियों को लेकर कांग्रेस में गये। वहाँ की एक घटना सुना रहे थे। बहुत दूर न रहने के कारण द्वारिका भी देखने के लिए गये। जिस नाव में चढ़ कर समुद्र में जा रहे थे, उसके पाल की रस्सी टूट गई, और समुद्र की उत्ताल तरंगें उसे वहा ले चलीं। नौकारोहियों को मृत्यु अपने सामने दिखाई देने लगी। कायरता दिखानेवालों में अपने जिले के भी एक भक्त-पुरुष थे। खैर, नैया डूबी नहीं। कोई जहाज मिल गया, और उसने नाव को बचा लिया।

नारायण बाबू कांग्रेस से जनवरी में लौट आये। पुलिस ने हम दोनों को मुक्त रखना पसन्द नहीं किया। वारन्ट निकला था। पहले मैं गिरफ्तार करके जेल में भेजा गया और दस दिन बाद तारीख के दिन 9 फरवरी को नारायण बाबू भी पकड़कर इजलास में हाजिर किये गये।

हम दोनों ही छपरा जेल में रक्खे गये। रसोइया मिल सकता था, लेकिन यह भी एक शगल था, इसलिए हम अपना खाना बनाया करते थे। वहाँ रहते मैं पुस्तकें पढ़ता या नारायण बाबू से बातें करता। उनसे परिचय पहले ही हो चुका था, लेकिन अब उनके तेजस्वी व्यक्तित्व को नजदीक से देखने का मौका मिला, इसलिए उनके प्रति मेरा स्नेह बढ़ा।

11 फरवरी (1922 ई.) को हमारे मुकदमें का फैसला हुआ। पुलिस ने जो अपराध लगाये थे, उन्हें हमने पूरी तौर से स्वीकार किया। छः महीने की सजा दी गई। मिस्टर लुइस को धन्यवाद दे हम जेल में चले आये। तेरह दिन रहने के बाद राजनीतिक कैदियों के लिए निश्चित किये गये बक्सर सेन्ट्रल जेल में हम भेज दिये गये। वहाँ एक पूरी बटालियन पड़ी हुई थी। अपने जिले के डेढ़ दर्जन से ज्यादा आदमी नहीं थे, लेकिन सारे बिहार के तीन सौ से ऊपर बन्दी थे। छः महीने के लिए वही हमारा घर हो गया। नारायण बाबू अपना समय पढ़ने-लिखने में लगाते। गीता का उन्होंने खूब अध्ययन किया था, और तिलक के 'गीता-रहस्य' के कई पारायण किये थे। अद्वैत वेदान्त पर उनकी अटल श्रद्धा थी। वेदान्त पर उन्होंने कुछ लिखा भी।

एक ही दिन दण्डित होकर हम दोनों जेल में गये, और एक ही साथ छूटे भी। इसके बाद कांग्रेस में हम एक ही साथ काम करते रहे। दूसरे बड़े कार्यकर्त्ताओं में कितने ही फिर वकालत या दूसरा काम करने चले गये, पर नारायण बाबू और मेरे लिए वही एकमात्र काम था, जिसको हमने उस समय स्वीकार किया था। बाद में जब मैं राजनीति से अलग होकर साहित्यिक और दूसरे कामों में लग गया, तब भी नारायण बाबू का सम्बन्ध वैसा ही बना रहा। जिला-बोर्ड के चुनाव में कुछ मतभेद हो गया था। मैं कांग्रेसी उम्मीदवार ही को सब कुछ समझता था, इसीलिए यह पसन्द नहीं करता था कि कोई कांग्रेसी दूसरे की किसी और ख्याल से सहायता करे, इसके लिए अपना रोष कुछ कड़े शब्दों में प्रकट किया था, जिसका मुझे पीछे बहुत अफसोस हुआ, और दो-तीन साल बाद तिब्बत से मैंने इसके लिए खेद प्रकट किया। नारायण बाबू स्वनिर्मित पुरुष थे। अपने अध्ययन और तजर्बा से ही उन्होंने बहुत अच्छा ज्ञान अर्जित किया था, और उनकी सूझ कितने ही सुशिक्षितों से भी ज्यादा दूरगामिनी होती थी। गोरयाकोठी हाई स्कूल को उन्होंने फिर स्वीकृत करवा दिया और वह अच्छी तरह चल निकला। वह कौंसिल में भी चुने गये। उन्होंने अपने लड़कियों को भी उच्च शिक्षा दिलवाई। सबसे छोटी शकुन्तला अब पटना के एक महिला कॉलेज की प्रिंसिपल है।

कांग्रेस के हरेक आन्दोलन में वह शामिल होते और जेल भी जाते। नमक-सत्याग्रह के समय उनके गाँव और घर पर पुलिस ने आँख मूँद कर अत्याचार किया। वह जेल चले गये थे। घर में उनकी पत्नी रह गई थीं। गाँव में गोरखा सिपाही पड़े हुए थे। खुल कर जाने में हम भी पकड़े जाते, इसलिए श्री जानकीशरण साही वकील के साथ 10 फरवरी (1931 ई.) को अँधेरा होते-होते हम गोरयाकोठी पहुँचे। नारायण बाबू के घर में गोरखों ने कुर्सी, पलँग, चौकियों को खुकुड़ी से काट दिया था, सभी चीजों का नष्ट करने की कोशिश की थी। गाँव के एक गरीब के घर में देखा—उसकी चौखट-किवाड़ों को उखाड़ फेंका गया था। कोठली को तोड़ अनाज को बिखेर कर मिट्टी में मिला दिया गया था। काँसे-ताँबे के बर्तनों-घड़ों को तोड़ दिया गया था। यही हालत और भी बहुत-से घरों में हुई थी। लोगों पर बहुत मार पड़ी थी। सारे गाँव पर पुलिस आतंक जमाने की कोशिश कर रही थी। नारायण बाबू की पत्नी को हम सान्त्वना दे रहे थे, लेकिन वह पहले ही से तैयार थीं—"मुझे घबराहट नहीं है। मैं बच्चों के साथ जेल जाने के लिए तैयार हूँ।" उनकी सबसे छोटी लड़की (शकुन्तला) अपनी मझली बहिन के साथ छपरा में सत्याग्रह में काम कर रही थी।

गोरयाकोठी जैसे घोर देहाती गाँव में इतनी राजनीतिक जागृति पैदा करने का श्रेय नारायण बाबू को था।

23
दारोगा नन्दी

हाँ, वह पुलिस के दारोगा थे। असहयोग आन्दोलन को दबाना उनका काम था। लेकिन, मैं उनको अपने दूसरे असहयोगी साथियों की तरह ही मानता था। पहली बार छै महीने की जेल काटकर मैं बाहर आया। बाबू माधवसिंह वकील के साथ कुवाड़ी परगने—मीरगंज, भोरे, कटया, कुचायकोट—में जाने का हमारा प्रोग्राम बना। कलेक्टर को मालूम हुआ, तो कटया में हमारे ऊपर दफा 144 लगाकर भाषण देना बन्द कर दिया। हम दोनों मीरगंज और भोरे के थानों में व्याख्यान देने कटया की ओर बढ़े। मालूम हो गया था, कि वहाँ पहुँचते ही नोटिस दिया जायगा, और हमें दफा 144 तोड़ने की इजाजत नहीं हुई थी। रास्ते में कोई हाट लगी हुई थी। कई सौ आदमी इकट्ठा मिले। जो व्याख्यान कटया में देना था, उसे यहीं दे डाला। कटया में पहुँचने पर भी हम फुर्ती के साथ दो-तीन फर्लांग दूर एक पोखरे पर चले गये। लोग जमा हो गये। हम कुछ बोल नहीं सके, नन्दी दारोगा आ गये, और उन्होंने दफा 144 का नोटिस हमारे हाथ में दे दिया। कहीं हम दफा तोड़कर बोलने न

लग जायें, इसलिए उन्होंने ही एक छोटा-सा लेक्चर दे डाला, जिसमें खद्दर पहनने की तारीफ, नशा पीने, और मुकदमेबाजी करने की निन्दा थी। सरकार का खुल्लमखुल्ला विरोध करना छोड़कर बाकी जो बातें हम कहना चाहते थे, वही नन्दीजी ने कह डालीं। सभा के बाद फिर उनसे बातचीत हुई। उनके विचारों को जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। कह रहे थे–"हमारी अखिल भारतीय अहीर सभा का सम्मेलन था। कुछ लोगों ने प्रस्ताव रक्खा कि हमें अपनी जाति में विधवा-विवाह बन्द कर देना चाहिए। आखिर बड़ी जात और छोटी जात में यही तो अन्तर है कि बड़ी जातिवाले विधवा-विवाह नहीं कर सकते। हमने तथा कुछ और नेताओं ने इसका सख्त विरोध करते हुए कहा कि बड़ी जातवाले भी इस गलती का मार्जन कर रहे हैं, विधवा-विवाह की हिमायत कर रहे हैं। हमें ऐसी गलती नहीं करनी चाहिए।"

नन्दी दारोगा को मैं बहुत ऊँचे दर्जे का आदमी मानता था। छपरा में गोरखपुर (आजकल देवरिया) जिले की सीमा पर अवस्थित भोरे और कटया थानों का थानेदार बनना लोग अहोभाग्य समझते थे। वहाँ के थानेदार के लिए साल में 15-20 हजार रुपया कमा लेना कोई मुश्किल बात नहीं थी। छपरा और गोरखपुर दो सूबों में थे, इसलिए पुलिस की कार्रवाई में ढिलाई होती थी, जिसके कारण चोरों की बन आती थी। ये चोर दूर-दूर तक थे। कितना प्रलोभन उनके सामने था ? लेकिन, वह पानी में कमल की तरह निर्लेप रहे। रिश्वत लेना वह बहुत बुरा समझते थे। वह बेवकूफ नहीं बल्कि बहुत समझदार आदमी थे। लेकिन, पेन्शन के वक्त तक वह सब-इन्सपेक्टर से ऊपर नहीं बढ़ सके। क्योंकि, न वह खुशामद करना जानते थे, और न ऊपरवाले अफसरों को अपनी कमाई में से पूजा चढ़ा सकते थे। तरक्की कैसे होती ? ऐसे कितने आदमी हो सकते हैं ? उन्हीं की जाति-बिरादरी के एक दूसरे पुरुष को मैंने प्रयाग में देखा जो हाई स्कूल और इंटरमीडियेट परीक्षा-वोर्ड के सेक्रेटरी थे। अपनी पुस्तकों को लगवाने और दूसरे कामों को करवाने के लिए ऐसे सेक्रेटरी के सामने लोग थैली खोलने के लिए तैयार हो जाते, लेकिन सेक्रेटरी के कड़े स्वभाव को जानते थे, इसलिए कोई हिम्मत नहीं करता था। उसने अपना ब्याह इसलिए नहीं किया कि खर्चा बढ़ जायगा। यह दोनों पुरुष सरकारी नौकरी नहीं, बल्कि तपस्या कर रहे थे। ऐसे तपस्वियों का आज कितना अभाव है ?

1931 ई. के सत्याग्रह के समय मैं भी भाग लेने गया। मुझसे यह स्वीकार करा लिया गया था कि मैं जेल न जाकर पीछे रह सत्याग्रह का संचालन करूँ। एक दिन छपरा शहर में जलूस निकल रहा था। मैं जलूस से दूर फुटपाथ पर से जा रहा था, उसी समय नन्दी दारोगा अपने एक-दो और पुलिस अफसरों के साथ आ गये। हम बहुत दिनों बाद मिले थे। उनके साथी ने कहा–"बाबा, आप जलूस में नहीं शामिल हो रहे हैं ?" नन्दीजी ने उन्हें कुछ वतलाया। इसके बाद हम बातचीत करते हुए कुछ दूर तक साथ गये। अब पेन्शन पाने का समय आ गया था। दस साल पहले की उनकी बातें याद आती थीं। इस वक्त मालूम हुआ कि वह अब भी सब-इन्सपेक्टर हैं। हाँ, अब उन्हें थानों में न भेजकर कचहरी का सब-इन्सपेक्टर नियुक्त किया गया है। अंग्रेजी शासन के वह अनुरूप नहीं थे, इसलिए क्यों तरक्की होने लगी ?

24

हक साहब

सब लोग उन्हें हक साहब कहा करते थे। राष्ट्रीयता और देश के लिए इतना जबर्दस्त दीवाना बीसवीं शताब्दी में दूसरा कोई मुसलमान हुआ, इसका मुझे पता नहीं। उनके दर्शन करने का मुझे कई बार मौका मिला। लेकिन घनिष्टता के साथ मिलने का अवसर उनके अपने गाँव फरीदपुर (आंदर) में ही हुआ। पटना के अपने विशाल बाग़ और मकान को उन्होंने कांग्रेस को दे दिया, जो सदाकत आश्रम के नाम से आज भी मौजूद है। अन्तिम मूर्ति उनकी याद आती है, अतिगौर मुख और सारी सफेद दाढ़ी। वह अपने गाँव के बँगले की बैठक में बैठे

थे। सामने आलमारियों में हजारों पुस्तकें सजी थीं। एक जगह कई सौ पुस्तकें प्रेतात्माओं के सम्बनध की थीं। उनका बड़ा लड़का नदी में डूबकर मर गया था, जिनका उनके ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा था। ऑलिवर लाज जैसे विज्ञान में नोबुल पुरस्कार विजेता जब पुत्र-शोक को मिटाने के लिए प्रेतात्माविद्या की ओर झुक गये, तो भावुक हक साहब के बारे में क्या कहना ? वह अच्छे बैरिस्टर थे, लेकिन पैसा कमाना उनका कभी ध्येय नहीं रहा। यद्यपि धर्म और इस्लाम के प्रति उनका बहुत आदर था, किन्तु साम्प्रदायिकता उनको बिल्कुल छू नहीं गई थी। वह अनासक्त-सा जीवन बिताते थे। असहयोग-आन्दोलन के बहुत पहले से वह राष्ट्रीयता के कट्टर समर्थक और अंग्रेजों के विरोधी थे। असहयोग-आन्दोलन के समय उन्होंने दूसरों की तरह गाँव-गाँव घूमकर प्रचार का काम नहीं किया। पर, उनकी हरेक श्वास के साथ अंग्रेजी राज्य के लिए घृणा निकलती थी। असहयोग में बैरिस्टरी छोड़ दी, अपनी पटना की सम्पत्ति दान कर दी। फिर अंग्रेजी का एक राष्ट्रीय दैनिक भी उसी समय निकाला, जिसमें बहुत सख्त लेख निकलते थे, जिसके कारण मुखपृष्ठ पर नाम छपने के कारण एक सम्पादक को जेल की भी हवा खानी पड़ी।

दूसरी बार दो साल की जेल काटकर जब मैं बाहर आया, तो देखा, हक साहब छपरा डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के चेयरमैन हैं। चेयरमैनी या कौंसिल की मेम्बरी की ओर उनका कोई आकर्षण नहीं था। कौंसिल की मेम्बरी में उनके और प्रतिद्वन्द्वी के समान वोट आ गये। कहने लगे–जाने दो उसे, एक वोट की कमी से ही तो वह नहीं जीत रहा है। उसी की जीत सही। लेकिन, उन्हें कांग्रेसवालों ने खड़ा किया था। उन्होंने चिट्ठी डलवाई या रुपया चितपट्ट करवाया और अन्त में हक साहव की बात ठीक निकली। डिस्ट्रिक्ट-वोर्ड में उनके आने से छपरा जिले में शिक्षा में जर्बदस्त परिवर्तन हुआ। अंग्रेज अफसर भी उनका सम्मान करते थे, जिसका कारण उनकी निर्भीकता थी। उन्होंने प्रस्ताव पास करवाया कि शिक्षा-विस्तार का तजर्वा विहार में छपरा जिले में किया जाय, और देशी भाषा के स्कूलों में फीस न ली जाय, स्कूल वढ़ाये जायँ। उनके सामने ही स्कूलों की संख्या बहुत बढ़ गई। शायद ही कोई गाँव हो जहाँ के लड़कों को स्कूल में पढ़ने के लिए एक मील से अधिक जाना पड़ता हो।

जेल से आने पर डिस्ट्रिक्ट-वोर्ड और दूसरी संस्थाओं ने मुझे मानपत्र दिया। सभा में हक साहब भी मौजूद थे। मैंने सुना था, जिला-बोर्ड में गये कांग्रेसी तुच्छ स्वार्थों और जात-पाँत भाव को लेकर गड़बड़ी फैला रहे हैं। जेल में काफी दिनों रहने पर कुछ तो आदमी अजीब-सा हो ही जाता है। मैंने उन लोगों को डाँट-फटकार बतलाई, जिसमें हक साहब जैसे बुजुर्ग को देखकर मुझे संकोच से काम लेना चाहिए था। हक साहब ने दबी जबान से कुछ अरुचि-सी दिखलाई भी। अरुचि इसलिए नहीं, कि वह जात या गुट्टका समर्थन करते थे, बल्कि मेरा बढ़ कर बात करना उन्हें पसन्द नहीं आया। उस समय छपरा में हाई स्कूल तक ही पढ़ाई होती थी। कोई कॉलेज नहीं था। मैं जो सपने देख रहा था, उसमें एक यह भी था, कि छपरा में एक कॉलेज बने। कालेज बना, लेकिन वह राजेन्द्र बाबू के नाम पर। इस प्रकार उस महान् पुरुष के प्रति श्रद्धा प्रकट करने में हम पिछड़ गये।

चेयरमैन रहकर हक साहब ने जो काम किया, उसे देखकर सभी चाहते थे कि वह फिर जिला-बोर्ड में जायें। वहुत कहने पर उन्होंने कहा, मैं ऐसे ही चुनाव-क्षेत्र से खड़ा हो सकता हूँ, जहाँ कोई मेरा विरोध न करे। 20 मार्च 1927 को फरीदपुर में हक साहव के पास हम विशेष तौर से समझाने के लिए गये थे। लेकिन, निर्विरोध चुनाव-क्षेत्र देना हमारे बस की बात नहीं थी। उस समय उन्होंने मुझसे कहा था–"क्यों मारे-मारे फिरते हो, यहाँ आकर बैठ जाओ। इन पुस्तकों को पढ़ो।" पर, मारे-मारे फिरने का तो अभी मैंने क-ख ही सीखा था। उसी साल भारत से बाहर जानेवाला था। इच्छा तो अक्सर होती थी कि कुछ दिनों के लिए फरीदपुर के फकीर के पास बैठ जाऊँ, पर समय निकालना सम्भव नहीं हो सका। 1922 ई. में पहले-पहल मैं फरीदपुर के उनके बँगले पर गया था। मेरे मित्र मथुरा बाबू भी साथ थे। हक साहव की बेगम गुजराती देशभक्त तैयबजी के खानदान की थीं। वह पर्दा नहीं करती थीं। राष्ट्रभक्ति उनके खून में थी। उन्होंने चाय पिलाई। मथुरा बाबू मुझे वैष्णव समझ कर ख्याल करते थे कि मैं आनाकानी करूँगा। उन्हें क्या मालूम था कि मैं छुआछूत

बिल्कुल नहीं मानता। आखिरी वार दर्शन करने के कुछ समय बाद हक साहब का देहान्त हो गया। उनकी कब्र फरीदपुर के अपने वगीचे में उसी जगह बनी, जहाँ उनका वड़ा लड़का सो रहा था।

24 फरवरी 1939 को मैं हक साहब के गाँव के पास ही अमवारी में सत्याग्रह करके जेल गया। फरीदपुर की कुटिया में रहने के लिए हक साहब के एकमात्र पुत्र हुसेन मज़हर रह गये थे। बाप के विचारों की विरासत लड़के को भी मिली थी। वह भी किसान-सत्याग्रह में भाग लेकर जेल गये। देश के विभाजन के साल एक दिन हुसेन से मुलाकात हो गई। यह सुनकर वहुत दुःख हुआ कि धर्मान्धता में पागल लोगों का बर्ताव इनके साथ अच्छा नहीं हुआ। उनके शरीर और सम्पत्ति को हानि नहीं पहुँचाई, किन्तु हृदय को ठेस जरूर लगी तो भी हुसेन मज़हर अपने बाप की कुटिया को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुए।

25

बाबू चंद्रिका सिंह

असहयोग ने देश के लाखों तरुणों को दीवाना बना दिया था। उन्हीं में चंद्रिका सिंह भी थे। उन्होंने कॉलेज की पढ़ाई छोड़ी थी। मामूली किसान के लड़के थे, बड़ी मेहनत और घरवालों की कुर्वानी से पढ़ाई करते यहाँ तक पहुँचे थे। वह रहनेवाले मुजफ्फरपुर जिले के थे, लेकिन नारायण बाबू के सम्पर्क के कारण उन्हीं के साथ काम करने लगे। वहत सालों तक वह नारायण बाबू की छाया की तरह रहे। जन्मस्थान में जाने का ख्याल न हो, इसके लिए नारायण बाबू ने अपने गाँव के पास ही उनका ब्याह करवा दिया। वह घरजमाई बनकर वहाँ रहने लगे। जहाँ तक ख्याल है पहली वार जेल जाने का समय (13 फरवरी-9 अगस्त 1922) बक्सर जेल में उनसे मेरी मुलाकात हुई। जिनके जीविका के और भी साधन और भी उमंगें थीं, उनके लिए मेरे मन में उतना ख्याल नहीं आता था, लेकिन चंद्रिका बाबू वैसे नहीं थे। सामने लम्बा जीवन पड़ा था। वह साधु-फकीर नहीं थे कि रमते-राम रहते अपना जीवन गुजार देते। भविष्य का उनको कभी न कभी ख्याल करना ही पड़ेगा। मैं नहीं चाहता था, वह भविष्य का ख्याल करके किसी बन्धन में बँधें। मैं चाहता था, उनका जीवन तब तक केवल राष्ट्र के काम के लिए अर्पित रहे, जब तक कि हमारा देश आजाद नहीं हो जाता। देश के आजाद होने का मुझे पूरा विश्वास था; पर, गाँधीवादियों की तरह मैं उसे एक-दो वर्ष की बात नहीं समझता। मेरी कल्पना ने १६४० ई. में ब्रिटिश छत्रछाया में भारत को स्वराज्य प्राप्त करने का ख्याल किया था। पर, उससे सात वर्ष बाद हमारा देश स्वतंत्र हुआ। हाँ, ब्रिटिश छत्रछाया के भीतर ही, जो जल्दी ही उसके ऊपर से लुप्तप्राय हो गई। हमारा संघर्ष दीर्घकालव्यापी था, जिसमें नौजवान वृद्ध हो जायें, तो कोई आश्चर्य नहीं।

जब-जब राष्ट्रीय आन्दोलन आया, तब-तब चन्द्रिका बाबू उसमें शामिल होते रहे। ससुराल ही उनका घर बन गया। अपनी सेवाओं के लिए सिवान लोकल-वोर्ड के वह चेयरमैन बने। उन्होंने अपनी आँखों से देश को स्वतन्त्र हुआ भी देखा।

26

बाबू महेन्द्रनाथ सिंह

असहयोग ने देश की बँधी छिपी शक्ति को मुक्त कर दिया था। उसने देश के नौजवानों में विजली-सी दौड़ा दी। लाखों विद्यार्थी अपनी पढ़ाई छोड़कर मैदान में आये। वह कार्य करना चाहते थे। लेकिन, कार्य देनेवाला

कोई नहीं था, इसलिए बहुत-से अपने घरों में बैठ गये। काम की कमी नहीं थी। मेरे सम्पर्क में जो भी तरुण आते, उन्हें मैं काम में लगा देता। महाराजगंज का थाना एकमा की सीमा पर था। मेरा ध्यान उसकी तरफ गया। इसी समय महेन्द्रनाथजी से परिचय हुआ, और मैंने वहाँ काम करने के लिए उन्हें राजी कर लिया। महाराजगंज काफी बड़ा थाना था, वहाँ का बाजार छपरा जिले के बड़े बाजार में से था। वहाँ अगर कोई योग्य बैठ जाता, तो उसको सहायकों की कमी नहीं हो सकती थी। महेन्द्रनाथजी सितावदियरा के रहनेवाले थे, लेकिन महाराजगंज भी अपने ही जिले में था। स्वराज्य के लिए देश में किसी जगह भी काम किया जाय, बेकार नहीं जानेवाला था, यह वह जानते थे।

अक्तूबर या नवम्बर (1922 ई.) में महेन्द्रनाथ ने कई महीने महाराजगंज में काम किया। 1923 ई. की शिवरात्रि में नेपाल जाने का मैंने प्रोग्राम बनाया। यात्रा में यदि दो साथी हों, तो अच्छा है। महेन्द्रजी भी उसके लिए तैयार हो गये। रेल से हम 7 फरवरी (1923) को रक्सौल पहुँचे। उस वक्त रेल यहीं समाप्त हो जाती थी, आगे सारा रास्ता पैदल जाना पड़ता था। राणाशाही ने नेपाल को एक जेलखाना तथा रहस्यमय देश बनाने के लिउ यह भी कायदा रक्खा था कि कोई भारतीय स्वेच्छापूर्वक पहाड़ के भीतर न आ सके। वह शिवरात्रि के समय ही बेरोकटोक जा सकते थे। हमने भी उसी समय को नेपाल जाने का सोचा। मैं उस वक्त जिला कांग्रेस कमेटी का मंत्री था। यद्यपि इस वक्त आंदोलन में कमजोरी आ गई थी, लेकिन उसके कारण मैं विरक्त नहीं था। मैंने अपने मित्रों को डेढ़ महीने के भीतर लौट आने का वचन दिया था।

रक्सौल से खाना बनाने के लिए कुछ बर्तन खरीदे और दोनों चल पड़े। शिवरात्रि का मेला चला जा रहा था। भारत के कोने-कोने से हजारों नर-नारी उत्तर की ओर मुँह किये बढ़ रहे थे। चीसा पानी (सीसागढ़ी) के डाँडे को पार कर रात को शिंगतिंग में हम ठहर गये। वहीं सितावदियरा के एक साधु कृष्णदास मिले। अपने हाथ से रसोई बनाकर खाना हमारे लिए कबाहत की बात थी। इस भार को बाबा कृष्णदास ने उठा लिया। हम साथ ही जाकर थापाथली में उतरे। मैं कालीकमलीवाला बाबा था, और बाबा कृष्णदास खाक-भभूत लपेटे भूरे बालोंवाले तपसी। कृष्णदासजी ने धूनी लगा दी। हम दोनों भी उसी के किनारे आसन मारकर बैठ गये।

नेपाल में हम जगह-जगह घूमते रहे। करीब एक महीना तक मैं वहाँ से कुछ मील दूर शिखर-नारायण की एकान्त गुफा में जाकर बैठा। महेन्द्रजी गुफा से थोड़ा हटकर धर्मशाला में ठहरे। माघ-फागुन का जाड़ा था जो एक कम्बल से हटनेवाला नहीं था। महेन्द्रजी के लिए किसी दयालु ने ओढ़ने-बिछौने के लिए कपड़े दे दिये थे। रात को धूनी में कपड़े का छोर लग गया। जब कपड़े को आग ने पूरी तौर से पकड़ लिया, तब उनकी नींद खुली। कपड़ों का नुकसान तो जरूर हुआ, किन्तु वह लाक्षागृह में भस्म होने से बाल-बाल बचे। सारी धर्मशाला लकड़ी की बनी थी, कुछ ही देर में लकड़ी में आग लग जाती, इसमें सन्देह नहीं था।

मैं बौद्ध गृहस्थों और विद्वानों से घूम-घूमकर मुलाकात करता रहा। तिब्बत के एक सौदागर ने आग्रह किया, यदि आप तिब्बत जाना चाहें, तो हम सारा इन्तजाम कर देंगे। मुझसे भी ज्यादा महेन्द्रजी का मन मचल गया। पर, मैं छपरा लौटने का वचन दे आया था। मेरे किसी व्याख्यान पर गवर्नमेण्ट ने वारन्ट निकाला था, जिसके लिए दो साल की सजा मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। मेरे मित्रों ने नेपाल में इसकी सूचना भी दी थी, और लिखा था कि न आवें तो अच्छा। शायद चिट्ठी मिल गई होती तो तिब्बत जाने के प्रलोभन को मैं त्याग नहीं सकता था। ऐसी स्थिति में छः वर्ष पहले ही मेरी तिब्बत यात्रा शुरू हो गई होती।

18 मार्च (1923 ई.) को हम भारत के लिए लौटने लगे। दोनों पहाड़ी डाँड़ों को पार कर भीमफेरी से अगले पड़ाव पर पहुँचे। इसी समय मुझे बुखार ने आ घेरा। महेन्द्रजी आगे चले गये थे, उन्हें मालूम नहीं हो पाया कि मेरे पैर आगे बढ़ने से इन्कार कर रहे हैं। एक खाली गाड़ी आ रही थी। गाड़ीवान ने दया करके मुझे उस पर बैठा लिया। पर महेन्द्र को वह थोड़े ही पकड़ सकता था। महेन्द्रनाथ आगे बढ़ते रक्सौल के पास नेपाल की सीमा के भीतर एक कुटिया में मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे, और मैं स्टेशन पर चला गया था। वहाँ से बर्तन-भाँड़े को बेचकर टिकट ले 22 मार्च को मैं सीधे छपरा चला आया।

जैसाकि ऊपर कहा, मुझे दो साल की सजा हुई। महेन्द्रनाथ ने फिर पढ़ कर एम. ए. और वकालत पास की, कुछ समय तक डुमराँव राज्य में भी नौकरी की। कांग्रेस में तो बराबर रहते ही थे। आजकल पार्लियामेण्ट के मेम्बर हैं।

27

बाबू भूलन साही

किसी महायज्ञ में बहुत-सी अज्ञात समिधाएँ पड़ती हैं, जिनका लोग ख्याल नहीं करते और पीछे जल्दी भूल भी जाते हैं लेकिन, अग्नि को प्रज्वलित करने में उनका सबसे बड़ा हाथ होता है। बाबू भूलन साही ऐसी ही अज्ञात समिधा थे। कुचायकोट थाने में काम करने के लिए भी रुद्रनारायण पहुँच गये थे। उन्होंने थाने को अच्छी तरह जगा दिया था। रेल की अनुकूलता देख करके थाना कांग्रेस कमेटी का केन्द्र—स्वराज्य आश्रम—जलालपुर में रक्खा गया था। मैं वहाँ अक्सर जाया करता था। वहीं भूलन साही से मुलाकात होती थी। वह गाँव के किसान थे। जहाँ तक मुझे याद है, वह या तो निरक्षर थे, या कसम खाने भर के लिए साक्षर हो अपने दस्तखत भर कर लेते थे। देश की आजादी और असहयोग के प्रति उनकी आस्था एक सीधे-सादे भगत की श्रद्धा थी। स्वराज्य-आश्रम उनके लिए मन्दिर था। मन्दिर और देवता के पास खाली हाथ नहीं जाना चाहिए, इसका उनको पूरा ख्याल रहता था। रुद्र बाबू के हरेक काम में सहायता देना अपना कर्तव्य समझते थे। उनको न जिला-वोर्ड का सदस्य बनना था, और न कोई दूसरा पद लेना था। वह यही चाहते थे कि अंग्रेज हमारे देश को छोड़कर चले जायँ और हमारे बाल-बच्चों को उनके हाथों अपमान न सहना पड़े।

भूलन साही एकान्त निष्ठा से देशसेवा करते रहे। जिस समय देश के लिए वह सौभाग्य का दिन आया, उससे पहले ही वह चल बसे।

28

बाबू माधव सिंह

उनकी बड़ी-बड़ी मूँछें और तगड़े शरीर को देखने से ही मालूम हो जाता था कि हमारे सामने कोई राजपूत खड़ा है। जातीय अक्खड़पन भी उनमें था। सत्याग्रह के लिए 1921 ई. के अन्त में जब भर्ती होने लगी, तो उन्होंने भी नाम लिखवाया, हालाँकि उस समय वह घोषित असहयोगी वकील नहीं थे। जेल से निकलने पर हम लोगों ने साथ घूमने का प्रोग्राम बनाया और जिले में कई जगह घूमे। 1922-23 ई. में उनका घर मेरा अड्डा बन गया, जिसके कारण और भी उनके सन्निकट सम्बन्ध में रहने का अवसर मिला। बाबू माधवसिंह पाँच भाई थे जिनमें से सबसे वड़े वह वकील थे। छोटों में बाबू साधवसिंह डाक्टर, एक इंजीनियर, चौथे बाबू कालकासिंह प्रोफेसर और सबसे छोटे मैट्रिक तक पढ़कर घर का काम देखते थे। बड़े चारों भाइयों में किसी की सन्तान नहीं थी। पिता ने अपने पाँचों लड़कों को उच्च-शिक्षा दिलाने की कोशिश की थी, और सिर्फ सबसे छोटे को कॉलेज में नहीं भेज सके थे। लेकिन, उनके जिम्मे वंश के चलाने का काम सुपुर्द हुआ था।

बाबू माधवसिंह और डॉ. साधवसिंह दोनों ही छपरा में रहते थे। जीविका के लिए वकालत और डाक्टरी करने के साथ-साथ समाज-सेवा का काम भी दोनों भाइयों ने अपने जिम्मे लिया था। इसी के फलस्वरूप छपरा राजपूत हाई स्कूल बना जो अब डिग्री कॉलेज है। सधुवई-मधुवई भोजपुरी भाषा में विशेष अर्थ रखती है, अर्थात्

मैं तेरी तारीफ करूँ और तू मेरी प्रशंसा करे। कितने ही लोग दोनों भाइयों के बारे में इस वाक्य को इस्तेमाल करते थे। वह दोनों भाई एक-दूसरे का समर्थन अगर जन-सेवा के क्षेत्र में भी करते हों, तो इसमें आश्चर्य क्या ? सभी भाइयों में सदा प्रेम रहा और वह इकट्ठा ही रहते मरे।

मैंने आगरा में एक दिन और लाहौर में भी एक दिन जीवन में कुल दो दिन साइकिल सीखने की कोशिश की, पर सफल नहीं रहा। हमारे जैसे घूमनेवाले आदमी के लिए साइकिल की सवारी बड़े काम की चीज है। जब माधव बाबू ने सुना, तो उन्होंने कहा—"मैं दो दिन में आपको सिखला दूँगा।" और दो दिन तक उन्होंने सचमुच छपरा के क्लबघर के बाहर सिखलाया भी, लेकिन मुझे तो जीवन-भर इस लाभ से वंचित रहना था, इसलिए नहीं सीख पाया।

वह बड़े हँसमुख थे। छपरा में असहयोग के समय मैं एक काले कम्बल की अलफी पहना करता था। काली होने से उसके मैले होने का डर नहीं था। बड़ी होने से वह ओढ़ने-बिछाने दोनों का काम देती थी। उसके बाद सिर्फ दो लंगोटी और एक अंगोछे की जरूरत रह जाती थी। मेरी अलफी बक्सर जेल में भी गई। जाड़ा बीता, गर्मियों में कम्बल और वह भी काला पहनना सुखद नहीं था, लेकिन अल्पेच्छता का पक्षपाती मैं दूसरे कपड़े से उसे बदलना नहीं चाहता था। बहुत गर्मी होती तो अंगोछा कमर में बाँध लेता और अलफी को उतार रखता। नहाना-धोना रोज होता था। मुझे क्या मालूम था कि इसमें जूयें पड़ रही हैं। जेल में जूओं की कमी नहीं होती। दूसरी की चढ़ आई होंगी। जो भी हो। काले रंग में उनके छिपने की भी गुंजाइश थी। एक दिन बाबू माधवसिंह की ही उन पर नजर पड़ी। देखे, तो एक-दो नहीं, बल्कि सैकड़ों हैं। बड़ा मजाक रहा। फिर तो पीछे भी कभी-कभी वह उसका जिक्र छेड़ देते थे। मुझे काटती जरूर रही होंगी, लेकिन तब भी मुझे पता नहीं लगा कि इसमें इतनी अधिक जूयें पड़ी हैं।

गया-कांग्रेस में बाबू माधवसिंह के साथ ही मैं ठहरा। सुदामा-भोजनालय के नाम से बिहार का पहला हिन्दू होटल वहीं कायम किया गया, जिसमें बाबू माधवसिंह ने अपने रसोइये और कुछ पूँजी देकर सहायता की थी। 1927 ई. के बाद मैं अब राजनीतिक कार्य-क्षेत्र के साथ-साथ छपरा से भी हट गया था। कभी साल में एकाध बार जाता, अपने मित्रों से मिलता। हर ऐसी यात्रा में कुछ मित्रों के चिरवियोग को सहना पड़ता। एक बार पता लगा, बाबू माधवसिंह अब नहीं रहे। उनके परिश्रम से स्थापित किया हुआ राजपूत हाई स्कूल अब भी मौजूद है।

29

बाबू रामदेनी सिंह

बाबू रामेदनी सिंह गाँव के एक खाते-पीते किसान थे। वहाँ जमींदारी निरंकुशता मौजूद थी और पहले अपने आसपास ही उन्होंने निहले-गोरों के अत्याचार को भी देख लिया था। गाँव (देवापुर) गण्डक के किनारे से बहुत दूर नहीं था। गण्डक के परले पार चम्पारन जिले में गांधीजी ने निलहे साहबों का मान-मर्दन किया था। इन सब कारणों के कारण वह असहयोग में खिंच आये, और अपने बरौली थाने में बड़ी तत्परता से काम करते थे। शिक्षा में दस्तखत करने से बहुत अधिक नहीं जानते थे, लेकिन लगन से काम करनेवाले थे।

मेरे प्रति उनका बहुत स्नेह था। लेकिन, एक दिन ऐसा भी समय आया जबकि वह आपे से बाहर हो गये। शायद डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के लिए मेम्बर खड़े करने थे। बरौली थाने से मैंने किसी दूसरे का समर्थन किया। रामदेनी बाबू खुद खड़ा होना चाहते थे। उन्होंने बड़े कड़े शब्दों में मुझको जवाब दिया था। मैं ऐसी बातों का बिल्कुल ख्याल नहीं करता था। जब तक आदमी के काम की सच्चाई पर कोई सन्देह नहीं है, तब तक उसके किसी एक-दो अवगुण को देखकर सारे गुणों को भूल जाना मैं बुरा मानता हूँ। आखिर एक हाथ से

ताली नहीं बजती। बाबू रामदेनी सिंह का वह रूप उसी दिन कुछ घंटों के लिए रहा। उसके बाद फिर हम साथ काम करने लगे।

उनकी शिक्षा और आयु को देखकर आश्चर्य होता था कि उनमें काम के लिए इतना उत्साह कहाँ से आया ? वह बाबू भूलन साही की तरह सीधे-सादे भक्त नहीं थे। देश-दुनिया में क्या हो रहा है, इसके जानने की कोशिश करते थे। परिवार (राजपूत) बड़ी जात का और सो भी सफेदपोश था जिसके खर्च बढ़े होते हैं। वह कैसे उसे चलाते थे, इसको मैं समझ नहीं सकता था। आर्थिक कठिनाइयाँ जरूर थीं। शायद उसमें कुछ सहायता होगी, इसी ख्याल से वह जिला-बोर्ड में जाना चाहते थे। जब भी जाने पर वह खिलाये-पिलाये बिना नहीं छोड़ते, और खाने की नफासत मुझे पसन्द नहीं आती थी। उनका घर बड़ी सड़क पर था, इसलिए न जाने कितने जानपहचानवाले लोग उधर से गुजरते होंगे, और वह अपने स्वभाव के अनुसार आतिथ्य करते होंगे। एक संभ्रान्त बड़े परिवार का बोझ सिर पर उठाते हुए भी रामदेनी बाबू ने असहयोग-आन्दोलन में निर्भीकता के साथ भाग लिया। चाहे उनकी शिक्षा अक्षरज्ञान मात्र रही हो, और मुझे यह भी नहीं मालूम कि वह अखबार पढ़ते होंगे, पर वह बड़े समझदार थे और अंग्रेजी शासन के प्रति भारतीयों की साधारण घृणा उनके दिल में बहुत उग्र रूप में थी; इसीलिए राजनीतिक प्रवाह में पड़ना उनके लिए स्वाभाविक था। जननायक के जो गुण होने चाहिए, वह बाबू रामदेनी सिंह में थे। उनको काम करने में न आलस आता था, न संकोच। सफेद बालों के साथ भी वह तरुण दिखलाई पड़ते थे, और उसी तरह की ललकार उनके मुँह से निकलती थी।

रामदेनी बाबू भी उन पुरुषों में हैं, जो अपनी आँखों स्वतन्त्र भारत को नहीं देख सके। लेकिन, उनके दिल में यह दृढ़ विश्वास अन्त तक रहा कि हमारा देश स्वतन्त्र होगा।

30
बाबू जलेश्वर राय

उनका दुबला-पतला शरीर और बात करने का कोमल और मधुर ढंग अब भी याद आता है। असहयोग के जमाने में पचासों बार उनके घर पर मैं गया। वह अपने गाँव (गोपालगंज के पास) से बाहर राजनीतिक प्रचार के लिए नहीं गये। पर अपने गाँव में रहते बड़ी तत्परता से काम करते थे। घर मध्यम-वर्ग भूमिहार परिवार का था। दूसरे समान परिवारों की तरह अपनी स्थिति से अधिक अच्छी हालत में अपने को रखने की जरूरत पड़ती थी। खद्दर ने कपड़ों पर खर्च कम कर दिया था। बाबू जलेश्वर राय का कपड़ा हमेशा साफ उजला रहता। रात को रह जाने पर हमारी बातें सिर्फ राजनीति तक सीमित नहीं रहती थीं। 34-35 वर्ष बाद उन बातों का याद रखना मुश्किल है, यद्यपि उनका 35-36 साल का शरीर और चेहरा अब भी स्मृतिपटल से लुप्त नहीं हुआ है। उनके यहाँ एक राय (भाट) जी भी रहते थे। भोजपुरी इलाके के भाट उस समय विचित्र स्थिति में थे। कुछ पक्के मुसलमान के तौर पर नमाज भी पढ़ते थे, और कुछ हिन्दू नाम और हिन्दू ढंग से रहते थे। उनकी जीविका हिन्दू यजमानों पर निर्भर थी। उस समय उनमें यह प्रवृत्ति देखी जाती थी कि अपने को शुद्ध हिन्दू बनायें। लेकिन, ब्याह-शादी दोनों धर्मों के माननेवालों के बीच हुआ करती थी, इसलिए अपने सम्बन्धियों पर छोड़ना आसान नहीं था। रायजी जलेश्वर बाबू के घर के व्यक्ति की तरह रहते थे। वह भी खद्दर पहनते थे। आरम्भिक समय में सभी राष्ट्रीय विचारवाले लोगों ने अपने घरों में चरखा चलवाने की कोशिश की थी, पर वह अधिकतर रक्खे ही भर रह गये। जब आदमी सूत कातने से दिन-भर में एक आना भी नहीं पाये, तो ऐसे पेशे के अपनाने में अर्थशास्त्र भी भारी बाधक होता है। कितने ही परिवार ऐसे भी थे जिनके लिए एक आना रोज की आमदनी भी नगण्य नहीं थी। पर उनके सामने दूसरी दिक्कत पैदा हो जाती थी, जब वह अपने सूत को न बेच सकते थे और न कपड़े बुनवा सकते थे। खद्दर के युग में हरेक हाथ में अपने

काते सूत को कातनेवाली ले जाती थीं, और बिकते देर नहीं होती थी। अब तो कितने ही जुलाहे दो-तीन पीढ़ी से नाम के जुलाहे रह गये थे जिनके यहाँ करघा चलता भी था, वह मिल के सूत को इस्तेमाल करते थे।

जलेश्वर बाबू की बैठक अच्छी पक्की थी। उसमें कुर्सी और पलँग रक्खी रहती थी, जिनसे मालूम होता कि किसी खाते-पीते आदमी का घर है। वैसे गोपालगंज थाने में केवल बड़े-बड़े जमींदार नहीं थे, कितने छोटे-छोटे जमींदार भी थे। मालूम नहीं, जलेश्वर बाबू जमींदार थे या काश्तकार। छपरा में 1921-22 ई. के आन्दोलन में कलक्टर ने गिरफ्तारियाँ बहुत कम कीं, इसलिए थोड़ी ही संख्या में आदमी जेल गये। यदि उसकी नौबत आती तो जलेश्वर बाबू सबसे पहले रहते, इसे कहने की आवश्यकता नहीं।

31
पंडित गोरखनाथ त्रिवेदी

वैसे तो छपरा में एक से एक मित्र रहे, और इस मित्रता का निर्वाह भी अच्छी तरह हुआ। पर पं. गोरखनाथ त्रिवेदी के घर को मैं सदा अपना घर समझता था, और परिवार के लोग भी मुझे अपने में से समझते थे। ऐसी आत्मीयता और बेतकल्लुफी छपरा में और किसी परिवार से नहीं हुई। एक बार उनके घर में ऐसा रसोइया ब्राह्मण आया था जिसके हाथ के छू जाने से ही हरेक पकवान नीरस हो जाता था। लड़के-सयाने बड़ी नुक्ताचीनी करते थे। कोई कहता—तुमने भात पका के पानी से धो दिया। कोई कहता—दाल में ठण्डा पानी डाल दिया। हाँ, सचमुच किसी चीज में स्वाद नहीं आता था, लेकिन, उसमें बेचारे ब्राह्मण का क्या दोष था ? वह अपनी जान पूरी कोशिश करता था, तब भी स्वाद नहीं पैदा कर सकता था। नमक फीका भले ही रह जाये, लेकिन कभी ज्यादा नमक की शिकायत करते मैंने किसी को नहीं सुना। घर-भर बेचारे के पीछे पड़ा हुआ था। ऐसे आदमी का पक्ष लेना मेरे लिए आवश्यक हो जाता है। मकान के आँगन के एक कोने में लसोड़े या किसी और का छोटा-सा वृक्ष था। मैंने कहा—बाबाजी (रसोइया) का कोई कसूर नहीं है। अगर कसूर है तो यही कि बीच से कोई पुकार देता है, तो रसोई छोड़कर वह हुकुम बजाने चले जाते हैं। एक मिनट का मौका मिलते ही पेड़ पर की चुड़ैल आकर सब स्वाद खींच लेती है। इसमें उनका क्या दोष है ? बाबाजी को भी गम्भीरता से कहने के कारण मेरी बात पर विश्वास हो गया। वह कहते थे—"बाबा (मैं) ठीक कह रहे हैं। मैं तो अपनी जान बहुत अच्छी तरह भोजन बनाता हूँ।"

गोरखनाथजी छपरा जिले के उन थोड़े ब्राह्मणों में हैं, जिनके घर में हाथी था—सतजोड़ा के तिवारी हथियानशीन कहे जाते थे। उससे बहुत पहले की बात है। एक बार तिवारीजी की हथनी मेरी सवारी के लिए मँगाई गई थी। उस समय क्या जानता था कि इसी परिवार का पुत्र आगे चलकर मेरा इतना घनिष्ट मित्र होगा। गोरखनाथ पढ़ने में असाधारण तेज थे। उस समय साइन्स का कोई मूल्य नहीं था। अधिक से अधिक यह उपयोग था कि आदमी अध्यापक बन सकता था। वकालत में साइन्स का क्या उपयोग ? सरकारी नौकरियों में साइन्स के सवाल नहीं पूछे जाते थे। उन्होंने क्यों साइन्स लिया, यह मैंने कभी नहीं पूछा। साइन्स के विद्यार्थी बनने से पहले वह संस्कृत की भी प्रथमा परीक्षा पास थे। पटना कॉलेज में पढ़ते वक्त उनके मन में कभी-कभी ख्याल होता था कि विलायत जाकर अपने विषय की उच्च शिक्षा प्राप्त करें। लेकिन, वह वह जमाना था, जबकि पं. रामावतार शर्मा जैसे कट्टर नास्तिक भी बिरादरी के डर के मारे समुद्र पार जाने की हिम्मत नहीं कर सकते थे। त्रिवेदीजी को इस परीक्षा में पड़ने की जरूरत नहीं पड़ी क्योंकि बी. एस-सी. पास कर उन्होंने गांधीजी की पुकार सुनकर लॉ-कालेज को छोड़ दिया।

त्रिवेदीजी को देखकर मुझे और भी ज्यादा सामाजिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह का भाव पैदा हो जाता

था। साइन्स में वह कुछ कर सकते थे, लेकिन असहयोग के न होने पर भी वह उधर बढ़ सकते, इसकी सम्भावना बहुत कम थी। असहयोग करके विद्यार्थियों को सबसे पहले तिलक स्वराज्य फण्ड के लिए पैसा जमा करने का काम मिला। चार-पाँच महीने वाद (1921 के मई-जून तक) काम न रहने से लोगों का जोश ठण्डा हो गया, और असहयोगी विद्यार्थी अपने घरों में वैठ गये। त्रिवेदीजी घर में बैठनेवाले जीव नहीं थे। वह जिला कांग्रेस कमेटी के आफिस में काम करते, समय-समय पर प्रचार के लिए भी जाते थे। सुदुर दक्खिन कुर्ग (कोडुगू) से छपरा में राजनीतिक काम करने के लिए प्रस्थान करते समय मैंने एक चिट्ठी कांग्रेस कमेटी के कार्यालय में भेजी। पोस्टकार्ड बहुत संक्षिप्त था, और उसमें अपने परिचय के बारे में विशेष नहीं लिखा था। सूचना देना कोई अभिमान की बात नहीं थी, पर मथुरा बाबू को उसमें वैसी गंध आई, और उन्होंने शायद त्रिवेदीजी से ही कहा भी–"देखो न साधु को, नेता के तौर पर अपने शुभागमन की सूचना देता है।" आखिर एक दिन मैं आफिस में पहुँच ही गया। आफिस उसी मकान में था, जिसमें वकालत करने के समय काफी दिनों तक त्रिवेदीजी रहे। मुझे एकमा थाने में काम करना था। थाने के गाँवों से परिचित होने के लिए नक्शे से बढ़ कर कौन सहायक हो सकता है ? मैं कागज पर थाने का नक्शा ट्रेस कर रहा था। त्रिवेदीजी के साइन्स-अभ्यस्त दिमाग ने इसकी ओर विशेष ध्यान दिया, यह वह पीछे कहा करते थे। उसी दिन (जुलाई 1922) से हमारा उनसे परिचय हुआ।

छपरा जिले में कलक्टर लुइस की नरम नीति के कारण धर-पकड़ नाम मात्र हुई, इसलिए त्रिवेदीजी जेल नहीं जा सके। 1922 ई. के अन्त तक वह कांग्रेस में काम करते रहे। 1923 ई. में मैं दो साल की सजा पाकर जेल चला गया। लौट कर देखा कि त्रिवेदीजी ने वकालत पास कर ली है, और अब वह वकालत करने लगे हैं। इसके बाद से उनका घर ही छपरा में मेरा घर हो गया। त्रिवेदीजी अपने कालेज के जीवन में अधिकारियों के कोपभाजन हुए थे। किसी अत्याचार को सहना उन्हें बर्दाश्त नहीं होता था। वह अंग्रेजों का राज्य था जबकि बिना किसी मुरौवत के कड़ा दण्ड दिया जाता था। इस प्रकार वह असहयोगी बनने के उम्मीदवार पहले ही से हो चुके थे। उन्हें तर्क करने की बड़ी धुन रहती थी, बिना वकील के कोई पक्ष पीछे न रह जाय, इसके लिए वह अपनी सेवाएँ बराबर हाजिर कर देते थे। मेरे साथ भी अक्सर उनकी बहस छिड़ जाती थी। गर्मागर्म बहस को देखकर किसी को ख्याल हो सकता था कि हम झगड़ा कर रहे हैं। पर, हमारी बहस केवल बहस के लिए होती थी।

त्रिवेदीजी ने जब वकालत शुरू की तब उनके माता-पिता जिन्दा थे। पिता बहुत ही समझदार और गम्भीर पुरुष थे। राजनीति से उनको कोई वास्ता नहीं था, इसलिए ज्येष्ठ पुत्र के कॉलेज छोड़ने पर उनको असंतोष जरूर हुआ होगा। दादा के सामने ही पोते पैदा हो गये थे। बहू पर सास ने निरंकुश शासन किया हो, इसका मुझे पता नहीं। इसकी जरूरत नहीं पड़ी क्योंकि बहू मौका देने को तैयार नहीं थीं। सास के न रहने पर तो तिउराइन (त्रिवेदीजी की पत्नी) मुहल्ले की सर्वसम्माननीय महिला समझी जाती थीं। महिलाओं के रीति-रिवाज, व्रत-उपवास का उनका ज्ञान इतना उत्कृष्ट समझा जाता था कि सभी उनसे सलाह लेने आती थीं। वह पुराने युग की निरक्षर महिला थीं। पूजा-पाठ में उनकी बहुत आस्था थी। पर, पुत्रों को पुराने रीति-रवाजों को तोड़ते देखकर वह बिगड़ती नहीं थीं, बल्कि एक दार्शनिक के तौर पर कहती थीं–"हम अपनी देह से नेमधरम निबाह देते हैं। बच्चे अपना जमाना आप सँभालें।" कुछ साल हुए भली गृह-पत्नी अपने पति को दुःख देकर चल बसीं। मेरे ऊपर उनकी विशेष कृपा थी। वह 25-30 वर्ष से मुझे अपने सामने देखती रहीं। कभी मैं मांस-मछली के पास नहीं जाता था, और वैष्णव बाबा के तौर पर प्रसिद्ध था। फिर जब 1930 ई. में सीलोन से लौटकर आया तो मेरे लिए सारे अभक्ष्य भक्ष्य हो गये थे। उनके लड़के मेरे आने पर जरूर मछली, मांस या अण्डा बनाते। तिउराइनजी के बारे में कह सकते हैं कि वह उसके लिए उन्हें प्रोत्साहित करती थीं।

त्रिवेदीजी यद्यपि वकालत शुरू करने के बाद सक्रिय राजनीति में भाग नहीं ले सके, पर तो भी उसमें यथाशक्ति सहायता देने आदि से बाज नहीं आते थे। एक-दो राष्ट्रकर्मी बराबर उनके घर मेहमान रहते थे।

एक बात की शिकायत मैं त्रिवेदीजी के मुँह पर कर देता था–वह किसी बात का निश्चय समय बिता

कर बहुत देर से करते। जिस समय उन्होंने वकालत शुरू की थी, उस समय शहर के विलकुल भीतर एक अच्छी जगह चार-पाँच सौ रुपये में मिल रही थी। मैं हर बार ताकीद करता, लेकिन वह निश्चय नहीं कर पाते थे। आँखों देखते-देखते जमीन का दाम तिगुना-चौगुना हो गया। जब उन्होंने लेने का निश्चय किया तो उसका मूल्य इतना अधिक था कि वह ले नहीं सकते थे। फिर शहर के विल्कुल वाहर धानों के खेतों और बाग में उन्होंने सस्ती जगह ली। यह आमों का बाग वस्तुतः चोरों का बाग था, कोई उन्हें जान नहीं सकता था। बड़े लड़के की शादी हो रही थी। बहनें अपने भतीजे के ब्याह में निमंत्रित होकर आई थीं। एक बेचारी का तीन-चार हजार का जेवर चोर मुफ्त ले गये। मेरी किताबों का बक्स भी वहीं था, उन्होंने समझा, इसमें भी माल खजाना है। बाहर ले जाकर कियारी में बक्स को छोड़ दिया। राजपूत स्कूल के अध्यापकों ने देखा, मेरा नाम भी पढ़ा, इसलिए किताबें लौट आईं। दूसरे लड़के के ब्याह के लिए कपड़े-लत्ते और दूसरे सामान रात को रक्खे गये। सबेरे बरात जानेवाली थी। रात को चोर सब उठा ले गये। कितनी फीकी बरात हुई होगी ? वह वकील का निवास नहीं, बल्कि साधुओं की कुटिया होने लायक स्थान था। त्रिवेदीजी उसके लिए कोई फिकर नहीं करते थे। बड़ा लड़का काम पर लग गया है, सरकारी अफसर है। सबसे छोटा लड़का कई साल हुए घर छोड़कर भाग गया। जिसके घर में घुमक्कड़ ने डेरा डाला हो, उसका लड़का यदि घुमक्कड़ी करने निकल जाये, तो क्या आश्चर्य ? मैट्रिक पास था, इसलिए अखवारों से उसे यह तो मालूम होता होगा कि मैं आजकल कहाँ हूँ। पर, उसने मुझसे भी मिलने की कभी कोशिश नहीं की। दस-बारह वर्ष हो गये, घर में किसी को पता नहीं दिया। माँ अपने छोटे पुत्र को देखने की लालसा मन में लिये चल बसी। मझला लड़का ग्रेजुएट होकर अब अपनी खेती का काम देख रहा है। त्रिवेदीजी को पत्नी का अभाव जरूर खटकता है, पर अब उनके ऊपर कोई बोझ नहीं है। लड़की (कुसुम) भी अपने सुखी परिवार में रहती है। पिता ने कभी समुद्र पार जाने का स्वप्न देखा था, लेकिन वह चरितार्थ नहीं हुआ। भाइयों में से भी किसी को उसका मौका नहीं मिला। लेकिन, कुसुम अपने दो बच्चों को लेकर साल-भर लन्दन हो आई। समय भी कितना बलवान है ! बिरादरी में किसी ने पूछा भी नहीं कि कुसुम और कुसुम के पति देवेन्द्रनाथ शर्मा क्यों न धर्म-विरुद्ध विलायत-यात्रा करने के कारण जात से निकाले जायँ ?

32

बाबू फिरंगी सिंह

यद्यपि वह पहलवान नहीं थे, अखाड़े में कभी स्वास्थ्य के लिए भी वह उतरे होंगे, इसकी भी सम्भावना कम है। पर, प्रौढ़ावस्था तक उनको देखने से यही मालूम होता कि कोई छोटा-मोटा पहलवान आ रहा है। पहलवान अक्सर गौ होते हैं, उनको क्रुद्ध होते बहुत कम देखा जाता है। यह गुण बाबू फिरंगी सिंह में भी था। असहयोग में वह न स्कूल छोड़कर आये थे, और न किसी नौकरी को। उस समय पूरी जवानी पर थे। शिक्षा बहुत मामूली हुई थी, लेकिन देश की आजादी की धुन, उस समय के वातावरण से उनके ऊपर सवार हुई। यह अच्छा था कि वह एक मध्यवर्गीय किसान थे, और उनको अपनी जीविका के लिए भटकने या बाहर जाने की जरूरत नहीं थी। वह कांग्रेस में बराबर एक समान काम करते रहे। गड़खा थाना में घूम-घूम कर उन्होंने प्रचार किया। थाना भी इतना छोटा था कि एक हफ्ते में उसके सारे गाँवों में घूमा जा सकता था। गड़खा थाना कांग्रेस की दृष्टि से अच्छे थानों में रहा, इसका श्रेय बहुत कुछ बाबू फिरंगी सिंह को था।

असहयोग की पहली आँधी में वह जेल में नहीं जा सके। लेकिन, पीछे के कांग्रेस के आन्दोलन में उनकी वह साध भी पूरी हुई। उनके जैसे लगनवाले पर सीधे-सादे कर्मी के प्रति लोगों की आस्था बढ़े, यह स्वाभाविक ही था। वह वर्षों डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के मेम्बर रहे। शायद कुछ समय लोकल बोर्ड के चेयरमैन या वाइस-चेयरमैन

के तौर पर भी काम किया। अपने यहाँ स्कूलों के बढ़ाने में तो खूब मुस्तैदी दिखलाई।

जिस समय आन्दोलन शिथिल हो जाता, चारों तरफ उदासी देखी जाती, कार्यकर्ताओं का भी अभाव हो जाता, उस समय भी मैंने बाबू फिरंगी सिंह को सदा मुस्तैद पाया।

33
सन्त कृपालदास

बाबा कृपालदास पहले किसी हिन्दी स्कूल में अध्यापक थे, और शायद स्कूल की अध्यापकी छोड़कर वह साधु हो गये थे। उन्हें लोग सन्तजी कहते थे। सोनपुर थाने की कांग्रेस के वह स्तम्भ थे। उनके द्वारा स्वतन्त्रता का सन्देश गंगा और गण्डक के संगम की भूमि पर खूब फैला। सोनपुर का स्वराज्य आश्रम आज भी मौजूद है, जिसकी स्थापना में सन्तजी का विशेष हाथ था।

1921 ई. में सोनपुर के मेले पर कांग्रेस के प्रचार का बहुत अच्छा आयोजन हुआ था जिसमें सन्तजी ने अपनी कर्मठता का परिचय दिया था। उसी साल अंग्रेजों ने वेल्स-राजकुमार को भेजकर भारत में देशभक्ति का पाठ पढ़ाना चाहा था जिसके लिए सारे देश में बायकाट हुआ था। पता लगा वेल्स-राजकुमार सोनपुर से होकर गुजरनेवाले हैं। रेल में बैठकर जानेवाले राजकुमार को सड़क पर झण्डा लेकर बायकाट का नारा लगाना कहाँ दिखाई पड़ता था, पर तो भी सैकड़ों आदमियों ने उसमें भाग लिया था।

सोनपुर कितने ही समय तक अकबर के सेनापति राजा मानसिंह का वासस्थान रहा। पर, उससे नहीं, बल्कि भारत के सबसे बड़े मेले के कारण उसकी ख्याति और प्रतिष्ठा बढ़ी। मेला चाहे दो-तीन हफ्ते ही का था, पर उस समय तो सोनपुर शहर का रूप ले लेता है। इसलिए यहाँ के लोगों में ग्रामीणता से अधिक नागरिकता देखी जाती है। मठों-मन्दिरों की भी संख्या यहाँ काफी है। सन्तजी मठों में भी सुधार करना चाहते थे। वह साहित्यिक थे, इसलिए थाने में साहित्यिक जागृति के अग्रदूत भी बने। उनकी अपनी योग्यता और शक्ति के उपयोग के लिए यहाँ बहुत-से क्षेत्र मौजूद थे। वह उनमें काम भी कर रहे थे। लेकिन, उसके लिए बहुत दिनों नहीं रह सके। शायद 1930 ई. से पहले ही उनका देहान्त हो गया। आज भी लोग उनको बहुत प्रेम से याद करते हैं।

34
बाबू पीताम्बर सिंह

पतला-दुबला, साँवला शरीर और बोलने में हद दर्जे की शान्ति, पर बात सुनने से यह मालूम होते देर नहीं लगती कि राष्ट्रीय काम का सारा भार मानों उनके ही ऊपर है। पीताम्बर सिंह परसा थाने में प्राइमरी स्कूल के मामूली अध्यापक थे। असहयोग के जमाने में उन्होंने स्कूल की नौकरी छोड़ दी थी, और शायद पीछे फिर पढ़ाने लगे थे। उनके घर पर मैं गया था। सीतलपुर से परसा जानेवाली सड़क से हटकर वह गाँव पड़ता था। गाँव के सभी लोग किसानी-मजूरी पर गुजारा करते थे। दूसरे लोगों की तरह उनके घर की भी अवस्था रोज कमाओ, रोज खाओ जैसी थी। ऐसे घर के मालिक को तो पहले अपने घर की खबर लेनी चाहिए थी। पर, पीताम्बर सिंह को उससे भी ज्यादा फिक्र देश की थी। कितनी ही बार पैदल ही वहाँ से चलकर वह छपरा आते। फिर कहते, काम बिगड़ रहा है, लोगों में सुस्ती आ रही है, सभा करने की जरूरत है। सभा करने की

नौबत आती, तो दिलोजान से उसी की तैयारी में लग जाते। कांग्रेस के काम के लिए कहीं बुलौवा आता, तो वह हजार काम छोड़कर वहाँ पहुँचते। परसा थाने के कुछ गाँवों की यूनियन पंचायत का चुनाव आया। मैंने कोशिश की कि कांग्रेसवाले चुने जायँ और वहाँ अंग्रेजों के खुशामदी भरने न पायें। अनेक स्थानों में कामयाबी भी हुई। परसा थाने की एक यूनियन में भी मैं गाँव-गाँव घूमा था। मास्टर पीताम्बर सिंह ने भी उसके लिए काम किया था।

असहयोग के वह उन पितामहों में से थे, जिन्होंने पहले-पहल देश को इतने अद्भुत ढंग से जगाने का काम किया था, और उसके लिए सब तकलीफ सही थी। अगली पीढ़ी के आने पर भले ही उनमें से कुछ पीछे पड़ गये पर अपनी शक्ति और योग्यता के मुताबिक जो पुरुष अपने स्थान से नहीं डिगा, उसके महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता। मास्टर पीताम्वर सिंह ऐसे ही पुरुष थे।

35

बाबू हरिनारायण लाल

कायस्थ गाँवों में भी अपेक्षाकृत अधिक संस्कृत और शिक्षित देखे जाते हैं। हजारों वर्षों से उनका लिखने-पढ़ने का काम रहा है, इसलिए ऐसा होना स्वाभाविक था। शिक्षा और संस्कृति का प्रभाव शौकीनी, चालबाजी आदि के रूप में भी देखा जाता है। बाबू हरिनारायण लाल इस दृष्टि से देखने पर कायस्थ नहीं कहे जा सकते थे। वह हिन्दी ही नहीं, अंग्रेजी भी पढ़े हुए थे। हथुवा राज में सालों उन्होंने नौकरी की थी। शायद असहयोग के आरम्भिक समय में वह अभी राज्य की नौकरी में थे। फिर ऐसे समय वह राष्ट्रकर्मी बने जबकि चारों तरफ शिथिलता छाई हुई थी। उनके पुत्र इन्सुरेन्स के एक अच्छे एजेन्ट और कांग्रेस की ओर से एसेम्बली के मेम्बर हैं, उनको देखकर उस सीधे-सादे पुरुष और उसकी रहन-सहन और उसके घरवार की स्थिति का पता नहीं लग सकता। हरिनारायण बाबू बिल्कुल किसान जैसे दीखते थे। दस-पन्द्रह कोस काम के लिए पैदल चला जाना उनके लिए कोई मुश्किल नहीं था। घर की यह स्थिति थी कि कितनी ही वार हम उनके घर पर गये, तो मटर या मक्की का भुना दाना और गुड़ का शर्बत वह मुश्किल से हाजिर कर पाते थे। यह मामूली किसान का आतिथ्य था जो उनके स्नेह और सौजन्य से मिलकर दिव्य भोजन की तरह प्रिय और स्वादिष्ट हो जाता। वहीं दाना खाते हम अपना प्रोग्राम बनाते। भोरे थाना छपरा का ऐसा थाना था जहाँ पुलिस का निरंकुश राज्य था। लोगों के लिए दारोगा ही यहाँ के लाट साहब थे, वह जैसा चाहते, वैसा करते। हरिनारायण बाबू को कितनी कठिनाइयों में रहकर काम करना पड़ता था, यह इससे मालूम होगा। पर, वह निर्भीक थे। जेल में जाने पर भी अपने घर से अच्छी हालत में रहना पड़ता। हाँ, इस बात का अफसोस जरूर होता कि वह अपने बाल-बच्चों की देखभाल नहीं कर सकते। पर, हरिनारायण बाबू ने जब इस रास्ते पर पैर रक्खा, उसी समय समझ लिया था कि हमें फूलों पर नहीं, काँटों पर चलना है।

मेरे थाना कुवाड़ी परगने के और थानों की तरह एक ही चक्की के नीचे नहीं पिस रहा था। वहाँ एक तरफ पुलिस यदि मनमाना कर रही थी, तो दूसरी तरफ राजा के अमले प्रजा को लूटना अपना हक समझते थे। जमींदार तथा पुलिस का गठबन्धन था। हरिनारायण वाबू हथुवा राज की रैयत थे। राज्य की नौकरी करने के कारण उन्हें उसके भीतर की सारी बातें मालूम थीं, और यह भी कि कौन-कौन तरीके हैं, जिनसे राज्य के अमले खाते-पीते घरों को भी बर्बाद करते हैं। वह अपने ही थाने तक नहीं, बल्कि जरूरत पड़ने पर कटया और मीरगंज में भी हमारे साथ जाते। कितनी ही बार रात को हमने यात्राएँ कीं। एक राष्ट्रीय सहकर्मी के तौर पर ही नहीं, बल्कि मित्र के तौर पर भी वह बहुत भले मालूम होते थे। जब साहित्य और घुमक्कड़ी ने हाथ पकड़कर जबर्दस्ती मुझे अपनी ओर खींचा, तो जिन मित्रों के वियोग का मुझे दुःख हो रहा था, उनमें

हरिनारायण बाबू पहले आते हैं। वह राष्ट्र के लिए फकीर बने। और तिल-तिल करके कष्ट सहते निरन्तर उसमें जुटे हुए थे, और मैं अब दूसरे क्षेत्र नहीं, बल्कि दूसरे देश में जा रहा था।

36

बाबू जलेश्वर प्रसाद

असहयोग के आरम्भ के समय जलेश्वर बाबू पटना के किसी कालेज में प्रोफेसर थे, असहयोग के बिगुल बजते ही वह प्रोफेसरी छोड़ कर राष्ट्रीय कर्मी बन गये। सबसे पहले उनसे मेरी मुलाकात एकमा की 1921 ई. वाली विराट् सभा में हुई थी, जिसमें सारा थाना उमड़ पड़ा था। जलेश्वर बाबू जिले की ओर से खास तौर से उस सभा में सम्मिलित होने के लिए भेजे गये थे। चार सौ से अधिक वर्दीधारी स्वयंसेवकों और बीसयों हजार की जनता को देखकर उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। इसमें तो शक ही नहीं कि इसके कारण मैं उनकी नजर में जरूरत से अधिक ऊँचा बन गया। बाल-बच्चेदार आदमी को अपनी जीविका के लिए भी कुछ करना जरूरी था। इसलिए कई सालों तक काम करने के बाद जलेश्वर बाबू ने वकालत करनी शुरू की। लेकिन, तब भी वह कांग्रेस के काम में बराबर योग देते रहे। 1926 ई. में कौंसिलों के चुनाव के वक्त कांग्रेस ने अपनी ओर से उनको उम्मीदवार खड़ा किया था। इससे पहले भी वह असहयोग के दिनों के बाद के चुनाव में कौंसिल में चले गये थे, और अच्छे वक्ता तथा राजनीतिविज्ञ होने के कारण उन्होंने कौंसिल में जाकर सरकार के विरोधियों का नेतृत्व बड़ी योग्यता के साथ किया था।

लेकिन, 1926 के चुनाव के समय एक विचित्र स्थिति पैदा हो गई। छितौली के बाबू श्री नन्दनप्रसाद नारायण सिंह भी पूरी तौर से कांग्रेस के काम में जुटे थे। उनके व्यवहार के कारण अपने इलाके के कांग्रेसकर्मियों–जिनमें पं. गिरीश तिवारी मुख्य थे–के वह स्नेहपात्र थे। जब उन्हें कांग्रेस का टिकट नहीं मिला, तो वह कांग्रेसी उम्मीदवार बाबू जलेश्वर प्रसाद के खिलाफ खड़े हो गये। मेरे लिए तो कांग्रेस के उम्मीदवार को छोड़ कर दूसरे का पक्ष लेना सोचने की भी बात नहीं थी। मैं अपने घनिष्ट मित्रों और सहकारियों की पर्वाह न करके अपने काम में जुट गया। उत्तर सारन के काफी कांग्रेसी कार्यकर्त्ता कांग्रेसी उम्मीदवार के खिलाफ थे। कहना चाहिए, मैं अकेला वहाँ का काम सँभाले हुए था। भोरे-कटया में मेरे काम और प्रभाव के कारण जलेश्वर बाबू जीते, किन्तु सब मिलाकर श्रीनन्दन बाबू को वोट अधिक आये। उस समय चुनाव के लिए हम दोनों को कितनी ही बार साथ-साथ रहना पड़ा, जिसके कारण हमारी मित्रता और बढ़ी।

जलेश्वर बाबू पीछे पटना हाईकोर्ट में वकालत करने लगे, वहीं अपने लिए घर भी बनवा लिया। पटना रहते यदि मैं उनके यहाँ न जाता, तो उनको इसका बहुत कष्ट होता था। कितनी ही बार मैं उनके ही यहाँ ठहरता, पटना जाने पर एक-दो बार भोजन के लिए तो जाना ही पड़ता।

समय आया, जबकि मेरे कार्य मुझे दूर ले गये। तब भी दो-चार वर्षों बाद मुलाकात होती, असहयोग के मधुर दिन याद आते।

वह पटना के अच्छे वकीलों में थे, और उनके हाईकोट के जज होने की पूरी सम्भावना थी। पर, इसी समय ऊपर से जोर देने पर उन्होंने भारत सरकार के श्रम आयुक्त (लेबर कमिश्नर) का पद स्वीकार कर लिया। पूछने पर मैंने भी उनकी राय से अपनी सहमति प्रकट की, और उन्होंने अपने पद को त्याग दिया।

37
बाबा नरसिंहदास

बाब नरसिंहदास का पहलेपहल दर्शन बक्सर में हुआ था। साधुओं में से वहुत कम स्वराज्य-आन्दोलन की तरफ आकृष्ट हुए, इसलिए भी बाबा नरसिंहदास की ओर मेरा ध्यान जाना आवश्यक था। पर, जब मालूम हुआ कि वह कबीरपंथी साधु हैं, तो सम्मान और भी बढ़ गया। क्योंकि तुलसी गोसाईं के मठ में जाकर जिस साम्यवादी व्यवहार को मैंने देखा, उसके कारण कबीरपंथी साधुओं के प्रति मेरा विशेष आकर्षण हो गया था। फिर यह भी मालूम हुआ कि बाबा नरसिंहदास बिहार के नहीं, बल्कि पश्चिमी यू. पी. में मैनपुरी जिले के रहनेवाले हैं, और वह बिहार में आकर काम कर रहे हैं, तो और भी हममें सन्निकट सम्बन्ध स्थापित हो गया, जो तब से अब तक है। मनोरंजन की कई चीजें हम लोगों ने जेल-जीवन को सरस बनाने के लिए की थीं। कभी-कभी नहाने की फाइल में हमारा कवि-सम्मेलन होता। नरसिंह बाबा की मातृभाषा ब्रजभाषा थी। हम लोगों ने मिलकर कई कविताएँ बनाईं। जेल में फाइल बहुत अर्थोवाला शब्द हैं। पाँती से बैठने को भी फाइल कहते हैं, कैदियों को जिस मात्रा में भोजन मिलता है, उसे भी फाइल कहते हैं, कुर्ते-कम्वल को लगा कर रखना भी फाइल कहलाता है। हमने फाइल पर एक कविता बनाई। फिर जेल में काले रंग का बहुत मान था, इसलिए दूसरी कविता 'कारो' पर बनी। उस समय न जाने कितनी कविताएँ बनाई गईं, पर अब तक वह कैसे याद रह सकती हैं–

फाइल में बैठि रोटी फाइल भर माँगतु हैं,
फाइल भर भात लाइ करत काज कूरो हैं।
कपड़े को फाइल कुर्ते-कम्बल को फाइल होत,
आप फेंरि जेलर फाइल देख लेत पूरो है।।
फाइल में पानी अन्हाइबे को आवतु है,
फाटक फटकारि फाइल बोल देत फूरो हैं।
भनत नरसिंह फकत फाइलहिं सम्हारि लेहु,
फाइल बिनु फेल सारे फलाइल को अधूरो हैं।।
कारो करीन में है कुलतार औ कारो इ कम्बल चारि विछावें।
कोयला कारो औ कारोहि साग, औ कारी कढ़ाई में डारि सिझावें।
कारोहि खान औ कारोहि पान केवारन में रंग कारो लगावें।
कारो है कारागार नृसिंह यो कारो को जन्म-स्थान कहावे।।

नरसिंह बाबा मुजफ्फरपुर घूमते-घामते आये थे। जिसका चारों मुल्क जगीरी में हो, उसके लिए जैसा ही मुजफ्फरपुर, वैसा ही मैनपुरी। फिर जो अपने धुन का पक्का, अपनी सारी शक्ति के साथ काम में जुट जाय, कदर करनेवालों की कमी कहाँ रह सकती है ? नरसिंह बाबा मुजफ्फरपुर के ही हो गये। उनके कार्य और भाषण की धूम मच गई। कांग्रेस के काम के लिए तो उनका जीवन अर्पित था ही पर समाज-सेवा के किसी काम में वह पहले आकर शामिल होते थे। 1934 ई. में बिहार में भीषण भूकम्प आया। सबसे ज्यादा क्षति मुंगेर की हुई थी, उसके बाद मुजफ्फरपुर की। भूकम्प का केन्द्र सीतामढ़ी के पास था। उसकी प्रलय-लीला वहाँ के गाँवों तक में देखी जाती थी। सड़कें टूट गई थीं, आना-जाना आसान नहीं था। मुजफ्फरपुर से मैं सहायता संगठित करने के लिए सीतामढ़ी पहुँचा था, देखा कि नरसिंह बाबा पहले ही से छटपटा रहे हैं। वह इस इलाके के प्रसिद्ध कर्मी ठाकुर रामनन्दन सिंह के गाँव पर गये थे, कि उन्हें लाकर सहायता का काम शुरू करें। हमने मिल कर सहायता का सारा काम संगठित कर दिया। ऐसे समय नरसिंह बाबा का रोम-रोम नाचता था।

साधुओं में राष्ट्रीय भावना भरने का वह प्रयत्न करते थे, लेकिन वह ऐसा समय था जबकि साधुओं को

देश का कोई ख्याल नहीं था, मठों, विशेषकर कबीरपंथी मठों के सुधार के लिए भी वह उद्योग करते रहे। हमारे फिल्म व्यवसायी कितने निम्नकोटि की रुचि रखते हैं, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। उनमें से थोड़े ही अपवाद हैं, नहीं तो सभी चाहे जैसे भी हो, पैसा कमाना अपना ध्येय मानते हैं, और इसके लिए किसी की धार्मिक भावना पर ठेस लगती हो, तो उसकी परवाह नहीं करते। किसी फिल्म कम्पनी ने कबीर साहब पर एक फिल्म बनाया। हरेक फिल्म में नाच-रंग आना जरूरी है। कबीर के नाम पर बना हुआ फिल्म भी इसका अपवाद नहीं हो सकता था। कबीरपंथी साधुओं को मालूम हुआ। उनमें खलबली मची। उसी सिलसिले में कई और कबीरपंथी महन्तों को लिए नरसिंह बाबा भारत सरकार के पास पहुँचे थे। उन्हें मालूम हुआ, मैं यहीं हूँ, तो मेरे पास भी आये। बहुत सालों बाद 1955 में मुलाकात हुई। अब उनके शरीर पर बुढ़ापे के लक्षण स्पष्ट थे, लेकिन अभी भी वह उसी तरह शरीर से चुस्त और बोलने-चालने में निधड़क थे।

38

बाबू सरयू ओझा

असहयोग-आन्दोलन सत्याग्रह एक महान् यज्ञ था, जिसमें हमारे देश के लाखों पुरुषों और हजारों स्त्रियों ने भाग लिया था, अनेक कष्ट सहे थे। कुछ ने तो अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। देश के लिए त्याग की धुन उनके ऊपर इतनी सवार हुई कि लोग उन्हें पागल समझने लगे। श्री सरयू ओझा ऐसे ही पुरुष थे, जिन्होंने अपनी उठती जवानी में ही अपने को इस यज्ञ में अर्पित किया, फिर जीवन-भर उसमें आगे बढ़ते गये।

ओझाजी बनियापुर थाना के प्रसिद्ध गाँव धनगडहा के एक अच्छे खाते-पीते भूमिहार परिवार में पैदा हुए। असहयोग के जमाने की उनकी मूर्ति मेरे सामने है। गोरा रंग, मझोला और छरहरा कद, आँखों में एक विशेष रोशनी, और उसके साथ ही कुछ कहने की सी मुद्रा। वह विवाहित थे। गलती कहें या दबाव, उन्होंने दूसरा ब्याह भी कर लिया था। शायद दूसरे ब्याह से कुछ भूमि मिली थी। पर, सम्पत्ति को रखना उनके बस की बात नहीं थी। घर-बार की उनको सुध ही नहीं रहती थी। असहयोग के जमाने में सारा थाना उनका घर था। आज इस गाँव में सभा है, तो कल दूसरे गाँव में। अंग्रेज सरकार से लड़ना पत्थर की दीवार से टक्कर मारना है, यही उस वक्त के बड़े-बड़े सयानों का मत था। सरयू ओझा तो बहादुर भेड़े की तरह पूरे जोर से दौड़कर टक्कर मारनेवाले थे। उन्हें न पुलिस का डर था, न सरकार का, क्योंकि जेल को सचमुच ही वह खेल समझते थे। न लोगों के इस ताने का ख्याल था कि सरयू ने अपनी कुल-कान छोड़कर दर-दर भटकना शुरू किया है। आन्दोलन कभी गरम होता। उस वक्त सारी जनता को अपने साथ ले चलता। फिर कभी वर्षों के लिए ठण्डा पड़ जाता और चारों ओर एक हृदयद्रावक नीरवता छा जाती। पर, सरयू ओझा में कभी नीरवता नहीं आई, कभी वह ठण्डे नहीं पड़े। असहयोग के तुरन्त बाद आन्दोलन के ठण्डे पड़ने के समय की बात है। ओझाजी को अपनी खेती की चिन्ता क्यों होती, जब देश की पुकार हर वक्त उनके कान में पड़ा करती। लेकिन, उन्हें अपना खर्च तो चलाना था। केवल अपने शरीर-भर का खर्च होता, तो उसकी चिन्ता से मुक्त रह वह कहीं भी काम में लग सकते थे। पर, बीबी-बच्चों को भी देखना था। अपनी जमीन बेच या बंधक रख के खर्च चलाते थे। उसी समय मैं एक दिन धनगडहा गया। वह अपने खेत में झोपड़ी डालकर रहते थे। बरसात का दिन था। खेत में मक्की की बालें लगी हुई थीं। उसी से उन्होंने मेरा और मेरे साथियों का स्वागत किया। उनकी झोपड़ी सचमुच फकीरों की झोपड़ी थी। साधुओं की कुटिया भी उससे कहीं अधिक सुखद होती है। सरयू ओझा देश के लिए फकीर हुए, इसे वहाँ हम साक्षात् देख रहे थे।

पाँच-छह वर्ष बाद जब मैं छपरा से बाहर चला गया था, और मेरा कार्यक्षेत्र भी बहुत कुछ बदल गया था, उस समय भी सरयू ओझा पहले की तरह अपने काम में डटे हुए थे। 1930-31 ई. की बात है। मैं कुछ

समय के लिए छपरा गया। बाबू गुनराजसिंह वकील मेरे मुख्य स्नेहियों और कृपालुओं में थे। वहीं सुना, कि सरयू ओझा अपनी दोनों पत्नियों और बच्चों को लिए रिविलगंज में विलायती कपड़े बेचनेवाली दूकान या शराब की दूकान पर पिकेटिंग कर रहे हैं। बाबू गुनराजसिंह के कहने में संवेदना का भाव था, साथ ही यह भी, कि वह अपने बीबी-बच्चों को लेकर ऐसा करके बुद्धिमानी नहीं दिखला रहे हैं। सरयू ओझा को बुद्धिमान बनने का शौक नहीं था। वह अपनी धुन में मस्त थे। यह दिखलाना चाहते थे कि भारतमाता के एक अंग में चौबीस घंटे और सारे जीवन में असंतोष और अधीरता की लहर दौड़ रही है। अंग्रेज जब तक यहाँ से जाते नहीं, तब तक हृदय अपने तीव्र स्पन्दन को धीमा नहीं कर सकता। यह भी ध्यान रखने की बात है, कि सरयू ओझा जिस कुल के थे, उसमें तरुणी और प्रौढ़ा महिलाएँ भी घर के चौखट से बाहर निकलना बुरा समझती थीं, पर्दा रखना इज्जत का चिह्न माना जाता था। सरयू ओझा की दोनों पत्नियाँ आसानी से इसके लिए तैयार नहीं हुई होंगी। लेकिन, जब पतिदेव ने उधर कदम उठा लिया तो वह घर के भीतर पर्दानशीन बनकर कैसे बैठ सकती थीं ?

आन्दोलन छिड़े तो सरयू ओझा और उनका परिवार सबसे पहले आग में कूदने के लिए तैयार रहता। यदि आन्दोलन नहीं है, तो सरयू ओझा के भीतर की आग अपनी प्रचंडता छोड़ने के लिए तैयार नहीं। 1921 से 1947 ई., 26 सालों तक वह पुरुष अपनी आन पर डटा रहा। अन्त में तपस्या पूरी हुई। 15 अगस्त 1947 को अंग्रेज भारत छोड़कर भागे। सरयू ओझा को कितनी प्रसन्नता हुई होगी, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। वह उन सौभाग्यशाली पुरुषों में थे, जिन्होंने अपनी आँखों अपने देश को कालरात्रि से बाहर आते देखा। धन के विचार से वह बिल्कुल अकिंचन हो गये थे, कल के खाने के लिए सिर्फ कर्ज पर भरोसा था, तो इससे क्या ? उनके बच्चे स्वतन्त्र वातावरण में साँस लेंगे, यही उनके लिए बहुत था।

देश के स्वतन्त्र होने पर राजनीतिक पीड़ितों की सहायता की ओर हमारी सरकारों का ध्यान गया। ऐसी सहायता का पात्र सरयू ओझा से बढ़ कर भला कौन हो सकता था ? लेकिन, जब सहायता लेने का प्रस्ताव आया, तो अक्खड़ सरयू ओझा तन गये, क्या उन्होंने यह सारी तपस्या थोड़ी-सी जमीन या पैसों पर बेचने के लिए की थी ? लेकिन, उनके अक्खड़पन पर ख्याल नहीं किया गया, और मान-न-मान शायद कुछ जमीन उनके नाम कर दी गई। उनके लड़के भी पिता के विरुद्ध जाने के लिए तैयार नहीं थे। सरयू ओझा देश के स्वतन्त्र होने के दो-तीन वर्ष बाद ही चल बसे। उस समय उनके ऊपर कर्ज था, जिसे कुछ जमीन बेचकर लड़कों ने अदा किया। देश का स्वतन्त्र होना बहुत बड़ी बात थी। स्वतन्त्रता अनमोल वस्तु है। पर, भारत के करोड़ों नर-नारियों की तरह सरयू ओझा का परिवार अभी भी अभाव-चिन्ता में पहले ही की तरह ग्रस्त है।

अतीत से वर्तमान

1
घुमक्कड़ नरेन्द्रयश

स्वात आज पश्चिमी पाकिस्तान की एक छोटी-सी रियासत है; लेकिन पश्चिमी हिमालय के भीतर यह वह सुन्दर इलाका है, जिसे आर्यों ने इतना सुन्दर समझा और यहाँ पर इतने अच्छे घर बनाए कि इस इलाके का नाम ही उन्होंने 'सुवास्तु' (सुन्दर गृह) रख दिया, जो आज भी स्वात के रूप में मौजूद है। काबुल-नदी की बहन लुन्दई-नदी स्वात और पंचकोरा दो नदियों से मिलकर बनी है। दोनों नदियों के संगम पर छह हजार फीट ऊँचे पहाड़ खड़े हैं, जिनकी कोई-कोई चोटियाँ आठ हजार फीट तक पहुँचती हैं। यह बड़ा ही रमणीय स्थान है। पेशावर और आसपास के सूखे पहाड़ों को देख हम स्वात का अनुमान नहीं कर सकते। स्वात के पहाड़ अब भी देवदारों के जंगलों से ढँके हैं–उन्हीं जंगलों से, जिनकी लकड़ियाँ लेकर आर्यों ने भारत में प्रथम चरण रखते समय अपने सुन्दर वास्तु बनवाये थे। ईरान और अफगानिस्तान के बहुत-से पहाड़ों को देखकर मेरी धारणा हो गई थी कि शायद स्वात का केवल नाम ही बड़ा हो और इसके पहाड़ भी वैसे नंगे हों। लेकिन सीमांत के गाँधी खान अब्दुलगफ्फारखाँ ने मेरी इस धारणा को गलत बतलाया। वे तो स्वात की प्रशंसा करते नहीं थकते थे। कह रहे थे–'पेशावर और नीचे का दूध और स्वात का पानी गुण में बराबर है।' पेशावरी मेवों के हममें से कितने ही बहुत प्रशंसक हैं, लेकिन उस परम साधु के कथनानुसार 'स्वात के अंगूरों, सेबों और दूसरे मेवों के मुकाबले में सब फीके हैं।' स्वात अब पश्चिमी पाकिस्तान में है, भारत से मानो उसका कोई संबंध ही नहीं रह गया है। लेकिन अतीत में स्वात का भारत के साथ बहुत मधुर संबंध ही नहीं रहा है, बल्कि हर एक स्वाती अपने भारतीय होने का अभिमान करता था; और भारत भी अपने स्वाती पुत्र पर फूला नहीं समाता था। शायद फिर वह आत्मीयता कभी कायम हो।

ऋग्वेद के काल में ईसा से दो सहस्राब्दियों पूर्व स्वात और पंचकोरा नदी के बीच की पर्वतभूमि का नाम सुवास्तु था। लेकिन इस्वी सन् के आरम्भ में अब उसे उद्यान कहा जाने लगा था। यदि प्रथम आर्य उसके इन सुन्दर घरों पर मुग्ध होकर उसे सुवास्तु कहने लगे, तो अब खान अब्दुलगफ्फारखाँ के कहे अनुसार वहाँ के अमृत-तुल्य मेवों के बगीचों के कारण उसे लोग उद्यान कहने लगे। हो सकता है, सुवास्तु का विशेषण 'उद्यान' रहा हो, किन्तु पीछे लोगों को बागों की यथार्थ महिमा देखकर उद्यान ज्यादा पसन्द आया। इसी उद्यान में घुमक्कड़राज नरेन्द्रयश का जन्म 518 ई. में हुआ था। वह कौन-सा ग्राम या नगर था, जहाँ नरेन्द्रयश ने पहले-पहल अपनी आँखें खोलीं या कौन-सा बिहार (मठ) था, जहाँ पर उन्होंने भिक्षु-दीक्षा ली, यह जानने के लिए हमारे पास साधन नहीं हैं। नरेन्द्रयश के जीवन की प्रगति के लिए यह जानना जरूरी है कि उस समय देश की राजनीतिक और आर्थिक अवस्था क्या थी। सांस्कृतिक अवस्था के बारे में तो इतना ही कहना काफी है कि यह गुप्तकाल के भव्य युग के उतार का समय था। चाहे सारी जनता की कम संख्या ही सही, किंतु साहित्य, संगीत और कला इस वक्त अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची हुई थीं। मध्यमंडल ही नहीं, बल्कि उसके पश्चिमोत्तरीय छोर पर भी हर जगह अद्भुत चित्रों और मूर्तियों से अलंकृत बड़े सुन्दर-सुन्दर विहार बने हुए थे, जहाँ बड़े-बड़े मनीषी

विद्वान् विद्यार्थियों से घिरे अनवरत विद्या-दान करते रहते थे। एक ही शताब्दी पूर्व पेशावर ने असंग और वसुबंधु जैसे अद्वितीय दार्शनिक पैदा किए थे, जिनकी 'योगाचार भूमि' तथा 'अभिधर्मकोश' को पढ़कर सारा भारत ही नहीं, बल्कि सारा बौद्ध जगत् दर्शन के गहन विषयों के समझने की कोशिश कर रहा था।

नरेन्द्रयश जिस वक्त माँ की गोद मे खेल रहे थे, उस समय जमुना और नर्मदा तक तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल का साम्राज्य फैला हुआ था। मध्य-एशिया के इन विजेताओं को यद्यपि हूण या श्वेत-हूण कहा जाता था, लेकिन उनका (मंगोलियन) हूण जाति से कोई सम्बन्ध नहीं था। वह तो शकों की सबसे पीछे आनेवाली एक शाखा थी। सिक्कों पर जो तोरमाण और मिहिरकुल के दाढ़ी से भरे या लम्वी नाकवाले चेहरे बने हैं, उनको देखने से भी पता लग जाता है कि यह मंगोलियन नहीं, बल्कि हिन्दू-यूरोपीय जाति के थे। मिहिरकुल के राज्य में ही उद्यान की भूमि थी। और जब नरेन्द्रयश नवें वर्ष में थे, तो यशोधर्मा और बालादित्य ने मिलकर मिहिरकुल को बुंदेलखंड की भूमि में बुरी तरह से हराया और उसे शायद पंजाब के भी बहुत-से भाग से वंचित होकर कश्मीर में भागकर अपनी राजधानी बनानी पड़ी। उस समय भी उद्यान श्वेत-हूणों (हेफ्तालों) के हाथ में ही रहा। मिहिरकुल 547 ई. तक शासन करता रहा, जब कि नरेन्द्रयश की आयु 29 वर्ष की हो चुकी थी।

नरेन्द्रयश के बाल्यकाल में पंजाब, कश्मीर, अफगानिस्तान, मध्य एशिया तक श्वेत-हूणों का राज्य फैला हुआ था। स्वात के उत्तर में गिलगित के दरदों का प्रदेश था। संभव है, स्वातवाले भी उस समय खसों की दरदशाखा से ही सम्बन्ध रखते हों। लेकिन दरदों से उत्तर-पूर्वी मध्य एशिया में उस समय आज की तरह मंगोलियन जातियाँ नहीं, बल्कि तुखारी-कूची लोग बसते थे, जो रंग-रूप में नरेन्द्रयश से इससे अधिक भेद नहीं रखते थे कि भारत में सबसे अधिक गौरांग उद्यान-निवासी भी उनके सामने साँवले पड़ जाते थे। नरेन्द्रयश के चौदहवें वर्ष में मालव-विजेता यशोधर्मा उत्तरी भारत का सबसे शक्तिशाली राजा वन चुका था। पूर्व-मध्य एशिया के उत्तर में मंगोलियन अवारों का घुमन्तू साम्राज्य दूर तक फैला हुआ था, और जिनकी अधीनता स्वीकार करने के लिए कूची-तुखारी भी मजबूर थे। ईरान में यह समय साम्यवादी मज्दक का था, जिसका अनुयायी बनकर वहाँ के शाह कवाद को अपनी गद्दी से वंचित होना पड़ा था, और शायद मिहिरकुल के पिता तोरमाण की ही सहायता से उसे फिर सासानियों की गद्दी मिली। इस समय सारा सासानी-साम्राज्य मज्दक की साम्यवादी विचारधारा के व्यावहारिक परीक्षण से क्षुब्ध या आह्लादित था, लेकिन एक लाख नर-नारियों का नरमेध करके साम्यवाद के भूत से पिंड छुड़ाने में नौशिरवान को जब सफलता मिली, उस समय (529 ई.) तक नरेन्द्रयश ग्यारह वर्ष का हो चुका था। कहा नहीं जा सकता कि जिस बौद्ध संघ में नरेन्द्रयश दीक्षित हुआ, उसी के कितने ही अंशों से प्रभावित हो उसके पूर्वाचार्य मानी ने साम्यवाद की कितनी ही बातों को स्वीकार किया, और उसे साधुओं की छोटी-सी टोली के भीतर तक ही सीमित न रख मज्दक के विशाल जन-समुदाय में आर्थिक समता को व्यावहारिक रूप देने लगा था। पता नहीं, उसका कोई प्रभाव नरेन्द्रयश की मातृभूमि के विहारों पर भी कुछ था या नहीं। अर्द्ध-घुमन्तू श्वेत-हूणों की राज्य-सीमा से सासानी-ईरान बहुत दूर था, जहाँ पर आज से डेढ़ हजार वर्ष पहले यह प्रयोग हो रहा था। नरेन्द्रयश के बाल्यकाल (518-530) में कम-से-कम उद्यान-भूमि के लिए युद्धों द्वारा आर्थिक संकट का सामना नहीं करना पड़ा था। उद्यान की भूमि सदा शस्य-श्यामला और धन-धान्य-संपन्न रहती आई थी; संभवतः वही स्थिति उसकी अब भी थी।

नरेन्द्रयश क्षत्रिय-कुल में पैदा हुए थे, जिसका अर्थ यही हो सकता था कि वह खसों-शकों के कुल में पैदा हुए थे। खस और शक मूलतः मध्य एशिया की एक ही जाति की दो धाराएँ थीं, जिनमें से खस ई. पू. दूसरी सहस्राब्दी में मध्य एशिया से पहाड़-पहाड़ आकर इस वक्त तक सारे पश्चिमी और मध्य हिमालय में छा गए थे, जब कि शक ई. पू. द्वितीय शताब्दी में हूणों के प्रहार से अपनी मूलभूमि छोड़ भागते हुए भारत तक पहुँचे थे। उनके प्रतापी राजा कदफिस और कनिष्क का साम्राज्य बंगाल की खाड़ी से अराल समुद्र तक फैला था। शक और खस दोनों ही अपने को क्षत्रिय कहते थे, इसलिए नरेन्द्रयश इनमें से किनके वंश में पैदा हुए, यह नहीं कहा जा सकता। चाहे वैदिक आर्यों के वंशज क्षत्रिय सुवास्तु-भूमि (उद्यान) में रहे हों या उनके बाद खस तथा शक वहाँ पहुँचे हों; लेकिन नरेन्द्रयश के समय तक वह सब मिलकर क्षत्रिय नाम से पुकारे जाते

थे और उनका पारस्परिक विवाह-संबंध भी होता था।

नरेन्द्रयश की जीवनी के बारे में जो थोड़ा-सा ज्ञान हमें चीनी स्रोतों से मिलता है, उसमें उनकी पंडिताई और घुमक्कड़ी की ही बातें अधिक हैं। चीनी स्रोतों से उनकी जीवनी पर नोट लिखते मेरे मित्र डा. पाचौ का कहना है–"नरेन्द्रयश उद्यान के एक क्षत्रिय-परिवार में पैदा हुए थे (सन् 518 ई. में)। सत्रह वर्ष की आयु (535 ई.) में वे श्रामणेर (साधु) हो गए और इक्कीस वर्ष के होने पर (539 ई.) बौद्ध संघ में उपसंपदा प्राप्त कर भिक्षु बने। अपने भिक्षु-जीवन के आरंभ ही से उनकी उन पवित्र स्थानों के दर्शन करने की बड़ी इच्छा थी, जहाँ पर बुद्ध-संबंधित पवित्र वस्तुएँ (अस्थि, पात्र, चीवर आदि) रखी हुई थीं। वे ऐसे बहुत-से स्थानों में गए। दक्षिण में वे सिंहल (लंका) तक गए और उत्तर में हिमालय के भी उस पार बहुत दूर तक। एक बार एक स्थविर (वृद्ध भिक्षु) ने उन्हें कहा कि अगर चुपचाप तुम शील का अनुष्ठान करते रहो, तो तुम्हें आर्यफल (मुक्ति) प्राप्त होगा, नहीं तो जगह-जगह का भटकना बेकार जायगा। लेकिन नरेन्द्रयश ने स्थविर के उपदेश पर कान नहीं दिया। सिंहल लौटने के बाद नरेन्द्रयश कुछ समय तक उद्यान में रहे। इसी समय उनका विहार जंगल की आग से जल गया। संभवतः विहार के पुनर्निर्माण के लिए अर्थ-संग्रह ही उनका लक्ष्य था जबकि पाँच और भिक्षुओं के साथ उन्होंने हिमालय के उत्तर की ओर प्रयाण किया। हिमालय की एक डाँड़े पर पहुँचने पर वहाँ से दो रास्ते फूटते थे, जिनमें से एक मनुष्यपथ था और दूसरा दैत्यपथ। नरेन्द्रयश को यह देखकर बड़ी घबराहट हुई कि एक साथी दैत्यपथ पर चला गया। वे उसे बचाने के लिए दौड़े लेकिन तब तक वह दैत्य के मुँह में पड़ चुका था। कहा जाता है कि मंत्र पढ़कर नरेन्द्रयश ने अपने साथी की जान बचाई। आगे जाने पर एक जगह नरेन्द्रयश डाकुओं से घिर गए, वहाँ पर भी मंत्रों ने उनकी रक्षा की। हिमालय पार हो पूर्व की तरफ अग्रसर होते-होते वे उस भूमि में गए जहाँ जुइ-जुइ (ज्वेन-ज्वेन अर्थात् अवार) रहते थे। जल्दी ही उनकी जगह लेनेवाले तथा पहले उनकी प्रजा तुर्क उस समय जुइ-जुइ से लड़ रहे थे। अवारों और तुर्कों के इस संघर्ष के कारण पूर्व की ओर जानेवाला रास्ता खतरे से भरा था। नरेन्द्रयश उद्यान की ओर पीछे पैर रखनेवाले नहीं थे, इसलिए वे उत्तर की तरफ बढ़ गए। तुर्कों की भूमि से सात हजार ली (चौदह सौ मील जाने पर वे नी-हाई) सागर के तट (जिसे विद्वान वर्तमान बैकाल सरोवर मानते हैं) पर पहुँचे। वहाँ पर लड़ाई-झगड़े ही ज्यादा देखने में आए, इसलिए उन्होंने नी-हाई की भूमि को छोड़कर चीन का रास्ता लिया और 558 ई. में उत्तरी छी-वंश (550-77) की राजधानी येह (होणान्) पहुँचे। उस समय नरेन्द्रयश की आयु चालीस वर्ष की थी। सम्राट् वेन-स्वेन् (550-59 ई.) ने नरेन्द्रयश का खूब स्वागत किया और राजधानी के बड़े विहार त्यान्-पिङ् में उनके लिए सुन्दर वास-स्थान और सुन्दर भोजन का प्रबंध कर दिया। राजप्रासाद में संस्कृत के बहुत-से हस्तलिखित ग्रंथ थे। सम्राट् ने उन्हें नरेन्द्रयश के पास अनुवाद करने के लिए भेज दिया और चीन के बौद्ध विद्वानों को अनुवाद के काम में नरेन्द्रयश की सहायता करने के लिए कह दिया। दूसरे कामों से छुट्टी पाने पर नरेन्द्रयश पहले के सीखे मंत्रों का जप किया करते थे। थोड़े ही दिनों बाद नरेन्द्रयश को सम्राट् ने सारे बौद्ध संघ के उपसंघराज का पद प्रदान किया और पीछे संघराज बना दिया। नरेन्द्रयश के पास अब बहुत धन आता था, जिसका बहुत-सा भाग वे भिक्षुओं, गरीबों, कैदियों आदि को भोजन कराने में खर्च करते। उनकी उदारता के भागी पशु-पक्षी भी होते थे। उन्होंने लोगों के लिए बहुत-से कुएँ खुदवाए, जिनसे वे अपने हाथ से पानी निकालकर प्यासों को पिलाते थे। उन्होंने रोगियों के लिए धर्मार्थ चिकित्सालय स्थापित किए, जिनमें रोगियों के लिए हर एक आवश्यक चीज मुफ्त दी जाती थी। ची-चुन् में पश्चिमी पहाड़ के ऊपर उन्होंने तीन विहार बनवाए। वे उन होटलों में भी जाते, जिनमें तुर्क घुमन्तू आकर ठहरते थे। उन्हें वे समझाते थे कि महीने में कम-से-कम छह दिन तुम निरामिष-भोजी बनो और खाने के लिए बकरियों को न मारो। इस तरह का धार्मिक अनुष्ठान नरेन्द्रयश के जीवन का एक अंग था। एक बार नरेन्द्रयश बीमार पड़े, तो उन्हें देखने के लिए सम्राट् और सम्राज्ञी स्वयं आए। इस तरह का सम्मान-प्रदर्शन बहुत थोड़ों ही को मिलता था। 577 ई. के अन्त में उत्तरी छी-राजवंश को उत्तरी चाउ-राजवंश (557-81 ई.) ने जीत लिया। सम्राट् वू-ती ताउ-धर्म का अनुयायी था। उसने 572 ई. में चीन से बौद्ध धर्म और संघ के उच्छेद करने का निश्चय कर लिया और बहुत-से भिक्षुओं

को मरवा दिया। ऐसी परिस्थिति में नरेन्द्रयश को अपने चीवर के ऊपर गृहस्थों के वस्त्र डालकर जगह-जगह मारा-मारा फिरना पड़ा। नौ वर्षों तक नरेन्द्रयश को बड़े कठोर जीवन का सामना करना पड़ा, जिसका अन्त सुइ-राजवंश (581-618 ई.) की स्थापना के साथ 581 ई. में हुआ। नये राजवंश के शासन के आरम्भ होते ही सम्राट् वेन्-ती ने नरेन्द्रयश को बौद्ध सूत्रों के अनुवाद करने के लिए राजधानी में निमन्त्रित किया। इसके बाद सम्राट् ने उन्हें भिक्षुओं के 'आतिथ्यपाल' का पद प्रदान किया। नरेन्द्रयश ने इस काम को इतनी अच्छी तरह से पूरा किया कि सभी उनसे बहुत संतुष्ट रहे। नरेन्द्रयश ने 80 जिल्दों के पन्द्रह ग्रन्थों का संस्कृत से चीनी भाषा में अनुवाद किया। अपनी आयु के चालीस वर्ष उन्होंने यात्रा में विताए, जिसमें डेढ़ लाख ली (30 हजार मील) की यात्रा करते पचास देशों को देखा। वे 589 ई. में मरे।"

चीनी स्रोतों से हमें नरेन्द्रयश का इतना ही परिचय मिलता है। देखते हैं कि चीन के निवास के समय (558-72 ई. और 581-89 ई.) को छोड़कर उन्होंने इक्कीस वर्ष के बाद का अपना सारा जीवन यात्रा में ही बिताया। वे भारत के सभी बौद्ध तीर्थों में गए। सर्वास्तिवादियों के गढ़ मथुरा को उन्होंने देखा ही होगा, श्रावस्ती-जेतवन-लुम्बिनी, ऋषिपतन-सारनाथ (बनारस), बज्रासन (बौद्ध गया) आदि के दर्शन से वे अपने को कैसे वंचित रख सकते थे ? भारत और सिंहल के उन पवित्र स्थानों को नरेन्द्रयश ने जरूर ही देखा होगा, जिनकी यात्रा एक शताब्दी पहले चीनी पर्यटक फा-शीन (फा-हियान्) कर चुका था। सिंहल में वह महाविहार या अभयगिरि-विहार में भी रहे होंगे। उनकी भारत की यह सारी यात्रा केवल यात्रा के तौर पर ही नहीं हुई होगी, बल्कि यहीं पर उन्हें बड़े-बड़े विद्वानों के सम्पर्क में आकर अपने ज्ञान-कोश को बढ़ाने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा। सिंहल जाते या लौटते समय उन्होंने श्रीपर्वत नागार्जुनीकोंडा, धान्यकटक के भव्य स्तूपों और संघारामों के भी दर्शन किए होंगे। अजिंठा (अजन्ता) के गुहाविहार यद्यपि अभी सभी पूरे तैयार नहीं हुए होंगे, लेकिन तब भी विदर्भ का यह संघाराम वाकाटकों के उत्तराधिकारियों के शासनकाल में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था, इसमें सन्देह नहीं। नरेन्द्रयश उज्जयिनी में भारत के सबसे विशाल स्तूप का दर्शन करने भी गये होंगे। विदिशा के भव्य स्तूप-तोरणों को उन्होंने देखा होगा, जो कि आजकल साँची के स्तूपों के नाम से प्रसिद्ध हैं। फिर गोपगिरि (ग्वालियर), मथुरा आदि होते हुए वे अपनी जन्मभूमि उद्यान में लौटे होंगे।

यह नहीं कहा जा सकता कि मातृभूमि छोड़ने के बाद उनकी यह भारत-लंका की तीर्थयात्रा और विद्यायात्रा कितने दिनों में पूरी हुई, तो भी यथार्थता से बहुत दूर नहीं होगा यदि हम मानें कि भिक्षु बनने के एक साल बाद 540 ई. में उन्होंने अपनी जन्मभूमि छोड़ी होगी। दस वर्षों तक भारत की प्रदक्षिणा करके वे 550 ई. के आसपास उद्यान लौटे होंगे। साल-भर बाद विहार के जल जाने पर वे हिमालय पार कर उत्तर की ओर चले गए होंगे। छठी शताब्दी के मध्य में तुर्कों ने अपने पूर्व स्वामियों अवारों पर विजय प्राप्त की और अवार-ओर्दू (घुमन्तू सैनिक परिवार) तुर्कों से प्राण बचाने के लिए पश्चिम की ओर भागते-भागते अन्त में हुंगरी पहुँचे होंगे। इन्हीं तुर्कों ने पश्चिमी मध्य एशिया से श्वेत-हूणों (हेफ्तालों) के राज्य को खत्म किया। इसी संघर्ष के समय नरेन्द्रयश हिमालय के दुर्गम डाँड़ों को पार कर खोतन, यारकन्द, काशगर और कूचा की ओर गए होंगे। सीमांत पर होने पर भी यह प्रदेश अभी युद्ध की लपटों में नहीं पड़े थे। नरेन्द्रयश को कूचा से आगे बढ़ने पर तुरफान में ही कहीं चीन की ओर जाने का रास्ता बन्द मिला होगा। पूर्व के रास्ते को न पाकर उन्होंने तुरफान या कराशर के पास ही से कहीं उत्तर का रास्ता पकड़ा होगा और हामी के आसपास से घुमन्तुओं की भूमि में कितने ही बियाबानों, पहाड़ों में से होते वर्तमान मंगोलिया के पश्चिमी भाग से साइबेरिया की ओर बढ़ते नी-हाई (बैकाल) सरोवर के तट तक पहुँचे होंगे। अभी इस शताब्दी के डेढ़ दर्जन वर्षों तक भी हामी से आगे उसी तरह के घुमन्तू बसते थे, जिनके तम्बुओं के भीतर नरेन्द्रयश ने अपनी बहुत-सी रातें बिताई होंगी। इन घुमन्तुओं के लिए अभी हाल तक अन्न दुर्लभ खाद्य था और दूध तथा मांस ही सबसे सुलभ तथा शरीर-धारण के आवश्यक साधन थे। नहीं कह सकते कि नरेन्द्रयश किस तरह गुजारा करते थे। बौद्ध भिक्षु मांस खा सकता है—केवल अपने लिए मारे गए पशु का मांस उसके लिए अभक्ष्य है। नरेन्द्रयश शायद अभी भारतीय भिक्षुओं की परम्परा को मानते मांस-भक्षण के विरोधी नहीं थे। उनकी दुर्गम यात्रा भी इस बात की माँग करती थी कि भोजन

में नाहक की कट्टरपंथिता न दिखलाएँ। शायद चीन की राजधानी में जा संघराज के पद पर पहुँचकर उन्होंने निरामिषाहार पर अधिक जोर देना शुरू किया। आमिष (मांस) सवीकार कर लेने पर भोजन की ओर से उनको कोई चिन्ता नहीं हो सकती थी। इस भूमि में हिमालय के पार तुरफान के उत्तर साइबेरिया तक जो घुमन्तू रहा करते थे, वे सभी मंगोलियन थे; लेकिन 'मंगोल' शब्द अभी दुनिया में अस्तित्व नहीं रखता था। अवार, तुर्क, उइगुर, मंगोल–सभी पुराने हूणों के वंशज थे, जिनकी ही भूमि में तुरफान छोड़ने के बाद नरेन्द्रयश को प्रवेश करना पड़ा। हूण-सामन्त बौद्ध धर्म के प्रभाव में आ चुके थे, वही बात अवारों और तुर्कों की भी थी। इसलिए आजकल के तिब्बती लोगों की तरह तुर्कों में भी ऐसे बौद्ध भक्तों की कमी नहीं थी, जो भारतीय भिक्षु का आतिथ्य करने के लिए तैयार थे।

भारत की नाना जातियों और भिन्न-भिन्न बोलियों से नरेन्द्रयश का सम्पर्क हुआ होगा, लेकिन यहाँ संस्कृत उनकी सहायता करती रही होगी। सिंहल में भी भाषा की कोई दिक्कत नहीं आई होगी। खोतन, यारकन्द, काशगर, कूचा और तुरफान तक अभी संस्कृत का साम्राज्य था और अनुराधपुर (लंका) से तुरफान तक भिक्षु-संघारामों के आचार-विचार, वेश-भूषा में बहुत समानता थी, इसलिए वहाँ तक नरेन्द्रयश को पराया देश मालूम नहीं हुआ होगा। लेकिन काली चमरियों या ऊँटों के बालों के बने तम्बुओं और नम्दों की भूमि में पहुँचते ही नरेन्द्रयश को एक दूसरी ही दुनिया दिखाई पड़ी होगी, जहाँ की बोली-वाणी, आचार-व्यवहार आदि सभी भिन्न थे। जहाँ के लोग भूख-प्यास को मिटाने के लिए अपने घोड़े की नस में छेद करके मुँह लगा निस्संकोच रक्त-पान कर सकते थे। जहाँ वर्षों शरीरं पर पानी डालने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। फल और अन्न के अभाव के कारण जहाँ के लोगों का जीवन सीधे हिंसा पर निर्भर था। वे जिस तरह निस्संकोच प्राणियों को मारकर उनके मांस का उपयोग करते थे, उसी तरह एक कबीला दूसरे कबीले को लूटने-मारने के लिए भी तैयार रहता था। तुरफान के सीमांत पर पहुँचने के बाद नरेन्द्रयश उनकी अवस्था से बिल्कुल अपरिचित नहीं रह सकते थे। इसलिए पूर्व में चीन और दक्षिण में स्वदेश लौटने का रास्ता छोड़ यदि वे उत्तर में घुमन्तुओं की भूमि पर बढ़े, तो जान-बूझकर ही। 553-54 ई. के आसपास नरेन्द्रयश ने उत्तर का रास्ता लिया होगा। घुमन्तुओं में पाँच साल बिताने की हिम्मत करना यह भी उनके साहस का सबूत है।

नरेन्द्रयश 557 ई. में चीन की राजधानी येह (होणान्) में इस विकट यात्रा के बाद लौटे। उन्होंने लंका से बैकाल तक की इस विशाल यात्रा में कितने विचित्र अनुभव किए होंगे, कितने पहाड़ों, जंगलों, नदियों, सरोवरों, समुद्रों और रेगिस्तानों को देखा होगा, कितने ही भिन्न-भिन्न तरह के लोगों के सम्पर्क में आए होंगे। नरेन्द्रयश की यात्रा के सामने क्या फा-शीन और स्वेन-चाङ् की यात्राएँ फीकी नहीं पड़ जातीं ? लेकिन अफसोस, उन्होंने अपनी इस बीहड़ यात्रा का कोई विवरण नहीं छोड़ा। उनसे एक शताब्दी पहले फा-शीन् ने अपनी यात्रा का सुन्दर वर्णन लिखा, जिसे नरेन्द्रयश ने जरूर देखा होगा। लेकिन उन्हें अपनी अद्भुत यात्रा का विवरण लिखने की प्रेरणा नहीं हुई। नरेन्द्रयश पण्डित थे। उन्होंने 'सूर्यगर्भसूत्र', 'मंजुश्रीविक्रीड़ितसूत्र', 'श्रीगुप्तसूत्र', 'महामेघसूत्र', 'बलव्यूहसमाधिसूत्र', 'बुद्धशतनामसूत्र', 'पद्ममुखसूत्र', तथा 'स्थिरमतिसूत्र' जैसे गम्भीर बौद्ध सूत्रों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। वे अपनी यात्रा को बोलकर आसानी से चीनी में भी लिखवाकर सुरक्षित कर सकते थे, किन्तु अफसोस कि वे वैसा न कर सके।

नरेन्द्रयश पहले येह् (होणान्) राजधानी में रहे, फिर राजधानी छङ्-अन् ने उनका स्वागत किया। बौद्धों पर अत्याचार होते समय नौ वर्ष (572-81 ई.) तक उन्हें अज्ञातवास करना पड़ा, और 581 ई. में सुइ-वंश की स्थापना के बाद फिर उन्हें सम्मानपूर्वक राजधानी छङ्अन् में रहने का मौका मिला। यह स्मरण रखने की बात है कि शताब्दियों तक छिन्न-भिन्न रहने के बाद इसी सुइ-वंश ने सारे चीन को एकताबद्ध किया। यद्यपि उसका शासनकाल बहुत अधिक नहीं रहा और 618 ई. में उसका स्थान प्रतापी थाङ्-वंश ने ले लिया, लेकिन जैसा निर्माण-कार्य सुइ-वंश ने किया, वैसा पन्द्रह शताब्दियों बाद आज ही चीन में फिर हो रहा है। सुइ-वंश के शासन-काल में आठ वर्ष तक फिर नरेन्द्रयश को काम करने का अवसर मिला। नरेन्द्रयश के समय चीन में और भी कितने ही भारतीय पण्डित अनुवाद का काम कर रहे थे, जिनमें उपशून्य, परमार्थ, मन्द्रसेन,

ज्ञानभद्र, जिनयश (522-600 ई.), यशोगुप्त (561-78 ई.), जिनगुप्त, गौतमधर्मप्रज्ञ, विनीतरुचि, ज्ञानगुप्त (मृत्यु 600 ई.) और धर्मगुप्त (मृत्यु 619 ई.) मुख्य थे। नरेन्द्रयश के समयकालीन परमार्थ उन बड़े भारतीय पण्डितों में से हैं, जिन्होंने अनेक संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। परमार्थ उज्जैन में 498 ई. में पैदा हुए थे—अर्थात् आयु में वे नरेन्द्रयश से बीस वर्ष बड़े थे और 569 ई. में नरेन्द्रयश से बीस वर्ष पहले ही वे चीन में मरे। नरेन्द्रयश के अनूदित ग्रन्थों में आठ आज भी मौजूद हैं। परमार्थ के अनूदित 38 ग्रन्थों में से उन्तीस अब भी सुरक्षित हैं। परमार्थ की तुलना में नरेन्द्रयश उतने बड़े अनुवादक नहीं सिद्ध होते, लेकिन वे घुमक्कड़ों के राजा थे, इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं।

2

कम्बोज में भारतीय घुमक्कड़ भट्ट दिवाकर

इण्डो-चीन के तीन राज्यों में कम्बुज (कम्बोडिया) भी एक है, जिसके राजा नरोत्तम ने फ्रेंच साम्राज्यवाद की नीति से तंग आकर अभी-अभी देश छोड़ सारी दुनिया का ध्यान कम्बुज की ओर आकृष्ट किया है। आज कम्बुज एक छोटा-सा देश है, जो आजादी और लम्बाई-चौड़ाई में हमारे देश के एक छोटे-से जिले के बराबर है, लेकिन 7वीं से 10वीं शताब्दी तक वह एक विशाल राज्य था, जिसमें आधुनिक इण्डो-चीन और स्याम (थाम-भूमि) ही नहीं, बल्कि मलाया भी सम्मिलित था। राजवैभव के साथ-साथ कम्बुज का सांस्कृतिक वैभव भी अपने मध्याह्न पर था, जिसके चिह्नस्वरूप अंकोरवात, अंकोरथोम की महान् इमारतें अब भी वहाँ मौजूद हैं। उस समय के कम्बुज में अगर कोई जाता, तो उसे वह भारत का ही एक खण्ड दिखाई पड़ता। वही शैव (पाशुपत) धर्म वहाँ भी उस समय सर्वत्रव्यापी था, जो कि उस समय के उत्तरी तथा दक्षिणी भारत में व्याप्त था। वहाँ के लोग भी संस्कृत में अपनी प्रशस्तियाँ लिखते और देवाधिदेव महादेव की प्रशंसा करते हुए कहते—"उमा के कोख से नियंत्रित तरंगा गंगा जिसके सिर की माला बनी, उस चन्द्रशेखर की जय हो !" 616 ई. में कम्बुज दरबार में आए चीनी दूतमण्डल ने लिखा था—"राजा सप्तरत्नमंडित पंचविध-गंधसुगंधित आसन पर बैठता है, गजदंत तथा सुवर्णपुष्प द्वारा मंडित बहुमूल्य दारुस्तम्भों पर तना चँदवा उसके ऊपर होता है। सिंहासन के दोनों तरफ एक-एक आदमी धूप जलाने की धूपदानी लेकर चलता है। राजा गोटेदार पाण्डुवर्ण रेशम का कपड़ा पहनता है, बहुमूल्य मणियों और मोतियों से अलंकृत मुकुट धारण करता है और उसके कानों में स्त्रियों की भाँति सोने का कुण्डल होता है। उसके जूतों पर भी हाथी दाँत का काम होता है।"

कम्बुज-राजाओं की प्रशस्तियाँ बिल्कुल समकालीन भारतीय राजाओं जैसी थीं। हर्षवर्द्धन शीलादित्य की मृत्यु के दो ही दशाब्दियों बाद 667 ई. (589 शताब्द) में राजवैद्य सिंहदत्त ने अपने अभिलेख को सुन्दर संस्कृत में लिखवाते हुए कहा है :

"त्रिविक्रम (विष्णु की भाँति अजेय राजा रुद्रवर्मा था, जिसका सुखमय शासन आंज भी दिलीप की भाँति स्मरण किया जाता है। उसकी सेवा में ज्येष्ठ ब्रह्मदत्त और कनिष्ठ ब्रह्मसिंह दो भाई अश्विनीकुमारों की भाँति प्रधान वैद्य थे। इन दोनों में धर्मदेव ज्येष्ठ और सिंहदेव कनिष्ठ दो सौभाग्यशाली भागिनेय थे। राजा भववर्मा ने अपनी शक्ति से राज्य को ले लिया, उसके ये दोनों मंत्री थे।"

नवीं शताब्दी के चीनी लेखकों ने कम्बुज के आदमियों के बारे में लिखा है : "आदमी कद में छोटे और काले रंग के होते हैं, लेकिन स्त्रियों में साफ रंग की भी कोई-कोई होती हैं। लोग अपने बालों का जूड़ा बाँधते हैं और कानों में कुण्डल पहनते हैं। वह दृढ़ और कर्मठ होते हैं। उनके घर और घर के असबाब स्याम जैसे होते हैं। वह दाहिने हाथ को शुद्ध और बायें को अशुद्ध समझते हैं। वह प्रतिदिन सवेरे नहाते और वृक्ष की लकड़ी की दातुन से दाँत साफ करते हैं। पोथी पढ़ने के बाद वह प्रार्थना करते हैं और फिर नहाते हैं, तब

भोजन ग्रहण करते हैं। भोजन के बाद वह फिर अपने दाँत धोते और एक बार और प्रार्थना करते हैं। अपने भोजन के लिए यह घी, मलाई, चीनी, चावल और बाजरा–जिसकी यह रोटी बनाते है–का इस्तेमाल करते हैं। विवाह में वह कन्या के पास सिर्फ एक परिधान ब्याह की भेंट के तौर पर भेजते हैं। तिथि निश्चित हो जाने पर घटक वधू के पास जाता है। वर-वधू के परिवार सप्ताह-भर बाहर नहीं निकलते। रात-दिन दीपक जलता रहता है। विवाह संस्कार हो जाने पर पति, परिवार की सम्पत्ति में से अपना भाग ले अलग घर में रहने लगता है। सम्बन्धियों के मरने पर जो बचा रहता है, वह सम्पत्ति उसे मिलती है, अन्यथा वह सरकारी कोष में चली जाती है। मरने का सूतक मनाते हैं–बिना खाये, बिना बाल कटाये, सात दिन तक स्त्री-पुरुष रोते-कलपते हैं। बौद्ध भिक्षुओं और ब्राह्मण (ताव) पुरोहितों के साथ सम्बन्धी एकत्रित हो बाजे के साथ गान करते जलूस निकालते हैं। सुगंधित लकड़ी की चिता पर शव को फूँक दिया जाता है और चिता की राख सोने या चाँदी की डिबिया में रखी जाती है, जिसे नदी के बीच में फेंक दिया जाता है। गरीब लोग चित्रित तथा नाना प्रकार से अलंकृत मिट्टी की डिबियाँ काम में लाते हैं। कभी-कभी शव को जीवों के खाने के लिए पहाड़ पर भी रख दिया जाता है।"

उपर्युक्त वर्णन से मालूम होगा कि कम्बुज केवल नाम में ही भारतीय (कम्बोज) नहीं था, बल्कि अपनी संस्कृति में भी भारत का एक अंग था। उस समय वर्णाश्रम धर्म भारत की तरह ही वहाँ भी छाया हुआ था। लेकिन, आगे चलकर कम्बुज लोगों ने वर्णाश्रम-पक्षपाती धर्म को छोड़कर बौद्ध धर्म को स्वीकार किया, जो कि अब भी वहाँ का जातीय धर्म है, लेकिन शैवों या हिन्दुओं का उच्छेद अब भी नहीं हो सका है।

उस समय के कम्बोज में भारतीय सांस्कृतिक दूतों और विद्वानों का जाना-आना बराबर होता रहता था। 10वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कम्बुज में राजेन्द्र वर्मा (मृत्यु 968 ई.) का शासन था, जो कि कन्नोज के प्रतिहार राजा विजयपाल (960-1018 ई.) का समकालीन था, जिसके राज्य में प्रायः सारा उत्तरी भारत था। इसी समय मथुरा भी उसके अधीन एक प्रसिद्ध नगरी थी। भट्ट दिवाकर ने स्वयं मथुरा के बारे में लिखा है–"जहाँ सुन्दर कालिन्दी (यमुना) प्रवाहित होती है, छत्तीस हजार ब्राह्मणों द्वारा तीनों शाम गाये जाते ऋक्, यजु और साम की मंत्रध्वनि से जहाँ की सारी भूमि प्रतिध्वनित होती है, जहाँ कृष्ण ने कालिनाग का मर्दन किया, दैत्यों को मारा और बचपन से बालक्रीड़ा की, वहीं यह भट्ट दिवाकर पैदा हुए।" इससे मालूम होगा, कि मथुरा 10वीं शताब्दी में कृष्ण की जन्मभूमि के नाते पवित्र और प्रसिद्ध हो चुकी थी। दिवाकर शायद मथुरा के चौबे रहे हों, क्योंकि छत्तीस हजार की भारी संख्या में रहनेवाले वहाँ के ब्राह्मण आज के मथुरिया चौबों के पूर्वज ही हो सकते थे। भट्ट दिवाकर लेकिन अपने आज के वंशजों से कहीं अधिक उदार थे और कूपमंडूकता की जगह घुमक्कड़ी उन्हें ज्यादा पसन्द थी। 10वीं शताब्दी का आधा बीत चुका था, जब कि दिवाकर ने अपनी प्रिय जन्मभूमि से विदाई ली। वह विद्वान् थे। कम्बुज में उस समय संस्कृत विद्वानों की कदर बड़ी थी। लोग भारत के संस्कृत कवियों के काव्यों का आनन्द लेते थे। पाणिनि-व्याकरण वहाँ बड़े चाव से पढ़ा जाता था। संस्कृत के प्रति वहाँ के सामन्त और पुरोहित वर्ग का वैसा ही अनुराग था, जैसा आज के कम्बुजवासियों का पालि के प्रति। भट्ट दिवाकर स्थल और जल-मार्ग से नाना देशों का पर्यटन करते, अभी तरुण ही थे, जबकि राजेन्द्रवर्मा के शासनकाल में कम्बुज पहुँचे। राजेन्द्रवर्मा के पुत्र जयवर्मा पंचम के बारे में कहा जाता है, कि उसने "वर्णों और आश्रमों को दृढ़ आधार पर स्थापित करके भगवान् को प्रसन्न किया।" किन्तु "इस प्रसिद्ध राजा की कनिष्ठ भगिनी राजेन्द्र वर्मा की कन्या इन्द्रलक्ष्मी एक प्रख्यात ब्राह्मण (दिवाकर) की पत्नी थी, जिसने 890 शकाब्द (968 ई.) में प्रेम के साथ अपनी माँ की मूर्ति स्थापित की। भूपाल राजेन्द्रवर्मा के जामाता और राजा जयवर्मा के भगिनी-पति देवभट्ट दिवाकर थे, जिन्होंने मधुबन में तीन देवता स्थापित करके भद्रेश्वर के रूप में उनकी प्रतिष्ठा की। भद्रेश्वर को सुवर्ण और दूसरे बहुमूल्य रत्नों के एक यान, अद्भुत रत्न-आभूषण के साथ बहुत-सी भूमि, ताँबा, चाँदी, सोना, गाय, दास-दासी, भैंस, घोड़े, हाथियों को प्रदान किया। देव दिवाकर ने स्वयं आज्ञा दी, कि इस स्थान पर आनेवालों के भोजन के लिए प्रतिवर्ष 6 खारी चावल दिया जाए।"

इस प्रकार मालूम होगा कि देवभट्ट दिवाकर अपना पर्यटक-जीवन समाप्त करने के बाद एक वैभवशाली

सामन्त-पुरोहित के रूप में कम्बुज में बस गये। और शायद उनकी सन्तानें भी कम्वुज राजाओं की अगली पीढ़ियों में राजपुरोहित तथा वैवाहिक सम्वन्ध से राजवंश के साथ सम्वन्धित रहीं। यह स्पष्ट ही है कि कम्वुज में जहाँ तक रोटी-बेटी का सवाल था, ब्राह्मण-क्षत्रिय एक थे और केवल पिता की प्रधानता से वर्णाश्रम धर्म पालन किया जाता था।

कम्बुज राजा जयवर्मा सप्तम (1182 ई.) की प्रथम रानी जय-राजदेवी एक ब्राह्मण की लड़की थी, जिसे उसकी बहन पंडिता परम श्रद्धालु बौद्ध महिला इन्द्रदेवी ने धर्मग्रन्थ पढ़ाये थे। इसी रानी ने संस्कृत में एक प्रशस्ति स्वयं रची थी, जो शिलालेख पर उत्कीर्ण आज भी मौजूद है। उस समय कम्वोज ही नहीं, वर्मा (नरपति) देश में भी विद्वान् ब्राह्मण हुआ करते थे। भरद्वाज गोत्री हृषीकेश पंडित ने कम्वोज में वेदों का बहुत सम्मान सुनकर वहाँ की यात्रा की। जयवर्मा सप्तम ने उन्हें 'श्री जय महाप्रधान' की उपाधि दे राजपुरोहित बनाया। हृषीकेश पीछे भीमपुर के शिवालय की यात्रा करने गए, जहाँ उन्होंने एक शैव-कुल-कन्या श्रीप्रभा से ब्याह किया। श्रीप्रभा की द्वितीय कन्या 'चक्रवर्ती राजदेवी' की उपाधि से विभूषित हो जयवर्मा अष्टम की रानी बनी। श्रीप्रभा को छोटी बहन सुभद्रा का ब्याह ब्राह्मण 'अध्यापकाधिप' मंगालार्थ से हुआ, जिनका पुत्र महानाथ एक भारी वैयाकरण था, जिसे राजा जयवर्मा के शासनकाल में 'अध्यापकाधिप' की उपाधि से विभूपित किया गया था।

भट्ट दिवाकर के कुल में मथुरा में वर्णाश्रम-व्यवस्था कम्वुज की तरह उदार नहीं हो सकती थी, लेकिन पर्यटक कभी अनुदार नहीं हो सकता, इसलिए कालिन्दी, छत्तीस हजार वैदिक ब्राह्मणों और कृष्ण की बाल-लीलावाली भूमि का मधुर स्मरण करते हुए भी देवभट्ट दिवाकर अव कम्वुज के थे और अपनी विद्या और प्रतिभा से उन्होंने कम्बुज को समृद्ध करना अपने जीवन का लक्ष्य मान लिया था।

3
आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान

तिब्वत का भारत के साथ घनिष्ठ सांस्कृतिक संवंध स्थापित करने में जिन भारतीयों ने निःस्वार्थ भाव से काम किया, उनमें आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान का नाम प्रथम पंक्ति में आता है। उनका नाम बल्कि तिब्वत में जितना प्रसिद्ध है, उतना भगवान् बुद्ध और पद्मसंभव को छोड़ और किसी भारतीय का नहीं है। इसमें शक नहीं कि भारत से जानेवाले विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ आचार्य शान्तरक्षित तथा उनके शिष्य आचार्य कमलशील हैं, पर आचार्य दीपंकर भी असाधारण कोटि के विद्वान् थे और संस्कृत की अमूल्य निधियों को तिब्वती भाषा में सुलभ करनेवाले वह उपर्युक्त दोनों आचार्यों से भी बढ़-चढ़कर थे। कुछ थोड़े-से अपवादों को छोड़कर भारतीय नाम भी तिब्बत में अनुवाद करके बोले जाते हैं। दीपंकर श्रीज्ञान वहीं दूपल्. मर्.-जेंद. ये. शेस्. हो जाता है और शान्त-रक्षित शि. वन्. छो। पर तिब्बत के लोग आचार्य दीपंकर को जिस नाम से अधिक पुकारते हैं, वह है 'छोन्. जे. पल्. दन्' अतिशा (धर्मस्वामी श्री अतिशय) या केवल अतिशा।

आचार्य दीपंकर का जन्मदेश था : "भारत की पूर्व दिशा में सहोर। वहाँ मंगल नाम का बड़ा पुर है।··· जिसके अन्दर कांचनध्वज प्रासाद था। (इनके) पिता थे राजा कल्याणश्री–माता थीं श्री प्रभावती··· दोनों को एक पुत्र जल-पुरुष-अश्व वर्ष (मन्मथ संवत्सर, विक्रमाब्द 1039, सन् 982 ई.) में हुआ। उस प्रासाद से नातिदूर विक्रमपुरी नामक विहार था···" दीपंकर के तिब्बती में लिखे जीवनचरित से मालूम होता था कि वह भागलपुर के राजा के पुत्र थे और उनके पिता कल्याणश्री के महल से नातिदूर विक्रमशिला का विहार था। दीपंकर बंगाल में पैदा हुए थे या बिहार में, इस पर निर्मल शंकाएँ उठाई गई हैं। जिस पर जहाँ तक तिब्बती प्रामाणिक सामग्री का सम्बन्ध है, इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि वह भागलपुर में पैदा हुए थे। डेपुङ् विहार में छपे 'गुरुगुणधर्माकर' पुस्तक में लिखा है :

"भारत पूर्व दिशा सहोर देशोत्तम में भंगल नामक पुर है। उसके स्वामी धर्मराज कल्याणश्री··· (थे) प्रासाद कांचनध्वज। मनुष्यों के घर एक लाख (उस नगर में थे)। धर्मराजा की रानी श्री प्रभावती···उस प्रासाद की उत्तरदिशा में विक्रमपुरी (विक्रमशिला) है।"

वहीं की ज पोथी में के चौथे ग्रंथ 'भट्टारक दीपंकरश्रीज्ञानवृहतजीवनी', पृष्ठ 21-22 में लिखा है :

"श्री वज्रासन (बुद्धगया) की पूर्व दिशा में भंगल महादेश है। उस भंगल देश में बड़ा नगर है भिक्रमपुरी···" इस देश का नामान्तर सहोर है जिसके भीतर भिक्रमपुरी नामक नगर है।"

तिब्बती ग्रंथों से पता लगता है :

(1) सहोर भारत के पूर्व दिशा में एक देश था। आज भी सवोर परगना भागलपुर जिले में मौजूद है, जो पूरब में है।

(2) राजधानी भंगलपुर था, जो भागलपुर का ही रूपान्तर है।

(3 राजधानी से उत्तर में विक्रमशिला विहार था। यह स्थान सुल्तानगंज मालूम पड़ता है।

(4) विक्रमशिला गंगा के तट पर एक पहाड़ी पर अवस्थित था। सुल्तानगंज में आज भी अजगैबीनाथ और मुरली की दो पहाड़ियाँ मौजूद हैं, जिनमें पहिली गंगा के भीतर और दूसरी किनारे पर अवस्थित है।

982 ईसवी में पैदा हुए इस बालक के माता-पिता का उस समय के बौद्धजगत् में विख्यात विक्रमशिला विहार के साथ घनिष्ट सम्बन्ध था। परम्परा कहती है, कि पिता-माता अपने पुत्र को लिए 510 रथों के साथ विहार के दर्शन करने के लिए ले गये। राजा के तीन लड़के थे : पद्मगर्भ, चन्द्रगर्भ और श्रीग, जिनमें दीपंकर मँझले थे। ये मँझले चन्द्रगर्भ ही आगे चलकर अपने भिक्षु नाम दीपंकर श्रीज्ञान के नाम से प्रसिद्ध हुए। सभी उच्चकुलों, प्रभुताशाली कुलों में पैदा हुए बालकों की तरह चन्द्रगर्भ की लम्बी-लम्बी भविष्यद्वाणियाँ ज्योतिषियों ने कीं।

तीन वर्ष की आयु में चन्द्रगर्भ को पढ़ने के लिए बैठा दिया गया। बुद्धि तीव्र थी। ग्यारह वर्ष की आयु में लिखना-पढ़ना सीखकर गणित के अतिरिक्त व्याकरण को भी उन्होंने पढ़ा। कुमार चन्द्रगर्भ पिता–राजा के जेठे पुत्र नहीं थे, कि उन्हें गद्दी सँभालनी पड़ती। उस समय उच्च शिक्षा विहारों में ही अच्छी तरह मिलती थी, जिसके लिए संसार-प्रसिद्ध विक्रमशिला महाविहार उसी राज्य में राजधानी से बहुत दूर नहीं था, पर प्राचीनता और प्रभाव में अब भी नालन्दा आगे बढ़ा हुआ था। एक दिन कुमार घूमते हुए किसी पास के जंगल में निकले। पता लगा, पास ही में एक कुटिया में भिक्षु जितारि रहते हैं–कौन जितारि ? महा वैयाकरण और महापण्डित के नाम से सारे पूर्व में प्रसिद्ध। कुमार उनके दर्शन के लिए गये। जितारि ने पूछा–"तुम कौन हो ?"

"मैं देश के स्वामी का पुत्र हूँ !"

जितारि को इस कथन में कुछ गर्व की गन्ध मालूम हुई। और उन्होंने कहा–

"हमारा कोई स्वामी नहीं, दास नहीं, पालक नहीं, तू धरणीपति है, तो चला जा।"

अभी 84 सिद्धों का युग था। तिलोपा, नाडपा जैसे सिद्ध मौजूद थे। जितारि की गिनती यद्यपि 84 सिद्धों में नहीं हुई, पर वह विद्वान् होते हुए परम वैरागी थे, यह कुमार से छिपा नहीं था। वह बहुत नम्र हो बोले, कि मैं प्रवज्या (गृहत्याग) लेना चाहता हूँ। जितारि समझा, कि राजधानी के पास के विहार में भिक्षु बनकर रहने पर अभिमान नहीं जायेगा, इसलिए उन्होंने कुमार को नालन्दा में जाकर भिक्षु बन प्रव्रज्या लेने का परामर्श दिया।

बिना माता-पिता की आज्ञा के कोई बौद्ध परिव्राजक (भिक्षु) नहीं हो सकता। चन्द्रगर्भ को पिता-माता की अनुमति पाने में कम कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। अनुमति पाने के बाद वह कुछ अनुचरों के साथ नालन्दा जाते वहाँ के राजा से मिले, राजा ने पूछा–

"पास में विक्रमशिला जैसे महाविहार के रहते उसे छोड़ यहाँ क्यों आये ?"

कुमार ने नालन्दा की प्राचीनता और महत्त्व को बतलाया। राजा ने नालन्दा विहार में सिफारिश करके उनके लिए अच्छे आवास का प्रबन्ध कर दिया। राजकुमार नालन्दा के प्रसिद्ध वृद्ध-भिक्षु बोधिभद्र के पास गये।

पूरे 20 वर्ष के होने पर ही भिक्षु-दीक्षा पाने का अधिकार होता है, जिसके लिए अभी 8-9 वर्ष की देर थी। आचार्य बोधिभद्र ने उन्हें (श्रामणेर को) दीक्षा दे, काषाय चीवर पहना दीपंकर श्रीज्ञान नाम दिया। दीपंकर शाक्यमुनि से पहले एक बुद्ध हुए थे, जिन्होंने भविष्यवाणी की थी, कि यह पुरुष लक्षाब्दियों बाद बुद्ध होगा। नाम के साथ 'श्रीज्ञान' जोड़ने का मतलब था कि श्रामणेर से आगे पंडित होने की आशा की जा सकती थी।

बोधिभद्र के गुरु मैत्रीगुप्त उस समय अभी जीवित थे। उन्होंने पंडिताई छोड़ सिद्धों का मार्ग अनुसरण कर लिया था। उनकी सिद्धचर्या के कारण उन्हें लोग मैत्रीगुप्त की अपेक्षा मैत्रीपा, अद्वयवज्र या अवधूतिपाद के नाम से अधिक जानते थे। वह राजगृह में कुटिया में रहते थे। होनहार तरुण शिष्य को लेकर एक दिन बोधिभद्र अवधूतिपाद के पास ले गये। स्वीकार कर लेने पर वह अपने श्रामणेर को वहीं सिद्ध के पास अध्ययन के लिए छोड़ आये। दीपंकर 12 से 18 वर्ष की आयु तक अवधूतिपाद के पास पढ़ते रहे। यहाँ दीपंकर ने शास्त्रों का अच्छी तरह अध्ययन किया।

मंत्र-तंत्र और सिद्धाई के उस युग में उन्हें इन विषयों का नियमपूर्वक अध्ययन आवश्यक था। इसके लिए चौरासी सिद्धों में से एक नारोपा (नाडपाद या नरोत्तमपाद) से बढ़कर गुरु मिल नहीं सकता था। नारोपा सिद्ध होते हुए भी एक प्रकांड पंडित थे। उस वक्त के महाविहार विद्या के बड़े-बड़े केन्द्र थे, जहाँ प्रवेश पाने के लिए विद्यार्थियों को कठिन द्वार-परीक्षा पास करनी पड़ती थी। इसके लिए हरेक द्वार पर एक से एक महापंडित रहते थे। नारोपा विक्रमशिला के उत्तरी द्वार के द्वारपंडित थे। दीपंकर राजगृह से जा उनके पास 29 वर्ष की आयु तक 11 साल पढ़ते रहे। दीपंकर के अतिरिक्त प्रज्ञारक्षित, कनकश्री, मानकश्री भी नारोपा के पास पढ़ते थे, जो आगे चलकर बड़े-बड़े पंडित हुए। देश के ही नहीं, विदेश के भी प्रतिभाशाली छात्र नारोपा के पास शिक्षा ग्रहण करने के लिए आया करते थे। यह इसी से मालूम होगा कि तिब्बत के सबसे बड़े सिद्ध और महाकवि मिला रेपा के गुरु मरपा भी नोरापा के शिष्य थे।

विक्रमशिला की पढ़ाई समाप्त कर दीपंकर को सन्तोष नहीं हुआ। बज्रासन (बोधगया) महाविहार के प्रधान भिक्षु की विद्या की बड़ी ख्याति थी। उनका नाम तब तो कुछ और था, पर वह बज्रासनी पाद (दोजेदन्पा) के नाम से ही प्रसिद्ध थे। दीपंकर अब बज्रासन के मतिविहार में पहुँचे और वहाँ से महाविनयधर (विनयपिटक के महाविद्वान्) शीलरक्षित के पास जा उनको गुरु बना भिक्षु-दीक्षा प्राप्त की और दो वर्ष तक उनके पास विनयपिटक का अध्ययन करते रहे। 31 साल की उम्र हो जाने पर दीपंकर श्रीज्ञान शास्त्रों, तीनों पिटकों और तंत्रशास्त्र के पंडित हो चुके थे। पर अभी भी उनकी ज्ञानपिपासा शांत नहीं हुई थी।

सुवर्णद्वीप—वर्तमान सुमात्रा—के आचार्य धर्मपाल की उस समय सारे बौद्ध जगत् में ख्याति थी। भारत को एकतरफा जगद्गुरु होने का उस समय अमिथ्याभिमान नहीं था, यह इसी से मालूम होगा कि कलिकालसर्वज्ञ की उपाधि से विभूषित तथा चौरासी सिद्धों में से एक रत्नाकर शांति (शान्तिपा) आचार्य धर्मपाल के शिष्य रह चुके थे। तर्कशास्त्र के प्रख्यात पंडित ज्ञानश्रीमित्र और रत्नकीर्ति भी उन्हीं चरणों में बैठे थे। दीपंकर इन विद्वानों से विक्रमशिला में मिले थे। हो सकता है, वह आचार्य धर्मपाल के शिष्यों से भी बहुत कुछ पा सकते थे, पर उससे उनकी घुमक्कड़ी की लालसा तो पूरी नहीं हो सकती थी। बोधगया से विदा होकर वह समुद्रतट पर पहुँचे। सम्भवतः यह स्थान ताम्रलिप्ति (तमलुक, जिला मेदिनीपुर) था। यद्यपि तिब्बती भाषा में प्राप्त जीवनियों में दीपंकर श्रीज्ञान की भारत में और किसी यात्रा का वर्णन नहीं मिलता, पर सुमात्रा जाने से पहिले सारनाथ (ऋषिपतन), श्रावस्ती, कुसीनारा आदि के पुनीत स्थानों का दर्शन उन्होंने जरूर किया होगा। इस समय सम्भवतः मगध में विजयपाल (960-1018 ई.) और कन्नौज में महिपाल (992-1040 ई.) का शासन था। यही समय था, जबकि महमूद गजनवी ने (997-1030 ई.) भारत पर अनेक आक्रमण किये थे और कन्नौज, मथुरा, सोमनाथ, कालंजर उसकी लूट-खसोट से नहीं बच पाये थे। 1023 ई. में उसके अन्तिम हमले में सोमनाथ महमूद का शिकार बननेवाला था, जिससे दस साल पहिले दीपंकर अपनी इस समुद्र-यात्रा पर निकल रहे थे।

जहाज पर चढ़कर दीपंकर सकुशल सुवर्णद्वीप पहुँच गये। पर सुवर्णद्वीपीय आचार्य के पास सीधे न जा पहिले एक साल तक वह किसी एकान्त स्थान में निवास करते रहे। सुमात्रा में कुछ पुराने विहारों के ध्वंसावशेषों

के अतिरिक्त बौद्ध धर्म का कोई चिह्न बचा नहीं है, पर उस समय वह एक अच्छा बौद्ध-विद्याकेन्द्र था। भारत की ओर विद्याध्ययन के लिए आनेवाले चीन आदि के भिक्षु पहिले यहाँ कुछ समय रहकर संस्कृत पढ़ते थे, यह चीनी यात्रियों के उल्लेखों से चार सदी पहिले के उल्लेखों से ही हमें मालूम है। इस एकान्तवास के समय कितने ही भिक्षु उनसे आकर मिलते रहते थे। धीरे-धीरे लोग उनकी विद्वत्ता से परिचित हो गये और एक दिन अनायास ही दीपंकर श्रीज्ञान आचार्य धर्मपाल के पास पहुँच गये। इस अवसर के प्राप्त करने के लिए स्वर्णद्वीप पहुँचने में उनको 14 मास लगे थे। दीपंकर श्रीज्ञान आचार्य के पास 12 साल तक रहे। यद्यपि स्वर्णद्वीपीय के पास जिन ग्रंथों को उन्होंने पढ़ा, वह उनके लिए अपरिचित नहीं थे। उनमें से असंग का 'अभिसमयालंकार' और शान्तिदेव का 'बोधिचर्यावतार' अब भी मौजूद हैं। पर उस समय किसी महान् आचार्य के पास सविधि पढ़ने में बहुत समय लगता था। जेसे आज भी गंगेश उपाध्याय की 'तत्वचिंतामणि' के 8-10 पन्नों के पढ़ने में हमारे विद्वान् 12-12 साल लगा देते हैं। दर्शन के साथ-साथ शायद दीपंकर ने तंत्ररहस्य भी अपने गुरु से पढ़े।

44 वर्ष की परिपक्व वय में सुवर्णद्वीप से लौटकर दीपंकर श्रीज्ञान विक्रमशिला में आकर रहने लगे। वहाँ अपनी विद्वत्ता और योग्यता के कारण वह 51 पंडितों के मुखिया तथा 108 विहार-देवालयों के नायक बना दिए गये। उनके निर्माण में सिद्ध भूतकोटिपाद, शान्तिपाद और अवधूतिपाद का हाथ था। अवधूतिवाद सिद्ध डमरूपा के शिष्य और महासिद्ध-कवि कण्हपा के प्रशिष्य थे। कण्हपा के गुरु सिद्ध जालंधरपा चौरासी सिद्धों में मुख्य स्थान रखते हैं। इस प्रकार दीपंकर कोरे पंडित ही नहीं थे, बल्कि सिद्धों के घर की विद्या में भी पारंगत थे।

उस समय पूर्व भारत में नालन्दा, उडन्तपुरी (विहार शरीफ), बज्रासन और विक्रमशिला के चार सर्वश्रेष्ठ विहार थे, जिनमें पुरानों से भी आगे बढ़ा हुआ था विक्रमशिला महाविहार। गंगा के तट पर अवस्थित एक सुन्दर शैल को देखकर पलवंश के महाप्रतापी राजा धर्मपाल (869-815 ई.) इतने प्रभावित हुए, कि उन्होंने एक विहार बनवा दिया। आठवीं सदी के अन्त में बना यह विहार ढाई शताब्दियों बाद अब एक विशाल महाविहार का रूप ले चुका था, जिसमें नालन्दा से भी अधिक विदेशी विद्यार्थी अध्ययन के लिए आया करते थे। 108 पंडित और आठ महापंडित यहाँ शिक्षा प्रदान करते थे। रत्नाकर शान्तिविहार के अध्यक्ष (संघस्थविर) थे। उनको ले शान्तिभद्र, मैत्रीपा (अवधूतीपा), डोम्बीपा, स्थविरभद्र, स्मृत्याकरसिद्ध (कश्मीरी), और दीपंकर श्रीज्ञान आठ पंडितों में थे। विहार के मध्य में बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर का सुन्दर मंदिर था। इसके अतिरिक्त चक्कर में 53 और छोटे-छोटे देवालय थे, जिनमें तांत्रिक देव-देवियों की कलापूर्ण सुन्दर मूर्तियाँ स्थापित थीं। बाकी तीन महाविहार भी पाल-राज्य में ही अवस्थित थे, पर विक्रमशिला पर पाल-सम्राटों की विशेष भक्ति थी। चौरासी सिद्धों में अधिकांश पाल-काल (765-1200 ई.) में हुए और उनमें से अधिकांश का सम्बन्ध विक्रमशिला विहार से था। तिब्बती लेखकों के अनुसार विक्रमशिला के तांत्रिक सिद्धों ने तुरुष्कों को मार भगाने में अपने मंत्रबल का अनेक बार सफलतापूर्वक प्रयोग किया, पर इतिहास बतलाता ही है कि उनकी सफलता भारत को तुर्कों के हाथ में जाने से नहीं बचा सकी।

सातवीं सदी के मध्य में तिब्बती सम्राट् स्रोंग चन् गम्बो (629-50 ई.) ने तिब्बत के विशाल साम्राज्य को स्थापित करते वहाँ बौद्धधर्म का आवाहन किया। नवीं सदी के मध्य में साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर उसी वंश के राजकुमार मिगोन् ने पश्चिमी तिब्बत में जाकर मानसरोवर से लदाख तक फैले राज्य को स्थापित किया। मरने से पहिले उसने अपने राज्य–स्वभुजोपार्जित राज्य–को अपने तीन बेटों से बाँट दिया। द्पल् ग्यि ल्दे को लद्दाख मिला, ट्शी ल्दे को पुरंग् (स्पु रड स) और दे-चुग्-गोन् को गूगे (शङ्-शुङ्)। गूगे के राजा बौद्धधर्म के प्रचार में विशेष उत्साह रखते थे, यह इसी से मालूम होगा, कि ल्देचुग् के ज्येष्ठ पुत्र खोर ल्दे (चक्रसेन) और उसके पुत्र नागराज अपने चचा स्रोङ् ल्दे को राज्य देकर भिक्षु बन गये। भिक्षु बनने पर चक्रसेन का नाम येशे ओद्

(ज्ञानप्रभ) पड़ा। इस समय तिब्बत के बौद्धधर्म में बहुत शिथिलता आ गई थी। भिक्षुओं ने धर्म-ग्रन्थों का पढ़ना छोड़ दिया था। वर्षावास के तीन महीनों को छोड़ वह भिक्षुओं के नियमों का पालन करने की आवश्यकता नहीं समझते थे। तांत्रिक लोग मद्यपान और मुक्त व्यभिचार को परम सिद्ध-चर्या समझते थे। विहारों के अधिकारी भड़कीली पोशाक पहनकर अपने को अर्हत् (मुक्त पुरुष) घोषित करते फिरते थे। ज्ञानप्रभ ने धर्मग्रन्थों को स्वयं पढ़ा था, और बुद्धिवादी होते भी उनकी बुद्धधर्म पर बड़ी आस्था थी। उनको अपने पूर्वजों से यह भक्ति मिली थी। यद्यपि तिब्बत में बौद्धधर्म का प्रचार उस समय हुआ था, जवकि भारत घोर तांत्रिक युग में प्रवेश कर रहा था। ज्ञानप्रभ के समय तंत्रवाद ने भारत के सभी धर्मों को ग्रस लिया था, तो भी ज्ञानप्रभ का उस पर विश्वास न था। उन्होंने मंत्र-तंत्र के विरुद्ध एक पुस्तिका लिखी थी, जिसके कारण आज भी तिब्बत के तांत्रिकों का विश्वास है, कि देवगुरु ज्ञानप्रभ नरक में गये। ज्ञानप्रभ ने अपने अकेले प्रयत्न को पर्याप्त नहीं समझा, और उन्होंने 21 होनहार तिब्बती बालकों को दस साल तक देश में अच्छी तरह शिक्षा दिलाने के बाद उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए कश्मीर भेजा, जहाँ वह पंडित रत्नभद्र के साथ पढ़ते रहे। कश्मीर काफी ठंडा प्रदेश है, तो भी मानसरोवर के अतिशीतल स्थान के वासी इन तरुणों को वह अनुकूल नहीं आया, और रत्नभद्र (रिन्-छेन् सङ्-पो) तथा सुप्रज्ञ (लेग्स्. पड् शे-रव्) को छोड़ सभी वहीं मर गये।

रत्नभद्र तिब्बत के महान् लोचवा (दुभापिया पंडित) माने जाते हैं, उनके विद्या प्राप्त कर लौटने से देवगुरु ज्ञानप्रभ को बड़ी प्रसन्नता हुई, पर सुधार का जो बड़ा काम करना था, वह उनके मान का नहीं था। देवगुरु ने सोचा—भारत जैसे गरम देश में ठंडे देश के आदमियों का रहकर पढ़ना कठिन है, अच्छा होगा, यदि भारत का कोई विद्वान् आकर यहाँ काम करे। पश्चिमी तिब्बत के भी विद्यार्थी भारत के महाविहारों में पढ़ने आया करते थे। उनसे मालूम हुआ, कि विक्रमशिला महाविहार में दीपंकर श्रीज्ञान नाम के एक महान् विद्वान् हैं। ज्ञानयश ने बहुत-सा संवल देकर अपने कुछ आदमियों को विक्रमशिला भेजा, पर दीपंकर ने उस समय जाना स्वीकार नहीं किया।

ज्ञानयश इस खबर से हताश नहीं हुए। उन्होंने फिर दूत भेजने का निश्चय किया। पर उसके लिए पर्याप्त धन नहीं था। गर्लोग् प्रदेश में वह सोना जमा करने गये। यह प्रदेश कहाँ था, यह मालूम नहीं, पर यदि उससे सोने की खानों से मतलब है, तो वह मानसरोवर के उत्तर में गर्तोग् के पास अब भी है। गढ़वाल का भी नाम गढ़ देश है और यह दोनों पड़ोसी एक-दूसरे पर लूट-मार किया करते थे। उसे भी गर्-लोग् कह सकते हैं। आशा यही रखनी चाहिए, कि देवगुरु ज्ञानप्रभ कोई लूट-पाट का अभियान नहीं ले गये थे। जो भी हो, गर्लोग् के राजा ने उन्हें पकड़ कर जेल में डाल दिया और मुक्त करने के लिए भारी रकम माँगी। पिता के पकड़े जाने की खबर सुनकर देवगुरु बोधिप्रभ (ब्यङ्, छुब्, ओद्) काफी धन जमा कर छुड़ाने के लिए गये। धन कम पड़ जाने पर और लाने से पहिले वह कारागार में ज्ञानप्रभ से मिले। उन्होंने मना करते हुए कहा—"तुम जानते हो, मैं बूढ़ा हूँ। यदि तत्काल न मरा, तो भी दस बरस से अधिक जीना मेरे लिए संभव नहीं है। धन-सोना दे देने पर भी हम भारत से पंडित बुला नहीं सकेंगे। कितना अच्छा होगा, यदि धर्म के लिए मेरा मरण यहीं हो, और तुम सारा सोना भारत भेजकर वहाँ से पण्डित को बुला मँगाओ। राजा का भी क्या विश्वास है कि वह सोना पाकर भी मुझे छोड़ देगा इसलिए पुत्र, मेरी चिन्ता छोड़ो और सोना देकर आदमियों को अतिशा के पास भेजो। भोट देश में धर्म का काम करने तथा मेरी इस दशा को जान कर वह अवश्य हमारे देश पर कृपा करेंगे। यदि वह किसी कारण नहीं आ सके, तो उनके नीचे के किसी दूसरे पण्डित को बुलाना।" यह कहकर देवगुरु ज्ञानयश ने पुत्र के ऊपर हाथ फेर आशीर्वाद दिया। पुत्र ने अंतिम विदाई ली।

देवगुरु (ल्ह बूल. म) उस समय राजवंशी भिक्षुओं को कहते थे। देवगुरु बोधिप्रभ ने भारत भेजने के लिए आदमी ढूँढ़ने शुरू किये। उपासक गुङ् थङ्. पा पहिले भी भारत में दो वर्ष रह आया था। देवगुरु ने उसे इस काम पर नियुक्त किया। उसने नग्. छो निवासी भिक्षु छुल्. ठित्म्. ग्थ्ल्. वा (शीलविजय) तथा कुछ दूसरे आदमियों को साथ लिया। कुल दस आदमी नेपाल के रास्ते सीधे विक्रमशिला पहुँचे। दीपंकर श्रीज्ञान अतिशा के प्रिय शिष्य ने अपने गुरु के जीवन चरित 'गुरुगुणधर्माकर' में कितनी ही बातें बड़े सुन्दर रूप से

वर्णित की हैं। उसने लिखा है : जिस समय ये दसों आदमी गंगा के घाट पर पहुँचे, तो सूर्यास्त हो चुका था। मल्लाह फिरकर आने की बात कहकर भरी नाव को परले पार उतारने गया। देर होने से तिब्बती यात्रियों को सन्देह होने लगा, कि वह अब शायद नहीं आयेगा। डर के मारे उन्होंने पास के सोने को बालू में दबा दिया और वहीं रात बिताने का इन्तजाम करने लगे। थोड़ी ही देर में मल्लाह आ गया। यात्रियों ने कहा—"हम तो समझे, तुम अब नहीं आओगे।"

"तुम्हें घाट पर छोड़ मैं राजनियमों का कैसे उल्लंघन कर सकता हूँ !"

नाव पर चढ़ाकर उसे आगे बढ़ाते मल्लाह ने उन्हें बतलाया—"इस वक्त फाटक बन्द हो गये होंगे। आप लोग पश्चिम फाटक के बाहर जो धर्मशाला है, वहीं रात को विश्राम करें, सवेरे फाटक खुलने पर भीतर जायें।"

यात्री पश्चिमी फाटकवाली धर्मशाला में पहुँचे और वहाँ रात को सोने का प्रबन्ध करने लगे। फाटक के ऊपरवाले कोठे पर भोट भिक्षु गूय निवासी भिक्षु चोन्. सेङ् (विक्रमसिंह) रहते थे। उन्होंने अपनी मातृभाषा में लोगों को बातचीत करते सुना। पूछने पर यात्रियों ने अपना परिचय देते आने का उद्देश्य बतलाया। विक्रमसिंह का ग्राम गूप आजकल लदाख से कुल्लू के रास्ते पर अन्तिम गाँव है जो आजकल उजड़ा पड़ा है। अतिशा को लाने की बात सुनकर विक्रम ने सलाह दी—"अभी अतिशा के ले जाने की बात न करके आप लोग कहें, कि हम पढ़ने के लिए आये हैं, नहीं तो बात मालूम हो जाने पर अतिशा का ले जाना कठिन हो जायेगा। अवसर देखकर मैं आप लोगों को अतिशा के पास ले चलूँगा, फिर जैसा वह कहें, वैसा करना।"

यात्रियों के विक्रमशिला पहुँचने के चन्द दिनों बाद पंडितों की एक सभा हो रही थी। विक्रमसिंह उन्हें पंडितों को दिखलाने के लिए ले गये। वहाँ उन्होंने विक्रमशिला के पंडितों तथा अतिशा के नीचे के पंडितों—रत्नकीर्ति, तथागतरक्षित, सुमतिकीर्ति, वैरोचनरक्षित, कनकश्री आदि को देखा। उन्हें मालूम हो गया कि पंडित-मंडली में अतिशा कितने अतिशय सम्मान के भाजन हैं।

कुछ दिनों बाद अवसर देखकर विक्रमसिंह अपने देशवासियों को अतिशा के पास ले गये। उन्होंने अतिशा का अभिवादन कर सारा सोना उनके सामने रख दिया और राजभिक्षु ज्ञानप्रभ की करुण कहानी सुनाई। दीपंकर उसे सुनकर बहुत प्रभावित हुए और बोले—"निस्सन्देह ज्ञानप्रभ बोधिसत्त्व थे, जिन्होंने धर्म के लिए इतना उत्सर्ग किया। मैं उनकी कामना को अपूर्ण नहीं करूँगा। किन्तु तुम जानते हो, मेरे ऊपर 108 विहार-देवालयों का भार है तथा और भी बहुत-से काम हैं। उनसे छुट्टी लेने में 18 महीने लगेंगे, तब मैं चल सकूँगा। अभी यह सोना अपने ही पास रक्खो।"

भोट-यात्री अतिशा के वचन और बर्ताव से बहुत प्रसन्न हुए और पढ़ाई का बहाना करके वहीं रहने लगे। अतिशा भी अपनी तैयारी में लगे···इस समय उनकी आयु 57-58 वर्ष की थी पर आयु उनके लिए कोई बाधा नहीं उपस्थित कर सकती थी। सन् संभवतः 1039 या 1040 का था। समय पा अतिशा ने महाविहार के मुख्यनायक (संघस्थविर) रत्नाकरशान्ति से सारी बात कही। वह भला ऐसे योग्य पंडित से अपने को कैसे वंचित कर सकते थे ? उन्होंने गुङ्-थङ् पा और उनके साथियों से कहा—"भोट आयुष्मान्, आप लोग अपने को पढ़ने के लिए आया कहते हैं ? क्या आप लोग अतिशा को ले जाने के लिए नहीं आये हैं ? इस समय अतिशा भारतीयों की आँख हैं, देख नहीं रहे हो, पश्चिम दिशा में तुरुष्कों का उपद्रव हो रहा है, यदि इस समय अतिशा चले गये, तो भगवान् का धर्मसूर्य भी यहाँ से अस्त हो जायेगा।"

यद्यपि इससे दस साल पहले (1029 ई.) महमूद का देहान्त हो चुका था, पर पंजाब पर अब गजनवियों का अधिकार था। इस्लाम मध्य एशिया से बौद्ध धर्म का प्रायः उच्छेद कर चुका था। महमूद का पुत्र मसउद (1030-40 ई.) कन्नौज के ऊपर हर समय प्रहार करने की कोशिश कर रहा था। इन भीषण संघर्षों में सैकड़ों बौद्ध विहार नष्ट हो गये, हजारों की संख्या में भिक्षु शरणार्थी हो भारत के विहारों में रह रहे थे। लाखों स्त्री-पुरुष घर से बेघर हो मारे-मारे फिर रहे थे।

बड़ी कठिनाई से संघस्थविर ने अतिशा को तिब्बत जाने की अनुमति दी। अतिशा ने सोना मँगवाकर उसमें से एक चौथाई पंडितों को, दूसरा चौथाई बज्रासन (बोध गया) की पूजा के लिए, तीसरा चतुर्थांश संघस्थविर

रत्नाकर शान्तिपाद के हाथों में महाविहार के लिए और चौथा भाग दूसरे कामों के लिए राजा के हाथ में दे दिया। फिर उन्होंने कुछ भोट जनों के साथ अपने कुछ आदमियों को नेपाल भेज दिया। अव ग्यनिवासी लोचवा आदि ग्रश्र अ 12 आदमियों के साथ कुल 12 आदमी बोधगया की ओर चले। भारत छोड़ने से पहिले अंतिम बार उस स्थान का दर्शन कर लेना आवश्यक था, जहाँ सिद्धार्थ गौतम बुद्ध हुए थे।

बज्रासन और कितने ही और तीर्थस्थानों का दर्शन करते दीपंकर पंडित, और क्षितिगर्भ आदि के साथ अतिशा बीस आदमियों की मंडली के साथ भारत की सीमा के पास एक छोटे-से विहार में पहुँचे। इस समय की स्थिति के बारे में डोम्-तोन्-पा लिखता है : "स्वामी के भोट-प्रस्थान के समय भारत में (बुद्ध) शासन अस्त होनेवाला सा था।" भारत की सीमा के पास अतिशा को कुतिया के तीन अनाथ बच्चे दिखाई पड़े। वृद्ध भिक्षु के हृदय में अपार दया उनके प्रति उमड़ आई। उन्हें उन्होंने अपने चीवर में उठा लिया। कहते हैं, आज भी उन कुत्तों की नसल डांङ् प्रदेश में वर्तमान है।

सीमा पार हो अतिशा की मंडली नेपाल-राज्य में प्रविष्ट हुई और धीरे-धीरे वह नेपाल-राजधानी में पहुँची। इस समय संभवतः नेपाल में ठकुरी वंश का राजा जयकामदेव शासन कर रहा था⋯राजा ने उनका बहुत सम्मान किया और उन्हें अपने देश में रहने के लिए बहुत आग्रह किया, जिसको अतिशा सहसा अस्वीकार नहीं कर सकते थे और वह वहाँ एक वर्ष (1941 ई.) रहे। इसी समय राजवंश के एक कुमार ने उनसे भिक्षु-दीक्षा ली।

नेपाल से ही आचार्य ने पालवंशी राजा नयपाल (1040-55 ई.) को एक पत्र लिखा था, जो आज भी अपने तिब्बती अनुवाद के रूप में तन्-जुर् संग्रह (मृदो-ग्रेल, डे, 33) में 'विमल-रत्नलेख' के नाम से सुरक्षित है। (स्थविरमहापंडितदीपंकरश्रीज्ञानेन प्रेषितो विमल-रत्नलेखो नाम)। तिब्बती अनुवादों के रूप में भारतीय बौद्ध आचार्यों के ऐसे कितने ही पत्र सुरक्षित हैं, जैसे–

आचार्य	किसको	नाम	समय	तन्-जुर्
नागार्जुन	उदायिभद्र (शातवाहन)	सुहृल्लेख	ई. 2री सदी	गि. 32. डे. 27
चन्द्रगोभी	वीररत्नकीर्ति	शिष्यलेख	ई. 6ठी सदी	गि. 33, डे. 28
मातृचेट	कनिष्क	महाराज कनिष्क.	ई. 1ली सदी	गि.. 34, डे. 29
जितारि	-	चित्तरत्न-विशोधनक्रम	ई. 11वीं सदी	गि. 31, डे. 30
गुरु. बोधिभद्र (सोमपुरी)	बोधिभद्र -	गुरुलेख	ई. 11वीं सदी	डे. 31
सज्जन	सूक्ष्मज्ञान	पुत्रलेख	ई. 11वीं सदी	डे. 32
दीपंकर श्रीज्ञान	नयपाल	विमलरत्नलेख	ई. 11वीं सदी	गि, 103, डे. 33
जगत्मित्रानन्द	जयचन्द्र	चन्द्रराजलेख	ई. 12वीं सदी	- डे. 34

तिब्बत में (1042-54 ई.)–नेपाल से आगे अब आचार्य की मंडली थुङ्. विहार में पहुँची, तो लोचवा (दुभाषिया आचार्य) विक्रमसिंह बीमार पड़ गये। बहुत उपचार किया गया, पर वह बच न सके। इससे अतिशा को बहुत दुःख हुआ। वह निराश होकर कहने लगे–"जब लोचवा ही नहीं रहे, तो मेरा भोट जाना बेकार है।" शीलविजय आदि दूसरे लोचवा लोगों ने उन्हें समझाया। मानेपाल की सीमा पार कर जैसे आचार्य गूँगे प्रदेश में दाख़िल हुए, देवगुरु बोधिप्रभ का स्वागत तैयार था। सब जगह ऐसा प्रबन्ध किया गया था, कि आचार्य और उनकी मंडली को कोई कष्ट न हो। भोटवासी जनसाधारण भी उन भारतीय आचार्य के प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति दिखलाने में कोई कसर उठा रखना नहीं चाहते थे। जल-पुरुष अश्व वर्ष (चित्रभानु, 1042 ई.) में ङ री (मानसरोवर प्रदेश) में पहुँचे। राजधानी थो. लिङ्. में पहुँचने से पहिले ही राजा अगवानी के लिए आया और बड़े सत्कार के साथ उन्हें थो. लिङ्. विहार में ले गया, जिसे दिवंगत ज्ञानप्रभ ने बनवाया था। 9 महीने आचार्य ने इसी

विहार में रहते धर्मोपदेश किये, कितने ही ग्रन्थों के अनुवाद किये, और अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बोधि-पथप्रदीप' को यहीं लिखा, जो तिब्बती अनुवाद में अब भी मौजूद है। ङ, री प्रदेश में आचार्य 3 वर्ष रहे। फिर वह द्रम-पुरुष-वानर (हेमलम्ब, 1044 ई.) वर्ष में मानसरोवर के पूर्वावाले पुरङ्. (स्पु. रङ्. स्) गये। यहीं उनका सबसे प्रिय और अनुरक्त शिष्य डोम. तोन्. पा आक गुरु से मिले, जो तब से अतिशा की मृत्यु के समय (1054 ई.) तक छाया की तरह साथ रहे और 'गुरुगुणधर्माकर' के नाम से उनका चरित लिखा।

आचार्य का कार्यक्षेत्र सर्वत्र था। लोग उनका उपदेश सुनने के लिए दूर-दूर से आते और अपने यहाँ आने का निमंत्रण देते। आचार्य भी थोड़ा-थोड़ा ठहरते बराबर विचरते रहते। तिब्बती भाषा पर अन्त तक उन्होंने साधारण भी अधिकार प्राप्त नहीं किया। डले और शिला का पर्याय ठीक से न जानने के उनके ऊपर लोगों के मजाक अब भी मशहूर हैं। पर अतिशा के पास इतना समय कहाँ था। विचरते हुए, धर्मोपदेश करते हुए भी उन्हें ग्रन्थ लिखने पड़ते, कितने ही महत्त्वपूर्ण संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद करना पड़ता। भाषा का अच्छा ज्ञान न होना उनके लिए बाधक नहीं था, क्योंकि उनके पास एक से एक दुभाषिया-पंडित (लोचवा) मौजूद थे। देवगुरु महालोचवा द्वारा काश्मीर द्वारा भेजे गये तथा वहाँ से संस्कृत भाषा और शास्त्रों के पंडित होकर लौटे। महालोचवा रत्नभद्र (लो. छेन रिन्. छेन्. बूराङ्. पो) ने पहिले अपनी पंडिताई के घमंड में आचार्य का अच्छी तरह सत्कार न किया, पर पीछे उनके पांडित्य और सुन्दर बर्ताव से इतने प्रभावित हुए, कि वह भी उनके अनुरक्त हो गये और कितने ही ग्रन्थों के अनुवाद करने में उनके सहायक रहे।

अपने तेरह वर्ष के भोटप्रवास के अंतिम जीवन में आचार्य ने तीन वर्ष ङरङ. ङरङ. री में, चार वर्ष मध्य तिब्बत में और छह वर्ष थङ्. में बिताये। मध्य तिब्बत के सम्-ये विहार में वह अग्नि-पुरुष-शूकर (1047 ई.) वर्ष में पहुँचे। वहाँ यह तिब्बत का प्रथम विहार था, जिसे भारतीय आचार्य शान्तरक्षित ने सम्राट् ठी. स्रोङ्. दे. चन् के समय (755-80 ई. में) स्थापित कर प्रथम बार भोट कुलपुत्रों को भिक्षु बनाया था। यहाँ सैकड़ों संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद हुए थे और पुस्तकालय तो इतना विशाल था, जिसे देखकर आचार्य चकित हो गये। वहाँ उन्होंने कुछ ऐसे भी ग्रन्थ देखे, जो उस समय भारत के विहारों में भी दुर्लभ थे। पीछे आग लग जाने से यह सारा विहार जल गया, जिसे फिर से 13वीं सदी के पूर्वार्ध में वं. लोचवा दोले. ट्पल् (ब्रज्रश्री) ने फिर से बनवाया।

तिब्बत में जहाँ-जहाँ आचार्य दीपंकर गये, वहाँ-वहाँ अब भी उनकी स्मृतियाँ सुरक्षित हैं। ल्हासा में उनका स्मारक स्थान मौजूद है। 1050 ई. (लोह पुरुष-व्याघ्र, विकृत संवत्सर) में येर्. वा में रहे, जो ल्हासा से केदिने के रास्ते पर उत्तर-पूर्व में है। यहीं 1051 ई. में उन्होंने 'कालचक्र' पर अपनी टीका लिखी। ल्हासा से दक्खिन एक दिन के रास्ते पर थङ्. उनका अंतिम निवासस्थान बना, जहाँ द्रुम-पुरुष-अश्व वर्ष (1054 ई.) के आठवें चान्द्र मास की 18वीं तिथि को इस महान् पुरुष ने 73 वर्ष की आयु में अपना शरीर छोड़ा। अपनी पहिली तिब्बत-यात्रा के समय 25 अप्रैल को इन पंक्तियों का लेखक थङ्. के उस डोल्मा, ल्ह. खङ्. (तारादेवालय) में गया, जहाँ आचार्य का निर्वाण हुआ था। उस समय उसके बारे में लिखा था—अन्य प्राचीन महत्त्वपूर्ण स्थानों की भाँति यह स्थान भी उपेक्षित है। मकान जीर्ण-शीर्ण हैं। भीतर तारादेवालय है, बाहर मोटे-मोटे लाल चन्दन के खम्भे लगे हैं। उनकी खुरखुरी-खुरदरी शक्ल ही बता रही थी कि वह आठ-नौ सौ वर्षों से कम पुराने नहीं हैं, वहाँ सारी ही मंडली लड़कों की थी। पुजारी साधु भी लड़का, और आस-पास के दूसरे भी लड़के। मैंने दो-चार आने पैसे बाँट दिए। फिर क्या था, बड़े उत्साह से हरेक चीज दिखाई जाने लगी⋯मन्दिर के भीतर दीपंकर की इष्ट 21 तारादेवी की सुन्दर मूर्तियाँ स्थापित हैं। उसी मन्दिर में बाईं ओर एक लोहे के पिंजड़े में महागुरु दलाईलामा की मुद्रा के भीतर बन्द दीपंकर का भिक्षापात्र, दंड और तांबे का धर्मकरक (लोटा) रक्खा है। भीतर ही कुछ चाँदी के सिक्के और अनाज रक्खे हैं। मन्दिर के भीतर पीछे की ओर तीन पीतल के स्तूप हैं, जिनमें से एक में दीपंकर का पात्र, दूसरे में सिद्ध कारोपा का हृदय और तीसरे में दीपंकर के शिष्य डोम्. तोन्. जिनाकर (1003-64 ई.) का वस्त्र रक्खा है, बतलाया जाता है।

आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान की कृतियाँ मूल भाषा में लुप्त हो चुकी हैं। उनके हाथ की एक तालपोथी का

ल्हासा के उत्तर चार दिन के रास्ते पर रेडिङ्. विहार में होने का पता लगने पर मैं वहाँ 1934 की दूसरी यात्रा में पहुँचा था, पर वह नहीं देखी जा सकी। उनके साथ गये कुछ चित्रपट भी वहाँ अवश्य थे, पर उनका निश्चय करना उस समय संभव नहीं था। धर्म और दर्शन पर 35 तथा तंत्र पर छोटे-मोटे 70 से अधिक ग्रन्थ उन्होंने लिखे, जो तिब्बती अनुवाद (तन्-जुर् संग्रह) में सुरक्षित हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से और संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद उन्होंने लोचवा लोगों की सहायता से किया, जिनमें 9 ग्रन्थ कन्-जुर् में हैं, 51 तन्. जुर् में (सूत्र-टीका में 21 और तंत्रटीका 30)। उनके अनुवादों में दर्शन के कितने ही गंभीर ग्रन्थ हैं, जैसे–

ग्रंथनाम	लेखक	लोचवा
मध्यमकरत्नप्रदीप	भाव्य	ग्र्य चोन्. ग्रुस्. सेड्. गे (विक्रमसिंह)
मध्यमकहृदय कारिका	भाव्य	नग्. छो छुल. खिम्स्, ग्यल्. वा (शीलजय) ल्हासा में
मध्यमक-वृत्ति कारिका वृत्ति	भाव्य	नग्. छो छुल. खिम्स्, ग्यल्. वा (शीलजय) ल्हासा में
मध्यमकार्थसंग्रह	भाव्य	नग्. छो छुल. खिम्स्, ग्यल्. वा (शीलजय) ल्हासा में
मध्यमकभ्रमघात (?)	आर्यदेव	नग्. छो छुल. खिम्स्, ग्यल्. वा (शीलजय) ल्हासा में
पंचस्कंधप्रकरण	चन्द्रकीर्त्ति	नग्. छो छुल. खिम्स्, ग्यल्. वा (शीलजय) ल्हासा में
रत्नकरंडोद्घाट	दीपंकरश्रीज्ञान	र्ग्य लोचवा और शीलजय
शिक्षासमुच्चया भिसमय	सुवर्णद्वीपीय धर्मपाल	शीलजय
बोधिपथप्रदीप	दीपंकरश्रीज्ञान	शु. द्गे. वह ब्लो. ग्रोस्
बोधिपथ पंजिका	दीपंकरश्रीज्ञान	शीलजय (जयशील)
महासूत्रसमुच्चय	दीपंकरश्रीज्ञान	जयानन्द और प. छब्. म. ग्रग्स्

कई हजार भारतीय पुस्तकों का अनुवाद तिब्बती भाषा में सुरक्षित है, पर उनके मूल हमारी भाषा में एकाध सौ से अधिक नहीं मिलते। तिब्बत में 100 से अधिक ताल-पोथियाँ इन प्रतियों के लेखक के देखने में आईं, उससे भी अधिक पोथियों के वहाँ मिलने की आशा है। आज की तिब्बती सरकार इन सांस्कृतिक निधियों के महत्त्व को समझती है। आशा है, दीपंकरश्रीज्ञान के देशभाई इस कार्य में तिब्बती विद्वानों की सहायता करेंगे।

4
तिब्बत पर्यटक नैनसिंह

इसमें शक नहीं कि हमारा देश सहस्राब्दियों से बड़े-बड़े पर्यटकों की जन्मभूमि रहा है। इन्हीं के बल पर हमारे देश ने दुनिया में धर्म-विजय की और अपना सन्देश दूर-दूर की सभ्य ही नहीं, असभ्य जातियों तक पहुँचाया। लेकिन हमारी यह कमजोरी रही, कि हमने, हमारे पर्यटकों ने, यात्रा-साहित्य-सृजन का कोई काम नहीं किया और न उन्होंने वैज्ञानिक ढंग से भूगोल-सम्बन्धी अनुसन्धानों का ही सूत्रपात किया। जब पश्चिम से हमारा सम्पर्क हुआ, भारत के ऊपर अंग्रेजों ने अपनी विजय-ध्वजा गाड़ दी, तो उन्हें देश के परिचय के लिए भूगोल और नक्शों के तैयार करने की आवश्यकता पड़ी। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही उन्होंने इस काम में हाथ लगा दिया, और उस समय के रेनल के नक्शों को देखकर आश्चर्य और श्रद्धा दोनों के भाव उत्पन्न होते हैं। भारत के भीतर जिस तरह अंग्रेजों का राज्य बढ़ता गया, उसी के अनुसार भूगोल-सम्बन्धी बातों के मालूम करने तथा नक्शा बनाने में उनको सुभीता होता गया। लेकिन 19वीं शताब्दी के मध्य में पहुँचते-पहुँचते अंग्रेजों के साम्राज्य-विस्तार की लालसा खत्म नहीं हो गई, बल्कि अब उन्होंने भारत से आगे बढ़ने के लिए हाथ-पैर मारना

शुरू किया। भारतीयों को चाहे इसका पता न हो, लेकिन अंग्रेज जानते थे कि जिस समय उन्होंने पलासी की लड़ाई जीतकर भारत पर अपना झंडा गाड़ा, उसी समय रूस सारे साइबेरिया को रौंद चुका था। सन् 57 के गदर से पहले उन्हें इस बात का बड़ा डर था, कि असन्तुष्ट सिक्ख और दूसरे राजा रूस से गठबन्धन करके कहीं उन्हें निकालने की कोशिश न करें, इसीलिए वह जानना चाहते थे, कि भारतवर्ष के उत्तर में रूस की राज्य-सीमा तक और कौन-कौन-से देश हैं और वहाँ हाथ-पैर बढ़ाने में हमें किस लाभ की आशा है। इसी ख्याल से उन्होंने तिब्बत और मध्य एशिया के सम्बन्ध में भौगोलिक जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न शुरू किया।

अंग्रेजों और दूसरे भी यूरोपीय राज्यों के कारनामों से एशिया के लोग चौंक उठे थे और किसी को उनसे अपनी खैरियत की आशा नहीं थी। अंग्रेज स्वयं एशिया के इन देशों में गुपचुप नहीं जा सकते थे, क्योंकि अपने रंग और चेहरे के कारण वह छिपे नहीं रह सकते थे। पकड़े जाने का मतलब प्राण से हाथ धोना या जेल में बन्द होना था। उन्होंने इसके लिए भारतीयों को इस्तेमाल किया। यह बड़े खतरे की बात थी, क्योंकि अंग्रेजी गुप्तचर भारतीय का पता पा जाने पर उनके साथ जरा भी दया नहीं दिखला सकते।

नेपाल-युद्ध (1814-15 ई.) के बाद हिमालय के भीतर तिब्बत की सीमा तक अंग्रेजों का राज्य पहुँच गया। कुमाऊँ, गढ़वाल, कनौर वाले लोग सहस्राब्दियों से पश्चिमी तिब्बत के साथ व्यापार करते चले आये थे और उनमें से नेलंग, कनौर आदि के निवासी उसी बौद्ध धर्म के माननेवाले थे, जिसका तिब्बत में प्रचार है। उनके लिए तिब्बत में कहीं भी जाना मुश्किल नहीं था। सैकड़ों की तादाद में गंगोत्री से लद्दाख तक के अंग्रेजी इलाके के भिक्षु तिब्बत के डेपुङ्, सेरा, गन्दन् और टशी-ल्हुन्-पो के विहारों में पढ़ने के लिए जाया करते थे, जिन पर तिब्बती सन्देह नहीं कर सकते थे। लेकिन अंग्रेज इन पर उतना विश्वास नहीं कर सकते थे, क्योंकि बौद्ध होने से शायद वह अंग्रेजों के लिए बहुत नीचे तक न उतर सकते। इसके लिए उन्होंने कुमाऊँ के सीमान्तवाले लोगों को इस्तेमाल किया, जो यद्यपि तिब्बत के साथ व्यापारिक सम्बन्ध रखते थे, सहभोज भी करते थे, लेकिन लामा-धर्म छोड़कर अब ब्राह्मणधर्मी बन गये थे। मिलम घाटीवाले लोग ऐसे ही थे।

नैनसिंह, मिलम के रहनेवाले एक जबर्दस्त पर्यटक थे। उन्होंने अंग्रेजों को तिब्बत और मध्य एशिया का भौगोलिक ज्ञान देने के लिए बहुमूल्य सामग्री एकत्रित की। अंग्रेजों के भेजे हुए गुप्तचरों के नाम को गुप्त रखना उस समय जरूरी समझा जाता था, क्योंकि पता लग जाने पर वह बचकर निकल नहीं सकते थे। नैनसिंह ने 1865 ई. से लेकर 1873 ई. तक अंग्रेजों के लिए यह काम किया। अपने गुप्तचर पर्यटकों को अंग्रेज अपनी लिखा-पढ़ी में 'पंडित क' आदि कहकर पुकारते थे। यही वजह है जो हमें उनके नामों के साथ पंडित लगा मिलता है। कुमाऊँ के अल्मोड़ा जिले में मिलम 11,000 फुट की ऊँचाई पर एक बड़ा गाँव है, जहाँ से आदमी एक दिन में डाँड़े को पार कर तिब्बत में पहुँच सकता है। दूसरे पहाड़ी लोग मिलम, व्यांस, चौदंस, नीती, माना आदि के निवासियों को भोटिया कहते हैं, और पास के तिब्बतवालों को हुणिया (हूण)। लेकिन वस्तुतः भोट (तिब्बत) देश के सीमांत–भोटांत–के निवासी ये भोटांतिक लोग न हूण हैं, और न तिब्बती। इनकी भाषा के जो अवशेष मिलते हैं, उनसे इन्हें किरात वंश का कहा जा सकता है, जो वंश कि एक समय लद्दाख से लेकर आसाम, बर्मा और आगे तक फैला हुआ था। नैनसिंह इसी मिलम गाँव में 19वीं सदी के द्वितीय पाद में पैदा हुए। उस समय शिक्षा का रिवाज कम था, लेकिन 1815 ई. में अंग्रेजों के राज्य की स्थापना के बाद शिक्षा का जो प्रबन्ध हुआ था, उससे नैनसिंह ने लाभ उठाया था, और वह हिन्दी पढ़ना-लिखना सीख गये थे। हिमालय को आर-पार करने का शौक और साहस उन्हें पैतृक खून के साथ मिला था। इसीलिए वह केवल पश्चिमी तिब्बत के भीतर बकरियों पर सौदा ढोने से संतुष्ट नहीं थे। श्लागिनट्वाइट एक जर्मन भूगोलवेत्ता उस समय लद्दाख और काश्मीर में वैज्ञानिक अनुसंधान कर रहा था। तरुण नैनसिंह ने पता पाते ही 1856-57 ई. में लद्दाख काश्मीर में उसके साथ काम किया। यह कहने की आवश्यकता नहीं, कि वह ऐसा समय था, जब कि अंग्रेजी राज्य के ऊपर भयंकर काली घटाएँ छाई हुई थीं। सारा बिहार और उत्तर प्रदेश विद्रोह की आग में जल रहा था; लेकिन पहाड़ों में उसका असर नहीं हुआ था। लद्दाख से लौटने के बाद नैनसिंह ने सरकार की ओर से खोले हुए एक हिन्दी स्कूल में प्रधानाध्यापकी कर ली, और छः-सात वर्ष तक वहीं काम करते रहे। अंग्रेजों

को हिमालय पार के अनुसंधान के लिए गुप्तचरों की आवश्यकता थी, और नैनसिंह ने जव अपने लद्दाख के तजुर्बे की बात कही, तो 1864 ई. में उन्हें चुन लिया गया, और सर्वे के यन्त्रों को इस्तेमाल करने की उन्हें विशेष शिक्षा दी गई।

1865 ई. में नैनसिंह काम पर जाने के लिए तैयार थे। उन्हें ल्हासा तक की यात्रा करके भिन्न-भिन्न स्थानों के अक्षांश और उन्नतांश के साथ अपनी यात्रा का विवरण देना था। आज से करीब सौ वर्ष पहले लिखे गए नैनसिंह के विवरण अब भी सरकार के सर्वे विभाग की अलमारियों में रखे हुए हैं। भिन्न-भिन्न भारतीय पर्यटकों की ढाई सौ के करीब रिपोर्टें आज भी उसी तरह वहाँ रखी हुई हैं। इनमें से बहुत कम की सामग्री को इस्तेमाल करके अंग्रेजी में कितने ही लेख और पुस्तिकाएँ तैयार की गई थीं, और वे भी अब दुष्प्राप्य हैं। नैनसिंह ने अपने गाँव से ही तिब्बत में होकर ल्हासा जाना चाहा, लेकिन जब उसमें सफलता नहीं मिली, तो वह नेपाल के रास्ते किरोङ् पहुँचे। तिब्बतवाले भी सजग थे और वह किसी अज्ञात-कुलशील को अपनी सीमा के भीतर नहीं आने देना चाहते थे। किरोङ् से लौटा देने पर नैनसिंह हताश नहीं हुए। वह बेचारे जन्म से बौद्ध न होने के कारण लामाओं को बातों से परिचित नहीं थे, नहीं तो उन्हें कितने ही सुभीते प्राप्त हो जाते। यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं था कि डाकुओं और लुटेरों के खतरे से वह त्राण पा जाते, या जरा भी सन्देह होने पर तिब्बती अफसर उन्हें क्षमा कर देते। लेकिन काम काम को सिखलाता है। तजुर्बे ने उन्हें बतला दिया कि उनकी यात्रा के लिए सबसे बढ़िया उपाय है लामा (बौद्ध भिक्षु) के तौर पर तीर्थयात्रा के बहाने सब जगह घूमना। नैनसिंह को तब भी अपने साथ थर्मामीटर, दिग्दर्शक यन्त्र, सेक्स्टेंट तथा कागज-पत्र रखने थे, और इन चीजों को ऐसे रखना था, कि किसी को पता न लगे। पता लगने का मतलब मृत्यु छोड़ कर और दूसरा नहीं था और नैनसिंह तेरह-चौदह साल तक इस खतरे के साथ-साथ सिर पर मौत लिए हुए फिरते रहे। तिब्बत के बौद्ध श्रद्धालु या गृहस्थ एक हाथ में लाखों मन्त्र छपे कागजों से भरा प्रार्थना-चक्र (मानी) घुमाते रहते हैं, और दूसरे हाथ से माला भी फेरते रहते हैं। प्रार्थनाचक्र के एक बार घुमाने से उतना ही पुण्य मिलता है जितना कि लिखकर उसके भीतर रखते हुए मंत्रों के उच्चारण से। एक बार के घुमाने में लाख-लाख मन्त्र के जप करने का पुण्य जब होना ठहरा, तो एक घंटे के फिराने में ही इतना पुण्य अर्जित हो जायेगा, जिसके रखने के लिए आदमी के पास जगह नहीं हो सकती। लेकिन इतने से संतुष्ट न होकर कितने ही श्रद्धालु भक्त साथ ही माला की मनियों पर भी जप करते रहते हैं। तजुर्बे ने नैनसिंह को बतला दिया, कि प्रार्थनाचक्र और माला उनके लिए सब से अधिक काम की चीजें हैं।

नैनसिंह ने नोट किये हुए कागज और अक्षांश तथा उन्नतांश के नापने के यंत्र प्रार्थनाचक्र के भीतर रखे, और माला को कदम गिनने के लिए इस्तेमाल किया। माला में एक सौ आठ की जगह सौ मनियाँ थीं, जिनमें दसवीं मनियाँ औरों की अपेक्षा कुछ बड़ी थी। चलते वक्त उनका मुँह बराबर चलता रहता था, लेकिन किसको मालूम था कि वह 'मणि पद्मे हुँ' नहीं बल्कि 'एक-दो-तीन' गिन रहे हैं। एक बार के माला फेरने में एक हजार कदम की गिनती हो जाती थी। उन्होंने प्रार्थनाचक्र और माला लेकर एक बार तो तिब्बत में पूरब से पश्चिम तक 1319 मील की यात्रा की, तिब्बत के बहुत-से अज्ञात स्थानों का निश्चित स्थान पहले-पहल नैनसिंह ने बतलाया। ल्हासा का अक्षांश भी उन्होंने ही निकाला। पहली यात्रा में वह ल्हासा जाकर तीन महीना रहे। वहाँ से लौटते वक्त ब्रह्मपुत्र के किनारे-किनारे वह मानसरोवर होते हुए लौटे।

1867 ई. में नैनसिंह तिब्बत की दूसरी यात्रा पर निकले। अब की बार वह सिंध की ऊपरी उपत्यका में थोक् जालुंग की ओर 1867 ई. में पहुँचे, जहाँ की सोने की खानों में प्राचीन काल से काम होता चला आया है। शायद अंग्रेज समझते थे कि वहाँ दूसरा दक्षिणी अफ्रीका उनके लिए तैयार है। नैनसिंह थोक् जालुंग होकर पश्चिम तिब्बत की राजधानी गर्तोक् और वहाँ के बहुत पुराने तथा अनेक भारतीय सामग्रियों के अच्छे संग्रहालय थो-लिंग विहार होकर कुमाऊँ लौटे।

ल्हासा और सोने की खानों की यात्राओं को समाप्त कर नैनसिंह तिब्बत से बहुत परिचित हो गये थे। अब नैनसिंह को अंग्रेजों ने तिब्बत से बाहर भेजना चाहा, और 1873 ई. में जब अंग्रेज दूत डग्लस फोरसाइथ

मध्य एशिया (यारकन्द) की ओर जाने लगा, तो नैनसिंह भी उनके साथ थे। लेकिन मध्य एशिया के लिए मुसलमान गुप्तचर अंग्रेजों के ज्यादा काम के हो सकते थे, इसलिए उन्होंने उन्हीं को रूसी तथा चीनी मध्य एशिया में अपने काम के लिए भेजा। नैनसिंह का क्षेत्र तिब्बत ही रहा था। अंग्रेजों ने 1874 ई. की जुलाई में फिर उन्हें तिब्बत की ओर भेजा और अब की उन्होंने अपनी यात्रा लेह-लद्दाख से जो शुरू की, तो वह ल्हासा और आसाम में जाकर खतम हुई। नैनसिंह के चरण-चिह्नों पर सभी जगह तो नहीं, लेकिन कहीं-कहीं उनसे आधी शताब्दी बाद इन पंक्तियों के लेखक को भी चलना पड़ा। इतने समय के भीतर तिब्बत में कोई भारी परिवर्तन नहीं हुआ था। अब भी गाँव छोड़कर पहाड़ी रास्तों में, विशेष कर डाँडों के पास पग-पग पर लुटेरों के हाथों प्राण जाने का खतरा रहता था। लेकिन नैनसिंह के प्रयत्न से बने नक्शे ने आँखों को खोल दिया था, और हम कहाँ हैं, इसका मुझे पता रहता था। लेह से चल कर 21 जुलाई, 1874 ई. को नैनसिंह टाङ्से पहुँचे, जहाँ 1925 ई. में इन पंक्तियों का लेखक भी पहुँचा था। सैकड़ों मील लम्बी, साँप की तरह टेढ़ी-मेढ़ी चली गई मन्-पङ्-गोङ् झील को देखा, जिसका कुछ भाग लद्दाख में और कुछ तिब्बत में है। नैनसिंह वहाँ से आगे बढ़े, और मानसरोवर से उत्तरवाली हिमालय श्रेणी के बारे में पता लगाने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ, जिसका और भी अधिक अनुसंधान गत वर्ष (नवम्बर 1952 ई.) में मृत महान् पर्यटक स्वेन-हेडन ने किया है। लेकिन स्वेन-हेडन सभी साधनों से संपन्न हो अनुचरों की एक पलटन लेकर गया था, जब कि नैनसिंह के लिए प्रार्थनाचक्र और माला फेरते पैर नापने को छोड़ और कोई रास्ता नहीं था। यदि वह घोड़े पर सवारी करते तो पैरों की नाप से मीलों की गिनती कैसे कर सकते ? अब की वह तेङ् री नोर नामक महासरोवर के पास से होकर ल्हासा पहुँचे। ल्हासा से फिर ब्रह्मपुत्र के किनारे आकर उन्होंने पूरब का रास्ता लिया। शायद ब्रह्मपुत्र उपत्यका से थोड़ा-सा हटकर बने तिब्बत के प्रथम बौद्ध-विहार सम्-ये को उन्होंने देखा होगा। वहाँ से थोड़ी ही दूर पर ब्रह्मपुत्र के पार उन्हें चे-थङ् का कस्बा मिला, जो कि किसी समय तिब्बत के इस भाग की राजधानी थी और जहाँ अन्तिम भारतीय भिक्षु वनरत्न (1384-1468 ई.) में भी पहुँचे थे। वनरत्न भी अद्भुत घुमक्कड़ थे। उनका जन्म वारेन्द्र (पूर्व बंगाल) में हुआ था, बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए लंका में जाकर वह कितने ही सालों तक रहे। फिर नेपाल और तिब्बत के भीतर कई चक्कर लगाते रहे। लेकिन नैनसिंह का काम वनरत्न की तरह धर्म या मंत्र-तंत्र सिखलाना नहीं था। वह इस 'अंधकार भूमि' के सम्बन्ध में बाहरी दुनिया को प्रकाश देना चाहते थे। चैथङ् से ब्रह्मपुत्र के किनारे-किनारे चलकर वह आसाम के भीतर ओदलगिरि में 1 मार्च 1875 ई. को पहुँचे। अभी भी शायद इसका निश्चय नहीं हो पाया था कि आसाम की ब्रह्मपुत्र वही नदी है, जो तिब्बत में चाङ्-पो के नाम से मशहूर है, और जिसका उद्गम मानसरोवर के पास है। लेकिन जहाँ तक पुराने भारतीयों और तिब्बत के लोगों का सम्बन्ध है, वह जानते थे कि सम्-ये का प्राचीन मठ उसी लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) उपत्यका में है, जो कि आसाम से होकर बहती है। नैनसिंह की यह सबसे बड़ी यात्रा थी। और इस एक यात्रा में उन्होंने 276 अक्षांश सम्बन्धी और 467 उन्नतांश सम्बन्धी आँकड़े प्राप्त किये। नैनसिंह ने अपने अनुसंधानों द्वारा केवल भौगोलिक आँकड़े ही नहीं दिए, बल्कि उन्होंने हर जगह के लोगों के रीति-रिवाज, धार्मिक त्यौहार, व्यापार, उपज, जनसंख्या, मठ, महंत और दूसरी चीजों के बारे में भी भारी जानकारी लिपिबद्ध की, लेकिन अभी वह सर्वे विभाग के पास सुरक्षित हैं। एक लेखक के अनुसार--"तिब्बत की राजधानी ल्हासा का जो सजीव वर्णन नैनसिंह ने किया है, वह पाठकों को उनकी अद्भुत प्रतिभा और सूक्ष्मदर्शिता से आश्चर्यचकित कर देता है।"

अंग्रेजी दासता के समय नैनसिंह जैसा प्रतिभाशाली साहसी व्यक्ति अपनी सेवाओं को गुप्तचर के तौर पर ही भेंट कर सकता था। देश के पतन पर व्यक्तियों की भी ऐसी अवस्था होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अंग्रेजों ने नैनसिंह को पेन्शन दी, एक गाँव जागीर में दिया। अंग्रेजों को भौगोलिक सभा ने उनके अनुसंधानों के लिए सोने का तमगा और सोने की घड़ी दी। लेकिन, नैनसिंह की सेवाओं का पुरस्कार वह क्या दे सकते थे ? उसे तो स्वतंत्र भारत को देना है, और सबसे बड़ा पुरस्कार यही हो सकता है, कि उनके हिन्दी में लिखे हुए विवरणों को प्रकाशित किया जाये।

5
महापर्यटक किन्थुप्

अंग्रेजों के साम्राज्य-विस्तार की लिप्सा 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर सारी 19वीं सदी और 20वीं सदी में भी प्रथम महायुद्ध के पहले तक अत्यन्त तीव्र रही। यूरोप के व्यापारियों ने व्यापार के लिए दुनिया के अज्ञात देशों का ज्ञान प्राप्त किया। भारतीय संस्कृति के अग्रदूत भी एशिया, अफ्रीका और जावा-सुमात्रा की ओर गये। उन्होंने वहाँ के लोगों और भूगोल का ज्ञान प्राप्त किया। उनसे पहले भारतीय सार्थवाह वहाँ अपने सौदे को लेकर पहुँचे थे। इसमें शक नहीं कि इन भारतीयों को भी वहाँ के लोगों और भूगोल के बारे में ज्ञान प्राप्त करना पड़ा होगा और वह ज्ञान एक से दूसरे के पास पहुँचता रहा होगा। किन्तु, हमारे देश में अभी ऐसे वास्तविक ज्ञान के लेखबद्ध करने की जरूरत नहीं मालूम होती थी, इसलिए वह परम्परा मौखिक ही कितनी ही शताब्दियों तक चलती रही, जिसे लोग तोता-मैना की कहानियों की तरह कहते-सुनते रहे। यूरोपियन लोगों को पहले अपने व्यापार के लिए और फिर देश-विजय के लिए देशों के बिल्कुल ठीक-ठीक ज्ञान की आवश्यकता थी। 5वीं-6वीं शताब्दी में भारतीय ज्योतिषी आर्यभट्ट (450 ई.) और ब्रह्मगुप्त ने पृथ्वी के व्यास (1,581 योजन) का जो पता लगाया था, वह पृथ्वी के वास्तविक व्यास से (7,913 मील) बहुत ज्यादा अन्तर नहीं रखता। इसलिए यह तो मालूम ही था कि पृथ्वी का धरातल सीमित है। लेकिन भूगोलीय नक्शों के बनाने की ओर उनका ध्यान नहीं-सा था। 18वीं सदी से ठीक-ठीक नक्शों के बनाने की प्रक्रिया आरम्भ हुई। तब तक अंग्रेजों और यूरोप की दूसरी शक्तियाँ एशिया के कुछ भूखंडों पर अपनी विजय का झंडा गाड़ चुकी थीं। अब उन्होंने नक्शों और भूगोल के साथ अज्ञात स्थानों के बारे में परिचय प्राप्त करना शुरू किया, ताकि उनका झंडा और आगे बढ़ता जाये।

18वीं शतब्दी के अन्त में भारत के बहुत बड़े भाग पर अंग्रेजों का शासन या प्रभाव स्थापित हो चुका था, और 1814 ई. के गोर्खायुद्ध के बाद तो उसका विस्तार और भी अधिक हो गया। इस समय तक अंग्रेजों का ध्यान भारत के भूगोल और नक्शे की ओर भी ज्यादा हो चुका था। जब पंजाब भी अंग्रेजी राज्य में शामिल हो गया, तो 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के आरम्भ से उन्होंने भारत की उत्तरी सीमा के आगे की खोज लेनी शुरू की। उन्हें मालूम था, कि उत्तर में बाल्तिक समुद्र से प्रशान्त महासागर तक फैला रूस अपनी बाँहें दक्षिण की ओर बढ़ा रहा है। उस समय भूमि चाहे किसी की भी हो, यदि वह उसकी रक्षा के लिए शक्ति नहीं रखता, तो झंडा गाड़ने भर की देर थी और जमीन अपनी हो जाती थी। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड को इसी तरह अंग्रेजों ने लिया था। भारत की उत्तरी सीमा के बाहर भी ऐसे झंडा गाड़ने के योग्य प्रदेश थे। लेकिन अंग्रेजों की कभी तृप्त न होने वाली विजय की भूख का पता अब तक दुनिया के लोगों को लग चुका था। इसलिए कोई भी अंग्रेज या यूरोपियन उन जगहों में जाकर जीता नहीं लौट सकता था। इसलिए उन्होंने भारत के भिन्न-भिन्न भागों के लोगों को इस काम के लिए भेजना शुरू किया। स्वभावतः ये यात्राएँ जान हथेली पर रखकर करनी पड़ती थीं। ऐसे ही जान हथेली पर रखकर यात्रा करने वाले किन्थुप् थे।

किन्थुप् निरक्षर थे। वह अपनी यात्राओं का विवरण केवल स्मृति से सुना सकते थे। जब तीन-तीन, चार-चार की यात्राएँ समाप्त करने के बाद उनके बतलाए हुए विवरण की शुद्धता को आज देखा जाता है, तो दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। किन्थुप् सिकम के टशीडिंग गाँव में पैदा हुए। एवरेस्ट-विजेता तेनजिंग की तरह उन्होंने भी कुली के काम से जीवन का आरम्भ किया। वह दूसरे यात्रियों के अनुचर के तौर पर जाते रहे। इसी तरह वह दार्जिलिंग से ग्या-ला, सिंगदोंग, चारी और निम्न चाङ्-पो गये। चाङ्-पो ब्रह्मपुत्र का ही तिब्बती नाम है, लेकिन किन्थुप् से पहले यह प्रमाणित नहीं हो सका था कि मानसरोवर के पास से निकलनेवाली तिब्बत की महानदी चाङ्-पो वही है, जिसे हम ब्रह्मपुत्र कहते हैं। यद्यपि जहाँ तक तिब्बती लोगों का सम्बन्ध है, उन्हें चाङ्-पो के ब्रह्मपुत्र (लौहित्य) होने में कोई सन्देह नहीं था। संस्कृत के पुराने ग्रन्थों में ब्रह्मपुत्र लौहित्य के नाम से ज्यादा प्रसिद्ध है। 8वीं शताब्दी के मध्य में चाङ्-पो की धार से कुछ मील हटकर बने तिब्बत के

सबसे पुराने बौद्ध मठ (विहार) सनूये के बनानेवाले जानते थे, कि हम लौहित्य नदी (छुवो लोहित) की कछार में इस विहार को बना रहे हैं।

ब्रह्मपुत्र और चाङ्-पो एक हैं, इसका पक्का प्रमाण लाने के लिए भारतीय सर्वे-विभाग के कप्तान हमेंन ने किनूथुप् को एक चीनी लामा के साथ कर दिया, जिसे चाङ्-पो के अन्तिम छोर पर जा चिह्नित लकड़ी डालने का आदेश हुआ था। यदि लकड़ी नीचे ब्रह्मपुत्र में पकड़ी जा सके, तो दोनों नदियों का एक होना सिद्ध हो जाता था, और यह श्रम किनूथुप् ने किया। चीनी लामा लिखा-पढ़ा था और यह आशा रखी जाती थी, कि ब्रह्मपुत्र और चाङ्-पो की एकता स्थापित करने के साथ वह हर जगह के भौगोलिक ज्ञान को नोट करके लायेगा। लामा को इसके लिए काफी रुपया भी दिया गया था। वह जानता ही था कि मैं ऐसा करके तिब्बत के साथ विश्वासघात कर रहा हूँ और उससे भी अधिक पर्दा खुल जाने पर मौत के मुँह में गये बिना नहीं रहूँगा, इसलिए उसने अनुसंधान की अत्यन्त कठोर यात्रा करने की जगह रुपया लेकर चम्पत हो जाना ही अच्छा समझा। उसे इतने से ही संतोष नहीं हुआ। उसने किनूथुप् को दास बनाकर बेच दिया। बेचारे किनूथुप् कितने ही समय तक दासता का कठोर जीवन बिता अपने उद्देश्य में सफल हो चार वर्ष बाद लौटे। वह तिब्बत की ओर से होते हुए ब्रह्मपुत्र के किनारे ऐसी जगह पर पहुँचे, जहाँ से भारतीय सीमा और मैदान 35 मील रह जाता था। अपने लौटने के दो वर्ष बाद स्मृति से किनूथुप् ने यात्रा का विवरण सुनाया। सर्वे-विभाग के एक नौकर नोबू ने उसे अंग्रेजी में अनुवादित किया, जिसका संक्षेप करके कर्नल टेनर ने सर्वे-विभाग की 1886-87 ई. की साधारण रिपोर्ट में प्रकाशित किया।

किनूथुप् की यात्रा

किनूथुप से पहले निम्न-चाङ्-पो के बारे में मंगोल लामा शेरप् ग्यनूछो ने (1856-58 ई.) अपनी यात्रा का विवरण सुनवाया था। वह 20-30 साल पहले वहाँ की कितनी ही जगहों में गया था। उसका विवरण बहुत ही संक्षिप्त था, जिसमें गुम्बाओं (विहारों), तीर्थों और गाँवों के नामों के साथ कुछ इतिहास और कितने ही जंगली और ग्रामीण पशुओं की बातें थीं। चाङ्-पो के भूगोल पर उससे कुछ प्रकाश नहीं पड़ता था। यह काम अनपढ़ किनूथुप् ने किया।

किनूथुप् ने दार्जिलिंग से अपनी यात्रा शुरू करके 7 अगस्त, 1880 में डोङ् क्या ला (डाँडा) पार किया। ला (डाडा) पार कर दो दिन उन्हें तिब्बत के छो-ल्हामो (देवी सरोवर) में प्रतीक्षा करनी पड़ी, फिर ग्यांची के लिए सवारी का इन्तजाम हो सका। लोग जब उनसे पूछते, तो वह कह देते कि हमारा (चीनी) लामा, जिसने बाद में उसे बेच दिया, अपनी बहन से मिलने जा रहा है। छो-ल्हामो में सिक्किम के लाछुङ् और ग्यांची के व्यापारी अपने माल की अदला-बदली करते हैं। ग्यांची के व्यापारियों के साथ 10 अगस्त के सवेरे किनूथुप् रवाना हुए और 90 मील की यात्रा सात दिनों में पूरी कर वह वहाँ पहुँच गये। ग्यांची में कुछ दिनों रुककर 23 अगस्त को तीर्थयात्री बन पीठ पर खुरशिङ् (बीच में सामान डालने की लकड़ियाँ, जो पीठ पर ढोई जाती हैं) ले चल पड़े। डोंगकर में चीनी लामा का भांजा रहता था, वहाँ ठहरते 1 सितम्बर को किनूथुप् ल्हासा पहुँचे। चीनी लामा ल्हासा के सेरा विहार में पढ़ा था, जहाँ 6 दिन रहकर उसने अपने मित्रों का भोज किया। अब उन्हें असली यात्रा शुरू करनी थी, अर्थात ल्हासा की नदी क्यि-छू और चाङ्-पो के संगम (छूशुल) से चाङ्-पो के किनारे-किनारे नीचे की ओर चलना था। क्यिछू (ल्हासा) नदी से चमड़े की नाव (क्वा) पर लामा के साथ किनूथुप् छूशुल पहुँचे, जहाँ से दूसरी चमड़े की नाव लेकर वह दोर्जे थाग के सामने चाङ्-पो के दक्षिणी किनारे पर अवस्थित केदेशो जोङ् पहुँचे—जोङ् गढ़ी को कहते हैं, जहाँ इलाके का मजिस्ट्रेट (जोङ्-पोन) रहता है। 1930 ई. में इन पंक्तियों का लेखक भी ल्हासा से उसी तरह चमड़े की नाव पर सम्ये जाते वक्त यहाँ पहुँचा था। 20 तारीख को किनूथुप् अपने लामा के साथ उस छोटे-से गाँववाले घाट पर उतरे, जहाँ से सम्ये विहार उत्तर-पूर्व में 4 मील रह जाता है। चे-थंग (किसी समय एक प्रभावशाली राजा की राजधानी) चाङ्-पो के परले पार है। चीनी लामा वहाँ जो बीमार पड़ा, तो 20 दिनों तक अपने एक चीनी मित्र के घर पड़ा रहा। इस समय किनूथुप्

का काम था लामा के घोड़े के लिए घास काटना। सब काम करने पर भी किनूथुप् को बड़ी झिड़की खानी पड़ती। उन्हें तरह-तरह से तकलीफ दी जाती। किनूथुप् ने सब कुछ बर्दाश्त किया। चे-थंग से दोनों मक्मोई और रोङ् छका-जोङ् गये। जोङ् से एक मील पर पाथंग ला (डाँड़ा) से एक छोटी-सी नदी निकलती है, जो ल्हाग्यारी (देवगिरि) होते चाङ्-पो में मिल जाती है। किनूथूप् ने यहाँ की भूमि को बहुत उर्वर बतलाया है। आजकल कम्युनिस्ट सेना और वहाँ के लोग चाङ्-पो की इस उर्वर तथा अपेक्षाकृत उष्ण भूमि को बड़े भारी पैमाने पर खेतों के रूप में बदल रहे हैं। ल्हाग्यारी में भी जोङ् है और वहाँ उस समय पाँच सौ के करीब घर थे। ल्हाग्यारी जोङ् में सोने की दो खानें हैं। पाथंग-ला चढ़कर वह जिक्क्योप में पहुँचे, जहाँ से दक्षिण और उत्तर-पूर्व की ओर डाला खम्पा के हिमाच्छादित पहाड़ दिखाई पड़ते थे। यहाँ से उत्तर-पश्चिम गोखा-ला था, जिसे पार कर सम्ये से ल्हासा जाया जाता है। 16 अक्तूबर (1880) को आठ मील चलकर वह रिशुर (पर्वतकोण) में जा सेरा के एक लामा के पास ठहरे। यहाँ भी किनूथुप् के साथ बड़ा बुरा बर्ताव किया गया। दस मील और जाने पर वह लम्दा पहुँचे, जहाँ के लोग कोंगों की कस्तूरी को ल्हासा ले जाकर बेचने का काम करते थे। सम्ये चे-थंग के पास चाङ्-पो के दोनों किनारे का प्रदेश कोंगों (कोङ्-वू) कहा जाता है। चाङ्-पो में आकर मिलनेवाली नदियों और किनारे के गाँवों को देखते 20 अक्टूबर को वह अनी-गुम्बा (भिक्षुणी विहार) के पास होते नम्-जोङ् पहुँचे, जो कि अनी गुम्बा से 19 मील पर अवस्थित है। नम्-जोङ् एक महत्त्वपूर्ण स्थान और कोंगोंप्रदेश का प्रवेश-द्वार है। पूर्व की तरफ बाईं ओर चाङ्-पो को छोड़ते वह आगे बढ़े और 25 अक्टूबर के सबेरे वह कोंगों-ङोला को पार हुए। आगे उन्हें दोंग-कर्बोन् का जोङ् मिला, जहाँ एक वि गुम्बा भी थी, जिसमें पाँच सौ भिक्षु रहते थे। लोगों के घर जोङ् से कुछ नीचे समतल भूमि पर हैं। यहाँ चाङ्-पो उत्तरवाहिनी है। बीबिम्-ला पार कर वह चारी प्रदेश में पहुँचे, जो निम्न-चाङ्-पो का एक बहुत उर्वर इलाका है। वह चुङ्शोद् में ठहरे। उसके बाद तीन मील चलकर किन्-दुंग के छोटे गाँव में पहुँचे। यहाँ सीसा की खानें हैं। यहीं पर चारी, बग्चा-शिरिबू और ल्हासा के रास्ते आकर मिलते हैं। लामा के साथ किनूथुप को अपने रहस्य को छिपाने के लिए भिक्षाटन करना पड़ता था। किन्-दुंग से 15 मील जाने पर वह गुनुगुम् में पहुँचे। आगे आस-पास के गाँवों में भिक्षाटन करते रास्ते के लिए खाने-पीने की चीजें जुटाते बढ़ते गये। किन्-दुंग से 18 मील पर उन्हें बल-गुम्बा मिली और 3 मील और आगे 15 घरों का गाँव कुम्का। यहाँ तिब्बत के नंगे पहाड़ों की जगह वृक्षों से ढँके पहाड़ मिले, जिनके निचले भाग पर घास जमी हुई थी। कुम् से 4 मील आगे बुमकी-गोग् 10 घरों का गाँव मिला, जहाँ से कुछ खाने-पीने की चीजें जमा कर वह फिर थुन चुंग लौट आये, जो कि किनदुंग-गुनगुम् के पास था। चीनी लामा यहाँ गृहपति की स्त्री से प्रेम करने लगा, जिसके लिए झगड़ा खड़ा हो गया और किनूथुप् ने 25 रुपया दण्ड दिलवाकर किसी तरह लामा को बचाया।

6 मार्च (1881) को थुन-चुंग से अब वह फिर आगे के लिए रवाना हुए और 12 मील चलकर रात के वक्त चाङ्-पो के किनारे सोये। चाङ्-पो के बायें किनारे-किनारे वह औरंग काजा जोङ् में पहुँचे, जहाँ से 4 मील पर उन्हें चाङ्-पो को पार करना पड़ा। इस जगह नदी चारी की ओर से आती दिखाई पड़ रही थी। नदी पार हो वह गोन्सा पहुँचे, जहाँ चाङ्-पो के उत्तरी तट पर एक गुम्बा (विहार) है। 2 मील जाने पर देमू-जोङ् आया, जहाँ सौ घर तथा 3-4 सौ भिक्षुओं की एक गुम्बा है, जिसे छो ल्हाखङ् (धर्मदेवालय) कहते हैं। 11 मील और चलने पर उन्हें ग्या-ला मिला, जिसे पार कर गर्मियों में नोगूबू लूनग् का रास्ता जाता है। आगे 5 मील जाने पर उन्हें सिङ्-दोङ् मिला जहाँ पर तीन पुरानी गुम्बाओं के अवशेष हैं और एक जल-प्रपात भी है, जहाँ सौ फुट की ऊँचाई से पानी गिरता है।

सिङ्-दोङ् (सिंहमुख) से गोई छाङ्देफुक 5 मील पर मिला। यहाँ से चाङ्-पो आध मील की दूरी पर है। चाङ्-पो के किनारे-किनारे आगे बढ़ने का रास्ता नहीं था, इसलिए वह फिर ग्या-ला लौट आये। यहाँ जोङ्-पोन से राहदानी लेनी पड़ी। जाड़ों में चाङ्-पो की धार कम हो जाती है, इसलिए चमड़े की नाव से उसे पार किया जा सकता है, लेकिन गर्मियों में आर-पार टँगी रस्सी ही पार करने का साधन है। यहाँ से चाङ्-पो की धारा का अनुसरण करते आगे बढ़ना बहुत मुश्किल था। किनूथुप् और लामा को रास्तों के बारे में पता लगाने की

जरूरत पड़ी। वह तीन दिन तक आगे और पीछे चलते-उसे खोजते देफुंग से 15 मील पर अवस्थित पेमा-कोयकुङ् में पहुँचे। यहाँ एक छोटी गुम्बा थी, जिसमें 7-8 भिक्षु रहते थे, कोई दूसरा घर नहीं था। गुम्बा से चाङ्-पो दो जरीब दूर है और इससे 2 मील पर सेङ्-छोइग्यल (सिंहधर्मराज) नामक शिला से 150 फुट की ऊँचाई से पानी गिरता है। नीचे एक बड़ी झील है, जहाँ सदा इन्द्रधनुष बना करता है। ग्यालाजोङ् लौटकर उन्हें फिर गुरु देफुंग में आना पड़ा, जहाँ से 6 मील जाने पर छो-लूवाखङ् होते देमुला (डाँड़ा) की ओर चले, और अगले दिन पन्द्रह मील चल देमू-जोङ् से 35 मील पर अवस्थित कोङ् बू लूनक मिला। यह 140 घरों का गाँव है और साथ ही यहाँ तीन गुम्बाएँ भी हैं। देमू-ला से जो नदी आती है, उसके बायें किनारे की भूमि पो-बा लोगों की है और दाहिने किनारे की देमू-जोङ् की लूनक से आगे बढ़ते वह तांग जुक्जोङ् में पहुँचे। यहाँ पुल को पार करने के लिए जोङ्पोन् (इलाके के मजिस्ट्रेट) से आज्ञापत्र लेना पड़ता है। लामा आज्ञापत्र लेने के लिए जोङ्पोन् के पास गया और किन्थुप् पिस्तौल और अपने तीन कम्पासों को छिपाये पुल पर प्रतीक्षा करते रहे। चौथे दिन लामा आज्ञापत्र लेकर आया और फिर दोनों जोङ्-पोन् के पास गये। 14 मई, 1881 को जोङ्-पोन् के आदमी ने आकर उससे कहा, कि जोङ्-पोन् का हुक्म है कि तुम जिन चीजों को देने का वचन दे चुके हो, उन्हें दे दो। किन्थुप् को अपना पिस्तौल और एक कम्पास देना पड़ा। 24 मई को लामा ने कहा कि मैं पो-युल् (पो प्रदेश) में किसी काम से जा रहा हूँ, दो-तीन दिन में लौट आऊँगा। किन्थुप् ने दो महीने तक प्रतीक्षा की। इस समय उससे सिलाई का काम लिया जाता था। फिर जोङ्-पोन् ने अपने घोड़ों के चराने पर लगा दिया। उस वक्त उसे अपने साथवाले आदमी से पता लगा कि लामा ने किन्थुप् को जोङ्-पोन् के हाथ में बेच दिया है।

6 अक्तूबर 1881 के सबेरे जोङ्-पोन् ने किन्थुप् को अपने गाँव में जाकर काम करने का हुक्म दिया। दो महीना काम करने के बाद जोङ्-पोन् ने किन्थुप् को गाँव से बुलाकर अपने पास काम लेना शुरू किया।

किन्थुप् अब बराबर इसी फिक्र में रहते थे कि कैसे इस दासता से मुक्ति मिले। तीन महीना और बिताने के बाद 7 मार्च, 1882 की शाम को वह भाग कर नमडिङ् फुकपा पहुँचने में सफल हुए। वहाँ से वह 12 मील पर अवस्थित पीय तोयलुङ् पहुँचे, जहाँ उन्हें बहुत-से यात्री मिले। उनके पूछने पर कहा कि मैं जोङ्-पोन् के घर किसी काम के लिए जा रहा हूँ। पो-तुंग-दो छू नामक नदी को पुल से पार कर जैसे ही लोगों का साथ छूटा, वह बड़ी तेजी से दौड़ पड़े। कोङ्-बू-लूनक्के ऊपरवाले डाँडे से आनेवाली नदी पो-तोयलुंग से 14 मील पर चाङ्-पो से मिलती है। दोनों नदियों के संगम से एक मील ऊपर नदी को पार कर किन्थुप् दोर्जे-जोङ् पहुँचे। यहाँ रास्ते बहुत खराब थे। गुम्बा में 10-15 भिक्षु रहते थे। जंगली जानवर वहाँ कई तरह के थे। दोर्जे-जोङ् से एक मील पर चाङ्-पो को पार कर वह पूर्व की ओर चले फिर दोर्जे-जोङ् के पहाड़ पर चढ़कर तीन मील आगे पंगो-जोङ् पहुँचे। यहाँ 30 भिक्षुओं और एक अवतारी लामावाली चेनछुक् गुम्बा मिली, जहाँ दो दिन रह कर किन्थुप् ने इधर-उधर से माँग करके रसद-पानी जमा किया।

चाङ्-पो पार करने के लिए यहाँ दोनों किनारों पर एक रस्सा टँगा हुआ है, जिस पर लटकते हुए आदमी नदी पार करता है। किंनकिंग से 8 मील जाने के बाद किन्थुप् को फोवरोङ् (प्रासाद) मिला, जहाँ 40 भिक्षुओं वाली एक गुम्बा है। किन्थुप् ने देखा कि चाङ्-पो यहाँ से दक्षिण की ओर बह रही है। फोबरोङ् गुम्बा चाङ्-पो से एक मील पर थी। चाङ्-पो पार कर पूर्व की ओर जा वह तम्बू गाँव में पहुँचे, जहाँ से पाँच दिन में 50 मील जाने के बाद उन्हें कुनदू खोटांग मिला। कुनदू खोटांग में 15 घर और जोङ् हैं। पहाड़ के ऊपर चढ़ कर देखने से उत्तर-पूर्व में जा-युल और उत्तर-पश्चिम में पो-युल के इलाके मिलते हैं, पूर्व की तरफ भारत के पहाड़ और दक्षिण की तरफ चारी के पहाड़।

कुनदू खोटांग से होरा (7 मील) होते किन्थुप् चार मील आगे मुरफुंग में पहुँचे, जहाँ एक ही गुम्बा में 15 भिक्षुणियाँ और 30 भिक्षु साथ-साथ रहते थे। यहीं उन्हें पता लगा कि जोङ्-पोन् के आदमी पकड़ने के लिए यहाँ आ रहे हैं। किन्थुप् ने वहाँ के बड़े लामा का पैर पकड़ा और अपना सारा किस्सा सुनाया। लामा के पूछने पर उन्होंने यह भी बतलाया कि मैं चुङ्-छुङ् रा का रहनेवाला हूँ और तीर्थयात्रा के लिए जा रहा हूँ। पाँच दिन बाद जोङ्-पोन् के आदमी आए। लामा ने किन्थुप् के बदले में 50 रुपया देने की बात जोङ्-पोन्

को लिख भेजी। दस दिन में फैसला हुआ। किन्थुप् साढ़े चार महीने तक लामा की चाकरी वजाते रहे। लामा अच्छा था। तीर्थयात्रा के लिए किन्थुप् एक महीने की छुट्टी लेकर वहाँ से फिर निकले और 6 मील चल यारदोंग गाँव में जा डोशौङ्-ला पार कर पातेंग पहुँचे। तीन मील और जाने पर चाङ्-पो आई, जिसे पार कर पूर्व के किनारे से चलते बां-पुंग (यारदुंग से 6 मील) पहुँचे, जहाँ जंगल थे—तिब्बत की भूमि वृक्ष-वनस्पति-हीन है।

अब उनका सारा ध्यान चाङ्-पो और ब्रह्मपुत्र की एकता स्थापित करने की ओर था। बोपुंग से उत्तर-पूर्व 3 मील जाने पर उन्हें गीलिंग की गुम्बा मिली, जहाँ वह पाँच दिन रहे। गीलिंग में 50 घर थे। अब उन्हें कप्तान हेर्मेन के आदेश के अनुसार लकड़ी के कुन्दे चिह्न लगाकर चाङ्-पो में छोड़ने थे। पाँच दिन रहकर उन्होंने वज्र के आकार के एक फुट लम्बे 500 कुन्दे तैयार किये। फिर अपनी पीठ पर लाद-लाद कर वह एक दुर्गम गुफा में ले गये। एक महीना चार दिन अनुपस्थित रहकर वह फिर अपने लामा के पास मरफुंग पहुँच दो महीने तक वहीं रहे। फिर चारी की तीर्थयात्रा के लिए दो महीने की छुट्टी ले कितनी ही जगहों में घूमते वह चारी की ओर चले। पोदो-सुमदो से होते हुए निपा गये, जहाँ से दो मील चलने के बाद कदोथांग मिला। फिर कितने ही डाँडों को पार करते वह तकचुंग में पहुँचे। यहाँ एक पहाड़ पर चढ़कर उन्हें भारत का मैदान दिखलाई पड़ा। इस रास्ते में चारी की तीर्थयात्रा करनेवाले पवित्रता के ख्याल से कहीं नहीं थूकते। पड़ाव की जगहें बहुत साफ थीं। शंगू-ला पार करके उन्हें एक पड़ाव मिला, जिसके ऊपर से मेनछूना और लोयुल के गाँव दिखाई पड़ते थे। भारत का मैदान भी दक्षिण की ओर दिखाई पड़ रहा था। यहाँ जंगली जानवरों को छोड़कर घोड़े या ढोर नहीं दिखलाई पड़ते थे। इस पड़ाव से आगे बढ़कर भूमि समतल मिली, फिर चौड़ा मैदान आया और एक छोटी-सी नदी। कुछ और नीचे उतरने पर उन्हें यूमे मिला, जहाँ की गुम्बा में 15 भिक्षु रहते थे। यहाँ शिकार करना मना था। किन्थुप् को यूमे-ला पार करना पड़ा। फिर वह चाजम् पहुँचे। फिर वह गोङ् मा-ला पार करते उत्तर-पूर्व की दिशा में बढ़े। आगे उनहें करम्-ला मिला, जिसकी जड़ में बहुत-से घर और एक जोङ् था, जमीन उर्वर नहीं थी। 17 मील चलने पर वह डोक में ठहरे, जहाँ सिर्फ एक पशुपाल का घर था। आगे चलने पर लूहारिङ् बू की पहिली सोने की खानें मिलीं। लूहारिङ् बू की दूसरी सोने की खानें डेन्लोरा में हैं, जो कि डोक से 15 मील पर मिला। यहाँ एक ध्वस्तप्राय जोङ् और सोने के खनकों के तीन घर थे, जिनमें से प्रत्येक में 25 आदमी रहते थे। पूछने पर किन्थुप् ने बतला दिया, कि मैं ल्हासा तीर्थयात्रा के लिए जा रहा हूँ। फिर यालुंग चेथंग सम्ये होते वह गोका-ला पार कर क्यिछु नदी के किनारे पहुँच गये, जहाँ से ल्हासा बहुत दूर नहीं था। वज्राकार कुन्दों को रखकर ल्हासा की इतनी कठिन यात्रा करने का कारण था। अब तक यह काम चीनी लामा को दिया गया था, और किन्थुप् को सर्वे-विभाग को सूचना देनी थी। किन्थुप् ने ल्हासा में सिक्किम के काजी (मंत्री) से मुलाकात की और उनसे चिट्ठी लिखवाकर दार्जिलिंग कचहरी के दुभाषिया नमाछेरिंग के द्वारा भारतीय सर्वे के मुखिया के पास भेजनी थी, जो इस प्रकार थी--

"हजूर, जो लामा मेरे साथ भेजा गया था, उसने मुझे एक जोङ्-पोन् के हाथ में दास बनाकर बेच दिया और खुद सरकारी चीजों के साथ भाग गया। इसके कारण यात्रा बड़ी कठिन हुई। तो भी मैं, किन्थुप् ने कप्तान हर्मन की आज्ञा के अनुसार 500 कुन्दे तैयार किये हैं और पेमाकोयछेन् में बोपुङ् से प्रतिदिन 50 कुन्दे तिब्बती पंचांग के छू-लुग् वर्ष के दसवें महीने की 5 से 15 तारीख तक डालने के लिए तैयार हैं।"

यह चिट्ठी दार्जिलिंग लौटती काजी की स्त्री अपने साथ ले गई और उसे यथास्थान पहुँचा दिया।

किन्थुप् अब चीन जानेवाले रास्ते से लौटे। कोङ् बुवा ला पार कर 30 मील दूर कोङ् बू ग्याम्दो पहुँचे। आगे प्रायः 112 मील की यात्रा करके चमनक में पहुँच उन्होंने चाङ्-पो को पार किया और फिर पेमा कोयछेन् की ओर लौटे, जहाँ पर ल्हासा और ग्वाला-सिन्दोंग के रास्ते मिलते हैं। यहाँ से फिर वह अपने मुक्तिदाता लामा के पास पहुँचे, और उसकी सेवा नौ महीने करते रहे। लामा सेवा से बहुत प्रसन्न हुआ और उन्हें स्वेच्छानुसार जाने के लिए छुट्टी दे दी। किन्थुप् दर्जी का काम जानते थे। वहाँ किसी आदमी के यहाँ एक महीना सिलाई करके उन्होंने कुछ अन्न और नमक जमा किया, फिर वह बेपुंग जा दस दिन रहे और पत्र में लिखे अनुसार

500 कुन्दों को चाङ्-पो में डाला। इसके बाद फिर एक महीना काम करके भारत लौटने के लिए पाथेय खरीदा। अब उनकी यात्रा पंग गो दूदुंग (5 मील), कोर्वा (6 मील), मायुम (7 मील), स-तोंग (7 मील), अंगी (8 मील), शिंगगिंग (7 मील), हंग गिंग (3 मील), पूगिंग (7 मील), से रिकर (8 मील) को हुई। इस यात्रा में कई जगहों पर उन्हें चाङ्-पो को आर-पार करना पड़ा। अंगी से उनको अब हरे-भरे जंगलोंवाले पहाड़ मिलने लगे। शिंग-गिंग के इलाकेवाले लोग करीब-करीब नंगे हैं, वह केवल नीचे घुटनों तक एक कपड़े का टुकड़ा लपेटे हमेशा तलवार और तीर-कमान साथ में रखते हैं। पुरुष शिकारी होते हैं तथा खेती का काम औरतें और बूढ़े लोग करते हैं। चावल, मक्का और कोदो यहाँ अधिक होता है। हंग-गिंग चाङ्-पो के किनारे बसा हुआ है। यहाँ भी चावल और कोदो की खेती होती है। सूअर और गाय-बैल बहुत पाले जाते हैं। पुगिंग से रिकर आने में जंगल से ढके एक पहाड़ पर चढ़ना पड़ा। रिकर में 130 घर थे। अगले दिन 7 मील की यात्रा करके वह केती पहुँचे। यहाँ पर उन्हें कपास के खेत मिले। गाँव से दो मील पर चाङ्-पो बहती थी। वहाँ से 10 मील चलने पर चाङ्-पो से एक मील दूर 140 घरों वाला शिमोंग गाँव मिला, जिसके पूर्व में सौ घरोंवाला मोंग री गाँव था। शिमोंग में गाँव के मुखिया ने किन्थुप् को गिरफ्तार कर लिया, लेकिन उन्होंने कुछ पैसा देकर मुक्ति पा ली। मोविक (9 मील), तोपिन (8 मील), ओनलेट् (6 मील) आगे के गाँव थे। कपास और मक्के की खेती से मालूम ही है कि अब किन्थुप् गरम जगह में आ गये थे। तरपिन् तक पहुँचने में रास्ता उतराई-चढ़ाई का था। चाङ्-पो यहाँ से तीन मील पर बहती थी। समतल भूमि पर चलते अंत में वह 90 घरोंवाले ओनलेट् गाँव में पहुँचे थे। यहाँ के जंगलों में बाघ, चीता, रीछ आदि जानवर बहुत थे। गाँव से उत्तर की ओर एक हिमाच्छादित पर्वत था, जिससे निकलनेवाली नदी मिरीपदम् में चाङ्-पो से मिलती है। मिरीपदम् में सौ घर थे। चाङ्-पो गाँव से 4 मील पर बहती थी। यहाँ यासेर, तरी और भारत के व्यापारी अपना माल बेचने के लिए आते थे। ओनलेट् में मालूम हुआ कि यहाँ से भारत की सीमा 35 मील है।

ओनलेट् से आगे बढ़ना किन्थुप् के लिए सम्भव नहीं हुआ, और वे फिर वहाँ से पेमा कोयछेन् में लौट कर दो महीना रहे। अब उन्हें सिलाई करके ल्हासा होते दार्जिलिंग से पाथेय का प्रबन्ध करना था, फिर वहाँ चलकर तीन महीने बाद वह अपने गाँव ट्शी डिङ् (सिक्किम) में पहुँचे। उनकी माँ मर गई थी। ढाई महीने तक उसके श्राद्ध के लिए वह रुक गये। 19 अक्तूबर, 1884 के सबेरे वह फिर रवाना हुए और नमची-गुम्बा में नमछेरिंग से मिले, जो उन्हें लौटाकर लाछेन् और लाछुंग की उपत्यकाओं में ले गया। 17 नवम्बर (1884) को किन्थुप् दार्जिलिंग पहुँचे। इस प्रकार 7 अगस्त, 1880 से शुरू हुई किन्थुप् की यात्रा अब लगभग 4½ वर्ष बाद पूरी हुई।

X X X

किन्थुप् अपठित थे। उनकी स्मृति का चमत्कार था, जो उन्होंने इतने विवरण के साथ अपनी यात्रा का वर्णन लिखवाया था। 1911-12-13 ई. में अंग्रेजों ने अपने राज्य की सीमा को आसाम के उत्तर-पूर्वी सीमान्त में मिशमी और अबोर जातियों के इलाकों के भीतर बढ़ाया, और वहाँ के बारे में बाकायदा अनुसंधान किया। 1912 ई. तक ग्याला से पदम् (ड्मरो) तक की भूमि का ज्ञान उतना ही था जितना कि किन्थुप् ने और मंगोल लामा शेरब्ग्यंछो ने बताया था। 1884 ई. में पदम् के अबोरों के खिलाफ सैनिक अभियान भेजा गया था, जो डमरो के नजदीक तक पहुँचा था। नये अभियानों ने किन्थुप् की बातों की पुष्टि की। कप्तान ओक्स ने 1914 ई. में प्रकाशित अपनी रिपोर्ट में स्वीकार किया--"उस (किन्थुप्) की यात्रा के इस भाग का वर्णन प्रायः बहुत ही शुद्ध है और कभी-कभी तो इतने कम शब्दों में इतनी शुद्धतापूर्वक वर्णन करता है, जो चमत्कार-सा है।" फोबरोंग के पास किन्थुप् ने बतलाया था, कि चाङ्-पो यहाँ से दक्षिण की ओर बहती है, जो बिल्कुल ठीक है। रिपोर्ट में लिखा गया था कि सेंगगेछायग्यल जलप्रपात करीब 150 फुट का है। वह टला से निकलनेवाली छोटी धारा तथा ग्याला के सामने चाङ्-पो में गिरनेवाली छोटी धारा के किनारे अवस्थित है। किन्थुप् के ओनलेट् तक पहुँचने में जो गाँव पड़े थे, वह आज की तुलना से निम्न प्रकार हैं–

1911-12 ई. की सर्वे	किनूथुप् (1883-84 ई.)
अंग गिंग	अंगी
सिंग गिंग	शिंग गिंग
पालिंग	हांग गिंग
रिकर	रिकर
पुगिंग	पुगिंग
गेत्ते	केती
सिमोंग	शिम (शिमोंग)
मोंबुग् (गोबुग्)	मोवुग्
डलबुइंग	तर्पिन्
ओलोन् (मिलंग)	ओनूलो (ओनलेट)
डमरो (पदम्)	मिरीपदम्

कप्तान ओक्स ने फरवरी 1913 में ओलेन गाँव में किनूथुप् के बारे में पूछताछ की, तो गम्स तादङ् और यूबङ् दो आदमियों ने बतलाया कि जब हम बच्चे थे, तो एक मोनूपा सिमोंग गोबुक और दलबुइंग (तरपिन्) के रास्ते ओलोन् आया था। दोनों ने किनूथुप् को स्वयं नहीं देखा था, बल्कि उनके बारे में सुना था। किनूथुप् बिना किसी मदद के सब खतरों का सामना करते तिब्बत से 200 मील की यात्रा करके ओलोन् (ओनलेट) पहुँचे थे, जब कि 1894 ई. के अंग्रेजी अभियान ने भारतीय मैदान से केवल 25 ही मील की यात्रा बड़ी मुश्किल से कर पाई थी। महान् पर्यटक की स्थिति 1913-14 ई. में बहुत खराब थी। वह सिलाई का काम करके किसी तरह जी रहे थे। इस समय अंग्रेजी शासकों को उनका ख्याल आया और उन्होंने थोड़ी-सी पेन्शन कर दी।

किनूथुप् के मुकाबले में तेनजिन नोर्गे कितने सौभाग्यशाली हैं ? लेकिन, यदि भारत स्वतन्त्र न होता, तो क्या अंग्रेज पर्वतारोही एवरेस्ट विजय में तेजजिन को साझीदार बनने देते ?

किनूथुप् की यात्रावाले कितने ही स्थानों में आज से 24 वर्ष पहले मैं भी गया था, लेकिन मुझे न लौहित्य और चाङ्-पो की एकता के लिए दुर्गम यात्रा करनी थी, और न उतना कष्ट उठाना पड़ा। अब तो उसी रास्ते चीन से ल्हासा के लिए रेल की सड़क बनाई जा रही है, जिसपर होकर कितने ही दिनों तक किनूथुप् ल्हासा से दूसरी बार चले थे।

6
भदन्त बोधानन्द महास्थविर[1]

वर्तमान शताब्दी में जब भारत में बौद्ध धर्म की चर्चा होने लगी तो मालूम होता था कि यह तो कोई एक नया आविष्कार है। मेरे अपने पितृग्राम में शताब्दियों से बौद्ध धर्म की एक पत्थर की मूर्ति डीहबाबा के नाम से पूजी जाती थी; लेकिन मैं क्या, मेरी सात पीढ़ियों को भी पता नहीं था कि यहाँ एक महान् धर्म कभी खूब फूला-फला था। भारत के शिक्षित जनों में बौद्ध धर्म के प्रति जो स्नेह और सहानुभूति आज से पचास वर्ष पहले दिखाई देने लगी, वह कोई पराई चीज के प्रति बाहरी सहानुभूति नहीं थी, बल्कि अपनी आत्मा को फिर से पाना था। बौद्ध धर्म को जानकर उन्होंने कूप-मंडूकता दूर की और समझा कि हमारे पूर्वज आज की तरह

---

1. बोधानन्दजी पर एक और लेख 'जिनका मैं कृतज्ञ' में भी है।

समुद्र के खारे जल के स्पर्श-मात्र से अपने धर्म के गल जाने को नहीं मानते थे; बल्कि वे शताब्दियों तक सागर की भीषण तरंगों से खेलते हुए पृथ्वी के कोने-कोने में पहुँचे थे। उनके लिए न हिमालय के उत्तुंग पर्वत दुर्लंघ्य थे, न गोबी या तकलामकान के रेगिस्तान ही। उस समय के संस्कृतज्ञ दर्शन के विद्वान बुद्ध के धर्म से अपरिचित नहीं थे; लेकिन उनकी संख्या ही कितनी थी, और वह भी जहाँ कहीं बुद्ध या उनके अनुयायियों का नाम आता, वहाँ पीढ़ियों से चली आई परम्परा के अनुसार घृणा प्रकट किए बिना नहीं रहते थे। हिन्दी-स्कूलों की पाठ्य-पुस्तकों में अव्वल तो हिन्दू-काल के लिए दो-तीन पृष्ठों से अधिक नहीं होते थे; लेकिन इसके लिए हमें उस समय के अंग्रेज लेखकों का कृतज्ञ होना चाहिए कि वे बुद्ध का जिक्र किये बिना नहीं रहते थे, जो कोमल-हृदय अल्पवयस्क छात्रों पर बुरा प्रभाव नहीं डालता था।

बुद्ध भारत से खो गए थे। उनका संदेश सबसे पहले अंग्रेज लेखकों द्वारा ही मिला--यद्यपि इस क्षेत्र में काम करनेवाले अंग्रेजों से भी पहले तथा अधिक व्यापक रूप में रूसी थे, जिनके बाद जर्मन और फ्रेंच विद्वान भी अंग्रेजों से पीछे नहीं थे। रूसी विद्वानों को भारत को नजदीक से समझने का पहला पाठ बौद्ध धर्म द्वारा ही मिला। 16वीं सदी में जब जारशाही साम्राज्य साइबेरिया की ओर फैलने लगा, तो रूसियों का सम्पर्क मंगोलों से हुआ। वोल्गा की उपत्यका में भी बौद्ध मंगोलों से उनका सम्पर्क हुआ, और यह मालूम करने में देर नहीं हुई कि मंगोलों का जातीय धर्म बौद्ध धर्म है। रूसी ईसाई मिशनरी उन्हें इतना ही बतला सके थे कि बौद्ध धर्म एक तरह का काफिर धर्म है, जिसके देवताओं की मूर्तियाँ कला और सौंदर्य में घटिया नहीं होतीं, किन्तु उनका मानसिक तल भूत-प्रेत और वृक्ष-वनस्पति पूजनेवाले आदिम मानवों से बहुत ऊँचा नहीं है। लेकिन उनकी यह धारणा बहुत जल्दी दूर हो गई जब रूसी मनीषियों ने अपने प्रतिद्वन्द्वी मंगोलों की भाषा पढ़ते हुए उनके धर्म और दर्शन का अवलोकन किया। उसी समय उन्हें यह भी मालूम हो गया कि मंगोलों का यह धर्म तिब्बत से नहीं बल्कि भारत से आया है--यद्यपि मंगोलों की धर्म-भाषा तिब्बती है। इसके बाद तो रूसी तिब्बती, चीनी और संस्कृत में उपलब्ध विशाल बौद्ध साहित्य में खूब गोता लगाने लगे और उससे बहुत प्रभावित भी हुए। रूसी संस्कृतज्ञों में एक बड़ी विशेषता यह देखी जाती है कि अकदमिकों (चोटी के विद्वानों) ने बौद्ध धर्म के साथ केवल सहानुभूति ही नहीं रखी, बल्कि अपने को बौद्ध घोषित करने में भी संकोच नहीं किया। रूस के दिग्गज संस्कृतज्ञों के अन्तिम प्रतिनिधि डॉ. श्चेरवात्स्की ने जहाँ अपनी लेखनी द्वारा बौद्ध दर्शन के गम्भीर भावों को जिज्ञासुओं के लिए सुगम कर दिया, वहाँ पीतरबुर्ग (लेनिनग्राद) के सुन्दर बौद्ध विहार के बनवाने में भी उनका और उनके मित्र महान कलाकार निकोलाई रोरिक का मुख्य हाथ था।

जब रूसी महाविद्वानों और अर्नाल्ड-जैसे अंग्रेज कवियों को उस महापुरुष के विचारों ने अपने सामने सिर झुकाने में सफलता पाई, तो यह बड़े आश्चर्य की बात होती, यदि भारतीय विद्वान 20वीं सदी में भी अपने कुछ पीढ़ियों के पूर्वजों की तरह आँख मूँदे कान में रुई डाले पड़े रहते। मुझे बुद्ध के उच्च जीवन और महान् दर्शन से बहुत प्रेरणा मिली, बल्कि मैं कह सकता हूँ कि मेरी विचारधारा का कितना ही मुख्य अंश बुद्ध से प्रभावित है। किन्तु स्कूल में पढ़ाई जानेवाली किसी पुस्तक की कुछ पंक्तियों के अतिरिक्त पहले-पहले मुझे बुद्ध की ठोस सत्ता का परिचय 1910 में हुआ। 1910 के शरद् में प्रथम साहसपूर्ण घुमक्कड़ी करके जब मैं बदरीनाथ से बरेली पहुँचा, तो वहाँ धर्मशाला में एक गेरुआधारी साधु खुन्नीलाल शास्त्री के दर्शन का अवसर मिला। उन्होंने बौद्ध धर्म के बारे में संस्कृत में लिखा एक छोटा-सा पैम्फ्लेट भी दिया। किन्तु उससे केवल थोड़ा-सा कौतूहल जगकर रह गया। अगले साल मैं अपने जन्मग्राम से सारनाथ के रास्ते बनारस जा रहा था। वहाँ पीले कपड़े वाले कुछ बर्मी साधु वंदना कर रहे थे। उन्हें न हमारी भाषा मालूम थी, न मुझे उनकी। उन्होंने 'चक्खु,चक्खु' कहकर कुछ अधिक बतलाने की कोशिश की; लेकिन मुझे न यही मालूम था कि चक्खु चक्षु का पाली रूप है और न यही कि चक्षु से उनका अभिप्राय लोकचक्षु (दुनिया की आँख) बुद्ध से है। आगे चलने पर जब आर्यसमाज के विचारों ने मुझ पर प्रभाव डाला, तो बुद्ध की उदार शिक्षा के बारे में भी एक-दो उड़ते हुए वाक्य सुनाई पड़े, जिसके कारण मेरी जिज्ञासा उधर और बढ़ी।

उस समय बौद्ध ग्रंथ हिन्दी में एक तरह से बिल्कुल थे नहीं। हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में बौद्धों का अभाव

होने से किसी से मिलकर जिज्ञासा की पूर्ति नहीं हो सकती थी। सबसे पहले उसके बारे में मन भरकर बातचीत करने का मौका 1917 के आस-पास मिला, जब कि मैं एक तरुण आर्यसमाजी के तौर पर जाकर लखनऊ के आर्यसमाज में ठहरा था। वहीं किसी ने एक बौद्ध भिक्षु का नाम बतलाया और मैं संध्या-समय उन भिक्षु के पास गया। यही थे भदन्त बोधानन्द महास्थविर। उन्होंने बहुत देर तक मुझसे बौद्ध धर्म के बारे में बात की और मेरे प्रश्नों का उत्तर दिया। आर्यसमाज में अब भी बहुत-से विद्वान थे, जो स्वामी दयानन्द के गुण-कर्म-स्वभाव से वर्ण-व्यवस्था के सिद्धांत में स्वभाव की आड़ लेकर जन्मना ब्राह्मण होने के कट्टर पक्षपाती थे। 1915 से ही मैं इस विषय में कट्टर नास्तिक था और जात-पाँत को किसी सूरत में भी मानने के लिए तैयार नहीं था। इसके लिए मुझे आर्यसमाजी ब्राह्मण पंडितों से 'कुलांगार' की उपाधि भी मिलती रहती थी। भदन्त बोधानन्द की बातों से मुझे जहाँ अपने विचारों के लिए पुष्टि मिली, वहाँ साथ ही बुद्ध के बारे में भी कितनी ही बातें सुनने का अवसर मिला। शायद मैं उनके पास एक से अधिक बार गया। उन्होंने बतलाया कि बौद्ध धर्म पर अधिक पुस्तकें पाली में हैं, थोड़ी-सी बँगला में भी मिल सकती हैं। मैंने उनसे पता लेकर कुछ पुस्तकें मँगाईं और अपने संस्कृत-ज्ञान की सहायता से पाली पुस्तकों को पढ़ने का स्वतः प्रयास भी किया, जिसमें बिल्कुल असफल भी नहीं रहा। महास्थविर द्वारा बौद्ध धर्म का मुझे प्रथम परिचय मिला। उनके बाद तो घनिष्ठता बढ़ी, और वे मेरे आत्मीय हो गए। मैं जब भी लखनऊ जाता, यह हो नहीं सकता था कि मैं उनके यहाँ छोड़कर कहीं अन्यत्र ठहरूँ। अधिक दिन हो जाने पर मिलने के लिए वे व्याकुल हो जाते। अनेक बार मैंने उनके गम्भीर चेहरे को आँसुओं से सिक्त होते भी देखा। वे बड़े ही कोमल-हृदय थे; लेकिन जहाँ किसी ने वर्ण-व्यवस्था या जात-पाँत की अच्छे शब्दों में चर्चा की तो मानो सोते सिंह को जगा दिया। फिर वे मनु से लेकर तुलसीदास तक के श्लोकों और चौपाइयों को उद्धृत करके इस देश के अधःपात के सबसे बड़े कारण वर्ण-व्यवस्था की धज्जी उतारने लगते।

बोधानन्द महास्थविर आधुनिक भारत के उन थोड़े-से बौद्धों में हैं, जिन्होंने बुझे दीपक को फिर से जलाने का प्रयास किया। उनसे पहले कुँवर सिंह के नेतृत्व में 1857 ई. में स्वतन्त्रता युद्ध में लड़े महावीर बाबा ने बुद्ध-निर्वाण-भूमि (कुशीनारा) में धूनी रमाई। उनके साथ काम करने के लिए एक तरुण बर्मी भिक्षु भारत आये, जो महास्थविर चन्द्रमणि या चन्दा बाबा के नाम से अभी भी हमारे बीच में मौजूद हैं। बोधानन्द महास्थविर ने उत्तर प्रदेश में मेरे जैसे बहुतों के पास तक बुद्ध का सन्देश पहुँचाया और मृत्यु के समय तक उन्होंने जात-पाँत के मायाजाल से देश को बाहर निकालने का प्रयत्न किया।

महास्थविर जन्म से बंगाली ब्राह्मण थे। ब्राह्मण होते हुए भी ब्राह्मण-धर्म की सर्वमान्य वर्ण-व्यवस्था का उनका इतना कट्टर विरोधी होना भी उल्लेखनीय बात थी। उनकी अवधी को सुनकर कोई कह नहीं सकता था कि वे अवध से कहीं बाहर के हैं। भारतवर्ष के बहुत-से स्थानों में घूमते हुए उन्होंने कितनी ही भाषाओं का परिचय प्राप्त किया और अवध को तो अन्तिम अड़तीस वर्षों के लिए अपना कार्यक्षेत्र ही बना लिया था। उनका पहला नाम मुकुन्दप्रकाश लाहिड़ी था। उनके पिता दीनबन्धु लाहिड़ी तथा माता सुवर्णा देवी मिर्जापुर जिले के चुनार कस्बे में थे, जब कि सितम्बर 1874 में उनके यहाँ मुकुन्द पैदा हुए। अभी मुकुन्द बच्चे ही थे कि उनके माता-पिता मर गये और उनकी मौसी उन्हें अपने साथ बनारस ले गईं। बनारस में जल्दी ही उनका झुकाव साधु-संन्यासियों की संगत और जीवन की ओर हो गया और वे उदासी बन साधुओं के कपड़े पहन कर चारों खूँट घूमने निकल पड़े। भारत के कितने ही प्रदेशों में वे तीर्थ-यात्रा करने लगे। इसी सिलसिले में वे पंजाब गये। सिन्ध में उन्होंने अपनी जवानी के बारह साल बिताये। साधु होने पर मुकुन्दप्रकाश का नाम बोधानन्द हो गया।

1896 में उनकी उम्र 22 वर्ष की थी और उस समय वे बनारस में थे। इसी साल भीषण अकाल पड़ा था। उनके करुणापूर्ण हृदय में अकाल-पीड़ितों की सेवा का ख्याल क्यों न पैदा होता ? इस समय तक वे जात-पाँत के सख्त शत्रु बन चुके थे। जिस धर्म में मनुष्य कुत्ते से भी बदतर माना जाता हो, उसके साथ कोई भी संबंध रखना उन्हें असह्य मालूम होता था। ईसाइयों ने अकाल-पीड़ितों की सेवा के लिए जगह-जगह अपने

आदमी भेजे। उनके इस पुनीत काम में स्वामी बोधानन्द ने भी सहायक होना पसन्द किया। वे शायद यह भी सोचने लगे थे कि अब उनके लिए ईसू मसीह की शरण में जाकर ही शान्ति मिलेगी। इस समय की अपनी मानसिक अवस्था के बारे में उन्होंने लिखा था--"मैं स्वभाव से ही सत्य का खोजी होने के कारण विद्वानों और साधु-महात्माओं की सेवा और सत्संग में रहता था। मैंने हिन्दू-शास्त्रों और हिन्दू-संस्कृति का अध्ययन किया, किन्तु मुझे शान्ति न मिली। इसका मुख्य कारण यह है कि हिन्दू धर्म में एक अति भीषण वर्ण-व्यवस्था है, जिसके कारण छूतों तथा अछूतों की अवस्था बड़ी दयनीय है। उन्हें धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और शिक्षा-सम्बन्धी जीवन के उन्नति विकास के सभी क्षेत्रों में नीचे गिराया गया है--उनके जन्मसिद्ध मानवीय अधिकारों और उच्चाकांक्षाओं को बड़े कौशल और हृदयहीनता के साथ कुचला गया है। उच्च जाति के हिन्दू लोग वंशानुक्रम से हजारों वर्षों से जन्मगत वर्ण-व्यवस्था द्वारा उनके श्रम से अनुचित लाभ उठा रहे हैं। इसे देखकर मेरा हृदय अत्यन्त दुखित और द्रवित हो गया। सन् 1896 ई. में जब मैं दुर्भिक्ष-पीड़ितों में सेवा का काम कर रहा था, उसी समय सौभाग्यवश काशी में लंका के बौद्ध भिक्षुओं से मेरी भेंट हो गई। उनके सत्संग से मैंने बौद्ध धर्म का अध्ययन किया। मुझे ज्ञात हुआ कि वर्तमान हिन्दुओं में जितने सार्वजनिक लोकहितकारी तत्त्वों का समावेश है, उन सबका मूल-स्रोत बौद्ध धर्म है।"

काशी के पास सारनाथ वही स्थान है, जहाँ पर बुद्ध ने धर्मचक्र-प्रवर्त्तन (सर्वप्रथम उपदेश) किया। इसलिए वहाँ बौद्ध आते-जाते थे। लंका के कुछ बौद्ध भिक्षु थियोसोफी-सम्मेलन में निमंत्रित होकर आए थे। थियोसोफी से प्रभावित होने के कारण वे ईसा को भी महापुरुष मानते थे। उन्होंने बोधानन्द को बतलाया कि बुद्ध की अपनी शिक्षा में वे सभी गुण मौजूद हैं, जिनकी तुम खोज में हो। उनके सत्संग से बोधानन्द ने जल्दी ईसाई बनने का निश्चय छोड़ दिया और उनके कथनानुसार पहले 'वसलसुत्त' (वृष्टलसूत्र) को पढ़ा, जिसमें छूत-अछूत के जातिगत विचारों का बुद्ध ने खण्डन किया है। 'वसलसुत्त' पढ़ने के बाद उन्हें मालूम हो गया कि मुझे ईसाई बनने की अब कोई आवश्यकता नहीं, मैं बुद्ध के उपदेशों द्वारा अपने देश-भाइयों का अधिक कल्याण कर सकता हूँ। इसके बाद बौद्ध धर्म-प्रभावित साधु के तौर पर उनका अध्ययन और पर्यटन जारी रहा। इसी सिलसिले में वे लखनऊ पहुँचे। बौद्ध धर्म के सम्पर्क में आने के 18 वर्ष बाद उन्होंने कलकत्ता जाकर 1914 में चट्टग्राम-निवासी भदन्त कृपाशरण महास्थविर से भिक्षु-दीक्षा प्राप्त की। भारत में अभी भिक्षु-दीक्षा के लिए स्थायी स्थान (सीमा) दुर्लभ थे, इसलिए कलकत्ते में गंगा के भीतर नौका के ऊपर बर्मा, लंका और चट्टाग्राम के भिक्षुओं ने उन्हें संघ में दीक्षित किया। उस समय प्रथम बौद्ध धर्मदूत अनागारिक धर्मपाल भी वहाँ मौजूद थे।

भिक्षु बनकर बोधानन्द जी फिर लखनऊ लौट आए। इसके बाद का 38 वर्षों का उनका जीवन शोषित-दलित जातियों में आत्म-चेतना लाने में बीता। अपनी तीखी आलोचनाओं के कारण उन्हें लोगों का विरोध भी सहना पड़ा, लेकिन उनकी लगन को देखकर विरोधी भी सम्मान-प्रदर्शन किए विना नहीं रहे। मौखिक प्रचार के अतिरिक्त उन्होंने हिन्दी में 'मूल भारतवासी और आर्य' तथा 'बौद्ध-धर्मापद्धति' नामक दो पुस्तकें भी लिखीं। लेकिन वे कलम के धनी नहीं थे। उनका समालाप बड़ा ही सुन्दर और ज्ञानवर्धक होता था। लखनऊ में रिसालदार बाग का बौद्ध विहार जहाँ उनके अथक परिश्रम और स्नेह का प्रतीक बनकर तैयार हुआ, वहाँ उनकी चालीस वर्षों से जमा की हुई भिन्न-भिन्न भाषाओं की पुस्तकें भी कम महत्त्व नहीं रखतीं। उपदेश के अतिरिक्त वे सदा लोगों को पढ़ने की प्रेरणा देते। पुस्तकों को वे मधु-मक्खियों की तरह जतन से जमा करके सुरक्षित रखते थे। इतने परिश्रम से बनाए विहार और पुस्तकालय की रक्षा का भी उनको ध्यान था, इसलिए उन्हें महाबोधि सोसाइटी के तत्त्वावधान में दे दिया। वे चाहते थे, हमारा काम आगे भी चले। इसके लिए उन्होंने लंका के एक बौद्ध-पुत्र को शिष्य बनाकर अपने काम का भार सौंपा। प्रज्ञानन्द ने अपने वृद्ध गुरु की सेवा बड़ी लगन से की। महास्थविर यद्यपि बहुत ही शीतल स्वभाव के थे, लेकिन कभी-कभी उबल भी पड़ते थे। ऐसे पुरुष की एकांत सेवा करना प्रज्ञानन्द जैसे तरुण का ही काम था।

महास्थविर 78 वर्ष के थे, जब कि नासूर की भयंकर बीमारी ने उन्हें आ दबाया। लखनऊ मेडिकल

कालेज में लाभ न होते देख उन्हें कलकत्ता ले गए, लेकिन मृत्यु की औषधि क्या हो सकती है ? रविवार, 11 मई, 1952 को सबेरे भदन्त बोधानन्द महास्थविर ने अपने जीवन को समाप्त किया और कितनों को रुलाकर महाप्रस्थान कर दिया।

7

मौलवी महेशप्रसाद[1]

उस दिन समाचारपत्र में पढ़ा कि प्रयाग में मौलवी महेशप्रसाद का देहान्त हो गया। सचमुच ही मृत्यु आयु को नहीं देखती। पिछली बार जब मेरी उनसे भेंट हुई थी, उस समय किसको पता था कि भाई साहब का यह आखिरी दर्शन है। 37 वर्ष पहले 1915 ई. में मुझे उनके घनिष्ट सम्पर्क में आने का मौका मिला था। भारत का एक चक्कर लगा आने से मैं उस समय घुमक्कड़-धर्म में दीक्षित हो चुका था, देश-काल का कुछ ज्ञान भी रखता था। लेकिन अधिकतर संस्कृत का विद्यार्थी होने के कारण देश-काल में देश की स्वतन्त्रता का ज्ञान भी आवश्यक है, इसका मुझे पता ही नहीं था। आर्यसमाज उस समय एक अच्छी आदर्शवादी संस्था थी। उसके कुछ ही महीनों के परिचय के बाद मुसाफिर विद्यालय, आगरे का नाम सुनकर मैं भी आर्य-मिशनरी बनने के ख्याल से वहाँ पहुँचा। उस समय विद्यालय की पढ़ाई खत्म करके भाई महेशप्रसाद वहाँ मुख्य अध्यापक थे। मुख्य अध्यापक क्या, वस्तुतः वे ही एकमात्र अध्यापक थे, जो अरबी पढ़ाने के साथ-साथ विद्यालय की सारी देख-भाल करते थे। संस्कृत पढ़ाने के लिए दो घंटे के वास्ते एक पंडितजी चले आते थे, जिनसे मुझे कुछ लेना-देना नहीं था; क्योंकि विद्यालय में पढ़ाई जाने वाली संस्कृत से मैं कहीं अधिक पढ़ चुका था।

भाई साहब ने डेढ़ साल में जो अरबी मुझे पढ़ाई, उसका अधिक उपयोग मैं नहीं कर सका; क्योंकि आगे के कार्यक्षेत्र का उसके साथ उतना सम्बन्ध नहीं था। किन्तु आदर्शवाद के संसार को देखने के लिए उन्होंने एक ऐसी दृष्टि या गति दी, जिसका प्रभाव मेरे सारे जीवन के लिए अमिट रहा। वह प्रथम महायुद्ध का समय था। युद्ध का प्रभाव देश के आर्थिक जीवन पर बहुत पड़ा था--यद्यपि उतना नहीं जितना कि द्वितीय महायुद्ध में देखने में आया। मुसाफिर विद्यालय में अरबी और संस्कृत के अध्ययन से जितना वहाँ के विद्यार्थियों का सरोकार था, उससे कहीं अधिक हमें राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ने को मिला, जिससे हमारे हृदयों में ऐसा अपूर्व उत्साह पैदा हो गया था कि किसी तरह की भी कुर्बानी हममें से अधिक तरुणों के लिए अदेय नहीं थी। लेकिन अगले जीवन पर समय और परिस्थितियों ने भी अपना प्रभाव डाला। आज मुसाफिर विद्यालय में उस समय एकत्रित हुई तरुण मूर्तियाँ बचे हुए लोगों के जीवन-भर के वास्ते मानस-प्रतिबिम्ब-मात्र रह गई हैं। हमसे ऊपरी कक्षा के तरुण श्री रामगोपाल वृहत्तर भारत में जाने के लिए तैयारी कर रहे थे, लेकिन असहयोग के समय से पहले ही प्लेग में उनका देहान्त हो गया। उनमें कितना त्याग था, साथियों के लिए कितना सौहार्द था, इसे शब्दों में कहना मुश्किल है। भाई साहब जब अपनी अरबी की शिक्षा पूर्ण करने के लिए लाहौर के ओरियण्टल कॉलेज में भर्ती हुए, उस समय रामगोपाल जी अपने गुरु की दिलो-जान से सेवा करते रहे। हमारा सहपाठी चलता-पुर्जा आफत का परकाला अभिलाष भी आज नामशेष रह गया। अभिलाष चलता पुर्जा बुरे अर्थों में नहीं था, बल्कि उसकी बातचीत, उसके रहन-सहन और हर गतिविधि में एक प्रकार का अनोखापन, अल्हड़पन और आकर्षण था, जो आदमी को बहुत जल्द मोह लेता था। वह अरबी-संस्कृत पढ़कर आर्यसमाज का उपदेशक बनने के लिए नहीं पैदा हुआ था। इसीलिए वह अपने पूरे पाठ्य-विषय को समाप्त भी न कर सका। कल-पुर्जे को देखना-सँभालना उसकी स्वाभाविक रुचि थी। घड़ी बनाना, फोटो खींचना तो उसने खेल-खेल में सीख

1. महेशप्रसादजी पर एक और लेख 'जिनका मैं कृतज्ञ' में भी है। देखें, राहुल-वाङ्मय : खंड-2, जिल्द-1

लिया था। फिर सनक सवार हुई, तो मोटर-ड्राइवरी ही नहीं, बल्कि मैकेनिकल इंजीनियर का प्रमाणपत्र भी ले लिया। उसकी वड़ी इच्छा थी विमान-चालक बनने की, लेकिन प्रथम विश्व-युद्ध के तुरंत बाद ही अभी भारत में विमानों का वहुत अभाव था। फिर अंग्रेजों के दास भारत में प्रतिभा के मूल्य की बात ही कौन पूछता, जब कि आज स्वतंत्र भारत में भी कितनी ही प्रतिभाओं को हम भटकते देख रहे हैं ! वह अभिलाष भी चल बसा। इसी तरह और भी साथी अब नहीं रहे। उस समय के मित्रों और मौलवी महेशप्रसाद के शिष्यों में अब भाई मुरारीलाल वैद्य, मुरारीलाल शास्त्री और पं. भगवतीप्रसाद ही बच रहे हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अगली पीढ़ियों के लिए पिछली पीढ़ियों को स्थान खाली करना ही पड़ता है। बीती पीढ़ियों के सहस्रांश का स्मरण भी एक-दो पीढ़ियों तक नहीं पहुँच पाता। दुनिया में विस्मृति सबसे जबर्दस्त चीज है। उससे शिकायत भी करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि नई पीढ़ियों को अपने जीवन के हजारों महत्त्वपूर्ण काम रहते हैं, वे पिछली पीढ़ियों को कहाँ तक स्मरण करती रहेंगी ?

मौलवी महेशप्रसाद का जन्म 17 नवम्बर, 1890 को इलाहाबाद जिले के फतेहपुर गाँव में हुआ था और मृत्यु 29 अगस्त, 1951 को रसूलाबाद (प्रयाग) में हुई--अर्थात् मृत्यु के समय वे लगभग 61 वर्ष के हो गए थे। मृत्यु से कुछ ही समय पहले लिया गया यह फोटो जब मैं उस चित्र से मिलाता हूँ; जो मेरे मानस-पटल पर 1915-16 में अंकित हुआ था, तो कुछ हल्के-से बुढ़ापे के चिह्नों के अतिरिक्त बहुत कम अंतर पाता हूँ। वहीं ओठों पर झलकती हुई हल्की-सी मुस्कराहट, वही स्नेह और सहानुभूति से भरी चमकती हुई आँखें, वही सीधा-सादा कुर्ता—हाँ, गाँधी टोपी का अभी रिवाज नहीं था। लेकिन गाँधी-युग के आरम्भ होने से पहले ही वे स्वदेशी के भक्त थे और हाथ के कते या कर्घे के बुने मोटे-झोटे कपड़ों को पहनते थे। उनकी सादगी सदा अक्षुण्ण रही, लेकिन इस सादगी में दिखावे का नाम नहीं था। तरुणाई में भाई साहब को किसी समय शायरी का शौक भी हुआ था। उस वक्त उन्होंने अपना उपनाम 'साध' रख लिया था। मैंने उनकी उर्दू की दो-एक कविताएँ ही छपी देखीं। लेकिन मालूम होता है यह जवानी की सनक-भर थी जो जल्दी ही उतर गई !

महेशप्रसादजी ने मैट्रिक पास किया था। साधनों के अभाव से आगे पढ़ने में कठिनाई थी, इसलिए उन्होंने चाहा कि पुलिस की सब-इन्स्पेक्टरी में चले जायँ। उसके लिए दरख्वास्त भी दी, लेकिन उनके भाग में सब-इन्स्पेक्टरी नहीं बदी थी। अभी मामला बीच ही में झूल रहा था कि उन्हें मालूम हुआ, अरवी-संस्कृत पढ़ाकर उपदेशक तैयार करने के लिए आगरे में आर्यसमाज ने मुसाफिर विद्यालय खोला है। प्रथम विश्व-युद्ध से पहले का आर्यसमाज पीछे के आर्यसमाज से कितनी ही बातों में वहुत अन्तर रखता था। उस वक्त उसके वातावरण में समाज-सुधार के साथ-साथ देशभक्ति की भी आग खूब जल रही थी, जिससे अंग्रेज शासक आर्यसमाज को संदेह की दृष्टि से देखा करते थे। महेशप्रसाद जहाँ आर्यसमाज के सम्पर्क में आए थे, वहाँ महात्मा नन्दगोपाल जैसे कुछ क्रान्तिकारी देशभक्तों की संगत से भी उन्हें लाभ उठाने का मौका मिला था। पं. भोजदत्त द्वारा स्थापित आगरे के मुसाफिर विद्यालय का पता लग जाने पर उन्होंने सब-इन्स्पेक्टरी का खयाल छोड़ दिया और आगरा पहुँच गए। शायद यह 1912 या 13 की बात है। 1915 के आरम्भ में जब मैं वहाँ पहुँचा तो वे अपनी पढ़ाई समाप्त करके विद्यालय के प्रधान अध्यापक बन चुके थे। जैसा कि मैंने कहा, वे केवल हमारे भाषा के अध्यापक ही नहीं थे, बल्कि आदर्श के पथ-प्रदर्शक भी थे। मुसाफिर-विद्यालयों में वही विद्यार्थी जाते थे, जिनके आगे पढ़ने के दूसरे रास्ते बन्द थे। हमारे अधिक साथी मिडिल हिंदी-उर्दू तक पढ़े थे और थे भी गाँव के रहने वाले। इसलिए उन्हें राजनीतिक ज्ञान से क्या सरोकार था ! इस बारे में भाई साहब बहुत सौभाग्यशाली थे। इसीलिए वे अपने ज्ञान और प्रभाव से हमें एक नई दुनिया देखने के लिए आँख दे रहे थे। साधारण पढ़ाई के अतिरिक्त कभी भाई साहब के साथ और कभी आपस में भी हम लम्बी उड़ानों का सपना देखते थे, यद्यपि आगे उन उड़ानों को करने में बहुत कम सफल हो पाए।

हमें पढ़ाते हुए भाई साहब ने अपनी आगे की अरबी की पढ़ाई जारी रखी। उन्हें जो 15-16 रुपये मासिक मिलते थे, उनमें से कुछ देकर उन्होंने एक मौलवी को अपना अध्यापक रख लिया था। मेरी पढ़ाई भी समाप्त

हुई, मुझे केवल अरवी पढ़ने की जरूरत थी। मुझसे अच्छा व्याख्यान दे देनेवाले मेरे दूसरे साथी भी थे। लेकिन बहस-मुबाहसा तथा दूसरी बातों के कारण विद्यालय वालों को मुझसे बड़ी आशा थी। विद्यालय के संस्थापक पण्डित भोजदत्त चन्द्रा करके काम चला रहे थे। लेकिन मेरे यहाँ पहुँचते-पहुँचते वे तपेदिक के शिकार हो गए और बहुत दिन नहीं हुआ, वे चल बसे। इसके बाद विद्यालय के प्रवन्ध का भार उनके दोनों लड़कों--डॉ. लक्ष्मीदत्त और वकील तारादत्त--के ऊपर पड़ा। आज दोनों भाई भी नहीं रह गए। खैर, उनको अफसोस हुआ, जब मैं उपदेशक बनने की जगह और आगे पढ़ने के लिए लाहौर जाने लगा। लाहौर में पढ़ने के साथ-साथ मैंने देखा कि अगर भाई साहव यहाँ ओरियण्टल कॉलेज में दाखिल होकर वाकायदा अरबी पढ़ते, तो समय की भी बहुत बचत होती और पढ़ने का सुभीता भी अधिक मिलता। पहले समय की अपेक्षा 1916-17 में खाने-पीने की चीजों का दाम बहुत बढ़ गया था; लेकिन आज की अपेक्षा उस समय भी वह सस्ता था। तो भी विना पैसे के अपरिचित स्थान में जाना कम चिन्ता की बात नहीं थी। लेकिन मैंने लाहौर में अपना स्थान बना लिया था। मैंने यह भी देख लिया था कि भाई साहब वहाँ आकर भूखे नहीं रह सकते। कोई ट्यूशन या दूसरा काम मिल सकता है, जिससे गुजारा करके वे अपनी पढ़ाई जारी रख सकते हैं। उनके आने पर ऐसा ही हुआ भी। सूखी रोटी और मोटे-झोटे कपड़े पर सन्तोष करनेवाले आदमी का खर्च ही कितना था ! दस रुपये मासिक के ट्यूशन से भी उनका काम चल सकता था।

भाई साहब ओरियण्टल कॉलेज की मौलवी आलिम कक्षा में दाखिल हो गए। वे पहले हिन्दू थे, जिन्होंने मौलवी आलिम कक्षा में नाम लिखाया था। वे पहले हिन्दू थे, जिन्होंने अरबी की सर्वोच्च परीक्षा मौलवी फाजिल पंजाब-विश्वविद्यालय से पास की। उस समय ओरियण्टल कॉलेज का कोई अपना अच्छा छात्रावास नहीं था। किले और शाही मस्जिद के बीच में कुछ कोठरियाँ थीं, जो न जाने किस मतलव से बनाई गई थीं। इसके निचले तल्ले में बहुत समय तक अंग्रेजों के घोड़े बँधते रहे। भाई साहव उसी छात्रावास में रहने लगे। अपने शास्त्रार्थों और खंडन-मंडन के कारण आर्यसमाज मुसलमानों में ज्यादा बदनाम था और भाई साहब कोई छिपकर अपनी पढ़ाई नहीं कर रहे थे। उनकी मोटी चुटिया हमेशा खुली रहती थी, क्योंकि वे टोपी नहीं पहनते थे। धोती और कुर्ता उनकी पोशाक में थे। लाहौर यद्यपि अभी भारत का पेरिस नहीं बना था, तो भी हमारे प्रदेश से वहाँ शौकीनी अधिक थी, इसमें सन्देह नहीं। भाई साहव मोटे कुर्ते और धोती पर ही संतोष नहीं करते थे, बल्कि बुन्देलखंड के गाँवों में पहना जानेवाला चमरौधा जूता भी मँगाकर पहनते थे। बुन्देलखंड में रहते समय पीछे मुझे इसका लाभ मालूम हुआ था। पंजे के ऊपर अधिक निकला हुआ चमड़ा झाड़ियों के काँटों से रक्षा करता था। भाई साहब का बर्ताव अपने मुसलमान अध्यापकों और सहपाठियों से इतना अच्छा था कि उस पर धार्मिक मतभेद का कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ा। भाई साहव एक जगह जमकर रहनेवाले जीव थे और मैं उड़नछू पंछी, जिसके लिए 6 महीना भी एक जगह रहना भारी आफत थी। भाई साहब अपने मौलवी आलिम-फाजिल की पढ़ाई में लग गए और पैरों में चक्कर बाँधकर कभी भटकने और कभी बुन्देलखंड में अरबी-संस्कृत पाठशाला खोलकर वैठने की व्यर्थ कोशिश करने लगा।

मैं मद्रास या कुर्ग में था, जब कि असहयोग का आन्दोलन शुरू हुआ। तव तक भाई साहब मौलवी फाजिल हो चुके थे। हिन्दू मौलवी फाजिल पाकर हिन्दू-विश्वविद्यालय ने उन्हें तुरन्त अपना लिया; लेकिन उनकी जो कदर होनी चाहिए थी, वह आखिर तक नहीं हुई। तो भी पढ़ाई समाप्त करने के वाद अपना सारा जीवन उन्होंने हिन्दू-विश्वविद्यालय में विताया। जब वे काम पर लग गए, तो ब्याह के लिए चारों ओर से जोर पड़ने लगा। मैं उसके पक्ष में नहीं था, लेकिन भाई साहब का वैसा मत नहीं था। दक्षिण में रहते ही उनके ब्याह की बात भी मालूम हो गई। अपनी सहधर्मिणी के चुनने में भी उन्होंने अपनी अनोखी परख का पता दिया। कितनी ही अच्छी शिक्षिता लड़कियाँ मिल रही थीं, लेकिन उनका कहना था--मुझे तो ऐसी लड़की चाहिए, जो चक्की भी पीस ले, खाना भी बना ले, घर के काम के लिए किसी की मोहताज न रहे। हाँ, तो भाई साहब को ऐसी ही पत्नी मिली। गाँधी-युग के पहले से ही वे स्वदेशी और सादगी के व्रती थे, गाँधी-युग ने उन पर और प्रभाव डाले, जिसमें कल की जगह हाथ के पीसे-कूटे दाल-चावल-आटे की महिमा भी थी।

बेचारी पत्नी पति से बहुत पहले ही चल बसीं और लड़कियों के पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा का भार भाई साहब के ऊपर दे गईं।

भाई साहब स्थान में ही एक जगह जम कर बैठने की आदत नहीं रखते थे, बल्कि उनके विचारों में भी बहुत कम परिवर्तन की गुंजाइश थी। मैं आर्यसमाज से हटते-हटते बौद्ध धर्म और मार्क्सवाद तक पहुँच गया लेकिन भाई साहब बड़ी लगन से आर्यसमाजी बने रहे। वे आर्यसमाजी सभाओं में उपदेश देने जाते, यद्यपि वे खंडन-मंडन और शास्त्रार्थी उपदेशक नहीं बन सके। उनके दिल में आग तो थी, लेकिन उसकी प्रचंडता बाहर मालूम नहीं होती थी। उनका अरबी-भाषा का ज्ञान गंभीर था, लेकिन कम बोलने और कम लिखने की आदत ने उनसे आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए अधिक काम नहीं करवा पाया। शायद इसमें एक कारण यह भी था कि हिन्दू-विश्वविद्यालय में जैसी कदरदानी होनी चाहिए थी, जैसा प्रोत्साहन मिलना चाहिए था, वैसा नहीं हुआ। अरबी-कविता पर उन्होंने एक छोटी-सी पुस्तक लिखी और अरबी-साहित्य के सम्बन्ध में कुछ फुटकर लेख भी। लेकिन वे अरबी-साहित्य के सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातों से पूर्ण कितने ही ग्रंथ दे सकते थे, जिसे अब दूसरों को देना होगा। मैं अपने से ही मिलाता हूँ। मैंने बौद्ध साहित्य का जब आलोड़न किया और हिन्दी की अवस्था देखी, तो तुरंत हाथ में आए ज्ञान को हिन्दी-भाषा-भाषियों के लिए कागज पर उतारने में बड़ी बेसब्री का परिचय दिया। शायद भाई साहब भी कुछ इसी तरह की भावना रखते थे, लेकिन पुस्तकों का प्रकाशन हिन्दी में आसान नहीं था। मेरी ही बौद्ध धर्म-सम्बन्धी पुस्तकों को छापने के लिए निःस्वार्थ भाव से कुछ संस्थाएँ और व्यक्ति तैयार न हो गए होते, तो क्या काम आगे बढ़ सकता था ? भाई साहब इसके लिए जद्दोजहद करते, तो हो सकता है आगे रास्ता निकल आता। पर साथ ही उन्हें एक बड़ी गृहस्थी भी तो चलानी थी।

लाहौर या आगरे के ही बाद अधिक समय तक एक साथ रहने का मुझे मौका नहीं मिला; लेकिन भारत में रहते समय प्रायः हर साल एक-दो बार मुलाकात हो जाया करती थी। उस वक्त मुझे मालूम होता था कि मेरे सामने वही भाई साहब बैठे हैं, जिन्हें आगरे में मैंने छोड़ा था। उन्हें भी मैं वैसा ही दिखाई पड़ता था। बड़ी बेतकल्लुफी से बातें होतीं। मैं अपनी यात्राओं का वर्णन करता, अपने सामने रखे कामों की चर्चा करता और वह संक्षेप में आपबीती सुनाते। उनके जीवन के पिछले बहुत-से वर्षों के बारे में मुझसे अधिक साहित्य-सम्मेलन के भूतपूर्व अध्यक्ष तथा मेरी ही जन्मभूमि के सपूत पं. चन्द्रबली पांडे अधिक अच्छी तरह बतला सकते हैं। दोनों की सीधी-सादी जिन्दगी में ही समानता नहीं थी, बल्कि दोनों की साहित्यिक सेवा में भी बहुत सादृश्य था। इसीलिए तो 'कुनद हमजिन्स बा-हमजिन्स परवाज' के अनुसार मौलवी साहब का निवासस्थान बेघर चन्द्रबली पांडे का चिरनिवास बन गया था।

पिछले दो-ढाई सालों से डायबीटीज के संयम के कारण मैं अब अव्याहतगति नहीं रह गया हूँ, इसलिए भाई साहब से मिलने का मौका भी डेढ़-दो साल से नहीं हुआ था। लेकिन मुझे कहाँ यह खयाल था कि मेरे भाई साहब और दूसरों के मौलवी महेशप्रसाद इतनी जल्दी हमें छोड़कर चले जायेंगे ! उनकी बीमारी का भी पता नहीं चला था कि एकाएक पढ़ा–"भाई साहब का देहान्त हो गया !' पुत्री कला ने अपने पत्र में लिखा था--आपको पिताजी का फोटो··भेज रही हूँ। यह पिछले वर्ष का (1951) का खींचा हुआ चित्र है। साथ ही यह न भूलूँगी कि अन्तिम दिनों में वे आपकी तथा अपने अन्य साथियों की प्रायः चर्चा किया करते थे।" सचमुच ही वे स्नेह और सहानुभूति की मूर्ति थे। भला अपने पूर्व मित्रों की स्मृति को कैसे भुला सकते थे ?

मृत बन्धुओं की स्मृति को चिरस्थायी रखने की लोग कोशिश करते हैं। इसे मैं बुरा नहीं मानता; किन्तु इसकी सफलता पर संदेह मुझे अवश्य है। हाल में ही कितने ही ऐसे पुरुष गुजरे हैं, जिनका नाम सालों हर रोज अखबारों में निकलता था, उनके नाम की धूम-सी मची हुई थी; लेकिन अब कोई-ही-कोई याद करता है। भाई साहब ने अपने ज्ञान और सौहार्द से बहुतों का उपकार किया। अपने बारे में तो कह सकता हूँ कि मेरे जीवन को सबसे अधिक प्रेरणा जिस पुरुष से मिली, वह भाई महेशप्रसादजी थे। एक समय मैंने इस कृतज्ञता को प्रकट करने के लिए अपने 'कुरानसार' (इस्लाम धर्म की रूपरेखा) में मंगलाचरण के तौर पर एक दो अर्थोंवाला श्लोक रचा था। पीछे अनीश्वरवादी हो जाने पर ईश्वर की ध्वनि लानेवाले उस श्लोक को मैंने पुस्तक में नहीं

रखा और न अब वह सारा श्लोक ही याद है। उसके कुछ अंश थे :

"...शुष्कं पर्णं तदिव सततं खे पृथिव्यामटंतं,
प्रेणोत्थाय विदितविभवो...
...नौभि तं श्रीमहेशं।"

सचमुच भाई साहब से मिलने से पहले मैं सूखे पत्ते की तरह निरुद्देश्य भटकता था। पीछे भी यद्यपि भटकना बन्द नहीं हुआ, किन्तु मेरे जीवन को सोद्देश्य वनाने का श्रेय मौलवी महेशप्रसाद को है।

8

अछूतोद्धारक स्वामी सत्यानन्द

एक और घनिष्ठ मित्र अब स्मृति की वस्तु रह गए। स्वामी सत्यानंद मेरे अपने जिले आजमगढ़ में पैदा हुए, लेकिन उनका परिचय मुझे अपने जिले में प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला। यह परिचय भी उस समय मिला, जब नहीं कहा जा सकता कि उनका जीवन-पथ किस ओर जानेवाला था। प्रथम विश्वयुद्ध चलते एक ही साल हुआ था। सन् 1915 के दिसम्बर में स्वामी सत्यानन्द, उस समय के बलदेव चौवे, अपने एक तरुण मित्र के साथ वृन्दावन गुरुकुल का वार्षिकोत्सव देखकर आगरा आए। उस समय आर्यसमाज एक सजीव संस्था थी, जिससे तरुणों को बहुत प्रेरणा मिलती थी। तरुण वलदेव चौवे किसी तरह उसके सम्पर्क में आ गए, इसलिए दोनों मित्र आजमगढ़ से मथुरा-वृन्दावन के तीर्थाटन और देशाटन के लिए ही नहीं, वल्कि आर्यसामाजिक संस्थाओं को देखने के लिए अपनी छुट्टियों को लगा रहे थे। उन्हें आगरे के अरबी-फारसी पढ़ाकर आर्य धर्मोपदेशक बनाने वाले आगरे के आर्य-मुसाफिर विद्यालय का पता लग गया था, इसलिए वे यहाँ आए। विद्यालय के प्रधानाध्यापक स्वर्गीय मौलवी महेशप्रसाद थे और उनके विद्यार्थियों में हम आधे दर्जन के करीब तरुण थे। आगरे में अपने जिले के दूसरे तरुण को देखना हम दोनों के बीच साधारण परिचय से अधिक सम्वन्ध स्थापित करने के लिए पर्याप्त था। 1915 से 1953 ई. तक 38 वर्षों की हमारी मैत्री रही। हमारे विचार कितनी ही बातों में एक-दूसरे से बिल्कुल उल्टे थे, लेकिन मुझे याद नहीं कि कभी एक बार भी उसके कारण हमारे बीच किसी तरह का मनमुटाव हुआ हो। उनका स्नेह मेरे ऊपर कितना था और वे मेरे ऊपर अपना कितना अधिकार समझते थे, यह इसी से मालूम होगा कि 1936-37 में जब कांग्रेस प्रादेशिक कौंसिलों का चुनाव लड़ रही थी, उस समय प्रान्तीय कमेटी में वे आजमगढ़ के एक चुनाव-क्षेत्र से मेरा नाम देना तै करवा आये। लोगों ने जब पूछा कि वे खड़ा होना भी चाहेंगे, तो उन्होंने जवाब दिया--'हाँ, जरूर।' अपने जिले से मेरा सम्बन्ध करीव-करीब सन् 1910 से छूट गया था, जब कि मैंने घुमक्कड़ी की दीक्षा ली। उसके बाद जिस जिले को मैंने अपना अधिकांश कार्यक्षेत्र बनाया, वह था बिहार का छपरा। मुझे जब उन्होंने कौंसिल-मेम्बरी के लिए खड़े होने को कहा और मैंने इन्कार में जवाब दिया, तो उसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

प्रारंभिक जीवन

1915 ई. के अन्त में पहली बार हम दोनों का साक्षात्कार हुआ था। उस समय बलदेवजी हाई स्कूल की शायद नवीं क्लास के विद्यार्थी थे। 1916 ई. में जव मैं मुसाफिर-विद्यालय की पढ़ाई खत्म करके अपनी संस्कृत की पढ़ाई को आगे बढ़ाने के खयाल से लाहौर पहुँचा, तो देखा कि वलदेव जी भी वहाँ अनारकली के एक मन्दिर में डेरा डाले हुए हैं। अब तो लाहौर के समय में हम दो शरीर और एक प्राण हो गए। मैं विद्या या बुद्धि में अपने को उनसे बड़ा नहीं समझता था। आयु में चार वर्ष मैं बड़ा था। लेकिन हर एक बात में बलदेवजी मुझसे परामर्श लेते और मेरी बातों का आदर करते। बलदेव जी एक गरीब किसान के घर में पैदा हुए थे।

थोड़े-बहुत खेत थे, जिनकी आमदनी के बल पर उर्दू-मिडिल पास करने के बाद अपने जिले में भी हाईस्कूल की पढ़ाई करना उनके लिए मुश्किल था। फिर लाहौर जैसे खर्चीले और दूर देश के नगर में पैसे के बल पर अपनी पढ़ाई कैसे कर सकते थे ? लेकिन केवल इसी कारण उन्होंने अंग्रेजी छोड़कर संस्कृत का विद्यार्थी बनना स्वीकार नहीं किया। आर्यसमाजी उपदेशकों के लम्बे-चौड़े भाषणों को सुनकर उनके तरुण हृदय को विश्वास हो गया। 'सभी सत्य विद्याओं के भंडार वेद हैं, जो संस्कृत में हैं। इसलिए मुझे अपने जीवन का अनमोल समय अंग्रेजी-जैसी म्लेच्छ भाषा को न देकर संस्कृत पढ़ना चाहिए।' आदर्शवादी बलदेव को सांसारिक आर्थिक महत्त्वाकांक्षा नहीं थी। संस्कृत के विद्यार्थी के लिए खाने-कपड़े या फीस की समस्या नहीं थी। कितने ही और बड़े शहरों की तरह पंजाब की राजधानी लाहौर में संस्कृत के विद्यार्थियों के निःशुल्क पढ़ने के लिए विद्यालय थे और मुफ्त भोजन देने के लिए क्षेत्र खुले थे। बलदेवजी अव अनारकली के मोतीलाल मन्दिर की परिक्रमा में एक खुले गलियारे में रहते, क्षेत्र में भोजन करते और लघुकौमुदी माता को घोखते। चीजें कितनी थीं ही ? उनके रखने के लिए दीवार में एक आलमारी बनी हुई थी। उनके साथ रहने वाले और घनिष्ठ मित्र आन्ध्र-तरुण श्री कनकदंडी सोमयाजुलू* को सामने की दीवार वाली अल्मारी मिली।

मैं यद्यपि संस्कृत का विद्यार्थी था और एक समय अंग्रेजी को म्लेच्छ भाषा कहकर मैंने उसे ठुकरा दिया था, तो भी सारे भारत की एक यात्रा करने के बाद मैं समझने लगा था कि आजकल के समय में अंग्रेजी का भी महत्त्व है। मिलते ही मैं अनुभव करने लगा कि बलदेवजी गलती कर रहे हैं। उन्हें अंग्रेजी छोड़कर नहीं, बल्कि अंग्रेजी के साथ पढ़ना हो, तो संस्कृत पढ़ें, यह समझाने में कई दिन लगे। यदि मैं संस्कृत का विद्यार्थी और उनके जिले का तरुण मित्र न होता तो शायद ही वे अपने विचारों को बदलते। मेरे प्रयत्न का यह फल हुआ कि उसी साल उन्होंने डी. ए. वी. हाई स्कूल में अपना नाम लिखवा लिया। उनका रहना लाहौर के सारे विद्यार्थी-जीवन में प्रायः उसी मन्दिर की उसी खुली जगह में रहा। मेरे पैरों में चक्र था, इसलिए कहीं वर्ष-छः महीने से अधिक ठहरना मेरे लिए संभव नहीं था। 1914 में मैं लाहौर में रहा, फिर 1918-19 में भी। लेकिन इस संयोग-वियोग का हमारे सम्बन्ध पर कोई असर नहीं पड़ा। जब मैं लाहौर में रहता, तो हो नहीं सकता था कि डी.ए.वी. कालेज के संस्कृत के विद्यार्थियों के वैदिक आश्रम से चलकर प्रायः रोज बलदेव जी के मन्दिर में न पहुँचता या वे मेरे पास न आते। घंटों हम एक जगह बैठ कर अपने भविष्य के स्वप्नों का ताना-बाना बुनते। मुझे देश-सेवा, बाहर धर्म-प्रचार और देश-देशांतर में घूमने की आकांक्षा थी, जिसके लिए अभी अपनी तैयारी कर रहा था। जहाँ तक भारत में घुमक्कड़ी करने का सम्बन्ध था, वह मेरे हाथों में थी, मैं जहाँ-तहाँ घूमने जाया ही करता था; लेकिन उसे मैं घुमक्कड़ी में गिनने के लिए तैयार नहीं था। मेरी घुमक्कड़ी तो भारत की सीमा पार करने के वाद शुरू होने वाली थी। बलदेव चौबे और सोमयाजुलू के मन में भी कुछ उसी तरह की भावनाएँ थीं। एक चौबे तरुण मेरे मुसाफिर विद्यालय के साथी पं. रामगोपाल जी भी थे, जिनसे मिल कर हमारी चौकड़ी पूरी होती थी। रामगोपालजी प्रवासी भारतीयों की सेवा के लिए अपना जीवन देना चाहते थे और उसके लिए लाहौर में तैयारी कर रहे थे। उनका सपना जल्दी ही खत्म हो गया, जब चार ही पाँच वर्ष बाद प्लेग में उनका देहान्त हो गया। बलदेवजी ने उस समय परिवार सहित रुग्ण रामगोपाल जी की जितनी सेवा की, वह सहोदर भी न कर सकेगा। रामगोपालजी एक छोटे पुत्र और पत्नी को छोड़कर अपने सारे बच्चों के साथ प्लेग के मुँह में चले गए। बलदेवजी ने अपने मृत मित्र के अवशिष्ट परिवार के साथ आजन्म सम्बन्ध रखा और यथाशक्ति सहायता देने की कोशिश करते रहे।

निजी क्षितिज का विस्तार

मनुष्य के जीवन के हर समय का एक सीमित क्षितिज होता है, और वह अपने आदर्शों को उसी क्षितिज की

---

* सोमयाजुलू आज कैलास-मानसरोवर के स्वामी प्रणवानन्द के नाम के विख्यात हैं, और मानसरोवर के भौगोलिक अनुसन्धान में उन्होंने काफी ख्याति प्राप्त की है।

चहारदीवारी के भीतर रखता है। लेकिन अपने तजुर्बों और अध्ययन-मनन द्वारा उसका क्षितिज विस्तृत होता जाता है, उसी के अनुसार आदर्श में भी परिवर्तन आता है। हाँ, ईमानदार आदर्शवादी की दिशा नहीं बदलती, न उसका क्षितिज विस्तृत होकर संकुचित होता है। गाँधीजी की असहयोग की आँधी आने से पहले तक हम लोगों का क्षितिज और उसका आदर्श कुछ निश्चित-सा हो गया था, और उसी के भीतर हम अपने ताने-बाने बुना करते थे। 1918-19 ई. में मैं फिर लाहौर में था। बलदेवजी अपनी प्रगति और आदर्श से संतुष्ट थे। उनकी बड़ी वहन बचपन ही में विधवा हो गई थीं। उनकी बड़ी इच्छा थी कि बहन की कुछ शिक्षा हो जाय, तो वह भी अपने जीवन को सेवा-कार्य में लगाए। सलाह हुई। मैंने अनुमोदन किया और निश्चय हुआ कि गर्मियों की छुट्टियों में घर जाने पर बलदेवजी बहन महादेवी को लाकर कानपुर की एक महिला-शिक्षण-संस्था में प्रविष्ट करा दें। ऐसा ही हुआ। शायद यह 1917 की बात है। महादेवीजी वहाँ की पढ़ाई खत्म कर चुकी थीं। उनकी और भी पढ़ने की इच्छा थी। हमारे सहृदय मित्र हिन्दी के पुराने सिद्धहस्त लेखक श्री सन्तरामजी उस समय कन्या-महाविद्यालय जालन्धर में पढ़ाते थे। उन्होंने बतलाया कि महिला-आश्रम में दाखिल होने में दिक्कत नहीं होगी।

1919 ई. का अप्रैल आया। रॉलेट-एक्ट के विरुद्ध आन्दोलन करने का बीड़ा गाँधीजी ने उठाया। वे मथुरा ज़िले के पलवल स्टेशन पर गिरफ्तार कर लिए गए। फिर सारे देश में आग-सी लग गई। 6 अप्रैल को इतवार के दिन भारत के और अनेक नगरों की तरह लाहौर में भी विराट् जुलूस और विशाल सभाएँ हुईं। सदियों के बाँधों को तोड़कर उस दिन हिन्दू-मुसलमान एक गिलास में पानी पीते देखे गए। स्मरणीय दृश्य था। उनके अगले दिन मैं लाहौर से रवाना हुआ। बहन महादेवी और भाई रामगोपाल की धर्मपत्नी दोनों को लाकर जालंधर कन्या-महाविद्यालय में दाखिल करने का काम मुझे सौंपा गया था। शाहजहाँपुर के एक गाँव में मैं अपने एक मित्र के यहाँ से मिलकर जब लौट रहा था, तो अमृतसर के जलियाँवाला बाग के खूनी कांड की खबर मिली। लेकिन मैं उसके कारण उत्पन्न हुई परिस्थिति को नहीं समझ पाया। रामगोपालजी की पत्नी नहीं आईं। महादेवीजी को आश्रम से जब नाम कटाकर स्टेशन ले आया, तो मालूम हुआ कि पंजाब में मार्शल-लॉ जारी हो गया है, जालंधर का रेलवे टिकट नहीं मिलता। अगर आश्रम में फिर दाखिल करना संभव होता, तो शायद मैं बहन महादेवी को वहीं छोड़ आता।

देशाटन ने कुछ साहस तो मन में भर ही दिया था। मालूम हुआ, दिल्ली का टिकट मिल सकता है। कहा--चलो दिल्ली तक। जालंधर के कुछ तो नजदीक पहुँच जायेंगे। गाजियाबाद में पूछने पर मालूम हुआ कि अम्बाला का टिकट मिल रहा है। हम दोनों अम्बाला-छावनी जा पहुँचे। अब वहाँ फुलस्टाप था। उतरकर आर्यसमाज-मन्दिर में गये। दो-चार दिन बाद पता लगा कि बम्बई-मेल के सेकंड क्लास का टिकट मिल रहा है। ले लिया। बहनजी को जनाना डिब्बे में किसी तरह स्थान मिल गया, लेकिन मेरी तो ट्रेन ही छूटनेवाली थी। किसी तरह खिड़की के रास्ते भीतर घुसा। जालन्धर आया। बहन जी को आश्रम में दाखिल कर दिया। लाहौर जाने का रास्ता बन्द था। वहाँ मार्शल-लॉ चल रहा था। लेकिन जैसे ही ट्रेन खुली, मैं लाहौर पहुँच गया। इसके अगले साल के अप्रैल में भी मैं कुछ समय के लिए लाहौर गया। बलदेव चौबे और उनसे दो क्लास आगे पढ़ने वाले सोमयाजुलू की पढ़ाई जारी रही। हाईस्कूल पास कर वे कॉलेज में पढ़ने लगे। इसी समय गढ़वाल में अकाल पड़ा और दोनों मित्र अकाल-पीड़ितों की सेवा के लिए गढ़वाल जाकर तीन महीने रहे। बलदेवजी ने एफ. ए. का इम्तहान दिया और सोमयाजुलू ने बी. ए. का। सोमयाजुलू तो आगे की पढ़ाई छोड़कर राजनीतिक काम में लग गए, जहाँ से पीछे वे योगी और कैलासवासी घुमक्कड़ बन गए। बलदेवजी ने अपनी पढ़ाई जारी रखी।

नागपुर में विशेष कांग्रेस हुई। वहाँ असहयोग का प्रस्ताव पास हुआ। अंग्रेजी शिक्षण संस्थाओं, कचहरियों और विदेशी चीजों का बायकाट होने लगा। बलदेवजी बी. ए. ऑनर्स के विद्यार्थी थे। वार्षिक परीक्षा के लिए तीन ही चार महीने रहते थे और परीक्षा में बैठ जाने पर उनके पास हो जाने में कोई सन्देह नहीं था। मैं उस समय सवा साल से दक्षिण का प्रवास करते कुर्ग के मड़िकेरी नगर में था। चिट्ठियाँ हमारी बराबर आती-जाती

रहतीं। एक चिट्ठी में पहली बार उन्होंने असहयोग की चर्चा करते हुए अपने कॉलेज छोड़ने की बात हल्के स्वर में कही। मैंने जोर देकर लिखा--तीन महीने कोई ब्रह्मा के दिन नहीं होते, परीक्षा देकर असहयोग में जुट जाओ। अगली चिट्ठी उनकी और गरम थी। मेरा माथा ठनका। मैंने बहुत जोर देकर और लम्बी चिट्ठी लिखी, लेकिन उसका जवाब कहीं दूसरी जगह से आया। तरुण बलदेव कॉलेज छोड़ चुके थे। उनको न किसी बड़ी नौकरी की ख्वाहिश थी और न पैसा कमाकर धनी बनने की। उन्होंने सेवा-व्रत पहले ही से ले रखा था, इसलिए उनको जीवन के ऐसे बड़े निर्णय के करने में कोई दिक्कत नहीं थी। मुझे वह अधिक व्यावहारिक और वस्तुवादी मानते थे, और मेरी बात की कदर भी करते थे। मैं असहयोग के खिलाफ नहीं था और मड़िकेरी से मैं उसी में भाग लेने के लिए आजकल में ही प्रस्थान करने वाला था।

कुमार-आश्रम की स्थापना

1921 से 1925 ई. तक उनका और मेरा समय अब जेल-यात्राओं का समय था। इसलिए दोनों का साक्षात्कार केवल पत्रों द्वारा ही कभी-कभी हो सकता था। 1925 में दो साल की कैद भुगत कर मैं बाहर निकला। उस साल दिसम्बर में कानपुर में कांग्रेस का अधिवेशन था। कई वर्षों बाद दोनों फिर वहाँ मिले। बलदेवजी चौबे ब्राह्मण थे, लेकिन छुआछूत के वे जबर्दस्त विरोधी थे। असहयोग आन्दोलन के ठंडा पड़ने के बाद लाला लाजपत राय द्वारा स्थापित लाहौर के कौमी विद्यालय में दाखिल होकर उन्होंने अपनी कॉलेज की ही पढ़ाई खत्म नहीं कर ली, बल्कि साथ ही वे लालाजी के घनिष्ठ सम्पर्क में भी आए। लालाजी अछूतोद्धार के जबरर्दस्त हामी थे और उसके लिए कार्यरूप में कुछ करना चाहते थे। अछूतोद्धार और देश-सेवा के काम के लिए उन्होंने लोक-सेवक-समिति कायम की, जिसमें कितने ही स्वार्थ त्यागी आदर्शवादी तरुण आजीवन सदस्य बन गए। बलदेव जी इन सदस्यों की पहली बैच में थे। वे अछूतोद्धार का काम समिति की तरफ से मेरठ में कर रहे थे। उनका आग्रह हुआ कि मैं मेरठ चलूँ। हम दोनों कानपुर से रामगोपालजी की पत्नी से मिलने उनके पीहर गए, फिर मेरठ पहुँच गए। उन्होंने एक बगीचे वाले बँगले में कुमार-आश्रम स्थापित किया था, जहाँ वे अपने परिवार के साथ रहते थे। उस समय (1926 ई. में) कुमार-आश्रम मेरठ शहर से बाहर था। किन्तु अब तो उत्तर प्रदेश के और शहरों की तरह मेरठ भी बहुत बढ़ गया है और कुमार-आश्रम का वह बगीचे वाला घर नगर के भीतर आ गया है। बलदेवजी का बहुत सीधा-सादा जीवन, उनका त्याग और योग्यता लोगों के ऊपर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकती थी। कुमारआश्रम में देश के सबसे पददलित और अछूत समझे जाने वाले लोगों के बच्चों को लेकर उनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया था। बलदेवजी की देख-रेख में और उनके परिवार के अंग के तौर पर लड़कों को साधारण शिक्षा ही नहीं मिलती थी, बल्कि आदर्शवादी वातावरण में रहने का मौका मिलता था। कितने ही सालों तक वे वहाँ रहे; लेकिन उनके रहते समय कुमार-आश्रम में मेरा जाना उसी साल हुआ। उनके गाँवों के पास के तथा आजकल उत्तरप्रदेश कांग्रेस के सभापति श्री अलगू राय शास्त्री भी उनके सहकारी थे।

मेरठ से कुछ बैलगाड़ी और कुछ पैदल हमने हस्तिनापुर, परीक्षितगढ़ और कितने ही स्थानों की यात्रा की। परीक्षितगढ़ के पास एक गाँव में ईसाइयों का एक बालिका-विद्यालय था, जहाँ मनुष्य से गिरे समझे जाने वाले हिन्दू-समाज के अछूत कुलों की लड़कियाँ शिक्षा-दीक्षा द्वारा योग्य बनाई जा रही थीं। उस यात्रा में एक दिन दोपहर का भोजन हम दोनों का चार पैसे में हुआ था, जिसमें गुड़ और कोई भुना हुआ दाना था। भोजन अत्यन्त सीधा-सादा और सस्ता था, लेकिन अब तो यह विश्वास करने की बात नहीं रह गई है कि दो पैसे में एक आदमी तृप्त होकर भोजन कर सकता है।

कबीर-जैसा जीवन

मेरठ के सहवास में मैंने देखा कि आधुनिक कबीर को भी लोई-जैसी ही पत्नी मिली है। मैं समझता था और एकाध मर्तबा अपने भावों को मैंने प्रकट भी किया कि बलदेवजी सचमुच ही बड़े तपस्वी हैं, जो ऐसी पत्नी

के साथ रह सकते हैं। वे गाँव की अशिक्षित महिला ही नहीं थीं, लेकिन मैं तो कहूँगा कि वाज वक्त उस पर सनक तक सवार हो जाती थी। कितनी ही बार गुस्सा होकर छोटे वच्चे को गोद में दवाये वे कलकत्ता और लाहौर तक चली जातीं। अपने इसी गुस्से के कारण उनका बड़ा दुःखद अन्त हुआ—वे आग में जल मरीं। दो पुत्र और दो पुत्रियों का पालन-पोषण अब बलदेवजी के ऊपर पड़ा, लेकिन उनको महादेवी-जैसी सहृदया बहन मिली थीं। वे अपने भाई—विशेष कर उनके वच्चों—के लिए सब कुछ थीं। उनके कारण बलदेवजी निश्चिन्त रह सकते थे। गांधीजी कितनी ही बातों में कवीर-जैसा जीवन रखते थे और असहयोग करने के बाद बलदेव चौबे उनके साबरमती आश्रम में एक वर्ष से अधिक दिनों तक रहे थे। गाँधीजी के जीवन की उनके ऊपर बहुत वड़ी छाप लगी थी। लेकिन उससे भी अधिक प्रभाव कवीर और अपनी जन्मभूमि के आसपास के दूसरे सन्तों का पड़ा था, जिनकी वाणियों और जीवनियों का वहुत ध्यान से बलदेवजी ने अध्ययन किया था। कितनों की अप्रकाशित वाणियों का भी उन्होंने काफी संग्रह किया था। लेकिन साहित्यकार बनने की उनमें कभी इच्छा नहीं हुई। इसीलिए उनका यह संग्रह स्वान्तःसुखाय ही था। उन्होंने सन्तों की तरह के कुछ भजन भी बनाये थे।

1930 के बाद उनका सन्तों-जैसा जीवन शुरू हो गया। वे अब प्रयाग में रहकर लोक-सेवक-समिति की ओर से काम कर रहे थे। जब-तब उनके यहाँ मेरा जाना हुआ करता था। वे जिस तरह अब घोर आस्तिक बन गए थे, मैं उसी तरह घोर नास्तिक था। लेकिन हमारे विचारों की विभिन्नता से हमारे सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं आया था। बलदेवजी बड़े भिन्सारे ही उठकर एकतारा छेड़ते कुछ पहले के सन्तों के और कुछ अपने भजन गाने लगते थे। वे अपने सारे परिवार को सन्त-परिवार बनाना और अपने बच्चों पर बचपन से ही आध्यात्मिक संस्कार डालना चाहते थे। बड़ा लड़का विद्यासागर, दोनों छोटे लड़के और सावित्री और विद्यावती दोनों लड़कियाँ साढ़े 3-4 बजे रात ही उठाकर जबर्दस्ती भजन-मंडली में बैठा दिए जाते। चौबेजी का एकतारा किन्-किन् करने लगता। वे स्वर और वाद्य-संगीत से बिल्कुल कोरे थे, लेकिन उन्हें विश्वास था, भगवान को रिझाने के लिए उनकी आवश्यकता नहीं। लेकिन यही तो समय था, जवकि छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं की बात तो अलग, सयानों को भी बड़ी मीठी नींद आया करती है। मैं भविष्यवाणी किया करता था : अपने बच्चों को ईश्वर-विमुख बनाने के लिए बलदेवजी का तरीका सबसे अच्छा है। सचमुच ही उस भजन के साथ भगवान भी बच्चों को कुनैन-से कड़वे लगते थे।

पुराने और नये कांग्रेसियों में बलदेव चौबे अपवाद थे। वे काजल की कोठरी में रहकर भी हमेशा निर्लेप रहे। जब वे आजमगढ़ जिला-बोर्ड के जन-निर्वाचित अध्यक्ष हो गए, तव भी उनकी शिकायत अगर सुनी जाती थी, तो यही कि यदि उनको खुश करना हो, तो अपने अछूतोद्धार प्रेम को अधिक से अधिक दिखलाया जाय। उन्होंने स्वयं अपनी पढ़ाई असहयोग के जमाने में छोड़ दी थी। अँगरेजी ढंग के स्कूलों और कॉलेजों में उनकी बिल्कुल आस्था नहीं थी। वे अपने इस विचार को भगवद्‌भक्त बनाने के प्रयत्न की तरह बच्चों पर भी लादना चाहते थे। लेकिन उनके घर में बहन महादेवी थीं। वे इस विषय में वच्चों के उत्साह को बढ़ाने के लिए तैयार नहीं थीं, बल्कि खुद अध्यापिका बनकर जो कमातीं, उससे उनको सम्हाले आगे बढ़ती रहीं। बड़ा लड़का विद्यासागर बचपन से ही बहुत और अस्वस्थ था। लड़कपन में भी आँखों के बिल्कुल पास ले जाकर वह पुस्तक को पढ़ सकता था, लेकिन पढ़ने में बुरा नहीं था। चौबेजी का प्रयोग या झक का शिकार पूरी तौर से विद्यासागर ही बन सके। साहित्य-सम्मेलन की परीक्षाओं में कोई छूत नहीं थी, इसलिए 'साहित्यरत्न' हो गए और फिर अपने भाग्य और परिश्रम पर छोड़ दिए गए। मंझला लड़का बड़ा होनहार था, लेकिन वह असमय ही चल बसा। नमक-सत्याग्रह चल रहा था। चौबेजी जेल में थे। उनकी अनुपस्थिति से फायदा उठाकर वड़ी लड़की ने मिडिल का फार्म भर दिया था। परीक्षा की तिथियाँ नजदीक आ रही थीं और साथ ही चौवेजी के जेल से छूटकर आने की तारीख भी इसी समय पड़ने वाली थी। घर में मनाया जा रहा था कि चौवेजी कुछ दिन और जेल से बाहर न आवें, जिसमें सावित्री परीक्षा में बैठ सके। शायद वे पहले ही आ गए और सावित्री सरकारी परीक्षा में बैठ नहीं सकी। लेकिन 'साहित्यरत्न' बनने का रास्ता उसके लिए साफ था। बहन महादेवी भाई से लड़कर

भी उसे आगे बढ़ाने के लिए सब तरह से तैयार थीं। वह साहित्यरत्न भी हुई, एम. ए. भी हुई। दूसरी लड़की विद्या ने भी पिता के हठ के होते एम. ए. की शिक्षा समाप्त की। छोटे लड़के ने भी इसी तरह कवीर के कमाल की तरह अपनी शिक्षा को पूरा किया। चौबेजी का शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोग अपने घर में असफल ही रहा।

छुआछूत के खिलाफ जेहाद

अछूतोद्धार का काम मेरठ, दिल्ली, प्रयाग आदि जगहों में करने के बाद चौबेजी ने अपने जिले में जाकर अब छुआछूत के विरुद्ध पाखंड-खंडनी झंडी गाड़ दी और गाँव में एक बिल्कुल स्वावलम्वी हरिजन-आश्रम खोल दिया। वहाँ कुछ बिगहे जमीन मिल गई थी, जिसमें शिखा-सूत्र-हीन चौबेजी स्वयं हल-कुदाल चलाते और उनके विद्यार्थी भी। प्राचीन गुरुकुलों के विद्यार्थियों की तरह विद्यार्थी उनका अनुगमन करते। अपने पहनने के लिए आश्रम में ही कपास, सूत और कपड़ा तैयार किए जाते। खद्दर पहनना अनिवार्य था। रोटी-चौका-बासन ही नहीं, मकानों की दीवारों को खड़ा करने में भी आचार्य और अन्तेवासियों ने अपना परिश्रम लगाया था। आश्रम में बकरियाँ पाली गई थीं। कुछ समय बाद वे चौवेजी के लिए बड़ी समस्या हो गईं। मुझसे कह रहे थे : बकरियों के जो वच्चे पैदा होते हैं, उनमें मादा को तो हम बढ़ने दे सकते हैं, लेकिन बकरों का क्या करें। मालूम होता है, अहिंसक चौवे वावा से लोग निर्भीक हो गए थे, वे आँख बचाकर बकरों को चट कर जाते। आश्रम की बकरियों या वकरों को बेचने का मतलब था, वे किसी-न-किसी तरह कसाई के यहाँ पहुँच जाते और उनकी हत्या में चौवे बावा अपने को भी जिम्मेदार समझते।

चौवेजी अव्यावहारिक थे, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन उनका हृदय बहुत उदार था। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उक्ति को अपने जीवन में चरितार्थ करने का जितना प्रयत्न उन्होंने किया, उतना विरलों ने ही किया होगा। द्वितीय विश्वयुद्ध से कई सालों पहले ही मैंने एक दिन उन्हें गेरुआ वस्त्र पहने देखा। मालूम हुआ कि अब बलदेव चौवे स्वामी सत्यानन्द सरस्वती हो गए हैं। संन्यासी का जीवन तो वे वर्षों पहले से बिताते आए थे, चुटिया और जनेऊ को युगों पहले विसर्जित कर चुके थे और छुआछूत के भूत से तो वे अपने विद्यार्थी-जीवन से ही मुक्त हो गए थे। उनकी इतनी हिम्मत थी कि अपनी जाति-बिरादरी की रूढ़ियों और खान-पान की मर्यादाओं को अपने जिले से दूर रहकर ही नहीं, बल्कि अपने गाँव में भी तोड़ डालें। यदि उनके बच्चों में कोई उनके साथ कभी रहता भी था, और यह सेवा विद्यासागर चौबे को प्राप्त थी, तो उनके आश्रम के काम में सहायता देने के लिए ही। लोक-सेवक-समिति का सदस्य रहते उन्हें समिति की ओर से कुछ रुपए मिलते थे, जो उनके और परिवार के सीधे-सादे जीवन के लिए पर्याप्त थे और साथ ही अवलम्ब भी। लेकिन एक बार उन पर झक सवार हुई, तो उससे इस्तीफा दे दिया। श्री पुरुषोत्तमदास टंडन से उनका सम्पर्क बहुत पहले से था, दोनों का मधुर सम्बन्ध बराबर वैसे ही बना रहा।

अँगरेजी-शासन के उठ जाने के बाद स्वामी सत्यानन्द की तरुणाई का एक स्वप्न पूरा हो गया, जब देश स्वतंत्र हो गया था। देश की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अवस्था को बेहतर बनाने के लिए स्वामीजी गांधीवाद को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे। वे आजमगढ़ शहर नहीं, बल्कि जिले के और कस्बे से दूर अपने आश्रम में रहकर सेवा करते थे, लेकिन इस अजातशत्रु को छोड़ने के लिए कोई तैयार नहीं था। जब बालिग-मताधिकार से जिला-बोर्ड के अध्यक्ष के चुनाव का समय आया, तो कांग्रेस ने उन्हें खड़ा किया, और वे बोर्ड के अध्यक्ष चुन लिए गए। हाल में जब विधान-परिषदों का सार्वजनिक चुनाव हुआ, तो उन्हें प्रान्तीय विधान-सभा के लिए कांग्रेस की ओर से खड़ा किया गया। पूर्वी उत्तर प्रदेश के जिले आज वर्षों से भारी आर्थिक संकट में हैं। कई सालों तक पर्याप्त वर्षा नहीं हुई, इसलिए आजमगढ़ जैसे कितने ही जिलों के किसानों की फसल मारी गई और पिछले साल (1953 में) अति वृष्टि ने नदियों में एक नहीं, अनेक बार बाढ़ लाकर सैकड़ों गाँवों का सत्यानाश किया। ऐसे आर्थिक संकटवाले जिले में काँग्रेस से लोगों का निराश होना स्वाभाविक है। लेकिन कांग्रेस के सौभाग्य से प्रतिद्वन्द्वियों में एकता नहीं थी। वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा रखने वाले स्वतंत्र उम्मीदवारों की तो बात नहीं की जा सकती लेकिन समाजवादी, कम्युनिस्ट और दूसरे वामपक्षी भी एक होकर कांग्रेस से मुकाबला

करने के लिए तैयार नहीं थे। इस प्रकार विरोधी वोट वँट गए और कांग्रेस को पूर्वी उत्तर प्रदेश में हर जिले में पराजय का मुख देखने की जगह विजय प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हुआ। स्वामी सत्यानन्द का चुनाव-क्षेत्र तो इस विषय में सारे भारत में अद्वितीय रहा। वे चुनाव में जीते, लेकिन उनकी जमानत जब्त हो गई—अर्थात् पेटियों में पड़े वोटों में से जितना प्रतिशत वोट जमानत न जब्त होने के लिए पाना आवश्यक था, वह उन्हें न मिला। यह स्वामी सत्यानन्द की जमानत की जब्ती नहीं, बल्कि कांग्रेस की थी।

स्वामी सत्यानन्द या आजमगढ़ के बलदेव चौबे ने होश सँभालने के साथ पहले साहस, स्वावलम्बन का परिचय दिया, आत्मत्याग और आदर्शवाद का महान् नमूना अपने जीवन से पेश किया। उनके मित्र और सहकारी केवल अपने जिले और अपने प्रदेश में ही नहीं, बल्कि भारत के बहुत-से भागों में मिलेंगे, जिनकी संख्या काल ने अब बहुत कम कर दी है। लेकिन उनकी सेवाएँ भुलाई नहीं जा सकतीं। मुझे तो उनका लाहौर वाला चेहरा ही ज्यादा याद आता है, जबकि अभी गांधीजी का असहयोग शुरू नहीं हुआ था। अनेक बार मेरी विरोधी बातों को सुनकर ओठों पर नहीं, उनकी आँखों में जो हँसी खेलने लगती थी, वह अब भी मेरे सामने सजीव दिखलाई पड़ती है। बलदेव चौबे मुझसे चार वर्ष छोटे थे, और शरीर से मोटे-तगड़े न होने पर भी उनका स्वास्थ्य खराब नहीं था। इसलिए मुझे आश्चर्य हुआ, जब दिल्ली के एक अँगरेजी दैनिक में उनके क्षेत्र से पुनर्निर्वाचन की सूचना पढ़ते हुए मालूम हुआ कि अब स्वामी सत्यानन्द सरस्वती या चौबे बाबा इस दुनिया में नहीं रहे। हम दोनों के मित्र तथा चौबेजी के सहपाठी भदन्त आनन्द कौसल्यायन से यह भी पता लगा कि वे बीमार होकर लखनऊ के अस्पताल में पड़े थे। चौबेजी की तरह ही सबको एक दिन महाप्रयाण करना है, लेकिन 'बिछुरत एक प्राण हरि लेहीं' की उक्ति तो उनके लिए ही है।

स्वामी सत्यानंन्द का जन्म आजमगढ़ जिले के कमलसागर गाँव (पोस्ट रामपुर) में अगहन शुक्ल पंचमी संवत् 1953 (सन् 1897) को हुआ था और निधन आषाढ़ पूर्णिमा रविवार (26 जुलाई, 1953) को। पिता लल्लू चौबे और माता तपस्यादेवी ने ऐसे तपस्वी और यशस्वी पुत्र को जन्म देकर अपने जीवन को सफल किया।

9

अकदमिक बरन्निकोफ[1]

"7 सितम्बर को अलेक्सेई पेत्रोविच भी नहीं रहे," यह ख्याल मेरे दिल में आया, जब कि उस दिन दिल्ली रेडियो ने भारत-तत्त्व के महान् विद्वान बरन्निकोफ के निधन की खबर दी। अलेक्सेई पेत्रोविच बरन्निकोफ रूस के उन यशस्वी विद्वानों की परम्परा में से थे, जिन्होंने संस्कृत और भारतीय संस्कृति के अध्ययन में अपना सारा जीवन लगा दिया। अठारहवीं सदी के अन्त में गेरासिम लेवेदोफ ने कलकत्ता में अंग्रेजी के साथ बंगला नाटकों का भी सर्वप्रथम रंगमंच पर अभिनय किया, उसी समय मालूम हो गया कि चाहे और तरह से रूस का सम्बन्ध भारत से न हो, लेकिन भारतीय जीवन के परिचय कराने में रूसियों का हाथ भी होने वाला है। 1785 ई. से सोलह वर्ष तक कलकत्ता में रह कर लेवेदोफ 1801 ई. में लंदन और फिर रूस की राजधानी पितरबुर्ग चला गया, जहाँ उसने 1805 ई. में सबसे पहले नागरी टाइप ढाले, और संस्कृत पढ़ने के लिए रूसी में पुस्तक लिखी। उसके बाद तो राबर्त लेंज (1808-36 ई.), पेत्रोफ (मृत्यु 1876 ई.), कोसोविच (1872 ई.), शिफनर (1817-79 ई.), बोथलिंक (1815-1904 ई.), मिनयेफ (1840-90 ई.), ओल्देनबुर्ग (1863-1934 ई.) श्चेर्वात्स्की (1866-1941 ई.) और बरन्निकोफ (1890-1952 ई.) जैसे एक से एक संस्कृत और भारतीय तत्त्व के प्रकाण्ड विद्वान रूस

1. आचार्य बरन्निकोफ पर एक लेख 'सोवियत के दो भारतीय तत्वज्ञ' नाम से भी है। देखें इसी जिल्द के अन्त में दिये लेख।

ने पैदा किए। राजनीतिक सम्वन्ध न होने पर भी सांस्कृतिक क्षेत्र में भारत के अतीत और वर्तमान का परिचय कराने में कितना गम्भीर काम रूसियों ने किया है, वह विद्वानों से छिपा नहीं है। आज भी आधी शताब्दी पहले प्रकाशित किए गए 'सन्त-पीतरबुर्ग लेक्सिकन' (संस्कृत महाकोश) के टक्कर का कोई संस्कृत कोश नहीं बन सका, यद्यपि उसकी वड़ी आवश्यकता है।

वरन्निकोफ को भारत के लोग उतना नहीं जानते, जितना कि जानना चाहिए, इसका कारण यही है कि उनके दो सौ के करीव लेख, निवन्ध तथा पुस्तकें सभी रूसी भाषा में लिखी गईं और प्रकाशित हुईं। हिन्दी-भाषी यह जानते ही हैं कि लल्लूलालजी के 'प्रेमसागर' और तुलसी के 'रामचरितमानस' का उन्होंने रूसी में बहुत ही सुन्दर अनुवाद किया है। तुलसीकृत रामायण के अनुवाद करने में केवल अपनी विद्वत्ता का ही नहीं, बल्कि श्रद्धा का भी उन्होंने खूव परिचय दिया। यद्यपि उसका यह अर्थ नहीं कि वह रामभक्त वन गए। उन्होंने तुलसी के अमर काव्य को पद्यबद्ध करते हुए यह भी कोशिश की कि चौपाई, दोहा और दूसरे पद्य उतने ही अक्षरों वाले रूसी छन्दों में अनुवादित किए जाएँ। केवल अनुवाद की दृष्टि से ही वह बहुत शुद्ध अनुवाद नहीं है, बल्कि वह इतना सुन्दर अनुवाद हुआ है कि कई हजारों का प्रथम संस्करण कुछ ही महीनों में खत्म हो गया। जिस वक्त पुस्तक प्रेस में थी और उसके लिए चित्रों का चुनाव हो रहा था, उस समय इन पंक्तियों का लेखक भी लेनिनग्राद में था, और अनेक वार चित्रों और दूसरी वातों के सम्बन्ध में हमारी बातें होती थीं। बरन्निकोफ चाहते थे कि अनुवाद में चित्र तुलसी के समय के वातावरण के साथ दिए जाएँ। अभी उस समय भारत के साथ रूस का राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ था, इस कारण हमारे यहाँ से उनको उतनी सहायता भी नहीं मिल सकती थी। जव एक-दो रामायण की पुरानी सचित्र प्रतियों के बारे में मालूम हुआ, तो बरन्निकोफ ने बहुत कोशिश की कि रूसी अनुवाद में वही चित्र दिए जाएँ। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने इसके बारे में उनकी सहायता की थी, जिसके लिए वह बहुत कृतज्ञ थे।

अनुवाद को रूस की सर्वोच्च विद्वत् परिषद् (अकदमी नाउक) ने प्रकाशित किया। बरन्निकोफ ने शिक्षित और अशिक्षित भारत के सबसे विशाल जनसमूह में इतने प्रिय काव्य को रूसी साधारण जनता तक पहुँचाने के लिए लेख लिखे और रेडियो पर भाषण दिए। रेडियो भाषण के समय उन्होंने मूल और अपने अनुवाद की बानगी श्रोताओं को देनी चाही, उस समय इन पंक्तियों के लेखक को तुलसी की चौपाइयों को पूर्वी यू.पी. के साधारण रामायण पाठकों के सुर में पढ़ना पड़ा। जिस तरह तुलसी के ललित काव्य से हम हिन्दी-भाषी विशाल जनता के सांस्कृतिक मनोभाव को समझते हैं, उसी तरह बरन्निकोफ के अनुवाद से हमारे मनोभावों की तह तक पहुँचने में रूसियों को मदद मिलेगी, इसमें संदेह नहीं।

अकदमिक बरन्निकोफ का जीवन भारत की आधुनिक भाषाओं के अनुशीलन और अध्यापन में बीता, लेकिन उसका यह अर्थ नहीं कि वह संस्कृत तथा और भारत की, प्राचीन भाषाओं और विचारों से अल्प-परिचित थे। आधुनिक भाषाएँ अभी यूरोपीय विद्वानों में उतनी सम्मानित नहीं थीं। रूसी विद्वानों की पुरानी पीढ़ी भी उनकी कदर नहीं करती थी, लेकिन सोवियत क्रान्ति के बाद जनभाषा की कदर बढ़ी और जिन रूसी विद्वानों का इधर ध्यान गया, उनमें बरन्निकोफ सबसे पहले पुरुष थे।

बरन्निकोफ को रूसी प्रथा के अनुसार अलेक्सेई पेत्रोविच (पेतस्पुत्र अलेक्सेई) के नाम से संबोधित किया जाता था। मरते वक्त उनकी उमर 62 वर्ष की नहीं हो पाई थी। वह 21 मार्च 1890 ई. को उक्रइन के पोलतावा जिले में दूनियेपर नदी से छः मील हट कर जोलोतूनित्सा कस्बे में एक गरीब बढ़ई के घर में पैदा हुए थे। उनके पिता 1947 ई. में 88 साल की उमर में भी अपने खानदानी काम से विश्राम लेना नहीं चाहते थे। इतने स्वस्थ हृष्ट-पुष्ट पिता की सन्तान होने पर भी बरन्निकोफ को उतना स्वस्थ शरीर नहीं मिला था, जितना कि स्वस्थ मस्तिष्क। आखिरी जीवन में वह मधुमेह और हृदय-रोग से पीड़ित रहते थे। 1946 ई. में जब दिल्ली में एशियाई सम्मेलन हो रहा था, उस समय रूस के विद्वानों के प्रतिनिधि बन कर बरन्निकोफ आना चाहते थे, किन्तु डाक्टरों ने उसके लिए अनुमति नहीं दी, जिसका उन्हें बहुत अफसोस होना स्वाभाविक ही था। आखिर, उन्होंने अपना सारा जीवन भारत और भारतीयों के अध्ययन में लगाया था, और भारत-भूमि का वह दर्शन

भी न कर पाए, यह कितने खेद की बात थी !

बरन्निकोफ बड़े मेधावी लड़के थे, यद्यपि उनका परिवार बिल्कुल अपढ़ नहीं था, लेकिन परिवार की साक्षरता के प्रकाश में वह अपने लिए किसी बड़े लक्ष्य को नहीं ढूँढ़ सकते थे। अध्ययन जारी रखते उन्हें अपने पथ और लक्ष्य की खोज करनी पड़ी।

सात वर्ष की आयु में यह बढ़ई पुत्र जोलोतूनित्सा के स्कूल में पढ़ने के लिए गया और माँ-बाप किसी तरह कमा कर दस वर्ष तक लड़के को पढ़ाते रहे। अलेक्सेई आगे बढ़ना चाहता था, लेकिन उसके पास न वैसे साधन थे, न सम्बन्ध ही। अभी जेम्नासियम (मैट्रिक) परीक्षा भी उसने नहीं पास कर पाई थी, जिसके बाद कि वह आगे बढ़ने का अधिकारी होता। लेकिन अलेक्सेई को विद्या का इतना प्रेम था, आगे बढ़ने का इतना उत्साह था कि चारों ओर से बाधाएँ उपस्थित होने पर भी उसने हिम्मत नहीं हारी। रूसी उसकी मातृभाषा थी, और 20वीं शताब्दी के आरम्भ में भी रूसी साहित्य बहुत विशाल था, इसलिए उसने विद्वानों की पुस्तकों को अपना गुरु बनाया। जेम्नासियम की परीक्षा में फ्रेंच, जर्मन जैसी आधुनिक तथा लातिन और ग्रीक जैसी प्राचीन–चार भाषाओं को भी पढ़ना था। अलेक्सेई की रुचि गणित और भाषा दोनों के अध्ययन में बहुत थी। इस प्रकार अपने परिश्रम से 1910 ई. में अलेक्सेई ने जेम्नासियम की परीक्षा पास करके विश्वविद्यालय के दरवाजे के भीतर दाखिल होने का प्रमाणपत्र पा लिया।

अभी भी उच्चशिक्षा का दरवाजा खुल गया, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस समय शिक्षा इतनी खर्चीली रक्खी गई थी कि केवल धनी और सामन्तों के पुत्र ही आगे पढ़ सकते थे। यदि जोलोतूनित्सा में न होकर मास्को या लेनिनग्राद में अलेक्सेई का जन्म हुआ होता, तो बाप के बसूले के बल पर आधे पेट खाकर भी आगे बढ़ने की कोशिश वह कर सकता था। अलेक्सेई ने कठिनाइयों की कोई परवाह न कर सत्तू बाँध एक दिन रूसी संस्कृति की सर्वप्राचीन राजधानी कियेफ की ओर प्रयाण कर दिया। यूनिवर्सिटी में दाखिल होने से पहले पेट के सवाल को हल करना जरूरी था। कई दिनों तक कियेफ की गलियों की खाक छानते अलेक्सेई को एक धनिक-पुत्र को पढ़ाने का काम मिल गया। अब उसने विश्वविद्यालय में अपना नाम लिखा लिया, और भाषाओं का अध्ययन अपना मुख्य विषय बनाया। पहले की पढ़ी हुई भाषाओं के अतिरिक्त अलेक्सेई ने अब स्लावानिक (प्राचीन रूसी), लिथुवानी, प्राचीन जर्मन, प्राचीन फ्रेंच, इतालियन, पहलवी, जन्द और संस्कृत को अपना पाठ्य विषय बनाया। शौकीनी गरीब के बेटे में वैसे होती ही क्यों; लेकिन अलेक्सेई तो और भी बहुत सीधे-सादे स्वभाव का नवयुवक था। हो सकता है, तरुणाई के संघर्षों ने ही उसे इतना विनत बना दिया हो। रूसी विद्वानों के मनोरथ की सबसे ऊँची उड़ान वाले अमदमिक पद पर पहुँचने पर भी बरन्निकोफ बहुत चुप्पे-से मालूम होते थे। बिना बात आरम्भ किये शायद दिनों-महीनों उनके मुँह से आपको एक शब्द भी सुनने को नहीं मिलता। उस समय के रूस में कुलीन और अकुलीन, धनी और गरीब वर्ग के भीतर इतनी ही बड़ी खाई थी, जिसको पाटना एक साधनहीन तरुण के लिए कैसे सम्भव हो सकता था ?

गरीबों के साथ यूनिवर्सिटी के प्रतिभाशाली विद्यार्थी अलेक्सेई को बहुत आत्मीयता मालूम होती थी। उन्हें संस्कृत और भारतीय भाषा का अधिक ज्ञान प्राप्त होने के बाद मालूम हुआ कि सिगान (रोमनी, जिप्सी) लोग किसी समय भारत ही से आये थे और अब भी जो (रोमनी) भाषा वह बोलते हैं, वह भारतीय भाषा है। इस पर उन्हें हमारे यहाँ के हबूड़ों (डोम खानाबदोशों) के यूरोप में भटक गए भाई-बन्दों में जाकर उनकी भाषा सीखने का शौक पैदा हुआ। अलेक्सेई दिनों नहीं, महीनों सिगानों के तम्बुओं में रहे और उनसे उनकी भाषा का अध्ययन करते रहे। उन्हें सिगानों की भाषा के ही सीखने का बड़ा शौक नहीं था, बल्कि उनके स्वच्छन्द घूमन्तू जीवन में भी बहुत आकर्षण मालूम होता था। वह यद्यपि सिगानों जैसे काले बालों वाले नहीं थे, न उनका रंग ही उनसे मिलता था, लेकिन उनकी सिरकियों में जाकर वह सिगान बन कर उन्हीं के साथ खाते, पान करते और नाचते-गाते। वह इतनी अच्छी रोमनी बोलते थे कि अपरिचित सिगान कह उठते–"तुम तो रामे (डोम) हो !"

लेकिन सिगानों के साथ इतना घनिष्ठ सम्पर्क प्राप्त करने का यह मतलब नहीं था कि अलेक्सेई ने अपने

अध्ययन की उपेक्षा की। चार साल की पढ़ाई के बाद 1914 में उन्होंने बहुत अच्छे नम्बरों में विश्वविद्यालय की परीक्षा पास की। 'स्लाव, लिथुवानी और जर्मन भाषाओं में धातु-रूप' पर उन्होंने तीन सौ पृष्ठ का एक निबंध लिखा, जिसके लिए उन्हें स्वर्ण-पदक प्राप्त हुआ। 'मगिस्तर' की उपाधि के साथ जो सबसे बड़ी चीज मिली, वह थी आगे की पढ़ाई के लिए छात्रवृत्ति। चौबीस वर्ष की उमर में पहुँचकर शनि की दशा अब हट गई और वह राजधानी सेन्त-पीतरबुर्ग के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में जाकर पढ़ने के लिए स्वतन्त्र थे।

सेन्त-पीतरबुर्ग उस समय रूस की राजधानी होने से देश का सबसे बड़ा विद्या-केन्द्र था। वहाँ के विश्वविद्यालय में ओल्देनबुर्ग, श्चेर्वात्स्की और जालमान जैसे विश्वविख्यात विद्वान् अध्यापन करते थे। बरन्निकोफ को उनके चरणों में बैठकर विद्या प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यद्यपि उन्हें पर्याप्त छात्रवृत्ति मिलती थी, लेकिन वह इतनी नहीं थी कि अलेक्सेई मनमानी पुस्तकें खरीद सकते। अकदमिक बरन्निकोफ के घर में जाने पर जो सबसे ज्यादा आकृष्ट करने वाली चीज थी, वह उनका विशाल पुस्तकालय था। एक विशाल कमरा चारों ओर खड़ी किताबों से भरी आलमारियों से पूर्ण था। पुस्तकों के खरीदने के लोभ से मजबूर होकर उन्होंने एक जेम्नासियम (हाई स्कूल) में पढ़ाने का काम स्वीकार कर लिया। प्रथम महायुद्ध शुरू हो गया था, जिसका प्रवाह हर एक नागरिक के जीवन के ऊपर पड़ना जरूरी था, लेकिन बरन्निकोफ की पढ़ाई छूटी नहीं, और अस्पेरांत (एम. ए.) की परीक्षा पास करते-करते 1917 ई. की महाक्रांति आ गई। बरन्निकोफ की अब तक की देखी दुनिया आँखों के सामने उलट गई, उत्पीड़ित और दलित जन अब आगे आ गए। किंतु गरीब बढ़ई के पुत्र बरन्निकोफ के लिए यह दुनिया वैसी ही मालूम हुई, जैसा मछली का पानी। परीक्षा बड़े सम्मान के साथ उन्होंने पास की थी, और उनके अध्यापक अपने मेधावी छात्र का लोहा मानने लगे थे।

परीक्षा समाप्त करते ही उन्हें समारा (आधुनिक व क्विविशियेफ) विश्वविद्यालय में भाषा तत्त्व का प्रोफेसर नियुक्त किया गया, जहाँ चार साल तक वह योग्यता के साथ अध्यापन और अनुशीलन करते रहे।

1921 ई. में उन्हें लेनिनग्राद (सेन्त-पीतरबुर्ग) विश्वविद्यालय में बुला लिया गया, और तब से लेनिनग्राद ही उनका घर बन गया। द्वितीय महायुद्ध के वक्त कुछ समय तक उन्हें बाहर रहना पड़ा, नहीं तो मृत्यु के समय तक वह लेनिनग्राद ही में रहे। उनको प्राचीन और नवीन भाषाओं का कितना विशाल ज्ञान था, यह हम बतला चुके हैं। उन्होंने हिंदी-उर्दू के व्याकरण तथा कोश लिखे हैं। वह एक बृहत् हिंदी-रूसी कोश में लगे हुए थे। मालूम नहीं वह अभी छपा या नहीं। क्रांति के बाद यूनिवर्सिटियों ने डिग्रियाँ देना बंद कर दिया, जिसका फिर से आरम्भ 1935 में हुआ। इसी साल बरन्निकोफ को भाषाविज्ञान-आचार्य (डॉक्टर ऑफ फिलालोजी) की उपाधि मिली।

सोवियत (और पुराने) समय में भी रूस में किसी भी विषय के सर्वोच्च विद्वान का सबसे बड़ा सम्मान है—अकदमी का सदस्य चुना जाना। 1936 में यह सर्वोच्च सम्मान बरन्निकोफ को मिला, और तब से उन्हें अकदमिक बरन्निकोफ कहा जाने लगा। यह स्मरण रखना चाहिए कि रूस में साइन्स, साहित्य आदि सभी विषयों के चोटी के विद्वानों में से डेढ़ सौ से अधिक व्यक्ति नहीं हैं, जिनको यह सम्मान प्राप्त है।

बरन्निकोफ का परिवार बड़ा ही सुसंस्कृत और सुशिक्षित था। पत्नी यूनिवर्सिटी में जर्मन भाषा की प्रोफेसर थीं, ज्येष्ठ पुत्र मातृभूमि के लिए द्वितीय महायुद्ध में वीर गति को प्राप्त हुआ, दूसरा पुत्र सेना में अफसर है और एकलौती पुत्री भी उच्चशिक्षा-प्राप्त है। भारत सदा बड़े सम्मान से इस विद्वान का स्मरण करता रहेगा।

10
नेपाली महाकवि देवकोटा

जनवरी 1953 में मैं पाँचवीं बार नेपाल गया। उस दिन नेपाली कवियों और साहित्यकारों की गोष्ठी में एक

सहृदय कवि ने जब मेरा स्वागत करते हुए 'विदेशी अतिथि' का शब्द प्रयुक्त किया, तो मेरे हृदय में एकाएक सुई-सी चुभ गई। नेपाल स्वतंत्र देश है, उसकी स्वतन्त्र राष्ट्रीय एकाई है, इसलिए राजनीतिक तौर से उसे मैं भारत के अन्तर्गत भारत का एक प्रदेश नहीं मानता। किन्तु और कितनी ही बातें हैं, जिसके कारण मैं उसे विदेश नहीं मान सकता। उसी हिमाचल के वरपुत्र हमारे पन्त हैं, जिसके दूसरे श्रेष्ठ पुत्र महाकवि लक्ष्मीप्रसाद देवकोटा हैं। यह कैसे हो सकता है कि पन्त को तो मैं 'हमारा' कहूँ, और देवकोटा को विदेशी। अब की यात्रा में देवकोटा की प्राप्ति मेरे लिए एक नया आविष्कार था। नेपाली साहित्य का आदिकवि भानुभक्त 1814 ई. में पैदा हुआ और 1869 ई. में उसकी मृत्यु हुई। नेपाली कविता-साहित्य का आरम्भ इस प्रकार 19वीं शताब्दी के मध्य में हुआ। हिन्दी कविता को 16वीं सदी से 20वीं सदी के मध्य तक जिन अवस्थाओं से गुजरना पड़ा, नेपाली कविता को हमारी चार शताब्दियों की मंजिल एक शताब्दी में पूरी करनी पड़ी। परन्तु इस जल्दी के कारण उसे अपरिपक्व नहीं समझना चाहिए। इसका एक सबूत महाकवि देवकोटा हैं, जिनमें हम अपने हिन्दी के पन्त-प्रसाद-निराला को ही पूर्ण रूप से नहीं पाते, बल्कि उनमें एक ओर यदि हम 'प्रियप्रवास' के कवि 'हरिऔध' को विकसित रूप में देखते हैं, तो दूसरी ओर एक दूसरे भी महाकवि को पाते हैं, जो कि अभी हिन्दी में पैदा नहीं हुआ—देवकोटा जनता की सरल और सुललित भाषा में 'मुना-मदन', 'कुंजिनी' के महान् गायक हैं।

एक तरफ उनकी कविता में हम देखते हैं—

समय सुन्दर सान्ध्य सुवर्ण को।
मदनमन्दिरमा वन पर्णकों।।
जलनिनादलिंदी ललितांशुका।
तल झरिन् पृथिवीतिर मेनका।।

—शाकुन्तल 3 । 26

अथवा,

यात्री आज बनूँ अतीत युग का, समझूँ त त्यो भारत।
ब्यूझाऊँ त सुषुप्तभाव अधिका, पर्दा लगाऊँ यता।।
यो कोलाहल बिर्सिऊँ, मृतक को यो नाम को जीवन।
पाल्नोस् सज्जनवृन्द, यो रसिकको मीठो छ वृन्दावन।।

—शाकुन्तल । 9

जहाँ इस जगह हम उनकी कविता को संस्कृत से लदी देखते हैं, वहाँ कवि के अपने प्रियकाव्य 'मुना-मदन' में ग्रामीण गीत—झ्याउरे—में हम कितनी सरल, कोमल और सरस भाषा पाते हैं—

पृथिवीतिर न हेर मुना ! म पनि आउँछु,
आँखामा आँसु लिएर चिनो म भेट्न आउँछु,
प्रेम को हीरा छुटे को तल, म लिई आउँछु,
कसरी खायो आगोले दिदी ! कमल को शरीर ?
कसरी खायो निठुरी भई कमल को शरीर ?
म कहाँ पाउँ ? तो भुनालाई छातिमा लगाऊँ ?
खरानी तिन्को मलाई द्यौन, छातिमा लगाऊँ ?
हे मेरी आमा। हे मेरी मुना ! म यहाँ बस्दिन !
म यहाँ अब बस्दिन आमा ! म यहाँ बस्दिन।"
"हे मेरा भाई तिम्री मुना मरेकी छैनन् ती,
ज्योति को स्वरूप लिएर गइन् बगेंचा वसन्ती,
स्वर्ग का गाउँछन् उनको मधुर जयन्ती !"
"पर्दा ले ढाक्यो, पर्दा ले छैक्यो, हे दिदी ! मलाई !

म रूने छैन ! गएर भोलि मेटुँला तिन्लाई !
हे देवपर्दा चांडे ने उठा ! धन्य छ तंलाई !

—'मुना मदन'

वाल्मीकि करुण रस के महाकवि थे। 'रघुवंश' के अजविलाप को देख कर कालिदास को करुण रस का कवि माना जा सकता है, उसी तरह देवकोटा भी प्रधानतः करुण रस के महाकवि हैं। दूसरे प्राचीन सजातीय कवियों के वैयक्तिक जीवन के बारे में हमें पता नहीं, इसलिए हम नहीं कह सकते कि उनके अपने जीवन का उनकी कविता पर कितना प्रभाव पड़ा, लेकिन देवकोटा का जीवन तो बाल्यकाल से ही दुःख और संघर्ष का जीवन रहा। प्रौढ़ अवस्था में एक के बाद एक तीन पुत्रों को खो चुके हैं, ऐसी हालत में यदि उनके बारे में कोई लिखता है—"दुःख से विदीर्ण हृदय रखते भी वह मुँह पर जवर्दस्ती हँसी की रेखा लाना चाहते हैं," तो कोई आश्चर्य नहीं है।

"गत अतीत जीवन के किसी दिन में भीषण दुःखान्त घटना होने के पश्चात् एक वेदना उनमें पैदा हुई, जो कि जितनी-जितनी उनकी उमर बढ़ती गई, उतनी ही बढ़ती गई।" "उनको पहली बार ही देखते समय कोई भी आदमी आसानी से समझ सकता है कि वह किसी पुंजीभूत वेदना से मर्माहत हो छटपटा रहे हैं। सिगरेट उनका चिर साथी है, भावना चिर सहचरी और वेदना जीवन के वरदान जैसी उनके लिए है।"

कवि का जन्म सन् 1909 ई. (दीपावली, संवत् 1965) में काठमाण्डू के दिल्ली-बाजार मुहल्ले में एक शिक्षित किन्तु गरीब ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। अपने आरम्भिक जीवन के कष्टों के वारे में कवि ने स्वयं लिखा है ('लक्ष्मी-निबंध-संग्रह', पृष्ठ 61-65)—

"मैं जब आठ वर्ष का था, तो मेरे बड़े भाई हाल ही में इन्ट्रेंस पास होकर उस समय के ट्यूशनगिरी में महीने में तीन सौ से ऊपर कमा रहे थे। मैं उनको दुनिया का आदर्श समझता था। माताजी भी बराबर 'उसी तरह पढ़ना··· होगा, जैसे बाप-भाई' कहकर सस्नेह अँगुली से उनकी ओर दिखाती थीं···' पैसा कमाना पड़ेगा, अंग्रेजी पढ़ना पड़ेगा, मास्टर होना पड़ेगा' माँ की इस शिक्षा को अक्षरशः मैं अनुसरण करना चाहता था। मैं पढ़ता गया, बढ़ता गया। इन्ट्रेंस की मोहिनी द्वारा गोसाईं थान के पानी जैसा आहूत कठिन चढ़ाइयाँ चढ़ने लगा।··· मैं खेलना नहीं चाहता था। मुझे 'पढ़ना पड़ेगा, पैसा कमाना पड़ेगा' की मोहिनी इधर-उधर देखने नहीं देती थी। घर के चिंतित माता-पिता की सुख-मुद्रा से शिशु आसानी से बात समझ जाता है और दरिद्र के घर के शिशु के हृदय में तो आर्थिक अभाव ही जीवन है, यह (भाव) आसानी से अंकित हो जाता है। मैं मास्टर होना चाहता था, पैसा कमाना, घर हरा-भरा बनाना, बड़े भाई की मदद करना, सबको दूध-भात पहुँचाना चाहता था। जल्दी पास करने की धुन में मैंने खेल छोड़ा। मुझे भात में स्वाद नहीं मिलता था। मेरा दिमाग सदा गाँजा पिये हुए की तरह बाबूराम मास्टर के भूगोल के पाठ में घूमा करता था। मैं अंग्रेजी किताब के पन्नों का स्वप्न देखता था, मैं किताब का तकिया बनाकर सोता था। मैं कभी-कभी चार और छः वजे के बीच में भाई का खेल में साथ देता किन्तु अधिकतर कोठरी में बैठ सिटकिनी लगा कर पौ फटने से रात्रि के 12 बजे तक मेरी पढ़ाई चलती रहती। इस प्रकार मैंने मैट्रिक पास होने के लिए पाँच साल बिताये। पढ़ाई नौ वर्ष की थी, किन्तु मैंने उसे पाँच वर्ष में खत्म किया और इन पाँच वर्षों में मैंने भात का स्वाद नहीं पाया। अपनी आकृति दर्पण में मैंने कम देखी थी। किसी के साथ होड़ करके मैट्रिक पास न होने तक मैंने जूता न पहिनने का निश्चय कर लिया था। मैं दुनिया के साथ बोला ही नहीं, यह भी कहा जाता···। स्त्री समाज में मैं अधिक अप्रिय था, क्योंकि मैं उनकी खरीद-बेच इत्यादि में एक कदम भी साथ नहीं देता था। मेरे ऊपर पास होने की धुन सवार थी। 1926 ई. में पटना विश्वविद्यालय से मैट्रिक पास करने के बाद मेरी आग थोड़ी ठंडी हुई, लेकिन दिल की (आग) बुझी नहीं। मैं अभी पढ़ना चाहता था, और बी. ए. की मोहिनी मुझे बुला रहीं थी।"

कवि के पिता तिलमाधव उपाध्याय पंडित ही नहीं बल्कि संस्कृत और नेपाली के कवि थे, और उन्होंने कवि के तौर पर ही नेपाल के पाँच प्रधान मंत्रियों के दरबार देखे थे। दरबार की अनन्य सेवा करने पर भी दरिद्रता से उनका पल्ला नहीं छूटा था। यह तो निश्चित है कि साहित्यकारिता और कवित्व देवकोटा को पैतृक

दायभाग के तौर पर मिला था। उनकी माता अमरराजलक्ष्मी (मृत्यु 1937 ई.) भी कोई साधारण महिला नहीं थीं।

घर की चिन्तनीय अवस्था में रहते मैट्रिक पास करने के बाद आगे पढ़ने के लिए देवकोटा काठमाण्डू के त्रिचन्द कॉलेज में दाखिल हुए। यह भी याद रखने की बात है कि यद्यपि कवि को बचपन में तीर्थदेव नाम दिया गया था किन्तु लक्ष्मी के महान् त्यौहार दीवाली के दिन पैदा होने के कारण वह लक्ष्मी प्रसाद कहलाने लगे, और अन्त में वही उनका अपना नाम हुआ; लेकिन लक्ष्मी का प्रसाद उन्हें कभी नहीं मिला। सरस्वती के वरपुत्रों के लिए आज की दुनिया में वह सम्भव कैसे हो सकता था ? कॉलेज में उनके विषय अंग्रेजी, अर्थशास्त्र और गणित थे। मेधा और परिश्रम दोनों के सहयोग के कारण देवकोटा को पाठ्यविषय में कोई कठिनाई नहीं मालूम होती थी। अंग्रेजी साहित्य में प्रविष्ट हो जाने के बाद उनके कवि-हृदय ने अंग्रेजी के महान् कवियों की ओर आकृष्ट होना शुरू किया। वर्ड्सवर्थ की कविता ने उन्हें बहुत प्रभावित किया। 'पढ़ना पड़ेगा, पैसा कमाना पड़ेगा' के संकल्प के साथ अपनी पढ़ाई करते हुए अब कविता ने भी उनके समय में से हिस्सा बँटाना शुरू किया, और वह हफ्ते में कम-से-कम दो दिन घर में बैठे कविता करते थे। अंग्रेजी का तो उन पर भूत सवार था, इसलिए नेपाली के साथ अंग्रेजी में भी कविता करना उनके लिए आवश्यक था। आज भी वह कभी-कभी अंग्रेजी में कविता करते हैं। उनका एक पद्यमय नाटक मैंने भी सुना। उसका पारखी मैं अपने को नहीं मानता, तो भी यह कहना पड़ेगा कि भाषा, भाव, छन्द में अंग्रेजी पर भी देवकोटा का असाधारण अधिकार है। बी. ए. में पढ़ते समय और पढ़ाई के साथ दिन में तेरह घण्टा उन्हें ट्यूशन करनी पड़ती थी, और कवि के शब्दों में 'कमाना पड़ेगा, अंग्रेजी पढ़ना पड़ेगा, मास्टर बनना पड़ेगा' का मीठा गाँजा पी साइकिल पर चढ़ मैं शहर में घूमता रहता था। मैं नेपाली नहीं बोलता था, न नेपाली बोलनेवाले के साथ बोलता था। मुझे ऐसा मालूम होता था, नेपाली में शब्द ही नहीं हैं, भाव व्यक्त नहीं हो सकता, मानो नेपाली विद्वान की भाषा ही नहीं है।··मैं अंग्रेजी में सोचता और अंग्रेजी में बोलता था।" इस प्रकार घर के अभाव को दूर करने में सहायक बनते हुए कवि ने 1930 ई. में बी. ए. पास किया। नेपाल में कोई कानूनी अदालत नहीं थी, इसलिए वकालत पास करने का कोई लाभ नहीं था, तो भी 1932 ई. में देवकोटा ने पटना से बी. एल. पास किया और कुछ समय एम. ए. के लिए भी दिया, किन्तु कमाई छोड़ पटना में बैठकर पढ़ना नहीं हो सकता था, इसलिए यह संकल्प छोड़ देना पड़ा।

जन्मजात कवि भला बचपन में ही कविता के 'चीकने पात' प्रदर्शित किये बिना कैसे रह सकता था ? कवि देवकोटा दस वर्ष के थे, जब कि उनके मुँह से निम्न पंक्तियाँ फूट निकलीं :

'घनघोर दुःखसागर संसार जान भाई।
न गरे घमंड कहिले मर्नूछ हामिलाई।।'

मानो इस शिशु कविता ने कवि को दिशा का संकेत दिया। दुःख-सागर उनके चारों तरफ उमड़ रहा था। दुःख-सागर का साक्षात्कार बुद्ध को भी हुआ था, लेकिन उन्होंने उसे हटाने का मार्ग भी खोज निकाला था। कवि ने उससे निस्तार के लिए घमंड न करने और अन्त में मर जाने पर सन्तोष किया था। उनकी कविता के बारे में आज भी कहा जाता है–'उनकी अधिकांश रचनाएँ दुःखान्त हैं। अथवा सुखान्त होने पर भी जिन स्थलों में करुणा का प्राधान्य है, वह विशेष चमत्कारपूर्ण दिखाई पड़ते हैं।' दुःख-सागर में पड़े लोगों के लिए स्वयं दुःख में पले कवि के हृदय में अपार संवेदना है। जब गरीबों और उपेक्षितों का वर्णन लिखने के लिए उनकी लेखनी चलती है, तो मानो वह अपने निजी क्षेत्र में दौड़ने लगती है। यह उनके चित्रित किये मुना-मदन, कुंजिनी, गोरे आदि में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। कविता ही नहीं, गद्य में मेरी उनकी यह संवेदना प्रकट होती है–

"बहुत दिनों से मुझे पहाड़ी जीवन देखने की चाह थी। मैंने गोसाईं थान की यात्रा में पहाड़ों को देखा, किन्तु पहाड़ी जीवन को नहीं देखा। मार्ग में जो देखा, वह हृदय पर प्रतिबिम्बित नहीं हुआ। एक-दो झोंपड़ा, एक-दो बाजार और वन-पहाड़ मार्ग के सिवा कुछ देखा नहीं।··एक स्थान पर मैंने एक मामूली झोंपड़ी में बिच्छू

घास पका बच्चे को खिलाती माँ से पूछा—"तुम लोग यहीं बसते हो ?" उसने जवाब दिया—"जाड़े में तो यहाँ जमीन ही नहीं दिखती।" उवाले हुए विच्छू के साग के साथ कोदो की लप्सी खाने लगे। बिच्छू घास के काँटे ताप के कारण थोड़ा-थोड़ा मर गए थे, तो भी मनुष्य की अन्ननली में इस तरह के काँटे वाले पदार्थ को जबरदस्ती लप्सी घुसेड़ने जैसा पुलिस का काम करते देख मुझे यह दृश्य सबसे दयनीय लगा। वह बच्चे दुबले-पतले, लाल मिट्टी के रंग वाले, चिथड़ा पहने, अनजान जंगली आश्चर्यपूर्ण आँखों को उठाये मेरी ओर निहार रहे थे।"

देवकोटा नेपाली के पन्त-प्रसाद-निराला तीनों हैं, इसमें अतिशयोक्ति नहीं है। निराला के कुछ दूसरे गुण भी उनमें मौजूद हैं, यद्यपि उतनी मात्रा में नहीं। निराला को राँची ले जाने की बात ही भर कितनी ही बार उठी, किन्तु जब देवकोटा को घर वालों ने विक्षिप्त समझ राँची ले चलने के लिए कहा, तो उन्होंने जरा भी आपत्ति नहीं की और राँची के पागलखाने में कुछ दिन रह भी आये। लेकिन वह पागल तो नहीं हैं। असाधारण प्रतिभा कभी-कभी पागलपन की सीमा-रेखा को मिटाती दीख पड़ती है। वही बात देवकोटा के बारे में भी है। पागल न होते हुए भी कभी-कभी वह प्रभाव दिखलाई पड़ता है। उन्होंने नेपाली और अंग्रेजी में सब मिलाकर आज 44 वर्ष की आयु में अस्सी पुस्तकें लिखीं, जिनमें से छब्बीस खो गईं ! मैंने जब आश्चर्य प्रकट किया, तो कवि के पास बैठी मित्र-मण्डली ने बतलाया—'इसमें आश्चर्य करने की क्या बात ? कितनी ही पुस्तकें नेपाली भाषा-प्रचार-समिति के धनी-धोरियों की उपेक्षा से नष्ट हो गईं, जिनके यहाँ सौ (नेपाली) रुपया महीने पर कवि वर्षों नौकरी करते रहे। फिर लिखना और फाड़ना कवि के स्वभाव में है। एक नाटक के कितने ही स्थलों को उसी दिन कवि ने सुनाया था। मालूम हुआ, पूरा नाटक एक बार लिख चुके थे, फिर रद्दी कागज की जरूरत हुई, तो उसी को फाड़-फाड़ कर इस्तेमाल करके फेंक दिया। अब यह नाटक दूसरी बार लिखा जा रहा है। क्या मालूम इसकी भी वही गति हो। वस्तुतः यह तो नेपाली साहित्य-प्रेमियों का काम है कि कागज पर उतरते ही पुस्तक के पूरे होने की प्रतीक्षा किए बिना वे उसकी अलग कापी करते जायें। नेपाल के पहाड़ों में गायिने नामक चारण-गायक जाति है, जिनके 'गायिने' बहुत लोकप्रिय होते हैं। देवकोटा ने 'गायिने गीत' नामक एक काव्य लिखा था, जिसके नष्ट होने का सहृदयों को बहुत अफसोस है। लिखते, फाड़ते, भूलते हुए, कितने ही वर्षों के बीतने के बाद पच्चीस वर्ष की उमर में 1934 ई. में 'शारदा' के प्रथम अंक में कवि की 'गरीब' नामक कविता प्रकाशित हुई। वही उनकी प्रथम प्रकाशित कविता है। लेकिन इससे पहले ही 1933 ई. (सौर आषाढ़ 15) के वर्षामंगल के समय किसान-बालिकाओं को भ-याउरे गीत गाते सुन कर कवि का हृदय लोकगीत की ओर आकृष्ट हो चुका था। उन्होंने उसी लय में 1933-34 ई. में 'मुना-मदन' खंडकाव्य लिखा था। अपने इस लोककाव्य के बारे में उनका विशेष पक्षपात है, और भ-याउरे के बारे में कितना अनुराग है यह उसी की निम्न पंक्तियों से मालूम होगा—

क्या राम्रो, मीठो नेपाली गाना भ-याउरे भने को !
यो खेतमित्र बिरूवा रोपैं न देखी खने को।
फुलेर जाओस् वैलेर जाओस् ईश्वर-इच्छा हो,
पयरमनी नकुलूच भाई ! यो मेरो भिक्षा हो।
यो फुलिजावस् यो फैलिजावस् ! बसन्त डाकन,
भ-याउरे भनी नगर हेला हे प्यारा सज्जन !
नरम गरोस, चरम-चूली उड़ाई पुर्याओस्,
निर्मल बाना-लहर जस्ता अघर चलाओस्।
पहाड़छातिमा यो टक्क्राओस् डाँड़ाले दोहर्याऊन्।

अपने इस प्रथम काव्य में स्वाभाविकता के साथ लालित्य का परिचय कवि ने हर जगह दिया है। नायक मदन अपनी प्रियतमा मुना को छोड़कर तिब्बत (भोट) की यात्रा करता है। तिब्बत के डाँड़ों और ल्हासा में दलाई लामा के प्रासाद का कितना सुन्दर वर्णन निम्न पंक्तियों में दिखाई पड़ता है—

डाँडा र काँडा, उकाला ठाडा, जंघार हजार,

भोट को बाटो ढुंगा र माटो, नंगा र उजार,
कुइरो डम्म, हिउँले टम्म, त्यों विष फुलैको,
सिम्सिमे पानी, बतास चिसो बरफ झैं फुलैको,
मसाने खम्बा लामा का गुम्बा शिर गोल खौरे को,
बाटामा जाने हात खुट्टा ताने, आगाले बौरे का।
स्याउला चीसा, ओछ्यान् खासा जाडोले बज्ने दाँत,
पकाई झिक्दा नखान पाई काँचा को काँचै भात।
आखिर ठूलो सुन को छाना साँझमा सुहायो,
मैदाननेर पोटालामनी, ल्हासा नै मुस्कायो।
आकाश छुने पहाड़ जस्तो सुन्दुट्टे तामा को,
सुन को छाना, दरबार अजड् त्यों दले लामा को।
चौंरी को पर्दा, बुद्ध को मूर्ति सुनमा कुंदे को,
रंगीन ढुंगा, अप्सरा सारी बुट्टामा चुंदे को,
शीतल पानी, हरिया पात, हिउँ का टाकुरा
सिरीस फूल फुले को सेतो, रूख का आकुरा।
कीचू को खोला, लिंकार को दृश्य, अम्वान को महल,
यूतीक स्याम्पा, त्यो फूल राम्रो, त्यो ल्हासा झल्मल।
तीहस्तिहाडसरी का सेता, भोटेनी भरखर का,
आँखा का काला, नौनी को छाला, त्यों ल्हासा शहरका।

—'मुना-मदन'

नायक मदन बड़े कष्ट के जीवन के बाद जब घर लौटा, तो वियोगिनी मुना हमेशा के लिए इस संसार से विदा हो चुकी थी। कवि ने इसका बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। वर्णन विस्तृत है, जिसमें एक-एक पंक्ति के साथ करुण रस का वेग ऊपर उठता जाता है। मदन ने प्रिया के वियोग से विदीर्ण-हृदय हो अपनी बहन से पूछा—

"कस्तो छ मेरी ती मुनालाई ? हेरेर को आयो ?
पानी को घुट्का ती माग्दिहोलिन्, कसले पिलायो ?"
बहन—"हे प्यारा भाई ! ती मुनालाई यों ज चाहिन्न।"
मदन—"ती निकी भइन् निरोगी भइन् औषधि चाहिन्न !"
बहन—"हे प्यारा भाई ! म हेर्न जान्थें, बाटोनै पाइन्न ?"
मदन—"ती नीकी भइन् आउन्न् किन् ? यों मेरो अवस्था !"
बहन—"खोज्दिहुन् तिनी आउन भाई ! पाउन्नन् ती रास्ता !"
मदन—"गजब लाग्छ यो कुरा सुन्दा मावली कहाँ छ ?"
बहन—"बादल पारी, उज्यालो भारी, मुलुक जहाँ छ।"
मदन—"हे मेरी दिदी ! हे मेरी दिदी ! मुना छन् भनन !"
ती मुना मेरी पृथिवीमाथि अझ छन् भनन्, मुना, अझ छन् भनन !"
बहन—"पृथिवी वारी पृथिवी पारी ती मुना अझ छिन्,"
फूलमा हांस्छिन् जलमा नाच्छिन् ! तारामा चम्कन्छिन्
कोयलीकण्ठ बोल्दछ तिन्को आँखा छ उज्यालो
शीतमा रून्छिन्, उदास हुन्छिन् देखिन्छ तुँवालो।"
मदन—"मरेकी छैनन् ती मेरी मुना ज्युँदो छन् भनन !

मालवमित्र छन् मेरी सुना, आउँछिन् भनन !
आशा की जरा, मनकी चरा, मुना छन् भनन !
कुनै दिन दिदी ! आउँछिन् भनन !"
बहन–"हे मेरा भाई ! ती मुना छैनन् पृथिवी वारीमा,
दुःख को लेश नहुने देश कल्पनापारीमा,
टिपेर बस्छिन् सुख का फूल स्वर्ग को बारीमा !"
मदन–"निठुरी दिदी ! निठुरी दिदी !! मार्‌यौ नि मलाई !!
आशा को फूल यदि का दिन आँखामा झुलाई,
कानमा मेरो विष को घुट्का घुठुक्क पिलाई !

* * *

"हे मेरी मुना ! हे मेरी मुना !! छाड़ेर गयौ नि
पूजा की मन्दिर, प्राण की जंजीर, तिमीनै थियौ नि !
हु मेरा प्राण ! तिमी नै थियौ नि,
प्राण ! छाड़ेर गयौनि !
दैवले हान्यो शिरमा मेरो निठुरी घनले,
के गरी सहूँ ? के गरी रहुँ ? जिउँदो मनले
सहन सीमा नाघे को मनले
हे मेरी दिदी ! तो मुनालाई हेर्दछु एकै छिन्,
ती मुनालाई डाकन दिदी ! हेर्दछु एकै छिन् !
डाकन दिदी ! हेर्दछु एकै छिन् !
हे मेरी मुना ! हे मेरी मुना ! ओलूहेर्र आऊन,
हे मेरी रानी ? मुहार तिम्रो म देख्न पाऊँन,
सुना ओलूहेर्र आऊन !

* * *

मुना-मदन के बाद जो पुस्तकें प्रकाश में आईं, उनमें, 1934 ई. में 'सावित्री-सत्यवान्' (नाटक) 1936 में, 'प्रसिद्ध प्रबन्ध' 1937 में, 'शाकुन्तल' (महाकाव्य), 'सुलोचना' (महाकाव्य) और 'कुंजिनी' (खंडकाव्य) एवं 1939 में 'लक्ष्मी निबन्ध संग्रह' हैं। देवकोटा की रचना बड़ी तीव्र गति से होती है, इसका उदाहरण चौबीस सर्गों का महाकाव्य 'शाकुन्तल' है, जिसे उन्होंने आफिस के काम के बाद छुट्टी के समय में तीन महीने में पूरा किया। 'सुलोचना' महाकाव्य को तो उन्होंने केवल दस दिनों में समाप्त किया। इस वेग के कारण कविता में ढिलाई हुई हो, इसका पता शाकुन्तल की पंक्तियों से नहीं मिलता। महाकाव्यों के लिखते समय वह नेपाली भाषा प्रचार समिति के वैतनिक नौकर थे, जिसकी ओर से भाषा और व्याकरण के विशेष नियन्त्रण में रहकर उन्हें कविता करनी पड़ी थी, नहीं तो, शाकुन्तल कुछ और ही होता।

अनंगवाणविद्धा शकुन्तला से उसकी सखी प्रियम्वदा के संलाप की कुछ पंक्तियाँ देखिए–

स्वादु प्राकृत प्रवृत्ति-तत्परा।
हास्य-चारु-अधरा प्रियम्वदा।।
बैंस-मिष्ट नखरासितै कुरा।
गर्नलाई चतुरी प्रिया घरा।।
गर्दछिन् मधुर प्रश्न आलिमा।
मिष्टभावप्रतिनादकन्दरा।।
मोहिनी मृदुल-मार-मन्दिरा।

"वोल्दिनौ किन संगी ! शकुन्तला ?"
झुक्दछन् नजर निम्न लाम्चिला।।
छैन हास्य-छवि बैंस-चंचला।
"मंजरी-कुसुम-रुद्ध भै गला।
मूक छौ कि भन कंठकोकिला ?
या फुलेर मृदुवैंस सुन्तला।
खोज्छ प्रेम भूँवरा सुमंजुला ?
के छ उत्तर खुला शकुन्तला ?"

देवकोटा ने कविता, कहानी, नाटक, निबन्ध सभी क्षेत्रों में सफलतापूर्वक कलम उठाई है। भाषा के तो वह जादूगर हैं, यह उनकी नेपाली और अंग्रेजी दोनों भाषाओं की कृतियों से मालूम होता है। नेपाली भाषा को नये-नये शब्दों से उन्होंने बहुत समृद्ध किया है। इसके लिए उन्होंने केवल संस्कृत का सहारा नहीं लिया, बल्कि नेपाल की कंदराओं में छिपे पड़े सैकड़ों शब्दों का उद्धार करके उनका सफल प्रयोग किया है। इल, आलु आदि प्रत्ययों को लगा कर उन्होंने सैकड़ों शब्द बनाए, जिनको देखकर पुराने विद्वान पहले नाक-मुँह सिकोड़ते या हँसी उड़ाते थे, लेकिन वही शब्द अब धड़ल्ले से नेपाली भाषा में प्रयुक्त हो रहे हैं।

लक्ष्मीप्रसाद देवकोटा ऐसी महान् प्रतिभा को पाकर नेपाल और नेपाली साहित्य धन्य है। हम भी उन्हें पंत-प्रसाद-निराला की पंक्ति में बैठाकर अपने को गौरवान्वित समझते हैं।

11

बुद्ध और गाँधी

हमारे लम्बे इतिहास में हमारे देश में बहुत-से महापुरुष हो गए हैं। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि बुद्ध उन सबमें महान् थे। उनका व्यक्तित्व सर्वांगीण था। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनका परिवर्तनवाद (क्षणिकवाद)–संसार क्षण-क्षण में परिवर्तित होनेवाली एक प्रवहमान धारा के समान है, उनका अनात्मवाद तथा प्रतीत्य समुत्पाद–एक के विनाश के बाद दूसरे की उत्पत्ति होना- इनमें से प्रत्येक उनकी सृजनात्मक विचारधारा का ज्वलन्त उदाहरण है। परन्तु यहाँ हमें इस बात से विशेष प्रयोजन नहीं कि उन्होंने मानवीय विचारधारा को कौन-से सिद्धान्त प्रदान किये। आइये, हम उनकी मानवता, प्रेम, विश्वबंधुत्व एवं उदारता पर दृष्टिपात करें। कुछ लोगों की यह गलत धारणा है कि महात्मा बुद्ध एक व्यक्तिवादी महापुरुष थे जिन्हें व्यक्तिगत निर्वाण की ही चिन्ता रहती थी। परन्तु नहीं, उनकी यह धारणा भ्रमपूर्ण है। वे व्यक्तिवादी नहीं थे। इसका प्रमाण उनके जीवन की एक घटना से मिल जाएगा। एक बार उनकी विमाता प्रजावती गौतमी ने अपने हाथ का कता और बुना एक कपड़े का टुकड़ा उन्हें भेंट किया। उन्होंने कहा कि यह कपड़ा संघ को दे दो, इससे तुम्हारी अधिक शोभा होगी क्योंकि संघ व्यक्ति से महान् और उच्च है, उनका बोधिसत्व का सिद्धान्त जिसके अनुसार परहित के लिए आत्मबलिदान करते हुए असंख्य जन्म धारण करना पड़ता है, व्यक्तिवादिता का सिद्धांत नहीं है।

वे प्राणिमात्र की भलाई चाहते हैं–'सब्बे सत्ता भवन्तु सुखी तत्ता।' परन्तु वे निष्क्रिय स्वप्नद्रष्टा नहीं थे। वे यथार्थवादी थे। अतः जब उन्होंने अपनी शिष्यमण्डली को कर्मक्षेत्र में उतरने का आदेश दिया, बौद्ध-धर्म को प्रचार करने की प्रेरणा की तो उन्होंने यह नहीं कहा कि समस्त प्राणियों के हित के लिए प्रयत्नशील रहना; अपितु यह कहा कि बहुत जनों के हित के लिए, बहुत जनों के सुख के लिए (बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय) विचरण करो। वे जानते थे कि बहुत जनों का हित और सुख कभी-कभी कुछ लोगों के हितों के विरुद्ध होता

है। समाज विपरीत हितों में बँटा हुआ है। उनके विचार में आदि मानव सांसारिक वस्तुओं का जो उपभोग करते थे, वही आदर्श था। वह लोभ जिसने उस समानता का नाश किया तथा वैयक्तिक सम्पत्ति को जन्म दिया, मौलिक अपराध था जिसके कारण मानवता अब तक दुःख भोग रही है और भोगती रहेगी। उनके मतानुसार इस वैयक्तिक सम्पत्ति का लोभ ही चोरी का जन्मदाता है और चोरी से हत्या एवं कलह की उत्पत्ति हुई। इन बुराइयों से बचने के लिए मनुष्य ने राजा को स्वीकार किया। उन्हें मानव-समाज के इस रोग की कोई औषध नहीं मिली। उन्होंने अपने ढंग पर अपने भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों में साम्यवाद का प्रचार करने का प्रयत्न किया। परन्तु यह अधिक देर तक टिक न सका। बात यह है कि वैयक्तिक सम्पत्ति के व्यक्तिगत लोभ के समुद्र में जिसकी राज और रिवाज की ओर से छूट हो, साम्यवाद का टापू स्थापित नहीं किया जा सकता। अन्तिम उपदेश जो उन्होंने दिया वह यह था कि वैर–वैर से दूर नहीं हो सकता (न हि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कुतश्चन)। इस संक्षिप्त वक्तव्य में हमें बुद्ध के कुछ एक आधारभूत दार्शनिक एवं सामाजिक उपदेश मिल जाते हैं। अब युद्ध के पश्चात् गाँधीजी के अतिरिक्त कोई ऐसा अन्य महापुरुष नहीं हुआ जो सम्पूर्ण समाज को इतना महान सन्देश दे सकता। उनके दर्शन में बुद्ध की मौलिकता नहीं। यदि दार्शनिक पृष्ठभूमि से अलग करके देखा जाये, तो महात्मा गाँधी की सत्य और अहिंसा एक व्यक्ति का बहम मात्र प्रतीत होगा। गाँधीजी मानव मात्र के लिए हैं। उन्होंने जीवन-भर बहुजनहिताय संघर्ष किया और बहुत जनों का हित ही उन्हें अभीष्ट था। मैं तो यहाँ तक कहने को तैयार हूँ कि इस उद्देश्य की पूर्ति में उन्हें अपने जीवन में बुद्ध से भी अधिक कष्ट सहन करने पड़े। मैं यह नहीं कहता कि यदि बुद्ध भी ऐसी ही परिस्थितियों एवं वातावरण में होते, तो वे भी ऐसा पग उठाते हुए हिचकिचाते। उन्होंने यात्री दलों पर घातक आक्रमण करनेवाले अंगुलिमाल का जान-बूझकर सामना किया। परन्तु बुद्ध के जीवन में ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। महात्माजी को सैकड़ों बार लोगों को बचाने के लिए अपनी जान संकट में डालनी पड़ी। जाति-भेद को मिटाने एवं सहस्रों मनुष्यों का जीवन बचाने के लिए दक्षिण अफ्रीका में गाँधीजी ने बोअरों के विरुद्ध अपनी जान की बाजी लगा दी। कलकत्ता, दिल्ली तथा अन्य स्थानों में साम्प्रदायिक सद्भावना स्थापित करने के लिए गाँधीजी ने जितने प्रयत्न किये, उन्हें कौन नहीं जानता ? वे एक महान् आत्मा हैं, इसमें कौन सन्देह कर सकता है ?

व्यक्ति एवं सम्पूर्ण समाज से प्रेम करने की दृष्टि से वे दूसरे तथागत हैं। उनकी अवैर-भावना (अहिंसा) में अकर्मण्यता को स्थान नहीं है। वह तो दुर्बलता और आलस्य का चिह्न हैं। उनकी अहिंसा जिसने लाखों भारतीयों को कर्मक्षेत्र का आवाहन कराया, नकारात्मक सत्ता नहीं है, बल्कि वह एक निश्चित एवं सुदृढ़ शक्ति है। इस रूप में भी वे कर्म के शिक्षक हैं।

यद्यपि गाँधीजी परमात्मा और अपरिवर्तनशील जगत को माननेवाले दर्शन में विश्वास करते हैं, परन्तु अपने कार्यों में वे जड़ नहीं हैं। बहुजनहिताय का विचार उनकी नस-नस में बसा हुआ है जो अनजाने ही उन्हें अपने व्यक्तित्व में परिवर्तन करने को धीरे-धीरे विवश करता रहता है। यह दुख की बात है कि उन्होंने बुद्ध के गतिपूर्ण दर्शन को अपना लक्ष्य मान कर ग्रहण नहीं किया। बहुत दिनों से गाँधीजी का एक नया रूप प्रकट हो रहा है, वे भारतीय जनता की राजनीतिक स्वतन्त्रता से ही संतुष्ट नहीं दीखते, वे उनकी आर्थिक स्वाधीनता के विषय में भी सोचने लगे हैं। उसी से वास्तविक सामाजिक क्रान्ति आयेगी। बुद्ध के समान वे कुछ लोगों द्वारा अपने समाज पर प्रभुत्व और विषमता के शाप को अनुभव करने लगे हैं। वे खुले शब्दों में देशी राजाओं की निरंकुशता की भर्त्सना करते हैं। इससे हमारी महान् समस्याओं के विषय में उनके रुख का पता चल जाता है। वे समाजवाद की बात भी करते हैं, परन्तु ज्यादा जोर वे सत्य और अहिंसा पर ही देते हैं। कोई समाजवादी सत्य का शत्रु नहीं और न ही कोई समाजवादी हिंसा के लिए हिंसा चाहता है। वास्तव में समाजवादी या साम्यवादी हिंसा को आत्मरक्षा के साधन रूप में स्वीकार करते हैं और वह भी कब, जब समस्याओं के शान्तिपूर्वक समाधान के साधन बंद हो जाते हैं और आततायी हिंसक के रूप में खुला आक्रमण कर देते हैं।

निकट भविष्य में पूँजीपतियों और निरंकुश वर्ग के असहनीय विशेषाधिकारों को समाप्त करने के लिए महान् संघर्ष छिड़ने वाला है। मुझे पूर्ण विश्वास और आशा है कि वे अपनी अहिंसा की सक्रिय शक्ति के कारण

वर्गगत आततायियों से कहीं अधिक बलवान् हैं। वे लहू की एक बूँद बहाये विना जमींदारी की जर्जरित, निकम्मी प्रणाली का अन्त करके समाज में से सदा सर्वदा के लिए, वर्गजन्य अत्याचार का अन्त कर देंगे। हमारे पास समय बहुत कम है। हम उनकी दीर्घायु की कामना करते हैं। परन्तु गाँधीजी के जीवन की सीमा तो है ही। क्या महात्माजी इस विषय में शीघ्र ही निश्चय कर लेंगे, और उस महान क्रान्ति का, जो अहिंसात्मक होगी, नेतृत्व करके आर्थिक वर्ग-भेद को समाप्त करके जनता को देश का वास्तविक स्वामी बनायेंगे। उनके नेतृत्व ने भारत को राजनीतिक रूप से स्वाधीन कराया है। इतिहास और मानवता उनके इस नेतृत्व को सदा स्मरण रखेगी। यदि इस वृद्धावस्था में अपने परिपक्व अनुभव को लिए गाँधीजी भारतीय जनता को आर्थिक बन्धनों एवं वर्गजन्य अत्याचार से मुक्त करने में सफल हो गए तो वे ऐसा कार्य सम्पन्न कर जायेंगे जिसे अपनी सद्भावना के रहते बुद्ध भी नहीं कर पाये। यदि ऐसा हो गया तो मानव आनन्द की प्राप्ति में महात्मा गाँधी भगवान् बुद्ध से भी आगे बढ़ जायेंगे और इतिहास उनको इसी रूप में स्मरण करेगा।[1]

12

'मेरी रगों में शाही रक्त बह रहा है'

श्रीमती मे वाइट के वे शब्द अब भी मेरे कानों में गूँज रहे हैं, जिन्हें 72 साल की इस बुढ़िया ने 24 अगस्त 1954 के दिन कहा था। सभी को अपने वंश का अभिमान होता है, वृद्धों को तो और भी। मसूरी सवा सौ साल पुरानी नगरी है। 1814 ई. में जब यह भाग नेपाल के हाथ में था, तो इस नगरी का कहीं पता नहीं था। पहाड़ में बहुत मजबूर होने पर भी आदमी ऐसी जगह गाँव बसाने के लिए मजबूर हुआ, इसका कारण भी था। जहाँ जाड़ों में बर्फ पड़ जाती है, बर्फ पड़ जाने पर यही नहीं कि हाड़ को चीरनेवाली सरदी पड़ने लगती है, बल्कि उस समय पशुओं की शामत आ जाती है। हरियाली ढँक जाती है, अधिकांश वृक्षों के पत्ते शरद के अन्त में ही झड़ जाते हैं, इसलिए पशुओं के लिए चारा जुटाना आसान काम नहीं। कुमाऊँ-गढ़वाल के शीत स्थानों के गाँववाले अपने पशु-प्राणियों के साथ धमतप्पी करने तराई में उतर जाते थे। मसूरी के आस-पास के गाँव 4-5 हजार फुट से ऊपर नहीं थे। वह अपने पास की अधिक ऊँची अतएव अधिक सर्द जगहों का कोई इस्तेमाल नहीं करते थे, यह बात नहीं थी। बर्फ पिघलने के बाद यहाँ घास उग आती थी, जिन्हें चरने के लिए उनकी गाय-भैंस यहाँ आ जाती थीं। आज जहाँ टेकारी की कोठी (एरिक्स औन) है, वहाँ पास के गाँववालों का 1814 ई. में भैंसवाड़ा था। यही बात श्रीमती मे वाइट के मकान में विलका भी है। मसूरी से दो मील पर अवस्थित यह बारलोगंज महल्ला 5000 फुट से अधिक ऊँचा नहीं है, इसलिए यहाँ बर्फ शायद ही कभी पड़ती है। जमीन भी यहाँ उतने खड़े पहाड़ों की नहीं है, इसलिए खेत आसानी से बनाये जा सकते हैं। लेकिन 1855 ई. में जब इस भूमि को मिस्टर हैदर हसी ने खरीदा था, उस समय उन्हें ख्याल नहीं था कि उनकी नतनी यहाँ धान और मडुआ की खेती करने की बात भी सोचेगी।

इतना कहने से यह तो मालूम होगा ही कि हमारी चरितनायिका कोई मेम होगी। मेम ही कह लीजिए, जब कौवे से भी काली हमारी कितनी ही उच्च शिक्षिता महिलाएँ भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर भी नौकरों द्वारा 'मेम साहब' न कहे जाने पर आग-बबूला हो जाती हैं, क्योंकि 'मेम' कहे जाने के हक से वंचित होने को वह भारी तौहीनी समझती हैं। फिर श्रीमती मे वाइट तो छ ही पीढ़ी पहिले शुद्ध अंग्रेज माता-पिता की संतान हैं। यद्यपि उनका रंग हमारे साधारण गोरे रंग से अधिक साफ नहीं है, यह उनके कनिष्ठ पुत्र ह्यू को देखकर कोई नहीं कह सकता कि वह शुद्ध यूरोपियन नहीं है। मुझे आजकल, खब्त कह लीजिए, मसूरी जैसे

---

1. यह लेख मूलतः अँगरेजी में उस समय लिखा गया था जब गाँधीजी जीवित थे। 'आजकल' (दिल्ली) ने इसी का अनुवाद छापा था।

स्थानों के हाल के गड़े मुर्दों को उखाड़ने का खब्त सूझा है। 1920-22 में जब पहिले झोंपड़े इस पर्वतस्थली में पड़े, तब से 1947 ई. तक न जाने कितने अंग्रेज नीचे धूप और गरमी से त्राण पाने के लिए यहाँ आकर रहे, पर वह सभी चिड़िया रैन बसेरा वाले थे। डिपो का कब्रिस्तान सबसे पुराना है, केमल्सबैक वाली सेमिटरी में भी सौ बरस तक पुरानी कब्रें मिलती हैं, पर इनमें से अधिकांश उन्हीं लोगों की हैं, जो हिन्दुस्तान में नौकरी या व्यापार से रुपया कमाने आये थे, और जिनका ख्याल अपने शरीर को इस काली भूमि में दबाने का नहीं था। यदि इस नगरी के सबसे पुराने लोगों के बारे में जानना है, तो श्रीमती वाइट के वंशवाले ऐंग्लो-इण्डियन लोगों के पास जाना होगा। अफसोस है, भारत के आजाद होने के बाद उनमें से अधिकांश देश छोड़ गए हैं। श्रीमती वाइट को ही ले लीजिए, उनके पाँच पुत्र-पुत्रियाँ जीवित हैं, जिनमें एक पुत्र मेजर न्यूजीलैंड में जा बसा, उससे छोटा कप्तान युद्ध में घायल हो इग्लैंण्ड गया, और वहाँ किसी दूकान में काम करता है। तीन लड़कियाँ भी लंदन में बस गई हैं। सबसे छोटा पुत्र ह्यू उस दिन सबसे पहिले मुझे मिला और अपना परिचय देते बोला—कितने ही सालों विदेश में रह कर लौटा हूँ। माँ ने बतलाया : ह्यू ब्याह करने जा रहा है। पर, वह उसके लिए खूँटा होगा, यह समझना भूल होगी, मेरे विलके निवासी दोनों बहिन-भाई शायद इस घर के अन्तिम निवासी हों, जीविका की तलाश में या अपने घुमक्कड़ी के चक्कर में आदमी सदा अर्धखानाबदोश रहा—बल्कि जीविका के आकर्षण की डोरी उसे अधिक दूर-दूर तक ले जाने में कारण हुई। भारत के स्वतंत्र होने के पिछले सात वर्षों में जो आधे से बहुत अधिक गोरे ऐंग्लो-इंडियन आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड या खुद इंग्लैंड भी चले गए, उसमें कारण यही जीविका की तलाश है। अंग्रेजों के राज्यशासन में इसमें शक नहीं कि ऐंग्लो-इंडियन अछूत समझे जाते थे, पर शत-प्रतिशत वह भारतीयों के विरुद्ध इस्तेमाल किये जाने वाले विश्वसनीय हथियार के तौर पर इसे समझते थे, इसलिए उन्हें अधिकार दे रक्खा था कि वह बाकी भारतीयों को अपने से नीचे मानते व्यवहार करें। केवल इतना मानसिक परितोष ही नहीं पर्याप्त हो सकता था, इसलिए रेलवे जैसी कुछ नौकरियों में उनकी इजारादारी कायम कर तनखाह भी कालों से अधिक देते थे।

ऐंग्लो इण्डियन लोगों के साथ अंग्रेजों का बर्ताव यद्यपि अपमानपूर्ण था, पर आर्थिक तौर से वह अपने मातुल वंश से कहीं अच्छी हालत में थे। उन पर सांस्कृतिक रंग बहुत हल्का पड़ा है, इसकी शिकायत अक्सर सुनने में आती है, पर वह कुछ व्यक्तियों को देखकर एक सामान्य धारणा बना लेने से अधिक महत्त्व नहीं रखती। हाँ, उन्होंने देश की संस्कृति का अभिमान करना तो दूर, उससे सहानुभूति भी नहीं रक्खी, जिसका परिणाम हुआ कि वह अपने देश में भी बेगाना हो गए। डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने मैक्सिको में ऐंग्लदा-अमेरिकन या यूरो-अमेरिकन लोगों के रक्त-सम्मिश्रण से बनी जातियों और उनकी सामाजिक स्थिति का बहुत ज्ञानवर्धक वर्णन अपने एक लेख में करते हुए आज से चार हजार वर्ष पहिले आये आर्यों के रक्त-सम्मिश्रण से उत्पन्न वर्ण समस्या का चित्र खींचा है। शायद उस समय आर्यों और आर्य-इंडियन का सम्बन्ध ऐसा ही रहा होगा, पर आर्य भारत में चिड़िया रैन बसेरा वाले नहीं थे। उनके अपने मूल देश में प्रकृति और मानव शत्रुओं से त्राण पाने तथा सुलभ जीविका की खोज में ये अर्ज यायावर भारत में अपने सारे परिवार के साथ आये थे—अर्थात् समुद्र पार हो उन्होंने अपने बेड़े को तोड़ दिया था, और चाहने पर भी फिर पीछे लौटने की गुंजाइश उनके लिए नहीं रह गई थी। आर्यों के बाद भी कितने ही शक, यवन, पार्थव, श्वेत हूण आदि जातियाँ उसी तरह यहाँ आ अपने बेड़े को तोड़कर बस गईं। उनके सामने भी यह वर्ण और वर्णसंकरता की समस्या कुछ समय तक रही, फिर समय ने उसे किसी रूप में हल कर दिया। वह हल यही था कि अंग्रेज पहिले की आने वाली जातियों की तरह सपरिवार आ यहाँ अपने बेड़े को तोड़ कर बस नहीं गए। उनके बेड़े बराबर इस देश की अपार संपत्ति ढो-ढोकर विलायत पहुँचाते रहे। आरम्भ में उनमें से बहुत कम अपनी बीवियों को साथ लाते थे, इसलिए उन्हें भारतीय स्त्रियों को लेना पड़ता था। उस समय हरेक अंग्रेज पति अपनी भारतीय स्त्री को रखैल नहीं समझता था। उसका अपनी सन्तान के प्रति प्रेम था। पर, उसके कारण वह उनके लिए अंग्रेज या यूरोपीय समाज में उचित स्थान नहीं दिलवा सकता था। जैसा कि मैंने पहिले लिखा, एंग्लो-इंडियन बनाने की प्रक्रिया कम्पनी के राज्य के साथ-साथ एक तरह बिल्कुल खतम हो गई। उसके बाद एंग्लो-इंडियन

एक अलग जाति बन आपस में ही शादी करने लगे। काले खून के पुनः सम्पर्क न होने तथा कभी-कभी गोरे, नये या पुराने रक्त के आ मिलने से उनका वर्ण अक्सर श्वेत से श्वेततर होता गया। उनमें कुछ, जो इंग्लैण्ड जा बसे, वह अंग्रेज समाज में विलीन हो गए। हाल में भारत के स्वतन्त्र होने पर भविष्य से भयभीत हो कितने ही एंग्लो-इंडियन-परिवार आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड तथा दूसरे गोरे उपनिवेशों में चले गए। कलिंपोंग के एक एंग्लो-इंडियन सज्जन ने अंग्रेज महिला से शादी की थी। वह सपरिवार आस्ट्रेलिया जाने वाले थे। वहाँ से मंजूरी भी आ गई, मगर जब आस्ट्रेलिया के कलकत्ता स्थित प्रतिनिधि ने पुरुष को काले रंग की सीमा से पार भर देखा, तो अपनी स्वीकृति वापस कर ली। इस भगदड़ के समय गोरे उपनिवेशों के प्रतिनिधियों में से कितनों ने खूब पैसे बनाये। एंग्लो-इंडियन परिवार अपना सब कुछ बेच कर चाहे जैसे भी हो, उपनिवेशों में जाने के लिए तैयार थे। पहिली झोंक में कुछ साधारण रंग के भी लोग निकल गए, पर जब वहाँ के लोगों को मालूम हुआ, तो रंग की छान-बीन में बहुत कड़ाई शुरू कर दी। सांस्कृतिक तौर से हमारे एंग्लो-इंडियन ईसाई तथा चाल-व्यवहार में बिल्कुल यूरोपियन थे। इसलिए उनके उपनिवेशीय यूरोपियन समाज में खप जाने में जरा भी कठिनाई नहीं हुई। पर वहाँ तो वर्ण-व्यवस्था जन्मना चल रही थी। जिस रंग के आधार पर चल रही थी, उसमें ये नवागंतुक नई समस्या पैदा कर देते। इसलिए अब साधारण रंगवालों के लिए वहाँ गुंजाइश नहीं है। हाँ, श्रीमती वाइट के कनिष्ठ पुत्र ह्यू जैसों के लिए रास्ता हमेशा खुला है।

श्रीमती वाइट मातृकुल से कुमारी हरसी के पास 35-36 एकड़ बहुत अच्छी जमीन है, जिसमें धान, मक्की, गेहूँ की अच्छी खेती हो सकती है और आबाद भूमि में होती भी है। वहाँ सेब, आलू आदि के अच्छे बाग लग सकते हैं, कुछ पेड़ लगे हुए भी हैं। बंगला 100 वर्ष पहिले वाजिदअली शाह की पुत्री के लिए बनवाया गया था, वह अब जवाब दे चुका है। उसका कितना ही भाग गिर चुका है और बाकी बाँध-छानकर किसी तरह कुछ दिनों के लिए कायम रक्खा गया है। वह कह रही थीं—दाम एक लाख रुपया होगा, पर इसमें कुछ कम भी कर दिया जायेगा। आजकल के जमाने में खेती की जमीन पर आधा लाख देनेवाला भी कम या शायद ही कोई मिले। श्रीमती वाइट को इस बाप-दादों की जमीन ने ही पकड़ रक्खा है, नहीं तो वह अपने बाल-बच्चों समेत इंग्लैंड जा सकती थीं। आज 72 साल की उमर में भी वह दिन-भर खुरपा-कुदाल लिए अपनी जमीन में लगी रहती हैं। घर का सारा काम अपने हाथों करना पड़ता है। यह यातना है, जिससे मुक्ति उन्हें मिलनी चाहिए।

श्रीमती मे वाइट के कनिष्ठ सहोदर (आयु 70 साल) रेजिनाल्ड हरसी अपने पितृवंश को 1500 ई. तक ले जा इंग्लैंड के जमींदार थूयोफिलस हेरसी से जोड़ते हैं, जिसके पोते कर्नल हेरसी कंपनी की नौकरी में भारत आये। कर्नल के पुत्र जेनरल हेरसी को इस ऐंग्लो-इंडियन परिवार के जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। लड़के का नाम हाइदर मुस्लिम संपर्क को बतलाता है। पर यह जेनरल का पुत्र द्वितीय हेरसी था, जिसके द्वारा शाही खून परिवार में आया।

तरुण हाइदर (हैदर) हेरसी 1857 के स्वतंत्रता-युद्ध से कुछ पहिले लखनऊ में पुलिस के ऊँचे अफसर थे। छोटी उमर में भी ऐसे पद पर पहुँचना उनके लिए कठिन नहीं था। आखिर बाप के कुल की लखनऊ पर भारी धाक थी। इसी कारण वह महल के विश्वस्त पुरुषों के पहुँचने लायक कितने ही स्थानों में पहुँच सकते थे। एक बार अन्तःपुर के झरोखे से दो सुन्दर आँखें झाँकती दिखाई पड़ीं। देखते ही हेरसी के हृदय में प्रेम का संचार हो गया। लेकिन परम दुर्लभ पदार्थ हाथ कैसे लगे ? इसके बाद हेरसी के पैर खुद-बखुद फिर अगले दिन वहाँ पहुँच गए। दो दिन, चार दिन उन आँखों को देखते हैदर हेरसी को पता लग गया कि कामदेव के तरफ एक बाण नहीं लगे हैं। तरुण आँखों ने बड़ी करुणा के साथ याचना की—"मुझे अपने साथ ले चलो।" अपने अन्नदाता की कन्या को, सो भी सुरक्षित अंतःपुर से निकालकर अपनी बनाना ऐसा काम नहीं था जिसके बारे में तरुण यक-बयक निश्चय कर बैठता। लेकिन इश्क का तकाजा हलका नहीं होता। हेरसी ने शायद अपने समवयस्क मित्रों से भी प्रोत्साहन पाया। पता लगा, कोई गाड़ीवाला फल-फूल या दूसरी चीजें लेकर रोज अंतःपुर में जाता है। उससे बातचीत की, सफलता पर 50 रुपया इनाम देने का प्रलोभन दिया। श्रीमती वाइट कह रही थीं—उस समय का 50 आज के 500 के बराबर था, मैं समझता हूँ, वह 5000 के बराबर

था। गाड़ीवान ने मान लिया। सलाह हुई, गाड़ीवान ने अपनी लड़की को अंतःपुर में भेजा। शाहजादी उसका कपड़ा पहिनकर चुपके से आ गाड़ी पर बैठ जायेगी। पीछे लड़की भी साधारण कपड़े का जुगाड़ करके निकल आयेगी।

तरुण शाहजादी को अपने सामने देखकर हेरसी ने अपार आनंद अनुभव किया, पर वहाँ आनंदविभोर होने के लिए समय कहाँ था ? बेगम के कपड़े बदलवा मेम बनाया और दोनों तेज घोड़ों पर चढ़ उत्तर की ओर दौड़े। सीतापुर में उस समय एक गिरजा था, जिसका अर्थ है, वहाँ कुछ अंग्रेज और ऐंग्लो-इंडियन परिवार भी रहते थे। उसी दिन गिरजे में जा बेगम से ब्याह कर लिया। श्रीमती वाइट का कहना है–ब्याह हो जाने के बाद पीछा करता बेगम का भाई सीतापुर पहुँचा। तरुण हेरसी ने कहा–"मैंने तुम्हारी बहिन से ब्याह कर लिया। हाजिर हूँ, चाहे जो करो, पर तुम्हारी बहिन विधवा हो जायेगी।" भाई इतना क्रूर नहीं होना चाहता था। वाजिदअली शाह के हरम में हजारों बेगमें थीं, उन्हीं में से किसी एक की यह भी लड़की थी। बाप को लड़की भगाने का क्षोभ हो सकता था, पर अब लखनऊ पर अंग्रेजों की गहरी छाया पड़ चुकी थी, वह वाजिदअली अपनी बावन गाड़ी लड़कियों में से किसी एक के लिए अंग्रेज जेनरल के पुत्र का अनिष्ट करने की हिम्मत नहीं कर सकते थे।

1855 ई. में मेजर हाइदर हेरसी ने वारलोगंज में यह भूमि ख़रीदी। वहाँ बँगला बन जाने पर 1858 ई. में वाजिदअली शाह की पुत्री मिसेज हेरसी मसूरी आई। यहीं उनका सारा जीवन बीता, और उन बेगमों की संतानें सातों द्वीपों में फैली हुई हैं।

13
नगनारायण तिवारी[1]

अंग्रेजों ने जहाँ भारत में अपने नाम को अमर करने के लिए अपने नाम के शहर और कस्बे बसाये, सड़कों और नागरिक भवनों के नाम अपने नाम से रखवाये, कितने पत्थर और धातु के अपने स्टेच्यु (मूर्तियाँ) स्थापित करवाये, वहाँ कितनी ही सुन्दर और सचित्र पुस्तकें भी छपवाईं, यद्यपि कागज की पुस्तकें सबसे अधिक भंगुर हैं, और आशा यही की जा सकती है कि वह सबसे जल्दी नष्ट हो जायेंगी, पर इससे उलटा भी इतिहास में देखा गया है। इतिहास के कितने ही लुप्त पन्ने मैगस्थनीज, फाहियान और स्वेन् व चांग के लिखे पन्नों से पुनरुज्जीवित हुए। सन् 1907-8 में कलकत्ता की अंग्रेज कम्पनी थैकर स्पिंक ने दो चतुष्क आकार के आर्ट पेपर पर 1000 चित्रों से अलंकृत दो जिल्दों में एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसकी एक कापी कबाड़िया के यहाँ से मेरे हाथ में आई। मैंने उसके जिल्द 1 के 315 पृष्ठ पर पढ़ा–"Babu Gajanand Sukhani of Sirsa District, Hissar, is Deputy manager, and the Assistants are Babu Surajmull Ladha of Sirsa and Pundit Nag Narayan Tewari of Rasulpur, District Saran." दार्जिलिंग के एक मारवाड़ी की बड़ी कोठी में सूरजमल लढा और नगनारायण तिवारी सहायक मैनेजर थे। बिहारी व्यवसाय में बहुत कम अपना जौहर दिखा पाते हैं, और उनमें भी ब्राह्मण, राजपूत और कायस्थ तो सबसे लद्धड़ हैं। लढाजी सहायक मैनेजर के पद से बढ़कर क्या जाने अब लाखों के धनी महासेठ हो गए हों, पर नगनारायण तिवारी योग्य मैनेजर सिद्ध होने पर भी नौकरी छोड़कर छोटे-से भी मालिक बने हों, इसमें सन्देह है। बिहारियों में उस परम्परा और सहयोग का अभाव है, जो कि आदमी को आगे बढ़ाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है पर, नगनारायण को यह भी बदा नहीं था कि अपने उस पद पर भी बने रहते। अभी जवानी की सीमा को अच्छी तरह पार नहीं हुए थे कि

1. तिवारी जी पर एक लेख इसी जिल्द में 'मेरे असहयोग के साथी' में भी है।

उनकी दोनों आँखें जाती रहीं। वह अपने लिए एक साधारणतया अच्छा घर ही बना सके थे, सो भी अभी बिल्कुल पूरा नहीं हुआ था कि उनके परिवार पर यह वज्र गिरा।

X X X

1921 का शायद जुलाई का महीना था, भादों की कृष्णाष्टमी से दो-चार दिन पहिले मैं दक्षिण की डेढ़ साल की यात्रा से असहयोग में भाग लेने के लिए परसा (एकमा) पहुँचा था। वहीं थाने के तरुण नेताओं ने कांग्रेस की सभा की, और मुझे भी बोलना पड़ा। इसी सभा में एक गंगा-जमुनी केसों वाले अधेड़ पुरुष को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। देखने से वह आँख वाले मालूम होते थे, पर यह जानने में देर न हुई कि वह केवल देखने की हैं। उसके बाद तो वर्षों उनके साथ रहा। उनके गुणों से परिचित होने का मौका मिला। मैंने छपरा में पहुँचते ही निश्चय कर लिया था कि उसी भाषा में भाषण करूँगा, जो श्रोताओं की भाषा है और देखा कि पंडित नगनारायण भी॰छपरा की बोली (भोजपुरी) में ही बोलते हैं, हो सकता है। देखादेखी पहिले हिन्दी में भी बोलते रहे हों, पर मैंने उन्हें सदा अपनी बोली में बोलते देखा। भोजपुरी के अद्वितीय वक्ता चित्तू पांडे (बलिया) का मुकाबिला उनसे नहीं हो सकता था, पर नगनारायणजी वक्ता ही नहीं थे, बल्कि भोजपुरी गीतों के अच्छे गायक और कितने ही गीतों के रचयिता भी थे। कभी सोचता हूँ चित्तू पांडे के एक-दो भाषणों को रिकार्ड क्यों नहीं कर लिया गया ? पर जब हिन्दी के अद्वितीय वक्ता पंडित माखनलाल चतुर्वेदी के भाषणों का रिकार्ड करने की किसी को सुध नहीं है, तो अनाथ भोजपुरी के महान् वक्ता स्वर्गीय चित्तू पांडे की कदर कौन करता ! साहित्यिक हिन्दी में धाराप्रवाह ललित भाषण देने में चतुर्वेदी जी अद्वितीय हैं, इसमें शायद किसी को सन्देह नहीं होगा। एक बार बँगला के एक साहित्यकार मुझसे कह रहे थे कि जब कही बंकिम मुकर्जी का भाषण होता है, तो अध्यापक अपने छात्रों से कहते हैं–'जाओ, इस पुरुष का भाषण सुनो, इससे तुम्हें उतना लाभ होगा, जितना पचीसों पोथियों को पढ़ने से नहीं होगा।' नहीं, मालूम हमारे हिन्दी के अध्यापक अपने छात्रों को वैसा ही कह कर पंडित माखनलाल का भाषण सुनने के लिए भेजते हैं या नहीं।

1921 के मध्य में जाते-जाते असहयोग का जोश अब उतना नहीं था, जितना उससे पिछले साल के अन्त में था। पर बिहार और उसमें भी उसका भोजपुरी जनपद बंजे या चिनार के कोयले की आग जैसा था, जो एक बार सुलग जाने पर बुझने का जल्दी नाम नहीं लेता था। एकमा थाना को पंडित नगनारायण तथा दूसरे ऐसे तरुण कार्यकर्ता मिले थे, जो असहयोग की धुन को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। उसी साल कातिक महीने की छठ का पर्व आया। पूर्वी भोजपुरी जनपद (प्राचीन मल्ल गणराज्य) में छठ को स्त्रियाँ बड़े धूम-धाम से मनाती हैं। हम दोनों उस दिन रघुनाथपुर थाने के किसी गाँव में शाम को सभा करके टिक गए थे। गाँव की स्त्रियाँ रतजगा करती किसी तालाब के किनारे जमा थीं। बहुत रात तक वह देवी माई का गीत गाती रहीं। रात दो घण्टे रही होगी। तिवारी बाबा ने कहा–'इनको गीत में अपनी बातों को समझाना चाहिए।' और वह पोखरे पर चले गए। उस समय उनके कंठ से निकला वह गीत मुझे भी बहुत प्रिय लग रहा था। मैं अपनी चारपाई पर पड़ा-पड़ा सुन रहा था। जब कहीं गाँव में पुरुषों की सभा होती, तो पर्दानशीन महिलाएँ उसमें बहुत कम आ पाती थीं, पर हम उनके लिए किसी घर के आँगन में सभा करते। तिवारीजी केवल दूसरों को समझाने के लिए ही गीत और व्याख्यान नहीं देते थे, बल्कि उनको पूरा विश्वास था कि गांधी महात्मा के रास्ते से हम अंग्रेजों को अवश्य भगाने में समर्थ होंगे। 1921-22 में ऐसा विश्वास कितना असंभव मालूम होता होगा, इसे आज के पाठक भी समझ सकते थे। पर वह विश्वास व्यर्थ नहीं था, क्योंकि उसी ने अगली पीढ़ियों को आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा दी। हमने अपने ही थाने को नहीं बल्कि पास-पड़ोस के थानों को भी जगाये रखने का जिम्मा ले रक्खा था। इसलिए सदा घूमते रहते थे। वर्षों साथ रहते कभी ऐसा अवसर नहीं आया, जब कि हममें वैमनस्य हुआ हो। कितने ही सालों काम करने के बाद घुमक्कड़ी का भूत सवार हुआ और मैं देश-विदेश मारा-मारा फिरने लगा। पर जब भारत में रहता तो छपरा और एकमा थाना गए बिना नहीं रहता। उस समय तिवारीजी उसी तरह अडिग मिलते। दोनों भाइयों के कई बच्चे थे, जो अब सयाने होकर खर्च को बढ़ाने में सहायक हुए थे। घर पर पहिली श्री नहीं दिखाई पड़ती थी, पर तिवारीजी के उत्साह में कोई कमी

नहीं आ पाई। जब-जब जेल जाने का अवसर आता, तिवारीजी जरूर पकड़कर बन्दीखाने में भेज दिए जाते। पुलिस जानती थी कि आँखों से अंधा होने पर भी यह आदमी ज्वाला का पुंज है। उसकी एक-एक बात गाँव के जनसाधारण के हृदय में सीधे उतर जाती है।

वर्षों बीतने पर तिवारीजी के चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं। समय से पहिले ही बुढ़ापा आ जाना हमारे देश में साधारण-सी बात है। फिर तिवारीजी का घर तो नाक को पानी से ऊपर रखने के लिए बराबर प्रयत्न करते व्याकुल था। जब कभी मैं एकमा जाता, तो तिवारीजी का आग्रह अपने यहाँ जूठन गिराने का जरूर होता, और उसके बिना भी मुझे उनके यहाँ जाने की इच्छा हो आती। उस समय मुझे और भी हजारों-लाखों देश भाइयों की तरह आशा थी कि अंग्रेजों के भारत से निकलते ही लोगों को कम-से-कम अन्न-वस्त्र की चिन्ता नहीं रहेगी, पर आज वह आशा दुराशा सिद्ध हो रही है।

सौभाग्य से तिवारी जी इस दिन को देखने के लिए नहीं रह गए, यद्यपि उनके मन में देश को स्वतन्त्र देखने की उत्कट लालसा थी। कौन अपनी तपस्या के फल को, अपने स्वप्न को जागृत अवस्था में देखने की इच्छा नहीं रखता ! आज की अवस्था से उनकी चिन्ताओं में कमी होने की कोई आशा न रहने पर भी पंडित नगनारायण यह देखकर अवश्य बहुत प्रसन्न होते कि अब वह अंग्रेज हमारे ऊपर शासन करने के लिए नहीं रह गए, जिनकी आरती उतारने और खुशामद करने में उनके मालिक लखपती सेठ तिनके से भी हल्के बन जाते थे।

पंडित नगनारायण तिवारी जैसे न जाने कितने हमारे देश में स्वतन्त्रता के अज्ञात सैनिक रहे, जिन्होंने देश को मुक्त देखने के लिए हजारों कुर्बानियाँ दीं, पर आज उनको लोग बड़ी तेजी से भूलते जा रहे हैं। दूसरे देशों में अज्ञात वीरों की स्मृति जीवित रखने तथा श्रद्धा के फूल चढ़ाने के लिए स्मारक-समाधियाँ बनाई जाती हैं, लोग उनके प्रति अपना आदर प्रकट करते हैं, पर हमारे यहाँ तो मानो अभी वह पीढ़ी आई ही नहीं।

14
किशोरीदास वाजपेयी

आज की दुनिया में कितना अंधेर है, विशेषकर हमारे देश का सांस्कृतिक तल कितना नीचा है, इसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण हमें पंडित किशोरीदास वाजपेयी के साथ हुए और होते बर्ताव से मालूम होता है। सभी प्रतिभाएँ सभी क्षेत्रों में एवरेस्ट शिखर नहीं होतीं, परन्तु जब किसी क्षेत्र में किसी पुरुष का उत्कर्ष साबित हो गया, तो उसकी कदर करना, उससे काम लेना समाज का काम है। आज बहुत थोड़े-से लोग हैं, जो किशोरीदास की मान्यता को समझते हैं। उनमें भी बहुतेरे उनके अक्खड़ स्वभाव या ईर्ष्या से नहीं चाहते कि लोग इस अनमोल हीरे को समझें, उसकी कदर करें। इसका परिणाम यह हो रहा है कि हिन्दी उनकी सर्वोच्च देनों के द्वारा परिपूर्ण होने से वंचित हो रही है, और उन्हें लिखना पड़ रहा है : "मैं क्या गर्व करूँ ! गर्व प्रकट करने योग्य चीजें तो मैं अभी तक दे ही नहीं पाया हूँ।" (साहित्यिक जीवन के अनुभव और संस्मरण, पृष्ठ 135)। वाजपेयीजी 5 बड़ी-बड़ी जिल्दों में हिन्दी को निर्वाचनात्मक (निरुक्तीय) कोश दे सकते हैं, पर उसकी जगह वह 'हिन्दी निरुक्त' के रूप में उसकी भूमिका भर लिख चुके हैं, वह हमें 'हिन्दी का महाव्याकरण' दे सकते हैं, पर यदि हमने उनके प्रति ऐसी ही उपेक्षा दिखलाई, तो 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' से ही सन्तोष करना पड़ेगा, यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि वह व्याकरण बिल्कुल अपूर्ण है।

वाजपेयीजी किन विषयों पर अधिकारपूर्वक लिख सकते हैं, इसके बारे में उन्होंने स्वयं लिखा है : "मैं जिन विषयों पर कुछ अच्छा लिख सकता हूँ, वे ये हैं–1 काव्य के तत्त्व, रस, अलंकार, शब्द-शक्ति आदि, 2 हिन्दी का व्याकरण, 3 निरूक्त, 4 हिन्दी साहित्य का इतिहास, 5 बहु विज्ञापित हिन्दी का रहस्यवाद, 6 कांग्रेस

युग का राजनैतिक इतिहास, 7 धर्मविज्ञान, 8 शब्द शिल्प। प्रायः इन सभी विषयों के नमूने मैं दे चुका हूँ। अब यह देश पर अवलम्बित है कि मुझसे कोई काम आगे ले या न ले।" (वही 130)। इन सभी विषयों पर अपने विशाल ज्ञान और सूझ के कारण वह कितनी ही नई चीजें दे सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं, पर दो विषयों में तो उनके समकक्ष इस समय हिन्दी में कोई नहीं है–व्याकरण और निरुक्त उनका यह लिखना बिल्कुल गलत है। "कोई मुझे गाली न दे कि वह इस विषय पर लिख सकता था, पर कमवख्त साथ ही सब लेकर मर गया।" (वही, पृष्ठ 132)। वाजपेयी को लोग गाली नहीं देंगे बल्कि आज के हिन्दी वालों को गाली देंगे। और विषयों पर काफी लिखा गया है, लिखने की क्षमता और रुचि रखनेवाले लोगों की शायद कमी भी नहीं है। ये दोनों विषय तो अभी पूरी तौर से अवगाहन नहीं किये जा चुके हैं। यह केवल परिश्रम-साध्य नहीं है, इनके लिए प्रथम श्रेणी की प्रतिभा और साथ ही गंभीर अध्ययन चाहिए।

1919 ई. के पंजाब के मार्शल-लॉ के दिनों के एक सप्ताह पहिले लाहौर में शास्त्री परीक्षा हुई थी। इन पंक्तियों का लेखक भी उसमें वे डी. ए. वी. कालेज से भेजे गए परीक्षार्थियों में से एक था। परीक्षा का परिणाम इस साल कितना कठिन था, यह इसी से मालूम होगा कि हमारे कॉलेज से भेजे गए प्रायः एक दर्जन विद्यार्थियों में से एक भी पास न हुआ। मैं घर के इम्तिहान में प्रथम आया था, और चारों खाने चित होनेवालों में भी प्रथम था। मार्शल-ला के समय में ही परीक्षा का परिणाम निकला, जिसमें उस साल शास्त्री में सर्वप्रथम आनेवाले छात्र का नाम था–किशोरीदास। सभी विद्यार्थियों के मन में जिज्ञासा थी, जलियांवाले भीषण हत्याकांड और शास्त्री परीक्षा के हत्याकांड में यह असाधारण सफलता-प्राप्त वीर कौन है। हमें यही मालूम हो सका कि वह वृन्दावन का एक वैष्णव साधु है। उस समय हम यही आशा रखते थे कि किशोरीदास एक पुराने विचारों का, पुरानी पगडंडी पर चलनेवाला हमारे सैकड़ों संस्कृत के विद्वानों में से एक होगा।

हाँ, अभी हम उसी युग में थे, जबकि संस्कृतज्ञ विद्वान् भी हिन्दी को उसी दृष्टि से देखते थे, जैसे हिन्दू–आंग्लयन लोग–गँवार और अ-संस्कृतों के प्रेम की भाषा, जिसमें पढ़ने और सुनने लायक कुछ भी नहीं है। अब भी उन लोगों के नाम-लेवा खतम नहीं हुए हैं। हाँ, अब उनकी बातें एक मनोरंजक उपहास की चीजें जरूर हैं, और वह अधिकतर उर्दू वालों के मुँह से सुनने में आती हैं। किशोरीदास को मथुरा-वृन्दावन के बैरागियों के सम्पर्क से हिन्दी (ब्रजभाषा) की कविताओं के साथ परिचय प्राप्त करने का अवसर मिल सकता था, पर उसके प्रति आदर तभी हो सकता था, जब कि वह किसी संस्कृत के पंडित को वैसा करते देखते। यह काम उनके लिए मधुसूदन गोस्वामी, किशोरीलाल गोस्वामी, राधाचरण गोस्वामी जैसे हिन्दी के स्वनामधन्य पितामहों ने किया। वाजपेयीजी लिखते हैं : "श्री किशोरीलाल गोस्वामी से इसलिए झगड़ बैठा था कि मेरे एक वाक्य में 'दश प्रकार की भक्ति' के 'दश' को काट कर 'दस' गलत क्यों कर दिया गया। गोस्वामीजी उस समय (1916 ई.) मुस्करा कर केवल इतना बोले थे कि हिन्दी में 'दश' की जगह 'दस' ही चलता है। यह सब आगे मालूम हो जायेगा।" यह देखने में छोटी-सी बात किशोरीदासजी के लिए बड़ी जबर्दस्त शिक्षा थी। वह समझने लगे कि हिन्दी एकदम संस्कृत की चेरी नहीं है, इसलिए उस पर हर समय संस्कृत के व्याकरण को लादने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। संस्कृतज्ञ हिन्दी लेखक अब भी इस धींगामुश्ती से बाज नहीं आते। वस्तुतः इस दृष्टि को छोड़े बिना वह अनेक हिन्दी शब्दों का ठीक से निर्वचन नहीं कर सकते। जब उनका सामना हिन्दी शब्दों से पड़ता है, तो वह यह नहीं समझते कि मैं संस्कृत सार्वभौम के किसी छोटे-मोटे मांडलिक के सामने खड़ा हूँ। वह जानते हैं कि हिन्दी अपने क्षेत्र में स्वयं सार्वभौम सत्ता रखती है, यहाँ उसके अपने नियम-कानून लागू हैं। हिन्दी में जो तत्सम (शुद्ध संस्कृत) शब्द आते भी हैं, वह संस्कृत की प्रजा नहीं बल्कि हिन्दी की प्रजा हैं, और उन्हें हर समय संस्कृत (व्याकरण) के कानून की दुहाई नहीं देनी चाहिए। किसी संस्कृत के पंडित से यह आशा करनी मुश्किल है। इसका यह अर्थ नहीं कि वाजपेयीजी को इसके लिए अपने संस्कृत के ज्ञान को भुलाने की आवश्यकता पड़ती है। संस्कृत के व्याकरण और निरुक्त के आचार्यों ने धूप में अपने केश नहीं सफेद किये थे। उन्होंने अपने व्यापक अध्ययन और पर्यवेक्षक द्वारा कितने ही ऐसे नियमों का आविष्कार किया था, जो हर काल और हर भाषा के लिए आम तौर से तथा हिन्दी के लिए [illegible] ...योगी हैं। अपनी

सवा सौ पृष्ठों की छोटी-सी पुस्तक 'हिन्दी निरुक्त' में यास्क के बतलाये नियमों का उन्होंने बड़े चमत्कारिक रूप में इस्तेमाल किया है। यह सभी जानते हैं कि पुराने अकाट्य नियमों का भी प्रयोग नई परिस्थिति में करना साधारण आदमी का काम नहीं है। पर, वाजपेयीजी केवल पुराणों की देनों से ही सन्तुष्ट रहनेवाले पुरुष नहीं हैं। अवधी के सुपुत्र, तथा व्रज और कौरवी के चिर और एकान्त निवास के समय उन्होंने जन-मुख से शब्दों को साधारण श्रोता के तौर पर नहीं सुना। उन पर उनके मनन का ही यह परिणाम है कि वह हिन्दी के शब्दों की सात पीढ़ी तक की नब्ज पहिचानते हैं। पुराने शास्त्र-वाक्यों और आज की जीवित शब्द-राशि की सहायता बिना हिन्दी का व्याकरण और निरुक्त पूर्ण रूप से निष्पन्न नहीं हो सकता। व्याकरण और निरुक्त दोनों बड़े ही नीरस विषय हैं, पर किशोरीदास वाजपेयी के हाथ में पहुँच कर वह कितने रोचक हो जाते हैं, इसे उनके ग्रन्थों को पढ़नेवाले भलीभाँति जानते हैं।

मैंने वाजपेयीजी को व्याकरण और निरुक्त (भाषातत्त्व) के आचार्य के तौर पर ही यहाँ अधिक पाठकों के सामने रक्खा, पर वह साहित्य के भी आचार्य हैं। पंडित शालग्राम शास्त्री अपने समय के माने हुए संस्कृत के विद्वान थे, वह अखिल भारतीय संस्कृति साहित्य सम्मेलन के सभापति भी बनाये गए थे। उनका संस्कृत पर भी कुछ छोह था, जिसका ही प्रमाण 'साहित्यदर्पण' पर उनकी हिन्दी में 'विमला' टीका थी। शास्त्रीजी ने अपनी टीका में पुराने आचार्यों की बहुत कठोर आलोचना अ-भद्र भाषा में की थी। वाजपेयी ने उसे पढ़कर टीका के सुन्दर होने की दाद दी, पर साथ ही उनकी खूब खबर लेते हुए कहा—"खंडन स्वर्गीय साहित्यकारों की कृतियों का कीजिए, पर उनके लिए शब्द-प्रयोग तो शिष्टजनोचित चाहिए। 'विमला' की कठोर आलोचना लेखमाला के रूप में बहुत समय तक निकलती रही। शालिग्राम शास्त्री और उनके अभिन्न मित्र पंडित पद्मसिंह शर्मा उससे बहुत तिलमिलाये। जवाब में दो-तीन लिखवाये भी, पर वाजपेयी के प्रहारों का उनके पास जवाब नहीं था। इस प्रकार स्पष्ट ही है कि किशोरीदास रस और अलंकार के अखाड़े के भी भारी पहलवान हैं। असहयोग के जमाने में असहयोगी किशोरीदास ने 'रस और अलंकार' के नाम से एक ऐसी पुस्तक लिख डाली थी, जिसके सारे उदाहरण देश-भक्ति और स्वातंत्र्य-प्रेम से इतने ओतप्रोत—अपने ही रचे—थे कि पुस्तक के छपते ही बम्बई सरकार ने उसे जब्त कर लिया। वाजपेयीजी साहित्य के भी आचार्य हैं, इसमें सन्देह नहीं है। इसे और स्पष्ट करने के लिए पंडित पद्मसिंह शर्मा के 'संजीवन भाष्य' पर उनकी आलोचनात्मक लेखमाला है। वाजपेयी के ऊपर 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' की सूक्ति पूरी तौर से चरितार्थ होती है। पद्मसिंह शर्मा का खूब खण्डन उन्होंने 'बिहारी सतसई और उसके टीकाकार' नामक अपनी लेखमाला में छपाना शुरू किया, पर जब शर्माजी का निधन हो गया, तो न छपे भाग को मंगवा कर नष्ट कर दिया 'जब सुननेवाला ही न रहा, तो बात करने का फल क्या ?' आज वाजपेयीजी प्यालों से नहीं लोटे से चाय पीते हैं और पीते वक्त एक टीस भरी आवाज में कह उठते हैं, "शर्माजी ने मुझे चाय पीना सिखा दिया।" (पृष्ठ 29)

हरेक असाधारण प्रतिभाशाली पुरुष में कुछ ऐसी विलक्षणता या अब्नार्मलिटी भी होती है, जिसे सभ्य गुणग्राही समाज को बर्दाश्त करने के लिए तैयार रहना पड़ता है और यह महँगा सौदा नहीं है, क्योंकि थोड़ी-सी नाजबरदारी करके आप बहुमूल्य वस्तु प्राप्त कर रहे हैं। प्रतिभाएँ 'सात खून माफ' वाली श्रेणी में होती हैं। पावलोफ् लेनिन और बोल्शेविकों को हमेशा गालियाँ सुनाता रहता था। बोल्शेविक अभी-अभी अधिकारारूढ़ हुए थे लेकिन लेनिन उसकी सारी कटूक्तियों को हँसकर टाल दिया करते थे और कहते थे—'पोवलोफ् जीवन और मनोविज्ञानों के ऐसे तत्त्वों का आविष्कार कर रहा है, जो अभी तक उद्घाटित नहीं हुआ था और जो मार्क्सवादी के भौतिकवाद का जबर्दस्त समर्थक है। यही प्रतिभाओं की कदरदानी, उनकी नाजबरदारी और सब तरह से उनकी सेवा की भावना ही है, जिसके कारण बोल्शेविक आज ज्ञान-विज्ञान में दुनिया के अगुआ हैं।

किशोरीदास वाजपेयी के जीवन में हम क्या पाते हैं ? उन्हें अपने साहित्यिक जीवन के पिछले ही साल चिन्ता और आर्थिक संघर्षों में बिताने पड़े। भला जो नून, तेल लकड़ी की चिन्ता से परेशान हो, वह सरस्वती की एकान्त साधना कैसे निश्चिन्त होकर कर सकता है ? आश्चर्य है, इतने पर भी कई अनमोल पुस्तकें हमें दी हैं। हिन्दी साहित्य के कितने ही विषय हैं, जिन पर खुल कर लिखने के उनके जैसे अधिकारी नहीं हैं।

अपनी 'सार्वजनिक रूप से प्रकट की गई···मेरी सफाई या वसीयतनामा भी समझ सकते हैं।' (वही, पृष्ठ 136) अपनी सफाई में उन्होंने कबूल किया है–"यह गर्व बहुत करता है (पर) गर्व की भावना प्रकृति या भगवान् ने पैदा की है। इस व्यक्ति का झगड़ालूपन ही ऐसी असफलता का कारण है।" (वही 135, 136 द)

"गर्व करता है", "झगड़ालू है" कह कर हम किशोरीदास जैसी प्रतिभाओं की उपेक्षा करके आनेवाली पीढ़ियों के सामने मुँह नहीं दिखा सकते। किशोरीदास यदि चुपचाप चले जाते, जैसे बालू की पदरेख तो दूसरी बात है, पर उन्होंने जो थोड़ी-सी चीजें दी हैं, वह उनकी क्षमता का परिचय देंगी, और फिर उनके समकालीन हम अपनी जिम्मेवारी से मुक्त नहीं हो सकेंगे। इस वक्त हमें दसवीं सदी के अपभ्रंश के महान् कवि पुष्पदन्त याद आते हैं। वह भी उन्हीं दुर्गुणों के शिकार थे, जिनके हमारे वाजपेयी। पुष्पदन्त परिवार-मुक्त थे, यह उनके पक्ष में अच्छी बात थी। किशोरदास भी कभी पुष्पदन्त के जैसे ही फक्कड़ हो घूमते रहे होंगे। आप नाजबरदार मंत्री भरत के पास अपने आने का यह वर्णन करते हैं–

"············ महि परिभमन्तु मेपाडि णयरु।
अवहेरिय खल-यणु गुण-महन्तु। दियहेहिं पराइयु पुप्फयंतु।
गुगम दीहरपंथेण रीणु। णव-यंदु जेम देहेण खीणु।"

धूलिधूसरित थके-माँदे कृशशरीर पुष्पदन्त को देखकर मंत्री ने पूछा–"क्यों किसी सुन्दर विशाल नगर में नहीं प्रवेश करते ?" जिसके जवाब में अभिमान-मेरु पुष्पदन्त ने कहा–

"तं सुणइसुणिवि भणइ अहिमाणमेरु। वरि खज्जइ गिरिकन्दररि-कसेरु
णउ दुज्जण-भउंहा-बंकियाइं। दीसन्तु कलुस-भावंकियाइं···।
चमराणिल उड्डाविय गुणाइं। अहिसेय धोय सुयणत्तणाइ।
संपइ जण णीरसु णिव्विसेसु। गुणवन्तउ सुर-गुरु वि बेसु।
तहं अह्मइ काणणु जि सरणु। अहिमाणे सहुंब वरि होउ मरणु।"

धनियों और सामंतों की नाजबरदारी करने से पुष्पदन्त ने गिरिकन्दरा के कसेर को खाकर कानन में शरण लेना पसन्द किया था। वाजपेयी जो भी अभिमान-मेरु हैं, वह भी पुष्पदन्त के मार्ग को पकड़ सकते थे, पर परिवार की जिम्मेवारी जो सिर पर है, फिर उससे बढ़कर अपनी प्रतिभा के मूल्यों को समझते हुए हिन्दी को अपनी देनों से समृद्ध करने की तीव्र लालसा रखते हैं, इसलिए बहुत पहिले छोड़ आये पुष्पदन्त के मार्ग को अपना कैसे सकते हैं ? एक पुस्तक आज लिखने के लिए भी बहुत-सी पुस्तकों की आवश्यकता होती है। एक आवश्यक पुस्तक के बारे में उन्होंने (26-7-54) लिखा है : "बहुत दिन से मँगाने की इच्छा थी, पर इतने भी पैसे न बचा पाया।" कैसी विडंबना है ! मैंने इस लेख को उनकी छोटी-सी जीवनी नहीं बनाना चाहा, फिर भी जन्मतिथि और जन्म-स्थान दे देना चाहता था। यह जानता था कि वह उनके ऊपर मेरा कुछ लिखना पसन्द न करेंगे, पर मैं दुर्वासा के अभिशाप को ले सिर-माथे पर चढ़ाने के लिए तैयार था। उन्होंने मेरी जिज्ञासा की पूर्ति निम्न पंक्तियों में की (26-7-54)–

"आपने मेरी जन्मतिथि पूछी है, जो मुझे मालूम नहीं, क्योंकि वह सब बताने वाले माता-पिता मुझे दस वर्ष का छोड़ स्वर्गवासी हो गए थे। अन्दाजा यह है कि इस सदी से दो-तीन वर्ष आगे हूँ···मैं 56-57 का होऊँगा। पर यह सब आप किसलिए पूछ रहे हैं ? मैंने आज तक कहीं अपना चित्र नहीं भेजा और मेरा व्यक्तित्व जो कुछ है, सब जानते हैं। कहीं कुछ छपाना अनावश्यक है।"

यह दुनिया क्या एक क्षण के लिए भी बर्दाश्त करने लायक है ? जहाँ अनमोल प्रतिभाओं को काम करने का अवसर न मिले, और ऐरे-गैरे-नत्थू-खैरे गुलछर्रे उड़ाते राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय मंच पर अपना नाच दिखलायें ?

15

जायसवाल-संस्मरण[1]

1933 से 1937 में उनकी मृत्यु के समय तक डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल के साथ मेरा बहुत घनिष्ठ संबंध रहा। अप्रैल से अक्टूबर तक मैं अपनी तिब्बत या दूसरी यात्राओं में रहता और साल का बाकी प्रायः सारा समय जायसवाल-भवन में बिताता। उस समय मुझे जायसवालजी को एक विचारक, एक इतिहासज्ञ, एक मानव के तौर पर निकट से देखने का मौका मिलता था। यह वस्तुतः सारस्वतगोत्री थे। विद्या के नवीन अनुसंधान में शरीर से ही विदेह नहीं हो जाते थे, बल्कि उनके लिए कोई चीज अदेय नहीं रह जाती थी। शायद 1935 के जाड़ों ही की बात है। बाहर के संगमरमर के चबूतरे के नीचे हरी घास पर एक ओर कुर्सी पर पड़े वह मुवक्किलों का काम देख रहे थे और दूसरी ओर मेरा कुछ लिखना-पढ़ना चल रहा था। इसी समय एक तरुण व गेरुआधारी साधु मुझसे (राहुलजी से) मिलने आये। मैंने कहा–'मैं ही हूँ', और वह मेरे पास बैठकर संस्कृत में बात करने लगे। इसी समय पटना के एक संस्कृत के प्रसिद्ध पंडित भी आ गए। ब्रह्मचारी ने उनसे शास्त्रार्थ छेड़ दिया–'खंडनं खंडखाद्य' वस्तुतः बौद्ध दर्शन का ग्रंथ है। मंगलाचरण और ग्रंथ के विषय से कोई संबंध नहीं। पंडितजी न्याय या व्याकरण में ले जाकर दबाना चाहते थे, किन्तु तरुण ब्रह्मचारी वहाँ भी कच्चा गोइयाँ नहीं दीख पड़ा। जायसवालजी मुवक्किलों का कागज-पत्र देखते थे किन्तु उनका मन इधर था। थोड़ी ही देर में पिंड छुड़ाकर वह यहाँ पहुँच गए। काफी समय तक प्रेमपूर्वक शास्त्रचर्चा होती रही। ब्रह्मचारी पाली पढ़ने के लिए बाहर जाना चाहते थे। मैंने सिंहल या बर्मा जाने के लिए कहा। वह सप्ताह-भर या अधिक मेरे साथ जायसवाल भवन में रहे। जायसवाल उस सीधे तरुण की प्रतिभा से प्रभावित हो बड़ी संवर्धना करते रहे। उनके लिए कम्बल-कपड़े मँगवा दिए। यदि वह बैरिस्टरी से काफी कमाते थे, तो उनका हाथ भी बहुत खुला था, और बड़े परिवार का ठीक तौर से चलाना श्रीमती जायसवाल का काम था। एक दिन हाईकोर्ट से लौटने पर उन्होंने कुछ रुपये लाकर चुपके से ब्रह्मचारी के हाथ में रख दिए–श्रीमती शायद उतना रुपया देना पसंद न करतीं, किन्तु जायसवाल तो मुग्ध थे उस सरस्वती-पुत्र पर।

मेरे पूछने पर अक्सर कहा करते थे–"मेरी विद्या और प्रतिभा कानून के लिए नहीं है, किन्तु क्या करूँ।" जायसवाल अपने ज्ञान और प्रतिभा का पूरा इस्तेमाल उस क्षेत्र में नहीं कर पाते थे, जिसके लिए कि वह बने थे। उन्होंने जो कुछ गवेषणा की, जो कुछ लिखा, वह उस समय से बचाकर जो कि उनके पास सोने या विश्राम करने के लिए होता। शायद देश स्वतंत्र होता तो प्रतिभा का यह अपव्यय न होता। उस समय के शासक खुशामद चाहते थे, जिस गुण या अवगुण का उनमें नितान्त अभाव था। कभी-कभी वह समझौता करना चाहते थे, तो स्वभाव अनजाने ही धोखा दे देता, और फिर सब किया-कराया चौपट हो जाता। वह जानते थे, गौरांग प्रभुओं की कृपा से वह आसानी से हाईकोर्ट के जज हो सकते हैं, फिर काफी समय अपने इतिहास-अनुशीलन के लिए मिल सकता है, किन्तु स्वभाव को क्या करते ?

उनके समय का यह अपव्यय राष्ट्रीय समय का अपव्यय था, यह वह भलीभाँति समझते थे। इसलिए एक बार उन्होंने निश्चय कर लिया कि निर्वाह मात्र पर हिन्दू विश्वविद्यालय में चले जायें। मित्रों को पत्र भी लिख दिए किन्तु हिन्दू विश्वविद्यालय से वैसा आग्रह नहीं हुआ, और इधर फिर घर की घटी-बढ़ी ने धर दबाया।

दिसम्बर, 1935 में मुझे टाइफाइड हो गया। उस साल ओरियंटल कान्फरेंस मैसूर में हो रही थी। मुझे दो-तीन दिन हल्का बुखार रहा, पता नहीं लग पाया था कि वह टाइफाइड है, तो भी वह जाने में आना-कानी करने लगे। मैंने जाने के लिए जोर दिया। लौटने पर मैं पटना अस्पताल में टाइफाइड लेकर पड़ा था–एक सप्ताह बेहोश रहा। उनके लौटने तक मैं उस अवस्था से बाहर आ चुका था किन्तु वह बहुत दुखी हो रहे

1. जायसवालजी पर एक और लेख 'जिनका मैं कृतज्ञ' में भी है। देखिए, राहुल-वाङ्मय : खंड-2, जिल्द-1

थे—मैं क्यों छोड़कर गया। टाइफाइड से उठने के बाद थोड़ा समय ही विश्राम ले फरवरी में मैं तिब्बत की तीसरी यात्रा के लिए नेपाल चला गया। कहने पर उत्तर दे दिया—वहीं थोड़ा विश्राम कर लेंगे। जायसवालजी नेपाल के ऐतिहासिक स्थलों को देखना चाहते थे। नेपाल के मेरे मित्रों-परिचितों ने विशेष कर राजगुरु पंडित हेमराज शर्मा के प्रयत्न से राज्य की ओर से उनके आतिथ्य का प्रबन्ध हुआ। नेपाल में एक जगह नाकटूटी मूर्तियों को देखकर मुझे संदेह हो गया कि यहाँ मुसलमान आक्रमणकारी जरूर आये थे। ढूँढ़ते हुए एक पुरानी वंशावली में चौदहवीं सदी के मध्य में एक नंगाली सुल्तान के तिरहुत के रास्ते नेपाल पर आक्रमण का उल्लेख मिला। फिर स्वयं भूचैत्य में शिलालेख के एक कोने में एक शिलालेख देखने में आया जिसमें उक्त आक्रमण का उल्लेख था। नेपाल के शासक और विद्वान् इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं थे कि हिमालय की यह अजेय भूमि किसी भी समय म्लेच्छों द्वारा पदाक्रान्त हुई। जायसवालजी आये। राज्य की ओर से बहुत स्वागत-सत्कार किया गया। उन्होंने सब स्थानों को देखा। उक्त दोनों प्रमाण भी उनकी आँखों के सामने आये। शिलालेख का छाप भी लिया। पटना लौटने पर पत्रों के लिए जो वक्तव्य दिया, उसमें इस आक्रमण का उल्लेख कर दिया। नेपाल दरबार से उन पर बहुत जोर दिया गया कि वह अपने ग्रंथ में इसका जिक्र न करें, किन्तु वह सत्य के अपलाप के लिए तैयार न हुए।

जायसवाल को 22-23 वर्ष काम के लिए मिले, जिसमें भी अधिक समय उनका कानूनी कागज-पत्रों को देखने या बहस करने में जाता था। बचे हुए समय में उन्होंने अध्ययन, अनुसंधान का काम किया जो हमारे लिए कम नहीं है। चाहे भारत के प्रजातंत्रीय शासन के बारे में उनकी लेखनी का जौहर देखिए, चाहे खारबेल के शिलालेख में, चाहे मंजुश्री मूलकाव्य की दिस्टकूटी भाषा में लिखी इतिहास की पते की बातों को साफ करने को लीजिए, अथवा हिन्दूराज्य संस्था को। सब जगह उनकी मौलिक प्रतिभा की छाप मिलती है। उन्होंने स्वयं ही नये-नये तत्त्वों का आविष्कार नहीं किया बल्कि दूसरों के पथ-प्रदर्शन का कार्य किया।

यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि इस महान विद्वान के नाम पर इतिहास के मौलिक अनुसंधान के लिए इस प्रतिष्ठान को स्थापित कर बिहार ऋषिऋण से उऋण हो रहा है।

16
हमारे संगीत में अंधेर नगरी

इधर दो दशाब्दियों से भारतीय संगीत के धनी-धूरी हमारे फिल्म-उत्पादक तथा रेडियो विभाग हो गए हैं। फिल्म-उत्पादकों ने अपने सस्ते तथा कुरुचिपूर्ण संगीत द्वारा भारतीय संगीत की कितनी सेवा की है, इसे फिल्मवालों को छोड़कर हरेक विचारशील जानता है। चूँकि सुन्दर चेहरों, अर्ध-नग्न शरीरों, कामोत्तेजक गानों और उसी तरह के नाचों से आकृष्ट हो जनता सिनेमाघरों में काफी आ जाती है और फिल्म-उत्पादकों तथा प्रसारकों के पैसे खड़े हो जाते हैं, इसलिए वह समझते हैं कि हमारे फिल्म उत्कृष्ट भी हैं। मनुष्य में की निम्न प्रवृत्तियों से खुलकर फायदा उठाने का मौका दिया जाये, तो ऐसी सफलता कहाँ नहीं मिल सकती ? सिनेमा का उद्देश्य हीन रुचियों को प्रोत्साहित करना नहीं होना चाहिए, बल्कि उसके द्वारा मनोरंजन के साथ-साथ रुचियों के परिमार्जित होने का अवसर मिलना चाहिए। सिनेमावालों ने इस नवीन कला को हमारे देश में कितना चौपट किया, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। लेकिन यहाँ मुझे उनके भारतीय संगीत के ऊपर किये आक्रमण को ही लेना है। जब सिनेमा के लिए सिनारियाँ लिखने के लिए किसी साहित्यकार की आवश्यकता नहीं है, तो सिनेमा के गानों के लिए भी किसी अच्छे गीतिकार या संगीतकार की क्या आवश्यकता ? फिल्म-संचालक साहब सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान होकर जो अपनी कुर्सी पर बैठते हैं, वही आखिरी प्रमाण हैं। उनको न साहित्य से कोई मतलब है, न संगीत से। भारत के शासकों ने जब तक उन्हें मनमानी करने की छुट्टी दे रक्खी है, तब तक सस्ते कामुकतापूर्ण नाच-गानों और अर्ध-नग्न शरीर के बल पर वह पैसे कमा सकते हैं। वह किसी की उचित आलोचना को भी सुनने के लिए तैयार नहीं। ऐसे पेशे करनेवाले कहीं भी उचित बात सुनने के लिए तैयार नहीं होते, भला इनका क्या दोष है ! यहाँ मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि हमारे सिनेमा-उत्पादकों में अपवाद नहीं है, यह बात नहीं है। और यह भी कि प्रतिभा में हमारे अभिनय और संगीत के कलाकार दुनिया के किसी देश से कम हैं। लेकिन उन्हें जब अवसर मिले तब न !

सिनेमा-संगीत के गिरे हुए दल को देखकर जब रेडियो-विभाग ने उसकी मात्रा को कम करने का निश्चय किया, तो सिनेमा-उत्पादक बौखला उठे, और उन्होंने प्रस्ताव पास किया कि हम अपने फिल्मी रेकार्ड रेडियो को नहीं देंगे। यह स्मरण रखने की बात है कि रेडियो के बायकाट की घोषणा हमारे यशस्वी फिल्म-उत्पादकों की ओर से हो रही है। फिल्म के गायक और गायिकाएँ अभी चुप हैं। उनकी सहानुभूति इस बायकाट के साथ नहीं हो सकती, क्योंकि वस्तुतः मजबूर करके उन्हें इतने हलके और सुरुचि-रहित गानों-गीतों को गाना पड़ता है। यदि बायकाट गंभीर हुआ, तो रेडियो-विभाग सीधे हमारे सुन्दर गायकों और गायिकाओं से उनके गानों को ले सकता है, और इससे श्रोताओं की कोई हानि नहीं हो सकती। वस्तुतः फिल्म-उत्पादकों की इस बायकाटवाली धृष्टता को देखकर हँसी भी आती है, और क्षोभ भी। सिनेमा-कला ने हमारे देश में संगीत के

प्रसार और उत्थान का बड़ा सुन्दर अवसर दिया था, जिसका आरम्भ में कुछ उपयोग भी हुआ किन्तु अन्त में सिनेमा फ़िल्म-संचालकों की अंधेरनगरी ने उसे बहुत धक्का पहुँचाया।

हमारा संगीत ऐसी अंधेरगर्दी का शिकार केवल फिल्म-उत्पादकों की ओर से ही होता, तो भी खैरियत थी, लेकिन यहाँ तो 'इस घर को आग लग गई घर के चिराग से।' स्वयं संगीत के कर्णधार हमारे संगीत की जड़ काटने को उतारू हैं। और आज नहीं, बल्कि बहुत काफी समय से। 'कला कला के लिए' इस सूत्र को वह संगीत कला के क्षेत्र में बड़ी कड़ाई के साथ लागू करना चाहते हैं। वह संगीत को जन-मनोरंजन का उत्कृष्ट साधन न रहने देकर उसे कुछ और ही बनाना चाहते हैं। संगीत-प्रेम की उनकी नई व्याख्या से मुट्ठीभर लोग प्रभावित होकर उस्ताद के गर्दभ स्वर में उठती लम्बी तान को सुनकर वाह-वाह करने लग जाते हैं, इस पर वह फूलकर कुप्पा हो जाते हैं, और समझते हैं कि हम ही महान् गायक हैं। अच्छे संगीत के लिए उनके यहाँ मधुर कण्ठ की आवश्यकता नहीं समझी जाती, और सप्तकों में ऊपर-नीचे चरमसीमा तक पहुँचने की होड़ को संगीत का आदिम और अन्तिम लक्ष्य मान लिया जाता है। भाड़ में जाये संगीत की जनप्रियता, उन्हें तो अपने गले की कसरत दिखलाने की वाहवाही लेनी है। मेरी तो धारणा है कि प्रायः शत-प्रतिशत पुरुषों का कण्ठ अच्छे गाने के लिए अनुपयुक्त है। आश्चर्य तो यह है कि मधुर कण्ठ रखनेवाली महिलाएँ भी इन अन्धे उस्तादों के पीछे चलने की, साथ चलने की होड़ करती हैं। रेडियो ने यदि इन्हीं उस्तादों के गानों को निम्नकोटि के फिल्मी गानों की जगह रखने का निश्चय किया है, तो यह दुर्भाग्य की बात है। उसके श्रोताओं की भारी संख्या इन मोटे गलों तथा कै करने के अनुकरणों को सुनना हरगिज पसन्द नहीं करेगी, वह भारतीय रेडियो को छोड़ शिलोन, पाकिस्तान या और जगह के रेडियो को सुनने लगेगी। हाल में जो परिवर्तन हमारे रेडियो प्रोग्राम में देखा जा रहा है, उससे उसी बात की पुष्टि होती है। यदि वह चाहती है कि भारतीय संगीत को सुनने का लोगों को अवसर मिले और उनका प्रेम उसके प्रति बढ़े, तो गायक और गायिका के लिए पहली शर्त यह होनी चाहिए कि उसका गला मीठा और सुरीला हो। दूसरी शर्त यह होनी चाहिए कि वहाँ तान और अलाप के नाम पर कै नहीं होनी चाहिए, और न अलाप की मात्रा अधिक होनी चाहिए। अलाप भी साहित्य के अलंकारों की तरह स्वाभाविक रूप में ही अच्छे लगते हैं। जिस तरह भोजन में चटनी या नमक-मसाला अल्प मात्रा में ही स्वाद को बढ़ानेवाला होता है, उसी तरह संगीत में अलाप भी है। जिस तरह संस्कृत और व्रजभाषा के भी कवियों ने जबर्दस्ती अलंकारों को ठूँसकर कविता को भ्रष्ट कर दिया, उसी तरह उस्तादों ने हमारे संगीत के साथ किया है। उनकी यह सरासर अनधिकार चेष्टा है, यदि वे कहें कि अच्छे संगीत के पारखी संगीत में रुचि रखनेवाली बहुसंख्यक जनता नहीं, बल्कि हम हैं। कोई भी मानव यह नहीं कह सकता कि हमारे रसगुल्ले के अच्छे-बुरे होने के प्रमाण खानेवाले नहीं, बल्कि हम हलवाई हैं। ऐसा कहनेवाला हलवाई बहुत दिनों तक अपना टाट उलटे बिना नहीं रह सकता, लेकिन हमारे संगीत के हलवाइयों को इसकी परवाह नहीं है।

यह मैं मानता हूँ कि उस्तादों की यह अनधिकार चेष्टा आज या आज से काफी पहले भारत में ही नहीं देखी जाती, बल्कि रूस या यूरोप के उस्तादों में भी यही गलती देखी जाती है। वहाँ भी गर्दभ स्वर से कै करनेवालों की कमी नहीं है। लेकिन हमें उनके रोब में नहीं आना चाहिए, यदि सत्संगीत को जनप्रिय बनाना है। ऐसे संगीत-प्रेमियों की हमारे देश में भारी संख्या है, जो कि यूरोपीय सस्ते गीतों की नकल पर बने तथा ऊलजलूल गानों को पसन्द नहीं करते, और जिनको विश्वास है कि हमारे शास्त्रीय संगीत में वह सारे गुण विद्यमान हैं, जिनसे वह जनप्रिय हो सकता है और मनोरंजन करने में भी वह फिल्मी गानों से पीछे नहीं रह सकता। लेकिन इसके लिए हमें शास्त्रीय संगीत में आ गई खुराफातों को हटाना पड़ेगा। आश्चर्य तो यह है कि जिन दोषों को संगीतशास्त्रियों ने स्वयं बतलाकर गायकों को सावधान रहने के लिए कहा है, वही भूषण मानकर आजकल उस्तादी कला के नमूने समझे जाते हैं। हमारे उस्तादों में कितने हैं जो उद्‌गृष्ट, उद्‌घृष्ट, कम्पित करा, कम्पित कराली, काकी, करभ, उद्‌बड़, झोम्बक, प्रसारी, विरस, अव्यक्त और सानुनासिक दोषों को नहीं दुहराते। संगीतशास्त्रियों ने अव्यक्त गान को दोष माना है, लेकिन क्या किसी भी आज के

शास्त्रीय गायक के गाने को सुनकर आप समझ सकते हैं कि वह कौन-सा पद गा रहे हैं। हमें इन घर के शत्रुओं से भी संगीत की रक्षा करने की आवश्यकता है, नहीं तो रेडियो का सारा प्रयत्न निष्फल होगा, और निष्फल ही नहीं होगा, बल्कि वह अपने प्रोग्रामों द्वारा लोगों में शास्त्रीय संगीत के प्रति घृणा पैदा करने में सहायक होगा।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि तब तो शास्त्रीय संगीत के निधिरक्षकों-उस्तादों को धता बताना होगा, जिसके कारण शास्त्रीय संगीत की भारी क्षति होगी। लेकिन मैं उस्तादों को धता बताने का पक्षपाती नहीं हूँ। उन्हें हम गायक नहीं मानते, तो इसका यह अर्थ नहीं कि उनका कोई दूसरा उपयोग नहीं हो सकता। वह संगीत के योग्य शिक्षक और निर्देशक हो सकते हैं। रेडियो में स्वयं न गाकर अपने मधुरकण्ठ शिष्य या शिष्या को शुद्ध संगीत गायन का निर्देश दे सकते हैं। हमारी शिक्षण संस्थाओं में संगीत का अधिक प्रचार कराने का अभ्यास होना चाहिए, और वहाँ हम उस्तादों को अध्यापक रख सकते हैं। रेडियो में संगीत शिक्षा का काम उन्हें दिया जा सकता है। इसमें भी कोई हरज नहीं है, यदि विशेषज्ञों की रुचि को तृप्त करने के लिए संगीत के अखाड़ों का आयोजन किया जाय, जिसमें निश्चय ही कलाविद उस्तादों की माँग होगी। आप चाहे जिस तरह उस्तादों का संरक्षण करें, उन्हें सम्मान प्रदान करें, लेकिन उनका ऐसा उपयोग नहीं होना चाहिए, जिससे शास्त्रीय संगीत हमारे समाज में अप्रिय हो जाय।

17
बुद्ध का दर्शन

बुद्ध का व्यक्तित्व समन्तभद्र, सर्वतोभद्र है। इतिहास में ऐसा व्यक्ति मिलना दुर्लभ है, जो प्रतिभा में, मधुर बर्ताव में, दीन-हीनों के प्रति, कार्यरूप में संवेदना दिखलाने में इतना ऊँचा हो, जितने कि भारत के सर्वश्रेष्ठ पुत्र और मानवता के सर्वोत्तम पथ-प्रदर्शक बुद्ध थे। ढाई हजार वर्षों के अपनों और परायों के हाथों काई और मोर्चे ने जमा होकर उस पुरुषोत्तम के असली रूप को छिपाने की कोशिश की, लेकिन वह उसमें सफल नहीं हुए। जो सर्वतोभद्र है, उसके एक अंग को लेकर दौड़ पड़ना उचित नहीं हो सकता। कितने ही भारतीय विद्वान् हैं, जो जाने या अनजाने कह बैठते हैं कि बुद्ध तो आचार पर जोर देते थे, वह सुकर्म-मार्ग पर लोगों को चलाना चाहते थे। इसमें शक नहीं, आचारशुद्धि या शील पर भी बुद्ध का बहुत जोर था। 'पर उपदेस कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घेनेरे' की उक्ति के अनुसार आचरणहीन सिर्फ बात बघारने को वह कोई महत्त्व नहीं देते थे। केवल आचार-विषयक शिक्षा को ही ले लिया जाये, तो भी बुद्ध मानवता के महान् विचारक सिद्ध होते हैं। लेकिन हमारे समन्तभद्र की सर्वतोभद्रता इतने एक अंग में सीमित नहीं। शंकराचार्य ने, 'य आस्ते योगिनां चक्रवर्ती' कहकर बुद्ध को योगियों का सम्राट् घोषित किया। बुद्ध ने शीलस्कन्ध की तरह ही समाधिस्कन्ध पर भी जोर दिया। समाधि या मनुष्य की मानसिक शक्तियों को अभ्यास द्वारा विकसित करना, एक ऐसी वस्तु है, जिसके पक्ष में जितना सत्य का आश्रय लिया जाता है, उससे कई गुना झूठ का प्रचार किया जाता है। मनुष्य की मानसिक शक्तियाँ वस्तुवादी दृष्टि से एक गम्भीर अध्ययन और अनुसन्धान के विषय हैं। इस दिशा में काम करना अवश्य होगा। समाधि और योग सिद्धियों के बारे में आज के जमाने में हम तब तक कुछ नहीं कह सकते, जब तक कि विज्ञान की प्रयोगशालाओं में मानसिक शक्तियों के हरेक प्राकट्य या दावे का अनुसन्धान निष्ठुरतापूर्वक न किया जाये। लेकिन यह तो साफ है कि विरोधी भी जिसे योगियों का चक्रवर्ती कहते हैं, वह इस अंश में भी अपने को सर्वतोभद्र साबित करता है।

दर्शन से अनभिज्ञ ही नहीं, बल्कि दर्शन से जानकारी रखनेवाले भी कितने ही लोग बुद्ध के दर्शन की उपेक्षा करते बतलाना चाहते हैं कि दर्शन से बुद्ध कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे, वह तो केवल आचार धर्म का

प्रचार करते थे। मैं तो कहूँगा, बुद्ध की जितनी जबर्दस्त देन दर्शन में है, उतनी और किसी क्षेत्र में नहीं है—अर्थात् वह सबसे पहले दार्शनिक हैं, उसके बाद और कुछ। दूसरी शताब्दी के महान् विचारक नागार्जुन ने आम शिष्टाचार के अनुसार अपनी पुस्तक 'विग्रह व्यावर्तनी' के आरम्भ में कोई मंगलाचरण नहीं किया, लेकिन ग्रंथ समाप्त करते-करते गद्‌गद होकर कहा :

यः प्रतीत्यसमुत्पादं मध्यमां प्रतीपदमनेकार्थाम्।
निजगाद प्रणमामि तमप्रतिसम्बुद्धम।।

मध्यमा प्रतिपद् (मध्यममार्ग) और प्रतीत्यसमुत्पाद बुद्ध दर्शन के इन दो मूलतत्त्वों को यहाँ नागार्जुन ने पकड़ा और उनके बतलाने वाले बुद्ध को अप्रतिम (अद्वितीय) कहा। सचमुच ही यह ऐसे सूत्र हैं जिनसे बुद्ध के सारे दर्शन की व्याख्या हो जाती है, और साथ ही यह किसी एक देश या काल के लिए ही नहीं, बल्कि सभी देशों और कालों के लिए परमार्थ सत्य हैं। इन दोनों के साथ 'सब्बं अनिच्चं' (सर्वं अनित्य) या 'सर्वं क्षणिकं' को ले लेने पर हमारे सामने बुद्ध का पूर्ण दर्शन चला आता है।

सभी वस्तुएँ अनित्य (क्षणिक) हैं, क्षण-क्षण परिवर्तनशील हैं, केवल ऊपर-ऊपर नहीं, बल्कि जड़-मूल से विनाशशील हैं। इस नियम को बुद्ध ने घोषित करके दुनिया को विश्व और उसके छोटे से छोटे अंश (परमाणुओं) तक को क्षणभंगुर बतलाया। वेदान्ती या ब्रह्मवादी अद्वैती बाह्य विश्व के भीतर एक नित्य कूटस्थ ब्रह्म तत्त्व को मानते हैं। भौतिक जगत् उनके लिए माया मात्र है। वैशेषिक या पुराने ग्रीस के परमाणुवादी दार्शनिक बाह्य जगत को क्षणभंगुर मानने के लिए तैयार थे, लेकिन अतोम् (अछेद्य) या परमाणु उनके लिए नित्य और कूटस्थ था। बुद्ध और उनके अनुयायियों ने 'सब अनित्य है' के नियम में कोई अपवाद नहीं माना—बाह्य जगत् हर क्षण नष्ट होता रहता और उसका स्थान जो लेता है, वह भी अपने पूर्वज के अनुसार क्षणभर रहकर जड़-मूल से विलुप्त हो जाता है। बौद्ध दार्शनिकों ने इसे और स्पष्ट करते हुए घोषित किया, 'यत् सत् तत् क्षणिकं', अर्थात् जो भी सद्‌वस्तु है, वास्तविक सत्ता रखनेवाली चीज है, वह सभी क्षणिक, क्षण-क्षण विनाशी है। जो क्षणिक नहीं, वह सद्‌वस्तु ही नहीं, वह बन्ध्यापुत्र और आकाशकुसुम की तरह केवल शब्दाडम्बर भर है। क्षण-क्षण विनाश विश्व का अटल नियम होने से वह हरेक वस्तु का सहज धर्म है। इसलिए बौद्ध दार्शनिकों ने विनाश को निर्हेतुक कहा—यदि दूसरे ही क्षण वस्तु का विनाश निसर्गतः होता है, तो उसके लिए किसी विनाशकर्ता की आवश्यकता नहीं। उसकी यदि आवश्यकता है, तो उत्पादन के लिए ही। काष्ठ को अग्नि ने नष्ट कर दिया, इसकी जगह बौद्ध-दार्शनिक कहते हैं अग्नि ने कोयले का उत्पादन किया।

सारे बहिर् और अन्तर् जगत् के अनित्य और (क्षणिक) होने को सिद्ध करने के लिए बहुत प्रयत्न करने की जरूरत नहीं है। सारे प्रमाणों का प्रमाण और वस्तुतः एकमात्र प्रमाण प्रत्यक्ष है, जिसके क्षेत्र में आने वाली सारी वस्तुएँ क्षणिक देखी जाती हैं। दूसरे नम्बर का प्रमाण अनुमान भी प्रत्यक्ष के पद्‌चिह्न पर चलते उसी बात को सिद्ध कर सकता है। वस्तुतः अन्तर् जगत् और बहिर्जगत् का जितना भी अंश प्रत्यक्षगोचर है, वह क्षणिक ही दीख पड़ता है। लोग प्रत्यक्ष-अगोचर नहीं, बल्कि प्रमाण अगोचर तत्त्व को लाकर उसे नित्य कुटस्थ साबित करने की कोशिश करते हैं। धार्मिक रूढ़ि और पक्षपात के तौर पर वह इसे भले ही मनवा लें, लेकिन सद्‌वस्तु के तौर पर उसे मनवाना असम्भव है। विश्व की क्षणिकता सर्वानित्यता के अकाट्य सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर यह कहने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती कि आत्मा या ईश्वर (ब्रह्म) जैसी सत्ता के बारे में बुद्ध का क्या विचार था। यदि आत्मा कोई तत्त्व है, तो उस पर बात करने के लिए बुद्ध तभी तैयार हो सकते थे, जब यह मान लिया जाय कि अनित्यता का नियम आत्मा पर भी लागू होता है, ईश्वर या ब्रह्म पर भी लागू होता है। बुद्धकाल में आत्मा का दार्शनिक सिद्धान्त माना जाता था, आत्मा में जीवात्मा (प्रत्यगात्मा) और परमात्मा दोनों ही सन्निविष्ट थे। ऐसे आत्मतत्त्व का प्रत्याख्यान करने से ही बुद्ध के दर्शन को अनात्मवाद कहा जाने लगा।

अपवाद-रहित सर्वानित्यता के सिद्धान्त को बुद्ध और बौद्ध दार्शनिकों ने अव्याहत गति से सभी क्षेत्रों में लागू किया। इससे अगले ही कदम पर फिर दूसरा दार्शनिक प्रश्न उठा—यदि सभी वस्तुएँ बिना किसी अपवाद

के क्षणभंगुर हैं, तो कार्य और कारण का क्या सम्बन्ध होगा। कार्य-कारण के सम्बन्ध ही से आखिर संसार का व्यवहार चलता है। हम जानते हैं, आम की गुठली अवश्य हमें आम का मीठा फल देगी, तभी हम गुठली को लगाते हैं; गेहूँ का बीज गेहूँ की फसल देगा, तभी हम उसे घर से निकाल कर खेत में डाल आते हैं। इससे कार्य-कारण का सम्बन्ध अटूट सिद्ध होता है। बुद्ध कार्य-कारण के सम्बन्ध से इन्कार नहीं करते, वह अपने प्रतीत्य समुत्पाद द्वारा कहते हैं कि इसके होने पर यह होता है (अस्मिन् सति इदं भवति)। कारण वह है, जो एक क्षण के अस्तित्व के बाद जड़-मूल से नष्ट हुआ। उसके तुरन्त बाद दूसरे क्षण में जिस वस्तु ने लुप्त वस्तु का स्थान लिया वही कार्य है। ऐसे कार्य-कारण-सम्बन्ध को बुद्ध इन्कार नहीं करते। गेहूँ या आम की गुठली से फसल के नये गेहूँ और नये आम के फल के अस्तित्व में आने तक हर क्षण प्रकट और विनष्ट होती कार्य-कारणों की अनगिनत पीढ़ियाँ (संततियाँ) लुप्त हो जाती बतलाते हैं, जिन्हें 'सदृश उत्पत्ति' (एक समान आकार में उत्पन्न होने) के कारण हम एक समझते हैं।

कारण कार्य के प्रतीत्य समुत्पाद—एक के अतीत (व्यतीत, प्रनष्ट, विनष्ट) होने के बाद दूसरे कार्य का उत्पाद होता है। इससे कोई यह न समझ ले कि कार्य का एक ही कारण होता है और वह ईश्वर भी हो सकता है। बौद्ध दार्शनिकों ने इसी बात को और स्पष्ट करते हुए बतलाया कि दुनिया में कोई कार्य एक कारण (हेतु से) नहीं होता, बल्कि बहुत-से हेतुओं की सामग्री (समूह) एक कार्य को पैदा करती है। गेहूँ या आम की गुठली अकेले चना के भाड़ फोड़ने जैसी शक्ति नहीं रखती। वहाँ जल, रासायनिक मिट्टी, ताप आदि कितने ही और हेतु जब एकत्रित होते हैं, तब कार्य उत्पन्न होता है। हेतु-सामग्री में यदि कोई एक छोटी-से-छोटी चीज भी अनुपस्थित रहे, तो कार्य हर्गिज नहीं पैदा हो सकता। बौद्ध दार्शनिकों ने हेतु-सामग्रीवाद का जो प्रतिपादन किया, वही आधुनिक द्वन्द्ववादी दर्शन में परिमाण (समूह) का गुण में परिवर्तन है। दोनों जिस कार्य-कारण सम्बन्ध को मानते हैं उसी के अनुसार वह इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कार्य अपने कारणों से बिल्कुल भिन्न होता है—अर्थात् वह असत्कार्यवाद का समर्थन करते हैं। जब विश्व और उसकी वस्तुएँ स्थावर नहीं, बल्कि अत्यन्त जंगम हैं, देश में ही स्थानान्तरित नहीं होतीं, बल्कि काल में अगले ही क्षण जड़-मूल से नष्ट हो जाती हैं, तो ऐसे जंगम तत्त्वों के सदा गतिशील होने के कारण स्वयं उनमें संयोग-वियोग हुआ करता है, जो स्वतः विश्व की सृष्टि और प्रलय करने के लिए पर्याप्त है। सर्वानित्यता का नियम विश्व की किसी घटना के लिए अपने से बाहर की किसी संचालित शक्ति की अपेक्षा नहीं रखता। इस तरह मालूम है कि सर्वानित्यता और प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त कितने ठोस हैं। इनके सामने हमारे देश के नित्यवादी सर पटककर रह गए और उनकी एक न चली।

सर्वानित्यता, प्रतीत्यसमुत्पाद से आगे विश्व के प्रवाह को स्वीकार करते हुए यह मानना पड़ा कि यह प्रवाह तो है, लेकिन विच्छिन्न प्रवाह। अन्तर् और बाह्य विश्व वस्तुतः घटनाओं का प्रवाह है। यही घटनाएँ वस्तु के स्वरूप के एक-एक बिन्दु हैं। विश्व-प्रवाह एक अखण्ड ठोस रेखा नहीं, बल्कि एक-दूसरे से अत्यन्त नजदीक रक्खे बिन्दुओं की पाँती है जो दूर से देखने में ही रेखा मालूम होते हैं, नजदीक से वह अलग-अलग बिन्दु हैं। यह बिन्दु-प्रवाह की उपमा मनुष्य के शरीर पर भी घटित होती है और उसकी चेतना (विज्ञान) पर भी, जिसे गलती से कूटस्थ आत्मा कहा जाता है।

मध्यमा प्रतिपद् (मध्यम मार्ग) भी बुद्ध का एक ऐसा सिद्धान्त है जो आचार, दर्शन, सभी क्षेत्रों में एक-सा लागू होता है। यदि बुद्ध ने जीवन के सम्बन्ध में अति में न जाकर बीच का मार्ग (मध्यम मार्ग) पकड़ने के लिए कहा, तो दर्शन में भी उन्होंने मध्यमा प्रतिपद् को ही स्वीकृत किया। इसी को लेकर उन्होंने कहा कि शरीर को सुखाना, अत्यन्त कष्ट देना भी एक अति और बुरा है, उसी तरह सब कुछ छोड़कर केवल शरीर के पालने-पोसने में लीन होना भी दूसरी अति अतएव बुरा है, आदमी को दोनों के बीच का रास्ता लेना चाहिए। दर्शन में उन्होंने स्कन्धों के अस्तित्व को माना, यद्यपि क्षणिक रूप से ही। यह समझ लेना चाहिए कि क्षणिक होने से कोई वस्तु तुच्छ नहीं है, क्षण-भर स्थिर रहना यही वस्तु का वर्तमान अतएव बहुमूल्य रूप है, यह नगद धन है। भौतिकवादी क्षणिकवाद दर्शन भी यह स्वीकार करता है कि यद्यपि मूलभूत तत्त्व भौतिक रूप हैं, लेकिन

क्षण-क्षण विनाश और परिवर्तन, परस्पर-विरोधी तत्त्वों के समागम से जो विकास-परम्परा प्रचलित होती है, उसी का परिणाम है भूतों से चेतना का प्रादुर्भाव होना। कार्य कारण से विल्कुल भिन्न होता है, यदि चेतना अपने कारण भौतिक तत्त्वों से विलक्षण हो, तो इसमें आश्चर्य करने की जरूरत नहीं। द्वन्द्ववादी भौतिकवाद चेतना (विज्ञान) को भूतों (स्कन्धों) की उपज मानता है किन्तु साथ ही चेतना को भूत नहीं मानता। बौद्ध दर्शन यद्यपि अपने को भौतिकवादी घोषित नहीं करता, लेकिन साथ ही वह आत्मवादी भी नहीं घोषित करता। वह यहाँ पर भी मध्यमा प्रतिपद् का अनुसरण करता है। वह चेतना को आत्मा कहकर उसे लोकोत्तर नहीं बनाना चाहता, और साथ ही उसे केवल भौतिक मानने के लिए भी तैयार नहीं। आज का सबसे उन्नत दर्शन–द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद–बुद्ध दर्शन के कितना समीप चला आता है। इसीलिए दर्शन के क्षेत्र में बुद्ध की देन को नगण्य माननेवाले हमारे तथाकथित दार्शनिक कितने भ्रम में हैं, यह भी अच्छी तरह समझा जा सकता है।

सब तरह से देखने पर बुद्ध समन्तभद्र, सर्वतोभद्र थे, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। मानवता ने अपने इतिहास में ऐसा एक ही समन्तभद्र पुरुषोत्तम पैदा किया।

18
साधु

आज दुनिया की जड़ हिल रही है। हर चीज का फिर से मूल्यांकन हो रहा है। सहस्राब्दियों पुरानी अति सम्मानित संस्थाएँ और पद्धतियाँ सूखे तिनके की तरह उड़ाई जा रही हैं। ऐसे समय साधुओं की भी फिर से मूल्य-परीक्षा हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हमें उन लोगों से कुछ कहना नहीं है, जो कि अपनी सनातनता के ऊपर तने हुए हैं, और जो यह समझ पाने की तकलीफ गवारा नहीं करते कि ऐसी सनातनता अनेक बार झूठी साबित हुई है। आज से नौ शताब्दियों पूर्व भी अफगानिस्तान एक हिन्दू देश था, वहाँ भी बड़े-बड़े मठ थे, कितने ही पहुँचे हुए संत-महात्मा थे, यही अवस्था मध्य एशिया की थी, जावा में भी ब्रह्मभूत मुक्तात्माओं की कमी नहीं थी, लेकिन अब उनके अस्तित्व का परिचय वहाँ कुछ बचे-खुचे अभिलेखों और ध्वंसावशेषों से मिलता है। धर्मकीर्ति का वाक्य–'अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत्' ठीक मालूम होता है। परमार्थरूपेण अपनी सत्ता को आप तभी कायम रख सकते हैं, जब कि आप अर्थक्रिया-समर्थक हों। यदि पिछले दो हजार के अपने देश की साधु-संस्था के इतिहास पर हम नजर डालते हैं, तो मालूम होता है कि साधुओं ने व्यर्थ ही राष्ट्रपिंड को नहीं खाया। उन्होंने इतने ही क्षेत्रों में राष्ट्र की सेवा की, इसी कारण इतना बदनाम किये जाने पर भी अभी वह अपने अस्तित्व को कायम किये हुए हैं।

लेकिन अब नई परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं, जिनमें साधुओं को अपने मार्ग पर फिर से विचार करने की आवश्यकता है। उन्होंने अब तक किन क्षेत्रों में अपनी सेवाएँ प्रदान कीं ? आध्यात्मिक जीवनचर्या में उन्होंने पथ-प्रदर्शन किया, और अब भी कर रहे हैं, अभी भी इसमें आकर्षण है किन्तु इस आध्यात्मिक जीवन में अनुरक्त अब अधिकतर वह वर्ग मिलता है, जिसके पीछे डंडा लिए हुए सारी दुनिया का बहुजन पड़ा हुआ है–मेरा अभिप्राय यहाँ सेठों और सामन्तों से है। यदि साधुओं को सेठों और सामन्तों के साथ ही गठबन्धन करके रहना है, तो यह भरे घड़े गले में बाँधकर नदी तिरने जैसा ही है। आध्यात्मिक जीवन अपने व्यापक अर्थ में उस समय भी कितने ही लोगों को आकृष्ट करता रहेगा, जबकि समाज में सेठों और सामन्तों का अस्तित्व नहीं रह जायेगा, किन्तु वह पाखंड और वंचना के रास्ते से नहीं। यह कट्टर से कट्टर भौतिकवादी वैज्ञानिक भी मानने के लिए तैयार है, कि मनुष्य अर्थात् मन के बारे में अभी हमारा उतना भी ज्ञान नहीं है, जितना की जड़ जगत् के मूलभूत तत्त्वों के बारे में है। मन की शक्तियाँ अमित और अपरिमित हैं। उनके बारे में बहुत अनुसंधान करना है, और उनमें से कुछ को हमारे देश के पुराने साधकों ने पहचाना भी होगा, किन्तु आज ऐसी किसी

अद्भुत शक्ति का दावा करना बेकार है, जब तक कि हम उसी तरह उसे कसौटी पर कसवाने के लिए तैयार नहीं हैं। त्यागमय जीवन, परमोदारता आदि भी आध्यात्मिक उच्च जीवन में सम्मिलित हैं, और इनकी कदर हमेशा रहेगी।

आध्यात्मिक क्षेत्र के अतिरिक्त दो और महत्त्वपूर्ण क्षेत्र थे, जिनमें साधुओं ने बहुत काम किया। वह हैं सहयात्राएँ और प्राचीन विज्ञान की अध्ययन-अध्यापन द्वारा रक्षा। अपनी साहस-यात्राओं के कारण देश से कूपमंडूकता दूर करने का प्रयत्न साधुओं ने पिछले ढाई हजार वर्षों में इतना किया है कि यदि प्रामाणिक सामग्री के बल पर उसका इतिहास लिखा जाय, तो यह बहुत गौरव-प्रदर्शक होगा। हमारे यह घुमक्कड़ साधु परमोदार होते थे। अपने-अपने सम्प्रदाय में रहते भी उनमें धार्मिक कट्टरता नहीं थी। आशा है, भविष्य फिर साधुओं को उतना ही उदार बनाएगा। उदासी, संन्यासी, बैरागी आदि साधु ही नहीं, इस विशाल परिवार में बौद्ध-भिक्षु भी एक अभिन्न अंग हैं। बल्कि पूर्वी मध्य एशिया: चीनी-तुर्किस्तान में यह बन्धुता का नाता बौद्ध-भिक्षुओं ने ईसाई साधुओं तक के साथ भी जोड़ा था। इस्लामी गाजियों ने जब तलवार के बल पर प्राचीन साधु-संस्थाओं को नष्ट करना चाहा, तो उस समय बौद्ध और ईसाई साधु एक जगह पाये गए। वर्तमान शताब्दी के बहुत से गवेषकों ने एक ही जगह अनेक बौद्ध और ईसाई साधुओं की कतल की हुई लाश को पाया। जब मध्य एशिया में उनके रहने के लिए स्थान नहीं रह गया, तो भिक्षु जब लद्दाख जैसे बौद्ध देश की ओर भागने लगे, तो उन्होंने अपने ईसाई साधु-वन्धुओं को गाजियों के हाथ कत्ल होने के लिए नहीं छोड़ा, बल्कि वह उन्हें भी हिमालय के अनेक दुर्गम डाँडों को लाँघते लद्दाख ले गए, जहाँ ईसाई साधुओं के पाषाण-चिह्न मिले हैं। इसी मानसिक संकीर्णता के न होने के कारण भारत से दूर-दूर के देशों तक के साधुओं ने अपनी सर्वप्रियता कायम की, और बिना किसी भौतिक संबल के चारों मुलुक जगीरी में समझे। कहाँ है रूस की वोल्गा नदी, और कहाँ भारत। उस साधु को किन्तु कोई अड़चन नहीं पड़ी, जब उसने रूसी भक्तों को आकृष्ट करके उनमें संतों की वाणी का प्रचार किया। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में भी बिना अर्थ समझे अपने गुरु के सिखलाये शिव-पार्वती के भजनों को रूसी नर-नारी अपने सतसंगों में गाया करते थे। वायु रूस की ज्वालामाई कांगड़े की ज्वालामाई से भी वड़ी समझी जाती रही। वहाँ भी हमारे कितने ही संत पहुँचे थे, जिनमें कुछ ने वहाँ के मठ में अपने शिलालेख गुरमुखी, हिन्दी और उर्दू अक्षरों में छोड़े हैं। 1935 ई. में अभी उनकी धूनियों की राख भी मैंने वहाँ देखी थी। हमारे एक साधु नरेन्द्रयश ने ईसा की छठी सदी के मध्य में साइबेरिया के विशाल सरोवर बाइकाल तक धावा मारा था। यद्यपि हमारे साधु घुमक्कड़ों ने अपनी सुदीर्घ तथा अद्भुत यात्राओं का विवरण उसी तरह नहीं लिख छोड़ा है, जिस तरह फाहियान्, ह्वेनसांग और इत्सिंग ने। लेकिन अपनी मूक साधना द्वारा उन्होंने हजारों के हृदय में प्रेरणा दी, उनका पथ-प्रदर्शन किया। यदि वह अपनी यात्राओं को लेखबद्ध नहीं कर सके, तो उसका दोष हमारे तत्कालीन समाज का है, जिसमें उनकी कदर नहीं थी। साधुओं का यह साहसमय घुमक्कड़ी जीवन सदा उनके लिए खुला रहेगा। हाँ, अब उन्हें आधुनिक साधनों से सम्पन्न होकर इन यात्राओं को करना होगा, और उसकी अवधि में उसकी सीमा में हिमालय के उच्चतम शिखरों, दिगंत के द्वीपों, तथा सभ्य मानवता की पहुँच से बाहर के भूभागों को भी सम्मिलत करना होगा।

प्राचीन विद्या तो जान पड़ता है अब ब्राह्मणों के पास नहीं, बल्कि साधुओं के पास ही पहुँचकर प्रार्थना कर रही है—"विद्या ह वै साधुनरंग आजगाम, गोपाय माँ शैवधिष्टे हमस्मि।" संस्कृत के पठन-पाठन और संरक्षण का काम अभी तक सबसे अधिक ब्राह्मणों ने किया। यद्यपि उसमें साधुओं का हाथ कम नहीं था। विशाल बौद्ध और जैन वाङ्मय तो केवल साधुओं की देन है। लेकिन आगे नून-तेल-लकड़ी इतनी महँगी हो गई है कि अब आशा नहीं है, ब्राह्मण और अधिक दिनों तक इस भारी बोझ को अपने ऊपर उठा सकेंगे। बनारस और दूसरे संस्कृत विद्या के केन्द्रों में हम देख ही रहे हैं विद्यार्थियों की संख्या का कितनी तेजी से ह्रास हो रहा है। जिन अन्य क्षेत्रों में पचास-पचास विद्यार्थियों को भोजन मिलता था, उनमें से कितने ही बन्द हो गए, कितने ही बन्द होनेवाले हैं, और कुछ में अन्न की महँगी के कारण पाँच विद्यार्थियों को किसी तरह भोजन दे दिया जाता है। जमींदारों-जागीरदारों, राजा-महाराजाओं के अन्य क्षेत्र, या वृत्ति देनेवाले विद्यालय रह सकते,

इसे कहने की आवश्यकता नहीं। सेठ अवश्य पहले से भी अधिक शक्तिसम्पन्न हैं, और यदि चाहें, तो वह क्षेत्रों की संख्या बढ़ा सकते हैं। लेकिन सेठ भी अब यह देखते हैं कि कैसे दान में उन्हें तुरन्त कल्याण प्राप्त होगा, इसलिए संस्कृत के विद्यार्थियों की ओर सेठों की आनेवाली पीढ़ी और अधिक ध्यान देगी, इसकी सम्भावना नहीं। फिर सेठों को भी कुछ ही समय में वहीं पहुँचना है, जहाँ कि सामन्त जा रहे हैं, इसलिए वह कटी डार हैं। संस्कृत के विद्यार्थी वही ब्राह्मण-पुत्र होते थे, जिनके पास अर्थकरी विद्या प्राप्त करने के लिए धन और साधन नहीं था। गरीब विद्यार्थी का जीवन बिताकर जो ऊँचे दर्जे के पण्डित हुए, उन्होंने सदा अपने लड़कों को संस्कृत नहीं, अंग्रेजी पढ़ने में लगाया। यह क्यों ? इसीलिए कि वहाँ धनागम अतएव सुख और सम्मान के जीवन की बड़ी सम्भावना थी। उनका लड़का वकील, इंजीनियर या डाक्टर होकर खूब नाम और पैसा कमा सकता। पहले अर्थकरी विद्या की तरफ जाने में एक बड़ी दिक्कत थी भाषा की, क्योंकि माध्यम अंग्रेजी थी, जिस पर अधिकार प्राप्त करने में एक युग लग जाता था। इसीलिए आगे चलकर विद्यार्थी दिशा नहीं बदल सकते थे। अब सभी विद्याएँ हिन्दी या अपनी मातृभाषा में पढ़ने को मिलेंगी, जिसके कारण संस्कृत की तरफ जानेवाले विद्यार्थियों का भी रास्ता सुगम हो गया है। पुरानी पीढ़ी के अंग्रेजीदान यद्यपि अब भी अंग्रेजी से चिपकाए रखना चाहते हैं, लेकिन भावी सन्तान उनके इस प्रयत्न को विफल करना चाह रही है, यह तो अभी दिखलाई पड़ रहा है। चीन, जापान, रूस, जर्मनी, फ्रांस कहीं पर भी विद्वान होने की कसौटी अंग्रेजी नहीं मानी जाती, फिर अंग्रेजों के चले जाने के बाद भी उसे हमारे देश में क्यों कसौटी माना जाय ? देख ही रहे हैं कि अब इन बूढ़ों की नहीं चल रही है, तभी तो पी-एच. डी. और डी. लिट्. के निबन्ध अब हिन्दी में लिखे जा रहे हैं। अंग्रेजी के माध्यम द्वारा संस्कृत पढ़ाने का भी रिवाज छूट गया है। हाँ, अभी भी विशारद पास को मैट्रिक या एफ. ए. में अंग्रेजी लेकर परीक्षा पास करना आवश्यक समझा जाता है। साहित्यरत्न या शास्त्री पास को अंग्रेजी में बी.ए. पास करना पड़ता है, तब जाकर उसे दूसरे विद्यार्थियों के समान एम. ए. में सम्मिलित होने का अवसर मिलता है। यह अपमानजनक और निर्बुद्धितापूर्ण काम है, इसमें सन्देह नहीं। अंग्रेजी ही विद्वत्ता की कसौटी है, यही दास मनोवृत्ति इसके द्वारा दिखलाई जाती है। मैं अंग्रेजी का बायकाट करने का पक्षपाती नहीं हूँ। हमारे दृष्टिकोण और ज्ञानक्षेत्र को और विस्तृत करने के लिए हमें समुन्नत विदेशी भाषाओं का भी अध्ययन करना चाहिए, लेकिन दुनिया में अंग्रेजी ही सबसे अधिक समुन्नत भाषा नहीं मानी जाती, कितने ही विषयों में रूसी और जर्मन उससे कहीं आगे बढ़ी हुई हैं। इसलिए अंग्रेजी के साथ इतना पक्षपात क्यों ?

अस्तु, यह तो साफ दीखता है कि संस्कृत की तरफ आनेवाले विद्यार्थियों की भारी संख्या हिन्दी या मातृभाषा के माध्यम होने के कारण अब आधुनिक विद्याओं की तरफ जायेगी, और संस्कृत के विद्यार्थियों की संख्या दिन-पर-दिन कम होती जायेगी। शास्त्रों के गंभीर विद्वान् और भी कम होते जायेंगे। घर-गृहस्थी के बोझवाले आदमी अब चालीस-चालीस वर्ष की उमर तक संस्कृत के शास्त्रों के अध्ययन में अपने को नहीं खपायेंगे। मुझे तो यह साफ दीख रहा है कि अब संस्कृत के गम्भीर विद्वान साधुओं में ही हो सकेंगे, क्योंकि वह यावज्जीवन विद्यार्थी रह सकते हैं। हमारी प्राचीन पण्डिताई की गम्भीरता के साथ-साथ आधुनिक अनुसंधान के ढंग को भी अपनाना होगा, इस महान् कर्त्तव्य को अब साधुओं को पालन करना है। साधुओं का भविष्य अति समुज्ज्वल है।

19

जय लुम्बिनी !

पिछले ढाई-तीन हजार वर्षों के ऐतिहासिक युग में बुद्ध सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं, यह दुनिया के सभी विद्वानों, मनीषियों और तत्त्वचिंतकों की राय है। बुद्ध ने कभी किसी के अवतार होने का दावा नहीं किया। उनके लिए सबसे

सम्मान की चीज द्विपदोत्तम, और नरसिंह ही मानी गई। भगवान उस समय की भाषा में संत-महापुरुषों को सम्मान दिखलाने के लिए इस्तेमाल किया जाता था। बुद्ध के धर्म में, दर्शन में, यह ठीक है कि जड़वाद का समर्थन नहीं किया गया है, लेकिन यह भी निश्चित है कि उसमें सृष्टिकर्ता ईश्वर की कहीं गुंजाइश नहीं है। उन्होंने इस विषय में चुप्पी नहीं साधी, जैसा कि कितने ही लोग कह दिया करते हैं। उन्होंने सृष्टिकर्त्ता का सीधे निषेध किया है। जब हम बुद्ध के दर्शन को लेते हैं, तो उस में ऐसे गम्भीर तत्त्वों का प्रतिपादन मिलता है, जो ढाई हजार वर्ष पहिले वाले काल की अपेक्षा आधुनिक वैज्ञानिक युग के अधिक अनुरूप मालूम होता है। इसका यह मतलब नहीं कि आधुनिक वैज्ञानिक तत्त्वों के उद्घाटन करने का उसमें प्रयत्न किया गया। बिना अपवाद के सभी वास्तविक सत्ता रखनेवाली वस्तुओं को अनित्य या क्षण-क्षण विनाशी कहना एक बहुत ही गम्भीर दर्शन है जिसे आज के विज्ञान का पूरा समर्थन प्राप्त है। उसी तरह कार्यकारण के सिद्धान्त का किसी अचल कारण के जोड़-घटाव के कार्य-रूप में परिणत होना न मानकर उसकी जगह प्रतीत्य समुत्पाद को मानना भी बहुत ही गम्भीर सत्य है। अर्थात् कारण कार्य में किसी रूप में नहीं रह जाता, कार्य, कारण या कारणों का ऊपरी परिवर्तन नहीं है, बल्कि आमूल परिवर्तन है। कारण वस्तुतः दूसरी चीज थी और कार्य बिल्कुल नई चीज है। दोनों में सम्बन्ध इतना ही है कि कारण के अतीत-नष्ट-लुप्त होने के अनन्तर ही कार्य उत्पन्न हुआ। कारण की सत्ता जिस तरह क्षणिक थी, कार्य की भी वही बात है। और इस प्रकार लुप्त और उत्पन्न होती कार्य-कारण शृंखला सारे विश्व की चीजों में व्याप्त है। इस नियम का कोई अपवाद नहीं। इसीलिए बुद्ध ने आत्मा के मानने से भी इन्कार कर दिया, क्योंकि तब और अब भी आत्मा ऐसी वस्तु माना जाता है, जो कूटस्थ नित्य, अपरिवर्तनशील हो। बुद्ध का दर्शन इसीलिए अनात्मवाद कहा जाता है। चेतना या विज्ञान को मानने से वह इन्कार नहीं करते थे। उपनिषद और दूसरे विचारकों के आत्मवाद की जगह पर बुद्ध ने अपने दर्शन का नाम अनात्मवाद रहने दिया।

यहाँ हमें बुद्ध के दर्शन के बारे में कहना नहीं है, बल्कि यह दिखलाना है कि बुद्ध का दर्शन कितना गम्भीर और वास्तविक है। उनकी धार्मिक उदारता, सहिष्णुता, प्राणिमात्र के प्रति अनुकम्पा और सहानुभूति के बारे में कहने की आवश्यकता ही नहीं। इन बातों में भी वह मानवजाति के सभी पुरुष-रत्नों में सर्वश्रेष्ठ थे। बुद्ध सचमुच सर्वतोभद्र या समंतभद्र थे, जिधर से भी उनके व्यक्तित्व पर विचार किया जाय उसमें भद्रता ही भद्रता दिखाई पड़ती है। अपने ढाई हजार वर्ष के ऐतिहासिक अस्तित्व में उन्होंने दुनिया के कितने कवियों और कलाकारों को प्रभावित नहीं किया। सिर्फ उन्हीं देशों में नहीं, जहाँ कि बौद्ध धर्म व्यापक रूप में फैला था, बल्कि हम 19वीं शताब्दी के यूरोप के कवियों, कलाकारों और दार्शनिकों को देखते हैं, तो उनमें से चोटी के पुरुषों को बुद्ध को प्रभावित करते देखते हैं। बुद्ध को अजनबी अपरिचित लोग भी अपने श्रद्धा के फूल चढ़ाते हैं, फिर हम भारतीय तो उनके हाड़-मांस के सम्बन्धी हैं। कौन अभागा भारतीय होगा, जिसको उस महापुरुष का अभिमान न हो। 1935 ई. में मैं आज की रक्तरंजित युद्धभूमि कोरिया के पर्वतों–जिनका नाम वर्जपर्वत कहा जाता है–मैं घूम रहा था। यह पर्वत हमारे सामने हिमाचल के कितने ही सर्वश्रेष्ठ प्राकृतिक सौंदर्य को पेश करते हैं। देवदार वन तो चारों ओर छाया हुआ है, यदि कमी है तो हिमानियों और हिमालय के उत्तुंग शिखरों की। अपने विहारों और मठों के स्थापित करने में प्राकृतिक सौंदर्यपूर्ण स्थान चुनने में बौद्ध साधु सर्वत्र और सर्वदा अद्वितीय रहे हैं। कोरिया के वर्ज-पर्वत में उनके कई विहार हैं, जिनमें से कुछ की स्थापना उस समय हुई थी, जब भारत में समुद्रगुप्त-चंद्रगुप्त का शासन था। यद्यपि उस समय की सारी चीजें इन विहारों में मौजूद नहीं थीं, लेकिन कितने ही कला के सुन्दर प्रतीक अब भी सुरक्षित थे। मालूम नहीं इस युद्धराक्षस ने जो अन्धाधुन्ध गोलाबारी वर्षों से जारी कर रक्खी है, उसके परिणामस्वरूप इन निधियों का क्या हुआ। अस्तु, वहाँ के एक प्राचीन विहार में जाने पर भिक्षुओं ने मधु के शर्बत से मेरा स्वागत किया। यह कहते हुए कि हमारे यहाँ भिक्षु अतिथि का प्रथम सम्मान इसी तरह किया जाता है। उन्होंने एक सिक्ख भाई का हस्ताक्षर किया हुआ दीर्घजीवी कागज भी दिखलाया। बुद्ध की जन्मभूमि भारत के प्रति जो उनका सम्मान है, उसी के लिए किसी भारतीय के हस्तलेख को लेकर सुरक्षित रखना उनके लिए प्रसन्नता की बात थी। सिक्ख सज्जन

का हस्ताक्षर उर्दू में था या गुरुमुखी में, यह मुझे याद नहीं, किन्तु वह शिक्षित, संस्कृत नहीं मालूम होते थे, और इसमें संदेह है कि उन्होंने बुद्ध का नाम छोड़ और कुछ नहीं जाना था। आज भी बुद्ध के पथ का अनुसरण करनेवाले या उनका अनुयायी माने जानेवाले लोग दुनिया के कोने-कोने में फैले हुए हैं। और जो भी चीज बुद्ध के जीवन से सजीव सम्बन्ध रखती है, उसके प्रति उनका अपार आदर है। यही तो वजह है कि जहाँ पर भी बुद्ध के अग्रश्रावकों, प्रमुख शिष्यों, सारिपुत्र और मौद्गल्यायन की पवित्र अस्थियाँ गईं, हाल में वहाँ अपार जनता दर्शनों के लिए उमड़ पड़ी।

लुम्बिनी उसी महापुरुष की जन्मभूमि है। पिछली शताब्दी में कितने ही पश्चिमी इतिहासवेत्ता सोच रहे थे कि बुद्ध, जिसका नाम बेंकाल से वाली तक और भारत से जापान तक पाया जाता है, वह कोई वास्तविक पुरुष नहीं था, बल्कि सूर्यदेवता की वह केवल काव्यमयी कल्पना है। इन विचारों को बड़ी गम्भीरता से उस समय लिखा-पढ़ा, कहा-सुना जाता था। लेकिन एक के बाद एक पृथ्वी ने खड़े होकर साक्षी देना शुरू किया–सिद्धार्थ, गौतम ने बुद्धधत्व-प्राप्ति के लिए अपने वज्रसंकल्प के साथ जव वज्रासन बाँधा या परम ज्ञान का गम्भीर अनुसंधान-चिन्तन शुरू किया, उस समय भी उसके दाहिने हाथ की अँगुलियाँ भूमिस्पर्श-मुद्रा में थीं, जो पृथ्वी को अपने वज्रसंकल्प की साक्षी बनायें हुए थीं। वही पृथ्वी प्रमाण देने लगी कि बुद्ध किसी सूर्य या दूसरे देवता की कल्पना नहीं हैं, बल्कि वह इस पृथ्वी पर ही पैदा हुए थे, और लोगों ने उनको देखा, उनके उपदेशों को कृतकृत्य होकर सुना था। लुम्बिनी कितनी ही शताब्दियों तक घोर जंगलों से आच्छादित रहकर यद्यपि 20वीं शताब्दी के आरम्भ में आसपास खेतों से और बस्तियों से घिर गया था, लेकिन वैसे वह अभी भी अपरिचित ही स्थान उन लोगों के लिए भी था, जो पीढ़ियों से आसपास के गाँवों में रहा करते थे। वह लुम्बिनी को रुम्मिनदेई कहा करते, जिससे इतना तो मालूम होता है कि कम-से-कम नाम में पुरानी परम्परा चली आती थी। शायद मध्यदेश और तराई में बौद्धों के न रह जाने पर भी नेपाल के बौद्ध इन रास्ते के जंगलों को चीर-फाड़कर वहाँ कभी-कभी पहुँचते हों, जिनसे सुनकर लोगों ने रुम्मिन नाम याद रक्खा हो। लेकिन जिस रुम्मिनदेई की पूजा वह लोग करते थे, उसका बुद्ध के जन्मस्थान या धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता था। 1920 ई. में मैं पहले पहल लुम्बिनी के दर्शन के लिए गया। उससे बहुत पहिले अशोक-स्तम्भ को विद्वानों ने देख लिया था और उस पर उत्कीर्ण लेख ने बतला दिया था कि अपने अभिषेक के बीसवें वर्ष प्रियदर्शी राजा अशोक स्वयं यहाँ सम्मान-प्रदर्शन के लिए आया था और उसने लुम्बिनी ग्राम को इस पवित्र स्थान की भेंट के रूप में प्रदान किया था।

परम अहिंसा के अवतार बुद्ध के जन्मस्थान का इस प्रकार निश्चय हो जाने पर भी अभी आसपास के लोग रुम्मिनदेई के लिए बकरों और मुर्गियों की बलि चढ़ाते थे। 1920 ई. के वसंत का उस समय का दृश्य आज भी मुझे अच्छी तरह याद है। धान की खेती अधिक होने से और उनके कट जाने के कारण चारों ओर समतल पीली-सी भूमि दिखाई पड़ती थी। अशोक-स्तम्भ के पास ही एक नातिपुरातन छोटा-सा मंदिर था, जिसके भीतर पत्थर की काफी ऊँची मूर्ति थी। सम्भवतः किसी वक्त मूल मंदिर में आग लग गई, जिसके कारण सामने से पत्थर का बहुत-सा भाग निकल गया, और रेखाओं से ही मूर्ति की आकृति का परिचय मिलता था। लोग इसी मूर्ति को रुम्मिनदेई मानते थे। बलि मंदिर के वाहर होती थी, जहाँ पर एक पुराना पीपल था। पास के छोटे-से कुंड या गड़हे में पानी नहीं था। उसकी एक भीत पर जंगली कँटीली झाड़ी प्राचीन जंगल के अवशेष के रूप में अब भी मौजूद थी। वहीं कुछ जंगली बेल भी थे। छोटी-सी नदी अब भी पास में बहती थी। इतने महान् पुरुष का जन्म लेने का स्थान ऐसी अवस्था में हो, यह किसी भी सहृदय व्यक्ति के लिए दुःखद हो सकता है, और मैं तो उस महापुरुष का एक परमभक्त था। देवी के मंदिर में कोई ऐसी चीज नहीं थी कि जिसे चोर ले जा सके। आसपास के किसी गाँव का पुजारी वहाँ रोज पूजा करके चला जाया करता था। मैंने भी अपनी श्रद्धा के अनुसार उस पुनीत स्थान की पूजा की और पुजारी तथा एक-दो और आदमियों को स्थान के बारे में कुछ सुनाया। आज तो लुम्बिनी जिस इलाके में है, वहाँ के सभी लोग इस परम पवित्र स्थान का परिचय रखते हैं, और बर्मा, भोंट या चीन वालों का देवता न कहकर हमारे बुद्ध भगवान की जन्मभूमि है,

यह भी बड़े सम्मान से कहते हैं। मैं नवगढ़ रोड स्टेशन से गया था। लोगों से पूछता-पाछता दोपहर से पहिले ही भगवानपुर पहुँचा। भगवानपुर में किसी समय नेपाल की कचहरी थी। उस समय कितने ही सरकारी कर्मचारी और कुछ गोरखा सैनिक भी वहाँ रहते थे, लेकिन बहुत वर्षों पहिले भगवानपुर उस अधिकार से वंचित हो गया था, और वहाँ से लक्ष्मी रूठ रही थी। पुरानी कचहरी के एक-दो मकान अब भी खड़े थे, नहीं तो वह साधारण किसानों का एक गाँव था। वहाँ एक नेपाली ब्राह्मण और एक वैष्णवी साधुनी मिली। भोजन का समय था, और जब उन्होंने आग्रह किया, तो करतलभिक्षा तरुतलवास रखनेवाला मेरे जैसा आदमी इन्कार कैसे कर सकता था। धूप भी काफी तेज थी। रुम्मिनदेई लुम्बिनी वहाँ से बहुत दूर नहीं थी, लेकिन लोगों के बतलाने से मालूम हुआ कि ठंडे में जाना ही अच्छा है। फिर चार बजे के करीब मैं अकेले ही पैर नापता लुम्बिनी पहुँचा और वहाँ जो दृश्य देखा, उसके बारे में अभी बतला चुका हूँ।

लुम्बिनी अकेले ही बुद्ध के गौरव स्तम्भ को अपने भीतर नहीं रक्खे हुए है, बल्कि पिछली शताब्दी के मध्य तक घोर जंगलों से ढकी शाक्यों की भूमि में जगह-जगह पर पुराने ध्वंसावशेष मिलते हैं। इसी भूमि में और लुम्बिनी से नातिदूर पिपरहवा में मानव बुद्ध के अस्तित्व का दूसरा बहुत जबर्दस्त प्रमाण वह लेख मिला, जिसके द्वारा मालूम हुआ कि वहीं स्तूप में भगवान की पवित्र अस्थियाँ उनके शाक्यों ने स्थापित कीं। पिपरहवा का यह अभिलेख भारत की सर्व प्राचीन वर्णमाला ब्राह्मी का सर्वपुरातन रूप माना जाता है। पिपरहवा में किसी धनी गृहस्थ के यहाँ मैं रात को रहा। उन्होंने अपने गाँव के बाहर बड़ी ईंटों वाले पुराने घरों की नींव दिखलाई। तिलोराकोट अब भी एक पुराने नगर और गढ़ का अवशेष है जो बाणगंगा के किनारे पर पड़ता है। उसे कपिलवस्तु कहा जाता है। हो भी सकता है, लेकिन जब तक धरती स्वयं उठकर साक्षी न दे, तब तक यह निश्चय करना भी मुश्किल है। तिलौरा से अति दूर निगलिहवा है, वहाँ भी एक खंडित अशोक-स्तम्भ तथा अशोक लिपि मौजूद हैं।

तथागत की जन्मभूमि, बाल्य और तारुण्य की लीलाभूमि लुम्बिनी यद्यपि आज अंधकार में नहीं है, और उसके प्राचीन इतिहास का कितना ही अंश हमें संस्कृत, पाली, तिब्बती, चीनी आदि दुनिया की कितनी ही भाषाओं में मिलता है, लेकिन अभी इस भूमि का बहुत-सा इतिहास इस भूमि के गर्भ में छिपा हुआ है। लुम्बिनी अब वह चिर-उपेक्षित स्थान नहीं है। मेरी पहली यात्रा के कितने ही वर्षों बाद लेकिन आज से काफी पहिले आसपास की जगह को सुधाने की कोशिश की गई। देश-विदेश से दर्शन के लिए आने वाले यात्रियों को सबसे बड़ा कष्ट यह था कि वहाँ ठहरने का कोई स्थान नहीं था, और न खाने-पीने की कोई चीज मिल सकती थी। पास के गाँव के चौधरी साहब कितने ही सालों तक स्वेच्छापूर्वक आए-गए अतिथियों का यात्रियों का आतिथ्य किया करते थे। दूसरी या तीसरी यात्रा की बात है, चौधरी साहब मुझे अपने यहाँ ले गए। उस समय अभी चाय का बहुत रवाज नहीं हुआ था। चौधरी साहब ने अतिथियों के लिए चाय के लिए चीनी के प्याले, तस्तरी आदि रख रक्खी थी। हमारे यहाँ के बहुत-से उस समय के लोगों की तरह चीनी के बर्तनों को मिट्टी का बर्तन समझकर एक वार इस्तेमान करने के बाद वह भी भ्रष्ट माने हुए थे, इसलिए उन्होंने कुछ संकोच के साथ कहा—'आप तो बौद्ध हैं, आपको तो प्याले में चाय पीने में एतराज नहीं होगा ?' मुझे क्या एतराज होता। यद्यपि लुम्बिनी में अब आये-गयों को ठहरने के लिए स्थान है, किन्तु क्या उतने ही इस लुम्बिनी के ऋण से हम उऋण हो सकते हैं ?

लुम्बिनी मानव जाति के सर्वश्रेष्ठ पुरुष का जन्मस्थान है। उसे उसके अनुरूप ही होना चाहिए। प्रसन्नता की बात है कि नेपाल सरकार और धर्मोदय सभा का इस ओर ध्यान गया है। नेपाल सरकार का ध्यान न जाता, तो बड़े आश्चर्य की बात होती। यह तो बहती गंगा में नहाना है। ऐसे पुनीत और ऐतिहासिक कार्य में भाग लेने का अनायास मौका मिला है। लुम्बिनी में शालवन था। शालों, शाखुओं को लगाकर लुम्बिनी के शालवन को पुनरुज्जीवित किया जाय, यह अच्छी बात है। लेकिन उससे पहिले यह जरूरी है कि आसपास की भूमि की पुरातात्विक ढंग से खुदाई की जाय। एक बार वहाँ नेपाल सरकार की ओर से कुछ काम लगा था, कितने ही स्थानों की कुछ खुदाई भी हुई थी, लेकिन वह बिलकुल अनाड़ी ढंग से ही। वहाँ कुषाण-समय

तक के मूर्तिखंड मिले थे, लेकिन कौन कितनी गहराई से निकला, कौन स्थान से निकला इत्यादि का ध्यान न देकर सबको खोद करके एक जगह जमा कर दिया गया। मालूम नहीं उस समय की खुदाई की निकली वस्तुएँ अब कहीं सुरक्षित रक्खी भी गई हैं या नहीं। लुम्बिनी और आसपास की शाक्य भूमि से निकलनेवाली पुरातात्विक सामग्री—मूर्तियाँ, ईंटों, अभिलेखों, सिक्कों का एक संग्रहालय होना चाहिए, जिसका अल्पारम्भ ही चाहे हो, किन्तु धीरे-धीरे वह बढ़ जायगा, इसमें सन्देह नहीं। अब भी हमारे भिक्षुओं में पाली-संस्कृत का ज्ञान रखनेवाले तथा इस विषय में रुचि रखनेवालों का अभाव नहीं है। लुम्बिनी में एक अच्छा विद्यालय होना चाहिए, जिसमें प्राचीन विद्याओं के अध्ययन का विशेष प्रबन्ध हो। पाली, संस्कृत के साथ धीरे-धीरे तिब्बती और चीनी भाषा तथा साहित्य के पठन-पाठन का भी वहाँ प्रबन्ध किया जाय। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि विद्यालय के साथ एक अच्छी लाइब्रेरी हो। लाइब्रेरी का संग्रह बहुत मुश्किल नहीं होगा। तिब्बती कंजूर और तंजूर के दस हजार के करीब ग्रन्थ तो तिब्बत से दान में मिल सकते हैं। लुम्बिनी के लिए चीनी त्रिपिटक का दान मिलना सिर्फ इच्छा प्रकट करने की चीज है। स्यामी और बर्मी लिपियों में पाली त्रिपिटक और पाली साहित्य भी मिलना आसान है। संक्षेप में संग्रहालय, विद्यालय और पुस्तकालय से लुम्बिनियाँ सुशोभित करना सबसे पहला काम है। इनके तथा भिक्षुओं और कुछ विद्यार्थियों के रहने के लिए आवश्यक मकानों की जरूरत भी पहिले ही पड़ेगी। मकानों के बनाने का प्लान और योजना बड़ी बनाई जाय इसमें कोई हर्ज नहीं, लेकिन पहिले ही बहुत-सा रुपया ईंट-चूने पर नहीं लगा लेना चाहिए। बौद्ध-विहार सारे एशिया में केवल मानसिक रोगों के चिकित्सालय नहीं रहे, बल्कि शारीरिक रोगों की भी वहाँ चिकित्सा होती रही। अबकी इसी कर्त्तव्य के प्रतीकस्वरूप बहुत-से विहारों ने अपने यहाँ बुद्ध को भैषज्य-गुरु के नाम से स्थापित किया था। तिब्बत, जापान और इन्दोचीन की कितनी ही प्राचीन भव्य मूर्तियाँ भैषज्यगुरु की मिलती हैं, जिनमें पद्मासनस्थ बुद्ध के एक हाथ में औषध की प्रतीक हरीतकी का फल रहता है। यदि चिकित्सा के साथ आयुर्वेद के अध्ययन और प्रयोग का भी धीरे-धीरे प्रबन्ध किया जाय, तो वह भैषज्यगुरु के जन्मस्थान के बिल्कुल अनुरूप ही होगा।

लुम्बिनी के नहीं, बल्कि हमारे भाग्य के जागने का अवसर है, जो भारत के नवजागरण के साथ लुम्बिनी ने लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। लुम्बिनी या शाक्यदेश का इतिहास पश्चिमी नेपाल के पहाड़ी भाग से बहुत घनिष्ठतया सम्बद्ध है। पहिले इस भूमि में सारे हिमालय की तरह किरात के लोग रहा करते थे। किरात बहुत वीर और सम्पन्न जाति थी। कश्मीर के पास से लेकर आसाम तक कभी इसी जाति की प्रधानता थी, लेकिन उसकी सीमा यहीं नहीं खतम होती थी, बल्कि इन्दोनेसिया, कम्बोज, थाई, केरन आदि जातियाँ उसी किरात जाति की शाखाएँ हैं जिनमें लिम्बू, राई, सुवार, नेवार, गुरूंग, मगर आदि सम्मिलित हैं। मगर-गुरूंग-भूमि में अत्याचारों से पीड़ित और अपने गणराज्यों के उच्छिन्न होने के बाद बहुत-से शाक्य, कोलीय, कुशीनारा, अनुपीया आदि के गणतन्त्री भागकर शरणार्थी हुए। यह सभी गण नौ मल्लों के अन्तर्गत थे, इसीलिए उन्होंने वहाँ जाकर मल्ल उपाधि प्रचलित की, जो हाल तक नेपाल के बहुत-से भागों में सम्मानित उपाधि रही। शाक्यों-मल्लों का प्रथम प्रवास तथा लुम्बिनी के उत्तरवाले पहाड़ों के लोगों की संस्कृति पर प्रकाश डालने के लिए लुम्बिनी का इस सम्बन्ध में कार्य प्रकाशस्तम्भ जैसा होगा।

20

सांस्कृतिक निधियों की इतनी उपेक्षा क्यों ?

दीर्घकाल-व्यापी संस्कृति किसी जाति के लिए अभिमान की ही नहीं बल्कि वह जिम्मेवारी की भी चीज है। हमारी संस्कृति दुनिया की तीन-चार अत्यन्त प्राचीन संस्कृतियों में से एक है। जैसे हमारे मानसिक निर्माण में पीढ़ियों से गुजरती हुई हमारी संस्कृति आज भी सजीव रूप में विद्यमान है, उसी तरह वह ठोस और साकार

रूप में हमारी धरती के भीतर और ऊपर अपने समकालीन अस्तित्व को छोड़े हुए है। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में हमारी संस्कृति के प्राप्य इन साकार अवशेषों के पता लगाने और संरक्षण की बहुत कोशिश की गयी, लेकिन इसमें शक नहीं कि अभी उसका बहुत थोड़ा-सा अंश ही पाया जा सका है। अभी भी हमारी धरती में पुराण-पाषाण और नवपाषाण युग के भारतीय मानव के हाथ की कृतियाँ, उसकी बुद्धि के चमत्कार अत्यन्त अल्प मात्रा में प्रकट हो सके हैं। पश्चिम के उन्नत देशों में जहाँ प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व और उस पर आधारित इतिहास विद्वानों के अध्ययन का एक अलग विषय है, वहाँ हमारे लिए उसको अत्यन्त गौण माना जाता है, इसीलिए पुराण-पाषाण, नवपाषाण या ताम्र-युग की हमारी संस्कृति पर स्वतन्त्र ग्रंथों का अभाव है, अध्यापक और विद्यार्थी दोनों ही उसे चोंच से छूकर छुट्टी ले लेना चाहते हैं। इसे कहने की आवश्यकता नहीं कि धरती के भीतर या ऊपर सुरक्षित इन सांस्कृतिक निधियों अर्थात् पुरातत्त्व-सामग्री का अधिकाधिक अनुसंधान और अध्ययन करना जरूरी है। मैं यह नहीं कहता कि पौराणिक कथाएँ और किंवदंतियाँ इतिहास के लिए कोई मूल्य नहीं रखतीं, किन्तु यह जरूर है कि उनका मूल्य बहुत सीमित है और उनके उपयोग में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है, क्योंकि वहाँ सच और झूठ का इतना सम्मिश्रण है कि बहुत विवेक के साथ ही उनका ठीक से उपयोग इतिहास के निर्माण में हो सकता है। पुरातात्विक निधियाँ अत्यन्त ठोस और निर्भ्रान्त समकालीन अभिलेख (रेकार्ड) हैं, उनका महत्त्व उसी तरह सबसे अधिक है, जिस तरह यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रत्यक्ष का।

वहादुरावाद के अवशेष

काल में हम जितना ही दूर जाते हैं, उतना ही हमारी सांस्कृतिक निधियों का परिमाण अल्प होता जाता है, यहाँ तक कि ताम्र और पाषाण युग में जाने पर यह सामग्री अत्यन्त विरल हो जाती है—मानव भी उस समय भारत की धरा पर विरल ही था। लेकिन, इस विरल और अत्यन्त दुर्लभ सामग्री का जब आज अपनी आँखों के सामने हम संहार होते देखते हैं, तो मन क्षुब्ध हो जाता है। हरिद्वार से 8 मील पश्चिम बहादुराबाद स्थान में हाल में ही ताम्रयुग के अवशेष मिले थे, जहाँ उत्तर प्रदेश सरकार की एक जल विज्ञान प्रयोगशाला है। एक बिजलीघर भी वहाँ मौजूद है और दूसरा बन रहा है। डाक्टर यज्ञदत्त शर्मा ने यहाँ की ताम्रकालीन सांस्कृतिक निधि के बारे में लिखा है—गंगा नहर की एक नयी उपशाखा खोदते हुए पुरानी बस्ती के कुछ चिह्न दृष्टिगोचर हुए। बिजलीघर के निर्माण के ठेकेदार श्री श्यामकृष्ण अग्रवाल ने उसकी सूचना पुरातत्त्व-विभाग को पहुँचा दी और कुछ समय पश्चात् हम वहाँ खोदाई के लिए पहुँच गए। हमारे पहुँचने से पहले ही पुरानी बस्ती का अधिकांश खोदा जा चुका था और उसके फलस्वरूप बहुत-से पुरातत्त्वीय प्रमाण सदा के लिए विलीन हो चुके थे। फिर भी नहर के तटों के कुछ भागों को हमने लगभग 25 फुट गहराई तक सविधि खुदवाया और पहले की खुदी हुई सामग्री को एकत्र किया। विखरे हुए कणों को पुनः संगृहीत कर हमने यह चेष्टा की कि बहादुराबाद की ताम्रकालीन लुप्त संस्कृति का अधिक से अधिक प्रामाणिक चित्र उपलब्ध हो सके।

प्राप्तिस्थानों की उपेक्षा

डाक्टर यज्ञदत्त ने यहाँ की ग्रीसाम के महत्त्व के वारे में लिखा है—"तांबे के इस प्रकार के उपकरण पहले भी कई स्थानों से उपलब्ध हो चुके हैं। प्रायः ऐसा हुआ कि उपकरण तो किसी न किसी संग्रहालय में पहुँचा दिए गए, किन्तु प्राप्तिस्थान का किसी ने भी निरीक्षण या अध्ययन नहीं किया। आज उन प्राप्तिस्थानों का हमें पूर्ण ज्ञान भी नहीं, फलतः यह भी मालूम नहीं कि ताँबे के उपकरणों के अतिरिक्त और क्या संस्कृतिज्ञापक सामग्री वहाँ विद्यमान थी। बहादुराबाद की खोदाई का विशेष महत्त्व इसी में है कि अभी तक यह एक ही ऐसा स्थान है जहाँ और पुरातत्त्व सामग्री का अध्ययन भी सम्भव है। बहादुराबाद की पुरानी बस्ती वर्तमान भूमितल से लगभग 21½ फुट नीचे दबी हुई है। इस बस्ती के भूमिगत होने के पश्चात् एक पहाड़ी नाला भी पौने 13 फुट गहरा अपनी रेत यहाँ छोड़ गया है।...बहादुराबाद की संस्कृति कम से कम ई. पू. 1200 वर्ष पहले फली-फूली

होगी। सम्भावना यही है कि वह इससे भी अधिक पुरातन हो।"

इस तरह मालूम होगा कि 20वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भी हमारी बेपरवाही से सांस्कृतिक निधियाँ किस तरह लुप्त हो रही हैं और किस तरह हम अपनी भावी पीढ़ियों तथा दुनिया के विद्वानों के सामने अपनी इस बेपरवाही के लिए अपराधी हो रहे हैं।

रूस से सवक लें

यह स्मरण रखने की बात है कि आज हमारे देश में कृषि और उद्योग-धन्धे के लिए जो प्रयत्न हो रहा है, उसके कारण इन सांस्कृतिक निधियों के और भी भारी परिमाण में नष्ट होने का खतरा पैदा हो गया है। यह कोई नहीं कहेगा कि हम अपनी दरिद्रता के दूर करने के उपाय कृषि और उद्योग संवंधी योजनाओं को छोड़ युगों बीती पुरानी ऐतिहासिक निधियों को लिए बैठे रहें। किन्तु दोनों का करना असम्भव नहीं है और ऐसा किया गया है। वहुत देशों में बड़ी-वड़ी नहरें निकाली गयीं, समुद्र जैसे जलनिधियों में सिंचाई और पनबिजली के लिए अपार जलराशि जमा की गयी। यह हमारे देश के लिए ही नयी चीज नहीं है। दूसरे देशों के लोगों ने इस बारे में क्या किया, इसका उदाहरण सोवियत मध्य एशिया से लीजिए। लड़ाई के दिनों में आहार की समस्या को हल करने के लिए सोवियत रूस को अपने दूसरे भागों में अधिक अन्न उपजाने के लिए कई भारी-भारी काम करने पड़े थे, जिनमें फरगाना प्रदेश (वाबर की जन्मभूमि) में एक विशाल नहर को निकालना भी था। सोवियत के लोगों को मालूम था कि प्राचीनकाल में चीन का रेशम जिस स्थल-पथ से यूरोप को जाता था, वह इसी इलाके से गुजरता था, इसलिए ईसा की पहली चौदह-पंद्रह शताब्दियों में यह भूभाग अधिक समृद्ध और जनसंकुल रहा होगा और उस समय की बहुत-सी सांस्कृतिक सामग्री यहाँ मिल सकती है। जिस समय रूस जर्मनी से जीवन-मरण की लड़ाई लड़ रहा था और जिस समय अपनी छिनी हुई भूमि की फसल क्षतिपूर्ति वह कुछ हद तक फरगाना की इस नहर को खोदकर उसके द्वारा पूरा करने की कोशिश कर रहा था, उस समय भी वह यह नहीं भूल सका कि वहाँ निकलनेवाली सांस्कृतिक निधियों का संरक्षण भी हमारा अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य है—वस्तुतः सभ्य और संस्कृत कहलाने का हक उसी जाति को हो सकता है जो अपने संकट के समय में भी अपने सांस्कृतिक कर्तव्य को न भूले। वहाँ सरकार ने चार जातियों के खोदाई करने वाले कर्मकरों के जानने के लिए चार भाषाओं में चार-चार पन्ने की पुस्तिकाएँ छापकर बाँटीं और निर्देश किया कि यहाँ से प्राप्त होनेवाली सामग्री हमारे इतिहास पर नया प्रकाश डालेगी, इसलिए फावड़ा चलाते वक्त इस बात का बड़ी सावधानी से ध्यान रखना चाहिए। इतना ही नहीं, सोवियत सरकार ने दो दर्जन ट्रकें देकर कुछ पुरातत्त्वज्ञ भी वहीं नियुक्त कर दिए, जो हर एक सामग्री को उसके निकलने के स्थान और गहराई के साथ नोट करके ट्रकों पर लाद-लाद कर एक जगह जमा करते रहे। वहाँ सामग्री इतने परिमाण में निकली कि उससे एक अच्छा-खासा म्यूजियम भर गया।

सोवियत मध्य एशिया में जो किया गया उससे हम शिक्षा ले सकते हैं और हरएक नहर या जलनिधि खोदने, बनाने तथा दूसरे बड़े पैमाने की खोदाई आदि करने के समय हमें इन निधियों की रक्षा करने की अपनी जिम्मेदारी को पालन करना चाहिए।

यह ठीक है कि हमारा देश गरीव है और दूसरे अधिक समृद्ध देशों की तरह हम करोड़ों रुपये अपने पुरातत्त्व विभाग पर नहीं खर्च कर सकते। अराल समुद्र और वुक्षू नदी के किनारे के कराकुम मरुभूमि में किसी समय ख्वारेज्म की उन्नत सभ्यता फैली हुई थी। वहाँ बड़े-बड़े नगर और गाँव बसे हुए थे जो पीछे बालू के नीचे दब गए। आज सोवियत पुरातत्वज्ञ डेढ़-डेढ़, दो-दो सौ आदमियों की पलटन के साथ मोटर-लारियाँ ही नहीं बल्कि हवाई जहाज भी लिए खोदाई कर रहे हैं और वहाँ से अद्भुत सामग्री प्राप्त कर रहे हैं। हमारे लिए अभी यह साध्य बात नहीं है लेकिन दूसरे खर्चों के करने में हमारी प्रादेशिक और केन्द्रीय सरकार क्या देश की गरीबी का ख्याल करती है ? क्या करोड़ों रुपया फजूल ही बड़ी बेदर्दी से बरवाद नहीं किया जा रहा है ? तब हम सांस्कृतिक कामों के लिए ही क्यों गरीबी का बहाना लेना चाहते हैं ?

उत्तरप्रदेश के अवशेष

हमारा उत्तरप्रदेश 6 करोड़ आबादी का एक महान् प्रदेश है। भारतीय संस्कृति के हर काल के सबसे समृद्ध अवशेष यहाँ पर मौजूद हैं, इसका प्रमाण हरिद्वार के पास का बहादुराबाद का यह अवशेष भी दे रहा है। ताम्रयुग ही नहीं, उससे पहले की संस्कृति के भी अवशेष हमारे विन्ध्याचल और हिमाचल की नदी, घाटियों और गुफाओं में प्रतीक्षा कर रहे हैं। लेकिन, यदि हम उनके बारे में ऐसी ही बेपरवाही करते रहे तो कैसे हम उनकी रक्षा कर सकेंगे और कैसे इस देश का प्रामाणिक तथा वैज्ञानिक इतिहास लिख सकेंगे ?

उत्तरप्रदेश जैसे भारत के सबसे बड़े प्रदेश की सरकार अपने पुरातत्त्व विभाग पर अब तक 32 हजार रुपया खर्च कर रही थी। अब सरकार को गरीब जनता के पैसे को बड़ी सावधानी से खर्च करने का ध्यान आया है और वह उस विभाग को तोड़कर 32 हजार की रकम को किसी बड़े महत्त्वपूर्ण काम में खर्च करना चाहती है। जहाँ शिक्षा-विभाग पर कई करोड़ रुपये खर्च हो रहे हैं, वहाँ इस 32 हजार रुपयों के रहने-न-रहने से क्या फर्क होगा, इसका जवाब हमारे शिक्षा-विधाता ही दे सकते हैं। लेकिन हम कहना चाहते हैं कि उनका यह काम आज से दो-चार शताब्दी पहले के लिए क्षम्य भले ही हो सकता था, किन्तु आज नहीं। उत्तरप्रदेश में मिर्जापुर की दुधी तहसील में एक विशाल नहर के लिए काम हो रहा है। दूसरी जगह भी अनेक नहरें और नवनिर्माण के काम चल रहे हैं। जिन जंगलों में ट्रैक्टर चलकर नये खेतों का निर्माण कर रहे हैं, वहाँ भी हमारी कोई प्राचीन सांस्कृतिक निधि प्राप्त हो सकती है। गढ़वाल जैसे पहाड़ी प्रदेश में अभी इसी साल लोग जब पुराने चश्मे को खोदकर उसकी मरम्मत कर रहे थे, उस समय उनको वहाँ एक बड़ी सुन्दर पुरानी पत्थर की मूर्ति मिली। हर जगह इस तरह की सम्भावना है। सवाल यह है कि 32 हजार की रकम बन्द करके उत्तरप्रदेश की सरकार इन सामग्रियों की रक्षा का प्रयत्न करनेवाले विभाग को तोड़कर एक भारी पाप कमाने के लिए क्यों उतारू है ? चाहिए तो यह था कि इस विभाग को और भी सबल बनाया जाता और प्रदेश में जहाँ भी धरती के भीतर या ऊपर प्राचीन सामग्री मिलने की सम्भावना होती, वहाँ के बारे में जानकारी प्राप्त की जाती। सरकारी और अर्ध सरकारी लोक निर्माण कार्य करनेवालों को ही नहीं, बल्कि दूसरों को भी इस बात के बारे में सरल भाषा में छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ वितरित करके सजग किया जाता और पुरातत्त्व मर्मज्ञों को मैजिक लैंटर्न के साथ सार्वजनिक व्याख्यान देने के लिए प्रेरित किया जाता, जिसमें बहादुराबाद जैसा काम दूसरी जगह न होने पाता।

सरकार को ऐसी उपेक्षा नहीं दिखानी चाहिए, इसके लिए हमें जोर देना चाहिए और आशा रखनी चाहिए कि ऐसा करके वह हमारे प्रदेश को लांछित नहीं करेगी। केन्द्रीय सरकार ने जब देखा कि उसका पुरातत्त्व विभाग हर जगह पहुँचने और काम करने में असमर्थ है, तो उसने प्रादेशिक सरकारों में भी अपने बोझ को बाँटा। इसके साथ ही हमारे शिक्षित और संस्कृत भाई-बहनों को भी अपना कर्तव्य पालन करना है। इस पुरातन सामग्री को जान-बूझकर नष्ट होने देना वैसे ही है, जैसे कोई ताज या अजन्ता पर तोप लगाकर उसको नष्ट-भ्रष्ट करने की कोशिश करे। जहाँ भी पुरातत्त्व की कोई सामग्री प्राप्त हो, उसे बहुत सुरक्षित करने का प्रयत्न करना चाहिए और दूसरे भाइयों को भी इसके बारे में बतलाना चाहिए। वह समय भी आयेगा जब कि हमारा प्रत्येक भाषाभाषी जनपद अपने इतिहास के लिए सुन्दर संग्रहालय बनायेगा। भोजपुरीभाषी, अवधीभाषी तथा दूसरे जनपदों में जब अपनी भाषा, अपने साहित्य, अपने इतिहास के लिए जागृति उत्पन्न हो जायगी और लोगों का सांस्कृतिक और आर्थिक तल ऊँचा हो जायगा तो ऐसे संग्रहालयों का होना अनिवार्य है। उस समय तक यदि हमारी उपेक्षा से कितनी ही सांस्कृतिक निधियाँ नष्ट हो गयीं तो उनके रिक्त स्थानों को हम कहाँ से पूरा करेंगे ?

21

इतिहास का अध्ययन

मनुष्य जिज्ञासा का पुतला है। उसकी जिज्ञासाएँ अर्थकरी भी होती हैं, अनर्थकरी भी और व्यर्थ की भी। पर यह तो निश्चित ही है कि पिछले पाँच लाख वर्षों में जो पशु से आज की स्थिति में वह आया है, वह इसी जिज्ञासा की पूर्ति के सत्प्रयत्न के ही कारण। वह अपनी जिज्ञासाओं की पूर्ति के लिए कैसे-कैसे प्रयत्न करता रहा, इसे जानने की कुछ न कुछ जिज्ञासा हरेक प्रकृतस्थ पुरुष में होती है। इस पूर्ति के प्रयत्न में जो कुछ लिखा या कहा गया, या कहा जा रहा, या कहा जायेगा, वही इति-ह-आस (ऐसा ही था) है। इतिहास के अध्ययन से बौद्धिक लाभ होता है और आर्थिक लाभ में वृद्धि एक साधन है। इस प्रकार इतिहास के अध्ययन को केवल स्वान्तःसुखाय या परान्तःसुखाय नहीं कह सकते, पर वह है वस्तुतः सांस्कृतिक भूख आवश्यकताओं में से एक की पूर्ति करनेवाला, बहुत कुछ एक अच्छे मनोविनोद का साधन भी, जो सांस्कृतिक प्रगति के साथ-साथ और वांछनीय होता जायेगा। व्यक्ति और समाज जिन-जिन स्थितियों से गुजरा है, उनके किसी अंश की जानकारी का प्रयत्न भूख और उसका समाधान अपने शैशवकाल से ही मनुष्य को रहा है। उसी की तृप्ति के लिए वीरों की गाथायें बनीं। पहिले इतिहास की कथाएँ बच्चों की प्रिय कथाओं की तरह ही सुनी और दुहराई जाती रहीं। उनको यथार्थ रखने का प्रयत्न नहीं हुआ, क्योंकि शिशुमानव को रोटी-परिधान-शरण यथार्थ चाहिए था--इनके बारे में वह यथार्थवादी था—पर इससे वाहर के मनोरंजन के साधनों के प्रति यथार्थवादी होने की वह माँग नहीं करता था। कविता में ऐसा दृष्टिकोण मानव में सदा कुछ-न-कुछ रहेगा, पर आज हम देख ही रहे हैं, लोग यथार्थवादी रचनाओं को जितना पसंद करते हैं, उतना दूसरी को नहीं। इतिहास में तो यथार्थवाद से एक जौ भी इधर-उधर होने को क्षम्य नहीं माना जाता। यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि हमारे इतिहासलेखक इस कसौटी पर जरूर ही ठीक उतरने की कोशिश करते हैं। पर, वह जो भी लिखते हैं, उसे यथार्थवाद का चोगा जरूर पहिनाना चाहते हैं।

ऐतिहासिक यथार्थवाद की रक्षा तभी हो सकती है, जब कि इतिहास उस सामग्री पर आधारित हो, जो कि व्यक्ति या वर्णित व्यक्ति या समाज की समसामयिक हो। समसामयिक चीजें अधिकतर भंगुर होती हैं, इसलिए जितने ही अधिक पुराने इतिहास में हम घुसते हैं, उसकी सामग्री कम होती जाती है। चाहे वह सामग्री कितनी ही कम क्यों न हो, पर प्रत्यक्षदर्शी होने से सर्वोपरि साक्षी या प्रमाण वही हो सकती हैं। वही इतिहास की सर्वश्रेष्ठ कसौटी हैं। काल में आज से हम जितना दूर पीछे की ओर जाते हैं। मनुष्य और उसकी बनाई तथा उपयुक्त सामग्री उतनी ही मात्रा में कम होती है। और उसको खोज निकालना और भी कठिन होता जाता है। मैदानी नदियों की उपत्यकाओं में उनकी लाई मिट्टी तथा वर्षा द्वारा फैलाई मिट्टी तह-पर-तह जमती पुराने मानव-अवशेषों को ढाँकती जाती है। यह तह गंगा की उपत्यका में हमारे उत्तरप्रदेश और बिहार में प्रति शताब्दी आध फुट (छः इंच) के हिसाव से पड़ती गई है। इसका यह अर्थ हुआ कि यदि हम धरती के उस स्तर को देखना चाहते हैं, जिस पर आज से ढाई हजार वर्ष पहिले बुद्ध बिचरे थे, तो हमें आज के तल से साढ़े बारह फुट नीचे के तल पर पहुँचना पड़ेगा। उस तल पर जो भी मानव-निर्मित सामग्री मिलेगी, वह बुद्ध के समसामयिक मानवसमाज द्वारा निर्मित और उपभुक्त होगी, वह उस समय की हरेक बात की प्रत्यक्षदर्शी साक्षी होगी। और ऐसी साक्षी जिसे विकृत नहीं किया जा सकता। जिस तरह बार-बार नये लेखनसाधनों और लेखकों द्वारा लिखे जाते ग्रंथ मूल से भिन्न होते जाते देखे जाते हैं, उस तरह उत्खनन में प्राप्त सामग्री के साथ नहीं किया जा सकता। जान-बूझकर या संयोग से गड्ढा खोदते समय कोई चीज यदि वहाँ पहुँच जायेगी भी, तो वह किसी विस्तृत तल तक बिखरी नहीं रहेगी, और पारखी आँखें उस अजनबी को पहिचान भी लेंगी। ऐतिहासिक जाल बनाने के लिए कोई भारी धन और श्रम व्यय करके पोरिसोंकर्ज एकड़ जमीन को पोरिसों गहरी खोदकर ऐसी जालसाजी नहीं करेगा। साक्षाद्दर्शी सामग्री के सम्बन्ध में जालसाजी की गई है। कितने ही ताम्रपत्र जाली मिले

हैं। इतिहासकार जायसवाल को किसी ने उड़ीसा से सूचित किया था कि वहाँ अशोककालीन ब्राह्मी में एक तालपोंथी मिली है। उन्होंने उसी समय कह दिया कि वह जाली होगी। बाईस-तेईस शताब्दियाँ पार करना हमारे देश में तालपत्र के लिए संभव नहीं है। अधिक आग्रह करने पर देखा, वही वात निकली। पिछले सौ वर्षों में जव से प्रिन्सेप के प्रयत्न से व्राह्मी लिपि पढ़ी जाने लगी, तब से उसके जानकारों और लिखनेवालों की कमी नहीं है। किसी ने ब्राह्मी लिपि में तालपोंथी लिखकर उससे खूब रुपया पैदा करना चाहा। पर वह उस समय की भाषा कहाँ से लाता, और उससे भी असंभव था, उस समय का तालपत्र और मसी पैदा करना। जाली तालपत्र और मसी का वैज्ञानिक विश्लेपण कलई खोल देता। इसे कहने की आवश्यकता नहीं कि उस तालपोथी की कलई खुल गई। मुगलकालीन चित्रों में ऐसी जालसाजी वहुत प्रचलित है। म्यूजियम और देशी-विदेशी निजी संग्राहक अच्छे दाम पर ऐसे चित्रों को ले लेते हैं, इसलिए ऐसे चित्रों को बनाने-बेचने का रोजगार चल पड़ा है। कितने ही पुरानी चीजों के व्यापारी पुराने स्थानों से मूर्तियों को पैसे देकर जैसे हो तैसे प्राप्त कर अच्छे दामों पर बेंच देते हैं। जिस तरह बाजार में दवाइयों और खाने की चीजों तक में जाल-फरेब किया जा रहा है, उसे देखते भला यह पुरानी चीजों के व्यापारी शक्य होने पर क्या जालसाजी से बाज आयेंगे ? ऐसे व्यापारियों से हमारे देश की ऐतिहासिक निधियों को वहुत क्षति हुई है, और अब भी हो रही है। वह उन्हें विदेशियों के हाथ में वेंच देते हैं, जिनमें से कुछ उन्हें अपने संग्रह में रखते हैं और कुछ खूव नफे पर अपने यहाँ के म्यूजियम को बेंच देते हैं। एक और अनर्थ यह होता है कि इन चुराई हुई चीजों के प्राप्य स्थान बहुधा फरजी बतलाये गए रहते हैं, इसलिए स्थानभ्रष्ट होने से वह किसी स्थानीय इतिहास पर प्रकाश डालने में असमर्थ होती हैं।

समकालीन अर्थात् प्रत्यक्षदर्शी सामग्री ही पुरातात्विक सामग्री कही जाती है। हमारा वही इतिहास सच्चा है, जो ऐसी सामग्री का आधार बना कर चलता है। यह सामग्री ऐतिहासिक काल की भी हो सकती है और प्रागैतिहासिक काल की भी। हमारे देश में अभी प्रागैतिहासिक काल पर काम नहीं सा हुआ है। रूस, जर्मनी आदि देशों में ऐसे विद्वान मिलते हैं, जो अपना सारा समय प्रागैतिहासिक काल के अध्ययन में लगाते हैं। हमारे देश में अभी प्रागैतिहासिक काल के विशेषज्ञ पैदा होने को हैं। इतिहास का काल और सामग्री का इतना विस्तार है कि कोई उसका सर्वज्ञ नहीं हो सकता। पुरातात्विक सामग्री के आधार के बिना पौराणिक गाथाओं को ले कल्पना के सहारे इतिहास नहीं लिखा जा सकता। हरेक लेखक को यह याद रखना चाहिए कि हमारी कृतियों की सत्यता ही अगली पीढ़ियों तक हमारे प्रयत्न के फल को पहुँचायेगी। यहाँ कोई सिफारिश या तिकड़म नहीं चल पायेगा।

जिस देश का इतिहास जितना पुराना है, उसकी पुरातात्विक सामग्री भी उतनी ही अधिक तथा प्रचुर परिमाण में प्राप्त होनी चाहिए। सिन्धु-उपत्यका की सांस्कृतिक निधियों के उद्घाटन ने हमारे इतिहास को एकाएक 5000 वर्ष पहिले पहुँचा दिया। सामन्तयुगी ही ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक काल की सीमा हो सकता है, क्योंकि तभी से हम काल को सन्-संवत् में साफ तौर से जान सकते हैं। इसी समय से समसामयिक अभिलेख मिलते हैं, जो निश्चित तिथि बतलाने में सहायक होते हैं। धरती के भीतर छिपी सामग्री किसी समय भी प्रकट होकर देश के इतिहास की सीमा को और पीछे ढकेल सकती है। अभी हमारे देश का इतिहास-काल आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व बुद्ध के समय जाकर खत्म हो जाता है। मिस्र और मसोपोतामिया का इतिहास उससे दूने काल का है, क्योंकि वहाँ उसके निश्चायक अभिलेख मिले हैं। सिन्धु-उपत्यका की संस्कृति के अभिलेख मिले हैं, किन्तु अभी वह पढ़े नहीं गए हैं। उसके पढ़ लेने के दावेदारों में से एक उसी लेख को द्रविड भाषा में पढ़ रहा है, और दूसरा संस्कृत में और सो भी उन भाषाओं के नातिप्राचीन रूप में।

हमारे काल और देश में अतिविशाल महादेश के इतिहास पर प्रकाश डालनेवाली सामग्री के प्रति विशेषज्ञों ही नहीं, साधारण शिक्षित जनता को भी जागरूक रहने की आवश्यकता है, तभी हम अपने इतिहास को अधिक प्रामाणिक रूप में गहरा और विशाल देख सकते हैं। इतिहास का सभी काल रोचक और ज्ञानवर्धक हो सकता है। यह जरूरी नहीं कि हम अति प्राचीन इतिहास को ही सब कुछ समझ लें। बिखरे हुए टीकरे अलग देखने पर वह अपनी कहानी नहीं बतला सकते, उनके मुँह से पूरी कहानी तभी सुनी जा सकती है जब कि वह जोड़

दिए जायें। इतिहास के यह ठीकरे वर्तनों के ठीकरे भी हैं। आदमी के हाथ से कटे-गढ़े ईंट-पत्थर तो और भी अधिक महत्त्व रखते हैं···शिलालेख, ताम्रलेख और सिक्कों के वारे में तो कहना ही क्या ?

गाँवों में पुरानी आबादी के अवशेष या डीह ऐसी चीजों की खानें हैं। बरसात में जब उनकी मिट्टी धुल जाती है या कहीं कटाव हो जाता है, उस समय सिक्के और दूसरी चीजें वाहर निकल आती हैं। पुराने गाँवों में जब किसी नये मकान के लिए नींव खोदी जाती हैं, तब भी कोई मूर्ति निकल आती है। ग्राम-देवताओं के स्थान में अवश्य दो-चार पुरानी टूटी-फूटी मूर्तियाँ रक्खी मिलती हैं। कभी-कभी तो वहाँ दो हजार वर्ष से अधिक पुरानी भी मौर्य और शुंगकाल की मूर्तियाँ पड़ी मिलती हैं। यह मूर्तियाँ अरक्षित रहती हैं। न वह घर के अन्दर होती हैं न ताले के अन्दर सुरक्षित। पिछले सौ सालों में ऐसी कितनी ही आरक्षित मूर्तियाँ उठ कर समुद्र पार पहुँच गईं। अब जब कि गाँवों में ग्राम पंचायतें कायम होती जा रही हैं, उन्हें चाहिए कि अपनी सांस्कृतिक निधियों को लुप्त होने न दें। जनपदी मातृभाषाओं की प्रादेशिक इकाई की भावना दिन पर दिन प्रबल होती जा रही है। चाहे दिल्ली के देवता कितना ही शाप देते रहें, अपनी मातृभाषा और मातृ संस्कृति के प्रति लोगों का प्रेम कम नहीं हो सकता। हरेक जनपद की भाषा और उसके लिखित और अलिखित साहित्य की तरह ही सांस्कृतिक-पुरातात्विक सामग्री भी महत्त्व रखती है इसलिए उसके संग्रह की ओर ध्यान देना चाहिए। मातृभाषानुसार यदि ये प्रदेश नहीं तो एक युक्तप्रदेश बना देने चाहिएं। उदाहरणार्थ मध्य भारत को मालव-दशार्ण का रूप देकर उसके भाषानुसार भू-भाग को उपप्रदेश बना देने पर शिक्षा की तरह संस्कृति के उद्‌बोधन और उत्थान में बड़ी सहायता हो सकती है। इसके कारण देश के छिन्न-भिन्न होने की बात या तो अनाड़ी करते हैं या न ठौर-ठिकानेवाले इन्दो-आंग्लियन लोग। प्रदेशों के कारण भारत की एकता खतरे में नहीं होगी, बल्कि मातृभाषाओं के स्वत्व के न स्वीकार करने पर उसे खतरा हो सकता है। अस्तु, अपने भौतिक आधारों और सामग्री के सहारे इतिहास के अध्ययन की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए और सामग्री की रक्षा और संग्रह का काम हरेक शिक्षित और संस्कृत व्यक्ति का कर्तव्य माना जाना चाहिए।

22

कुरुदेश के ठापे

पर्व-त्योहार, ब्याह-शादी के समय मंगल-चिह्न दीवार में या भूमि पर अंकित करना बहुत पुराना रिवाज है। भारतवर्ष के किसी भी भाग में चले जायें, हिन्दुओं के घरों में ऐसे चिह्नों को अंकित पायेंगे। अब भी इन चिह्नों में अपने भावों के प्रकट करने की शक्ति है, लेकिन उनकी कला का ह्रास लोगों की कला के प्रति रुचि और अरुचि के अनुसार कम-वेसी रूप में देखने में आता है। धरती पर अंकित किये जानेवाले चित्रों को चौका या रंगोली (रंगवल्ली) कहते हैं, और दीवारों पर अंकित किये चित्रों को थापा या ठापा कहते हैं। हरेक बड़े त्योहार या शादी-ब्याह में भिन्न-भिन्न प्रकार के थापे अंकित किये जाते हैं। इनमें से कोई केवल लाल या सफेद रंग के बनाये जाते हैं और कुछ में कई और रंगों का मिश्रण होता है। कहीं-कहीं जनपद के अनुसार थापों में भेद देखा जाता है, लेकिन हमारी कई जातियाँ अनेक जनपदों में बिखरी हुई हैं, और उनके थापों में कितनी ही समानता भी होती है। कुछ हिन्दी की कहानियों और गीतों को जमा करते समय मैंने उनसे कुछ थापे भी लिए थे, जो अगरवालों की राजवंशी शाखा के कहे जा सकते हैं। दूसरी शाखाओं से इनमें भेद भी हो सकता है। अघोई कातिक महीने में दीवाली से एक सप्ताह पहलेवाली अष्टमी को होता है। उस दिन महिलाएँ, विशेषकर पुत्रवती माताएँ अघोई माता की बड़ी श्रद्धा से पूजा करती हैं। एक विशेष प्रकार का थापा भीत पर बनाया जाता है। पूजा के साथ अघोई माता की कहानी भी कहने-सुनने का माहात्म्य है। कुरु जनपद मेरठ कमिश्नरी के दक्षिणवाले इलाके में यह कहानी निम्न प्रकार कही जाती है–

" देवरानी-जेठानी छः रानियाँ थीं। बच्चे छओं के होते थे, पर छोटी रानी के लड़के बरस भर के होते-होते अघोई-आठें को मर जाते थे। इसी प्रकार सात बच्चे पैदा हुए और मर गए। आठवाँ पैदा हुआ। छठी की रात को बेमाता आई। माँ ने उसके पैर पकड़ लिये। बहुत गिड़गिड़ाकर उसने बेमाता से आठवें पूत के जीवन की भीख-माँगी। बेमाता द्रवित हुई और बोली–'बेटी, यह मेरे बस की बात नहीं है। अब अघोई-आठें को स्याउ-माता आवेंगी। उसी के हाथ में सब कुछ है। तू आठ नाँदों में मिठाई, खीर, फल आदि भरवा रखना। वह एक-एक को वड़े मन से खाकर अघा जायेगी। आठवीं नाद के बाद चारपाई बिछाकर बिस्तरा लगा रखना। स्याउ-माता खा-पीकर थक गई रहेगी और चारपाई देखकर वहाँ सो जायेगी। फिर धीरे-धीरे उसके पैर ना-ना करने पर भी दवाते रहना। साथ ही बच्चे को चिउँटी काटकर जब-तब रुला देना। स्याउ-माता के पूछने पर तब तक कुछ न कहना, जब तक वह तिरवाचा न भर दे। स्याउ-माता से तिरवाचा भरवाकर कहना–बच्चा तुम्हारे कान की फुरेरी माँगता है। स्याउ-माता फुरेरी दे देगी। फिर तू एक नहीं, आठ जीते पूतों की माँ हो जायेगी।'

" बेमाता छठी की रात को आकर चली गई। बच्चा बढ़ने लगा। कातिक का महीना, अघोई-आठें का सबेरा आया। पाँचों जेठानियों ने कहा–'जल्दी-जल्दी अघोई-आठें पूज लें, नहीं तो सदरोई (सदा रोनेवाली) रोने लगेगी।' वे जानती थीं कि अघोई माता देवरानी के आठवें बच्चे को उठा ले जायगी और वह फिर रोना-धोना शुरू करेगी। लेकिन उनकी देवरानी ने अबकी बड़ी तैयारी की थी। आठों नादें मधुर भोजनों से भरी थीं। सुन्दर पलँग पर साफ नरम बिछौना विछाया था। स्याउ-माता आई। नाँद में बढ़िया मिठाई देख कर लपक पड़ी। खूब खाया। अगली नाँद में उससे भी अच्छा, तीसरी और आगे की नाँदों में और अधिक स्वादिष्ट भोजन था। अघोई माननेवाली नहीं थीं, वे खाती ही रहीं। आगे बिछी चारपाई देखकर उस पर पड़ रहीं। रानी ने बैठकर पैर दबाना शुरू किया। अघोई माता चलने को तैयार हुई, तो रानी ने कहा–'जरा बालों में तेल डाल दूँ, खुले सिर न जाइए।' रानी ने बालों में तेल डाला। फिर बाल काढ़ने लगी और साथ-साथ बच्चे को चिउँटी भी काटती जा रही थी। बच्चा रोने लगा, तो स्याउ-माता ने रोने का कारण पूछा। रानी ने कहा–'काहे को पूछती हो ? जो वह माँगता है, उसे क्या तुम दोगी ?' स्याउ-माता ने कहा--'दूँगी।' रानी ने तिरवाचा भरवाकर कहा–'यह तुम्हारे कान की फुरेरी माँगता है।' स्याउ-माता देती नहीं तो क्या करतीं ! फुरेरी देते ही पहले के सातों मरे लड़के एक-एक करके धरती पर कूद पड़े। स्याउ-माता ने कहा–'तूने मुझे ठग लिया।'

" रानी के आँगन में आठों लड़के खेलने लगे। उसकी खुशी का क्या कहना। उसने दरजी बुलवाये कपड़े सीने के लिए, गाना-बजाना करनेवाले बुलाये नाच-उत्सव मनाने के लिए, हलवाई बुलाकर पापड़ी-पूआ तैयार करवाने लगी। मान, बूआ, ननद आदि को देने के लिए पापड़ी, पूआ, साड़ी, बर्तन, रुपये आदि आठों चीजें तैयार होने लगीं। जेठानियाँ पूजा कर चुकीं, लेकिन सदरोई के रोने की आवाज नहीं सुनाई पड़ी। उन्हें बड़ा अचरज हुआ। उन्होंने यह कह कर के बच्चों को भेजा कि देखो तो, चाची रोती नहीं, उसके घर में क्या हो रहा है ? बच्चों ने जाकर देखा। वहाँ खूब गाना-बजाना हो रहा था। हलवाई की भट्टी चल रही थी। आँगन में आठ-आठ बच्चे खेल रहे थे। छोटी रानी ने जेठानियों के बच्चों को भेजकर उनकी माताओं को बुलाया, खिलाया-पिलाया। स्याउ-मैया ने जैसा उसका किया, वैसा सबका करे। "

अघोई की पूजा कुरु से जनपद में भी होती है, जो रामनमाई 'होईमाई' की पूजा बतलाती है। रामनमाई होई की कहानी छोटी-सी है, जैसे–

" होई के दिन नणद-भावज दोन्नों मट्टी लेणे गईं। खुदाणे में नणद ने जो खुरपा मारा, तो स्याव के बच्चे निकले सात। नणद ने सातों ई बच्चे मार दिए, पिच्छे से होई लिकली। उनने क्या–मेरे सात्तो ई बच्चे तन्ने मार दिए, मैं तुझे खाऊँगी। जद भावज ने क्या–इसे तो तू खावे मती, यो तो सात भइयों की एकई भैन्ना है। इसके बदले में जो मेरे बच्चे होंगे उने तू लेती रइये।

" उनने अपणे सातों बच्चे होई कू दे दिए। होइ ने क्या–'तू बौत ईमानदार है। तन्ने अपणी नणद के बदले कोख के बच्चे दे दिए। मैं तूझकू तेरे सत्तों ई बच्चे देत्ती ऊँ। "

भिन्न-भिन्न जातियों और जनपदों के थापों और चौकों की तुलना से हम थापों के ही सम्बन्ध को नहीं, बल्कि उन लोगों के सम्बन्ध को भी कुछ-कुछ जान सकते हैं, जिनके यहाँ यह प्रचलित है। थापों के चिह्न-संकेत उसी तरह हमें प्रागैतिहासिक काल में ले जाते हैं, जिस तरह गोदने और दूसरे संकेत भी। कोई आश्चर्य नहीं, यदि इनमें से कुछ हमारे पुराने पंचमार्क सिक्खों से होते सिंधु-उपत्यका के संकेतों तक पहुँच जायें। यहाँ हमने होई या घोई के माहेश्वरियों, अग्रवालों और राजवंशियों के तीन तरह के थापे दिए हैं। और थापे निम्न प्रकार हैं--

1. नागपंचमी 2. सावन पूरनमासी 3. होई 4. दीवाली 5. कातिक एकादशी 6. आठें थापा 7. देवी का थापा 8. नवमी का थापा 9. ब्याह का थापा 10. शादी का चौका

23
गढ़वाल प्रदेश

'गढ़वाल प्रदेश' इस शब्द को सुनकर हमारे कुछ भाई चिहुँक उठेंगे। भाषानुसार प्रदेशों के आठ विभाजन को ये लोग समझते हैं कि यह वैसा ही काम है, जैसा भारतवर्ष को हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के दो टुकड़ों में बाँट देना। यदि उनकी यह धारणा ठीक है, तब तो हमारे विशाल देश में प्रदेशों का होना ही ठीक नहीं। अबुद्धिपूर्वक देश में यदि 28-29 प्रदेश बना दिए जायें, तब इन हजरतों को कोई उजुर नहीं, लेकिन भाषानुसार यदि स्वाभाविक प्रदेशों के कायम होने की बात कही जाय, तो देश का खंड-खंड हो जाना बतलाया जाता है। यदि जनता के राज्य की बात केवल जबानी न होती, बल्कि उस पर हमारे नेताओं का पूरा विश्वास होता, तो सबसे पहले वह भाषानुसार प्रदेशों को कायम करने के लिए तत्पर होते। यह ख्याल रखना चाहिए कि भाषानुसार प्रदेश केवल भावुकता की बात नहीं है, बल्कि यह बिलकुल व्यवहार की बात है। क्या यह स्वाभाविकता नहीं है कि गढ़वाल के दुर्गम पहाड़ों में सड़कों और यातायात के सुगम साधनों से बहुत दूर बसे गाँवों के लोग अपनी पंचायतों या पंचायती अदालतों में जब किसी अपनी समस्या या मुकदमे के ऊपर विचार करें, उस वक्त वादी, प्रतिवादी, गवाह और स्वयं पंच तक सारी बातचीत अपनी गढ़वाली भाषा में करें, और फिर उसे जन-साधारण के लिए दुरूह बनाते हुए हिन्दी में लिखें।

पंचायती शासन में जिस तरह मातृभाषा की अत्यन्त आवश्यकता है, उसी तरह सार्वजनिक शिक्षा के लिए भी मातृभाषा का सहयोग अनिवार्यतया आवश्यक है। मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम मान लेने पर फिर किसी भाषा और उसके व्याकरण के सीखने के लिए एक मिनट भी देने की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि कोई भी बालक अपनी मातृभाषा के बोलने में व्याकरण की गलती कर ही नहीं सकता। वस्तुतः मातृभाषा वही है, जिसमें व्याकरण की गलती करना सम्भव नहीं है। यदि हम गढ़वाल के प्रारम्भिक स्कूलों में गढ़वाली को माध्यम बना दें, तो भाषा सीखने के लिए खर्च होनेवाला समय भी ज्ञान के लिए इस्तेमाल होगा, और वह बहुत सुगम हो जायेगा। हमारी निरक्षरता पूरी तौर से दूर तभी हो सकती है, जब कि मातृभाषा को अत्यावश्यक प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम बना दिया जाय। प्रारम्भिक अर्थात् पाँच साल की पढ़ाई को मातृभाषा में करके, उसके बाद की शिक्षा आप हिन्दी में दे सकते हैं। लोगों की एक भारी संख्या प्राइमरी की पढ़ाई तक ही रह जाती है, आगे जानेवालों के लिए हिन्दी का माध्यम ज्यादा लाभदायक होगा, क्योंकि इसके लिए सैकड़ों शाखाओं में बँटे ज्ञान-विज्ञान के लिए पाठ्य तथा दूसरी पुस्तकें तैयार करना आसान है, और वह धीरे-धीरे होता जा रहा है।

पंचायती शासन और सार्वजनिक शिक्षा में सहायक के तौर पर ही गढ़वाली भाषा का महत्त्व नहीं है, बल्कि यह भाषा हिमालय के अनेक खण्डों--नेपाल, कूर्माचल, कुमाऊँ, केदारखण्ड, गढ़वाल, जालंधर खंड, हिमाचल-प्रदेश और कश्मीर--में से एक अत्यन्त प्राचीन प्रदेश की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है। अखण्ड

भारत या और किसी नारे से आप एक सांस्कृतिक इकाई को न लुप्त कर सकते हैं, न वह वांछनीय है। भारतीयों की भारतीयता विलकुल खोखली, जमीन की नहीं वल्कि हवाई चीज होगी, उसकी जड़ अपने प्रदेश में, उसकी भाषा और संस्कृति में निहित नहीं है। जिसमें अपने प्रदेश की प्रदेश के साथ--अर्थात् अपनी भाषा और संस्कृति के साथ—घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं वह भारतीय कैसा ? यदि भाषानुसार वंगाल, उड़ीसा, आन्ध्र और आसाम के प्रदेशों के बनने से भारत की अखण्डता में कोई फर्क नहीं आता, तो जनतांत्रिक भारत में भाषानुसार दूसरे प्रदेशों के बनाये जाने में आपत्ति क्या ? हमें आज नहीं तो कल अवश्य अपने हिन्दीवाले विशाल भूखण्डों को भी भाषानुसार प्रदेशों में बाँटना पड़ेगा, यदि सचमुच शासन, शिक्षा, संस्कृति और आर्थिक विकास में जनता को भागीदार बनाना है। मिथिला, तिरहुत, मगध, भोजपुर, अवध, ब्रज, बुन्देलखण्ड, मालव, राजस्थान, कुरु, हरियाणा, हिमाचल-प्रदेश, गढ़वाल, कुमाऊँ आदि के भाषानुसार प्रदेश बन जाने से हमारे राज-काज और ऊँची जगहों पर एक तरह की गहरी आत्मीयता हर बात में प्रकट होगी और भिन्न भाषा के नेताओं के प्रति आज जो सन्देह और वैमनस्य की भावना देखी जाती है, वह लुप्त हो जायगी। हिन्दीवाले भू-भाग को चाहे तो आप बिहार, उत्तरप्रदेश, विन्ध्यप्रदेश, मध्यप्रदेश, मध्यभारत, राजस्थान, अजमेर, भोपाल, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश को तोड़कर केवल एक प्रदेश बना दें, यदि आपका आग्रह है कि यह सारे लोग हिन्दी भाषा-भाषी हैं, और नहीं तो आज की अबुद्धिपूर्वक बनी इन सारी इकाइयों को हटाकर उनकी जगह भाषानुसार प्रदेश स्थापित करें। यदि हिन्दी के कारण हुई एकता का बहुत आग्रह है, तो पूर्णिमा से जैसलमेर और वदरीनाथ से छत्तीसगढ़ के भूभाग को एक प्रदेश बना दें और इसके भीतर की भाषानुसार इकाइयों को उपप्रदेश (उप-राज्य) बना डालें। सोवियत रूस में रूसी फेडरल गणराज्य एक इसी तरह की राजनीतिक इकाई मौजूद ही है।

प्रदेशों के बढ़ने से शासन-व्यय के बढ़ने का बहाना बिल्कुल खोखला है, खास कर उन लोगों की तरफ से जो अजमेर, भोपाल, हिमाचल-प्रदेश, त्रिपुरा, मणिपुर आदि छोटे-छोटे सूबों को रखने में आपत्ति नहीं करते। फिर अंग्रेजों की देखादेखी उनके ही जमाने के खर्चीले गवर्नरों की हमें क्या आवश्यकता ? हम अपने-अपने प्रदेशों के लिए चुने हुए कम खर्च के महा-पंच रख सकते हैं। पहले खर्च बढ़ाने का इन्तिजाम पक्का कर लेना फिर उसी को बहाना बनाकर भाषानुसार प्रदेशों की रचना पर आपत्ति करना इसका क्या अर्थ है ? अंग्रेजों की खर्चीली शासन-मशीन को हमें अवश्य बदलना पड़ेगा, नहीं तो देश का दिवाला निकले बिना नहीं रहेगा।

हिन्दी क्षेत्र में भाषानुसार प्रदेशों के बनने से हिन्दी को कोई क्षति नहीं होगी। इन प्रदेशों में जहाँ-जहाँ भी जागृति हुई है और लोग अपनी मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने की माँग कर रहे हैं, वह अपर प्राइमरी तक के लिए ही। आगे माध्यमिक और उच्च-शिक्षा हिन्दी में हो, इसमें किसी को आपत्ति नहीं है, क्योंकि इसके कारण ज्ञान-विज्ञान के पूरे क्षेत्र में हमारे लिए सुगमता हो जाती है। हिन्दी का अपना स्थान सुरक्षित रहेगा, इसमें सन्देह नहीं।

भाषाएँ अपनी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती हैं, इन संस्कृतियों के संरक्षण और प्रचार के लिए रेडियो, अखबार आदि बड़े सहायक होते हैं। हरेक प्रदेश के लिए एक-एक रेडियो स्टेशन होना आवश्यक है। हमारे रेडियो के धनी-धोरियों की नीति भी अन्धों जैसी है। अवधी, राजस्थानी और दूसरे कितने ही भाषा-क्षेत्रों में दो-दो रेडियो स्टेशन देने के लिए तैयार हैं, लेकिन गढ़वाली की कौन चलावे, ब्रज-भाषा का क्षेत्र भी रेडियो-स्टेशन से वंचित है। फिर वहाँ लोक-संगीत और लोकवार्ता के लिए कैसे कोई काम किया जा सकता है !

भाषानुसार प्रदेश का निर्माण जनता की माँग पर भी निर्भर करता है, यह आन्ध्रवालों ने दिखला दिया। अंग्रेजों के धर्मपुत्र लाख विरोध करते रहे, लेकिन अन्त में आन्ध्र जनता की माँग को नाक रगड़कर उन्हें मानना पड़ा। गढ़वाली जनता अगर अपनी भाषा के अनुसार प्रदेश की माँग करे, तो कोई रोक नहीं सकता।

24
पहाड़ी दीवाली

'तीन लोक से मथुरा न्यारी' की कहावत ठीक उतरती है, जब हम दीवाली को किसी जगह कातिक की जगह अगहन की अमावस्या को मनाते देखते हैं, लेकिन टेहरी के लोगों का ऐसा करना एक विशेष कारण से है। आज सैकड़ों वर्ष पहले इन पहाड़ों के सीधे-सादे लोगों को माधव भंडारी नामक एक नेता मिला था। वह यद्यपि राजा का कर्मचारी था, किन्तु साथ ही उसने जनता के स्नेह को भी प्राप्त किया था। दरबार में किसी ने चुगली कर दी और भण्डारी को बुलाने के लिए राजा के आदमी आ गए। उस दिन दीवाली की तैयारी हो रही थी जब कि भंडारी को पकड़ ले गए। लोगों ने दीवाली मनाना छोड़ दिया। माधव के सम्बन्ध में इधर बहुत-से जनगीत बने हुए हैं, जिनमें प्रिय नेता के प्रति जनभावना को प्रकट किया गया है। किस तरह राजा के बुलौवे को लोगों ने संदेह की दृष्टि से देखा और निश्चय होते ही उन्होंने गूँधे आटे को वैसे ही छोड़ दिया। लोगों ने दीवाली तभी मनाई, जब अगहन की अमावस्या को उनका प्रिय नेता लौट आया। यह अगहन की दीवाली जौनपुर और टेहरी जिले के कुछ और इलाकों में मनाई जाती है। हमको जब इसका पता लगा तो 29 नवम्बर 1951 दीवाली के दिन हम कंडी गाँव को चल पड़े। मसूरी क्या, सारा देहरादून जिला पहले गढ़वाल राज्य में था। जब गोरखों द्वारा उच्छेदित गढ़वाल राजवंश ने अपनी सेवाओं के लिए फिर राज्य को प्राप्त किया, तो भी अंग्रेजों ने उसके पूर्वी भाग को ब्रिटिश गढ़वाल बनाकर और पश्चिमी भाग देहरादून जिले को भी हर लिया। यह भूभाग टेहरी रियासत के नाम से अभी दो साल पहले तक बना रहा। फिर उसे उत्तरप्रदेश का एक जिला बना दिया गया। मालूम ही है कि हाल के निर्वाचन में यहाँ से उत्तरप्रदेश की विधानसभा के लिए चुने जानेवाले तीन आदमियों में एक भी कांग्रेस का नहीं चुना गया, तीनों ही स्थान टेहरी राज्यवंश या उनके आदमियों को मिले। पार्लमेंट के लिए भी राजमाता कमलेन्दुमती चुनी गईं। यद्यपि उस स्थान के लिए उनके बड़े कुमार खड़े हुए थे, लेकिन नामजदगी के कागज के रद्द हो जाने पर राजमाता का नाम ही रह गया, और वह बहुत वोटों से चुन ली गईं। यह बात दूसरी है कि राजमाता दिल्ली की पार्लमेंट में जाकर क्या करेंगी। अभी इसी चुनाव के समय वह मुँह खोलकर प्रजा के सामने वोट माँगने आई थीं, और बोलने के लिए दो-चार शब्दों के सिवा उनके पास कुछ नहीं था। लेकिन सभी सीटों पर कांग्रेस को हराकर टेहरी की जनता ने कांग्रेस के प्रति अपना रोष प्रकट किया, इसमें सन्देह नहीं। वस्तुतः कांग्रेसी सरकार ने उनके लिए उतना भी तो नहीं किया, जितना ब्रिटिश ने गढ़वाल के लिए, फिर वह उसकी किस करनी पर वोट देते।

मसूरी वस्तुतः पुनः स्थापित टेहरी राज्य का ही अंग था, जिसे गर्मियों के लिए अच्छा स्थान समझकर अंग्रेजों ने ले लिया और वहाँ डेढ़ सौ वर्ष से जंगल में मंगल होते हुए एक विलासपुरी कायम हो गई। मसूरी शहर में देखने से यह नहीं पता लगता कि यह किसी दूसरे भूखंड का अंग है। आसपास के लोग अपने दूध और साग-सब्जी बेचने के अतिरिक्त मसूरी से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। नौकर-चाकर भी यहाँ दूर-दूर से आते हैं और माल ढोनेवालों में तो सबसे अधिक संख्या पश्चिमी नेपाल के लोगों की है। बहुत कम को यह पता है कि मसूरी के पास जो जौनपुर का इलाका है, वहाँ अब भी पांडव-विवाह का रिवाज है। मसूरी नगर के बहुत नजदीक के गाँववाले भी बहुत थोड़ा ही अभी होशियार हो पाये हैं, अभी भी बहुत बातों में वह पिछड़े हुए प्राचीन पंथी हैं।

जौनपुर के लोगों की इस दीवाली को देखने के लिए हम नजदीक के गाँव कंडी के लिए रवाना हुए। गढ़वाल की और जगहों की तरह जौनपुर और जौनसार के भी पहाड़ जंगल काटकर नंगे कर दिए गए हैं, लेकिन मसूरी के पहाड़ जंगलों से नहीं वंचित हुए, इसीलिए हमें हैपीवैली से कंडी गाँव की सीमा तक जंगलों से होकर जाने में बड़ा आनन्द आया। रास्ता उतराई का था। पहले हम अपने दूधवाले हरि के घर पहुँचे। कुछ लोगों ने अब गाँव से अलग अपने खेतों में घर बना लिया है। हरि का घर भी वैसा ही है और वह

गाँव से आधा मील अलग बसा है। दीवाली का पहला रूप यहीं देखने में आया, जबकि हरि को चादर ओढ़े बाहर धूप में पड़ा देखा। दीवाली में शराब की बहार होती है। हरि ने भी आज सवेरे ही से पीना शुरू कर दिया था। खैरियत यह हुई कि उनका छोटा भाई और परिवार अभी होश-हवास में था। जब घर में शराब बनाने की छूट हो और दीवाली महारानी पधारें, तो कौन अभागा होगा, जो पीने से वंचित रहे। हाँ, हरि ने विशेषता यह जरूर की थी कि वह सवेरे ही काम में लग गए थे। यद्यपि चलने-फिरने में उनके पैर पूरी तरह सहायता नहीं कर रहे थे, लेकिन ऐसी बात नहीं थी कि वह ठीक से बात न कर सकें। पास में ढोल भी रक्खा था। हरि ने हमारे लिए चाय बनाने का हुकुम देकर गाना भी सुनाया। गाँव से बाहर रहने में यह तो जरूर था कि अकेला घर नाच, गान या पान का उतना आनन्द नहीं ले सकता था। लेकिन दोपहर बाद सब लोग कंडी में जानेवाले थे।

हरि के घर से हम उतरते हुए उस खड्ड पर गए, जिसका पानी आगे जाकर कैम्पटी के जलप्रपात के रूप में परिणत हो जाता है, और जिसे मसूरी के यात्री अक्सर देखने जाते तथा लौटते वक्त चढ़ाई की मार खाकर गालियाँ भी दिए बिना नहीं रहते। खड्ड से थोड़ा ही चढ़ कर कंडी गाँव आ जाता है।

कंडी में कोई साठ घर होंगे, जिनमें ब्राह्मण, राजपूत और शिल्पकार (अछूत) करीब-करीब बराबर संख्या में हैं। ब्राह्मणों और राजपूतों के चेहरों पर खस-मुखमुद्रा की छाप स्पष्ट दिखाई देती थी—लम्बी नुकीली नाक, गोरा रंग। यद्यपि यहाँ के ब्राह्मण-राजपूत प्राचीन खस जाति से ही सम्बन्ध रखते हैं, लेकिन पहाड़ की और जगहों की तरह कोई खस कहा जाना पसन्द नहीं करता। जहाँ उन्हें नीचे से आये राजपूतों और ब्राह्मणों के घनिष्ठ सम्बन्ध में आने का अवसर मिला, वहाँ उन्होंने अपने बहुत-से पुराने रीति-रिवाजों को छोड़ दिया है, जिसमें व्यायाम और मनोरंजन का सबसे अच्छा साधन नृत्य भी है। कंडी के सभी नर-नारी नृत्य को त्याज्य नहीं समझते, और न मदिरा को धर्मबहिष्कृत मानते। आज तो गाँव में गुजरते समय वेद की ऋचा याद आ रही थी : 'मधुवाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति, सिंधवः'। नदियाँ तो शायद मधु (मदिरा) नहीं बहा रही थीं, लेकिन कंडी की गलियों में मधुवात जरूर फैले हुए थे। इस महँगी के जमाने में, जब कि किसी गृहस्थ के घर में दो अतिथियों का आ जाना भारी जंजाल की बात है, वहाँ का हरएक घर मुक्तद्वार था, आगन्तुक के लिए पानचषक तैयार थे। पुरुषों में बहुत कम की आँखें थीं, जिन पर लाली ने असर न किया हो। दो-एक हमारे भी परिचित थे, उन्होंने बहुत आग्रह किया, लेकिन मैं तो इस जन्म के लिए मदिरा से वंचित हो चुका हूँ और अगले जन्म पर विश्वास नहीं रखता। मदिरा के अतिरिक्त ताजा चूड़ा भी आज की एक विशेष चीज है। और पूड़ी-पकवान के बारे में कहना ही क्या ! कंडी गाँव आसपास के खेतों में जरा-सा उभड़ी हुई एक छोटी-सी टेकरी के ऊपर बसा है। जैसे दूसरे पहाड़ी घर होते हैं वैसे ही इन घरों में भी भूमि और अवकाश का काफी मितव्ययिता के साथ खर्च किया गया है। राजपूतों ने हमें वह घर भी दिखलाया, जो गाँव का सबसे पुराना घर है, और जिसके ही निकले हुए आज एक दर्जन से ऊपर घर हैं। पाण्डव-विवाह में घर बढ़ना तो नहीं चाहिए, क्योंकि वहाँ तो हर पीढ़ी की एक ही पत्नी होती है, और खेती-बारी तथा घर-द्वार के बँटने की नौबत नहीं आती। लेकिन कंडी, जौनपुर या जौनसार तो पाण्डव-विवाह के छोटे-छोटे द्वीप हैं, जिनके चारों ओर पृथङ्-विवाह का महासमुद्र फैला हुआ है। किसी से उसके बारे में पूछने पर भी या तो वह इन्कार कर देता है, या हरि की तरह कहता है—'झूठ क्यों कहें, हमारे यहाँ सब भाइयों का साझे में विवाह का रिवाज है।'

हम लोग गाँव से बाहर के खेतों में गए, जहाँ होली जलनेवाली थी। होली-दीवाली का यह समागम भी एक विचित्र-सी बात है। लेकिन कंडीवाले अपने खेतों को काट चुके थे, बोये जानेवाले खेतों को बो भी चुके थे, अब उनको और जौनपुरियों या जौनसारियों की तरह खेतीबारी के काम से फुरसत थी। ऐसे समय अगर एक छोड़ दो त्योहार आ जायें, तो क्या हरज है। उत्सव-प्रिय तो यह लोग होते ही हैं। गाँव से बाहर कुछ घास-फूस जमा करके एक होली-सी खड़ी थी जहाँ कुछ पुरुष और अधिकतर लड़के जमा थे। हमारे सामने ही होली में आग लगाई गई, फिर पुरुषों ने वहीं खेत में नाचना शुरू किया। ढोलकिया ढोल बजा रहा था।

इसे कहने की आवश्यकता नहीं कि बिना पान के नाच में उतरना कोई नहीं पसन्द करता। लेकिन अभी यह गाँव का सामूहिक नाच नहीं था। वहाँ से हम फिर नाचनेवालों के साथ गाँव की तरफ लौटे।

नाच के अतिरिक्त इस सम्मिलित होली-दीवाली पर्व का एक विशेष खेल है—रस्सा खींचना। रस्सा-कशी में एक ओर पुरुष होते हैं और दूसरी तरफ स्त्रियाँ। मैं तो समझता था कि स्वभावतः ही दुर्बल स्त्रियाँ सदा हारती होंगी, लेकिन लोगों ने बतलाया कि इधर दो सालों से ही पुरुष विजयी होते आये हैं, उससे पहले स्त्रियाँ ही विजयी हुईं। अपने पक्ष को मजबूत करने के लिए स्त्रियों को अधिकार है कि बेटियों के अतिरिक्त अपने दामादों को भी शामिल कर लें। पहाड़ी स्त्रियाँ चाहे अपेक्षाकृत शरीर से दुर्बल हों, लेकिन वह पुरुषों से भी अधिक काम करती हैं। बीच गाँव में तिनकों का रस्सा बटा जा रहा था। 'तिनके को तोड़कर देखा, वह काफी मजबूत था, फिर उससे नौ तनियों का खूब मोटा रस्सा बँटा जा रहा था, उससे तो हाथी को भी बाँधा जा सकता था। पास में नाच भी चल रहा था, लेकिन अभी पुरुषों का ही। हमारे पड़ोसी चौकीदार नन्दू भी होली में शामिल होने आये थे और चार घंटा दिन रहते ही उन पर पूरा रंग चढ़ आया था। लेकिन हम नहीं समझते थे कि वह इतना गुणी है। नन्दू ने अपने ढोल के हाथ दिखाये, तो सारे नाचनेवाले मुग्ध हो गए। लोग बुला-बुला कर पानचषक उसके हाथ में थमा रहे थे। बाजा बजाना तो सबके बस की बात नहीं है, किन्तु नाच तो यहाँ का उतना मुश्किल नहीं है। अफसोस हो रहा था कि हमें नाचना नहीं आता। रस्से को काफी लम्बा होना ही चाहिए, जब कि सैकड़ों आदमी उसमें लगनेवाले थे। यह रस्सा-कशी दो दिन होनेवाली थी। रात को होने से हम उसे नहीं देख सके।

सवा तीन बजते-बजते देखा गाँव के बाहर स्त्रियों ने अपना अखाड़ा जमा लिया है। पहले लड़कियाँ आईं, फिर तरुणियाँ, बाद में प्रौढ़ाएँ शामिल हुईं और अन्त में जब एक बुढ़िया पंक्ति में घुसकर पड़ोसिनों का हाथ पकड़ने लगी, तो कुछ लड़कियाँ हँस पड़ीं। लेकिन होली-दीवाली का बुढ़ापे से क्या सम्बन्ध ? तब तक पुरुषों का भी काम खत्म हो गया और वह भी नृत्यमंडलिका में शामिल हो गए। अब नर-नारियों का सम्मिलित नाच था, यद्यपि दोनों की पंक्ति एक-दूसरे से अलग रहते चक्कर काट रही थी। स्त्रियों के गाने का स्वर दूर-दूर तक पहाड़ में गूँज रहा था। उनके गीतों में हमें केवल 'माधव भण्डारी' का शब्द समझ में आता था। पहाड़ी स्त्रियों का कंठ सुरीला और मधुर होता है, यह तो 'किन्नर कंठ' शब्द से ही इतिहास प्रसिद्ध है। आसपास के पहाड़ों ने सूरज की किरणों को रोक कर पहले ही से अपनी काली छाया फैला दी थी, और अब तो अँधेरा भी जल्दी-जल्दी आ रहा था, लेकिन असली नाच सूर्यास्त के बाद जमनेवाला था। माधव भण्डारी के अतिरिक्त नागदेवता के भी गीत गाये जाते थे। नागदेवता का जल से विशेष संबंध है। पहाड़ों में नागदेवता का प्रभुत्व ज्यादा है, क्योंकि किसी जगह नया चश्मा पैदा कर देना या पुराने को लुप्त कर देना नागदेवता के बायें हाथ का खेल है। कंडी गाँव में भी नागदेवता की मढ़ी है। और हरि तो बहुत कृतज्ञ थे, क्योंकि कुछ साल पहले जो भूकम्प आया था, उसके कारण उनके घर के पास ही एक नया चश्मा निकल आया, और अब पानी लेने के लिए उन्हें दूर नहीं जाना पड़ता था।

कंडी गाँव की होली-दीवाली और वहाँ के नर-नारियों, बाल-वृद्धों के स्वच्छन्द नृत्यगान को देखकर मुझे शताब्दियों पहले बीते उस समय की याद आने लगी, जबकि भारत के मैदानों के नर-नारी इसी तरह स्वच्छन्द महोत्सव मनाते थे। वैदिक काल में तो सोम और मधु की नालियाँ बहती थीं। ऋषि-ऋषिकाएँ, उनके कुमार-कुमारियों तथा साधारण जन इसी तरह आरक्तनयन हो मुक्त जीवन का आनन्द लेते थे। पहाड़ों में अभी हाल तक सर्वत्र इस तरह के उत्सव देखे जाते थे, जो कम होते-होते अब जौनपुर, जौनसार, रवाई जैसे कुछ इलाकों में ऊँची जातिवालों के भीतर रह गए हैं। लेकिन जहाँ यह उत्सव अब भी मनाये जाते हैं, वहाँ भी अब लोगों का दिल उतना खुला नहीं है। शराब की कुछ कटोरियाँ वर्तमान परिस्थिति को भुलाने में सहायता जरूर करती हैं, लेकिन तब भी हर एक चीज महँगी जो है। उत्सव के लिए नया कपड़ा जुटाना बहुतों के लिए मुश्किल है। पूड़ी-पकवान बनाने में भी उतनी उदारता नहीं दिखलाई जा सकती कि एक दिन पकाएँ चार दिन खाएँ, या राह चलते को भी बुला कर बैठा लें। शराब घर में बनती है, लेकिन उसका उपकरण—अनाज,

गुड़ भी तो महँगा है। उत्सव के आनन्द के भीतर भी एक तरह की चिंता की झलक दिखलाई पड़ती है। लेकिन चिंता का भुलाना भी तो उत्सव का एक काम है। आज ऐसे उत्सव न होते, तो सचमुच ही कंडी के लोगों के जीवन में बहुत नीरसता होती।

25
प्रथम हिमपात

आज ही जानकी भाभी के पत्र में पढ़ा–"कमबख्त सर्दी की वजह से मेरे तो हाथ-पैर ही नीले पड़ गए हैं। यहाँ मेरा यह हाल है, तो न जाने आप लोगों का वहाँ क्या हाल होगा।" अमृतसर की यह सर्दी निश्चय बेगार की है, किंतु मसूरी की सर्दी नगद नफे की है। हिमाचल की विलासपुरियों का ग्रीष्म में आनन्द लेकर जो तृप्त हो जाते हैं, उन्हें इस परमानन्द का क्या पता ? इस समय बर्फ पड़ रहा है, सर्दी भी तेज है, ढँके बरांडे के भीतर तापमान का 33 डिग्री होना बहुत नहीं है--तिब्बत और रूस की सर्दी के समान इसे लड़कों का खिलवाड़ समझना चाहिए। हिमपात का देवसुलभ दृश्य ! रूई के फायों की तरह आकाश से वायु के माध्यम पर तैरते नीचे की ओर हिम का उतरना, किसी महान कवि की सुन्दर कल्पना का ही विषय हो सकता है। आँखों के सामने ही कल तक मिट्टी, पत्थरों की रंग-बिरंगी भूमि शंख-श्वेत चादर से ढकी जा रही है। कल-परसों तेज हवा चल रही थी, उस समय आज से अधिक सर्दी थी ! वायु के थपेड़ों से निष्पत्र होने से कँप रहे वृक्ष झूमते हुए 'त्राहि माँ' कर रहे थे, मनुष्यों की स्वेच्छापूर्वक घर से निकलने की हिम्मत कैसे हो सकती है ? लेकिन पवन देवता की यह सारी धूम मानो हिम की अगवानी के लिए थी। रात-भर वर्षा होती रही, जान पड़ता था कि जुलाई लौट आई है, किंतु सवेरा होते ही बूँदों का स्थान बर्फ के तूलों ने लिया, धीरे-धीरे फाये घने होते गए, दिल कहता है, चलो उनके नीचे खड़े हों, आकाश से मंगल लाजा (खीलों) की वर्षा हो रही है, कितनी शुभ्र, कितनी अम्लान ! भीजने का भी भय नहीं। बिन्दु वर्षा भर को देखे हुए हिम वर्षा के आनन्द को नहीं समझ सकते। जाड़े से डरना ! जो गुड़ खाना चाहता है, उसे कान बिंधाना ही पड़ता है। लेकिन, मुफ्त का जाड़ा-पाला सहना भी किस काम का ?

कल हमारी क्यारी में दो बार के बकरियों के प्रहार के बाद भी अपने हरे पत्तों से धरती से चिपके दिखाई पड़ रहे थे, और आज वह सफेद चादर तानकर सो गए हैं, कल तक प्रहार जर्जरित टोमेटो की पीली शाखाएँ विषम भूमि को और भी विषम बना रही थीं कि बर्फ ने जो समता का साम्राज्य फैलाने का उपक्रम किया, उसमें उनका पता नहीं। वृक्षों के ढँकने भर की बर्फ तो कहीं नहीं पड़ती, वह तो हिमयुग की बात है, जो खंड प्रलय का ही दूसरा नाम है। वैसा हो तो दिल्ली और बनारस भी बर्फ की मोटी तह के नीचे होंगे, सारी खड़ी हरी फसल बर्बाद हो जायेगी। जनसंख्या की समस्या भी हल हो जायेगी, क्योंकि अनभ्यस्त भारतीय न प्राणरक्षा के लिए कपड़ों की जल्दी में तैयारी कर सकेंगे, न तवाह फसल की क्षतिपूर्ति किसी तरह हो सकेगी। वृक्षों की जड़ में ही कहीं-कहीं बर्फ दिखाई पड़ रहा है; हाँ, उनकी शाखाओं पर विशेष कर देवदारों के स्कंधों पर बर्फ के चकत्ते दिखाई पड़ते हैं, जिनसे उनकी सौंदर्य-वृद्धि अवश्य हुई है। फाटक के सामने के दोनों बौने धूप वृक्षों--देवदार-जातीय होने से सदा हरित-से तो वनदेवी ने मानो हिम का काग खोला है। वंज (वज्र काष्ठ, ओक) भी हिम-पुष्पों से वंचित नहीं है, रंग-बिरंगी टिन की छतें सर्वश्वेत हो गयी हैं। चारों ओर फैली हिम श्वेतिमा बीच-बीच में चितकबरी होते भी कितनी आकर्षक है !

और हिमपात के साथ यह नीरवता ! वह भयानक नहीं मोहक है, कहीं कोई शब्द सुनाई नहीं देता। कीट-पतंग बर्फ में दब गए होंगे, किंतु कल तक फुदकती चिड़ियाँ कहाँ गयीं ? न शब्द न गति ! क्षण-भर के लिए हम हिम युग में पहुँच गए। हिम के आते ही पवन देवता ने यहाँ अपनी आवश्यकता नहीं समझी।

घर में, घर से बाहर भी निःशब्दता का राज्य है, यदि घर में कोई शब्द सुनाई देता है, तो कागज पर चलती इस लेखनी को अथवा श्वास-प्रश्वास को मन की एकाग्रता के लिए इस समय किसी योगिराज या योगाभ्यास की आवश्यकता नहीं, मस्तिष्क मानो सद्यःपतित हिम जैसा निर्मल हो गया है। किंतु यह स्वरस योग न सिद्ध होता यदि शरीर पर शीत की शक्ति को कुंठित करनेवाला गर्म परिधान न होता, भोजन और गर्म चाय ने पेट को शीत सहन न बना दिया होता। किंतु यह बड़े दिन का प्रथम हिमपात उन अभागों के लिए क्या आनन्द लायेगा, जिनके शरीर चीथड़ों से भी मुश्किल से ढके हैं, जिनके पेट खाली हैं। उन्हें तो हिम वर्षा के मारे आज की मजूरी से वंचित होना पड़ा, वह काम पर आ नहीं सके, बर्फ ने उनकी रोटी छीन ली। हमारी विषमता की दुनिया में जिस कारण से एक घर में शादियाने बजते हैं, उसी कारण से अनेकों घरों में मातम होते हैं। हिमपात के आनन्द से वंचित नीचे देश, देश में यदि बहुत हैं, तो यहाँ उसकी मार से पामालों की संख्या अधिक है। प्रथम हिमपात महोत्सव मनाना अनेकों के भाग्य में नहीं है, इसके लिए तो विषमता का अन्त होना चाहिए। और दिनों आसपास के पहाड़ी गाँवों में ढोल की आवाज आती सुनाई देती थी--खेतीबारी का काम नहीं, ऊपर से सर्दी हटाने की सस्ती दवा समझ कर नर-नारी गीत-नृत्य में तल्लीन होते थे, दो दिन पहिले हमारे नातिदूर किसी ने रात के बाजे बजाते भूतों के जलूस को देख लिया था, लेकिन आज चारों ओर निःशब्दता। ग्रामीण जन घरों में घुसे आग के किनारे सिकुड़ कर बैठे-पड़े होंगे, और वहाँ मेघ में अदृश्य इन हिमशिखर पंक्तियों के पीछे सहस्राब्दियों से चला आता विषमता का साम्राज्य मिट रहा है। वहाँ जनगण प्रथम हिमपात को समान भाव से मनाएँगे।

26
मसूरी

हिमालय में बहुत-सी ग्रीष्मपुरियाँ हैं–पूर्व से चलने पर कलिम्पोंग, दोर्जेलिंग (दार्जिलिंग), रानीखेत, अलमोड़ा, नैनीताल, लैन्सडौन, पौड़ी, मसूरी, शिमला, ढलहौसी, धर्मशाला, सोलन, श्रीनगर (काश्मीर)। साधारण तौर पर सोचने पर कहा जा सकता है कि इन हिमाचल की पुरियों में एक मसूरी भी है, किंतु यात्रा की सुविधा, सौंदर्य और स्वास्थ्य, तीनों की दृष्टियों से देखने पर मसूरी बढ़ जाती है। राजधानी दिल्ली से नजदीक कोई ऐसी पर्वतपुरी नहीं है, जहाँ चार घंटे में मोटर से पहुँचकर हिमाचलीय वायुमण्डल में पहुँचा जा सके, जहाँ से देहरादून जैसा बड़ी लाइन का रेल स्टेशन है, जिससे कि एक गाड़ी में बैठकर सीधे कलकत्ता, लखनऊ, प्रयाग, दिल्ली और अमृतसर आज भी पहुँचा जा सकता है और जरा-सी दूरदर्शिता दिखलाने पर बम्बई, पूना, नागपुर, मद्रास की ट्रेन या डब्बे जोड़े जा सकते हैं। सौंदर्य में, विशेषकर सामने हिमाच्छादित शिखर श्रेणियों के सुन्दर दर्शन के लिए, हम मानते हैं, मसूरी का मुकाबला दोर्जेलिंग, अलमोड़ा आदि भी कर सकते, किंतु अपने निरभ्र आकाश के दिनों में शायद मसूरी आगे बढ़ जाये। इसके पीछेवाली भूमि अधिक हरी-भरी तथा सुहावनी है। अपेक्षाकृत कम वर्षा के कारण मसूरी अधिक स्वास्थ्यप्रद है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। दिल्ली से सबसे जल्दी और आराम से जिस पर्वतपुरी पर पहुँचा जा सकता है, वह मसूरी ही है। इसलिए यदि दिल्लीवासी तथा राजधानी-प्रवासी अधिक से अधिक मसूरी जायें तो एक समय उसे ग्रीष्म राजधानी बनने का सौभाग्य भी प्राप्त हो सकता है।

मसूरी 1815 में पराजय के बाद नेपाल से होनेवाली सन्धि द्वारा अंग्रेजों को मिली। शरद मुल्क के निवासियों का यहाँ के ठंडे जलवायु, यहाँ की बैज (ओक), देवदार आदि की मोहक वन्यश्री की ओर ध्यान जाना जरूरी था। अंग्रेज सैलानी तभी से वहाँ पहुँचने लगे। कुछ झोंपड़े भी खड़े हुए, जो लकड़ी के थे। 1822 में 'केमल्स बैक' (ऊँटपीठ) डाँडे की ढलान पर कच्चे-पक्के घर बने। सबसे पहिले मसूरी में अच्छा निवास-गृह मलिगर 1826 में बना, अर्थात् आज से सवा सौ वर्ष पूर्व। इस बीच कई भूकम्प आये, दोर्जेलिंग तथा दूसरी पर्वतपुरियों

में कितनी ही बार खंड-प्रलय हो गया, किन्तु 'मलिगर' अब भी खड़ा है। भूकम्प रोधक होने के कारण सौ वर्ष के तरुण बँगले और कोठियाँ अब भी यहाँ सैकड़ों हैं। 1827 में लंढौर बाजार और अस्पताल बनने लगा। 1829 में व्यापारी लारेंस ने वर्तमान 'महा-डाकवर' जगह में पहिली अंग्रेज दुकान खोली। 1834 में पहिला अंग्रेजी स्कूल मेकिनन् ने खोला। 1836 में पहिला गिर्जा (क्राइस्ट चर्च) बना। 1841 में पहिला क्लब (हिमालय क्लब) आरम्भ हुआ। 18 अप्रैल, 1844 को 'केवल यूरोपियनों के लिए' स्टेशन लाइब्रेरी खुली।

अंग्रेज और मसूरी

उन्नीसवीं सदी के मध्य से और आगे तक हिमालय की आवोहवा देखकर यहाँ अंग्रेजों का उपनिवेश बसाने का इरादा था। इसीलिए ताँबा आदि धातुओं तथा चाय के बगीचों को अंग्रेजों द्वारा संचालित कराने की कोशिश की गयी, किन्तु पिछली शताब्दी में ही पता लग गया कि हिमालय-निवासी यहाँ से हटाये या मिटाये नहीं जा सकते। मसूरी के अधिकांश सुन्दर मकान उसी काल के हैं, जवकि उपनिवेश वनाने का नशा जोरों पर था। उस समय मकानों को मजबूत से मजबूत बनाया जाता था। पत्थर की इफरात होने पर भी नीचे राजपुर-देहरादून से खच्चरों पर ईंटें मँगवायी गयीं, दो-दो ढाई-ढाई फुट मोटी दीवारें चुनी गयीं। दो-महले ऊँचाई के एकमहले मकान बनाये गए, यहाँ तक कि शयन-कक्ष और ड्राइंग-रूम भी हाल जैसे बना दिए गए।

उन्नीसवीं सदी के अन्त (1900 ई.) में मई-जून नहीं बल्कि सितंबर की मसूरी में 14,689 निवासियों में 3418 यूरोपियन रहते थे। यद्यपि अब उपनिवेश का इरादा छूट गया था, किन्तु यह मसूरी की समृद्धि के चरम उत्कर्ष का समय था। सभी सड़कें, मुहल्ले, बँगले जगमग-जगमग करते थे। गोरों का प्रताप मध्याह्न पर था, काले कितने ही भागों में रह नहीं सकते थे, बड़े-वड़े हिन्दुस्तानियों को छोटे से छोटे साहब को झुक कर सलाम करना पड़ता था। मसूरी की सड़कों पर अंग्रेजी ही अंग्रेजी सुनाई देती थी। मसूरी के बँगलों से पश्चिमी संगीत मुखरित होता रहता था। क्लबों और नृत्य-शालाओं में रात-रात गोरों-गोरियों के नृत्य हुआ करते थे। आज भी बूढ़े ऐंग्लो-इण्डियन हैं, जो उस समय चाहे अंग्रेजी मण्डली में अछूत ही समझे जाते हों, किन्तु अब कहते है—'आः ते हि नो दिवसा गताः !' (आह ! हमारे वे दिन चले गए !)

प्रथम विश्वयुद्ध से मसूरी में साढ़े साती सनीचर सवार हुआ। 1920-21 से ही यहाँ के बहुत-से बँगले खाली रहने लगे और अंग्रेजों के हाथ से निकलने भी लगे। आगे-आगे कितनी ही क्लवें सुनसान रहने लगीं! अंग्रेज आगन्तुकों की संख्या कम होने लगी। यद्यपि तब तक राजा-महाराजाओं ने मसूरी को गुलजार करना शुरू कर दिया था, तो भी मसूरी की रूठी लक्ष्मी लौटने को तैयार नहीं हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध में अवश्य टिमटिमाती बत्ती ने एक बार जोर मारा, किन्तु युद्ध समाप्त होते ही हालत बुरी हो गयी। सैकड़ों सुन्दर बँगले सूने पड़े रहते हैं। मिट्टी के मोल भी उन्हें कोई पूछता नहीं। वर्षों से उनमें मरम्मत तक नहीं हुई, और यदि आज भी वह खड़े हैं, तो अपनी मजबूत नींव के सहारे ही। व्यापारी, होटल-मालिक, बैंक-प्रबन्धक सभी किस्मत को रो रहे हैं। कुछ तो कहते हैं, उत्तरप्रदेश की सरकार ने शराब-बन्दी करके मसूरी की रौनक मार दी। सैलानी उच्च और मध्यम वर्ग के लोग यहाँ तपस्या करने नहीं आते।

व्यापार की मन्दी के मारे दुकानदार किराया कम कराने के लिए सत्याग्रह कर रहे हैं, और उधर सुन्दर बँगले और कोठियाँ सैकड़ों की संख्या में ढहने को तैयार हैं। यदि आप थोड़ा चलने को तैयार हों, तो बहुत सस्ते किराये और दाम में और भी सस्ती कोठियाँ, बँगले मिल सकते हैं। दिल्ली के कितने ही सरकारी विभागों को लाया जा सकता है। आलीशान मकान, जिन पर राष्ट्र का इतना रुपया लगा हुआ है, मुफ्त में मिलने को तैयार हैं, किन्तु कोई विभाग दिल्ली से दूर नहीं जाना चाहता। फिर दरबार में कदम-बोसी कैसे हो सकेगी ? फिर अपनी तरक्की और अपने साहबजादों की नौकरी कैसे सुलभ हो सकेगी ? दिल्ली की गरमी में झुलसना मंजूर है, कार्यालयों और कर्मियों के लिए मकानों की कठिनाई भी सिर-आँखों पर रखने को तैयार हैं, किन्तु दिल्ली के देवताओं का कोई अनुचर काला पानी जाने को तैयार नहीं है। मन्त्रियों को हिम्मत नहीं कि डाँट कर उन्हें यहाँ आने के लिए मजबूर करें।

लेकिन मसूरी पर अब भी प्रकृति का वरदहस्त है। अब भी वह अक्षत-यौवना है। देहरादून से रात्रि को मसूरी गन्धर्व-नगरी-सी मालूम होती है, और मसूरी से देहरादून में सदा दीवाली मनायी जाती दीख पड़ती है। चाँदनी रात में हिम-शिखर सुन्दर मालूम होते हैं। उससे भी अनुपम सौंदर्य उनका सबेरे-शाम देखने को मिलता है, जब कि सूर्य की किरणें उन्हें सुवर्ण और प्लाटिनम के ठोस शिखरों में परिणत करती हैं। पर्वतों के दृश्य तो सदा ही मोहक होते हैं। नगर के आसपास जलपात हैं, जिनमें 'केमटी फाल' बड़े ही सुन्दर स्थान में श्वेत लहँगा पहिने किसी पर्वत सुन्दरी की भाँति नृत्य करता जान पड़ता है। यहाँ वन-भोज का बड़ा आनन्द रहता है। मसूरी कम्पनी के राज्य की सौगात है ! यहाँ का कम्पनी-बाग भी एक सुन्दर पर्वतीय उद्यान है। लाइब्रेरी बाजार मसूरी की चौरंगी (कलकत्ता) या कनाट सर्कस (दिल्ली) है। कुल्हड़ी-बाजार समीप से जहाँ सुन्दर दुकानों और ऊपर नीचे चढ़ती सड़कों के कारण मनोरम मालूम होता है, वहाँ दूर से और भी आकर्षक है।

मसूरी-म्युनिसिपैलिटी (नगरपालिका) की सीमा से ही जमुना का देश (जौनपुर और जौनसार) आरम्भ हो जाता है। जमुना के तट पर 'कृष्ण और गोपियों की रास' ऐतिहासिक तौर से जब शुरू हुई, उससे शताब्दियों पहिले से जौनसार अपने रास और मनोहर संगीत के लिए प्रसिद्ध है। जौनसारी तरुणी ही नहीं, जौनसारी प्रौढ़ा भी नृत्य-संगीत के लिए उतनी ही मुक्त और उत्सुक दीख पड़ती हैं।

मसूरी 'पर्वतों की रानी' सदा बनी रहेगी इसमें सन्देह नहीं। साढ़े साती सनीचर इस सौन्दर्य की देवी को सदा दिक नहीं कर सकता।

27

राजस्थान का अभ्युदय

भारत ने अंग्रेजों का जूआ फेंक दिया। राजस्थान तो दो जूओं के नीचे कराह रहा था, एक ओर अंग्रेजी शासन की राहु-छाया सारे भारत की तरह राजस्थान के ऊपर भी थी, और दूसरी ओर अंग्रेजों ने यहाँ के निरंकुश सामन्तों को सब तरह के शोषण और उत्पीड़न के लिए अकेला छोड़ दिया था। वह जाते वक्त भी राजस्थानी जनता को मुक्त होने देना नहीं चाहते थे, इसलिए उन्होंने यहाँ का सर्व-प्रभुत्व राजाओं के हाथ में देकर भारत से प्रस्थान किया था। ट्रावनकोर, हैदराबाद आदि की तरह यहाँ के भी कुछ राजा अपने को स्वतन्त्र घोषित कर रहे थे। लेकिन इन्होंने तथा इनके आका अंग्रेजों ने राजस्थानी जनता को नहीं गिना था। वह नहीं समझ सकते थे कि जनता ने अपनी छाती पर डेढ़ शताब्दियों तक जो निरंकुश सामन्तों को कोदों दलने दिया था, वह अंग्रेजी दुःशासन के कारण ही। शालिग्राम को भून खानेवाली जनता के लिए यह बैंगन कोई चीज नहीं थे। जल्दी ही गुड़िया राजाओं को पता लग गया कि यदि उन्होंने फिर अपनी निरंकुशता को कायम रखना चाहा, तो राजस्थान की एक-एक अंगुल जमीन में बिजौलिया विद्रोह खड़े हो जायेंगे, जिनका मुकाबला उनके वश की बात नहीं होगी। सारी जनता का कोपभाजन बनकर केवल अपने कामदारों और चाटुदारों के बल पर वह अपने अस्तित्व को कायम नहीं रख सकते। कांग्रेसी नेता मौके-बेमौके राजाओं के बलिदान और स्वार्थत्याग की प्रशंसा करते नहीं थकते। कहते हैं कि उन्होंने देश के स्वार्थ के सामने अपने निजी स्वार्थ को छोड़ दिया। लेकिन वह कृतघ्नता के दोष के भागी होते हैं जब रियासतों के विलय में सबसे जबर्दस्त कारणभूत शक्ति जनता को भूल जाते हैं। राजा लोग कभी इस कथित स्वार्थत्याग के लिए तैयार न होते, यदि उन्हें मालूम न होता कि विद्रोही जनता के सामने हमारी हार तो निश्चित ही है, साथ ही कांग्रेसी नेता जो उदारतापूर्वक हमें बड़ी-बड़ी पेंशनें तथा निजी सम्पत्ति कहकर भारी सम्पत्ति दे रहे हैं, उससे भी हम वंचित हो जायेंगे, हमें बाट का भिखारी

बनना पड़ेगा। आज की कांग्रेस गरीबों की कांग्रेस नहीं है। वह सबसे पहले बड़े-बड़े स्वार्थों को अक्षुण्ण रखने के लिए तैयार है।

जिस जनता के त्याग और बल पर, कष्ट और यातना पर, देश स्वतन्त्र हुआ, राजस्थान दोहरे जूए से मुक्त हुआ, उसकी आर्थिक व्यवस्था दिन पर दिन गिरती जा रही है। स्कूलों और कालेजों से पढ़कर निकलनेवाले तरुणों में से सौ में दस ही काम पाने की आशा रख सकते हैं, बाकी को बेकारी का मुँह देखना पड़ता है। यह अवस्था सुधरने की जगह दिन पर दिन और बिगड़ती जा रही है। हाँ, जब तक 60 फीसदी लोग आर्थिक कठिनाइयों के कारण नरक-यातना न भोगने लगें, तब तक कोई मौलिक क्रांति नहीं हो सकती, लेकिन यदि यही रफ्तार बेढंगी रही तो वह दिन भी दूर नहीं है।

राजस्थान की आर्थिक समस्याएँ ऐसी नहीं हैं कि हल न हों और न उसके कुछ भाग में रेगिस्तान को देखकर यह कह सकते हैं कि यह एक निर्धन और अकिंचन देश है। यहाँ के पहाड़ी भागों में अनेक प्रकार के खनिज हैं, जिनमें से कुछ शताब्दियों तक अपनी खान के लिए मशहूर रहे। रेगिस्तान से भी सोवियत रूस ने साइन्स की सहायता से सोना उगलवाया है, वहाँ गन्धक, नमक और मिट्टी का तेल पैदा किया। राजस्थान की मरुभूमि के नीचे कितनी सम्पत्ति छिपी हुई है, इसका अभी पता ही कहाँ लगाया गया ? यहाँ की निर्धनता आज इसीलिए है कि राजस्थान की प्राकृतिक सम्पत्ति के स्रोतों को उद्घाटित करने के लिए साइन्स और उद्योग का व्यापक प्रयोग नहीं हो रहा है। सामन्तों की निरंकुशता के कारण अंग्रेजी शासनकाल में कोई राजस्थानी सेठ अपने उद्योग-धन्धे अपनी जन्मभूमि में बढ़ाना नहीं चाहता था। आज उस स्थिति में परिवर्तन हुआ है, लेकिन इस ओर कदम इतना धीरे-धीरे बढ़ रहा है कि वह हर साल की बढ़ती डेढ़ सैकड़ा की जनसंख्या के लिए भी पर्याप्त नहीं हो सकती।

राजस्थान के लिए एक बड़ी समस्या शिक्षा और संस्कृति में उसके अधिकांश लोगों का पिछड़ापन है। निरक्षरता या अशिक्षा कोई असाध्य व्याधि नहीं है। वह चुटकियाँ बजाते हटाई जा सकती है, यदि जरा बुद्धि और स्वतन्त्र विचार से काम लिया जाये। शिक्षा मातृभाषा द्वारा होनी चाहिए, यदि इस सिद्धांत को मान लिया जाये, तो राजस्थान से निरक्षरता दूर होने में क्या देर लग सकती है ! केवल वर्ण-परिचय कितने दिनों का काम है। मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बना देने पर शिक्षा के लिए भाषा सीखने का सवाल ही खत्म हो जाता है। हफ्ते में वर्णमाला और इसके बाद राजस्थानी भाषा में छपी पुस्तक हाथ में थमा दीजिए। प्रौढ़ों के लिए अक्षर-ज्ञान के बाद आप 'पाबू जी', 'तेजा' या 'निहाल दे' जैसे परम सरस लोक-काव्यों और लोकवार्ताओं को दे दीजिये। किसी भी आवश्यक ज्ञान-विज्ञान का प्रचार राजस्थानी भाषा द्वारा जितना जल्दी हो सकता है, उतना हिन्दी द्वारा भी नहीं। लेकिन, स्वतन्त्र भारत ने तो राजस्थान में उल्टी गंगा बहाने का प्रयत्न किया है। यहाँ की अदालतों में पहले हिन्दी चलती थी, लेकिन अब दूसरे प्रदेशों से जो नौकरशाह भेजे गए हैं, वे हिंदी नहीं जानते या हिंदी में लिखा-पढ़ी करना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं, इसलिए वह कचहरियों में हिंदी को हटाकर अंग्रेजी को रखने का प्रयत्न कर रहे हैं। जनता के शासन का कितना सुन्दर उदाहरण है ? क्या इससे यह नहीं मालूम होता कि हमारे यहाँ शासन जनता के लिए नहीं है, बल्कि जनता शासन के लिए है। शासन में जनता की नहीं, बल्कि शासक की सुविधा का ख्याल किया जाता है। आखिर यह अन्धेरनगरी कब तक चलती रहेगी ? राजस्थानी जनता बहुत समय तक भेड़ों की तरह नहीं चलाई जा सकती। उसके लिए सबसे पहली जरूरत है, उसकी मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाना।

प्रारम्भिक से उच्च-शिक्षा तक राजस्थानी के माध्यम बनाने में पाठ्यग्रंथों की तथा और दूसरी कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं, किन्तु उसकी आवश्यकता भी नहीं है। जनसाधारण का जिस शिक्षा से अनिवार्य सम्बन्ध है, वह है चार-पाँच साल की प्रारम्भिक शिक्षा। उतनी राजस्थानी के माध्यम से हो, तो निरक्षरता दूर हो जायेगी। कृषि, दस्तकारी और दूसरे कामों के लिए जो आवश्यक शिक्षा और सूचना देनी हो, वह यदि राजस्थानी में हो जाये, तो किसान उससे पूरी तौर से फायदा उठा सकते हैं। जयपुर और जोधपुर में रेडियो-स्टेशन बनने जा रहे हैं, लेकिन इनके बनाने का उद्देश्य सामन्ती-शासन में भरित-पोषित होनेवाले कलाकारों को आश्रय देना

बतलाया जाता है। यदि उसका उद्देश्य इतना ही है, तो यह बड़ा महँगा सौदा है, इसमें सन्देह नहीं। कला को प्रश्रय न दिया जाय, इसे कोई नहीं कहता, लेकिन रेडियो का उपयोग, अर्थकरी शिक्षा और ज्ञान-विज्ञान के प्रसार ही में बहुत होना चाहिए। इसकी बहुत कम आशा है, यदि रेडियो की वही नीति यहाँ भी बरती गई, जैसीकि और जगहों पर देखी जाती है, अर्थात् खुशामदियों, चाटुकारों और भाई-भतीजे-भांजों में अन्धे की तरह रेवड़ियाँ बाँटना।

राजस्थान में लोक-संस्कृति और लोक-वार्ता-सम्बन्धी निधियाँ बड़ी मूल्यवान और बड़े विशाल परिमाण में मिलती हैं। उनको नष्ट न होने देना बहुत आवश्यक है। 'पाबूजी', 'तेजा', 'निहालदे' जैसे अनेक अमर पँवाड़े आज भी वहाँ गाये जाते हैं। इनकी काव्य-श्रेष्ठता के बारे में लोग शिष्ट काव्यों से तुलना करते हैं, जो वैसा ही है, जैसे सूर्य की तुलना जुगनू से की जाये। इन जन-कवियों के करुण अंश को पढ़ते समय एक-एक पाँती पर आँसू रोकना मुश्किल हो जाता है। यह निसर्ग-सुन्दर काव्य किसी अलंकार की अपेक्षा नहीं रखते, सर्वत्र रस से ओत-प्रोत हैं। अब तक ये लोक-काव्य केवल मौखिक सुने जा सकते थे। उनको लिपिबद्ध करने में अब देरी होने का मतलब है, उनकी भाषा का बिगड़ना, उनके भावों में से कितनों का हाथ से निकल जाना। राजस्थान में सामन्ती-व्यवस्था ने मनुष्य को बहुत नीचे गिराया, लेकिन उसने कुछ सांस्कृतिक वस्तुओं का संरक्षण भी किया। लोक-वार्ताओं के कवि और गायक सामन्तों के यहाँ आश्रय पाते थे, जिसके छूटने के कारण इन निधियों के नष्ट होने का डर है। यह प्रशंसा की बात है कि राजस्थान के शिक्षितों का ध्यान इस ओर गया है, यद्यपि उनके कार्यों की मात्रा संतोषजनक नहीं कही जा सकती।

किसी देश या जाति का आर्थिक या सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ापन तभी तक कायम रह सकता है, जब तक कि उसमें शिक्षा का अभाव है, उसका आर्थिक स्तर गिरा हुआ है। देश के हरेक बालक-बालिका को 6-8 साल की अनिवार्य शिक्षा दे दीजिए, और आज के क्रय-मूल्य में व्यक्ति पीछे मासिक सौ रुपये की आमदनी की व्यवस्था कर दीजिए, फिर पिछड़ापन छू-मन्तर हो जायेगा, और अछूत, दलित, निर्धन, गँवार, असंस्कृत जनता की जगह हमारे सामने सुसंस्कृत शरीर और मन के कर्मकरों का समाज उपस्थित हो जायेगा। यह काया-पलट केवल सपने की बात नहीं है, बल्कि इसी पृथ्वी पर रूस में यह काम सम्पन्न हो चुका है और चीन बड़ी द्रुतगति से इसे कर रहा है।

बचपन की स्मृतियाँ

1
इतिहास

जन्मभूमि सबको प्यारी होती है। मनुष्य बचपन में जिन-जिन वस्तुओं के घनिष्ठ सम्पर्क में आता है, वह उसके लिए सहज प्रिय हो जाती हैं। कितने ही विल्कुल साधारण से भोजन थे, जिन्हें बचपन में मैंने खाया था, वह अमृत-जैसे मधुर उस समय ही नहीं लगे थे, बल्कि आज भी उनकी स्मृति उसी तरह मधुर है। माघ-पूस में सरसों और बथुआ का साग एकमात्र सब्जी मिलती थी। दाल से मुझे भारी चिढ़ थी, और आजमगढ़ छोड़ने के बाद ही उसके साथ मेरा समझौता हो सका। दूध-दही या गुड़ से रोटी खाना मैंने कब सीखा, यह मुझे याद नहीं। शायद जब से मैंने अन्न-प्राशन किया, तभी से। लेकिन, सरसों और बथुआ का साग निचोड़कर तेल में छौंककर जब बनता था, तब मेरी प्रसन्नता का कोई ठिकाना नहीं रहता था। यही बात सरसों-हल्दी डालकर बनी मछली की थी। बचपन की किसी भी चीज को ले लें, आज भी उसकी मधुरता वैसे ही अक्षुण्ण है।

मैं नाना के गाँव पन्दहा में पैदा हुआ था, और आजमगढ़ में रहने का (1893-1909 ई.) अधिक समय मेरा वहीं बीता। पितृग्राम कनैला (मुहमदाबाद तहसील) का सम्बन्ध मेरा पाहुने जैसा था। पुरानी कथाओं-कहानियों के सुनने का मुझे बड़ा शौक था। एक बार सुनी कहानी बहुत कुछ याद भी हो जाती थी, शायद इसीलिए दूसरी बार उसे सुनने की रुचि नहीं रह जाती थी। इतिहास भी तो एक कहानी है, इसलिए शायद वही बाल्य-रुचि इतिहास की रुचि में परिणत हो गई। सोचता हूँ, मनुष्य को किन-किन अवस्थाओं से गुजरना पड़ा। आज आजमगढ़ जिला अपने और कुछ पड़ोसी जिलों की तरह कई सालों से अतिवृष्टि और अनावृष्टि का शिकार है। जनसंख्या पिछली आधी शताब्दी में दूनी के करीब हो गई है, इसलिए खाद्य-संकट और भी बढ़ गया है। लेकिन, वहाँ के लोगों की आज की स्थिति को बदलना मनुष्य के हाथ में है। साइन्स ने इतने साधन हमारे हाथ में दे दिये हैं, कि जमीन के नीचे दस हाथ पर बहनेवाली गंगा के होते भी हमारे जिले का सूखा का शिकार होना सचमुच 'पानी में मीन पियासी' जैसा है।

इससे पहले भी हमारे जिले के लोगों को भीषण संकटों से गुजरना पड़ा था। तभी तो हमारे अधिकांश गाँव डेढ़-दो सौ वर्ष से पहले नहीं जाते। पन्दहा आजमगढ़ से अगले स्टेशन रानी की सराय से एक मील पर निजामाबाद की सड़क पर है। वहाँ अधिकांश निवासी पाठक ब्राह्मणों की पट्टियों और पीढ़ियों का हिसाब लगाने से वह अधिक से अधिक दो सौ वर्ष पुराना गाँव हो सकता है, अर्थात् उसी समय बसा होगा, जब कि पलासी की लड़ाई को जीतकर अंग्रेज भारत में अपना राज्य कायम कर रहे थे। लेकिन, उससे पहले क्या पन्दहा की भूमि में आदमी नहीं बसे थे ? वहाँ की ताल-जैसी दूर तक फैली पोखरी को किसने खुदवाया, इसको कोई नहीं बतलाता, अर्थात् वह आज के गाँवों के बसानेवालों के आने से पहले मौजूद थी। उसके उत्तर तरफ, जहाँ से शुरू होकर एक नाला टौंस में जाता है, पुरानी आबादी के चिह्न स्वरूप मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े तथा दूसरी चीजें दूर तक बिखरी हुई हैं, जो बतलाती हैं कि पहले यहाँ आदमियों की बस्ती थी। इन छोटी

बस्तियों के बारे में बचपन में मुझे सुनने को मिला था। यहाँ शिवरी नाम की कोई जाति वसती थी, जो उजड़ कर कहीं दूसरी जगह चली गई, जहाँ उनके वंशज आज भी मौजूद हैं। अपने पूर्वजों के गाड़े हुए खजाने का बीजक उनके पास है, और वह कभी-कभी रात को उस खजाने को खोदकर निकालने के लिए आते हैं। पन्दहा के किसी वृद्ध ने उस समय वतलाया था कि रानी की सराय में घोड़ा-ऊँट लेकर कुछ शिवरी एक समय आये थे। ऐसे उजड़े हुए स्थान तो आजमगढ़ जिले में हजारों होंगे, मालूम नहीं वह शिवरी कहाँ की खुदाई के लिए आये थे।

जहाँ आज से दो हजार वर्ष पहले के सिक्के मनों मिल सकते हों, और जहाँ गुप्त-काल और कुषाण काल के ध्वंसावशेषों की भरमार हो, वहाँ की भूमि इतिहास के लिए कितनी सामग्री दे सकती है ? लेकिन, इतिहास में विवेक की बड़ी आवश्यकता होती है। सुनी-सुनाई, पढ़ी-पढ़ाई हरेक बात को अपनी जन्मभूमि के स्नेह से मिलाकर इतिहास बनाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। मोटे तौर से हमें जान लेना चाहिए कि यद्यपि मनुष्य आज से 4-5 लाख वर्ष पहले पृथ्वी पर मौजूद था, लेकिन वह उस समय पृथ्वी का अत्यन्त दुर्लभ प्राणी था। तब से आज से 25 हजार वर्ष पहले तक वह ऊबड़-खावड़ छिले हुए पत्थर के हथियारों का ही अधिक इस्तेमाल किया करता था। सींग और लकड़ी के भी हथियार वह वनाता था, लेकिन उसके छोड़े हुए हथियार अधिकतर पत्थर के ही मिले हैं। वह पुरा-पाषाण युग था। उसका अवशेष आजमगढ़ में मिलने की संभावना नहीं, क्योंकि यहाँ की भूमि हर दो शताब्दी में एक फुट के हिसाब से मोटी होती गई है, यदि पुरा-पाषाण-युग का मानव यहाँ रहा भी हो, तो उसकी छोड़ी चीजें जमीन के बहुत नीचे दब गई हैं। मध्य पाषाण-युग जो आज से 9-10 हजार साल पहले तक हमारे देश में रहा, जिसके हथियार भी छिले हुए पत्थर के थे, किन्तु उनमें विविधता अधिक थी; हमारे जिले में उसके अवशेषों के मिलने की बहुत कम संभावना है। इस समय भी मनुष्य केवल शिकारी ही था, वह खेती करना नहीं जानता था, और न गाँव तथा स्थायी घर बनाता था। नव पाषाण युग आज से 9-10 हजार वर्ष से शुरू होकर 5-6 हजार वर्ष पूर्व तक रहा। इस समय के घिसकर चिकने पत्थर के हथियार, हाथ के वने हुए सीधे-सादे मिट्टी के बर्तन और कच्ची दीवारों के मकानों के अवशेषों के प्राप्त होने की ही अधिक से अधिक हम आशा रख सकते हैं। यद्यपि वह 25 से 50 फुट के नीचे दबे हैं। वर्तमान धरातल से 25 फुट के नीचे वह जमीन है, जहाँ ताम्र-युग का आदमी पहले-पहल रहता होगा। हम अधिक से अधिक अपने इतिहास को 5 हजार वर्ष पहले ले जाने की आशा रख सकते हैं, यदि उसके लिए धरती के नीचे सामग्री मिले। 3 हजार वर्ष पहले, अर्थात् आज के धरातल से 15 फुट नीचे उन लोगों के अवशेष मिल सकते हैं, जो कि लोहे का इस्तेमाल करते थे। लेकिन उसे भी प्रागैतिहासिक युग ही कहा जाता है, ऐतिहासिक युग तो बुद्ध के समय, अर्थात् ई. पू. 5वीं-6ठी शताब्दी से शुरू होता है। मुझे विश्वास है कि ऐतिहासिक युग के आरंभ से ही पुरानी सामग्री आजमगढ़ जिले में अधिक मिल सकती है। हरेक संस्कृत जाति के लिए अपने इतिहास के प्रति जिज्ञासा और प्रेम होना स्वाभाविक है, आजमगढ़ियों का भी इधर ध्यान जाना जरूरी है। लेकिन, उनको संग्रह करके किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए इतिहास की सीमाओं को समझ लेना जरूरी है। इतिहास को पुराण बनाने की कोशिश नहीं करनी चाहिए।

पन्दहा (पानीय-हद) और रानी की सराय का किसी रूप में अस्तित्व ईसा की 5वीं-7वीं शताब्दी में भी था। पन्दहा में एक देवी के स्थान पर बहुत समय तक पड़ी एक खंडित मूर्ति इस बात को सिद्ध कर रही थी, और रानी की सराय के रानी पोखर तालाब पर अवस्थित महाबीरजी के मन्दिर के पास उसी काल की एक खंडित छोटी-सी मूर्ति मैंने 1943 में देखी थी।

2
इतिहास

इतिहास एक बड़ा दिलचस्प विषय है, परन्तु जब एक व्यक्ति के जीवन-इतिहास को लिखने में हजारों पृष्ठ लग जा सकते हैं, तो एक देश या जिले के इतिहास को लिखने के लिए तो और भी विस्तार में जाने की आवश्यकता पड़ेगी। हमारा आजमगढ़ जिला कम्पनी के शासन काल में सिपाहियों के मुख से बनौधा कहा जाता था। बैसवाड़ा और बनौधा के सिपाहियों की कम्पनी की सेना में बड़ी माँग थी। उस समय आजमगढ़ और आसपास के कुछ जिलों को क्यों बनौधा कहा जाता था, यह एक विचारणीय बात है। यहाँ 18-19वीं सदी में बहुत अधिक वन रहा हो, इसकी संभावना नहीं मालूम होती। प्राचीन काल में आजमगढ़ जिला काशी-जनपद का एक अंग था। उस समय नगर का नाम काशी नहीं बल्कि वाराणसी था, जो ही बिगड़कर बनारस बन गया। आजमगढ़ के जिले की भाषा भोजपुरी है, लेकिन भोजपुरी का जो रूप बलिया, छपरा, चम्पारन और आरा में बोला जाता है, इसमें कुछ अन्तर है, विशेषकर स्वरों के उच्चारण को खींच कर जो मधुरता पूर्वी भोजपुरी में मिलती है, वह इसमें नहीं है। इस प्रकार हम पूर्वी और पश्चिमी भोजपुरी का भेद करके इस जिले की भाषा को पश्चिमी भोजपुरी कह सकते हैं। युद्ध काल में पूर्वी भोजपुरी के बोलने वाले अधिकतर मल्ल-जनपद में थे, उसी तरह पश्चिमी भोजपुरी के इन दोनों रूपों को हम काशिका और मल्लिका भी कह सकते हैं। हमारी भाषाएँ और बोलियाँ प्राचीन काल के जनपदों की सीमाओं को बतलाती हैं। इसमें शक नहीं, युद्ध काल में आजमगढ़ में जो बोली बोली जाती थी, वह उसके बहुत नजदीक थी, जो कि पालि त्रिपिटक या अशोक के पूर्वी शिलालेखों में मिलती है। पीढ़ियाँ बीतती गईं, भाषा में भी परिवर्तन होता गया। ईसवी सन् के आरंभ के आसपास आजमगढ़ में प्राकृत भाषा बोली जाती थी, जिसे और प्राकृतों से भेद करने के लिए काशिका प्राकृत कहा जा सकता है। छठी सदी के आसपास भाषा में और परिवर्तन होकर अब काशिका अपभ्रंश यहाँ की भाषा हो गई, जिसके कुछ उदाहरण कविता के रूप में हमें मिलते हैं। यह काशिका अपभ्रंश मुसलमानी शासन के आरम्भ के समय तक चली आई, जिसके बाद आज जो भाषा वहाँ बोली जाती है, इसका सबसे प्राचीन रूप प्रयोग में आता था।

भाषा के परिवर्तन का प्रभाव नामों पर भी पड़ता रहा है। अपभ्रंश के अंत-काल तक नामों का रूप तत्सम् नहीं होता था, और माधव का माहव ही उस समय सुनने में आता। इसी तरह पुर उर के रूप में सुनाई पड़ता और नगर नअर या नौर। आदमियों के नाम मुसलमानी शासन से तुरन्त पहले जैसे होते थे, इसके थोड़े-से उदाहरण गहड़बाल गोविंदचन्द के ताम्रशासनों में मिलते हैं। लेकिन, आज उन अपभ्रंश नामों का कोई प्रयोग नहीं करता। हरेक नाम को तत्सम् बनाने का प्रयत्न देखा जाता है। लेकिन, गाँवों के नामों में उस-उस काल के रूप अब भी मिलते हैं। जो नाम मुसलमानी सम्पर्क को बतलाते हों, वह तो निश्चय ही 12वीं सदी के बाद के हैं। इन मुसलमानी नामों में भी प्रयत्न किया जाय, तो कहीं-कहीं मालूम हो सकता है कि कौन-से नाम दिल्ली के तुर्क-सुल्तानों के समय के हैं, कौन-से पठानों के समय के और कौन-से मुगलों के समय के। मुस्लिम काल से पहले के नाम हमें ज्यादातर आजकल अप्रयुक्त तथा अंडबंड-से मालूम होंगे। यह नाम स्वयं एक बड़े अनुसन्धान के विषय हैं। दूसरे देशों में विद्वानों ने इसके ऊपर बहुत काम किया है। हमारे यहाँ इसकी ओर अभी उतना ध्यान नहीं गया है।

यहाँ यह भी समझ लेना जरूरी है कि हमारी भूमि इतिहास काल में यद्यपि बहुत नहीं बदलती है, तो भी हर शताब्दी में 6 इंच वह मोटी होती गई है, जिसका अर्थ है जयचन्द के समय से आज तक प्रायः साढ़े 3 फुट धरती मोटी हो गई, कालिदास और विक्रमादित्य के समय से सात फुट और अशोक के समय से 11-12 फुट मोटी। इसलिए नदियाँ और नालों के कटाव में तथा पुराने ऊँचे गढ़ों में कहीं-कहीं वर्षा के अन्त में हमें ऊपर भी चाहे पुराने समय की चीजें दिखलाई पड़ें, पर अधिकतर पुरानी वह हमें नीचे स्तर पर ही मिलेंगी।

गाँवों में भी परिवर्तन हुए हैं। पुराने समय में जब भीषण खूनी लड़ाइयाँ होती थीं, तो गाँव के गाँव उजड़ जाते थे। उस समय वैसा ही दृश्य उपस्थित होता था, जैसा कि भारत के विभाजन के समय पाकिस्तान के दोनों ओर की सीमाओं में हुआ था। अत्यन्त प्राचीन काल के बारे में हम नहीं कह सकते, लेकिन मौर्य-साम्राज्य के नष्ट होने के समय ई. पू. दूसरी शताब्दी में जो भीषण लड़ाइयाँ हुई थीं, उनमें आजमगढ़ की बहुत-सी बस्तियाँ उजड़ गई होंगी। यवन (ग्रीक) राजा मिनान्दर भी मौर्य-साम्राज्य के हिस्से-बखरे में भाग लेना चाहता था। उसने पंजाब से गंगा-जमुना की उपत्यकाओं में ध्वंसलीला मचाते साकेत (अयोध्या) को घेर लिया था। ईसवी सन् के आरंभ में फिर शक लोगों ने उसी तरह भारत पर धावा किया और काशी (वाराणसी), पाटलिपुत्र (पटना), साकेत आदि पर उन्होंने जबर्दस्त प्रहार किया। इस समय भी न जाने कितने गाँव, निगम (कस्बे) और नगर नष्ट हुए होंगे। ईसवी चौथी सदी के अन्त में चीनी यात्री फाह्यान ने हमारे यहाँ के बहुत-से पुराने समृद्ध स्थानों को उजड़ते देखा था। राजशक्ति के गुप्तों के हाथ में जाने के कारण जो संघर्ष हुआ, उसका भी प्रभाव ग्रामों-नगरों पर पड़ा होगा। यद्यपि यह संघर्ष अधिकतर स्वदेशियों का था, इसलिए उतना खूनी न हुआ होगा। छठी शताब्दी में श्वेत-हूणों (हेफ्तालों) ने मध्य एशिया से आकर भारी खून-खराबी की थी, वह लूटते-पाटते मगध के भीतर तक घुस गये थे। साकेत, वाराणसी और पाटलिपुत्र के त्रिकोण में रहनेवाले इस जिले को उस समय अछूता रहने का मौका मिला होगा, इसकी कम संभावना है। छठी सदी के बाद कितनी ही छोटी-मोटी उथल-पुथल हुई होगी; पर भीषण उथल-पुथल 13वीं सदी के आरंभ में हुई जब कि तुर्कों की तलवार ने प्रलय मचाई। उन्होंने संपत्ति लूटने और शत्रुओं के दुर्गों और नगरों को जलाने तक ही संतोष नहीं किया, बल्कि संस्कृति के पुराने प्रतीकों—मन्दिरों, उनकी मूर्तियों को पूरी तौर से और चुन-चुनकर नष्ट-भ्रष्ट किया। आगे की सात शताब्दियों में भी जब-तब ऐसी ध्वंसलीलाएँ इस जिले में हुई होंगी, किन्तु वह बहुत कुछ आधुनिक इतिहास की बातें हैं, इसलिए उन पर, उनके विषय में हम कुछ नहीं कहते।

3
नाम

हमारे गाँवों के नामों पर भाषा-परिवर्तन और उथल-पुथल की छाप है। नाम जितने ही समझने में कठिन तथा ऊटपटाँग मालूम हों, उतने ही वह अधिक ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं, और अनुसन्धानकर्त्ताओं के लिए दिलचस्प होते हैं। उनमें मुस्लिम सम्पर्क वाले नामों को पहले ही अलग कर दें, फिर तत्सम नामों को भी इसी काल की उपज समझ कर निकाल दें, तो प्राग्मुस्लिम काल के नाम हमारे सामने रह जाते हैं। तो यह भी याद रखने की बात है कि परगनों के नाम अधिकतर काफी पुराने होते हैं। मैं यहाँ केवल अपने जन्मग्राम पन्दहा (रानी सराय के पास) और पितृग्राम कनैला (चिरैयाकोट के पास) के ही आस-पास को लेता हूँ, क्योंकि मुझे अधिकतर यहीं के गाँवों के नामों को सुनने या देखने का मौका मिला था। पन्दहा पानीयहद का बिगड़ा रूप है। उसके पास अब भी कई गाँवों का सम्मिलित विशाल जलाशय (पोखरी) है। उसके आस-पास के गाँव हैं :—

सेठवल, रानी की सराय, बाँकीपुर, अन्धौरी, बढ़ेया, गन्धोई, रघुनाथपुर, नदोली, मटनपुर, बुरहानपट्टी, सालेहपुर, खतीयपुर, उमहा शाहपुर, मूलराजपुर, मुस्तफावाद, मैनपापुर, खरिहा, कोटला रायपुर, नत्थूपुर, रुदरी, आँवक, कोठिया।

इन नामों में बुरहानपट्टी, सालेहपुर, खतीबपुर, शाहपुर, मुस्तफाबाद तो सीधे मुस्लिमकालीन नाम हैं। मूलराजपुर, रानी सराय, रघुनाथपुर, रायपुर अधिकतर तत्सम या आधुनिक काल के नाम हैं। बाकी नामों में विचित्र-से नाम हैं : सेठवल, अन्धौरी, उमहा, खरिहा, रुदरी और आँवक। प्राग्मुस्लिम काल के नाम अपभ्रंश या उससे पहले के प्राकृत काल के हो सकते हैं। आँवक आम्रक का रूप है। सम्भवतः प्राचीन काल में यहाँ

आम के बगीचों की बहुतायत हो या किसी सामन्त ने वहाँ कोई बड़ा आम्रउद्यान लगाया हो। यह भी स्मरणीय बात है कि आँवक में यद्यपि मुसलमानों की प्रधानता है, लेकिन वहाँ किसी समय सूर्य का एक प्रसिद्ध मन्दिर था, जो मुस्लिम काल में ध्वस्त कर दिया गया। सूर्य चाहे सविता के नाम से वैदिक काल में भी पूज्य रहे हों, लेकिन मूर्तिवाले देवता के रूप में उनकी पूजा का सबसे अधिक प्रसार शकों हेफ्तालों (श्वेत-हूणों) ने ईसवी सन् के आरंभ से छठी शताब्दी तक में किया। श्वेत-हूण वस्तुतः मंगोलायित मुख-मुद्रा वाले हूण नहीं थे, बल्कि शकों के ही सगे-सम्बन्धी तथा उन्हीं की तरह लंबी नाक, भूरी दाढ़ी-मूँछ, भरे मुँह वाले थे। इन लोगों द्वारा प्रचारित सूर्य-प्रतिमा द्विभुज होती है, दोनों हाथों में सूर्यमुखी फूल दोनों कंधों के ऊपर रहते हैं, और सबसे विशेषता यह है कि प्रतिमा के पैरों में बूट होता है। कोई हिंन्दू देवता बूट नहीं पहनता, लेकिन शकों और हेफ्तालों ने अपने पहनने के बूटों को ही अपने देवता के पैरों में भी पहना दिया। सूर्य से सम्बद्ध आजमगढ़ में और भी कितने ही स्थान हैं। जहाँ साल में किसी समय मेला लगता है, वहाँ ऐसी सूर्य-प्रतिमाओं की खोज करनी चाहिए।

रानी की सराय बहुत पुरानी बस्ती नहीं है, क्योंकि उसे मेंहनगर के राजा की रानी द्वारा बनाई एक सराय के नाम से प्रसिद्ध बतलाया जाता है। पिछली शताब्दी के अन्तिम दो और वर्तमान शताब्दी के तीन या चार वर्षों तक मैं रानी की सराय के प्राइमरी और अपर-प्राइमरी स्कूल में पढ़ता था। मेरे अंतिम सालों में ही आजमगढ़ से शाहगंज को मिलाने वाली रेलवे-लाइन बनी। जिन खेतों में मैंने मटर की छीमियाँ रखवाली करने वाली लड़कियों को चिढ़ाते हुए खाई थीं, वह मेरे सामने ही परती डाल दिये गये, फिर रेल की पटरी बिछ गई और ट्रेनें दौड़ने लगीं। वर्तमान शताब्दी के अत्यंत आरंभ में भी अभी यातायात के संबंध में रानी की सराय प्राचीन युग में थी, उस युग में ऊँटगाड़ियाँ परिवहन का सबसे आधुनिक साधन मानी जाती थीं। हाँ, दो घोड़ों वाली सिकड़ (बग्गी) में डाक आती थी, जो अँग्रेजों की देन थी। अभी सरायों का उपयोग होता है, इसलिए रानी की सराय की सराय बहुत कुछ अच्छी अवस्था में थी। शायद सारी रानी की सराय में कोठों वाला घर इसी का फाटक था। फाटक बहुत ऊँचा था, जिस के भीतर दोमंजिला ऊँट गाड़ी चली जा सकती थी। माल की ढुलाई में बैलगाड़ियों का भी बहुत हाथ था, और वह इसके लंबे-चौड़े सेहन में ठहरा करती थीं। सराय में एक अधेड़ पगली औरत रहती, जिसे लोग बहुत चिढ़ाते थे। रेल आई, सिकड़म की डाक बन्द हुई, देखते-देखते ऊँटगाड़ियाँ लुप्त हो गईं, और स्टेशन होने तथा निजामाबाद और दूसरी जगहों के लिए केन्द्रीय मंडी बन जाने के कारण रानी की सराय की वृद्धि हुई। मेंहनगर की रानी ने सराय और उससे कुछ हटकर एक तालाब (रानी पोखर) बनवाया था। तालाब की पक्की सीढ़ियाँ मेरे बचपन में ही बहुत कुछ टूट-फूट गई थीं। यह कह नहीं सकता कि जिस रानी ने सराय और पोखरे को बनवाया था, वह मेंहनगर के राजा के हिंदू रहते समय की थीं या मुसलमान होने के समय। जो भी हो, रानी की सराय का इतिहास दो-तीन सौ वर्ष से पुराना नहीं जा सकता।

आज गाँवों की जो चौहद्दियाँ पाई जाती हैं, यह अँग्रेजों के समय निश्चित की गईं। हो सकता है, पहले के एक गाँव के दो गाँव कर दिये गये हों, या दो गाँवों को मिलाकर एक बना दिया गया हो। सेठवल रानी की सराय और पन्दहा से भी पुराना गाँव है। वह कम से कम अपभ्रंश काल का तो जरूर है। इसका संस्कृत रूप श्रेष्ठीवान् या श्रेष्ठीपल्ली दोनों हो सकता है। श्रेष्ठी या सेठ बड़े व्यापारियों को कहा करते थे। पुराने समय में व्यापारिक नगर या निगम नदियों के किनारे हुआ करते थे, क्योंकि व्यापार के लिए नौकाओं द्वारा पण्य भेजना अधिक सस्ता पड़ता था। टौंस जैसी नदियाँ साल-भर वणिकपथ का काम देती थीं। आजमगढ़ से मँगई (मार्गिका, मार्गिकी) जैसी नदियाँ भी व्यापारियों के काम की थीं। हाँ, इनके द्वारा नौ-यात्रा सावन-भादों के नौ महीनों में ही होती थी। सेठवल टौंस से दूर हटकर है, यदि उस युग में व्यापार के लिए कहीं छोटा-मोटा नावों का टिकाव रहा होगा, तो वह मझगाँव (मध्यग्राम) में ही। मध्यग्राम में किस बात की मध्यता थी ? क्या किसी एक वणिक-नगर से दूसरे वणिक-नगर में जाते समय यह मध्य में पड़ता था ? आज पन्दहा से नातिदूर आजमगढ़ और निजामाबाद दो नगर या निगम पड़ते हैं। इनके नाम मुगलों के अंतिम शासन के चिह्न हैं, लेकिन

इसका यह मतलब नहीं कि यहाँ पहले कोई वस्ती नहीं थी। पुराने नामों का परिवर्तन साधारण-सी बात है। यह दोनों कितने पुराने हैं, इसका पता वहाँ मिलने वाली टूटी-फूटी मूर्तियाँ, भिन्न-भिन्न आकार की ईंटें तथा जब-तब मिलनेवाले सिक्के बतला सकते हैं। इस प्रकार सेंटवल सेंटोंवाला कोई कस्वा रहा होगा, नदी से हटकर होने के कारण इसकी सम्भावना बहुत कम है। हो सकता है, किसी श्रेष्ठी को किसी राजा ने इस भूमि को प्रदान किया हो।

इसी तरह का एक नाम बछवल मिलता है, जो मेंहनगर के पूर्व मँगई के किनारे अवस्थित है। इसका संस्कृत रूप वत्सवान, वत्सपल्ली या वत्सवल्ली हो सकता है। लेकिन, वत्स से यहाँ बछड़ा अभिप्रेत था, या उस नाम का कोई सामंत, यह नहीं कहा जा सकता। वत्सराज नाम पुराने काल में आम हुआ करते थे। वत्सदेव-गंगा-जमुना के बीच में इलाहाबाद और फतेहपुर जिलों का था, उससे संबंध होने की सम्भावना कम है। नदौली, नन्दवल्ली, नन्दपल्ली हो सकता है। पल्ली छोटे ग्राम को कहते थे। पन्दहा से कनैला जाने में पलिया नाम का एक छोटा गाँव मिलता है। प्राकृत अपभ्रंशकाल में नामों में आदि के अक्षर बहुत कम बदलते थे, इसलिए पल्लिका पलिया के रूप में अब भी मौजूद है।

कनैला स्वयं यद्यपि पुराना ग्राम नहीं मालूम होता, यदि वहाँ के बहुसंख्यक ब्राह्मणों को लिया जाय। परन्तु, वहाँ के ध्वंसावशेषों और खंडित मूर्तियों को देखने से मालूम होता है कि मुसलमानी शासन के आरम्भ होने से पहले भी वहाँ अच्छी-खासी वस्ती थी। वहाँ के अधिकांश पोखरे-पोखरियाँ पुराने समय की हैं। मँगई किसी समय इस गाँव की सीमा थी, लेकिन अंग्रेजों के शासन की स्थापना होने के बाद गाँव का कितना ही दक्षिणी भाग निकल गया। इसके आस-पास वड़ौरा, किसनपुर, धरवारा, डीहा, चकरपामपुर, नरेहता, भुजही, सिसवा आदि ग्राम पड़ते हैं। डीहा का नाम ही बतलाता है कि वह किसी डीह या गाँव के ध्वंसावशेष पर बसा है। सिसवा शिंशपा से बिगड़ा मालूम होता है। मँगई के दाहिने किनारे दूर तक यहाँ पुरानी बस्तियों के ध्वंसावशेष मिलते हैं, और कुषाण राजा कनिष्क तथा दूसरों के सिक्के वहाँ बहुत सुलभ हैं। कुषाण काल में निश्चय ही मँगई के किनारे यहाँ कोई एक व्यापारिक केन्द्र था। बछवल उसके पास ही है। बड़ौरा, बड्डउर, भद्र-पुर का रूपान्तर है। यह नाम वतलाता है कि यह तत्सम् शब्दों के प्रचार के पहले का गाँव है। कनैला जिस भितूपुर तप्पे में है, वह उससे उत्तर में बसा है।

इन उदाहरणों से मालूम होगा कि गाँवों के नामों का विशेष ऐतिहासिक महत्त्व है। इनके नाम पड़ने के कारणों की किंवदंतियाँ यदि जमा कर सकें, तो उनसे कई तथ्य निकल सकते हैं। यदि नाम प्राचीन मालूम होते हों, तो वहाँ पुरातात्विक सामग्री के मिलने की भी संभावना है। इतिहास के लिए सबसे पक्का प्रमाण वहाँ की धरती से निकलनेवाली पुरातात्विक सामग्री होती है। ईंटें, दीवारों की मोटाई, मूर्तियाँ, प्रस्तरशिल्प, सिक्के ये सब समय के निर्णय करने में बड़े सहायक होते हैं। मौर्य काल की ईंटें प्रायः 20 इंच लम्वी 14 इंच चौड़ी और 3-साढ़े 3 इंच तक मोटी होती थीं। कुषाण-समय (ईसवी सन् के आरंभ) में वह 14 फुट लंबी 2 सवा 2 फुट मोटी होती थी। गुप्त काल ईसा के चौथी सदी में वह 14 इंच लंबी, 8 इंच चौड़ी और दो-ढाई इंच मोटी होती थीं, मुसलमानों के आने के समय वह 7 से 12 इंच तक लंबी, 5 से 9 इंच तक चौड़ी और 2 इंच मोटी मिलती हैं। लाखौरी छोटी-छोटी ईंटें मुगलकाल को बतलाती हैं। जिले के इतिहास-प्रेमियों को अपने आस-पास की ऐतिहासिक सामग्री के ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न करना चाहिए।

4

हिन्दू-मुस्लिम

मेरी मातृभूमि और ननिहाल पन्दहा है। पितृभूमि कनैला (मुहम्मदाबाद तहसील) पिता का गाँव होने से उसके

साथ भी सम्बन्ध था; लेकिन आजमगढ़ जिले में रहने का मेरा सबसे अधिक समय पन्दहा में ही बीता। पन्दहा बहुत छोटा-सा गाँव था, आदमियों की संख्या में भी और क्षेत्रफल में भी। कनैला उससे बड़ा गाँव था, क्षेत्रफल में तिगुना-चौगुना लेकिन आबादी में सवाया-डेढ़ा से अधिक नहीं। कनैला में मुसलमान भी रहते थे, जिनमें पाँच-छः घर चुड़िहार और दो घर दर्जी थे। उनकी रहन-सहन और वेश-भूषा में दूसरों से केवल इतना ही फर्क था कि उनमें से कितनों के मुँह पर दाढ़ी थी। बेचारे गरीब कारीगर थे, न उन्हें पढ़ने-लिखने से काम था, और न मजहबी कट्टरता से। जहाँ चमरौटी (चमार लोगों की बस्ती) मुख्य आबादी से दूर बसी हुई थी, यहाँ यह लोग उसके ही एक भाग में थे। इससे यह मालूम ही होता था कि चाहे उनके हाथ का पानी न चलता हो, लेकिन समाज में उनकी वही स्थिति थी, जो उनके पास बसनेवाले अहीर लोगों की। काका-चाचा का रिश्ता गाँव में सब जातियों में होता था, और मेरे भी काका-चाचा इन चुड़िहारों और दर्जियों में थे। गाँव के ज्येष्ठतम घर की ज्येष्टतम संतान होने के कारण लड़कपन में कोई भी मुझे चाचा कहनेवाला नहीं था, पन्दहा में भी उसी तरह नाती और भांजे से मैं ऊपर नहीं उठ सका था। हमारे गाँव के चुड़िहारों का नाम भी कुछ तो कत्तर जैसा निरर्थक या किसी भी मजहब से न संवंध रखनेवाला होता था और कुछ ओलीजान (वलीजान) की तरह तोड़-मरोड़ कर बनाया गया। मैं अपने गाँव इम्तिहान देकर छुट्टियाँ मनाने प्रायः दिसम्बर के महीने में जाया करता था। मेरे चुड़िहार चाचा मुझे भी मेहमान समझते थे और वह बचपन की मेरी किसी फर्माइश को पूरा करने के लिए तैयार रहते थे। एकाध बार उन्होंने अपनी भट्टी पर सलाख से छेद कर वंशी बनाकर दी, लेकिन संगीत से मेरा छतीस का संबंध था। हाँ, कजली पोती पट्टियों को घिसने के लिए वह मोटे-मोटे चुड़ले जरूर बना दिया करते थे। मैं उर्दू पढ़ता था, हमारी पट्टियों पर मिट्टी पोती जाती थी और शीरे की स्याही से लिखना पड़ता था, इसलिए मुझे चुड़लों की आवश्यकता नहीं थी, किंतु रानी की सराय के मेरे अधिकांश सहपाटी हिंदीवाले थे, मैं उनके लिए कई चुड़ले बनवा कर लाता। कनैला के खेतों में पुरानी बस्तियों के अवशेष मिलते हैं। ईंटें, कुयें पाये जाते हैं। वहाँ पुराने जमाने के तालाब भी हैं। यद्यपि मुझसे सात पीढ़ी पहले गाँव के ब्राह्मणों के प्रथम पूर्वज इच्छा पांडे 17वीं सदी के दूसरे पाद में यहाँ आकर बसे, लेकिन उनसे पहले से भी दर्जी, चुड़िहार और भर यहाँ रहते थे। पुराने ध्वंसावशेषों में एक सैयद की कबर भी इसी बात को बतलाती है।

पन्दहा में कोई मुसलमान नहीं था, लेकिन वहाँ हिन्दू-मुसलमानों के सांस्कृतिक संपर्क को अधिक अच्छी तरह से मैं देख सकता था। उसके पड़ोस का गाँव बसई (वसति) कुलीन मुसलमानों का गाँव था। पहले और भी कितने ही घर रहे होंगे लेकिन मेरे बचपन में वहाँ सैयदों के दो घर रह गये थे, जुलाहे और दर्जी कई, बाकी घर कोइरी लोगों के थे। कोइरी का वस्ती में होने का मतलब है, वह बस्ती कभी खाती-पीती अच्छी समृद्ध रही होगी। कुछ दिनों तक सैयदों के दो-तीन लड़के रानी की सराय में मेरे साथ पढ़ने जाया करते थे। उस वक्त मैं सात-आठ साल का रहा हूँगा। अपने सहपाठियों के साथ मैं कितनी ही बार उनके घरों में भी जाता था। उस समय मुझे नहीं मालूम था कि इनके यहाँ हिंदुओं से भी कड़ा पर्दा होता है। मैं अपने साथियों की माँ और चाचियों को उस विशाल हवेली में चारपाई पर बैठे देखता। हवेली लाखोरी ईंटों की बनी थी और काफी विशाल थी, लेकिन उसका कुछ अंश उसी वक्त गिर गया था और बाकी बे-मरम्मत थी। किसी समय ये सैयद लोग आस-पास के कई गाँवों के मालिक थे। उनका अच्छा जमाना मेरे नाना के वचपन तक सन् 57 के विद्रोह के समय तक चला आया था। लेकिन, उनकी श्रीहीनता का कारण विद्रोह नहीं, बल्कि हद से ज्यादा फजूलखर्ची हुई। पीछे जब मैं निजामावाद तहसीली स्कूल में पढ़ने गया, तो वहाँ इससे भी बड़े काजी साहब के प्रासाद को दीन-हीन अवस्था में देखा। हमारे जिले के बहुत-से धनी-मानी खानदानी मुसलमान सैयद और सो भी शीया क्यों हैं, यह सवाल मेरे दिल में नहीं आता था। लेकिन, सबसे पुरानी स्मृति ऐसे ही शीया भद्र पुरुषों की तरफ ले जाती है। उनमें से थे मेरे नाना के दोस्त या परिचित, जिन्होंने मखमल पर बूटा की हुई टोपी मुझे दी, जिसे अपनी आदत से मजबूर हो मैंने दो-चार ही दिन बाद खो दिया। एक और निजामाबाद की तरफ से कोई प्रौढ़ भद्रपुरुष कभी-कभी हमारे घर से गुजरते थे। मुझे कौतूहल होता था, जब देखता था

कि वह हिंदुओं में सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मणों के हाथ का छूआ खाना छोड़ पानी भी नहीं पीते, और हमारे कुएँ से अपने हाथ से पानी निकालकर पीते थे। अपनी बाल-बुद्धि से या किसी के कहने से यही समझता था कि यह मुसलमानों के ब्राह्मण हैं।

बसई में बहुत-सी पक्की कवर थीं, नमाज पढ़ने की पक्की जगह भी थी और सैयद लोगों के नष्टप्राय बगीचे में अनार और शरीफे के पेड़ भी थे। वहाँ हमारे लिए सबसे आकर्षक चीज थी मोहर्रम का मेला। जब सैयद लोगों के भले दिन थे, उस समय कीमती कपड़े और दूसरी चीजों को हर साल के ताजिये के लिए बनाकर रख लिया गया था। कनैला के चूड़िहार हर साल कागज के बने ताजिया निकालते थे। बसई के जुलाहे भी दो-चार वैसे ताजिये खरीद लाते थे, लेकिन वहाँ की शोभा सैयद लोगों का वह कीमती ताजिया हुआ करता था। आस-पास के कितने ही गाँवों के लोग मेला देखने ही नहीं जाते, बल्कि कितनी ही हिंदू स्त्रियाँ इमाम हसन और बीवी फातिमा के नाम पर व्रत रखती थीं। सैयद लोगों के घरों में स्त्रियाँ पायजामा पहनती थीं, लेकिन पुरुष प्रायः एक तरह की धोती पहनते थे, जिसमें शायद तीन गज से अधिक कपड़ा खर्च नहीं लगता था। नाना भूतपूर्व सैनिक थे, मांस-मछली का उन्हें किसी वक्त बहुत शौक रहा होगा, किंतु अब वह कण्ठी बाँध चुके थे, तो भी अपने दुवले-पतले नाती के लिए मछली यत्न के साथ लाने में आगा-पीछा नहीं करते थे। मांगुर और सिंगी मछली बड़ी स्वादिष्ट होती हैं, लेकिन वहीं मालूम हुआ कि सैयद लोग बिना चोइयाँ की मछली नहीं खाते। नाना के मित्र सैयद अनवर हुसैन कितनी ही वार इन मछलियों को पकड़े जाने पर उन्हें दे दिया करते थे। रानी की सराय के स्कूल में, जव तक वह प्राइमरी तक रहा, एक ही और वह भी हिंदू अध्यापक रहा करते थे, लेकिन मेरे सामने ही अपर प्राइमरी हो जाने पर बारी-बारी से वहाँ नायब अध्यापक दो मुसलमान आये, जिनमें से एक पठान थे और दूसरे जोगी। मुझे यह नहीं मालूम था कि पठान और सैयद में सुन्नी और शीया का भी फर्क है। अपने जोगी अध्यापक के बारे में यह जरूर जानता था कि निजामाबाद के पास उनके ननिहाल के सारे जोगी मुसलमान हैं, लेकिन वह सिर पर गेरुआ कपड़ा बाँधे सारंगी बजाते गोपी-चन्द भरथरी का गीत गाते भिक्षाटन करते थे। यह तो निश्चय ही था कि इन जोगियों के पूर्वज कभी गृहत्यागी साधु शायद बौद्ध या नाथ रहे होंगे, फिर घरवारी और अन्त में मुसलमान हो गये। लेकिन जीविका को तो आसानी से छोड़ा नहीं जा सकता, इसलिए भरथरी गाने और भगवा रंग में अब भी उनका जोगीपन दिखलाई पड़ता था। हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य क्या है, इसे उस समय हम जानते भी नहीं थे।

5
जातियाँ

जातियाँ यों तो आज के समाज में भिन्न-भिन्न समुदायों की स्थिति को बतलाती हैं, जिसका संबंध केवल मन से ही नहीं है, बल्कि व्यक्तियों की आर्थिक सुख-सुविधा भी उस पर निर्भर करती है। बड़ी जातियाँ बड़े होने के साथ-साथ जमीन की मालिक होती हैं, पढ़-लिख कर ऊँचे दर्जों पर पहुँचना उनके लिए सुलभ होता है, लेकिन छोटी जातियाँ केवल अपमानित और लांछित ही नहीं होतीं, बल्कि आर्थिक तौर से भी हमेशा दबी रहने के लिए मजबूर की जाती हैं। भिन्न-भिन्न जाति वाले लोग अपने पूर्वजों की दुहाई देकर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करना चाहते हैं कि अपनी जाति में विवाह करने की कड़ाई करने के कारण हम अनादि काल से शुद्ध चले आये हैं। लेकिन, इतिहास का सहायक एक विज्ञान नृवंशशास्त्र भी है, जो इस तरह के दावों को खोखला बतलाता है। रंग, नाक की लम्बाई, ऊँचाई, खोपड़ी का आकार यह भिन्न-भिन्न वंशों के परिचय देते हैं। ब्राह्मणों को गोरा होना चाहिए। आज से डेढ़-दो हजार वर्ष पहले जब जात-पाँत का खण्डन बौद्ध करते, तो ब्राह्मण जवाब देते, जाति या वर्ण स्वाभाविक है, तभी तो ब्राह्मण गोरे रंग और भूरे वालवाले देखे जाते हैं।" आज कोई

ब्राह्मण इस तरह का जवाब नहीं दे सकता। मेरे ननिहाल में एक-तिहाई से कम ही ऐसे ब्राह्मण, स्त्री-पुरुष थे, जिन्हें गोरा कहा जा सकता, और भूरे बालों में तो मेरे नाना के खानदान की एक महिला थी, जो मेरी नानी लगती थी। बाकी दो-तिहाई में आधे से कुछ ज्यादा ताँबे अर्थात् पक्के रंग के थे, बाकी सब काले थे। कनैला में भी करीब-करीब वही बात थी। हाँ, वहाँ कालों की संख्या हमारे नजदीक के परिवारों में ही अधिक थी। ब्राह्मणों में इस तरह काले रंग का आना बतलाता है कि इतिहास के लम्बे अर्से में, जाति के भीतर ही विवाह करने की कड़ाई होने पर भी किसी समय रक्त-सम्मिश्रण हुआ था। इसलिए किसी भी जाति को आज शुद्ध नहीं कहा जा सकता।

प्रागैतिहासिक काल से देखने पर हमारे जिले में चार मूल जातियों का होना संभव मालूम होता है। आर्य, जो कि आज से चार हजार वर्ष पहले सिन्धु तट पर पहुँचने के समय बहुत गोरे और भूरे बालोंवाले थे, उसी तरह के जैसे कि आज के यूरोप के लोग। दूसरे ताम्र या मांगुर वर्ण के लोग थे जो मोहनजोदड़ो, हड़प्पा तथा दूसरी कितनी ही जगहों पर अपने बड़े-बड़े नगर बनाकर बसे हुए थे, उनके हथियार सभी तांबे के होते थे, लोहे का अभी आविष्कार नहीं हुआ था। इनके मुकाबले में उस समय के नवागन्तुक आर्य निरे बर्बर और असंस्कृत थे। तीसरी शबर जाति थी, जिसका रंग काला था। उस जाति के शुद्ध अवशेष अब भी आदिम जातियों के रूप में विन्ध्याचल और छोटा नागपुर के पहाड़ों में मिलते हैं। इन तीनों में रंग और कुछ और वातों का भेद था, लेकिन इनके चेहरे मंगोलियत नहीं थे। बहुत संभव है, मंगोलायित चेहरेवाली किरात जाति भी आजमगढ़ में प्रागैतिहासिक काल में रही हो, किंतु आज के वहाँ के निवासियों पर मंगोलायित मुख-मुद्रा का बिलकुल अभाव बतलाता है कि संभवतः वह बहुत पहले ही इस भूमि को छोड़कर हिमालय की तराई में चली गई, जहाँ उनके वंशज थारू और दूसरे अब भी मिलते हैं। सम्भव है प्राचीन किरात लोगों का कभी कोई अवशेष हमारे जिले में भी जमीन के नीचे दबा हुआ मिल जाये। किराते मंगोलायित तिब्बती, तुर्क-चीनी जातियों से बिल्कुल भिन्न थे।

जहाँ तक रंग का सवाल है आर्य, द्रविड़ और शबर तीनों जातियों की छाप हमारे जिले की हर जाति पर मिलती है। बहुत पुराने समय में ही गुपचुप ही सही हमारे पूर्वजों ने रक्त समागम कर लिया। इसीलिए जाति के तौर पर अब किसी को ऊँच-नीच कहने का अधिकार नहीं। हाँ, यह रक्त सम्मिश्रण सब में एक-सा नहीं हुआ है, किसी गाँव या इलाके की जातियों के लोगों को तीनों रंगों में विभक्त करके उसके प्रतिशत से आप जान सकते हैं। अतिरिक्त नाक की ऊँचाई भी जाति का परिचायक है। आर्य तुंगनास हुआ करते थे, बाकी दोनों जातियाँ चौड़ी नाकवाली होती थीं, जिनमें भी शवर सबसे अधिक चौड़ी नाकवाले। लम्वाई सौ तो चौड़ाई 80 से भी ऊपर। आर्य लम्बी खोपड़ी वाले थे, द्रविड़ शायद मध्यकपाल या चौड़े कपाल के। कहीं-कहीं इसका अपवाद भी देखा जाता है, अर्थात् भूरे बालों वाले भी चौड़े कपाल के मिलते हैं। हमारे जिले में लम्बे कपालों का एक तरह अभाव-सा है, और मध्यकपाल ही ज्यादा देखे जाते हैं, जो आर्यों और द्रविड़ों के सम्मिश्रण का फल है। नृवंशशास्त्र के अनुसार हम कह सकते हैं कि आजमगढ़ में अव सिर्फ एक ही जाति है, जिसके व्यक्ति तीनों रंगों के पाये जाते हैं। नृवंशशास्त्र के निर्णय हमें अपने जिले के प्रागैतिहासिक के बारे में कितनी ही बातें बतलाते हैं। लोगों की परम्पराओं, जनश्रुतियों, देवमालाओं पर भी इसका प्रभाव पड़ा है।

हमारे जिले में इलाके के इलाके ऐसे मिलेंगे, जहाँ किसी एक जाति का प्राधान्य देखा जाता है। बेलहा परगने में हर्षवर्द्धन वंशज बैस क्षत्रियों की प्रधानता है। सभी अपने कुल को ऊँचा बतलाना चाहते हैं। बेलहा के बैसों को अपनी लम्बी नाक का सबसे अधिक अभिमान था। उनको अपनी लड़कियाँ कई दिनों के रास्ते पश्चिम में कहीं ब्याहना पड़ता था। इस कहावत से बचने के लिए मेरे बचपन तक बैसों में पैदा होते ही लड़कियों के मार डालने का रिवाज था। बैस लोग अपने को वैसवाड़ा (उन्नाव जिला) से आया बतलाते हैं। वह किस वक्त आये और क्यों आये, यह भी इतिहास की गवेषणा का एक विषय है। यह भी सुना जाता है कि आते वक्त बैस लोग अपने पुरोहित कान्य-कुब्ज ब्राह्मणों को भी साथ लाये थे, जो पीछे ब्याह-शादी करके यहाँ के सर्वरियों में मिल गये। इसी तरह दूसरे इलाके भी मिल सकते हैं, जहाँ किसी एक राजपूत वंश या दूसरी जाति की प्रधानता है। हमारे जिले में कितने ही ऐसे इलाके हैं, जहाँ भूमिहारों की प्रधानता है, लेकिन कनैला के

जैसे भी कितने ही इलाके हैं, जहाँ मेरे बचपन में बहुत-से लोग जानते ही नहीं थे कि भूमिहार भी कोई जाति है। भूमिहार का स्थान सर्वरिया ब्राह्मणों और राजपूतों के बीच में पड़ता था। बहुत कुछ सम्भव है, कि वह गणों के लोग थे, जिन्होंने राजतंत्र को न अपना उसके साथ पैदा हुई आर्यों की वर्ण-व्यवस्था को भी स्वीकार नहीं किया, और साथ ही ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को भी दबी जवान से ही कभी स्वीकार किया। यदि जिले के भिन्न-भिन्न इलाकों में किन-किन जातियों की प्रधानता है, इसका आँकड़ा और नक्शा बना सकें, साथ ही उन जातियों या वंशों में अपने उद्‌गम के संबंध में जो परंपराएँ चली आती हैं, उन्हें मूलनिवास और दूसरी विशेषताओं को जमा किया जा सके, तो इससे इतिहास के कितने ही अंधकारपूर्ण स्थानों पर प्रकाश पड़ सकता है। कुछ साधारण पुस्तकों को पढ़कर कल्पना के सहारे इतिहास गढ़ना आसान है, लेकिन ऐसा इतिहास प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, उसके लिए तो बड़े परिश्रम से सामग्री जमा करनी पड़ती है। और न हो सके, तो हरएक शिक्षित यदि अपने ही इलाके और वंश की परंपराओं को संग्रह करें, तो इससे भी बहुत लाभ हो सकता है।

6
काशिका भाषा

हमारे जिले की भाषा आमतौर से भोजपुरी के नाम से मशहूर है। इसमें शक नहीं कि पूर्वी और पश्चिमी भोजपुरी भाषा में इतनी समानता है कि उसे एक ही भाषा कहना चाहिए। किंतु, बनारस और छपरा की भाषा के बोलने में कुछ अन्तर तो जरूर मालूम होता है। सम्पूर्ण भोजपुरी-क्षेत्र विंध्याचल से हिमालय की तराई तक दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व की ओर चला गया है। इसमें बागमती, गंडक, राप्ती, सरयू, घाघरा या देवहा, टौंस, गोमती और गंगा जैसी नदियाँ मिलती हैं। पश्चिमी और पूर्वी भोजपुरी के बीच में कोई प्राकृतिक सीमा नहीं है और वही बात बहुत कुछ अवधी और भोजपुरी की सीमा के बारे में कही जा सकती है। पूर्व में इसके सीमांत पर मगही और मैथिली भाषा के क्षेत्र हैं। मैथिली को इससे बागमती अलग करती है, और मगही को सोन। बीच में पश्चिमी मुजफ्फरपुर जिले में एक भाषा आती है, जिसे न पूरी तौर से भोजपुरी कहा जा सकता है, न मैथिली। यह वह भूमि है, जहाँ बुद्ध के समय शक्तिशाली लिच्छवियों का गणराज्य था। मैथिली की विशेषता "है" की जगह पर "छी-छा" का इस भाषा में पता नहीं है, इसलिए उसे मैथिली कहना मुश्किल है।

भोजपुरी जिन जिलों में पूरी तौर से बोली जाती है, वह है गंडक के दोनों तरफ की नेपाल तराई का कितना ही भाग, गोरखपुर, आजमगढ़, जौनपुर के कुछ भाग, गाजीपुर, बनारस, पुराना बनारस राज्य, मिर्जापुर का कुछ भाग, पलामू का कुछ भाग, शाहाबाद, छपरा, देवरिया और चम्पारन के जिले। जिसमें आजमगढ़ में बोली जानेवाली पश्चिमी भोजपुरी या काशिका के जिले हैं गोरखपुर, आजमगढ़, जौनपुर की कराकत तहसील, बनारस, बनारस-राज्य और मिर्जापुर का कुछ भाग। आजमगढ़ के भीतर भी घोसी तहसील और मऊ के आस-पास पूर्वी भोजपुरी शुरू हो जाती है।

आजकल की भाषाएँ–जिन्हें लिखित साहित्य न होने के कारण बाज वक्त बोलियाँ कहा जाता है–करीब-करीब बुद्धकाल (ई. पू. 5वीं-छठी शताब्दी) के जनपदों की सीमाओं को बतलाती हैं। यह करीब ही करीब कहा जा सकता है, क्योंकि मनुष्य जंगम प्राणी है। वह एक जगह बैठा नहीं रह सकता। उसके निवास-स्थान का प्रसार और संकोच इसकी शक्ति तथा परिस्थिति के अनुसार होता रहता है। इसलिए यद्यपि काशिका को अवधी से पूर्व सरयू (घाघरा) और गंगा के संगम से बनने वाले त्रिकोण में होना चाहिए, किन्तु अब घाघरा से उत्तर गोरखपुर जिले में और गंगा से दक्षिण भी कितनी ही दूर तक बोली जाती है। मल्लिका (पूर्वी भोजपुरी) जिसे घाघरा, गंगा, गंडक के बीच उत्तर में तराई तक होना चाहिए, उसने गंगा, गंडक और घाघरा की सीमाओं

के पार भी अपने पैर पसारे हैं। मनुष्य के इतिहास क्या, संसार की सभी चीजों के इतिहास को हमें स्थिरवाद की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए, क्योंकि परिवर्तन का नियम निरपवाद रूपेण सर्वत्र चलता है। भाषाओं में स्वयं अपने भीतर परिवर्तन होता रहता है, तभी तो वेद की भाषा से लेकर पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और आज तक हम एक ही भाषा की औरस संतानों को बनते देखते हैं। यदि हर समय की भाषा के नमूने प्राप्त हों, तो उनके परिवर्तन की गति और रूप को आसानी से समझा जा सकता है, किंतु मनुष्य ने अपनी गति का इतिहास अभी हाल में लिखना सीखा है। पहले की ऐतिहासिक बातें हमें जो प्राप्त होती हैं, उनको अकस्मात् ही समझना चाहिए।

काशिका के पुराने नमूनों को प्राप्त करना सम्भव नहीं है, लेकिन आजकल जो भाषा इस क्षेत्र में बोली जा रही है, उसमें बहुत-से अपरिचित से शब्द मिलते हैं, जिनकी व्युत्पत्ति तत्सम और तद्भव द्वारा करना बहुत कठिन है। ऐसे शब्द थोड़ा-सा अपने पूर्वजों का परिचय दे सकते हैं। अलिखित होने से आज जो भाषा हमारे जिले में बोली जाती है, उसके नमूने भी कितने ही समय में विकृत हो जायँगे। मेरे लड़कपन में बाजारवाले गाँवों की भाषा आदि में अपने पास के गाँवों से कुछ फर्क दिखलाई पड़ता था। पन्दहा में हम लोग जिसे 'धरना' कहते उसे रानी की सराय के रहनेवाले हमारे साथी लड़के 'पकड़ना' कहते थे। हालाँकि रानी की सराय आजकल का रानी की सराय नहीं था। 20-25 दूकानें जरूर थीं, लेकिन न वहाँ रेल थी, न शिक्षा-संस्कृति की कोई और विशेषता। निजामाबाद में तो हमारे साथी कस्बे के रहनेवाले अपने को कस्बाती और हमें दीहाती कहकर बहुत अकड़ते थे। वहाँ के कायस्थ और उनके पुरोहित ब्राह्मण किसी समय पश्चिम से आये थे। ब्राह्मण, अवधी के क्षेत्र से परे के थे, तो भी वह लोग आइन-गइन लगा कर अवधी बोलते थे। हमें उस वक्त यह नहीं मालूम था कि यह उनके बाहर से आने के कारण हैं। हम यही समझते थे, कि आइन-गइन कस्बाती भाषा है, और अइल-गइल दिहाती। बाजार-कस्बा शहर के रहनेवाले नवीन बातों को जल्दी स्वीकार करते हैं और उसके द्वारा अपनी विशिष्टता स्थापित करते हैं। हमारे गाँव में जब अभी मिर्जयी चलती थी और मदरसा जानेवाले लड़के ही कुर्ते पहनते थे, उस वक्त रानी की सराय से मिर्जयी करीब-करीब विदा हो चुकी थी। बूढ़े लोग भले ही घुटनों के ऊपर नीचे धोती पहनते हों, लेकिन तरुण तथा लड़के धोती के एक भाग को घुटनों के ऊपर और दूसरे को अँगूठे तक एक विचित्र ढंग से पहनते थे। इस प्रकार भाषा और वेष दोनों की प्राचीनता जितने समय तक गाँवों में रह सकती है, उतना कस्बों और शहरों में नहीं।

आर्थिक तौर से चाहे उतना फर्क न पड़ा हो; किन्तु शिक्षा के प्रसार और लोगों की अपने को पीछे न दिखलाने की इच्छा के कारण गाँवों की भाषा भी पिछली आधी शताब्दी में अक्षुण्ण नहीं रही है, उसमें भी भेद हुआ है और आगे और भी भेद होता जायेगा यदि प्राइमरी की शिक्षा का माध्यम बोलचाल की भाषा को नहीं बनायेगी। शीघ्र से शीघ्र निरक्षरता दूर करने के लिए ऐसा करने के सिवा और कोई रास्ता भी नहीं है, लेकिन हमारे शिक्षित ही नहीं, शिक्षाशास्त्री भी अभी तो मातृभाषाओं के महत्त्व को समझने के लिए तैयार नहीं हैं। गाँवों की पंचायतों में ऐसे लोग चुने जाते हैं, जो अपनी बोली ही में ठीक तौर से बोल सकते हैं, लेकिन उनसे आशा रक्खी जाती है कि वह अपने मुकदमों और पंचायतों की सारी कार्रवाई हिन्दी में करेंगे। जनता की पंचायत में जनता की भाषा का कोई स्थान न हो, यह विचित्र-सी बात है। शायद इन पंक्तियों के पाठक भी यह सुनकर झुँझलाते होंगे कि हिंदी को हटाकर प्रारंभिक शिक्षा आजमगढ़ के लोगों की बोली में हो। लेकिन, यदि जनता और उसकी भलाई इसी में है, तो "तत्र के वयं", इसे न दिल्ली के देवता रोक सकते हैं, न विश्व-ब्रह्मांड के प्रभु।

बोलियों के अध्ययन का अपना वैज्ञानिक महत्त्व है, इसलिए भी रोज-बरोज विकृत होती जाती आजमगढ़ की भाषा (काशिका) का संग्रह करना चाहिए।

7
लोक-साहित्य

साहित्य मानव की सभ्यता के आरंभ के साथ ही आरंभ हुआ। मनुष्य को उसकी विकसित भाषा जिस तरह और प्राणियों से अलग करती है, उसी तरह साहित्य द्वारा ज्ञान-विज्ञान और रसानुभूति प्राप्त करना भी उसकी अपनी विशेषता है। जिस वक्त भाषा अत्यन्त आरंभिक अवस्था में रही होगी, उस वक्त भी अपनी उपयोगिता के तौर पर ही नहीं, वल्कि चमत्कार से भी कई आदमी को प्रभावित करती रही होगी, जब संकेतों में भी हम मनुष्य को प्रभावित होते देखते हैं, तो उस वक्त की अल्प-विकसित भाषा में यह गुण विल्कुल न रहा हो, यह नहीं माना जा सकता। आज लोग किसी भाषा को साहित्यिक कहकर उसे शिष्ट और संस्कृत मानते हुए ऊँचा स्थान देना चाहते हैं, यदि वह लिखित है, और जिसका लिखित साहित्य नहीं, उसे वह बोली कहकर उपेक्षा करते हैं। आजमगढ़ की भाषा (काशिका भोजपुरी) भी इसी तरह अलिखित अतएव उपेक्षित भाषा है। लेकिन, कल तक यदि कोई भाषा अलिखित रही तो यह कोई जरूरी नहीं है कि आज भी वह लिखित न होगी और जहाँ तक उसमें भावव्यंजना का संबंध है, बिसराम के विरहों को जिन्होंने सुना-पढ़ा है, वह कह सकते हैं कि आधुनिक और प्राचीन काल के बहुत-से महाकवियों से भी बिसराम की भाषा और कविता बढ़-चढ़कर चमत्कारपूर्ण है।

लोक-वार्ताओं अर्थात् लोक-साहित्य के संग्रह की ओर इधर लोगों की बड़ी रुचि देखी जा रही है। यूरोप में जो काम पिछली शताब्दी में बड़े जोर-शोर से हुआ, उस दिशा में हमारे यहाँ अब कुछ-कुछ काम होने लगा है। पूर्वी भोजपुरी के गीतों के इधर अनेक सुन्दर संग्रह प्रकाशित हुए हैं। पश्चिमी भोजपुरीवाले जो इस दिशा में कोई काम नहीं कर सके, उसका कारण यही है कि वह मातृभाषा 'हिन्दी' के अनन्य भक्त हैं। मैं तो कभी हिन्दी को अपनी 'मातृभाषा' नहीं कहता। मेरी माँ कभी हिन्दी को अपनी भाषा नहीं कह सकती थीं। पर हिन्दी हमारी मातृभाषा नहीं है, तो इसका यह मतलव नहीं कि हम हिन्दी की उपयोगिता को नहीं मानते, सारे भारतवर्ष की एकता के लिए उसके महत्त्व को स्वीकार नहीं करते।

लोक-साहित्य के संग्रह के प्रति जिस प्रकार की उपेक्षा अभी तक बरती गई है, यदि हम शिक्षा और संस्कृति में आगे बढ़े हैं, तो उसे हटाना पड़ेगा और अपनी असली मातृभाषा को मातृभाषा कहने में शरमाना नहीं होगा। यह निर्विवाद है कि शिक्षित या अशिक्षित हरएक व्यक्ति को लोक-साहित्य से जितना मनोरंजन होता, उतना दूसरे साहित्य से नहीं। बिसराम अकेले ही एक महान् लोक-कवि नहीं हुए, बल्कि हमारी भाषा के इतिहास के आरंभ से आज तक हर शताब्दी में और हर जगह न जाने कितने विसराम पैदा हुए होंगे, जिनके गीतों को लोगों ने वड़े चाव से सुना और गाया होगा और अव वह अपने गीतों के साथ नाम शेष भी नहीं रह गये। हरएक पीढ़ी में पुराने गीत भूले जाते हैं, और नये लोगों की जीभ पर आते जाते हैं। आज जिस युग से हम गुजर रहे हैं, उसमें एक कमी यह है कि लोक-साहित्य में नई उत्कृष्ट देन देने की जगह हम सस्ती और दूसरी चीजें गाने लग जाते हैं। जिस समय इस तरह लोक-साहित्य का शीघ्रता के साथ लोप हो रहा हो, उस समय उसकी रक्षा की ओर तुरन्त ध्यान जाना जरूरी है।

लोक-साहित्य की अपनी-अपनी विशेषता होती है। ब्रज में रसिया बहुत प्रेम से गाया जाता है। हमारे काशिका के क्षेत्र की कजली की अपनी विशेषता है। अपनी बोली में कजली सुनकर कितना आनन्द आता है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं और यदि वह भारत से पाँच-सात हजार मील दूर सुनने को मिले, तो उस वक्त के आनन्द की बात ही क्या कहनी ? इस शताब्दी के आरंभ में पैसे-पैसे में कजली की सस्ती पुस्तिकाएँ बिका करती थीं, जिनमें कितनी ही पुरानी और कितनी ही नई गीतें रहती थीं। यदि हम पिछले पचास वर्षों की ही इन पुस्तिकाओं को जमा कर पायें, तो यह कम महत्त्व की बात नहीं होगी। पर छपने से कंठस्थ कजलियाँ कहीं अधिक हैं, आज भी यदि सारे भोजपुरी क्षेत्र की कजलियों को जमा किया जाय, तो उनकी संख्या हजारों

तक पहुँच जायेगी।

विरहा दूसरा जनप्रिय लोक-गीत है। इसका सम्बन्ध अहिर लोगों से जोड़ा जाता है, और वही इसे अधिक गाते रहे हैं, किन्तु यह वात नहीं कि दूसरी जातों में विरहा गाने या जोड़नेवाले नहीं हुए, बिसराम सिंह स्वयं इसके प्रमाण हैं। मेरे लड़कपन में महमदावाद की तरफ विहारी के विरहे बहुत मशहूर थे, जिनका प्रचार बनारस के पास तक चला गया था।

कजली, बिरहा, कहारों के गीत, धोबियों के बिरहे तथा और कितने ही तरह के पुरुषों के गीत हमारे यहाँ अब भी प्रचलित हैं। उसी प्रकार स्त्रियों के नाना प्रकार के गीत हैं। पद्य के अलावा गद्य का लोक-साहित्य भी बहुत विस्तृत है। बच्चों को सुनाई जानेवाली कहानियों में ढोलन, सारंगा सदावृक्ष जैसी कितनी ही कहानियाँ चम्पू की तरह गद्य और पद्य दोनों में हैं। इनके अतिरिक्त लोरिकी जैसे कितने ही पद्यमय पँवाड़े हैं। यदि सारे लोक-साहित्य का एक प्रतिशत भी जमा कर दिया जाये, तो यह विशाल और बड़ा सुन्दर संग्रह होगा, और बताएगा कि हमारे लोगों की बौद्धिक उड़ान कितनी थी। क्या यह कोई मुश्किल बात है कि यदि हमारे जिले के शिक्षित इसकी तरफ कुछ काम करें ? क्या 'कर्मयोगी' की शान के यह खिलाफ होगा यदि इस काम में वह हाथ बटाये, और उत्कृष्ट कृतियों को अपने कालमों में स्थान दे ?

लोक-साहित्य का महत्त्व केवल मनोरंजन तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उसका वैज्ञानिक महत्त्व और भी अधिक है। पर लोक-साहित्य के संग्रह में कुछ बातों पर ध्यान देना आवश्यक है–1. संग्रह ऐसे स्थान की भाषा से करना चाहिए, जहाँ साहित्यिक भाषा का प्रभाव कम से कम हो। 2. ऐसी जाति के लोगों की भाषा ज्यादा महत्त्व की होगी, जो आधुनिक शिक्षा-दीक्षा में बहुत पिछड़े समझे जाते हैं। 3. पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की, शहरों-कस्बों की अपेक्षा दीहात की भाषा अधिक शुद्ध होती है, इसलिए वहाँ के नमूने अच्छे होंगे। 4. बोलने-गानेवाला अपने मुँह से जैसा उच्चारण करे उसी तरह लिखना चाहिए, उसमें संशोधन जरा भी नहीं करना चाहिए। 5. हरएक गद्य या पद्य को सुनकर उतारते समय बोलनेवाले का नाम, जाति, आयु, गाँव, परगना, जिला और तारीख अवश्य लिख लेना चाहिए।

यदि आज हमने इस तरफ ध्यान नहीं दिया, तो साल-ब-साल यह पुरानी निधियाँ लुप्त होती जायेंगी। क्षणभंगुर मनुष्य के कंठ में वह चिरस्थायी नहीं रह सकती। आज भी उनकी मात्रा उससे आधी ही है, जितनी कि वर्तमान शताब्दी के आरंभ में थी। आनेवाली पीढ़ियाँ हमें इसके लिए अपराधी ठहरायेंगी, जब वह देखेंगी कि हमने लोक-हृदय से निकली इन अमोल-निधियों को नष्ट होने दिया। मुझे तो यह भी समझ में नहीं आता कि जिन समाचार-पत्रों का प्रचार केवल एक जिले के भीतर ही होता है वह उस ज़िले की भाषा में क्यों न निकलें।

8
घर में गंगा

दिनों और महीनों की तरह ऋतु बदलते और हर साल नये-नये दृश्य उपस्थित करते हैं। शायद मैं 3-4 साल से अधिक बड़ा नहीं हूँगा, जब कोई अकाल पड़ा था, 19वीं सदी के बिल्कुल आरंभ में। अकाल के मारे हमारे पितृग्राम (कनैला) का एक पूरा का पूरा टोला देश छोड़कर आसाम भाग गया। उसके बाद की वर्षा थी या उससे पहले की, यह नहीं कह सकता। शायद पहले की थी। मैं मातृग्राम (पन्दहा) से अपनी माँ के साथ पितृग्राम को जा रहा था। मुझे अच्छी तरह याद है, पाँच कोस की मंजिल किसी गोद में पार कर रहा था। गरीबों के घर में राब डालकर सत्तू की पिंडी सबसे अच्छी मिठाई है। मेरे हाथ में वैसी ही एक पिंडी थी, रास्ते में वर्षा आ गई। कपड़े का छत्ता उस वक्त हमारे जैसे घरों में बड़ी शौकीनी की चीज समझी जाती थी। बाँस

का छत्ता वर्षा को ज्यादा आड़ सकता है, लेकिन वह भारी होता है। विना छत्ते के भींगना जरूरी था। मेरे हाथ की सत्तू की पिंडी भी वर्षा की बूँदों से पिघल रही थी, और मैं उसे छोड़ना नहीं चाहता था।

वर्षा की दूसरी और बहुत-सी स्मृतियाँ वनी हुई हैं। फसल पकने के समय खेतों में चूहे घर बना लेते, और अनाज को खाते ही नहीं, बल्कि चुरा-चुरा कर अपनी विलों में काफी जमा कर लेते थे। मनुष्यों ने इसीलिए उनको मूस नाम दे दिया है, या उनकी चुराने की आदत से मूसना कहना शुरू कर दिया। इन विलों को खोद-खोद कर गाँव के और भी गरीब लोग चुराई हुई वालों को निकाल लेते थे। उनके विचार में ऊपर के ही खेत मालिक की मिलकियत थे। नीचे चुराकर रक्खी यह बालें उनकी नहीं थीं। लेकिन, मूस की विल को खोदने और बाल निकालने के काम बड़े करते थे। लड़कों के लिए मूस मारना वर्षा में एक वड़ा खेल हो जाता था। वह हर जगह मौजूद पानी को ढो-ढोकर विल में डालना शुरू करते, जब विल भर जाती तो चूहों को प्राण वचाने के लिए भागना पड़ता। कटे खेतों में कहीं ओट था नहीं, भागते हुए चूहों पर लड़कों की पलटन टूट पड़ती। मार कर उन्हें खाने में शायद ब्राह्मण लड़कों को भी एतराज नहीं था, यदि उनका जनेऊ न हो गया हो। जनेऊ के बाद पहले की स्थिति से परिवर्तन हो जाता है, इसे हरएक लड़कों को पता रहता है। पहले वह पाती चरानेवाले किसी जाति के मिट्टी के घड़े से पानी पी सकता था। अव वह उसके लिए वर्जित था, पहले वह उनकी रोटी भी खा सकता था। मेरे प्रथम विद्यागुरु महावीर सिंह राजपूत थे। बेचारे दो-चार महीने ही मुझे पढ़ा पाये थे कि घर में किसी फौजदारी के मामले में उन्हें सजा हो गई। मैं वहुत छोटा था। यद्यपि पन्दहा से रानी की सराय एक मील से ज्यादा नहीं है, पर पाँच-छः वर्ष के लड़के को भूख भी ज्यादा लगती है, मेरी नानी नहीं चाहती थी कि मैं दोपहर को खाने के लिए थका-माँदा घर आऊँ और फिर पढ़ने को जाऊँ। मुझे दोपहर की रोटी मुंशी भगवान सिंह जी बनाकर दे दिया करते थे।

चूहों के शिकार में मैं भी शामिल हो जाता था। मेरे नाना के गाँव के लोग पाठक थे, और मैं पाँडे। प्यार में कभी-कभी बड़े लोग 'पंडवा' भी कहते। नाती और भैने छोड़कर मैं और किसी बराबर के नाते का अधिकारी नहीं था। किसी-किसी का मैं पनाती भी लगता था। याद नहीं, मेरे सामने कोई चूहा भूना गया या नहीं। मैंने उसे नहीं चखा। चूहे के शिकार को मेरे नाना-नानी शंका की दृष्टि से देखते थे और बहुत समझाते थे कि चूहे की विल में गोहुअन साँप रहते हैं। लेकिन जब सव लड़के गोहुअन साँप से नहीं डरते थे, तो मुझे डरने की क्या आवश्यकता ? गर्मियों के दिनों में हमारे पन्दहा की पोखरी और गड़हियाँ सव सूख जातीं। वहाँ एक बड़ी गहरी गड़ही गाँव को दो भागों में विभक्त करती थी, और दूसरी हमारे नाना के घर के पास थी। जाड़ों में पानी के न होने से उनमें न मेंढक होते थे और न मछलियाँ। वर्षा होते ही पीले-पीले मेंढक टर्-टर् करने के लिए न जाने कहाँ से आ जाते ? गाँव का पानी खेतों और रास्तों से होता उत्तराभिमुख टौंस की ओर जाता। उसमें सिधरी और चल्हवे आ जाते थे। उस समय मुझे क्या मालूम था कि बरसात में अंडा देने के लिए मछलियाँ ऊपर की ओर चढ़ती सुरक्षित स्थान ढूँढ़ते खतरे को मोल लेती हैं। मैं समझता था वर्षा की बूँदों की तरह मछलियाँ भी आकाश से बरसती हैं। गड़हे से 20-25 हाथ पर और कुछ ऊँचाई पर नाना के बाहरी आँगन में एक बार चनगा मछली को फड़फड़ाते देखा तो मुझे पूरा विश्वास हो गया, ये मछलियाँ जरूर दैव के यहाँ से सीधे आईं।

पन्दहा से एक मील से कम ही पर पश्चिम ओर आजमगढ़ जिले की सवसे छोटी नदी बघाड़ी है। यदि आप वर्षा में भी निजामाबाद वाली सड़क पर जाते उसे पार करें तो मालूम नहीं होगा कि वहाँ कोई नदी है। पर आजमगढ़ की जमीन बहुत समतल है। पानी अधिक बरसा, तो जगह-जगह छोटी-मोटी धाराएँ बह निकलती हैं। हमारे पन्दहा वाले मजाक किया करते थे–बघाड़ी भी भारी नदी है, जरा भी पानी अधिक बरसा, तो उलटी बहने लगती है। पन्दहा के बूढ़ों को भी याद नहीं था कि टौंस ने कभी उन्हें नुकसान पहुँचाया। बघाड़ी जब उलटी हो जाती और पानी बहुत आने लगता, तो पन्दहा के खेतों को भी नुकसान पहुँचता। जब बहुत बड़ी बाढ़ आती और टौंस का पानी गाँव से दो-तीन सौ गज पर आ जाता, तो पन्दहा वाले उससे चिन्तित नहीं होते, बल्कि उनके यहाँ पर्व-त्यौहार का उत्सव मनाया जाता। गाँव के नर-नारी, बूढ़े-बच्चे सभी स्नान करने

जाते, कहते–गंगा घर में आ गई हैं। मुझे इसमें आपत्ति होती। सोचता–गंगा तो दूर हैं। जिस टौंस का यह पानी है, वह गंगा में जरूर मिलती है, पर गंगा का पानी टौंस से ऊपर चढ़कर पन्दहा में कैसे पहुँचेगा ? पानी मिट्टी मिला कुछ पीला-पीला-सा साल-भर गाँव के आसपास जमी हुई गन्दगी बह कर इसमें मिली हुई है, यह ख्याल मुझे नहीं आता था, क्योंकि वह वैसा गन्दा नहीं था। शंका होती थी, लेकिन तो भी मैं अपने बड़ों की तरह यही समझता था कि घर आई गंगा में जरूर स्नान करना चाहिए। हरेक बहते पानी को ये लोग पवित्र बुद्धि से देखते थे और उसे छोटी-मोटी गंगा ही समझते थे। कुमाऊँ-गढ़वाल में हरेक पहाड़ी नदी को किसी न गंगा का नाम दे दिया जाता है। ग्रहण होने पर एक बार रानी की सराय का सारा मदरसा "गंगा-स्नान" करने मँझगाँवाँ के पास टौंस पर गया था। मुंशी पत्तर सिंह ने लड़कों से बहुत-सा राम-नाम लिखवा, आटे में गूँधकर मछलियों को खिला पुण्य अर्जन किया।

9

रामदीन मामा

मेरे नाना रामसरण पाठक अपने तीनों भाइयों में मँझले थे। उनकी एक मात्र सन्तान मेरी माँ थी। बड़े नाना के पाँच बेटे और दो बेटियाँ और छोटे नाना के दो बेटे थे। बड़े नाना के सबसे छोटे लड़के रामदीन मामा मुझसे 10-12 वर्ष बड़े थे। पन्दहा में वह सबसे पहले आदमी थे, जिन्होंने मदरसे का मुँह देखा था। मेरी बालबुद्धि में तो सत्ययुग से ही रानी की सराय में मदरसा मौजूद था, पर पन्दहा "लिखलोढ़ा पढ़ पत्थर" वाले ब्राह्मणों का गाँव था। वहाँ विद्या की जरूरत नहीं समझी जाती थी, और लोगों का महावाक्य था–"चारों वेद घमाँके जौके डाँड़े।" रामदीन मामा साधारण बुद्धि के नहीं थे। उन्हें अवसर नहीं मिला, नहीं तो क्या होते, यह कहा नहीं जा सकता। रानी की सराय में तब लोअर-प्राइमरी तक ही पढ़ाई होती थी। अपर-प्राइमरी और मिडिल के लिए निजामाबाद या आजमगढ़ जाने की जरूरत पड़ती थी। मामा और उनके सहपाठी द्वारिका प्रसाद ने निजामाबाद में जाकर अपना नाम भी लिखवाया, लेकिन वहाँ वह पढ़ नहीं सके। घर में चार-पाँच बीघा मामूली से खेत थे, और परिवार बड़ा था, इसलिए निजामाबाद में भेजकर लड़के को पढ़ाना बड़े नाना की शक्ति से बाहर था। उनके दो लड़कों (बच्चा और जवाहर) ने कलकत्ता में जाकर पुलिस की नौकरी कर ली थी, और वह बराबर कुछ न कुछ भेजा करते थे, लेकिन रामदीन मामा के पढ़ने की अवस्था में शायद वह अधिक सहायता नहीं कर पाते थे।

उस वक्त आजमगढ़ के अनपढ़ लोग भी जानते थे कि पैसा कमाने की विद्या अंग्रेजी के बाद उर्दू ही है। कचहरियों के समन तथा दूसरे कागज-पत्र और थाने के दारोगा जी की रपट सब कुछ उर्दू ही में लिखे जाते थे। अभी मिर्जा सलीम जैसे चलते वकील भी थे, जो अंग्रेजी नहीं जानते थे, तो भी वकालत में दूसरों के कान काटते थे। लेकिन रानी की सराय में उर्दू में पढ़ाने वाले मुदर्रिस नहीं आते थे, शायद इसीलिए लड़के हिन्दी लेते थे, अथवा सभी के माँ-बाप अभी उर्दू के महत्त्व को उतना नहीं समझते थे, जितना मेरे नाना। रामदीन मामा ने प्राइमरी तक हिन्दी पढ़ी थी। उस वक्त के अध्यापक भी थोड़ी-बहुत उर्दू जानते थे, अपनी मेहनत से उन्होंने उर्दू भी सीख ली थी। दो-ढाई साल मदरसे में पढ़ने के बाद उनकी ली हुई उर्दू परीक्षा में जब मैं पास हो गया, तो उन्होंने मुझे शाबासी देते हुए चाचा को कहा–"पाँच साल की पढ़ाई में जितना उर्दू पढ़ गया, अब यह सरकारी कागज-पत्तर अच्छी तरह देख सकता है।" मुझे भी उस वक्त वैसा ही विश्वास हुआ। मैं यह तर्क करने के लिए तैयार नहीं था कि मामा ने स्वयं बाकायदा उर्दू नहीं पढ़ी, फिर वह पाँच साल की पढ़ाई की लियाकत कैसे जान सकते हैं।

पन्दहा के सबसे पहले मदरसिया पढ़ाकू होने के कारण रामदीन मामा की गाँव में काफी इज्जत थी।

और वह तो मेरे अपने मामा थे। अलिफ-वे शुरू कराने के लिए नाना ने उन्हीं के साथ मुझे रानी की सराय भेजा था। यदि अब भी वह स्कूल में पढ़ते रहे होंगे, तो साल डेढ़ साल से अधिक उनका-मेरा साथ नहीं रहा। पढ़ाई छोड़ने के बाद वह कितने ही दिनों तक घर ही पर रहे। जब मैं पढ़कर घर आता, तो वह मेरे पढ़े पाठ को दोहरवाया करते। अपने बाल-सहपाठी द्वारिका प्रसाद के साथ उनका बहुत स्नेह था। द्वारिका प्रसाद रानी की सराय के डाकमुंशी के लड़के थे। डाकमुंशी को उस समय भी रोमन अक्षर जानना जरूरी समझा जाता था, और शायद बाप ने बेटे को उसे सिखला दिया था, फिर रामदीन मामा को भी उसके सीखने में दिक्कत नहीं हुई। हिन्दी-उर्दू जानते ही थे, और अब रोमन अक्षर भी सीख गये थे, जिसे उस समय आम लोग अंग्रेजी सीखना ही जानते थे। डाक-विभाग में अब उन्हें नौकरी जरूर मिलनी चाहिए थी, लेकिन शायद उमर के ख्याल से या क्यों, कुछ सालों तक रामदीन मामा को घर पर ही वेकार रहना पड़ा। फिर वह चिट्ठीरसा हो गये। मालूम नहीं उनकी तनख्वाह कितनी थी–7-8 रुपये से अधिक तो नहीं होगी। वह जिले के ही भिन्न-भिन्न डाकखानों में रहते थे। जब आजमगढ़ से शाहगंज की रेलवे-लाइन खुल गई तो उसी पर किसी डाकखाने में वह काम करते थे और हर महीने एक-दो बार घर जरूर आ जाते थे। आज की तरह उन दिनों इतवार को डाक की छुट्टी होती थी, यह मुझे नहीं मालूम।

यदि रास्ता बतलाने वाला होता, या अवसर मिलता, तो रामदीन मामा अपने ज्ञान को और बढ़ाते, इसमें शक नहीं। अपर-प्राइमरी में दाखिल होते ही किताबों का मैं शौकीन हो गया था। बचपन से ही कहानियाँ सुनने में मेरी बड़ी रुचि थी, लेकिन एक बार सुनी कहानी को फिर दूसरी बार पसन्द नहीं करता था। ऐसे लड़के को कहानी सुनानेवाले जब बहुत हों, तभी वह संतुष्ट हो सकता है। ऐसा कोई भी अवसर आने पर मैं उससे चूकता नहीं था। पन्दहा में वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में पैमाइश आई। खेतों की नापी करने के लिए जो अमीन आये थे, वह हमारे नाना के ही बाहरी घर में रहते थे। घर में केवल तीन प्राणी थे और बखरी दो खंड की जिसके अतिरिक्त बाहर भी आधा खंड मौजूद था, जिसमें ही नाना का खुदवाया एक इनारा था। अमीन के पास पहले-पहल मैंने उर्दू में छपी खासी मोटी-सी एक किस्से की पुस्तक देखी। शायद मैं उसे पढ़ भी लेता था। पर अमीन से किताबी कहानियाँ बड़े चाव से सुनता था, जिसमें उड़नेवाले काठ के घोड़े की कहानी भी थी।

गाँव में अपनी ज्ञानवृद्धि के साथ-साथ जिसके साथ मैं सबसे अधिक आत्मीयता अनुभव करता था, वह रामदीन मामा थे। जब कभी वह छुट्टियों में घर पर आते, तो पढ़ने-लिखने के बारे में जरूर पूछते और उत्साह बढ़ाते। वह आगे बढ़ने नहीं पाये थे, इसलिए उनकी लालसा थी कि जिस मंजिल पर मैं नहीं पहुँच सका उस पर भैंने पहुँच जाय। शायद नाना को उन्होंने ही प्रेरित किया था कि मुझे अंग्रेजी स्कूल में पढ़ने के लिए भेजा जाए। उस समय अंग्रेजी स्कूल केवल एक आजमगढ़ का मिशन स्कूल था। शहर समझ कर वहाँ के खर्च से भी हमारे नाना जैसी हैसियतवाले लोग डरते थे, उनके लिए अंग्रेजी स्कूलों की फीस अपनी शक्ति से बाहर की मालूम होती थी। यह होना भी चाहिए था, क्योंकि उस समय एक रुपये का जितना गेहूँ मिलता था उसका दाम आजकल दस रुपये है। नाना को मामा ने विश्वास दिला दिया था कि आप पलटन में नौकरी कर चुके हैं, यदि पादरी साहब को जाकर एक बार पल्टनिया सलाम करेंगे तो वह जरूर फीस माफ कर देंगे।

रामदीन मामा और मेरे नाना का सपना सपना ही रह गया। निजामावाद में मिडिल उर्दू पास करने के बाद मैं भटक गया, और कई सालों बाद जब फिर अंग्रेजी स्कूल में जाने की इच्छा हुई, तो वहाँ तीन महीने से अधिक ठहर नहीं सका। मेरी पाठशाला कोई स्कूल नहीं बन सका। खुली दुनिया में घूमना और जहाँ-तहाँ फेंके हुए ज्ञान के कणिकों को चुगना–यही रास्ता मैंने अपनाया। बहुत वर्षों बाद जब मैं साधु होकर बिहार में रहता था, उस समय मामा मुझसे मिलने वहाँ गये थे। लेकिन घर की बेड़ी तोड़कर मैं मठ की बेड़ी पैरों में डालने के लिए तैयार नहीं था, इसलिए उनसे मुलाकात नहीं हो सकी। जब 50 वर्ष का होकर 1943 में पन्दहा पहुँचा, तो वर्षों पहले मामा चल बसे थे। मामा के ऋण को उतारने के लिए उनके जिन ज्येष्ठ पुत्र, दीपचंद को मैंने अक्षरारंभ करवाया था, वही वहाँ मिले।

10
जीवन-मृत

जीवन-मुक्त को देखा भले ही न हो, लेकिन पढ़े-लिखे लोग इस शब्द को जरूर जानते हैं। पर जीवन-मृत अनोखा शब्द मालूम होगा, खासकर अच्छे अर्थों में। पन्दहा ब्राह्मणों क़ा गाँव है। ब्राह्मण दूसरों के गुरु-पुरोहित हुआ करते हैं, इसका यह अर्थ नहीं कि उनके गुरु-पुरोहित नहीं होते। हमारे नाना का वंश गुरु तो शायद किसी का नहीं था, हाँ, सेठवल या दूसरे गाँवों में उनके मान न मान के यजमान कितने ही थे। पन्दहा गाँव के पुरोहित कोठिया के ब्राह्मण थे। याद नहीं उनकी पदवी क्या थी। गाँव के सवसे बूढ़े ऊधो बाबा (जन्म प्रायः 1830 ई.) हमारे पुरोहित थे। उनके एक लड़के थे, जिन्हें पुरोहिती से उतना सरोकार नहीं था, जितना नाच-गाने से। उन्होंने अपनी एक नाचमण्डली बाँध ली थी, जो कभी-कभी कृष्णलीला भी करती थी। वह शायद स्वयं इस मण्डली में सारंगी बजाते थे। ऊधो बाबा यह कैसे पसन्द करते कि उनके घर से पुरोहिती उठ जाये ! उन्होंने अपने नाती को रख लिया था। जब वह पन्दहा के यजमानों में आते, तो नाती के साथ आते थे। गुरु का दर्जा पुरोहित से बड़ा होता है, और गुरु यदि ब्राह्मण गृहस्थ हों तो उनके हाथ का नहीं, बल्कि उनका बचा-खुचा प्रसाद (भोजन) भी बहुत पवित्र माना जाता था। गुरु के आने पर रसोई का क़ाम उन्हीं को सपुर्द कर दिया जाता, यदि पक्की रसोई नहीं खिलानी होती। पुरोहित का दर्जा उतना ऊँचा नहीं था और उनके साथ ब्राह्मणों के साधारण नियम को बरता जाता है, अर्थात् जब तक रिश्तेदारी न हो, तब तक उनके हाथ का भोजन नहीं किया जा सकता। ऊधो बाबा को इसलिए भी अपने नाती को लाना पड़ता था।

ऊधो बाबा का बे दाँत का पोपला मुँह, पतली-दुबली अत्यन्त गौर मूर्ति अपनी ओर ध्यान जरूर खींचती थी। उनके नाती से पहले-पहल मैंने सुना कि बम्बई में खेमराज श्रीकृष्णदास का छापाखाना है, जहाँ संस्कृत की पुस्तकें छपा करती हैं। उस समय मुझे संस्कृत से कुछ लेना-देना नहीं था। जिस महापुरुष के बारे में मैं यहाँ कह रहा हूँ, वह पीतम्बर बाबा थे। गुरु-पुरोहित के साथ बाबा लगाकर कहने का रिवाज था, इसीलिए यह मालूम नहीं हो सका कि वह उपधिया थे, या कौन ब्राह्मण। पितम्वर बावा पक्के रंग के थे। उनके भी सारे वाल सफेद थे, लेकिन ऊधो बाबा से उमर में छोटे जरूर थे। वह जाड़े में ही नहीं, गर्मियों में भी कपड़े का कंटोप सिर पर पहने रहते और सदा बधिया खड़ाऊँ (पौवा) पर चलते थे। ऊधो बाबा की अपेक्षा वह अधिक पन्दहा में आते रहते थे। पुरोहित न हमारी कच्ची रसोई खाते और न हम उनके हाथ की खा सकते थे, पर पानी की छूत नहीं थी। पर, पितम्बर बाबा के साथ पानी की भी छूत थी। वह अपने लोटे में स्वयं पानी लाते और अपना भरा पानी किसी को नहीं देते थे। शायद कभी मैंने उनके पानी की इच्छा की होगी, नानी ने मना कर दिया—वह मरे हुए हैं। मैं कैसे मान लेता कि पितम्बर बाबा मरे हुए हैं। वह मेरे सामने चलते-फिरते दिखाई दे रहे थे। भूत उन्हें मैं नहीं कह सकता था, क्योंकि उनके पैरों के पंजे पीछे की ओर मुड़े नहीं थे।

पितम्बर बाबा के मरे होने का रहस्य मुझे और पीछे मालूम हुआ। उन्होंने अपना श्राद्ध कर लिया था। लड़का जवान ही मर गया, शायद उसकी विधवा घर में थी। पितम्बर बाबा के मरने के बाद शायद कोई श्राद्ध करनेवाला न मिलता, और पिंड के बिना उन्हें भूखों रहना पड़ता। इसलिए उन्होंने अपने ही हाथों अपना श्राद्ध कर लिया था। लाश न मिले मृत व्यक्ति का कुश का पुतला बना कर दाह-क्रिया करके श्राद्ध करने का रिवाज हमारे यहाँ पहले से भी था। शायद किसी पोथी में जीते जी श्राद्ध करने का भी विधान हो। पितम्बर बाबा मुश्किल से सत्यनारायण की कथा का पारायण भर कर सकते थे। कुछ गलत-सही मंत्र और श्लोक भी उन्हें कंठ थे, और शायद पत्रा देखकर साइत भी बतला देते थे। जीते जी श्राद्ध करने की बात उन्हें किसी दूसरे अधिक जानकार से मालूम हुई होगी। मैंने उनको छोड़कर और किसी ऐसे आदमी को नहीं देखा था। जब पितम्बर बाबा का श्राद्ध मृतक-संस्कार हो चुका था, तो वह जीते जी भी मृत थे, इसमें क्या सन्देह था।

पितम्बर बाबा को मैंने कभी हँसते नहीं देखा। मैं इसे भी उनके जीवनमृत होने के कारण समझता था। लेकिन उनके चेहरे पर जो उदासी हर वक्त छाई रहती थी, उसका कारण दूसरा ही था। बुढ़ापे का सहारा बेटा चल बसा था, घर में भारी गरीबी थी। वह बारहों महीना यजमानों के ही घरों में रहते थे। भिखमंगे होकर नहीं, और न अपमानित होकर; लोग अपने आप बाबा को बुला लेते थे। महीने में एक-दो दिन उनका चूल्हा हमारे दरवाजे पर भी जलता था। उस समय अन्न बहुत सस्ता था। यदि आज की तरह की महँगाई होती तो ऐसी मेहमानी शायद ही कोई पसन्द करता। पितम्बर बाबा चूल्हा जलाकर दाल पकाते, फिर जौ की रोटियाँ सेंकते। हमारे जैसे घरों में गेहूँ परमान्न था। तीन बीगहे में पाँच-सात बिसवा गेहूँ बोया जाता था। बाकी में जौ की फसल होती। जौ की उपज सवाई-डेढ़ी होती थी, इसीलिए गेहूँ केवल त्योहार या आये-गये के लिए ही बोये जाते थे। मुझे नहीं मालूम, पितम्बर बाबा को गेहूँ का आटा दिया जाता था। वैसे जौ का प्रायः बे छिलके का (गूरी) बनाकर आटा पीसा जाता। उस समय क्या मालूम था कि जौ के आटे में कुछ ऐसे गुण हैं, जो गेहूँ में भी मौजूद नहीं हैं। पितम्बर बाबा हाथ की बनी रोटियों को आग के सामने सेंकते, और मैं बैठा-बैठा उनके चेहरे की ओर देखा करता। वह दूसरों से विलक्षण मालूम होते थे। मैंने मृत पुरुषों के रूप की कल्पना उनके चेहरे से कर रक्खी थी—मरे लोग इसी तरह कंटोप पहनते होंगे, इसी तरह बधिया के खड़ाऊँ (पौवा) पर चलते होंगे, फर्क केवल पंजों के आगे-पीछे होने का होता होगा।

यदि मृत पुरुष या भूत भी पितम्बर बाबा जैसे ही होते हैं, तो मैं उनसे डरता क्यों हूँ, यह भी ख्याल आता था। पितम्बर बाबा कोई शिक्षा देते थे, यह मुझे मालूम नहीं, और यदि वह कहानी सुनाते होते, तो मैं उनकी जरूर पूजा करने लगता। मैं पास बैठ कर उन्हें देखते रहना पसन्द करता। उनके बात-व्यवहार में कोई ऐसी बात जरूर थी, जिसके कारण गाँव के सभी स्त्री-पुरुष उनके साथ स्नेह और सम्मान प्रदर्शित करते थे। उस समय क्या मालूम था कि जिस पुरुष ने अपने हाथों अपना श्राद्ध कर लिया हो, उसका मन कितनी वेदनाओं से भरा होगा ! जौहर करनेवाली राजपूतनियाँ और केसरिया बाना पहन कर रण में उतरनेवाले राजपूतों की कथाएँ मैंने बहुत पीछे सुनीं। शायद उन्हीं जैसा मन पितम्बर बाबा का रहा होगा। वह अनासक्त हो जी रहे थे।

11
संस्कृत की पढ़ाई

मैं 8-9 वर्ष का था, अर्थात् सन् 1901 या 1902 था। एक साल पहले मेरे पितृग्राम में हैजा की बीमारी आई थी, और अगले साल मातृग्राम में भी। अपने प्रिय नाती को ऐसी आग में रखना नाना-नानी को पसन्द नहीं था, और मुझे कनैला भेज दिया गया। वर्षा हो रही थी। ताल-तलैयाँ, गड्ढे-डबरे सब पानी से भरे हुए थे, पानी का अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छ होना बतलाता था कि कई बार उनका पानी बह चुका है। पन्दहा में मालूम होता था, मैं एक छोटी-सी कोठरी में बन्द हूँ, जिसमें साँस लेना भी मुश्किल है, लेकिन कनैला जाने पर मुझे उन्मुक्त वातावरण मिलता था। पन्दहा सौ डेढ़-दो सौ बिगहे का छोटा-सा गाँव और वह भी एक-एक अंगुल खेतों से भरा, जब कि कनैला हजार बिगहे से ऊपर का बड़ा गाँव, जिसका दो-तिहाई अभी भी ऊसर के मैदान के रूप में मौजूद था। भूमि की स्थिति से व्यक्तियों की स्थिति शायद मेरी इस मनोभावना के कारण थी। नाना का अनुशासन बड़ा जबर्दस्त था। उनकी चले, तो मैं घर से बाहर न निकल सकूँ। खेलना-कूदना वह हानि की चीज समझते थे। इसीलिए पाँच ही वर्ष में मुझे ले जाकर उन्होंने रानी की सराय के मदरसे में बैठा दिया था। अकेले नहीं जा सकता था, इसके लिए मुझसे दो-तीन वर्ष बड़े सतमी नानी के लड़के मधु को भी साथ कर दिया। वह गरीब अहीर का लड़का वहाँ जाकर बैठा रहता था। उसे पढ़ने-लिखने से कोई मतलब नहीं

था। जहाँ पन्दहा में इतनी जकड़वन्द थी, वहाँ कनैला में पहुँचते ही मेरे सारे वन्धन टूट जाते। मैं चाहता तो रात-रात वहाँ खेल सकता, होली के दिनों में ऐसा करते भी थे। ओल्हा पाती के खेल में पेड़ पर चढ़ना पड़ता है, भला नाना कभी यह देख सकते थे। उनकी शिक्षा का यह फल हुआ कि मुझे पेड़ पर चढ़ना आया ही नहीं। तैरना भी न आता लेकिन कनैला की यात्रा ने उसे सीख लेने का मौका दिया। गुल्ली-डंडा खेलने में यह समझते थे कि गुल्ली सीधी आँख में चली जायेगी और मुझे अन्धा हो जाना पड़ेगा। कनैला में कोई बाधा नहीं थी। यहाँ गाँव के तीन तरफ वड़ा लम्वा-चौड़ा ऊसर था, जो हापड़ खेलने के लिए सवसे उपयुक्त था। पन्दहा में तो उसका कोई नाम भी नहीं जानता था। मैं भी उस समय यह नहीं समझता था कि हापड़ और हाकी एक ही खेल के दो रूप हैं। हापड़ की गुल्ली कितनी ही वार पैरों में लग जाती थी, कभी छिल भी जाता था, लेकिन वह नोकदार नहीं होती थी।

कनैला में उस साल हमारे घर में शतचंडी का पाठ हो रहा था। पिछले साल चंडी माता ने घर के लोगों की रक्षा की थी, इसलिए यह पाठ कराया जा रहा था। मेरे घर का कोई नहीं मरा था, किन्तु मैं जव पैदा हुआ था, उस समय हमारे संयुक्त परिवार में रहनेवाले किन्तु अव अलग हो गये चचेरे आजा महादेव पांडे का छोटा लड़का विरजू उसी हैजा में मर गया। जव मैं कभी कनैला जाता तो विरजू मेरे खेल का साथी होता। उर्दू पढ़ने के कारण मुझे उसकी आवश्यकता नहीं थी, लेकिन वह गाँव में कहीं पाई जानेवाली दुद्धी को खोद कर मुझे लाकर देता। मैं उसका भतीजा था, और वह मेरा चचा। इस साल विरजू को न देखकर मेरे हृदय में हूक लगती थी। पाठ करनेवाले मेरे फूफा महादेव पंडित और उनके मौसेरे भाई महावीर तिवारी थे। फूफा अपने पाठ को अप्रयास पढ़ते थे। उस वक्त मुझे क्या मालूम था कि वह महाभाष्य तक व्याकरण पढ़ चुके हैं, और असाधारण वुद्धि के धनी हैं। उनके साथ के पाठ करनेवाले, मालूम होता था, एक-एक अक्षर टोटो के पढ़ रहे हैं, हर शब्द में वह कितनी ही बार एं-एं-एं करते थे। फूफा से जल्दी ही मैं हिल-मिल गया। मेरे साथ वह वहुत स्नेह दिखलाने लगे थे। वह भी गाँव के रहनेवाले ही थे, लेकिन पढ़ने के लिए वनारस में भी रहे थे और घर की आर्थिक स्थिति अच्छी होने से उनका स्वभाव कुछ अमीराना था। आदमी को रुमाल की भी जरूरत होती है, इसे मैंने उसी वक्त समझा। तम्वाकू चाहे जहाँगीर के समय ही भारत में पहुँची हो, लेकिन पण्डितों में उसकी सुँघनी का प्रचार वड़ी जल्दी हो गया। तम्वाकू पीना व्राह्मण के लिए त्याज्य था, लेकिन उसके खाने और सूँघने में कोई आपत्ति नहीं थी। संस्कृत पढ़नेवालों को यहाँ "घोखन्त विद्या" का सूत्र माना जाता है। रात-रात जागकर घोखे विना ग्रंथ याद नहीं हो सकते थे, और कंटस्थ विद्या को ही अपनी विद्या तथा पुस्तकस्था विद्या को तो पराई कहा जाता था। जव मालूम हुआ कि तम्वाकू की वारीक वुकनी (सुँघनी) को जरा-सा सूँघ लिया जाये, तो नींद भाग जाती है, फिर सुँघनी का प्रचार क्यों न बढ़ता ? फूफा वहुत सुँघनी सूँघा करते थे। छींकने के लिए रुमाल रक्खा करते थे, जिसकी शक्ल वाकायदा रुमाल जैसी नहीं थी। जब वर्षा नहीं होती, तो संध्या के कुछ पहले वह ऊसर के पानी से भरे हुए कितने ही डवरों और धान के खेतों में खड़े हरे पौदों को देखने के लिए जाते, तो मैं भी उनके साथ रहता।

चंडी पाठ खतम हो गया। फूफा को लिवा जाने के लिए उनकी घोड़ी आई। मुझे भी वह साथ ले गये। रास्ते में मंगई नदी में छाती भर पानी था, मैं किसी के कन्धे पर चढ़ कर पार हुआ। फूफा के घर पर पहुँचने पर उनके छोटे भाई सहदेव पांडे की पत्नी तथा मेरे वालमित्र जागेश पाण्डेय की माँ मेरी फूआ से उमर में अधिक मालूम होती थीं, पहले मैंने उन्हीं को अपनी फूआ समझा। फूफा असाधारण मेधावी थे। कहा जाता था, जो असाधारण पंडित होता है, वह पागल हुए विना नहीं रहता, और वह कुछ महीने तक पागल भी रहे। उनकी इच्छा हुई कि मैं संस्कृत पढ़ूँ, उन्होंने झटपट 'सारस्वत' को शुरू कर दिया। 'सारस्वतमृजुं कुर्वे' का वाक्य अव भी मुझे याद है। मैंने जल्दी ही उसके दो पृष्ठ कण्ठ कर लिए। इतनी जल्दी याद करते देखकर फूफा को भी प्रसन्नता हुई। उन्होंने समझा कि अव यह मरदसा छोड़कर इधर ही लग जायेगा। उनके यहाँ एक अच्छी-ख़ासी पाठशाला कायम हो गई थी। दूर-दूर के 20-25 विद्यार्थी उनके पास पढ़ते, वहीं रहते थे। लकड़ी-ईंधन उन्हें मुफ्त मिल जाता और खाने के लिए आस-पास के गाँवों में सीधा का वंधन था। वह घर के सम्पन्न

व्यक्ति थे, उन्हें पैसे की जरूरत नहीं थी। अब तक गुरु के साथ छड़ी सदा याद आती थी, यद्यपि मुझे उसका अनुभव एकाध बार अपने साथियों के कारण ही हुआ था। यहाँ ऐसे गुरु मिले थे, जिनके साथ छड़ी का सम्बन्ध जोड़ा ही नहीं जा सकता था। वह अपने साथ मुझे सुलाते और खेल-खेल में पढ़ाते थे। लेकिन, मेरी पढ़ाई एक-डेढ़ महीने से ज्यादा नहीं चल सकी। पन्दहा से बीमारी चली गई और नाना का आदमी बुलाने के लिए चला आया। मुझ पर माता-पिता का नहीं बल्कि नाना-नानी का अधिकार था और नाना मुझे जवानी ही में मेरे अपने फुफेरे भाई की तरह मुंसिफ बना देखना चाहते थे। बहुत सालों बाद जब अंग्रेजी की तरफ रुचि न रख मैंने संस्कृत पढ़ने का निश्चय किया, तो उसका आरम्भ फूफा ने ही फिर कराया। पढ़ने की जगह मुझे भटकते देखकर उन्हें बड़ी निराशा हुई थी, लेकिन मरने से पहले उन्हें मेरी संस्कृत टीका और बड़ी भूमिका के साथ "अभिधर्म कोश" को छपे देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उनका विद्यार्थी भी पंडित हो गया, यह संतोष की बात थी ही, लेकिन जीते जी मैं उनका दर्शन नहीं कर सका।

12

बरात

मनुष्य स्वभावतः उत्सवप्रिय होता है। होली में उसे बहुत कुछ प्राकृतिक रूप में मनोविनोद की छूट होती है, इसलिए वह उसका सबसे प्रिय त्योहार है। मेलों में बड़ी भीड़ जमा होती है, स्त्रियाँ गीत गाती आती हैं। लोग चीजों के खरीदने और मेला देखने के अतिरिक्त रामलीला या और किसी तरह के अभिनय को वहाँ देखना चाहते हैं। तीन दिनों के लिए सूने बगीचे आबाद हो जाते हैं, जगह-जगह गोहरों के ऊपर हँड़िया चढ़ी दिखाई पड़ती है। जो लोग कच्ची रसोई खानेवाले नहीं हैं, वह अपनी रसोई खुद बनाते। पन्दहा एक छोटा-सा गाँव है। जिस समय की मैं बात कर रहा हूँ, उस समय अर्थात् आज से आधी शताब्दी पहले वहाँ की जितनी आबादी थी, अब उससे ड्योढ़ी से अधिक हो गई है, इसमें कोई संदेह नहीं। पर अब भी आस-पास के गाँवों से आबादी में उसके वही पुराना अनुपात है। लगन बाद अगहन से ही शुरू हो जाती, लेकिन जाड़ों में बरातें कम आया करतीं। किसान के घर में माघ-पूस के महीने में अन्न का अभाव हो जाता है, इसलिए वह रब्बी की फसल तैयार हो जाने के बाद ही ब्याह-शादी करना पसन्द करता है। रुपयों के हिसाब से आज का किसान तब से अठगुना धनी है, लेकिन अन्न के हिसाब से वह उतना ही गरीब भी है। यदि अन्न उतना ही पैदा होता है, तो भी खानेवाले मुँह और दूसरे खर्च बहुत बढ़ गये हैं। उस समय मामूली घर में भी सौ आदमियों की बरात का आना मामूली बात थी। पन्दहा में ऐसे भी ब्राह्मण-घर थे, जो गरीबी के कारण अपनी लड़कियों को बेचने के लिए मजबूर थे, पर वर और कन्या दोनों पक्ष इसे सुन कर करना नहीं चाहता था। वर का पिता स्वयं रुपया देकर तिलक चढ़वा लेता, बरात के खर्च के लिए भी अनाज और पैसा देता। लेकिन, यह बात वहीं की जाती, जहाँ वह छिपने लायक होती, और ऐसे ब्याह के लिए दूध पीनेवाली बच्चियाँ नहीं होतीं। डेढ़-दो वर्ष की भी दुलहिनें उस समय असंभव नहीं थीं। पन्दहा में दो बहुत गरीब भाई थे। खरीद कर बड़ी मुश्किल से एक छोटी-सी बच्ची लाकर छोटे भाई की शादी की गई। कितने वर्ष तो बच्ची के सयानी होने में लगा। जब पहली लड़की पैदा हुई, तो कुँवारे बड़े भाई लड़की के दूसरे वर्ष में पैर रखते ही वर की तलाश करने लगे। वह बड़ी गम्भीरता से कहते—"क्या करें, बेटी को बेच कर मतारी (धरती) को छुड़ाना है !"

लेकिन, बेटी को बेचकर मतारी को छुड़ानेवाले वहाँ एक ही दो घर थे। एक-तिहाई ऐसे घर तो जरूर थे कि जो बेटी के बदले, अथवा खर्च-वर्च के लिए कुछ लेना जरूरी समझते थे। ऐसी लड़कियों के वर काफी उमर के हुआ करते थे। बेटी बेचकर मतारी छुड़ानेवाले ब्याहों से लड़कों को कोई दिलचस्पी नहीं थी, क्योंकि वह बिना बरात के चुपके-चुपके हो जाया करते थे। हर साल आधे दर्जन से कम बरातें पन्दहा में नहीं आया

करतीं। छोटा गाँव होते हुए भी वहाँ वाग-वगीचे काफी थे। सवसे दूरवाला बगीचा वड़ा था, जिसमें दो-चार महुआ वाकी आम के दरख्त थे। वरात उस समय आती, जिस समय आम में टिकोरे आ जाते, पकने के समय शायद ही कभी वारात आई हो, और उस समय यदि आती, तो आमों की खैरियत नहीं थी। सनातन काल से गाँव की वरातें इसी वगीचे में टहरा करती थीं, इसलिए पेड़ के मालिक रोक कैसे सकते थे ? खेतों में फसल खड़े रहने के समय वरात को एक अड़चन थी। द्वार पूजा के पहले घुड़दौड़ होना जरूरी थी। यदि कोई अपने धन का अधिक प्रदर्शन करना चाहता, तो हाथियों को भी लाता। जागेश पांडे की तिलक में कन्या पक्षवाले अपने साथ घोड़े ही नहीं, एक-दो हाथी भी लाये थे, जो हमारे फूफा पण्डित महादेव के लिए भारी चैलेंज था। वह अपनी वरात में 22-24 हाथी ले गये। लेकिन, ऐसी होड़ वहुत कम हुआ करती। पन्दहा आने वाली वरातों में पाँच-सात घोड़े साथ आते, और द्वार-पूजा कराने के लिए दोनों पक्ष आस-पास के घोड़ों को भी बुला लेते। पास में सिर्फ वाँकीपुर के वावू गजाधर सिंह और उनके दामाद के पास दो हाथी थे, और शायद दो ही घोड़े। दूसरी एक अच्छी घोड़ी जमूरपुर में तिवारी लोगों के पास थी। आस-पास के दर्जनों गाँवों में न कोई हथियानशीन था न घोड़ानशीन। वरात का आनन्द गाँववालों को द्वार-पूजा ही से मिलने लगता। कटे हुए खेतों में खूव घुड़दौड़ होती, कोई अपने घोड़ों की कदम की चाल दिखलाता, और कोई सरपट दौड़ाता, कोई-कोई दो पैरों पर खड़ा करके उन्हें नचाता। लड़कों का स्वार्थ वरात के तमाशावाले पहलू में ही रहता। लेन-देन में क्या झगड़ा हो रहा है, खाने-पीने में जरा-सी वात के लिए उठा-वैठक कैसी हो रही है, इससे उन्हें कोई वास्ता नहीं था।

वरात का दूसरा सवसे वड़ा आकर्षण था नाच। अधिकतर नाच मंडलियाँ लौंडों की हुआ करतीं। रंडी का नाच वहुत कम आता। यह वात नहीं कि उस समय आर्य-समाज के प्रचार ने रंडी के नाच को वन्द कर दिया था। आर्य-समाज का तो नाम भी हम नहीं जानते थे। दर्जा 4 में पढ़ते समय जव हमारे यहाँ तरवा के पास के एक मुसलमान जोगी नायव मुदर्रिस होकर आये, तो उनसे मालूम हुआ कि आर्य-समाज नाम की भी कोई चीज है। हमें न रानी की सराय में कोई आर्य-समाजी देखने में आया, न उनका उपदेश या किताब सुनने-पढ़ने में आई। पन्दहा में अगर कभी रंडी का नाच आया भी हो, तो वह एक से अधिक नहीं, लेकिन वसई के सैयद अनवर हुसेन की लड़की का ब्याह हुआ, तो उसमें कई गरोह रंडियों के नाच के आये थे। रात की नाच में मेरे जैसे अत्यन्त निर्वंध रखनेवाले लड़कों को देखने का अवसर नहीं मिल सकता था, यदि किसी तरह अपनी नींद को रोक भी सकते। दिन में यदि स्कूल जाना नहीं हुआ, तो हम जरूर उसे देखने जाते। नाच के अतिरिक्त नटों की फरी और कसरत का भी तमाशा हर वरात में होता था। खाना और एक रुपया मिल जाता तो आधे दर्जन नट अपना करतव दिखा कर संतुष्ट हो जाते। लंगोट बाँधे उनके पुष्ट रगपुट्ठों को देखकर थोड़ी देर के लिए हरेक लड़के के दिल में कसरत का शौक हो आता, लेकिन वह पर्याप्त नहीं था। जिले के शिक्षा-विभाग की ओर से जेम्नास्टिक-मास्टर नियुक्त थे, जो समय-समय पर हरेक मदरसे-मदरसे का चक्कर काटते, लेकिन उससे कसरत का प्रचार हुआ, यह मैंने नहीं देखा। वरात का एक और तमाशा था–शास्त्रार्थ, जो दूसरे दिन जनवासे में होता। दोनों पक्ष से संस्कृत के पण्डित रटी-रटाई पंक्तियों को दोहरा कर सवाल-जवाव करने लगते–"वान्तो यि प्रत्यये इत्यत्र यकारग्रहणं किमर्थम्।" फिर युद्ध मच जाता। कर-वल-छल हर तरह से एक पण्डित दूसरे को हराना चाहता। फूफा महादेव पण्डित के लड़के की वरात में एक बड़े पण्डित के लड़के की बरात होने से उनके शिष्य पण्डितों की ही एक काफी पलटन जमा हो गई थी। उन्होंने कन्या पक्ष के आये पण्डित को उल्लू वनाने के लिए बनावटी भाषा में शास्त्रार्थ करना शुरू किया, जिसे पूछने पर कह दिया यह वाल-संस्कृत है, सरस्वती वाल्यावस्था में जब नवद्वीप में रहती थीं, तो इसी संस्कृत में बोला करती थीं।

13

महावीर स्वामी की सेना

बालक जिस चीज को किसी दूसरी चीज के साथ पहले पहल देखता है, दोनों के सम्बन्ध को स्थायी मान लेता है। पन्दहा, कनैला या जितने भी गाँव मेरे उस समय परिचित थे, कहीं पर मैंने बन्दर नहीं देखे। आजमगढ़ जिले में कहीं लंगूर-बन्दर हैं, इसका मुझे पता नहीं था। जब मैं पहले-पहल रानी की सराय पढ़ने के लिए गया, तो वहाँ लाल मुँहवाले बन्दरों को देखा। मुझे विश्वास हो गया कि बन्दर बाजारों के जानवर हैं। हमारे गाँव में यदि किसी घर में कोठा था, तो वह रहने के लिए नहीं, बल्कि चीजों को रखने के लिए। रानी की सराय में मैंने पहले-पहल कोठेवाले घर देखे। इस शताब्दी के आरम्भ में भी वहाँ वानर इतनी संख्या में थे कि छतों की खपड़ैलों की खैरियत नहीं थी। गोस्वामीजी की चौपाई को जरा-सा बदल कर हम कह सकते हैं, "बालक बानर एक सुभाउ", लेकिन एक स्वभाव होने पर भी बालक ही बन्दरों से डरते थे। कद में वह हमसे बहुत छोटे थे, लेकिन अकेले-दुकेले उनके सामने से चलने में हमारे प्राण सूखते थे। हमारे सहपाठी लड़के ने लम्बे दिन को छोटा करने के लिए एक युक्ति बतलाई थी, बरौनी या पलक के बाल को नोचकर धूप में डाल दिया जाये, बस दिन जल्दी खतम हो जाता है। हम अनेक बार इसका तजर्बा करते। दरवाजे से सूर्य की टेढ़ी किरणें जहाँ तक आ चुकी थीं, वहाँ इस टोटके का प्रयोग करके हम देखते, सचमुच ही धूप जल्दी ही और भीतर की तरफ घुसती आती। बानरों से बचने का भी यदि कोई मन्त्र होता, तो हम उसे बड़ी चाव से सीखते। शायद जल्दी दिन खतम करने की इच्छा सभी स्कूलों के लड़कों को होती है, इसलिए उन्होंने उसका उपाय ढूँढ़ निकाला था, पर सभी स्कूलों के गाँवों में बन्दरों की तरफ न देखा जाये, तो वह हमला नहीं करते। हम इस युक्ति का पालन बराबर करते थे, लेकिन दिल में पक्का विश्वास नहीं होता था। इस विश्वास को डिगाने के लिए एक बार एक घटना भी घट गई। रानी की सराय के रानी पोखरा के उत्तरवाले भींटे पर एक साधु की कुटिया और उसके साथ एक छोटा-सा महावीरजी का मन्दिर था। हम लड़कों को विश्वास था कि बन्दर महावीरजी की सेना है, और इसलिये वह महावीरजी के मन्दिर के आस-पास पेड़ों पर या नीचे अक्सर देखे जाते हैं। उस छोटे-से मन्दिर के पास ही किसी समय अच्छा पक्का घाट था, जो अब टूट-फूट रहा था, उस पर से तथा पास के पेड़ों की डालियों से कितनी ही बार बन्दर उसी तरह पोखरे में कूदते थे, जैसे हममें से कितने ही तैरनेवाले लड़के। इससे भी हमारे मन में दृढ़ विश्वास हो गया था कि बन्दर जरूर महावीरजी की सेना हैं। जब हम इम्तिहान पास करके अगले दर्जे में जाते, जहाँ मुंशीजी को कुछ दक्षिणा देनी पड़ती, वहाँ महावीरजी को भी सवा सेर लड्डू चढ़ाया जाता। हनुमानजी की पूजा में लड्डू जितना आवश्यक था, उतना ही भीगा हुआ चना भी। लड्डू तो सेना को नहीं मिलता, लेकिन चने की घुघनी तो खास उन्हीं के लिए चढ़ाई जाती, और हमें यह जान कर बड़ी प्रसन्नता होती कि चना बिखेरने पर पचासों छोटे-बड़े बन्दर इकट्ठा हो जाते, लेकिन वह लड़कों को काटते नहीं थे।

लड़कों के साथ महावीरजी की सेना का खास बैर था। खास बैर क्यों है, यह हमें समझ में नहीं आता था; यद्यपि समझना मुश्किल नहीं था, क्योंकि बन्दर को देखते ही ऐसा नहीं हो सकता था कि कोई लड़का ढेला फेंकने से अपने हाथ को रोक सके। फिर लड़कों के साथ वह क्यों प्रेम दिखलाने लगे ? जहाँ तक मुझे याद है, उस समय बन्दरों को पकड़कर बाहर भेजने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता था, और न ऐसे प्रस्ताव को रानी की सराय के बनिये कभी पसन्द कर सकते थे। चने की घुघनी खिला कर पुण्य अर्जन करने में वह सबसे पहले थे।

बन्दरों का प्रकोप हमारे देश में अब एक महामारी का रूप ले रहा है, जिसके कारण आज की नई पीढ़ी की श्रद्धा उनके ऊपर बिल्कुल नहीं रह गई है। वह महावीरजी की सेना मानकर उन्हें गाय की श्रेणी में नहीं रखते हैं। हमारे कितने ही प्रदेशों में बन्दरों का मारना कभी बुरा नहीं माना गया। जगन्नाथजी की पुरी जिस

उड़ीसा में है, वहाँ सरकार ने पूँछ पीछे एक-दो रुपया इनाम रख दिया, और लोगों ने हजारों बन्दर मार डाले। पंजाव-सरकार भी उड़ीसा का पदानुसरण कर रही है। जेनरल करियप्पा के कुर्ग में तो हिन्दू बन्दर को भक्ष्य मानते हैं। नेपाल के कितने ही पहाड़ी भागों में वन्दरों को लोग घेरकर मार डालते हैं। सतलज के किनारे तिव्वत के सीमान्त पर वसे कनौर देश में आज से पचास वर्ष पहले बन्दर देखने को नहीं मिलते थे। जाड़ों में वहाँ तीन-तीन, चार-चार हाथ वर्फ पड़ जाती है, और गर्मियों में भी हमारे यहाँ के माघ-पूस से भी अधिक सर्दी होती है। शायद यही कारण हो कि वहाँ वन्दर नहीं पहुँचते थे, लेकिन अव वहाँ बन्दरों की संख्या मनुष्यों से भी अधिक है। कनौरे लोग पांडव-विवाह करते हैं, जिसके कारण एक घर का दो घर नहीं होने पाता, और न सन्तान वढ़ने पाती है। एक तरफ उनका सन्तान-निरोध का प्रयत्न और दूसरी तरफ बानरों में मुक्त सन्तान-वृद्धि इसका परिणाम वहाँ साफ दिखाई दे रहा है। जिस वक्त सतलज पर पुल नहीं वँधे थे, उस समय बन्दरों का उधर वढ़ना मुश्किल था, लेकिन जव कितने ही पुल वन गये, तो उन्होंने भी उससे फायदा उठाया। वहाँ कितने ही दिनों से रहते एक नेपाली साधु कह रहे थे—"हमारे यहाँ जाड़ों में जब बर्फ पड़ जाती है, और उसमें बन्दर न अच्छी तरह भाग सकते हैं न पेड़ों पर चढ़ने का मौका पाते हैं, तो कुत्ते और आदमी उन्हें चारों ओर से घेर कर मार डालते हैं।" रानी की सराय में यदि बन्दरों का अव भी वैसा ही उपद्रव है, तो मालूम नहीं वहाँ के लोग इस नेपाली नुस्खे को मानेंगे या नहीं। घोड़रोज के लिए कुछ साल पहले पन्दहा के पास ही हिन्दू-मुसलमानों का दंगा हो गया था। मुसलमानों का यही कसूर था कि फसल को बहुत नुकसान पहुँचानेवाले घोड़रोजों को उन्होंने मारा था। हिन्दुओं के महामूर्खों ने घोड़रोज का नाम नीलगाय रख दिया था, इसलिए गौ माता की रक्षा के लिए हिन्दुओं की लाठी उठ खड़ी हुई। उस घटना के कुछ वर्ष बाद 1943 में जब मैं पन्दहा में गया था, तो लोग घोड़रोजों से तंग आ गये थे कि किसी तरह से यह बला सिर से टले। घोड़रोज उसी पशु वंश के हैं, जिसके हरिन और वकरियाँ। उनकी लेंड़ी उसी तरह की होती है, और उसी तरह एक से अधिक बच्चे भी देते हैं। पर, "मूरख हृदय न चेत" जो कह दिया गया है।

हनुमानजी की सेना से परेशान थे, लेकिन हनुमानजी के प्रति हम बहुत कृतज्ञ थे, क्योंकि हमें विश्वास था कि हनुमान चालीसा के पढ़ने से "भूत पिशाच निकट नहिं आवे।" रानी की सराय में लगनेवाली रामलीला में कभी-कभी घर जाने में देर हो जाती, उस समय हनुमान चालीसा हमारी बड़ी सहायता करती। छः महीने के रास्ते में टूटा पीपल पर ठुठवा वावा रहता था, और वरस दिन के रास्ते में जंगल में एक भुतहा तालाब था, जिसके भीटों पर दिन-दोपहर भूत नाचा करते थे।

14
होली

आज से पचास वर्ष पहले की ही होली के बारे में मैं कह सकता हूँ। उस समय लोगों में गरीबी नहीं थी, यह बात तो नहीं थी। जब गाँव के बहुत-से घरों में अपने खेत ही न हों और काम साल में मुश्किल से पाँच-छः महीने मिलता हो, तो गाँव के लोगों को भूखे मरने के सिवा और क्या चारा था ? पर उस समय लोगों के खर्च कम थे। जनसंख्या आज से ड्योढ़ी कम थी, तो उसका यह मतलव नहीं, प्रत्येक परिवार पर खर्च का बोझ कम था। माघ-पूस के महीने पन्दहा में बड़ी बुरी तरह गुजरते। वहाँ धान के खेत नहीं थे कि उसकी फसल से कुछ लोगों को सहारा मिल जाता। कनैला में रबी और धान दोनों की खेती करीव-करीब बराबर होती थी। वहाँ मजूरी करनेवालों को धान की कटनी से कुछ अनाज मिल जाता, खेतवालों के घरों में जहाँ आदमियों के लिए अनाज मिलता, वहाँ पशुओं को पुवाल का सहारा हो जाता। लेकिन, यह सहारा कनैला के अधिकांश लोगों को मुश्किल से पूस तक रहता, माघ तो पशुप्राणी सवके लिए कठिन था।

पूस-माघ की आफत हर साल आती, उससे गुजरने के बाद जब फागुन आता, तो फसल के पक कर पीली न होते भी लोगों का दिल हरा हो जाता। अब खेत से मटर की छीमियाँ, हावुस-होले मिलने लगते। बेखेत वालों के लिए अब भी मुश्किल थी, लेकिन जब गाँव में अधिकांश लोगों के घरों में अनाज हो, तो गरीबों को भी कुछ न कुछ मिल ही जाता था। उस समय अभी पत्थर के कोल्हुओं को चाहे तो एक घर अपने आप चला सकता है, लेकिन पत्थर के कोल्हुओं को कई परिवारों के सहयोग बिना नहीं चलाया जा सकता था। उसको यदि रोज धोया न जाये तो भीतर फँसी खोइया खट्टी होकर रस को खट्टा कर देती, और फिर गुड़ अच्छा नहीं बनता था। कोल्हू की जाठ इतनी बड़ी होती कि यदि आधे दर्जन से ऊपर आदमी न हों, तो मूँड़ी को निकाल कर धोया नहीं जा सकता था। पन्दहा में मैंने किसी अकेले आदमी को जाठ उठाकर बाहर फेंकते नहीं देखा-सुना, लेकिन कनैला में आधे दर्जन ऐसे जवान थे, जो अकेले जाट को सीधी करके ऐसा साध कर फेंकते कि वह बाहर एक ओर जा गिरती। भारी और मजबूत होने के कारण जाठ बबूल की होती। कनैला के पुरुष अपेक्षाकृत लम्बे और तगड़े होते थे, लेकिन सबके सब पहलवान होते हों, यह बात नहीं थी। माघ-पूस के सबसे खराब दिनों में कोल्हू गरीबों के लिए कल्पवृक्ष थे, क्योंकि हर रोज एक-डेढ़ घड़ा रस पुण्य के लिए बाँटा जाता था।

होली के आगमन की सूचना शिवरात्रि से ही हो जाती। लड़के होली के कलेवर को बढ़ाने के लिए घास, फूस, लकड़ी, गोंइठा जो भी और जैसे भी मिलता, लाकर होली में डाल देते। काम की लकड़ी भी कभी-कभी वह ले आते, और एक बार होली में पड़ जाने पर उस लकड़ी को निकालने की किसी को हिम्मत नहीं होती थी। क्योंकि वैसा करने से अगले सात किसी भारी असगुन का डर होता। इसी समय से गन्दे-गन्दे कबीर भी बोले जाते। होली जितनी नजदीक आती जाती, उतने ही उसके लिए दिन-रात की छूट हो जाती। रात के वक्त गाँव के पुरुष इकट्ठा होकर फगुवा और चौताल गाते, जिसमें कहीं-कहीं स्त्रियाँ भी शामिल होतीं। गोरखपुर के प्रसिद्ध लोककवि छोटकुन (द्विज छोटकुन) के चौताल उस वक्त हमारे जिले में गाये जाते थे। पीछे मैंने देखा कि बम्बई में उनके चौतालों की किताब भी छप गई थी। सच या झूठ यह भी सुना कि छोटकुन की पतोहू भी चौताल जोड़ने में अपने ससुर से कम नहीं हैं।

मुझे पन्दहा से कनैला की होली ज्यादा पसन्द आती। रानी की सराय के स्कूल से सालाना इम्तिहान होने के बाद हफ्ते की छुट्टी मिलती, जिसमें मैं हर साल कुनैला पाहुने की तौर पर जाया करता और उस समय होली पड़ती नहीं थी, इसीलिए एक-दो बार से अधिक मैं इस अवसर पर कनैला नहीं गया। पन्दहा में होली नहीं होती थी, चौताल गाये नहीं जाते थे, यह बात नहीं थी, पर वहाँ सूर्यास्त से पहले ही, घर से बाहर निकलने की इजाजत नहीं थी। एक बार किसी तरह भाग निकला, और कँटीली झाड़ियों को जमा करने में अपने साथियों की मदद कर रहा था। इसी समय नाना पहुँचे, और वह डाँट कर पकड़ ले गये। कनैला में बिल्कुल छूट थी। मैं चाहूँ तो रात-भर होली के लिए लड़कों के साथ डालियाँ बटोरता फिरूँ, और चाहूँ तो रात-भर लोगों की चौताल मंडली में बैठा रहूँ। पन्दहा गाँव के बीचोंबीच में एक पीपल का पेड़ था, जिसे लोग गोविन्द साहेब कहा करते थे। प्रसिद्ध रिद्ध गोविन्द साहेब कभी वहाँ आकर ठहरे थे। उसी समय कनैला का पोखरा खोदा गया था, पर उसमें पानी नहीं निकल रहा था। गोविन्द साहेब के आशीर्वाद से उसमें पानी निकल गया। पीपल को गोविन्द साहेब ने अपने हाथ से लगाया हो, इसकी आशा कम ही मालूम होती। शायद वह उसी के नीचे आकर ठहरे हों। गाँव का हरेक सामूहिक महोत्सव गोविन्द साहेब के ही नीचे होता था। बहुत वर्षों बाद लेकिन प्रथम महायुद्ध के पहले ही इस पीपल पर लाही लग गई, और वह सूखने लगा। फिर लोगों ने काटकर उसकी लकड़ी किसी कुएँ के लिए ईंटें तैयार कर ली। पेड़ के आसपास काफी जगह थी, जिसमें गाँव के नर-नारी आकर बैठ सकते थे। चौताल पुरुषों को ही आकृष्ट कर सकता था, लेकिन होली के तमाशे स्त्रियों और बच्चों को भी बहुत खींचते थे। कनैला में चार-पाँच घर मुसलमान चुड़िहारों और तीन घर दर्जियों के थे। वहाँ की होली देखने ही से मालूम हो जाता था, कि यह हिन्दू-मुसलमान दोनों का सम्मिलित त्योहार है। होली के नाच-तमाशे तो मुसलमान तरुणों की सहायता के बिना उतने अच्छे नहीं हो सकते थे। प्रथम विश्वयुद्ध

के कुछ ही वर्षों पहले फर्क साफ देखा गया। कुछ मुसलमान नौकरी के लिए कलकत्ता और दूसरी जगहों में चले गये थे, और उनमें से एक फजल–जो कि होली के उत्सव में सबसे अच्छा भाग लेता था–अब मौलवी हो आया था। उसने धोती-पायजामा पहनना शुरू किया था, पाँचों वक्त नमाज पढ़ता था। यद्यपि इन दो बातों में वह अपने और भाइयों को दीक्षित नहीं कर सका, लेकिन कुछ असर तो जरूर हुआ, और अब चूड़ीहारे और दर्जी तरुण उतना खुलकर होली में भाग नहीं लेते थे। यदि मुसलमान होली में दिल खोल कर भाग लेते, तो हिन्दू ताजिया को अपनाये हुए थे, वह भी मुसलमानों के साथ 'हाय हुसेन' करते देखे जा सकते थे।

इस शताब्दी के आरम्भ में होली देखने से सामूहिक जीवन और सामूहिक महोत्सव का आनन्द मिलता था। जो पन्दहा और कनैला में देखा जाता था, वही सारे जिले में भी था। रात को होली जल जाती, अगले दिल सुबह से शाम तक लोग भूल जाते कि दुनिया में कहीं दुःख और दरिद्रता भी है। सबेरे के वक्त ढोल लेकर गाते-गाते लोगों का गला फट जाता था, और वह छूत और अछूत सबके दरवाजों पर जाते और कीचड़-मिट्टी से होली खेलते। पिछले पहर से फिर रंगवाली होली शुरू हो जाती। नाच जाननेवाली स्त्रियाँ इस वक्त बाजे पर नाचती भी थीं, हाँ, वड़ों की स्त्रियाँ ऐसा नहीं कर सकती थीं।

15

ब्राह्मण का हुक्का

अपने गाँव से बाहर न गया आदमी कितना कूपमंडूक होता है?

मैं दर्जा एक में पढ़ता था। 1901 या 1902 का सन् होगा। रानी की सराय पक्की सड़क के किनारे और आजमगढ़ से बहुत दूर नहीं था, इसलिए मदरसा का मुआयना (निरीक्षण) करनेवाले अफसर वहाँ बहुत अधिक पहुँचा करते थे। जिले के सबसे बड़े शिक्षाधिकारी उस समय डिप्टी-इन्स्पेक्टर कहे जाते, जिनके नीचे चार-पाँच सब-डिप्टी-इन्स्पेक्टर थे। असिस्टेंट-इन्स्पेक्टर कई जिलों के एक हुआ करते, जिनके ऊपर इन्स्पेक्टर थे। लोअर-प्राइमरी स्कूल में असिस्टेंट-इन्स्पेक्टर का चरण शायद ही पधारता हो, लेकिन रानी की सराय के लिए वह दुर्लभ नहीं था। जाड़ों का दिन था। उस वक्त स्कूल सूर्योदय के बाद ही लग जाते। दोपहर को घंटे डेढ़ घंटे के लिए खाने की छुट्टी मिलती, और फिर सूर्यास्त के करीब तक वह चलता रहता। वहाँ न 10 बजे से 4 बजे तक पढ़ाई का नियम था, और न समय जानने के लिए घड़ी थी। कभी-कभी बाबू पत्तर सिंह छाया नपवा कर घड़ी का अंदाज लगाते थे, लेकिन उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं था, और न हमें दिलचस्पी ही थी। शायद अपर-प्राइमरी तक रानी की सराय में पढ़ने के समय मैंने घड़ी नहीं देखी थी। डिप्टी की जेब में घड़ी जरूर रही होगी, लेकिन मुझे उसका ख्याल नहीं था।

एक दिन सबेरे जब मदरसे में पहुँचे, तो वहाँ हमने असिस्टेंट-इन्स्पेक्टर साहब को आये देखा। रानी की सराय का उस समय का स्कूल बड़ा सुन्दर और स्वच्छ था। चारों तरफ चहारदीवारी थी, जिसमें एक तरफ फाटक था। काफी जगह छोड़ कर बीच में मदरसे की इमारत थी। खुली जगह में मौसमी फूल लगे रहते। स्कूल की इमारत में तीन तरफ खुले बरांडे, एक तरफ के बरांडे की जगह दो कोठरियाँ और बीच में एक हाल था, जो लड़कपन में हमें बहुत बड़ा मालूम होता था। शायद बचपन में अपना कद छोटा होने से हर एक चीज बड़ी मालूम होती है। बरांडे में एक चारपाई पड़ी थी, जिस पर एक बूढ़े सज्जन बैठे थे। उनके चेहरे पर कम मांस था, मूँछें लम्बी और बाल बहुत-से सफेद थे। उनके पास फर्शी रक्खी हुई थी, और वह कोई खमीरे वाली तमाखू (तम्बाकू) पी रहे थे, जिसकी सुगन्ध चारों ओर फैल रही थी। स्कूल में कोई भी बात करता, तो साँय-साँय की आवाज में। ज्यादा जानकार लड़कों ने बतला दिया कि डिप्टी-साहेब से भी बड़े अफसर आये

हुए हैं। किसी ने अपनी जानकारी को और बड़ा करते हुए कहा—असिटेंट निसपट्टर साहेब हैं। फिर एक चकित लड़के ने मुझको भी चकित करते हुए कहा—"यह ब्राह्मण हैं।" सचमुच ही हमारे लिए विश्वास करने की बात नहीं थी, ब्राह्मण हुक्का पीए। हम समझते थे कि सारी दुनिया में ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शुद्र और उनके उम्मेदवाली जातियाँ रहती हैं, और ब्राह्मण जहाँ भी हैं, वहाँ हुक्का नहीं पीते, तम्बाकू नहीं पीते, वह दूसरे ब्राह्मण के हाथ का भी खाना नहीं खाते, जनेऊ हो जाने पर सिले कपड़े को शरीर पर रक्खे भोजन करना उनके लिए निषिद्ध है, इत्यादि-इत्यादि। और यहाँ एक ब्राह्मण अफसर हुक्का गुड़गुडा रहे थे। हमें विश्वास हो गया कि वह असल ब्राह्मण नहीं हो सकते।

यदि कोई ब्राह्मण हुक्का या तम्बाकू पीते देखा जाता, तो उसे लोग जात से निकाले बिना नहीं रहते। पन्दहा में एक बूढ़े थे, जिनके पेट कई दिनों से बहुत दर्द हो रहा था। किसी ने बतलाया कि तम्बाकू पीने से दर्द मिट सकता है। कट्टरता होने पर लोग समझ को खोये हुए नहीं थे। लेकिन, दवाई के तौर पर तम्बाकू पिलाने के लिए भी कुम्हार के यहाँ से कोरी चिलम मँगाई गई। मालूम नहीं बाबा के पेट का दर्द उससे गया या नहीं, लेकिन, तम्बाकू और ब्राह्मण से छत्तीस का सम्बन्ध है, यह तो हमारे दिल में बैठ गया। तम्बाकू और सुर्ती को हम उस समय दो चीज समझते थे। सुर्ती ब्राह्मण के लिए निषिद्ध नहीं थी। पन्दहा में दर्जनों ब्राह्मण उसके खानेवाले थे, और उनमें कुछ बहुत पूजा-पाठ भी कर लेते थे। फिर कनैला के पास के इलाके में संस्कृत के सबसे बड़े पंडित फूफा महादेव पांडे मनुस्मृति और दूसरे धर्मशास्त्रों के जानकार होते भी सुँघनी लिया करते थे जो सुरती की ही बनती थी। इसमें काफी समय लगा, जब रानी की सराय में ही चोटा (सीरा) डालकर पीने के तम्बाकू को हमने बनते देखा और हमारे किसी सहपाटी ने बतलाया कि सुरती और तम्बाकू एक ही चीज है।

उस समय अभी भूमिहार लोग अपने नाम के साथ शर्मा या ब्राह्मण नहीं लगाते थे। हमारे पन्दहा के आसपास सेठबल, रायपुर आदि कितने ही गाँव भूमिहारों के थे, और हमारे सहपाठियों में भी उनकी संख्या काफी थी। हम उन्हें ब्राह्मण तो नहीं जानते थे लेकिन यह मानते थे कि वह क्षत्रियों से ऊपर हैं। उनके नाम के साथ राय लगता था, जो भी उन्हें ब्राह्मण से अलग करता था। लेकिन, हमारे लिए तो उनके ब्राह्मण न होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह था कि वह चिलम-तम्बाकू पीते थे। साधु हो जाने पर ब्राह्मण के लिए भी तम्बाकू ग्राह्य हो जाता था। हुक्का या फर्शी वह नहीं इस्तेमाल कर सकते थे, लेकिन कंकड़ या गाँजेवाली चिलम साधु के बाने का अभिन्न अंग थी। रानी-पोखरा के हनुमानजी के पास एक छोटी-सी कुटिया थी, जिसमें एक लँगड़े साधु रहा करते थे। जिस वक्त रानी की सराय में रेल आ गई, उस समय रेल द्वारा जो समृद्धि बाजार की हुई, उसका एक फल यह भी था कि कुटिया में अब आधे दर्जन साधु रहते थे। वहाँ धुनी के पास दो-तीन लम्बी चिलम बराबर पड़ी रहतीं। कभी गाँजा चढ़ता, और कभी कंकड़। घने आम के पेड़ों के बीच में होने के कारण गर्मी के दिन में भी वहाँ बड़ी ठंडक रहती, यद्यपि कुएँ का मुँह खुला रहने के कारण पत्ते पड़कर सड़ जाते, जिसके कारण पानी एकाध महीने बदबू करता, तो भी लोग उसे अपेय नहीं समझते थे। यहाँ सबके हाथों में चिलम जाते देख हमें पता लगा कि साधु हो जाने पर ब्राह्मण भी तम्बाकू पी सकता है, लेकिन साथ ही हम यह भी जानते थे कि तब उसकी जात नहीं रह जाती।

रेल के साथ रानी की सराय में सिगरेट आया, लेकिन बीड़ी का अभी कहीं पता नहीं था। बीड़ी और सिगरेट ने जाति-मर्यादा तोड़ने में कितना काम किया, यह देखने के लिए मैं आजमगढ़ में नहीं रहा। लेकिन, गाँजे ने बाँध को ढीला करना जरूर शुरू किया। पन्दहा कनैला की अपेक्षा ज्यादा सभ्य गाँव था, क्योंकि उसके आसपास बाजार और शहर था। लेकिन कनैला में लक्षिमी बाबा हमारे ही कुल के दूसरे गाँव के साधु थे। उनके सम्पर्क से हमारे अपने चचेरे आजा महादेव पांडे की निन्दा कानों-कान हो रही थी कि वह गाँजा पीते हैं। गाँजा यदि बिना तम्बाकू के बन सकता, तो शायद लोगों को एतराज न होता। पीछे छपरा में मैंने ब्राह्मणों को हुक्का-तम्बाकू तो नहीं, लेकिन गाँजा खुलकर पीते देखा और यह भी वही सर्वरिया ब्राह्मण थे जो हमारे लोग। बल्कि सरयू पार होने से उन्हें अधिक सम्मानित ब्राह्मण कहा जा सकता।

16

नया धर्म

1905 ई. में अपर-प्राइमरी पास करने के बाद मिडिल में दाखिल होने के लिए मैं निजामाबाद तहसीली स्कूल में चला गया। पन्दहा से निजामाबाद डेढ़ ही कोस पर है। उस समय के छोटे-छोटे पैरों के लिए वह कुछ अधिक मालूम होता था। शताब्दी के आरम्भ के साथ हर साल के जाड़ों में अब ताउन (प्लेग) ने फेरा देना शुरू कर दिया था। अपर-प्राइमरी तक वार्षिक इम्तिहान दिसम्बर में होता था, लेकिन मिडिल स्कूल में साल मार्च से शुरू होता था। घर में वेकार रहने से वहाँ जाना ही अच्छा था, इसलिए जनवरी में ही मुझे नाना ने वहाँ दाखिल करा दिया। जाड़ा बीता, प्लेग चला गया और मिडिल स्कूल जो टौंस पार किसी नील के गोदाम में चला गया था, जव कस्वे में लौट आया, यहाँ अव मुझे एक दूसरी ही दुनिया दिखाई पड़ती थी। अव तक मेरा सम्पर्क केवल गाँव और वहाँ के लोगों से था। निजामाबाद वाले लड़के अपने को शहराती नहीं कह सकते थे, क्योंकि निजामाबाद को शहर नहीं माना जाता था। पर उन्हें कस्वाती होने का वड़ा अभिमान था। स्कूल में यद्यपि उनकी संख्या अधिक नहीं थी, इसलिए अपना रोव हमारे ऊपर नहीं गाँठ सकते थे, लेकिन वह वैसा करने से चूकते नहीं थे। उनकी भाषा टक्साली हिन्दी या उर्दू नहीं थी, वह एक तरह की बिगड़ी अवधी थी, पर वह लोग हमारे हृदय में बैठाना ही चाहते थे कि वह कस्वाती वोली है। हमें अपने आयल-गायल को छोड़कर आइन-गाइन को सीखने की इच्छा नहीं थी, क्योंकि वह कस्वाती भाषा नहीं होती। कूपमंडूक होने के कारण हमारे दिल में इसके वारे में कोई जिज्ञासा पैदा नहीं होती थी, कि वह आयेन-गयेन वाली भाषा आई कहाँ से। उस समय हमारे हिन्दीवाले सहपाठियों की पुस्तकों में तुलसी, वृन्द, गिरधर कविराय आदि की रचनाएँ होती थीं, लेकिन जायसी का कोई नाम भी नहीं जानता था। हमें क्या मालूम था कि पास के जौनपुर जिले के मुख्य शहर में अकवर से पहले एक बड़ी सल्तनत थी, जिसके दरबार में आयेन-गयेनवाली भाषा कविता की सम्मानित भाषा थी, जिसमें जायसी ने अपनी पद्मावत लिखी थी। हमारे आयेन-गायेन वाले साथी भी इस बात को नहीं जानते थे नहीं तो वह और धौंस जमाने की कोशिश करते। निजामाबाद के लोग वस्तुतः उस समय हिन्दी के नहीं बल्कि उर्दू के पक्षपाती थे, मुसलमान ही नहीं, कायस्थ और ब्राह्मण भी। हमारे साथ के पढ़ने वालों में दो-तीन लड़के लड़कियों की तरह बाल रक्खे हुए थे। अभी वह छोटी उमर के थे, इसलिए वह पगड़ी नहीं बाँधते थे, और बाल को जूड़े की तरह पीछे बाँधकर ऊपर से टोपी लगा लेते थे। पहले पहल ऐसे लड़कों को देखकर हमारे जैसे देहात से आनेवाले लड़कों के मन में कौतूहल होना आवश्यक था। उस समय अभी हमने अयोध्या सिंह उपाध्याय का नाम नहीं सुना था जिसे कुछ महीनों बाद ही हमने सुना ही नहीं, बल्कि यह भी जान लिया कि हमारे हिन्दी के अध्यापक जो (उस समय द्वितीय अध्यापक) थे, पंडित सीताराम श्रोत्रिय अयोध्या सिंह उपाध्याय के विद्यार्थी और विरादरी के हैं। निजामावाद या आजमगढ़ जिले में रहते समय हमें पंडित अयोध्यासिंह के दर्शन का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ था। उनके भतीजों को हम देखते थे, लेकिन उनके सिर पर वाल नहीं थे। ब्राह्मण के साथ सिंह नाम देखकर कुछ अजब-सा जरूर मालूम होता, लेकिन हम यह नहीं समझ सके थे कि उनके सिर पर सिक्खों जैसे वाल होंगे।

वहाँ के वहुत-से कायस्थ लड़कों और उनके बाप-दादों के सिर पर बाल और पगड़ी बँधी हुई हमने देखी। जिज्ञासा को शान्त करने के लिए हमारे सहपाठी वहाँ मौजूद थे। मालूम हुआ कि ये लोग सिक्ख हैं। मैंने पहले पहल इस नये धर्म का नाम सुना। मुसलमान मैं जानता था, और अंग्रेज ईसाई होते हैं यह भी जान चुका था, और उन्हें देख भी चुका था। हिन्दुओं में आर्यसमाजी होते हैं इसकी भी भनक कान में पड़ चुकी थी, पर सिक्ख-धर्म का नाम यहीं पहले पहल सुनने में आया। शायद यह सुनकर ख्याल आता कि इनका भी हमारे साथ वही नाता है जो मुसलमान का, और फिर खान-पान में छूआ-छूत का ख्याल आने लगता। पर उनके नाम हिंदुओं जैसे थे, सिर्फ महेश्वरप्रसाद की जगह महेश्वर सिंह कहा जाता था। हमारे दर्जे में एक लड़का बिना बालों वाला

था। उसका ननिहाल निजामाबाद के सबसे धनी कायस्थ सिक्ख परिवार के घर में था। नया धर्म होने पर भी कोई भेद-भाव नहीं, यह जानकर कुछ आश्चर्य भी हुआ और कुछ संतोष भी। पीछे तो यह सिक्ख-धर्म वास्तविक मधुर स्मृतियों में परिवर्तित हो गया। हम यह जानने लगे कि हम लोग मन्दिर में पूजा-पाठ करने जाते हैं, सिक्ख लोगों के मन्दिर को संगत कहा जाता है। अमारी के साथ हाथी के जाने लायक एक बड़े मेहराबदार दरवाजे के भीतर उनकी प्रधान संगत थी, टौंस के किनारे भी एक छोटी संगत थी। पर्व-त्यौहार में बड़ी संगत में हम लोग अवश्य जाते, क्योंकि उस दिन वहाँ कड़ा प्रसाद बँटता। और गाने-बजाने में पहले पहल फोनोग्राफ को वहीं हमने सुना। कड़ा प्रसाद हलवे से भिन्न है, कम से कम उस समय हमारा यही ख्याल था, क्योंकि हमारे यहाँ घरों में जो हलवा या लप्सी बनती थी, उसमें उतना घी नहीं पड़ता था, इसलिए वह कड़ा प्रसाद जितना स्वादिष्ट भी नहीं होता था।

निजामाबाद में वैसे मुझे दो साल ही पढ़ना था। लेकिन एक साल कलकत्ता की घुमक्कड़ी में बिता दी थी, इसलिए तीसरे साल को खतम करके 1909 ई. के मार्च में उसे छोड़ना पड़ा, जब कि मैं 16 वर्ष का हो रहा था। लेकिन तब भी मुझे यह नहीं मालूम हुआ कि सिक्खों का अलग धर्म-ग्रंथ गुरुग्रंथ साहेब है जो नागरी नहीं, बल्कि एक दूसरी गुरुमुखी लिपि में लिखा जाता है। उसकी भाषा न आयल-गयेल और न आयेन-गयेन और न आया-गया बल्कि उसमें पंजाबी भाषा ज्यादा देखी जाती है। गुरु नानक का नाम तो जरूर मालूम था क्योंकि एक बूढ़े सज्जन का नाम नानक सिंह था। लेकिन मुझे याद नहीं कि कभी गुरु गोविन्द सिंह का नाम मैंने सुना हो। हमारी पढ़ाई में इतिहास भी था जिसमें बुद्ध का जिक्र ही कुछ पाँतियों में आया था, लेकिन हमें मालूम होता था कि वह किसी दूसरे लोक में पैदा हुए थे। क्या मालूम था कि अपने पितृग्राम (कनैला) में 11वीं-12वीं सदी तक बौद्ध लोग रहते थे, जिनकी टूटी-फूटी मूर्तियाँ वहाँ के डीह बाबा के स्थान में अब भी पूजी जाती है। हमें हमारे अध्यापकों या स्कूल के अफसरों को भी शायद इसका पता नहीं था कि अगर निजामाबाद के या उसके आस-पास के गाँवों की टूटी-फूटी मूर्तियों पर नजर दौड़ाई जाये, तो वहाँ बौद्ध धर्म-सम्बन्धी कोई मूर्ति जरूर मिल जायेंगी। निजामाबाद में हरिऔधजी को तो मैं नहीं देख सका किन्तु उनके गुरु बाबा सुमेर सिंह अब भी मौजूद थे। पर उन्हें हम बाबा ही के तौर पर जानते थे, उनके असली गुणों को बतलाने वाला कोई नहीं था। पंडित सीतारामजी ने उनसे गुरुमंत्र लिया है, और वह ब्राह्मण नहीं हैं, यह कहकर उनके समवयस्क अध्यापक पंडित गंगा पाँड़े श्रोत्रियजी का मजाक उड़ाया करते थे।

17

मालगुजारी-वसूली

अंग्रेजी सरकार लोगों से मालगुजारी कई किस्त करके वसूल करती है, यह हमें मालूम नहीं था। न यही जानते थे कि जिनकी जमींदारी होती है उन्हीं से मालगुजारी वसूल होती है। जाड़ों में वह वसूल होती है। यह हमें मालूम था। रानी की सराय के स्कूल की बगल में ही तहसीली पड़ाव था, जिसमें जाड़ों के समय तहसीलदार साहब आकर ठहरते थे। वह एक हाता जैसा था, जिसके भीतर घर था या नहीं यह मुझे याद नहीं। तहसीलदार के पायकों को पियादा या चपरासी कहा करते थे। अपर प्राइमरी में रहते समय हमारे मदरसे में अब्दुल कदीर खान द्वितीय अध्यापक होकर आ गये थे, जिन्हें हम लोग मौलवी साहब कहा करते थे। अभी स्कूलों में चार की पदवियाँ प्रचलित थीं, ब्राह्मण होने पर पंडित, क्षत्रिय होने पर बाबू साहब, दूसरी जाति का होने पर मुंशीजी और मुसलमान होने पर मौलवी साहब। हमारे मौलवी साहब मेंहनगर के रहनेवाले थे, जिसे हम लोग मेहाँ कहते थे। निजामाबाद में हमारे हेडमास्टर मौलवी गुलाम गौस खाँ भी मेहाँ के रहनेवाले तथा मौलवी अब्दुल कदीर के चाचा थे। उनके ससुर तहसीलदार के प्यादे थे। खान साहब की कड़ी धाक थी। उनके पास एक घोड़ी

भी थी, जिस पर चढ़कर वह तहसीलदार साहब के हुकुमनामे को जगह-जगह पहुँचाते थे। वह अपने दामाद के कारण हमें भी कभी-कभी दर्शन देते थे।

मालगुजारी बहुत नहीं थी, कम से कम पन्दहा में तो किसी को तीन रुपये लगती किसी को पाँच। 20-25 रु. देनेवाला शायद कोई नहीं था। लेकिन यह इतनी कम मालगुजारी भी दे नहीं पाते थे। प्यादे से पकड़वा कर लोग तहसीलदारी के पड़ाव में बुलाये जाते। मालूम नहीं, वहाँ तहसीलदार साहब आते थे या नायब-तहसीलदार। हमारे स्कूल से उनका कोई मतलब नहीं था, इसलिए हम उनकी सूरत-शक्ल के बारे में कुछ नहीं जानते थे। लड़का यदि पाठ भूल जाता, गैरहाजिर हो जाता अथवा किसी दूसरे लड़के से मार-पीट कर लेता, तो उसकी सजा होती। बाँस की छड़ियों से हाथ या पीठ पर पीटना सख्त सजा थी, जिसमें बाबू पत्तर सिंह बड़े निष्ठुर थे। वह रोज पूजा-पाठ किया करते। उनके आते ही मदरसे के हाते में तुलसी चौरा बन गया था, लेकिन जब क्रोध आता तो वह पूरे शैतान के रूप में दिखलाई पड़ते। रोज सवेरे पाँच-छः कमचियाँ पास के बाँस से कटवा मँगाते, और तब भी वह शाम तक पूरी नहीं पड़तीं। जब कोई अफसर आने को होता, तो छड़ियों को छिपाने की कोशिश की जाती। दूसरा दंड था पैरों के बीच से दोनों हाथों को निकालकर कान पकड़ कर मुर्गा बनाना। तीसरा दंड था ऐसे ही पीठ पर रक्खी पट्टियों को बिना गिराये निहुरे रहना। मालगुजारी बाकी रखनेवाले सयानों और बूढ़ों को भी कुछ इसी तरह की सजा होती थी। जहाँ तक याद है, उनको भी धूप में निहुरा दिया जाता। दो-चार रुपये मालगुजारी भी लोग दे नहीं पाते थे, तभी तो कितनी गाली और फजीहत सहने के लिए तैयार होते थे। लेकिन उस समय एक रुपये के लिए 30 सेर जौ, मटर बेचना पड़ता, गेहूँ भी 20 सेर से कम नहीं। इसी से मालूम होगा कि रुपया कितना महँगा था।

हमारे मौलवी साहब के ससुर खान साहब जैसे प्यादों की तो उस वक्त पाँचों अँगुली घी में थीं। तहसीलदार का समन लेकर जिस घर में भी जाते, उनकी खुशामद करते लोग थकते नहीं थे। खाने-पीने की तो बात ही क्या, अठन्नी-चौवनी दक्षिणा भी उन्हें मिलती। जिनकी मालगुजारी बेबाक हो गई रहती वह भी प्यादों के साथ ढिटाई नहीं कर सकते थे। बाकी लगानेवाले यदि रुपया नहीं जुटा पाते, तो प्यादा साहब का पैर पूज देते कि आदमी घर पर नहीं मिला। तहसीलदार साहब भी यदि अपनी तहसील की मालगुजारी को साल में वक्त पर पूरी तौर से वसूल नहीं कर पाते, तो उनकी शिकायत हो जाती और तरक्की छोड़ तनज्जुली का डर पैदा हो जाता। इसलिए वह जैसे भी हो मालगुजारी वसूल करने का उपाय करते। मैं समझता था कि सारे हिन्दुस्तान में नहीं, दुनिया-भर में इसी तरह मालगुजारी वसूल की जाती है, इसी तरह जिले में तहसीलें होती हैं। अभी हिन्दुस्तान के भूगोल से वास्ता नहीं पड़ा था, लेकिन जब दीनदयाल तिवारी का भूगोल हाथ में लगा, तब भी यह मालूम नहीं हो सका कि भारतवर्ष में सभी जिलों को तहसीलों में नहीं बाँटा गया है। पड़ोस का बिहार उस समय बंगाल का एक अंग था, जिसकी सीमा के भीतर आसाम और उड़ीसा भी पड़ते थे। बिहार में न तहसील हैं न तहसीलदार हैं, यह मुझे 1913 ई. में मालूम हुआ; जब मैं 20 वर्ष का होकर वहाँ छपरा में रहने गया। बिना तहसीलदार के भी मालगुजारी बड़ी आसानी से वसूल हो सकती है, यह वहाँ जाने पर मालूम हुआ। वहाँ साल में मालगुजारी की प्रत्येक किस्त की तारीख मुकर्रर है। उस तारीख तक अगर मालगुजारी सरकारी खजाने में दाखिल नहीं हो गई, तो सरकार सीधे जमींदारी को नीलाम कर देती। इस डर के मारे लोग अपने आप समय से पहले मालगुजारी पहुँचा देते। आखिरी तारीख के आने के समय तो खजाने का दरवाजा खुला रक्खा जाता, और लोग तोड़ों में रुपये भर कागज लिख कर खजाने में फेंकते जाते। क्या मालगुजारी वसूल करने का वह ढंग आजमगढ़ में नहीं अपनाया जा सकता था ? लेकिन, सब की अपनी-अपनी परम्परा होती है, और परम्परा जल्दी छोड़ी नहीं जाती। हमारे जिले में जैसे तहसीलें पहले 5 और पीछे 6 हो गई, बिहार में उससे कुछ बड़े-बड़े हर जिले में तीन या चार सब-डिवीजन होते थे।

यह तो जमींदारों से मालगुजारी वसूल करने की बात हुई। जमींदार अपने काश्तकारों से मालगुजारी या पोता वसूल करते थे। बड़े-बड़े जमींदारों का मुझे तजर्बा नहीं था। हमारे नाना और पिता दोनों के गाँववाले ब्राह्मण जमींदार थे। लेकिन जमींदारी का मतलब इतना ही था कि वह रुपया-दस रुपया की अपनी मालगुजारी

सीधे सरकार को देते। सुना जरूर था कि बड़े-बड़े जमींदार भी होते हैं। उनका अपने असामियों के साथ कैसा बर्ताव है, इसे जानने का हमें कभी मौका नहीं मिला। सेठवल और रायपुर के कुछ भूमिहार लोगों के पास अपने जोतने से अधिक जमीन थी। बाँकीपुर के हथियानशीन बाबू गजाधर सिंह भी अच्छे जमींदार थे, जिनके लड़के बाबू सरयूप्रसाद सिंह रानी की सराय में पढ़ने आते थे। जब वहाँ रामलीला का मेला होता, तो सरयू बाबू और उनके घर के लड़के एक तरह की सुनहली टोपी पहन कर हाथी पर चढ़ कर निकलते, जिसे हम राम-लक्ष्मण के मुकुट का ही दूसरा रूप समझते थे।

हमारे बहुत-से गाँवों के छोटे-छोटे जमींदारों के पास जोत से अधिक खेत नहीं होते थे। मजबूर होकर अपने हलवाहे को कुछ खेत देना पड़ता। कनैला में कुछ लोगों के पास अधिक खेत जरूर थे और वह असामियों को जोतने को देते थे, पर पूरी कोशिश करते कि वह शिकमी छोड़ काश्तकार न बनने पायें। ये जोतनेवाले असामी प्रायः सभी अपने हरवाहे-चरवाहे होते थे, जिनके काम में ही मालगुजारी वसूल हो जाती। मालगुजारी देना हो या पोत, उस समय बड़े संकट की चीज थी, इसमें सन्देह नहीं।

18

रेल आई

आजमगढ़ रेलवे-स्टेशन शहर से हट कर पल्हनी गाँव में होने के कारण उसे लोग उसी नाम से पुकारते थे। यद्यपि वह रानी की सराय से दो-ढाई कोस से ज्यादा दूर नहीं था, लेकिन हम जैसे लड़कों के लिए वह कोई दूर की चीज-सी मालूम होती थी और अपनी उर्दू की किताब में "वह देखो आगरे से आती है रेलगाड़ी" की तुकबन्दी के साथ भद्दी तस्वीर देख कर ही हम कुछ अन्दाज लगाते थे, रेलगाड़ी और उसका इंजन कैसा होता है। रानी की सराय में रेल आने से पहले शायद (1903 ई. में) मैंने रेलगाड़ी देखी ही नहीं, बल्कि उस पर चढ़ने का सौभाग्य भी प्राप्त किया था। ब्राह्मण लड़कों का यज्ञोपवीत होना आवश्यक है। यद्यपि घर पर विधि-विधान से यज्ञोपवीत किया जाये, तो वह बहुत खर्चीली चीज है। लेकिन, मेरा यज्ञोपवीत घर पर इसलिए भी नहीं हो सकता था कि माँ या नानी ने उसे विन्ध्याचल की भगवती के धाम में होना मान दिया था। 9-10 वर्ष की उमर में मेरी यह यात्रा हुई और साथ ले जानेवाले मेरे चाचा प्रताप पांडे थे। घर से सेर-डेढ़ सेर घी उन्होंने साथ ले लिया था, हम दोनों कनैला से सबसे पास के स्टेशन सादात (गाजीपुर जिला) में रेल पर चढ़ने गये। बनारस तक छोटी लाइन और फिर आगे बड़ी लाइन से मुगलसराय होते विन्ध्याचल पहुँचे। हमारी जैसी मानता वाले कितने ही लड़कों का जनेऊ वहाँ हुआ करता था। मालूम नहीं विधि-विधान के साथ भी कोई जनेऊ कराता या नहीं किन्तु मुझे तो बिल्कुल शास्त्रविधि के विरुद्ध भगवती के नाबदान में जनेऊ भिगो कर पहना दिया गया। ऐसा जनेऊ पहनना बिल्कुल बेकार था, शायद इसीलिए उसे मेरे शरीर पर बहुत दिनों तक रहने की जरूरत नहीं पड़ी।

लौटकर रानी की सराय में अपने सहपाठियों से कितने ही दिनों तक अपने इस महा अभियान का वर्णन सुनाता रहा। अभी तक यद्यपि गाँव के लोगों के लिए मैं चिट्ठियाँ लिखने लगा था, लेकिन स्वयं चिट्ठी लिखने की जरूरत नहीं पड़ी थी। अबकी बनारस में जिस जगह हम ठहरे थे, वहाँ एक विद्यार्थी से मेरा परिचय हो गया, और मैंने उसके पास चिट्ठी लिखनी चाही। लेकिन अपने से एक दर्जे ऊपर रानी की सराय के डाकमुंशी के लड़के राजाराम से जब सलाह ली, तो उसने बहुज्ञता दिखलाते हुए बतलाया–'बनारस में छावनी और शहर दो डाकखाने हैं।' मुझे इसका कुछ पता नहीं था, और सिर्फ मोहल्ला ईसरगंगी और लड़के का नाम जानता था। राजाराम के निर्देश के अनुसार चिट्ठी लिखी, लेकिन यदि मोहल्ले में चिट्ठी पहुँच भी गई होगी, तो उतने से एक गुमनाम विद्यार्थी का पता कौन लगा पाता ?

मेरे लोअर-प्राइमरी के सहपाठी अपने गाँव के दलसिंगार थे, लेकिन उस साल जो हैजा पंदहा में आया था, उसमें बहुत बीमार पड़ जाने के कारण माँ ने अपने घर में 'विद्या पढ़ाना नहीं सहता' कहकर, उनका पढ़ना बन्द कर दिया। फिर जब वह पढ़ने गये भी, तो मुझसे दो दर्जे नीचे और थोड़े दिनों के लिए ही जा सके, और अन्त में माँ की आशंका ठीक हुई, और दलसिंगार बचपन ही में चल बसे। मेरे दूसरे साथी शोभित लाल अपर-प्राइमरी तक साथ पढ़ते रहे, हम दोनों ही उर्दू के विद्यार्थी थे। शोभित लाल सेठवल के कायस्थ थे। उनके खेत गाँव लौटते वक्त हमारे रास्ते में पड़ते थे। पहिले सालों में रानी की सराय में जाते समय अब भी उनमें नील बोये जाते थे, और नील का कारखाने वाला मकान अब भी खपड़ैल की छत के साथ मौजूद था। वह मेरे रहते ही रहते उजड़ गया और केवल पक्के हौज खड़े रह गये। शोभित लाल के दादा खेतों की देखभाल किया करते थे। नील-कारखाने से लगी हुई एक छोटी-सी पोखरी थी, जिसमें बरसात में ही पानी रहता था। उसके भीटों पर आम के पेड़ थे। जब वह पकते थे, तो शोभित लाल हमें लेकर जरूर वहाँ खाने पहुँचते। रेल के आने से एक-दो साल पहले ही अफवाह उड़ी थी, लाइन के लिए आवश्यक जमीन को नाप लिया गया, जिसमें शोभित लाल का कितना ही खेत चला गया। वह बतलाते थे, मानो या न मानो रेल के लिए सरकार खेत छीन सकती है। हमें उस समय इस माथापच्ची की आवश्यकता नहीं थी कि रेल सरकार की है या व्यापारियों की या कम्पनी की। पहले जमीन नाप कर उसमें खेती रुक गई, फिर मिट्टी डालकर लाइन को ऊँचा किया जाने लगा। दूसरे या तीसरे साल रेल की पटरी पड़ी। हमारे सामने ही जिन खेतों में मटर और जौ-गेहूँ की फसलें खड़ी हुआ करती थीं, उन्होंने वह परती पड़कर दूसरा रूप ले लिया।

हम सभी लड़के बड़ी उत्सुकता से रेल के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे। छोटे-बड़े कम होशियार और ज्यादा होशियार, चुप्पे और बोलक्कड़ सभी तरह के लड़के होते हैं। सब अपना-अपना अटकल लगा रहे थे। मैं तो एक ही बार रानी की सराय के बानरों के दबोच में आया था, दूसरे लड़के अनेक बार झपेटे में आ चुके थे। शायद उनकी अपनी-अपनी भीतरी इच्छा ही जबान पर आकर बोल रही थी, रेल आने पर उसकी आवाज के मारे यहाँ से बानर सब भाग जायेंगे। मैंने ऐसे स्थान नहीं देखे थे, जहाँ से रेल आई हो, बानर भाग गये हों, इसलिए अपने साथी लड़के की बात का खंडन तो नहीं किया, पर उस पर मेरा विश्वास कम ही था। अन्त में रेल आई। जो देखने का कौतूहल था, वह एकाध महीने से ज्यादा नहीं चली। छुट्टी ले या यों ही हममें से कितने रेल का तमाशा देखने चले जाते। स्टेशन में जाने से डर लगता था, क्योंकि वहाँ पकड़े जाने की बात सुन चुके थे। लेकिन पोखरे के भींटे के पास से रेलवे लाइन जाती थी, वहाँ खड़े होकर हम बड़े गौर से इंजन और डब्बों को दौड़ते देखते थे। ज्यादा जानकार कहते थे कि इंजन के धुएँ निकलने की चिमनी के पीछे जो नाद-सा उठा रहता है, उसमें कालीमाई की स्थापना है। हमारे दर्जे में कोई मुसलमान लड़का नहीं था, नहीं तो वह कुछ बतलाता। अपनी बात की पुष्टि करते हमारे साथी ने यह भी कहा कि इंजन चलते वक्त इसीलिए "जय काली कलकत्ते वाली" बोलता है। पीछे यह भी मालूम हुआ कि वह उतना ही नहीं, वह "छ-छ पैसा, चल कलकत्ता" भी बोलता है। हम लड़कों का इन दोनों बातों पर पूरा विश्वास था, चाहे यह मालूम था कि छः पैसे में कोई कलकत्ता नहीं जा सकता। हमारे जिले के अधिकांश लोग नौकरी करने के लिए कलकत्ता जाते थे, इसीलिए हम "चल कलकत्ता" कहते थे। बम्बई जाने वाले लोग जहाँ अधिक रहते हैं, वहाँ इसका रूप कुछ दूसरा ही होगा।

पान तो वैसे भी बाजार में बिकता था, लेकिन रेल के आने से जब हमारे स्कूल से पढ़े एक लड़के ने स्टेशन पर पान-सिगरेट बेचना शुरू किया, तो हमें यह विश्वास हो गया कि सिगरेट और रेल का सम्बन्ध अटूट है। यही नहीं, बल्कि हमारे स्कूल के एकाध लड़कों को हमने आँख बचाकर सिगरेट पीते भी देखा। रेल के जारी होते ही पहली मारवाड़ी दूकान रानी की सराय में खुली और वहाँ से आसपास के कितने ही छोटे-मोटे बाजारों तथा निजामाबाद के बनिये थोक कपड़े ले जाते थे। आबादी भी बढ़ने लगी, कपड़ा सीने की मशीन भी आ गई, और सन की गाँठ बाँधने की कल भी लग गई। अभी आरंभ ही था, लेकिन रेल ने तेजी से परिवर्तन करना शुरू किया।

19
गर्मियाँ

उस समय गर्मी और उसकी लू क्यों इतनी नहीं मालूम होती थी ? आज तो स्मरण करने में भी दिल दहलता है। 1920 ई. के वाद नीचे की दो-तीन गर्मियाँ ही मैं विता पाया, पर वह वड़ी दुस्सह मालूम हुई। एक साल–शायद 1931 ई. में–आखिरी बार नीचे की गर्मी में मुझे छपरा में रहना पड़ा। 10 वजे से 4 वजे तक सवसे ठंडे कमरे में किवाड़ और खिड़कियाँ बन्द करके मिट्टी के तेल से चलने वाला पंखा लगा दिया जाता, और मैं जैसे-तैसे इस समय को विताता। लेकिन, बचपन की गर्मियाँ 1931 ई. की इस गर्मी से कम परेशान करनेवाली नहीं रही होंगी। गर्मियों के दिनों में 11 वजे के करीव हमें मदरसे से छुट्टी मिल जाती, और हम रानी की सराय से खाना खाने घर पन्दहा चले आते। लौटना दो वजे के आस-पास होता। घड़ी उस वक्त कहीं भी नहीं थी। उसका पता तो रेल के आने पर मालूम होने लगा, जव लोग कहते दस वजे आ गई। रेल के टाइम से अव वह अपने कामों के भी टाइम को बनाने लगे। पहले जाड़ों में कुल्हाड़ के समय आधी रात का जागना जरूरी था, जिसे लोग परेव कहते थे। पन्दहा के सवसे बहुश्रुत जैसिरी नाना तारों को देख करके उसे ठीक-ठीक वतला देते थे। हर कुल्हाड़ में ऐसे लाल नहीं असली बुझक्कड़ की जरूरत तो जरूर पड़ती होगी। क्या जाने हर गाँव में जैसिरी नाना जैसे पुरुष रहते हों। हमारी दोपहर की छुट्टी और खाकर फिर स्कूल लौटने का समय किसी घड़ी द्वारा निर्धारित नहीं था, लेकिन कुछ हम समझते जरूर थे, तभी तो देर करने पर मुंशीजी की छड़ी खाने का डर हो जाता। ऐन दोपहर के वक्त ही लू चलती है, शायद ऐसा कुछ विश्वास था। उस समय पेड़ों के नीचे लड़के खेल खेलते थे। चिब्भी-डाँड़ी, चिक्का और ओल्हापाती मुख्य खेल थे। गाँव के पढ़नेवाले लड़कों में बराबर जानेवाला तो मैं ही था। बसन्तलाल हमारे गाँव के पटवारी के लड़के भी कुछ समय तक मेरे साथ जाया करते थे। बेचारों को अक्सर छड़ी खानी पड़ती, इसलिए मदरसे के पास जितना ही नजदीक पहुँचते, उतना ही उनका हृदय काँपने लगता। एकाध वार इसी डर के मारे गैरहाजिर होते उन्होंने मुझे भी अपने साथ कर लिया और शायद उसी समय एक बार मुझे वावू पत्तर सिंह की छड़ी खानी पड़ी। राजदेव पाठक भी एकाध ही वर्ष मेरे साथ पढ़ने गये। दलसिंगार कई वर्षों तक मेरे साथी रहे, नहीं तो मुझे अकेले ही सारा रास्ता नापना पड़ता।

दोपहर के वक्त खेलने की छुट्टी मुझे मिल नहीं सकती थी। ऊपर लिखे हुए खेलों के अतिरिक्त कौड़ी खेलना भी गाँवों में खूव चलता था, लेकिन इसमें पैसा हारने का सवाल था। मैंने कभी-कभी उसे खेला जरूर, लेकिन मेरे भाग्य में सदा हारना बदा रहा। पीछे गर्मी और उसकी लू, सोचने की भी वात नहीं रह गई, और उस समय पिंजड़े में बन्द पंछी की तरह मेरा मन वहाँ जाने के लिए तड़प जाता था। नानी ने डराने के लिए बहुत-सी बातें सुना रक्खी थीं। जब कभी हम 12 वर्ष वाले रास्ते से रानी की सराय जाते वालदत्त के भुतहा पोखरे के पास गुजरते, तो नानी जरूर अपने वालगोपाल की रच्छा के लिए ठैयाँ-भुइयाँ के देवी-देवताओं को मनातीं। दूसरे लोग यह भी कहते कि ठीक दुपहरिया को इसके भींटों पर दैत नाचा करते हैं। बवंडर गर्मी के दिनों में अक्सर उठते हैं। उनके वारे में तो हमें पूरी तौर से विश्वास था कि कोई भूत या भूतनी ही बवंडर का रूप धर के जा रही है। लू से हमने किसी को मरते नहीं देखा। इसलिए उससे हमें खतरा नहीं मालूम होता था। बिना छत्ते के चलने में तकलीफ होती, पसीना भी होता, लेकिन यह कोई असाधारण बात नहीं थी। दोपहर बाद जव हम स्कूल से लौटते तो देखते कटे हुए खेतों में गाय-बैल चल रहे हैं। जब हम धूप को उस तरह बरदाश्त कर सकते थे, तो हमारे लिए भी वह उतनी डर की चीज नहीं थी।

पन्दहा में नाना के काटे हुए झरोखे से ही हम दुनिया को देख सकते थे, लेकिन कनैला में सारी दुनिया खुली हुई थी। वहाँ हम वर्जित फलों को खा सकते थे–अर्थात् सभी खेल खेल सकते थे, लेकिन जो अभ्यास साध्य हैं, वह इतनी जल्दी आ कैसे सकते थे ? वहाँ दोपहर के वक्त गोरू-भैंस को पेड़ों के नीचे बैठा दिया

जाता और लड़के खेल में लग जाते। वैसे पन्दहा में भी वर्तमान गाँव से पहले बस्ती रही होगी, लेकिन कनैला में तो पुरानी बस्ती के स्पष्ट कितने ही सबूत थे। कई पुराने जमाने की पोखरियाँ थीं, जो बड़ी, लहुरी रानियों और किसी नाउन (नाउर) की बनवाई कही जाती थीं। जब दो-दो, चार-चार गाँवों के मालिक को राजा कहा जा सकता था, तो हो सकता है कोई राजा कभी वहाँ भी रहा हो, अथवा उससे 6 मील भर पर ही मँगई के किनारे सिसवा के बहुत दूर तक फैले ध्वंसावशेष में कोई राजा रहता हो, जिसकी बड़ी-लहुरी रानी ने यहाँ तालाब खुदवाये हों। वहाँ की एक पोखरी का नाम दलसागर था। वह देखने में पोखरी या पोखरे जैसा नहीं मालूम होता था। उसके किनारे भींटे नहीं थे और लम्बा, चौड़ा भी कम था। बरसात के बाद भी कुछ महीनों नहीं; जाड़ों के बाद भी एकाध महीने तक यदि पानी उसमें रह सकता था, तो केवल इसी कारण कि लोग हर साल उससे मिट्टी निकाल कर खपड़ैल या ईंटें बनवाते थे। लेकिन, दलसागर जैसा बड़ा नाम अकारण नहीं हो सकता। वहाँ एक बड़ा बरगद का वृक्ष था, जिसके नीचे मिट्टी की दो पिंडियाँ बनी थीं। कनैला में एक कोट पर सैयद की कबर बतलाई जाती थी, यद्यपि वहाँ आँखों से कोई निशान नहीं दिखाई पड़ता था। पहले किसी समय सैयद की बड़ी चली थी और कोई हिन्दू स्त्री का डोला आस-पास से गुजरता, तो उसे जबर्दस्ती पकड़वाकर वह अपने महल में मँगवा लेता। कोई ब्राह्मण अपनी दुलहिन को लिए दलसागर के पास से जा रहा था। सैयद के आदमियों ने आ पकड़ा। धर्म न जाने देने के लिए ब्राह्मण ने तलवार निकालकर पहले अपनी स्त्री का और पीछे अपना गला काट दिया। दोनों बरह्म और बरह्माइन बन गये। उन्हीं की यह दोनों पिंडियाँ थीं, जिन पर गाँववाले कभी-कभी दूध चढ़ाते थे।

बरह्म बाबा के बरगद की छाया बड़ी घनी थी। पीछे कादम्बरी में निषाध के पेड़ पर से पक्षियों को मरोड़-मरोड़ कर नीचे फेंकने का दृश्य पढ़ते समय मुझे यही बरगद याद आता था। इसकी छाया ही बड़ी शीतल नहीं थी, बल्कि डालियाँ अनेक तथा धरती से नजदीक थीं, इसलिये मैं भी उन पर चढ़ ओल्हा-पाती खेल सकता था।

गर्मी की लू बड़ी भयावनी चीज है, इसका पता 1906-9 ई. के निजामाबाद में पढ़ने के समय लगा। तीन मील बहुत दूर तो नहीं है, दिन में छः मील चलना लड़के के लिए कोई मुश्किल नहीं, लेकिन पन्दहा की ओर से जाने वाला मैं अकेला ही था, इसलिए मुझे वहीं रहना पड़ता था। कुछ दिन दो-तीन महीने मँगनीराम के ठाकुरद्वारे में रहा, फिर तहसील स्कूल के बोर्डिंग-हौस में दोपहर के वक्त वैसे तो जिस समय बहुत तेज गर्मी पड़ती, उस समय लम्बी छुट्टी हो जाती, लेकिन एक साल, मालूम होता है, लू छुट्टी से पहले ही चलने लगी। शाम को जब लू बन्द हो गई, तो हम कई लड़के टौंस के किनारे घाट से कुछ हट कर पेड़ों की तरफ गये, जिनमें चमगादड़ लटका करते थे, वहाँ एक-दो चमगादड़ों को हमने मरा देखा। लोगों ने बतलाया कि लू ने मार दिया, जिससे विश्वास हुआ कि गर्मी खतरनाक शक्ल भी ले सकती है।

20

पहले गुरु

एकाक्षर प्रदाता गुरु का भी सम्मान न करनेवाले को शास्त्रों ने बहुत बुरा कहा है। मैं हमेशा अपने बाल्यकाल के गुरुओं को कृतज्ञतापूर्ण निगाह से देखता हूँ। आखिर मेरे ज्ञान-मन्दिर की पहली ईंटें उन्होंने ही रक्खी थीं। बाबू महाबीर सिंह ने अक्षरारम्भ करवाया था, और वह कितने ही दिनों तक अपने हाथ की बनी रोटियाँ खिलाते रहे। वह कौन-से गाँव के रहनेवाले थे, यह मुझे याद नहीं। 19वीं सदी के अन्त में 1898 या 1899 ई. में वह कुछ दिनों तक रानी की सराय में रहकर फौजदारी मुकदमे में जेल चले गये (संवत् 1953, सन् 1896 ई. में अकाल पड़ा था)। उनकी जगह पर बाबू द्वारिका प्रसाद सिंह आये। अभी रानी की सराय का स्कूल

लोअर-प्राइमरी था। बाबू द्वारिका प्रसादजी हाल ही में नार्मल पास करके आये थे। नार्मल के लिए सम्भवतः उस समय गोरखपुर जाना पड़ता था। उस समय उनकी श्रेणी के अध्यापकों की तनखाह 8-10 रुपये से ज्यादा नहीं थी। चीजें सस्ती थीं, तो भी उतने रुपये में जिस तरह वह रहते थे, वह यही वतलाता था कि वह पैसा बचाने की आवश्यकता नहीं समझते थे। वह नाटे कद और गोरे रंग के एक छरहरे पुष्ट जवान थे। कपड़े बहुत साफ रखते थे, और धोती पर बन्द गले का कोट पहनते थे, पान खाने का भी उन्हें शौक था। वह रोज एक-दो मील टहलने जाया करते थे। कितनी ही वार तो हमारे साथ पन्दहा की ओर आनेवाली सड़क पर फरागत के लिए लोटा लिए हुए चले आते। लड़के उनका अदव करते थे। लड़कों में उनके प्रति वह घृणा नहीं थी, जो कि उनके उत्तराधिकारी बाबू पत्तरसिंह के साथ देखी जाती थी।

बाबू द्वारिका प्रसाद अपना हस्ताक्षर अंग्रेजी में किया करते थे। अक्षरों को छोड़कर उसका अधिक परिचय नहीं था, हमारी कापियों पर वह काली या लाल स्याही से सुन्दर अक्षरों में अपनी दस्तखत करते। बाबू पत्तरसिंह हिन्दी पढ़े हुए थे, लेकिन वह भी दस्तखत हिन्दी में नहीं, वल्कि उर्दू में करते थे। शायद हिन्दी की उस समय की हीन दशा ही इसका कारण थी, जो हमारे ये अध्यापक लोग उसमें हस्ताक्षर नहीं करते थे। दर्जा दो में शायद हम अभी-अभी चढ़े थे, जब बाबू द्वारिका प्रसाद की वदली दूसरी जगह हो गई। उनका वर्ताव हम लड़कों के साथ इतना अच्छा था कि बाबू पत्तरसिंह से पाला पड़ा, तो वह हमें बहुत याद आते थे। वह योग्य अध्यापक थे, इसमें सन्देह नहीं। बाबू पत्तरसिंह की बहुत-सी वातें हमें याद हैं, जिसका कारण शायद यह हो सकता है कि अब हम कुछ अधिक सयाने हो गये थे। वह वात-वात पर कहावतें और चुटकुले कहा करते, और ऐसे ठीक समय पर वोलते कि मालूम होता कि उन्होंने खुद गढ़ा है। हमारे सहपाटी दूधनाथ राय कितने ही दिनों गैरहाजिर रह कर अपने बाप या चचा को लिवा कर आये। पिटे बिना वह कैसे रह सकते थे ? अबकी उनके कानों में सोने की बालियाँ पड़ी थीं। छड़ी उठाने से पहले वाबू पत्तर सिंह ने कहा–"एक तो रहा बानर नोना। दूसरे पड़ा कान में सोना।" दूधनाथ के शरीर पर मांस अधिक था, रंग भी अधिक गोरा था। मालूम नहीं कितनी छड़ियाँ उनके देह पर टूटीं। यह बात नहीं थी कि बावू पत्तरसिंह कभी हँसते नहीं थे। लेकिन, हँसते-हँसाते भी ठिकाना नहीं था, किस वक्त उनकी तेवरी बदल जायगी। उन्होंने अपने सिर पर पटे रख लिये थे, जिसका प्रचार अब बिरल हो चला था। इससे मालूम होता था कि द्वारिका बाबू से वह अधिक पुरानपंथी थे। द्वारिका बाबू आगरे का 'राजपूत' अखबार मँगाया करते थे। उन्हें पूजा-पाठ करते हमने नहीं देखा था। आर्यसमाजी तो वह थे ही नहीं। पत्तर बावू बहुत पूजा-पाठ करते लेकिन हमें तो वह निरा ढोंग मालूम होता। लड़कों के लिए वह बड़े खूँखार जँचते थे। हम उनके चेहरे की हरेक मुद्रा को जानते थे। दोपहर के वक्त बरांडे में चारपाई पर एक-डेढ़ घंटा सो लेना मामूली वात थी, और कभी-कभी तो कुर्सी पर बैठे-बैठे ऊँघने लगते। उनके पेट के बाल जहाँ अस्त-व्यस्त हुए कि हमारे लिए खतरे की घंटी बजी। बिना एक-दो लड़कों पर हाथ छोड़े उनका पारा नीचे नहीं उतरता था। हमने इसकी दवा भी जान ली थी। विना कहे ही दर्जे के दो लड़के दौड़ जाते, एक नारियल के हुक्के को ताजा करता और दूसरा चिलम भर देता। हुक्के की निगाली मुँह में लगते ही पारा बिल्कुल नीचे गिर जाता और कम से कम जब तक चिलम खतम न हो जाती, तब तक के लिए हम छड़ी से निश्चिन्त हो जाते थे। रानी की सराय के मदरसे को अपर प्राइमरी कराने का श्रेय वाबू पत्तरसिंह को था। वैसे भी समय बीतने के साथ लोग अपने लड़कों को अधिक पढ़ाने लगे थे, किन्तु गाँव-गाँव से चेता कर लड़कों को लाना बाबू पत्तरसिंह ने किया था। अपर-प्राइमरी हो जाने पर तरुण मौलवी अब्दुल कदीर नायब मुदर्रिस बनकर आये। वह उर्दू पढ़े हुए थे, इसलिए हिन्दीवालों के हाथ में पड़कर जो उर्दू की कमजोरी हम दो-तीन लड़कों में आ गई थी, उसे पूरा करने का मौका मिला। वह न हमारे लिए बुरे थे न भले। पीटने-पाटने का उनको ख्याल नहीं था। कुछ ही समय बाद पत्तरसिंह और उनका झगड़ा हो गया; जो कभी-कभी विकट रूप लेने लगा था।

शायद 1904 ई. की प्लेग में बाबू पत्तरसिंह मर गये। उनके बाद मऊ के पास, सम्भवतः बलिया जिले के··· बहादुर अध्यापक रानी की सराय में आये। वह नार्मल पास नहीं थे, इसलिए थोड़े ही दिनों इस जगह

पर रह सके। उनका स्वभाव भी अच्छा था।

अन्तिम वर्ष में मुंशी जगन्नाथ राम हेड-मुदर्रिस होकर आये, जिनके सहायक थे काझा की तरफ के एक जोगी मुसलमान, जिनका ननिहाल निजामाबाद के पास था। वह कितनी ही बार वहाँ जाते समय पन्दहा में कुछ देर ठहर कर जाते। जगन्नाथ राम रानी की सराय के ही रहनेवाले थे। शायद मैं बहुत महीनों उनका शागिर्द नहीं रहा। रेलवे-स्टेशन बन जाने से वहाँ अंग्रेजी जाननेवाले स्टेशन-मास्टर और तार बाबू आ गये थे, और अब हमारी आँखों के सामने अंग्रेजी ज्यादा दिखाई पड़ती थी। मुंशी जगन्नाथ के पास हिन्दी से अंग्रेजी सीखने की किताब थी। दर्जे में सबसे तेज लड़का होने के कारण मेरे ऊपर सभी अध्यापक विशेष ध्यान रखते थे। जगन्नाथ राम ने अंग्रेजी सीखने की वह दो-ढाई सौ पृष्ठ की पुस्तक मुझे दे दी। मैंने अपने ही कुछ दिनों में लिखने-पढ़ने दोनों तरह के अक्षर सीख लिये, और उनको मिलाकर नाम लिखना भी समझ गया। बाबू जगन्नाथ राम की कोई सन्तान नहीं थी, घर में उनकी अकेली बीबी थी। निजामाबाद में पढ़ने के लिए चले जाने के बाद भी मैं कभी-कभी रानी की सराय में आकर उनसे मिलता। मेरे जोगी गुरु तो निजामाबाद में भी अपने ननिहाल आने पर तहसीली स्कूल आ जाया करते थे। शायद वह यहीं से मिडिल पास हुए थे, और हिसाब-किताब में बहुत कमजोर थे। मेरे सहपाठी मेरे गुरु का उपहास करके मुझ पर व्यंग्य करते, लेकिन मैं उसे बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं था। जब वह कोई हिसाब बोल कर उनकी परीक्षा लेने की बात करते, तो मैं कहता—"एक नहीं दस सवाल दो, मैं अपने गुरु का शागिर्द उसे हल करने के लिए तैयार हूँ।" निजामाबाद के गुरुओं की चर्चा फिर कभी करूँगा।

21
निजामाबाद के दिन

रानी की सराय में अपर-प्राइमरी तक पढ़ता रहा। वहाँ साल का हिसाब जनवरी से दिसम्बर तक रहता था। दिसम्बर के महीने में सालाना इम्तिहान हो जाता। लोअर-प्राइमरी के आखिरी दर्जे दो और अपर-प्राइमरी के आखिरी दर्जे चार के इम्तिहान मदरसों के जिला-अफसर आकर लेते थे। चौथे दर्जे में हम बारह या तेरह लड़के थे, जिनमें उर्दू का मैं अकेला था। मालूम नहीं दर्जा दो या दर्जा तीन में शोभितलाल ने स्कूल छोड़ दिया था। हिन्दीवाले लड़के ग्यारह-बारह थे। उनके साथ बैठा-बैठा मैं सारा पाठ सुनता रहता, जिसमें मुझे हिन्दी अपने साथी लड़कों से कम नहीं आती थी। असिस्टेंट-इन्स्पेक्टर साहब सबेरे की गाड़ी से आनेवाले थे। डिप्टी-इन्स्पेक्टर तथा एक या दो सब-डिप्टी-इन्स्पेक्टर पहले ही से पहुँच गये थे। इन्स्पेक्टर साहब जब गाड़ी से नहीं आये तो, उन्होंने हमारा इम्तिहान ले लिया, और शायद सभी लड़के कतई या शरती पास हो गये। आगे किसी स्टेशन पर इन्स्पेक्टर साहब की नींद खुली, तो वह दूसरी ट्रेन से लौटकर रानी की सराय पहुँचे, शायद एक या दो बजे। पहले के इम्तिहान को न मानकर उन्होंने फिर से इम्तिहान लिया। इम्तिहान न लेते, तो उस दिन के काम का हिसाब कैसे देते ? उनके इम्तिहान का फल यह हुआ कि मैं तो कतई (पक्का) पास हुआ, और गिरधारी लाल शरती, बाकी सब लड़के फेल कर दिये गये। ब्रजबासी लाल की यह निरी क्रूरता थी, बच्चों के एक साल के जीवन से खिलवाड़ करना था।

कितने ही वर्षों से रानी की सराय के साथ घनिष्ठ परिचय था। अब उसे छोड़ना था, जिसका दुःख होना जरूरी था। निजामाबाद में दर्जा 5 की पढ़ाई मार्च से होती, किन्तु मैं कतई पास था, इसलिए मुझे जिले के और लड़कों के साथ छात्रवृत्ति की परीक्षा देनी थी। बाकी समय को निजामाबाद में बिताना ही पसंद किया गया, जहाँ मेरी ही तरह इम्तिहान में बैठनेवाले और भी कितने ही लड़के थे। वहाँ जाकर मालूम हुआ कि घड़ी तथा दूर दूसरे कुछ हिसाब रानी की सराय में हमें पढ़ाये नहीं गये थे। और उर्दू हिन्दी वाले अध्यापकों

के कारण कच्ची थी, फिर वजीफा की परीक्षा में पास होने की क्या उम्मीद थी ? हाँ, इस वहाने मैं मंदुरी हो आया, जिसे मेरे भौगोलिक ज्ञान में थोड़ी वृद्धि कहा जा सकता है।

अव मालूम नहीं कैसा है, लेकिन उस समय वर्ष के भीतर अध्यापकों की अदला-वदली होती रहती थी, जिससे विद्यार्थियों की हानि होती थी, क्योंकि हरेक अध्यापक के पढ़ाने का ढंग अपना होता था। उस समय निजामावाद में तहसीली स्कूल के दर्जे तथा लोअर-अपर के दर्जे भी एक ही इमारत में होते थे। सामने का बरांडा और बड़ा हाल मिडल की कक्षाओं के लिए था, और पीछे का वरांडा व्रांच-स्कूल के लिए। हमारे स्कूल के सभी अध्यापक नार्मल पास थे। मौलवी गुलाम गौस खाँ प्रधानाध्यापक थे, पण्डित सीताराम श्रोत्री निजामावादी द्वितीय अध्यापक। यह दोनों हमारे सारे निजामावाद के समय वने रहे। तृतीय अध्यापक दो-तीन आये, और वह प्रायः सभी मुसलमान तथा उर्दू पढ़ाते थे। उनमें से एक का नाम मुझे याद नहीं, उनकी मूर्ति वहुत गम्भीर रहती, और अरवी तथा फारसी पढ़े होने के कारण उर्दू के वह वहुत अच्छे पंडित थे, साथ ही उनके पढ़ाने का ढंग भी बहुत अच्छा था। लेकिन वह कुछ ही महीनों तक पढ़ा सके। चौथे अध्यापक आरम्भ में कोई दूसरे थे किन्तु कुछ ही समय बाद वावू जगन्नाथ राय आ गये। विद्यार्थियों की दृष्टि में सवसे अच्छे वावू जगन्नाथ थे। वह वड़े साधु-स्वभाव के थे। वह पूजा-पाठ करते थे, लेकिन पूजा-पाठ तो वावू पत्तरसिंह भी करते थे, जो दिन-भर में जव तक दर्जन छड़ियाँ लड़कों के शरीर पर तोड़ नहीं लेते थे, तव तक उनके पेट में खाना हजम नहीं होता था। स्कूल के सामने से कस्वे की एक सड़क टौंस के किनारे जाती थी, जहाँ उतारने के लिए नावें रहा करती थीं। वहीं दो-तीन मन्दिर थे, जिनमें एक महावीरजी का मन्दिर भी था। नदी-तट पर बराबर कोई न कोई साधु वना रहता था। महावीरजी के मन्दिर के सामने एक छोटा-सा शिवाला था, जिसका फर्श आस-पास की भूमि से वहुत नीचा था। इसी में उस समय एक तपसी वावा रहते थे। उमर 34-35 की होगी। उनके सिर पर जटा और मुँह पर लम्वी दाढ़ी थी, कद मझोला और शरीर छरहरा था। माघ-पूस के जाड़ों में भी वह वहाँ जलती हुई धूनी के पास विना कपड़ा ओढ़े ही बैठे रहते। उस जाड़े में वड़े सवेरे ही वह नदी में नहा आते, जो हमारे लिए वड़े चमत्कार से कम की वात नहीं थी। सवरे ही उनके शरीर पर धूनी की भभूति चढ़ जाती, जिससे उनका साँवला रंग सफेद हो जाता। उनके पास दो-चार आदमी वरावर बैठे रहते, जिनमें वावू जगन्नाथ राय को भी देखा जा सकता था। निजामावाद कस्वा है। तपसी बावा को वहाँ किसी तरह की तकलीफ नहीं हो सकती थी। खाने-पीने की तो वात ही क्या, दस-पाँच चिलम गाँजा भी आ जाया करता था, जिसके कारण मधु-मक्खियों की तरह भगत लोग वहाँ चिपके रहते। वावू जगन्नाथ राय भी कभी-कभी दम लगा लेते, लेकिन हम यह नहीं कह सकते कि वह गाँजे की लालच से तपसी वावा के पास जाते। सत्संग में उनसे क्या पाते, जव कि तपसी वावा के लिय काले अक्षर करीव-करीव भैंस वरावर थे। साधु की महिमा जरूर हमारे अध्यापक को मालूम थी। सवेरे स्नान कर पूजा-पाठ करके और इतवार के दिन बिना नमक का भोजन करके वह सूर्य भगवान का व्रत रखते। शायद एकादशी भी रखते थे। मेरा चूल्हा और उनका एक ही वरांडे में था। यद्यपि निजामावाद आकर अव तक मेरे लिए सवसे बुरी लगनेवाली दाल खाद्य बन गई थी, लेकिन मैं इतवार को अवश्य उससे पिंड छुड़ाता था। उस दिन छुट्टी होने से भोजन बनाने में काफी समय दे सकता था, इसलिए चिक (कसाई के) यहाँ से मांस खरीद लाता था। जगन्नाथ वावू कितने सहिष्णु और नरम दिल के थे, यह इसी से मालूम होगा कि वह तीन ही गज पर वनते मांस को देखकर अपना इतवार का भोजन बनाते हुए गुस्सा नहीं प्रकट करते थे। हाँ, कभी-कभी बड़े मीठे स्वर में कहते—"इतवार को तो न वनाया करो।" मैं कह देता—"दूसरे दिन बनाने के लिए इतना समय कहाँ मिलेगा ?" मैं अपने दर्जे में हमेशा अव्वल रहता था, सभी अध्यापक विशेष ध्यान रखते थे, लेकिन वावू जगन्नाथ राय तो मुझे बहुत अधिक मानते थे। उस समय मानीटर जैसा कोई दर्जा छात्रों के लिए नहीं था, पर यह जरूर था कि भूगोल या दूसरा विषय जिसे वावू जगन्नाथ राय पढ़ाते थे—उसके वारे में सवाल पूछने का काम प्रायः हर रोज मुझे मिल जाता था। जवाव न देनेवाले को वह पीटते हों, यह मुझे याद नहीं, वेंच के ऊपर खड़ा जरूर कर देते थे। लड़कों के लिए यह भी कम दण्ड नहीं था। इससे मुझे वड़ा लाभ यह था कि मेरे साथी मेरा भी ख्याल करते थे, नहीं

तो मैं जान-बूझ कर कठिन सवाल करके उन्हें वेंच पर खड़ा करवा देता। जाड़ों के दिनों की पढ़ाई पर्याप्त न समझकर रात को भी लड़के 10 बजे तक लालटेन के चारों ओर बैठकर पढ़ते थे। मुझे न जाने क्यों उस वक्त नींद जरूर आ जाती थी। यदि जगन्नाथ वावू के पाठ का ख्याल न आता, तो सोने के लिए मुझे रोज सजा होती, पर लड़के वैसा करने की हिम्मत नहीं रखते थे। स्मरण-शक्ति तेज होने से मुझे रात की पढ़ाई की आवश्यकता भी नहीं थी, मैं रजाई से चारों ओर से मुँह ढाँक कर दोनों हाथों पर सिर रख किताव खोले सोया करता। लड़कों को अधिकार दे रक्खा गया था कि वह सोनेवाले लड़के की नाक मल दें, लेकिन मेरी नाक कोई मलना नहीं चाहता था।

22

निजामाबाद के अध्यापक

मौलवी गुलामगौस खाँ हमारे मुख्य अध्यापक के वारे में किसी पुराने अध्यापक की यह वात विल्कुल घटती थी—

"न हलवा वन कि चट कर जायँ भूखे।
न कड़वा वन कि जो चक्खे सो थूके।"

यह वात नहीं थी कि वह छड़ी को वेकार समझते थे, लेकिन उनकी छड़ी उठती बहुत कम थी। उन्हें उससे कोई फायदा होता था, यह बात नहीं थी। जिस साल वह नार्मल में पढ़ने के लिए गये थे उस साल उर्दू की जगह खाली नहीं थी, इसलिए उन्होंने हिन्दी लेकर नार्मल पास किया था। इस प्रकार वह हिन्दी और उर्दू दोनों पढ़ा सकते थे, फारसी भी जानते थे। हमारी उर्दू की कविताओं में उपमा या उदाहरण के तौर पर मूसा के डंडे, दाऊद के संगीत और ईसा के प्राणदायक सांस जैसी कितनी ही बातें आती थीं। जहाँ कहीं ऐसा प्रकरण आया कि मौलवी साहव 'कस्सुल-अम्बिया' (ऋषियों की कथा) के भारी पोथे को लेकर बैठ जाते, और हमें ईसा-पूसा-दाऊद आदि की कथाएँ सुनाते। मौलवी साहव के सिर में पटे और मुँह पर घनी दाढ़ी थी, वाल वहुत कम काले रह गये थे। अध्यापक लोग यों ही उन्हें डरा देते, "मौलवी साहब, डिप्टी साहब आ रहे हैं। यदि उन्होंने सफेद दाढ़ी देख ली, तो छप्पनसाला कह कर नौकरी से हटा देंगे।" उस समय भी वाजार में वाल काला करने का खजाव जरूर रहा होगा, लेकिन मौलवी साहब को एक-एक पैसे का ख्याल रखना पड़ता था। 15 रुपये मासिक तनख्वाह मिलती थी। उनका बड़ा लड़का इन्ट्रेंस में असफल होकर गोरखपुर में ड्राफ्टमैन का काम सीख रहा था। तनख्वाह के सभी 15 रुपये उनके पास भेज देने पड़ते थे। इब्राहीम दूसरा लड़का हमारे साथ पढ़ता था, और तीसरा प्राइमरी के किसी दर्जे में। घर उनका मेहनगर में था, जहाँ उनकी वीवी रहती थीं। इन चार प्राणियों का खर्च वह कैसे चलाते थे, इसे जानने की न हमें इच्छा थी, और न उसे समझ सकते थे। हो सकता है, पास होने पर कभी कोई लड़का गुरुदक्षिणा के एकाध रुपये दे देता हो। सबसे सस्ता कपड़ा वह और उनके लड़के पहनते और खाने में उसी तरह सस्तेपन का ख्याल रखते। हमारे मिडल पास होने के वाद अभी भी उनका स्वास्थ्य काफी अच्छा था, लेकिन उन्हें नौकरी से हटा दिया गया।

पंडित सीताराम श्रोत्री हमारे द्वितीय अध्यापक बहुत तेज और तुन्द मिजाज के थे। पत्तरसिंह की आत्मा उनके ऊपर भी काम करती थी, और छड़ियाँ तोड़ने में सभी अध्यापकों से आगे बढ़े हुए थे। वह हिन्दी और गणित पढ़ाते थे। हिन्दी द्वितीय भाषा हमने ले रक्खी थी, जिसको बाबू जगन्नाथ राय पढ़ाते थे। गणित में एक वार मैंने भी शास्त्रीजी की एक छड़ी खाई, जिससे दाहिनी या वाईं वाँह कितने ही समय तक फूली रही। मुझे पीटने का मौका उन्हें नहीं मिलता था, इसलिए जान-बूझकर उन्होंने ऐसा मौका निकालना चाहा, और एक

दिन तीन महीने पहले पढ़े हुए किसी कठिन हिसाव को पूछ दिया। मुझे वह भूल गया था। और फिर शास्त्रीजी ने 'बड़े तेजू खाँ भये हो' कहकर छड़ी चला दी। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि मैं उनका कोपभाजन था। गणित मेरा अत्यन्त प्रिय विषय था, और अपने दर्जे में सभी विषयों में प्रथम रहा करता था, ऐसे विद्यार्थी का उन्हें अभिमान न हो, यह वात हो नहीं सकती थी। पंडित सीताराम हरिऔध के सजातीय (सनाढ्य ब्राह्मण) तथा विद्यार्थी थे। सनाढ्य ब्राह्मण और गौड़-कायस्थ निजामावाद में एक द्वीपवासी के तौर पर रहते थे। आजमगढ़ जिला सर्वरिया ब्राह्मणों और श्रीवास्तव कायस्थों का है। लेकिन सिक्ख-धर्म भी तो वहाँ एक छोटे-से द्वीप की तरह था जिसके ही साथ यह लोग भी आये थे। सभी गुरु नानक और गुरु गोविन्द सिंह के माननेवाले थे, लेकिन सिर में वाल रखना या न रखना अपनी इच्छा पर निर्भर था। हाँ, 'सिर पर बाल रखते ही नाम के साथ सिंह जरूर लग जाता', जैसे कि हरिऔधजी थे अयोध्या सिंह। पंडित सीताराम मोने सिक्ख थे। अपने–गुरु हरिऔधजी और दीक्षागुरु एवं कविता में दादा गुरु वावा सुमेर सिंह की देखादेखी वह भी कविता करने लगे। उनके लड़के हाँ-हाँ कर मर जाते थे, इस पर किसी ने वतलाया कि कविता करने में छन्दोभंग या प्रतिभंग होने से वहुत पाप होता है, उसके ही कारण आपके लड़के मर जाते हैं। इस पर उन्होंने कविता करनी छोड़ दी थी। शायद 12-13 वर्ष से ऊपर होने पर हर एक लड़के को एक वार कविता करने का शौक चढ़ जाता है। मेरे एक सहपाठी के पिता किसी जगह प्राइमरी स्कूल के मुख्याध्यापक थे। वह व्रजभाषा में कविता-सवैया तथा समस्या पूर्ति करते थे। इससे पहले रानी की सराय में किसी ने एक छपे यंत्र को लाकर दिया, जिसके अक्षरों को खास तौर से जोड़ने पर चौपाई वन जाती थी। सावन में पैसे-पैसे में विकनेवाली कजरी की किताब भी मेरे हाथ लग गई थी, जिससे मेरे हृदय में कविता फूट निकली, जिसके कुछ शब्द थे "नदिया किनारे एक गाँव हवे"। निजामावाद में भी इसी तरह देखा-देखी मैंने दो-चार तुकवन्दियाँ कीं, जिसमें एक थी "मन्दिर को छोड़कर मैं संगत में जाऊँगा"। संगत सिक्खों के मन्दिर को कहा जाता था। श्रोत्रीजी अव कविता से कान पकड़ चुके थे, इसलिए उसके साथ उनकी दिलचस्पी ऊपर ही ऊपर की थी।

तृतीय अध्यापक दो-तीन आये थे, जिसमें एक तेज तरुण और शायद मुहम्मदावाद कस्वे या तहसील के रहनेवाले मौलवी साहव की वात मैं अभी कर चुका हूँ। एक मोटे-से मौलवी थे, जिनका नाम शायद शुकुरुल्ला या नूरमुहम्मद था। वह इतिहास पढ़ाया करते थे। पढ़ाने के वाद मुझे सारी वात याद हो जाती, और वह उसी वक्त मेरे मुँह से दोहरवाते, दूसरे लड़के को याद करने की शिक्षा देते। उनके आगे या पीछे उसी जगह पर एक पंडितजी आकर कुछ ही महीने रहे, जिनका लड़का हमारे साथ पढ़ता था। उस समय आजमगढ़ जिले में दो-तीन ही स्थान वदनाम थे, जहाँ नास्तिक अरियासमाजी दयानन्द प्रकट हुए थे–धरवारा, तरवा के साथ देव गाँव का भी नाम उसी सूची में था। आजमगढ़, निजामावाद या मुहम्मदावाद जैसे कस्वे शायद अभी आर्यसमाजी हवा से अछूते थे। पंडितजी देव गाँव के दीनदयाल साहु के सम्पर्क में आकर कुछ आर्यसमाजी विचारों के हो गये थे। उनकी वड़ी आलोचना हुआ करती। पंडित सीताराम और व्रांच-स्कूल के हेडमास्टर पंडित गंगा पांडे चाहे वावू जगन्नाथ राय की तरह पूजा-पाठ न करते हों, लेकिन नास्तिकों के खंडन में उनको वड़ा मजा आता था। वावू जगन्नाथ राय उस समय आये थे या नहीं, नहीं कह सकता। वेचारे पंडित एक तो नये आये थे, और दूसरे यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह पुस्तकों को पढ़कर पक्के आर्यसमाजी वन गये थे। उन्हें तंग जरूर होना पड़ता था। सवसे वड़ा आक्षेप उनके ऊपर नियोग और विधवा-विवाह को लेकर किया जाता। हमने न कोई आर्यसमाजी पुस्तक देखी थी, न लेक्चर सुना था। तो भी हम सहपाठ पर तीर छोड़े विना नहीं रहते। हो सकता है, यदि वह वरावर के लिए रह जाते, तो वात ठंडी पड़ जाती, और शायद आर्यसमाज की कुछ बातें हमें सुनने को मिलतीं।

23
छूआछूत

आज के लोग शायद ही उस छूआछूत को देख पाते होंगे, जो कि इस शताब्दी के आरंभ में हमारे सामने थी। खाने में जनेऊ होने से पहले कुछ आजादी जरूर थी। वड़े सवेरे चूल्हा नहीं जल सकता था, इसलिए रात की रक्खी हुई रोटी खानी पड़ती थी। उस वक्त कुर्ता पहने और विना चौका-ठहर के रोटी खाया जा सकता था। बावू महावीर सिंह (वावू भगवान् सिंह ?) के हाथ की रोटी स्कूल में खा लेता था, इसकी बात बतला चुका हूँ। लेकिन, जनेऊ के वाद फिर कड़ाई बरती जाने लगी। सिले हुए कपड़े को उतार लेना पड़ता, और जाड़ा हो या गर्मी नीचे धोती और ऊपर अँगोछा रख चौके के भीतर वैठकर रोटी खाना पड़ता था। उस समय अभी विदेशी चीनी ने आकर देशी चीनी के रोजगार को दवा नहीं दिया था। विदेशी चीनी, शायद मोर्शोस या जावा की वहुत साफ-सुथरी मिसिरी जैसे दानों वाली और सस्ती भी मिलती थी। लोग बहुत हल्ला करते थे कि इसमें हड्डी और गाय-सूअर का खून मिला करता है, लेकिन जिस तरह लोगों के गाल फाड़कर चिल्लाते रहने पर भी दालदा घी की जगह या घी के नाम पर सव जगह अव्याहत गति से चल रहा है, वही बात उस चीनी की थी। इसमें शक नहीं चाहे देशी चीनी उत्तनी सफेद न हो किन्तु खाने में उसमें एक तरह का बहुत ही सोंधापन आता था। मैं दाल से घृणा रखता था। और वही वात करीव-करीव चावल से भी थी। पन्दहा में चावल दुर्लभ चीज थी, इसलिए उसमें कोई हर्ज नहीं था, शाम के वक्त मुझे दूध से रोटी खानी पड़ती। नाना पहले कुश्तीबाज जवान थे, फिर दस वर्ष के करीव हैदरावाद में पलटन में नौकरी कर चुके थे। मेरे जन्म से पहले ही अपनी पत्नी सहित तुलसी की कंठी बाँध कर चेला बन गये थे, इसलिए मछली-मांस नहीं खा सकते। पर मेरे दुवले-पतले शरीर को देखकर वह आवश्यक समझते थे कि मैं उनसे वंचित न हूँ। मांस कुछ दुर्लभ और महँगा भी था। उसकी अपेक्षा मछली अधिक सुलभ थी। इस प्रकार दूध-दही मछली में से कोई न कोई मेरे सामने होनी चाहिए, तभी रोटी गले से नीचे उतरती। एक और चीज भी मुझे प्रिय थी वह था चीनी से निकला सीरा, जिसे हमारे यहाँ चोटा कहते थे। रानी की सराय में कोई चीनी के कारखानेवाले साहु थे, जिनको नाना ने कुल सौ रुपये उधार दे रक्खे थे। वह हमारे लिए टोपारी का चोटा दे दिया करते थे। चीनी से सवसे आखिरी बार निकलने वाले इस चोटे में कुछ चीनी का भी अंश रहता था, और वैसे भी चोटों में एक तरह का सोंधापन था। अगर कोई चीज न रहे, तो चोटे से भी मैं रोटी खा सकता था।

निजामावाद जाने पर–12-13 वर्ष की उमर में मेरे बारे में रोटी का सवाल आया। पहले अपने किसी दूर के रिश्तेदार एक वैष्णव व्रह्मचारी के यहाँ रहने का इन्तिजाम किया गया, लेकिन वहाँ मैं कुछ ही महीनों टिक सका। फिर स्कूल के बोर्डिंग में चला गया, जो स्कूल के सामने सड़क के पास था। यहाँ शायद कुछ वार मैंने अपने हाथ से अकेले भी रसोई बनाई और दाल मेरी कभी नहीं पकती थी, तो भी शायद अपनी मेहनत के कारण वह मुझे अच्छी लगती थी। पीछे रसोई में दो-एक दूसरे लड़कों का साथ हो गया। हमारे दर्जे में एक लड़का अकेली रसोई वनाता था। मालूम नहीं उसका नाम ही निफिकिर था, या लड़कों ने उसे यह नाम दे दिया था। हम समझते थे कि आग में हाथ डाल देने पर भी उसको दुःख नहीं होता। वह गंजी पहन कर रसोई वनाता था, जिसके लिए वड़ी टीका-टिप्पणी होती थी। निफिकिर का जवाव था–"यह सिली हुई थोड़ी ही है, यह तो उसी तरह वुनी है, जैसे धोती या अँगोछे के कपड़े।"

मुझे जहाँ तक याद है किसी जात के लड़के छूआछूत के नियम का उल्लंघन नहीं करते थे, यदि निफिकिर के गंजी पहनने की बात छोड़ दी जाये। मुसलमानों की बात अलग थी, जिनके यहाँ छूआछूत कोई चीज नहीं थी। पढ़नेवाले लड़कों में ज्यादातर ब्राह्मण, भूमिहार, क्षत्रिय और कायस्थ लड़के ही अधिक थे। कस्वे के बनियों का कोई लड़का नहीं पढ़ता था। चौका-बरतन का काम स्कूल के ही रहनेवाले सरजू कहार का परिवार करता था। वह शायद भड़भूजा नहीं था, और अवसर मिलने पर टौंस से मछली मार लाया करता था, यद्यपि मैं बहुत

कम मछली लेता था, पैसे तो उस वक्त बड़े महँगे थे, स्कूल की फीस नाना दे देते थे, और खाने के लिए घर से आटा-दाल भेज दिया करते थे, तरकारी और लकड़ी के लिए कुछ पैसे मिलते थे, उन्हीं में से बचा कर मैं मांस लिया करता था। लेकिन मांस बनाने में भी छूआछूत के नियम को पूरी तौर से पालन करना पड़ता। मांस अधिकतर दोपहर को बनता और प्रायः मैं अकेले ही उस दिन रहता। इतवार को आस-पासवाले विद्यार्थी घर चले जाया करते। सरजू मसाला पीस देता। बरतन मलने के लिए शायद हम लोग महीने में उसे कुछ पैसा दे देते थे, और कम से कम एक रोटी रोज जरूर ही छोड़ते थे, जिसके कारण सरजू के घर भर के लिए खाने के वास्ते रोटियाँ मिल जाती थीं। श्यामनारायण पांडे और उनके दो चचेरे भाई–सभी एक घर के हमारे ही दर्जे में पढ़ते थे। वैसे मांस खाना हमारे यहाँ के ब्राह्मणों में निषिद्ध नहीं है, और सिर्फ संस्कृत पढ़े या गुरु घरानेवाले मांस-मछली नहीं खाते। श्यामनारायण के घर में ऐसी कोई बात नहीं थी, लेकिन वह उससे परहेज करते थे। उनके मझले भाई को मैंने फोड़ लिया और इतवार के दिन मांस बनने के समय हम दोनों की इकट्ठी रसोई बनती, बाकी दोनों भाई जला करते।

छूआछूत रोटी में ही नहीं, बल्कि दाने-भूजे में भी कुछ हद तक मानी जाती थी, यद्यपि सब लोग जानते थे कि जिस भाड़ में दाना भूना जाता है, उसकी हँड़िया न जाने किस जात के लोगों की जूटी होती थी। जूता पहने हुए भूजा नहीं खाया जा सकता था, और जिस तरह रोटी चारपाई से छूने पर भ्रष्ट हो जाती, उसी तरह का कुछ ख्याल भूँजे के लिए भी था। अधिक विचार रखनेवाले लोग तो भूजा खाते वक्त चारपाई से जरूर नीचे उतर जाते थे। हाँ, उसके लिए चौके की आवश्यकता नहीं थी। धान की खीलें या लाई भी धान उबाल कर बने चावल की होती थी। जिस हँड़िया में चावल उबाला जाता, वह चौके के भीतर-बाहर सब जगह जा सकती थी, यह भी पता नहीं था कि धान को किस जात के आदमी ने उबाला। छूआछूत के ख्याल रखने वालों को यह लाई हर्गिज नहीं खानी चाहिए थी, लेकिन वह ग्राह्य थी। बाजार में बिकनेवाले गुड़, जिसके बनाने में पानी का इस्तेमाल अवश्य होता था, हिन्दू या मुसलमान किस जात के आदमियों ने बनाया, इसका क्या पता था ? बाजार के घी को लोग खाते थे, और वह मुसलमान के घर का भी हो सकता था। छूआछूत रखने में कोई बुद्धि की बात नहीं थी यह तो विश्वास का सवाल था। जिस चीज को सारी जनता ने छूत मान लिया था, वह चाहे परम अछूत हो, लेकिन उसके खाने में किसी को आपत्ति नहीं थी।

हमारे स्कूलों में भी अछूत समझे जानेवाली जातियों के लड़कों का प्रवेश नहीं था। उनकी विद्या की ओर कोई रुचि नहीं थी, और न सरकार की ओर से कोई प्रोत्साहन दिया जाता था। शायद कोई लड़का रानी की सराय में कुछ दिनों तक पढ़ने के लिए आया था। हिन्दी वालों का अक्षरारम्भ जमीन पर धूल रखकर कराया जाता था। जब वर्णमाला खतम हो जाती, तब वह टाट पर बैठ कर दूसरे लड़कों के साथ पढ़ता। वह लड़का टाट तक नहीं पहुँच सका।

24
बगीचों का आनन्द

शायद ऐसा कोई लड़का न हो, जिसको बचपन का अपना बगीचों का सम्बन्ध मधुर न लगता हो, विशेषकर जब कि वृक्षों पर फल लगे हों। हमारे यहाँ के गाँवों में आम, जामुन, बड़हल और महुआ यही अधिक तथा बच्चों के प्रिय थे। कटहल कहीं-कहीं होते थे, और उसके फल बड़े-बड़े तथा पकने पर ही खाने लायक होते थे। वह लड़कों के लिए अरक्षित नहीं रक्खे जा सकते थे, इसलिए हमारा सम्बन्ध ऊपर के फलों से ही था। कनैला में इनके साथ इस सूची में ताड़ भी शामिल हो जाता था। पन्दहा में ताड़ का कोई वृक्ष नहीं था। महुआ भी एक तरह से हमारे लिए कोई आकर्षण की चीज नहीं थी, उसका फूल मीठा होने पर भी अच्छा नहीं लगता

था, और बरसात में जब कोइना पकता, तो दूसरे फलों के अभाव में ही कोई उसे खाना पसन्द करता। हमारा सबसे प्रिय फल आम था। चैत में ही जहाँ कौड़ी-कौड़ी भर का हुआ कि लड़कों ने आँख बचा कर उन्हें झाड़ना शुरू कर दिया। खट्टे आम अधिक खाये नहीं जा सकते थे। हाँ, जब चार-छः लड़के मिल कर खतरा उठा कर लट को नमक लगा कर खाने लगते, उसका स्वाद कुछ बढ़ जरूर जाता था पर असली पसन्द का आम तो पकने के बाद ही मिलता। कितनी जल्दी वह समय बीत जाता। उस समय स्कूल में हमें जनवरी-फरवरी का ख्याल रहता, बाकी सब चीज में चैत-वैसाख से हिसाब जोड़ते। यद्यपि हम देखते थे कि वर्षा के दिनों में लोग सावन-भादों का उतना ख्याल नहीं करते, जितना कि मिरगिसिरा, पूरवा आदि नक्षत्रों का। हमें मालूम नहीं था कि चान्द्र और सौर दो प्रकार के महीने और वर्ष होते हैं, और वर्षा जैसे अत्यन्त महत्त्व के मौसम का अगर नक्षत्र छोड़ सावन-भादों में गणना करने लगते, तो किसान हर साल दस दिन और हर तीसरे साल पूरे एक महीने पहले ऋतु को शुरू समझ कर अपने बीज को असमय ही खेत में डाल आते। सबसे पहले पकनेवाले आम को रोहिनिया कहते, जो रोहिनी नक्षत्र में मिलने लगता। सबके अन्त में पकनेवाले आम को भदया कहते। दोनों के पकने में शायद ढाई-तीन महीने का अन्तर था। यद्यपि यह दोनों आम दुर्लभ समय में होते किन्तु लोग इनके पेड़ बहुत कम लगाते। पन्दहा छोटा गाँव था, लेकिन वहाँ अपेक्षाकृत पेड़ अधिक थे। बड़हल बरसात में पकता, उसके भी कुछ पेड़ थे। कनैला में यह दुर्लभ फल था। पन्दहा के बगीचे बिखरे हुए थे, और कनैला का एक ही बगीचा था जो काफी बड़ा था। हमारे नाना के अपने आम के पाँच-छः पेड़ थे, और एक बड़हल और एक या दो जामुन के भी थे। हमारी जामुन फरेंदा नहीं थी। फरेंदा का फल बड़ा, गुठली छोटी और स्वाद भी अधिक मधुर होता, लड़के उसे बहुत पसन्द करते। उसे हमें चोरी से ही कहीं से प्राप्त करने की कोशिश करनी पड़ती। जब आम पक जाते तो हवा तेज न होने पर भी रात को कुछ अपने आप गिर पड़ते। उस वक्त सयानों की तरह लड़के भी जब-तब आम ढूँढ़ने के लिए जाते। रात को अगर आँधी या तेज हवा आ गई, तो और भी अधिक आम गिर पड़ते।

एक बार शाम के वक्त एकाध घण्टा रात जाते ही एक बार हवा तेज हुई। यह रोहिनी नक्षत्र थी। रोहिनियाँ आम उस साल खूब फला था। वैसे हमारे तीनों नाना ने अपने-अपने पेड़ों को बाँट लिया था, किन्तु यह पेड़ अभी साझे का था। मैं नाना के साथ सोया था। मुझे बार-बार ख्याल आता था–रोहिनियाँ के नीचे अवश्य कुछ फल गिरे होंगे। क्या ही अच्छा होता, जो मैं भी जाकर दो-चार बीन लाता। लेकिन, सूर्यास्त के बाद भला नाना ऐसी इजाजत क्यों देते ? नानी भी पसन्द नहीं करतीं, क्योंकि जेठ-असाढ़ के महीनों में साँप बहुत निकला करते थे। मैं जाने के लिए तड़फड़ाता था। मुझे विश्वास था कि छोटे नाना के छोटे लड़के नरसिंहा–जो करीब-करीब मेरी ही उमर के थे–जरूर फल बीन गये होंगे। वह स्कूल में पढ़ने नहीं गये, लेकिन घर पर रहने के समय मैं उन्हीं के साथ खेला करता, और शायद ही कभी उनसे झगड़ा हुआ हो। यह निश्चय ही था कि अँधेरे में मुझे कोई आम हाथ नहीं लगता, तो नरसिंहा जरूर मुझे एक-दो आम देते।

बगीचे की बहार लेने का मुझे सबसे अच्छा मौका कनैला में मिलता। इस समय गर्मियों की छुट्टी के कारण मैं अक्सर वहाँ पहुँचा रहता। गाँव के बगीचे अलग होते हैं, और कस्बे या शहर के बगीचे अलग, इसका कुछ-कुछ मुझे पता था। रानी की सराय से लगे हुए रायपुर के एक भूमिहार वृद्ध ने अपनी कीर्ति के लिए एक छोटी किन्तु गहरी पोखरी, एक बगीचा और एक ठाकुरबाड़ी बना रक्खी थी। उनके बगीचे में कलमी मालदा आम लगे हुए थे। लड़के समझते कि कलमी आम कच्चा भी दूसरे पके आम जैसा स्वादिष्ट होता है। यह बात गलत थी, लेकिन दुर्लभ होने के कारण मालदा आम का गुण अधिक माना जाता था। वृद्ध के दो पोते मदरसे में पढ़ते थे, और साल में एकाध फाँक कच्चे कलमी की हमें भी खाने को मिल जाती। नारियल को हम देख चुके थे, और उसकी गरी भी खा चुके थे। जब पहले-पहल सुना कि उसी बगीचे में नारियल का पेड़ भी है, तो मैं बड़ी उत्कंठा के साथ उसे देखने गया। उसमें फल लगे थे या नहीं, यह मालूम नहीं। पन्दहा के पास बसई गाँव के सैयद लोगों का जमाना कभी बहुत अच्छा था। वह कई गाँवों के जमींदार थे। उनकी दो मंजिला भव्य हवेली से सटा हुआ बगीचा था। पहले वह बहुत अच्छी हालत में रहा होगा, और

उसमें कई तरह के मेवे भी लगे होंगे। पर अब वहाँ शरीफे और अनार के पेड़ रह गये थे, जो हमारे यहाँ के लिए दुर्लभ मेवे थे। हमारे सहपाठी कभी-कभी पके शरीफों को अपने साथ लाते, और हमें भी देते। अनार के वृक्ष नत्थूपुर के साहु के बगीचे में थे। चीनी के कारखानों का जब जोर था, उसी समय नत्थूपुर के साहु बहुत धनी हो गये थे। उनका छोटा लड़का पढ़ने आया करता था। उसने अनार दिखला और खिलाकर एक दिन चकित कर दिया। हम समझते थे, यह मनुष्यलोक का नहीं, बल्कि देवलोक का फल है।

कनैला के बगीचे में आमों के पकने के समय जंगल में मंगल हो जाता। भरोसा बाबा के खेत करीब-करीब बिक चुके थे, और उनके पाँच-छः पेड़ आम जब पकते, तो फलों को बेच कर वह अनाज भी पा जाते। वह झोंपड़ी लगा कर एक पेड़ के नीचे रात-दिन के लिए बैठ जाते। उनके घड़े में इनार का ठंडा पानी बराबर रहता। और लड़के शैतान थे, उनसे उनकी नहीं पटती थी, क्योंकि मौका पाते ही वह उनके आमों पर झपट्टा मार देते, और जब भिन्सारे में बगीचे की एक छोर के आमों के लिए जाते तो दूसरे छोर पर लड़के टूट पड़ते। मैं पाहुना की तरह वहाँ जाता था, इसलिए वह मुझे अपने घड़े का ठंडा पानी पीने को देते, और कभी-कभी कोई छोटा-सा आम भी। लेकिन भरोसा बाबा मुझे सबसे प्रिय इसलिए थे कि वह तरह-तरह की कहानियाँ सुनाते थे, जिन्हें शैतान लड़के भी चुपचाप सुनते। वह भूतों की कथाएँ सबसे अधिक सुनाते, और सुनते वक्त सचमुच ही डर लगने लगता कि अकेले वहाँ से चलना मुश्किल हो जाता। शायद वह लड़कों को भूतों की तरह-तरह की कथाएँ इसीलिए सुनाया भी करते थे, पर आमों की चोरी से लड़के क्यों बाज आने लगे ?

25

चौकिया की माई

कुलदेवता और ग्रामदेवता हिन्दुओं के लिए भय और रक्षा दोनों के कारण होते हैं। इन देवताओं के क्रूर और सौम्य दोनों ही रूप होते हैं। कुछ देवता ऐसे होते हैं, जिनकी तेवरी हमेशा चढ़ी रहती है, और बहुत खुशामद करने पर वह सिर्फ इतना ही करते हैं कि अपनी तेवरी को दूसरी ओर फेर लेते हैं। कुलदेवता की खबर बहुत कम घरों को होती है। कनैला में हमारे संयुक्त घर की एक कोठरी में फर्श से जरा ऊँची थोड़ी-सी जगह थी, जिसे देवखुर कहते हैं, और वह कुलदेवता का स्थान मानी जाती थी। पन्दहा में नाना के तीनों भाइयों के घरों में ऐसी कोई देवखुर मैंने नहीं देखी। कुलदेवता से ग्रामदेवता कई बातों में अधिक महत्त्व रखते हैं। किसी गाँव में यदि जानना हो कि वहाँ कोई पुरातात्विक सामग्री है या नहीं, तो वहाँ के लोगों से ग्राम देवताओं के स्थानों को पूछ कर देखिए। उनमें से अक्सर में पुरानी टूटी-फूटी मूर्तियाँ या किसी पुराने मन्दिर के पत्थर के टुकड़े मिलेंगे, जो अपनी मूक भाषा से बतला देंगे कि हम किस काल के वैभव के प्रतीक हैं। ग्रामदेवता कितने ही होते हैं। ब्याह होकर आने पर नव-दम्पति की मंगल-कामना के लिए सभी ग्रामदेवताओं की पूजा के लिए वर का जाना आवश्यक समझा जाता है, इससे भी उनकी सूची बनाई जा सकती है। कनैला में डीहबाबा के स्थान पर 11वीं-12वीं शताब्दी के किसी बौद्ध देवता की खंडित मूर्ति न जाने कब से पड़ी थी, लेकिन आँख न रहने के कारण मैं उसे पहचान नहीं सका, और 1943 ई. में ही इस रहस्य को जान सका। पन्दहा में हनुमत वीर देवता एक जंगली पेड़ के नीचे रहते थे। बचपन में वहाँ भी मैंने कुछ खंडित मूर्तियाँ देखी थीं। एक और खंडित मूर्ति का पता लगा, जिसे कुछ साल पहले कोई उठा ले गया था। पिछले सौ वर्षों में जब से अँग्रेज अफसर पुरातत्त्व-सामग्री के महत्त्व को समझ करके उन्हें जमा करने लगे, तब से न जाने कितनी इतिहास की ऐसी अनमोल सामग्री उठ चुकीं। पिछले पचास वर्षों में लखनऊ, बनारस जैसे कितने ही स्थानों में ऐसी सामग्री के व्यापार पैदा हो गये। वह चुराकर या पैसे का लोभ देकर जैसे भी हो तैसे मूर्तियों को ले जाकर अच्छे दामों में युरोपियन लोगों को बेच देते थे। इस लूट के बावजूद भी अभी कितनी ही मूर्तियाँ जहाँ-तहाँ बच रही

हैं। आजमगढ़ में इसके लिए एक म्युजियम (संग्रहालय) होना चाहिए। म्युजियम कहने से घबराने की जरूरत नहीं। आपको न उसकी इमारत के लिए 50 हजार की योजना बनाने की जरूरत है, और न क्युरेटर या दूसरे खर्च की चिन्ता करनी। म्युनिसिपैलिटी अपनी कोई कोठरी दे सकती है या मेहता लाइब्रेरी में कमरा न हो, तो वरांडे में सीमेंट से चिपका कर इन चीजों को रक्खा जा सकता है। जब धीरे-धीरे 10-12 हजार चीजें जमा हो जायेंगी, तो वह अपने आप अपना मकान बनवा लेंगी।

ग्रामदेवताओं के वाद फिर अपने ग्राम-समूहों के देवता हैं। तप्पे और परगने का विभाजन बहुत पुराना है। परगने तो पत्तला या और नाम से मुस्लिम-काल से भी पहले जाते हैं, और प्रायः किसी प्राचीन गाँव के नाम पर होते हैं। कनैला तप्पा टाड़ी में है, जहाँ किसी पुराने मन्दिर या ग्राम के ध्वंसावशेष पर परमजोत माई का स्थान है। यहाँ साल में एक वड़ा मेला लगता है, जिसमें सारे तप्पे के नर-नारी आते हैं। वहाँ के लोग कागज में तप्पा-टाड़ी लिखते हैं, लेकिन वेसे अपने इलाके को वरहो कह कर पुकारते हैं। वरहो पुराने समय में वारह गाँवों का समूह रहा होगा। पन्दहा के तप्पे का नाम फरिहा है। शायद फरिहा का भी कोई महत्त्व रहा होगा। कनैला के लिए परमजोतमाई का जो स्थान है, पन्दहा के लिए सेठवल की मसानीमाई का वही स्थान था। मेरे वचपन में शायद उस पर भी कुछ खंडित मूर्तियाँ थीं। उसी समय मसानीमाई का नया चवूतरा बना था। भूतों-प्रेतों का उपद्रव वढ़ गया था, जिसको कम करने के लिए किसी श्रद्धालु ने बड़े-बड़े गुनी बुलाये। एक सोखा उन्हें पकड़-पकड़ कर चवूतरे के साथ वाँध रहा था। अपने ग्राम-समूह से परे के भी कुछ देवता होते थे, जिनमें निजामावाद के पास चौकिया माई की सीतला भवानी थी। चौकिया शायद कोई गाँव था। सीतला भवानी को किसी पेड़ के नीचे चवूतरे पर वर्षा में भींगने की जरूरत नहीं थी। उनके लिए एक छोटा-सा ईंट-चूने का शिखरदार मन्दिर वना हुआ था। मुझे जहाँ तक याद है, सावन के हर सोमवार को वहाँ मेला लगता था। बहुत छोटेपन में एक वार मैं भी वहाँ पूजा के लिए नानी के साथ गया था। लड़कों को छोटी-मोटी बीमारी हो ही जाया करती हैं। उस वक्त घरवालों को चिन्ता होती है और वह किसी देवता की मनौती मान लेते हैं। शायद ऐसी ही कोई मनौती मेरी मानी गई थी। देवी के मन्दिर के पास एक वड़ा-सा आमों का वाग था। लोग अपने घर से घी, आटा, गुड़ आदि ले जाते थे, और वहाँ कढ़ाई चढ़ा कर देवी को पूड़ी-हलवा का भोग चढ़ाते। बलि देनेवाले शायद वकरा भी कटवाते थे। उस समय नाचनेवाले लड़के भी अपने समाजियों के साथ आ जाते। जिन माताओं ने वैसा माना होता, वह अपने आँचल को फैलाकर उस पर नचनियाँ को नचातीं। मेला-तमाशा ऐसा स्थान है, जहाँ पर अपने वैभव और सौन्दर्य को दिखलाने का शौक सनातन काल से, सभी देशों और वर्गों की स्त्रियों में चला आया है। यहाँ भी स्त्रियाँ अपने अच्छे-अच्छे कपड़े और जेवरों को पहन कर गरोह वाँध कर आती थीं। उनके साथ पुरुष भी होते थे, इसलिए चोरी का डर नहीं था, और डकैती उस समय सुनी नहीं जाती थी। स्त्रियाँ एक-दूसरे से किसी अधिक कपड़े-जेवर वाली स्त्री को दिखला कर कहतीं, यह अमुक गाँव के फलाने की बहू है।

निजामावाद में जव मैं पढ़ने के लिए गया और एक वर्ष गायब रहने को लेकर तीन वर्ष तक रहा, तो चौकियामाई के किसी मेले में नहीं गया। चौकियामाई के मन्दिर में भी टूटी-फूटी मूर्तियाँ थीं। सवसे महत्त्व की और सुन्दर मूर्तियाँ मुस्लिम काल के पहले की थीं, और जव 6-6 शताब्दियों तक शासकों ने भी अपने लिए नियम कर रक्खा हो कि काफिरों की मूर्तियों को तोड़कर सवाब हासिल किया जाये, तो उस काल की अखंड मूर्तियाँ मिल कहाँ सकती हैं ? कभी-कभी लोगों ने मूर्तियों को वचाने के लिए उन्हें कुएँ या तालाब में फेंक दिया या जमीन के नीचे गाड़ दिया। ऐसी मूर्तियाँ अखंडित भी मिलती हैं। लड़कपन में हम सुनते आये थे कि औरंगजेव के आजम, मुअज्जम और निजाम नाम के तीन लड़के थे। आजम के नाम पर आजमगढ़ बसा और निजाम के नाम पर निजामावाद, मुअज्जम के नाम कौन कस्बा या शहर वसा, यह मालूम नहीं। लेकिन, बसना कहना गलत है। वहाँ पहले ही से गाँव, वाजार या कस्वा मौजूद था, शायद किसी भक्त–अधिकारी ने अपने बादशाह या शाहजादे का नाम उसके साथ चिपका दिया। बहुत-से गाँवों के जो मुसलमानी नाम मिलते हैं उनमें भी कितने ही किसी दूसरे नाम से पहले वहाँ मौजूद थे, किसी हाकिम या उसके कारिन्दे को नाम अमर करने

की इच्छा हुई, और पुराने नाम की जगह नया नाम रख दिया गया। उमरपुर के उमर कौन थे, मुहम्मदपुर के मुहम्मद या इलियासपुर के इलियास कौन थे, इसकी परंपरा लोग भूल गये।

आजमगढ़ के पास एक और भी जागता देवी थीं, जिनका भी बहुत बड़ा मेला लगता था, और नाम शायद मरहामाई था। सभी जागता देवता देवियाँ थीं, यह भी उल्लेखनीय बात है। पर, इससे शिवजी या रामकृष्ण की प्रतिष्ठा कम नहीं थी।

26

भोज-त्यौहार

त्यौहार का अर्थ भी हम लड़कों के लिए भोज ही था, यद्यपि वह घर के लोगों ही का होता था। त्यौहार साल के हर महीने में वरावर-वरावर बँटे हुए नहीं थे। होली के आगे-पीछे वह बहुत ज्यादा होते थे। गाँव के गरीब लोगों का भोजन साल-भर एक जैसा ही होता है। मटर या मड़वा के आटे की रोटी, कोदो या सावाँ का चावल भी यदि बारहों महीने पेट भर लोगों को मिल जाता, तो वह अपने को धन्य-धन्य समझते। उनके लिए दाल भी एक परम पदार्थ था। नमक या मिर्च और हुआ तो कड़वे तेल से वह अपने भोजन को गले के नीचे उतार लेते। उनसे कुछ बेहतर स्थिति के लोग दाल भी खाते थे। साग-सब्जी जिनको मिले, वह तो गाँव के अमीर थे। बरसात में चकवंड़ और अगहन-पूस में वथुवा का साग सभी लोग खा सकते थे, और कितनों का तो नमक माँग कर यही साग भोजन होता था। पूड़ी शहर की बोली थी, हम लोग उसका नाम सोहारी जानते थे। उस समय सोहारी कहना गँवार होने का चिह्न था, इसलिए लोग भरसक पूड़ी कहना चाहते थे। यद्यपि पूरी असल में दाल या वेसन डाल कर बनी हुई सोहारी का नाम पहले से भी प्रसिद्ध था, और वही उसका उपयुक्त नाम भी था, लेकिन पढ़े-लिखे लोग और लिखित भाषा में पूरी का ही प्रयोग देखकर लोगों ने सोहारी को छोड़ दिया। उन्हें क्या मालूम था कि सोहारी की जड़ पूड़ी से भी बहुत पुरानी है। 8वीं से 12वीं शताब्दी की अपभ्रंश भाषा में सोहाली शब्द का ही प्रयोग होता था। शोभाली क्या पूड़ी के लिए कोई बुरा नाम था ?

सोहारी आम तौर से तेल की ही बनाई जाती थी, जिसका कारण गरीबी थी। हाँ, देवता को घी की सोहारी चढ़ाई जाती थी। तेल में सरसों का तेल, बर्रे का तेल, महुए का तेल इस्तेमाल किया जाता था। तिल के तेल का खाने में प्रयोग नहीं होता था, शायद इसका कारण उसका महँगापन हो। वैसे तिल को मिठाई के साथ मिलाकर खाने का रिवाज था। होली में कई तरह के पकवान बनते थे, यद्यपि हमारे गाँवों के साधारण गृहस्थों के यहाँ उनकी संख्या तीन-चार से अधिक नहीं होती थी। सोहारी, लप्सी और कुछ नमकीन चीजें। खीर हमारे यहाँ बखीर को कहते थे, जिसमें दूध की कोई आवश्यकता नहीं। गुड़ के रस में या तो चावल पकाया जाता था, या यदि मौसिम हुआ, तो ताजे ऊख के रस में भी विना त्यौहार के कितनी ही बार बखीर बन जाया करती। खीर या क्षीर दूधवाची शब्द है, इसका लोगों को ख्याल नहीं था, अथवा उसे बखीर कह कर बेक्षीर भाव को उसमें छिपा रक्खा गया था। असली खीर को हम जाउर कहते थे। यह भी पुराना शब्द है। जाउर शुद्ध दूध में पका चावल होता था, और उसमें मीठा डालने की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। उसकी जरूरत भी नहीं थी, क्योंकि विना पानी का दूध गाढ़ा होकर खुद मिठास देने लगता था, शायद मधुरता का कारण मेरी पुरानी स्मृति हो। उस समय विना मीठा की जाउर, जिसमें भी सेर में छटांक नहीं, बल्कि सेर में पाव-डेढ़ पाव चावल डाला जाता था, जितनी मधुर लगती थी, अव वह स्वाद कहीं नहीं मिलता। निजामाबाद में पढ़ते समय कुछ सालों तक मैं भी क्वाँर के महीने में मलेरिया में पकड़ा जाता। उठते ही स्कूल जाना पड़ता। उस समय दोपहर के खाने के लिए नानी सोहारी बनाकर कभी खुद लातीं, और कभी साथ कर देतीं। यह समझा जाता था कि घी की सोहारी मलेरिया के वाद पथ्य है, नहीं तो तिल्ली (बरवट) बढ़ जाती

है, या वह फिर छोड़ता ही नहीं। इसीलिए घर की भैंस के घी की बनी यह सोहारी होती। सोहारी केवल गेहूँ के आटे की बन सकती थी। इसका स्वाद और उसमें घी की सुगंधि, आज भी ऐसा मालूम होता है, जैसे दुनिया में वैसा कोई स्वादिष्ट भोजन कभी मिल ही नहीं सकता।

छोटी-बड़ी बसियौरा भी हमारे लिए बड़े आकर्षण की चीज थी। बसियौरा रामनवमी के आसपास होता था, मैं स्मृति से ही कहता हूँ। बसियौरा का त्यौहार केवल पूर्वी उत्तर प्रदेश में ही नहीं है, बल्कि राजस्थान में वह करीब-करीब इसी नाम से प्रसिद्ध है। इसमें बासी बने हुए खाने को खाया जाता है, इसलिए इसे यह नाम दिया गया। लेकिन, वस्तुतः खाने की चीजें इतनी बासी नहीं होती थीं। उस दिन घर की महिलाओं को रात-भर जागकर कई तरह के पकवान बनाने पड़ते, और अगले ही दिन उन्हें खाया जाता। खाना जरूर ठंडा हो जाता है, लेकिन इतनी जल्दी वह बासी नहीं हो सकता था। इसमें दाल नहीं, बल्कि पूरे उड़द की दाल बनती, जो न जाने क्यों बड़ी मधुर लगती। पन्दहा में धान नहीं होता था, हर साल एक बैल या भैंसे का बोझा चावल कनैला से आ जाया करता था। मैं देखता था उसी चावल का कनैला में सफेद भात होता, और बसियौरे में वह लाल हो जाता। मैं नहीं समझता था कि यह इनार के पानी के कारण होता है। मैं उसे भी बसियौरे की विशेषता समझता था। उस दिन सवेरे ही उठकर जब दरवाजे से बाहर जाता, देखता पाँच-सात कंकड़ जमा करके रक्खे हुए हैं, और पिसे चावल का पानी डालकर उन्हें सफेद कर दिया गया है।

सभी त्यौहारों में अनन्त और जिउतिया के भी त्यौहार थे, जो हमारे घरों में नहीं मनाये जाते थे। जिस त्यौहार में भोजन में अच्छी-अच्छी चीजें न बनती हों, उसका हमारे लिए कोई महत्त्व नहीं था। ग्रामदेवताओं में पन्दहा में और कनैला में भी कालीमाई थीं। हमारे जिले का शायद ही कोई गाँव हो, जहाँ कालीमाई न हो। शायद कहीं-कहीं उनके चौरे पर कोई टूटी-फूटी मूर्ति रहती हो, लेकिन यह आवश्यक नहीं है। दोनों गाँवों के कालीमाई का चौरा नीम के पेड़ के नीचे था, इसलिए मैं समझता था, जैसे बेल शिवजी का वृक्ष है, तुलसी ठाकुरजी का, उसी तरह नीम कालीमाई का वृक्ष है। उनकी पूजा सावन में खास तौर से होती थी, उस वक्त कड़वी नीम फूल कर मधुर सुगन्धि चारों ओर फैलाती थी। पन्दहा में एक बार कालीमाई की पूजा हुई थी, जिसमें छोटा या बड़ा बकरा काटा गया था। शायद बलि के बकरे के चमड़े को भी पवित्र समझा जाता है, इसलिए उसे आग में भूना जा रहा था, और भुने हुए कान का एक टुकड़ा मुझे भी किसी ने खाने को दिया था। कितने ही पुराने शब्द लुप्त हो जाने पर भी किसी-किसी समय प्रयुक्त होते हैं, यह हमारे यहाँ का छोहरी शब्द था। छोकरी, छोहरी या छोरी—पर्यायवाची शब्द हैं, जो छोटी लड़कियों के लिए इस्तेमाल होता है। पूर्वी भोजपुरी में छोकरी-छोकरा का प्रयोग होता है, किन्तु पश्चिमी में मैंने उसका प्रयोग नहीं होते देखा। हाँ, उसके भी दक्षिणी भाग में लड़के के लिए गदेला कहा जाता है, जिसे हमारे यहाँ नहीं बोला जाता है। मनौती और शायद किसी त्यौहार के दिन भी छोटी-छोटी लड़कियों को दिये जानेवाले भोज को छोहरी खिलाना कहते जिसका अधिक संस्कृत नाम कुमारी पूजा है। खुशी और मनौती के अतिरिक्त श्राद्ध-भोज भी हुआ करते थे; जिसमें बिरादरी-भोज मुझे इसलिए पसन्द था कि उसमें बनी दाल मुझे मीठी लगती थी।

27
रामलीला

रामलीला की प्रथा तुलसीदास से भी पहले मौजूद थी, लेकिन उसके सार्वत्रिक प्रचार में गोसाईंजी की रामायण ने बहुत काम किया। मेरे एक चचेरे नाना थे, जिनके पिता महावीर पाठक पुरोहित और छोटे-मोटे पण्डित माने जाते थे, लेकिन पुत्र इतने ही पढ़े थे कि रामायण पढ़ लेते थे, और उसके पाठ करने का उन्हें बड़ा शौक था। उनकी रामायण लिथो में छपी हुई थी, और कनैला में जिस रामायण को कभी-कभी गाया जाता, वह

हाथ के कागज पर कैथी अक्षरों में लिखी थी। वह कोई महत्त्वपूर्ण हस्तलेख रहा होगा लेकिन लोगों को तो केवल उसके इस्तेमाल करने से काम था। पीछे फट-फुट कर वह शायद किसी तालाब में विसर्जित कर दी गई होगी। हमारे छोटे नाना—बहुत नजदीक के सम्बन्धी—प्रायः दोपहर के बाद और चारपाई पर बैठे ही बैठे रामायण पढ़ते, लेकिन कथा आरम्भ करने से पहले अपने अँगोछे की गेडुरी बना कर पास में हनुमानजी के बैठने के लिए जरूर रख देते। उनको भी औरों की तरह विश्वास था कि रामायण की कथा जहाँ होती है, वहाँ हनुमानजी सुनने के लिए जरूर आ जाते हैं। वह रोज भाँग पिया करते थे, जो एक तोला से कम नहीं होती थी। कुन्डी सोंटा में अपने हाथ से एक-दो कहते न जाने कितने सौ बार तक डंड को घुमाते। शाम के वक्त उनकी आँखों पर भाँग का नशा जरूर रहता।

रामायण का पाठ तो इस प्रकार मैंने होश सँभालते ही देखा-सुना था, लेकिन रामायण और रामलीला का आपस में घनिष्ट संबंध है, इसका पता रानी की सराय में पढ़ने के लिए जाने पर मालूम हुआ। रामलीला गाँव-गाँव नहीं लगा करती, यद्यपि आरम्भ तो किसी ने ऐसी जगह ही किया होगा, जहाँ पहले रामलीला नहीं हुआ करती थी। कनैला और चकरपानपुर दोनों हमारे ही वंश के पांडे ब्राह्मणों के गाँव हैं, और दोनों एक-दूसरे से सटे हुए हैं। यही नहीं, बल्कि हमारी पैतृक भूमि का कुछ अंश अब भी चकरपानपुर में हमारे नाम था। चकरपानपुर के इकौना टोले का एक शिवालय हमारे ध्यान को कुछ विशेष उस समय भी आकृष्ट करता था, क्योंकि वहाँ शिवजी की पिंडी जिस गर्भ-गृह में थी, वह आस-पास की भूमि से कई हाथ नीची थी। हर सौ साल में आध फुट धरती मोटी होती जाती है, यह हमारे प्रदेश के लिए आँका गया है। इससे भी मन्दिर नहीं, तो कम से कम शिवलिंग की प्राचीनता मालूम होती है। लेकिन कनैला के आस-पास पहले कोई रामलीला नहीं लगती थी। चकरपानपुर के बाबा लक्ष्मीदास ने साधु होकर दोनों गाँवों की सीमा पर अपनी कुटिया बना ली, और फिर कुछ समय बाद वहाँ रामलीला लगवाने लगे। लेकिन सबसे पहली रामलीला रानी की सराय में ही देखी। ढोल और झाँज बजा एक ओर तो कितने ही लोग गला फाड़-फाड़ कर बारी-बारी से रामायण की चौपाइयाँ गाते। उनको यह पता नहीं होता कि क्या लीला हो रही है। दूसरे अन्धों में काना राजा जैसे पुरुष होते, जो रामायण की पोथी हाथ में लिए जिन-जिन पात्रों का जो काम होता, उनके मुँह से तुलसी बाबा की चौपाइयों में कहलवाते। क्वार की अमावस्या के शायद दूसरे ही दिन लीला शुरू हो जाती, लेकिन पहले वहाँ बहुत थोड़े ही आदमी आते। मारीच-वध होने के बाद मेला कुछ बढ़ने लगता।

रामलीला लगाने में बहुत खर्च का सवाल नहीं था, और जब आस-पास के 15-20 गाँवों में कोई लीला न लगती हो, तो वहाँ काफी लोगों के आ जाने में कोई सन्देह नहीं था। सबसे बड़ा खर्च राम, लक्ष्मण, सीता का मुकुट, उनके पहनने के लिए कुछ कपड़े, राम-रावण की सेना के लिए कागज के बने हुए रंग-बिरंगे चेहरे, कुछ कपड़े, गदा या लकड़ी की तलवार का था। रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाद के कागज के बड़े-बड़े पुतले और जलते वक्त फूटने के लिए उनके भीतर रक्खे कुछ गोले। यह खर्च बहुत ज्यादा नहीं था, और रानी की सराय के बनिये उसको बड़ी खुशी से उठा सकते थे, क्योंकि मेले में उनकी चीजें काफी बिक जाती थीं। राम-लक्ष्मण-सीता ब्राह्मण ही लड़के बन सकते थे, क्योंकि सभी लोग देवता मानकर उनका चरण छूते, और उनके ऊपर फूल-बतासा चढ़ाते। लोग भरसक सुन्दर लड़कों को चुनते। माँ-बाप अपने लड़को को देना नहीं पसन्द करते थे, वह समझते थे, देवता का अंश आ जाने पर लड़के की आयु छीज आती है। लड़कों का आरम्भ जानकी से शुरू होता, कुछ और बढ़ने पर वह लक्ष्मण बना दिये जाते, और अन्त में राम बन कर सयाने होने पर अलग हो जाते। राम को तुलसी बाबा ने साँवला कहा है, और आम विश्वास भी वैसा ही है। इसलिए कम से कम राम बनने के लिए तो साँवले या काले रंग के लड़के को ढूँढ़ना चाहिए पर, हमारे सौन्दर्य का माप-दण्ड गौर वर्ण है, इसलिए तीनों ही के लिए गोरे लड़के लिए जाते थे। उनके रंग को और चमकाने के लिए मुँह, हाथ, पैर में रामरज पोत दिया जाता।

वानरों, भालुओं और राक्षसों की लड़ाइयाँ हमें बहुत पसन्द आती थीं। उसमें हम लोगों को भी शामिल होने की छूट रहती। कितने ही लड़के अपने शरीर के अनुपात से दुगुने-तिगुने बड़े चेहरे मुँह पर लगा लेते,

जब जरूरत पड़ती, तो खूब हल्ला मचाते, और नहीं तो अपने जान-पहचान के लड़के को मुँह पर चेहरा लगाये डराने की कोशिश करते। हनुमान कभी-कभी कोई अच्छा जवान बनता, जो खूब जोर से किलकारी लगाता और उछल-कूद मचाता। कभी-कभी गदका फरी जाननेवाले दो जवान मेघनाद और हनुमान बनकर खूब पैंतरे से लड़ते। भरत-मिलाप की लीला भी बड़ी अच्छी हो सकती है, इसका पता हमें निजामाबाद में जाने पर लगा। वहाँ के कस्बाती हिंदू, खास करके शिक्षा में आगे बढ़े हुए कायस्थ-ब्राह्मण रात के वक्त खूब सजावट के साथ भरत-मिलाप कराते। लेकिन, रात के होने और संकुचित जगह के कारण वहाँ मेला नहीं लग पाता।

जिस तरह रामलीला का भरत-मिलाप अंग नहीं समझा जाता, उसी तरह धनुष-यज्ञ भी हर जगह नहीं होता। मैंने तो उसे केवल बछवल में देखा। उस समय बरहो में ही नहीं, बल्कि मँगई के परले पार के भी बहुत-से गाँवों में सिसवा के पौहारी बाबा की बड़ी प्रतिष्ठा थी। उनके सिर पर बड़ी जटा थी, और दाढ़ी लम्बी किंतु पतली। पहले से ही वह दुबले ही पतले रहे होंगे, और उस वक्त बुढ़ापे में तो उनके शरीर पर नाम मात्र के लिए मांस थी। वह लँगोटी बाँधे ऊपर एक कम चौड़ी अँगोछी लपेटे खड़ाऊँ पर खट-खट चलते बूढ़े नहीं मालूम होते थे। बछवल की उत्तर ओर के बगीचे में धनुष-यज्ञ उन्हीं की ओर से लगती थी। रानी की सराय के बराबर का मेला तो वहाँ नहीं लगता था, यदि मिठाई और दूसरी दूकानों को लिया जाये, किन्तु आदमी बहुत जाते थे। जो भी आता, खाली हाथ नहीं आता। शायद पूस का महीना था, लोग अँगोछे में चावल और दाल बाँध कर आते, और पौहारी बाबा के भंडार में दे देते। धनुष-यज्ञ में जहाँ 20-25 मन अनाज साधुओं के लिए जमा हो जाता, वहाँ कुछ नगद भी आ जाता। अभिनय ऐसा नहीं था कि लड़कों की समझ में आ जाये, इसलिए धनुष-यज्ञ करनेवाले पात्रों की ओर एक नजर डाल कर हम मेले में बिकनेवाली तरह-तरह की चीजों को देखने लगे।

28
साहेब

बहुत पहले ही हमें समझ में आ गया था कि साहेब का मतलब है गोरा अंग्रेज या यूरोपियन। उस समय बल्कि हम जानते भी नहीं थे कि यूरोप या इंग्लैंड क्या बला है। पैसों के ऊपर विक्टोरिया रानी के चेहरे को तो देखा होगा, लेकिन वह हमारे लिए न देखा ही जैसा था। बचपन में तो हम यह भी नहीं जानते थे कि हिन्दू-मुसलमान भिन्न-भिन्न जातियां के अतिरिक्त कोई दूसरी जाति भी है, जिसके लोग हमारे ऊपर शासन करते हैं। पर, नाना हैदराबाद में पलटन के सिपाही थे, शरीर और डील-डौल से बड़े तगड़े और जवानी में देखने में भी अच्छे रहे होंगे, इसलिए वह अपने फौज के अफसर किसी कर्नल या कप्तान के अर्दली रहा करते थे। इसी अर्दली के लोभ के कारण उनकी सिपाही से तरक्की नहीं की गई, नहीं तो शायद वह सूबेदार बन पेन्शन पाकर ही लौटते। अपने साहेब की शिकार यात्राओं में वह साथ जाया करते। उसी समय दक्षिण में कोचीन और उत्तर में शिमला तक उन्हें जाने का मौका मिला था। बाघ के शिकार का वह इतना रोचक वर्णन करते थे कि कई बार दोहराने पर भी मुझे वह कहानियाँ बहुत पसन्द आती थीं। उन कहानियों में भी साहेब का नाम आता था, लेकिन आरम्भ में उसका सम्बन्ध मैं अपने शासकों के साथ नहीं जोड़ पाता था। लड़के प्रत्यक्षवादी होते हैं, जब तक वह अपनी आँखों से गोरे चिट्टे साहब को न देख लें, तब तक उनको विश्वास नहीं होता। सबसे पहले मैंने साहेब को रानी की सराय के बगीचे में तम्बू लगे पड़ाव में देखा। उस समय चेचक का टीका लगाने से लड़के ही नहीं, सयाने भी डरते थे। लड़कों की भीड़ जहाँ खेल रही हो, और कोई कह दे कि छापे वाला आया, तो सारी भीड़ को फुर्र से उड़ कर लोप होने में एक क्षण की देर नहीं लगती थी। छापनेवाले हमारे ही लोग होते थे, लेकिन तब भी लोगों को विश्वास नहीं था। व्याख्यान देकर समझाने की कोशिश करना भी बेकार था। हाँ,

प्रलोभन दिया जाता था, और जो लड़के टीका लगा लिए होते थे, उन्हें बुलाकर साहेब मिठाई देते। मुझे मालूम नहीं कौन महकमे के साहेब रहे होंगे। मेरे नाना साहेबों से उतने डरते नहीं थे, वहाँ गये हुए लड़कों में मैं भी था, और साहेब ने पीठ ठोंक कर एक छोटी हँड़िया में शायद लाई के साथ कुछ मिठाई दी। साहेब या क्रिस्तान को तो हमारे गाँववाले सबसे अधिक नीच और म्लेच्छ कहते ही थे कि ये तो गाय और सूअर दोनों खाते हैं। फिर उसके हाथ की दी हुई मिठाई को क्यों लेते थे। मुझे यह भी याद नहीं कि वह मिठाई खाई गई या नहीं।

साहेब का रंग अवश्य मुझे अपनी ओर खींचने में सफल हुआ। मैं अपने बड़ों की तरह उसे गोरा रंग मानने के लिए तैयार नहीं था, और समझता था कि यह भी वही सफेद कोढ़ है, जो आदमी के सारे शरीर में हो जाता है, और वंश-परम्परा से चलता रहता है। छापेवाले साहेब के बाद दो मेमें पन्दहा में एक बार आईं। वे ईसाई धर्म का प्रचार करने आई थीं। उन्होंने ईसामसीह के जीवन की रंग-बिरंगी तस्वीरें बाँटीं, जिनमें कुछ भेड़ों के साथ एक चरवाहा था। हम उसे यह नहीं समझते थे कि यह चरवाहा स्वयं ईसामसीह हैं, और उसकी भेड़ें उनकी अनुयायी। प्रत्यक्षवादी होने से हम तस्वीर का वही अर्थ लगाते थे, जो आँखों के सामने दिखाई देता था।

ईसाई-धर्म का प्रचार वैसे गाँव में तो कहीं सुनने में नहीं आता था, लेकिन रानी की सराय बहुत चलतू पक्की सड़क पर होने के कारण कभी-कभी ईसाई मेमों के दौरे में पड़ जाता था। हमारे अध्यापक लोग उन्हें बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते और बिना सलाम किए नहीं रहते थे। यदि वे चाहतीं तो पढ़ाई बन्द कराके टूटी-फूटी भाषा में कुछ व्याख्यान भी दे सकती थीं, लेकिन शायद इसे वह पढ़ाई में अनुचित बाधा समझती थीं, इसीलिए लड़कों में छोटी रंगीन तस्वीरें बाँट कर चली जातीं। पहले साहब के बाद जिस दूसरे साहब को मैंने देखा, उसका नाम तामी साहब था। मालूम नहीं फूलपुर का था या कहीं और का था। फूलपुर उस समय तहसील नहीं थी। उसे रेल बनने के बाद यहाँ लाया गया। पर, वहाँ एक साहेब की कोठी थी, जिसके बारे में हमारे नाना सुनाते थे कि साहेब ने किसी गरीब हो गये बड़े आदमी के ऊपर अनुग्रह करना चाहा, और उससे 50 बिगहा बिल्कुल बेकार ऊसर जमीन दाम देकर ले लिया। लोगों को देखते-देखते ऊसर को कटवा कर उसमें बहुत-सी खाद डाल कर उसे गोयण जैसा जरखेज बना दिया और फिर वहाँ उसकी कोठी चलने लगी। जिले में कलक्टर, जन्ट साहब, कप्तान पुलिस-सुप्रिंटेंडेंट और जज उस वक्त आम तौर से अंग्रेज ही रहा करते थे। लेकिन, आजमगढ़ जाने का मौका मुझे अपर-प्राइमरी पास करने के बाद मिला। गाँव वालों के लिए दर्शन-सुलभ अंग्रेज वह थे, जो कि नील के रोजगार की चढ़ती के समय नील की खेतियाँ करके जगह-जगह रह रहे थे। जब जर्मनी ने एनिला इनका नकली रंग निकाल दिया, तो नील का व्यवसाय चौपट हो गया तो भी अत्यन्त बचपन में मैंने शोभित लाल के दादा के नील गोदाम के मकान को बिल्कुल दुरुस्त देखा था, और पास के खेतों में नील के पौदे भी लगे देखे थे, जो देखने में अरहर की तरह मालूम होते थे। मालूम नहीं, यह गोदाम पहले किसी साहब का था, या साहबों की देखा-देखी रायपुर और यहाँ हमारे लोगों ने अपने गोदाम बनाये। शायद तामी साहब भी कोई निलहे गोरे ही थे।

साहेब को हम वैसे ही समझते थे, जैसे जलती हुई आग, और उनके पास फटकने की हिम्मत नहीं करते थे। हो सकता है, हमारे बड़ों ने उनकी ठोकर का मजा चखा हो, और उन्हीं की बातें सुनकर हम इतना डरते थे। वह कोई अछूत हैं, यह ख्याल तो हमारे मन में नहीं बैठता था। कपड़े-लत्ते और शरीर से वह बहुत साफ-सुथरे दिखाई पड़ते थे, क्रिस्तान धर्म बहुत खराब है क्योंकि वह लोग गाय-सूअर खाते हैं। घृणा का एक सबसे बड़ा कारण यही था, जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों लड़के सम्मिलित थे। सब से नजदीक से और ज्यादा संख्या में साहब उस समय दिखलाई पड़े, जब कि जनेऊ के लिए मैं अपने चचा के साथ विंध्याचल जा रहा था। औढ़ियार में तीन-चार साहबों-मेमों और उनके कितने ही बच्चों को देखा। उस समय बाँधकर कमर को बहुत पतली रखने का रवाज था, जो प्रथम विश्वयुद्ध में छूटा। इतनी पतली कमर कैसे हो जाती है, इसे मैं बड़े आश्चर्य से देख रहा था। औढ़ियार के प्लेटफार्म पर उन्हें देखने के बाद जिस तीसरे दर्जे के डब्बे में बैठे

थे, उसकी ही वगल में पत्थर के चूल्हे पर किसी साहव का खानसामा मांस पका रहा था। जब वह सभी तरह के मांस खाते हैं, तो किसका मांस होगा, इसके बारे में न पता रहते भी मैं यही समझता था कि गाय का मांस पक रहा है। उसके मसाले की गन्ध हमारी नाक तक आ रही थी, लेकिन डिब्बा छोड़कर दूसरी जगह जाने का मौका नहीं था। गाड़ी खुल चुकी थी। बनारस पहुँचने पर वहाँ कुछ और भी साहब दिखाई पड़े। नाना को पहचान जरूर रही होगी। वह अगर साथ होते, तो बतलाते कि उनमें कौन असली साहेब है, और कौन अधगोरा। जब हमें उनकी भाषा नहीं मालूम, और न उनसे काम, तो ज्यादा जानने का मौका कहाँ था ? पर, तस्वीर वाँटनेवाली मेमों को हम डरने की चीज नहीं समझते थे, और आजमगढ़ के पादरी साहब की जो बातें नाना सुनाते थे उससे उन्हें भी हम दूसरे ही तरह का साहेब समझते थे।

29

कंगड़ा

उस वक्त बच्चों को डराने के लिए 'कंगड़ी आ गई' कहना काफी था। कंगड़ा-कंगड़ी से बच्चे डरा करते थे। यह खानावदोश लोग पश्चिम में न जाने कहाँ से आते, सब जगह घूमा करते। बल्कि कहना चाहिए, वह बिना घर-बार के सभी जगह घूमते रहते थे। उनकी पोशाक चुनरी-घाँघरे की थी, जिससे मालूम होता था कि वह पश्चिम के रहनेवाले हैं। उनकी बोली भी पश्चिम की ही सी थी। आज जिसे साड़ी और घाँघरा-चुनरी के रूप में देखा जाता है, दो हजार वर्ष पहले ही दोनों का एक ही रूप था—नीचे अन्तर्वासक (लुंगी) और ऊपर उत्तरीय जो दोनों ही करीब छ-छ हाथ के अँगोछे होते थे। अँगोछे का यह मतलब नहीं कि सब धान बाईस पसेरी था। अपने धन-वैभव के अनुसार यह उत्तरीय और अन्तर्वासक वेलबूटेदार रंग-बिरंगे तथा कीमती हुआ करते थे। आजमगढ़ जिस पुराने काशी-देश में था, वह अपने कपास के कपड़ों के लिए बुद्ध के समय उतना ही प्रसिद्ध था, जितना कि पीछे ढाका अपने मलमल के लिए। जंगली कोशा का बना हुआ कौशेय जैसा एक प्रकार का रेशम भी हमारे यहाँ वनता और इस्तेमाल किया जाता था, लेकिन चीन का रेशमी वस्त्र (चीनांशुक) ईसवी सन् के आरंभ से अधिक प्रचलित होने लगा, और गुप्तकाल (चौथी-पाँचवीं सदी) में तो सामन्त और श्रेष्टि-वर्ग चीनांशुक का अत्यन्त पक्षपाती हो गया था। मेरे बचपन में अभी भी कपास की खेती कनैला में होती थी, और चर्खे भी चलते थे। देवी-देवता के लिए अपने बच्चों के लिए मनौती मान कर स्त्रियाँ अपने हाथों सूत कात कर जुलाहे से पटोरी वनवाती थीं। लेकिन पन्दहा में इस शताब्दी के आरंभ होते-होते ही चर्खा छूट गया था, और उसके साथ कपास का बोना भी। वही पुराना उत्तरीय और अन्तर्वासक जब जोड़ दिया गया, तो उसका रूप साड़ी वन गया। अन्तर्वासक में पहले हाथ से चुन्नट डालकर घाँघरे का रूप दिया जाता था, जैसा कि शोखावाटी के जाटिनों में अब भी बहुत कुछ देखा जा सकता है। रोज-रोज की चुन्नट देने की जगह घाँधरे के रूप में उसे भी देना पीछे अच्छा समझा गया। हमारे यहाँ से यद्यपि घाघरा-चुनरी बिदा हो चुकी थी, लेकिन विवाह में बहुत ख़र्चीला चुनरी-लहँगा अव भी आता था, और कुछ समय के लिए लड़की पहनती थी, जिससे मालूम होता था कि घाघरा-चुनरी विदा हुए बहुत अधिक समय नहीं बीता था।

कंगड़िनों को घाघरा पहनते देखकर हम समझते थे कि घाघरा और कंगड़ा एक ही शब्द होगा। अभी हमें पंजाब के काँगड़ा जिले का पता नहीं था। नहीं तो अपनी लालबुझक्कड़ी दिखलाते हुए हम इन्हें वहीं से आया बतलाते। कंगड़ा स्त्री-पुरुषों के साथ पुलिस और चौकीदार बराबर रहते क्योंकि वह जरायमपेशा माने जाते थे—चुराने, लूटने में उनको जरा भी संकोच नहीं था। जब रोज का जीवन ही कैदी की तरह बीत रहा हो, तो उनके लिए जेल कोई डर की वात नहीं थी। जिस बगीचे में उनका डेरा पड़ता, उसके आसपास की फसल को वह अपने और अपने पशुओं के इस्तेमाल में जरूर लाते। कंगड़िनें भीख नहीं माँगती थीं, बल्कि

टैक्स वसूल करती थीं। घर की स्त्रियाँ दरवाजे पर पहुँचते ही दस भिखमंगों को देने लायक अनाज लाकर उनको देतीं। कम अनाज लेने से ही वह इन्कार नहीं करतीं, वल्कि पेशाव करके घर के ऊपर फेंकतीं या कोई और उपद्रव मचातीं, इसी डर के मारे उनकी खुशामद करनी पड़ती। भीख माँगने के सिवा उनकी जीविका का और क्या रास्ता था, यह मुझे याद नहीं।

खानाबदोशों-घुमन्तुओं की कई जातियाँ थीं, कंगड़ा उनमें से एक थे। गोदना गोदनेवाली स्त्रियाँ भी इसी तरह अपने परिवार के साथ घूमतीं और हमारे यहाँ वे प्रायः सावन में पहुँचा करतीं। भिन्न-भिन्न आकृति के गोदने वह अपनी दादी-परदादी से सीखती आई थीं। उनके पास कोई लिखा हुआ नमूना नहीं था। हरेक सौभाग्यवती स्त्री के लिए गोदना गोदाना उसी तरह आवश्यक था, जितना माँग में सिन्दूर डालना। गोदना गोदानेवाली घुमन्तू स्त्रियाँ चार-चार, पाँच-पाँच हजार वर्ष पुराने चिह्नों को शरीर पर अंकित करती हैं, यह उस समय हमें कहाँ मालूम था। अब भी सभी जगह के गोदने की आकृतियों का वड़ा संग्रह किसी ने नहीं किया है, जो कि ऐसा किया जाये, तो वह बड़े ऐतिहासिक महत्त्व की चीज हो सकती है। नटिनें भी गोदना गोदा करती थीं। यह लोग भी बहुत कुछ घुमन्तू-जीवन बिताते थे, लेकिन अव अर्ध-घुमन्तू ही रह गये थे। किन्हीं गाँवों से उनका सम्बन्ध था, यद्यपि वहाँ बराबर नहीं रहते थे। उनकी आमदनी के दो जरिए थे। एक तो बरात में आकर वह अपनी कला और कसरत दिखला कर इनाम पाते, और दूसरे बरसात में जहाँ-तहाँ गाँवों में जाकर डेढ़-दो महीने के लिए ठहर कर लोगों को कुश्ती और कसरत सिखलाते। लोगों की आर्थिक अवस्था किस तरह हीन होती गई, इसका पता गाँवों में नटों के रखने से मालूम होता है। मेरे नाना अच्छे लम्वे-तगड़े थे, उन्हें जवानी में कसरत का बहुत शौक था। गाँव में नट ने आकर उन्हें कुश्ती की कला सिखलाई थी, और विदाई में नाना के पिता बलकू पाठक ने नट को एक भैंस दी थी। लेकिन, मेरे बचपन में अब पन्दहा में कोई नट रखने की शौकीनी नहीं कर सकता था। कनैला में अभी भी बरसात में नट आया करते और अहीरों तथा ब्राह्मणों के लड़के उनसे कुश्ती सीखते। यद्यपि अब विदाई में एक भैंस देनेवाला कोई नहीं था, तो भी परिवार के खाने के अतिरिक्त नट को कुछ रुपये और अनाज मिल जाया करते। नट लोग आल्हा भी गाया करते थे, लेकिन आल्हा को गाँववाले झगड़े की जड़ समझते थे। मुझे भी कनैला में बचपन में पहली बार आल्हा सुनने की बात कुछ-कुछ याद है। गाँव की सीधी-सादी भाषा में सिर्फ एक ढोल के सहारे और सो भी एक ही ताल में गाये जानेवाले आल्हा से मेरे जैसे छोटे-से लड़के का खून भी जब गरम होने लगता था, तो दूसरों की बात क्या है ? हमारे लोग जबरदस्त शान्तिवादी हो गये थे। अशान्ति की जड़ होने के कारण वह आल्हा सुनना पसन्द नहीं करते थे, और उसी के कारण महाभारत का पढ़ना रुक गया था। पीछे 1913 ई. में जब महाभारत की सारी पुस्तक मेरे हाथ में चली आई और मैंने उसका पारायण शुरू किया, तो लोगों ने बहुत समझाया कि यह समाप्त नहीं होगी, इससे आयु क्षीण होती है। संस्कृत के डेढ़ लाख श्लोकों के भारी पोथे को लगातार लग कर समाप्त करना सबके बस की बात नहीं है, पर मैंने तो समाप्त कर लिया। सवलसिंह चौहान का हिंदी महाभारत इसी कारण अधिक प्रचलित नहीं हो सका। छोटा होने से उसको समाप्त करना मुश्किल नहीं था, वैसा करते समय भी मुझे बड़ों के बहुत-से उपदेश सुनने पड़े थे।

एक नट भूत वन करके कनैला के पोखरे पर रहता था, जो आधी रात के बाद ताल ठोंका करता था। उस भींट पर हमारे जैसे लड़के जाने की हिम्मत नहीं कर सकते थे। मदारी भी इन्हीं घूमन्तुओं में से थे और रस्सी पर नाचनेवाले भी। रानी की सराय में ये कभी-कभी आते थे, शायद बड़ी सड़कों के किनारे-किनारे ही घूमना पसन्द करते थे। सबसे अधिक डरावने कंगड़े थे। उस समय यह नहीं मालूम था कि हमारे देश के यह घुमन्तू घुमक्कड़ी करते-करते सारे यूरोप में पहुँचे, और पीछे दूसरों के साथ अमेरिका में भी जा पहुँचे। इन जिप्सी, रोमनी सिगान, लोगों की भाषा उनका उद्गम भारत बतलाती है।

30
चिट्ठी-लेखक

पन्दहा में ब्राह्मणों के 25 के करीब घर थे, 5-6 अहीरों के, 2 कहारों, 1 बढ़ाई, 1 कुम्हार और 5-6 चमारों के परिवार थे। सारे गाँवों में सबसे पहले स्कूल जानेवाले रामदीन मामा थे, उसके बाद दूसरा नम्बर मेरा था। रामदीन मामा ज्यादा घर नहीं रहा करते थे। गाँवों में अक्षर लिख लेनेवाले बड़ों में 3-4 आदमी ही होंगे। लेकिन, पुराने ढंग के पढ़े लोगों की अब उतनी कदर नहीं थी। मदरसिहा को वह लिखने-पढ़ने में अधिक विश्वसनीय समझते थे। पहले के लोग नागरी नहीं, बल्कि कैथी अक्षर लिखना जानते थे, जिसमें सिरनामा लिखने पर चिट्ठियाँ शायद ठिकाने पर नहीं पहुँचती थीं, और मदरसिहा लड़के कैथी जानते ही नहीं थे, वह केवल नागरी में लिखा करते थे। अक्षर भी सुन्दर लिखवाने की कोशिश की जाती थी, और उनका लिखा अच्छी तरह से पढ़ा जा सकता था। कुछ दिनों बाद दलसिंगार भी मेरे साथ ही पढ़ने जाते थे। दलसिंगार के टोले के लोग भी चिट्ठी मेरे पास लिखाने आते थे। इससे मालूम होता है कि वह मेरी लिखी चिट्ठी पर ज्यादा भरोसा करते थे। जहाँ एक चिट्ठी मैंने लिखी और ठिकाने पर पहुँच कर उसने वहाँ से जवाब भिजवा दिया, फिर चिट्ठी-लेखक के तौर पर मेरी ख्याति क्यों न हो जाती ? मैंने शुरू से उर्दू ही पढ़ी। मुझे याद नहीं, नागरी अक्षरों को लिखने के लिए मैंने कभी भी धूल या काली पट्टी पर कुछ लिखा हो। मेरे दर्जे में उर्दू पढ़नेवाले लड़के नाम मात्र हुआ करते थे। शायद उनके साथ बैठे रहने के कारण ही मैं हिन्दी लिखना-पढ़ना सीख गया। दर्जा एक में तो जरूर मुझे हिन्दी अक्षर अच्छी तरह आते थे, क्योंकि फूफा ने जब डेढ़ महीने तक 'सारस्वत' व्याकरण पढ़ाया तो उसमें अक्षर सिखलाने की जरूरत नहीं पड़ी। जो लोग चिट्ठियाँ लिखाने आते थे, वह सभी हिन्दी में लिखवाते थे।

हर पोस्ट-कार्ड या लिफाफे के ऊपर सिरनामा अर्थात् पता लिखा जाता था—"खत पहुँचे जिला बनारस, डाकखाना फतुहा, गाँव मोलईपुर में अमुक को मिले।" शहर में भेजने पर "खत पहुँचे..., मुहल्ला ... को मिले।" जिले के भीतर चिट्ठी भेजने पर उर्दू लिखनेवाले कुछ अधिक सभ्य-सम्भ्रान्त लोग "खत पहुँचे जिला हाजा" लिखा करते थे। स्कूल के मदरसे से जो चिट्ठी आजमगढ़ में डिप्टी-इन्स्पेक्टर के पास भेजी जाती, उसमें ऊपर "बखिदमत सरकार" जरूर लिखा जाता, यद्यपि ऐसा लिखने के कारण वह बिना टिकट या सरकारी टिकट पर नहीं जाती थी। उस समय लिफाफे पर दो पैसे का टिकट लगता था, और पोस्ट-कार्ड एक पैसा का होता था, जो आजकल के पोस्ट-कार्ड से छोटा होता था।

दूसरों के लिए मैं अब बहुत चिट्ठियाँ लिखा करता था। पन्दहा के बहुत अधिक तो नहीं, लेकिन एक दर्जन के करीब आदमी जरूर बाहर नौकरी करते थे। वह सभी अनपढ़ थे, यदि रामदीन मामा को छोड़ दिया जाये, किन्तु रामदीन मामा जिले के भीतर ही चिट्ठीरसा थे। सबसे बड़ी नौकरी द्वारिका पाठक की थी, जो बनारस में पुलिस कान्स्टेबल थे। कुछ लोग कलकत्ता में भी मजदूरी करने जाते थे, लेकिन वह बराबर वहाँ नहीं रहते थे। हमारे दो मामा—रामदीन मामा के बड़े भाई—बच्चा पाठक और जवाहर पाठक कलकत्ता में पुलिस की नौकरी करते थे। चिरकाल बाद 1943 ई. में जब मैं पन्दहा गया, तो उस समय तक हमारे तीनों नानों की सन्तानों में केवल जवाहर मामा बच रहे थे, और वह भी अन्धे थे। उनके चेहरे पर मुझे अपने नाना की आकृति दिखलाई पड़ती थी, जिससे मन में क्या-क्या भाव पैदा होते थे। नाना तीनों भाइयों के चेहरे एक-से थे, केवल मझले मेरे नाना रामसरन पाठक अपने दोनों बड़े-छोटे भाइयों से कुछ कम गोरे, लेकिन थे गोरे ही। तीनों की नाकें बहुत ऊँची और लम्बी थीं। बच्चा या जवाहर मामा को छुट्टियाँ तो कम ही मिलती थीं, और मिलने पर भी कलकत्ता से आने-जाने में समय और पैसे के खर्च का सवाल था। लेकिन, उन्हें कलकत्ता से असामी (कैदी) लाने का काम हर साल मिल जाया करता था। सरकार किराया और ऊपर से कुछ पैसा भी दे। वह उसी समय दो-चार दिन के लिए घर भी आ जाया करते थे। आते समय वह कोई न कोई चीज

अपने मझले चाचा (मेरे नाना) के लिए जरूर लाते, जिसमें गरीवाला ताजा नारियल हमेशा होता। आते ही मैं उसे तोड़कर खाने के लिए उतावला हो जाता। एक वार अपनी उँगली भी काट ली थी। वह बाहरी दुनिया की बहुत-सी बातें नाना को सुनाते। दोनों घरों में झगड़ा होकर बोल-चाल वन्द हो गई रहती, तव भी बच्चा और जवाहर मामा पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता, वह अपने चाचा-चाची का पैर छूकर आशीर्वाद लेने जरूर आते।

भागवत में शुकदेव की कथा में आता है कि शंकरजी पार्वती के हठ पर उन्हें अमर होने की कथा सुना रहे थे, जिसे वहाँ वृक्ष के कोटर में बैठे तोते का वच्चा सुन रहा था। वह जैसे-जैसे कथा को सुनता जाता, वैसे ही वैसे वह अधिक चेतन होता जाता, और अन्त में कथा-समाप्ति के वाद फुर्र से उड़ गया। पार्वती सो गई थीं, और बंचक शुक-शावक हुंकारी भर रहा था। भोलानाथ ने उसे दंड देने के लिए अपने त्रिशूल को भेजा, किन्तु तोता बेवकूफ नहीं था, उसने व्यास की पत्नी के खुले मुँह में प्रवेश कर लिया, और ब्रह्महत्या के डर से त्रिशूल को खाली हाथों लौट आना पड़ा। शायद मेरी तरह सभी वच्चों को वचपन के अज्ञान-अन्धकार से ज्ञान-आलोक में आते समय यही स्थिति होती है। मैंने भूगोल पढ़ा था, लेकिन वहुत थोड़ा-सा और वह भी किताबी पढ़ाई की तरह। जापान और रूस में लड़ाई हो रही थी, वच्चा मामा उटकी वात कर रहे थे। जापान ने रूस के बहुत-से जहाज डुवा दिये, जापान जीतता जा रहा है और रूस हारता जा रहा है। जिस जोश के साथ वह बतला रहे थे, उससे मालूम होता था कि कलकत्ता की हिन्दुस्तानी पुलिस भी गोरे रूस की नहीं बल्कि काले जापान की पक्षपातिनी है।

मैं दूसरों की चिट्ठियाँ लिखा करता था। कैसे सिरनामा लिखना चाहिए, यह जानता था। पीछे जब अंग्रेजी ढंग से सिरनामे लिखने की बात जान गया, तो मुझे पहिला ढंग गँवारू मालूम होता था। लेकिन, दुनिया घूमने के बाद वह पुराना ढंग ही मुझे अधिक युक्तियुक्त मालूम होता है। जापान और रूस दोनों में—और चीन में भी—सिरनामे में पहली पाँती जिले या शहर की होती है, और आदमी का नाम सबसे अन्त में आता है। भेजनेवाले डाकखाने को जिस नाम की सवसे पहले जरूरत होती है, वह जिला या शहर होता है। इसलिए उसी को पहली पाँती में आना चाहिए। इच्छा बड़ी होती थी कि मैं भी कहीं चिट्ठी लिखूँ और उसका जवाब भी मुझे मिले। लेकिन, ऐसा कोई अपना हित-मित्र नहीं था। हित-मित्र होता भी, तो पोस्ट-कार्ड खरीदने के लिए एक पैसा मिलना उतना आसान नहीं था। मुझे तो यह मालूम ही नहीं था कि पन्दहा से कनैला भी चिट्ठी भेजी जा सकती है। वहाँ का डाकखाना वहाँ से तीन कोस पर छटियाँव (श्री चन्द्रबली पांडे के जन्मस्थान) में था, जहाँ से चिट्ठीरसा हफ्ते में एक बार ही कनैला जा सकता था। कनैला का कोई आदमी उस समय बाहर नौकरी करने नहीं गया था, इसलिए चिट्ठी-पत्री की वहाँ जरूरत नहीं थी।

31
तैरना

पेड़ पर चढ़ना मुझे नहीं आया, इसमें मैं केवल नाना को दोष नहीं दे सकता। शायद स्वभावतः मुझे ऐसी जगह खड़ा होने में डर लगता था, जहाँ नीचे की भूमि कई हाथ पर थी। बाइसिकल वड़े काम की सवारी है, मैंने एकाध दिन उसे सीखने का प्रयत्न किया, लेकिन वह नहीं आ सकी। पर, तैरना तो मानो मुझे उसी तरह आ गया, जैसे मछली के बच्चे को। इसके लिए मैंने जान-बूझकर विशेष प्रयत्न नहीं किया। पन्दहा की पोखरी में बरसात के थोड़े ही दिनों बाद पानी सूख जाता था जब कि उसे लोग दौरी उलीचकर अपने खेतों में ले जाते। बरसात का दिन था। मैं शायद अकेला ही उसमें नहाने गया। आगे बढ़ते-बढ़ते पैर ऐसी जगह पहुँच गया, जहाँ मैं ऊब-चूब करने लगा। ऐसे ऊब-चूब करने में लड़के मर भी जाया करते हैं, शायद मेरी भी वह

हालत हुई होती, फिर तो मेरी जीवन-यात्रा के पन्ने बिना लिखे ही रह जाते। बच्चों को तैरना जरूर सिखा देना चाहिए। जो माता-पिता डूबने के डर के मारे ऐसा नहीं कराते, वह बच्चों के लिए खतरा मोल लेते हैं, जैसा कि मेरे नाना ने मेरे साथ किया था। जब नाक-मुँह में पानी जाने लगा, तो स्वयं मेरे हाथ-पैर चलने लगे, थाह पास ही में था, और संयोग कहिये जो मेरा पैर फिर धरती पर जा लगा। पन्दहा में मैं तैरना नहीं सीख सकता था। मालूम नहीं, यह घटना नाना-नानी को मालूम हुई कि नहीं। वह तो कभी बिना अपने साथ ले जायें मुझे पोखरी में जाकर नहाने की इजाजत नहीं दे सकते थे। कनैला में मुझे बहुत तरह की स्वतन्त्रताएँ प्राप्त थीं, उनमें यह एक तैरने की भी थी। वहाँ के पोखरे में जाकर मैं अपने-आप हाथों को जमीन पर रखकर पैरों से पानी पीटता, और इसी तरह कुछ-कुछ तैरना सीख गया। रायपुर की (रानी की सराय के पास) ठाकुर बाड़ी की पोखरी बहुत गहरी थी, और पानी स्वच्छ होने के कारण उसमें तैरते आदमी का सारा शरीर पानी के भीतर दिखाई पड़ता था। आम तौर से पैर पींटकर तैरनेवाले लड़के ही ज्यादा थे, लेकिन कुछ बिना पैर पीटे मछली के पंखों की तरह पानी के भीतर अपने हाथों-पैरों को चलाते ही फुर्ती से तैर रहे थे। उन्हें देखकर मैं सिहाता था, कह सकता हूँ कि तैरने की प्रेरणा उन्हीं से मिली।

तैरना एक बड़ी कसरत है, इसमें अच्छे नृत्य की तरह सारे शरीर का व्यायाम होता है। अगर आदमी और कोई कसरत न कर सके, और सिर्फ एक घण्टा रोज तैर ले, तो उसका पूरा व्यायाम हो जाता है। मुझे तैरने का मौका तब मिला; जब 1910 ई. के सितम्बर-अक्तूबर में बनारस में संस्कृत पढ़ने लगा। असीसंगम पर मोतीराम के बगीचे में रहता, रोज नहाने के लिए तुलसीघाट पर जाता। गंगा की विशाल निर्मल धारा सामने थी, मैं अपना स्वामी था, गंगा में तैरने जाओगे तो डूब जाओगे, ऐसा कहनेवाला कोई नहीं था। मैं रोज गंगा में तैरता। जब गर्मियाँ आतीं, तब तो दिन में दो बार स्नान करता, और नित्य दोपहर बाद दो घंटे तैरा करता। यद्यपि तैरकर मैं गंगा पार कभी नहीं गया, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं था कि यदि मैं पार करना चाहता, तो उसमें कोई दिक्कत नहीं थी। आधे से अधिक दूर तक मैं जाकर लौटता था। अपने यहाँ की गर्मी और उसकी लू कितनी असह्य है, इसका पूरा पता मुझे तब मिला, जब मैं अधिकतर ठंडे स्थानों में रहने लगा। पर, तो भी दोपहर की गर्मी बुरी होती थी, और उसके बाद गंगा में नहाने में बड़ा आनन्द आता था, इसका पता तो था ही। अपने जिले में तैराक नहीं बन सका। निजामाबाद में टौंस थी, लेकिन उसमें सेवार बहुत थी, जिसमें पैर फँसने का डर था, इसलिए लड़कों में तैरने का उत्साह नहीं था। रानी की सराय में रानी पोखरा मदरसे से लगा ही हुआ था, लेकिन उसमें सिंघाड़े की बेल फैली हुई थी, जिसके कारण तैरने का सुभीता नहीं था। कनैला के गर्मियों में मेरे जाने पर बहुत कुछ सूख गया रहता, और लड़के केवल मछली मारने का अभिनय ही कर सकते थे।

हरएक लड़के के लिए व्यायाम करना उसके स्वास्थ्य और शारीरिक बल के लिए आवश्यक है। लेकिन, व्यायाम भी उसी लड़के के लिए लाभदायक हो सकता है, जिसको पर्याप्त मात्रा में पुष्टिदायक भोजन मिलता हो–अर्थात् उसके भोजन में घी-दूध और मांस-मछली का होना आवश्यक है। जो लड़के घर से आधा पेट–सो भी अल्प-पुष्टिदायक–खाना खाकर आते हैं, उनसे व्यायाम करवाना बेकार ही नहीं, बल्कि हानिकारक भी है। हमारे लड़कपन में शिक्षा-विभाग की ओर से इस तरह की कितनी ही बातें चलती थीं, जिनमें से कुछ को बेसिक-शिक्षा के नाम से फिर दोहराने की कोशिश की जा रही है। उस समय खेती पर एक काफी मोटी पुस्तक अपर-प्राइमरी में पढ़ाई जाती थी, लेकिन वह किसी भी लड़के में खेती के प्रति रुचि या ज्ञान पैदा करने में सफल हुई, यह मुझे मालूम नहीं। जिम्नास्टिक-मास्टर मदरसे में जा-जाकर कसरत और कवायद सिखाते थे। नार्मल पास हुए ही लोअर और अपर-प्राइमरी में मुख्याध्यापक होते थे, उन्हें भी इनकी कुछ शिक्षा नार्मल स्कूल में मिलती थी। पर, लड़के डंडे के मारे ही कभी-कभी जिम्नास्टिक या कवायद में शामिल होते थे। जिम्नास्टिक मास्टर साल में एकाध बार आते, और स्कूल के अध्यापकों का उत्साह साल में शायद दो ही चार बार सजीव हो उठता। इन व्यायामों में यह व्यायाम लड़कों को रूखे भी मालूम होते थे। मेरी समझ में दो ही व्यायाम लड़कों के लिए दिलचस्प हो सकते हैं–नाच और तैरना। पर नाच को हमारे पुरखों ने बहुत पहले ही त्याज्य ठहरा दिया

है। मेरे बचपन में अहीर, कहार, गड़ेरिया, भर, नर-नारी नाचा करते थे। पुरुष तो ब्याह-शादी जैसे किसी मौके पर भी नाचे विना नहीं रहते थे। हमारे यहाँ का लोक-नृत्य कितना जवर्दस्त व्यायाम है, इसका मुझे तव पता लगा, जब मैंने रूस में ऐसे नृत्यों को देखा। 1938 ई. की दूसरी रूस यात्रा से लौटने के वाद मुझे वड़ी इच्छा हुई कि एक बार उसे फिर देखूँ। सारनाथ में इसके लिए जव कोशिश की, तो मालूम हुआ कि वहाँ के अहीर और भर लोगों ने उसे अब छोड़ दिया है। तो भी जहाँ-तहाँ से पाँच-सात आदमियों के मिलने की सम्भावना थी, लेकिन ऐन वक्त पर बनारस में हिन्दू-मुसलमान का झगड़ा हो गया, सारनाथ के पास भी एक आदमी मार दिया गया, इसलिए वह नहीं हो सका। 1939 ई. में मलाँव (गोरखपुर) में वड़े प्रयत्न करने पर उसे देखने का मौका मिला और मेरे बचपन की धारणा ठीक सावित हुई–हमारा लोक-नृत्य वस्तुतः वहुत ही सुन्दर व्यायाम है।

तैरने में नाच की तरह कोई रुकावट नहीं है। इसमें लड़कों की दिलचस्पी भी वहुत रहती है। प्रतियोगिता हो तो उनका उत्साह और भी बढ़ता है। लेकिन उसके इतना आवश्यक होने पर भी व्यायाम की वात तभी की जा सकती है, जब कि लड़कों को काफी पोषक पदार्थ खाने को मिले। आज तो दूध-दही उतना भी लड़कों को नहीं मिलता, जितना कि आज से पचास वर्ष पहले प्राप्य था। पहले देश की गरीवी दूध हो, लोगों को खाने-कपड़े और नीचुर मकान की चिन्ता न रहे, तव उनके शरीर के सुन्दर गठन के लिए किसी प्रकार के व्यायाम की चर्चा चलाई जा सकती है। पर, वह तो इस समय तो'नौ मल तेल' वाली बात मालूम होती है।

32
पहुनाई

मदरसे में लड़कों को भूगोल भी पढ़ाया जाता था, जो उस समय लोअर-प्राइमरी से मिडल तक लेने पर विल्कुल अपर्याप्त नहीं था। भूगोल के साथ नक्शे का जानना भी आवश्यक था। लेकिन सभी लड़के भूगोल और नक्शे में दिलचस्पी नहीं रखते थे। मेरी इन दोनों में बड़ी दिलचस्पी थी। शायद उसका एक बड़ा कारण नाना की अपनी यात्राओं की कथाएँ थीं, जिन्हें शुकदेव के सुग्गे की तरह मैं शैशव से ही सुनता आया था। वह कथायें मेरे लिए नहीं कही जाती थीं। घर में नाना-नानी दो ही प्राणी थे, खाली समय में दिन काटने के लिए कोई बात होनी चाहिए। नाना रात को खाने के बाद जरूर कोई न कोई यात्रा-कथा सुनाते। मेरे कानों में पहाड़ का नाम पड़ता। जब तक मैंने विन्ध्याचल के पहाड़ को नहीं देख लिया था, तब तक पहाड़ मेरे लिए कोई अर्थ नहीं रखता था। बाघ की तस्वीरें मैंने देखी थीं, इसलिए उनके मुँह से बाघ का नाम सुनकर उसका एक चित्र मन पर अंकित हो जाता था। जालना, औरंगावाद, हैदरावाद, कामठी, जलगाँव, शिमला आदि नामों का उस वक्त मेरे लिए कोई अर्थ नहीं था। नाना ने दस वर्ष तक हिन्दुस्तान के बहुत-से भागों की खाक छानी थी, इसलिए उनके पास कहने के लिए बातें बहुत थीं, पर जव वर्षों वही बातें कही जायें तो वह पर्याप्त नहीं थीं और उन्हीं पुरानी कथाओं को दोहराना पड़ता था। दोहराई कथा को कहने-सुनने में लोग अरुचि प्रकट करते हैं, लेकिन मैंने नानी को कभी वैसा करते नहीं देखा। दोहराने का यह फल हुआ था कि अपनी तेज स्मृति के कारण मध्य-प्रदेश, हैदरावाद राज्य, बम्बई और मद्रास प्रदेशों के ही नहीं वल्कि शिमला और अमृतसर की तरह के भी बहुत-से भौगोलिक नाम मुझे याद हो गये। भारतवर्ष के नक्शे पर जव मैंने इन नामों को उर्दू-हिन्दी में छपा देखा, तो मेरी दिलचस्पी वहुत वढ़ गई और उसी समय से नक्शे मेरे दिमाग में अंकित होने लगे। आगे की यात्राओं में उनसे लाभ हुआ, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

लेकिन, किताबों से वाहर विशाल दुनिया में विचरना सभी लड़कों के वस की बात नहीं है। उनकी कूपमंडूकता

दूर करने के लिए सब से बड़ा साधन था पहुनाई। सब के कितने ही सम्बन्ध होते थे, जहाँ उन्हें जाना पड़ता था। कम से कम ननिहाल और अपने गाँव को तो हर एक आदमी देखता था, जिससे उसके भौगोलिक ज्ञान का कुछ विस्तार जरूर होता था। निजामावाद के हमारे साथी व्राह्मण और कायस्थ लड़कों के सम्वन्ध उत्तर प्रदेश और विहार के दूर-दूर के नगरों में होते थे, इसलिए उन्हें हमसे अधिक दुनिया का ज्ञान था। मेरे लिए अपना गाँव पन्दहा था। कनैला पिता का गाँव होने पर भी मेरे लिए पहुनाई जैसा था। दोनों के बीच में पाँच कोस की दूरी थी, और उसमें दूसरे कितने ही गाँव और उनके घरों को देखता। इस यात्रा से मेरे ज्ञान में एक यह भी वृद्धि हुई थी कि नोनियाँ भी एक जाति होती है, जो दोनों गाँवों में नहीं बसती थी। इसी प्रकार कुछ और जातियां का पता लगा। मकानों में कोई फर्क नहीं था। पन्दहा और उसके आस-पास ऊसर जमीन कहीं देखने में नहीं आती थी, जव कि कनैला में वह गाँव के दो-तिहाई भाग में फैली हुई थी।

इसके वाद मेरी दुनिया दो मील और वढ़ी, जव मैं मगई पार कर फूफा के साथ बछवल गया। बछवल में माली भी थे, सुनार भी थे और एक-दो वनिये भी थे। वह कनैला-पन्दहा की तरह गाँव बड़ा नहीं, बल्कि शहर-सा मालूम होता था। वहाँ कायस्थों के कई घर थे। एक कायस्थ दरोगा होकर पेन्शन पा रहे थे, दूसरे बावू संकटा प्रसाद आजमगढ़ में मुखतार थे। वहाँ के कितने ही लड़के अंग्रेजी पढ़ रहे थे। लेकिन पहली ही यात्रा में वछवल की ये सारी विशेषताएँ मुझे मालूम हो गईं।

मेरी दुनिया कुछ और वढ़ी, जब मैं अपनी मझली फूआ के गाँव बालपुर में गया। बालपुर के पास बहुत बड़ा ताल है। वहाँ मछली खूव खाने को मिलती थी। एक ऊँची-सी जमीन में साही की बहुत-सी विलें थीं, जिनके मुँह पर आग जला कर लोग उनका शिकार करते थे। मुझे मालूम हुआ कि साही भी भक्ष्य है। लेकिन उस यात्रा में वह खाने को नहीं मिली, और वालपुर की एक ही यात्रा मैं करके रह गया। बालपुर जहाँ मेरी फूआ के कारण कनैला से सम्बद्ध था, वहाँ उसका सम्वन्ध पन्दहा से भी था। मेरे बाल-मित्र दलसिंगार की सगी बहन और दो चचेरी बहनें वहाँ ब्याही थीं। सगी वहन तो वल्कि उसी घर में ब्याही थी, जिसमें मेरी फूआ। यद्यपि दोनों परिवार अव अलग हो गये थे, लेकिन आँगन अभी भी एक था। मैं उस समय 11-12 वर्ष का था। दलसिंगार मर चुके थे। दलसिंगार और मुझमें कितना असाधारण प्रेम था, यह उनकी बहन जानती थी। रोज हम साथ मदरसे पढ़ने जाया करते, कभी मैं दलसिंगार को लिवाने उनके घर जाता, और कभी वह मेरे घर आते। हम दोनों में नाना-नाती का सम्वन्ध था, लेकिन एक उमर के लड़कों में ऐसा सम्बन्ध नहीं चल सकता। उनमें तो स्वाभाविक सम्वन्ध भाई और मित्र का ही होता है। किसी स्वजन के आने पर स्त्रियों का पैर पकड़ कर रोना आम वात है। रोने के वाद फिर वह कुशल-मंगल पूछती हैं। दलसिंगार की वहन ने भी वैसा ही किया। उस समय मुझे अपने बाल-मित्र की याद आती और मैं अपने आँसुओं को नहीं रोक सका। मदरसे की पढ़ाई भी क्या एक जेलखाना है। मझली फूआ के यहाँ पहली और अन्तिम बार मैं आया था। वहाँ की सभी चीजें मुझे नई और प्रिय मालूम होती थीं लेकिन जल्दी ही पन्दहा का आदमी पहुँचा—छुट्टी खतम हो गई थी, मदरसा जाना होगा। मैं वहाँ से कनैला होते लौट गया। यदि सीधे गया होता, तो मेरी ज्ञात दुनिया में चार-पाँच कोसों की और वृद्धि हुई होती।

एक और स्मृति इस विषय में खरगपुर की है, जहाँ मेरी तीसरी और सवसे छोटी फूआ ब्याही थीं। अब तक मैंने जहाँ-कहीं भी मांस-मछली खाते देखा था, वहाँ वह चूल्हे से बाहर प्रायः गौशाला में बनाई जाती थी। घर के बरतन भी मुश्किल से मिलते थे, और उन्हें भी आग में तपाकर शुद्ध किया जाता था। खाने के बाद हमारे हाथ और शायद मुँह भी मिट्टी और गोबर से धोकर शुद्ध किये जाते थे। ऐसा कहीं नहीं देखा कि आम चूल्हे में मांस भी पके पर, छोटी फूआ के घर में वह आम चूल्हे ही में बनता था। घर के शत-प्रतिशत लोग मांस खाते थे, इसलिए कोई आपत्ति नहीं थी। मैं वचपन ही से यह जानता था कि ब्राह्मण के लिए मांस-मछली कोई अभक्ष्य चीज नहीं है। यह तो बाहर जाने पर पता लगा कि बहुत जगह उन्हें भक्ष्य नहीं समझा जाता। बछवल और खरगपुर कनैला के नजदीक थे, पीछे बछवल तो घर-सा हो गया, जब मैं संस्कृत पढ़ने के लिए गया। खरगपुर भी अनेक बार गया। एक बार वहाँ जाड़ों में गया था, जब कि मटर और गेहूँ के होले तैयार

थे। इसी समय सिंचाई में वहुत-सा पानी खर्च होने जाने के कारण पोखरे-पोखरियों में से मछलियाँ भी मिलने लगती थीं। वैसे हलदी-सरसों डालकर वनाई मछली मुझे वहुत प्रिय थी, लेकिन होले की तरह भूनकर खाने में उन्हें बड़ा आनन्द आता। पर, वह रोज-रोज की वात नहीं थी। मैं उस साल जितने दिनों रहा, शाम के वक्त खेत में जाकर होला जरूर खाता, फलतः रात को घर में खाना नहीं खा सकता था।

33
गरीवी

आज से पचास वर्ष पहले भी हमारे यहाँ गरीबी का अखंड राज्य था। कनैला के अहीरों में एक और ब्राह्मणों में चार-पाँच ही घर थे, जो वारहों महीना पेट भर खा सकते थे। अहीर जयकरण राउत इसलिए सुखी थे कि थोड़े-से अपने काश्तकारी के अतिरिक्त उनके पास दूध देनेवाली गायें और भैंसें बराबर रहती थीं। उनकी स्त्री सिर पर दही की टोकरी रखकर गाँव-गाँव बेचने जाती। घी भी काफी विक जाता। जयकरण को यह मालूम नहीं था, और न उसका प्रवन्ध था कि अच्छे साँड़ या भैंसे से अपने पशुओं की नसल बेहतर बनायें। लेकिन, देशी ही भैंसें और गायें उनके खूँटे पर पहुँचकर इतनी तगड़ी हो जातीं कि यदि जिला नहीं तो सारी मुहम्मदाबाद तहसील की पशु प्रदर्शनी की जाती, तो उनकी गायें और भैंसें प्रथम आतीं। गायों के लिए भी शिकायत की जा सकती थी कि वह पूस-माघ में–जब कि चारे का टाला होता–अपनी गायों को रात को चरने के लिए छोड़ देते। वह इतनी सधी हुई थीं कि सबेरे दूसरे गाँवों के खेतों में चरकर वह अपने थान पर आ खड़ी होतीं। बारहों महीने खाने-पीनेवाले घरों में हमारा घर भी था। हमारे यहाँ खेत काफी था, खेती भी कुछ मन से ही की जाती और खर्च में भी पूरा ध्यान रक्खा जाता, इसका फल यह था कि हर साल बचे हुए अनाज को बेचकर सूद पर लगाने के लिए कुछ सौ रुपये जमा हो जाते, और कुछ अनाज भी सवाई पर दिया जाता। हमारे घर से भी अधिक खेत जयपाल पांडे के पास था, किन्तु व्यवस्था और प्रबन्ध ठीक न होने के कारण पूस-माघ में उनके पशु मरते नहीं, तो हड्डी-हड्डी हो जाते, और अनाज खर्च होकर बाजार से खरीदने की नौबत आती। माघ में कनैला के लोगों के मुँह बिल्कुल सूखे-सूखे दिखाई पड़ते। हमारे अपने परिवार के दादा जगेसर पांडे तो भूख की पीड़ा शांत करने के लिए सरुवार (गोरखपुर जिले) में भीख माँगने चले जाते। सबसे बुरी हालत उन बिचारों की थी, जो कहीं जा-आ नहीं सकते थे, और बथुआ और सरसों के साग पर अवलम्ब करते थे। जिनके खेतों में ऊख होती, उन्हें रस और गुड़ बेचकर अनाज खरीदने से अवलम्ब मिलता। गाँव के वे जमीनवाले परिवारों–जिनकी संख्या करीब आधी थी–अवस्था के वारे में तो कहना ही क्या ? वह बेचारे तो चैत, कुवार और अगहन के तीन महीनों में ही पेट भर खा सकते थे।

पन्दहा की अवस्था कनैला से भी खराब थी। कनैला में शरीफ, धान और रब्बी तीनों फसलें होती थीं, जब कि पन्दहा में धान नहीं होता था। कनैला में यदि लोग भूखे रह रहे थे, तो उसका कारण जमीन की कमी नहीं थी। जमींदार लोग–जो छोटे ही छोटे थे–खेती लायक जमीन को स्वयं आबाद करने में असमर्थ थे, और गरीबों को उसे आबाद करने के लिए देना नहीं चाहते थे। कनैलावालों को पास के दूसरे गाँवों में खेत जोतने के लिए जाने की जरूरत नहीं थी। पन्दहा की एक-एक अंगुल जमीन जोती जा चुकी थी, और मेरे प्रस्थान करने के समय (1909 ई.) वहाँ की पट-सी गई पोखरी को भी लोगों ने धान के खेत में परिणत कर दिया। इससे भी काम नहीं चलने पर वह सेठवल और आस-पास के गाँवों के खेतों को जोत कास्तकार या शिकमी के तौर पर जोतते थे। कनैला के लोग नौकरी करने के लिए बाहर नहीं जाते थे, जब कि पन्दहा के कई लोग–विशेषकर पुलिस में–नौकरी करते थे, जिनके भेजे हुए पैसे से घरवालों को बड़ी सहायता मिलती थी। तो भी साल के कुछ महीनों को छोड़कर हरेक घर में ठठरियाँ ही ठठरियाँ दीख पड़ती थीं। मेरे नाना

तीन भाई थे। बड़े भाई शिवनन्दन पाठक के पाँचों लड़के कमाने लगे थे। बड़े लड़के सीताराम पाठक और चौथे रामदीहल घर का काम सँभालते थे। वच्चा और जवाहर मामा कलकत्ता में पुलिस की नौकरी करते थे, और सवसे छोटे रामदीन मामा चिट्टीरसा थे। उनके कष्ट का समय मेरे होश सँभालने से पहले ही बीत चुका था। नाना (रामसरन पाठक) की स्थिति यही थी कि बिना कर्ज लिये हम तीनों प्राणियों का काम चल जाता था, और भूखे रहने की नौवत नहीं आती थी। छोटे नाना रामवरन पाठक के दोनों लड़के छोटे थे—लहुरे नरसिंहा तो करीव-करीव मेरी ही उमर के थे। उनके पास अपने दोनों भाइयों से खेत भी कम थे, क्योंकि पैसा न रहने के कारण अपने दामाद के विकनेवाले खेत में से वह कुछ खरीद नहीं सके थे। वह बंगाल में साधु बनकर घूमा करते, और वहाँ से कमाकर कुछ घर की सहायता करते। तीनों भाइयों में वह सबसे अधिक गोरे थे। लम्वी-ऊँची नाम पर वैसी ही सफेद दाढ़ी उन्हें साधु वनाने में सहायक होती थीं। इतनी बड़ी दाढ़ी जल्दी तैयार थोड़े ही हो सकती, इसलिए वह उसे भी साथ लिये साल-दो-साल बाद घर आते थे। गाँव के सबसे लम्बे—6 फुट से भी ऊँचे—रामरूप पाठक के पास शायद एक बिगहा से अधिक खेत नहीं था, और वह भी अच्छे किस्म का नहीं था। सींचने का कोई प्रवन्ध नहीं था। लम्बे शरीर को बचपन से ही पेट भर खाने को नहीं मिला था, फिर वह पतला-दुवला छोड़ और क्या हो सकता था ? लेकिन, बाहर से देखने में बहुत सीधे-सादे होने पर भी उनमें कुछ विलक्षण बुद्धि जरूर थी, क्योंकि वह भाग्यवादी या गतानुगतिक बनने के लिए तैयार नहीं थे। टिटिहिरियों के जोड़े ने चोंच से ढो-ढोकर समुद्र सुखाने का प्रयत्न किया था, कुछ वैसी ही बात रामरूप की भी थी। उन्होंने अपने खेत में पक्का कुआँ बनाने का निश्चय किया। ईंट पाथने के लिए वह कहीं से साँचा माँग लाये, और उन्होंने अपने ही खेत की मिट्टी से ईंट पाथकर सुखा ली। पीपल-वरगद की लकड़ी जलाने में उस वक्त लोग पाप समझते थे, क्योंकि इन वृक्षों में देवताओं का वास होता है। कहीं उन्हें कोई पीपल का दरख्त भी मिल गया। मजूर रखने के लिए अनाज-पैसा नहीं था, उन्होंने उसे अपने ही काटा, अपने ही ढोया और अपने ही पिजावा लगाकर फूँक दिया। ईंटों में से कुछ पकी और कुछ अधपकी निकलीं। फिर उन्होंने स्वयं कुआँ खोदकर ईंटों की जोड़ाई शुरू की। चार ही हाथ नीचे जाने पर बालू निकल आया; लेकिन वह हिम्मत हारनेवाले जीव नहीं थे। कुएँ को गलाने का निश्चय किया। चार हाथ जोड़ने पर ईंटें खतम हो गईं। बाकी को उन्होंने अगले साल पर रख दिया। जो पानी वहाँ निकला था, उससे उन्होंने खेत में सिंचाई करके जौ-मटर-सँवा-मक्की और शकरकन्द भी लगा दिया। शकरकन्द पन्दहा के लिए नई चीज थी। इसमें शक नहीं कि अपने जाँगर के बल पर उन्होंने भूखे मरने से अपने को बचा लिया। घर में एक लड़का और एक लँगड़ी स्त्री थी। तीनों खेत में लगे रहते। रामरूप पाठक ने वर्षा के बाद फिर अगले साल चोंच से पानी ढोना शुरू किया—ईंटें पथीं, माँगकर कहीं से पीपल की लकड़ी काटी। कच्ची-पक्की ईंटों से फिर कुएँ की चिनाई शुरू की। मुझे याद नहीं कितने सालों तक उनका यह काम चलता रहा। जहाँ तक ख्याल है, मैंने उस कुएँ को विल्कुल पूरा तैयार नहीं देखा। उस समय लोग रामरूप पर हँसते थे—'ऊँट को अक्ल कहाँ, पैसा-कौड़ी हाथ नहीं, और इनारा बनाने चले।' पर रामरूप में अक्ल थी, और वह उसी के बल पर गाँव के 90 प्रतिशत लोगों में फैली भीषण गरीवी में पड़कर मरे नहीं।

34
हरिजन

हरिजन और अछूत शब्द भी उस समय हमारे लिए अपरिचित थे। छोटी जात या अछौंप (अछूत) अवश्य कहा जाता था। वैसे और भी कितनी ही छोटी-छोटी जातियाँ थीं, लेकिन मैं उन्हीं के बारे में कहूँगा, जिनका पन्दहा और कनैला में परिचय रखता था। ऐसी जात केवल चमार थे। भरों की स्थिति उनसे कुछ ऊपर थी और

उन्हें भी दूसरों की आबादी से हटकर रहना पड़ता था। पर अछूत नहीं थे, यह तो इसी से मालूम होगा कि कुलहाड़ में वह पानी भरते थे, और उनकी निकाली ताड़ी उन्हीं के मिट्टी के बरतनों में से लेकर अछूत न समझे जानेवाले लोग पीते थे। पर वह सूअँर बहुत पाला करते थे, शायद इसी कारण उन्हें नीची निगाह से देखा जाता था। अब तो सूअर पालना उनका न जाने कब से छूट चुका है। भर पिछड़ी हुई जातियों में थे, इसमें तो शक नहीं, हाँ, वह आत्म-सम्मान को वहुत ज्यादा नहीं खोये हुए थे। ऐसी जातियाँ अपनी शक्ति को बड़ी जातियों के भीषण शोषण और उत्पीड़न को चुपचाप न सहकर दूसरी दिशा में लगाती हैं, जिनमें मार-पीट के अतिरिक्त चोरी भी है। शायद भर लोग हरिजन नहीं थे, हरिजन के तौर पर चमार ही हमारे सामने थे। कनैला में आठ घर चमार थे। मैंने देखा, उनकी जन व संख्यावृद्धि बड़ी जातियों जैसी जल्दी नहीं होती। कैसे जल्दी होती, जब कि उनके लड़के भूख और बीमारी के कारण अकाल में ही काल के गाल में चले जाते थे। कनैला की आठों घरों में पाँच चमरोटी में पास-पास वसे हुये थे। इतनी गरीवी वर्दाश्त करने के लिए वह क्या वहाँ बैठे हुए थे, यह आश्चर्य की बात थी, पर अपनी जन्मभूमि का मोह सबको होता है। अज्ञात देश में भाग कर जाने के लिए जाने में डर लगता है। इसी टोले में कस्तूरा-भक्तिन रहती थी, जिसकी एक ही लड़की थी, जिसका पति पंजाब में किसी फौजी छावनी में साईस का काम करता था। एक या दो मर्तबे वह अपनी सास को देखने आया था। उसके कपड़े-लत्ते साफ थे, मांस भी था। यह उदाहरण देखकर भी कनैला के दूसरे भाई-बन्द उसका अनुसरण करने के लिए तैयार नहीं थे। गाँव के जमींदार ब्राह्मण थे, जिनके लिए अपने हाथ से हल जोतना महापाप था, इसलिए उन्हें हलवाही का काम मिल जाता था, जिसके बदले में मालिक लोग स्वयं भूखे रहते भी उन्हें मरने नहीं दे सकते थे। शायद इसी प्रलोभनवश वह गाँव छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। तो भी केवल जाँगर पर जीनेवाले यह लोग कितनी ही बार भागने के लिए मजवूर होते थे। सदाफल भगत का परिवार ऐसा ही था। वह कितनों ही सालों तक कहीं दूसरे जगह जा रहे थे। गाँव में उनका घर गिर गया था, उनके पास अपना थोड़ा-सा खेत और सात-आठ आम के पेड़ थे। अन्त में अपने अकेले लड़के के साथ सदाफल लौट आये। सदाफल भगत अपनी जाति के साधु फकीर थे, कई गाँवों में उनके चेले थे। शायद इसीलिए वह फिर अपनी मढ़ी पर लौट आये। इनका घर चमरोटी से अलग था। वह कंठी बाँधे मांस-मछली से परहेज करते थे। लेकिन, इसके कारण उनका अछूतपन दूर हो गया हो, यह नहीं कहा जा सकता।

चमरौटी में चिनगी चमार हमारे अपने हलवाहे थे। उन्होंने जवानी में कलकत्ता में साईसी की थी, जिसके प्रमाणस्वरूप कबाड़ियों के यहाँ से खरीदा लाल बनात का कोट अब भी उनके पास था, जो जाड़ों में निकलता था। उनका एकमात्र लड़का कलकतिया जवान ही मर गया, और वह निरवलम्व हो गये। अपनी पूजा-पाठ के कारण मेरे पिता पुजारी कहे जाते थे। कलकतिया के मरने पर वह चिनगी की जिम्मेदारी अपने ऊपर मानते थे। चिनगी को जिन्दगी-भर ही उन्होंने नहीं निवाहा, बल्कि पूस-माघ की बदली के समय मरने पर भी वह चिनगी को वहाँ से 15-16 कोस दूर गंगा के किनारे ले गये और वहाँ उन्होंने चिनगी का दाह-कर्म किया।

गाँव के पश्चिम तरफ तीन और चमार घर थे, जो एक-दूसरे से थोड़ा हट कर बसे हुए थे। इनमें बाँधा-समाँधा-गया–तीनों भाइयों का घर गरीब नहीं कहा जा सकता था। तीनों भाई और उनके लड़के एक ही में रहते थे, यद्यपि हरिजनों में संयुक्त परिवार बहुत कम देखा था। जब जाँगर चलाकर ही जीना था, और संयुक्त सम्पत्ति कोई थी नहीं, तो संयुक्त परिवार कैसे रहता ? बाँधा सबसे बड़े थे, उनके दो लड़के थे। ये तीनों बाप-बेटे भारतीय अर्थों में गोरे नहीं, वल्कि असली गोरे थे। उनकी मोंछें भूरी-भूरी और आँखें भी कंजी थीं। हमारे यहाँ कहावत मशहूर है–'करिया बाम्हन गोर चमार।' जिसका अर्थ है कि ब्राह्मण को काला नहीं होना चाहिए और चमार को गोरा न होना चाहिए। कनैला में ही हमारी पट्टी के हमारे बहुत नजदीक के चार घरों में तीन घरों में अधिकतर सन्तानें काली थीं। मेरे पिता स्वयं यदि काले नहीं, तो घने साँवले थे। मेरे चचेरे आजा गोकुल पाँडे तो बिल्कुल कोयले की तरह काले थे। उनके बड़े भाई मथुरा पाँडे उनसे थोड़ा ही कम काले थे। अपने आजा के बारे में नहीं कह सकता, लेकिन उनके बाप तथा दो भाई भी काले ही थे। बाँधा उस रंग के थे, जिस

रंग की गवाही देकर किसी समय ब्राह्मण लोग अपनी वर्ण-व्यवस्था को स्वभावसिद्ध मानते थे। इन तीनों भाइयों के पास दो-तीन विगहा खेत था, पशु भी वह काफी पालते थे। अब भी अपने मालिकों के यहाँ उन्हें हलवाही करनी पड़ती थी, लेकिन हलवाही ही उनकी जीविका नहीं थी। बाँधा और समाँधा बड़े ही विनम्र थे, यद्यपि वही बात दया में नहीं थी। दया ने नई वात करके किसी कवीरपंथी साधु से कंठी ले ली थी, और अपनी स्त्री के साथ वह कभी-कभी गुरुजी के सत्संग में भी जाते थे। खान-पान में वह वहुत परहेज करते थे। कुछ कबीर साहव के भजन भी उनको याद थे। याद नहीं,वह कभी खंजड़ी पर उसे गाते थे या नहीं।

उनके पास के दो घर चमार केवल जाँगर पर जीते थे। पचास वर्ष बाद अब उनके बेटे-पोते की क्या हालत है, यह मैं नहीं कह सकता। उस समय तो उन्हें मनुष्य कहलाने का भी हक नहीं था, और न ऐसे हक के लिए उनमें कोई आकांक्षा थी। पैदा होते ही गरीब मालिक माँ-बाप सं यह कहकर खुश होते कि हमारे लिए हलवाहा पैदा हुआ। लेकिन, हल पकड़ने तक की अवस्था तक पहुँचना ही सवके वदे की बात नहीं थी। काला अक्षर भैंस बरावर जब ब्राह्मणों के लिए भी था, तो हरिजनों की तो बात ही क्या ? कनैला में पहले-पहल मदरसे का मुँह देखनेवाला मुझे लेकर दो ही लड़के थे। हरिजनों को भी पढ़ना चाहिए, इसका अभी किसी को ख्याल नहीं था। जब पाँच वर्ष के लड़के को ही चरवाही या दूसरा कोई काम सँभालना पड़ता हो, तो हरिजन माँ-बाप अपने वच्चे को मदरसे में कैसे भेज सकते थे ?

पन्दहा में पाँच घर चमार थे, जिनकी स्थिति कनैलावालों से भी खराब थी। एक ने दो-चार मुर्गियाँ पाल ली थीं, लेकिन अभी अंडों का रिवाज इतना नहीं हुआ था। उनका कोई आदमी बाहर भी नौकरी करने नहीं गया था। केवल अपने ब्राह्मण मालिकों के खेत जोतना, बोना और फसल काटना उनकी जीविका का सहारा था, जो बारहों महीना नहीं रहता था। उस समय भी यह समझना मुश्किल था कि वह कैसे जी लेते हैं ?

35
पुलिस

पुलिस के नाम से लोग उस समय काँपते थे। लाल-लाल पगड़ी देखकर लड़के भाग जाते थे। पुलिस के सिपाहियों की पगड़ी लाल रंग की होती थी। हरेक गाँव में एक चौकीदार का होना जरूरी था, जो पुलिस का स्थानीय प्रतिनिधि था। गाँव का होने के कारण उसका कोई रोव नहीं था। कनैला में पाँचू चमार चौकीदार या गोड़इत थे। हमारे यहाँ यह दोनों शब्द पर्यायवाची माने जाते हैं, लेकिन विहार में नहीं, जहाँ गोड़इत जमींदार का आम आदमी होता है। हो सकता है अंग्रेजी राज्य के आने से पहले ही गाँव के गोड़ाइत को तनखाह की जगह जमीन की जागीर मिली रहती थी। पन्दहा में यह नहीं देखा, लेकिन कनैला में पाँचू के पास दो-ढाई विगहा खेत गोड़ाइती का मौजूद था। जब सरकारी खजाने से तनखाह मिलने लगी, तो इस खेत पर पाँचू की काश्तकारी लग गई। चौकीदार होने के कारण कुछ नगद पैसे मिल जाते थे, जिससे गाँव के चमारों में बाँधा के घर के बाद पाँचू की ही स्थिति अच्छी थी। जव किसी के घर कोई बच्चा पैदा होता, या कोई मरता, तो पाँचू उसे थाने में जाकर लिखवाते। उस समय वहाँ का थाना जहानागंज था, जो पीछे चिरैयाकोट में गया। कनैला में कभी कोई चोरी नहीं हुई, मार-पीट भी बहुत कम, शायद ही कभी होती हो। केवल एक वार थानेदार आये थे, जब कि मेरे पिता ने एक खेत पर अपना हक होने के लिए उसे उसकी जुताई रोक दी थी। कई सालों तक तो एक खेत परती पड़ा रहा। मार-पीट नहीं हुई थीं, और दरोगाजी भी पुलिस के अपवादों में से थे, इसलिए मामला तूल नहीं पकड़ा।

पन्दहा जिले के उस भाग में है, जहाँ के लोग अपने को अधिक सभ्य कह सकते हैं। अब तो मील-भर पर ही रेल आ गई थी। उससे पहले भी निजामावाद जैसे कस्बे, रानी की सराय जैसे बाजार और आजमगढ़

जैसे शहर से बहुत दूर न होने के कारण वहाँ के लोगों को सभ्यता की हवा लगी थी। मेरे अनपढ़ के मामा सीताराम जाड़ों के दिनों में आग तापते हुए मंडली में यदि बात करते, तो जयराजपुर या बिनवल के किसी बहुत बड़े हाकिम या वकील हो गये पुरुष की। किसके बारे में कहते थे, यह तो मुझे याद नहीं लेकिन उन्हीं के मुँह से सुनकर मैंने जाना था कि बहुत बड़ा दर्जा हासिल करने के लिए 'विलाइत' से पढ़ कर आना होता है। पन्दहा में गरीबी और अधिक थी, लेकिन सभ्यता के समीप होने के कारण वहाँ मार-पीट अक्सर हो जाया करती थी। मार-पीट के लिए किसी बड़े कारण की आवश्यकता नहीं होती। एक पट्टी के लोगों के खेत के सम्बन्ध में आपसी झगड़े हो सकते हैं। पर दूसरी पट्टी से क्यों ? हमारे तीनों नाना के घरों से लड़ाई हो गई दूसरी पट्टी से, दोनों तरफ से दोतरफा लाठियाँ चलीं जिसमें मेरे नाना का सिर फूट गया, खोपड़ी की हड्डी भी टूट गई, नाना एक महीने तक आजमगढ़ के अस्पताल में पड़े रहे। दरोगा साहब आये, उन्होंने तहकीकात करते समय अपनी मुट्ठी दोनों तरफ से खूब गरम की।

एक बार चौकीदार झींगुर के तीन भाइयों में लड़ाई हो गई। शायद बड़ा भाई मर गया था। उसके दो लड़के थे। तीनों घरों में से एक कोई अधिक प्रौढ़ आदमी तीन-चार और आदमियों के साथ खड़ा-खड़ा बात कर रहा था। मैं भी वहीं पर था। इसी समय एक तरुण हाथ में लाठी लिये दौड़ा-दौड़ा आया और उसने एक लाठी उस आदमी के सिर पर मारी, खून की धारा वह चली। लोगों को रोकने का मौका ही नहीं मिला। और जिस तरह अकस्मात् दौड़ कर आया था, उसी तरह वह भागकर लुप्त हो गया। मैं हक्का-बक्का देखता रहा। शायद समझता था कि अकारण किसी आदमी का खून क्यों बहाया गया। पर परिवार की लड़ाई में व्यक्ति के दोष या निर्दोष होने की बात थोड़े ही देखी जाती है ! मालूम नहीं झगड़ा पुलिस तक पहुँचा या नहीं। तीनों भाइयों में झिंगुर चौकीदार थे। उस समय के नाम भी अपने हुआ करते थे, इन नामों में भी अपने समय का इतिहास छिपा रहता है। यदि 25-30 पीढ़ी के नामों को उनके असली उच्चारणों के साथ देखा जा सके, तो उस समय का प्रभाव साफ दिखाई पड़ेगा। 12वीं शताब्दी के चक्रपाणि पाँडे से मेरे तक 25 पीढ़ियाँ बीती हैं, जिनके नामों में सूगा, भाँजू, इजहार, इच्छा जैसे नाम मिलते हैं। इजहार मुसलमानी प्रभाव को बतलाता है। झींगुर, फतिंगन जैसे नाम अब बहुत कम ही पसन्द किये जायेंगे, और कुछ ही सालों बाद वह अतीत की बात हो जायेंगे। झींगुर उस समय प्रौढ़ लम्बे-चौड़े आदमी थे। अहीर होने के कारण वह पाँचू चौकीदार की तरह दब्बू नहीं, बल्कि दबंग थे। पन्दहा में धनी थे ही कहाँ कि वहाँ चोरी होती। एक बार चोर पकड़ा गया था, जिसके ऊपर इतनी मार पड़ी थी कि उसकी सारी देह सूजी, आँखें लाल-लाल थीं। चोरी में कोई चीज गई नहीं, सिर्फ सेंध-भर कट सकी थी। थानेदार साहब सदलबल आये, और उन्होंने लोगों का इजहार लिया। गाँववालों ने उनके लिए पूड़ी का पकवान ही नहीं तैयार किया, बल्कि एक बकरा भी काटा। लोग कह रहे थे कि थानेदार साहब ने झींगुर को इसके लिए बड़ा डराया-धमकाया था कि वह अपने यहाँ से कोई वारदात नहीं लाता। थानेदार साहब को खुश करने के लिए इस चोरी का प्रबन्ध झींगुर ने कराया था। आम तौर से लोग यही विश्वास कर रहे थे, लेकिन झींगुर को सुरखुरू करने के लिए भला कोई चोर पकड़ कर पिटने और जेल जाने के लिए तैयार थोड़े ही हो सकता है।

चौकीदार को हफ्ते में एक दिन थाने पर जाना पड़ता। वहाँ दरोगा साहब को अपने गाँव का हाल-चाल बतलाना ही काफी नहीं था, बल्कि घर से खाना साथ ले जाकर वह दिन-भर दरोगाजी के घर का काम करता। थाने का दारोगा होना एक बड़ी बात थी, इसीलिए माँ-बाप अपने लड़कों का नाम दारोगा रखते थे। दारोगा शब्द की भी कितनी छीछालेदर हुई है ! मंगोल भाषा का यह शब्द कभी नगरपाल के लिए प्रयुक्त होता था, जिस तरह से मंगोल शब्द नाकर उच्च राजकर्मचारी का कहा जाता था। हमारे यहाँ तो तब भी थाने के 50-60 गाँवों का हर्त्ताकर्त्ता होने के कारण दरोगा शब्द का कुछ मूल्य था, लेकिन राजस्थान में तो यह अन्तःपुर और बाहर के चाकरों और उनकी स्त्रियों के लिए इस शब्द का प्रयोग होता है।

अंग्रेजों के शासन का सबसे बड़ा आधार पुलिस थी, जो न्याय का अन्याय करने और घूस-रिश्वत लेने में अपना सानी नहीं रखती थी। कुछ पुलिस के आदमियों को निस्सन्तान देखकर लोगों ने हल्ला उठा रक्खा

था कि अपने पापों के कारण पुलिसवाले निस्सन्तानी रहते हैं। इस प्रकार के कारण, कितने ही लोग पुलिस की नौकरी करने से हिचकिचाते भी थे, लेकिन सरकार को आदमी न मिलते हों, यह बात नहीं थी। बहुत दिन बाद जब एक बार बाहर की हवा खाकर कुछ दिनों के लिए 1913 ई. में मैं अपने जिले में गया, तो दो थानेदारों से मुलाकात हुई। इस समय मैं भी उनसे नहीं डरा, और उन्होंने भी इतना शिष्टाचार प्रकट किया कि इससे मुझे पुलिस के बारे में अपने विचारों को बदलना पड़ा—सभी आदमी एक तरह के नहीं होते। मैं संस्कृत पढ़ने लगा था, और उनमें से एक ने मेरे गुरु तथा फूफा महादेव पंडित ने कहा कि मैं होता, तो इन्हें अंग्रेजी पढ़ाता।

सिंहल के वीर

1

विजय

(सिंहल का प्रथम वीर)

बंगाल के राजा की रानी कलिंग (उड़ीसा) की राजकुमारी थीं। दोनों की पुत्री बड़ी सुन्दरी थी, जिसे मार्ग से कार्थ सिंह पुरुप उठा ले गया। उसके पुत्र और पुत्री सिंहवाहु और सिंहलीवाले हुए। सिंहवाहु ने अपनी वीरता के फलस्वरूप लाट (गुजरात) देश में एक प्रदेश पाया, जहाँ सिंहपुर राजधानी बसाकर राज्य करने लगा। सिंहवाहु को अपनी बहिन से प्रेम हुआ, जिसका नाम विजय रक्खा गया। विजय और उसके साथी सम्भावी इतने उद्दंड थे कि प्रजा तंग आ गई। उसने राजा से कहा। राजा ने बेटे को धमकाया, पर कोई असर नहीं। प्रजा राजकुमार को मार डालने की माँग करने लगी। तीन बार कहने का कुछ फल न देखकर प्रजा ने फिर राजकुमार के वध की माँग की। सिंहवाहु राजा ने विजय और वहाँ के सात सौ साथियों को नावों में बैठाकर समुद्र में डलवा दिया। उनकी स्त्रियों को भी नावों पर कर दिया। उनको तो सिंहपुर लौटने की आज्ञा नहीं थी। भडौंज से चली नाव सुप्पारक (सुप्पारा, बम्वई से उत्तर) में पहुँची। वहाँ भी उनकी उद्दंडता गई, लोग जान के ग्राहक हो गये। फिर विजय अपने साथियों के साथ नाव पर चला। चलते-चलते कितने ही दिनों बाद वह एक द्वीप में पहुँचे, जिसका नाम पीछे सिंहल द्वीप पड़ा। बीच के किसी तूफान में स्त्रियों की नाव अलग हो दूसरे द्वीप में पहुँच गई।

नाव से उतरकर वह पास की जमीन पर बैठे। मिट्टी लगने से हाथ लाल हो गये, इसी से उन्होंने उस भूमि का नाम ताम्रपर्णी रक्खा। सिंहल द्वीप का पुराना नाम, जो अशोक के अभिलेखों में भी आता है, यही ताम्रपर्णी है।

ताम्रपर्णी में उस समय गोरे-पीले बालोंवाले आर्य नहीं रहते थे, वहाँ भील, संथाल लोगों-से काले लोग रहते थे, जिन्हें पुराने सिंहल यक्ष या भूत कहते थे। कुवेणी यक्षिणी विजय पर मुग्ध हो गई। रात को सोये विजय ने बाज की आवाज सुनी। पूछा, क्या आवाज रे ?–सिरी-सवत्थु यहाँ यक्षों का पुर है। वहाँ के जेठे यक्ष की लड़की यहाँ ब्याह करने के लिए लाई गई है। विवाह का उत्सव हो रहा है। उसी का शब्द है। विजय की प्रेयसी यक्षिणी कुवेणी ने यह भी कहा कि यही समय है यक्षों को मार डालने का। विजय और उसके साथियों ने कुवेणी के शब्द पर शब्दबेधी वाण चलाकर रात को ही यक्षों को मार भगाया।

कुछ दिन इसी तरह बीते। कुवेणी को विजय से एक पुत्र और एक पुत्री हुई। लंका के प्रभु होकर वह क्यों काले असभ्य यक्षों को पसंद करते ! उन्होंने दक्षिण मदुरा (मदुरै) कन्याओं को माँगने के लिए दूत भेजे। मदुरै के राजा ने डुग्गी पिटवा दी कि ताम्रपर्णी के लिए कन्याएँ चाहिए। घरों के दरवाजों पर जाने के लिए तैयार कन्याएँ खड़ी थीं। वह अपने बँधुओं के साथ ताम्रपर्णी पहुँचीं।

विजय ने कुवेणी से कहा–जा, बच्चों को यहीं छोड़ जा। मनुष्य अमनुष्य से भय खाते हैं।

कुवेणी ने कहा–चिंता मत करो। तुम्हें सहस्रों का कर दिलवाऊँगी। वहुत प्रार्थना की, पर विजय का दिल नहीं पसीजा। फिर अपने दोनों वच्चों को लेकर और उपाय न होने से वाहर वच्चों को रखकर लंकापुर में घुसी। लोगों ने पहिचान लिया, एक ने उन्हें मार दिया। मामा ने आकर वच्चों को वाहर वैठे देखा, पूछा–कौन हो तुम ? "कुवेणी के वच्चे"–वतलाने पर कहा कि उसको तो मार दिया, तुमको भी जानेंगे तो मारे विना न छोड़ेंगे। इसलिए भाग जाओ।

वे पहाड़ों में भाग गये। कहते हैं, वही पैलिदों (वद्दा लोगों) के पूर्वज हुए, जो आज भी सौ पचास की संख्या में लंका के जंगलों में शिकार और फल-संग्रह पर जीविका करते हैं। उनका रंग संथाल और भील-सा है, पर भाषा उनकी सिंहली है। उनका दावा ठीक ही है, हम राजा के वड़े पुत्र की संतान हैं, तुम छोटे की।

विजय अपने सात सौ साथियों के साथ बुद्ध निर्वाण (487 ई. पू.-543 ई. पू.) के आसपास (अर्थात छठी सदी में) आया। 400 वर्ष बाद ई. पू. द्वितीय शताब्दी में पुराने व्राह्मी शिलालेखों के मिलने के स्थानों से मालूम होता है कि वह सारे सिंहल द्वीप में उस समय तक फैल गये थे। बीच के वीस मील के समुद्र के पार पांड्य भूमि में उनकी पत्नियाँ मिलीं। देश से भेजी पत्नियाँ तो नहीं आ पाईं, पर विजय और उनके साथियों ने शुद्ध आर्य भाषा को कैसे वनाये रखा ? हो सकता है, उन्हें पुरोहित व्राह्मण द्रविड़ देश से मिले हों। अशोक के समय ई. पू. तीसरी सदी से पूर्व बड़ी संख्या में आर्य भाषा-भाषी सिंहल पहुँचे हों, उसकी कम सम्भावना है।

सिंहल में पोखराज की खान थी, पद्मराज भी मिलता था। शायद इसका पता समुद्री आर्य व्यापारियों को था, और वह उसके लिए पहुँचे हों, जिसको एक भाषा-भाषी होने से आश्रय दिया हो। इस तरह और भी लोग वहाँ पहुँचे हों। विजय के एक मन्त्री ने कदंवनदी के किनारे अनुराधपुर को वसाया, दूसरों ने और नगर बसाये।

विजय के बंगाल से आने की बात कही जाती है। बारहवीं-तेरहवीं सदी ईसवी में कलिंग वंशी राजा सिंहल पर राज करते थे, वह दावा करते थे–विजय कलिंग के सिंहपुर से आया था। इसमें इतना ही सत्य है कि बंग का राजा और कलिंग की राजकन्या से विजय का पिता सिंहवाहु पैदा हुआ था, पर उसका देश लाट (गुजरात) था। लाट को राढ़ बनाकर बंगाल में ले जाना चाहते हैं, पर लाट से सिंहल द्वीप का रास्ता ताम्रलिपि से होता। भरुकच्छ (भड़ौंच) और सुप्पारा उसके रास्ते पर न पड़ते। ये दोनों स्थान लाट (गुजरात) देश में हैं। सिंहल भाषा के उच्चारण को भी देखकर विद्वान सिंहल के पूर्वजों के पश्चिमोत्तर दिशा से गुजरात की ओर से आया बतलाते हैं।

25,481 वर्ग मील का द्वीप उस समय आज से भी अधिक हरा-भरा होगा, जिसे सिंहलों ने आवाद किया, पर बहुत पीछे तक अधिक सर्दी के कारण 2500 फुट से ऊपर के पहाड़ों पर लोग न बसते थे। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजों ने चाय के बगीचों के लिए इन ऊँचाइयों को पसंद किया और अब 6000 फुट नुवरएलिया तक चाय के बगीचों का ताँता लगा हुआ है। उनमें काम करने के लिए सस्ते तमिल कुली लाखों की तादाद में लाकर बसा दिये, जिन्होंने विजय की सन्तति के लिए तमिल-समस्या का सिरदर्द पैदा कर दिया।

विजय की कोई संतान नहीं थी। उत्तराधिकारी लाने के लिए सिंहपुर दूत भेजे। विजय का छोटा भाई सुमित्र सिंहपुर का राजा हो गया था, उसने अपने छोटे लड़के पाण्डु वासुदेव को भेजा। विजय को मरे सात दिन हो गए थे, जब पाण्डु वासुदेव महाकंदर नदी के मुहाने पर संन्यासी के वेश में अपने साथियों के साथ उतरा। स्वागत करके उसे उपतिष्य ग्राम में पहुँचाया। वही सिंहल का दूसरा राजा वना।

2

महेन्द्र

(सिंहल में बौद्धधर्म-प्रचारक)

ईसा पूर्व 288 के आसपास चंद्रगुप्त मौर्य के पुत्र और मगध के सम्राट बिन्दुसार ने अपने पुत्र अशोक को उज्जयिनी का उपराज (वाइसराय) वनाकर भेजा। रास्ता विदिशा होकर जाता था, जो स्वयं एक बड़ा व्यापारिक नगर था। पर्दे-वर्दे का वह जमाना नहीं था। वहाँ के नगर सेठ की लड़की तरुण राजकुमार को पसंद आई। वह उसे अपने साथ उज्जयिनी ले गया। वहीं रहती थी विदिशा कुमारी, जिसका निजी नाम इतिहास ने भुला दिया, और देवी नाम याद रक्खा। दोनों के प्रेम का प्रथम फल शिशु महेन्द्र हुआ, और वहीं उसकी सहोदरा जनमी, जिसका नाम संघमित्रा प्रसिद्ध हुआ। अशोक बारह-तेरह वर्ष अवन्ति का शासन करते रहे, फिर एकाएक समाचार मिला कि पाटलिपुत्र में पिता मर गये। भाग्य-परीक्षा के लिए वह भी पटना दौड़े। पाँसा उनकी ओर पड़ा। बड़ी निर्दयता से रक्त-स्नान के वाद सिंहासन पर बैठा। राज्य पर दावा करनेवाले किसी भाई को भी अशोक ने जीता न छोड़ा। इसी से उसका नाम चंडाशोक पड़ गया।

गद्दी पर बैठकर शासन का संचालन इतना सुव्यवस्थित कर दिया कि आठ वर्ष बाद अपने दक्षिणी पड़ोसी कलिंग (उड़ीसा) को विजय करने का ख्याल आया। वहाँ भी चंडाशोक ने अपनी चंडता दिखलाई और सौ हजार से अधिक लोग मारे। उनसे अधिक दास वंदी बनाये गये। इस नरसंहार से अशोक का मन खिन्न हुआ। उसे नरसंहार असह्य था। इसके बाद राजविजय के स्थान पर धर्मविजय प्राप्त करना देवानांप्रिय अशोक ने अपना लक्ष्य रक्खा। अगले साल उनके हृदय की करुणा उन्हें करुणावतार बुद्ध की शरण में ले गई।

264 ई. पू. में बौद्ध धर्म के भीतरी मतभेदों को दूर करने के लिए ज्ञान वयोवृद्ध भिक्षुओं की परिषद पटना में बुलाई गई, जिसमें आज तक मुखस्य चले आये बुद्ध धर्म (सुत्रा) और विनय का संगायन (सम्मिलित सस्वर वाचन) हुआ, जिसे तृतीय संगीति कहते हैं, इसी के अंत में अबौद्ध देशों में धर्म-दूत भेजने का निश्चय हुआ, जिसमें अशोक सव तरह की सहायता देने के लिए तैयार था। यहीं ताम्रपर्णी (सिंहल) द्वीप के धर्मदूत का काम अशोक के पुत्र महेन्द्र के जिम्मे हुआ।

253 ई. पू. में महेन्द्र को सिंहल भेजा गया, तब तक महेन्द्र और संघमित्रा को भिक्षु हुए 12 वर्ष से अधिक हुए थे। उन्होंने मौखिक बुद्धवचन (पिटक) को काफी याद कर लिया था। परम्परा कहती है कि महेन्द्र लंका-प्रयाण से पहिले अपनी माँ से मिलने विदिशा गये, जिससे नातिदूर साँची के स्तूप हैं और फिर आकाश-मार्ग से लंका के मिहिन्तले पर्वत के ऊपर पहुँचे। यह निरी कल्पना है।

इंद्रिय, मुतिय, सम्बल और भद्दसाल चार और भिक्षुओं के साथ 25 मील की खाड़ी को पार कर ताम्रपर्णी के तट पर पहुँच गये। उस समय ताम्रपर्णी ही नाम था, लंका बहुत पीछे नाम पड़ा।

मिहिन्तले को अम्बस्थल नामक स्थान में पीले कपड़ेवाली इन पाँच मूर्तियों को एकाएक देखकर राजा (देवानांप्रिय) तिष्य को आश्चर्य होना ही था। महेन्द्र ने 'एहि तिष्य' कहकर बुलाया और कहा–हम श्रमण हैं महाराजा धर्मराज (बुद्ध) के श्रावक। जम्बूद्वीप से यहाँ आये हैं।

उस समय तक अभी पीले कपड़ेवाले बौद्धभिक्षु ताम्रपर्णी में नहीं पहुँचे थे। शायद ही राजा तिष्य ने सुना हो कि समुद्र के दूसरे तट पर अवस्थित चोल देश के नागपहन (नैगापहन) में बौद्ध धर्मदूत उतर चुके हैं। अशोक का नाम तो अवश्य सुन लिया होगा, और पीछे यह भी मालूम हुआ होगा कि ताम्रपर्णी प्रधान धर्मदूत स्वयं अशोक के पुत्र हैं।

बातचीत में कोई दिक्कत नहीं हो सकती थी। आखिर राजा तिष्य और उसके देशवासी दो-ढाई सौ वर्ष पहिले लाट (गुजरात) के भरुकच्छ (भड़ौंच) और सुप्पारा (सोपारा) होते ताम्रपर्णी पहुँचे थे। गुजरात की भाषा

मगध की भाषा से उतना ही अंतर रखती थी, जितना गिरनारक, अशोक लेख, लोरिया नंदनगरू (चंदारन) की भाषा से। लिपि भी लंका की और मगध की एक थी, पर अभी मौखिक बुद्धवचन को तालपत्र में उतारने में दो सौ से अधिक वर्षों की देर थी। महेन्द्र के उपदेश को सुनकर राजा बहुत प्रभावित हुआ। उनको अपनी राजधानी अनुराधपुर में निमंत्रित किया। वहाँ उपदेश सुन राजा और बहुत-से लोग बुद्धधर्म संघ की शरण में आये।

राजकीय उद्यान मेघवन में महेन्द्र और उनके साथियों को रात के लिए ठहराया गया। वही उद्यान राजा ने भिक्षुओं के लिए प्रदान किया, जो लंका का पहिला वौद्ध विहार हुआ। काल और स्थान दोनों में महान होने से उसका नाम महाविहार पड़ा। बुद्ध के उपदेशों के शुद्धनाम रखने तथा भिक्षुओं के जीवन को अतिशुद्ध और सरल रखने में महाविहार की ख्याति सारे बौद्ध जगत में हो गई। महाविहार में माने जानेवाले पिटक की पालिपिटक है, जो आज बर्मा, थाइभूमि, कम्बोज और लाव में माना जाता है, और उसी को नवनालंदा के नागरी संस्करण में प्रकाशित किया जा रहा है।

मालूम हुआ कि भिक्षु संघ की तरह भिक्षुणी संघ भी होता है। राजकुमारियों और दूसरी महिलाओं की भिक्षुणी बनने की इच्छा हुई, तो महेन्द्र ने कहा—वह तो भिक्षुणियाँ कह सकती हैं। इस पर दूत दौड़े और बोधगया के पीपल की डाली लिये संघमित्रा 253 ई. पू. के आसपास लंका पहुँची। वही संघमित्रा की लाई डाली जयमहाबोधि दुनिया का सबसे पुराना ऐतिहासिक वृक्ष आज प्रायः इक्कीस सौ वर्ष से अनुराधपुर में उसी जगह खड़ा है, जहाँ कभी महाविहार था। पत्ते छोटे-छोटे हैं, और थूनियाँ लगाकर उसके अंग-अंग को गिरने से बचाया जा रहा है। आज से बत्तीस वर्ष पहिले विजली के दीपकों से जगमगाते देखकर हमारे राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था—शाखा का यह सम्मान और मूल महाबोधि हमारे यहाँ उस अवस्था में है, इसलिए महावोधि (वोधगया) के लिए कुछ करना ही चाहिए।

महेन्द्र और संघमित्रा ने अपने जीवन में ही ताम्रपर्णी को बौद्ध देख लिया। 199 ई. पू. के आसपास महेन्द्र का निधन चैत्य पर्वत (महिन्तले) पर हुआ। उस वक्त राजा देवानांप्रिय तिष्या के भाई को राज करते आठ वर्ष हो गये, आश्विन शुक्ल प्रतिपदा का दिन महेन्द्र के निर्वाण का दिन तव से एक विशेष दिन हो गया और आज भी हजारों यात्री उस दिन महेन्द्र की स्मृति मनाते हैं।

महेन्द्र के जीवन के साथ सम्बन्धित स्थानों में वह चमकीले पत्थर की नाट्यकला भी मिहिन्तले में दिखाई जाती है, जिस पर महेन्द्र सोते थे। अम्बस्थल में पवित्र स्तूप बहुत पुराना बना हुआ है, जहाँ देवानांप्रिय राजा का महेन्द्र से प्रथम साक्षात्कार हुआ था।

सिंहल जाति के निर्माण के समय बुद्धधर्म की और मगध की श्रेष्ठ कला विद्या की देन ही थी। वह सिंहल जाति के रक्त-मांस के साथ एक हो गई। आगे ई. पू. प्रथम सदी और पीछे भी जवर्दस्त प्रहार हुए, जिनमें पुरानी राजधानी अनुराधपुर ध्वस्त हो गई। पौलन्नरूव द्वितीय राजधानी की ईंटों से ईंटें बज गईं, जम्बूदीप और जयवर्धनपुर (कोट्टे) के भाग्य भी बेहतर नहीं सावित हुए। अंत में पार्तुगीजों ने अपने शासन (151-165 ई.) में तो महेन्द्र के लगाये पौधे को उखाड़ फेंकने में जैसे अत्याचार सिंहल के लोगों के साथ किये, वह इतने जघन्य और क्रूर थे कि वह पौधा मर जाता, पर नहीं मरा। किताबें सारी जला दीं, विहार, मन्दिर भूमिसात कर दिये, हजारों आदमियों को कोलम्वो के केलनिया गंगा के घड़ियालों को खिला दिया, पर तो भी महेन्द्र की ज्योति को नहीं बुझा सके। भिक्षु संघ उच्छिन्न हुआ, तो भी बर्मा और स्याम से सहायता लेकर उसे पुनर्जीवित किया। आज लंका में महेन्द्र की ज्योति और भी प्रखर लग रही है।

त्रिपिटक भारत की देन है, जिसमें हमारी संस्कृति की चीजें भरी हैं। वह हमारे यहाँ से नष्ट हो गया था, उसे लंका ने सुरक्षित रक्खा। और आज हम उसका नागरी संस्करण निकाल रहे हैं। वलगमवाहु (105 ई. पू.) के समय तक महेन्द्र और उनके साथियों के साथ पिटक मौखिक रहा, उसे लिपिबद्ध करके सुरक्षित कर दिया गया।

महेन्द्र और महाबोधि शाखा के आने के साथ उत्तर भारत में आदमियों का ताँता-सा हो गया। हजारों

परिवार काशी, मगध-काशी और दूसरे प्रदेशों से यहाँ आये। उनमें कलाकार, शिल्पी, योद्धा, कृषक थे, जिनकी संतानों को आज देखने पर मेरी पत्नी कहती थी, उत्तर प्रदेश और बिहार से आई मालूम होती हैं। स्त्रियाँ, लड़कियाँ साड़ी पहने वैसी ही मालूम होती हैं, जैसे बनारस, आगरा की स्त्रियाँ। ऐसी ही बात है, जिनका कारण सिंहल के लोगों को मालूम नहीं। वह उत्तरी भारत के संगीत पर लट्टू होते हैं, वर्तमान शताब्दी के आरम्भ से हिन्दी में नाटक करनेवाली पारसी थियेटर कम्पनियाँ एक ही बार यहाँ आईं, पर उनके गीत इतने पसन्द आये कि थोड़े ही समय में लंका के गली-कूचों में उसी तरह के गाने सुनाई देने लगे थे। आज रेडियो और फिल्म के गानों को सुनने पर मालूम ही नहीं होता कि हम किसी दूसरे देश में बैठे हैं। लता मंगेशकर और दूसरे हमारे गायकों के गानों की रेकार्डिंग रेडियों पर बजते रहते हैं। उनकी भाषा समझ में नहीं आती तो भी लै-तान के लिए उनकी माँग है। सिंहल भाषा में भी वैसे ही गीत बनते हैं। कर्नाटक संगीत के केन्द्र मद्रास, मैसूर के पास में हैं, पर यहाँ के संगीत के विद्यार्थी लखनऊ के भातखंडे विद्यालय में संगीत की शिक्षा लेने जाते हैं। नृत्य भी वहाँ से सीखना चाहते हैं।

भाषा की दिक्कत है, पर अब वहाँ के विश्वविद्यालय हिन्दी का विभाग रखते हैं, जहाँ नव तरुण सिंहल हिन्दी सीख रहे हैं। सिंहल भाषा उच्च शिक्षा का माध्यम स्वीकृत है, राज्य भाषा भी वही है। उच्च शिक्षा की पुस्तकें तैयार करने के लिए यहाँ के विद्वान हमारी परिभाषाओं को लेने के लिए दिल्ली की ओर नजर लगाए रहते हैं। वह भी संस्कृत के सरल शब्दों से बननेवाली परिभाषाएँ पसन्द करते हैं, जैसे हमारे यहाँ।

हम परिभाषा गठकर देते हैं, तो उनका काम आसान हो जाता है। वे स्वभाषा के लिए हमसे अधिक चुस्त हैं, हमारे यहाँ तो हिन्दी का विरोध करनेवाले लोग भी हैं, पर सिंहल में किसी की हिम्मत नहीं कि स्वभाषा का विरोध करें। हालाँकि सिंहल के लोग अभी कुछ ही वर्षों से पहिले अंग्रेजी बोलने में अंग्रेजों का कान काटते थे। यहाँ के स्कूल लंदन युनिवर्सिटी का पाठ्य-पुस्तकें पढ़ाते थे, वहीं की परीक्षा यहाँ होती थी। सिंहल के लोगों की ओर से प्रार्थना कर रहा हूँ कि परिभाषाओं के बनाने का काम डॉक्टर श्रीमाली जरा जल्दी से करायें, ताकि इनका काम न रुके।

महेन्द्र ने धर्म-प्रचार के साथ वह काम किया, जिससे सिंहल और भारत का सम्बन्ध सदा के लिए अटूट हो गया। उनका साहित्य, उनका संगीत, उनकी वेश-भूषा हमारे घनिष्ठ सम्बन्धवाली हो गई। उनको देखकर वस्तुतः कहा जा सकता है, सिंहल हमारे हैं, हम सिंहलों के हैं।

3

दुष्ट ग्रामणी (16-37 ई. पू.)

(सिंहल का अजेय वीर)

दुष्ट ग्रामणी का अर्थ है, दुष्ट नायक। यह किसी प्रतिष्ठित विजेता का नाम नहीं हो सकता। स्वतंत्र नेता, पिता के विरुद्ध होने के कारण उसे यह नाम दिया गया। द्रविड़ देश–(रामेश्वर) से 20 मील का ही समुद्र बीच में पड़ता है, फिर सिंहल द्वीप 270 मील लम्बा, 140 मील चौड़ा, 25,481 वर्ग मील क्षेत्रफल का है। इस भूभाग में न जाने कहाँ के ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे भिन्न भाषा-भाषी सुदूर उत्तर से आकर बस जायें, इसे तमिल लोगों ने कभी पसंद नहीं किया। उसका कार्य-रूप में विरोध पहिले-पहिल उस समय हुआ, जब मौर्य साम्राज्य के विघटन से सिंहल लोग अकेले हो गये, और तमिलों ने आगे बढ़ना चाहा। सिंहल में घोड़े का व्यापार करने, सेन और गुत्तिल दो तमिल आते थे। घोड़ों की खान पंजाब, अफगानिस्तान थी, जहाँ से हजारों घोड़ों को दक्षिण भारत और सिंहल पहुँचाने में कितने ही सार्थवाह लगे हुए थे, जो बहुत साधन-सम्पन्न थे। सेन और गुत्तिल सिंहल

की कमजोरियों को जानते थे, तमिलों के पुराने संकल्प को उन्होंने पूरा किया। जव देवानांप्रिय तिष्य के भाई सूरतिष्य को हराकर उन्होंने अनुराधपुर में अपना राज्य 271 ई. पू. में स्थापित किया। सेन और गुत्तिल (271-49 ई. पू.) के वाद असेल ने (249-205 ई. पू.) में राज्य न किया। फिर परम न्यायी एलार राजा ने चोल देश से आकर 54 वर्ष (205-161 ई. पू.) शासन किया। सम्भवतः एलार वौद्ध था, अशोक के समय भेजे धर्मदूतों ने नेगापट्टनम में उतरकर वौद्ध धर्म की ऐसी नींव डाली थी कि तमिल देश में चौदहवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक सुदृढ़ थेरवाद स्थापित रहा और मदुरा के सुल्तानों के समय में ही उसका उच्छेद हुआ। एलार की न्यायप्रियता की वहुत-सी कथाएँ उसके विरोधियों ने भी उद्धृत की हैं। उसने अपने सिरहाने घंटी टाँग रखी थी, जिसे कोई भी सताया प्राणी वजाकर न्याय माँग सकता था। एलार न्याय के लिए अपने पुत्र का सिर काटने से भी वाज नहीं आया। रथ के पहिये से स्तूप के थोड़ा टूट जाने पर उसने अपने सिर को हाजिर कर दिया, पर भिक्षुओं ने मरम्मत करा देना काफी समझा।

न्याय ठीक था, पर तभी तक, जव तक कि तमिल शासन का विरोध न हो। अनुराधपुर और सिंहल द्वीप के अधिकांश भाग के चले जाने पर मध्य के दुर्गम पहाड़ों को पार कर दक्षिण के रोहण प्रदेश में राजा देवानांप्रिय के एक भाई महानाग ने अपना डेरा जमाया था। स्वतन्त्रता-प्रेमी और भी कितने ही पुरुष उसकी राजधानी महागाम—आधुनिक तिस्समहाराम—और आसपास में जमा हो गये थे। तजर्वा करके देख लिया था कि द्रविड़ देश के बल को परास्त कर सिंहल लोग अनुराधपुर को नहीं ले सकते, वैसे ही द्वीप के दुर्गम पहाड़ों को लाँघकर रोहण में सिंहलों को हराया नहीं जा सकता। महावली (महावालु) गंगा दक्षिण से उत्तर वहती है, वह पूरी सीमा नहीं वन सकती, इसलिए पूर्व ओर कुछ दूर उसे और वाकी जगह पहाड़ों को सीमा बनाकर दोनों डटे रहे। महानाग पहिले ही कुछ कारणों से रोहण भागे थे। उसका प्रपौत्र काकवर्ण भी द्रविड़ों से भिड़कर खतरा मोल नहीं लेना चाहता था, पर उसकी रानी (विहार देवी) दूसरी ही मिट्टी की बनी थी। उसने बचपन से ही पुत्र को पुरानी राजधानी और यश और वैभव की कहानियाँ बतलानी शुरू की थीं। उसका असर भी हुआ। एक दिन खाना खाते समय काकवर्ण ने शपथ लेनी चाही कि द्रविड़ शासित भूमि की ओर लालच नहीं करेगा। दुष्ट ग्रामणी उठकर चला आया और बिस्तरे पर हाथ-पैर समेटकर पड़ गया। विहार देवी ने आकर बेटे को देखकर कहा—वेटा, क्यों ऐसे सो रहा है ?

पुत्र का उत्तर था :

गंगा का रम्हि दमिला इतो गोठ महोदधि।
कथं पसा रितंगो हे निपज्जामीति सांव्रवि। —महावंस-2285-86

—गंगा पार उत्तर में तमिल है, इधर दक्षिण में गोष्ठ सागर है। कैसे अंग को फैलाकर लेटूँ ?

दुष्ट ग्रामणी होश सँभालते ही तैयारी करने लगा। पिता ने पुत्र को जंजीर में बाँध देने की आज्ञा दी। उससे पहिले ही दुष्ट ग्रामणी उत्तर के पहाड़ों में जा छिपा। वहाँ रहते उसने अपने जैसों को जमा करना शुरू किया।

इसी बीच पिता के मरने की सूचना मिली। छोटे भाई को पूर्व ओर का प्रदेश (दीर्घवापी) बाप ने दिया था। वह तिष्य महाराम आकर वहाँ से राजहाथी और माँ को दीर्घवापी ले गया। दोनों भाइयों में युद्ध होने की नौबत आई, पर पिता ने सेनापतियों से शपथ ले ली थी कि वह किसी तरफ नहीं लड़ेंगे। पहिली वार (भाई) श्रद्धातिष्य जीता, पर दूसरी वार दुष्ट ग्रामणी ने जीतकर श्रद्धातिष्य को पकड़कर उसको अपना उत्तराधिकारी बना दिया।

तमिलों से लड़ाई करना आसान काम नहीं था। पहिले रसद की जरूरत थी। भाई को अधिक अन्न उपजाने में लगा दिया और स्वयं सैनिकों को तैयार करने लगा। फुस्सदेव आदि वीरों को अतिमानुष वलवाले कहा गया है, जो अतिशयोक्ति हो सकती है; पर वह ऐतिहासिक पुरुष थे, उनके खुदवाये अभिलेख मिले हैं।

उत्तरवाहिनी महावली गंगा के पास पहुँचकर देखा, तमिल वेखवर नहीं हैं, पीछे पोलन्नरुव (नाम से सिंहल की राजधानी) के पास झड़प हुई। सेना नदी पार हो गई। आगे विजितपुर—पोलन्नरुव के पास में युद्ध हुआ।

शत्रु ने नगर के दुर्ग का आश्रय लिया। नगर की प्राकार पक्की ईंटों की थी, दरवाजे मजबूत थे। हाथियों ने सिर टकराकर खोलना चाहा। उनके ऊपर ताँवा पिघलाकर डालते, पर अन्त में विजितपुर पर अधिकार हो गया।

आगे अनुराधपुर तक रास्ता साफ हो गया। राजधानी के बाहर तमिल सेनापति दीर्घजन्तु राजा के पास पहुँचना चाहता था। सिंहल सेनापति ने गाली दे ललकारा। दोनों की भिड़न्त हुई। सिंहल योद्धा के भाले को दीर्घजन्तु ने अपनी ढाल पर मारा। भाला छोड़ते ही दीर्घजन्तु गिर पड़ा, फिर उसका सिर काट लिया। एलार को हाथी पर आता देख दुष्ट ग्रामणी ने दूसरों को रोक उससे लड़ाई की। दोनों हाथियों पर थे। सिंहल राजा के हाथी ने अपने दाँतों से शत्रु के गज को गिराकर उसे फाड़ दिया। ग्रामणी ने उसी वक्त एलार को खतम कर दिया। एलार के मरते ही ग्रामणी ने कहा—मृत्यु के साथ हमारी शत्रुता समाप्त है। एलार के शव को बड़े सम्मान के साथ दाह-संस्कार करवाया। वहीं मिरिसवट्टि का स्तूप बनवाया, जो उस समय सबसे बड़ा स्तूप था। उसी समय नियम कर दिया कि एलार के स्तूप के पास बाजा बंद कर देना चाहिए। आज दो हजार वर्ष से अधिक हो गये, पर उस जगह कभी बाजा नहीं बजाया जाता।

एलार के दाह-संस्कार के सात दिन बाद चोल देश से भल्लुक बड़ी सेना लेकर पहुँचा, पर उसे फुस्सदेव ने मार दिया। सिंहल द्वीप तमिल शासन से मुक्त हो गया।

दुष्ट ग्रामणी ने अपने शासन में सिंहल को अति समृद्ध किया, बहुत-से विहार और स्तूप बनवाये, जिनमें रत्नमाल्य विश्व का सबसे वड़ा स्तूप कहा जाता है। (शायद यह दावा सही नहीं है। उज्जैन में वेश्या टेकरी के नाम से आज प्रसिद्ध स्तूप अनुराधपुर के स्तूप से वड़ा है, जिसकी बड़ी और प्रायः तीन इंच मोटी ईंटें बतलाती हैं, कि वह अशोक काल का है। अशोक कई साल तक उज्जैन के उपराज रहे।)

4

विजयवाहु (1058-1114 ई.)

(सिंहल का त्राणकर्ता)

जिस समय उत्तर भारत में महमूद गजनवी बनारस और सोमनाथ तक लूट-मार कर रहा था, उसी समय सिंहल चोलों (तमिलों) के प्रहार से जर्जर हो रहा था। महमूद ने इस्लाम के नाम पर यदि निर्दयतापूर्वक सजीव और निर्जीव मूर्तियों को ध्वस्त करने का बीड़ा उठाया था, तो चोलों ने नास्तिक बौद्धों के साथ भी उसी तरह का बर्ताव किया था। 1029 ई. के आसपास चोलों ने अनुराधपुर पर अधिकार कर अपनी ध्वजा फहराई और पहाड़ों के पार रोहण में सिंह सरदारों को शरण लेनी पड़ी। राजा महेन्द्र पंचम चोलों के हाथ मारा गया। उसके बाद फिर तीन राजा चोलों की लड़ाई में मारे गये। इस समय तक कन्नौज का प्रतिहार राजवंश भी समाप्त हो गया था। कन्नौज के राज्य में बनारस और सोमनाथ (गुजरात) तक लूटने में महमूद समर्थ हो गया था, और प्रतिहार उसे रोक नहीं सके। इसलिए वैसे राजवंश की आवश्यकता नहीं रह गई थी। त्रिलोचनपाल (1027 ई.) ने वचे-खुचे साम्राज्य पर 1027-1067 ई. तक राज्य किया था, फिर यशपाल (1037 ई.) का नाम मिलता है, जिसके बाद प्रतिहारों का चिराग गुल हो जाता है।

जगतीपाल यशपाल का सगा या चचेरा भाई अथवा वंश का राजकुमार था, जिसने उत्तर भारत में अच्छे दिनों की आशा नहीं देखी, और सिंहल द्वीप की अवस्था का पता लगाया। सम्भव है, सिंहल की कोई पद्मिनी (राजकुमारी) कन्नौज में आई हो, या प्रतिहार राजकुमारी सिंहल में गई हो।

जगतीपाल का अपने कितने ही अनुगामियों के साथ सिंहल के दक्षिण रोहण प्रदेश में पहुँचना

आसान नहीं था। स्थल से जाने पर चोल देश पहिले ही पड़ता, पर दूर तक समुद्र था। समुद्र के रास्ते बचते वह एक दिन रोहण पहुँच गया। परिचय के साधन थे विक्रमपांडु, जो चोलों के साथ संघर्ष कर रहा था। जगतीपाल के भी समर्थक मिल गये। जगतीपाल ने विक्रमपांडु को मारकर गद्दी सँभाली और चार वर्ष (1045-1049 ई.) तक स्वतन्त्र सिंहल का राजा जगतीपाल सालमेघवन रहा।

चोलों को मालूम होने में देर नहीं लगी कि आरिया (उत्तर का) कोई रोहण में पहुँच गया है। अब चोल उसके पीछे पड़े। एक घमासान युद्ध में हार की डर देखकर वीर सालमेघवन भाग चला, पर उसी समय उसकी माँ की नाक काटकर जगतीपाल को चोलों ने उत्तेजित कर दिया। वह लड़ते हुए मारा गया। सिंहल के राजमुकुट के साथ उसकी रानी और कन्या लीलावती चोलों के हाथ पड़कर समुद्र-पार चोल पहुँचा दी गई।

सिंहलों ने संघर्ष नहीं छोड़ा, चोल भी भयभीत करने के लिए सिंहल के गाँव उजाड़ते, विहारों-चैत्यों को तोड़ते रहे। जगतीपाल के बाद तीन और राजा रोहण में हुए, जिनके बाद कीर्ति हुआ, जिसने सिंहल और सिंहल जाति का त्राण किया।

सारा सिंहल चोलों के हाथ में था, उनके गुप्तचर सब जगह घूमते रहते थे—कौन विरोधी हैं। राजवंश के लोगों पर विशेष नजर थी। कीर्त्ति के पिता का परिवार बुडल (बुद्धराजा) नामक सामन्त की रक्षा में पहाड़ों पर रहता था। बचपन से ही कीर्त्ति को कन्दमूल खाने का अभ्यास था। कीर्त्ति में नेता बनने का गुण था और मौका पाने पर कीर्त्ति ने कतरगाम और दक्षिणी समुद्र-तट पर अधिकार कर लिया। अब वह राजा विक्रम सिंहबाहु था। कतरगाम शिव-पुत्र स्वामिकार्तिकेय का सबसे बड़ा तीर्थस्थान है, जहाँ भारत के तीर्थयात्री आज तक दर्शन करने की लालसा से जाते हैं। चोल सेना जब कतरगाम पर चढ़ी तो कीर्त्ति ने युद्ध छेड़ना बेवकूफी समझा, वह हट गया। चोलों ने कतरगाम को लूटा।

कीर्त्ति ने समुद्र-तट से लाभ उठाया और बर्मा, मलाया, सुवर्ण द्वीप (सुमात्रा) से व्यापार होने लगा। कुछ वर्षों के लिए भारत में प्रतिद्वंद्वियों के कारण चोल राजा का आक्रमण बन्द रहा। उस वक्त कीर्त्ति ने अन्न की पैदावार बढ़ाई। सिंहल में 65 इंच प्रतिवर्ष वर्षा होती है, और जगह-जगह फैले पर्वत कृत्रिम सरोवर बनाने में साधक हैं। लड़ाइयों में नहर तोड़ दी गई थीं। कीर्त्ति ने नहरों की मरम्मत कराई। पहाड़ की लड़ाई में वह बहुत दक्ष था। कीर्त्ति की सेना ने एक पहाड़ी में करारी हार खाई। कीर्त्ति (विक्रमबाहु) ने पहाड़ से निकल पोलन्नरुव पर आक्रमण किया, जिसे चोलों ने अपने उपराज की राजधानी बना रक्खी थी। सिंहलों ने पोलन्नरुव के महत्त्व को देखकर उसे द्वितीय राजधानी बनाई थी। पोलन्नरुव पर सफलता नहीं मिली और विजयबाहु को भागना पड़ा। चोल अभिलेख कहते हैं कि खजाने के साथ सिंहलरानी भी उनके हाथ आई थी, पर रानी की बात गलत है। विजयबाहु ने पहाड़ में महानग्गड्डुल (अब लन्तोटा) को अपनी राजधानी बनाया। वह चोलों से लड़ने की तैयारी कर रहा था, इसी समय पता लगा कि चोलों के पश्चिम पड़ोसी चालुक्य उन पर आक्रमण कर रहे हैं। वह ऐसे मौके को कैसे हाथ से जाने देता ? चोल से सिंहल में सेना नहीं भेजी जा सकती। विजयबाहु ने एक सेना पुरानी राजधानी अनुराधपुर पर भेजी, दूसरी पूर्वी समुद्र-तट के होते उत्तर-पश्चिम घूमकर पोलन्नरुव पर। चोल सेना समुद्र पर न उतरने पायें, इसके लिए एक वाहिनी महातीर्थ (मेन्ते) पर भी भेजी।

सिंहल में चोल वाहिनी बड़ी थी और 77 वर्ष के चोल शासन के कारण बहुत बड़ी संख्या में तमिल भी बस गये थे। डेढ़ मास के घेराव और युद्ध के बाद पोलन्नरुव पर 1070 ई. में अधिकार हो पाया, तीन वर्ष बाद (1073-74 ई. में) अनुराधपुर पर भी। 17 वर्ष के संघर्ष के बाद 33 वर्ष की उमर में विजयबाहु अपने लक्ष्य पर पहुँचा। पुरानी राजधानी ही नहीं बल्कि, सिंहल संस्कृत की निधियाँ वहाँ थीं, इसलिए वहाँ के भग्नावशेषों की मरम्मत कर कुछ समय राजधानी वहीं रही, फिर उसे पोलन्नरुव ले गया, क्योंकि वहाँ से मलय (पहाड़ी) प्रदेश और रोहण सभी नजदीक पड़ते थे।

उधर जगतीपाल की रानी और कन्या लीलावती इसी बीच चोल से निकल भागीं। सिंहल में उनका स्वागत हुआ और प्रतिहार राजकुमारी लीलावती को विजयबाहु ने पटरानी बनाया। दूसरी रानी कलिंग (उड़ीसा) की

राजकुमारी त्रैलोक्यसुन्दरी (त्रिलोकसुन्दरी) हुई, जो अपनी तीन वहनों के साथ आई थी।

विजयवाहु ने चालुक्यों, कलिंगों और चोलों के पड़ोसी पांड्यों के साथ अच्छा सम्वन्ध रक्खा। अपने बहिन मेत्ता को चोलराजा को न दे पांड्यराज को दिया। अगले ग्यारह वर्ष शान्ति के थे, जिनको विजयवाहु ने देश के पुनर्निर्माण में लगाया।

भिक्षु संघ में वहुत-से विकार आ गये थे, बर्मा से भिक्षु मँगवाकर सुधार किये। बहुत-से सरोवर वहाँ खेती के लिए वनवाये। विहार और स्तूप भी बनवाये। वह भिक्षु संघ का सम्मान कितना करता था, यह इसी से मालूम होगा कि मामूली अवहेलना दिखलाने पर अपनी रानी के गाँव की आमदनी वन्द कर दी। 55 वर्ष शासन करने के वाद 73 वर्ष की आयु में विजयवाहु मरा। उसने सारी लंका को स्वतन्त्र और अखंड ही नहीं किया, बल्कि कहते हैं, यदि वह न होता तो सिंहल जाति आज सिंहल में न होती। तमिल उसे हड़पने में समर्थ हो गए होते।

5

महापराक्रमवाहु

सिंहल का सवसे शक्तिशाली और प्रतापी राजा उस समय हुआ, जिसके कुछ ही वर्षों बाद भारत की स्वतन्त्रता का सितारा आठ शताब्दियों के लिए डूब गया। उसके बचपन में सारा सिंहल कितने ही छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था, जो आपस में लड़ा करते थे। चोलों (पांड्यों) की शक्ति भी छिन्न-भिन्न हो गयी थी, नहीं तो वह भी आ धमकने की कोशिश करते। सिंहल उस समय रजरठ (अनुराधपुर), दक्षिण देश (वर्तमान कोलम्वो वाला प्रदेश) और रोहण तीन भागों में बँटा हुआ था। दक्षिण देश के राजा श्रीवल्लभ के दो बच्चे थे–मानाभरण और लीलावती। मानाभरण की दो लड़कियाँ मिता और प्रभावती तथा एक लड़का पराक्रम था। पराक्रमवाहु के बारे में जो भविष्यवाणियाँ ज्योतिषियों ने भाखीं, उन्हें रजरठ के राजा ने सुना। उसने पराक्रम को पोलन्नरुव में माँगा, क्योंकि उसके अपने दोनों लड़कों गजवाहु और महेन्द्र से विशेष आशा नहीं थी। मानाभरण की विधवा और पराक्रम को पालने का भार कीर्त्ति श्रीमेध ने अपने ऊपर ले लिया।

पराक्रम की शिक्षा-दीक्षा पर बचपन से ही ध्यान दिया गया था, इसलिए वह शस्त्रों का ही नहीं, शास्त्रों का भी ज्ञान रखता था। पराक्रम को बहुत अनुशासन में रखा गया था। एक दिन पराक्रम भाग गया। सीमान्त के चौकी के सैनप ने राजकुमार का स्वागत किया, पर उसे उसके साथियों से अलग करके अपने साथ रखा और राजा को सूचना देकर आज्ञा माँगी। पराक्रम समझ गया। उसने सेनापति को मरवा दिया। कीर्त्तिश्रीमेध के आदमियों ने पकड़ने के लिए पीछा किया, पर पराक्रम अपने अनुचरों के साथ पहाड़ में घुस गया। कीर्त्तिश्रीमेध को कोई लड़का नहीं था, इसलिए वह पराक्रम को ही उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। रजरठ के गजवाहु के साथ झगड़ा न हो जाय, इसलिए नहीं चाहता था कि पराक्रम वहाँ कुछ कर बैठे। पराक्रम पोलन्नरुव पहुँचा। गजवाहु ने स्वागत किया। उसके कोष, सैन्य आदि का पराक्रम निरीक्षण करता रहा। इसी बीच अपनी माँ और वहिन भद्रावती को बुलाकर उसके साथ गजवाहु का ब्याह कर दिया। सब पता लगाकर एक दिन बहनोई के सूचना दिये विना वह गायव हो गया। कीर्त्तिश्रीमेध ने बुलाने के लिए आदमी भेजे, माँ भी पहुँची और लाकर पराक्रम को चाचा को सौंप दिया।

थोड़े दिनों में कीर्त्तिश्रीमेध मर गया और पराक्रम दक्षिण देश का राजा हुआ। कई लड़ाइयाँ हुईं, मुक्ताकर (पर्ल बैंक) में भी एक लड़ाई हुई थी। पराक्रम के सेनापति देव ने नदी पार करने के लिए पुल बनाया, जिससे हाथी, छकड़े पार हो सकते थे और वह गजवाहु की सेना को हराते अनुराधपुर पहुँचा। वहाँ मुकाबला कड़ा देखकर कुछ सेना पोलन्नरुव (मुख्य राजधानी) की ओर भेजी।

रोहण के राजा मानाभरण ने पराक्रम की सफलताओं को देखकर गजवाहु के साथ की गयी अपनी सन्धि को छोड़ दिया और पराक्रम के साथ हो गया। राजधानी की रक्षा के लिए गजवाहु ने अपनी सारी सेना एकत्र कर ली–हाथी, रथ जमा किये, पर लड़ाई में पराक्रम की सेना को रोक न सका। अन्त में गजवाहु ने पोलन्नरुव के भीतर घुसकर दरवाजे बन्द कर लिये। पराक्रम नहीं चाहता था कि गजवाहु राजश्रीहीन हो जाय। उसने गजवाहु के लिए परिधान-आभूषण भेजे और अपने अफसरों को आज्ञा दी कि गजवाहु को सारा सम्मान प्रदर्शित किया जाय, लेकिन विजयिनी सेना कहाँ मानने वाली थी ? लूट और मारकाट चलने लगा। पराक्रम के सैनिकों ने सलाह करके सन्देश भेजा–जव तक गजवाहु जिन्दा है, राज्य में लोग उसे अपना राजा मानेंगे। इसलिए उसे मार डालना चाहिए। उन्होंने लूट-मार जारी रखी। इस पर लोगों ने मानाभरण को राज्य देने का वचन देकर बुलाया। उधर पराक्रम ने अपने सेनापति देव को पोलन्नरुव में सेना को ठीक करने भेजा। मानाभरण और देव में संघर्ष हो गया, जिसमें हार के साथ देव सेनापति मानाभरण का वन्दी वन गया।

इस सफलता के बाद कुछ दिन मानाभरण ने अच्छा वर्ताव किया, फिर गजवाहु के प्रभावशाली अफसरों को मरवा डाला। गजवाहु को भी कैद से चहवच्चे में डाल दिया। गजवाहु ने अपने साले की बड़ी विनती करके वचाने के लिए लिखा। पराक्रम से तुरन्त गजवाहु को छुड़ाने के लिए पोलन्नरुव पर आक्रमण किया। सेनापति देव को सेंध मारनेवाले सैनिकों ने जेल से मुक्त किया। पराक्रम ने मानाभरण को हराया। हारती सेना को छोड़ मानाभरण छत्रधातु और पात्रधातु (बुद्ध की दोनों पवित्र चीजों), जिन्हें सिंहलपति अपनी स्वतंत्रता का चिन्ह मानते थे, लेकर रोहण भाग गया। गजवाहु को पराक्रम की सेना ने मुक्त कर दिया, पर वह राजा के आने तक प्रतीक्षा न कर पूर्व समुद्र के किनारे के इलाके कोट्टमार में चला। इधर गजवाहु की सेना ने कुछ विरोध किया, जिस पर पराक्रम की सेना गजवाहु के पीछे पड़ी। गजवाहु को पता लगा गया कि अव विरोध करना बेकार है। उसके कहने पर भिक्षु संघ ने वीच में पड़कर दोनों में मित्रता करा दी। संघ ने समझाया, गजवाहु बूढ़ा मौत के पास है, अब युद्ध की जरूरत नहीं। पराक्रमवाहु दक्षिण देश लौट गया। गजवाहु ने वहीं कान्तले में अपने जीवन के अन्तिम दिन सुख से गुजारे।

मानाभरण (रोहण) ने संघर्ष जारी रखा। उसने गजवाहु को फोड़ने की बहुत कोशिश की। गजवाहु ने मानाभरण के परामर्श से बचने के लिए कान्तले छोड़ मण्डलीगिरि विहार में अपना निवास बदल दिया। 'मैंने राजरठ को पराक्रम को दे दिया' यह पास की चट्टान पर खुदवा दिया, वह फिर कातन्ले लौटा और थोड़े ही समय बाद मर गया। संगमविहार के अभिलेख में लिखा है–'हम दोनों साले-बहनोई गजवा और पराक्रमवाहु, जो महासम्मत (मनु) वंश से अविच्छिन्न सम्बन्ध रखते हैं और जिनके लिए सत्य एक निधि है, हमने सन्धि की है, हम अपने मरने के समय तक आपस में लड़ाई नहीं करेंगे। हममें जो पहले मरेगा, वह अपना अधिकार दूसरे को देगा–यदि कोई राजा एक का दुश्मन है, तो वह दोनों का दुश्मन है।'

गजवाहु के मरने पर सन्धि के विरुद्ध उसके मंत्री शव को कोट्टसार ले गये और मानाभरण के पास सन्देश भेजा–'राजरठ के शासन के लिए जल्दी आओ।' वह सेना ले कोट्टसार आया। पराक्रमवाहु ने समाचार सुन दक्षिण देश से आ पोलन्नरुव पर अधिकार कर लिया। फिर मानाभरण की सेना को न आने देने के लिए महावली गंगा के किनारे अपनी सेना रख दी। तव उसने पोलन्नरुव में अभिषेक महोत्सव कराया। मानाभरण ने महावली पर कई जगह सेना पार करानी चाही, पर उसमें सफलता नहीं हुई, पर राजरठ वालों ने एक गुप्त घाट का पता दे दिया। मानाभरण महावली पार हुआ और पराक्रम की एक सेना को बुरी तरह हराया। पराक्रम को पोलन्नरुव से और भी पीछे हटते पराक्रमपुर दक्षिण देश तक जाना पड़ा। मानाभरण ने पोलन्नरुव को ले लिया पर पराक्रम कहाँ चुप रहनेवाला था ? पोलन्नरव के लिए वड़ी लड़ाइयाँ लड़ी गयीं। निराश हो मानाभरण सब छोड़ भागा। उसके हाथी, खजाने, सारी चीजें पराक्रम को मिलीं। राजकुमार श्रीवल्लभ भी वन्दी हुआ। पराक्रम विजयोत्सव के साथ पोलन्नरुव में प्रविष्ट हुआ। थोड़े दिनों बाद मानाभरण मर गया। मरते वक्त उसने अपनों से कहा कि पराक्रम की अधीनता स्वीकार करो।

गजवाहु और मानाभरण से लड़कर पराक्रमवाहु अन्त में सिंहल द्वीप को एक छत्र के नीचे लाने में सफल

हुआ।

1154 ई. में पोलन्नरुव में पराक्रम का दूसरा अभिषेक हुआ, जब वह सारी लंका का अधिपति बना।

पराक्रमवाहु पिता की ओर से पांड्य (मदुरा) के थे। उनके दादा का ब्याह विजयवाहु की बहन से हुआ था, लेकिन माँ की ओर से उनकी माता और दादी ओकावंश (इक्ष्वाकु वंशी) अर्थात सूर्यवंशी थीं। गजवाहु माँ-बाप दोनों ओर से ओकावंशी थे। मानाभरण और पराक्रम के पूर्वज अरिया (राजदूत) थे। उनकी परदादी जगतीपाल की लड़की लीलावती गुर्जर प्रतिहार राजकुमारी थी। हम जानते हैं कि गुर्जर प्रतिहार अपने को लक्ष्मण की सन्तान मानते थे, इसलिए वंश का नाम प्रतिहार पड़ा। पहिले उनकी राजधानी गुजरात में थी, इसलिए गुर्जर प्रतिहार कहे गये। राम से वढ़कर कौन अपने को सूर्यवंशी (इक्ष्वाकुवंशी) कह सकता है, लेकिन सिंहल द्वीप और पास के द्रविड़ आदि देशों के राजवंश राजपूतों को बड़ा नहीं मानते थे। हो सकता है, इसका कारण राजपूतों में से कितनों का शक सम्बन्ध हो। सिंहल द्वीप में अरिय को ऊँचा नहीं मानते थे। उनसे बढ़कर पांड्यों को मानते थे, जो अपने को पांडव तथा चन्द्रवंशी कहते थे।

भिक्षु संघ में सुधार करने का काम भी पराक्रम ने किया। यद्यपि सिंहल में महायान या वज्रयान कभी नहीं पनपने पाया, पर वह तीन निकायों में विभक्त था–1–महाविहार, 2–अभयगिरिक, 3–जेतवनीय। तीनों पालि पिटक को मानते थे, पर उन पर कुछ प्रभाव बाहरी वातों का पड़ा था, इसमें सन्देह नहीं। महाविहार ने बुद्धवचन को अधिक शुद्ध रूप में रखा था। अभयगिरिक और जेतवनीयों के वादों को भी सुनकर संघ में एकता स्थापित करने की इच्छा हुई। पराक्रमवाहु और उनके समय के सवसे बड़े संस्कृत, पालि के पण्डित संघराज सारिपुत्र के प्रयत्न से यह काम हो सका। सारिपुत्र द्वीपीय नहीं, भारतीय ढंग के उस समय के महापण्डित थे। चन्द्रव्याकरण की पंजिका लिखी थी। धर्मकीर्ति के प्रमाणशास्त्रों का भी अवगाहन कर चुके थे। उनके संस्कृत ग्रन्थ नहीं मिलने पर अट्ठकथा की कुछ टीकाएँ मिलती हैं। उन्होंने पराक्रम की सहायताओं की प्रशंसा की है–"पराक्रमवाहु नरेन्द्र द्वारा प्रार्थित हो सद्धर्म की चिर स्थिति की इच्छा से और शासन के प्रकाशन के लिए उसी पराक्रमवाहु द्वारा बनवाये सौ प्रासादों से मण्डित विहार में रहते यह अंगुत्तरनिकाय अट्ठकथा की टीका मैंने लिखी।

वह सिंहलेन्द्र पराक्रम है मतिमान, यशस्वी, उदारप्रज्ञ कलाओं में निपुण, सूर्य पुत्रवंश में जन्मे महावल, अद्भुत वृत्ति तेजवाले। अनन्यसाधारण विक्रम से अति दुष्प्रसह्य शत्रुवर्ग को जीतकर अभिषेक पा, बुद्धधर्म संघ के और रत्नत्रय पर प्रसन्न है।

फिर से बँटे बुद्धधर्म के प्रतिद्वन्द्वियों को अच्छी तरह प्रकट कर प्रशस्त एकतारस रूपी सुधा को परिशुद्धशील भिक्षुओं को पिलाया।"

तीनों निकायों को मिलाकर एक करना सिंहल के भिक्षु-संघ के लिए बड़ा काम था। इसके लिए जो परिषद बुलाई गई, उसके अधिपति सारिपुत्र संघराज के गुरु काश्यप थे, जो वेदत्यागी तथा अरण्यवासी थे। अपने गुरु के बारे में स्वयं संघराज ने लिखा है–'काश्यप महास्थविर को (नमस्कार करता हूँ) 'जो' संघ के नाम तथा ताम्रपर्णी (लंका) में शासनोदयकारक हैं।'

यह पहिले कह चुका हूँ कि पराक्रम केवल विजयी योद्धा ही नहीं थे, बल्कि बचपन में शास्त्रों की भी शिक्षा उन्होंने पायी थी। ऐसे पुरुष की सहायता जहाँ प्राप्त हो और सारिपुत्र तथा काश्यप जैसे पण्डित दत्तचित्त हों तो विद्या की क्यों न तरक्की हो। कई पीढ़ियों तक सारिपुत्र के विद्वान् शिष्यों-प्रशिष्यों की परम्परा चलती रही, और उस समय संस्कृत के ज्ञान और मान में सिंहल भारत जैसा ही रहा था।

6
टिकरी बंडार
(पोर्तुगीज दलनकर्ता)

पोर्तुगीज शासन (1151 ई.-1658 ई.), 141 वर्षों का क्रूरता से भरा हुआ था। कैथलिक बनाने के लिए पोर्तुगीजों ने कोई कसर उठा न रक्खी। भारत में यह अकबर का समय था, जहाँ कैथलिक पादरी मीठी-मीठी बातों से अपने धर्म का प्रचार करना चाहते थें, लेकिन सिंहल में उनकी नीति थी, जैसे भी हो काफिरों को ईसाई बनाओ।

भारत की चीजें अरवों द्वारा यूरोप पहुँचती थीं, जिनके व्यापार का ख्याल पोर्तुगीजों को हुआ। उस वक्त स्वेज नहर नहीं थी, इसलिए सारे अफ्रीका को घूमकर वास्को-दा-गामा कालीकट 1400 ई. में पहुँचा। सिंहल की दारचीनी भी मसालों में बहुत प्रसिद्ध थी। पोर्तुगीज वहाँ पहुँचे।

उस समय कोलम्बो के पास कोट्टे सिंहल की राजधानी थी। सिंहल के सामन्त लड़ते रहते थे। राजा को अपने भाई-बन्दों से डर था। पोर्तुगीजों की तोपें रक्षा करने में समर्थ थीं। उन्होंने विश्वास दिलाया, हमें रहने को जगह दे दें, हम आपकी भीतरी-बाहरी शत्रुओं से रक्षा करेंगे। राजा ने संधिपत्र लिख दिया, जिसके अनुसार उन्होंने कोलम्बो का किला एक चट्टान पर बनाया। लूथर ने कैथलिकों का विरोध करके प्रोटेस्टेण्ट चर्च कायम किया था, जिससे यूरोप के कुछ देश पोप के हाथ से निकल गये। पोप भी चाहता था, नया 'राज्य' बढ़ाया जाय।

सिंहल में ईसाइयों का प्रचार कैसे हुआ, इसके लिए डाक्टर मल्ल-शेखर के शब्द सुनिये–(History of Pali Literature in Ceylon–1259-62)' : "पोर्तुगीजों के आगे बढ़ने का प्रत्येक कदम लूट, धर्मांधता, क्रूरता किसी भी यूरोपीय उपनिवेशिक शक्ति के इतिहास में अतुलनीय अमानुषिकता से लांछित था। उनकी क्रूरता, अत्याचार के प्रति उपेक्षा, उनकी सैनिक सफलता के साथ बढ़ी। उनकी अमानुषिक बर्वरता ने स्त्री, पुरुष का भेद नहीं रक्खा। अपनी प्रजा को भयभीत करने तथा पोर्तुगीज बल के प्रभुत्व को समझाने के लिए उन्होंने ऐसे अत्याचार किये, जो कि उनके अपने इतिहासकारों द्वारा यदि दशाब्दी के भीतर अभिलिखित न होता, तो सच न माना जाता। बच्चे सैनिकों के भालों पर टँगे हुए थे, जिसमें उनके माँ-बाप शिशु मुर्गे की आवाज सुनें। कभी-कभी दो पत्थरों के बीच उन्हें पीस दिया जाता, उनकी माताओं को यह देखने के लिए मजबूर किया जाता। पास की बहती (केलनी) नदी में सैनिकों के मनोरंजन के लिए आदमियों को मगरों के खाने के वास्ते फेंक दिया जाता था। मगरों की आदत हो गई थी कि जरा-सी आवाज सुनते ही अपने मुँह को पानी के ऊपर कर देते। अपने असली राजा के जो खैरख्वाह थे, उनका सर्वस्व हरण कर लिया जाता, जो पोर्तुगीजों का पक्ष करते उनका स्वागत होता। उन्हें धन, पदवी और भूमि दी जाती। गाँव के किसान इतने सताये जाते कि वह अनेक बार अपनी जीवन-सामग्री के लिए अपने वच्चों को बेच डालते। पोर्तुगीज अफसर डाकू से कम नहीं थे, अधिकतर भूमि बिना जुती रह गई। सबसे बुरा यह था कि पोर्तुगीजों ने सिंहल के राष्ट्रीय धर्म को नष्ट करने का निश्चय कर लिया था! दोन जोआ उस समय पोर्तुगाल का राजा था। वह कैथलिक चर्च का जबर्दस्त समर्थक था। अपनी काफिर प्रजा के धर्म-परिवर्तन के लिए धर्मांधतापूर्ण आग्रह रखता था। भुवनैकवाहु ने अपने पुत्र धर्मपाल की मूर्ति बनाकर पोर्तुगाल के राजा के पास स्वीकार करने के लिए भेजी। उसे इस शर्त के साथ स्वीकार किया कि सिंहल राजा के राज्य में बाइबल के प्रचार के लिए छूट होगी। धर्म-प्रचार पर पोर्तुगीजों का सबसे अधिक ध्यान था। हिदायत थी, उपदेश शुरू करो, पर यदि उससे सफलता न मिले तो तलवार पर फैसला है।" पोर्तुगाल के राजा ने 1546 ई. में गोआ के वाइसराय को चिट्ठी भेजी–तुम पर भार देता हूँ, कि अफसरों द्वारा सभी मूर्तियों का पता लगाओ और उन्हें टुकड़े-टुकड़े कर डालो। जहाँ भी मिलें, उनको बिलकुल नष्ट कर डालो। मूर्तिपूजकों के खिलाफ कड़ी सजा घोषित करो, जो मूर्तियों के गढ़ने, ढालने, चित्रण करने

या धातु, पीतल, लकड़ी, मिट्टी या दूसरी चीजों की मूर्तियाँ बनायें या विदेश से लावें, उनके खिलाफ भी कड़ी कार्रवाई करें। किसी काफिर-उत्सव को खुले या गुप्त रीति से होने को रोकना अक्षरशः पालन किया गया।

काफिरों के धर्मपरिवर्तन को विरोध करनेवाला–पोर्तुगाल के राजा के कृपापात्र बनने के लिये राजा धर्मपाल और उसकी रानी ईसाई हो गये। पोर्तुगाल राजा के नाम की छाप दोनजुआन धर्मपाल में और रानी के नाम पर दोना कथेरिना में पड़ी।

ईसाई वनने पर कृपापात्र और न बनने पर क्रोधभाजन होने के डर से हजारों लोग ईसाई हुए। कितने ही धर्म में परिवर्तन न करते अपने नाम ईसाई–द सूजा परेजा, फरनान्डू रख लेते। उस वक्त लंका में बौद्ध भी गो-मांस को वैसा ही अभक्ष्य मानते थे, जैसे भारत के हिन्दू। पोर्तुगीजों ने जब परीक्षा लेनी चाही, तो भिक्षुओं ने समझा दिया–बुद्ध के समय गो-मांस खाने से किसी का धर्म नहीं जाता था। इस तरह वह परीक्षा भी विफल हो गई।

कैथलिक पादरियों ने कितने ही विहारों और मन्दिरों को भूमिसात कर दिया और उनके बहुमूल्य धन को लूट लिया, पुस्तकालयों में आग लगा दी। पापियों के बच्चों को हवा में उड़ा दिया। जो मूर्तियों की पूजा करता या भिक्षुओं का पीला कपड़ा पहिनता, उसे मौत के घाट उतारा जाता। नालंदा और विक्रमशिला की परम्परा पर चलनेवाले तोटगमुवा जैसे विहारों को नष्ट कर दिया, "शताब्दियों का काम कुछ वर्षों में नष्ट कर दिया।"

भुवनेकवाहु सप्तम का छोटा भाई मायादुन्मे था। भुवनेकवाहु ने दत्तकपुत्र को राज देने के लिए पोर्तुगाल के राजा के पास उसकी मूर्ति गद्दी पर वैठाने के लिए भेजी थी। इसे मायादुन्मे ने अपने अधिकार पर कुठाराघात समझा। उसे सीतावक्का का छोटा राज्य मिला था। मायादुन्मे के 40 वर्ष पोर्तुगीजों के साथ लड़ने में बीते। पोर्तुगीजों के अत्याचारों के कारण प्रजा की सहानुभूति उसके साथ थी। कोट्टे राजधानी में रसद बंद करने पर हाथी, घोड़े, साँप, और मरे मनुष्य के मांस को भी खाना पड़ा। अंत में रक्षा के ख्याल से दोनजुआन धर्मपाल कोट्टे छोड़ कोलम्बो के किले से चला गया।

मायादुन्मे का एक नर्तकी से पैदा हुआ एक लड़का टिकरी बंडार था, जिसका इतिहास में नाम राजसिंह भी आता है। वह पोर्तुगीजों के साथ लड़ने में बाप के साथ रहा था। मायादुन्मे की इच्छा थी कि वह उसका स्थान ले। टिकरी वंडार ने पोर्तुगीजों से नाकों चने चबवाये। कोई आश्चर्य नहीं उसके नाम से पोर्तुगीज वैसे ही डरते थे, जैसे हरिसिंह नलवे के नाम से सीमांत के पठान। पोर्तुगीजों ने स्वयं राजसिंह के बारे में लिखा–एक शक्तिशाली जनरल, सैनिक प्रतिभा का धनी हनीबाल, सिकन्दर, और कैसर जैसा। 1587 ई. में बाप के मरने पर राजसिंह ने कोलम्बो पर चढ़ाई की।

1588 ई. में राजसिंह ने उडरट (पहाड़ी प्रदेश) ले लिया। 1587 ई. में कोलम्बो पर जबर्दस्त मुहासिरा किया। कोलम्बो के पार एक बड़ी झील थी। राजसिंह की सेना ने कैनली नदी पार कर उस झील को सुखा दिया, जिससे कोलम्बो नजदीक आ गया। किले की रसद कम होती जा रही थी, बाहर से वह आ नहीं सकती थी। साथ ही बीमारी फैल गई। कुएँ का पानी कीटाणुओं से भर गया। पोर्तुगीजों ने टिकरी बंडार का ध्यान खींचने के लिए समुद्र तट के गाँव को जलाते, लूटते, लोगों को मारते दक्षिण में मातरे की ओर बैठना शुरू किया। दो डंदुव भारत से चीन तल के प्रसिद्धि रखता था। उसकी छत सोने की थी, और इमारत वास्तुकला का सुन्दर नमूना थी। पोर्तुगीजों ने मन्दिर को लूटकर उसे गाय के खून से अपवित्र किया। फिर उस कला की सुन्दर कृति को ध्वस्त कर दिया।

भूख, महामारी और विषैले पानी के कारण कोलम्बो में पोर्तुगीज बहुत दिनों तक नहीं टिक सकते थे। आत्मसमर्पण करना मुश्किल था, क्योंकि पोर्तुगीजों के जुल्मों को सिंहली लोग जानते थे, पर तोपों से सुरक्षित पोर्तुगीजों के पोतों से अकबर भी भय मानता था। इसलिए गोआ का रास्ता खुला था। वहाँ से रसद का सामान और नई सेना ले पोर्तुगीज 1555 में आ गये। कोलम्वो बच गया, यह एक वर्ष दस मास का मुहासिरा था।

कतरगाम स्वामिकार्तिकेय का महातीर्थ दक्षिणी सिंहल में है। हर एक रामेश्वर पहुँचनेवाले साधु को उसका

नाम बतलाया जाता है। साधु पर्यटन के लिए पुराने युग में भी रूस तक का चक्कर मारते थे, ऐसे ही कोई साधु सिंहल आया। उसने पोर्तुगीजों के अत्याचारों के बारे में सुना। वह राजसिंह का दाहिना हाथ हो गया। जयवीर उसका नाम भारत से ही था, यहाँ रखा गया। 1583 ई. में टिकरी वंडार मर गया। जयवीर ने बंडार के काम को खतम नहीं होने दिया। राज-वंश की कैथलिक शिक्षा-दीक्षा में पली राजकुमारी से ब्याह करके पोर्तुगीज कांडी में राजसिंह की गद्दी सँभालना चाहते थे। वह लड़की लेकर बातचीत करने पहाड़ की ओर आये। बलान के रास्ते दत्तुर में 1584 ई. में बंजारों की सेना के साथ आये। बात चली, सिंहलों ने ब्याह करने से इन्कार कर दिया। पोर्तुगीज सेनापति को संदेह हुआ कि जयवीर ऐंसा कर रहा है। उसे बुलाकर मार दिया। फिर क्या ? जयवीर की 9,000 सेना और सारा इलाका पोर्तुगीजों पर चढ़ दौड़ा। बन्दूकों, तोपों के रहते भी सिर्फ 220 आदमी प्राण बचाकर भाग सके, जिसमें दसूसा भी था, जिसके बदन में आठ घाव थे।

राजसिंह सिंहल की स्वतन्त्रता के लिए लड़ा था। इसलिए वह उनका वीर था। पोर्तुगीजों के साथ जीवन-भर लड़ता रहा, इसलिये भी वह उनका पूज्य होने लायक था, पर उस पर आक्षेप लगाया गया था कि उसने अपने बाप मायादुन्मे को मार दिया, जो अस्सी बरस के ऊपर का था, तथा जो राजसिंह को अपना उत्तराधिकारी मानता था। पिता के मरने के पाप का कोई प्रायश्चित्त नहीं था। यह भिक्षुओं के मुँह से सुनकर वह भिक्षुओं और बौद्ध धर्म का दुश्मन हो गया। उसने शैव धर्म को स्वीकार किया। एडम्स पीक पर स्थित बुद्ध के श्रीपाद चिन्ह की पूजा शैव संन्यासियों को दे दी। भिक्षु सदा सिंहल में पूज्य माने जाते थे। उनको जरा-सा संदेह पर मरवा देता। पोर्तुगीजों द्वारा किताबों की होली से बची पुस्तकों को जलवा दिया। इस प्रकार वह धर्म का शत्रु बन गया।

कहते हैं, जंगल में इसके पैर में बाँस की खपीच धँस गई, उस घाव में जहर लगा दिया गया, इस प्रकार राजसिंह मर गया। पोर्तुगीजों को कितनी खुशी हुई होगी।

7
श्री भण्डारनायक

(1)

भण्डारनायक या वण्डारनायक का संक्षिप्त वण्डार राजकुमारों या राजवंशियों को कहा जाता था। सरदल (राजलोरित) भी राजवंशियों का नाम था। भण्डारनायक का खानदान रदल था, जिसका दूर किसी राजा से सम्बन्ध हो सकता था, पर यह वंश डच-काल (1658-1798 ई.) में प्रोटेंस्टेण्ट ईसाई हो गया। भंडारनायक के पिता सर सालोमन जन्म-भर ईसाई रहे। डच-काल में सरकार की कृपा से मिलनेवाले ऐश्वर्य, पदवियाँ, बड़ी नौकरियाँ ईसाइयों को ही मिलती थीं। अंग्रेजों ने भी बहुत दिनों तक इसको कायम रखा था। सर सालोमन भण्डारनायक लंका के सबसे बड़े भूमिपति और बड़े धनी पुरुष थे। उनका घर बिलकुल यूरोपीय ढंग से सजा रहता था। उनका होरगल्ला का वलौवा (महल) छोटे-मोटे राजा के दरबार-सा था, जहाँ बेल्जियम के राजकुमार आदि जैसे मेहमान उतारे जाते थे। 1865 ई. में सर सालोमन को महामुदली की उपाधि अंग्रेजों ने दी, तो कोलम्बो से होरगल्ला तक 20 मील की सड़क पर बहुत-से तोरण-द्वार सजाए गये थे। सर सालोमन का घर विलासितामय था, जहाँ तक ऊँचे दर्जे के साहबी ढंग से रहने का सवाल था। कोलम्बो के सिलवरस्थिम (अब भण्डारनायक) सड़क पर उनका महल उड़गहवला डचों के समय का चिन्ह था, जिसमें भी वह आकर रहते थे, पर रबर और नारियल के पेड़ों से घिरा होरगल्ला अधिक प्रिय था।

सर सालोमन का रदल वंशिक सर क्रिस्टोफर औवेसेकर की लड़की डैसी एस्लिन आलसेंट चर्च में विवाह

हुआ। सिंहल के गवर्नर सर वायस रिज्वे गवाह हुए थे। 8 जनवरी 1899 को सर सालोमन का एकमात्र पुत्र पैदा हुआ, जिसका नाम एस. डब्लू. आर. डी. वण्डारनायक रखा गया। इसमें डब्लू. आर. तत्कालीन गवर्नर वाइस रिज्वे के नाम पर है। सर सालोमन राजभक्त थे, गवर्नर-भक्त थे, साथ ही रिज्वे से तो मित्रता थी ही, इसलिए नामकरण में क्यों न ध्यान रखते।

शिशु भण्डारनायक अपने ऐश्वर्यशाली पिता के ज्येष्ठ और एकमात्र पुत्र थे, इसलिए उनका लालन-पालन राजकुमारों की तरह हुआ, पर अधिक दुलार होने से वह विगड़े नहीं–कुछ उनका अपना स्वभाव और कुछ पिता का अनुशासन भी इसका कारण था। पिता ने अपनी पुस्तक 'कल की स्मृति' में शिशु भण्डारनायक की एकाध वातें लिखी हैं। वेल्जियम का युवराज होरगोल्ल आया, तो उसने बेटे से मिलना चाहा। बालक भण्डारनायक ने विना संकोच के वुलाये विना ही जाकर हाथ मिलाया।

11 वर्ष की आयु में पिता के साथ वालक भण्डारनायक पहिले-पहिले विलायत गया। अंग्रेजी रहन-सहन और अंग्रेजी अफसरों के साथ मेल-जोल होने से उसके लिए विलायत बहुत नया देश नहीं मालूम हुआ।

उसी समय उसके पढ़ाने के लिए एक अंग्रेज अध्यापक रख दिया गया, जिसने चार साल लंका में रहकर बच्चे को पढ़ाया। घुड़सवारी और नौका चलाने का वच्चे को बहुत शौक था, पर पढ़ने में भी वह बहुत चुस्त था।

सेण्ट थामस स्कूल कोलम्वो में सिंहल के वड़े लोगों को तैयार करने के लिए बहुत प्रसिद्ध था। उसी में भण्डारनायक को दाखिल किया गया, जहाँ से 1910 ईसवी में उसने जूनियर कैम्ब्रिज की परीक्षा पास की। लातिन भापा में उसे विशेष योग्यता मिली थी। स्टोन वूडेन अंग्रेजी की असाधारण योग्यता रखता था–भण्डारनायक उसकी देख-रेख में पढ़ता रहा। वह सीनियर कैम्ब्रिज 1913 ई. में प्रथम श्रेणी में पास हुआ। लातिन और अंग्रेजी में उसका विशेष स्थान था।

एक बार पिता उसे गवर्नर लार्ड चार्म्स के पास ले गये। उसने पूछा–क्या करोगे ? लड़के का जवाब था–देशसेवक वनना चाहता हूँ। अन्त में देशसेवा में ही उसने गाँधी की तरह सीने पर गोलियाँ खाईं। चार्म्स की आशा होगी कि वह सर सालोमन की तरह राज-भक्त वनेगा और पिता की तरह शोभावर्द्धक उपाधियाँ उसे भी मिलेंगी।

1914 ई. में प्रथम विश्व-युद्ध शुरू हो गया। समुद्र में जर्मन पनडुब्बियों का खतरा था। पिता अपने इकलौते पुत्र को कैसे जाने देते। वह घर पर ही रह अपने मन की पुस्तकें पढ़ता रहा।

1919 ई. में लड़ाई खत्म हो गई। धनी और उन्नति की आशा रखनेवाले सिंहली पिता अपने लड़कों को विलायत पढ़ने भेजते थे। वैसे उस समय सिंहल के स्कूल-कॉलेज लन्दन यूनिवर्सिटी से सम्वन्धित थे, इसलिए यही विलायती डिग्री मिल सकती थी।

1919 ई. में वह ऑक्सफोर्ड क्राइस्ट चर्च के कॉलेज में जाकर दाखिल हुए। 6 वर्ष का समय भण्डारनायक ने खोया नहीं था। अव बीस वर्ष की उम्र में वह सब तरह से वयस्क थे। अर्थशास्त्र और राजनीति उनके प्रिय विषय थे–अंग्रेजी पर असाधारण अधिकार था। ऑक्सफोर्ड के छात्रसंघ में वह विशेष दिलचस्पी रखते थे।

पीछे इंग्लैंड के प्रधानमन्त्री एन्थनी ईडन और रेमजे मेकडानल्ड के पुत्र माल्कम मेकडानल्ड भी उसी समय ऑक्सफोर्ड में पढ़ते थे। तरुण भण्डारनायक की वक्तृता सुनकर अंग्रेज लड़के भी आश्चर्य करते थे।

छात्र-संघ के मन्त्रीपद के लिए भण्डारनायक और माल्कम मेकडा नल्ड खड़े हुए थे, जिसमें भण्डारनायक जीते। एन्थनी ईडन ने एक बार कहा था–वह जा रहा है सीलोन का प्राइममिनिस्टर। ऑक्सफोर्ड में इण्डियन मजलिस भी भारतीय छात्रों ने स्थापित की थी। भण्डारनायक उसके भी सभापति हुए थे।

विलायत में रहते समय भण्डारनायक पर महात्मा गाँधी के आन्दोलन का बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने बौद्ध धर्म का भी अध्ययन किया–ऐसा अध्ययन जिसकी बात सुनकर बड़े-बड़े बौद्ध भी अपने को अनभिज्ञ समझते थे। इसलिए उन्होंने राजभक्ति छोड़ देशभक्ति और ईसाई धर्म स्वीकार करने का निश्चय कर लिया।

मार्च, 1925 में प्रायः 6 वर्ष विलायत में रहकर भण्डारनायक स्वदेश लौटे। होरगल्ला में लोगों ने स्वागत-सभा की। उन्होंने अंग्रेजी में भाषण देते हुए खेद प्रकट किया और कहा कि मैं जल्दी ही सिंहली में भाषण देने में समर्थ होऊँगा। वही बात हुई थी। सिंहली में भी वह वैसा ही उत्तम भाषण देते थे जैसा अंग्रेजी में।

टेनिस, नौचालन और घुड़सवारी का उनको शौक था। पीछे समय न मिलने पर अच्छी जाति के कुत्तों के पालन में इनका मन रमा। पिता के वक्त जो चीते, वाघ पिंजड़ों में रहते थे, उन्हें चिड़ियाघर को दिलवा दिया।

पुत्र को वौद्ध धर्म की ओर झुका देखकर सर सालोमन व्यंग्य से उसे 'उपासक' कहा करते थे।

1933 से 1959 में मरने तक वह आदर्श श्रद्धालु बौद्ध रहे। उनके वलौवा (महल) में मेहमानों, बड़े मेहमानों का सेवा-सत्कार बिना कीमती शराबों के कैसे हो सकता था, पर तरुण भण्डारनायक ने पंचशील लिया था, सुरा आदि का त्याग किया था, इसलिए उनके पास शराब नहीं आती थी। पिता के मरने के वाद मदिरा होरगल्ला से विसर्जित हो गई।

सवेरे चारपाई से उठते ही वह थोड़ी देर भावना करते थे, जिसमें मैत्री-भावना विशेष थी, प्राणिमात्र से मैत्री। इसीलिए वह बड़े मृदुभाषी थे और अन्त में अपने हत्यारे के बारे में भी करुणा दिखलाई थी।

भिक्षुओं का सम्मान तथा अनुराधपुर (पुरानी राजधानी) के प्रति उनके मन में वड़ी श्रद्धा थी। वह अनुराधपुर को एक अच्छे नगर के रूप में बदलना चाहते थे।

विलायत से लौटते ही उन्होंने लंका जातिक संघ (सीलोन नेशनल कांग्रेस) में भाग लेना शुरू किया। पहिले उसके सेक्रेटरी रहे, फिर 33 वर्ष की अवस्था में (1932 ई.) उसके प्रेसीडेन्ट हुए।

1931 से उनके वदन पर राष्ट्रीय भेष आ गया, जो भारतीय कुर्ता तथा एक तरह की तहमद-जैसी धोती है। सर सालोमन भण्डारनायक को चाहे यह बात पसन्द न हो, पर उन्होंने कभी विरोध नहीं किया।

कांग्रेस प्रेसीडेन्ट होने से पहले 1927 ई. में उन्होंने कोलम्बो के म्युनिसिपल चुनाव में बहुत शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी गुणसिरे को हराया। डोनोयोर कमीशन के सुधार के अनुसार जब कौंसिल (विधान परिषद) कायम हुई, तो उसके पहिले चुनाव में जीते। 31 जुलाई 1931 में कौंसिल में भाषण दिया कि मेम्बरों को मासिक 500 रु. नहीं, 300 रु. दिये जाएँ। इंग्लैंड में 450 रुपये दिये जाते हैं, जापान में मन्त्री को 787 रु. मिलते हैं और माल्टा के गवर्नर को 787 रुपये। फिर हमारे गरीव देश में इतनी अधिक तनख्वाह क्यों दी जाये। उन्होंने बतलाया कि हमारे किसानों-मजदूरों को दियासलाई खरीदना भी मुश्किल है, कितनों के पास बैठने-लेटने के लिए चटाई तक नहीं है। यहाँ की सीनरी, समुद्र-गर्जन और कालीन के फर्श पर देखकर लोग मुझसे पूछते हैं, तो मैं कहता हूँ कि यहाँ समुद्र की गर्जन नहीं—गरीवों का रोना है। यह फर्श और कालीन गरीब जनता कभी बर्दाश्त नहीं करेगी। एक दिन वह उसका आपसे जवाव तलब करेगी। 1936 के चुनाव में विना विरोध वह कौंसिल के मेम्बर चुने गए। अब की बार वह स्वायत्तशासन मन्त्री वनाये गए।

कोलम्वों में जहाँ रहते थे, वहाँ उनकी अपनी अच्छी लाइब्रेरी थी, साथ ही उनके नाना सर क्रिस्टोफर ओवेस्टर तथा दूसरों की भी निजी लाइब्रेरियाँ थीं।

अपने मंत्रित्व के समय उन्होंने ग्राम-सभाओं में सुधार किये और उनके अधिकार बढ़ाये।

1947 ई. में साल्सवरी कमीशन के सुझावों के अनुसार नई कौंसिल का चुनाव हुआ। वह स्वायत्तमन्त्री वनाये गये। यह डी. एस. सेनानायक के प्रधानमन्त्रित्व का समय था, जो बड़े पूँजीपतियों तथा वड़े चाय-बागान वालों के पक्षपाती थे। उस समय मलेरिया का जोर था। उसके लिए उन्होंने वियाना से विशेषज्ञ बुलाये।

8 जुलाई 1948 ई. को उन्होंने स्वतंत्रता के उपलक्ष्य में भाषण दिया; उसमें कहा—पहिले हम अपने देश की भाषा (सिंहली) में बोल नहीं सकते थे। अंग्रेजी का बोलवाला था। अब हम अपनी भाषा में बोल सकते हैं, पर सभापति ने सिर्फ 10-15 मिनट का समय दिया था।

1936 से 51 तक वह मन्त्री रहे; पर सेनानायक जैसे प्रतिगामी ब्रिटिशभक्त प्रधानमन्त्री के साथ देर तक निवट नहीं सकते थे। 1951 ई. में सेनानायक की यू. एन. पी. (पार्टी) को छोड़कर उन्होंने लंका फ्रीडम (स्वातन्त्र्य) पार्टी संगठित की, उनके साथ कई और लोग यू. एन. पी. से निकल आये। 1952 ई. के चुनाव में भण्डारनायक की पार्टी के 9 आदमी चुने गये।

यही विरोधी पक्ष के नेता थे।

सेनानायक के मरने पर कुछ दिनों के लिए उनके बेटे डडली सेनानायक प्रधानमंत्री बने, जिनमें यही योग्यता थी कि वह प्रधानमन्त्री के पुत्र थे और थैली का जोर रखते थे।

अब भण्डारनायक ने सभी प्रगतिशील दलों को मिलाकर महाजन एकसत्त पेरेमुष्न दल कायम किया।

1956 से साधारण निर्वाचन में भण्डारनायक की पार्टी को भारी विजय मिली।

यू. एन. पी. ने भाषा के सम्बन्ध में सिंहली को मुख्यता नहीं देनी चाही थी, जिसके कारण सारे देश में विरोध था। भिक्षुओं का सारा बल खिलाफ हो गया था। पार्टियों के मेम्बर निम्न संख्या में थे—

महाजन एकसत्त पेरेमुष्न	54
समसमाज पार्टी (त्रोत्सकीय)	14
फेडरल (तमिल) पार्टी	10
एकसत्त जातिक पार्टी	3
द्रविड़ संगम	1
स्वतन्त्र	5

भण्डारनायक अत्तनगल्ल चुनाव-क्षेत्र से खड़े हुए थे, जहाँ उन्हें 15,018 वोट मिले। उनके एक विरोधी सेनेविरत्न को 3,019 और दूसरे को 621 वोट। बाकी सब पार्टियाँ मिलकर भी उनकी पार्टी के बराबर मेम्बर नहीं भेज सकीं।

उनके एक साथी ने सफलता पर प्रसन्नता प्रकट की, तो भण्डारनायक ने कहा—देखो, कितने साथ देनेवाले हैं। चुनाव के लिए जिन सदस्यों को खड़ा किया था, वे सभी तपे हुए नहीं थे। पीछे उनमें से कितने ही रिश्वत लेने के लिए पकड़े गए। सिंहली भाषा राजभाषा हो, यह उनके दल का उद्देश्य था, जिसमें सफलता मिलनी ही थी और उसे उनके दल ने कानूनन मनवा लिया। उत्तर और पूर्व के प्रान्तों में तमिल भाषाओं का बहुमत है। यद्यपि वहाँ तमिल को राजभाषा मान लिया गया है, पर तमिल लोगों का आग्रह है कि तमिल भी सिंहली के समान सारे राष्ट्र की भाषा मानी जाय। यही प्रश्न भारत में भी हिन्दी के साथ तमिलवालों का है। सिंहलवालों को हिन्दी पढ़ना सुगम है, क्योंकि हिन्दी के वंश की ही सिंहली भाषा है, पहिले भी सिंहली उत्तर से आई; आज भी उनका संगीत, नृत्य, साहित्य उत्तर से ही अपनत्व रखता है, पर तमिल के नाम पर लंका के प्रतिगामी अपनी जनता को मूढ़ बना सकते हैं। यदि यह सवाल हल हो गया, तो उनको पूछेगा कौन ? पर समस्या तब तक हल नहीं हो सकती, जब तक समाजवादी प्रोग्राम यहाँ कार्यरूप में परिणत नहीं किया जाता। फिर भाषा के नाम पर पागलपन नहीं किया जा सकता। केवल तमिल शिक्षा और सरकार की भाषा अपने क्षेत्र में होगी, सारे राष्ट्र और विदेशों के साथ सम्बन्ध के लिए सिंहली मानी जाएगी। सिंहली की सारी परिभाषाएँ वही हैं, जो हिन्दी में व्यवहृत होती हैं।

भण्डारनायक लंका के प्रधानमंत्री बने। उन्होंने भूमि-कानून में सुधार किया, जिससे नए जमींदारों का

एकाधिपत्य जाता रहा, किसानों का जमीन पर हक हुआ। शिक्षा पहिले से भी सिंहल में सार्वजनिक थी। ईसाई, विशेषकर कैथलिक, पहिले ही शिक्षा के क्षेत्र में प्रधानता रखते थे। पहिले तो वौद्ध शिक्षणालय पनप ही नहीं पाते थे, 75 प्रतिशत जनता की माँग को पूरा करने के लिए अँगुलियों पर गिनने लायक स्कूल थे, जवकि कैथलिक स्कूल इतने थे कि उनकी मदद के लिए सरकारी खजाने से प्रतिवर्प तीन करोड़ रुपये देने पड़ते थे। भण्डारनायक ने निश्चय कर लिया कि यह अन्याय नहीं चलने दिया जाएगा, सभी स्कूल राष्ट्रीय कर दिए जाएँगे। ऐसा करके वह कैथलिकों के दुश्मन हो गए, कोई आकस्मिक वात नहीं हुई, क्योंकि जिस पिस्तौल से भण्डारनायक मारे गए, वह एक कैथलिक की दी हुई थी, यद्यपि उसका चलानेवाला एक वौद्ध भिक्षु था।

3 अक्टूबर 1940 को 41 वर्ष की अवस्था में भण्डारनायक का विवाह एक पुराने रदल परिवार रतवत्ते की ज्येष्ठ पुत्री श्रीमा से हुआ। श्रीमा का परिवार वरावर वौद्ध रहा, और कांडी के स्वतन्त्रता-काल में वह प्रांतपति (दिशाव) रहा था। श्रीमा ने रत्नपुरा के और कोलम्वो के कैथलिक कान्वेण्ट में शिक्षा पाई थी, जो इतनी थी, जिसे सर सॉलोमन और लेडी डैसी एस्लिन भी पसन्द कर सकती थी। कई पीढ़ियों के वाद वौद्ध बने भण्डारनायक को वौद्ध लड़की पसन्द थी, फिर वह तो सुन्दर और स्वस्थ भी थी। उस वक्त किसको पता था कि भण्डारनायक के गोली का निशाना बनने के वाद वही लड़की दुनिया की प्रथम महिला प्रधानमन्त्री बनेगी और प्रतिभाशाली पति की संगत और उसके दारुण वियोग से प्रेरित हो, उसी योग्यता के साथ शासन करेगी।

1940 ई. में भण्डारनायक वैरिस्टरी कर रहे थे। प्रतिभा और भाषा के चमत्कार के कारण बैरिस्टरी चल निकली थी और लोग आशा करते थे कि वह उससे वहुत पैसा कमाने में ही सफल नहीं होंगे, वल्कि कानून के सर्वोच्च गद्दीधर (सुप्रीम कोर्ट के प्रधान जज) हो जाएँगे। एक वार उन्होंने एक खून का मुकदमा लिया था। खून तो साफ हुआ था, पर उनकी वहस से खूनी छूट गया, भण्डारनायक के मन में कष्ट था। वह उसके बाद जिस घर में खून हुआ था, उस घर में गए। अपने पास से जमीन उसको जीविका के लिए दी और काम करने लायक आदमी को नौकर रख लिया। फाँसी की सजा अपनी प्राइममिनिस्ट्री के जमाने में उन्होंने उठा दी थी। वह नहीं चाहते थे कि आदमी को जीवन-सुधार का मौका दिए विना खत्म कर दिया जाए।

विलायत से लौटने पर वह महात्मा गाँधी से कितने प्रभावित थे, यह इसी से मालूम होगा कि वह चरखा और हाथ के कर्घे में भी दिलचस्पी रखते थे। गाँधीजी के आश्रम में रह आए जयराम भाई ने जो करघा-आश्रम कोलम्बो में खोला था, उससे वह घनिष्ट सम्वन्ध रखते थे। जवाहरलाल जी लंका आए थे, तो अपने करघा-आश्रम का उद्घाटन उन्हीं के हाथों उन्होंने करवाया था।

लिखने की ओर उन्होंने वहुत ध्यान नहीं दिया था, पर उनकी लेखनी में शक्ति थी। उन्होंने एक कहानी लिखी थी, जिसे नाटक का रूप देकर लोगों ने अभिनीत किया था।

22 नवम्वर 1956 ई. को राष्ट्र-संघ की विशेष बैठक में भण्डारनायक शामिल हुए। उसमें उन्होंने अक्कोस भारछान की कथा बड़े प्रभावशाली ढंग से कही। उनके अंग्रेजी भाषण के लिए राष्ट्र-संघ वहुत अच्छा मंच था, पर अब भाषण से ज्यादा अपने देश को वेहतर वनाने में उनका मन लगता था। सिंहल विश्वविद्यालय ने 16 जून 1956 को उन्हें डी. लिट्. की उपाधि दी। उस समय भण्डारनायक ने एक लम्वा भाषण दिया था, जिसमें कहा था, दुनिया बदल रही है—वलिदान चाहिए। नई सभ्यता फैल रही है, पर वह क्या रूप लेगी, यह अभी नहीं कहा जा सकता।

2 दिसम्वर, 1957 को दिल्ली में राष्ट्रमंडल के पार्लिमेण्ट्री प्रतिनिधियों के सम्मेलन में उन्होंने जनतन्त्रता पर भाषण दिया, जिसमें कहा—वैयक्तिक और सामूहिक स्वतन्त्रता प्रकाशित करने का पूरा अधिकार जनतन्त्र को है। इंग्लैंड के जनतन्त्रवाद का उन पर बहुत प्रभाव था। वह उसके समर्थक थे। वह यह नहीं सोच सकते थे कि पैसे के वल पर वैयक्तिक और सामूहिक स्वतन्त्रता के आदर्श को कुचला जा सकता है। वह किसानों और मजदूरों की शक्ति को समझते थे और चाहते थे कि उनकी स्थिति वेहतर हो। उन्होंने जब मजदूरों के लिए कोलम्वो-जैसे शहरों में कुछ अच्छे घर बनवाए, तो यू. एन. पी. वालों ने विरोध किया। भण्डारनायक

का कहना था–मजदूर भी मनुष्य हैं। उन्हें भी नागरिक जीवन का सुख मिलना चाहिए।

1930 ई. में उन्हें जन-जागृति का पता लगा। वह हमेशा जनता के पक्षपाती रहे। जब देखा कि यू. एन. पी. के काले धनी साहब सब जगह काम में रोड़ा अटकाते हैं; तो 1951 ई. में वह उस पार्टी से निकल आए, हालाँकि जहाँ तक वैयक्तिक उन्नति का सवाल था; प्राइममिनिस्टर डी. एस. सेनानायक के विलायत जाने पर उन्हें स्थानापन्न प्रधानमन्त्री बनाया गया था।

अंग्रेज और अंग्रेजी बोलनेवाले काव साहबों के शासन को देखकर भण्डारनायक ने कहा था–हमें 6 प्रतिशत लोगों का शासन नहीं चाहिए, बल्कि 94 प्रतिशत जनता का शासन चाहिए, जो सिंहली पढ़ती और बोलती है।

बौद्ध घोषित करने पर अनिड कॉलेज की मीटिंग में प्रियदास श्री सेन ने कहा था–सर सालोमन भण्डारनायक साधन-सम्पन्न थे, पर उन्होंने देश के लिए कुछ नहीं किया। पुत्र ने जवाब में कहा–जो बाप ने नहीं किया, उसे बेटा जी-जान से करेगा।

यद्यपि भण्डारनायक ने समाजवाद की घोषणा नहीं की, पर वह काम में उसे लाना चाहते थे। पहिले कोलम्बो बन्दरगाह को धनियों के हाथों से छीनकर राष्ट्रीय सम्पत्ति बनाया, फिर सिंहल की सड़कों पर चलनेवाली सारी बसों का राष्ट्रीयकरण किया। त्रिकोणमले में अब भी अंग्रेज अपनी सेना और नौसेना लिए बैठे थे। सेनानायक अंग्रेजों के भक्त थे, वह उन्हें क्यों भगाते, पर भण्डारनायक ने 1957 में उन्हें जाने के लिए मजबूर किया।

सिंहल के दो विहार–विद्योदय और विद्यालंकार–प्रायः पौन शताब्दी से पालि और सिंहली की उच्च शिक्षा देते आए थे। उनके काम का सम्मान भण्डारनायक ने उन्हें सरकारी खर्च से चलनेवाले पूरे विश्वविद्यालय का रूप देकर किया और भारत के राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद के हाथों 1959 में विद्यालंकार विश्वविद्यालय का उद्घाटन करवाया।

भण्डारनायक की दिनचर्या थी–सबेरे तड़के उठकर शौचादि से निवृत्त हो कुछ मिनट आसन मारकर भावना करते थे, फिर आसन और प्राणायाम से व्यायाम करके नीचे उतरते। श्रीमा चाय लेकर मेज पर बैठी रहतीं। पहिले वह अपने प्राइवेट सेक्रेटरी से मिलकर उस दिन के काम के बारे में पूछते। सदा दो-चार मेहमानों के साथ चाय पीते। जब भी अवसर मिलता, वह पुस्तकें पढ़ते। अखबार तो पढ़ते ही। स्वाध्याय भी उनकी आदत में शामिल हो गया था।

भण्डारनायक खुशमिजाज थे। भाषण शुरू करने से पहिले कुछ हँसी की बातें कहकर फिर विषय पर आते। जब मृत्यु और जीवन के बीच पड़े हुए थे, तब भी इससे बाज नहीं आए। डाक्टर ने कहा–जीभ। –क्या जगतप्रसिद्ध जीभ !

1956 ई. में चुनाव की असाधारण सफलता के बाद भण्डारनायक को हँसते न देखकर उनकी पार्टी के एक नेता ए. पी. जयसूरिया ने कारण पूछा। इस पर उन्होंने कहा–मैं गिनती का नहीं, आदमियों का ख्याल कर रहा हूँ।

विरोधी तमिल एम. पी. सुन्दरलिंगम ने अविश्वास का प्रस्ताव लाकर बहुत-सी खिलाफ बातें कहीं और कहा–पुलिस ने मुझे पकड़ा; फिर रास्ते पर छोड़ दिया।

–तो क्यों नहीं घर चले गए ? पुलिस कहती है। हमारे बिस्तरे-चारपाई पर लेटते थे। रास्ते में छोड़ने पर घर क्यों नहीं चले गए ?

–मैं पुलिस के पीछे चला। वह लारी पर बैठकर भाग गई।

–तो बेचारे पुलिसवाले क्या करते ?

एक बार कांडी में कुत्तों की प्रदर्शनी हो रही थी। भण्डारनायक को कुत्तों का शौक था। वह वहाँ यूरोपीय पोशाक में गए थे, पर उसके बाद ही मीटिंग में जाना पड़ा, जिसमें राष्ट्रीय पोशाक पहनकर गए। किसी ने सवाल पूछ दिया।

झट कहा—कुत्तों की प्रदर्शनी में उनके योग्य पोशाक पहनी, यहाँ आपके योग्य, इसमें क्या हर्ज !

एक दिन सेरिन डिसोयसा के साथ खाना खा रहे थे, जहाँ बात-बात में कुछ ऐसी बात कह दी, जिससे मालूम हुआ कि आगे गवर्नर उन्हीं को बनाएँगे। पीछे औरों के साथ उस बात की गम्भीरता से इन्कार कर गए। डिसोयसा ने पूछा, तो कहा—खाने पर जो बात कही जाती है, वह सीरियस नहीं हुआ करती।

विरोधी पार्टी के नेता एन. एम. पेरेरा ने एक बार कहा—प्रसिद्ध पिता के कुख्यात पुत्र। भण्डारनायक ने कहा—ज्ञात पिता के अज्ञात पुत्र।

भण्डारनायक ने यद्यपि सिंहल के जनसाधारण का मन जीत लिया था, पर उनका शत्रु कैथलिक चर्च तथा धनिक वर्ग था। इसलिए लोगों ने उनसे सावधान रहने को कहा था—पुलिस के डी. आई. जी. ने भी आदमी रखना चाहा था, पर औंग सांग, महात्मा गाँधी, लियाकत अली पर गोलियाँ चलने के बाद भी वह कहते थे—आप लोग सावधान रहने की बात कहते हैं, पर मेरा यहाँ कोइ दुश्मन नहीं है।

पं. जवाहरलाल नेहरू से उनका पहिला परिचय 1930 ई. में हुआ, जब वह सिंहल आए थे। तभी दोनों में घनिष्ठ मैत्री हो गई। दोनों एक ही तरह के वातावरण में पले थे, अपने पिता के इकलौते पुत्र तथा ऑक्सफोर्ड से निकले थे। एक दिन कुरुनागल में दोपहर के भोजन के लिए दोनों बैठे थे। नेहरू का नाम था, सो लोगों ने पर्वाह नहीं की, वे खिड़की से झाँककर देख रहे थे। नेहरू जी उत्तेजित हो गए—मैं और सब काम लोगों में कर सकता हूँ, पर खाना नहीं। भण्डारनायक ने यह सुनकर लोगों को हटाया। उनका कहना था—राजसी ठाट-बाट में पलने का ही परिणाम है कि नेहरू जल्दी गरम हो जाते हैं, पर वह क्षुब्ध नहीं होते।

ऑक्सफोर्ड में रहते समय भण्डारनायक को कविता पर इनाम मिले थे, जिनमें से कुछ ग्रीक और लैटिन भाषा में भी थीं। सिंहल के तत्कालीन श्रेष्ठ कवि आनन्दराज करुणा पर बोलते हुए उन्होंने कहा था—यदि मैं आनन्दराज-जैसा कवि और विक्रम अराच्ची-जैसा लेखक हो जाता, तो मुझे और कुछ नहीं चाहिए था। इसमें शक नहीं, उनमें दोनों की क्षमता थी, पर अवसर नहीं मिला।

भण्डारनायक के पिता इकलौते पुत्र थे, भण्डारनायक भी इकलौते थे, उनका पुत्र अनुरायी भी इकलौता है—उसकी दो बहिनें चंद्रिका और सुमेता हैं।

भण्डारनायक के समर्थकों में से कई पीछे रिश्वत में पकड़े गए। उनकी मृत्यु का कारण एक तो कैथलिक चर्च था, जिसने बहुत होशियारी से काम किया और सिर्फ पिस्तौल-भर हाथ में थमाने की एक कैथलिक ने सहायता की। एक महन्त के धनी होने पर भी और कमाने के ख्याल ने जोर मारा। वह अपनी कम्पनी खड़ा करके उसे इजारदारी दिलवाना चाहता था। भण्डारनायक को मालूम हो गया, तो उन्होंने इन्कार कर दिया। वह जानी दुश्मन हो गया। उसी वक्त उसे एक भिक्षु मिला, जिसकी आयुर्वेद कॉलेज की नौकरी चली गई थी। यद्यपि उस विभाग का सम्बन्ध भण्डारनायक से नहीं था, पर उसे पढ़ाया गया—प्रधानमन्त्री ही सारी जड़ है। वह भिक्षु 25 सितम्बर 1959 को सुबह 9 बजकर 25 मिनट पर भण्डारनायक के घर गया। भिक्षुओं के लिए उनके मन में बहुत सम्मान था, बराण्डे में उससे मिलने आए। जब बात करके दूसरे भिक्षु से बात कर रहे थे, उसी वक्त हत्यारे ने तावड़तोड़ कई गोलियाँ चलाईं। उन्हें तुरन्त अस्पताल पहुँचाया गया। भण्डारनायक की दृढ़ता को देखकर डॉक्टर भी चकित थे। जब वह बेहोश करने की दवा दे रहे थे, तो उन्होंने कहा—इसकी क्या जरूरत है। जीभ देखने की बात कहने पर कहा—जगत-प्रसिद्ध जीभ। गवर्नर के आने पर गुडमार्निंग का जवाब गुडमार्निंग करके दिया। हत्यारे के बारे में पूछा, तो उस पर क्रुद्ध न होने के लिए कहा। पत्नी से कई बार पूछा—उसने मुझे क्यों मारा ? सबेरे हजामत करनी चाही, डॉक्टरों ने मना किया। फिर कहा—मेरा मुँह धोओ। बहिन ने मुँह धो दिया। 22 घण्टा और जीने के बाद 26 सितम्बर के सेबरे 7 बजकर 25 मिनट पर भण्डारनायक ने वीरगति प्राप्त की। वह सिंहल के इतिहास के लिए अमर हैं।

मरने के बाद उनके मृत शरीर को होरगल्ल में 1 अक्तूबर को दफनाया गया। कोलम्बो में सारी लंका दर्शनों के लिए उमड़ पड़ी थी। रास्ते-भर अनेक तोरण बनवाए गए थे।

डॉ. अम्बेडकर

प्रस्तावना

कहावत है कि एमरसन को समझने के लिए एमरसन की ही जरूरत होती है। इसका भावार्थ है कि यदि चरित्र-लेखक की अपनी भूमिका कमोवेश उतनी ही ऊँची न हो जितनी उसके चरित्र-नायक की होती है, तब तो वह अपने चरित्र-नायक के साथ न्याय कर ही नहीं सकता। जिस प्रकार वोधिसत्वचरित वावासाहव डॉ. भीमराव अम्बेडकर का न चिंतन सुधारवादी था और न कार्यक्रम सुधारवादी था, उसी प्रकार महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की भी न चिंतनसरणी ही सुधारवादी थी और न अपने विचारों को साकार करने की कार्य-पद्धति ही सुधारवादी थी। दोनों महापुरुष क्रान्तिजगत के जीव थे। बावासाहब की क्रान्तिमूलक प्रेरणाओं से आज सारा जगत परिचित है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन भी कुछ वैसी ही धातु के बने थे। इसके समर्थन में मैं दो उदाहरण देना चाहता हूँ–

(1) जिस समय महात्मा गाँधी का अहिंसामूलक असहयोग आंदोलन अपने ओज पर था, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने कहा कि राजनीति में रक्त का स्थान वही होता है जो पूजा-पाठ में चंदन का। उस समय की व्रिटिश सरकार ने कहा कि सूक्तियों के ऐसे धनी का स्थान जेल में होता है। राहुलजी को पकड़कर हजारीबाग जेल भेज दिया गया।

(2) फिर जिस समय महात्मा गाँधी की प्रेरणा से चलाया, विनोबा अनुमोदित, अछूतों का मंदिर-प्रवेश आंदोलन ओज पर था, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने कहा–'जिन मंदिरों में चिमगादड़ें और पुजारी एक साथ रहते हैं, ऐसे मंदिरों में अछूतों का भी प्रवेश करा देने से क्या लाभ होगा ? इससे कहीं अच्छा है कि सभी सवर्णी लोग अंडा खाना शुरू कर दें और अंडे देनेवाली मुर्गियों के पालने का एकाधिकार अछूत माने जानेवाले लोगों को दे दें। इससे उनका आर्थिक लाभ तो होगा।' उस समय भी लोगों ने कहा–"छि, छि, कहाँ पवित्र मंदिर-प्रवेश आंदोलन और कहाँ अपवित्र अंडा व्यवसाय !"

राहुलजी बाबासाहब के अनन्य प्रशंसकों में से थे। 1956 के दीक्षा समारम्भ के अनन्तर उन्होंने बाबासाहब का स्वागत करते हुए काठमाण्डू (नेपाल) में कहा था कि बाबासाहब ने बौद्ध धर्म का ऐसा खम्बा गाड़ दिया है कि जिसे अब कोई हिला नहीं सकता।

राहुल सांकृत्यायन की कहानियों का एक प्रसिद्ध संग्रह है 'वोल्गा से गंगा'। उसमें प्रागऐतिहासिक काल से लेकर 1920 के आसपास तक के काल-परिच्छेद को 20 कहानियों के माध्यम से चित्रित करने का प्रयास किया गया है। उसमें 'सुमेर' नाम की अंतिम कहानी में उन्होंने बाबासाहव के बारे में जो कुछ लिखा, उससे ऐसा लगा कि महापण्डित होने के बावजूद राहुलजी भी तत्कालीन कांग्रेसी प्रोपोगण्डा के शिकार हो गये थे। वाद में जव राहुलजी को अपनी इस भूल या चूक का स्वयं आभास हुआ, उन्होंने प्रकाशक को कहकर 'वोल्गा से गंगा' के अगले संस्करणों से वह कहानी निकलवा दी।

आयुष्यमान विमलकीर्ति एम. ए. ने मई, जून, जुलै 1973 में अपनी नेपाल यात्रा के दौरान त्रिशुली के वौद्ध विहार से प्राप्त 'धर्मदूत' के पुराने अंकों से बाबासाहब के सम्बन्ध में राहुलजी द्वारा सन् 1957-58 में

लिखे गये लेखों का संकलन कर अत्यन्त सराहनीय कार्य किया है और उपासक मधुकर ताकसांडे ने भी इन लेखों को प्रकाशित कर उतना ही बड़ा साहित्यिक पुण्यार्जन किया है। संकलन-कर्ता और प्रकाशक दोनों ही बधाई के पात्र हैं।

शुभेच्छु
आनन्द कौसल्यायन

भिक्षुनिवास,
दीक्षाभूमि, नागपुर-10
दिनांक 6.12.1975

1
वज्रादपि कठोराणि…

डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर से मिलने का मौका मुझे दो ही बार मिला। पहली बार दिल्ली में कानूनमन्त्री के रूप में उनके घर पर और अन्तिम बार नेपाल में, जिसके दो ही महीने बाद यह महापुरुष अपने महान संकल्प को अधूरा रक्खे ही चल बसा। पहली मुलाकात विशेषकर बौद्धधर्म और उसके ग्रन्थों के बारे में बातचीत करने के लिए हुई थी। पर मैं डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर के कार्य को बड़ी उत्सुकता और सम्मान के साथ देखा करता था। उनकी प्रतिभा का लोहा मानता था। और डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर के बारे में तो मुझे संस्कृत का पद्य याद आता है–

"वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि।।

उन्होंने अपने वैयक्तिक अनुभव से देख लिया था कि जिस वर्ग में उनका जन्म हुआ है, उसके साथ कितने अत्याचार युगों से हो रहे हैं। सामाजिक ही नहीं, सांस्कृतिक और आर्थिक भीषण अत्याचार थे। लेकिन, इस वैयक्तिक अनुभव को उन्होंने अपने निजी बन्धनों को ढीला करने के लिए नहीं इस्तेमाल किया, बल्कि भारतवर्ष के सबसे अधिक उत्पीड़ित वर्ग को सब तरह से उठाने का बीड़ा उठाया। इसमें तो संदेह ही नहीं कि इस वर्ग के लिए बाबासाहब ने जितना कठिन परिश्रम किया, उतना किसी व्यक्ति ने आधुनिक युग में नहीं किया। सच तो यह है कि उन्हीं के भगीरथ प्रयत्न से पहाड़-जैसे बाँध में दरार हुई और आगे का रास्ता खुला।

डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर जानते थे कि हिन्दू धर्म और उसके शास्त्रों की नई व्याख्या करके रास्ता नहीं निकाला जा सकता। जब तक इन विधि-विधानों और शास्त्रों से पूरी तौर से पिंड नहीं छुड़ाया जाता, तब तक भविष्य का पथ प्रशस्त नहीं होता। आखिर उन्हीं के कारण एक युग से यह विशाल वर्ग मनुष्य का अधिकार पाने से वंचित रहा। लेकिन डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर की शिक्षा, उनका गम्भीर ज्ञान इस बात की आज्ञा नहीं देता था कि स्नानपात्र के साथ बच्चे को भी फेंक दिया जाये। भारतीय संस्कृति फेंकने की चीज नहीं है। उसके अर्जित साहित्य, कला और दूसरी सांस्कृतिक निधियाँ अभिमान की चीज थीं। और इसमें इस देश के सभी वर्गों की प्रतिभाओं ने काम किया था। उन्होंने देखा कि एक धर्म का प्रत्याख्यान करने-भर से काम नहीं चल सकता। उसकी जगह कोई बेहतर चीज लोगों को देनी चाहिए। ऐसी चीज बौद्ध धर्म था, इसे परखने में उनको देर नहीं हुई। हिन्दू-संस्कारों में पले आदमी के लिए ईश्वर और आत्मा को छोड़ना सबसे मुश्किल बात है। जिसने उसको समझ लिया, वह हिन्दू धर्म की भूल-भूलैया से बच गया और उसने बौद्ध धर्म को ठीक तौर से समझ लिया। इससे मालूम होगा कि डॉ. बाबासाहब का बौद्ध धर्म का अध्ययन बहुत गहरा था।

भारत को बौद्ध धर्म की आवश्यकता इसलिए भी ज्यादा है, क्योंकि बौद्ध धर्म ने कला, दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में इतनी बहुमूल्य देनें दी हैं, जिनका इससे मुकाबिला करना कठिन है। इन दोनों पर भारतीय अभिमान करने के लिए तो तैयार हो जाते हैं, पर यह हमारी हैं, यह कहना उनके लिए मुश्किल है। बौद्धों की देन है जो शताब्दियों पहले इस देश से नामशेष हो गई। जब तक भारत में उन्हें अपनी चीज कहनेवाला समाज

नहीं तैयार हो सकता तब तक जावा के बोरो बुदुर, कम्बोज के अंकोखात, तुंग चीन के हवान् के गुफाचित्र, अफगानिस्तान के बामियान, कोरिया के वज्रपर्वत, जापान के कोयासान के साथ आत्मीयता और घनिष्ठता का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर ने यह बहुत बड़ा काम किया। भारत में लाखों बौद्धों को पैदा कर पुरानी सांस्कृतिक निधियों का उन्हें दायभागी बनाया और उनके द्वारा भारत से बाहर के साथ सम्बन्ध स्थापित किया।

2

नवदीक्षित बौद्ध

मई 1956 से मई 1957 तक बुद्ध निर्वाण की 25वीं शताब्दी बड़े जोर-शोर से मनाई गई। लोगों ने और केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों ने दिल खोलकर इसमें भाग लिया। सरकार ने करोड़ से अधिक रुपये खर्च कर के शताब्दी के अवसर पर बौद्धप्रधान स्थानों में नई इमारतें, सड़कें तैयार करवाईं। कितने ही विशाल अतिथिगृह बनवाये। बुद्ध सात शताब्दियों से निर्वासित थे। उन्हें पुनः अपने घर में स्वागत के लिए बुलाया जा रहा था। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में हरेक इतिहास और अपनी संस्कृति के प्रेमी को बड़ी दुस्सह बात मालूम होती है कि जिसके चरणों की छाप हमारे विस्तृत देश में सब जगह पुरानी मूर्तियों और ध्वंसावशेषों के रूप में मिलती है, उस महापुरुष का लोग नाम तक नहीं जानते थे; जिसके दर्शन की गूँज हमारे दर्शन के संस्कृत ग्रंथों में स्पष्ट सुनाई देती थी, उसकी वाणी का हमारे यहाँ कोई पता नहीं था; जिसके उपदेशों से प्रेरित होकर भरहुत और साँची की सौंदर्यमय मूर्तियाँ निर्मित हुईं, जिसके आदर्श पर जीवन समर्पित करनेवालों के लिए कारला, भाजा आदि के भव्य गुहागार बने, वह उपेक्षित और सूने-सूने थे। पिछली आधी शताब्दी तक शिक्षित और संस्कृत भारतीय जिस अभाव को बड़े दुःख के साथ देख रहे थे, उसकी एक अंश में पूर्ति हो रही थी, इसीलिए वह पच्चीसवीं शताब्दी के महोत्सव में दिल खोलकर भाग ले रहे थे।

पर, हमारे देश में ऐसे लोगों का भी अभाव नहीं था, जो बुद्ध के इस स्वागत को फूटी आँखों नहीं देखना चाहते थे। उन्होंने इसके खिलाफ आवाज भी उठाई, दूसरे धर्मों से निरपेक्ष रहकर सरकार बौद्धों के प्रति इतनी आत्मीयता क्यों दिखला रही है ? यह भाव किसी पुराने रूढ़िग्रस्त पंडित के मस्तिष्क से नहीं निकल रहे थे; बल्कि नवशिक्षित तथा अपने को भारतीय संस्कृति के एकमात्र टेकेदार माननेवालों के मुँह से निकल रहे थे, वे सोते-जागते, उठते-बैठते भारतीय संस्कृति की दुहाई देते थे, और विदेशी धर्मवालों को फूटी आँखों देखना नहीं चाहते थे। वह नहीं चाहते थे कि भारतीय सरकार बौद्धों के लिए इतना खर्च करे। उनकी आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज साबित हुई। पर, वे हताश नहीं थे। उनके मन की अब हमारी सरकार कर रही है, गोया अपने किए पर पानी फेर रही है।

पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी का फल बौद्ध-तीर्थस्थानों में इमारतों के खड़े होने, बुद्ध पर ग्रन्थों के प्रकाशित होने तथा जुलूसों और सभाओं तक ही सीमित नहीं रहा। इस एक वर्ष के भीतर भारत में आध करोड़ लोग बौद्ध हो गये। यह जादू के चमत्कार-जैसा था। जहाँ बुद्ध और बौद्धों का नाम पढ़कर कभी-कभी लोग मनबहलाव कर लेते थे, वहाँ लाखों के जुलूस में 'भगवान बुद्ध की जय' का नारा लगने लगा। एक आगरा शहर ही में पच्चीसों छोटे-बड़े बुद्ध-मंदिर बन गये। हजारों नौजवानों ने अपने धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन शुरू किया। अपने विस्तृत इतिहास को जीवित रखने के लिए तैयारी शुरू की। महापुरुष डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर ने धम्म-चक्र-प्रवर्तन की पुनरावृत्ति की, जबकि पिछले साल नागपुर (महाराष्ट्र) में उनके साथ पाँच लाख नर-नारियों ने त्रिशरण, पंचशील से बुद्ध के धर्म की दीक्षा ली।

नवम्बर 1956 का वह दिन नहीं भूल सकता, जबकि नेपाल में डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर ने बड़े भावावेश

में, पर गम्भीरता के साथ घोषित किया—दो वर्ष और जी जावूँ तो भारत में पाँच करोड़ बौद्धों को दिखा दूँगा। हजार अफसोस कि वह संकल्प पूरा नहीं हुआ। उस समय भी वह शरीर से बेकाबू थे। लेकिन कौन सोच सकता था कि दो महीना भी पूरा नहीं होगा, और वाबासाहब को अपना संकल्प पूरा किए विना जीवन समाप्त करना होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बौद्ध-समाज की भारत में सात सौ वर्षों बाद इस ठोस प्रतिष्ठा में सबसे बड़ा हाथ बाबासाहब का है। इतिहास उन्हें कभी भुला नहीं सकेगा। पिछली आधी शताब्दी में सैकड़ों शिक्षित-संस्कृत पुरुष हमारे देश में हुए, जिन्हें बौद्ध धर्म का अभाव बहुत खटकता था। वह ठण्डी साँस लेकर कहते थे—क्या वह बौद्ध समाज हमारे देश में फिर नहीं आयेगा, जिसकी महिमा फाहियान, हुएनसांग और ई-चिङ् के यात्राग्रन्थों में मिलती है ! व्यक्तिगत तौर से तो उसमें कितने बौद्ध बने। जिसके ऊपर एक बार बुद्धवाणी और उससे प्रेरित कला तथा संस्कृति की छाप पड़ गई, वह जीवन-भर उसके मन से मिटनेवाली नहीं है। लाहौर के प्रसिद्ध वकील पं. शिवनारायण शर्मा ने एक बार स्वामी दयानन्द के बारे में लिखते हुए कहा था—मैंने स्वामीजी को देखा था। उनके भाषण सुने थे। पर, मेरे दिल और दिमाग को पहले ही बुद्ध ने ले लिया था। इसलिए मैं आर्यसमाजी नहीं बन सका। इन पंक्तियों का लेखक कह सकता है—बुद्ध से परिचय प्राप्त करने से पहले अपने दिल और दिमाग को उसने ऋषि दयानन्द को दे दिया था। पर, जब बुद्ध की वाणी और व्यक्तित्व से परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला तो उस दान को लौटाना पड़ा और तथागत के चरणों में सिर सदा के लिए झुक गया। पर, व्यक्तिगत श्रद्धा-भावना से बौद्ध-समाज की दृढ़ प्रतिष्ठा इस देश में नहीं हो सकती थी। पं. शिवनारायण शर्मा पक्के बौद्ध थे। पर, उनकी सन्तान बौद्ध नहीं रह सकी। ऐसे उदाहरण हमारे विशाल देश में सैकड़ों मिलेंगे। असल समस्या थी, कैसे बौद्ध-समाज की दृढ़ नींव रखी जाये ?

कोई पूछेगा, बौद्ध समाज की ऐसी आवश्यकता ही क्यों ? मैं भारत के सबसे दलित करोड़-करोड़ जनता के बारे में नहीं कहता, केवल भारतीय संस्कृति की आवश्यकता की दृष्टि से कहता हूँ। भारत का कोई पुराना टीला नहीं, जहाँ एकाध टूटी-फूटी बुद्ध-मूर्तियाँ न मिलें। पूजा के तौर पर अर्पित की गई 'ये धर्मा...' अथवा विहार या व्यक्ति के नाम से उत्कीर्ण मिट्टी की मुहरें न मिलें। मेरे पितृग्राम (कनैला, जिला-आजमगढ़) के डिहस्थान में प्रायः हजार वर्ष से महाकाल की मूर्ति पड़ी हुई थी। पहले अखण्ड तथा पूज्य देवता के रूप में और पीछे पुर्खों द्वारा तीन खण्डों में टूटी, डिहबाबा के प्रतीक के रूप में। वहाँ के लोग बिल्कुल नहीं जानते थे कि यह वज्रयान के अत्यन्त प्रभावशाली देवता महाकाल हैं। बौद्ध-धर्म अपने अन्तिम समय में वज्रयान के रूप में हमारे देश में मौजूद था। सहजयान और वज्रयान पर्याय हैं। सहजयान के चार सौ सिद्धों ने उस स्वच्छंदता का प्रसार किया था, जिसकी प्रतिध्वनि हमें कबीर और दूसरे सन्तों में पीछे मिली—कनैलावालों में इन पंक्तियों का लेखक ही पहले-पहल पहचान सका कि वह डिह की मूर्ति है। उसे भी इसका पता न लगता, यदि उस देवता के प्रताप को तिब्बत में छाया न देखा होता। मंत्रयान, तंत्रयान या वज्रयान में गुण भी थे। पर दोष और भी अधिक थे, जिसके ही कारण वह बौद्ध धर्म को ले डूबा। उससे भी पुनीत, गौरवमय कृतियाँ हमारे देश में जगह-जगह पड़ी हैं। सारनाथ (वाराणसी) के खण्डहरों में, उसके पास अवस्थित संग्रहालय में खण्डित होने पर भी भव्य और श्लाघनीय हजारों मूर्तियाँ हैं। साँची की कला और मूर्तियों के बारे में तो कहने की कोई आवश्यकता नहीं। पेशावर से कलकत्ता और लखनऊ से मद्रास तक के सभी संग्रहालयों में एक से एक सुन्दर कलाकृतियाँ हैं, जिनको देखकर उन हाथों को चूम लेने का मन करता है, जिन्होंने उनका निर्माण किया। हमारे गाँव-गाँव में जो यह गौरवपूर्ण प्राचीन निधियाँ बिखरी पड़ी हैं, उन्हें हमारे लोग अन्य पुरुष में पुकारा करते थे—"यह बौद्धों की कृतियाँ हैं।" यहाँ ऐसे आदमियों की आवश्यकता थी, जो अन्य पुरुष में नहीं बल्कि उत्तम पुरुष में कहें—"यह हमारी मूर्तियाँ हैं, हमारे पूर्वजों ने इन्हें बनाया, यह हमारे प्रमुख देवता की मूर्ति है।" आज भारत में लाखों बौद्ध पैदा होकर वही करने जा रहे हैं। अब वह म्युजियम की चीज तथा इतिहास के प्रतीक के रूप में अन्य पुरुष के रूप में सम्बोधित नहीं की जायगी, यह कितने हर्ष की बात है।

उस दिन एक जैन साप्ताहिक पत्र में एक लेख पढ़ा था। लेखक ने अपने साधुओं और पण्डितों को कोसते हुए कहा था कि जहाँ एक ही साल के भीतर चालीस लाख बौद्ध इस देश में हो गये, वहाँ जैन धर्म

उन्हीं चौदह-पन्द्रह लाख नर-नारियों तक सीमित है, जो कि आज से शायद पाँच सौ वर्ष पहले भी इतने ही थे। जैन हमारे देश के सबसे धनी लोगों में हैं। शिक्षा में भी वह पिछड़े नहीं हैं, और समाज में भी उनका निम्नस्थान नहीं है। इतने साधन-सम्पन्न होने पर भी वह क्यों नहीं हमारे देश के सबसे दलित-उपेक्षित लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करने में सफल हुए ? अपनी सामाजिक रूढ़ियों में ग्रस्त होने के कारण वह तथाकथित हरिजनों को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सके। आर्यसमाजी कम-से-कम मौखिक तौर से उनसे कहीं अधिक उदार थे। पर, वह भी विशेष नहीं कर सके। सामाजिक उदारता की कमी वस्तुतः इसमें कारण रही, जो कि आर्यसमाजी या जैन तथाकथित हरिजनों को अपनी ओर नहीं खींच सके।

आज से बीस वर्ष पहले हिन्दू ब्राह्मणशाही से निराश होकर बाबासाहब डॉ. अम्बेडकर ने धर्मान्तर करने की घोषणा की। उस समय ईसाई, मुसलमान, आर्यसमाजी सभी दौड़ पड़े थे। जानते थे, बाबासाहब डॉ. अम्बेडकर करोड़ों आदमियों का वास्तविक नेता है, उनके हमारे धर्म में आने पर उनके लाखों-करोड़ों अनुयायी हमारे मत में आ जावेंगे। सिक्खों ने बाबासाहब और उनके अनुयायियों को अपने मत में दीक्षित करने के लिए लाखों रुपया जमा किये। असफल होने पर उन्होंने उस रुपये से बम्बई में खालसा कॉलेज के नाम से एक विशाल कॉलेज स्थापित कर दिया, जो अब भी शिक्षा का उपयोगी काम कर रहा है। डॉ. अम्बेडकर के पास दूसरे धर्मों की तरह बौद्ध धर्म भी अपनी पुस्तकों के रूप में पहुँचा। 1260-70 ई. स. में कुबले खान को अपने धर्म में करने के लिए जिस तरह दुनिया के दीन और मजहब दौड़ पड़े, वही बात आज से 20 वर्ष पहले डॉ. अम्बेडकर के लिए हुई थी। कुबले खान को अन्त में लामा फग्स-पा बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट करने में सफल हुए। डॉ. अम्बेडकर के पास कोई लामा फग्स-पा जैसा महाविद्वान बौद्ध आचार्य नहीं पहुँचा। बौद्ध धर्म की पुस्तकें जरूर उनके पास गईं। बाबासाहब ने उनका अध्ययन, गम्भीर अध्ययन किया, इसमें संदेह नहीं। तभी तो जब पार्लियामेंट में डॉ. अम्बेडकर की किसी बात पर व्यंग्य करते हुए किसी संसद सदस्य ने कहा–'आपकी आत्मा को शान्ति मिले।' तब उन्होंने जवाब दिया–'मैं बौद्ध हूँ। मैं आत्मा को नहीं मानता।' बौद्ध अनात्मवाद को समझ पाना किसी भी दूसरे धर्म के लिए अत्यन्त कठिन काम है। आत्मा और ईश्वर से भी इन्कार करना किसी धार्मिक विश्वास के आदमी के लिए असम्भव-सा मालूम होता है।

बाबासाहब डॉ. अम्बेडकर धर्म को केवल व्यक्तिगत दृष्टि से नहीं देखते थे। वे उसे अपने करोड़ों उन भाइयों की दृष्टि से देख रहे थे, जो कि मानव के हरेक अधिकार से हजारों वर्ष से वंचित थे। उन्हें मानवोचित अधिकार मिलना चाहिए। इसके लिए ईसाई गारन्टी देने को तैयार थे। वह लाखों-लाख रुपया खर्च कर सकते थे। बाहर के शक्तिशाली पश्चिमी देशों की सहानुभूति और सहायता उनके लिए सुलभ थी। पर डॉ. अम्बेडकर सुशिक्षित, सुसंस्कृत गम्भीर विचारक थे। वह ब्राह्मणशाही और हिन्दू संस्कृति को एक नहीं समझते थे। हिन्दू संस्कृति भारत की संस्कृति है, जिसके विकास में भारत के हरेक समुदाय, हरेक वर्ग ने भाग लिया है। तथाकथित हरिजनों का भी उसके विकास में कम हाथ नहीं है। आज ब्राह्मण और ऊँची जाति के लोग अपने को बड़ा और अछूतों को छोटा भले ही कहें, लेकिन दोनों के रक्त में अब कोई अन्तर नहीं रह गया है। पुरानी कहावत के अनुसार 'काला बामन गोरा चमार' असम्भव समझे जाते थे। हजारों वर्ष पहले भले ही यह असम्भव समझा जाता हो, लेकिन आज हजारों-लाखों काले ब्राह्मण मिलेंगे और हजारों-लाखों गोरे चमार। ब्राह्मणों ने वर्ण-व्यवस्था के लिए बड़े जबरदस्त बाँध बाँधे। अपनी जात से बाहर ब्याह करना सर्वथा निषिद्ध ठहरा दिया। इसी के बल पर वह घोषणा करते थे–"हमारा वर्ण शुद्ध है, हमारा रक्त शुद्ध है।" बौद्ध विचारकों ने आज से डेढ़ हजार वर्ष पहले उनका जवाब दिया था–"वर्ण या जाति की शुद्धि केवल स्त्री के हाथ में है। अगर वह शुद्ध रहने दे तभी तो जाति शुद्ध रह सकती है। और तुम स्वयं कहते हो कि स्त्री का कोई विश्वास नहीं–'स्त्रियः अशास्य मनः।' फिर तुम्हारी जाति, जाति की शुद्धता पर कैसे विश्वास किया जाए ?" हाँ, तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और अछूत का भेद अब केवल कहने-भर का है। ब्राह्मणशाही अंधेरगर्दी बहुत दिनों तक नहीं चल सकती। हमारा सारा राष्ट्र एक राष्ट्र और एक जाति बनकर रहेगा। इसलिए कल अवश्यम्भावी नष्ट होनेवाली वर्ण-व्यवस्था के लिए हमें भारतीय संस्कृति को नहीं फेंकना चाहिए–वह स्नानपात्र के साथ बच्चे को फेंकने जैसा

होगा। अपनी संस्कृति के स्नेह ने ही डॉ. अम्बेडकर को ईसाई और इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए तैयार होने नहीं दिया, यद्यपि, दोनों की तरफ से उन्हें अपनी ओर खींचने के लिए भारी प्रयत्न हुए थे।

बाबासाहव डॉ. अम्बेडकर ने निश्चय कर लिया था, हमें अपनी संस्कृति की सीमा से बाहर नहीं जाना है, पर साथ ही ब्राह्मणशाही के सामने भी सिर झुकाना नहीं है। आर्यसमाजी ब्राह्मणशाही से दूर नहीं थे, जैन और सिक्ख भी उसके लपेटों में आ गये थे। उनके अनुयायियों की दृष्टि में अछूत अछूत ही था। बौद्ध धर्म पर जब बाबासाहव डॉ. अम्बेडकर की गम्भीर दृष्टि पड़ी तो सचमुच ही उन्होंने उल्लास में आकर कहा होगा—'वह चीज मिल गयी, जिसे मैं ढूँढ रहा था। वल्कि जितना चाहता था, उससे भी अधिक मात्रा में मिली।' बौद्ध धर्म बहुत उदार है। सामाजिक दृष्टि से वह वर्ण-भेद, जाति-भेद, देश-भेद को नहीं मानता। बुद्ध सबसे बड़े प्रथम जनतंत्रवादी थे, विचारक थे। उनके समय कोसल, मगध, अवन्ती के विशाल राजतंत्र थे, पर उनका पक्षपात वैशाली के गणतंत्र से था। 'महापरिनिब्बाण सुत्त' में यह भाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। यही क्यों, उन्होंने अपने भिक्षुसंघ को बिलकुल गणतांत्रिक व्यवस्था पर स्थापित किया। किसी बात के निर्णय करने में व्यक्ति नहीं, संघ की राय सर्वोपरि मानी। जहाँ एक मत न हो, वहाँ बहुमत (मतभूयसिक) को निर्णायक समझा जाता था। वहुमत अल्पमत जानने के लिए छन्द (वोट) की भिन्न-भिन्न रंग की शलाकाएँ इस्तेमाल की जाती थीं। डॉ. अम्वेडकर ने देखा, जिस जनतांत्रिकता के ही नीचे हमारे दलित वर्ग को ऊपर उठने की सम्भावना है, बुद्ध उसके परम समर्थक थे। जनतंत्रता को केवल वोट या सम्मतिग्रहण से ही नहीं, बल्कि आर्थिक क्षेत्र में भी बुद्ध ने व्यवहार करने की कोशिश की, इसीलिए भिक्षु-भिक्षुणियों में निजी सम्पत्ति का निषेध किया। यहाँ पूरे साम्यवाद की स्थापना की। संघ में चाण्डाल हो अथवा ब्राह्मण, दोनों में किसी प्रकार का अन्तर (भेद) रखना वर्जित था। चीनी यात्री उल्लेख करते हैं कि जब वह भारत के किसी विहार में जाते तो स्थानीय भिक्षु स्वागत करते हुए पहला सवाल यही करता—"आप कितने वर्ष के हैं ?" वर्ष से मतलब भिक्षु बनने के साल से था। यदि आगन्तुक का वर्ष अधिक देखता तो स्थानिक भिक्षु दाहिना कन्धा खोलकर उकडूँ बैठ दोनों हाथ जोड़ प्रणाम करता। यदि स्वयं में अधिक होता, तो अपना वर्ष वतलाता और आगन्तुक उसी तरह उसे प्रणाम करता। संघ में यह समानता का व्यवहार प्रभावित किए बिना नहीं रह सकता। जब वह देखता है कि एक कोयले-जैसे काले भिक्षु को कपूर-जैसा गोरा आदमी उकडूँ बैठकर प्रणाम करता है, चाण्डालपुत्र महास्थविर के सामने बैठकर ब्राह्मण महाशाल-पुत्र विद्या ग्रहण कर रहा है।

बाबासाहब के हृदय को छू लेनेवाली यह बातें थीं, जिन्होंने उन्हें अपनी ओर आकृष्ट किया। बौद्ध धर्म में सामाजिक विषमता के लिए स्थान नहीं है। वह आर्थिक विषमता का भी विरोधी है। बहुजन और गणतंत्र को वह सर्वोपरि मानता है। इसके साथ ही जब डॉ. अम्बेडकर जैसे विचारशील पुरुष ने बौद्ध दर्शन को देखा, तो वह हर्ष के मारे आत्मविभोर-से हो गए। यदि वह बुद्धिवादी न होते, तो यहाँ डरने की बात भी थी। बचपन से वह ईश्वर और आत्मा तथा भगवान का नाम सुनते आए थे। बचपन से भूत का नाम सुनते रहने के कारण आदमी सयाना होकर तर्क से भूत के अस्तित्त्व को न मानते हुए भी भूत के भय से जल्दी मुक्त नहीं होता। ईश्वर के आगे-पीछे तो बड़े-बड़े दर्शन खड़े किए गए हैं, बड़े-बड़े पोथे लिखे गए हैं। दुनिया के सारे धर्म दूसरी बातों में चाहे भले ही आपस में कटें-मरें, पर ईश्वर, God, यहोबा या अल्लाह के नाम के सामने सभी सिर नवाये और अकल बेच खाने के लिए तैयार हैं। सिर्फ बौद्ध ही एक ऐसा धर्म है, जिसमें ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है। ईश्वर से मुक्ति पाए बिना बुद्धि पूरी तौर से मुक्त नहीं हो सकती। फिर उन्होंने आत्मवाद के सिद्धान्त पर गम्भीर विवेचन किया। दुनिया की सभी वास्तविक वस्तुएँ क्षणिक हैं। जो क्षणिक नहीं, वह वास्तविक नहीं। इस अनित्यवाद पर विचार किया। दर्शन के तौर पर बौद्ध धर्म को उन्होंने आज भी आधुनिकतम और प्रगतिशील देखा। यद्यपि दर्शन साधारण जनता की दिलचस्पी का विषय नहीं हो सकता, उसके समझनेवाले बहुत थोड़े ही होते हैं। पर अगर दर्शन (दृष्टि) सम्यक (ठीक) हो तो आदमी बहुत-से मानसिक वन्धनों से मुक्त हो जाता है। ईश्वर को मानने पर ईश्वरी पुस्तक भी सिर थोपी जाती है : ब्राह्मणशाही अपने वेद, पुराण, उपपुराण, मनुस्मृति सबके बोझ को लादकर आदमी को सिर उठाने लायक नहीं रहने देती। ईसाई बायबल, मुसलमान

कुरान द्वारा उसी प्रकार वुद्धि को बाँधना चाहते हैं। बौद्ध धर्म किसी पुस्तक को वुद्धि के ऊपर मानने के लिए नहीं कहता। उसका तो बल्कि कहना है–

वेदप्रानाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः,
स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
सन्तापारम्भः पापहानाय चेति,
ध्वस्तप्रज्ञानां पंचलिंगानि जाड्ये।

[वेद (ग्रन्थ) की प्रमाणता, किसी (ईश्वर) का (सृष्टि) कर्तापण (कर्मवाद), स्नान (करने) में धर्म (होने) की इच्छा रखना, जातिवाद (छोटी-वड़ी जाति-पाँत) का घमण्ड, और पाप दूर करने के लिए (शरीर को) संताप देना (उपवास तथा शारीरिक तपस्या करना)–ये पाँच हैं, अकल-मारे (लोगों) की मूर्खता (जड़ता) की निशानियाँ।]

जहाँ तक उनके अपने विचारों का सम्वन्ध हैं, वौद्ध धर्म और दर्शन को उन्होंने सवसे अधिक पसन्द किया। सामाजिक-मानसिक सभी तरह की पूर्ण स्वतंत्रता देने में बौद्ध धर्म के समान कोई धर्म नहीं था। साथ ही भारतीय संस्कृति की जो सेवाएँ वौद्ध धर्म और बौद्ध विचारकों ने की हैं, उनकी किसी दूसरे से तुलना नहीं की जा सकती। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि हमारी सुन्दरतम् और प्राचीनतम् मूर्तियाँ भरहुत और साँची की बौद्ध मूर्तियों के रूप में मिलती हैं। हमारे सुन्दरतम् और प्राचीनतम् चित्र अजन्ता और बाघ के चित्रों के रूप में मिलते हैं। हमारी मूर्तिकला के भव्य रूप जावा के बोरोवुदूर, कम्वोज के अंकोरवातु, मध्य एशिया के तुंग-व्हान् के रूप में भारत के बाहर भी इतने, भव्य, विशाल और अद्वितीय हैं कि जिन्हें देखकर आदमी चकित हो जाता है। वावासाहव डॉ. अम्वेडकर ने देखा, यह सारी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक निधियाँ हमारे देश में बे-मालिक की पड़ी हुई हैं। यहाँ अन्य पुरुष में बौद्धों की चीजें कह उनका परिचय कराया जाता है। 'हमारी' कह देने-भर से वह हमारी होनेवाली हैं, यदि हम वौद्ध हैं। इस अनमोल खजाने की ओर उनका मन ललचाये तो आश्चर्य नहीं। आज जो आधे करोड़ (नवदीक्षित) बौद्ध भारत में हुए हैं, उनके कारण अब भारत में इन सांस्कृतिक निधियों को अन्य पुरुष में नहीं कहा जा सकेगा। हजारों भारतीय बौद्ध अजन्ता में जायेंगे, वहाँ उस चैत्य की पूजा करेंगे, जिसमें वुद्ध के अग्रश्रावक सारिपुत्त और महामौद्‌गल्यायन की अस्थियाँ रखी गयी थीं, जो पौन शताब्दी तक इंग्लैंड में निर्वासित रहकर देश के स्वतंत्र होने पर ही भारत लौटी हैं। वह कहेंगे–"यह हमारा पुज्जनीय पवित्र चैत्य, उसी विदिशा नगरी के बाहर बना हुआ है, जहाँ अशोक-पुत्र महेन्द्र का ननिहाल था, जिन्होंने बहुजन हिताय और भारतीय संस्कृति के प्रसार के लिए राज-सुख को छोड़कर ताम्रपर्णी (लंका) में भिक्षु जीवन विताना स्वीकार किया। सारनाथ, जेतवन, कुसीनगर, बोधगया, संकिसा, नालन्दा, राजगृह, वैशाली, धान्यकटक (अमरावती), श्रीवर्षत, आदि-आदि हमारे देश के दर्जनों मृत पुण्य-तीर्थ पुनरुज्जीवित हो जायेंगे। इन तीर्थों के यात्री अव तक केवल विदेशी बौद्ध होते थे। कुसीनगर के महापरिनिर्वाण चैत्य की पूजा करने के लिए बर्मी भिक्षु और गृहस्थ आया करते थे, जिसके कारण आधी शताब्दी पहले कसया के आसपास के लोग उसे बर्मा का देवता-तीर्थ कहते थे। अब बुद्ध -त्योहार के समय हजारों भारतीय बौद्ध वहाँ जाएँगे। इसके कारण इन स्थानों की पवित्रता फिर से स्थापित होगी। हमारे इतिहास का गौरव लोगों के मन पर स्थापित होगा।

बावासाहब डॉ. अम्वेडकर की दूरदर्शिता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। उन्होंने हिन्दू संस्कृति के अवांछनीय तत्त्व को निकाल फेंका, पर उसके असली भाव और रूप को हाथ से जाने नहीं दिया। हाँ, हिंदू किसी धर्म विशेष का नाम नहीं, यह हमारे सारे देश और उसकी हजारों वर्ष-व्यापिनी संस्कृति का नाम है। सिन्धु नदी को कहते थे। सरस्वती (कुरुक्षेत्र), सतलज, विपाश (व्यास), परूष्णी (रावी), असिकनी (चनाब) और सिंध–इन सात सिन्धुओं (नदियों) का देश वैदिककाल में 'सप्तसिंधु' कहलाता था। ईरानी 'स' का उच्चारण 'ह' कहते थे। इस प्रकार सप्तसिंधु उनकी भाषा में हप्तहिन्धु हो गया। इसी हिन्दू शब्द को 'ह' का उच्चारण न कर सकने के कारण ग्रीकों (यूनानियों) ने 'इन्द' या 'इन्दू' कर दिया। उन्हीं के द्वारा सारे विश्व में फैलकर आज हमारे देश का नाम इन्दू (इण्डिया) कहा जाता है। रूसी हरेक भारतवासी को इन्दुस कहते हैं, जापानी

'इन्दाजन' कहते हैं, चीनी में भी 'इन्दु' नाम हजारों वर्षों से प्रचलित है। 'हिन्दू' नाम या शब्द का केवल ब्राह्मणशाही के लिए प्रयोग गलत है। उसे ब्राह्मणशाही का पर्याय नहीं होने देना चाहिए। इस प्रकार नवदीक्षित बौद्ध भारतीय संस्कृति के प्रवल पक्षपाती होने के कारण हिंदू शब्द के विरोधी नहीं हो सकते और न इस नाम से उनको चिढ़ हो सकती है। हाँ, वह यह जरूर ध्यान रखते हैं, कि हिन्दू का अर्थ ब्राह्मणशाही न लिया जाय।

बुद्ध की पच्चीसवीं शताब्दी सारे देश में मनाई जा रही थी, हरेक भारतीय के दिल में बड़ा हर्ष और उत्साह था। वह इसके लिए पं. जवाहरलाल नेहरू का हृदय से कृतज्ञ था। हमारी सरकार धर्मनिरपेक्ष सरकार है। साधारण तौर से देखने पर एक धर्म के संस्थापक बुद्ध के प्रति इतना खर्च करके आदर दिखलाना उसके लिए उचित नहीं समझा जाता। पर बुद्ध केवल धर्मसंस्थापक नहीं थे। वह उच्च कोटि के विचारक होने के साथ-साथ हमारे देश और संस्कृति के महान उन्नायक थे। उनकी शान्तिमय वाणी ढाई हजार वर्ष पहले गूँजी थी। उन्होंने पंचशील का उपदेश दिया था। उस समय उन्होंने कहा था–'वैर से वैर शान्त नहीं होता है।" उन्होंने मानव-प्रेम का अद्‌भुत पाठ पढ़ाया। ऐसा पाठ, जिसके कारण बौद्ध-धर्मदूतों ने अपने विचारों के प्रसार में कभी हिंसा का रास्ता नहीं अपनाया। बुद्ध ही कारण थे, जिससे कि हमारे देश का आधी दुनिया से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हुआ। भारत के स्वतंत्र होते ही चीन के साथ हमारे देश की इतनी जल्दी मैत्री और घनिष्ठता क्यों स्थापित हो गयी ? उसका कारण बुद्ध के वह संदेशवाहक थे। जिन्होंने समुद्र के उत्ताल तरंगों से भय नहीं खाया, हिमालय की चोटियों और रेगिस्तानों को तुच्छ समझा। देश के सुखी जीवन को छोड़कर चलने के लिए तैयार हो अपनी हड्डियों को उन देशों में बिखेर दिया। लोमाङ् में काश्यप मातंग की हड्डियाँ दो हजार वर्षों से पड़ी बेकार नहीं हैं, उन्होंने चीन को वह उर्वरता प्रदान की जिसके कारण भारत के प्रति वहाँ स्नेहांकुर उगा। हमारी सरकार इंग्लैंड के अपने दूतावास पर डेढ़ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष खर्च करती है। दूतावासों का काम है देशों में परस्पर सद्‌भावना पैदा करना। जो काम करोड़ों रुपये वार्षिक खर्च करने पर भी नहीं हो सकता, वह काम भारत और चीन के बीच बुद्ध ने सुलभ कर दिया। इसलिए यदि बुद्ध की पच्चीसवीं शताब्दी मनाने में हमारी सरकार आगे बढ़े, तो उसका धर्म-निरपेक्षता से विचलित होना नहीं कह सकते और न यही कह सकते हैं कि यह फजूल का खर्च है। ऐसा करके उसने शताब्दियों से अपने ऊपर चढ़े बुद्ध के ऋण से उऋण होने की कोशिश की। धर्म को अलग भी कर दें तो भी बुद्ध को एक महान विचारक के तौर पर, समाज के एक महान कल्याण-चेता के तौर पर वह स्थान प्राप्त है, जिसके समान दुनिया में बहुत कम पुरुष पैदा हुए। इसमें कोई शक नहीं कि यदि पं. जवाहरलाल नेहरू की जगह हमारे देश का कोई दूसरा प्रधानमंत्री होता, तो उतनी दूरदर्शिता से काम नहीं ले सकता था। नेहरू अपने विचारों और आदर्शों के लिए बुद्ध के व्यक्तित्त्व की ओर आकृष्ट थे। उन्होंने वही काम किया जो करना हमारे देश का कर्तव्य था, पर उसे वही कर सकते थे।

आज आधे करोड़ भारतीय बौद्ध बाहर के करोड़ों बौद्धों के साथ जीवित सम्बन्ध जोड़ने के लिए स्नेह की शृंखला हैं। वाबासाहब डॉ. अम्बेडकर की प्रेरणा और उदाहरण ने हमारे देश के एक विशाल जन को बौद्ध बनने के लिए तैयार किया। जिस वर्ष को हमारी सरकार ने पच्चीसवीं शताब्दी के उत्सव का वर्ष माना, उसी वर्ष आधे करोड़ के करीब हमारे देशवासी बौद्ध हुए। उनके साथ 'नव बौद्ध' नाम लगाया जा रहा है। पर, 'नव वौद्ध' सार्थक शब्द नहीं है। वह किसी नये बौद्ध धर्म के अनुयायी नहीं हैं। न वह कोई नयी बौद्ध परम्परा कायम करना चाहते हैं। मैं समझता हूँ, 'नव' विशेषण अधिक समय तक उनके साथ नहीं रहेगा। हमारे देश के दशमांश लोग हजारों वर्षों से मानवोचित अधिकारों से वंचित हैं। पहले बुद्ध के उपदेशों से और कार्यों से उनकी स्थिति में कुछ परिवर्तन जरूर हुआ था, जबकि उनके पुत्र-पुत्रियाँ संघ में बराबर (समानता) का स्थान प्राप्त करते थे। नाई-कुल में पैदा हुए उपाली प्रथम बौद्ध संगीति के तीन प्रमुख नायकों–महाकाश्यप, आनन्द, और उपाली–में से एक थे। पर समय अनुकूल नहीं था। स्वतंत्रता और बड़ी जातिवालों ने आर्यागम के सभी मार्गों पर एकाधिकार कर रखा था। शक्ति के बल पर वह अछूतों को अपने पैरों के नीचे दबाकर रखे हुए थे। इस स्थिति को बदलने का मार्ग आधुनिक युग में प्रशस्त हुआ। पूँजीवाद ने ब्राह्मणशाही का दिवाला निकाल दिया। बनिये राजसिंहासन पर हावी हो गए। यद्यपि पूँजीवाद ने मशीनों द्वारा धन के उत्पादन को बढ़ाकर

अपार सम्पति भर दी, पर बहुजनों के पैर की बेड़ी अब भी नहीं कटी थी। उसे काटकर मनुष्य-मार्ग के लिए मुक्त करके सुखी और समृद्ध जीवन दिलाने का बीड़ा समाजवादी-साम्यवादी ने उठाया। हजारों वर्षों की गंदगी अब ठहर नहीं सकती थी। शिक्षा के प्रसार से आत्मचेतना और आत्मसम्मान की भावना जागी। बाबासाहब डॉ. अम्बेड़कर अत्यन्त दलित अछूत जाति में पैदा हुए थे। अपने देश के बौद्ध-युग के बारे में नहीं कहता, क्योंकि उस समय डॉ. अम्बेडकर को संघ में ऊँचा स्थान पाने में कोई रुकावट नहीं हो सकती थी। पर, इसके द्वारा वह अपनी जाति को ऊपर उठा नहीं सकते थे। उनका तो आदर्श था–

"स जातो येन जातेन याति वंश समुन्नतिम्"

(वही पैदा हुआ, जिसके पैदा होने से जाति ऊपर उठे।)

यदि युग सहायक न होता, तो डॉ. अम्बेडकर को गुमनाम रहकर अपना सारा जीवन बिता देना पड़ता। उनमें प्रतिभा थी। लेकिन प्रतिभा क्या करती, यदि उसको व्यवहार का मौका न मिलता। युग उन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त करने में सहायक हुआ। वह चाहते तो उच्चवर्ग में व्यक्तिगत तौर से सम्मिलित होने में उन्हें अधिक रुकावट न होती। पर, बाबासाहब अपनी सारी जाति को अपने साथ ले जाना चाहते थे। डॉ. अम्बेडकर जैसी महान प्रतिभा को देखकर उनकी पददलित जाति में भी आत्म-चेतना पैदा हुई। देश में हजारों उच्चशिक्षित पुरुष अछूतों के भीतर पैदा हुए, उन्होंने अपने भाइयों को समझाया कि भाग्य और भगवान के कारण हम मानव-अधिकारों से वंचित नहीं हैं, बल्कि हमें वंचित रखनेवाले यहीं के लोग हैं यही बड़ी जातिवाले–ब्राह्मण, क्षत्रिय, लाला लोग। डॉ. अम्बेडकर ने बीस वर्ष की अपनी सेवाओं द्वारा अपने लोगों के हृदय में ऊँचा स्थान प्राप्त किया, जिसके कारण वह उनके पीछे-पीछे बौद्ध धर्म में सम्मिलित होने के लिए तैयार हुए। पूछा जा सकता है–क्या एक व्यक्ति ऐसे परिवर्तन का कारण था ? परिवर्तन के कारण और भी थे, इसमें शक नहीं, लेकिन एक योग्य नेतृत्व की आवश्यकता थी, जिसका काम बाबासाहब डॉ. अम्बेडकर ने पूरा किया। पच्चीसवीं शताब्दीवाले वर्ष में, जैसा कि मैंने ऊपर कहा, आधे करोड़ के करीब आदमी बौद्ध-धर्म में बड़े उत्साह से दीक्षित हुए।

पच्चीसवीं शताब्दी मनाने में सरकार ने जिस उत्साह का परिचय दिया, उससे आशा यही रखनी चाहिए कि वह इन नवदीक्षित बौद्धों के उपस्थित होने से खुश होगी। पर, सरकार का रुख अब उलटा देखते हैं। वह उन प्रतिगामी पुरुषों की कामना पूरी करने जा रही है, जो कहते थे बुद्ध-शताब्दी पर इतना रुपया क्यों खर्च किया जाता है ? हमारे देश ने स्वतंत्रता क्यों खोयी ? गाँधीजी ने एक बार कहा था–"अपने करोड़ों भाइयों को अछूत बना रखने के कारण।" उनके इस वाक्य में सत्यता का बहुत बड़ा अंश है। राष्ट्र को छूत-अछूत में बाँटकर राष्ट्र की शक्ति को ब्राह्मणशाही ने क्षीण कर दिया। यह विभाजन छूत-अछूत तक ही नहीं रहा, बल्कि छूत माने जानेवालों में भी बड़ी जाति और छोटी जाति का भेद कायम कर दिया गया। बड़ी जाति सारी सम्पत्ति और सुभीतों की अधिकारिणी बन गई, छोटी जाति छूत-अछूत दोनों अधिकारों से वंचित हो गई। अधिकारवंचित बहुसंख्य समाज देश को विदेशियों के आक्रमण से बचाने लायक भी नहीं रह गया। ऊपर से नीचे और दाहिने से बाएँ–चारों ओर इस तरह फूट में पड़ी हमारी जाति वीरता, निर्भीकता आदि गुणों के रहते भी परतंत्र बनने से नहीं बच पाई। कोई देश सुसंस्कृत और मुक्त केवल मुट्ठी-भर आदमियों के शिक्षित और साफ-सुथरे रहने से नहीं बन सकता। कोट-पतलून और कारवाले कुछ थोड़े-से लोग विदेशी यात्री के ऊपर हमारे देश का प्रभाव नहीं डलवा सकते, जब कि हमारे शहरों और गाँवों में नंगे-भूखे करोड़ों आदमियों को वह अपनी आँखों देखते हैं। जब तक हमारे यहाँ की अशिक्षा, भुखमरी और हद दर्जे की गरीबी दूर नहीं होती, तब तक हमारे देश का न सम्मान बाहर देशों में बढ़ सकता है, और न वह वस्तुतः इतनी शक्ति संचय कर सकता है कि उसकी तरफ कोई लालच-भरी दृष्टि से देख सके। हमारे राष्ट्र के कर्णधार इस बात को भली-भाँति समझते हैं। इसलिए उन्होंने अछूत-अनुसूचित जातियों को विशेष सुभीताएँ दी हैं। उनके लड़कों को स्कूलों, कॉलेजों में फीस नहीं देनी पड़ती, उनके लिए कानूनी तौर से भारी संख्या में स्थान रक्षित किए गए हैं। योग्यता के मान को भी कम कर दिया गया है। बड़ी जातिवाले साधारण जन नहीं, सभी लोग भेदभाव, जाति-पाँति को

वुरा समझते हैं। इन दलित लोगों को मानवता के सभी अधिकार दिए विना हमारे देश का उद्धार नहीं हो सकता।

आधे करोड़ के करीवन नवदीक्षित वौद्ध अछूत-अनुसूचित जातियों में से हैं। उन्हें शिक्षा और नौकरी के सुभीते अव तक प्राप्त थे। वावासाहव के जीवन में ही बड़ी जातिवालों ने कहना शुरू कर दिया था कि बौद्ध हो जाने के कारण इन्हें अनुसूचित जाति का नहीं कहा जा सकता, इसलिए शैक्षणिक और अन्य सुभीताएँ नहीं मिलनी चाहिए। वावासाहव डॉ. अम्बेडकर ने कहा था–"जिस तरह लड़कर मैंने यह सुभीते अपने लोगों के लिए प्राप्त किए हैं, उसी तरह मैं उनसे वंचित करने पर लडूँगा और अपने लोगों को इन सरकारी शैक्षणिक और अन्य सुभीताओं से वंचित नहीं होने दूँगा।" आज वह शक्तिशाली, बुलन्द आवाज लुप्त हो गई, बुझ गई। आज सरकार नवदीक्षित बौद्धों को उन सुभीतों से वंचित कर रही है और कहती है–"ईसाई और मुसलमान को यह सुभीताएँ नहीं दी जाती हैं। यह तो केवल हिन्दुओं के अत्यन्त दलित वर्ग के लिए रखी गयी हैं।" पर क्या वौद्ध होने ही मात्र से ये नवदीक्षित बौद्ध सारी आर्थिक, सामाजिक विरोधी परिस्थितियों से मुक्त हो गए ? हजारों वर्ष का अभाव उनका दूर हो गया ? वह अपने बल पर बढ़कर जल्दी ही दूसरों की पंक्ति में आ जायेंगे ? नवदीक्षित वौद्धों को विदेशों से सहायता की न सम्भावना है, और न अपने देश में ही उनके ऐसे धर्म-वन्धु हैं, जो पर्याप्त सहायता पहुँचा सकें। केवल अपने वल पर बहुत समय की आवश्यकता होगी। अव भी वह लोग सरकार की उन सहायताओं के वैसे ही पात्र हैं, क्योंकि उसके बिना उनके आगे बढ़ने में भारी रुकावट होगी। पचासों हजार की तादात में उनके लड़के जो स्कूलों और कॉलेजों में पढ़ रहे हैं, आर्थिक सहायता वंद होने से वह शिक्षा से वंचित हो जायेंगे। बौद्ध होने से आत्मसम्मान की वृद्धि उनमें जरूर हुई है, लेकिन उसके कारण आर्थिक साधनों में वृद्धि नहीं हुई है। सरकार का कर्तव्य अब भी इन लोगों के प्रति वैसा ही है। उनके आगे वढ़ने में सहायता करने की बड़ी आवश्यकता है। यदि यह सहायता बन्द की जाती है, तो इसके सिवा इसका कोई अर्थ नहीं हो सकता कि बौद्ध बनने का उन्हें दण्ड दिया जा रहा है। बौद्ध बनने में पच्चीसवीं शताब्दी के सरकार के काम से भी उन्हें प्रेरणा मिली, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। सरकार क्या अपने किए पर पानी फेरना चाहती है ?

इसका एक परिणाम यह हो सकता है कि शिक्षा और नौकरी में सुभीता पाने के एक इच्छुक नवदीक्षित बौद्ध अपने को वौद्ध न कहें। हो सकता है, कुछ समय के लिए कितनों ही को ऐसा करना पड़े, पर इसकी जिम्मेदारी सरकार पर होगी। एक बात और भी देखने की है। सरकार ने अनुसूचित जातियों में केवल हिंदुओं को ही नहीं, बल्कि सिक्खों को भी सम्मिलित किया है। नवदीक्षित बौद्धों की भी वही स्थिति है जो कि सिक्ख हरिजनों की। सिक्ख धर्म को हिंदू धर्म से जितना पृथक गिना जाता है, उसी मात्रा में बौद्ध धर्म को हिंदू धर्म से एकदम अलग मानना ही चाहिए। लेकिन हिंदू, बौद्ध, सिक्ख सभी एक ही संस्कृति के वारिस हैं। इसी विरासत के कारण इनमें से कुछ को अपने (मानवीय) अधिकारों से वंचित रहना पड़ा। सरकार अगर न्याय से काम लेना चाहती है, भेदभाव नहीं करना चाहती, बौद्धों को दण्ड देने की इच्छा नहीं रखती है, तो सरकार का कर्तव्य है कि नवदीक्षित वौद्धों को उसी तरह सारे सुभीते दे, जो कि सिक्खों के उस वर्ग को प्राप्त हैं। संविधान की दोहाई देकर इस अन्याय को जारी करना कभी उचित नहीं समझा जा सकता। अव्वल तो सांस्कृतिक तौर से सिक्खों की तरह बौद्धों की हिंदुओं से विभिन्नता नहीं है, इसलिए संविधान में उन्हें अनुसूचित जातियों के सुभीतों को देने में कोई रुकावट नहीं हो सकती। और यदि रुकावट है, तो संविधान न्याय करने के लिए बना है, अन्याय करने के लिए नहीं। उसमें परिवर्तन होना चाहिए।

नवदीक्षित बौद्धों को भी बुद्ध का वचन याद रखना चाहिए–"अत्ता ही अत्तनो नाथो" (अपनी मदद आप करो।)

कुछ और लेख एवं संस्मरण*

* 'विविध प्रसंग' एवं 'राहुल निवन्धावली' में संकलित तथा कुछ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित-अप्रकाशित।

रहीम

हिन्दी के पहले युग में मुसलमान कवि सर्वेसर्वा थे, यह मंझन, कुतबन, जायसी की कृतियों से मालूम है। इनसे पहले मैथिली के विद्यापति और काशी के कबीर ही हिन्दी गगन के चमकते नक्षत्र थे। फिर अकबर का समय आया, जवकि हिन्दी कविता को वहुत आगे बढ़ने का मौका मिला।

इस युग में जहाँ सूर और तुलसी जैसे सूरज-चाँद उदय हुए, वहाँ रहीम भी हमारी कविता के उन्नायक बनें। उनकी हिन्दी कविता कितनी चुभती हुई है, यह इसी से मालूम होता है कि उनके दोहे तुलसी की चौपाइयों की तरह लोगों के मुख पर चढ़े हुए हैं। उनके एक-एक दोहे में गागर में सागर की तरह गम्भीर अर्थ और अनुभव भरा होता है। उनकी कविताओं में साम्प्रदायिक संकीर्णता की गंध नहीं मिलती।

इतनी उदारता का कारण क्या है, इसे समझना बहुत मुश्किल नहीं है। हम जानते हैं कि तीन वर्ष के रहीम 16 वर्ष के अकबर की छत्रछाया में पले थे—अकबर जिसने साम्प्रदायिकता को अपने ही हृदय से नहीं, बल्कि देशवासियों के हृदय से उखाड़ फेंकना चाहा था। रहीम के पिता बैरम खानखाना भी उसी तरह उदार थे। वह स्वयं कई पीढ़ियों के शिया थे।

भारतवर्ष में सुन्नियों का वोलबाला था। शियों के ऊपर कुफ्र का फतवा लेते देर नहीं लगती थी। इसलिए भीतर से शिया रहते उन्हें वाहर से सुन्नी दिखाना पड़ता था। बाबर शिया शाह इस्माइल का एक बार कृपापात्र था, और शिया भी था। हुमायूँ को भी ईरान के शिया बादशाह का सहारा मिला था। यह भी कहा जाता है कि वह भीतर से शिया था।

शिया सम्प्रदाय ने ईरान में सांस्कृतिक उदारता का प्रसार किया और भारत में भी उसके विचार उदार रहे। जब बाप पर शिया होने का सन्देह किया जाता था, तो बेटे पर क्यों न किया जाता जो कि अपनी उदारता में हिन्दू-मुसलमान का भेद नहीं रखता था, हिन्दुओं की भाषा में कविता करता, हिन्दू कवियों को मुक्त हस्त होकर दान देता ? लेकिन इस तरह के सन्देह के शिकार उस समय और भी थे।

अकवर के महामंत्री अबुलफज़ल और उनके बड़े भाई तथा अपने समय के अद्वितीय विद्वान फैज़ी को शिया कहा जाता था। दोनों के पिता मुबारक ने तो अपने उदार विचारों के कारण बड़ी-बड़ी मुसीबतें झेली थीं।

बीच के थोड़े दिनों में सैयद, लोदी और सूर राजवंशों को छोड़ दिल्ली के मुसलमान शासक सभी तुर्क थे। गुलाम, खिलजी और तुगलक तीनों मध्य एशिया के तुर्क थे, और अन्तिम मुगल राजवंश भी। तुर्कों के साथ इन राजवंशों का विशेष पक्षपात होना स्वाभाविक था। अन्तिम मुस्लिम काल में तो चार राजनीतिक दलों की आपस में प्रतिद्वंद्विता थी, जिनमें ईरानी दल के नेता मुर्शिदाबाद और लखनऊ के शिया नवाब थे। पठानों का एक अलग मजवूत दल था, जिनके नेता सैयद बंधु थे। चौथा दल शाही समझा जाता था, इसे तूरानी कहते थे। तुर्कों की मध्य-एशिया की भूमि को तुर्किस्तान और तूरान दोनों कहा जाता था।

आरम्भ में तूरानी दल सबसे जबर्दस्त था। बाबर-हुमायूँ-अकबर-जहाँगीर के समय इस दल की शक्ति बड़ी जबर्दस्त थी। तूरान (तुर्किस्तान) में कई तुर्क जातियाँ थीं। आज उनके ही प्रतिनिधि कज्जाक, किर्गिज,

उज्बेक, तुर्कमान हैं।

बाबर और उसके वंशज आजकल के उज्बेकिस्तान से आए थे। उन्हें उज्बेक कहा जा सकता है–यदि भाषा और जात का ख्याल किया जाय।

लेकिन, मंगोल खान उज्बेक के वंशज शैवानी खान ने बाबर को मध्य-एशिया से भगाया था, इसलिए वह उज्बेकों का नाम भी सुनने के लिए तैयार नहीं था। दरअसल, शैवानी खानदान ने ही देश को उज्बेक नाम दिया। उससे पहले, बाबर के समय, वह अपने को चगताई कहते थे। चगताई महान विजेता चिंगीज खान का पुत्र था। वह मंगोल था, जबकि उसकी प्रजा–वहाँ के लोग–तुर्क थे।

जो भी हो, बाबर के वंशज और अनुयायी तुर्क, उसके पोते के समय भी, अपने को चगताई कहते थे। बैरम खाँ चगताई नहीं, बल्कि तुर्कमान तुर्क था। आजकल सोवियत मध्य-एशिया में तुर्कमानों का अलग गणराज्य है। भारत में तूरानी लोग तुर्कमान दल के अभिन्न अंग थे।

अंतिम मुगल-काल में तूरानी दल का मुखिया निजामुलमुल्क भी तुर्कमान था, जिसने हैदराबाद में अपने राज्य की स्थापना की।

बैरम के पूर्वज, तैमूर की विजयों में उसके सहायक थे और बड़े-बड़े पदों पर रहकर उन्होंने अपने स्वामी की सेवा की थी। कराकुलू तुर्कमानों के बहारलू कबीले का अलीशकर, तैमूर की तरफ से हमदान का राज्यपाल था। इसी के वंश में शेरअली हुआ, जिसका पुत्र यारअली बाबर की सेवा में रहा। यारअली का पुत्र सैफ़अली अफगानिस्तान में मुगलों की ओर से शासक था। उसका बेटा बैरम अभी छोटा ही था, जबकि बाप मर गया। वह हुमायूँ का समवयस्क था।

अपनी योग्यता से उसने हुमायूँ को, और पीछे उसके पिता बाबर को खुश किया। संगीत और साहित्य की चर्चा उसके खानदान में होती रहती थी। बैरम खाँ के यहाँ गवैयों और वादकों की बड़ी कदर थी। वह स्वयं अपनी मातृभाषा तुर्की और फारसी का कवि था। योग्यता के बारे में क्या कहना ! हुमायूँ के भारत को पुनः प्राप्त करने में बैरम का बड़ा हाथ था। हुमायूँ के समय भी राजकाज को देखना बैरम के हाथ में था।

और अकबर के आरम्भिक शासन में बैरम की कितनी चलती थी, इसे सभी जानते हैं।

बैरम की कई बीवियाँ थीं, जिनमें से एक हुमायूँ की भांजी सलीमा भी थी। इससे यह भी मालूम होगा कि बैरम खाँ का सम्बन्ध शाही खानदान से था। कई बेगमों के रहने पर भी बैरम को सन्तान बहुत पीछे हुई। उसका बड़ा बेटा रहीम तो बाप के मरने से तीन ही वर्ष पहले पैदा हुआ था–और, शाहजादियों से नहीं। उसकी माँ हसन खाँ मेवाती की भतीजी थी। वह उन्हीं मेव लोगों का सरदार था जो अब भी रोहतक-भरतपुर में बड़ी संख्या में रहते हैं।

आरंभिक मुस्लिम शासन में हिंदू मेवों ने दिल्ली के शासकों के नाकों दम कर रखा था। पीछे वे सबके सब मुसलमान हो गये। हसन खाँ मेवाती की एक भतीजी (जमाल खाँ की बेटी) रहीम की माँ थी, और मौसी अकबर की बेगमों में से थी।

अब्दुर्रहीम का जन्म लाहौर में सफर 14 तारीख, मंगलवार 17 दिसम्बर 1556 ई. में हुआ। रहीम के जन्म से कुछ ही महीने पहले पानीपत में हेमू को हराकर मुगल राजवंश की नींव पड़ी थी।

बैरम खाँ तुर्कमान हुमायूँ के पुनः दिल्ली के सिंहासन पर बैठने में सबसे बड़ा सहायक था, यह बतला आए हैं। अकबर गद्दी पर बैठने के समय 13 ही वर्ष का था। बैरम उसके बाप को भी अँगुली पर नचाता था, इसलिए बेटे को यदि दुधमुँहा बच्चा समझे, तो आश्चर्य क्या ? लेकिन, अकबर बहुत दिनों तक दुधमुँहा बना रहने के लिए तैयार नहीं था। उसके 16-17 वर्ष का होते-होते बैरम खाँ का सितारा डूबने लगा।

बैरम खाँ के सामने अकबर ने तीन प्रस्ताव रखे : या तो हमारे दरबारी बनकर रहो, या चंदेरी-कालपी के जिले के हाकिम बन जाओ, या फिर हज करने जाओ। खानखाना जिस जगह पहुँचा था, वहाँ से नीचे उतरने के लिए तैयार नहीं था; उसने हज करने जाना ही स्वीकार किया।

तीन वर्ष का अब्दुर्रहीम भी बाप के साथ था। गुजरात के किसी बन्दरगाह से मक्का की तरफ जानेवाले

जहाज को पकड़ना था। पठानों के साथ बैरम खाँ ने जिस तरह का बर्ताव किया था, उससे वे उसे क्षमा करने के लिए तैयार नहीं थे। पाटन में पहुँचने पर मुबारक खाँ लोहानी 30-40 पठानों के साथ उससे मुलाकात करने आया और हाथ मिलाने के बहाने बैरम खाँ की पीठ में तलवार घुसेड़ दी। खंजर आर-पार हो गया। फिर एक तलवार और सिर पर मारकर उसने वहीं उसे खतम कर दिया।

हत्यारे ने कहा–माछीवाड़ा में इसने मेरे बाप को मारा था, उसी का मैंने आज बदला लिया।

1567 ई. में अब रहीम अनाथ हो गया। उसकी माँ की एक बहन अकबर की बेगम थी। बैरम की हत्या की खबर अकबर तक पहुँची। उसे बहुत अफसोस हुआ। सलीमा सुल्तान बेगम अपने तीन वर्ष के बच्चे को लेकर किसी तरह अहमदाबाद पहुँची। दरबार में आने के सिवा कोई चारा नहीं था। चार महीने बाद आगरा की ओर चलने का इन्तजाम हुआ।

अकबर ने ढाढ़स बँधाते हुए अपने फरमान में लिखा कि माँ-बेटे को अच्छी तरह दरबार में लाओ। यह फरमान उन्हें जालौर में मिला।

आगरा पहुँचने पर शाही महलों में सलीमा बेगम को उतारा गया। अकबर ने रहीम के ऊपर कृपा दिखलाते हुए, उसकी माँ को अपनी बीवी बनाया। जिस वक्त रहीम सामने लाया गया, तो अकबर ने आँसू बहाते हुए उसे गोद में उठा लिया उसने लोगों से सख्त हिदायत की कि बच्चे के सामने कोई खानबाबा (बैरम खाँ) का जिक्र न करे। पूछे तो कह दे–खुदा के घर हज्ज करने गए। इस प्रकार, 1567 में रहीम अकबर का पुत्र-सा बन गया।

अकबर उसे प्यार से 'मिर्जा खान' कहकर बुलाया करता था। रहीम का बाप साहित्य-संगीत-कला में प्रवीण पुरुष था। रहीम के विश्वासपात्र नौकरों और उसके परिवार का उसके निर्माण में बहुत हाथ था। अकबर भी उसकी शिक्षा-दीक्षा का बराबर ध्यान रखता था। तुर्की और फारसी रहीम की मातृभाषाएँ थीं। माँ के हरियाना की होने से हिन्दी भी उसके लिए मातृभाषा जैसी थी। इन तीनों भाषाओं पर रहीम का अधिकार था। अरबी भी अच्छी तरह पढ़ता था। यद्यपि हिन्दुस्तान में अरबी दरबारी जबान नहीं थी, पर धर्म और दर्शन के लिए उसका बहुत ऊँचा स्थान माना जाता था।

रहीम असाधारण सुन्दर तरुण था। चित्रकार उसकी तस्वीरें उतारते थे, जिन्हें अमीर लोग अपनी बैठकों को सजाने के लिए लगाते थे। होश सँभालते ही, रहीम का शायरों और कवियों, संगीतज्ञों और कलाकारों से सम्पर्क हुआ।

लेकिन अकबर रहीम को कलाकार नहीं, सैनिक बनाना चाहता था। रहीम के जीवन का अधिकांश भाग सिपाही के तौर पर ही बीता।

अभी वह नौ वर्ष का ही था, जब अकबर ने उसे 'मनअम खान' की उपाधि प्रदान की। 16 वर्ष की उमर (1573 ई.) में–जब अकबर गुजरात-विजय के लिए चला, तो–रहीम सैनिक अफसर के तौर पर उसके साथ गया। इसी वक्त अकबर ने दो महीने की यात्रा सात दिन में पूरी की थी। 16 वर्ष के लड़के रहीम का अकबर के साथ जाना बतलाता है कि वह कितनी जीवटवाला था। 19 वर्ष की उमर (1576 ई.) में अकबर ने रहीम को गुजरात का राज्यपाल बनाया। मिर्जा खान नहीं चाहता था कि दूर रहे, लेकिन अकबर ने उसे मजबूर किया। रहीम ने इस छोटी उमर में भी अपनी योग्यता का परिचय दिया।

अगले साल अकबर का चित्तौड़ के महाराणा से युद्ध हुआ। रहीम ने उसमें भाग लेकर पुनः अपनी योग्यता का परिचय दिया। अगले साल, 24 वर्ष की उमर (1581 ई.) में रहीम को रणथम्भौर की जागीर मिली। 26 वर्ष की उमर (1583 ई.) में वह जहाँगीर का अतालीक नियुक्त हुआ। अतालीक तुर्की शब्द है, जिसका अर्थ गुरु और शिक्षक है। उस वक्त क्या मालूम था कि आज रहीम जिसका अतालीक बन रहा है, वही अपने अतालीक को अन्तिम जीवन में तड़पा डालेगा।

उसके गुजरात से अनुपस्थित रहने पर, वहाँ की बगावत ने फिर गम्भीर रूप ले लिया। गुजरात में, जौनपुर की तरह, एक शाही खानदान कई पीढ़ियों तक राज्य करता रहा था। दिल्ली से बाहर रहनेवाले मुसलमान

सुल्तानों की तरह गुजराती सुल्तान भी अपनी हिन्दू प्रजा को अपनी तरफ करने में वहुत समर्थ हुए। इसलिए उन्हें मुगलों के खिलाफ बगावत करने में सहायक मिल जाते थे।

दूसरों को इस काम में सफल न देखकर, 27 साल के रहीम को अकवर ने सेनापति वनाकर भेजा। और, रहीम ने विजय प्राप्त की।

अकबर ने रहीम को 'खानखाना' की उपाधि प्रदान की। मध्य-एशिया में 'खान' राजा को कहते थे। यह मंगोल शब्द 1617 ई. तक इसी अर्थ में वरावर प्रचलित रहा। वुखारा की हकूमत में वादशाह को छोड़कर कोई दूसरा अपने नाम के साथ खान नहीं लगा सकता था। हिन्दुस्तान में उसका मूल्य जरूर कम होने लगा; लेकिन वह आज की हालत में नहीं पहुँचा था। 'खानखाना' का अर्थ राजाधिराज है। 27 वर्ष की उमर में रहीम ने अपने बाप की इस उपाधि को भी प्राप्त किया।

अवुलफज़ल और फैज़ी भीतर से शिया और बाहर से सुन्नी थे। बैरम खाँ की भी यही हालत रही थी। इस दृष्टि से भी रहीम अवुलफज़ल के वहुत नजदीक थे। अवुलफज़ल अकवर का प्रधानमंत्री ही नहीं था, वल्कि राजकाज में उसी की राय सर्वोपरि मानी जाती थी। रहीम के साथ अवुलफज़ल का वहुत स्नेह था।

34 वर्ष की उमर (1591 ई.) में रहीम ने अकबर की आज्ञा से बावर के आत्मचरित 'तुज्क बावरी' का फारसी में अनुवाद किया। बावर हमारे यहाँ एक विजेता, योग्य शासक और सेनप के तौर पर मशहूर है। लेकिन, मध्य एशिया में उसे महान् साहित्यकार माना जाता है–गद्य और पद्य दोनों में। 'तुज्क वावरी' चगताई तुर्की गद्य का महान ग्रंथ है। उस समय जिसे चगताई तुर्की कहते थे, आज उसी को उज्वेकी कहते हैं। उज्वेक स्कूलों और कॉलेजों में वावर की कृतियाँ बड़े सम्मान के साथ पढ़ी जाती हैं।

उसी साल रहीम को जौनपुर की जागीर मिली। इस तरह, अब्दुर्रहीम को उत्तरप्रदेश के पूर्वी भाग से सम्पर्क में आने का मौका मिला। रहीम के वरवे पर अवधी-भोजपुरी का असर है।

अधिक दिनों तक रहीम का जौनपुर से सम्वन्ध नहीं रहा, और अगले ही साल उन्हें मुलतान की जागीर मिली। कन्धार को ईरान ने मुगलों से छीन लिया था। अकवर चाहता था कि वह वहाँ जाये, इसीलिए रहीम को इस तरफ जागीर मिली। 37 वर्ष की उमर (1593 ई.) में रहीम ने अकबर के लिए कन्धार को जीता।

बादशाह, रहीम की जीतों को अपनी जीत समझता था। रहीम के साथ विशेष प्रेम का एक यह भी कारण रहा कि जहाँ अपने उत्तराधिकारी से विद्रोह का डर हो सकता था, वहाँ रहीम से इसकी कभी सम्भावना नहीं थी।

जहाँ सवसे ज्यादा खतरा और कठिनाई का सामना होता, वहाँ वह रहीम को भेजता। अहमदनगर को अकवर ने अपने राज्य में मिलाना चाहा। वीरांगना चाँद वीवी से मुकावला था। दूसरों के असफल होने पर, 39 वर्ष की उमर (1596 ई.) में रहीम को वहाँ भेजा गया। मुकावला आसान नहीं था। पर रहीम भी असाधारण सेनापति थे। 5 फरवरी 1597 ई. को अहमदनगर पर उन्होंने विजय प्राप्त की। उसी साल उनकी वीवी महाबानु और प्रिय पुत्र हैदरी की मृत्यु हो गई।

अकबर के शासन का वह अन्तिम वर्ष था, जब अकबर के पुत्र दानियाल का 1604 ई. में देहान्त हुआ। दानियाल रहीम का दामाद था। पुत्र और दामाद का वियोग रहीम को 49 वर्ष की उमर तक पहुँचते ही सहना पड़ा। रहीम 50 साल के हो चुके थे, जबकि जहाँगीर गद्दी पर वैठा।

अभी भी रहीम दक्षिण के सेनापति थे। 53 वर्ष की उमर (1608 ई.) में बूढ़े सेनापति को अहमदनगर में पहली हार खानी पड़ी। 56 वर्ष (1612 ई.) में उन्हें कन्नौज-कालपी की जागीर मिली। सोचा, वाकी जीवन शान्ति से बीतेगा। अगले ही साल उनकी पोती–शाहनवाज की बेटी–का ब्याह शाहजहाँ से हुआ। जहाँगीर के उत्तराधिकारी से पोती का ब्याह होना बड़ी प्रसन्नता की बात थी।

अगले साल रहीम का सबसे बड़ा बेटा एरज मर गया, उससे अगले साल दूसरा लड़का रहमान मदाद भी चल बसा। रहीम अपने पुत्रों की मृत्यु देखने के लिए दीर्घजीवी थे।

जहाँगीर, अपने बाप-दादों की तरह ही, चाहता था कि उसकी सल्तनत कावुल-कन्धार से और आगे बढ़े।

इसलिए बीच में फिर से कन्धार का हाथ से निकल जाना उसे पसन्द नहीं आया। जहाँगीर ने 1621 ई. में चाहा कि बूढ़ा सेनापति शाहजहाँ को लेकर फिर से कन्धार को जीते। यदि वह उधर गए होते, तो शायद उनके जीवन के अन्तिम वर्ष दूसरी तरह के होते। इसी बीच शाहजहाँ और उसके भाई शहरियार का झगड़ा हो गया। शहरियार नूरजहाँ के पहले पति की पुत्री से ब्याहा दामाद था, और शाहजहाँ सौतेला बेटा। जहाँगीर शाहजहाँ को चाहता था, लेकिन नूरजहाँ के सामने जबान भी नहीं हिला सकता था।

धौलपुर की जागीर नूरजहाँ ने शहरियार को दिलवायी थी। वही जागीर गलती से शाहजहाँ को मिल गयी। दोनों के अनुयायियों में खून-खराबी की नौबत आयी। शाहजहाँ रहीम का पोता दामाद था, इसलिए इस बात को लेकर जहाँगीर के साथ बूढ़े अतालीक का मनमुटाव हो गया।

इस मनमुटाव ने भीषण दुश्मनी का रूप ले लिया। जहाँगीर ने रहीम के पुत्र दाराब का सिर काटकर भेंट के तौर पर यह कहलवाते भेजवाया कि–बादशाह ने आपके लिए खरबूजा इनायत किया है। 70 वर्ष के बूढ़े बाप ने रूमाल को हटाया, तो वहाँ अपने बेटे का सिर देखा !

किसी व्यक्ति पर जो अन्तिम दर्जे की मुसीबत और जुल्म हो सकता है, रहीम ने उसे देख लिया। बादशाह चाहे कितना ही पश्चाताप करे, उससे क्या होता ? रहीम ने इसी की कोशिश की थी कि बाप-बेटे में बिगाड़ न हो, और नतीजा उलटा हुआ। बेटे शाहजहाँ को कैद में भी रहना पड़ा, और जहाँगीर ने तो उसका सर्वस्व हरण करके दाराब की वैसी मृत्यु का दृश्य दिखलाया।

अब रहीम के अधिक दिन नहीं रह गये थे। उसी साल बादशाह ने रहीम के दिल के घाव को भरने की कोशिश की। फिर से उन्हें 'खानखाना' की उपाधि दी, जागीर और पद भी पहिले की तरह कर दिया। लेकिन, उससे क्या होता था ?

फरवरी 1627 ई. में रहीम ने दिल्ली में अपना शरीर छोड़ा।

हुमायूँ के मकबरे के निकट उनका भी आलीशान मकबरा बना, जिसमें लाल पत्थर में संगमरमर की पच्चीकारियाँ थीं। 18वीं सदी के मध्य में सफदरजंग ने उसके संगमरमर को निकालकर अपने नाम की इमारत में लगवाया। दिल्ली रहीम को भूल गई। एक बार तो जान पड़ा कि उनका मकबरा उनके नाम की तरह एक दिन नामशेष हो जायेगा।

इतिहास ने रहीम को एक बड़े सेनापति, बड़े राजनीतिज्ञ और बड़े दानी के तौर पर ही याद किया है। वह ये तीनों थे, इसमें शक नहीं।

किन्तु आज, या आगे भी, रहीम इनके कारण हमारे हृदयों में आसीन नहीं रहेंगे, बल्कि हिन्दी के एक महान कवि के तौर पर ही अमर रहेंगे। दिल्ली के खुसरो ने फारसी के सर्वश्रेष्ठ कवियों में स्थान प्राप्त किया, गालिब ने उर्दू के महान् कवि का पद पाया। इन दोनों की कब्रें सौ-डेढ़ सौ गज के ही अन्तर पर हैं। गालिब की कब्र से सौ-डेढ़ सौ गज से ज्यादा दूर रहीम की समाधि नहीं है, इसे संयोग ही समझिए। खुसरो की कब्र उतनी ही बड़ी है, जितने में वह सोये हैं। गालिब की भी अभी दो साल पहले तक गुमनाम सैकड़ों कब्रों के बीच में एक कब्र थी, जिसे अब संगमरमर की छोटी-सी मढ़ी का रूप दे दिया गया है।

रहीम की कब्र अपनी आकृति और विशालता में हुमायूँ के मकबरे की तरह है। वह सदियों से उपेक्षित रही, और लोगों ने उसे गिरने-पड़ने के लिए छोड़ दिया। दिल्ली बढ़ते-बढ़ते अब रहीम की समाधि के चारों ओर पहुँच गयी। सौभाग्य से समाधि अपने आस-पास की दस-पन्द्रह एकड़ भूमि के साथ अक्षुण्ण बनी रही। केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय से आशा नहीं की जा सकती कि हिन्दी के इस महान कवि की कीर्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए वह कोई बड़ा कदम जल्दी उठायेगा। लेकिन, क्या हिन्दी जनता इस उपेक्षा को बर्दाश्त कर सकेगी ? शायद इसीलिए शिक्षा-विभाग तिनके से पानी पिलाने लगा है। जिस तरह रहीम की समाधि की मरम्मत का काम हो रहा है, उससे आशा नहीं कि इस शताब्दी के अन्त तक भी वह पूरा हो सकेगा।

रहीम हिन्दी ही के नहीं, बल्कि फारसी के भी कवि थे, और सबसे बढ़कर यह कि उन्होंने सैकड़ों फारसी कवियों को आश्रय दिया था। 'मआसिर रहीमी'–एक हजार पृष्ठों से बड़ा ग्रंथ बंगाल एशियाटिक सोसायटी

द्वारा प्रकाशित हुआ है। इसमें रहीम के कृपापात्र सैकड़ों फारसी कवियों की कृतियों को संग्रहीत किया गया है। यदि हिन्दी विरोधी शिक्षा-मंत्रालय इसका भी ख्याल करता, तो उसे ऐसी सुस्ती नहीं दिखलानी चाहिए।*

भारतेन्दु और पुश्किन

'सूर सूर, तुलसी ससी' की लोकोक्ति द्वारा हमने सूरदास को अपने पुराने हिन्दी-साहित्य का सूर्य स्वीकार किया, किन्तु यदि हिन्दी के आधुनिक साहित्य के सूर्य को ढूँढ़ना हो तो शायद 'इन्दु' वनाकर भी हमें हरिश्चन्द्र के सिवा दूसरा सूर्य नहीं दिखायी पड़ेगा, और कहना पड़ेगा :

"हरीचन्द सूरज भयो उडुगन ससी अनेक।"

काव्य, नाटक, कथा, निवन्ध सभी क्षेत्रों में उन्होंने हमारा पथ-प्रदर्शन किया—वहुमुखीनता के साथ उनमें मौलिकता थी। तत्कालीन रईसों में अत्यन्त व्यापक आलस्य और अभिमान का रोग उनमें नहीं था। उन्होंने हिन्दी के लिए बहुत किया, किन्तु देश की प्रतिकूल परिस्थिति उस प्रतिभा के पूर्ण उपयोग में बाधक हुई। यदि उन्हें पूरी तौर से अपना जौहर दिखलाने का मौका मिलता तो वह कैसे चमत्कार दिखलाते, इसे हम रूस के महान कवि पुश्किन के काम से जान सकते हैं, जिसे समसामयिक मर्मज्ञों से लेकर आज के कट्टर बोल्शेविकों तक, सभी 'रूसी कविता का सूर्य' (सोल्न्त्से रूस्कोई पोयेज़िया) कहते हैं। कितनी ही वातों में भारतेन्दु और पुश्किन में समानता है। दोनों के समय में बहुत थोड़ा अन्तर है। पुश्किन की मृत्यु 37 वर्ष की आयु में 1837 ई. में हुई, उसके तेरह वर्ष बाद भारतेन्दु 1850 में पैदा हुए, और यद्यपि पुश्किन की भाँति पिस्तौल से लड़ते भारतेन्दु को प्राण नहीं छोड़ना पड़ा, किन्तु उन्हें भी ऐसे संघर्षो से गुजरना पड़ा था, जिनसे कि 35 साल के लघु जीवन में अपना काम समाप्त करना पड़ा।

पुश्किन का जन्म सन् 1799 (6 जून) को रूस की राजकीय राजधानी नहीं, बल्कि सांस्कृतिक राजधानी मास्को में एक सम्पन्न सामन्त परिवार में हुआ था। उससे 51 वर्ष बाद परतन्त्र भारत की सांस्कृतिक राजधानी वाराणसी के एक सम्पन्न उच्च-मध्यम वर्ग के घर में भारतेन्दु ने जन्म लिया। पुश्किन की पहिली कृति[1] 15 वर्ष की उम्र में प्रकाश में आयी, और तव से 23 वर्ष तक वह अपने कार्य में लगा रहा। भारतेन्दु का मौलिक अनुवाद विद्यासुन्दर नाटक[2] 18 वर्ष की उम्र (1868 ई.) में प्रकाशित हुआ, तव से 16 वर्ष, अपने जीवन के अन्त (1884 ई.) तक वह अनवरत साहित्य-साधना में लगे रहे।

दोनों को अपनी मातृभूमि परम प्यारी थी। भारतेन्दु ने उस प्रेम को 'भारत दुर्दशा' नाटक में अंग्रेजी शासन के सारे बन्धनों के रहते हुए प्रकट करने की कोशिश की और अंग्रेजी शासन की आँख में काँटे की तरह चुभते रहे, जिसमें अंग्रेजों के पिट्ठू राजा शिवप्रसाद 'सितारे-हिन्दवी' का भी कुछ हाथ था। और पुश्किन ? अपने स्वतन्त्र विचारों के लिए जार का कोप-भाजन बन वर्षों वह 'काकेशस का बन्दी' बना रहा। पुश्किन की प्रतिभा का प्रतिवाद जार क्या खाकर करता ? उसका परिणाम सूर्य पर थूकना छोड़ और कुछ न होता। उसने चाहा कि यह अमर कलाकार क्षमा माँगकर उसका दरवारी बने, किन्तु पुश्किन ने इस तरह के प्रस्ताव के उत्तर में लिखा—तुम पूछते हो "क्यों मेरे पत्र रूखे-सूखे होते हैं ? लेकिन उनके उत्तम होने का कारण क्या हो सकता है ? अपने हृदय के अन्तरतम में मुझे विश्वास है कि मैं ठीक रास्ते पर हूँ...क्षमा माँगना ? बहुत ठीक, किन्तु किस बात के लिए ?...वे मुझे अनुचर दास के रूप में देखना चाहते हैं, जिससे कि मेरे साथ वह मनमाना बर्ताव

---

* रहीम की हिन्दी कृतियाँ हैं : 1. दोहावली; 2. वरवै नायिका-भेद; 3. श्रृंगार सोरठा; 4. मदनाष्टक; 5. रास-पंचाध्यायी; 6. दम्पति-विलास।

1. 'मेरे कवि मित्र को' (4 जुलाई, 1814 के 'वेस्तिनक योरोपु' में प्रकाशित)।

2. बंगला से अनुवादित, सन्, 1868 में प्रकाशित।

कर सकें… किन्तु मैं स्वयं सर्वशक्तिमान परमेश्वर का भी जी-हुजूर नहीं बन सकता।"

भारतेन्दु के मन में भी कुछ ऐसे ही भाव काम कर रहे थे जब उन्होंने निम्न पंक्तियाँ लिखीं :

सेवक गुनीजन के, चाकर चतुर के हैं,
कविन की मीत चित हित गुनगानी के।
सीधंन सों सीधे महावाँ के हम बाँकेन सों,
'हरीचन्द' नगद दमाद अभिमानी के।
चाहिवे की चाह काहू की परवाह,
नेही नेह के दिवाने सदा सूरत निवानी के।
सरबस रसिक के सुदास-दास प्रेमिन के…

अथवा–

एरे नीचधनी, हमें तेज तू दिखावै कहा,
गज परवाही नाहिं होवैं कवौं खर के।

शासन और समाज के भ्रष्टाचार के बारे में भी भारतेन्दु के ये उद्‌गार एक विद्रोही हृदय से निकले हैं, यह क्या कहने की बात है :

चूरन अमले सब जब खावैं, दूनी रिश्वत तुरत पचावैं…
चूरन सभी महाजन खाते, जिससे जमा हजम कर जाते।
चूरन खाते लाला लोग, जिनको अकिल-अजीरन-रोग
चूरन पूलिसवाले खाते, सब कानून हजम कर जाते…

हमारे काव्य-संचय बहुत अधूरे और संकीर्ण हैं। उनके भरोसे हम अपने किसी कवि-कलाकार की व्यापक झाँकी नहीं पा सकते। अभी हमारी शिक्षा का सांस्कृतिक धरातल इतना ऊँचा नहीं है कि यहाँ मसूरी के किसी पुस्तकालय में भारतेन्दु का ग्रंथ-संग्रह पाया जा सके। इसलिए हम पुश्किन की भाँति ही भारतेन्दु के विचारों के नमूने देने में असमर्थ हैं। तो भी दोनों स्वतन्त्र-चेता थे। यदि भारतेन्दु "जय जय जय श्री गोपिका जय जय नन्दकुमार" के खूँटे में बँधे रह गए, तो इसका कारण था पिछली शताब्दी की हमारे देश की राजनीतिक परतन्त्रता तथा सामाजिक पिछड़ापन।

पंडित रामचन्द्र शुक्ल हमारे बड़े जिम्मेवार आलोचक थे। उन्होंने लिखा है :

"हमारे साहित्य को नये-नये विषयों की ओर प्रवृत्त करनेवाले हरिश्चन्द्र ही हुए…भारतेन्दु के प्रभाव से उनके अल्प-जीवनकाल के बीच ही लेखकों का एक खासा मंडल ही तैयार हो गया, जिसके भीतर पंडित प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बद्रीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहन सिंह, पं. बालकृष्ण भट्ट मुख्य रूप से गिने जा सकते हैं।"[1]

पुश्किन-स्मारक का उद्‌घाटन करते समय महान कथाकार तुर्गनेव ने कहा था, "यह गुरु (शिक्षक) का स्मारक है।" ल्यू ताल्स्ताय ने कहा था, "पुश्किन हमारा गुरु है, हर एक लेखक को इस निधि का निरन्तर अध्ययन करते रहना चाहिए।"

गोर्की ने कहा, "पुश्किन हमारी कविता का संस्थापक है और हम सबों का सदा के लिए गुरु है, पुश्किन को बार-बार पढ़ना चाहिए।"

पुश्किन की 150वीं जयन्ती पर बोलते हुए 6 जून 1949 को विद्वान स. सिमोनोफ ने कहा[2]:

"पुश्किन महान कवि और महान लेखक होने के साथ अपने युग का एक अत्यन्त प्रगतिशील पुरुष था। वह अपने समय के रूसी साहित्य का नेता और प्रकाश-स्तम्भ था। पुश्किन के क्रिया-कलाप का

1. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ. 450.
2. 'सोवियत लिटरेचर', 1949/9, पृ. 137.

वर्णन अपूर्ण रहेगा, यदि 'लितेरातुर्नया गजेता' (साहित्य गजेट) के अन्तःप्रेरक तथा 'सव्रेमेन्निक' (समसामयिक) के सम्पादक के रूप में उसके कार्य के बारे में कुछ न कहा जाये। अपने समय की सभी विशिष्ट प्रतिभाओं को उसने प्रोत्साहित किया। उसने एक (सच्चे) संरक्षक की भाँति हार्दिक शुभेच्छा तथा सहायकारी दिलचस्पी के साथ अनेक व्यक्तियों को साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश कराया। उसी ने गोगोल को 'इन्सपेक्टर जेनरल' और 'मृत आत्मा' लिखने का सुझाव दिया। ग्नेविच ने 'इलियद' का पद्यमय अनुवाद जब समाप्त किया, तो पुश्किन ने उसे लिखा, 'मैं तुमसे एक पुराण काव्य (महाकाव्य) की आशा रखता हूँ। तुमने लिखा कि 'स्वयातोस्लाव' की (वीर) आत्मा यशोगान के लिए भटक रही है··· किन्तु क्या हाल है ब्लादिमिर का ? मतिस्लाव का ? दोन्स्की, यरमक और पजार्स्की के बारे में क्या कहते हो ? (स्मरण रखो) इतिहास कवि की चीज है।' "

पुश्किन ने जुकोवस्की, वेलिन्स्की, किरेयेवस्की, व्याजेम्स्की आदि कितने ही महान लेखकों को आगे बढ़ाया। हमारे भारतेन्दु ने भी पुश्किन के 'समसामयिक' की भाँति 'कविवचनसुधा', 'हरिश्चन्द्र-मैगजीन', 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' द्वारा हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों का निर्माण किया, और उन्हीं के द्वारा "हिन्दी नयी चाल में ढली, सन् 1873 ई. (में)।"[1]

भारतेन्दु अपने को 'दासदास श्री वल्लभकुल के' कहते जरूर थे, किन्तु वह संकीर्णता की परिधि से बहुत दूर चले गए थे, और उस घोर प्रतिक्रियावादी समय में भी अपने यहाँ की स्त्रियां की स्वतन्त्रता की लालसा में कहते थे :

"जब अंग्रेजी रमणी लोग··· निज पतिगण के साथ प्रसन्न-वदन इधर से उधर··फिरती हुई दीखती हैं, तब इस देश की सीधी-सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है, और यही बात मेरे दुख का कारण होती है।"

शुक्लजी के कथनानुसार[2]:

"जिस प्रकार··· पुराने खूसट उनके विनोद के मुख्य लक्ष्य थे, उसी प्रकार पश्चिमी चाल-ढाल की ओर मुँह के बल गिरनेवाले फैशन के गुलाम भी···

··· विदेशी अंधड़ों ने उनकी आँखों में इतनी धूल नहीं झोंकी थी कि अपने देश का रूप-रंग उन्हें सुझायी नहीं पड़ता। काल की गति वे देखते थे। सुधार के मार्ग भी उन्हें सूझते थे। पर पश्चिम की एक-एक बात के अभिनय को ही वे उन्नति का पर्याय नहीं समझते थे।"

पश्चिम की एक-एक बात की, हमारे आज के—1959 के—दिल्ली के देवताओं और देवियों की तरह अभिनय करनेवाले अपने समय के रूसियों के बारे में पुश्किन कहता था :

"(उनको क्या कहा जाये) जो रूसी भाषा से अनभिज्ञ विदेशी लेखकों को इसलिए भोज देते हैं कि पर्यटक की टिप्पणियों में उनको स्थान मिल जाये।"

स. सिमोनोफ ने इन छिछले नक्कालचियों के ऊपर—जिनकी संख्या आज भी हमारी दिल्ली तथा दूसरी राजधानियों के ऊँचे स्थानों पर काफी मिलती है, और बाज वक्त जिनका अभिनय उपहासास्पद ही नहीं, असह्य भी हो उठता है—पुश्किन के प्रहारों के बारे में लिखा है :

"प्रथम पीतर के समय से पुराने रूस के कुछ लोगों में सभी विदेशी बातों की अंधी दासता तथा बुद्धिहीन अनुकरण बहुत प्रचलित था, जो कि रूस, रूसी जनता के लाभ की बात कभी भी नहीं था। यह जर्मनीकृत, फ्रेंचीकृत, अंग्रेजीकृत पुराना शासक गुट रूस की हर एक बात, यहाँ तक कि रूसी साहित्य को भी घृणा की दृष्टि से देखता था···"

क्या ऐसे अंग्रेजीकृतों का हमारे भारत में अभाव है ? क्या वही आज हमारे सिरमौर नहीं बने हुए हैं,

---

1. नीलदेवी.

2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 453, 455.

जिनके लिए कि पुश्किन के समसामयिक रूसी शासकों की भाँति अंग्रेजी और अंग्रेजियत सब कुछ और भारतीय संस्कृति, भारतीय जनता, भारतीय इतिहास, भारतीय साहित्य–जिसका एक महत्त्वपूर्ण भाग हमारा हिन्दी-साहित्य है–तुच्छ, हेय, सेकेण्ड-ग्रेड नहीं है ?

'कप्तान्स्कया दोचूका' (कप्तान की वेटी) में उसने ऐसे छिछले नक्कालचियों का बड़ा सुन्दर परिहास किया है। पुश्किन ने एक समसामयिक को फटकारते हुए लिखा था[1]:

"(क्या कहा) हमारा इतिहास नहीं है ? मैं तुमसे कभी सहमत नहीं हो सकता··रूस की जागृति, उसकी शक्ति-वृद्धि, उसका एकता की ओर अग्रसर होना–क्या यह इतिहास नहीं है ? मैं अपने सम्मान की शपथ करता हूँ कि मैं दुनिया के किसी देश को अपने देश से बदलने को तैयार नहीं हूँ और अपने पूर्वजों को छोड़कर किसी दूसरे इतिहास को अपना इतिहास कहने को तैयार नहीं हूँ।

(नेपोलियन के आक्रमण के समय) मास्को का जलाना क्या हमारे हाथों का काम था ? यदि हाँ, तो मुझे अभिमान है कि मैं रूसी हूँ। इस महान त्याग को देखकर दुनिया आश्चर्यचकित होगी।"

और भारतेन्दु ने भी अपने देश की दासता को कितना असह्य माना था :

हाय वहै भारत भुव भारी, सवही विधि सों भई दुखारी।
हाय पंचनद, हा पानीपत, अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत।
हाय चितौर निलज तू भारी, अजहुँ खरो भारतहिं मँझारी।

जार के निरंकुश शासन को (1816) उलटने के प्रथम प्रयासी दिसम्बरीय वीरों को सम्बोधित करते हुए पुश्किन ने लिखा था :

विश्वास करो साथी, आयेगी उषा।
सुख की प्रभास्वर घड़ी पुनः
और भग्न रूस निद्रा से जागेगा
और अत्याचारी के शक्ति-ध्वंस पर,
नाम हमारे होंगे अंकित विजयी।

1884 में भारतेन्दु की मृत्यु पर पं. बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने लिखा था–"अथयो हरिचन्द अमन्द सों भारतचन्द चहूँ तम छाय गयो।"

1884 का भारत परम परतन्त्र था, वह अपने साहित्य-सूर्य के बारे में इतना ही कह सकता था।

6 जनवरी 1837 के अपराह्न में 2.45 बजे पुश्किन आत्मसम्मान के लिए प्रतिद्वन्द्वी की गोली का शिकार हुआ, उस समय कोल्त्सोफ ने लिखा था :

"अलेक्सान्द्र सेर्गेयेविच पुश्किन अब नहीं रहा, सूर्य कलेजे में विंध गया।"

पुश्किन की कृतियाँ उसकी 150वीं जयन्ती के समय (1949) में 1 करोड़ 10 लाख छापी गयीं और 1917 से अब तक सोवियत सरकार ने 76 भाषाओं में उसकी साढ़े चार करोड़ प्रतियाँ छापी हैं। पुश्किन के 'बोरिस गदुनोफ', 'काकेशस का बन्दी', 'बख्शीसराय का निर्झर', 'युगेनी अनेगीन', 'पोल्तावा', 'कप्तान की बेटी' जैसी अमर कृतियाँ हिन्दी-रूप धारण करने की प्रतीक्षा में हैं और उसी प्रकार भारतेन्दु की कृतियाँ 'भारत दुर्दशा', 'नीलदेवी', 'अंधेर नगरी', 'कश्मीर कुसुम', 'वादशाह दर्पण', आदि भी हमारे साहित्यिक सम्मान बढ़ने के साथ रूसी में अनुवादित होंगी।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

भारत का साहित्यिक इतिहास बहुत दूर तक जाता है। कविता के प्राथमिक प्रयासों को छोड़ देने पर भी आधुनिक

1. 'सोवियत लिटरेचर', पृ. 1949/9. पृ. 140

अर्थों में संस्कृत के आदि कवि ईसा-पूर्व दूसरी सदी में हुए। ईसवी प्रथम शताब्दी महान् कवि और नाट्यकार अश्वघोष का समय है। अगली दो शताब्दियों ने कवि आर्यशर और नाट्यकार भास पैदा किए। चौथी-पाँचवीं सदी की सन्धि में भारत के सर्वश्रेष्ठ कवि और नाट्यकार कालिदास हुए। अगली दो शताब्दियों–छठी-सातवीं–में दण्डी और बाण जन्मे; जिन्होंने अपनी प्रतिभा का एक नये क्षेत्र में उपयोग करके गद्यकाव्यमय उपन्यास लिखे। किन्तु वह शैली उनके साथ ही खतम-सी हो गई। अभी गद्य-साहित्य के युग के आने में देर थी।

भारत के पुराने साहित्य के वर्णन में मैं आपका अधिक समय नहीं लेना चाहता। यह सभी मानते हैं कि सदियों तक भारत सिर्फ एशिया ही नहीं, तत्कालीन सभ्य जगत् का प्रकाश रहा। तिब्बत, मंगोलिया, इन्दोचीन, इन्दोनेशिया में उसका ज्ञान-प्रसार-सम्बन्धी महान् कार्य तब तक दुनिया का अद्वितीय उदाहरण रहा, जब तक कि अक्टूबर-क्रान्ति ने इस सम्बन्ध के इतिहास के सारे रेकार्डों को तोड़ नहीं डाला।

किन्तु पिछली सदियों में यह भव्य-भूत भारत के लिए घाटे का सौदा हुआ। यह अन्ध-अभिमान और कूपमण्डूकता पतन का कारण बनी। दुरभिमान और कूपमण्डूकता को भारत ने अपना धर्म बना लिया और वह विश्व की दौड़ में अधिकाधिक पीछे पड़ता गया; यद्यपि प्रतिभा का अब भी उसमें अभाव नहीं था, जिसका पता इतिहास के अत्यंधकारमय युग में भी लगता है। लेकिन अन्धकार बहुत गहरा छाया, इसमें शक नहीं।

रवीन्द्र ठाकुर अश्वघोष-कालिदास, दण्डी-बाण जैसे भारत के महान कवि थे। साथ ही उन्होंने युगों के अन्धकार को भारत से दूर करने के लिए भारी प्रयत्न किया।

उनका जन्म एक धनी ज़मींदार ब्राह्मण-परिवार में हुआ। किन्तु यह परिवार दूसरे अपने जैसे परिवारों की भाँति रूढ़ि का केन्द्र न था। पश्चिमी जगत् के सम्पर्क में आने पर कितने ही भारतीय दिमागों में प्रतिक्रिया हुई, इस प्रकाश में उन्होंने अपने स्वरूप को देखा, और आँखें मूँदनी नहीं चाहीं। राममोहन राय इन्हीं व्यक्तियों में थे। उन्होंने सामाजिक और धार्मिक सुधार के लिए 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की। रवीन्द्र के पिता इस सुधारक समाज के एक प्रमुख नेता थे और अपने सद्गुणों और सद्वृत्ति से वह 'महर्षि' के नाम से प्रख्यात थे। ठाकुर-परिवार संस्कृति और कलाप्रेम में ताल्स्ताय-परिवार जैसा था। महाकवि के भतीजे अवनींद्रनाथ ठाकुर भारत के जीवित चित्रकारों में सर्वश्रेष्ठ तथा नवजागरण-काल की भारतीय चित्रकला के प्रारम्भक हैं। रवीन्द्र को असाधारण प्रतिभा के साथ-साथ अनुकूल पारिवारिक वातावरण मिला था। उस समय के फैशन के अनुसार रवीन्द्र को भी शिक्षा ग्रहणार्थ इंग्लैंड भेजा गया, किन्तु उन्हें वहाँ अच्छा न लगा, और वे शीघ्र ही घर लौट आए। तबसे परिवार और देश ही उनकी प्रधान पाठशाला बनी। जिस प्रकार रवीन्द्र के निर्माण में अंग्रेज़ी शिक्षा का उतना हाथ नहीं, जितना कि उनके तीन अग्रगामियों–कवि माइकेल मधुसूदनदत्त, उपन्यासकार बंकिमचंद्र चटर्जी और नाट्यकार द्विजेन्द्रलाल राय–की शिक्षा का।

रवीन्द्र के कार्यक्षेत्र में आने से पूर्व ही ब्रजभाषा एक अच्छे साहित्य की धनी थी। रामायण के कथांश को ले मधूसूदन ने 'मेघनाद-बध' जैसा सुन्दर काव्य रचा, जिसमें छन्दों के बन्धन को शिथिल करने के साथ-साथ उन्होंने मुक्त छन्द का पहिले-पहिल प्रयोग किया। बंकिम की प्रौढ़ लेखनी ने कितने ही उच्च कोटि के उपन्यास लिखे; जिनमें 'आनन्दमठ' वर्षों तक देशभक्त तरुणों का वेद रहा, और जिनकी कविता 'वन्देमातरम्' आज भी भारत का राष्ट्रगीत है। द्विजेन्द्रलाल राय ने कई अच्छे आधुनिक ढंग के नाटक लिखे। रवीन्द्र में अपने तीनों अग्रगामियों के गुण थे, और अधिक परिमाण में। वह महान् कवि थे, महान् उपन्यासकार और नाट्यकार भी। साथ ही उनमें और विशेषताएँ थीं। वह जातीय दुरभिमान और कूपमण्डूकता के भारी विरोधी थे, अभ्यास (?) और नृशंसता के विरुद्ध उनकी वाणी बड़ी निर्भयता से लड़ने को तैयार थी। अपने अतीत गौरव का योग्य सम्मान करने में वह किसी से पीछे न थे, तभी उन्होंने गाया–

प्रथम प्रभात उदय तव गगने,
प्रथम साम-रव तव तपोवने।

उनकी पैनी दृष्टि बीती सदियों को वेधकर देखती थी, और देखती थी आनेवाले भविष्य को भी। वह

साफ़ देख रहे थे उन त्रुटियों और दोषों को, जो भारत को विश्व में अपना यथार्थ स्थान लेने से रोक रहे हैं, जातीय दुरभिमान और कूपमण्डूकता को वह भारत के लिए भारी अभिशाप समझते थे, और उन्हें वह किसी तरह भी क्षमा करने को तैयार न थे।

कविता के क्षेत्र में उनका स्थान कितना ऊँचा है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। विदेशी शासकों के सारे प्रतिवन्धों और पक्षपातों के होते भी विश्व ने उनके कृतित्व को स्वीकार किया, जबकि इस प्रथम एशियाई कवि को 1913 में साहित्य का नोबुल-पुरस्कार दिया गया। रवीन्द्र उसके बाद भी प्रायः तीन दशाब्दियाँ हम में रहे, और अपनी चिर-तरुण प्रतिभा के साथ। उनकी प्रतिभा पर आयु का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

रवीन्द्र के रूप में भारत ने अपने कालिदास को पाया, जिससे डर था कि जातीय दुरभिमान को कहीं और भी न वल मिले। लेकिन इसके विरुद्ध कवींद्र की लेखनी सदा लोहा लेने को तैयार थी। अपने उपन्यासों 'गोरा', 'घर और बाहर' में भारत की इस यक्ष्मा पर उन्होंने खूब प्रहार किया। रवीन्द्र के लिए सारी मानवता अभिन्न थी, और उसमें सबसे अधिक पीड़ित उनकी सबसे अधिक सहानुभूति के पात्र थे। मानव-भ्रातृभाव को क्रियात्मक रूप देने के लिए उन्होंने शान्तिनिकेतन में विश्वभारती की स्थापना की, जिसमें कि देश के युवकजन—लड़के-लड़कियाँ—मुक्त वातावरण में ज्ञान और कला सीख सकें। किन्तु ऐसा सांस्कृतिक जीवन सभी के भाग्य में न था, इसलिए दीन किसानों की अवस्था बेहतर बनाने के लिए उन्होंने श्रीनिकेतन स्थापित किया, जहाँ उपज बढ़ाने के लिए वैज्ञानिक खेती की प्रयोगात्मक शिक्षा होती है। यह प्रयत्न ज़रूर भारत के लिए, समुद्र के लिए बूँद जैसा था। आप इसे उटोपियन—एक निरा स्वप्न-सा कह सकते हैं। रवीन्द्र भी शायद इससे अपरिचित नहीं थे, तो भी अतिव्यस्त साहित्यिक जीवन के होते भी वह कोई न कोई क्रियात्मक पग उठाना अपना कर्तव्य समझते थे।

वह सोवियत् भूमि में तब आए थे, जबकि स्तालिनीय पंचवार्षिक योजनाएँ आरम्भ नहीं हुई थीं और इसलिए वह उस कायापलट को न देख सके, जिसने पृथ्वी के षष्ठांश को एक अति समृद्ध, सबल, शिक्षित राष्ट्र में परिणत कर दिया। रवीन्द्र जैसे क्रान्तिदर्शी कवि के लिए पंचवार्षिक योजनाओं का पूर्वरूप भी पर्याप्त था। खंड योजनाओं द्वारा उस वक्त तक जो निर्माण कार्य हो चुका था, शिक्षा के लिए जो भारी सफल प्रयत्न हो रहा था, सोवियत् की सभी जातियों में जो भ्रातृभाव का स्रोत बढ़ रहा था, और सबके पीछे जो व्यापक दृष्टि और दृढ़ मनोबल काम कर रहा था, इन सबने रवीन्द्र को भरी प्रेरणा और विश्वास प्रदान किया। वह सदा के लिए सोवियत् भूमि के मित्र और प्रशंसक हो गए। उन्होंने इस यात्रा के समय कितने ही पत्र ('रूस के पत्र') लिखे। उस समय चारों ओर सोवियत-विरोधी प्रोपेगंडा का दौरदौरा था। 'रूस के पत्र' इस झूठे प्रचार को छिन्न-भिन्न करने में सफल साबित होने लगे। साम्राज्यवाद का धैर्य टूट गया, और भारत की अँगरेजी सरकार ने 'रूस के पत्र' का छापना निषिद्ध कर दिया। रवीन्द्र साम्राज्यवादियों की बड़ी बातों और ओछी करतूतों से भली-भाँति परिचित थे।

प्रतिभा के साथ उन्होंने अजब निर्भयता पायी थी। प्रथम महायुद्ध के बारे में बड़े-बड़े दावे किए गए थे—उसे मानव-स्वतंत्रता और न्याय का युद्ध बतलाया गया, किन्तु युद्ध के अन्त होते ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने अमृतसर में खून की होली खेली, हजारों निहत्थे आदमी जिनमें सैकड़ों स्त्रियाँ और बच्चे भी थे, मशीनगनों से भून दिए गए, महीनों पंजाब क्रूर मार्शल लॉ के जूए के नीचे कराहता रहा। इस साम्राज्यवादी नृशंसता को देख रवीन्द्र ने अपने 'सर' की उपाधि—साम्राज्यवादियों के सस्ते पिट्ठू खरीदने के साधन—को उतार फेंका। किन्तु इससे क्या कराहती मातृभूमि का दर्द दिल से दूर किया जा सकता था ? आखिर जल्दी ही वह भी समय आया जब दासता की बेड़ियों को तोड़ने के लिए जनता को संघर्ष में कूदने का आह्वान किया गया। कवि ने हर्षोत्फुल कण्ठ से—'जन गण मन अधिनायक जय हे भारत भाग्यविधाता' गाते हुए नयी शक्तियों का स्वागत किया।

रवीन्द्र प्रगति के प्रबल और निर्भय पक्षपाती थे। कई साल से जापान महाकवि के स्वागत-सम्मान में अपने को सबसे आगे रखना चाहता था। जापानी साम्राज्यवादी उन्हें पूर्व का किपलिङ् बनाना चाहते थे। किन्तु

जब जापान की नग्न नीति चीन के सम्बन्ध में प्रकट हुई, तो कवि ने निःसंकोच उसकी निन्दा की। जिस पर जापानी फासिज़्म के बंदीजन नागूची ने जब समझाने की कोशिश की, तो उन्हें खूब खरा जवाब मिला और रवीन्द्र ने पूर्वी साम्राज्यवाद का नग्न चित्र खींचकर विश्व के सामने रख दिया। कवीन्द्र का यह अन्तिम युद्ध था। थोड़े ही समय बाद—आज से पाँच साल पहले—वह शक्तिशाली वाणी सर्वदा के लिए मौन हो गयी, वह वाणी जो सुन्दर काव्य-रचना की ही अद्भुत क्षमता नहीं रखती थी, बल्कि जिसने अन्याय-अत्याचार के विरुद्ध लड़ने में कभी संकोच नहीं किया। पिछले पाँच वर्षों में कितनी बार विश्व ने उस वाणी के अभाव को नहीं अनुभव किया ?

और भारत के लिए रवीन्द्र एक और भारी महत्व रखते हैं। वह भारत के साहित्य के इतिहास में एक नये युग के प्रवर्तक हैं। सिर्फ बंगला भाषा ही के साहित्य में नहीं, सारी भारतीय भाषाओं के साहित्यों में, चाहे आप हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, उड़िया जैसी उत्तर की इन्दो-युरोपीय भाषाओं को लीजिए, या दक्षिण की तेलुगू, कन्नड़ जैसी द्राविड़ भाषाओं को। मैं यहाँ सबसे अधिक बोली जानेवाली, तथा बारह सदियों से सुन्दर समृद्ध साहित्य रखनेवाली हिन्दी भाषा का उदाहरण देता हूँ। बीसवीं सदी के द्वितीय दशाब्द में पहुँचने पर उसके पथ में कई समस्याएँ उठ खड़ी हुई थीं, ऐसी समस्याएँ जिनको दूर किए बिना वह एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकती थी। ये समस्याएँ थीं शब्दों के चुनने-सजाने के सम्बन्ध में, छन्द और अलंकारों के रूढ़िबद्ध सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विश्व-साहित्य से सम्बन्ध स्थापित करने के सम्बन्ध में। हिन्दी की इस समस्या को हल किया 'निराला' और उनके साथी कवियों 'प्रसाद' और 'पंत' ने। इस कार्य में पथप्रदर्शन किया रवीन्द्र की कविता ने। हाँ, पथप्रदर्शन का अर्थ अनुकरण नहीं समझना चाहिए। अनुकरण के बल पर उच्च साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता। हमारे नवयुग-प्रवर्तक कवि हिन्दी-कविता में कुछ त्रुटियों का अनुभव कर रहे थे, उन्हें पहिचानने में रवीन्द्र की कविता ने सहायता की। फिर इन्होंने भी उन्हें दूर करने का सफल प्रयत्न किया। यही बात दूसरी भारतीय साहित्यिक भाषाओं के सम्बन्ध में है।

रवीन्द्र ने सारे आधुनिक भारतीय काव्य-साहित्य को एक नयी दिशा दी, जिसमें यद्यपि प्राचीन को तिरस्कार की वस्तु नहीं समझा गया तथापि सदियों की संकीर्णता और दुरभिमान के लिए वहाँ कोई स्थान न था। प्रगति और विश्व-प्रेम इस नवीन कवितायुग का प्राण है।

यहाँ दो शब्द अनुवाद के बारे में भी कहना असंगत न होगा। हमारी भाषाओं—हिन्दी-बंगला आदि में तुर्गनेव, चेख़ोफ, ताल्स्ताय, गोर्की के कितने ही ग्रन्थों के अनुवाद हुए हैं, और वे लोकप्रिय भी हैं, किन्तु ये सारे अनुवाद रूसी से न कर अंग्रेजी से किए गए। जब एक भाषा से दूसरी में अनुवाद करने में मूल के भावों की रक्षा करना मुश्किल हो जाता है, तो फिर अनुवाद से अनुवाद करने में मूल भावों की कितनी क्षति होगी, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। कविता के अनुवाद करने में तो यह ढंग बहुत ही दोषपूर्ण है। सौभाग्य कहिए या दुर्भाग्य, अभी तक किसी रूसी कविता का अनुवाद भारतीय भाषाओं में नहीं हुआ। सौभाग्य इसलिए कहता हूँ कि पुश्किन का अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद करना कैसा होता—उसमें पुश्किन का चोला धारण कर कोई दूसरा ही उपस्थित किया जाता। ऐसे अनुवादों के न होने का कारण है, हिन्दियों की रूसी भाषा से अनभिज्ञता। इस बारे में रूसी भाषा भाग्यवान् है कि उसमें रवीन्द्र के कुछ अनुवाद सीधे बंगला से हुए हैं। अंग्रेज़ी की अपेक्षा भारत की इन्दो-युरोपीय भाषाएँ रूसी भाषा से बहुत नज़दीक हैं, यह बात शास्त्र में सिर्फ पढ़ने की नहीं, बल्कि अनुवाद के काम में वह खास महत्व रखती है। लेकिन अब हमारे दोनों देशों के साहित्य के सीधे दानादान का समय आ गया है।

सोवियत के दो भारतीय तत्त्वज्ञ

सोवियत-संघ आज भारत का पड़ोसी है। यद्यपि दोनों की सीमाएँ एक-दूसरे को नहीं छूती हैं, किन्तु इसका कारण ब्रिटिश और जार के साम्राज्यवादों का पारस्परिक संघर्ष था; अन्यथा ताजिक प्रजातन्त्र के गोर्नो-बदखशाँ के लोग ही हमारी सीमा तक बसते हैं। किन्तु एक समय था, और दूर नहीं, सिर्फ साढ़े पाँच हजार वर्ष पूर्व (3500 ईसा पूर्व, नव-पापाण युग में) भारतीय आर्यों और रूसियों के पूर्वज शकों की एक जाति थी, वह एक भाषा वोलते थे। वह एक ही प्रकार के भगवानो की पूजा करते थे। यद्यपि इन साढ़े पाँच हजार वर्षों में भारी परिवर्तन हुए हैं, चिकने पाषाण-अस्त्रों की जगह हम अणु-बम तक पहुँच गए हैं। काल, देश और भिन्न-भिन्न जातियों के समागम ने हममें अपने जातीय व्यक्तित्व पैदा किए हैं, और यह समझना भी मुश्किल है कि कभी हमारी इतनी समीपता थी। सिर्फ उत्तरी भारत की भाषाओं की ही समीपता की बात नहीं, सोवियत संघ में बसनेवाली फिन (करेलीय), एस्तोन, कोमी आदि भाषाओं का द्रविड़ भाषाओं से सम्बन्ध बतलाता है कि भारत के उत्तर और दक्षिण की सारी जातियाँ मानव-इतिहास में एक समय सोवियत की इन जातियों से अभिन्नता रखती थीं।

ईसा-पूर्व 2000 में जव आर्यों की एक शाखा पंजाब में और दूसरी ईरान तक पहुँच गई, उसी समय इनके सहोदर शक दुनाई (डेन्यूब) से तरिम (चीनी तुर्किस्तान) की उपत्यकाओं तक फैल गए, वह बल्काश के उत्तर और अल्ताई की सोने-ताँबे की खानों का काम करते थे। और कई सदियाँ बीतीं। ईसा-पूर्व दूसरी सदी में चीन के प्रहार के मारे हूणों का भारी भाग पश्चिम की ओर भागा और अगली 6 सदियों में वे (ईसा चौथी सदी तक) दुनाई-तट तक पहुँच गए। हूणों ने वोल्गा से पूर्व के शकों की सारी गोचर भूमि ले ली, मृत्यु से बचे शक दक्षिण की ओर भागे, जिनमें से कितने आभीर, जाट, कुषाण आदि भारत में आज भारतीय हैं, दूसरे आज के अफगान, ईरानी और ताजिकों में हजम हो गए। पश्चिमी शकों को यद्यपि कुछ समय के बाद निम्न वोल्गा, निम्न दोन, निम्न द्रियेपर और निम्न दुनाई को खाली करना पड़ा, किन्तु वह उत्तर के जंगलों में अपना अस्तित्व कायम रख सके। ईसा की पाँचवीं सदी के बाद इन्हें ही हम स्लाव जातियों के रूप में पाते हैं। स्लाव जातियों के चेक, स्लावक, पोल, सर्व, क्रोश, स्लावन, बुल्गार, उक्रइनी, ब्येलोरूसी और रूसी अपनी संख्या, राजनीतिक शक्ति, विश्व-संस्कृति और विज्ञान में अपने ज्ञान के कारण प्रधानता रखते हैं।

इतिहास के इस पुराने सम्बन्ध का अवशेष अब भी हमारी भाषाओं में रह गया है और आज भी रूसी शब्दकोष देखने पर हमें दस सैकड़ा शब्द एक-से मिलते हैं। नवपाषाण-काल से समाज़ का जैसे आगे विकास हुआ, उसी तरह शब्दों की भी वृद्धि हुई, कुछ अपने मूल धातुओं से और कुछ सांस्कृतिक, राजनीतिक, व्यावसायिक और औद्योगिक सम्बन्धों के कारण विदेशों से उधार लेकर।

किन्तु यह पुराना सम्बन्ध विस्मृति के गर्भ में चला गया। रूसियों के कानों में भारत के वैभव की कहानियाँ कभी-कभी पहुँचती भी थीं, किन्तु भारतीयों के लिए रूसियों का अस्तित्व भी संदिग्ध था। 1395 में तैमूर लंग ने पश्चिम की चंगेजी शाखा सुवर्ण-उर्दू के सम्राट (खान) तख़्तामिश को भीषण पराजय दे रूस के कंधे से तातारी (मंगोल) जूए को हटाने का काम किया। रूसी राजुलों में शक्ति के लिए संघर्ष हुआ, और प्रमुख व्यापारिक नगर मास्को के राजुल को सफलता हुई। सबसे पहिले एकीकरण का कार्य महाराजुल तृतीय इवान (1462-1505 ई.) ने किया, किन्तु उसे सुदृढ़ और अधिक व्यापक बनाने का श्रेय अकबर के समकालीन चतुर्थ इवान (1533-84) को है, जिसने 1547 में सम्राट (ज़ार) की उपाधि धारण की। किन्तु, चरम वैभव और प्रगति का रास्ता दिखला रूस को विश्व की प्रबल राजशक्ति बनाने का श्रेय औरंगजेब के समकालीन प्रथम पीतर (1682-1725 ई.) को है। जिस समय औरंगजेब अपनी धर्मान्धता से भारत की राजनीतिक एकता को छिन्न-भिन्न कर रहा था, उसी समय पीतर धर्मान्धता को छिन्न-भिन्न कर युरोप के नवजागरण को आवाहन करते एक राष्ट्र का निर्माण कर रहा था।

रूसी एकीकरण के प्रथम पुरस्कर्ता इवान तृतीय का दूत अथानियोन निकितिन पहिला रूसी यात्री था, जो ईरान से समुद्री मार्ग द्वारा दिउ (काठियावाड़) में उतर 1466 में विदर पहुँचा और छः साल तक वहाँ रहा। तैमूर-संतान बाबर स्वयं मध्य-एशिया का वासी होने से रूस का ज्ञान रखता था। उसने अपने दूत ख्वाजा हुसेन को व्यापार-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए 1532 में मास्को भेजा, किन्तु संदेह ने सफलता न होने दी। कालासागर, कास्पियन और प्रशांत महासागर तक बाँह फैलानेवाला प्रथम पीतर भारत से सम्बन्ध स्थापित करने का क्यों न ख्याल करता ? स्थल-मार्ग से असफल होने पर उसका एक दूत सेम्योन मलिनिकोफ 1695 ई. में सूरत में उतर औरंगजेब से मिला। उसने आगरा, दिल्ली भी देखी, किन्तु लौटते वक्त रास्ते में शेरवान में मर गया और उसके साथ-साथ उसकी यात्रा का नोट भी जाता रहा। सरकारी तौर पर चाहे भारत का दौत्य सम्बन्ध रूस से न भी रहा हो, मगर भारतीय व्यापारी और शिल्पी सत्रहवीं सदीं में रूस में रह व्यापार करते, त्वेर (मास्को से उत्तर वर्तमान कलिनिन्) तक धावा मारते थे। 1625 ई. में (जहाँगीर के समय) आस्त्राखान में भारतीयों के लिए एक अच्छी कारवाँसराय बनाई गई थी।

यह सब होते भी भारत के साथ गम्भीर परिचय का काम अठारहवीं सदी के अन्त से पहिले न हो सका। रूसी गायक गेरासीम लेबेदोफ रूसी-लन्दन-दूतावास की नौकरी छोड़, ईस्ट इंडिया कंपनी का क्लर्क बन 1785 में कलकत्ता (फोर्ट विलियम्स) पहुँचा। उसने कलकत्ता में नाट्यशाला स्थापित की, वह स्वयं अभिनय में भाग नहीं लेता था, बल्कि अभिनय के लिए विदेशी नाटकों के बंगला में अनुवाद किए, संस्कृत पढ़ी। लन्दन में लौटकर उसने एक व्याकरण लिख 1801 में छपाया। पीतरबुर्ग लौटकर ज़ार अलेक्ज़ण्डर की आज्ञा से 1805 में पहिली बार उसने नागरी-टाइप ढाले। 1805 में हिन्दू धर्म पर अपनी पुस्तकें रूसी भाषा में प्रकाशित की। इससे पहिले ही 1787 में न. इ. नोवीकोफ ने चार्ल्स बिल्किन्स के अंग्रेजी अनुवाद से भगवद्गीता का रूसी में अनुवाद किया था। किन्तु यह काम उस समय हुए थे, जब भाषा-विज्ञान अभी आविष्कृत नहीं हुआ था। बोप की खोजों ने यूरोपीय भाषाओं का संस्कृत के साथ सम्बन्ध स्थापित कर पश्चिमी यूरोप में जो तीव्र जिज्ञासा पैदा कर दी थी, रूसी विद्वन्मंडली पर भी उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। रूसी सरकार ने एक होनहार तरुण राबर्त लेंज (1808-36) को संस्कृत पढ़ने के लिए विदेश भेजा। उसने बर्लिन में बोप से पढ़ा, आक्सफोर्ड में बर्नफ से परिचय प्राप्त किया। स्वदेश लौटकर 1835 ई. में वह पीतरबुर्ग (आज के लेनिनग्राद) यूनिवर्सिटी में संस्कृत का प्रोफेसर नियुक्त हुआ, किन्तु दुर्भाग्य से अगले ही साल 28 साल की आयु में यह तरुण संस्कृतज्ञ चल बसा। किन्तु धारा रुकनेवाली नहीं थी। पेत्रोफ (मृ. 1876 ई.), कोसोविस्क (1872), शिफ़्तर (1817-79), बोंथलिंड (1815-1904 ई.), मिनयेफ (1840-90 ई.), ओल्डेन बुर्ग (1863-1934), श्चेर्वात्स्की (1866-1942), वरान्निकोफ जैसे भारतीय तत्त्वज्ञ और संस्कृत के महान् आचार्य रूस की भूमि में पैदा हुए। इनमें से दो-तीन ही नाम भारतीयों के परिचित हैं, क्योंकि इनकी कृतियाँ अधिकांश रूसी भाषा में होने से भारतीयों की पहुँच से बाहर हैं। ज्ञान की गम्भीरता और विशालता हमेशा से रूसी विद्वानों की विशेषता रही है, वही बात इन विद्वानों के सम्बन्ध में भी सत्य है। इसका प्रमाण सेंतपीतरबुर्ग का बृहत् संस्कृत-कोश है, जो यद्यपि पिछली शताब्दी में तैयार हुआ, मगर आवश्यकता होने पर भी अभी तक उससे अच्छा विशाल कोश नहीं बन सका। आचार्य श्चेर्वात्सकी के भारतीय दर्शन के गम्भीर ज्ञान का लोहा सारी विद्वन्-मंडली मानती है।

आचार्य श्चेर्वात्स्की[1] (1866-1942)

शायद यह कहने में अत्युक्ति नहीं है कि पश्चिम में आज तक इतना बड़ा भारतीय दर्शन और संस्कृत भाषा का पंडित नहीं हुआ। जब मैंने 1929 में लंका में आए बर्लिन के प्रोफेसर ल्युडर्स से किसी पश्चिमी दर्शन-निष्णात के बारे में पूछा, तो उन्होंने आचार्य श्चेर्वात्स्की का नाम लिया। भारततत्त्व के अद्भुत विद्वान् प्रोफेसर सेल्वेन लेवी के मुँह से भी श्चेर्वात्स्की की प्रशंसा 1932 में सुनी थी। 1928-29 में मैंने भारततत्त्व के वैज्ञानिकी-अध्ययन

1. आचार्य श्चेर्वात्स्की पर एक और लेख 'जिनका मैं कृतज्ञ' में है।

का क-ख ही शुरू किया था। समय बीतता गया, मेरा अध्ययन और अनुशीलन भी बढ़ता गया। मैंने आचार्य श्चेर्वात्स्की के अंग्रेजी में उपलब्ध ग्रंथों को पढ़ा, फिर मुझे उनके गम्भीर ज्ञान, तीक्ष्ण विवेचन-शैली का परिचय मिला। और अन्त में 1937-38 में कुछ महीनों के दर्शन-सम्मिलन ने हमें एक-दूसरे से बहुत घनिष्ठ बना दिया। अफसोस, हमारा वही अन्तिम मिलन था ! श्चेर्वात्स्की सौहार्द और सौजन्य की मूर्ति थे। स्नेह, भक्ति, वात्सल्य उनमें अपार थी। माँ की आज्ञा उनके लिए ब्रह्म-वाक्य थी। वह 63 वर्ष के थे, जब माँ मरी, श्चेर्वात्स्की के आँसू सप्ताहों बन्द नहीं हुए। अपने शिष्यों को पुत्रवत् नहीं, आत्मवत् प्रेम करते थे। उनके सुयोग्य शिष्य ब्लादिमिसव सवसं तरुण अवस्था में अकदमी सदस्य निर्वाचित हुए। वे संस्कृत-तिब्बती-मंगोल भाषाओं के अद्वितीय विद्वान् थे। वे चालीस साल की अवस्था ही में जब मर गए, तो श्चेर्वात्स्की को भारी शोक हुआ और जब शिष्य-पत्नी मिलने आई, तो उसे अंक में ले फूट-फूटकर रोने लगे। उन्हें कोई सन्तान न थी। ब्याह उन्होंने 74 साल की उम्र में अपनी रसोइया वृद्धा से इस ख्याल से किया कि उनके न रहने पर वह पेंशन पा सके, और उसको दुःख न सहना पड़े, किन्तु संतति-स्नेह से वह वंचित न थे। सौभाग्य से उन्हें रोजनबग, ओवरमिलर आदि एक से एक मेधावी शिष्य मिले थे, यद्यपि 'हसरत उन गुंचों पे है जो बिन खुले मुर्झा गए' के अनुसार अन्त में सभी उन्हें विषण्ण छोड़ गए। उन्होंने हर एक के वियोग पर आँसुओं से शोक को धोना चाहा। वह अपने शिष्यों के प्रति यूनिवर्सिटी प्रोफेसर-जैसे न थे। वह प्राचीन भारत के गुरु-जैसे थे, और उनका घर गुरुकुल। पति-पत्नी से विवाद होने पर पत्नी उलहना ले आचार्य के पास पहुँचती, और वह बीच में पड़ते। शिष्यों के लिए उनके विद्याभंडार का द्वार ही नहीं खुला रहता था, बल्कि उनके सामने वह रुपये-पैसे को कुछ नहीं समझते थे। उनके एक शिष्य को जब छात्रवृत्ति न मिलने से उसकी एम. ए. की पढ़ाई रुकने जा रही थी, तो वह पाँच सौ रुपये मासिक देने लगे। और उनकी आहार-पान गोष्ठी में तो सदा ही कोई न कोई शिष्य-शिष्या निमंत्रित रहते—यह उस समय भी, जब कि क्रान्ति के बाद वह अपनी विशाल जमींदारी के स्वामी न थे, और खान-पान की वस्तुएँ बहुत महँगी हो चुकी थीं।

ब्यूलर, याकोबी और मैथिल पंडित (जिनसे उन्होंने बम्बई में अध्ययन किया था)—अपने इन तीन गुरुओं के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी, हिन्दुओं की कृतियों के गम्भीर अध्ययन में उन्होंने सारा जीवन बिताया था। अश्वघोष, कालिदास, दंडी के मधुर काव्यरस का आस्वादन किया था। दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के रूप में हिन्दी की प्रतिभा जो दार्शनिक विकास के उच्चतम शिखर पर पहुँची थी, उसे उन्होंने प्रत्यक्ष किया था—और इनकी कृतियाँ प्रायः सारी तिब्बती अनुवादों में ही सुलभ होने पर ऐसे प्रत्यक्षदर्शी हाल की सदियों में वह प्रथम थे। वह कहा करते थे, "हिन्दू सबसे प्रतिभाशाली जाति है।" "है" की जगह "थे" कहना चाहिए। अपने पूर्वजों की योग्य सन्तान सिद्ध करने के लिए अभी हमने बहुत कम कर पाया है।

फेदोर (श्योदोर) इप्पोलित-पुत्र श्चेर्वात्स्की का जन्म 19 सितम्बर 1866 में पोलैण्ड के केल्स नगर में हुआ था, जहाँ उनके पिता उस वक्त एक उच्च सरकारी पदाधिकारी थे। उनकी माँ-ग्रीस-कुमारी थीं। यह एक सुशिक्षित, सुसंस्कृत धनाढ्य परिवार था। जमींदारी ही नहीं, वह परिवार भी पुराना उपाधिधारी सामन्त था। फेदोर बचपन ही में अपनी मातृभाषा रूसी के अतिरिक्त जर्मन, फ्रेंच और अंग्रेजी दाइयों से सीख गए थे। 1884 ई. में उन्होंने जार्स्कीसेलो के कुमार स्कूल (जेम्नासिया) की पढ़ाई समाप्त की, और सेण्ट पीटरबर्ग (लेनिनग्राद) विश्वविद्यालय के भाषातत्त्व विभाग में दाखिल हुए। भाषातत्त्व में उन्हें रस आने लगा। मिनयेफ उनके संस्कृत के गुरु थे, जो एक से अधिक बार भारत, लंका, बर्मा की यात्रा कर चुके थे। प्रोफेसर ब्राउन से उन्होंने गाथ, प्राचीन स्कंडनेयन, प्राचीन जर्मन, एंग्लो-सेक्सन भाषाओं का परिचय प्राप्त किया। प्राचीन स्लाव्यान और सेर्वोक्रास भाषाएँ उन्होंने यागिच् से सीखीं। किन्तु सबसे ज्यादा उन्हें अपनी ओर खींचा संस्कृत ने—उसका भंडार उन्हें इतना उच्च, गम्भीर, विशाल, सुन्दर और सम्पन्न मालूम हुआ और जिसके अन्दर मिनयेफ उन्हें खींच ले गए। युनिवर्सिटी के प्रथम वर्ष में ही उन्होंने अपना पथ निर्धारित कर लिया था। उन्हें अपना जीवन अपने गुरु मिनयेफ की तरह संस्कृत और भारत को देना है। 1889 में श्चेर्वात्स्की ने यूनिवर्सिटी परीक्षा बड़ी योग्यता से पास की और डॉक्टर उपाधि के लिए तैयारी करने लगे। उनके अध्यापकों ने उनकी असाधारण प्रतिभा को देखा। विशेष अध्ययन के लिए

उन्हें वीना भेजा गया, जहाँ उन्होंने डॉक्टर व्युलर से विशेषतया संस्कृत काव्य पढ़े। इसके परिणाम थे 'हैहयेन्द्रचरित' का जर्मन अनुवाद और 'भारतीय काव्य सिद्धान्त', जो दोनों ही व्यूलर की मृत्यु के वाद समाप्त हुए। काव्यों के अतिरिक्त श्चेर्वात्स्की ने व्युलर से पुरालिपि, धर्मशास्त्र और पाणिनि व्याकरण पढ़ा। पुरालिपि में उन्होंने शीलादित्य द्वितीय (सप्तम सदी) के अभिलेख पर लेख लिखा। इस काल में उन्होंने स्लाव भाषाओं, रोमन भाषाओं तथा वैदिक भाषा का (फ्रेडरिक मुलर से) विशेष अध्ययन किया। वीना से शिक्षा समाप्त कर श्चेर्वात्स्की 1893 में स्वदेश लौटे।

लेकिन अगले छह साल उन्हें युनिवर्सिटी नहीं, अपनी तालुकदारी में लगाने पड़े। तालुकदारी का प्रवन्ध करते उन्हें रूस के हरे-भरे प्रकृति-सौंदर्यपूर्ण गाँवों में रहना ज्यादा पसन्द आया। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने स्वाध्याय को छोड़ दिया था। हर रोज सवेरे चार वजे (ब्राह्म-मुहूर्त) उठ सात-आठ वजे तक पढ़ना उनकी आदत में शामिल हो गया था।

1899 में रोम की प्राच्य-कांग्रेस के साथ फिर उन्होंने प्राच्य-विद्या में पैर रखा। अव उनका ध्यान भारतीय दर्शन की ओर था। वह इसके लिए बोन (जर्मनी) में प्रोफेसर याकोवी के पास पहुँचे। सिर्फ भाषा और इतिहास की दृष्टि से संस्कृत साहित्य के अध्ययन से याकोवी भी सन्तुष्ट न थे, उन्होंने यही बात अपने इस प्रतिभाशाली रूसी तत्त्वजिज्ञासु में देखी। श्चेर्वात्स्की ने याकोवी से भारतीय दर्शन पढ़े।

1900 में रूस लौटकर श्चेर्वात्स्की अपनी युनिवर्सिटी में संस्कृत के उप-प्रोफेसर (प्रीवत-दोत्सन्त) नियुक्त हुए। नई सदी के आरम्भ के साथ पूर्वी मध्य-एसिया (चीनी तुर्किस्तान) में भारतीय पुरातत्त्व की वहुमूल्य सामग्री उद्घाटित होने लगी, जिसमें पश्चिमी देशों के विद्वानों ने भाग लिया। ओल्देनवुर्ग दो वार अभियान लेकर गए। वहाँ बहुत-से बहुमूल्य बौद्ध ग्रन्थ संस्कृत, तिब्वती और दूसरी भाषाओं में मिले, वहुत-से चित्र और कला की चीजें उद्घाटित हुईं। इससे उत्तरी बौद्ध धर्म के अध्ययन को जोर मिला। श्चेर्वात्स्की हिन्दू दर्शनों के अध्ययन से साधन-सम्पन्न हो चुके थे, उन्होंने अब वौद्ध-दर्शन की ओर ध्यान दिया। 1900 में ही वह कुछ समय के लिए मंगोलिया गए, और वहाँ एक मंगोल विद्वान् भिक्षु से उन्होंने तिब्बती भाषा और बौद्ध न्याय ग्रंथ 'न्याय-बिंदु' को पढ़ा। धर्मकीर्ति के इस छोटे-से ग्रन्थ के पढ़ते ही उन्होंने 'जगद्भिवधीर धीमान्' धर्मकीर्ति की प्रतिभा और शैली का लोहा मान लिया। वह धर्मकीर्ति को "भारत का काण्ट" कहा करते थे।

श्चेर्वात्स्की युनिवर्सिटी में जहाँ अपने छात्रों को संस्कृत व्याकरण (व्युलर), मेघदूत, शकुन्तला, दशकुमार चरित, शिशुपाल वध और तर्कभाषा पढ़ाते, भविष्य के गवेषक पण्डितों को तैयार करते, वहाँ वाकी समय अपने स्वाध्याय और लेखन में लगे रहते। छुट्टियों को मंगोलिया के बौद्ध विहारों या किसी दूसरी जगह गम्भीर अध्ययन में विताते और अपने गवेषणापूर्ण निबन्धों को प्रकाशित करते। 1910 पहुँचते-पहुँचते रूसी विज्ञान-अकदमी (सर्वोच्च विद्वत्परिषद्) के वह उपसदस्य निर्वाचित हुए। इसी साल उनकी भारत जाने की अभिलाषा पूर्ण हुई। वह पल्लवग्राही पांडित्य के पक्षपाती न थे, और 1910-11 के भारत-प्रवास को उन्होंने भारतीय दर्शन—ब्राह्मण, जैन, वौद्ध दर्शन—के अध्ययन में बिताया। वह उत्तरी भारत में भी घूमे, हिमालय में दार्जिलिंग तक गए जहाँ उन्होंने दलाई लामा से भेंट की, किन्तु ज्यादा समय बम्बई में दरभंगा के एक दार्शनिक विद्वान् से पढ़ने में बीता। उन्होंने इसके बारे में लिखा—"हम बिल्कुल भारतीय मुहल्ले में रहते, जहाँ एक भी यूरोपियन न था। हमारा वार्तालाप होता था केवल संस्कृत में। पूर्णमासी और अमावस्या के दो अनध्यायों को छोड़ वाकी सारे दिनों सवेरे से शाम तक दर्शन का अध्ययन और चर्चा रहती।" अपने गुरु मैथिल पण्डित के गम्भीर ज्ञान और सौजन्य का वह सदा बहुत आदर से स्मरण किया करते।

1917 की फरवरी आई, जार का मुकुट जमीन पर लोटने लगा। फिर 7 नवम्वर की महाप्रलय आई, जिसने कल के सारे प्रभुवर्ग को खतम कर दिया—श्चेर्वात्स्की की तालुकदारी भी उड़ गई। लेकिन श्चेर्वात्स्की तो सरस्वती के वरपुत्र थे। "विद्वान सर्वत्र नहि सर्वदा पूज्यते।" 2 नवम्वर 1918 को श्चेर्वात्स्की अकदमी के सदस्य चुने गए—यह वह पद है, जो कि रूसी विद्वान की सर्वोच्च पहुँच है, और एक समय मुश्किल से सौ वहाँ पहुँच पाते थे।

अगले चौवीस साल उन्होंने एक कर्मठ मनीषी का जीवन विताया। 'बौद्ध न्याय' की दो बड़ी-बड़ी जिल्दें 1930 के वाद प्रकाशित कीं। 'बौद्ध मूल विचार', 'बौद्ध निर्वाण विचार' जैसे गम्भीर निबन्ध लिखे। 'दशकुमार चरित' का सुन्दर अनुवाद किया।

1936 की मेरी तिब्वत यात्रा में जव उन्हें मालूम हुआ कि वहाँ मैंने धर्मकीर्ति और दूसरे कितने ही बौद्ध दार्शनिकों के संस्कृत मूल ग्रन्थ खोज निकाले हैं, तो उनकी प्रसन्नता की सीमा न रही। उनके कहने पर अकदमी ने मुझे 1937 में निमंत्रित किया, किन्तु कई कारणों से मैं लेनिनग्राद में आकर भी ज्यादा समय न रह सका। उनकी वड़ी इच्छा थी, धर्मकीर्ति के मुख्य ग्रन्थ 'प्रमाणवार्तिक' का अनुवाद करने की, और यह भी कि हम दोनों मिलकर बौद्ध दर्शन-ग्रन्थों पर काम करें। वह इसके लिए कोशिश कर ही रहे थे कि महायुद्ध छिड़ गया।

जव जर्मन-सेनाएँ लेनिनग्राद की तरफ बढ़ने लगीं, राष्ट्र की बहुमूल्य वस्तुओं को विमानों और दूसरे साधनों द्वारा हटाया जाने लगा, तो इस महान् विद्वान् को भी विमान पर चढ़ पूर्व की तरफ उड़ना पड़ा। उन्होंने अन्तिम बार अपने प्रिय नगर को देखा, शायद उनको अब भी आशा थी कि लौटकर फिर वहाँ अपने कार्य को शुरू करेंगे, लेकिन वह पूरी न हो सकी। 18 मार्च 1942 को 76 साल की उम्र में उन्होंने बरोवा (उत्तरी कजाकिस्तान प्रजातंत्र) में निर्वाण लाभ किया। आज भी उस पार्वत्य भूमि में देवदारों से आच्छादित सदाहरित एक भूखंड में यह महान् प्रतिभा अनन्तनिद्रा में विलीन है।

आचार्य बरान्निकोफ[1]

आज भी हममें मौजूद आचार्य बरान्निकोफ का भाषा-ज्ञान बहुत विस्तृत है। भारत की पुरानी भाषाओं संस्कृत और प्राकृत के अतिरिक्त वह आधुनिक भाषाओं हिन्दी, उर्दू आदि के भी उद्भट विद्वान हैं। जीवित भाषाओं की उपेक्षा कर केवल प्राचीन भाषाओं के पक्षपात को न पसन्द करते उनका ध्यान विशेष तौर से आज की भाषाओं की ओर आकृष्ट हुआ। हिन्दी तो उनकी कृतियों के लिए सदा कृतज्ञ रहेगी। प्रथम हिन्दी गद्य-ग्रंथ 'प्रेमसागर' का वह रूसी भाषा में सरल अनुवाद कुछ साल पहिले करके प्रकाशित कर चुके हैं। हिन्दी कविता के अनमोल रत्न तुलसीकृत रामायण का पद्यमय अनुवाद उन्होंने बहुत प्रयत्न से किया है, जो कि हाल ही में छपा है। यहाँ हम इसी महान् पंडित की जीवनी पर कुछ लिखने जा रहे हैं।

अलेकसेइ पेत्रोविच् (पेतर-पुत्र) बरान्निकोफ 21 मार्च 1890 ई. को वर्तमान उक्रइन प्रजातन्त्र के पोल्तावा जिले में द्रियेपर नदी से 6 मील जोलोतोनोशा कस्बे में एक गरीब बढ़ई के घर में पैदा हुए। जीवन-संग्राम को लड़ते हुए उन्हें आगे बढ़ना पड़ा, जिसने उनकी सहानुभूति दलित जनता की ओर अधिक बढ़ा दी। पिता पेतर बरान्निकोफ बढ़ई का काम करते थे, और आज (1947) 88 साल की उम्र में जो जोलोतोनोशा में शान्ति और सन्तोष का जीवन विता रहे हैं। माता 1914 में ही मर गई और अपने यशस्वी पुत्र को उसके वैभव-काल में न देख सकीं। बरान्निकोफ को अपने पिता से बहुत प्रेम है, उन्हें जोलोतोनोशा और उसके पास वहनेवाली द्रियेपर पर अभिमान है। यह वही द्रियेपर है जिसके तट पर उनके पूर्वज घुमंतू शकों ने संस्कृति की अगली सीढ़ियों को पार किया, यहीं उनके पहिले ग्राम और नगर बसे; द्रियेपर रूसी संस्कृति का गहवारा है।

यद्यपि परिवार बिल्कुल निरक्षर नहीं था, तो भी वहाँ अलेक्सी के भविष्य के लक्ष्य के लिए कोई पथ-प्रदर्शक न था। उन्हें स्वयं पथ-प्रदर्शन और लक्ष्य पर बढ़ते हुए उसे प्राप्त करने की कोशिश करनी थी। सात वर्ष की आयु में वह अपने कस्बे के स्कूल में भरती हो गए। दस साल तक वहाँ पढ़ते रहे, किन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण स्कूल में और पढ़ना नहीं हो सका, और विना पहिली मंजिल पार किए ही घर बैठना पड़ा। किन्तु यह हिम्मत हारनेवाले तरुण नहीं थे। उन्होंने पुस्तकों को अपना गुरु बनाया, और घर पर ही तैयारी करने लगे। शिक्षा का माध्यम अपनी मातृ-भाषा (रूसी) थी; किन्तु जेम्नासियम (मैट्रिक) परीक्षा पास करने के लिए उन्होंने फ्रेंच, जर्मन, लातिन और ग्रीक भाषाएँ ले रखी थीं। गणित और भाषा में उनको अधिक रुचि थी, इसलिए

---

1. आचार्य वरान्निकोफ पर एक और लेख 'अतीत से वर्तमान' में है।

अपने से पढ़कर 1910 ई. में 20 साल की उम्र में उन्होंने जेम्नेसियम पास किया।

ज्ञान-मन्दिर का द्वार अभी आधा ही उनके लिए खुला था। अव वह पुस्तकों को स्वयं पढ़कर आगे नहीं बढ़ सकते थे। पढ़ने के लिए घर से दूर किसी बड़े शहर में जाना था, अर्थात् और भी ज्यादा खर्च, और अलेक्सी धनी पिता के पुत्र नहीं थे। किन्तु वह बीस साल के थे। उनका दृढ़ मनोवल उनके साथ था। उन्होंने एक दिन कियेफ के प्राचीन नगर–जहाँ रूसी जाति ने पश्चिमी संस्कृति की प्रथम दीक्षा प्राप्त की थी–को प्रयाण कर दिया। सम्बल थोड़ा था, इसलिए जीविका की खोज पहिली समस्या थी। आशा-निराशा के साथ इधर-उधर भटकते, उन्होंने 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' की कहावत को सच किया। किसी धनिक पुत्र को पढ़ाने का काम मिल गया। उन्होंने विश्वविद्यालय में नाम लिखाया। पहिले की भाषाओं में स्लाव (प्राचीन रूसी) लिथुवन, प्राचीन जर्मन, प्राचीन फ्रेंच, इतालियन, पहलवी, जन्द और संस्कृत भी शामिल हो गईं। ट्यूशन करते और फिर बड़े परिश्रम से अपने अध्ययन में लग जाते। भाषाओं के शौक ने उन्हें सिगानों के तम्बुओं में पहुँचाया। सिगान, जिन्हें अँगरेजी में जिप्सी, ईरान में लूरी भी कहते हैं, और वह स्वयं अपने लिए 'रोम' या 'रोमनी' शब्द का प्रयोग करते हैं। भाषा-तत्त्वज्ञों ने स्वीकार किया है कि ये लोग भारत से गए हैं। यद्यपि इनकी भाषा में उन देशों के बहुत-से शब्द शामिल हो गए हैं, जहाँ उन्हें उनका घुमन्तू जीवन ले गया; तो भी उनकी भाषा हिंदी की सगी वहिन है। अलेक्सी को सिगानों की भाषा सीखने का शौक था, किन्तु साथ ही इन सनातन घुमन्तुओं का स्वच्छंद जीवन भी उन्हें बहुत प्रिय मालूम होता था। वह कितने ही दिनों उनकी सिरकियों में रह जाते, उनके साथ खाते, पान करते, नाचते-गाते। उनकी सिगान भाषा को सुन अपरिचित सिगान कह उठते "तु रोम।" लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने अपने अध्ययन में शिथिलता की। चार साल की पढ़ाई के वाद (1914) उन्होंने विश्वविद्यालय की परीक्षा बड़े सम्मान के साथ पास की। उनके 300 पृष्ठों के निबन्ध 'स्लाव. लिथुव और जर्मन भाषाओं में धातु-रूप' पर स्वर्ण-पदक मिला। 'प्रसिदाय' मिला। 'मगिस्तर' की उपाधि और छात्रवृत्ति भी। इस प्रकार चौबीस वर्ष की उम्र में पहुँच अब आर्थिक कठिनाइयों से उन्हें कुछ मुक्ति मिली। उन्होंने आगे की पढ़ाई के लिए सेंतपीतरवुर्ग विश्वविद्यालय को चुना।

सेंतपीतरबुर्ग (आज का लेनिनग्राद) विद्या का महान् केन्द्र था। बरान्निकोफ ने संस्कृत, ग्रीक, लातिन और तुलनात्मक भाषाविज्ञान को अपना पाठ्यविषय चुना। आल्देनवुर्ग, श्चेर्वात्स्की और जालमान जैसे दिग्गज विद्वान अध्यापक मिले। यद्यपि छात्रवृत्ति मिलती थी, किन्तु विद्याव्यसनी के लिए पुस्तकों का लोभ-संवरण करना मुश्किल है। वरान्निकोफ एक जेम्नासियम (हाई स्कूल) में पढ़ाया भी करते। यह प्रथम महायुद्ध का जमाना था। 'अस्पेरांत' (एम. ए.) की परीक्षा खतम करते-करते 1917 की महान् क्रान्ति भी हो गई। पुरानी दुनिया उलट गई, उसकी जगह नया संसार बनने लगा। वरान्निकोफ–गरीब बढ़ई के पुत्र–से बढ़कर इस नये संसार के निर्माण से किसको प्रसन्नता होती ?

परीक्षा पास करते ही वह तुलनात्मक भाषातत्त्व के प्रोफेसर हो समारा (आधुनिक कुविशियेफ) विश्वविद्यालय में भेज दिए गए, जहाँ चार साल तक काम कर 1921 में लेनिनग्राद (तब पीतरवुर्ग) विश्वविद्यालय में लौट आए। तब से लेनिनग्राद ही उनका घर बन गया। सिगान भाषा का हिन्दी के साथ घनिष्ठ सम्वन्ध उन्हें उधर ले गया, और क्रान्ति ने जातियों के भूतों के साथ वर्तमान भाषाओं का जो महत्त्व बढ़ाया, उसने हिन्दी को विश्वविद्यालय में सम्माननीय स्थान दिलाया।

अलेक्सी पत्रोविच् पिछले बत्तीस सालों से अध्ययन और अनुसंधान में निरत हैं। दो सौ से ऊपर निबन्ध और ग्रन्थ उनके प्रकाशित हो चुके हैं, अफसोस है कि वे सभी रूसी भाषा में हैं, इसलिए भारतीय पाठकों की पहुँच से बाहर हैं। हिन्दी-उर्दू भाषाओं के व्याकरण और कोष के अतिरिक्त वह एक वृहत् हिंदी-रूसी कोष में लगे हैं। 'प्रेमसागर' और 'रामायण' (तुलसी) के अनुवाद रूसी भाषा की स्थायी सम्पत्ति हैं। सिगान भाषा पर उनके कितने ही निबन्ध और ग्रंथ गीतिसंग्रह छप चुके हैं। इस विषय में उनका पहिला ग्रंथ 'वेल ग्रोरद (उक्रइन) की सिगान बोली' 1926 में छपी, और अनेक अभिनन्दन-ग्रंथों में उनके लेख पाठकों ने पढ़े होंगे। बी. ए., एम. ए. जैसी उपाधियाँ पहिले भी रूस में नहीं थीं और डॉक्टर जैसी प्रचलित उपाधियाँ क्रान्ति के

बाद बन्द कर दी गई थीं। 1935 में फिर युनिवर्सिटियों ने उपाधियाँ देनी शुरू कीं। उसी साल बरान्निकोफ को भाषाविज्ञान-आचार्य (डॉक्टर ऑफ फिलालोजी) की उपाधि मिली और 1936 में सोवियत के विद्वानों का सबसे बड़ा सम्मान, विज्ञान अकदमी (अकदमी ऑफ साइंस) का सदस्य बनाया गया। वह अब अकदमिक बरान्निकोफ के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस सम्मान के पात्र व्यक्ति सारे सोवियत संघ में एक समय मुश्किल से सौ-डेढ़ सौ होते हैं। लेनिनग्राद युनिवर्सिटी और अकदमी के प्राच्य विद्या इतिहास–दोनों के वे हिन्दतिब्बती विभाग के अध्यक्ष हैं।

अकदमिक बरान्निकोफ का परिवार सुशिक्षित संस्कृत परिवार है। पिता अब भी जोलोतोनोशा में रहते हैं, जहाँ पौत्र या पौत्री अकसर अपनी छुट्टियों को बिताने चले जाते हैं। पत्नी युनिवर्सिटी में जर्मन पढ़ाती हैं। ज्येष्ठ पुत्र जर्मनों से लड़ते वीर-गति को प्राप्त हुआ। दूसरा पुत्र सैनिक अफसर, और अफसरों की अकदमी का विद्यार्थी है। पुत्री युनिवर्सिटी में तृतीय वर्ष में पढ़ रही है।

प्रेमचन्द-स्मृति

प्रेमचन्द आरम्भ में उर्दू के लेखक थे। प्रथम विश्वयुद्ध के समय और उससे कुछ पहले के वर्षों में कानपुर का 'जमानाँ' एक उच्च कोटि का मासिक समझा जाता था। 1915 के आस-पास उसी में मुझे प्रेमचन्द के नाम और उनकी लेखनी से परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला। लेकिन उनके दर्शन का मौका बहुत पीछे मिला। उनकी लेखनी का लोहा उस समय भी लोग मानने लगे थे, किन्तु उनकी शैली में जो एक बड़ा गुण था, उसे ही उनके समसामयिक हिन्दी या उर्दू के कितने ही विद्वान दोष समझते थे। प्रेमचन्द का जीवन जैसा सीधा-सादा था, उसी तरह वह अपनी लेखनी को भी अनावश्यक कृत्रिम साज-बाज से सजाना पसन्द नहीं करते थे। साधारण जन-जीवन उन्हें प्रभावित करता था, उसी से प्रेरित होकर उनकी लेखनी चलती थी। वह चाहते थे कि जिस उद्देश्य से वह लिख रहे हैं, उससे अधिक से अधिक लोग लाभ उठा सकें। वह बहुजन-हित के पक्षपाती थे और बहुजन-हिताय लिखते थे, इसलिए भाषा को बेकार बोझिल बनाना तथा अपनी पंडिताई को प्रकट करने के लिए दूसरे उर्दू लेखकों की नकल करना उन्हें पसन्द नहीं था। वह अपने उद्देश्य में बहुत कुछ सफल हुए। सफलता से मेरा मतलब आर्थिक सफलता से नहीं, वह तो भारतीय लेखकों के लिए अभी भी दूर की बात मालूम होती है। किन्तु उनकी कृतियों का स्वागत जिस तरह हुआ, उसे हम सफलता कह सकते हैं।

6 वर्ष बीत गये। मैं सारे भारत का दो बार चक्कर लगा चुका था और अब (1921 में) छपरा जिले में आकर असहयोग-आन्दोलन में काम करते हुए गाँव-गाँव की खाक छान रहा था। एक-दो दिन वहाँ के एक गाँव रेवतिया में रहना पड़ा। वहाँ प्रेमचन्द का दर्शन दूसरी बार हुआ। अब भी साक्षात नहीं, केवल उनकी कृतियों द्वारा ही। अब प्रेमचन्द हिन्दी के लेखक के तौर पर सामने आए थे। जिस परिवार में मैं मेहमान था, वह बहुत सुशिक्षित परिवार नहीं कहा जा सकता था। सुशिक्षित परिवार का अर्थ उस समय अंग्रेजी की शिक्षा ही नहीं, बल्कि अंग्रेजों की नकल में भी कुशल होना माना जाता था। ऐसे परिवार हिन्दी या उर्दू में बहुत कम रुचि रखते थे, इसलिए वहाँ प्रेमचन्द के स्वागत की आशा नहीं हो सकती थी। रेवतिया के जैसे ग्राम में प्रेमचन्द की दो-तीन कृतियों को देखकर मुझे मालूम हुआ कि प्रेमचन्द ने हिन्दी पाठकों को एक नई और उच्च दिशा में आकृष्ट किया है। जासूसी उपन्यास और उसी तरह के दूसरे सस्ती रुचि के साहित्य के पढ़ने वाले हिन्दी में तब भी काफी मिलते थे। जो लोग अंग्रेजी शिक्षा से वंचित थे, उनके लिए यह छोड़ दूसरा साहित्यिक मनोरंजन का कोई सुलभ साधन नहीं था। सारे असहयोग-काल और उसके बाद के भी कितने ही वर्षों तक राष्ट्र की नब्ज पहचाननेवाले

प्रेमचन्द एक के बाद एक अपनी प्रेरणादायक कृतियों द्वारा पथ-प्रदर्शन करते रहे, इतना ही कहना पर्याप्त नहीं होगा; बल्कि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि 1920 से 1930 के दस वर्षों में प्रेमचन्द ने राष्ट्रीयता, राजनीतिक जागृति, उच्च आदर्श के प्रसार में जितना काम किया, उतना बहुत से लेखकों ने मिलकर भी नहीं किया।

6 वर्ष और बीते, शायद 1926 का साल था, समय-समय पर मैंने और भी प्रेमचन्द की कृतियों को पढ़ा–उससे भी अधिक पढ़ने की इच्छा थी, जिसे अब भी पूरा नहीं कर सका। प्रेमचन्द की लेखनी पर मुझे कभी दुर्भाव नहीं पैदा हुआ। कविता हो या गद्य-साहित्य, भारतीय हो या विदेशीय, बहुत कम लेखक मुझे प्रभावित करते हैं। बाज वक्त इसके कारण मुझे अपने ऊपर अविश्वास होने लगता है। किन्तु साथ ही कुछ साहित्यकार तो मुझे प्रभावित भी करते हैं। ऐसे ही साहित्यकारों में मैं प्रेमचन्द को मानता हूँ।

नहीं कह सकता, किस समय प्रेमचन्द स्थायी तौर से बनारस में रहने लगे। लेकिन बनारस ही में उनके साक्षात् दर्शन का अवसर मिला। इसे मैं दर्शन ही कह सकता हूँ, क्योंकि जहाँ तक स्मरण है, हमारी कोई बातचीत नहीं हुई थी। बड़े आदमी को बड़े रूप और टीम-टाम में रहना चाहिए, यह ख्याल मेरे दिल में कभी नहीं आया, इसलिए उनकी सीधी-सादी, दुबली-पतली मूर्ति और अर्ध-मंगोलायित चेहरे को देखकर मुझे निराश होने की कोई जरूरत नहीं थी। बल्कि उन्होंने लेखनी द्वारा जिस साधारण जन की सेवा का व्रत लिया था, वह वेश-भूषा उसके बिल्कुल अनुरूप थी।

मेरे सामने प्रेमचन्द की भाषा पर एक उर्दू के ख्यातनामा लेखक और कवि ने आक्षेप किया था कि वह उर्दू नहीं जानते, वह तो पूरब की बोली में लिखते हैं। मैं जानता था कि यह साहित्यिक महाशय लखनऊ के उन नवाबों के वर्ग के हैं, जो समझते थे कि गेहूँ का कोई दरख्त होता है। उनको केवल नगर के शिक्षित मध्यवर्ग के जीवन का परिचय था। वह अपने वर्ग के और कितने ही शिक्षितों की तरह परम कूपमण्डूक थे। उनकी लच्छेदार उर्दू में अरबी के शब्द भरे पड़े रहते हैं। शायद वह स्वयं यदि उपन्यास या कहानी लिखते–सौभाग्य से खुदा गंजे को नाखून नहीं देता–तो वह होरी के मुँह से भी अपनी पसन्द की भाषा कहवाते।

हिन्दी के कुछ साहित्यिकों का भी कहना था कि उनकी हिन्दी में भाषा की मजायी और गहराई नहीं है। मजायी के बारे में मतभेद होने की गुंजाइश है, क्योंकि प्रेमचन्द से पहले भी चाहे कुछ उपन्यास लिखे गए हों, लेकिन उन्हें विश्व के उपन्यासों के सामने रखा नहीं जा सकता। प्रेमचन्द का इस विषय में पहला प्रयास था। उनके सामने अभी मजी-मजायी ऐसी भाषा तैयार नहीं हुई थी, इसलिए उन्हें इस मजायी के काम को भी करना पड़ता था। और प्रथम प्रयास होने से यदि वह कहीं उतनी चिकनी और सुडौल नहीं मालूम होती, तो उसके लिए उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता। गहराई न होने का आक्षेप तो बिल्कुल उपहासास्पद है। विदेशी भाषाओं में अनुवादित होने पर यह भाव-गाम्भीर्य ही है, जो कि लेखक का लोहा मनवाता है। अब भी प्रेमचन्द के कुछ समसामयिक साहित्यिक हैं, जो अपने विरोधी विचारों पर दृढ़ रहना चाहते हैं। मुबारक हों उनको वे अपने विचार, जो अधिक से अधिक 20-25 साल तक और उनके साथ जी सकते हैं। मूल हिन्दी के पढ़ने पर तो शायद उपन्यास के आरम्भिक काल की भाषा कहीं-कहीं कुछ खटके भी, किन्तु अनुवाद में तो वह बिल्कुल सुन्दर सजी हुई भाषा का रूप ले लेता है।

अन्तिम बार जब प्रेमचन्द के दर्शन का अवसर मिला, उस समय तक हम दोनों एक-दूसरे से खूब परिचित हो चुके थे, कितनी ही बार भेंट-मुलाकात और बातचीत भी हो चुकी थी। 1931 में 'कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' (मार्क्स) का हिन्दी अनुवाद मैं और आचार्य नरेन्द्रदेव कर रहे थे, जो कि प्रेमचन्द जी के ही प्रेस में छप रहा था और आगे की राजनीतिक गड़बड़ी के कारण वह पूरा नहीं हो सका। अब मैं एक तजर्बे का पर्यटक ही नहीं था, बल्कि साल के 7-8 महीने तिब्बत या किसी दूसरे देश की यात्रा में बिताता था। जाड़ों में सारनाथ गया हुआ

था। वार्पिकोत्सव का समय था। इसी समय मेरे वहाँ उपस्थित रहने की सम्भावना थी।

एक दिन प्रेमचन्द जी आए। उनका गाँव सारनाथ से मील-डेढ़ मील ही पर है। (उसके बाद मैं अनेक वार उनके जन्म-ग्राम में भी हो आया हूँ, जहाँ मुझे एक टूटी हुई मूर्ति का सिर मिला था। यह किसी देवता की मूर्ति नहीं थी, वल्कि एक प्राग-इस्लामिक या आदि-इस्लामिक काल के पुरुष की मूर्ति थी, सो भी किसी कायस्थ की। सिर के केशों की वनावट तथा गाँव में कायस्थों की प्रधानता इसी की ओर संकेत करती है। हो सकता है कि वह प्रेमचन्द के किसी पूर्वज की ही हो। मूर्ति मैंने प्रयाग म्युजियम में भिजवा दी।) वहाँ चटाई पर वैठे हुए जव हम दोनों वात कर रहे थे, तो उस समय मुझे कभी ख्याल नहीं आया था कि यह हमारी अंतिम वातचीत है।

जाड़ों के वीतने के साथ मैं तिब्वत गया और वहीं उनके निधन की खबर मिली। उनकी कृतियों के जितने श्रेष्ठ नायक हैं, उन्हीं की मूर्ति प्रेमचन्द के रूप में मुझे उस दिन सामने दिखायी पड़ी।

प्रेमचन्द भारत के अमर लेखक, अमर कलाकार हैं। उन्होंने साहित्यिक मनोरंजन और उच्चादर्श के लिए अन्तःप्रेरणा का ही सफल प्रयास नहीं किया, बल्कि उनकी लेखनी द्वारा 20वीं शताब्दी की साढ़े तीन दशाब्दियों के लोकजीवन का स्वरूप, लोक-इतिहास बड़ी स्पष्टता और ईमानदारी के साथ चित्रित हुआ है, कुछ ही समय वाद ज़िसके जानने का हमारे पास कोई अच्छा साधन नहीं रह जायेगा। उन्होंने अपनी लेखनी द्वारा इतिहास के संक्रान्ति काल के इन आवश्यक पत्रों को लिखकर सुरक्षित कर दिया। शताब्दियाँ बीतती जायेंगी, प्रेमचन्द की देखी-भाली, खेली-खायी, रोयी-गायी दुनिया का कहीं पृथ्वी पर पता नहीं रहेगा, उस वक्त पाठकों के लिए प्रेमचन्द का यह चित्रण कम मनोरंजक और उत्साहवर्धक नहीं होगा।

प्रेमचन्द का विश्व के साहित्यकारों में क्या स्थान होगा, इसका अनुमान आप इसी से कर सकते हैं कि रूस के प्रसिद्ध लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में हर साल प्रेमचन्द-दिवस मनाया जाता है, उनके 'गोदान' को सुन्दर कृति समझकर रूसी भाषा में अनुवाद किया गया है। रूस ने साम्यवादी जगत की ओर से प्रेमचन्द का स्वागत किया है, इसमें संदेह नहीं।

हा, नलिन जी !

सन् 1914 के आस-पास की वात है। गर्मियों में लोग मसूरी, दार्जिलिंग जैसी ठंडी जगहों में जाकर गर्मी की छुट्टियाँ बिताना पसन्द करते हैं। पर पंडित रामावतार शर्मा उन्हें बनारस की गर्मी में बिताने गए थे। बहुत बातों में वह उल्टा ही करते थे। पर यह बुरा नहीं था। हम देख रहे थे, बनारसी लोगों के लिए उतनी तपस्या कोई बुरा सौदा न था। आमवाले टोकरियाँ लेकर उनके घर में ही पहुँचते थे, और पंडितजी उन्हें खरीदकर घर में भेज देते थे। शायद बनारस का लँगड़ा ही पंडित जी को बनारस ले गया। अस्सी संगम पर पुलिस चौकी की ओर जानेवाली सड़क पर वह एक दुमंजिले मकान पर ठहरे हुए थे।

उनका सारा समय विद्यार्थियों और तरुणों के लिए था। सारे दिन और काफी रात तक बुद्धिवाद का यज्ञ चल रहा था। उस वक्त अभी हिन्दू विश्वविद्यालय नहीं बना था, इसलिए श्रोतृमंडली संस्कृत के विद्यार्थियों की थी। पुराणों और धार्मिक कथाओं के गपोड़ों को लेकर बड़ा मजाक उड़ाते थे। वह आवश्यक समझते थे कि तरुणों के दिमागों को युगों के मिथ्या विश्वास से मुक्त कर दिया जाय। उस वक्त एक छोटा-सा लड़का बरस-डेढ़ बरस का उनकी गोद में सदा रहता था। जब दोपहर के करीब पंडितजी गंगा नहाने लगते तो उसे कंधे पर चढ़ा लेते। धोती बगल में रहती, और एक धोती तर-ऊपर पहिने रहते। विद्यार्थी, जिज्ञासु अब भी पीछे-पीछे रहते। पुलिस चौकी के पास जगन्नाथ मंदिर के फाटक के सामनेवाले कच्चे मकान के पास खड़े हो जाते, और बाकी जिज्ञासाओं को पूरा करके पंडितजी अँगनाई में उतरकर तुलसीघाट की ओर नहाने जाते।

उस वक्त किसको मालूम था कि यह छोटा लड़का हिन्दी में बाप से बढ़कर स्थान लेगा, विशेषकर जबकि

कहावत है कि पंडित बाप के लड़के बाप से उल्टी दिशा में बुद्धि विद्या का उत्तराधिकार पाते हैं। पंडित रामावतार शर्मा संस्कृत के धुरंधर विद्वान थे, संस्कृत में उनकी कविता अप्रयास और अति मधुर होती थी। हिन्दी से भी प्रेम रखते थे, और सरस्वती में उनके लेख बड़े ज्ञानवर्धक होते थे। नलिन जी संस्कृत को ही नहीं, अपना सारा समय हिन्दी के लिए देते थे। उन्होंने हिन्दी साहित्य पर असाधारण अधिकार प्राप्त किया था। अफसोस, अभी उन्होंने अपने दिमाग और लेखनी को चलाना ही शुरू किया था कि हिन्दी उनसे वंचित हो गई।

मैंने बनारस में भी महामहोपाध्याय पंडित रामावतार के दर्शन किये थे—उस वक्त जब कि वह गर्मी बिताने गए थे, और उस वक्त भी जब वहाँ वह हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ाते थे। फिर मैंने छपरा को जब अपना द्वितीय घर बनाया, तब तो छपरा के उनके पुराने मकान में भी गया। असहयोग आंदोलन में मैं जी-जान से पड़ गया था, और पंडितजी पटना में अधिकतर रहते थे। हम दोनों एक-दूसरे से बिल्कुल अपरिचित नहीं थे—मैं तो उनकी प्रतिभा और विचार-स्वतंत्रता पर मुग्ध था। एक बार पटना में मुलाकात हुई। उस वक्त उनका बृहतकोश चल रहा था। उन्होंने कहा—आओ न, यहाँ काम करो। मेरे लिए तो उस समय स्वराज्य-आंदोलन सब कुछ था, कैसे आता ? अभी उनकी असाधारण योग्यता का पता बाहर बहुत कम लगा था, मैं इसके बारे में जरूर जानता था।

बहुत दिन बीत गये। एक बार भेंट हुई तो उन्होंने कहा—किस विषय पर पी-एच. डी. प्राप्त की जाय ? मैंने कहा—आपके लिए बहुत मामूली बात है। किसी विषय को ही ले लीजिए और लिख डालिए। मैंने यह भी कहा—मैं इसके बारे में आपको क्या बता सकता हूँ। कहने लगे—आपकी हिन्दी (अपभ्रंश) काव्यधारा की भूमिका को मैं देख चुका हूँ, इसलिए इसे कहने की आवश्यकता नहीं। खैर, कई विषय सामने आए, पर तो भी पी-एच. डी. के लिए निबंध लिखने के बारे में मैं ज्यादा उत्साही नहीं था, नलिनजी जैसे योग्य व्यक्ति के लिए इसकी आवश्यकता नहीं थी।

नलिनजी की मुस्कराहट कुछ-कुछ पैतृक थी। उनके सम्पर्क में थोड़ा भी आया व्यक्ति उनको जीवन-भर भूल नहीं सकता। और जो और भी नजदीक आया, उसे नलिनजी का चिरवियोग याद आने पर हृदय को विकल कर देगा।

द्विवेदीजी का सौम्य बर्ताव

1914 ई., दिसम्बर का महीना था।—13 या 14 दिसम्बर—मकरसंक्रान्ति से पाँच-छः दिन पूर्व ही मैं प्रयाग पहुँच गया था। मेरा इरादा सिर्फ मेला देखने का नहीं था। मैं चाहता था, कोई ऐसा प्रबन्ध हो जाय, जिसमें उदरनिर्वाह के साथ मैं कुछ अध्ययन कर सकूँ। फिर भी जब तक पैसा रहा और जब तक दो-एक परिचित मित्रों का साथ रहा, तब तक मेले की सैर, आर्य-समाज, सनातन धर्म के व्याख्यानों का सुनना होता रहा। होते-होते माघी अमावस्या का स्नान भी समाप्त हो गया। साथी भी जाने लगे। मेला भी खतम होने लगा; और सबसे कठिन बात यह थी कि अब जेब में छह-सात रुपये ही रह गए थे।

मेरी उम्र उस समय बीस वर्ष की थी। योग्यता में—उर्दू मिडिल पास था और लघुकौमुदी सम्पूर्ण तथा सिद्धान्त कौमुदी के कितने ही भागों को पढ़ चुका था। शहरों से दूर एक छोटे-से गाँव में जन्म होने के कारण, मैं सोलहो आना देहाती था; यद्यपि कलकत्ता, रामेश्वर, गुजरात और बद्रीनाथ की सैर भी कर चुका था और एकाध बार शहरों में थोड़ी देर के लिए रह भी आया था, तो भी नागरिकता से बहुत दूर था।

किन्हीं सज्जन ने मेरे विचारों को सुनकर कहा—क्यों न किसी प्रेस में प्रूफ-संशोधन का काम कीजिये। उन्होंने ही शायद, 'सरस्वती' और द्विवेदीजी का पता भी दे दिया। उस समय तक प्रेस के बारे में मेरा इतना ही ज्ञान था कि प्रेस कोई जगह है, जहाँ से हमारी पुस्तकें तैयार होकर आती हैं।

बिना किसी की सिफारिश या परिचय के मैं सीधा इण्डियन प्रेस पहुँचा। पता लगाकर उस कमरे में गया, जिसमें दीवार से लगी एक मेज के पास, शायद दीवार की ही ओर मुँह किए, चश्माधारी एक प्रौढ़ वयस्क

सज्जन बैठे हुए थे। पास जाते ही उन्होंने बड़े कोमल स्वर से पूछा—आप क्या चाहते हैं ?

मुझे स्मरण नहीं कि मैंने उत्तर में क्या कहा। यह भी याद नहीं कि उन्होंने प्रूफ आदि की जानकारी के विषय में भी कुछ पूछा। हाँ, अन्त में जो वाक्य उन्होंने कहा, वह बहुत ही मधुर था—

'दो-तीन दिन पूर्व मैंने एक आदमी रख लिया; यदि आप पहले आए होते, तो जरूर आपका खयाल करता।'

भाव यही था, शब्द चाहे दूसरे रहे हों।

यद्यपि मैं कृतकार्य नहीं हुआ, और अभी दर-दर की खाक छाननी बदी थी, तो भी उसी एक मिनट के मधुर बर्ताव ने मेरे हृदय में द्विवेदीजी के प्रति एक अमिट श्रद्धा उत्पन्न कर दी। काश, सभी बड़े आदमी छोटों से बर्ताव करने में द्विवेदीजी का अनुकरण करते।

मैं कहानी-लेखक कैसे बना ?

कहानी-लेखक क्या लेखक भी मैं कैसे बना, इसे कहना मेरे लिए मुश्किल है। मेरे दिल में यह पहले कभी ख्याल भी नहीं आया था कि मैं लेखक बनूँ। जब मैं निजामाबाद (आजमगढ़) में उर्दू-मिडिल का विद्यार्थी था, उस समय रस्मी तौर पर निबन्ध लिखना पड़ता था। मेरे अध्यापक कोई विषय देते, और उसके ऊपर हम विद्यार्थी दो-तीन पृष्ठ लिख लाते। मुझे अपने लेख पर कोई अभिमान नहीं था, और अध्यापक की कुछ तारीफ को मैं कोई महत्त्व नहीं देता था। मुझे हाथ से नक्शा भी बनाना पड़ता था। मैं नक्शा बनाकर उसमें हरे-लाल रंग भर देता। नक्शे के बारे में मैं निश्चित जानता था कि वह बिल्कुल गलत है, इसलिए उसके बारे में कोई अभिमान नहीं कर सकता था। लेकिन हमारे अध्यापक (बाबू जगन्नाथ राय) तारीफ किए बिना नहीं रहते और दूसरे विद्यार्थियों के सामने मेरे नक्शे को आदर्श के रूप में पेश करते। मैं मन में केवल मुस्कुरा देता। उस समय भी मेरी यदि लालसा थी, तो घुमक्कड़ बनने की और कुछ ज्ञानार्जन करने की। लेखक तो समझता हूँ, संयोग से ही मैं बन गया। यात्री लोग यात्रा के बारे में पूछा ही करते हैं, और हर यात्री श्रोताओं की जिज्ञासा पूरी करने के लिए कुछ कहता भी है। ऐसा कहना तो मेरा पहले से भी जारी रहा होगा। 1915 ई. में जब मैं आगरे में था, वहाँ जबर्दस्ती कलम पकड़ा दी गई। वहाँ मैं उपदेशक बनने गया था और मुझे व्याख्यान देने तथा शास्त्रार्थ करने की कला सिखाई जाती थी। हमारे शिक्षक उसके अधिकारी नहीं थे, वह सभा-सोसाइटियों में बोल लिया करते थे। वहाँ से एक उर्दू का अखबार निकलता था, उसी में खंडन-मंडन के रूप में आर्यसमाजी ढंग का कोई लेख पहले-पहल मुझे लिखने के लिए कहा गया था। उससे उत्साहित होकर मैंने कहा—एक कदम आगे और बढ़ा जाय। मुझे मालूम नहीं कि मेरे सहपाठियों में—जिनमें सभी मिडिल पास या फेल थे—किसी का कोई लेख उस समय तक हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में छपा था। 1915 ई. में ही मैंने पहला हिन्दी लेख लिखा था, जो कि आधा कहानी और आधा यात्रा के रूप में था। अधिकतर यात्रा-वर्णन जैसा ही। सैंतीस वर्ष हो गए, उसके बाद फिर मैं उस लेख को देख नहीं पाया। वह मेरठ से निकलनेवाले मासिकपत्र 'भास्कर' में छपा था। पहले छपे लेख को देखकर मुझे भी प्रसन्नता हुई थी।

1915 ई. के बाद बहुत वर्षों के लिए मेरी लेखनी हिन्दी में विश्राम लेने लगी, वैसे भाई महेशप्रसाद (मौलवी फाजिल) मेरे पथ-प्रदर्शक और अरबी के गुरु थे, वह पत्रिकाओं के लिए कुछ ऐतिहासिक कहानियाँ लिखते थे, जिनमें अपनी संस्कृत और हिन्दी की योग्यता के कारण मैं सहायता जरूर देता था, किन्तु स्वयं नहीं लिखता था। अगले चार-पाँच सालों तक, जब-तब मैंने लाहौर के उर्दू पत्रों में आर्यसमाजी ढंग के कुछ लेख जरूर लिखे, लेकिन हिन्दी के लेख 1920 ई. में ही जालंधर कन्या विद्यालय से निकलनेवाली 'भारती' के लिए लिखे। वे कुशीनगर, लुम्बिनी, जेतवन-श्रावस्ती, वैशाली, नालंदा-राजगीर के बौद्ध तीर्थ स्थानों की यात्रा के सम्बन्ध में थे। यात्रा लिखने का शौक कुछ ही कुछ पैदा होने लगा था।

1921 ई. में असहयोग आन्दोलन में तथा राजनीतिक क्षेत्र में मैं काम करने लगा। अब कार्यक्षेत्र था—बिहार का छपरा जिला। उस समय लिखने की न कोई इच्छा होती थी और न जरूरत ही, यद्यपि मेरी हिन्दी अधिक स्वाभाविक हो गई थी, लेकिन मुझे याद नहीं कि अपने राजनीतिक जीवन के समय छपरा में मैंने कभी भोजपुरी छोड़कर हिन्दी में भाषण दिया हो। 1921 ई. के अन्त में मुझे सजा हुई और छह महीने के लिए जेल चला गया। वहाँ अब लिखने-पढ़ने का समय मिला, और मैंने कलम उठायी। यहीं कथा लिखने में पहिले-पहिल हाथ लगा। यद्यपि उसका उद्देश्य कहानी या कथा लिखना नहीं था। जैसे यात्री होने के कारण उसके बारे में मैंने कुछ लिखना शुरू किया था, उसी तरह 1918 और 1919 ई. में रूसी क्रान्ति की जो थोड़ी-बहुत खबरें गलत या सही हिन्दी-पत्रों में निकलतीं, उनमें कल्पना की नमक-मिर्च लगाकर मैंने अपने मन में एक साम्यवादी दुनिया की सृष्टि कर ली थी। उसी दुनिया को मैं कागज पर उतारना चाहता था। साम्यवाद का सैद्धान्तिक ज्ञान उस समय मेरे पास कुछ नहीं था, मैंने तो मार्क्स का नाम भी नहीं सुना था, इसीलिए मेरा साम्यवाद उटापियन साम्यवाद था, मुझे व्यावहारिक कठिनाइयों का कोई पता नहीं था। अभी मैं नहीं समझ पाया था कि साम्यवाद के वाहक साधारण मजदूर और किसान हैं, जिन्हें अक्षर से भी कम सरोकार नहीं है। किस तरह साम्यवाद भारत में स्थापित हो, इसे संस्कृत श्लोकों में लिखना शुरू किया। खैरियत यही हुई कि मैं छह महीने के लिए ही जेल गया था, जिसमें संस्कृत रचना के लिए सारा समय दे भी नहीं सकता था। जेल के साथियों में कोई उपनिषद् पढ़ता, तो कोई किसी दूसरी पुस्तक को, इसके कारण समय थोड़ा ही रहता। इस प्रकार संस्कृत में पद्यबद्ध कथा लिखने का काम थोड़े ही दिनों चलकर रुक गया। 1922 ई. के जून या जुलाई में जेल से छूट कर मैं बाहर आया, उसके बाद के छह महीने फिर कांग्रेस के कामों में लगे। पटना में प्रांतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक थी, वहीं गुलाब बाग में एक सार्वजनिक सभा हुई। चौरी-चौरा कांड के सिलसिले में कई देशभाइयों को फाँसी की सजा दी गई थी। राजनीति में एकांत अहिंसा पर मेरा कभी विश्वास नहीं था, इसलिए चौरी-चौरा के दंडित देशभक्तों की प्रशंसा में मैंने भी गर्मागर्म भाषण किए।

उक्त व्याख्यान के बाद ही डेढ़ महीने के लिए मैं नेपाल चला गया—शायद 1923 ई. का फरवरी-मार्च का महीना था। छपरा के मित्रों ने सूचित करने के लिए नेपाल चिट्ठी भी भेजी थी कि आपके खिलाफ वारंट है। वह चिट्ठी नहीं मिली, नहीं तो नेपाल में तिब्बत जाने का इतना आकर्षण और निमंत्रण प्राप्त हो गया था कि भारत आने की जगह उधर ही चला गया होता। खैर, लौटने के बाद गिरफ्तार हुआ, मैंने अपराध स्वीकार किया, और पटने में दो साल की सादी सजा लेकर जेल में चला गया। 1923-25 ई. तक जेल-जीवन में मैंने काफी कलम चलाई। यद्यपि वहाँ लिखी और अनूदित बारह-तेरह पुस्तकों में बहुत थोड़ी ही बचकर प्रकाशित हो पायीं, लेकिन अब से लिखने को भी मैंने अपने जीवन के कार्य में शामिल कर लिया। बक्सर की पहिली जेल-यात्रा में जिस कथा को मैंने संस्कृत काव्य के पाँच सर्गों तक पहुँचाया था, अब उसे बेकार समझ उसकी जगह मैंने हजारीबाग में 'बाईसवीं सदी' लिखी। 'बाईसवीं सदी' को उपन्यास कह लीजिए या बड़ी कहानी या समाजवादी उटोपिया, वही मेरा पहिला कथात्मक ग्रंथ है। जेल में मैंने चार अंग्रेजी उपन्यास 'जादू का मुल्क', 'सोने की ढाल', 'विस्मृति के गर्भ में', 'शैतान की आँख' का भावानुवाद करके भौगोलिक और वैयक्तिक तौर से उनका बहुत कुछ भारतीकरण कर दिया। इस काम को मैं निष्काम भाव से कर रहा था। मैं यह नहीं समझता था कि वे किताबें कभी प्रेस का मुँह देखेंगी। जेल से जब कोई बाहर निकलता, उसके हाथ कुछ किताबें मैं बाहर भेज देता। मैं समझता, यदि नष्ट भी हो गईं, तो कोई परवाह नहीं, मेरा अभ्यास तो हो रहा है।

भाई पारसनाथ त्रिपाठी साल-भर जेल में मेरे साथ थे, उन्हें अंग्रेजी पढ़ाने के लिए मैंने हजारीबाग के जेलर के पास से कुछ अंग्रेजी उपन्यास मँगवाये थे, उन्हीं में ये भी थे। पढ़ाते वक्त ख्याल आया कि ऐसे साहसपूर्ण उपन्यास हिन्दी में भी हों तो अच्छे। इसीलिए मैंने उनका रूपान्तर किया था। मूल लेखकों का नाम खो गया और प्रकाशकों ने उन्हें इस तरह छापा, जिसमें मालूम हो कि वे मेरे मौलिक उपन्यास हैं।

1925 ई. के किसी समय जेल से निकलने पर फिर कुछ समय राजनीतिक काम और कुछ समय पंजाब

और लदाख की यात्रा में लगे। पंजाव और लदाख की यात्रा के सम्बन्ध में मैंने कितने ही लेख लिखे। यात्रा और कथा-कहानी का वहुत नजदीक सम्वन्ध है। यात्री होने के कारण यात्रा पर लिखने का मुझे शौक भी था। भारत की यात्राओं को समाप्त कर 1927 ई. में सीलोन जाकर डेढ़ वर्ष रहा, वहाँ से भी यात्रा के सम्बन्ध में ही अधिकतर लिखता रहा।

तिब्बत की प्रथम यात्रा करके लौटने पर मित्रों का आग्रह हुआ कि मैं उस यात्रा को लेखबद्ध करूँ, जिसका परिणाम हुआ 'तिब्वत में सवा वर्ष'। इसके बाद तो यात्राओं का ही सिलसिला 1938 ई. तक रहा, और उनके बारे में मैं लिखता भी रहा। यात्राओं के लिखते ही लिखते 1935 ई. या 1934 ई. में कुछ वास्तविक घटनाओं को लेकर कहानियाँ लिखने की इच्छा हुई, और एक-एक करके मैंने उन कहानियों को लिखकर पत्रिकाओं में भेजा, जो कि 'सतमी के बच्चे' में संगृहीत हैं। उनमें 'स्मृतिज्ञान कीर्ति' ही एक पुरानी ऐतिहासिक कहानी है, जिसकी सामग्री तिब्वत में मिली थी, वाकी सभी कहानियों के नायक मेरे बचपन के परिचित थे। इस प्रकार 'वाईसवीं सदी' के बाद 'सतमी के बच्चे' और उसके साथ की और कहानियों को लिखकर मैंने कथा-क्षेत्र में प्रवेश किया।

1938 ई. में किसान आन्दोलन के सम्वन्ध में फिर जेल में जाना पड़ा। वहाँ मिले समय का इस्तेमाल करते हुए मैंने 'जीने के लिए' नामक अपना पहिला उपन्यास लिखा, जिसमें वर्तमान शताब्दी की राजनीतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि को लेते हुए एक संघर्षमय जीवन का चित्र खींचा गया है। इसके बाद उपन्यास लिखने की ओर मेरी रुचि बढ़ी, लेकिन जल्दी ही मुझे मालूम हो गया कि ऐतिहासिक उपन्यासों को लिखना ही मुझे अपने हाथ में लेना चाहिए। कारण, एक तो यह कि इस तरह के उपन्यास के लिखने में जितने परिचय और अध्ययन की आवश्यकता है, वैसे उपन्यास-लेखक हिन्दी में अभी कम हैं; दूसरा यह भी कि अतीत के प्रगतिशील प्रयत्नों को सामने लाकर पाठकों के हृदय में आदर्शों के प्रति इस प्रकार प्रेरणा भी पैदा की जा सकती है। मेरे उपन्यासों या कहानियों में प्रोपेगैंडा के तत्त्व को ढूँढ़ने के लिए बहुत प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनके लिखने में मेरा उद्देश्य ही है—कुछ आदर्शों की ओर पाठकों को प्रेरित करना। अगर यह उद्देश्य मेरे सामने न रहता, तो शायद मैं कहानी या उपन्यास लिखता ही नहीं, इसलिए जिसे मेरे दोस्त प्रोपेगैंडा कहते हैं, उसे मैं अपनी मजवूरी मानता हूँ।

'जीने के लिए' के वाद तीन-चार साल तक मैंने फिर उपन्यास और कहानी नहीं लिखी। 1933 ई. में ही योरप लौटते समय मन में ख्याल आया था कि साम्यवाद को समझने और उसकी ओर प्रेरित करने के वास्ते एक ऐसी पुस्तक लिखूँ, जिसमें हमारे देश के ऐतिहासिक विकास कहानियों में आ जायें। 1941 ई. या 1942 ई. में श्री भगवतशरण उपाध्याय की इसी तरह की ऐतिहासिक कहानियों को मैंने देखा। यदि भगवतशरणजी ने ऐतिहासिक कहानियों को परिमित संख्या में लिखकर प्रकाशित करवा दिया होता, तो शायद 'वोल्गा से गंगा' लिखने में मैं हाथ नहीं डालता, लेकिन अभी उन्होंने थोड़ी ही कहानियाँ लिखी थीं, और उनसे पता नहीं लगता था कि वह कब तक और कितनी कहानियों में उसे समाप्त करेंगे।

1942 ई. में हजारीवाग जेल में रहते हुए मैंने 'वोल्गा से गंगा' की बीस कहानियाँ लिख डालीं। आसन्न-भविष्य में 'विस्मृत यात्री'[1] के नाम से महान पर्यटक नरेन्द्रयश (518-82 ई.) के स्वात्त-उपत्यका, सिंहल, मध्य-एशिया, बैकाल सरोवर और चीन तक के बीते जीवन को लिखना चाहता हूँ। हाँ, हो सकता है, आगे भी भारत या वृहत्तर भारत के सम्बन्ध में ऐतिहासिक उपन्यास लिखूँ।

मैं अपनी कहानियों में किसको सबसे अच्छी समझता हूँ, यह कहना मेरे लिए मुश्किल है। 'वोल्गा से गंगा' की कहानी 'प्रभा' को श्रेष्ठ कहते पहले मैंने दूसरों को सुना, और सुन-सुनकर ही मेरी भी उसके बारे में वही धारणा हो गई; नहीं तो उसी संग्रह की 'नागदत्त', 'प्रभा' और 'सुरैया' इन तीनों में मैं कम ही अंतर मानता हूँ।

1. 'विस्मृत यात्री' नामक यह उपन्यास अव छप चुका है।

न्यायाचार्य पंडित महेन्द्रकुमार

आचार्य महेंद्रकुमार के नाम के साथ 'स्वर्गीय' लगाने में हृदय में असह्य वेदना होती है, ऐसी वेदना जैसी किसी आत्मीय के निधन पर नहीं हुई थी। हमारे लोग प्रतिभाओं की कितनी कदर करते हैं, यह इसी से मालूम होगा, बनारस जैसे बड़े शहर में जीवन समाप्त किए इस महापुरुष की सूचना किसी प्रमुख दैनिक पत्र ने नहीं दी, और मुझे मसूरी में उनके स्वजन ने सूचना न दी होती, तो कितने ही समय तक मैं यही समझता रहता कि महेंद्र जी 'प्रमाणविनिश्य' के उद्धार में लगे हुए हैं। बहुत पीछे एक साधारण साप्ताहिक ने छापा—"दिनांक 20 मई सायंकाल 7 बजे लकवा की बीमारी में पं. महेंद्रकुमार जैन न्यायाचार्य का स्वर्गवास हो गया। 14 मई को करीब 12 बजे हिन्दू यूनिवर्सिटी में अपने ही घर पर उन्हें बाएँ अंग में लकवा लग गया था। दो दिन के बाद स्थिति कुछ सुधरने लगी थी, किन्तु पाँचवें दिन जब फिर से लकवे का जोर पड़ा, तो सारा शरीर लकवाग्रस्त हो गया। इस स्थिति में डाक्टर लोग सँभाल नहीं सके और अन्त में 20 मई को सायंकाल वे इस नश्वर शरीर को छोड़कर चले गए।"—(जैनभारती 31-5-59)

महेंद्रजी का जन्म 13 मई 1911 को हुआ था, अर्थात् वह मुश्किल से 48 वर्ष के हुए थे। यही नहीं, अभी वह अपनी साधनाओं को दिनों-दिन बढ़ा रहे थे। एक ही वर्ष पहिले उन्होंने पेकिंग में मेरे पास लिखा था कि मैं तिब्बती भाषा पढ़ने और साथ ही धर्मकीर्ति के 'प्रमाणविनिश्चय' को फिर से तिब्बती अनुवाद के सहारे संस्कृत में करने में लगा हूँ। उस वक्त मुझे कितनी प्रसन्नता हुई थी। धर्मकीर्ति को युरोप के मूर्धन्य विद्वान् 'भारत का कांट कहते हैं। उन्होंने बुद्धिवाद और वस्तुवादी प्रमाणशास्त्र पर लेखनी उठाई, और सात अमूल्य ग्रंथ लिखे। उनमें से सिर्फ एक छोटा-सा ग्रंथ 'न्यायविन्दु' मूल संस्कृत में रह गया था। इन पंक्तियों के लेखक की तिब्बत यात्रा सम्बन्धी सफलताओं के फलस्वरूप 'प्रमाणवार्तिक', 'हेतुविंदु', 'वादन्याय', 'सम्बन्ध' परीक्षा'—चार ग्रंथ मूल संस्कृत में मिलकर प्रकाश में आए। 'सन्तानान्तरसिद्धि' छोटा ग्रंथ होने से किसी समय भी तिब्वती अनुवाद से संस्कृत में किया जा सकता था, पर 'प्रमाणविनिश्चय' 'प्रमाणवार्तिक' जैसा बड़ा ग्रंथ था, उसे ही महेंद्रजी संस्कृत में कर रहे थे। पर चिरंजीवी पद्मकुमार के पत्र के अनुसार "पूज्य पिताजी ने 'प्रमाण-विनिश्चय' का काम प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु वह पूरा न हो सका और बीच में ही हमें छोड़कर…"

ऊपर की पंक्तियों से उस क्षति का पूरा ज्ञान नहीं हो सकता, जोकि आचार्य महेंद्र के अवसान से हुआ है। भारत परतंत्रता के अन्धकार में सात शताब्दियों तक भटकता और गिरावट की ओर जाता रहा। उसकी बहुत-सी अनमोल निधियाँ नष्ट हो गईं, जिनमें अनमोल ग्रंथ भी थे। तो भी विद्या के लिए विदेह बने पंडितों ने संस्कृत के भंडार की रक्षा की, शास्त्रों के अध्ययन और अध्यापन में जीवन बिताया। पर, इस सारे समय में एक बड़ी क्षति यह हुई कि हमारे प्राचीन शास्त्रों में से कितनों की पढ़ाई छूट गई। बनारस, नवद्वीप, पूंणा, कुम्भकोणम् के दिग्गज विद्वान प्राचीन न्याय की ओर हाथ बढ़ाने की भी क्षमता नहीं रखते थे। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के समय तक यही हालत रही। बनारस में पंडित अम्बादास शास्त्री किसी तरह 'न्यायकुसुमांजलि' को पढ़ा दिया करते थे। नई पीढ़ी के पंडितों को इससे सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने उस संस्कृत पर अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रयत्न आरम्भ किया, जिसके बिना जैन, बौद्ध, ब्राह्मणिक प्राचीन दर्शन ग्रंथ बन्द पोथी बने हुए थे। अपने समय के सर्वश्रेष्ठ काशी के विद्वान महामहोपाध्याय पं. बालकृष्ण शर्मा ने एक बार अपनी लिखी कापियाँ दिखलाई थीं, जिनमें वात्स्यायन, उद्यातकर, कुमारिल, वाचस्पति, जयन्त, श्रीहर्ष आदि की कृतियों से बौद्धों के पक्ष को जमा करके उन्हें समझने की कोशिश की गई थी। उससे आज के सुलभ कितने ही महत्त्वपूर्ण बौद्ध ग्रंथ उस समय सदा के लिए लुप्त समझे जाते थे। हमारे पंडितों ने अपनी खो-सी गई निधि को इस प्रकार प्राप्त करने में बहुत कुछ सफलता पाई। महेंद्रजी उन्हीं में से अन्यतम थे। उन्होंने प्राचीन ब्राह्मण दर्शन ग्रंथों का गम्भीर अध्ययन किया, बौद्ध दर्शन का अवगाहन किया, और जैन दर्शन पर अधिकार प्राप्त किया। हिन्दू विश्वविद्यालय में बौद्ध दर्शन के अध्यापक हुए। इसी से उनकी इस योग्यता का पता लगेगा। हाल ही

वह उसी विश्वविद्यालय में 'जैन धर्म-दर्शन और प्राकृत विभाग' के अध्यक्ष नियुक्त हुए थे, पर कार्यभार सँभालने से पहिले ही महाप्रस्थान कर गए।

आचार्य महेंद्र अनथक परिश्रमी थे, तभी तो इतनी थोड़ी आयु में दर्जनों संस्कृत के प्रौढ़ दर्शन ग्रंथों का विशाल भूमिका, अनुवाद या वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पादन किया। यह है–(1) 'न्यायकुमुदचन्द्र', (2) 'प्रमेय-कल्पमार्तंड', (3) 'अकलंकग्रंथत्रय', (4) 'न्यायविनिश्चय', (5) 'तत्त्वार्थवार्तिक', (6) 'सिद्धिविनिश्चय', (7) 'तत्त्वार्थ-वृत्ति', (8) 'जयधवल', (9) 'प्रमाणमीमांसा', (10) 'जैनतर्कभाषा', 'जैनदर्शन' (11) 'जैनदर्शन'। साढ़े छह सौ पृष्ठों का 'जैनदर्शन' उनके दार्शनिक ज्ञान की परिपक्वता का परिचायक रहेगा। उनके निम्न ग्रंथ प्रकाशनार्थ तैयार हैं–(1) 'षड्दर्शनसमुच्चय', (2) 'सत्यशासनपरीक्षा' (3) 'विश्वतत्त्वप्रकाश', (4) 'प्रमाणप्रमेयकलिका', (5) 'युक्त्यनुशासन', (6) 'आत्मानुशासन', (7) 'विविधतीर्थकल्प', (8) 'प्रभावकचरित्र'।

वह अपनी पूरी क्षमता का उपयोग नहीं कर सके। वह अपने वर्तमान से सन्तुष्ट नहीं थे, इसीलिए अपनी साधना में सतत तत्पर थे, और इस आयु में समर्थ पंडित बनने के बाद भी तिब्बती भाषा पर अधिकार प्राप्त करने में लगे हुए थे। वह जानते थे, दो लाख श्लोकों से अधिक संस्कृत-दर्शन ग्रंथ तिब्बती अनुवादों में ही सुरक्षित हैं। उनके बिना भारतीय दर्शन का अध्ययन पूरा नहीं समझा जा सकता। उन्होंने मुझे तिब्बत जाते देख कहा था, मेरी आवश्यकता हो, तो अवश्य मुझे बुलाइयेगा। तिब्बत एक जैन वातावरण में पले-पोसे विद्वान के लिए अनुकूल स्थान नहीं हो सकता। पर जिसने विद्याव्रत धारण किया है, वह किसी बाधा से हिचक नहीं सकता।

'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये' की तरह आज के हजारों संस्कृत के साधकों में महेंद्र जी एक थे। और उतने ही से सन्तुष्ट न रह अपनी साधना को बढ़ा रहे थे। भावी पीढ़ी से मैं निराश नहीं हूँ। महेंद्र का स्थान उन्हें भरना होगा, पर वह कितना कठिन है, इसे समझना कठिन नहीं है।

हमारे देश में संस्कृत की रक्षा और प्रचार के लिए बहुत चर्चा सुनी जाती है। उसके लिए भारत सरकार ने आयोग भी नियुक्त किया था। उसने अपने सुझाव भी उपस्थित कर दिए हैं। पर जान पड़ता है, उनका ध्यान अधिकतर संस्कृत के प्रचार पर ही है। संस्कृत के प्रचार पर मत्था-पच्ची करने की वस्तुतः आवश्यकता नहीं है। हमारी सभी भाषाएँ संस्कृत के अवलम्ब से विकसित और समृद्ध हुई हैं। उन पर अच्छा अधिकार पाने के लिए संस्कृत की बड़ी आवश्यकता है, इसे सभी समझते हैं, और उसी के अनुसार असमिया, बंगला, उड़िया, मराठी, हिन्दी, गुजराती, नेपाली ही नहीं तेलुगु, कन्नड़, मलयालम के क्षेत्र में भी संस्कृत का प्रचार बढ़ रहा है। वस्तुतः समस्या संस्कृत के प्रचार की नहीं है, बल्कि संस्कृत के गम्भीर पांडित्य की रक्षा कैसे की जाए ? उन्नीसवीं सदी के अन्त के नहीं बल्कि बीसवीं सदी के मध्य तक बढ़े आते पांडित्य की–जिसके प्रतिनिधि आचार्य महेंद्र थे–रक्षा कैसे की जाए ? आज का शिक्षित अध्ययन जल्दी समाप्त कर अधिक वेतनवाली नौकरी प्राप्त कर निश्चिन्त सुख का जीवन बिताना चाहता है। वह 48 या 50 वर्ष तक विद्यार्थी रहकर तपस्वी और अकिंचन का जीवन बिताना नहीं चाहता। यदि हम चाहते हैं कि हमारे मेधावी तरुण संस्कृत के गम्भीर विद्वान बनने के लिए प्रयास करें, तो उन्हें निश्चिन्त सुखपूर्वक जीवन पाने की सुविधा करनी होगी।

महेंद्रजी पुराने मध्यप्रदेश के एक छोटे-से गाँव खुरई में एक अति साधारण जैन घर में पैदा हुए थे। अपनी विद्या की उत्कट भूख को तृप्त करने के लिए आज से पौन सदी पहिले वह बनारस आए। प्रायः उसी समय से मेरा उनसे सम्पर्क हुआ। उनकी रुचि दर्शन जैसे गम्भीर विषय की ओर हुई। कलकत्ता से 'न्यायतीर्थ' और काशी संस्कृत विद्यालय (अब संस्कृत विश्वविद्यालय) की न्यायाचार्य परीक्षा पास की। कितने ही वर्षों तक स्याद्वादविद्यालय में अध्यापक रहे। फिर हिन्दू विश्वविद्यालय में गए। काशी की–दुर्लभ ग्रंथों को प्रकाश में लानेवाली महती संस्था–'ज्ञानपीठ' को अस्तित्व में लाने में उनका बड़ा हाथ था। उसके बहुत-से ग्रंथों का उन्होंने सम्पादन किया। अप्रतिम जैन नैयायिक अकलंक की महत्त्वपूर्ण कृति 'सिद्धिविनिश्चय' लुप्त हो गई थी। इस ग्रंथ की मूल कारिका पर ग्रंथकार ने स्वयं टीका लिखी थी, वह भी अप्राप्य थी। मिली थी इन पर लिखी अनन्तवीर्यकी की टीका, सो भी अशुद्ध। महेंद्रजी इस प्रयास के बारे में लिखते हैं–"जब 1944 में भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना हुई, तो उसके कार्यक्रम में आचार्य अकलंक के ग्रंथों के प्रकाशन को प्राथमिकता दी गई...इस समय

तक आ. धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक' 'वादन्याय', 'हेतुविन्दु', प्रज्ञाकर गुप्त का 'प्रमाणवार्तिकालंकार', अर्चट की 'हेतुविन्दु टीका', जयसिंह भट्ट का 'तत्त्वोपप्लवसिंह', कर्णकगोमी की 'प्रमाणवार्तिकस्ववृत्ति-टीका' आदि अमूल्य दार्शनिक साहित्य प्रकाश में आया (था)··· 'सिद्धिविनिश्चयटीका' का बहुभाग इन्हीं ग्रंथों के खंडन से भरा हुआ है (.) अतः कुछ उत्साह इस अशुद्धिपुंज 'सिद्धिविनिश्चयटीका' के सम्पादन का भी हुआ। और ज्ञानपीठ से मुक्त होते ही हम इस कार्य में पूरी तरह जुट गए। लगभग 5 वर्ष की सतत साधना के बाद 'सिद्धिविनिश्चयटीका' तथा उससे उद्धृत 'सिद्धिविनिश्चयमूल' एवं उसकी 'स्ववृत्ति' इस अवस्था में आ गए कि उनके सम्पादन और प्रकाशन के विचार को उत्तेजना मिली। प्रोत्तेजन मिला। प्रयत्न करने पर भी अभी तक न तो 'सिद्धिविनिश्चयमूल' और उसकी 'स्ववृत्ति' की ही प्रति मिली और न 'सिद्धिविनिश्चयटीका' की दूसरी प्रति।"

यही उनका सबसे अन्तिम प्रकाशित ग्रंथ है, और इसी की विद्वत्तापूर्ण 116 पृष्ठों की भूमिका पर आचार्य को हिन्दू विश्वविद्यालय ने पी-एच. डी. की उपाधि प्रदान की।

महेंद्रजी संस्कृत और प्राकृत के ही महान् विद्वान नहीं थे, हिन्दी के सुलेखक और प्रेमी होने के नाते हिन्दी की जननी अपभ्रंश भाषा के भी सतर्क गवेषक थे। आज यह विडम्बना मालूम होती है, पर आज से दो ही पीढ़ी पहिले हमारे दिग्गज विद्वान भी नहीं जानते थे, हमारी आज की भाषाओं की जननी एक समृद्ध भाषा अपभ्रंश थी, जिसने सातवीं से बारहवीं शताब्दी तक उत्तरी भारत पर अक्षुण्ण प्रभुत्व रखा था। छठी सदी उसका अपनी जननी प्राकृत के साथ का सन्धिकाल था, और तेरहवीं सदी अपनी पुत्रियों–आज की हिन्दी आदि भाषाओं–के साथ का सन्धिकाल। संस्कृत के पंडित अपभ्रंश का नाम आने पर तुरन्त पतंजलि के महाभाष्य की पंक्तियाँ याद कर उसे ईसापूर्व दूसरी सदी के गावा-गोणी-गोपोतलिका आदि शब्दोंवाली भाषा से जोड़ देते थे। आज तो अपभ्रंश के दर्जनों बड़े-बड़े ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। उसकी समृद्धि की धाक स्वयंभू के 'रामायण', 'महाभारत' जैसे महाकाव्यों द्वारा स्थापित हो चुकी है। मेरी तरह आचार्य महेंद्रकुमार भी अपभ्रंश की नई-नई कृतियों की खोज में थे। अपभ्रंश के पद्य ग्रंथ बहुत मिले थे, जिनमें से थोड़े ही प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु, अपभ्रंश गद्य देखने में नहीं आया था। एक दिन बनारस में मुलाकात होने पर, उन्होंने बड़ी प्रसन्नता के साथ एक जीर्ण-शीर्ण पांडुलिपि दिखाते हुए कहा–"यह अपभ्रंश गद्य है, कोई व्रतकथा है।" महेंद्रजी सदा स्मितपूर्वाभिभाषी थे। उनकी हृदयस्थ उदारता मुस्कुराहट के रूप में सदा मुँह पर नाचा करती थी। उन्होंने बतलाया–यह पुस्तक बतला रही है कि जैन छोटे-मोटे भंडारों में ढूँढ़ने पर अपभ्रंश के और भी गद्य ग्रंथ मिल सकते हैं। जहाँ वह 'प्रमाणविनिश्चय' को तिब्बती से उद्धार करने में लगे हुए थे, वहाँ अपभ्रंश की ओर भी ध्यान रखते थे। अनुदार अर्थ में वह जैन नहीं थे। वह भली-भाँति समझते थे कि जैन धरोहर के रूप में भारतीय संस्कृति की ऐसी अनमोल निधियाँ सुरक्षित हैं, जो जैनों के अभाव में सदा के लिए विलुप्त हो जातीं। विद्वान जानते हैं, हमारे देश में हमारी भाषाओं का रूप वैदिक भाषा से पालियों, प्राकृतों, अपभ्रंशों के रूप में होते आज की भाषाओं में विकसित हुआ। ब्राह्मणों के वाङ्मय को देखने से मालूम होता है कि केवल संस्कृति ही सर्वदा सर्वे-सर्वा रही। उन्होंने बीच की लोकभाषाओं के लोक या शिष्ट साहित्य की रक्षा नहीं की। अभी हाल तक संस्कृत-पंडितमंडली उन्हें 'भाखा' कहकर तिरस्कृत करती थी। ब्राह्मण भाषा-कवियों ने अपने समय में प्राकृत और अपभ्रंश में भी रामायण, और महाभारत को भाषाबद्ध किया होगा, तीर्थों के माहात्म्य, एकादशी आदिक माहात्म्य बनाए होंगे। पर उन्हें ब्राह्मण पुरोहितों और पंडितों ने मर जाने दिया। क्यों ? इसीलिए कि वह संस्कृत के सामने किसी की सत्ता नहीं स्वीकार करते थे। जैन–और बौद्ध भी–इसके बारे में दूसरा ही भाव रखते थे। उनके लिए प्राकृत या अपभ्रंश संस्कृत से कम महत्त्व नहीं रखते थे। तीर्थंकर महावीर के उपदेशों को वह पालि-काल (600-1 ई. पू.) में लिपिबद्ध नहीं कर सके था, जैसा कि बौद्धों के प्राचीनतम सम्प्रदाय ने किया। प्राकृत काल में लिपिबद्ध होने से श्रमण महावीर की वाणी प्राकृत रूप में ही हमारे सामने मौजूद है। उसके अतिरिक्त और भी विषयों पर प्राकृत में ग्रंथ और पुस्तिकाएँ लिखी गईं। व्रत-कथाएँ भी बनीं। सबको सुरक्षित रखना सम्भव नहीं, पर कितनों को सुरक्षित रखा। जब सुबन्धु और दंडी के समय अपभ्रंश भाषा का आरम्भ हुआ, तो जनसाधारण के लिए उस में ग्रंथ लिखे जाने लगे। बारहवीं-तेरहवीं सदी में अपभ्रंश के समाप्त होने पर उनका उपयोग साधारण

जनता के लिए नहीं रह गया, तो भी जैन उपाश्रयों और भंडारों में उनको बाहर नहीं फेंका गया। आज वह हमारे लिए बहुमूल्य निधि हैं। भाषा और तत्कालीन संस्कृति के समझने के लिए अनुपम साधन हैं। ऐसी निधि जिस सम्प्रदाय (जैन) ने सुरक्षित की, उसके महत्त्व से कैसे इन्कार किया जा सकता है। संस्कृति में साम्प्रदायिकता का स्थान नहीं है। वस्तुतः संस्कृति ही क्षण-क्षण परिवर्तित-परिवर्द्धित होते भी स्थायी और मूल्यवान वस्तु है। वही हमें बाँधे हुए है। पर, अब भी हमारे में से कितनों का दृष्टिकोण उदार नहीं है। तभी तो हमारे हिन्दी साहित्य के इतिहासकार सैकड़ों सुंदर जैनकाव्यों में से किसी का उल्लेख नहीं करते। हाल में बौद्ध के प्रति वह संकीर्णता बहुत हद तक दूर हुई है। अब चौरासी सिद्धों और उनकी कृतियों की चर्चा हरेक हिन्दी के विद्वान के मुख पर है।

राजस्थान और गुजरात के पुस्तकसंग्रहालयों के अनुसंधान ने बतलाया है कि वहाँ की साहित्यिक परम्परा अक्षुण्ण आज तक चली आई है। और यह अक्षुण्णता जैनों के प्रयास से बनी रही। बुंदेलखंड में जैन बराबर के निवासी रहे, और अपनी जीविका के कारण वह साक्षर होते रहे। अपभ्रंश के-से अक्षुण्ण सम्बन्ध स्थापित करनेवाली कड़ी–बुंदेली साहित्य वहाँ के जैन मंदिरों और समाज में जरूर मिलनी चाहिए। महेंद्रजी से इसके बारे में बात हुई थी। महेंद्रजी इसके महत्त्व को भली-भाँति समझते थे। अपभ्रंश से हमारी आज की भाषाओं में बहुत कम अविच्छिन्न सम्बन्ध मिलता है–हिन्दी क्षेत्र में केवल मैथिली-जैसी, जिसके यशस्वी कवि विद्यापति ने दोनों में कविता की है। विस्तृत गवेषणा करने पर जैनसंग्रहों द्वारा बुन्देली का भी ऐसा सम्बन्ध स्थापित हो जाए, तो कोई अचरज नहीं।

जो अपभ्रंश आज साहित्यिक रूप में प्राप्य है, वह अधिकतर मध्यदेशीया (कनौजिया) अपभ्रंश है। प्राचीन उपनिषदों–बृहदारण्यक, छांदोग्य–की भाषा अपने समय की कौरवी है, जिसे कौरवी संस्कृत कह लीजिए। उसकी प्राकृत और अपभ्रंश का क्या रूप था, यह कहा नहीं जा सकता। आज हमारी हिन्दी उसी का साहित्यिक रूप है। इसका प्राचीनतम रूप कुछ विकृत रूप में दखिनी हिन्दी के गद्य-पद्य में पंद्रहवीं सदी तक जाता है। कौरवी का विशाल क्षेत्र बिजनौर से फीरोजपुर तक फैला हुआ है। इसके बड़े गाँवों तक में परम्परागत जैन परिवार मिलते हैं। कस्बों तक में जैनमंदिर होते हैं, जिनमें कुछ न कुछ हस्तलिखित ग्रंथ होते हैं। उनका अनुसंधान नहीं हुआ है, उन्हें अगरचन्द नाहटा जैसे धुन के पक्के पुरुष से वास्ता नहीं पड़ा। इस क्षेत्र में कौरवी के प्राचीन गद्य-पद्य जैन ग्रंथों के रूप में मिल सकते हैं।

जैन जीवित परम्परा के रूप में हमारे पास कितनी समृद्ध सामग्री मौजूद है, इसे हम संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टि से नहीं देख सकते। आचार्य महेंद्र के अभाव का भी मूल्यांकन वह दृष्टि नहीं होने देगी।

हेमू रौनियार थे

'सरस्वती' के एक पिछले अंक में 'हेमचन्द्र विक्रमादित्य'[1] के नाम से मैंने एक लेख लिखा था, जो मेरी पुस्तक 'अकबर' का एक अध्याय है। आज तक की हेमू-सम्बन्धी धारणाओं के बिल्कुल खिलाफ मैंने यह मत प्रकट किया था कि हेमू – हेमचन्द्र विक्रमादित्य–सहसराम के रहनेवाले रौनियार वैश्य थे। रौनियार पूर्वी उत्तरप्रदेश और बिहार की वह वीर जाति है, जो आज से सौ वर्ष पहले तक कारवाँ–सार्थ–संचालन का काम करती थी। बैलों के सार्थ के सिलसिले में ही आज से सौ वर्ष पहले बालिया के कुछ रौनियार बन्धु नेपाल पहुँचे। उनका सौदा बिक नहीं सका, इसलिए साल-भर ठहरने की जगह वह बराबर के लिए नेपाल के वासी हो गए। बाबू शिवप्रसाद रौनियार काठमाण्डू के एक सम्भ्रान्त व्यापारी हैं। ये लोग सिर्फ ब्याह के सम्बन्ध के कारण भोजपुरी

1. यह राहुल-वाङ्मय : इतिहास एवं पुरातत्व खण्ड में सम्मिलित किया गया है।

हैं, नहीं तो वह दूसरे नेपालियों से अन्तर नहीं रखते। इस महत्त्वपूर्ण सार्थवाह जाति की परम्पराओं और किंवदन्तियों को लिपिबद्ध करके सुरक्षित करने की आवश्यकता है। पश्चिम में वंजारे मिलते हैं, जो रेलों की यातायात के प्रसार के पहले अपने मूल-स्थान राजस्थान से गुजरात, हैदराबाद ही नहीं, वल्कि पूर्वी आन्ध्र तक बैलवनीजी करते थे। आन्ध्र में अब भी कुछ लाख की संख्या में वह सदा के लिए बस गए हैं, जो घर, भाषा और ब्याह-शादी में ही राजस्थानी वंजारे हैं, नहीं तो वह दूसरे तेलुगु-भाषियों की तरह ही आन्ध्र नागरिक हैं।

रौनियारों और बंजारों में अन्तर यह है कि बंजारे जहाँ हाल तक अशिक्षित-असंस्कृत घुमन्तू रहे, वहाँ रौनियारों का एक प्रतिष्ठित शिक्षित-संस्कृत वंश है। व्यापार उनका मुख्य पेशा है—सार्थवाही को रेलों ने खतम कर दिया। यह मुख्यतः भोजपुरीभाषी क्षेत्र—आरा, छपरा और बलिया के जिलों में रहते हैं। अपने कारवार के कारण कुछ रौनियार दूसरे भाषा-क्षेत्रों में भी जाकर बस गए हैं। पश्चिम में भोजपुरी के क्षेत्र के बाहर शायद अवधी क्षेत्र में भी वह नहीं गए। पूर्व में मिथिला में पहुँचकर मैथिलीभाषी भी बन गए। लहेरिया सराय और पटना के पुस्तक-भण्डार के स्वामी और संस्थापक आचार्य रामलोचनशरण बिहारी रौनियार हैं। अकस्मात् किसी बातचीत के प्रकरण में उन्होंने ही बतलाया कि हेमू हमारे वंश के थे, और विशेष समयों पर हमारी स्त्रियाँ हेमू और उनके पिता मधुस्रावह के गीत गाती हैं। वावू शिवप्रसादजी ने बतलाया : हमारे उनके यहाँ अपने कुल के पँवरिया होते हैं, जो जन्म या विशेष समय में आकर हेमू का पँवाड़ा गाते हैं। हमारे यहाँ पाँच पीरों की पूजा होती है। मुसलमानों में भी पाँच पीरों की पूजा होती है, उनके गीत भी गाये जाते हैं। पर, उनके पाँच पीरों में पैगम्बर मुहम्मद, अली, हसन-हुसैन शामिल हैं। रौनियारों के पाँच पीर हिन्दू देवता हैं, और उनमें से एक को सार्थ का रक्षक माना जाता है। यदि कोई रौनियार बन्धु पाँच पीरों की पूजा, उनके गानों को एवं पँवरियों के हेमू-सम्वन्धी पँवाड़ों को संगृहीत करके उस पर कुछ लिखें, तो यह बड़ी सेवा होगी।

श्री अगरचन्द नाहटा के अध्यवसाय और इतिहास-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण शोधों से हिन्दी पाठक भली प्रकार परिचित हैं, उनकी बातों का काफी वजन मानते हैं। उन्होंने मेरे मत का प्रतिवाद करते हुए जनवरी (1957 ई.) की 'सरस्वती' में एक ज्ञातव्यतापूर्ण लेख लिखते हुए निष्कर्ष निकाला—"यह तो निश्चित है कि विक्रमादित्य हेमू—रेवाड़ी का धूसर वैश्य ही था। रौनियार हेमचन्द्र कोई अन्य प्रभावशाली व्यक्ति हो सकता है।··पर उस हेमचन्द्र को हेमू बताना अवश्य ही इतिहास विरुद्ध है।"

इतिहास में बिना समकालीन ठोस प्रमाण के किसी बात के लिए ब्रह्मवाक्य का दावा करना उपहासास्पद है, और न मेरा आग्रह है कि मेरा मत भ्रान्त नहीं हो सकता। पर जो सामग्री रौनियारों के पास है, उससे यह कहना सत्यता के अत्यन्त नजदीक है कि हेमू सहसराम के निवासी, भोजपुरीभाषी और रौनियार वैश्य थे।

भोजपुरी भाषा का हेमू-सम्बन्धी कोई गीत अभी मेरी आँखों के सामने नहीं गुजरा है, लेकिन उसके अस्तित्त्व के बारे मे कई रौनियार बन्धुओं से सुन चुका हूँ, और संग्रह करने के लिए भी कह चुका हूँ। भोजपुरी क्षेत्र से मिथिला में जाकर बसे रौनियारों में वही गीत मैथिली में मिलते हैं। यह मालूम ही है कि विद्यापति के मैथिली गीत भोजपुरी कण्ठ में जाकर भोजपुरी बन जाते हैं, इसलिए हेमू-सम्बन्धी भोजपुरी गीत का मैथिली रूप मिलना स्वाभाविक है। श्री कमलनारायण झा ने 1956 की 'अवन्तिका' में हेमू के सम्बन्ध में एक गीत मैथिली में उद्धृत किया है, जिसको ध्यान से पढ़ने पर उसको हल्के दिल से उड़ा देना आसान काम नहीं है। उस गीत को मैं फिर यहाँ उद्धृत करता हूँ—

"हमनीक दादा हेमू दादा, लम्वे-लम्वे बाल रे।
सिर मकुटिया हाथें धनुहिया, घोंडे पर असवार रे।। ०
मुँह में पनमा देह में अचकन, दादा जोर से बोलै बात रे।। 2।। ०
दादा के भैया **नेमू** दादा, मीठी-मीठी बात रे।। 3।। ०
घोडा हाँकै, ऊँटवन हाँकै, सै कोस दौरान रे।। 4।। ०
माथे दादा साफा बाँधे, कमर में लटकै तलवार रे।। 5।। ०
मुँह में दादा बचनों न बोलै, **मोगल** कै कैलक संहार रे।। 6।। ०

राजा बनी **फरीद** भैया, दादा भेले कोतवाल रे।। 7।। ०
बूढ़ा दादा **मधु** दादा, देल कै सुनुकबा खोलि रे।। 8 ।। ०
रुपैया बहलै पानी बहलै, दादा के मन में नहि आह रे।। 9 ।। ०
पूरब जित लनि दादा, पच्छिम जित लनि, जितलनि सकलो जहान रे।। 10 ।। ०
फरीद दादा मरलै डकवा पडले, भेलहि घर-घर सोच रे।। 11 ।। ०
पडलै इस्लाम चाचा के सिर पै ताज रे, दादा के सिर पर नाहिए मकुटिया।
दादा जनलन समनीक सिरमौर रे।। 12 ।। ०
इस्लाम मरलैक डाका पड़लैक, पड़लै महलवा में सेंध रे।। 13 ।। ०
बच्चा मारलगेलै मासूम बच्चा, शोर भेलहि सकल जहान रे।। 14 ।। ०
घोडा चढ़ि अयलहिं हमनीक दादा, जनकि लम्बी-लम्बी मोंछ रे।। 15 ।। ०
"जे हमरो पोतवा कै जान लै लेलकै, तिनिका कै करब हलाल रे"।। 16 ।। ०
अदली कें होशवा गेलै भागिरे, दौड़ल आयल पगड़ी रखने हथिया रे।। 17 ।। ०
"अब हे चाचा माफे करिआँ, मैं गेलै कसूर महान रे"।। 18 ।। ०
ओकनीक बचनियाँ सुनि दादा घबरौलहिं, हरिगेलैन हुनकहु ग्यान रे।। 19 ।। ०
"जाहे बेटा राजकरऽतु, केलिआँ कसूरिया माफ रे"।। 20 ।। ०
दादा चढ़लै घोड़वा पर, अकबाल दौड़लै पैदल दादा पहुँचलै
दिल्ली नगरिया ओ पहुँचलै आगे।। 21 ।। ०
दादा भैलइ अब राजा, **हिन्दुअन** के सिरताज रे।। 22 ।। ०
मोगल भागल, शोर मचावल, दादा के सिर पर ताज रे, **हिन्दुवान** के पलटलै भाग रे।। 23 ।। ०
बरस दिन दादा रजवा केलकै, **कुरछेत्र** में भेलै लड़ाई रे।। 24 ।। ०
हमनीक फूटलैकं भाग रे, तीर उछटि के दादा कै लगलै अँखियाँ गेलै फूटि रे।। 25 ।। ०
हमनीक करमवो गेलै फूटि रे। **हिन्दुअन** कै भगिया गेलै टूटि रे।। 26 ।। ०
साफा लाल, देह लाल, अँखियाँ विकराल लाल।
मोगल आयल शोर मचावल, बूढा दादा कै लेलकै सिर काटि रे।। 27 ।। ०
'भागो-भागो' शोर मचावल, भगली हम घर छोड़ि रे।। 28 ।। ०
पूरब भगली, पच्छिम भगली, जंगलक लैली राह रे।। 29 ।। ०
हमरो दादा कै कोठा अटरिया, हमनी के घसवोकै नई घर रे।। 30 ।। ०
आहो दादा अब फेर कहिया अयबऽ, कहिया जूटतैक हमनीक भाग रे।। 31 ।। ०
कहिया फूलतैक भलसरीक गछिया कहिया देरूबैक **सहसराम** नगरिया रे।। 32 ।। ०
न कोई जानै न कोई पूछै, रो-रोकै बीतबै छीरतिया।
हम छी ओहि दादा के बिटिया, ना कोई सुने बातियो रे।। 33 ।। ०
जँतिया पीसि-पीसि दिनवा कटइ छिन, सुनिजा दादा मोर बतिया रे।। 34 ।। ०
झिझिया खेलली गितिया गैली, पुरुखा कै लैली नाम रे।
जे बेटखौं को किछुओ बजती, हुनका देबैन गारी रे।। 35 ।। ०

इस गीत में हेमू के पतन के लिए शोकाश्रु बहाते हुए इतिहास के बहुत-से तथ्यों को दिया गया है। हेमू के भाई का नाम नेमू था, और पिता का नाम मधुसाह। फरीद शेर खाँ—पीछे शेरशाह—का ही नाम था, जिसकी शिक्षा-दीक्षा जौनपुर में हुई थी, और जिसने अपनी योग्यता का परिचय बिहार में जाकर दिया था। वह अकबर के स्वप्न का प्रथम द्रष्टा था। बड़े-बड़े संकल्पों की पूर्ति के लिए अपार धन की आवश्यकता थी। सहसराम के रौनियार सार्थवाह मधुसाह ने अपने 'सनुकबा' को खोल दिया, और पैसे के लिए कोई चिन्ता न रह जाये, इसका प्रबन्ध कर दिया। फरीद मधुसाह की बहुत कदर करे, तो इसमें संदेह क्या ? अपनी पूर्व और

पच्छिम की जीतों में वह मधुसाह का बड़ा हाथ मानता था। मधुसाह के बाद हेमू को वही स्थान मिला। पुत्र पिता से भी अधिक योग्य था, यह हमें इतिहास बतलाता है। विरोधी मुगल इतिहासकार भी स्वीकार करते हैं कि यदि हेमू आँख में तीर खाकर बेहोश न हो गया होता, तो मुगलों की पराजय निश्चित थी। हेमू एक सफल वित्त-मन्त्री ही नहीं था, बल्कि महान् सेनापति था, वैसा ही जैसा कि अकबर के समय टोडरमल।

1400 ई. में स्थापित होनेवाली जौनपुर की 'शर्की सल्तनत' का उत्तरप्रदेश और उत्तर-विहार के सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक इतिहास में बहुत ऊँचा स्थान है। अफसोस है, जौनपुर के इस प्राचीन राज्य के साथ न्याय करने के लिए किसी इतिहासकार ने कलम नहीं उठाई। कुतुवन-मंझन-जायसी को पैदा करनेवाली इस सल्तनत की और क्षेत्रों में भी बहुत-सी देनें हैं। वह इस्लाम के बल पर नहीं, बल्कि मिट्टी के बल पर अस्तित्व में आई, और एक शताब्दी तक अजेय रही। बुलन्दशहर से मिथिला तक उसने ऐसा शासन कायम किया, जिसमें मिट्टी से निकले सभी पूत भाई-भाई थे, और हिन्दू-मुसलमान का झगड़ा थोड़े समय के लिए भूतकाल की कहानी बन गया, जिसे कि 'पद्मावत' को पढ़कर हम जान सकते हैं। फरीद अपने बाप के साथ जौनपुर ही में बचपन से रहा, और मिट्टी के साथ खेलते हुए उसके साथ प्रेम करना सीखा। पठानों और भोजपुरियों में बहुत-सी समानताएँ हैं। दोनों लाठी के धनी हैं। शेरशाह ने लाठी हटाकर भोजपुरियों को पलीतेदार बन्दूक थमाई। और शेरशाह द्वारा सिखाये गए ये 'बक्सरिये' सिपाही कम्पनी के समय में भी अद्वितीय लड़ाके माने जाते थे। आज से सौ साल पहिले 1857 ई. के स्वतन्त्रता-युद्ध में जब उन्होंने अपनी बन्दूकें गोरों की तरफ मोड़ दीं, तो अंग्रेजों का पैर भारत से उठ गया-सा मालूम हुआ। उसके बाद मंगल पांडे के उनके मुल्कियों पर अंग्रेजों ने कभी विश्वास नहीं किया। यह सत्य का अपमान करना होगा, यदि शेरशाह की सफलता में भोजपुरियों के हाथ को भुला दिया जाये। भुलाने की कोशिश की गई है, इसमें सन्देह नहीं। यह अकस्मात् घटना नहीं थी, जो कलिंजर में बारूद में झुलसकर मरे शेरशाह को सहसराम में दफनाया गया, जहाँ अब भी हमारे इतिहास का वह महान् द्रष्टा सो रहा है। दिल्ली और आगरा में भी शेरशाह का दरबार लगता था, पर उसकी कब्र वहाँ नहीं बनाई गई। क्यों सहसराम में उसे लाया गया ?

शेरशाह के मरने पर (1545 ई. में) उसका लड़का सलीमशाह गद्दी पर बैठा, और नौ वर्ष राज कर 1554 ई. में मर गया। अदली उसका चचेरा भाई और साला भी था। सलीमशाह का 12 वर्ष का पुत्र गद्दी पर बैठकर कुछ ही दिनों में मामा के हाथों मारा गया। अदली की अन्धाधुन्ध को देखकर लोग उसे 'अंधली' भी कहकर पुकारा करते थे। हेमू शेरशाह को भाई, सलीमशाह को भतीजा और उसके बच्चे को अपना पोता मानते थे। अदली के इस अत्याचार को वह बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। इस गीत में बतलाया गया है कि अदली ने कैसे दौड़कर हेमू के पैरों में अपनी पगड़ी रख दी, और चाचा से कसूर माफ कराने के लिए विनती की। मरा हुआ बालक जी नहीं सकता था, कोई और कदम उठाने पर राज्य के नष्ट-भ्रष्ट होने का डर था, इसलिए हेमू ने अदली के कसूर को माफ कर दिया। हेमू के घोड़े की बाग जिधर घूमी, उधर-उधर शत्रुओं को भागना छोड़कर और कोई रास्ता नहीं मिला। पश्चिमवाले पठानों के खिलाफ थे। हेमू ने आगरा को फिर अपने हाथ में लेते दिल्ली पर अधिकार किया। पठान आपस में बुरी तरह से लड़ रहे थे। अदली संगीत का अपने समय का माना हुआ महान् आचार्य था। पर, उसमें शासन की योग्यता नहीं थी। हेमू को और कोई रास्ता नहीं दिखाई पड़ा। वह स्वयं हेमचन्द्र विक्रमादित्य के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर बैठे। 5 नवम्बर 1556 के मनहूस रविवार के दिन पानीपत में हेमचन्द्र को शत्रु नहीं, संयोग के हाथों प्राण गँवाना पड़ा। रौनियार ललनाएँ आज भी अपने उन दिनों का बहुत करुण स्मरण करती हैं, फिर आशान्वित होकर दोहराती हैं—कब मौलसरी का वृक्ष फूलेगा, कब हम फिर 'सहसराम नगरिया' को देखेंगी। आज किसी भी भारतीय को अपने गणराज्य के सिवाय किसी दूसरे राज्य या नगरिया को देखने की जरूरत नहीं। पर, यह तो स्मरण रखना होगा कि जौनपुर ने सौ वर्ष हमारे लिए जो कुछ किया, वही आग सहसराम में जाकर जली, और वहाँ रहते शेरशाह ने भावी भारत का एक महान् स्वप्न देखा।

हेमू की मृत्यु चाहे अकस्मात् आँख में तीर लगने से हुई हो, किन्तु इतिहास आकस्मिक घटनाओं से नहीं

आगे बढ़ता। शेरशाह का बालपन जिस जौनपुर में बीता था, वह भोजपुरी-अवधी का सीमांती सम्मिलित क्षेत्र था; जहाँ रहकर उसने अपने जौहर दिखाये, वह सहसराम शुद्ध भोजपुरियों का है। यह भी कैसा विचित्र संयोग है कि भारत के गणराज्य का प्रथम राष्ट्रपति भोजपुरी है। हमारे देश के हरेक प्रदेश और हरेक जाति के गुणों का सम्मान होना चाहिए, उसके लिए हमें अभिमान करना चाहिए। दूसरों को नगण्य कहकर केवल अपने प्रदेश या जाति को बड़ा बनाने की चेष्टा करना बुरी बात है। पर, इससे इन्कार नहीं होना चाहिए कि आज के छह करोड़ भोजपुरी-अवधीभाषियों के पूर्वजों के ही बल पर फरीद खाँ शेरशाह हुआ। भोजपुरियों की कुछ अपनी विशेषता आज भी देखने में आती है। दूसरे प्रदेशों में लड़ाकू प्रकृति की कुछ विशेष जातियाँ हैं। भोजपुरी प्रदेश की सभी जातियाँ अपनी आन पर प्राण दे देने के लिए तैयार हैं, सिपाहीपन उनके खून में भरा हुआ है। देखने में सीधे-सादे लगनेवाले यह लोग आग लग जाने पर फिर किसी की सुनने के लिए तैयार नहीं होते। सहसराम, भोजपुरी गीत, उनका शेरशाह के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध–इन सब पर विचार करने से मालूम होता है कि हेमू सहसराम के रौनियार थे।

9.1.'57

नेपाली नेता धर्मरत्न यमी

धर्मरत्न यमी का जीवन इसका एक अच्छा उदाहरण है कि कैसे क्रांति और राष्ट्रीय संघर्ष केवल राष्ट्र के लिए मुक्ति का रास्ता नहीं खोलता, बल्कि व्यक्ति के लिए भी वास्तविक शिक्षा का एक बड़ा साधन बन जाता है। धर्मरत्नजी से मेरा परिचय करीब बीस वर्षों का है और उनके पिता श्री भवानीरत्न–जिन्हें माहिला साहु के नाम से हम ज्यादा जानते थे–तो मेरे उन घनिष्ठ मित्रों में से थे, जिन्होंने मेरी पहिली तिब्बत-यात्रा में ल्हासा में रहते वक्त असाधारण सौहार्द दिखलाया था, इसीलिए जब उनकी आत्महत्या की खबर सुनी, तो मेरे दिल को भारी धक्का लगा। वह मधुर बर्ताव और आत्मसम्मान के साकार मूर्ति थे, और पिछला गुण ही उनकी अकाल मृत्यु का कारण हुआ।

धर्मरत्न के दादा रत्नदास नेपाल की राजधानी के एक धनी-मानी सेठ थे। उनतीस वर्षों तक नेपाल के राणा तानाशाह चन्द्रशम्शेर के वह राजव्यापारी थे। चन्द्रशम्शेर के लिए सारा सामान खरीदने का काम साहू रत्नदास के हाथ में था। इस व्यापार में नफा भी था और घाटे का भी डर था, किन्तु व्यापारी होने का साथ में एक गौरव भी था। एक बार चन्द्रशम्शेर के लिए उन्होंने बहुत भारी परिमाण में मिस्री खरीदकर मँगवाई, जिसमें छह गुना नफा हुआ। ईर्ष्यालुओं ने चुगली खाई, चन्द्रशम्शेर ने टोका। इस पर साहू रत्नदास ने बतलाया कि और चीजों में हमें घाटा भी हुआ है। रत्नदास आत्माभिमानी पुरुष थे। राणा तानाशाह के सामने जितना नीच बनने की आवश्यकता थी, उतना बनने में असमर्थ थे, और दूसरों के लिए तो वह घमंडी-से लगते थे। लोगों ने कह-कहकर चन्द्रशम्शेर को रत्नदास के विरुद्ध कर दिया। चन्द्रशम्शेर बड़ा ही कुटिल तानाशाह था। वह सीधे प्रहार न करके छिपकर तीर मारने का अभ्यासी था। एक समय रत्नदास को साठ हजार का घाटा लगा। इसी समय चन्द्रशम्शेर ने हुक्म दिया–रुपया तुरंत जमा करो।

रत्नदास ने अपने समधी घोराशा से उधार ले पैसा दे दिया और साथ ही सरकारी ठेका छोड़ दिया।

रत्नदास ने अब व्यापार के नये क्षेत्र में पैर रखा और पंद्रह हजार लगाकर जूता बनाने का काम शुरू किया–जूते कपड़े और सूत के तले के होते थे। उनकी बड़ी माँग हुई और व्यापार चल निकला। इसी बीच चन्द्रशम्शेर ने अपना ठेका किसी दूसरे को दिया था, जो ठीक से काम नहीं कर सका। चन्द्रशम्शेर घूमते-घामते एक दिन बूढे से मिला और उसे मीठी-मीठी बातें करके अपने महल–सिंह दरबार–ले गया। यह भी आश्वासन दिया कि ठेका हम तुम्हीं को देंगे।

लेकिन रत्नदास को मरने (1922 ई.) से पहिले अभी बहुत-से बुरे दिन देखने थे। घोराशा की लड़की उनके

बेटे से ब्याही थी, लेकिन व्यापारी कब किसी का मीत होता है। घोराशा ने अपने कर्जे के लिए तकाजा किया और न देने पर घर में ताला लगा दिया। उनका दामाद मानदास अपने ससुर से झगड़ रहा था, इसकी स्मृति धर्मरत्न के बालहृदय पर अब भी अंकित है। रत्नदास को बहुत दिनों तक सासत सहने की जरूरत नहीं पड़ी और दो महीने के भीतर ही उन्हें मृत्यु ने अपनी गोद में ले लिया। रत्नदास के चार लड़के आशारत्न, भवानीरत्न, मानदास और हर्खदास अब बाट के भिखारी बने दुनिया में जीवन-संघर्ष के लिए रह गए। उस समय ल्हासा में रत्नदास साहू की कोठी मौजूद थी, और उससे परिवार को सहारा मिल सकता था, लेकिन बड़े लड़के आशारत्न ने मदिरा और मदिरेक्षणा के ऊपर सब चौपट कर दिया। चारों भाई कुछ दिनों तक नेवारी भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि चित्रधर के घर में रहे, किन्तु हालत सँभालने में साहू के जेठे लड़के ही नहीं, बल्कि मझले (माहिला) भवानीरत्न भी भारी बाधक थे। उन्होंने एक दूसरी जात की रखेल रख ली थी, और बाप के समय खूब पैसा उड़ाते रहे। वह अपनी पत्नी अर्थात् धर्मरत्न की माँ को बहुत उपेक्षित रखते। वह बेचारी अपने सब लड़कों के लिए किसी तरह मायके में जीवन बिताती थी। बाट के भिखारी हो जाने के समय आखिर नेवार व्यापारी की सहज बुद्धि भवानीरत्न के पास भी थी। उन्होंने चावल-दाल की दूकान की, लेकिन मितव्ययिता तो जानते नहीं थे, इसलिए असफल होना पड़ा। मानदास और हर्खदास दोनों छोटे भाई नेपाल में कोई आशा न देखकर तिब्बत चले गए। भवानीरत्न ने भी अब कहीं भाग्य-परीक्षा करने का निश्चय किया। उपेक्षिता पत्नी से जेवर माँगा, लेकिन उसे संदेह हुआ कि रखेल को देने के लिए माँग रहे हैं, इसलिए जेवर नहीं दिया। भवानीरत्न ने किसी तरह कलिम्पोंग पहुँच साइकिल का काम शुरू किया। असफल होकर कलिम्पोंग से दार्जिलिंग जा टोपी-साइकिल की दूकान की, लेकिन वहाँ भी भाग्य ने साथ नहीं दिया। इसी समय नेपाल के एक बड़े कोठीवाल धर्ममान साहू से उनका परिचय हुआ। साहू ने तिब्बत में अपनी फरीजोङ् वाली दूकान में भेज दिया। भवानीरत्न फजूलखर्च थे, लेकिन साथ ही बड़े ही ईमानदार और मेहनती थे। कुछ ही समय बाद साहू ने उन्हें अपनी ल्हासा की कोठी में मुख्य कर्मचारी बनाकर भेज दिया, जहाँ उन्होंने 11 वर्ष 1934 ई. तक काम किया।

धर्मरत्न अपनी माँ के साथ श्री चित्रधर के घर में रहते थे। भूख के मारे घर की बुरी हालत थी, उन्होंने अपने बाल्य में हर तरह के अभावों की पाठशाला ही में पहिला पाठ पढ़ा। आठ वर्ष की उमर में साहू के बड़े नाती को कुछ समय के लिए सरकारी संस्कृत पाठशाला में बाबूकाजी के पास पढ़ने के लिए भी बैठाया गया था, लेकिन पढ़ाई अक्षर-परिचय से बहुत आगे नहीं बढ़ सकी।

धर्मरत्न का परिवार परम दरिद्र होते भी कुलीन सेठों का परिवार था, इसलिए सहायता करनेवाले सम्बन्धी कभी-कभी मिल ही जाते। उनकी अपनी नानी मर चुकी थी, लेकिन सौतेली नानी का धर्मरत्न और उनकी माँ पर स्नेह या दया थी। उसने धर्मरत्न को अपने पास रखा। नानी के भतीजे ने उन्हें पढ़ाना शुरू किया। आखिर नानी कितने दिनों तक माँ-बेटे का बोझ अपने सिर पर उठाती। उसने यही अच्छा समझा कि लड़का कुछ अपने लिए कमाए, इसलिए, तमौर (ताम्रकार) के यहाँ भाथी चलाने के लिए पाँच रुपये महीने पर नौकर रखवा दिया। नगर के सेठ का पोता अब तीन वर्ष तक भाथी धौंकता रहा।

पन्द्रह वर्ष की उमर में धर्मरत्न जैसा मेधावी तरुण कैसे केवल भाथी धौंकता रहता ? इसी समय नेपाल-उपत्यका के नगरों के बौद्धों में एक हलचल मची हुई थी। नागरिक बौद्धों के प्रायः दो मोटे-मोटे विभाग हैं—बांड़ा (वज्राचार्य) और भिक्षु (शाक्यवंश) पुरोहित वर्ग के हैं और उदास सेठ-साहुकार तथा दूकानदार। लक्ष्मी पुरोहित वर्ग पर नहीं, बल्कि सेठों पर ढलती है। तिब्बत का व्यापार भी अधिकतर उन्हीं के हाथ में था और तिब्बत के सम्बन्ध के कारण लामा लोगों का उन पर प्रभाव भी बहुत था। बौद्ध पुरोहित लोग धन और विद्या में दीन होते हुए भी बड़ा रौब रखते थे। तिब्बत के लामाओं के सम्पर्क में आये उदास लोग उसे क्यों बर्दाश्त करने लगे ? कितने ही उदास साहू तिब्बत के प्रसिद्ध खङ्छेन् लामा के चेले बन गए थे। भोटिया का चेला बनना नेपाल के ब्राह्मण राजगुरु को भी पसन्द नहीं आया। उन्होंने इससे दूसरी तरह ही फायदा उठाया। एक भाई ने उदास लोगों की पीठ ठोंकी और दूसरा उनके विरोध में। तमौर लामा का विरोधी था और घोराशा उसका भक्त। धर्मरत्न ने भी लामा के अनुयायियों का पक्ष लिया, इस पर उनके मालिक ने भाथी धौंकने की

नौकरी से निकाल दिया।

लक्ष्मीप्रसाद खरदार ने बेकार तरुण को देखकर तीन रुपये महीने पर नौकर रख लिया, जहाँ साल-भर वह कपड़े के जूता बनाने का काम करते रहे। इसी समय दादा का एक पुराना नौकर मिला। धर्मरत्न ने अपनी गाथा सुनाई और उसने उन्हें जूता बनाने का काम ही ठेके पर दे दिया। धर्मरत्न ने पहिले ही महीने में 35 रु. कमा लिया। अब धर्मरत्न का काम–जूता बनाना–चल निकला। वह खर्च चला अपनी आमदनी में से 6 रु. महीना नानी को देते। इस पर भी साल-भर में 155 रु. उनके पास जमा हो गए। धर्मरत्न का जीवन अब निश्चिंत-सा चल रहा था। लेकिन उन्हें क्या मालूम था कि काल के गाल में क्या छिपा हुआ है। इसी समय सस्ते जापानी कपड़े के जूते नेपाल में भर गए। महँगे, हाथ के कपड़े के जूतों को कौन खरीदता? कारखाना बन्द हो गया और सत्रह वर्ष के धर्मरत्न फिर बाट के भिखारी हो गए। नानी ने ब्याह करने के लिए बहुत जोर दिया था, लेकिन धर्मरत्न ने उसे इन्कार करके अपने लिए अच्छा ही किया। जूता सीने का काम छूट जाने पर वह भोटाहिटी में एक मित्र की सहायता से 6 महीने तक दलाली भी करते रहे। उनके छोटे चचा हर्षदास मोहनशम्शेर के यहाँ बड़े लेखक थे। धर्मरत्न की पढ़ाई तेरह-बाईस ही हुई थी, इसलिए चचा क्या सहायता करते? चचा ने बाप के पास ल्हासा जाने की सलाह दी, लेकिन नानी और माँ इस पर सहमत नहीं थीं–उपेक्षक बाप न जाने बेटे के साथ कैसा बर्ताव करे? अथवा भोट के खतरनाक रास्तों में ही लड़के पर संकट न आ जाये। लेकिन धर्मरत्न विदेश में व्यापार करनेवाले सार्थवाहों के कुल में पैदा हुए थे, साहस-यात्रा जिनके नस-नस में होती है। एक दिन नानी को दिए अपने ही एक सौ इक्कीस रुपये चुराकर वह भाग निकले।

धर्मरत्न का जन्म 1915 ई. में हुआ था, अर्थात् अब 1933 ई. में वह 18 वर्ष के थे। वह वीरगंज पहुँचे। अंग्रेजी पलटन में भरती करनेवाले एक नेपाली अफसर से मुलाकात हुई। उसने उनके शरीर को नापकर सैनिक के उपयुक्त बतलाया और यह भी कहा कि खाना-पीने के साथ बीस रुपया मासिक वेतन मिलेगा। यदि और भी बातें ठीक हो गई होतीं, तो शायद धर्मरत्न की जीवन-धारा किसी दूसरी ही ओर लगती। अफसर ने कहा, मुझे अपनी लड़की का ब्याह करने पहाड़ में जाना है, जहाँ से मैं एक महीने बाद आकर तुम्हें ले चलूँगा। लेकिन धर्मरत्न के एक सौ एक्कीस रुपयों में से एक सौ पन्द्रह पंख बाँधकर उड़ गए थे, 6 रुपये में वह महीने-भर कैसे रहते? किसी ने दार्जिलिंग और कलिम्पोंग का सब्जबाग दिखलाया और पाँच रुपया सवा ग्यारह आना देकर उन्होंने सिलिगौड़ी का रेल का टिकट खरीद लिया। पौने 7 आने का पैसा पाकेट में डाले धर्मरत्न रेल पर चढ़े। वहीं उनकी मुलाकात एक ठकुरी (राजकुलीन) से हुई, जो माहिला साहू का दोस्त था। ठकुरी का घर सुगौली में था। वह अपने दोस्त के लड़के को अपने साथ ले गया। पूछने पर धर्मरत्न ने कह दिया–"पैसा है", नहीं तो शायद भोजन कराकर विदा करते समय कुछ पैसा भी मिल गया होता। सिलिगौड़ी के रास्ते का पूरा पता मालूम कर लिया था और एक किसान नेवार (जापू) साथी भी मिल गया। धर्मरत्न अब पैसे की कदर समझ रहे थे, इसलिए सिलिगौडी में उतरते समय अब भी उनके पास चौदह पैसे थे। सिलिगौडी से कलिम्पोंग की मोटर पर कैसे बैठा जाय, यह समस्या ड्राइवर के उधार मान लेने से हल हो गई। वहाँ जाकर वह अपने सम्बन्धी के साथ रहे। डेढ़ महीना तक टक्कर मारकर हार गए, लेकिन कोई काम नहीं मिला। मिश्नरियों के इंडस्ट्रियल स्कूल में भरती होने के लिए तैयार थे, इसी समय धर्ममान साहू के ज्येष्ठ पुत्र त्रिरत्नमान साहू ने ल्हासा में अपनी कोठी में काम देने का वचन देकर सफर-खर्च के लिए पचहत्तर रुपये दे दिए।

ल्हासा (1933 ई.)–मेरी दूसरी यात्रा से एक साल पहिले धर्मरत्न ने तिब्बत की पहिली यात्रा की थी। छह-सात महीने के भीतर ही उन्होंने तिब्बती बोलना सीख लिया। उनके लिए तिब्बती सीखना बहुत जरूरी और आसान भी था, क्योंकि तिब्बत में उसे छोड़ बोलचाल का कोई दूसरा माध्यम नहीं था। थोड़े ही दिनों बाद मालिक ने फरीजोङ् की अपनी दूकान में उन्हें काम सौंप दिया। वह ग्यांची से फरी की ओर आ रहे थे। जोङ्-पोन् (जिलाधीश) की लड़की भी साथ चल पड़ी थी। तरुणाई और तरुणी की जबर्दस्ती का यही फल हुआ कि धर्मरत्न रतिजरोग लेकर कलिम्पोंग पहुँचे। फिर दवा कराने के लिए कलकत्ता गए। यहीं 1934 का भूकम्प हुआ। धर्मरत्न तिब्बत लौटने के लिए कलिम्पोंग पहुँचे, उसी समय हम भी तिब्बत की दूसरी यात्रा के लिए

तैयार थे। वह हमारे साथ फरीजोङ् तक गए।

अब धर्मरत्न छुशिनूसा (धर्ममान साहू की कोठी) के एक विश्वस्त कर्मचारी थे। कभी फरी में रहते और कभी ल्हासा में। उसी साल (1934) के जाड़ों का दिन था। तिब्बत के नेपाली व्यापारियों के लिए वहाँ से भारत पैसा भेजकर माल मँगाना एक बड़ी समस्या है। ल्हासा से पाँच-छह दिन के रास्ते पर ग्यांची में भारतीय डाकखाने और तारघर का होना व्यापारियों के लिए बड़े भाग्य की बात समझिये। वह वहाँ से नकद और कीमती माल ग्यांची के डाकखाने द्वारा अपनी कलकत्ता या कलिम्पोंगवाली कोठियों में भेज दिया करते। धर्मरत्न जाड़ों में एक लाख नकद, पैंतीस हजार का सोना और पच्चीस हजार की कस्तूरी लेकर ल्हासा से ग्यांची की ओर चले। साहू लोगों के खच्चरवाले नौकर सोनम्-ग्यनूजे के खूनी उद्दंडता का परिचय इन पंक्तियों के लेखक को भी उसी साल मिल चुका था, जब कि उसने तलवार उठा ली थी। धर्मरत्न नागर्चे के पड़ाव पर पहुँचे और वहाँ अपने नेवार भाई के टिकने के स्थान में उसी के साथ ठहरे। सोनम् नौकर थोड़े ही था। वह तो अपने को बेताज का बादशाह समझता था। उसने डाँटकर कहा, "यहाँ क्यों बैठा ?" और मुक्का मारकर संतोष न कर छुरी भी निकाल ली। धर्मरत्न ने भागकर छत पर शरण ली। लोगों ने सोनम् के ऊपर भूत चढ़ा समझ कर भूत निकालने का उपचार करना शुरू किया। घर के मालिक ने धर्मरत्न को समझाया--कोई पर्वाह नहीं, भूत आया था, अब चला गया। लेकिन धर्मरत्न कैसे विश्वास करते कि अगले तीन दिन के रास्ते में भूत फिर नहीं लौट आयेगा। धर्मरत्न ने अगली यात्रा सोनम् को आगे-आगे कर तमंचा सँभाले की। एक लाख साठ हजार का माल इस पागल के भरोसे भेजा गया था ! खैर, किसी तरह ग्यांची पहुँचकर रुपया उन्होंने मनीऑर्डर और सोना तथा कस्तूरी का पारसल कर दिया। ग्यांची का डाकखाना बीमा नहीं करता, क्योंकि पराये देश में क्या ठिकाना, लेकिन तो भी नेपाली व्यापारियों को उस पर इतना विश्वास था कि बिना बीमा ही के वह हजारों-लाखों का माल भेजा करते थे।

ग्यांची से धर्मरत्न को फरी में जाकर तीन महीने रहना पड़ा। ल्हासा लौटते समय सोनम्-ग्यनूजे के साथ उसका भाई सोनम् फुनूचोक् भी था। पेंदे के पड़ाव में शाम को ठहरे थे। तिब्बत में खच्चरवालों की मौज है। हर पड़ाव पर उनके लिए शराब और औरत मौजूद रहती है। पेंदे में दोनों भाइयों की दो रखेलियाँ थीं। किसी बात पर दोनों में झगड़ा हो गया। सोनम्-ग्यनूजे छुरी निकालकर अपने भाई के ऊपर दौड़ा। धर्मरत्न ने बड़ी हिम्मत करके उसके हाथ से छुरी छीन ली और उसके पीछा करने पर उसे फेंक दिया। हल्ला सुनकर गाँववालों ने किसी तरह बीच-बचाव किया, नहीं तो उस दिन भाई के जान की खैरियत नहीं थी। वहाँ से चल उसी नशे में सोनम्-ग्यनूजे खम्बाला के 18000 फुट ऊँचे डाँडे पर पहुँच बेहोश पड़ा था। उसे उठाकर लोग साथ ले गए।

1933 ई. से ही धर्मरत्न अपने पिता की तरह छुशिनूसा के कर्मचारी थे। छुशिनूसा एक समय ल्हासा की सबसे बड़ी कोठी थी, लेकिन अब उसके बुरे दिन आने शुरू हुए। धर्ममान साहू बड़े धर्मात्मा और दानी पुरुष थे। बुढ़ापे में अब दूर तक सोचने की शक्ति उनमें नहीं थी, इसलिए और दान-पुण्य के अलावा 75 हजार रुपया निकालकर उन्होंने नेपाल में स्तूपों और विहारों के बनाने आदि में खर्च किए। उधर लदाख में जो शाखा खोली थी, उसमें नौकरों की बेपर्वाही से पचीस-तीस हजार का नुकसान हुआ। व्यापार भी अब वैसा चल नहीं रहा था, इसलिए नौकरों का वेतन नहीं दिया जा सका। धर्मरत्न ने अपने सहयोगियों को हड़ताल करने की सलाह दी और स्वयं काम छोड़ दिया। ल्हासा में रहते धर्मरत्न वहाँ के चीनी अफसर के यहाँ भी जाया-आया करते थे, जिसके कारण वह चीनी भी कुछ सीख गए थे। एक हफ्ते की हड़ताल के बाद मालिकों से समझौता हुआ। कर्मचारियों के खाने-कपड़े का खर्च मालिक दे ही रहे थे। अब धर्मरत्न के पिता (भवानीरत्न) का वेतन आठ सौ, धीरेंद्रवज्र का पाँच सौ और बाकी कर्मचारियों का तीन सौ साठ रुपये वार्षिक निश्चित हुआ।

मालिकों के साथ धर्मरत्न के इस तरह के बर्ताव को पिता ने बिल्कुल नहीं पसन्द किया। वह पुराने ढंग के भद्र पुरुष थे, मालिक के नमक को प्राणों से भी अधिक मानते थे। यह चिन्ता उनके मन में थी ही।

छह-सात महीने बाद धर्मरत्न की माँ के मरने की खबर जब मिली, तो उन्हें अपने किए पर भारी पश्चाताप हुआ। दो-तीन दिन तक उन्हें नींद नहीं आई। धर्मरत्न ने पिता के मन को बहलाना चाहा और तै हुआ कि रुपया मिलते ही देश चले चलें। इस तरह निश्चिंत हो एक दिन दोपहर के वक्त धर्मरत्न आटा खरीदने गए थे। इसी समय खबर पाकर वह दौड़े-दौड़े आए। दिन के 1 बजे निचले तल्ले के एक अँधेरे कोने में फ्रेंच पिस्तौल को माहिला साहू दाग चुके थे। पुत्र के पहुँचते-पहुँचते उनका शरीर ठंडा हो गया था।

मालिक के प्रतिद्वंद्वियों ने धर्मरत्न को बहुत उकसाया, नेपाली दूतावास के लोगों ने भी भड़काया, लेकिन धर्मरत्न का एक ही जवाब था—"मैं पिता के खून के लिए अब मालिकों को तंग नहीं करूँगा।" माहिला साहू ने मरने से पहिले लिखकर तीन चिट्ठियाँ पैसे की सन्दूकची के नीचे रख छोड़ी थीं। नेपाली राजदूत को उन्होंने लिखा था—"मैं अपनी खुशी से आत्महत्या कर रहा हूँ। हीरे की कनी चाटी और कड़वे तेल में अफीम डालकर भी पिया, लेकिन उनसे मृत्यु नहीं हुई। अब मैं पिस्तौल की गोली से अपना जीवन खत्म कर रहा हूँ। इसमें किसी का दोष नहीं है।" पुत्र और भाई को यही लिखा था कि मैं अपनी नालायकी के कारण तुम्हारे लिए कुछ नहीं कर सका।

मालिकों ने वेतन दे दिया। धर्मरत्न चलने की तैयारी कर रहे थे कि पिता के मरने के दो महीने बाद उन्हें भारी बीमारी का सामना करना पड़ा।

धर्मरत्न दूसरे नेपालियों की तरह तिब्बती भाषा बोल लेने-भर ही से संतोष नहीं करते थे, बल्कि उन्होंने उस पर पूरा अधिकार करने की कोशिश की। इसमें एक तिब्बती तरुणी का प्रेम भी कारण हुआ। वह प्रेम करती थी, लेकिन नेवार और तिब्बती के बीच पीढ़ियों से जो खाई पड़ी हुई है, उसको देखकर वह धर्मरत्न को वरण करने के लिए तैयार नहीं होती। धर्मरत्न ने अपनी प्रेमिका के ऊपर तिब्बती भाषा में कई कविताएँ लिखीं और अपनी द्वितीय जेलयात्रा में तो 'तिब्बत का जवाब' नामक एक खंडकाव्य भी लिख डाला। अब धर्मरत्न का मस्तिष्क उद्‌बुद्ध था। वह जानते थे कि कोई तिब्बती तरुणी क्यों किसी नेवार को अपना हृदय देने लगी, जब कि वह जानती है कि उसका पुत्र नेपाली खचरा (दोगला) होकर जीवन-भर लांछित ही नहीं, बल्कि बाप की सम्पत्ति में एक कौड़ी का भी अधिकारी नहीं होगा और उसकी लड़की तिब्बती सरकार की उपेक्षित प्रजा कहलायेगी।

इससे पहिले एक और बानक बना, जिसने धर्मरत्न की जीवनधारा को दूसरी ओर मोड़ दिया। चटगाँव के क्रांतिकारियों में से एक अन्नदा परिव्राजक ने देश से भागकर घूमते-घामते ल्हासा पहुँचने में सफलता पाई। धर्मरत्न को उनके सत्संग का मौका मिला। परिव्राजक उनके हृदय में यह अंकित कराने में सफल हुए कि नेपाली लोगों को कुली और सिपाही की अपमानपूर्ण अवस्था से निकालने की आवश्यकता है, जिसके लिए राणाशाही से देश को स्वतंत्र करना पहिला काम है। इस सत्संग का एक फल यह हुआ कि अब वह राजनीति-सम्बन्धी हिन्दी पुस्तकों को ढूँढ़-ढूँढ़कर पढ़ने लगे थे। ल्हासा में जो भी हिन्दी अखबार या पुस्तकें मिलतीं, वह उन्हें ढूँढ़-ढूँढ़कर पढ़ते। आरम्भ में समझना मुश्किल था, लेकिन हृदय में तीव्र जिज्ञासा थी, इसलिए उसने ही उन्हें भाषा सिखलाने का भी काम किया।

ल्हासा में धर्मरत्न की स्वतंत्र बुद्धि ने अपना एक और भी रंग दिखलाया था। वह तिब्बती पंडितों के सम्पर्क में तो आए थे। चीनी अफसर के साथ भी उनकी उठक-बैठक थी। तिब्बती मुसलमानों के साथ अधिक हेलमेल होने से वह इस्लाम के बारे में भी कान देकर सुनते। नेपाली बौद्ध हिन्दू होने से मुसलमानों के साथ छूतछात का बर्ताव रखते, लेकिन माचाला (धर्मरत्न) उनके साथ कोई भेदभाव नहीं रखते। अपने सत्संग का प्रभाव देखकर मुसलमानों को विश्वास हो गया कि अब माचाला दिल से मुसलमान हो गया। लेकिन जब तक मुसलमान लड़की से ब्याह न हो जाय, तब तक ऐसे ईमान का ठिकाना क्या ? एक दिन माचाला के पास दो बुजुर्ग मुसलमान पहुँचे। उन्होंने पूछा—आपने तो सभी धर्मों को समझ लिया है। कौन धर्म आपको सबसे अच्छा लगता है ? माचाला ने उनके सामने यह स्वीकार किया कि मुसलमानों का भाईचारा मुझे बहुत अच्छा लगता है। फिर लगते हाथों दोनों बुजुर्गों ने कहा कि अल्ला ताला का नाम क्यों नहीं याद करते ? धर्मरत्न

किसी का नाम याद करने के पक्ष में नहीं थे, इसलिए बूढ़ों को बहुत निराशा हुई।

नेपाल वापस–1937 या 38 ई. में धर्मरत्न अपने आठ सौ और पिता के पच्चीस सौ कुल 33 सौ रुपयों के साथ नेपाल लौटे। पिता की तरह व्यापार में पुत्र को भी असफलता ही असफलता देखनी थी। उन्होंने 3 हजार लगाकर जूते की दूकान खोली। लेकिन कुछ ही दिनों में खटपट हुई और मालिक ने घर से निकल जाने का नोटिस दे दिया। इस पर माचाला को दुनिया से वैराग्य हो उठा। दस रुपया और आधा तोला सोना लेकर उन्होंने नगर त्याग दिया। त्रिशूली पहुँचकर धोती रँगकर साधु का बाना बना लिया। फिर वेत्रावती गए। रास्ता कठिन था। बरसात का खतरनाक मौसम था। उनके पहुँचने से पाँच-छह घंटा पहिले विड्चा गाँव को एक पहाड़ ने टूटकर दबा दिया था, नदी में कुछ तमंग बह गए थे, लेकिन धर्मरत्न को कोई पर्वा नहीं थी। वह मेनूछेन-गुम्बा के लामा के पास पहुँचे और डेढ़ महीना रहकर लामा से हठयोग की आसन आदि क्रियाओं को सीखते रहे। वहाँ रहते बच्चों को कुछ पढ़ाते भी थे। लेकिन उन्हें इसमें संतोष नहीं हुआ और फिर काठमांडू लौट आए। अब उन्होंने राजनीति में पड़ने की ठान ली थी।

राजनीति प्रवेश–शुक्रराज शास्त्री, मुरलीधर शर्मा, केदारमान 'व्यथित', गंगालाल के साथ धर्मरत्न भी अब लोगों में राजनीतिक चेतना फैलाने के काम में लगे। इसी समय धर्मकथा करने की आड़ में राजनीतिक प्रचार का काम शुरू हुआ था। धर्मरत्न को देश से बाहर भी सम्पर्क स्थापित करने की आवश्यकता मालूम हुई। पाल्पा पहुँचकर पश्चिमी नेपाल के इस इलाके के तरुणों में उन्होंने राजनीतिक चेतना फैलाने की कोशिश की। उसी समय नौकरी से वंचित भूतपूर्व गुप्तचर विभाग के एक अफसर तेग बहादुर से उनकी भेंट हुई। वह अपने को राणाशाही का शत्रु बतलाता था। उसने तत्कालीन शासन के विरुद्ध प्रचार करने के लिए धर्मरत्न को पटना में जाकर श्री रामवृक्ष बेनीपुरी से मिलने के लिए राय देते हुए कुछ रुपये-पैसे से भी मदद की।

धर्मरत्न भारत में आकर कुछ समय तक सारनाथ में रहे। इसी समय नेपाल में शुक्रराज शास्त्री पकड़े गए। मुरलीधर शर्मा सारनाथ में ही आकर मिले। दोनों ने आगे के काम की योजना बनाई। भारत में राणाशाही के विरुद्ध प्रचार करने के लिए उन्होंने पहिला काम पं. जवाहरलाल नेहरू से मिलने का निश्चय किया। नेपालियों की दुःख-गाथा के साथ एक सुनहला अभिनन्दन-पत्र धर्मरत्न ने नेहरू के सामने पेश किया और नेपाल की अवस्था के बारे में बातचीत करने की इच्छा प्रकट की। नेहरू उन्हें अपने साथ आनंद भवन (प्रयाग) में ले गए। धर्मरत्न ने उन्हें सारी अवस्था बतलाई। नेहरू ने कहा, कुछ करो। लेकिन राणाशाही की जकड़बंदी में कुछ करना सम्भव नहीं था। यह विचार प्रकट करने पर नेहरू की झिड़की खाकर उन्होंने इतना ही कहा–"यदि हमी कुछ कर सकते, तो आपके यहाँ नहीं आते।"

इसके बाद धर्मरत्न पटना पहुँचे और 'जनता'-सम्पादक बेनीपुरी से मिले। बेनीपुरी ने उनके उत्साह को बढ़ाया और सलाह दी कि दस-बीस आदमियों को लेकर त्रिपुरी कांग्रेस (1939 ई.) में आओ। धर्मरत्न ने अखबारों के लिए वक्तव्य दिया–"नेपाली तरुण चुप नहीं हैं। हम स्वयं त्रिपरी जा रहे हैं।" लेकिन जब उन्होंने कलकत्ते में जाकर नेपाली तरुणों को त्रिपुरी चलने के लिए कहा, तो राणाशाही के आतंक के कारण कोई तैयार नहीं हुआ। फिर वह कलिम्पोंग पहुँचे और तीन महीने तक लेक्चर देते संगठन करते रहे। राजनीति ने धर्मरत्न को व्याख्याता बना दिया था। उनके प्रयत्न से बीस तरुण प्रजापरिषद् में काम करने के लिए तैयार हुए, लेकिन अब भी त्रिपुरी जाने के लिए काफी आदमी नहीं मिले, जो मिले उनको खर्च नहीं जुट सका। धर्मरत्न ने बेनीपुरी को निराशाजनक उत्तर दिया।

फिर काठमांडू में–सौ वर्ष हुए थे जब कि अनेक भीषण खूनी कांडों द्वारा जंगबहादुर ने पुश्तैनी प्रधान मंत्रीपद को सँभालते हुए राजा के प्रभाव का अन्त किया। तब से नेपाल के राजा–5 सरकार या धिराज–केवल मूरत बनाकर रख दिए गए थे। धिराज वंश ने लेकिन राणावंश के इस अत्याचार को चुपचाप बर्दाश्त नहीं किया। वह और उनके अनुयायी चाहते थे कि शक्ति उनके हाथ में चली आये। वर्तमान धिराज त्रिभुवन चिर-नजरबन्दी का जीवन बिताते स्वतंत्र होने की भावना को अपने सीने में छिपाये हुए थे। उन्हें एक लाख से कम की पेन्शन सारे परिवार के लिए मिलती थी, लेकिन जब प्रजा परिषद् ने राणाशाही के खिलाफ संघर्ष करने

का निश्चय किया और टेकवहादुर मल्ल के द्वारा परिषद् का सम्वन्ध धिराज से हुआ, तो उन्होंने रुपयों से मदद की। राजनीतिक संस्थाओं को रुपयों का अभाव होता है, विशेषकर उनको जिनकी सक्रिय सहानुभूति सवसे अधिक उत्पीड़ित लोगों के साथ होती है। लेकिन, आसानी से अधिक रुपया मिलना भी कार्यकर्ताओं में लोभ पैदा कर संस्थाओं के लिए अनिष्ट का कारण होता है। निदान, प्रजापरिषद् में फूट पड़ गई और धिराज ने भी पैसा देना वन्द कर दिया। इससे छह महीने पहिले धिराज के महल (राणाहिटी) में राणाशाही के विरुद्ध एक षड्यंत्र करने का प्रयत्न किया गया था। योजना यह थी कि महारानी को बीमार बना दिया जाय, फिर बीमारी की भीषणता की सूचना समय-समय पर दी जाय और एक दिन मरणासन्न वतलाकर प्रधानमंत्री को बुलाया जाय। फिर उन्हें क्लोरोफार्म सुँघाकर वेहोश अथवा गोली मारकर त्रिभुवन के शासनारूढ़ होने की घोषणा कर दी जाय। लेकिन, छह महीने तक कोई षड्यंत्र प्रधानमंत्री के गुप्तचरों से भरे नारानहिटी महल में गुप्त कैसे रखा जा सकता था। वुलाने पर प्रधानमंत्री युद्धशम्शेर नहीं आए। दो घंटे वाद प्रधानमंत्री के ज्येष्ठ पुत्र वहादुरशम्शेर ने आकर धिराज को डाँट वतलाई और अस्वाभाविक षड्यंत्र स्वाभाविक मौत से मर गया।

प्रथम शहीद–षड्यंत्र के असफल होने तथा पैसा खा जाने पर भी धिराज ने अपने कम्पोंडर श्री चंद्रमान डंगोल द्वारा फिर परिषद् को रुपयों की सहायता देना शुरू की। प्रजापरिषद् के कुछ लोगों की धर-पकड़ हुई। इसमें मेधावी तरुण गंगालाल भी थे, जिनके पिता ने नये प्रधानमंत्री पद्मशम्शेर से माफी माँगकर अपने पुत्र को छुड़ा लिया। गंगालाल की इसमें विल्कुल सहमति नहीं थी। वह इसके कारण वहुत दुखी हुए। धर्मरत्न ब्याह की साधारण उमर से अधिक हो चुके थे, लेकिन अपने सामने के काम तथा वेचरी के कारण ब्याह करने के लिए तैयार नहीं हुए, और उसकी जगह उन्होंने छोटे भाई के ब्याह का आयोजन किया। इस ब्याह के उपलक्ष्य में हुई गोष्ठी में नेवारी में एक राष्ट्रीय गीत गाया गया, जिसमें कमजोर जन-नेताओं पर छींटे फेंके गए थे। गंगालाल ने इसे अपने ऊपर व्यंग्य समझा और तुरंत उठकर अपने भावों को एक पद्य में व्यक्त किया–

जेता नेतादि सवले मरनु साजा सवै को।
हुँ वीर नेपाल को वीर पुत्र···।
··· देश को निमित चितामा पुग्नु तयार।"

उस समय लोगों को आश्चर्य हुआ और जव मुँह लाल किए 22 वर्ष का तरुण गंगालाल वहाँ से चला गया, तो संगीत मंडली भंग हो गई।

गंगालाल नेपाल का भगतसिंह है, यही कहने से इस तरुण के व्यक्तित्व के बारे में कुछ अनुमान हो सकता है, लेकिन अभी तक नेपाल की क्रांतिकारी संस्था प्रजापरिषद् से उसका सम्बन्ध नहीं था। धर्मरत्न ने उसका प्रजापरिषद् के साथ सम्बन्ध स्थापित कराया। विवाह की संगीतमंडली के पाँच दिन बाद हथियार के बल पर राणाशाही के मूलोच्छेद करने का प्रचार करते हुए एक वड़ा जवर्दस्त पम्फ्लेट निकला। धर्मरत्न ने सत्तर रुपये की भारी पूँजी लगाकर अपनी सावुन की दूकान खोल रखी थी, जो देशप्रेमी तरुणों और विद्यार्थियों के मिलने का अड्डा वन गई थी। तेगवहादुर मल्ल ने गुप्तचरी से वर्खास्त होने के वाद धर्मरत्न को परामर्श और धन से सहायता की थी। अव वह फिर अपने पद पर वहाल हो गया था। सिंहदरवार (प्रधानमंत्री के महल) में खुफिया अफसरों की वैठक हुई। तेगवहादुर ने वतलाया कि सावुनवाले का इसमें खास हाथ है। उसे प्रलोभन या सासत देकर भेद लेना चाहिए। राणाशाही के हरेक उम्मेदवार को अपने लिए हमेशा खतरा दिखाई पड़ता था, इसलिए सरकारी खुफिया-विभाग के अतिरिक्त हरेक के अपने खुफिया अफसर हुआ करते थे। प्रधानमंत्री के ज्येष्ठ पुत्र वहादुरशम्शेर को जव वतलाया गया–प्रजापरिषद् तुम्हारे पिता को खतम करना चाहती है, तो उन्होंने घुड़ककर कहा था–मेरे वूढ़े वाप के प्राणों के ग्राहक क्यों वन रहे हैं ? शक्ति तो चंद्रशम्शेर के लड़कों के हाथ में है, उनके पीछे क्यों न पड़ते ?

शहीद शुक्रराज शास्त्री का भाई राणाओं का भेदिया वन गया, जिससे परिषद् की कुछ वातों का पता लगा। राणा एवं थापा, वस्नेत आदि प्रभावशाली वंशों के अफसरों की वैठक हुई, जिसमें युद्ध के पौत्र आदि ने प्रधानमंत्री को कहा–आप हुकुम दीजिए, हम सभी संदिग्ध व्यक्तियों को पीट-पाटकर रहस्य उगलवा लेंगे।

रोज की खबरें सुनते-सुनते बूढ़ा युद्धशम्शेर वहुत डर गया था। उसने वात मान ली। मुरलीधर शर्मा–प्रजापरिषद् के एक प्रधान अगुवा–उस वक्त वनारस में रहकर काम कर रहे थे। राणाओं ने उन्हें किसी वहाने से वुलवाया और भीमफेंदी पहुँचते ही हथकड़ी डाल जेल में वन्द कर दिया। अव न. शम्शेर ने डराना-धमकाना और प्रलोभन देना शुरू किया–परिषद् के आदमियों का नाम दे दो, तो तुम्हें सुब्वा (बड़ा अफसर) का पद दिलवायेंगे। मुरलीधर कच्चे गोइयाँ निकले और उन्होंने 88 आदमियों का नाम दे दिया। विजयादशमी का पर्व वीत गया था। उसके दो-चार दिन बाद पुलिस ने एकदम मुहल्ले-के-मुहल्ले घेरकर सवकी धर-पकड़ शुरू की। नाम लिखने में कुछ गलती हुई, इसलिए धर्मरत्न की जगह ज्योतिरत्न पकड़ लिए गए और धर्मरत्न दो दिन तक निश्चिंत बैठे रहे। फिर भागने के लिए निकले, किंतु लौटकर गिरफ्तार हुए।

गिरफ्तारी और सासत–जेल और हवालात में धर्मरत्न के ऊपर जो पड़ी, वही बात कुछ कम और वेसी सभी के साथ हुई। गिरफ्तारों में धर्मरत्न का नम्वर 51वाँ था। पकड़े हुए लोगों को अलग-अलग रखा गया था। हरेक आदमी पर गारद के अलावा एक-एक अठपहरिया (गारद) नियुक्त था।

लोगों से अपराध कवूल करवाने के लिए स्थान एक स्कूल और समय रात का चुना गया था। वंदियों को एक-एक करके वहाँ ले गए। वहाँ दो पैट्रोमेक्स की तेज लालटेनें जल रही थीं। पहले शहीद गंगालाल को लाये। उनकी दोनों वाँहों को बाँस में बाँधकर धरती से ऊपर उठा रखा गया था। कच्चे वाँस के फट्ठे काटकर पहिले से तैयार रखे हुए थे। दो आदमियों ने दोनों तरफ से गंगालाल की पिंडुली पर फट्टों से पीटना शुरू किया। खूने वहने लगा। प्रधानमंत्री का तरुण पोता दाँत पीसते आस्तीन सँभालते चिल्लाकर कह रहा था–"तेरो बाबूलाई; पीट, पीट, पीट।" फट्ठियाँ और जोरों से पड़ने लगीं। खून मिला मांस उनमें चिपक गया। गंगालाल दाँत दबाये जव सह नहीं सके, तो कह उठे "भन्छुँ, भन्छुँ" (वोलता हूँ, वोलता हूँ)। नराधम के कहने पर उन्हें छोड़ दिया गया, लेकिन अव भी वह अपने पैरों पर खड़े रहे। इस पर राणा राक्षसाधम को और गुस्सा आया। उसने तमककर एक घुस्सा गंगालाल की नाक पर मारा। उनकी नाक से खून की धारा वह निकली। नराधम के दूसरे साथी तथा भू. पू. प्रधानमंत्री-पुत्र ने गंगालाल की अकातर मूर्ति को देखकर चिल्लाकर कहा–"कैसा शठ है। इतना पीटे जाने पर भी नहीं बोलता। खुकुरी ला, मैं इसे बोटी-बोटी कर देता हूँ।" भेदिया बन गए पंडित मुरलीधर शर्मा भी सुर्खरूई दिखाते बोल उठे–कैसा मूर्ख है। अभी भी क्यों नहीं वतला देता।

खुकुरी आई, लेकिन उसे देखकर गंगालाल के चेहरे पर केवल अवहेलना की मुद्रा दिखाई पड़ी। वह अव भी नहीं बोले। वह प्रथम वलि होने के लिए तैयार थे। इस पर प्रजापरिषद् के उपप्रधान के हस्ताक्षरित पत्र को दिखलाकर कहा गया–चुप रहने से क्या फायदा। भेद सब मालूम हो गया है। स्वीकार कर लो कि मैं प्रजापरिषद् में हूँ। नहीं तो यहीं काम खतम कर दिया जायगा। गंगालाल ने प्रजापरिषद् में काम करने को स्वीकार किया।

हस्ताक्षर दिखलाकर धर्मरत्न को भी वतलाया गया–"सावुन की दूकान नहीं, तुमने प्रजापरिषद् के लिए ब्राडकास्टिंग स्टेशन खोल रखा है।" धर्मरत्न को मालूम ही हो गया था कि मुरलीधर ने एक-एक बात बतला दी है। प्रजापरिषद्वालों को स्कूल में ले जाकर सासत और पूछताछ की गई और दूसरों को एक-एक तम्वू में। दो को रखकर प्रजापरिषद्वाले सबसे अधिक खतरनाक समझे गए थे। मुरलीधर के विश्वासघात से धर्मरत्न का खून खौल रहा था। उनके पास भी मुरलीधर को साथ लिये जव पूछने आए, तो उन्होंने कहा–मुरलीधर को यहाँ से हटा दो, तो मैं अपना बयान दूँगा। मुरलीधर को हटाकर अधिकारियों ने कहा–जो कुछ किया या सुना है, सब वतला दो। इस पर धर्मरत्न ने कहा–तव तो मुझे स्वयं अपना बयान लिखना पड़ेगा। अधिकारी खुश हुए। उन्होंने कागज, कलम, दावात लाकर दे दी। धर्मरत्न को 'जो कुछ किया सुना था' सब लिखना था, इसलिए उन्होंने अपनी सारी जीवनयात्रा ही कागज पर उतारनी शुरू की, छोड़ा केवल अपने राजनीतिक जीवन को। उनका बयान सत्ताई हाथ के कागज पर खतम हुआ। बिना पढ़े ही अफसर अपनी सफलता पर बड़े खुश हुए। एक दिन बन्दियों को देखने सदलबल प्रधानमंत्री युद्धशम्शेर आए। उनके आगे-पीछे खुशामदी अफसर पूँछ हिला रहे थे। कर्नल गंगाबहादुर ने फूले न समाते अन्नदाता से कहा–सबसे अच्छा बयान इस आदमी ने दिया

है। युद्धशम्शेर अपने नकली सोने के दाँतों को किटकिटाते बोल उठे–जो कहना है, सब ठीक-ठीक कहो, तो दुशाला मिलेगा, नहीं तो काट देंगे।

अगले दिन वयान पढ़ लेने के वाद कर्नल आग-वगूला हो आकर धर्मरत्न को गाली देने लगा। धर्मरत्न अपना रोयाँ गिराये एक गरीव नेवार-पुत्र की तरह गिड़गिड़ाकर कहने लगे–मैं गरीब का पुत्र हूँ। साबुन की दूकान करके पेट पालता था। आपने किए-सुने को लिखने के लिए कहा, मैंने सब लिख दिया।

औरों की तरह धर्मरत्न को भी ठीक करने के लिए बिजली करन्ट लगाने का इन्तिजाम हुआ, बेंत और वाँस सामने रख दिए गए, तरह-तरह का प्रलोभन दिया जाने लगा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि राजबन्दियों को टीक करने का यह गुर राणाशाही ने अंग्रेजों की कलकत्ता-स्पेशल-ब्रांच से सीखा था। पन्द्रह दिन तक धर्मरत्न को तंग किया गया। शरीर दुवला-पतला और अस्वस्थ होने के कारण डर था, कुछ करने पर शायद मर ही न जाय। तब भी वह सासत किए विना छोड़ना नहीं चाहते थे। धर्मरत्न ने कहा–अच्छा कल सब विस्तारपूर्वक वतला दूँगा। रात-भर धर्मरत्न अपने मन में सोचते रहे, और एक निर्णय पर पहुँच गए। दूसरे दिन उन्होंने कहा कि मुझे जो बात कहनी है, उसे या तो प्रधानमंत्री के सामने कहूँगा, या हजुरिया-जर्नल (न. शम्शेर) के सामने। न. शम्शेर दो और राणा-जर्नलों के साथ जब धर्मरत्न से बयान लेने के लिए तैयार हुआ, तब धर्मरत्न ने कहा कि मुरलीधर और दूसरे सभी आदमियों को यहाँ से हटा दिया जाय। तीनों जर्नलों के रह जाने पर धर्मरत्न ने कहा–"मैं तो पेट के लिए ल्हासा में नौकरी कर रहा था। सारनाथ में मुरलीधर से भेंट हुई। उन्होंने मुझे समझाया–हम लोगों का हाड़-मांस राणा चूस रहे हैं, हमारी छोरी-बेटी को खराब करते हैं, आदि-आदि। कई दिन समझाने के वाद मेरी वुद्धि पर उसका असर हुआ। मुरली ने ही नेहरू से मिलाने का प्रबंध किया और उन्हें अभिनंदन-पत्र दिलवाया। मैं केवल उनके हाथ की कठपुतली था।" मुरली के मुँह से राणा लोगों के एक-एक जघन्य पाप की पते की बातें कहकर धर्मरत्न राणा-जर्नलों को मुरली के ऊपर पूरी तौर से बिगाड़ने में सफल हुए।

सब लोगों का बयान लिया गया था। विचार करने के लिए चारों कमांडिंग जर्नलों और दूसरे उच्च अधिकारियों की बैठक हुई। टंकप्रसाद परिषद् के प्रधान हाथ में नहीं आए थे। उनके पास पिता की सख्त बीमारी का तार दिया गया और सिमाना में घुसते ही पकड़ लिया गया। टंकप्रसाद के गिरफ्तार होने की खबर सुनकर युद्धशम्शेर की खुशी का ठिकाना नहीं था। सारी देह को लोहे से जकड़कर उन्हें सिंहदरबार में लाया गया। टंकप्रसाद हाड़-मांस के नहीं, बल्कि फौलाद के बने मालूम होते थे। नृशंस राणाओं का जरा भी भय उनके मन में नहीं था। वह राणा-जर्नलों और उनके अफसरों से हुकुम देने की टोन में बोला करते। उन्होंने आते ही कहा–"पहिले मुझे हमारे आदमियों को दिखलाओ।" जव उन्हें अफसरों की बैठक में लाकर बन्दियों को दिखलाया गया, तो टंक ने कहा–"इनको क्यों बन्द किया। सव मैंने किया, सब मैंने कराया," कहकर उन्होंने अपनी छाती ठोकी। इस पर न. शम्शेर ने तमककर कहा–"यह नेपाल है, मालूम है कि नहीं ?"

"नेपाल है, मालूम क्यों नहीं।"

इस पर नर ने "सरकार कौन है ?" कहा, जिसका जवाब टंक ने अपनी छाती पर हाथ रखकर दिया। टी. बी. के मरीज टंकप्रसाद पर न. हाथ छोड़ना ही चाहता था कि शंकरशम्शेर को उसे ऐसा करने से रोक दिया।

बैठक में जो कुछ कार्रवाई होती, उसकी खवरें सिपाही कैदियों के पास पहुँचा देते। आँख मूँदकर शासकों की आज्ञा माननेवाले सिपाहियों में यह नया परिवर्तन देखा जा रहा था, जिसका मतलब था राणाशाही को महल के षड्यंत्रों से चाहे भले ही खतरा न हो, लेकिन उसके लिए एक और खतरनाक शक्ति पैदा हो रही थी–जनता और उसका क्षोभ। टंकप्रसाद की इन निर्भीक वातों को सुन-सुनकर राजवन्दियों की हिम्मत कई गुना बढ़ गई। सिपाहियों को पहिले इतना ही बतलाया गया था कि यह ब्राह्मण और नेवार मिलकर पर्वतिया राज को खतम करना चाहते हैं। अब राजबन्दी उनको समझाते थे कि राणाशाही किस तरह देश को लूट रही है और किस तरह 11 रुपये मासिक पर भूखे रखकर तुमसे देश पर अत्याचार कराया जा रहा है। सिपाहियों की आँखें खुलने लगीं–ऐसा है, तो हमें पहिले क्यों नहीं कहा। लेकिन तीस-चालीस हजार सिपाहियों में से सौ-दो सौ तक ही

उनकी बातें पहुँच पाई थीं।

टंक ने उस दिन बड़ी बेपर्वाही से राणाशाही अफसरों से कहा था—"सब मैंने किया, और हाँ, सिगरेट का पैसा लाओ।" सचमुच ही टंकप्रसाद को क्रेवेन का बढ़िया सिगरेट दिया गया। इस पर शहीद दशरथचन्द—जो न. शम्शेर के सम्बन्धी भी थे—ने कहा, हमको भी दावत दो।

यह सब बातें चारों कमांडिंग जर्नलों की बैठक में हो रही थीं। पद्मशम्शेर—प्रधानमंत्री के उत्तराधिकारी—बैठक के प्रेसीडेंट थे। अन्तःपुर के एक भाग में होने के कारण वहाँ की बातचीत रानियाँ और कंटियाँ भी देख-सुन रही थीं।

बहादुरशम्शेर ने शुक्रराज शास्त्री पर दाँत पीसते हुए कहा—ज्यापु, ज्यापु, तू नेवार का लड़का ! तुझे गीता पढ़ाने का अधिकार किसने दिया ?

धर्मरत्न ने इस बैठक में भी वही रटन लगा रखी थी—जो कुछ कराया, मुरलीधर ने।

बहादुर ने धर्मरत्न को धमकाया, "तूने कुछ छिपा रखा है।" इस पर धर्मरत्न ने तंगबहादुर मल्ल की सारी बात कह दी—"मुट्ठी-भर राणा क्या कर सकते हैं, यदि हम सब एक हो जाएँ।" बहादुरशम्शेर ने नीला-पीला होकर तंगबहादुर को गिरफ्तार करके हवालात में बंद कर दिया, लेकिन दूसरे दिन छोड़ दिया। आखिर खुफिया—नैतिक तौर से अत्यन्त गिरा आदमी तो होता ही है, लेकिन उसी से काम भी तो लेना पड़ता है।

केसरशम्शेर ने धर्मरत्न से पूछा—"तुम्हारा संबंध राहुल से भी तो है ?"

"वह बौद्ध धर्म के मेरे गुरु हैं।"

इस पर पद्मशम्शेर ने कहा—"दोनों बदमाश हैं।"

सात दिन बाद साँझ के समय केदारमान 'व्यथित' (कवि), चन्द्रभान मास्के, पूर्णनारायण सुब्बा, चित्रधर (कवि) और धर्मरत्न को बुलाया गया। पाचों के पैरों में चार-चार सेर की बेड़ियाँ डाली हुई थीं। उन्हें गिरफ्तार हुए अब एक महीना बीत चुका था।

कमांडिंग जर्नलों की सभा हुई। धिराज अपने तीनों पुत्रों सहित बहुत कुछ अभियुक्त की तरह लाए गए थे। इसके दो-चार दिन बाद गुरु-पुरोहित, आफिसर आदि के प्रतिनिधि तथा कुछ महाजन और प्रोफेसरों की सभा बुलाई गई। भाई-भारदारों के सामने बेड़ी सहित चालीस अभियुक्त पेश किए गए। युद्धशम्शेर मोटर में आये। आज उन्हें अपना वक्तव्य देना था, जिसके लिए धिराज और उनके तीनों पुत्रों को भी बुला लिया गया था। पेचवान की नाली युद्ध के मुँह में लगी हुई थी। युद्ध ने एक लिखा कागज पढ़ा—इनका काम आप लोगों ने सुना ही है। नारानहिटी में खूनी कांड करके सारे राणाओं को मारने का आयोजन किया था—कीड़े ने हीरा फोड़ना चाहा। शुक्रराज ने हमारी शिकायत गाँधी तक पहुँचाई। (सरकारी नौकर होते महाराज की आज्ञा बिना शुक्रराज भारत जा गाँधीजी से मिले, और ब्रह्मसूत्र के अपने अनुवाद पर मालवीयजी आदि की सम्मति ली, यही उनका कसूर था।) इसके बाद युद्धशम्शेर ने आगे पढ़ते हुए कहा—मुरलीधर, केदारमान, धर्मरत्न नेहरू के पास रोने गए, जो कि बहुत कमीना सोशलिस्ट है। फिर मनु और याज्ञवल्क्य के श्लोक राजद्रोह के दंड के लिए उद्धृत किए, जो बड़े ही कठोर थे। आगे उदारता दिखलाते हुए युद्ध ने कहा—धर्मशास्त्र तो यह कहता है, लेकिन समयानुसार दंड में नरमी भी करनी चाहिए। फिर युद्ध-शम्शेर ने धिराज की सम्मति पूछी—"क्या करना चाहिए ?" धिराज ने कहा—"मॉडरेट (नरम)।" इस पर दाँत पीसते बाँह चढ़ाते हुए युद्ध ने पागल की तरह चीखकर कहा—"कड़ी सजा करो इन्हें।" गुरु लोगों से पूछने पर उनका जवाब था—"शास्त्रोक्त दंड देना चाहिए।" भारदारों की ओर नजर करके पूछा। उन्होंने कैपिटल पनिशमेन्ट (मृत्युदंड) देने की राय दी। अभियुक्त सभी चुप रहे। शुक्रराज ने कुछ विनती करनी चाही। उन्हें धमकाकर रोकते हुए युद्धशम्शेर ने कहा—"कडी सजाय गुर्छु।" और हुक्के की सटक हटा मोटर पर चढ़कर वहाँ से चल दिया।

आध घंटा बाद पद्म, मोहन, कैसर, आनंद, शंकर, नरशम्शेर जंगी अदालत के कर्मचारी रत्नमान काजी के साथ फैसला सुनाने के लिए आ मौजूद हुए। एक खतरनाक राजबन्दी गणेशमान के दादा रत्नमान काजी के हाथ में फैसले का कागज था, लेकिन उसे पढ़ा दूसरे ने। सजा निम्न प्रकार हुई—

शुक्रराज शास्त्री	ज्यान, अंश-सर्वस्व (मृत्युदंड, सर्वस्वहरण)
धर्मभक्त	ज्यान, अंश-सर्वस्व (मृत्युदंड, सर्वस्वहरण)
दशरथचन्द	ज्यान, अंश-सर्वस्व (मृत्युदंड, सर्वस्वहरण)
गंगालाल	ज्यान, अंश-सर्वस्व (मृत्युदंड, सर्वस्वहरण)
टंकप्रसाद	मुंडी-दामल*, जन्मकैद अंश-सर्वस्व
रामहरि शर्मा	मुंडी-दामल, जन्मकैद अंश-सर्वस्व
पूर्णनारायण सुब्वा	मुंडी-दामल, जन्मकैद अंश-सर्वस्व
गेणशमान	जन्मकैद सर्वस्व-हरण
हरिकृष्ण श्रेष्ठ	जन्मकैद सर्वस्व-हरण
पुष्करनाथ उप्रेती	जन्मकैद सर्वस्व-हरण
चूडाप्रसाद	जन्मकैद सर्वस्व-हरण
कम्पौंडर चंद्रमान डंगेल	जन्मकैद सर्वस्व-हरण
गोविन्दप्रसाद	जन्मकैद सर्वस्व-हरण
मुरलीधर (देशद्रोही जनताद्रोही)	जन्मकैद सर्वस्व-हरण
वलवहादुर पांडे (आयु17)	जन्मकैद सर्वस्व-हरण
जीवराज शर्मा	18 वर्ष कैद, सर्वस्वहरण
धर्मरत्न	18 वर्प कैद, सर्वस्वहरण
केदारमान 'व्यथित'	18 वर्ष कैद, सर्वस्वहरण
चन्द्रमान मास्के	18 वर्ष कैद, सर्वस्वहरण

राणावंशी परीक्षित-नरसिंह को जन्म-भर के लिए देश-निर्वासन की सजा हुई, साथ ही एक रुपया रोज भत्ता देना भी तै हुआ।

सजा सुनाने के बाद प्राणदंड पाए हुए अपराधियों को अलग करके वाकी को ले जाकर वन्द कर दिया गया।

जौ के साथ घुन का पिसना जरूरी था। खासकर राणाशाही अन्धेरनगरी में तो उसकी और भी सम्भावना था। शुक्रराज शास्त्री को इसी कारण फाँसी पर चढ़ना पड़ा। इसी घुन की पिसाई में ज्योतिप्रसाद भी पकड़ लाए गए, जिनका काम था "हरे राम, हरे राम" कहते हरिकीर्तन का प्रचार करना। ज्योतिप्रसाद ने जेल में आकर कहीं से खुकुरी ले अपनी गर्दन काट ली। खैरियत हुई, घाव कम था और जल्दी ही हल्ला हो गया। उन्हें मिलिट्री अस्पताल में ले गए। बन्दियों को अगले दिन भद्रगोल जेल में भेज दिया गया। शुक्रराज को एक पेड़ पर लटकाकर फाँसी दी गई, धर्मभक्त को उसी तरह दूसरी जगह एक पेड़ पर लटकाया गया। दशरथचन्द और गंगालाल को बचाकुस के स्थान में गोली मारी गई। पूर्णनारायण सुब्बा भी तख्त पर चढ़ाए जा रहे थे। पद्मशम्शेर ने रुकवाया और उनका मृत्युदंड 18 वर्ष की कैद और अंश-सर्वस्व के रूप में परिणत कर दिया गया। फाँसी पर चढ़े शहीदों की लाशें लटकती छोड़ दी गईं, जिसमें जनता में आतंक छा जाये। किन्तु परिणाम उलटा हुआ। वृक्ष पूजे जाने लगे। इस पर धर्मभक्त के वृक्ष को जड़ के पास तक कटवा दिया गया और अब केवल सड़क के किनारे ध्यान देकर ही उसके चिह्न को देखा जा सकता है (खेद है, आज भी इन स्थानों पर कोई परिचायक चिह्न नहीं है। पास बैठकर छोटी-मोटी चीजें बेचनेवाले आदमी से हमने पूछा, तो उसने उठकर दिखला दिया।) शुक्रराज शास्त्री का वृक्ष अव भी खड़ा है। कोई परिचायक सूचना न देने पर भी उसके तने पर लगे लाल टीके तथा चढ़ाई फूलमाला उसकी विशेषता को बतलाती है।

जेल में (1940-45) –भद्रगोल में तैंतीस राजबन्दी इकट्ठे रखे गए, जिनमें राणा-अदालत के शब्दों में

* मुंडी-दामल का अर्थ है, दोनों गालों और ललाट पर दागकर जातिच्युत करना।

'देशद्रोही, जनताद्रोही' मुरलीधर शर्मा भी थे। लोगों को चार कमरों में रखा गया था। टंकप्रसाद का प्राण केवल ब्राह्मण होने से वचा था, लेकिन उन्हें और रामहरि को 'मुंडी-दामल' करके जातिच्युत् करने का दंड दिया गया था। छह-सात दिन बाद उन्हें मूँड़ने के लिए ले गए, लेकिन उन्होंने पहिले ही से अपना बाल साफ करवा लिया था। दामल को शायद बर्वर शासन का चिह्न माना गया, इसलिए उनके दोनों गालों और ललाट पर दागा नहीं गया, केवल लाल रेखा बना दी गई। राजगुरु के आदेश से अव उन्हें ब्राह्मण-जाति से निकालकर विवाह पर 14 रुपया व्यय करनेवाली मतवाली (छोटी) जाति में मिला दिया गया, और अव से दोनों ब्राह्मण-पुत्र अछूत हो गए। कुछ दिनों तक उन्होंने अछूत रहने का अभिनय भी किया और वह अपने साथियों के खाने-पीने की चीजों को नहीं छूते थे।

बाहर के क्रांतिकारी अव चौबीस घंटा एक साथ रहते किसी दृढ़ अनुशासन या सिद्धांतवाद के अभाव में आपस में लड़ने लगे। पहिले नेवार और पर्वतिया का भेद शुरू हुआ। लेकिन वह वहीं तक कैसे रह सकता था ? नेवारों में भी श्रेष्ठ और दूसरों का भेदभाव पैदा हुआ, और अन्त में श्रेष्ठों में भी वागाशेस्या (अर्धश्रेष्ठ) और छगाशेस्या (पूर्णश्रेष्ट) का झगड़ा खड़ा हुआ। एक दिन मारपीट भी हुई, जिसके वाद शांति स्थापित हो गई।

नेवारों में चित्रधर और धर्मरत्न श्रेष्ठभिन्न तथा बौद्ध थे। उन्होंने कहा—हम खाने-पीने में कोई छूतछात नहीं मानते। हमें जो खाना देगा, उसी के चौके में शामिल हो जायेंगे।

यह उसी समय के आसपास की वात है, जव कि इन पंक्तियों का लेखक अमवारी किसान-सत्याग्रह के सम्बन्ध में अपने बहुत-से साथियों के साथ छपरा-जेल में था। बाहर काम करते समय थाली-लोटे के तरद्दुद से वचने के लिए मैंने अपने साथी जलील को प्रतापसिंह वना दिया था। जेल में अव प्रतापसिंह खुले जलील थे। मजहर हुसेन भी हमारे साथ ही जेल गए थे। वहाँ ब्राह्मण और छुआछूत का बहुत ख्याल करनेवाले दर्जनों अवधिया कुर्मी भी थे। हमारी रसोई एक जगह बनती थी, जलील और मजहर खाना परोसते थे, लेकिन कभी किसी ने छुआछूत की वात नहीं उठाई। और यहाँ भद्रगोल जेल में ब्राह्मण लोग कह रहे थे कि कोई हमारी रसोई न छूए। चूडाप्रसाद पागल-से हो गए थे। उनको किसी नेवार ने भोजन दे दिया, जिस पर ब्राह्मण लड़ पड़े—हमारे ब्राह्मण को इन्होंने जूटा खिला दिया। इसी तरह का गंडगोल—सात महीने तक चला। इसी बीच राजवन्दियों के लिए सेल (कालकोटरियाँ) तैयार हो गईं। झगड़ा भी मन्द पड़ा और अब लोगों का ध्यान पढ़ने की ओर गया। कैदियों को संस्कृत तथा धार्मिक ग्रंथ ही मिल सकते थे। धर्मरत्न शिक्षा से करीब-करीव वंचित रह गए थे। अब यह जेल का पाँच साल का जीवन उन्हें विद्यार्थी जीवन के रूप में मिला और उसका उन्होंने खूब उपयोग किया। कागज-पेन्सिल की कड़ी मनाही थी, लेकिन वह चोरी-चोरी मिल जाती थी। कवियों और लेखकों ने धार्मिक पुस्तकों की पंक्तियों के बीच की खाली जगहों में अपनी कृतियों को लिखा। कैदियों को 6 छँटाक चावल, एक मुट्ठी लकड़ी तथा नमक-मिर्च-तेल आदि के लिए एक नेपाली पैसा मिलता था। छह महीने पर नौ हाथ लम्बा डेढ़ हाथ चौड़ा खादी का कपड़ा दिया जाता—हाँ, वह अपने घर से कपड़ा मँगा सकते थे।

आपसी झगड़े के कारण पहिले चार दल और पीछे गुटों की संख्या पंद्रह तक पहुँची थी। लेकिन अब पढ़ने ने झगड़े को कम किया। धर्मरत्न जैसे कुछ लोगों ने रोज मिलनेवाले एक पैसे को मुरली पंडित को ट्यूशन के लिए देना शुरू किया। वह उन्हें संस्कृत ग्रंथ पढ़ाते। तरुण पूर्णबहादुर (एम. ए.) सबसे अधिक अंग्रेजी-शिक्षित थे, जो अंत समय में फाँसी के तख्ते से उतरे थे। यह सरल आदर्शवादी तरुण अपने साथियों को अर्थशास्त्र, भूगोल, गणित, अंग्रेजी आदि पढ़ाता। धर्मरत्न ने चन्द्रमान मास्के से चित्र बनाना सीखना चाहा। सिद्धिचरण ने उन्हें कवि बनाने की कोशिश की। महाकवि चित्रधर ने पढ़ाने के अतिरिक्त नेवारी भाषा में 'सुगत सौरभ' महाकाव्य लिखा। धर्मरत्न ने भी 'अर्हत् नन्द' के नाम से अश्वघोष की अमर कृति 'सौंदरानंद' की तरह एक महाकाव्य किताब की पंक्तियों के बीच में पेंसिल से लिख डाला। जेल में साहित्य-गोष्ठियाँ होतीं, समस्या-पूर्तियाँ भी चलतीं, राजनीति और दूसरे विषयों पर व्याख्यान होते। वहाँ जगह थोड़ी थी, लेकिन चावल-दाल को कुछ और प्रिय बनाने की आवश्यकता थी, इसलिए लोग, वहीं साग-सब्जी उगाते थे। इस तरह एक साल (1940) कालकोठरी में गुजरा। बलबहादुर पांडे 17 वर्ष का तरुण था। वह वहीं पागल होकर ग्यारह महीने बाद मर गया। वह

गुरुजी के खानदान का था। डाक्टर ने जब पूछा कि तुम क्या चाहते हो, तो उसने कहा—"पिस्तौल ला दो, मैं मोहनशम्शेर को मारूँगा।" बलबहादुर के पागलपन का असर कालकोठरी में एकांत जीवन बितानेवाले औरों पर भी थोड़ा-थोड़ा पड़ने लगा था।

1941 में कुछ लोग जेल से भागने की तजवीज सोचने लगे। टंकप्रसाद का दल इसके विरुद्ध था, लेकिन तरुण इसके पक्ष में थे। जेल के दो मेहतरों को मिलाकर दीवार तोड़ने का काम शुरू किया गया। रात को ईंट निकाली जाती और उसकी जगह कीचड़ रख दिया जाता। बेड़ी भी निकालने लायक कर ली गई थी। जिस रात को 1 बजे भागने की तैयारी हो चुकी थी, उसी रात 12 बजे जेलवालों ने पता पाकर हल्ला बोल दिया। एक मेहतर इतना पीटा गया कि घायल होकर छह महीने में मर गया। कैदियों में किसी ने ईंट निकालना स्वीकार नहीं किया।

इस असफलता के बाद धर्मरत्न और उनके साथी पढ़ने-पढ़ाने में तल्लीन हो गए। कोई राजनीतिक या धर्म से न सम्बन्ध रखनेवाली दूसरी भी पुस्तक भीतर जाने नहीं पाती थी। 'वेंकटेश्वर' जैसे पत्र की एक प्रति के लिए वह पाँच-पाँच रुपया खर्च कर डालते। पहिले ही से, भीमशम्शेर के समय में ही खड्गमानसिंह 'प्रचंड गोरखा दल' के आरोप में वन्दी थे। नये राजवंदियों के भद्रगोल में आने के तीन-चार महीने बाद वह भी वहीं लाए गए। उनकी वैष्णव कट्टरता ने और भी घी में आग का काम दिया।

पहिले प्रयत्न के निष्फल होने पर दो-ढाई साल और बीते और 1943-44 में फिर भागने की तैयारी होने लगी। अगुवा थे गणेशमान। अब की ईंट निकालने का ख्याल छोड़ दिया गया था और बाहर से अंकुश मँगाकर रस्सी में बाँध उसके सहारे दीवार फाँदनी थी। अंकुश दीवार पर फँस जाय, यह अपने बस की बात नहीं थी। छह महीने तक कोशिश करने के बाद एक रात अंकुश दीवार में फँस गया। गणेशमान रस्सी पकड़ दीवार लाँघकर उधर उतर गए। चन्द्रमान कम्पौंडर भारी होने से गिर पड़े और पहरेवालों ने देख लिया। पूछने पर "भाग नहीं सका" कहकर उसे उन्होंने हँसी में उड़ाना चाहा। 1 बजे रात की बात थी। पहरेवालों ने तीन घंटे यों ही खो दिए। 4 बजे पूछा—तुम अकेले थे या दूसरा भी कोई। तो चन्द्रमान ने कहा—मैं अकेला था। पहरेवालों ने अंकुश देख लिया। लेकिन तब तक गणेशमान को भागे चार घंटे हो चुके थे। कम्पौंडर को पकड़कर सिंह-दरबार भेज दिया गया। गणेशमान उपत्यका के पर्वत-प्राकार को पार हो त्रिशूली पहुँचे। सवार दो-तीन दिन तक इधर-उधर बेकार दौड़ करते रहे। गणेशमान कसाई का भेस बना भैंसा खरीदने बुटवल की ओर जा सीमा पार नौतनवा में पहुँच सुरक्षित हो गए।

मुक्ति-महायुद्ध समाप्त हो गया। दुनिया में जो परिवर्तन हो रहे थे, उसका असर नेपाल पर पड़े बिना कैसे रह सकता था ? राणा-शासकों में भी कितने भविष्य से निराश हो चुके थे। पद्मशम्शेर जैसा नम्र, उदार और दब्बू आदमी प्रधानमंत्री था। पाँच साल बाद संवत् 2002 भाद्र मास की इन्द्रयात्रा से एक दिन पहिले टंक प्रसाद, रामहरि, गोविंदप्रसाद, चूडाप्रसाद खड्गमान और चन्द्रमान डंगेल को छोड़ बाकी सब राजवन्दियों को इस शर्त के साथ छोड़ दिया गया कि वह प्रतिमास पुलिस में हाजिरी देते रहेंगे और विशेष राहदानी (पासपोर्ट) के बिना उपत्यका से बाहर नहीं जायेंगे।

धर्मरत्न के छूटकर आने पर दादी ने ब्याह करने का आग्रह शुरू कर दिया। महीने-भर बाद एक लड़की किसी भोज में आई, उसकी आँखों पर चश्मा लगा हुआ था। ल्हासा के व्यापारी हीराकाजी की लड़की हीरादेवी है—यह भी लोगों ने बतला दिया। उसी से ब्याह करने की बात चल रही थी। धर्मरत्न ने अपनी भावी पत्नी को चिट्ठी लिखकर कह दिया—मेरे जैसे राजनीति में पड़े बे-घरबार के आदमी के साथ रहने में तुम्हें कष्ट ही कष्ट होगा। लिखने ही से संतोष न कर एक दिन दोनों ने खुलकर बात की। हीरादेवी ने कहा—"बुरे आदमी होते, तो तुम राजनीति में क्यों पड़ते ?" हाँ, उस समय नेपाल में राजनीति में पड़ने का अर्थ था जेल, फाँसी और सर्वस्वहरण। बाप तैयार था, लेकिन सौतेली माँ नहीं चाहती थी। एक दिन हीरादेवी घर से भाग आई और दोनों का ब्याह हो गया। लेकिन उनका मधुमास एक महीने का भी नहीं हो पाया। धर्मरत्न अब कलकत्ता पहुँच गए। वहाँ गणेशमान और दूसरे नेपाली क्रांतिकारियों से उनकी भेंट हुई। डेढ़ मास बाद फिर वह नेपाल

लौट आए।

अव राजनीति में फिर गर्मी आने लगी। मनमोहन अधिकारी के नेतृत्व में विराट नगर के मिल-मजदूरों ने जवर्दस्त हड़ताल की। 1947 में अंग्रेज भारत छोड़कर चले गए। इसके लिए हर्ष प्रकट करने के वास्ते नेपाली राष्ट्रीय नेताओं का आदेश था। टोले के लोगों को बुला सलाह कर 15 अगस्त को प्रसिद्ध काष्टमंडप के नीचे गाँधीजी तथा दूसरे नेताओं का चित्र रख हीरादेवी के सभापतित्व में सभा करने का निश्चय हुआ। हीरादेवी उस समय एक छोटा-मोटा स्कूल चला रही थीं। वह अपने पैंतीस वच्चों के साथ जलूस वनाकर सभा-स्थान पर आईं। जलूस में कोई राजनीतिक नारा नहीं लगाया गया, वल्कि उसकी जगह हिन्दू 'हरे राम' और वौद्ध 'तारेमा' का धार्मिक वाक्य उच्चार रहे थे। राणाशाही कर्नल ने धमकाकर सभा को वंद करने के लिए कहा और छह-सात मास की अपनी पुत्री धर्मदेवी के साथ हीरोदवी गिरफ्तार करके जेल भेज दी गईं। उसी दिन उनके पति आदि नौ और आदमी पकड़े गए। काठमांडू की तरह पाटन में भी भारतीय स्वतंत्रता के उपलक्ष में प्रसिद्ध गाँधीवादी तुलसीमेहर अपने 45 साथियों के साथ जलूस निकालने के अपराध में पकड़ लिये गए। इसी तरह उपत्यका के तीसरे नगर भादगाउँ में भी नौ आदमी पकड़े गए। सत्याग्रही वन्दी थे, इसलिए उनके भागने का डर नहीं था। जिस घर में इन लोगों को वन्द किया गया था, उसमें खटमलों और पिस्सुओं की भरमार थी। पानी वरसा तो वह खटिये के नीचे तक भर गया। वहीं दस कदम पर पेशाव और पाखाना पड़ा हुआ था। साथ ही यह हवालात वंदीगृह का ही काम नहीं देती थी, वल्कि भैंस-गाय का काजीहौस (पशुकारा) भी यही था। इसी जगह स्त्रियाँ, पुरुष और वच्चे दस दिन रखे गए। इस वर्ताव के लिए वंदियों को भूख-हड़ताल भी करनी पड़ी।

हीरादेवी और कुछ और आदमी छोड़ दिए गए। वाकी अव भी उसी गन्दी हवालात में वंद थे, जिस पर लोगों ने वेहतर घर में रखने के लिए भूख-हड़ताल की और अधिकारियों को उसे मानना पड़ा। गिल्टी बुखार के कारण धर्मरत्न को अस्पताल में ले जा आपरेशन किया गया, जहाँ वह जान-बूझकर घाव अच्छा न होने दे डेढ़ महीना रहे। इसके वाद सवको जेल में भेज दिया गया। अब की जेलयात्रा में—जो छह मास से अधिक की नहीं थी—उन्हें वौद्ध धर्म के साथ मार्क्सवाद और समाजवाद के भी पढ़ने-सुनने का मौका मिला। तुलसीलाल गिरि नये राजनीतिक विचारों पर भाषण देते थे। इसी छह महीने के कारावास के समय 'जगत ज्योति' नाम से पर्वतिया (नेपाली) भाषा में बुद्ध की एक संक्षिप्त जीवनी लिखी।

फिर वाहर—उस समय नेपाल के राष्ट्रीयतावादी नेताओं में आपस में भारी झगड़ा उठ खड़ा हुआ था, जिसकी जड़ में नेता बनने की धुन काम कर रही थी। कोइराला और रेगमी दोनों अपने को कांग्रेस का मुखिया मानते थे। धर्मरत्न चाहते थे कि दोनों में मेल हो जाये। भारत आने-भर के लिए भी उनके पास पैसा नहीं था, इसलिए पचास रुपये पर अपनी एक बुद्ध-मूर्ति को बन्धक रखा और बनारस चले आए। बहुत कोशिश की, इसी सिलसिले में वह समाजवादी नेता डॉ. राममनोहर लोहिया से मिले। विश्वेश्वरप्रसाद कोइराला से अवकी ही बार उनका प्रथम साक्षात्कार हुआ। गणेशमान, सूर्यवहादुर, धर्मरत्न तीनों ने बातचीत करके इस वात पर जोर दिया कि (1) चुनाव होने ही वाला है, इसलिए तव तक श्री डिल्लीरमण रेगमी का नेतृत्व रहने दिया जाय, (2) अविश्वास का प्रस्ताव करके जवर्दस्ती किसी को हटाना या रखना नहीं चाहिए, (3) भारत में आए नेताओं से यह भी शिकायत की गई कि आप जैसे नेता देश से वाहर चले आए हैं और हमारे सव साथी कैद में हैं। धर्मरत्न असफल हो नेपाल लौटे और राष्ट्रकर्मियों को सारी वात वतलाई। इस पर काठमांडू के लोगों ने निश्चय किया कि हम रेगमी और कोइराला दोनों में से किसी का समर्थन न कर तटस्थ रहेंगे। एक बार फिर कलकत्ता जाकर धर्मरत्न को असफल ही लौटना पड़ा। इस पर अव 'नेपाल लोकतांत्रिक दल' के नाम से एक नया दल कायम किया गया, जिसके अज्ञात संचालक और पोषक धिराज, सुवर्णशम्शेर और महावीरशम्शेर थे, और ज्ञात नेता थे सूर्यप्रसाद उपाध्याय, महेंद्रविक्रम शाह और प्रेमवहादुर कंसाकार। कोइराला और रेगमी दोनों दल विरोधी था। धनी संरक्षकों के दल में काम करनेवालों के ऊपर रुपया लेने का आक्षेप होना स्वाभाविक है। नेपाल में इन लोगों ने यह निश्चय किया कि पद्मशम्शेर ने जो सुधार-विधान तैयार किया है, उसको ही लेकर काम को

आगे बढ़ाया जाय। साथ ही यह भी सुझाव रखा गया कि दल का केन्द्र नेपाल में रहे, बाहर केवल प्रचार-विभाग काम करे।

इसी सिलसिले में ग्यारह आदमियों को मिलाकर 'नेपाल प्रजा पंचायत' का भी संगठन किया गया, और ऊपर-ऊपर से शासकों के प्रति भक्ति दिखलाते हुए यह प्रचार किया जाने लगा कि बाप (राणा प्रधानमंत्री) का दिया हक बेटे को मिलना चाहिए। दो सप्ताह के भीतर ही काठमांडू में पंचायत के 15 सौ, पाटन में 4 सौ और भादगाउँ में 7 सौ सदस्य हो गए। यह भी निश्चय किया गया कि पद्म-संविधान को यदि मोहनशम्शेर ठुकरा दें, तो सत्याग्रह किया जायगा। राणा धोखे में आनेवाले थोड़े ही थे। उन्होंने सभाबंदी के लिए पुर्जी निकाल दी। पंचायतवालों ने कहा—राणाओं ने अपने थूके को अपने ही चाटा, हुकुम के विधान के सामने उनकी पुर्जी अवैधानिक है। पंचायत के तीन प्रतिनिधियों ने सिंह-दरबार में जाकर जब पुर्जी की अवैधानिकता के बारे में कहा, तो हजुरिया जर्नल ने उत्तर दिया—"वही पुर्जी विधान है।"

अब उपत्यका के नगरों में फिर गर्मी पैदा हो गई थी। व्याख्यान और सभा करना बन्द था। ऐसी ही एक सभा में हीरादेवी ने व्याख्याता को माला पहिनाई, जिस पर पुलिसवाले नाम लिख ले गए। विश्वेश्वर ग्रुप इसके खिलाफ था, रेगमी और लोकतांत्रिक दल इसके समर्थक थे। पंचायतवालों ने कहा : यदि तीनों पार्टियाँ मिल जायँ, तो हम भी अपनी पंचायत को उसमें मिला देंगे। सत्याग्रहियों की सूची बनाई जाने लगी, जिसमें तुरंत ही छह-सात सौ आदमियों ने अपना नाम लिखा दिया। त्रिपुरवर भी सत्याग्रह के पक्षपाती थे, लेकिन उनके नेता विश्वेश्वरप्रसाद कोइराला के सत्याग्रह के विरोध करने के कारण यह डर हो गया था कि शायद त्रिपुरवर आगे नहीं बढ़ेंगे। इस पर धर्मरत्न स्वयं पहिले जाने के लिए तैयार हो गए। तीनों नगरों में सत्याग्रह शुरू हो गया, और महीने-डेढ़ महीने के भीतर तीन सौ बन्दी जेलों में पहुँच गए। उस समय विश्वेश्वरप्रसाद कोइराला अन्तर्धान थे और अपनी असावधानी के कारण त्रिरत्न तुलाधार के घर में पकड़ लिये गए।

राणा-पुलिस अब पूरी तौर से पशुता पर उतर आई थी। वह सत्याग्रहियों के घर की हरेक चीज को तोड़-फोड़कर बरबाद करती। बेटी-बहुओं की इज्जत बरबाद करने की जब नौबत आ रही हो, तो फिर सत्याग्रहियों को कौन अपने घर में शरण देने के लिए तैयार होता ? राष्ट्रकर्मी मारे-मारे फिर रहे थे, लेकिन धर्मरत्न ज्यापू (नेवार किसान) का भेष बदले जगह-जगह घूमकर प्रचार कर रहे थे। उनकी पत्नी हीरादेवी भी सत्याग्रह के संगठन में जुटी हुई थीं। जिस दिन उनको लड़का हुआ, उसी दिन वारंट आया। बच्चा पैदा होते समय दो सौ सिपाही पाँच-छह दिन तक उनका घर घेरे रहे। पंद्रह दिन के बच्चे का मुँह देख हीरादेवी के हाथ में पंद्रह रुपया थमा चार आदमियों के साथ धर्मरत्न उपत्यका से निकल पड़े और राणाशाही के आदमियों से आँख बचाते चौथी रात को 1 बजे भारत की सीमा के भीतर आदापुर स्टेशन (चम्पारन) पहुँचे। उधर उसी पंद्रहवें दिन हीरादेवी एक महीने के अपने बच्चे को गोद में लिये जेल चली गई।

सत्याग्रह से जनता की शक्ति का पता तो लग गया, लेकिन यह भी साफ मालूम होता था कि जब तक सभी दल एक होकर कोशिश नहीं करते, तब तक राणाशाही को दबाया नहीं जा सकता। फिर मेल-मिलाप के लिए जोर-शोर से कोशिश होने लगी। पटना में सभी दलों के आठ प्रतिनिधियों की बैठक हुई। बड़े भाई मातृकाप्रसाद कोइराला मेल के विरोधी थे। इस पर लोकतांत्रिक कांग्रेस के प्रतिनिधि सूर्यप्रसाद ने रेगमी और पंचायत के मिलाने की बात कही। लेकिन फिर नेताओं में पद के लिए झगड़ा हो गया। रेगमी से बनारस में जाकर धर्मरत्न ने बातचीत की। रंगा की तरह का उनका कुछ थोड़े-से आदमियों का अपना एक दल था। उधर विश्वेश्वर प्रसाद कोइराला की पीठ पर भारतीय सोशलिस्ट नेता थे। राष्ट्रीयकर्मियों पर इस वक्त बड़ी बुरी घड़ी बीत रही थी। खाने का ठिकाना नहीं था और कुछ तो कहते—इस जीवन से तो भद्रगोल जेल ही अच्छा था।

भारत में रहने का कोई फायदा न देख धर्मरत्न नेपाल लौट आए। तब तक हीरादेवी जेल से छूट आई थीं। उन्हें हर पाँचवें दिन पुलिस में हाजिरी देने की हिदायत थी। नेपाल लौटकर धर्मरत्न उत्तर के सीमांती इलाके श्यबरू में डेढ़ महीने तक लड़कों को पढ़ाते रहे। लेकिन जहाँ-तहाँ फिरने से काम कहाँ चलनेवाला

था ? अच्छे-अच्छे कार्यकर्ता चार सौ की संख्या में जेल में पड़े हुए थे। धर्मरत्न ने उनको चिट्ठी लिखकर देश की अवस्था बतलाई और कहा, "नेता लोग आपस में लड़ रहे हैं, पार्टियाँ निष्क्रिय हैं, तो भी भारत की सहानुभूति हमारे साथ है। जनता के उत्साह को मरने देना हमारे लिए अच्छा नहीं होगा। राणाशाही अपनी बदनामी के डर से छोड़ने का इच्छुक है, तुम्हें भी छोटी-मोटी शर्त पर जेल से बाहर निकल आना चाहिए। कम्युनिस्ट चीन तिब्बत पर दावा कर रहा है। बाहर आकर काम करने का यह अच्छा मौका है।" धर्मरत्न ने चिट्ठी टंकप्रसाद के पास भेजी थी, लेकिन उन्होंने उस चिट्ठी को किसी को दिखलाया भी नहीं। लोग तो किसी शर्त पर भी निकल आने के लिए तैयार थे और बहुतों ने माफी माँग भी ली।

सत्याग्रह चाहे और तरह से सफल न रहा हो, लेकिन उसके कारण अब जनता के हृदय से कानून और जेल का डर बहुत कुछ हट गया था। 1949 के अक्तूबर-नवम्बर में धर्मरत्न भी अब अन्तर्धान से बाहर निकलकर घूमने लगे। फिर पुलिस ने पकड़कर थाने की हवालात में रख दिया। हीरादेवी की आर्थिक अवस्था बड़ी बुरी थी, लेकिन तब भी इधर-उधर से चावल लेकर भात पका पति के पास भेजती। तीन महीने हवालात में रखने के बाद धर्मरत्न को सिंह-दरबार में भेजा गया। इस समय विश्वेश्वर-ग्रुप का सत्याग्रह चल रहा था। गिरफ्तार बन्दी 'राणाशाही मुर्दाबाद' का नारा लगाते पुलिस के हिरासत में जब निकले, तो लोगों में बिजली-सी दौड़ गई, वह भारी संख्या में जमा हो गए। धर्मरत्न को भद्रगोल जेल में ले जाकर रख दिया गया। यहीं पर उन्होंने नेवार भाषा में 'संदेयलिस' (तिब्बत देश का उत्तर) नामक खंडकाव्य लिखा। तीन महीने वहाँ, फिर नखू के जेल में, नौ महीना रह राणाशाही के खतम होने के बाद उन्हें मुक्ति मिली।

बाहर आकर धर्मरत्न ने देखा कि चारों तरफ चार-तारावाले कांग्रेसी झंडे का जोर है। जहाँ पहिले लोग घर-घर में राणा तानाशाह की तस्वीरें टाँगने में होड़ लगाये हुए थे, अब वह चार-तारा झंडा टाँगने में उसी तरह होड़ लगा रहे थे। लेकिन नेताओं में इस वक्त भी फूट का राज था। धर्मरत्न जेल से निकलते ही अब धुआँधार भाषण दे रहे थे और उधर घर में चूहे डंड पेल रहे थे। कांग्रेस का गंगा-जमुनी मंत्रिमंडल बन चुका था, लेकिन मंत्रियों की चाल-ढाल को देखकर लोगों में असंतोष पैदा होने लगा था। धर्मरत्न के घर की हालत को किसी तरह धिराज ने जान लिया और उन्होंने उनकी पत्नी के पास कुछ सहायता भेज दी। तरुण कोइराला अधिकारारूढ़ थे। वह बड़े टाटबाट से राजधानी में निकलते। रेगमी को मोहनशमशेर का कृपापात्र कहकर बदनाम किया जाता था, उन्हें लोग बोलने तक का अवसर नहीं देते थे। इसी समय धर्मरत्न ने साहस करके अपने सभापतित्त्व में रेगमी का भाषण कराया। सानु-टुंडी खेल में 2 बजे के समय रेगमी की राष्ट्रीय कांग्रेस की यह खुली सभा हुई। रेगमी के भाषण में किसी ने कोई आपत्ति नहीं की। धर्मरत्न के व्याख्यान में बात-बात पर ताली पिट रही थी। धर्मरत्न की वाणी का चमत्कार आज राजधानी की जनता को देखने में आया और चारों ओर उसी की चर्चा सुनाई देने लगी। आखिर नेवारप्रधान नेपाल-उपत्यका में धर्मरत्न जैसा जादू का असर रखनेवाला वक्ता भी तो नहीं था। सभी राजनीतिक संस्थाएँ अपनी सभाओं में भाषण देने के लिए निमंत्रित करने लगीं और चाहने लगीं कि वह उनके सदस्य हो जायें, लेकिन, धर्मरत्न यमी—अब इसी नाम से वह प्रसिद्ध थे—भिन्न-भिन्न दलों के दलदलों के तजर्बे से ऊब गए थे, और उनमें शामिल होने के लिए तैयार नहीं थे।

1951 में नेहरू नेपाल में आनेवाले थे। सभी दल उनके स्वागत के लिए होड़ लगाए हुए थे, लेकिन नेपाल की जनता नई सरकार के शासन में अभाव ही अभाव देखकर असंतुष्ट हो चुकी थी, जिससे कोई भी लाभ उठा सकता था। यह तो निश्चय ही है कि दिल्ली के सम्बन्ध के कारण सरकार का खर्च कई गुना बढ़ गया—पहिले राणा तानाशाह खजाने पर हाथ साफ करता था; अब वही काम नौकरशाही कर रही थी। चारों तरफ भाई-भतीजे-भांजों की भरमार और भ्रष्टाचार का अखंड राज्य था। वामपक्षी लोगों ने नेहरू को काला झंडा दिखलाने की तैयारी शुरू की। किसान-संघ से धर्मरत्न का घनिष्ठ सम्बन्ध था। वह भी काले झंडे में शामिल होना चाहता था। धिराज ने धर्मरत्न को बुलाकर कहा कि अपने अतिथि के लिए ऐसा करना ठीक नहीं होगा। धर्मरत्न ने एक बार संघ में निश्चय करा लिया कि काला झंडा नहीं दिखायेंगे, लेकिन रात को निश्चय बदल दिया गया। काला झंडा दिखलाया गया। सरकारी गोलियों से चिनिया काजी तरुण ने प्राण गँवाये। एक ओर

गृहमंत्री विश्वेश्वरप्रसाद कोइराला जनता के कोपभाजन हुए, तो दूसरी ओर गंगा-जमुनी मंत्रिमंडल में राणाओं का रहना मुश्किल हो गया। धर्मरत्न ने मोहनशम्शेर से मिलकर कहा—यदि आप अपनी पद-मर्यादा को बनाये रखना चाहते हैं और राणाओं को भी, तो राणा लोगों का जितना धन विदेशी बैंकों में लगा हुआ है, उसे देश में मँगाकर सूद पर लगा दीजिए, इससे देश की औद्योगिक उन्नति बड़ी तेजी से होगी और राणाओं के प्रति पुराना भाव लोगों का कम होगा। मोहनशम्शेर देश से सदा निर्वासित होने के लिए बाध्य हो रहे थे। उन्होंने यमी की बात को बड़े ध्यान से सुना और कहा—"सुझाव तो अच्छा है। मैं और लोगों से पूछकर सात दिन बाद जवाब दूँगा।" लेकिन अपने लूट के विदेशी बंक में सुरक्षित जमा पचासों करोड़ रुपयों को राणा लोग नेपाल क्यों लौटाने लगे ?

गंगा-जमुनी मंत्रिमंडल तोड़ दिया गया। बड़े भाई मातृका प्रसाद कोइराला ने प्रधानमंत्री का पद सँभाला। अब सारे मंत्री कांग्रेस के थे। इसी समय धिराज के कहने पर धर्मरत्न भी 'माननीय धर्मरत्न यमी' के नाम से मंत्रिमंडल में उपमंत्री बने, और नौ महीना बाद मातृका-मंत्रिमंडल के भंग होने पर वह 'भूतपूर्व मंत्री' बन गए।

धर्मरत्न यमी तरुणाई में प्रायः अशिक्षित-से थे। गरीबी के जीवन से वह बचपन ही से अभ्यस्त थे, लेकिन उनकी जाति (उदास नेवार) दब्बू-बनिया कही जाती थी। इतनी प्रतिकूल परिस्थिति में भी वह किस तरह सुशिक्षित सुसंस्कृत होकर संघर्षों के भीतर आगे बढ़े, यह उनके इस जीवन से मालूम होगा।

एक साहसी शिकारी

ईस्ट इंडिया कम्पनी की व्यापारिक और राजकाजी सफलताओं की ख्याति सुनकर कितने ही साहसी अंग्रेज तरुण भारत में भाग्य-परीक्षा के लिए आने लगे। इनमें अच्छे-बुरे सभी तरह के आदमी थे। कितने ही अपने जीवन में सफल रहे और कितने ही असफल। भले साहसी अंग्रेजों को हम भुला नहीं सकते। ऐसे ही एक पुरुष थे—फ्रेड्रिक विलसन।

विलसन का जन्म इंग्लैंड के यार्कशायर जिले के वेकफील्ड स्थान या इलाके में हुआ था। वह एक साधारण पर खाते-पीते परिवार में 1810 ई. के आस-पास पैदा हुए। उस वक्त के इंग्लैंड में अभी पढ़ने-लिखने का बहुत चलन नहीं था, पर बालक फ्रेड्रिक ने कामचलाऊ पढ़ाई कर ली थी। इंग्लैंड के वायुमण्डल में साहसी पुरुषों की कहानियाँ भरी पड़ी थीं। फ्रेड्रिक 20 साल से ऊपर का होने लगा, उस समय उसके दिल में ख्याल आया : 'सैर कर दुनिया की गाफिल !' और वह भारत की ओर चलने के लिए तैयार हो गया। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इससे साठ साल पहले ही प्लासी का युद्ध जीत भारत में अपने राज्य की दृढ़ नींव रख ली थी। कुछ ही सालों पहिले उसने नेपाल को हराकर कुमाउँ, गढ़वाल ही नहीं, सतलुज तक का हिमालय अपने हाथ में कर लिया था। पेशवा की ताकत भी टूट चुकी थी। इतने बड़े देश पर अपना शासन कायम रखने के लिए गोरी सेना की आवश्यकता थी, जिसमें भर्ती होकर हर साल हजारों अंग्रेज तरुण, कम्पनी के खर्च पर भारत आते थे। फ्रेड्रिक को कम्पनी की सेना में भर्ती होने में कठिनाई न हुई। यदि अच्छी जगहों में सम्बन्ध होता तो इसमें शक नहीं, उस लिखे-पढ़े तरुण को कोई और अच्छा काम मिलता, पर तब वह 'पहाड़ी' या 'शिकारी' विलसन नहीं बन सकता था, और न वह काम कर सकता था, जिसके कारण स्वतंत्र भारत में भी हमें उसकी स्मृति जीवित रखनी है।

ठीक सन् और समय का पता न लगने से हमें समय के बारे में अन्दाज से ही काम लेना पड़ेगा। विलसन 1830 के आस-पास कम्पनी की सेना में भर्ती होकर भारत (कलकत्ता) आया। मालूम नहीं, विलसन की पलटन का हेडक्वार्टर कहाँ था। शायद वह उत्तर प्रदेश—उस समय के सूबा आगरा में था। लखनऊ में अब भी नवाबी मौजूद थी, जिस पर अंकुश रखने के लिए अंग्रेजों ने कानपुर में अपनी एक अच्छी छावनी रखी थी। 1815

ई. में ही मध्य और पश्चिमी हिमालय अंग्रेजों के हाथ में आ गया था और हिमालय की ठंडक के लोभी अंग्रेज निजी तौर से जहाँ-तहाँ झोंपड़ बनाकर 5-6 हजार फुट की ऊँचाइयों पर गरमी विताने लगे थे। 1830 के आस-पास कम्पनी सरकार ने मसूरी के लंढौर (7000 फुट) स्थान में सैनिक डिपो कायम कर दिया, जहाँ बीमार सैनिक स्वास्थ्य-लाभ के लिए भेजे जाने लगे। विलसन भी वीमार पड़े और उन्हें लंढौर के डिपो में भेज दिया गया।

लंढौर के लालटिब्वे से नेपाल के सीमान्त से कुल्लू तक फैला सनातन हिमाच्छादित हिमालय अपनी अपूर्व छटा के साथ दिखाई देता है। विलसन ने उस नयनाभिराम दृश्य को देखा और उनके हृदय पर हिमालय का जादू चल गया। स्वस्थ होने पर शायद कम्पनी की चाकरी छोड़कर या और किसी तरह से, उन्होंने हिमालय का अवगाहन किया। उस समय हिमालय आज से कहीं अधिक वनों से आच्छादित था। उनमें आज से भी अधिक शिकार थे। अभी अंग्रेजों में साहिवी की वू थोड़ी ही थोड़ी प्रविष्ट होने लगी थी। विलसन जैसे साहसी घुमक्कड़ में वह कभी भी घुस नहीं सकती थी। वन्दूकों में अभी कारतूस नहीं इस्तेमाल होते थे। उनमें गज से गोली-वारूद ठूँसी जाती थी। विलसन ने किसी तरह बन्दूक का जोगाड़ किया। उनका यह स्वच्छन्द शिकारी जीवन वहुत दिनों तक नहीं चला। विलसन को स्वेच्छा या अन्य किसी कारण से स्वदेश लौट जाना पड़ा।

पर एक वार जिस आदमी को घुमक्कड़ी का चसका लग गया और हिमालय ने जिसे मोहित कर लिया, वह कैसे इंग्लैंड या और किसी जगह के साधारण जीवन को स्वीकार कर सकता है ? विलसन के पास जहाज का किराया देने के लिए रुपया नहीं था। जहाज भी अभी सारे अफ्रीका की परिक्रमा करके आते थे। पर, दृढ़संकल्प आदमी के लिए कोई वात कठिन नहीं, विशेषकर जवकि वह शरीर से कठिन मशक्कत करने के लिए तैयार है। जहाज में विलसन को कोई छोटा-मोटा काम मिल गया और वह फिर एक दिन कलकत्ता में आ उतरे।

पर, उन्हें अभी अपने प्रिय हिमालय में पहुँचना था। वह वहीं जाना चाहते थे, जिससे पिछली बार कुछ परिचित हो चुके थे। विलसन पैदल ही चल पड़े और शायद अपनी आवश्यक चीजें पीठ पर लादे। यह 1840 ई. का समय था। उनके मित्र कर्नल (पीछे जेनरल) मर्खम के अनुसार–"वह 900 मील पैदल चलकर 30 दिन में मेरठ पहुँचे। पर उनका लक्ष्य मेरठ नहीं, हिमालय था। वहाँ से पहाड़ में पहुँचना आसान था, जहाँ वह पिछले सात वर्षों से रह रहे थे। वह एक पूरे शिकारी हैं। कद मझोला और हल्का, कर्मठ और मेहनती, कभी न थकनेवाला, हँसी-मजाक न छोड़नेवाला, पैदल चलने में जवर्दस्त (पुरुष) है, जो एक बार किसी काम को हाथ में ले लेने पर कभी उससे मुँह नहीं मोड़ सकता। वह मेरे लिए अत्यन्त अनमोल सहयात्री रहा और वड़ा ही प्रिय मित्र बन गया।" यह पंक्तियाँ कर्नल मर्खम ने 1847 ई. के करीब लिखी थीं। उनकी सुन्दर पुस्तक 'शूटिंग इन दि हिमालयाज़' लंदन में 1854 में छपी।

विलसन मेरठ से मसूरी पहुँचे, फिर हिमालय के गर्भ में घुस गए। जंगल का शिकारी जीवन उन्हें बहुत प्रिय था। गंगोत्री के पास की रमणीय भूमि उन्हें अत्यन्त प्रिय लगी। आज भी भैरवघाटी के पास की देवदारवनी हिमालय के सर्वसुन्दर स्थानों में है। विलसन जंगलों के वासी थे, पर वह जंगली अवस्था में रहकर न अपने आप सुखी रह सकते थे, न अपने साथियों को प्रसन्न रख सकते थे। इसलिए शिकार से कुछ रुपया पैदा करना भी उनके लिए आवश्यक था। हिमालय के सुन्दरतम पक्षी मोनाल के चमड़े और परों की उस समय बड़ी माँग थी, ठार और दूसरे वन्य जन्तुओं की सींगों, छालों के अतिरिक्त कस्तूरी की भी काफी माँग थी। लन्दन की मकेवेल स्ट्रीट की एक कम्पनी से उनका सम्वन्ध हो गया और वह उसके पास उक्त चीजें भेजा करते। इसके अलावा मसूरी में आनेवाले अंग्रेज भी उनसे इन चीजों को खरीदा करते थे। आरम्भिक अवस्था में विलसन को कितनी आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, यह उनके पुत्र चार्ली विलसन की निम्न पंक्तियों से मालूम होगा : "वह सारा शिकार नली से भरी जानेवाली बंदूक से करते थे, जिसे उन्होंने कलकत्ता से आते वक्त चन्द रुपयों में खरीदा था। दुनाली की एक नली फट गई, तो भी उसे वह छोड़ नहीं सके। कुछ सालों बाद जब पैसा पास आ गया, तो वेस्टली रिचार्ड की गज से बारूद भरी जानेवाली दुनाली को पाकर बड़े प्रसन्न हुए। इस दुनाली से वह कनौर, तिब्बत, लदाख, काश्मीर आदि में शिकार करते फिरे।"

उस समय अभी पहाड़ में वंदूक का रिवाज नहीं था। न पहाड़ी लोग उसके इस्तेमाल को जानते थे। वह या तो जाल से जानवरों को फँसाते थे या तीर-धनुष का इस्तेमाल करते थे।

कर्नल मर्खम को विलसन ने अपनी जीवनचर्या के बारे में सुनाया था :

"1845-46 के शरद् के महीनों में अपने शिकारवाले उच्च स्थानों को छोड़कर, जैसा कि आमतौर से मैं किया करता था, विचले पहाड़ों में उतर आया। समीपतम गाँव से एक मील दूर वैलों की बथान के पास एक समतल-सी जगह में मैंने अपना वासा वनाया। उस स्थान को हिमालय का सानु कह सकते हैं, क्योंकि वह पहाड़ लगातार गंगोत्री और केदारनाथ के बीच की महान् श्रेणियों तक चला गया था। वहाँ से जंगलों के परे घासवाली ढलानें (वुक्याल) काफी दूर एक दिन के रास्ते पर थीं। वहीं मैंने अपना वासा बनाया था। वहाँ अपने और अपने आदमियों के रहने के लिए दो-तीन झोंपड़े बनाए और तुरन्त झोंपड़ियों को ठीक-ठाक करने में हम व्यस्त हो गए। हम कभी पहाड़ के ऊपर शिकार करने जाते, और कभी तीन-चार दिन के लिए दूर के स्थानों में निकल जाते। सब मिलाकर मैं वहुत सफल रहा और जाड़ों के समाप्त होने तक तैयार चमड़ों के लिए अलग बनाई गई झोंपड़ी करीव-करीव भर गई। वहाँ एक अच्छी प्रदर्शनी लग गई। 500 से अधिक तो चिड़ियाँ थीं : मुख्यतः चकोर, तीतर, बटेर। दूसरी चिड़ियाँ थीं : वाज, शिकरा, उल्लू। मोनाल जैसे सबसे सुन्दर पक्षी लम्बे डण्डों पर पंक्ति से सजाये रक्खे थे। उससे कम से कम दुगनी चिड़ियाँ बेकार थीं, भुस भरने के अयोग्य समझी जाकर गाँववालों को दे दी गई थीं या पर-सहित चूल्हे में भूनकर खा ली गई थीं। बहुत-से भालू मारे थे, जिनसे दो सौ वोतल से अधिक चरबी मिली थी। कुछ कोड़ी हरिनों ने भी प्राण गँवाये थे। यह नहीं समझना चाहिए कि यह सारा काण्ड अकेले मैंने किया था। हाँ, मैं ईमानदारी से स्वीकार करता हूँ कि इसमें अधिक भाग मेरा था। मेरे पास एक शिकारी (नौकर) था और कितने ही (दूसरे) आदमी भी सारे जाड़े जाल बिछाते डोले थे।"

इससे मालूम होगा कि हिमालय में पहुँचने के 5-6 वर्ष बाद ही विलसन एक अच्छे सफल शिकारी हो गए थे। उनके जैसे आदमी के लिए पैसे का भारी लोभ नहीं हो सकता था, यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि वह पैसे के मूल्य को नहीं समझते थे या उसकी उन्हें जरूरत नहीं थी। काम लेने के अतिरिक्त उन्होंने बहुत उदार हृदय पाया था, और जिन पहाड़ी लोगों में रहते थे, उनसे उनकी बड़ी आत्मीयता थी। इसी आत्मीयता का यह फल था कि नेलंग के तातार (भोटिया) विलसन और उनके साथ जो भी हो, उसे अपने देश में आने देते थे।

यद्यपि जिस भूमि (ऊपरी भागीरथी) में विलसन अधिकतर रहते थे, वह टिहरी राजा के राज्य में थी, पर विलसन वहाँ के बेताज के राजा थे। यद्यपि अंग्रेजों के प्रताप ने भी विलसन के दबदबे को बढ़ाने में सहायता की थी, पर उससे भी अधिक उनका अपना सौजन्य और उदारता इसमें कारण थे। अपनी सेवा में मर गए किसी आदमी की विधवा को कर्नल मर्खम कुछ रुपया भेजना चाहता था, पर वह जानता था कि उस रुपये को वीच ही में रियासती अफसर हड़प जायेंगे। इसलिए उसने विधवा के पास संदेश भेजा था—"अगर वह वैसा करना चाहें, तो विलसन के पास जाना, जिसका नाम विधवा की रक्षा के लिए पर्याप्त है। वह अक्सर जनता के हित के लिए राजा से कहता, और बूढ़ा राजा हमेशा उसकी सलाह मानता है।"

'दि समर रेम्वल्स इन् दि हिमालयाज़' (लन्दन में हेवेट और ब्लेकेट द्वारा 1860 में प्रकाशित) में (पृष्ठ 61-62) लिखा है : "पाश्चात्य जगत् में हमारे सैकड़ों भाई··· पेशे के तौर पर शिकारी जीवन बिताते हैं। पर पूरब में, मैं समझता हूँ, विलसन ने, और एकमात्र विलसन ने ही इस तरह का प्रयत्न किया। वह कहता है, चाहे यह (व्यवसाय) वहुत पैसा लानेवाला न हो, पर उच्चतर हिमालय के ठण्डे और स्फूर्तिदायक जलवायु में यह व्यवसाय प्रेरक और स्वास्थ्यवर्धक है···(विलसन के लिए) कस्तूरी मुख्य अवलम्ब है, पर वह अक्सर चिड़ियों, छालों और भिन्न-भिन्न प्रकार के जानवरों के सींगों को इकट्ठा कर उनमें से कुछ को मसूरी और कुछ को इंग्लैंड भेजता है। (पृष्ठ 61-62)---उसके पास शायद ही कभी दो या तीन से अधिक आदमी होते हैं।"

यह उल्लेखनीय बात है कि इस पुस्तक के हस्तलेख को लेखक ने विलसन के पास छोड़ दिया था, जिसे

पुस्तक के रूप में ठीक-ठाक करके विलसन ने प्रकाशक के पास भेज दिया। इसमें लिखी बातें विलसन की असहमत नहीं हो सकतीं। विलसन अपने को पहाड़ी कहा करते थे, दूसरे अंग्रेज भी कुछ हिन्दी का ज्ञान रखने पर उन्हें पहाड़ी विलसन कहा करते थे। इन पंक्तियों के लेखक ने एक वृद्ध एंग्लोइंडियन के मुँह से हाल में उन्हें पहाड़ी विलसन के नाम से स्मरण करते सुना। विलसन ने हिमालय के पशु-पंछियों के बारे में 'कलकत्ता स्पोर्टिंग रिव्यु' में कितने ही लेख 'मौन्टेनियर' के नाम से लिखे थे। यही पहाड़ी का अंग्रेजी पर्याय उनका लेखी-नाम हो गया था, यद्यपि उन्होंने लिखा बहुत कम है। 'समर रेम्बल्स' के प्रकाशक ने उसकी भूमिका में मौन्टेनियर के बारे में लिखा है : "यह पुस्तक विना लेखक के नाम के प्रकाशित की गई है और सम्पादक का नाम भी उसके लेखनी-नाम 'पहाड़ी' (मौन्टेनियर) से। मूल हस्तलेख लेखक के अ-सिजिल नोटों का था, जिन्हें उसने सम्पादक के सुपुर्द कर दिया था, जिसने उसे परस्पर सम्बद्ध वर्णन के रूप में परिणत कर दिया। मौन्टेनियर का नाम पिछले बीस वर्षों से हमारे हिन्दुस्तान के शिकारियों के लिए परिचित है, वह मसूरी के मिस्टर विलसन का ही नाम है। वह हमारे इस लेखक की घुमक्कड़ियों में उसके घनिष्ठ साथी रहे। 'पहाड़ी' में केवल उतने ही गुण नहीं हैं, जो कि शिकार की सफलता के लिए आवश्यक हैं, बल्कि वह शिकारी से भी अधिक हैं। उसे प्राकृतिक इतिहास से शौक है, वह प्राकृतिक सौन्दर्य का प्रेमी है, अपने सैर-सपट्टों में जिन लोगों के सम्पर्क में आता है, उनके स्वभाव और रीति-रिवाज के जानने की उत्कट इच्छा रखता है। उसके सभी लेखों में वर्णन का कौशल देखा जाता है। मैं इतना और कह देना चाहता हूँ, कि 'समर रेम्बुल्स' को मिस्टर विलसन ने मेरे हाथों में प्रकाशनार्थ दिया। मैं खुशी से इस अवसर का उपयोग करते इस पुस्तक को जनता को अर्पित करता हूँ, और मुझे विश्वास है कि यह किसी एक पृष्ठ में भी नीरस नहीं मालूम होगी, बल्कि बहुतों में बहुत दिलचस्प लगेगी।"

–(जेम्स ह्यूम, रिफर्म क्लब, पालमाल, जून 1860)

पहिले अपनी शिकार की व्यस्तताओं के कारण, पीछे जंगल की ठेकेदारी ने विलसन को अपनी अन्य योग्यताओं से काम नहीं लेने दिया। विलसन से रियासत के अत्याचारी अफसर थर-थर काँपते थे। 'रेम्बल्स' में ही एक घटना का जिक्र है–

रियासती अफसर गाँववालों को पकड़कर मनमानी बेगार लेते थे। एक अफसर को कहा गया कि विना सूचित किए विलसन के आदमी को न पकड़ना। विलसन का आदमी बनकर गाँववालों को बचते देखकर अफसर को बहुत क्रोध आया। एक समय विलसन ने एक आदमी को चिट्ठी देकर मसूरी भेजा। अफसर ने उसे पकड़कर दो दिन हवालात में रखा। आदमी ने कुछ रुपये जुर्माने के तौर पर देकर छुट्टी पाई। इसकी खबर विलसन को लगी। वह राजा से कहकर उस आदमी को सजा दिलवा सकता था। लेकिन वह स्वयं अपने आदमियों के साथ उक्त अफसर के पास पहुँचा। अफसर उस समय कचहरी कर रहा था। विलसन ने हुक्म दिया। चार आदमियों ने पकड़कर अफसर को जमीन पर लिटा दिया और विलसन कपासी (हेज़ेल) की छड़ियों को एक के बाद एक तब तक तोड़ता रहा, जब तक कि उसका हाथ दुखने नहीं लगा। राजा को जब खबर लगी, तो उसने भी कहा–अफसर अत्याचारी था, वह ऐसी सजा का मुस्तहक था।

विलसन केवल अपना ही लाभ नहीं देखते थे, बल्कि उत्तरकाशी और गंगोत्री इलाके के लोगों की भलाई का उन्हें बहुत ख्याल था। इसी विचार से उन्होंने इस इलाके में पहिले-पहिल आलू का प्रचार किया। उस समय कितने ही लोग विशेषकर धार्मिक प्रवृत्ति के आदमी इस खाद्य को बड़ी शंका की दृष्टि से देखते थे। हमें मालूम ही है, इस शताब्दी के आरम्भ तक हमारे कितने ही धर्मभीरु भाई आलू को प्याज की ही तरह अ-खाद्य मानते थे। पर विलसन के सम्पर्क में रहनेवाले उन पर पूरा विश्वास रखते थे। आज पहाड़ अपने आलुओं के लिए सर्वत्र मशहूर है।

'रेम्बल्स' का लेखक विलसन के सम्बन्ध में लिखता है : "मैं एक महीने से अधिक विलसन के साथ रहा और यह बड़ा ही सुखद समय रहा। दिन में सदा ही कोई न कोई उत्तेजनाजनक घटना घटती। रात के समय आग तापते बहुत रात बीते तक बड़ी ही दिलचस्प बातें होतीं। सीधे-सादे पहाड़ियों की अपने अनुपम और एकान्त जीवन की आपबीतियाँ सुनाते, शिकार की साहस यात्राओं, गाँव के पँवाड़ों के बारे में कहते वह

घण्टों बिता देते। यूरोपीय और 'भारतीय राजनीति की बातें करने में भी उनको बड़ा मजा आता, जो बतलाता था कि जिस दुनिया को वह सदा के लिए छोड़-से चुके हैं, उसमें अब भी उनकी दिलचस्पी है।”

विलसन को शिकार और हिमालय की अनुपम सुन्दर भूमि में रहने का ही सबसे अधिक आकर्षण था और उसी के लिए उन्होंने अपने देश और सांस्कृतिक जीवन के सारे सुखों पर तरुणाई में लात मारी। पर जिस वन में वह रहते थे, वहाँ भी आदमी उनके पास रहते थे, जिनके दुःख-सुख से वह प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते थे। इसी के लिए उन्होंने आलू का प्रचार किया। गंगोत्री से 13-14 मील नीचे उसी रास्ते पर उन्होंने हरसिल में अपनी झोंपड़ी बनाई थी। वहाँ उन्होंने सेब और ठण्डे मुल्कों के दूसरे मेवे लगाये। आज भी हरसिल के ये सेब अपने स्वाद और मिठास के लिए मशहूर हैं। उन्होंने चाहा था कि पहाड़ी लोग सेब और दूसरे मेवों की बागवानी करके मालामाल हो जायें, पर नीचे तक पहुँचने में यह फल बाजार से अधिक महँगे हो जाते, इसलिए वहाँ उनकी माँग नहीं थी। स्वयं लोग मेवों को तब ही खा सकते थे, जबकि उनका जीवन-स्तर बहुत ऊँचा हो। विलसन ने उससे पौन शताब्दी पहिले फलों के प्रचार का उद्योग किया, जब अमेरिका से ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए आए पादरी स्टोक ने कोटगढ़ में यह काम शुरू किया। सत्यानन्द स्टोक जनसेवा की धुन में जनसमुद्र में बिल्कुल मिल गए और कोटगढ़ को उन्होंने एक समृद्ध सेबों के उद्यान में बदल दिया। समय और परिस्थिति की प्रतिकूलता के कारण विलसन सेबों को नहीं फैला सके। हिमालय की प्रकृति का निरीक्षण करते उनका ध्यान एक और तरफ गया, जिसका संकेत 'रेम्बल्स' में उन्होंने किया है–

“अपनी धारा के ऊपरी भाग में नदी (भागीरथी) की अँगनाई विशाल चट्टानों से भरी है, जिसके कारण धार के द्वारा नीचे की ओर लकड़ी बहाना बिल्कुल सम्भव नहीं है। इसलिए जब तक कोई प्राकृतिक विभ्राट् वर्तमान स्थिति को बदल न दे, तब तक ऊपरी टकनौर और गंगोत्री के आस-पास के वैभवशाली और अपरिमित देवदार के जंगल–जहाँ से लाखों और लाखों रुपयों के काष्ठ मैदान में लाये जा सकते हैं–सर्वथा बेकार हैं। और वह मानवजाति का कुछ भी हित-साधन करे बिना उगते, बढ़ते और जीर्ण-शीर्ण होते रहेंगे।”

विल्सन के पुत्र चार्ली ने इसके सम्बन्ध में 1 सितम्बर 1926 (कलकत्ता) के 'स्टेट्समैन' में लिखा था–

“यह सम्मति जो 1858-59 में प्रकट की गई थी, कुछ साल बाद उलटी दिशा में परिणत हो गई। हिन्दुस्तान में रेल लाइनें बढ़ रही थीं, जिनके लिए काठ की जरूरत थी। उन (विलसन) का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ और कुछ सौ स्लीपर बिचले पहाड़ों से तजर्बे के तौर पर बहाये गए। उन्हें हरद्वार में पकड़कर उस विस्तृत जगह में जमा किया गया, जहाँ विलसन ने पहिले ही से अपनी शिकारगाह बना रखी थी। इस प्रकार लकड़ी का एक बड़ा व्यवसाय आरम्भ हुआ। गंगा और उसकी शाखाओं (ब्राह्मणों के थोड़े-से वनों को छोड़) के जंगलों को राजा से ठेके पर ले लिया गया। पहिले सिर्फ सिल्लियाँ बहाई जाती रहीं, पर जब भारी बाधक चट्टानें बारूद से उड़ा दी गईं, तो स्लीपर भी बहाये जाने लगे। लेकिन हरद्वार में एक लाख स्लीपरों के सही-सलामत पहुँचने के लिए आधे अधिक नदी में डाले जाते थे। व्यवसाय के लिए काफी संगठन की आवश्यकता थी। देहरा और निचले पहाड़ों में खाद्य अन्न खरीदकर भोटियों और दूसरों की भेड़-बकरियों द्वारा खतरनाक पहाड़ी भागों, रस्सी के झूलों पर से ऊपर भेजना पड़ता था। वहाँ पंजाबी आराकश, कुल्लू के कुली और कितने ही स्थानीय आदमी कुल मिलाकर 2,000 से अधिक काम करते थे। कारबार बहुत वर्षों तक चलता रहा, रेलवे को लाखों स्लीपर दिए गए। फिर जंगल विभाग कायम हो गया, जिसने हमारे ठेके को ले लिया। लेकिन जंगल विभाग ने बहुत समय तक काम नहीं किया और अन्त में काम को कुछ शर्तों के साथ विलसन को दे दिया गया। यह व्यवस्था तब तक जारी रही, जब तक कि जंगल विभाग का ठेका खतम नहीं हो गया और उसे फिर से नया नहीं किया गया। हिमालय में जंगल का काम सितम्बर के मध्य के करीब खतम होता और हमारे दो-तीन यूरोपियन कर्मचारियों–सी. पीच, विल ग्रेग, जी. पामर–को छुट्टी थी कि हमारी पहाड़ या तिब्बत की शिकार-यात्राओं में सम्मिलित हो जायें। जनवरी में हम दून में होते, जहाँ यूरोपियन कर्मचारी–फ्रेजर, सी. क्लेमेन दूसरे कमकरों और ठेकेदारों के साथ स्लीपरों और सिल्लों को ठाठ के रूप में बाँध गंगानहर द्वारा नीचे गन्तव्य स्थान में भेजने में व्यस्त रहते। सभी परिश्रम के काम के बाद विश्राम की आवश्यकता होती है। हमारा मनोविनोद

का काम था, दून में चारों ओर अपने बहुत-से हाथियों के साथ शिकार करना—मेरे पिता, भाई और मैंने इंग्लैंड की कई यात्राएँ कीं।"

1862-63 के बाद विलसन ने जंगल का व्यवसाय आरम्भ किया। वह बहुत चमका। यदि रेलों का विस्तार इसी समय न होने लगा होता तो इसमें सन्देह नहीं, विलसन ने अपने एकमात्र शिकारी जीवन को न छोड़ा होता और शायद बुढ़ापे में ही वह अवसर प्राप्त शिकारी बनते। मृगछालें, सींग या कस्तूरी से इतनी ही आमदनी होती थी, जिससे वह किसी तरह अपनी नैया खे सकते थे। जंगल के ठेके के लिए टेहरी राजा को वह हर साल 200 गिन्नियाँ देते थे। टकसाल से नई ढलकर आई इतनी अशर्फियों को देखकर राजा की आँखें चौंधिया जातीं और उन्हें यह ख्याल नहीं होता कि विलसन जंगल से हर साल लाखों रुपये कमा रहे हैं। जब लोगों ने बहुत कान भरे, तो राजा को हजार गिन्नियाँ हर साल मिलने लगीं। विलसन स्वयं अब किसी राजा से कम रोब-दाब और वैभव नहीं रखते थे।

पहाड़ी विलसन के बड़े लड़के चार्ली विलसन का जन्म 1846 में हुआ था, अर्थात् जब कर्नल मर्खम अपने दोस्त के साथ गंगोत्री, कनौर, लाहुल और कश्मीर तक की शिकार यात्राएँ कर रहे थे, तब चार्ली पैदा हो चुका था। पर मर्खम ने अपने मित्र की पत्नी और शिशु का कहीं जिक्र नहीं किया है। इसका कारण भी था। विलसन की पत्नी भारतीय थी। 1840 में जब विलसन हिमालय के वासी हो गए, तभी से वह सोलहों आना पहाड़ी बन जाना चाहते थे। लोग भी उनसे प्यार करते थे। उन्होंने किसी पहाड़ी स्त्री से ब्याह कर लेना चाहा। इसके लिए पहिले मुखवा की किसी ब्राह्मण-कन्या को पसन्द किया, पर जब बात मालूम हो गई तो लोग एक मलिच्छ को अपनी कन्या देना कैसे चाहते ? वहाँ से हताश होने पर पास के देवराली गाँव के किसी राजपूत-कन्या को लेना चाहा। इलाके में इतने घनिष्ठ मित्रों के रहते भी विरोध के मारे विलसन सफल मनोरथ नहीं हो सके। सत्यानन्द स्टोक के समय कितना परिवर्तन हो चुका था। प्रथम युद्ध के बाद वह गाँधीजी के झंडे के नीचे आ गए। कहाँ ईसाई धर्म का प्रचारक होकर भारत आए थे और कहाँ पक्के हिन्दू बन गए। प्रथम युद्ध के विजय के उपलक्ष्य में जो विजय मीनार अपने बँगले के हाते में बनाया था, उसे अपने आप गिराकर उन्होंने गीतामन्दिर स्थापित किया और दीवारों में लकड़ी पर अपने हाथों सुन्दर नागरी अक्षरों में गीता के श्लोक उत्कीर्ण किये। उन्होंने भी विलसन की तरह एक पहाड़ी कन्या से ब्याह किया। वह राजपूत-कन्या ही नहीं थी, बल्कि अपने लड़कों को भी राजपूतों के समाज में सम्मानित स्थान प्रदान कराने में सफल हुई। आज लालचन्दसिंह स्टोक और उनके भाई पक्के हिन्दू और राजपूत बिरादरी के सरदार हैं। विलसन जब ब्राह्मणों और क्षत्रियों की कन्या पाने में असफल हुए, तो उनकी दृष्टि मुखवा के एक बाजा बजानेवाले हरिजन की सर्वसुन्दरी कन्या पर पड़ी। उन्होंने उससे ब्याह किया और हमेशा के लिए अपनी पत्नी स्वीकार किया। वहाँ की कहावत के अनुसार विलसन ने उस अशिक्षित अछूत-कन्या को शिक्षित और संस्कृत बनाने में कोई कसर नहीं उठा रखी। यह बात कहाँ तक ठीक है, इसके बारे में कुछ कहना मुश्किल है। यद्यपि पहाड़ी विलसन गंगोत्री के पास हरसिल में रहते थे, पर मसूरी उनके लिए दूसरा घर शुरू ही से रही। वहीं उनकी शिकार की चीजें बिकती थीं। आज भी मसूरी की कितनी ही कोठियों में जो बढाल और ठारकी के सींग शोभा दे रहे हैं, उनमें कितने ही विलसन की बन्दूकों के हो सकते हैं। विलसन यदि चाहते तो अपनी पहाड़ी पत्नी को मसूरी में लाकर मेम बना सकते थे। पर यह स्मरण रखने की बात है कि उनका पहिला लड़का तब (1846 ई.) पैदा हुआ था, जबकि वह पहाड़ी और शिकारी मात्र थे। उसके बाद कम से कम 14 वर्ष तक वह उसी जीवन को बिताते रहे। इसी समय उनका तीसरा पुत्र हेनरी और मँझला पुत्र भी पैदा हो चुके थे। विलसन के सोने में लोटने का समय गदर के 3-4 साल बाद से आरम्भ हुआ और इस समय तक मिसेज विलसन काफी उमर की हो चुकी थीं।

मँझले पुत्र का क्या नाम था, यह चार्ली की पत्नी, मिसेज विलसन शिकारी की ज्येष्ठ पुत्रवधू को मालूम नहीं है। हेनरी 1889 ई. अर्थात् पिता की मृत्यु (1886 ई.) से तीन साल बाद मर गया। इन भाइयों के अतिरिक्त विलसन का एक और भी पुत्र नत्थूशाह था, जो चार्ली का सहोदर बतलाया जाता है। वह रंग में हिन्दुस्तानी था। कहते हैं विलसन ने उसे अपना पुत्र नहीं माना था, पर उसे गंगनाणी के पास का एक अच्छा बँगला और

लाख की सम्पत्ति दे दी थी। चार्ली विलसन की मृत्यु 1932 ई. में हुई। विलसन के जीवन-भर उनका प्रभाव वैसा ही बना रहा। उनके मरने पर बेटों की उदण्ड प्रकृति ने उन्हें लोगों में अप्रिय बना दिया। कई बलात्कार और खून तक के अपराध उन पर लगाये गए। टेहरी महाराज कुछ करने में डरते थे। पर अंग्रेज रेजिडेन्ट ऐंग्लो-इण्डियन के पक्षपात दिखलाने के लिए तैयार नहीं था। उसकी अनुमति पा राजा टेहरी ने विलसन के लड़कों को राज्य से निकल जाने की आज्ञा दे दी। तब से वे देहरादून में रहने लगे।

पहाड़ी विलसन के पास बहुत सम्पत्ति थी, पर वह बड़े उदार थे। देहरादून का मेकलारेन कुष्ठ आश्रम उन्हीं के दान का फल है। मेकलारेन एक स्काच थे, जो 17 साल तक देहरादून में सिविल सर्जन रह 1893 में भारत से गए। उन्होंने इस आश्रम को कायम करने के लिए सरकार से सहायता चाही, जिसके इन्कार करने पर विलसन ने 25,000 रुपया देकर उनकी योजना को आगे बढ़ाया। विलसन की 76 साल की बूढ़ी बहू (जन्म 1878 ई.) अब भी देहरादून के एशलीहाल के पीछे के एक बँगले में रहती हैं–उसी घर में 70 साल से, जो उनके पिता और हिसार के भूतपूर्व सिविल सर्जन डॉक्टर कूपर की सम्पत्ति थी। अब इस सम्पत्ति के मालिक लाला उग्रसेन हैं। मिसेज चार्ली विलसन ने अपने ससुर के वैभव को नहीं देखा था। उनके मरने के समय वह आठ वर्ष की बच्ची तथा पराये घर की पुत्री थीं। इस प्रकार वह शिकारी विलसन की अन्तिम निशानी होने पर भी अपने ससुर और सास के बारे में कुछ सुनी-सुनाई बातें जानती हैं, जिनमें से भी बहुतों को जरा ने भुलवा दिया है। पहाड़ी विलसन ने अपने रहने के लिए अधिकतर देवदार की लकड़ियों का बँगला हरसिल में बनवाया था, जो आज भी अच्छी हालत में मौजूद सार्वजनिक निर्माण विभाग के डाक बँगले का काम दे रहा है। उसी के हाते में शिकारी का लगाया सेब का बाग भी किसी न किसी तरह चला जा रहा है, और अगस्त में पहुँचने पर उसके फल भी खाने को मिल सकते हैं। 1886 ई. में मरने के बाद शिकारी को मसूरी के कैमल्स बैक वाले ईसाई कब्रिस्तान में दफनाया गया। आज अंग्रेजों का राज्य नहीं है। बुढ़िया बहू के मरते ही विलसन का नामलेवा कोई नहीं रह जायगा। लेकिन आशा करनी चाहिए कि फ्रेड्रिक या पहाड़ी विलसन हमारे देश से पथ की रेत की तरह हमेशा के लिए नहीं मिट जायेंगे। जनता के ऐसे सेवक को इतना जल्दी भूलना अपराध होगा।

अम्बालाल कुबेरदास पटेल

नर्मदा नदी मध्यप्रदेश की स्वनामधन्य नदी है। यह भारत की 815 मील लम्बी बड़ी नदियों में है। यह मध्यप्रदेश के उत्तर-पूर्वी छोर के उसी अमरकन्टक पहाड़ से निकलती है, जिससे बिहार की सोन नदी। सोन पूरब की ओर गंगा में जाती है, जबकि नर्मदा किसी नदी में न मिलकर सीधे पश्चिमी अरब सागर में पश्चिम ओर बहती खम्भात के पास मिल जाती है। खम्भात (स्कम्भ तीर्थ) का अपभ्रंश है। यह ईसा पूर्व चौथी सदी से लेकर ईस्वी चौथी सदी तक बड़ा प्रसिद्ध बन्दरगाह रहा है। ग्रीक व्यापारी के जहाज यहाँ आया करते थे। अकबर (मुस्लिम) काल में भी इसका महत्त्व कम नहीं हुआ। अकबर के समय यहीं से हज के यात्री गक्का जाया करते थे। जहाँ पर नर्मदा समुद्र से मिलती है, उसने खाड़ी का रूप ले लिया जिसे खम्भात की खाड़ी या भडौज की खाड़ी भी कहते हैं। खम्भात इसी खाड़ी के किनारे है। और उससे भी उत्तर में भडौज का पुराना बन्दरगाह अवस्थित है, जो ग्रीक और रोमन व्यापार के समय प्रसिद्ध बन्दरगाह था। नर्मदा ने लाखों मन मिट्टी लाकर समुद्र में झोंक दिया है, जिसके कारण खम्भात और भडौज में आज बड़े जहाज नहीं जा सकते। लेकिन खम्भात के नवाब ने एक खोदनेवाला, छोटा जहाज मँगाकर मिट्टी को हटाकर कुछ बरस पहिले रास्ता बना लिया था। कोई कारण नहीं कि इस तरह भडौज को भी कुछ काम लायक बना दिया जाय। जहाँ पर कोई बड़ी नदी समुद्र में मिलती है, वहाँ व्यापारी यातायात का बड़ा सुभीता रहता है। रेल या मोटर से कहीं अधिक सस्ता

यातायात पानी का होता है, यह पुराने जमाने में ही नहीं बल्कि आज भी देखा जाता है। चीन ने तो यातायात के सुभीते के लिए बहुत-सी नहरें बनाईं, जिनमें से एक पेकिंग से हङ्-चाऊ तक जाती है, जो प्रायः दो हजार मील लम्बी है। उसके रास्ते में ह्वांङ् हो और याङ्सी जैसी बड़ी नदियाँ आती हैं। सबको पार कर वह हङ्-चाऊ के बाद समुद्र में मिल जाती है। पहिले इस नहर का उपयोग केवल यातायात के और मछली पालने के लिए भी होता था। आजकल इन दोनों कामों के साथ सिंचाई का भी काम उनसे लिया जाता है, क्योंकि कल-मशीनों के जमाने में कुछ फुट नीचे से पानी को ऊपर रखना आसान है। तो भी जल-यातायात सस्ता होने से खम्भात की खाड़ी के जहाज नर्मदा के रास्ते प्रायः उज्जैन के पास तक आते रहे। इसी वजह से उज्जैन देशी-विदेशी पण्य की बड़ी मण्डी थी और राजधानी से बढ़कर उसकी समृद्धि का कारण कहीं व्यापार था। आजकल भी नर्मदा का उपयोग बड़े पैमाने पर किया जा सकता है। लेकिन यदि उसके भीतर बड़ी चट्टानों या मिट्टी को हटा दिया जाय तो उज्जैन से और आगे तक यातायात का काम दे सकती है।

खम्भात जैसे बड़े तीर्थ (बन्दरगाह) का लाभ पुराने काल में खूब लिया जाता था और दिल्ली, उज्जैन तथा दूसरे बड़े-बड़े नगरों से व्यापारिक सार्थ वहाँ जाया करते थे। भरुकच्छ या भडौज ईसा की पहिले और पीछे की तीन-चार शताब्दियों तक बड़ा बन्दरगाह रहा, उसके बाद खम्भात ने उसका स्थान लिया। सम्भव है, बीच में मिट्टी अधिक पड़ जाने से भडौज का प्रभाव घटा।

पटेल लोग गुजरात में वही लोग हैं जिनको हमारे यहाँ कुनबी कहते हैं, लेकिन कुनबी (कुटुम्बी) लोग हमारे यहाँ केवल खेती-किसानी का काम करते हैं। गुजरात में किसानी का काम भी पटेल लोग करते हैं। वाणिज्य के काम में भी पटेल लोग बड़े होशियार है। खम्भात में जौहरियों की बड़ी संख्या रहती है जो पटेल हैं। हमारे मित्र श्री मानिकलाल पटेल के पुत्र श्री धरणीधर ने अपने नाम के साथ पटेल की जगह जौहरी लगाना शुरू किया। उनके धर्म के चाचा श्री मगनभाई कुबेरदास ने पटेल की जगह कापड़िया नाम लगाकर भतीजे को रास्ता बतलाया।

अम्बालाल श्री कुबेरदास पटेल के पुत्र का जन्म 1 नवम्बर 1895 में खम्भात में हुआ था। सरदार वल्लभभाई पटेल का जन्मस्थान बोरसद, जिला खेड़ा था। बोरसद में ही पूर्वजों के गाँव में 1911 तक श्री अम्बालाल पटेल रहे। बोरसद तालुका (तहसील) का गाँव होने से अच्छा-भला गाँव था। परन्तु वहाँ अधिक सुभीता न होने से 1912 ई. में परिवार बोरसद छोड़कर खम्भात में चला आया। खम्भात काफी बड़ा कस्बा था। वहाँ नगरपालिका भी थी। ईसाइयों का एक मिशन स्कूल था, जिसमें 1907 तक अम्बालाल जी पढ़ते रहे। उसी साल सूरत में कांग्रेस और राष्ट्रीयता का भाव बढ़ा। 1907 से 1911 तक पाँच साल वह न्यू स्कूल में पढ़ते रहे, जो मिशनरियों से सम्बन्ध नहीं रखता था। 1912 में, 1913 में और 14 में खम्भात हाई स्कूल में पढ़ते थे। बीमारी के कारण 1914 में मैट्रिक के परीक्षा में फेल हो गए।

व्यापारी के पुत्र थे, इसलिए नौकरी या वैसी दूसरी चीज की लालसा नहीं थी। 1915 में बम्बई चले आए और एक सोलिसिटर की छह महीना उम्मेदवारी करते रहे और डाबर व्यापारिक कॉलेज में व्यापार की बातें भी पढ़ते रहे। इससे साफ मालूम है कि अम्बालाल जी को नौकरी का कोई ख्याल नहीं था। पहिले किसी सोलिसिटर के यहाँ बीस रुपया मास मिलता था। 1916-17 में केपलिन सोलिसिटर के यहाँ चले गए और उन्हें तीस रुपया महीने मिलने लगे। फिर और तजर्बा बढ़ने पर 50 रुपये और 1919 में 100 रुपया और 1931 में 150 रु. मासिक मिलने लगा। उसके साथ-साथ मुकदमे में कुछ कमीशन भी मिलता था। जौहरी का तो खानदानी पेशा था, इसलिए जवाहेर के व्यापार के भी काम करते रहे।

अब 28 बरस के उमर में उनका ज्ञान काफी परिपक्व हो चुका था। सिर्फ किताबी ज्ञान से वह पूरा नहीं हो सकता था। अम्बालालजी के बड़े भाई श्री भोगीलाल जी पेरिस में जौहरात का व्यापार का काम देखते थे। उनके साथ छोटे भाई अम्बालालजी भी पेरिस चले गए। खम्भात के व्यापारी पत्रों के लिए पेरिस, न्यूयार्क, रंगून, चीन, कोई दूर जगहें नहीं। धरणीधर अभी बीस बरस के आसपास हैं, लेकिन वह व्यापार के सिलसिले में पेरिस, जर्मनी, इटली घूम आए। 1923 में कोलम्बो के एक सफल व्यापारी और छोटे भाई मगनभाई कापड़िया

पेरिस पहुँचकर 1927 तक वहीं रहे। 1924 में एक छोटा भाई गुजर गया, जिसकी विधवा को बड़े भाइयों ने अवलम्ब देकर अच्छी तरह रखा। 1925 में पिता का देहान्त हुआ और भोगीलाल भाई–सबसे बड़े भाई परिवार के कर्त्ता हुए, जिनका व्यापार का ज्यादा काम बम्बई में है, पर वह खम्भात के एक प्रतिष्ठित नागरिक हैं।

1927 के मार्च में अम्बालाल जी ने पेरिस का जवाहेर का काम सँभाला और 1935 तक वहीं रहे। बीच में 1930 में देश आए। लंका भी अपने पोखराज और माणिक्य के लिए प्रसिद्धि रखता था, इसलिए 1935 में कोलम्बो भी गए। 1937 में अम्बालाल जी बर्मा चले गए। बर्मा में मगौक में जवाहेर की खानें थीं। वहाँ उन्होंने अपना कारोबार स्थापित किया और 1939 तक बर्मा में ही रहे। मगौक में एक अच्छा बँगला बना लिया और वहाँ मोटर आदि के साथ सुखी जिन्दगी बिताते रहे। व्यापारी के लिए हिम्मत की बड़ी जरूरत है। जहाँ अधिक धनी होते हैं, वहाँ कुछ लोग गुण्डागिरी से भी धन कमाना चाहते हैं। एक दिन अम्वालाल जी नगर से दूर किसी एकान्त जगह में जा रहे थे, उस वक्त उन्हें मालूम हुआ कि कोई गुण्डा उनका पीछा कर रहा है। उनके पास पिस्तौल थी। यह शायद गुण्डे को मालूम था। कुछ देर तक वह निश्चय नहीं कर पाया, तब तक अम्वालालजी ऐसी जगह पहुँच गए, जहाँ से आवाज देने पर घर से नौकर दौड़कर आया। 1939 तक मगौक की रत्न की खानों में अम्वालालजी अपना कारोबार करते रहे। 1940-41 में वह बर्मा से कोलम्बो आए और छोटे भाई मगनलाल कुबेरदास के कार्यालय का काम वही करते रहे। एक भाई भोगीलाल बम्वई में रहता है, दूसरा मगनभाई कोलम्वो में और तीसरा अम्वालाल मद्रास में आजकल है। इन्कम टैक्स के लिए सब जगह अलग-अलग नामों से कारोबार चलता है, लेकिन उनकी सम्पत्ति कभी बाँटी नहीं गई। खम्भात का खानदानी घर अब भी सबकी सम्मिलित सम्पत्ति है। पिछले साल अम्वालालजी बहुत बीमार हो गए थे और डॉक्टर ने उनके आपरेशन करके सारे पेट को छलनी बना दिया। उस वक्त जीने की कोई आशा नहीं थी। उस समय मगनभाई अपना कारोबार छोड़कर कोलम्बो से अपने भाई के साथ जाकर कई महीना रहे।

1950 में अम्बालाल भाई ने देखा कि फिल्म के व्यापार में बहुत गुंजाइश है और उसके लिए मद्रास बहुत उपयुक्त स्थान है। 1950 में उन्होंने मद्रास में आकर बहुत-सा पैसा फिल्म में लगा दिया। लेकिन जिनके साथ उन्होंने फिल्म व्यवसाय खोला, उनके साथ मुकदमेबाजी की नौबत आई। बहुत दिनों तक मुकदमें में पेशी होते ही आज 11 बरस से वह मद्रास में गाँधीनगर में उसी के लिए डटे हुए हैं। 11 बरस में और काम करते तो और लाभ होता। लेकिन रुपया लगा चुके थे, इसलिए एक बड़ा मकान किराये पर लेकर अपनी मोटर के साथ वहीं रहते हैं। आपरेशन में खैरियत यही थी कि उस वक्त मधुमेह नहीं था, नहीं तो बचने की कोई उम्मीद नहीं थी। 1961 में उनका घाव अभी तक पूरा भरा नहीं है। लड़कों में एक मर गया, बड़ा बम्बई में कारोबार करता था, दूसरा फार्मेस्टुटिकल का काम सीख चुका है। तीसरे-चौथे स्कूल में पढ़ते हैं।

श्री अम्बालाल कुबेरदास के 66 बरस के जीवन को खेने से मालूम होता है कि उद्योगी आदमी सब जगह अपने लिए स्थान बना लेता है।

मगनभाई कुबेरदास कापड़िया

गुजरात निवासियों के नामों में अपने नाम के वाद दूसरा नाम पिता का होता है। अतः मगनभाई के पिता का नाम कुबेरदास था। यह अम्बालाल भाई के सहोदर थे और नर्मदा का सागर-संगम जिस खम्भात की खाड़ी में होता है उसी खम्भात नगर के निवासी थे। लोहे के जहाजों से पहिले लकड़ी के जहाज हल्के होते थे और नदियों में भी वह काफी दूर तक चले जाते थे। इसलिए खम्भात और भडौज में आनेवाले जहाज उज्जैन के पास तक चले जाते थे, इसीलिए ग्रीक-रोम काल में ईसा के पहिले और पीछे की शताब्दियों तक भडौज का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान था। पीछे शायद नर्मदा की अधिक मिट्टी पड़ जाने पर खम्भात का महत्त्व बढ़ा। खम्भात

वस्तुतः स्कम्भ तीर्थ संस्कृत में कहा जाता था। खम्भात के द्वार तक समुद्र चला गया है। आज भी इसकी आबादी चालीस-पचास हजार है। अकबर के समय में खम्भात ने बाद में भड़ौज को दबा दिया और यहीं से हज के यात्री मक्का जाया करते थे। अकबर को यह देखकर बहुत दुख हुआ था कि उनकी शासन-शक्ति खम्भात के स्थल भाग तक ही समाप्त हो जाती है और समुद्र पर पोर्तुगीजों का अधिकार है। अकबर को पोर्तुगीजों को बहुत पैसा या जागीर देनी पड़ती थी, ताकि शाही परिवार के हाजी नर-नारियों को सुरक्षित मक्का आना-जाना मिल सके। शायद अकबर के समय भी कोई नवाब वहाँ का शासक नियुक्त हो गया था, जिसका उत्तराधिकारी हाल तक खम्भात का नवाव माना जाता था। अंतिम नवाब भी खम्भात की समृद्धि चाहते थे, इसीलिए खम्भात के बन्दरगाह में पड़े बालू को हटाने के लिए छोटा-सा जहाज खरीद मँगवाया था। खम्भात में जामा मस्जिद भी और मन्दिर भी हैं, जिनमें पत्थर लगे हुए हैं। व्यापारी अधिकांश हिन्दू जिनमें पटेल हिन्दू हैं और कुछ जैन भी। उत्तर प्रदेश में जैसे जैन और वैष्णों अग्रवाल का आपस में ब्याह होता है, वैसा गुजरात में नहीं देखा जाता है। पटेल कहने को तो हिन्दी प्रांतों के कुनवी कहे जाते हैं, पर हिन्दी प्रांतों के कुनवी जहाँ केवल किसानी करते हैं, वहाँ गुजरात के पटेल बड़े व्यापारी भी हैं और किसान भी। खेती-किसानी करनेवाले संदुत कहे जाते हैं। खम्भात में व्यापारी पटेल लोगों की काफी संख्या है, जिनमें काफी जौहरी जहाँ दूसरी जगहों की जौहरात के खानों से इनका कारोबार करते हैं, वहाँ पास ही में राज पीपला के रियासत में एक रत्न-जैसा लाल-पीला पाषाण भी मिलता है, जिसकी अँगूठियाँ बनती हैं। चीनी–मध्य-एशिया की इसकी खान में–के सुन्दर और बहुमूल्य प्याले तथा दूसरी चीजें बनाई जाती थीं। दिल्ली के तुर्क और मोगल शाहों और सामन्तों को अकीक का महत्त्व पहिले ही से मालूम था, इसलिए खम्भात ने उसकी चीजें तैयार करनी शुरू कीं। उनकी बहुत कदर थी। राज पीपला से पत्थर को लाकर उसको खरादना और चमकाना खम्भात में होता था।

खम्भात पहिले अपने तीर्थ (बन्दरगाह) और जवाहेर के लिए मशहूर था। हाल में वहाँ मगनभाई के मकान के पास ही तेल की खानें मिल गईं। पेट्रोल निकलने लगा है, जिसका मतलब है कि भविष्य की दौड़ में खम्भात पीछे रहनेवाला नहीं है। मगनभाई को कभी-कभी डर होता है कि कहीं पूर्वजों की हवेली पेट्रोल की खान को भेंट न चढ़ानी पड़े पर अभी तक पेट्रोल के कुएँ शहर से बाहर ही निकल रहे हैं।

कुवेरदास पटेल खम्भात के एक सम्भ्रान्त जौहरी थे। इनके पाँच पुत्र हुए। पहिला प्राण जीवनदास कलकत्ता में व्यापार करने लगा। चीमनभाई पच्चीस वरस में ही मर गए। सबसे बड़े भोगीलाल भाई बम्बई का कारोबार देखते हैं। उसके बाद अम्बालाल, पेरिस, बर्मा, कोलम्बो में काम करते अंत में मद्रास में 11 बरस से रह रहे हैं। सबसे छोटे मगनलाल भाई कोलम्बो के अच्छे व्यापारी हैं।

पहिले बड़े भाई के साथ रहते बम्बई में कुछ पढ़ते रहे। प्राइवेट ही कैम्ब्रिज की मेट्रिक परीक्षा दी और पास हो गए। फिर पेरिस के लिए रवाना हो गए। जवाहेरात का काम था। वहाँ अभी उनका पढ़ने का समय था, पर उन्होंने प्राइवेट तौर से फ्रेंच भाषा का अभ्यास भी किया। 1910 में नागपंचमी के दिन मगनभाई का जन्म हुआ था।

पिछले जुलाई 1961 में जरूरी काम के लिए मुझे कोलम्बो जाना पड़ा। कोलम्बो में मगनभाई के घर से विद्यालंकार विश्वविद्यालय पाँच मील दूर है। पर मगनभाई और मेरे दूसरे मित्रों की राय हुई कि मैं केवल एक महीने के लिए आया हूँ और हृदय की बिमारी और मधुमेह मेरे पीछे पड़े हुए हैं, जिसमें खाने-पीने और डॉक्टर के नियम की पाबंदी जरूरी है। मगनभाई के यहाँ सब सुभीता है, इसलिए वहीं रहना चाहिए। मैंने इसे स्वीकार किया, जब देखा कि मगनभाई का भी ख्याल वैसा ही है। मैं जुलाई के मध्य में वहाँ पहुँचा था और 19 अगस्त को वहाँ से भारत के लिए रवाना हुआ। तब तक मैं मगनभाई के घर में अपने घर की तरह रहा। मगनभाई स्वयं प्रतिदिन अपने हाथ से मुझे इन्सुलिन का इंजेक्शन देते रहे और डॉक्टर के बताये भोजन का सबसे अधिक ख्याल उनकी श्रीमती का था। उसी वक्त नागपंचमी आई और मैंने जन्मदिन का भोज स्वीकार किया।

1920 में 18 बरस की उमर में मगनभाई का प्रथम ब्याह हुआ, जिससे उनके एक लड़की हुई। दोनों

ही कुछ सालों बाद मर गईं। और फिर दूसरा ब्याह 1930 में श्रीमती चन्दन बहिन से हुआ, जिनसे चन्द्रकांत और जसवंत दो लड़के हुए। आइ. ए. तक पढ़कर चंद्रकांत ने व्यापार को सँभाला और जसवंत औषधि-निर्माण (फार्मेसी) पढ़ने अमेरिका गए।

मगनभाई हिन्दुस्तान से बाहर बहुत गए। जौहरी का पैसा खानदानी था, उसके लिए दूर देशों से माल आता। लंका अपने पोखराज और मणि के लिए मशहूर है। 1929 में वह कोलम्बो चले आए। उनके भाई पेरिस में थे, यहाँ से माल लेकर वह पेरिस भेज देते। कोलम्बो का काम उन्होंने शुरू किया। 1928 में पेरिस भी गए। भोगीलाल, अम्बालाल, मगनभाई–तीनों यद्यपि तीन जगहों में रहते हैं और उनका कारोबार अलग मालूम होता है, परन्तु अब भी उनका संयुक्त परिवार है। सिर्फ इन्कमटैक्स के लिए कारोबार अलग बना हुआ है। खम्भात में अभी खानदानी घर हैं, जहाँ जाने पर उनकी रसोई एक हो जाती है। किसी भाई के बीमारी या संकट के समय सभी सहायता देने के लिए तैयार हैं। इसी साल जब अम्बालाल भाई (मद्रास) बहुत बुरी तरह बीमार हुए, तो मगनभाई बराबर उनके साथ रहे। अंतिम समय सोचकर जव अम्बालाल भाई से पूछा गया तो उन्होंने लड़के-लड़की के ब्याह की चिन्ता बतलाई। मगनलाल भाई ने उन्हें चिन्ता से दूर कर दिया।

पेरिस में कुछ सालों रहकर 1928 में जव मगनभाई लौट आए तब अम्बालाल भाई वहाँ भेजे गए।

1929 में मगनभाई ने जव कोलम्बो में काम शुरू किया तो उस समय जवाहेर के खरीदने आदि का सारा काम मुर मुसलमानों के हाथ में था। मुर लोग कभी अल्जीरिया से आए थे। लंका के जवाहेरात का काम उन्हीं के पास था। वही खरीदने आदि का काम करते। यहाँ का माणिक्य (मणि), पोखराज और बिल्ली की आँख, सनी एवं तारा मशहूर हैं। तारा एक ऐसा रत्न है जिसे काटकर छकोना चमकदार तारे की शकल का बना देते हैं–सबसे बहुमूल्य यहाँ का माणिक्य या रूबी।

जिस समय मगनभाई कोलम्बो में आए, उस समय सारा व्यापार मुरा लोगों के हाथ में था। सिंहल लोग सिर्फ खानों को खोदकर पत्थर को निकालते थे। खम्भात जौहरियों का नगर है। वह इस प्रतिद्वंद्विता से पीछे कैसे हटते। उस वक्त रत्न के खरीदनेवाले कारीगर भी शत-प्रतिशत मूर थे, जो आज भी हैं। पर अब व्यापार में गुजरातियों का भी काफी हाथ है। अम्बालाल भाई माल पेरिस से मँगाते और अपने यहूदी दोस्तों की मार्फत अमेरिका भी भेजते। काम अच्छी तरह चला।

1933 में मगनभाई ने आयुर्वेदिक दवाइयों का भी कारोबार आरम्भ किया। आजकल लंका के वह आयुर्वेद के सबसे बड़े व्यापारी हैं। 1936 में मगनभाई ने एक पुराना मकान माल रोड पर लिया, जिसके पास ही में 1959 में उन्होंने अपना कई मंजिलों का नया मकान बनवा लिया। समुद्र माल रोड के बाद ही आ जाता है। समुद्र से उनको प्रेम होना ही चाहिए था, क्योंकि वह खम्भात के आखात (खाड़ी) में पैदा हुए थे। खम्भात और भडौज के बीच में 16 मील का अन्तर है।

लंका के स्वतंत्र होंने से पहिले ही मगनभाई ने लंका की नागरिकता प्राप्त कर ली। उस वक्त सिंधी लोग और दूसरे उत्तर भारतीय इसको देखकर निंदा करते थे, लेकिन इसके बाद हजारों ने नागरिकता स्वीकार कर ली। नागरिक होने में उत्तर भारतीय को ज्यादा सुभीता था, क्योंकि लंकावासी ज्यादातर उत्तर भारत से आया। लंका के लोग आज भी समझते हैं कि भारतीय दो-चार पीढ़ी के भीतर ही सिंहली बन जायेंगे। खम्भात के मिट्टी के तेल की खान बन जाने से उसका भाग्योदय होंने जा रहा है, तो भी मगनभाई को सिंहल के नागरिक होंने का कोई अफसोस नहीं। खम्भात में उनके बड़े भाई भोगीलाल भाई की बड़ी इज्जत है। वहाँ के हाई स्कूल के वही सेक्रेटरी हैं। पैसे की जरूरत पड़ी तो चालीस हजार रुपया भोगीलाल भाई ने जमा कर दिया। अब तो वहाँ कॉलेज और टेकनिकल कॉलेज भी खुल गए हैं। सार्वजनिक काम में वह सबसे आगे रहते हैं। यद्यपि कारोबार के लिए बम्बई भी जाना पड़ता है और वहाँ से खम्भात की संस्थाओं के लिए पैसा भी काफी जमा करते हैं। खम्भात में बिजली है, कपड़े का कारखाना है और जवाहेरात का भी वह बड़ा केन्द्र है। खेती भी वहाँ थोड़ी कपास की होती है। बाजरा बहुत होता है, चावल नहीं। उससे 50 मील पूर्व पावागढ़ का पहाड़ है, जहाँ देवी का मन्दिर है। लंका में मगनभाई अपने वर्ग के सिंहल लोगों में घुल-मिल गए हैं।

सिंहल लोगों के स्वभाव से वह सुपरिचित हैं। सिंहल लोगों की मनोवृत्ति वंगालियों से ज्यादा मिलती-जुलती है। वह उद्योग धंधे में पैसा लगाने में डरते हैं। क्लर्की, वकालत और डॉक्टरी का काम वहुत पसंद करते हैं, क्योंकि उन तीन कामों में कोई खतरा नहीं है। क्योंकि स्वतंत्रता के वाद लंका सरकार ने अपने यहाँ उद्योग धंधा बढ़ाने की कोशिश की, इन कामों में रुपये-पैसे आदि के लिए वह वहुत सहायता देती है। पहिले सारी चीज विदेशों से मँगाई जाती थी, लेकिन अब कनकसंतुराई में चीनी की मिल खोल दी गई है, जिसमें हमारे यहाँ से विशेषज्ञ बुलाए गए। लंका में तापमान में वहुत हेरफेर नहीं होता, इसलिए वहाँ मिलों के लिए गन्ने प्रायः साल-भर मिल सकते हैं। और वहाँ के मिलों में ज्यादा दिन तक काम हो सकता है। लंका में लोहे की खानें हैं। घटिया कहकर इनमें काम नहीं होता था, लेकिन देश से निकला लोहा सस्ता होता है, यह तो मानना ही पड़ता है। सोवियत की मदद से लंका में लोहे का कारखाना भी खुला है। इससे पहिले लंका की भूमि में रबर के बहुत बगीचे थे। नारियल के बाद यदि अधिक वगीचा था तो वह रवर का ही, लेकिन रवर के कच्चे जमे हुए दूध को ही बाहर भेज दिया जाता था। उसको यदि टायर और ट्यूव का रूप दिया जाता तो लोगों को काम भी मिल जाता और देश को ज्यादा नफा भी होता। यह काम भी सोवियत की मदद से लंका में होने जा रहा है। मगनभाई का कहना है कि यद्यपि वाबूगिरी लंकावासियों के खून में थी, पर वह आधुनिक युग में सहायता और सरकार के प्रयत्न से दूर हो जायेगी और कुछ दिनों में लंकावासी उद्योग-परायण हो जायेंगे।

